प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

प्राचीन भारतीय साहित्य
की
सांस्कृतिक भूमिका

[सागर-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-ग्रन्थ]

लेखक
रामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

भूमिका-लेखक
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
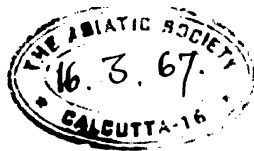
प्रकाशक
देवभारती प्रकाशन इलाहाबाद | **लोकभारती प्रकाशन** इलाहाबाद

सागर-विश्वविद्यालय के
उपकुलपति
डा० महादेव प्रसाद शर्मा के कर-कमलों में
सादर समर्पित

FOREWORD

Though several works have been written on the history and bibliography of ancient Sanskrit literature, it seems to me that its cultural background, which is the essence of the literature, has been more or less neglected. Attempts have been made no doubt from time to time to deal with some particular aspects of the background, but a comprehensive survey of the entire field reviewing its different phases in different ages does not seem to have yet been made. And I believe the time is not yet ripe for compilation of such an exhaustive account. It is, therefore, a great pleasure to find that Prof. Ramji Upadhyaya of the Saugar University has made a brilliant attempt in this direction. The following pages, entitled 'प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका" embodies the result of his long continued labours in the field and it is a valuable contribution to the subject.

The work gives a bird's eye view of the ancient Indian civilisation in its multiple aspects as one may gleam from Sanskrit literature. In so far Sanskrit was used as a medium of literary expression among the Hindus, Buddhists and Jains of early India, it is no wonder that the literature generally reflected Indian culture as a whole.

The Introductory chapter furnishes the author's views on the intimate relation which a particular literature bears to the culture, of which it is a faithful reflection. The subsequent chapters deal with special subjects which include social structure, purificatory Saṁskāras, education, mode of teaching, family life of a householder and life of a recluse. A

special chapter is devoted to Saṁnyāsa and Karmayoga. The philosophical and religious activities have been discussed in one chapter each. A chapter has been added dealing with the rules of conduct, discipline and character-building. Politics including activities on public welfare, military organisation and art of warfare, trade, commerce and similar other subjects have also found their proper place in the general account.

The work as a whole bears upon it the impress of wide reading, unstinted labour, power of critical examination and fair presentation. I am confident that as a pioneer work it will inspire young scholars of India to step into the field and take up the cultural study of Sanskrit literature in different branches with great zeal and interest.

GOPINATH KAVIRAJ

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य का प्रथम रूप वेदों में मिलता है। यद्यपि वेदों के रचना-काल के विषय में सर्व-सम्मत निर्णय नहीं हो सका है, फिर भी यह निःसन्दिग्ध है कि वेदों में उनकी रचना से बहुत पहले की भी असंख्य प्रवृत्तियों का संकलन है, जिनका ज्ञान ऋषियों को अनुश्रुति से होता रहा। वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी ईसवी तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों की सांस्कृतिक भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयास इस शोध-ग्रन्थ में किया गया है। इस दीर्घ काल में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, कन्नड और तेलगु आदि भाषाओं के माध्यम से क्रमशः भारतीय साहित्य का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। इन भाषाओं में साहित्य की दृष्टि से संस्कृत का स्थान अप्रतिम है। इसमें सहस्रों वर्षों से साहित्यिक धारा अनवरत प्रवाहित हुई है।

वास्तव में साहित्य और संस्कृति इस दृष्टि से परस्पर परिपूरक हैं कि जहाँ-कहीं संस्कृति का विकास आरम्भ हुआ कि साहित्य सांस्कृतिक तत्त्वों को अपनाकर उनका विश्लेषण करते हुए उन्हें सरस विधि से सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाता है। संस्कृति के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय साहित्य को ही मिलता है। हम कह सकते हैं कि साहित्य संस्कृति की प्रयोगशाला है, जिसमें सांस्कृतिक तत्त्वों की व्यावहारिक योग्यता का विश्लेषण होता है। संस्कृति के जिन तत्त्वों को साहित्यकार या आलोचक विशेष उपयोगी पाते हैं, उनका संवर्धन करते हैं और इस प्रकार भावी पीढ़ियों के लिए सुसंस्कृति का परिचय साहित्यिक ग्रन्थों से उपलभ्य होता है।

प्राचीन साहित्य को ठीक-ठीक समझने के लिए तत्सम्बन्धी संस्कृति का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। वास्तव में समय की गति के अनुसार न केवल वस्तुओं के स्वरूप में परिवर्तन होता है, अपितु शब्दों की अभिव्यक्ति में भी अन्तर पड़ता है और इसके साथ ही वस्तुओं की उपयोगिता भी घट-बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए आज के अश्व को लीजिए। कार के वर्त्तमान युग में अश्व का स्वल्प महत्त्व रह गया। वही अश्व वैदिक युग में या प्राचीन भारत में प्रायः सदा ही, ऐश्वर्य और स्फूर्ति का साधन माना गया था। वह दिग्विजय का परम प्रतीक था। जब हमें अश्व शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में मिलता है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए

अर्थशास्त्र के अश्वाध्यक्ष-प्रकरण जैसी सामग्री को लेना पड़ेगा, जिसको देखने से ज्ञात होगा कि प्राचीन काल का अश्व क्या था, उससे क्या आशायें थीं और उसकी क्या योग्यतायें थीं। वैसे ही जब हम प्राचीन ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि किसी का उपनयन हुआ, कोई ब्रह्मचारी या ऋषि था, कोई राजा था, कहीं हिमालय-प्रदेश पर कोई घटना हुई तो आज के प्रत्यक्ष-दृष्ट उपनयन, ब्रह्मचारी, ऋषि आदि पदों की समानार्थक अभिव्यक्ति के सहारे प्राचीन वास्तविक अर्थ को समझ पाना सम्भव नहीं होगा।

भारतीय साहित्य पर प्रत्यक्ष ही विभिन्न युगों की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की छाप पड़ी है। जहाँ तक कथानकों का सम्बन्ध है, कवियों ने समकालीन नायकों को विशेष ग्रहणीय नहीं माना है और चरितनायकों की खोज के लिए पुराणेतिहास की शरण ली है। प्रश्न यह था कि पुराणेतिहास के उन असंख्य चरितनायकों में से किस को ग्रहण किया जाय? यहीं पर युग की प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का प्रभाव दिखाई देता है। कवि देखता है कि किसी विशेष युग में किस नायक का आदर्श समाज के लिए उपयोगी है अथवा नायक के जीवन के बहुविध पक्षों में से कौन पक्ष तत्कालीन समाज की अभिरुचि के अनुकूल है—इन सब बातों का विचार करते हुए वह वर्ण्य विषय को उपस्थित करता है और तभी उसकी रचना लोकप्रिय होकर अमर प्रतिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ होती है। कथावस्तु में नये मोड़ देना अथवा उसके कतिपय अंगों में नई-नई बातें जोड़ देना या नये वर्णनों का समावेश करना आदि साहित्य की प्रवृत्तियाँ युग की लोकरुचि के अनुरूप अपनाई जाती हैं। ऐसी दशा में यदि प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करना है तो सर्वप्रथम प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं और लोक-चरित्र को समझ लेना आवश्यक है। परन्तु आज तो स्थिति यह है कि हमारा सम्बन्ध द्रुत गति से प्राचीन संस्कृति से छूटता जा रहा है। फलतः हमारे लिए प्राचीन साहित्यिक निधि का पर्यालोचन कठिन होता जा रहा है। यदि हमें प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी है तो उससे अनुबद्ध संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना होगा।

आधुनिक या प्राचीन भाषाओं के माध्यम से आज भी जब हम प्राचीन विषयों पर लिखते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि एतदर्थ प्राचीन सांस्कृतिक सन्निवेश का निर्माण किया जाय। ऐसा करने में हमें सफलता कैसे मिले? यह एक प्रश्न है। प्राचीन युग के लेखकों की इस समस्या का समाधान महाभारतादि पुराणेतिहास ग्रन्थों के द्वारा हो सका था, जिनसे प्राचीन विषयों के सम्बन्ध में पूर्ण सांस्कृतिक ज्ञान सम्भव होता था। आज साधारण लेखक के लिए ये ग्रन्थ न तो बोधगम्य हैं और न इनकी ओर पर्याप्त रुचि दिखाई पड़ती है। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए

प्राचीन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका सर्वसाधारण की भाषा में प्रस्तुत करने योग्य विषय है, जिससे आधुनिक लेखक और पाठक अनायास यथोचित सामग्री प्राप्त कर सकें।

साहित्य और संस्कृति दोनों का विकास समाज में और समाज के लिए होता है। इस दृष्टि से साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध का पूरा परिचय प्रावेशिक अध्याय में देने के पश्चात् सामाजिक संस्थान और नारी की स्थिति का अनुसन्धान किया गया है। समाज की रचना करने में साहित्य का श्रेय विशेष है। समाज की आवश्यकता-पूर्ति करने के लिए साहित्य सचेष्ट होता है। वह समाज को मण्डित करता है और उसी समाज की उपज होता है।

प्राचीन भारतीय जीवन के चार प्रमुख साध्य थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। साहित्य और संस्कृति के लिए समान रूप से इस चतुर्वर्ग की प्रतिष्ठा रही है। इनमें से धर्म और मोक्ष का स्थान सर्वोपरि है। मोक्ष की नींव जीवन के प्रथम दिन से डाली जा सकती है और इसकी प्रवृत्ति आजीवन चल सकती है। इस प्रवृत्ति की प्राथमिकता देखते हुए इस पुस्तक में सामाजिक संस्थान के बाद संस्कार और आश्रम से सम्बद्ध अध्यायों में व्यक्तित्व के विकास की योजना प्रस्तुत की गई है, जो मानव को ब्रह्मोन्मुख कर सकती है। प्रायः इसी विषय का प्रतिपादन आगे के दो अध्यायों में किया गया है, जिनमें दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का आकलन प्रस्तुत है। इनके पश्चात् आचार और चरित्र निर्माण के अध्याय में इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय के लिए अपेक्षित तपोमय वृत्तियों का अनुसन्धान किया गया है। आगे के ग्यारह अध्यायों में राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का वर्णन है। इनमें प्रधानतः अर्थ और काम वृत्ति की प्रतिष्ठा मिलती है। शृंगार को रसराज माना गया है। इसका स्थान काम वर्ग में मूर्धन्य है। प्रस्तुत पुस्तक में काम-क्रीडात्मक प्रवृत्तियों का प्रकरण संक्षेप में ही दिया गया है। वास्तव में साम्प्रतिक युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए इस विषय की विस्तृत चर्चा अनपेक्षित है और मानव को स्वभावतः इन प्रवृत्तियों का ज्ञान यथाकाल हो ही जाता है। इन प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण शिल्प-कला के अध्याय में निरूपित है।

किसी भी संस्कृति और साहित्य का उल्लेखनीय विकास वैज्ञानिक उपलब्धियों पर आधारित होता है। विज्ञान के बल पर ही आधिभौतिक समृद्धि की सम्भावना होती है। पुस्तक का अन्तिम अध्याय वैज्ञानिक विकास है।

उपर्युक्त सांस्कृतिक भूमिका का अनुसन्धान सुप्रमाणित आधारों पर किया गया है। वैदिक संहिताओं से लेकर बारहवीं शती तक के साहित्य, इस युग के

ध्वंसावशेष, कला-कृतियों, लेखों और मुद्राओं के अनुशीलन द्वारा प्रसंगोचित सामग्री संकलित की गई है। रामायण और महाभारत सांस्कृतिक ज्ञानरत्न के लिए महासागर हैं। इन दोनों ग्रन्थों को उपजीव्य रूप में शाश्वत प्रतिष्ठा मिली है। यही कारण है कि इस शोध-निबन्ध में इन ग्रन्थों से तत्सम्बन्धी सामग्री को कुछ अधिक विस्तार पूर्वक सन्निविष्ट किया गया है। पौराणिक सामग्री का भी उपर्युक्त दृष्टि से विशेष उपयोग किया गया है।

विषय-प्रतिपादन में एक नवीनता है व्यावहारिक जीवन की समीक्षा। यद्यपि सूत्रों और स्मृतियों में सांस्कृतिक जीवन की सर्वाङ्गीण झाँकी प्रस्तुत की गई है, किन्तु वह बहुत कुछ सैद्धान्तिक है। साहित्यिक पर्यालोचन के लिए जीवन के व्यावहारिक पक्ष का विशेष महत्त्व है और इसका अनुसन्धान करने की दिशा में पुराणेतिहास, जैन और बौद्ध कथा-साहित्य तथा काव्य-ग्रन्थों का पर्यालोचन किया गया है।

प्राचीन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका का निदर्शन कराने वाली पुस्तकें कम ही हैं और उनमें भी एकत्र सर्वाङ्गीण परिचय नहीं मिलता। प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में एक अभिनव प्रयास है। इसमें विषय-विवेचन के लिए नई योजना का समारम्भ है और तदनुकूल सामग्री का संचय करके विषय का प्रतिपादन किया गया है।

साहित्य में अगणित विषयों की चर्चा होती है। वास्तव में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो सुकवि के हाथ में पड़ कर काव्य-रूप में रसास्वादन न करा सके। इस प्रकार काव्य की प्रवृत्तियाँ अनन्त होती हैं। इन सबकी भूमिका का सर्वथा पर्यालोचन प्रस्तुत पुस्तक की परिधि में असम्भव ही है, फिर भी इसमें पुरातनता के काल-क्रम से यथासम्भव अधिकाधिक प्रवृत्तियों का निदर्शन कराने का प्रयास किया गया है। आशा है, भारतीय प्राचीन साहित्य में गति के लिए यह सामग्री पर्याप्त होगी।

इस शोध-ग्रन्थ के प्रणयन में भारतीय साहित्य और संस्कृति के तत्त्वों के अनुसन्धायकों का कृतित्व लेखक के लिए समादरणीय रहा है। इसके बिना प्रस्तुत पुस्तक की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। निःसन्देह प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति आदि पुरातत्त्व के विषयों ने अगणित भारतीय और विदेशी मनीषियों को आकृष्ट किया है और इस दिशा में जो कार्य हुआ है, वह उन विद्वानों की तपोवृत्ति और कर्मण्यता का परिचायक है। मैं उन सभी श्रद्धेय पण्डितों का कृतज्ञ हूँ।

शोध-विषय की गरिमा निःसन्दिग्ध है। जहाँ तक बन पड़ा है, विषय-प्रतिपादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाते हुए इस कार्य को सम्पन्न करने की चेष्टा की गई है। इनमें जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिए मैं विद्वज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस ग्रन्थ को पद्मविभूषण, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज की विद्वत्तापूर्ण भूमिका से मण्डित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी इस कृपा के लिए मैं सतत आभारी हूँ। आशा है, उनके निर्देशानुसार प्रस्तुत विषय के अध्ययन और अध्यापन की ओर विद्वानों की रुचि बढ़ेगी।

समाज को पूर्णता प्रदान करना साहित्य का एक प्रधान सांस्कृतिक उद्देश्य है। भारत सुदूर प्राचीन काल में असंख्य जन-समुदायों की आवास-भूमि रहा है। इन सबको एक समाज का सुश्लिष्ट अंग बना देने का उत्तरदायित्व साहित्यकारों पर रहा है। प्रस्तुत पुस्तक में विस्तारपूर्वक इस उत्तरदायित्व का निरूपण किया गया है। इसी प्रसंग में आलोचक देख सकेंगे कि साहित्यकारों को इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में कहाँ तक सफलता मिली है।

रामजी उपाध्याय

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की आर्थिक सहायता से प्रकाशित हुआ है। आयोग की इस सहायता के लिए सागर-विश्वविद्यालय आभारी है।

आशा है, यह ग्रन्थ पाठकों और अनुसंधान-कर्ताओं के लिए उपयोगी होगा।

महादेव प्रसाद शर्मा
उपकुलपति
सागर-विश्वविद्यालय

विषयानुक्रमणिका

अध्याय १

साहित्य और संस्कृति

संस्कृति वह प्रक्रिया है, जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है। इस निष्पन्न व्यक्तित्व के द्वारा लोगों को जीवन और जगत् के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण मिलता है। कवि इस अभिनव दृष्टिकोण के साथ अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का सामञ्जस्य करके सांस्कृतिक मान्यताओं का मूल्यांकन करते हुए उनकी उपादेयता और हेयता प्रतिपादित करता है।[1] वह संस्कृति के सत्पक्ष का समर्थन करते हुए उसे सर्वजन-ग्राह्य बनाता है। कवि का यह व्यापार कवि-कर्म, कविता या साहित्य है। साहित्य की सर्वप्रथम उपयोगिता है कि उससे पाठक को संस्कृति के सत्पक्ष का परिचय मिले और साथ ही उसका चित्त रस की स्रोतस्विनी में प्रवाहित होता रहे। इस प्रकार संस्कृति के विकास के साथ साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका का सतत विन्यास होता है।

कवि-संस्कृति

प्राचीन काल में कवि पद से ब्रह्मविद् समझा जाता था। 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' वही प्राचीन दृष्टि है। 'कविं पुराणमनुशासितारम्' इत्यादि वचनों में भी कवि शब्द से ज्ञानी ही माना जाता है।[2]

वैदिक कवि

सुदूर प्राचीन काल में कवियों को ऋषि की उपाधि दी गई थी। वैदिक धारणा के अनुसार कवि वह है, जो नित्य नूतन ज्ञान-विज्ञान का प्रत्यक्ष-दर्शी और दर्शयिता है।[3] ऋग्वेद की रचना प्रमुखतः भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ, वामदेव, कण्व

---

१. यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। काव्यमीमांसा के कविचर्या प्रकरण से।

२. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० २१४।

३. देखिए ऋग्वेद का मन्त्र—

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।

कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥१.१६४.१८

आदि ज्ञान-विज्ञान और तपः से परिपूत महात्माओं के द्वारा की गई। कवि का व्यक्तित्व दिव्य था। उसकी प्रतिभा को ब्रह्म कहते थे और तत्कालीन धारणा के अनुसार देवता ही ब्रह्म प्रदान करते हैं। इस ब्रह्म की उत्पत्ति ऋत के सदन से हुई है।[1] सबसे अच्छे कवि तो उस सरोवर के समान प्रतिष्ठित होते थे, जिसमें सानन्द अवगाहन किया जा सकता था।[2]

वैदिक युग के साधारण कवियों में से कुछ राजा, सैनिक, वैश्य, स्त्रियाँ और आर्येतर लोग भी थे। इन कवियों ने अपनी व्यावसायिक अनुभूतियों का हृदयग्राही वर्णन सूक्तों में किया है। उदाहरण के लिए कोई सैनिक कहता है—.

धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम। ऋ० ६.७५.२

वैदिक कवियों के व्यक्तित्व का परिचय उन उदात्त विचारों से भी मिलता है, जो उनकी रचनाओं में पदे-पदे मिलते हैं।[3] उपनिषद्-युग के कवि महान् दार्शनिक थे। रामायण और महाभारत के रचयिता वाल्मीकि और द्वैपायन व्यास श्रेष्ठ महर्षि थे।[4] तपस्या द्वारा इन दोनों आदि कवियों का कवित्व प्रस्फुटित हुआ था। व्यास

---

१. ऋग्वेद ७.३६.१

२. ऋग्वेद १०.७१.७। फ्रांस के आलोचक रेनो ने वैदिक कवि के विषय में कहा है—

The poems bear testimony to this ardour of living and rapture of happiness which mankind has very often lost since then. He prays for full span of existence of hundred years, the joy of having robust sons and beautiful daughters, etc. *Vedic Study.*

३. वैदिक कवि-समाज के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा है—

A people of vigorous and unsophisticated imagination awakened at the very dawn of civilisation to a sense of inexhaustible mystery that is implicit in life. It was a simple faith of theirs that attributed divinity to every element and force of nature but it was a brave and joyous one.

४. अनेक व्यास हुए। व्यासों में प्रमुख द्वैपायन हैं। भागवत ११.६.२८। कुछ व्यासों के नाम विष्णुपुराण ३.३.९-२१ में मिलते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर

और वाल्मीकि दोनों का दर्शन, राजनीति, युद्धशास्त्र, धर्म आदि का ज्ञान अपरिमेय था। ऋषि होने पर भी श्रृंगार आदि के श्लोकों की रचना इन महाकवियों ने इसीलिए की कि काव्य-पद्धति ही ऐसी थी। वाल्मीकि और व्यास सारस्वतमार्ग को पवित्र करने वाले हैं--

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम्॥
—काव्य-मीमांसा

राजाश्रित कवि

परवर्ती युग के कवियों को राजाश्रय भी मिलने लगा था, पर यह राजाश्रय उन कवियों की प्रतिभा को मलिन करने के लिए नहीं था। महाकवियों ने तो आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति में कदाचित् ही कलम उठाई हो। ऐसे राजाश्रित कवियों में अश्वघोष का नाम सर्वोपरि है। वह कनिष्क की राजसभा को अलंकृत करता था। अश्वघोष के काव्यों या नाटकों में कहीं भी राजा की रुचि के अनुवर्तन की छाया भी नहीं दृष्टिगोचर होती है।

कवियों में भारतीय संस्कृति की उदात्त भावनाओं के प्रति जनता की रुचि संवर्धित करने की महती आकांक्षा थी। वे स्वयं भी अनाथ, दीन और विपत्तिग्रस्त लोगों के प्रति सहानुभूति रखते थे। भास का ही चारुदत्त कह सकता है—मैंने अपना सर्वस्व अपने मित्रों के लिए खो दिया। जिस किसी ने मुझसे याचना की, उसकी इच्छा पूरी हुई। अब दरिद्रता मुझे सन्तप्त करती है, पर फिर भी यदि संयोगवशात् धन हो गया तो वही करूँगा अर्थात् दीन-हीन की सहायता करते हुए दरिद्र बनना चाहूँगा। वही भास का चारुदत्त कह सकता है—मैं अपने शरीर को तो ऐसा ही समझता हूँ, मानो वह समाज का न्यास समाज के उपयोग के लिए हो। भास का भीम घटोत्कच के विषय में कहता है—यह पुरुष मेरे समान दीनों के प्रति दयालु नहीं है। लक्ष्मण भी भरत के विषय में कहते हैं कि इस पुरुष की निर्भीक ध्वनि तो ऐसी लग रही है, मानो यह अखिल विश्व को भय-रहित करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। ये उक्तियाँ उसी कवि की हो सकती हैं, जो स्वयं आत्मगुणों से परिपूर्ण हो।

परवर्ती युग के कवि और राजा परस्पर श्रद्धालु थे। ऐसे राजाओं में वासुदेव,

---

के अनुसार व्यास और वाल्मीकि किसी का नाम न था। ये तो केवल रामायण और महाभारत के कर्ता के नाम रख लिये गये हैं। इन काव्यों के कवि अपनी कृतियों की ओट में ऐसे छिप गये हैं कि इन ग्रन्थों के कर्ता के नाम ही नहीं रह गये।

सातवाहन, शूद्रक, साहसांक, विक्रमादित्य, भोज, क्षितिराज आदि हैं।[१] कालिदास, मेण्ठ, अमर, भारवि आदि कवि उज्जयिनी-नरेशों के आश्रय में रहते थे। बाण हर्ष की राजसभा अलंकृत करते थे। ऐसी सभायें और राजाश्रय कुछ कवियों को प्रोत्साहित करने के लिये थे। परस्पर की स्पर्धा से कवि एक दूसरे से अच्छे श्लोक बनाने का प्रयास करते थे। प्रवरसेन, हर्ष आदि कई राजा स्वयं ही महाकवि रहे हैं।[२] राजाश्रय पाकर भी कुछ ही कवि हुए, जिन्होंने झूठी राजप्रशस्ति लिखी है। इन राजधानियों के कवियों में शृंगार और वीर रस की कविता रचने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही था। महापुरुषों की संगति में अथवा देशाटन करके कवि अपना ज्ञान संवर्धित करते थे।[३]

प्रारम्भिक युग से ही व्यक्तित्व के विकास की भारतीय योजना वर्णाश्रम-विधान के अनुरूप रही है। कवियों को भी इस साधारण योजना के अनुकूल वेद-वेदांगादि का अध्ययन करके पण्डित बनना ही पड़ता था और साथ ही महर्षियों के आश्रम में तपोमय जीवन बिताते हुए मन और वाणी पर संयम का परिग्रह धारण करना पड़ता था। इस प्रकार भारतीय दर्शन और संस्कृति की उच्च परम्पराओं में महाकवि पले होते थे। ऐसा ही कवि भर्तृहरि है, जिसके विषय में सत्य है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचित् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

(जब मैं थोड़ा-थोड़ा जानने लगा तो मतवाले हाथी की भाँति हो गया।

---

१. कल्हण के अनुसार कश्मीर के राजा सुकवियों को वेतन देते थे। राजत० ५.२०३-२०४ तथा ७.६११। धारा के राजा भोज और कश्मीर के उनके समकालीन राजा दोनों कवि-बान्धव थे। वही ७.२५९।

२. कल्हण ने कश्मीर के राजा हर्ष के विषय में लिखा —

अशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः। राजत० ७.६१०।

३. ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम—काव्यमीमांसा के इस वाक्य से यह ध्वनि है।

राजशेखर के शब्दों में—सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्ता, विदग्धवादः, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। काव्यमीमांसा के दसवें अध्याय से।

तब तो 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस भाव से मेरा मन अभिमान से भर गया। फिर जब मैंने विद्वानों के साथ से कुछ जान लिया तो 'मैं मूर्ख हूँ' यह समझ कर ज्वर की भाँति मेरा मद दूर हो गया।)

उसी भर्तृहरि के व्यक्तित्व से यह वाणी परिस्फुरित हो सकती थी—

तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः।[1]
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन।[2]

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः,
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः॥[3]

प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।[4]
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।[5]

कितना आत्मगौरव है उस महाकवि भर्तृहरि में जो कह सकता है—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या

अथवा—अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥

भर्तृहरि ऋषि-परम्परा के अन्तिम सुविख्यात महाकवि हैं। परवर्ती-युगीन कवि-परम्परा में व्यक्तित्व के विकास की जो योजना परिलक्षित होती है, उसका परिचय काव्यमीमांसा में राजशेखर के शब्दों में इस प्रकार है—'बुद्धि अपने तीन रूपों—स्मृति, मति और प्रज्ञा से कवियों के लिए सहायक होती है। इनके संवर्धन के लिए सुगुरु की नित्य उपासना करनी चाहिए।'[6] यही उपासना बुद्धि-विकास के

---

१. याचकों के बीच में सर्वस्व दान दे देने के कारण क्षीण विभव वाले लोग अपनी कृशता से ही शोभा पाते हैं।

२. करुणापरायण लोगों का शरीर परोपकार से शोभा पाता है, चन्दन से नहीं।

३. जिनके मन, वचन और शरीर में पुण्य का अमृत भरा है और जो उपकार की परम्परा से तीनों लोकों को प्रसन्न करते हैं।

४. इस कर्मभूमि को पाकर जो मनुष्य तप नहीं करता, वह अभागा ही है।

५. मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दरिद्र है?

६. इसी का समर्थन जैन महापुराण में मिलता है—

लिए कामधेनु है। कवि बनने के लिए इच्छुक विद्यार्थी को गुरुकुल की उपासना करनी चाहिए। आचार्य श्यामदेव का कहना है कि काव्य-कर्म में कवि को समाधि की आवश्यकता होती है। आचार्य मंगल के अनुसार नित्य अनुशीलन या अभ्यास से कवि-पद्धति का ज्ञान होता है। कवि के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। यही प्रतिभा शब्दग्राम, अर्थसार्थ, अलंकारतन्त्र और सूक्तिसार को कवि के हृदय में प्रतिभासित कराती है। प्रतिभाशाली के लिए अदृश्य भी मानो प्रत्यक्ष होता है। राजशेखर के अनुसार

देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। पूर्वजन्म के संस्कारों से ही जो बुद्धिमान् कवि बन जाता है, वह सारस्वत है। इस जीवन में शास्त्रादि का अभ्यास करने से कवि बनने वाला आभ्यासिक है। मन्त्रोपदेश के बल पर कवि बनने वाला औपदेशिक है।[1] प्रतिभा के साथ ही कवि में व्युत्पत्ति भी चाहिए।[2] कवि की सात अवस्थायें होती हैं—काव्यविद्या-स्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि और कविराज। जो कवित्व की सिद्धि के लिए काव्य-विद्या और उपविद्या सीखने के उद्देश्य से गुरुकुल में रहता है, वह विद्या-स्नातक है।[3] हृदय-कवि हृदय में ही कविता करता है, किसी को सुनाता नहीं। जो अपनी कविता को दूसरे की कविता कह कर सुनाता है, वह अन्यापदेशी है। पूर्ववर्ती कवियों की छाया पर रचना करनेवाला सेविता है। जो मुक्तकों की ही रचना करता है, प्रबन्धों की नहीं, वह घटमान है। प्रबन्ध-काव्य का रचयिता महाकवि है। विविध भाषाओं में, विविध प्रबन्धों और रसों से सम्बद्ध रचना करने वाला कविराज है। सतत अभ्यास से सुकवि की वाणी परिपक्वता प्राप्त करती है। पाक का अर्थ है—

तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन्।
धर्म्यं शस्यं यशस्यं च काव्यं कुर्वन्तु धीधनाः॥१.७४

१. औपदेशिक कवि की तीन अन्य अवस्थाएँ आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता हैं। मन्त्रोपदेश से आवेश के समय रचना करने वाले आवेशिक हैं। आशुकवि ही अविच्छेदी है। वह धाराप्रवाह रचना करता है। कन्या और कुमार को सरस्वती से प्रभावित करके कविता कराने वाला संक्रामयिता है।

२. बहुज्ञता व्युत्पत्तिः उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः।

३. व्याकरण, कोष, छन्द और अलंकार विद्या हैं और ६४ कलाएँ उपविद्या हैं।

सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

कवि का सूक्ष्म अर्थ देखना साथ ही अपेक्षित है।

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते॥

इसके साथ ही आवश्यक है—स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति, दृढ़ता और उत्साह। कवि को मन, वाणी और शरीर से नित्य शुद्ध रहना चाहिए। वाणी और मन की पवित्रता शास्त्राध्ययन और तदनुरूप आचरण से उत्पन्न होती है। शरीर के अंग-प्रत्यंग को सुसंस्कृत नागरिक की भाँति रखना चाहिए। मुख में ताम्बूल, शरीर का अनुलेपन, महँगा और ठीक-ठिकाने वस्त्र, सिर पर पुष्प—यह है कवि का रूप। जैसा कवि, वैसा काव्य। जैसा चित्रकार, वैसा चित्र—ये लोकोक्तियाँ समाज की उस धारणा की ओर संकेत करती हैं, जो कवि को नागरिक बनाती हैं। वह बोले तो हास्यपूर्वक। उसकी बातचीत में गरिमा हो। वह दूसरे के काव्य में दोष न निकाले।

कवि का भवन क्या होना चाहिए—स्वर्ग का टुकड़ा। लिपा-पुता, छः ऋतुओं के अनुकूल स्थान वाला, विविध वृक्षों की वाटिका वाला वह भवन कवि की रसिकता की मानो प्रतिमूर्ति ही था। उस भवन के साथ ही क्रीडापर्वत, कमल-शोभित-पुष्करिणी, नदी-समुद्र-रूपधारी जलाशय और कुल्या की धारा होनी चाहिए। उसमें मयूर, हरिण, हारीत, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौञ्च, कुरर, शुक, सारिका आदि विचरण करते हों। कहीं घाम की प्रखरता को भुला देने वाला स्थान हो, अन्यत्र भूमिधारा-गृहयन्त्र से समन्वित लता-गृह हो, उसी में झूला झूलने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके दास-दासी भी असाधारण रूप से सुशिक्षित हों, जो काव्यानुवर्त्तन में सहायक हों। कवि का लेखक भी असाधारण कौशल का ही होता था।

काव्य-भवन में सम्पुटिका, फलक, खटिका, समुद्गक, लेखनी, मषी-भाजन, ताडपत्र, भूर्जत्वक्, लोह-कण्टक, ताल-पत्र, स्वच्छ और चिकनी भित्तियाँ सदैव सुव्यवस्थित होनी ही चाहिए थीं।

कुछ कवि उच्च कोटि के वास्तु-निर्माता स्वयं हुए हैं। महाकवि रविकीर्ति कालिदास और भारवि के समकक्ष था। उसने जिनमन्दिर का निर्माण कराया। इस मन्दिर की प्रशस्ति में एहोड़े के उत्कीर्ण लेख में कहा गया है—

येनायोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

कवि को समाज की रुचि का सदैव ध्यान रखना चाहिए था। उसे जानना चाहिए कि कौन-सा कार्य ऐसा है, जो लोकसम्मत हो और उसे भी प्रिय हो। जो लोगों को प्रिय न हो, उसमें न प्रवृत्त हो।[१] लोकप्रिय प्रवृत्तियों को कवि काव्य का विषय बनाये।

यदि कोई कवि की रचना को निन्दा करे तो क्षुब्ध होने की बात नहीं। अपनी वस्तु को यदि अपना हृदय अच्छा कहता है तो निरंकुश जनता की बातों की चिन्ता व्यर्थ है।[२] फिर भी कवि को सदा अनुसन्धानपरायण और सावधान रहना चाहिए। राजशेखर के अनुसार—

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥

कविचर्या

कवि प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में सन्ध्या कर लेने के पश्चात् सारस्वत सूक्तों का अध्ययन करता था। पश्चात् विद्यावसथ में सुखपूर्वक बैठकर एक पहर तक वह काव्य-विद्याओं और उपविद्याओं का अनुशीलन करता था। इस प्रकार उसकी प्रतिभा नित्य संवर्धित होती थी।

दूसरे पहर में कवि काव्य-रचना करता था। दोपहर के लगभग वह स्नान करके अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन करता था। तीसरे पहर में काव्य-गोष्ठी का आयोजन होता था। इस गोष्ठी में प्रश्नोत्तर, काव्य-समस्या, धारणा, मातृका और चित्र-कला के अभ्यास होते थे।[३] चौथे पहर में अकेले या दो-चार मित्रों के साथ उस दिन की रची हुई कविता की आलोचना होती थी।

---

१. जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च।
असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च॥ का० मी०

२. जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरंकुशः॥

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि॥

३. मातृकाभ्यास का अर्थ काव्योचित-वर्ण-विन्यास है।

सन्ध्या के समय सन्ध्या और सरस्वती की वन्दना करने का नित्य का कार्यक्रम था। फिर दिन की रचना सुलेख में उपनिवद्ध की जाती थी। रात्रि के दूसरे और तीसरे पहर में सोकर पुनः ब्राह्ममुहूर्त्त में कवि जाग पड़ता था।[1]

कौन कवि किस समय रचना करता है, इस दृष्टि से चार प्रकार के कवि होते हैं—असूर्यम्पश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक। जिन स्थानों में सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं, ऐसी गुफाओं या गर्भगृहों में असूर्यम्पश्य कवि रचना करते हैं। जब इच्छा हो, तभी कविता करने वाले निषण्ण कवि होते हैं। समय या अवकाश मिलने पर कविता करने वाले दत्तावसर कवि हैं। किसी विशेप प्रयोजन के उपस्थित होने पर जो लेखिनी उठाते हैं, वे प्रायोजनिक कवि हैं।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि होती थीं। राजशेखर का स्पष्ट मत है कि संस्कार आत्मा में होते हैं। वे स्त्री या पुरुष की अपेक्षा नहीं करते। अनेक राज-कन्यायें, गणिकायें और कौतुकि-भार्यायें शास्त्रज्ञ और कवि हुई हैं।

उदात्त व्यक्तित्व वाले महाकवि के विषय में राजशेखर ने कहा है—

सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरा।
मूल्यच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरां गुरुः॥
चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥

राजा और कवि

राजा स्वयं भी कवि होते थे और वे कवियों के समाज का विधान करते थे। राजा के कवि या काव्यप्रेमी होने का प्राचीन समाज पर व्यापक प्रभाव था। सारी प्रजा की मनोवृत्ति इस दिशा में राजा का अनुवर्तन करती थी। राजा कवियों की परीक्षा के लिए चार महाद्वारों वाला १६ स्तम्भों का भवन बनवाता था। इस भवन में राजा का विशेष आसन होता था। उस आसन से उत्तर की ओर संस्कृत के क़वि बैठते थे और उन्हीं के साथ वेदवित्, नैयायिक, पौराणिक, स्मार्त, वैद्य और मौहूर्तिक आदि बैठते थे। पूर्व की ओर प्राकृत के कवि, नट, नर्तक, वादक, वाग्जी-वक, कुशीलव आदि बैठते थे। पश्चिम में अपभ्रंश के विद्वान् होते थे। उनके पीछे चित्रकार, मूर्तिकार, बढ़ई, लोहार आदि बैठते थे। दक्षिण में भूतभाषा के

---

१. ब्राह्ममुहूर्ते मनः प्रसीदत्तांस्तानर्थानध्यक्षयति। निशायास्तुरीयो यामार्धः स हि सारस्वतो मुहूर्तः।

कवि बैठते थे और उनके साथ होते थे विट, वेश्या, प्लवक, शौभिक, जम्भक, मल्ल और शस्त्रधर आदि। राजा पूर्व-परम्परा के अनुरूप श्रेष्ठ कवियों को दान-मान देता था।

बड़े नगरों में काव्य-शास्त्र की परीक्षा के लिये ब्रह्मसभायें होती थीं। इनमें सर्वोच्च कवियों को दान-मान के साथ ही पट्टबन्ध मिलता था और ब्रह्मरथ पर बैठाकर उनका सार्वजनिक प्रदर्शन होता था। उज्जयिनी, पाटलिपुत्र आदि में राजाओं के द्वारा कवियों की परीक्षा का आयोजन होता था। कश्मीर के राजा मातृगुप्त के सामने मेण्ठ कवि ने स्वरचित हयग्रीववध महाकाव्य पढ़ा। जब वह पुस्तक पढ़कर बाँधने लगा तो

न्यधाल्लावण्य निर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम् ।[1]

अर्थात् राजा ने महाकाव्य के नीचे स्वर्ण-भाजन रख दिया, जिससे रस चूकर बह न जाय।

वर्ण्य विषय

भारतीय काव्य का वर्ण्य विषय देश और काल की दृष्टि से और साथ ही प्रबन्धों के चरित-नायकों की गरिमा की दृष्टि से अनुपम ही प्रतिष्ठित है। संस्कृति के आदिकाल से ही महामानवों—देवता, ऋषि, असुर आदि से सम्बद्ध अनन्त घटनाओं का संक्रम वेद और पुराण आदि के माध्यम से साहित्य की सभी शाखाओं और प्रशाखाओं में सरस जीवन का अक्षय स्रोत रहा है। इसके साथ ही जीवन का एक अतिशय विस्तृत और परिव्यापक धार्मिक और दार्शनिक विन्यास था, जिसकी पृष्ठभूमि में चरित-नायकों के कार्य-व्यापार की परिधि आतान-प्रतान में निरवधि होकर रही।

भारत के विशाल प्रांगण में किसी महापुरुष का कार्य-क्षेत्र केवल हिमालय से समुद्र तक ही सीमित नहीं था; अपितु भारत के बाहर दिग्विजय और धर्म-विजय का क्षेत्र था और भारतीय कल्पना के अनुसार तो स्वर्ग और पाताल भी चरित-नायकों की पराक्रम-परिधि के भीतर थे। रामायण को लीजिये—रामचरित की भौगोलिक परिधि अतिशय व्यापक है। इसके भीतर उत्तर और दक्षिण भारत का अधिकांश आ जाता है। तत्कालीन भारत की प्रायः सभी जातियों को राम के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। रामायण में राम के बाल्य की रमणीयता के साथ यौवन की वीरता और प्रौढावस्था का कर्मयोग—सभी अद्वितीय सौरभ से

---

१. राजतरंगिणी ३.२६०-२६२।

समन्वित हैं। मानव-जीवन के चारों आश्रमों, चारों वर्गों और चारों वर्णों के आदर्शों का यदि कहीं एकत्र सुप्रतिष्ठित स्वरूप मिल सकता है तो वह वाल्मीकि की रामायण में ही सम्भव है। महाभारत के विषय में तो ठीक ही कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

इस महाभारत के महासागर में प्राचीन संस्कृति का क्या नहीं है—यह ढूंढ़ निकालना वास्तव में कठिन ही है। महाभारत में कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि की प्रमुख रूप से और गौण रूप से अगणित ऋषियों और मुनियों की चरित-गाथा मिलती है। इन सबका व्यक्तित्व असाधारण रूप से पाठकों के अभ्युदय के लिए है।

परवर्ती युग में गौतम बुद्ध का उदात्त चरित अश्वघोष के दो महाकाव्यों का वर्ण्य विषय बना। गौतम के व्यक्तित्व की गरिमा से केवल भारत ही नहीं, तत्कालीन समग्र विश्व ही प्रभावित था। राम और कृष्ण आदि अवतार-पुरुषों के चरित का आश्रय लेकर असंख्य नाटक और महाकाव्यों की रचना हुई।

भारतीय काव्य की एक रीति ही थी कि सज्जनों के चरित को काव्य का विषय बनाया गया, जिससे उनके द्वारा लोकसंग्रह हो।[1] वाणी का सदुपयोग माना गया कि उससे सत्कथा का समारम्भ हो। उन प्राचीन कवियों की धारणा थी कि महापुरुषों का कीर्तन करने से विज्ञान बढ़ता है और निर्मल यश विस्तृत होता है। सत्पुरुषों की कथा से उत्पन्न यश 'यावच्चन्द्रार्कतारक' रहता है।[2] भागवत के अनुसार तो—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो,
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्,
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥१.५.११

फिर तो कहीं वाणी वन्ध्या न हो जाय, इसलिए जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-रूप भगवान् की लोक-पावन लीला का वर्णन काव्य का विषय बना और उसमें लोकप्रिय राम-कृष्ण आदि अवतारों का यशोगान उपनिबद्ध हुआ। यदि काव्य में ये

---

१. लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥ महा० शान्तिपर्व २५१.२५।

२. जैन—पद्मपुराण १.२३-२७।

तत्त्व विद्यमान न हों तो उसका पढ़ना या सुनाना पाप माना गया।[1] लोगों को पूर्वजों के चरित के सम्बन्ध में अतिशय श्रद्धा थी।[2]

प्राकृतिक सुषमा का काव्य के वर्णनों की चारुता के लिए अतिशय महत्त्व माना गया। भारत की दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं है। भारत ने प्रकृति में दिव्य तत्त्व का अवलोकन किया है। सम्भवतः संस्कृति के आदिकाल से ही पर्वत, नदी, समुद्र, वन, सूर्य, चन्द्र आदि को देवता माना गया है। इनका विशद दिव्यात्मक स्वरूप ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद की अरण्यानी तत्कालीन मानवता के लिए सप्राण सहचरी है। तभी तो कवि ने उसकी प्रशस्ति में कहा है—'अरण्यानि, तुम गाँव का मार्ग क्यों नहीं पूछती? क्या तुम्हें डर नहीं लगता? अरण्यानी किसी प्राणी का वध नहीं करती। वन में स्वादपूर्ण फलों को खाकर यथेच्छ रहा जा सकता है। कंस्तूरी के समान अरण्यानी का सौरभ है। वहाँ खाद्य सामग्री पर्याप्त है, पर खेती नहीं है। वह अरण्यानी मृगों की माता है।

ये वे ही भाव-धारायें हैं, जो परवर्ती युग में कालिदास के समक्ष हिमालय का पितृ-स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। उस कालिदास के लिए तो

> 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
> हिमालयो नाम नगाधिराजः।" कुमारस० १.१।

कवि का हिमालय, जो प्रत्यक्ष पत्थर है, पार्वती को जन्म देता है। शिव उसके जामाता बनते हैं। यह वही वन्य प्रकृति है, जिसमें शकुन्तला के लिए 'किसी वृक्ष ने क्षौम प्रदान किया, किसी ने लाक्षारस दिया और वनदेवियों ने आभूषण प्रदान किये।[3] उसी वन्य प्रकृति के हरिण सीता के दुःख में मुंह से घास गिरा देते

---

१. भागवत ११.११.२०।

२. जनमेजय ने कहा है—

न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्॥ महा० आदिपर्व ५६.३।

३. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतम्,
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवता करतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

अभिज्ञानशा० ४.५

हैं, मयूर नाचना छोड़ देते हैं, वृक्षों के ह्रास-रूप पुष्प गिर पड़ते हैं। सीता के रोने पर सारा वन ही रो रहा है।[1]

उपर्युक्त सभी प्राकृतिक विभूतियों की रसमयी रमणीयता भी कवि-दृष्टि में वर्णनीय रही है। ऋतुओं के वर्णन, यात्रा-वर्णन, पुष्पावचय आदि के वर्णन सभी तो प्रकृति के मनोरम स्वरूप के निदर्शन के लिए प्रयुक्त हैं। कालिदास का मेघदूत और ऋतुसंहार प्रकृति के प्रांगण में कवि की प्रतिभा के चिर विलास का परिचय देते हैं।

कवि-प्रतिभा का एक विशाल क्षेत्र पशु-पक्षियों के मानवोचित व्यवहार की कल्पना में दर्शनीय है। सुदूर प्राचीन काल से ही पशुओं में वाणी-शक्ति की कल्पना करके पशु-जगत् को उच्चतर प्रतिष्ठा प्रदान करना भारतीय कथा-साहित्य की अनुपम विशेषता रही है। पशु-जगत् में जिस आर्जव, साहस और अध्यवसाय का आकलन किया गया है, वह मानव-जगत् के सामने हीनतर भले ही हो, पर पशुओं के इन गुणों की वर्णना में मानव को नीति और सदाचार की शिक्षा निष्काम स्तर पर मिलती है। इसी प्रकार नाटकों में बुद्धि, सत्य, धृति, कीर्ति आदि में मानवोचित वाणी-शक्ति का आरोप करके सांस्कृतिक विन्यास की एक अभिनव दिशा व्यक्त की गई है।[2]

भारतीय नाट्य और कथा-साहित्य में तत्कालीन जगत् के अंग-प्रत्यंग का विशद वर्णन देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का समारंभ महाभारत और जातक कथाओं में हुआ। परवर्ती युग में पंचतन्त्र, बड्ढकहाओ, कथासरित्सागर, पुरुष-परीक्षा आदि की कथाओं में तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल, मृच्छकटिक आदि नाटकों और प्रहसनों में समाज के छोटे-बड़े सभी की बातों का वर्णन सांगोपांग मिलता है।

भारतीय इतिहास इसी काव्य-शैली से उस प्राचीन युग में उपनिबद्ध हुआ है। महाभारत में भारत के प्रथम इतिहास का सांगोपांग स्वरूप मिलता है। इसके पश्चात् बाण का हर्षचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित और कल्हण की राजतरंगिणी आदि इतिहास-कोटि की विशिष्ट रचनायें हैं। राजतरंगिणी रचने में कल्हण ने काश्मीर के पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों

---

१. नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि॥

रघुवंश १४.६९

२. देखिये जातक कथायें, पंचतन्त्र और अश्वघोष के नाटक

का उपयोग किया था। उसके युग में इतिहास-ग्रन्थों की अवश्य ही प्रचुरता रही होगी।

उदात्त भावना

भारतीय काव्य में आदिकाल से ही कवियों का जो दृष्टिकोण रहा है, उसको संघटनात्मक कहा जा सकता है। चराचर में उन कवियों को जो कुछ सर्जनात्मक और कल्याणावह प्रतीत हुआ, वही उनके लिए प्रशस्य था। उन्होंने धर्म के संरक्षण को ही दिव्य कर्म माना। उनकी धारणा थी कि अग्नि, पृथ्वी, आपस्, वायु, इन्द्र, विष्णु, सोम आदि सभी देवता हैं। परवर्ती युग में जो दिव्यावतार थे, उनके सम्बन्ध में भी उनकी धारणा थी—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

जो कर्तव्य देवताओं के लिए सम्मत हुआ, वही मानवों के लिए भी समीचीन माना गया। इस प्रकार का कर्तव्य-पथ अपना लेने पर मानव का व्यक्तित्व दिव्य बन जाता है। ऐसा व्यक्तित्व विकसित कर लेने पर मानव सारे समाज का अलंकरण बन जाता है। उसके द्वारा समष्टि की सेवा सम्भव होती है।

ऋग्वेद के महाकवियों ने सत्य और ऋत की अतिशय ऊँची प्रतिष्ठा की। उनके अनुसार 'सूर्य ने सत्य को फैलाया है।'[1] उनके देवता केवल अच्छी वस्तुओं की रक्षा करते हैं।[2] उनका पूर्ण श्रम में विश्वास था। उनकी धारणा थी कि देवता केवल परिश्रमी लोगों की ही सहायता करते हैं।[3] निन्दा करने वालों को वे परम निन्दनीय मानते थे।[4] विनय की सर्वोच्च महिमा की अभिव्यक्ति ऋग्वेद में इन शब्दों में मिलती है—

नम इदुग्रं नम आ विवासे,
नमो दाधार पृथिवीमुतद्याम् ॥६.५१.८.

---

१. सत्यं तातान सूर्यः १.१०५.१२। शतपथ में कहा गया है—सत्यमेव देवाः १.१.१.४

२. विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवाः २.२४.१६.

३. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ४.३३.११; भूत्यै जागरणम्। यजुर्वेद ३०. १७

४. निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु। ५.२.६

(नमस्कार ही सबल है। नमस्कार चाहता हूँ। नमस्कार ने पृथ्वी और स्वर्ग को धारण किया है।)

ऋग्वेद के कवियों ने परमात्मा की सर्वात्मक सत्ता को भलीभाँति समझ लिया था। उनकी कल्पना थी—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। १०.९०.२

(परमेश्वर ये सब हैं, जो उत्पन्न हुआ है और जो भविष्य में जन्म लेने वाला है।)

ऋग्वेद का ऋषि-कवि उदारता की अतिशय प्रशंसा करता था। वह कह सकता था—अनुदार का अन्न पाना व्यर्थ है। सच कहता हूँ, यह उसका वध ही है। वह न तो अर्यमा की सेवा करता है और न साथी का पोषण करता है। जो अकेले खाता है, वह निरा पापी है।[1]

उसी युग से भारत-वाणी है—

संगच्छध्वं संवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ।। १०.१९१.२

(साथ मिलकर चलो, साथ बोलो। तुम्हारे मन साथ विचार करें।)

अपने आचरण को अच्छा रखना केवल कोरे उपदेश की दृष्टि से दूसरों के लिए ही नहीं था, अपितु अपने लिए भी था। कवि की हार्दिक कामना है—हे अग्नि, मुझे दुश्चरित से बचाइए, सुचरित में लगाइये।[2] हे देव सवितः, सभी पापाचारों को दूर करें। जो कुछ अच्छा है, वह हम लोगों के लिए प्रस्तुत करें।[3] इस पावन-तत्त्व के उन्मेष की भावना का दृढ़ आधार उस युग में प्रतिष्ठित हो चुका था—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।[4]

कवियों ने कर्मण्यता को जीवन की क्षमता का निदर्शक मान कर सबसे पहले 'अश्मा भवतु नस्तनूः' की कामना की। ऐसा ही पुरुष काम करते हुए सौ वर्ष जीने

---

१. ऋग्वेद १०. ११७. ६
२. यजुर्वेद ४.२८
३. यजु० ३०.३
४. यजु० ४०.१

की सार्थकता का अनुभव कर सकता था।[१] ऐसे व्यक्तित्व के साथ ही इस विचार का समन्वय हो सकता था कि मैं मित्र की दृष्टि से सभी प्राणियों को देखूं।[२]

आरम्भिक युग से ही शिष्टाचार के उदात्त भाव काव्य में प्रतिष्ठित किये गये हैं। अथर्ववेद के अनुसार 'वह पुरुष घर की कीर्ति और यश को खा जाता है, जो अतिथि से पहले खाता है।'[३] उसकी कामना होती थी—जिनको मैं देखता हूँ और जिन्हें नहीं देखता हूँ, उन सब के प्रति मुझमें सुमति उत्पन्न करें।[४]

अपने श्रम को सुफल पाने के लिए मानवता को प्रवृत्त करने का उत्तरदायित्व वैदिक कवियों ने निभाया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—'इन्द्र इच्चरतः सखा' और 'नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति'। ऋषि का सन्देश है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

(सोते हुए पुरुष के लिए कलियुग रहता है, जँभाई लेते हुए द्वापर होता है, उठते हुए त्रेता और काम में लग जाते हुए सत्ययुग होता है।)[५]

आलसी लोगों को चेतावनी दी गई है—कल के भरोसे मत बैठो। तुम्हारा कल कौन जानता है?[६] आज निश्चित है, कल की कौन जाने?[७]

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान को सर्वातिशय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यह आधिभौतिक प्रवृत्तियों के ऊपर अध्यात्म की विजय थी। इसके प्रकाश में कहा गया—

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'
'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'।

उस ब्रह्म को सत्य का पर्याय मानकर कहा गया—

सत्यमेव जयते नानृतम्।

उपनिषद् में सीख दी गई—

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥ यजु० ४२.२
२. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। यजु० ३६.१८
३. अथर्व० ९.६.३५
४. अथर्व० १७.१.७
५. ऐत० ७.१५
६. न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। शतपथ २.१.३.९
७. अद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद्यच्छ्वः। शतपथ २.३.१.२८

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥ मैत्री उ० ६.३४

महाभारत में सदाचार की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार मोक्ष पाने का प्रथम सोपान है—कर्म, मन और वाणी से किसी प्राणी के प्रति पाप न करना।[1] इसी की सिद्धि के लिए कहा गया—'सत्यं पुत्र शताद्वरम्', 'आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते', 'तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि', 'सत्यस्य वचनं श्रेयः', 'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः'। इस प्रकार महाभारत में लोक-कल्याण का ऊँचा स्थान मिलता है। व्यास का कहना है—कुल के लिए एक को, गाँव के लिए कुल को और जनपद के लिए गाँव को छोड़ देना ही कर्तव्य है।[2] पुरुषकार तो इस बात में है कि यदि किसी ने तुम्हारा कुछ उपकार किया तो तुम उसके लिए बढ़कर उपकार करो।[3] महाभारत का निश्चित मत है—

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥ शान्ति० २५४.९

गीता में कर्मयोग की जो विशद धारा प्रवाहित की गई है, उससे भारत के केवल काव्य ही को नहीं, अपितु सभी सांस्कृतिक क्षेत्रों को अद्वितीय ओजस्विता मिली है। मानव को उसकी प्राकृतिक संकीर्णता से बाहर निकाल कर उसे लोकहित में निरत करा देना गीता-काव्य का अनुपम उद्देश्य है। फिर भी गीता कहती है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥३.१७

गीता में समदृष्टि का उपदेश अद्वितीय ही है। 'पण्डित लोग विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल—सब में समदर्शी होते हैं। इसके साथ ही आत्मोद्धार का पथ बताया गया—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६.५

---

१. **यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित्।**
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ आदि० ७५.५२

२. आदि० १०७.३२

३. आदि० १४५.१४
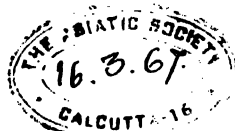
(आप अपना उद्धार स्वयं करें। अपने को गिरने न दें। आप स्वयं अपने शत्रु या मित्र हैं, कोई दूसरा नहीं।)

वैदिक साहित्य में जिस कर्मयोग का बीजारोपण किया गया, उसे वाल्मीकि ने रामायण में संवर्धित करके पल्लवित और पुष्पित किया। तत्कालीन आदर्श नायक के जीवन की समीचीन दिशा बतलाई गई कि धर्म की रक्षा करने के लिए अपना तन, मन और धन समर्पित कर देना चाहिए। राम के उदात्त और सात्त्विक भाव का परिलक्षण परवर्ती युग में कालिदास ने इस प्रकार किया—

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चात् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥ रघुवंश १२.७

जिस प्रकार नव रसों में से सभी आनन्द के निस्यन्द हैं, उसी प्रकार जीवन की विषम और सुखद सभी परिस्थितियों की अनुभूति आनन्दमयी है। राम के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वाला वन था, अयोध्या नहीं। यदि राम का वनवास न हुआ होता या वे बालक होकर भी विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए वन नहीं गये होते तो सम्भवतः राम किसी महाकाव्य का चरित-नायक बनने के योग्य वाल्मीकि के द्वारा नहीं माने जाते।

अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि—

रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः।
प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः॥ सौन्दर० ११.३४
तृप्तिं वित्तप्रकर्षेण स्वर्गावाप्त्या कृतार्थताम्।
कामेभ्यश्च सुखोत्पत्तिं यः पश्यति स नश्यति॥ सौन्दर० १५.१०

कालिदास ने जिस किसी वस्तु को अपनी आँखों से देखा था, वह उन्हें उदार प्रतीत हुई, सर्वस्व त्याग करती हुई प्रतीत हुई—केवल अपने अस्तित्व की सफलता के लिए, जो लोक-कल्याण के निमित्त त्याग में है।[1] सृष्टि की स्वाभाविक निर्बाध गति के मौलिक साधन-तत्त्व को कवि ने पहचाना था और वह अपने दर्शन को काव्य-रूप में अमर प्रतिष्ठा देने में सफल हुआ। भारत को पराक्रमी बना देने के लिए ही कवि का सन्देश है—'यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः'। इस यश की रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि गुणवान् बने क्योंकि 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते'। मानव के

---

१. देखिए रघुवंश में 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' और 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'।

लिए आत्मगौरव का सर्वोच्च आदर्श कालिदास ने स्फुटित किया है। चाहे उससे काम क्यों न बने, किसी नीच के पास नहीं जाना और काम न भी बने तो भी गुणवान् से सहायता की याचना करना—बस इतने में ही कवि का सन्देश निसृष्ट है। इसी आत्मगौरव की प्रतिष्ठा के लिए कवि ने आदर्श प्रस्तुत किया है—

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्,
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ अभिज्ञान० ५.७

(वृक्ष अपने सिर पर सूर्य की प्रखर किरणों का सन्ताप इसलिए सहता है कि उसकी छाया में आये हुए पथिकों को लू न लगे।)

यह आदर्श राजा का है और यथा राजा तथा प्रजा। कवि ने देखा था कि

'अनुद्धताः सत्पुरुषा; समृद्धिभिः।'

कालिदास का अमर सन्देश है—

संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्

(श्री और सरस्वती की संगति कल्याण के लिए हो)

आधुनिक युग में इसी आदर्श को अपनाने में भारत का कल्याण सम्भव है।

कालिदास के पूर्ववर्ती भास ने जिन आदर्शों को लेकर अपने नाटकों को सुरभित किया है, वे भारतीय संस्कृति में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित हैं। इन सभी नाटकों में कवि का एक विशेष सन्देश है। बालचरित बालकों को पराक्रमी बनाने के लिए है। मध्यम व्यायोग में विपत्ति से दीन-दुःखियों की रक्षा करना ही मनस्वियों का काम बतलाया गया है। दूतवाक्य के अनुसार अपने व्यवहार में क्षुद्रता लाना पतन और तिरस्कार के लिए होता है। कर्णभार में यशःशरीर का संरक्षण ही परम कर्त्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पंचरात्र में भीष्म और द्रोण के औदार्य का वर्णन करके इन वयोवृद्ध और आचार्य के उत्तरदायित्व की गरिमा को कवि ने शतगुण कर दिया है। ऊरुभंग और दूतघटोत्कच में युद्ध की भीषणता का चित्रण करके मानवता को उससे विरत करने की सीख दी गई है। चारुदत्त में चारुदत्त और उसकी पत्नी की उदारता का सर्वस्पृहणीय चित्रण मिलता है।

उपर्युक्त चारुदत्त के कथानक और विन्यास को लेकर शूद्रक ने मृच्छकटिक की रचना की है, जिसमें प्रकृति के रमणीयतम स्वरूप, सम्पत्ति और विपत्ति की उच्चावच देन, नागरिकता का ऐश्वर्य, अनागारता की सौम्यता, धर्म-पथ और कर्म-पथ आदि का एक संसार ही वर्णित है।

पौराणिक काव्यों में भागवत पुराण का राष्ट्रीय संस्कृति के अभ्युत्थान में अतिशय महत्व रहा है। इस ग्रन्थ में आधिभौतिकता को परित्याज्य सिद्ध किया गया है।[1] कवि का तर्क है—पृथ्वी है ही तो पलंग के लिए प्रयत्न क्यों? बाँह है तो तकिये की क्या आवश्यकता? अञ्जलि है तो पात्रों से क्या और वल्कल है तो कौशेय वस्त्रों की क्या उपयोगिता? इस ग्रन्थ में हम और तुम, छोटे और बड़े आदि का अन्तर मिटाने का सफल प्रयास मिलता है।[2] इस प्रकार की योजना से क्या लाभ है? भागवत के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य है सन्तोष की प्राप्ति और सन्तोष की प्राप्ति के लिए मार्ग है —

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥ ७.१५.१७

और फिर यदि अपनी चिन्ता रही तो हरि की आराधना कैसे होगी? हरि की आराधना के लिए आवश्यक है लोकसेवा, क्योंकि—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥८.७.४४

उपर्युक्त आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने वाला था रन्तिदेव, जिसकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम्,
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिल देहभाजाम्,
अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥९.२१.१२

(रन्तिदेव ने कहा है—मैं ईश्वर से आठों ऋद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता हूँ, मोक्ष भी नहीं चाहता हूँ। चाहता हूँ कि सभी देहधारियों का दुःख मेरे ऊपर आ पड़े। मैं उनके हृदय में स्थित हो जाऊँ, जिससे वे दुःखरहित हो जायँ)।

---

१. भागवत २.२.४
परिग्रहो हि दुःखाय यद यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तसुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिंचनः॥११.९.१

२. क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।
स्वपराभिनिवेशेन विना ज्ञानेन देहिनाम्॥७.३.६०

मैत्री भाव की भी अनूठी सीख रामायण के समान ही भागवत में मिलती है। इसके अनुसार—पुरुषों का धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों वर्ग मित्रों के सुख के लिए हैं। यदि मित्रों को क्लेश हो तो त्रिवर्ग व्यर्थ रहा।[1]

भागवत में शरीर को अनित्य बताया गया है। इस अनित्य शरीर का सर्वोत्तम उपयोग है इसके द्वारा अमर यश की प्राप्ति।[2] केवल शरीर ही नहीं, धन को भी इसी प्रकार भोग-विलास का साधन न बनाकर धर्म का साधन बनाना है क्योंकि

'धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्तिः'

इस प्रकार की जीवन-पद्धति अपनाने के लिए कभी यह नहीं देखना चाहिए कि अन्य लोग इस मार्ग पर चलते हैं कि नहीं। 'प्राणी स्वयं अपना गुरु बने। प्रत्यक्ष और अनुमान से क्या नहीं जाना जा सकता?[3] जहाँ-कहीं अच्छी बात दिखाई दे, उसे झट अपना लेना चाहिए'—

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

भागवत की एक अनूठी सीख है कि मनुष्य को गुण और दोष की ओर दृष्टि डालना दोष है और गुण है दोनों से परे रहना।[4]

किरातार्जुनीय में जीवन की सफलता के लिए समुन्नत पथ का प्रदर्शन किया गया है—

निरुत्सुकानामभियोगभाजाम्,
समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः।३.४०

अर्थात् 'निष्काम होकर नित्य पराक्रम करने वालों की गोद में उत्सुक होकर सफलता आती ही है।' जीवन की इस सफलता को पाने के लिए महापुरुष कभी दूसरों

---

१. भागवत १०.६.२८

२. योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम्।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः॥१०.७२.२०

३. आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ भाग० ११.७.२०

४. किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितम्॥११.१९.४५

पर अवलम्बित नहीं होते।[१] समृद्धि के विषय में स्पष्ट मत दिया गया है—

निवसन्ति पराक्रमाश्रयाः।

भारवि के अनुसार मानव-जीवन में विघ्न-बाधाओं का स्थान अवश्यम्भावी ही है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो कुछ करना चाहते हैं। सभी विधि-विधान ठीक होने पर भी इसी नियम के अनुसार कुछ न कुछ झंझटें सफलता के मार्ग में दिखलाई पड़ती हैं।[२] ऐसी परिस्थिति में भी घबड़ाना नहीं चाहिए—किमिवावसादकरमात्मवताम्। वास्तव में दैवाज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता।[३]

भारवि ने नवयुवकों के लिए सन्मार्ग दिखाया है कि रम्य आकृति के चक्कर में न पड़ो। गुणों को प्राप्त करो।[४] इसका विशेष कारण है—

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः

अर्थात् विषय-भोग तत्काल ही रमणीय होते हैं। वे अन्त में परिताप पहुँचाते हैं। धन के चक्कर में भी मत पड़ो क्योंकि—

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः॥११.२४

(श्री ऊँच-नीच नहीं समझती। उसका कोई प्रिय नहीं होता। मूढ लोग उसी श्री में अनुराग करते हैं। ऐसे जन्तु वामशील हैं।)

बाण ने मानवता में सर्वत्र व्यापक स्नेह-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। दैववशात् स्नेह-तत्त्व के परिपोषण में अन्तराय अवश्य ही होते हैं। दया के साथ निर्दयता और सम्भोग के साथ विप्रलम्भ का दृश्य पूर्व पक्ष को उज्ज्वल बनाने के लिए होता है। बाण का कहना है—बलवती हि द्वन्द्वानां प्रवृत्तिः। इसी प्रवृत्ति का निदर्शन करते हुए उसने बतलाया है—कड़वी बात बोलने वाले तथा मिथ्या कलंक ढूँढ़ने वाले खल दुःख देते हैं, पर सज्जन अच्छी वाणी से पद-पद पर मन को वैसे

---

१. लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।२.१८

२. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि,
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः॥५.४९

३. लंघ्यते न खलु कालनियोगः।९.१३

४. सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्।११.११

ही मोह लेते हैं, जैसे मणिजटित नूपुर प्रत्येक पादक्षेप पर मन को आनन्द पहुँचाता है।[1]

वानप्रस्थ-मुनियों के उदात्त जीवन-चरित्र का आदर्श बाण ने प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार 'अनाथ का परिपालन करना मुनियों का धर्म है।[2] वे मुनि प्रभाव की दृष्टि से असाधारण कहे जा सकते हैं। भले ही राजसेवा व्यर्थ जाय, किन्तु

'अमोघफला हि महामुनि सेवा भवति'

इन तपस्वियों के लिए सब कुछ साध्य है।[3] इनका प्रभाव अचिन्त्य ही है।[4]

मानवता की भावनाओं को उच्चतम स्तर पर उठाने का सर्वोपरि श्रेय भर्तृहरि को दिया जा सकता है। भर्तृहरि की रचना में तर्क या बुद्धि के आधार पर सिद्ध किया गया है कि आध्यात्मिकता और अपरिग्रह के सुख के सामने आधिभौतिकता और परिग्रह का सुख तुच्छ है। उनकी दृष्टि में

'न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रह-फल्गुताम्'

फिर मनुष्य को जिन वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए वे हैं—विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म। इनके होने पर ही मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा वह केवल पशु है।

मनुष्य को अतिशय कर्मण्य वनाने वाले उद्बोधक वाक्यों की जो राशि भर्तृहरि ने प्रस्तुत की, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। भर्तृहरि का कहना है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति॥

---

१. कटुक्वणन्तो मलदायकाः खला—
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे-पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

२. अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्। कादम्बरी

३. नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्।

४. अचिन्त्यो हि महात्मनां प्रभावः।

भर्तृहरि मानव को उदार और महान बनाने के लिए विशेष सचेष्ट थे। उनका सिद्धान्त था—हाथ से श्रेष्ठ त्याग, शिर से गुरु-चरणों में प्रणाम, मुख में सत्य वाणी, विजयी भुजाओं में अतुल बल, हृदय में स्वच्छ वृत्ति, ईश्वर-प्रणिधान में तत्पर करा देने वाला शास्त्राध्ययन—ऐश्वर्य बिना ही ये सब गुण स्वभावतः महापुरुषों के मण्डन हैं।[1] जिस महामानव की कल्पना भर्तृहरि ने की थी, उसका चित्त ऐश्वर्यशाली होने पर भी कमल की भाँति कोमल होता है।

भर्तृहरि मानव को तपस्वी बनाना चाहते थे।[2] उनका कहना था—

वयमिह परतुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषे निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

(यहाँ हम अपने वल्कल से सन्तुष्ट हैं और आप अपनी लक्ष्मी से। परितोष के क्षेत्र में समानता है। दरिद्र वह है, जिसकी तृष्णा विशाल है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दीन?)

माघ ने सुजन की उत्तम परिभाषा दी है—

महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः।
सुजनो न विस्मरति जातु किंचन॥१३.६८

(अतिशय श्री को पाकर भी गर्वरहित सुजन किसी को थोड़ा भी नहीं भूलता।)[3]

परोपकार को माघ ने भी सज्जनों का स्वाभाविक गुण माना है।[4]

---

१. करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यममलम्।
हृदिस्वच्छा वृत्तिः श्रुतिमधिगतैकव्रतफलम्,
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम्॥

२. प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।

३. अन्यत्र भी
स्मर्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः॥१५.४३

४. उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः।१६.२२

मानव के स्वाभिमान का भी माघ ने अनुपम निदर्शन किया है। छोटों के प्रति उपेक्षा-भाव तो बड़ों को रखना ही है। केवल उच्च लोगों के ही प्रतियोगिता में आने पर वे अपने प्रताप का प्रदर्शन करते हैं।[1]

उत्तररामचरित का सर्वोच्च सन्देश है लोकाराधन। इसी लोकाराधन में राम से लेकर नदी-नद, पर्वत, पशु-पक्षी तक सभी तल्लीन हैं। उस समय का आदर्श राजा के लिए था——

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

लोकाराधन करते हुए अपने आप को अतिशय कष्ट की सम्भावना होती है। साथ ही संसार की दृष्टि में लोकाराधक अपने कुटुम्ब के प्रति निष्ठुर प्रतीत हो सकता है। पर राम का पथ तो यही है। तभी तो कवि को यह कहने का अवसर मिलता है——

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा।
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव धर्मो ग्लपयति॥

काव्य-प्रसादन

प्रसादन की दृष्टि से प्राचीन काव्य के अनेक स्तर दिखलाई पड़ते हैं। सर्वप्रथम वैदिक काव्य है, जो देवताओं के प्रसादन के लिए लिखा गया। कवियों का विश्वास था कि हमारे सूक्तों से प्रसन्न होकर देवता हमें इहलौकिक और पारलौकिक विभूतियों से सम्पन्न कर देंगे और विपत्तियों और कठिनाइयों को दूर करके हमारा जीवन सफल बना देंगे। इस प्रकार वह वैदिक साहित्य पाठक की केवल रस-निष्पत्ति का साधन नहीं था, अपितु इससे भी बढ़ कर उपर्युक्त मान्यता थी कि देवता तक हमारे सूक्त पहुँचते हैं और उनसे यदि देवता प्रसन्न हो गये तो हमारी कामनायें पूर्ण हो जायेंगी। उन वैदिक कवियों के लिए एक-एक सूक्त अतिशय मूल्यवान् और शक्ति-सम्पन्न था। ऐसी स्थिति में उन्होंने सूक्तों को वैयक्तिक सम्पत्ति माना और उनको स्मृति-कोश में सावधानी के साथ सँजोकर रखा। ऐसे काव्य के पीछे स्वभावतः प्रतिभा, अभ्यास और मनोयोग की उनकी सर्वोच्च सम्पुटित राशि लगी थी। देवता की अर्चना में प्रयुक्त एक-

---

१. अनुहुं कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी॥१६.२५

एक अक्षर, पद, वाक्य और सूक्त को पूर्ण रूप से विशुद्ध बनाकर उन्हें अधिकाधिक चमका देने का कृतित्व अनुत्तम था।

महाभारत और रामायण भी देवताओं के प्रसादन के लिए लिखे गये। यही इन ग्रन्थों की उच्चता के लिए एक प्रधान कारण था। रामायण की रचना के लिए आदिकवि को प्रेरित करते हुए ब्रह्मा ने कहा था--

मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।
कुरु राम कथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्॥
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥
यावद्रामायणकथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि॥[1]

प्रसादन की दृष्टि से काव्य-रचना का यह द्वितीय स्तर है। रामायण ब्रह्मा के प्रीत्यर्थ लिखा गया किन्तु वह वैयक्तिक सम्पत्ति न होकर लोक की सम्पत्ति थी। ब्रह्मा के नाते यह काव्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्तियों के द्वारा सर्वमयता प्राप्त कर सका और लोक के नाते यह लोक-रञ्जन और जीवन-दर्शन का अनुपम साधन बना।

इनके पश्चात् काव्य मानव-स्तर पर उतर आता है। मम्मट ने इस स्तर की ओर लक्ष्य करके लिखा है--

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

इस प्रकार के काव्य में पाठक की आवश्यकता ही कवि की दृष्टि में प्रधान है। उससे यश और धन प्राप्त करना प्रथम उद्देश्य है। कवियों ने उपर्युक्त प्राप्ति की प्रगुण्यता के लिए राजाओं का आश्रय लिया। ऐसी परिस्थिति में उनके काव्यों में राजोचित वाणीविलास प्रस्फुटित हुआ।

सनातनता

भारतीय संस्कृति की सनातनता ने प्राचीन काव्य को सदैव प्रभावित किया

---

१. रामायण, बालकाण्ड सर्ग २ से। महाभारत में कहा गया है--
लोक-संग्रह-संयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥ शान्तिप० २५८.२५

है। यही कारण है कि इतिहास-पुराणादि को उपजीव्य मानकर उनके कथानक, शैली और काव्यात्मक आदर्शों को परवर्ती कवियों ने ग्रहण किया। इसी प्रकार कालिदास आदि की रचनाओं को आदर्श मानकर उनके अनुरूप रचनाओं का प्रणयन परवर्ती युग में होता रहा। इस प्रवृत्ति को यद्यपि कई दृष्टियों से काव्य के विकास के लिए लाभप्रद नहीं माना जा सकता, फिर भी प्राचीन काल के श्रेष्ठ आलोचकों ने भी इसे प्रशस्य माना है। उदाहरण के लिए कल्हण का कहना है कि 'सुकवि प्राक्कवि-प्रक्रिया का उन्नयन करता है।'[1]

साहित्य का दार्शनिक पक्ष

साहित्य मूलतः अपनी प्रेरणायें आध्यात्मिक दर्शन से ग्रहण करता है। वास्तविक दृष्टि से परखने पर काव्य और साहित्य ब्रह्म-विद्या हैं। 'ये पोयेट्री या रेटारिक मात्र नहीं हैं। ये भी ब्रह्मविद्या हैं। वाक् और अर्थ यथाक्रम शक्ति और शिव के वाचक हैं। शिव-शक्ति-सामरस्य ही साहित्य है। इसका आत्मा अथवा प्राण रस है। ह्लादिनी शक्ति तथा संवित् शक्ति इन दो शक्तियों के अभेद से रस का आस्वादन होता है। 'रसो, वै सः।' वस्तुतः रस स्वयंप्रकाश ब्रह्मतत्त्व का ही नामान्तर है।'[2] इस प्रकार साहित्य का दार्शनिक संस्कृति से निर्भेद्य सम्बन्ध है।

---

१. राजतरंगिणी ६.६।

२. गोपीनाथ कविराज : भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० २१४।

अध्याय २

सामाजिक संस्थान

भारत अतिशय विशाल देश है। इसमें आज भी नाना प्रकार के धर्म, भाषा और आचार-व्यवहार को अपनाए हुए जन-समुदाय बसते हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि भारत के निवासी एक समाज की रचना करते हैं, क्योंकि उन सबकी एक-राष्ट्रीयता है, वे थोड़ा-बहुत त्याग करते हुए परस्पर उपकार-परायण हैं और उनकी भावनाओं में एकसूत्रता है, चाहे वे एक-दूसरे से बहुत दूर ही क्यों न बसते हों। सारे भारत के सम्बन्ध में जब मनीषियों का विचार-चिन्तन प्रारम्भ हुआ और उनका एकत्व का सन्देश जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हुआ, उसी युग से भारतीय समाज का अस्तित्व माना जा सकता है। ऐसा कब हुआ—इसके लिए कोई निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती। वैदिक युग के आरम्भ से ही ऐसी सार्वजनिक एकता का बीज मिलता है।[1]

समाज का समारम्भ

भारतीय समाज के समारम्भ का प्रथम स्वरूप वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक साहित्य प्रमुखतः आर्यों की ज्ञान-निधि है। इन आर्यों में समाज-संघटन की अद्भुत योग्यता और प्रवृत्ति थी। वे कभी भी 'मैं' और 'मेरा' का प्रयोग नहीं करते थे। इनके स्थान पर वे 'हम' और 'हमारा' का प्रयोग करते थे। उनकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी उदार थी। उनके शब्द-कोश में सर्व, विश्व, पृथ्वी, भूमा, भूः, भुवः और स्वः की अनुपम प्रतिष्ठा है। उन्होंने यह सीखा ही नहीं था कि अपने से भिन्न भी कहीं कुछ है। तभी तो परवर्ती युग में कहा गया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'। इस विचार पर दृढ़ रहने वाले आर्यों ने पृथ्वी को देवता माना और उसके आदर्श गुणों को इस प्रकार देखा—

---

१. ऋग्वेद ८.५८.२ एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्व १२.१.१५

पृथ्वी अनेक धर्म (संस्कृति) और भाषा के बोलने वालों को वैसे ही धारण करती है, जैसे घर।

इस सूक्त से स्पष्ट है कि इस युग में अनेक संस्कृतियों के अनुयायियों और अनेक भाषाओं के बोलने वालों में पृथ्वी-रूपी एक घर के सदस्य होने का विचार विकसित हो चुका था। इसी विचार से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सामञ्जस्य स्पष्ट है।[1]

सामाजिक एकता का दार्शनिक आधार था ब्रह्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सबका उद्भव होना।[2] हमें यहाँ विचार करना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्गीकरण कैसे हुआ ? समाज को एक पुरुष-रूप में मान कर वैदिक ऋषि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का स्थान इस प्रकार व्यक्त किया है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ऋ० १०.९०.१२

अर्थात् समाज-रूपी पुरुष के लिए ब्राह्मण मुख-रूप से, क्षत्रिय बाहु-रूप से, वैश्य ऊरु (जाँघ) रूप से और शूद्र पाद-रूप से विकसित हुए। इस सूक्त में समाज-सौष्ठव के लिए चारों वर्गों का एक मन होकर कर्तव्य का पालन करना आवश्यक बताया गया है। यही समाज का आदर्श-रूप भारत के परवर्ती विचारकों के समक्ष भी रहा।

वैदिककालीन वर्गीकरण

ऋग्वेद में आर्य और दास दो प्रमुख वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रसंग में वर्ण का अर्थ रंग है और ऋग्वेद के उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि त्वचा के रंग की भिन्नता के आधार पर प्रथम दृष्टि में आर्य और दास को एक दूसरे से

---

१. उपर्युक्त विचार के समर्थन के लिए दार्शनिक स्तर पर ब्रह्म से सब के उत्पन्न होने का ज्ञान ब्रह्म-विद्या कराती थी और पार्थिव स्तर पर 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अथर्व १२.१.१२ से सिद्ध होता है कि एक माता की दृष्टि से हम सभी भाई-भाई हैं। जात-विद्या के अनुसार हम सभी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। बृहदारण्यक उ० १.४.३ के अनुसार सभी मनुष्य परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। ऋग्वेद १०.७१.११ के अनुसार ब्राह्मण जात-विद्या का प्रवचन करते थे।

२. ऋग्वेद का पुरुषसूक्त, बृहदारण्यक उ० १.४.११-१५।

भिन्न किया जा सकता था। आर्य अवश्य ही गौर वर्ण के थे। आर्य और दासों का संघर्ष चिरकाल तक रहा। इस युद्ध-काल में आर्य दल के जो नेता थे, उनकी चरित-गाथा वेदों में विस्तारपूर्वक ऋषियों ने गाई।[१] ऋषि आर्यों में अपने ज्ञान, और यज्ञ-परायणता से राष्ट्रचरित्र के निर्माता रूप में प्रतिष्ठित थे। वे वैदिक संहिता के रचयिता हैं।

ऋषि

वैदिक ऋषि आर्य-समुदाय के मनीषी हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे केवल बुद्धिवादी थे। समय पड़ने पर शत्रुओं का सामना करने के लिए उनको अस्त्र-शस्त्र के साथ सन्नद्ध होते देर नहीं लगती थी। युद्ध-भूमि से लौटने पर उनकी काव्य-प्रतिभा विशेष निखरती थी और वे सूक्तों की रचना करते थे। इन वैदिक ऋषियों को हम धन-धान्य-सम्पन्न पाते हैं। इनमें लोकैषणा है। जीवन के प्रति उनकी विराग-वृत्ति साधारणतः नहीं है।[२] अनेक वीर पुत्र, पशु और धन-धान्य की समृद्धि की कामना वे अपनी स्तुतियों के माध्यम से देवताओं तक पहुँचाते ही रहते थे। फिर भी वैदिक ज्ञान-निधि का उत्पादन और संरक्षण अतिशय योग्यता से उन्होंने किया है। इतने से ही सिद्ध होता है कि उनके जीवन में यदि आधिभौतिक विलास का लावण्य था तो आध्यात्मिक या दार्शनिक ऐश्वर्य का चरमोत्कर्ष भी था।

---

१. इस नेतृत्व का श्रेय प्रायः इन्द्र को दिया गया है। इन्द्र देवता था। इसको आर्यों का प्रथम सम्राट् भी कुछ विद्वानों ने माना है। देवता प्रायः सभी के सभी क्षत्र (रक्षा-शक्ति) प्रधान थे। ऋग्वेद ७.६२.२ तथा ८.२५.८ में मित्र और वरुण ८.६७.१ में आदित्य और १०.६६.८ में सभी देवताओं को क्षत्रिय कहा गया है। परवर्ती वैदिक साहित्य में प्रायः देवताओं के क्षत्रिय होने की चर्चा है। बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.११ के अनुसार इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान क्षत्र हैं और ब्रह्मन् ही इस क्षत्र की योनि है। अर्थात् ब्रह्मा से क्षत्र का प्रादुर्भाव हुआ और पहले के ब्रह्मन् वर्ग के लोगों से ही आवश्यकतानुसार एक क्षत्र वर्ग विश्लिष्ट हुआ। इसका समर्थन अथर्ववेद में देखिए—

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥११.८.३२

(इस ब्रह्म में सभी देवता वैसे ही प्रतिष्ठित हैं, जैसे गौ गोशाले में)।

२. कुछ ऋषि तपःप्रधान जीवन बिताते थे। ऋग्वेद १०.१०९.४ के अनुसार 'सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः' अर्थात् सप्तर्षि तप में संलग्न हैं। ऋग्वेद १०.१५४.५ में तपस्वी ऋषियों की चर्चा है।

ब्रह्मन् या ब्राह्मण

उपर्युक्त ऋषियों के भाई-वन्धु थे आर्य-वर्ग में ब्रह्मन्। ब्रह्मन् वर्ग को समझने के लिए हमें तपोमूर्त्ति ब्रह्मचारी की ओर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। अथर्ववेद के अनुसार—ब्रह्मचारी अपने तप से आचार्य को परिपूर्ण बनाता है। ब्रह्मचारी समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोगों को पूर्ण करता है। विद्वान् ब्रह्मचारी ब्रह्म (ज्ञान) का विस्तार करता है। ब्रह्मचारी का ब्रह्म सबकी रक्षा करता है।[1] ब्रह्मचारी 'ब्रह्मन्' की प्राप्ति के लिये तप करता था। इस ब्रह्मन् को प्राप्त कर लेने पर वह स्वयं ब्रह्मन् होता था। ऋग्वेद में ऐसे ब्रह्मन् के विषय में कहा गया है—

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रा विमिमीत उ त्वः ॥१०.७१.१२

इस मन्त्र में जातविद्या है पराविद्या अर्थात् वह वेदान्त विद्या, जिसके अनुसार ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मन् वर्ग के लोगों में तप, अपरिग्रह और परा-विद्या का विकास हुआ। उपनिषदों में जिस ब्रह्मविद्या की चर्चा की गई है, उसका वैदिक परम्परा में बीजारोपण और संवर्धन आदिकाल में 'ब्रह्मन्' वर्ग के लोगों ने ब्रह्मचारी रहकर किया है।[2]

---

१. अथर्ववेद ५.११ से। इस प्रकार के ब्रह्मपरायण ब्राह्मण की परम्परा सदा चलती रही। रालिन्सन के अनुसार He (Brāhmaṇa) lives in the mountains or by the Ganges, as a solitary recluse and devotes his time to solitary meditation and the service of gods. *Intercourse Between India* etc. p. 114.

२. इस कोटि के ब्राह्मणों को श्रमणों के समकक्ष स्थान बौद्ध साहित्य में दिया गया है। सुत्तनिपात के ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त के अनुसार—ब्राह्मण ऋषियों की परम्परा में हैं। उन प्राचीन ऋषियों या ब्राह्मणों के पास पशु, धन-धान्य आदि नहीं थे। वे पाँच प्रकार के भोगों को छोड़ कर आध्यात्मिक उन्नति करने वाले तपस्वी थे। शिक्षा वृत्ति से जीविका चलाते थे। ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा कहलाता था। गौतम बुद्ध का इन मौलिक ब्राह्मणों के विषय में कहना है—

सुखुमाला महाकाया वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु सुखमधित्थऽयं पजा ॥१५॥

इन्हीं ब्रह्मन् वर्ग के लोगों का नाम ऋग्वेद में ब्राह्मण है।[१] शनैः-शनैः प्रायः ऋषि भी ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित हुए। कुछ ऋषियों का ब्रह्मन् नाम ऋग्वेद में भी मिलता है।[२] लोक-कल्याण चाहने वाले ऋषियों ने तपः को अपनाकर उसे अपनी शक्ति का साधन बनाया।[३] यही प्रवृत्ति परवर्ती-युग में निष्काम कर्मयोग में परिणत हुई। ब्रह्मवर्ग का निष्काम होना और ऋषिवर्ग का लोक-कल्याण करना जिस ब्रह्मर्षि में निष्ठित हुआ, वह प्रथम कर्मयोगी है।

उपर्युक्त ब्रह्मर्षियों के समकक्ष ऋग्वेद में वर्णित मुनि पड़ते हैं। सामाजिक संस्थान में यद्यपि इनका विशेष महत्त्व नहीं है, तथापि परवर्ती वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम-विधान की दृष्टि से इन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है।[४]

ऊपर जिस ऋषि और ब्रह्मवर्ग की चर्चा की गई है, वे ही संहिता युग में ब्राह्मण थे और उन्हीं की परम्परा परवर्ती युग में भी ब्राह्मण नाम से प्रचलित रही।[५] प्रश्न होता है कि क्या उस युग में ब्राह्मण का पुत्र जन्मना ब्राह्मण होता ही था—इस सम्बन्ध में यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिए वातावरण के प्रभाव से ब्राह्मण होने की विशेष सम्भावना थी। साथ ही यह जान लेना आवश्यक है कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण का क्षत्रिय या क्षत्रिय का ब्राह्मण होना उस प्राचीन युग में साधारण बात थी और एक ही मनुष्य के चार लड़कों में से कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र हो सकता था।[६]

---

१. इन्हीं ब्रह्म वर्ग के लोगों की प्रधानता के कारण ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश की प्रतिष्ठा पंजाब में हुई।

२. वसिष्ठ ऋषि हैं। इनका ब्रह्मन् नाम ऋग्वेद ७.३३.११ में है।

३. अथर्व० १९.४१.१।

४. मुनियों के लिए देखिए—ऋग्वेद १०.१३६.५ तथा ८.१७.१४। अथर्ववेद ७.७४.१ में देवमुनियों का वर्णन है।

५. ऋग्वेद ७.१०३.७ के अनुसार ब्राह्मण अतिरात्र यज्ञ में सोम पीते हैं। ७.१०३.८ के अनुसार ब्राह्मण सूक्तों की रचना करते हैं। १०.१६.६ के अनुसार सोम ब्राह्मण में स्थान पाता है। १०.७१.८ के अनुसार ब्राह्मण-मण्डली स्तुतियों के द्वारा यज्ञ करते हैं। १.१६४.४५ के अनुसार ब्राह्मण वाक् के चार पदों को जानते हैं।

६. इस विषय पर इसी अध्याय में अन्यत्र पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद ९.११२.३ के 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' से स्पष्ट व्यक्त होता

क्षत्र या क्षत्रिय

आर्यों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग क्षत्र या क्षत्रिय था। ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र और विश् तीनों को प्रेरणा प्रदान करने के लिए अश्विनों से प्रार्थना की गई है।[1] इस प्रसंग में क्षत्र के साथ ही साथ नृन् को प्रेरणा प्रदान करने की चर्चा होने से स्पष्ट है कि क्षत्र यहाँ क्षत्रिय-समुदाय वाचक है। क्षत्रधारी क्षत्रिय की बलशालिता और ऐश्वर्य का निर्वाचन भी कुछ मन्त्रों में मिलता है।[2] क्षत्रिय के राष्ट्र के सुरक्षित होने की चर्चा इस प्रकार मिलती है--

> **हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या**
> **ब्रह्म जायेयमिति चेदवोचन्।**
> **न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा**
> **तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ऋ० १०.१०९.३**

अर्थात् क्षत्रिय का राज्य सुरक्षित रहता है। उपर्युक्त क्षत्रिय जन्मना भले ही न होता हो, किन्तु ऋग्वेद-काल में क्षात्र धर्म को अपनी जीविका का साधन बनाने वाला अथवा जीवन-पथ बनाने वाला क्षत्रिय कहा जाता था और परवर्ती क्षत्रिय जाति का मूल इस क्षात्र संस्था में है, यह निर्विवाद है।

विश् या वैश्य

ऋग्वेद में 'विश्' वर्ग के लोगों का प्रायः वर्णन मिलता है।[3] विश् प्रवृत्ति की दृष्टि से ब्रह्मन् या क्षत्रिय वर्ग से भिन्न थे।[4] इनकी संख्या समाज में सबसे

है कि ब्राह्मणत्व आदि जन्मना होना आवश्यक नहीं था। ऋग्वेद ३.४४.५ से भी यही ध्वनित होता है।

१. ऋग्वेद ८.३५.१६-१८

२. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य
विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः॥ ऋग्वेद ४.४२.१

३. विश् का साधारणतः अर्थ जन-समुदाय या समाज ही वैदिक युग के प्रारम्भ में था। आजकल की ही भाँति यह साधारण जन-समुदाय वैदिक काल में भी संसार की बड़ी समस्याओं से दूर रहकर खाने-कमाने के काम में लगा हुआ था और उनकी प्रवृत्ति कृषि, पशुपालन आदि की ओर थी।

४. सांस्कृतिक विशेषताओं से रहित यह विश् नामक जन-समुदाय तीन प्रकार का था--(१) मानव या मानुष-वर्गीय, (२) दास-वर्गीय और (३)

अधिक थी। सम्भवतः यही विश् समाज है, जिसमें से अपनी विशेषता के अनुसार कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र अपनी योग्यता के अनुसार बन सकता था। इनको एक नेता, संरक्षक या राजा की आवश्यकता थी, जो इन्द्र के रूप में मिला था। ऋग्वेद में—

इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥२.३४.२

अर्थात् इन्द्र मानुष क्षितियों और दैवी विशों का नेता है।

ऋग्वेद में विश् का प्रयोग सभी आर्य-समुदाय के लोगों के लिए हुआ है।[1] प्रत्येक युग के समाज में संख्या की दृष्टि से वैश्यों की प्रमुखता होती है।[2] ऋग्वेद का विश् भी शनैः-शनैः व्यावसायिक विशेषता के बल पर उन्हीं लोगों की छाप लेकर रहा, जो कृषक और पशु-पालक थे। परवर्ती युग में विश् वैश्य का समानार्थक बना, जब वैश्य का अर्थ प्रायः वही हो गया, जो आजकल है। पुरुषसूक्त के अनुसार 'पुरुष' के उरु प्रदेश से वैश्य का प्रादुर्भाव हुआ।'

शूद्र

शूद्रों का कोई स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के प्रारम्भिक भाग में नहीं मिलता। इससे क्या हम यह निष्कर्ष निकालें कि आर्य समुदाय में शूद्रों के समकक्ष व्यवसाय करने वाले प्रारम्भ में नहीं थे? भला ऐसा भी कोई समाज हो सकता है, जिसमें सेवकों और शिल्पियों का अभाव हो? ऋग्वेद का 'आर्य' समाज सुविकसित था। इस समाज में ऐश्वर्यशाली लोगों की सेवा कौन करता था? दासों को यदि सेवक बनाया तो प्रश्न यह होता है कि दासों के सम्पर्क में आने के पहले सेवा का यह काम आर्यों के लिए कौन करता था? निष्पक्ष भाव से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि दासों के सम्पर्क में आने के पहले भी आर्य-समुदाय में सेवक थे और उन्हें यदि कोई भी नाम व्यवसायानुरूप दिया गया हो तो वह नाम शूद्र का पर्यायवाची रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने भी कभी-कभी शूद्रों का अस्तित्व आर्य वर्ग में मान

देव-वर्गीय इनके लिए देखिए क्रमशः ३.५३; ३.६.३; ३.११.५ आदि में मानव विश् ४.२८.४; ६.२५.२ आदि में दास-वर्गीय विश् तथा ३.३४.२ में देववर्गीय विश्।

१. यत्पांचजन्यया विशेन्द्र घोषा असृक्षत। ८.६३.७।

२. यहाँ वैश्य से तात्पर्य उन लोगों से है, जो कृषि, पशुपालन या व्यापार आदि को जीविका रूप में अपनाये हुए हों।

ही लिया है।[1] बहुत से पहले के ब्राह्मण भी तप और श्रुत से हीन होकर शूद्र बन गये।[2]

परवर्ती युग में शूद्रों के प्रति जो घृणा का भाव दिखाई देता है, वह किन कारणों से हुआ—यह विचारणीय समस्या अवश्य ही है, पर प्रारम्भिक युग में कम से कम उपनिषदों के युग तक शूद्रों के प्रति सद्भाव रहा है, नहीं तो कैसे यह घोषणा की जाती कि 'देवताओं में पूषा शूद्र हुए ?'[3] पूषा जैसे देवता को शूद्र वर्ण में रहना मात्र ही सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज शूद्रों का आदर करता था। जो कुछ है, उसका पोषण करना पूषा का काम था। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् युग तक शूद्र को समाज के पोषक रूप में प्रतिष्ठा-प्राप्त हुई थी।

यहाँ तक आर्य-वर्ग का वर्णों में विभाजन हुआ। इस आर्य वर्ग में ऋषि ब्रह्मन् और मानव आदि आते हैं।[4] इस वर्ग के लोगों का प्रधानतः दासों से संघर्ष हुआ। दासों का भारतीय समाज में अन्ततोगत्वा सन्निवेश हुआ।

दास या दस्यु

आज भारत में दास प्राचीन अर्थ में नहीं है।[5] प्राचीन साहित्य में दास नाम सेवकों या गुलामों के लिए मिलता है। वैदिक साहित्य में दास आर्यों या देवों के

---

१. But it is also possible that the śūdras came to include men of Aryan race. *Vedic Index* Vol. II p. 265.

२. पतंजलि ४.१.९३। पतंजलि के अनुसार वे ब्राह्मण-कुटुम्ब में रहते थे।

३. स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच। बृहदारण्यक उप० १.४.१३।

४. आर्य वर्ग में इन्द्र आदि देवताओं को रखा जाय कि नहीं? इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऋग्वेद में कुछ देवताओं की चरित-गाथा और स्वरूप इस प्रकार है कि उन्हें हम मानवों के बहुत सन्निकट पाते हैं। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि कुछ देवता आर्यों के प्राचीनतम पूर्वज हैं। आर्यों ने अपने पूर्वजों को देव और पितर दो कोटियों में विभाजित किया था। पितर देवों की अपेक्षा कम प्राचीन पूर्वज हैं। देवों से मानवों की उत्पत्ति का इतिहास महाभारत आदि में मिलता है। मनु से मानवों की उत्पत्ति हुई और मनु देव-परम्परा में हैं। मनु के पिता या पितामह पितर कोटि में हैं। देवताओं का चातुर्वर्ण्य विभाजन बृहदारण्यक १.४.११.१३ में देखिए।

५. दास नाम की उपाधि अब भी कुछ लोगों में पायी जाती है।

प्रतिपक्षी हैं। देवों के प्रतिपक्षी जो दास थे, वे सभी के सभी शूद्र या सेवक या गुलाम हो गये—कुछ विद्वानों की यह भ्रान्त धारणा है। वास्तव में कुछ दास भले ही विजेताओं के सेवक या गुलाम बन गये हों या आर्यों के बीच प्रतिष्ठित शूद्र वर्ण में सम्मिलित हो गये हों, पर यह सोचना कि दास वर्ण के लोग ब्राह्मण, ऋषि, राजा, राजन्य, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्गों में न सम्मिलित हुए—भारी भूल है। इस विषय में विदेशी गवेषकों तक ने कभी-कभी स्वीकार किया है कि भारत के मूल आर्येतर निवासियों में से बहुत से क्षत्रिय बने।[1] दासों के आर्य बन जाने का प्रामाणिक उल्लेख भंडारकर ने किया है।[2] वे कहते हैं—But the Aryans were not non-proselytisers. Many members of the non-Aryan tribes or races espoused the Manu cult and were merged into the Ārya race.[3]

आर्यों ने भारत में दासों को उनके कृषि और पशु-पालन आदि कार्यों में लगे रहने देकर उनकी वैश्यवृत्ति को अक्षुण्ण रखकर वैश्य रहने दिया—ऐसी सम्भावना स्वाभाविक है।

दासों की शारीरिक और सांस्कृतिक विशेषतायें मिलती हैं कि वे अनासः अर्थात् बिना नाक वाले या चिपटी नाक वाले थे।[4] मनु संस्कृति के मानने वाले मानुषों से इनकी संस्कृति भिन्न थी, अतएव इन्हें अव्रत कहा गया। वे यज्ञ नहीं करते थे, अतएव अक्रतु थे।[5] उनकी बोली में स्पष्टता नहीं थी अतएव वे मृध्रवाचः थे।[6] उनका रंग तो काला था ही।[7]

---

१. The evidence of the Jätakas points to the word खत्तिय denoting the members of the old Aryan nobility who had led the tribes to conquest as well as those families of the aborigines who had managed to maintain their princely status in spite of the conquest. In the Epic also the term क्षत्रिय seems to include these persons, but it has probably a wider significance than खत्तिय etc. *Vedic Index* में क्षत्रिय।

२. भण्डारकर के अनुसार ऋ०, १०.६५.११ से स्पष्ट है कि आर्य लोग अपनी संस्कृति का प्रसार करना चाहते थे। अनेक दास भी आर्य बन कर वैदिक संस्कृति में घुल-मिल चुके थे। *Some Aspects of Ancient Indian Culture* p. 6ff.

३. वही, पृ० ९।

४. ऋग्वेद ५.२९.१०।

५. ऋ० ७.६.३।

६. ऋ० ७.६.३; ५.२९.१०।

७. ऋ० १.१२९.८।

दासों का नाम ऋग्वेद में कहीं-कहीं असुर भी मिलता है। पिप्रु को ऋग्वेद में दास और असुर दोनों नाम दिये गये हैं।[1] दासों को असुर नाम देने का एक कारण यही सम्भाव्य है कि देवों को असुरों से वैर था। ऐसी परिस्थिति में असुर का एक अर्थ हो गया शत्रु। यदि दासों को भी देवों या आर्यों से वैर हो तो उनको भी असुर (वैरी) की उपाधि दे दी गई। वास्तव में असुर दासों से सर्वथा भिन्न हैं। परवर्ती युग में कंस आदि को इसी दृष्टि से असुर कहा गया कि वे देव-रूप धारी कृष्ण के शत्रु थे अथवा तत्कालीन आर्य-संस्कृति के अनुयायियों से वे शत्रुता रखते थे।

दासों के अतिरिक्त ऋग्वेद के अनुसार आर्यों को गन्धर्व, राक्षस, दानव, पिशाच, पणि आदि जन-समुदायों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। आर्यों के द्वारा प्रवारित वर्ग-व्यवस्था में ये सभी प्रवृत्ति के अनुसार समाविष्ट हुए या आर्य-व्यवस्था से बाहर जाकर रहने लगे। इनमें से भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बने। इन सबकी सांस्कृतिक विशेषतायें रही हैं।[2]

गन्धर्व

ऋग्वेद में गन्धर्वों और अप्सराओं के उल्लेख मिलते हैं।[3] गन्धर्व स्पष्ट ही देव, असुर, ऋषि, मर्त्य आदि से भिन्न हैं। ऋग्वेद में इन को 'वायुकेश' विशेषण दिया गया है। सम्भवतः यह उनके सिर के लम्बे बालों की ओर संकेत करता है। आजकल भी गन्धर्व-विद्या (गायन-नर्तन) आदि के कलाकार सिर पर लम्बे केश कभी-कभी रख लेते हैं।[4] गन्धर्व स्त्रियों को अपने प्रेम-पाश में आबद्ध करने के लिए

---

१. ऋ० ८.३२.२ तथा १०.१३८.३।

२. विवाह सम्बन्धी इनकी सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन आठ प्रकार की हिन्दू-विवाह-पद्धति में मिलता है। इन विवाहों के तत्सम्बन्धी प्रकार गान्धर्व, राक्षस, पैशाच आदि हैं। गन्धर्वों की प्रेम-पद्धति, राक्षसों का अन्याय और बल-प्रयोग तथा पिशाचों का चौर्य उनकी विवाह-पद्धति में अक्षुण्ण हैं।

३-४. अप्सरायें गन्धर्वों की स्त्रियाँ हैं। अथर्ववेद के अनुसार—

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वः पतयो यूयम्। ४.२७.१२। अथर्ववेद ४.३७.७ में गन्धर्वों को अप्सरापति नाम दिया गया है और बतलाया गया है कि वे शिखण्डी (चोटी वाले) हैं और नृत्य में सम्यक् प्रकार से निष्णात हैं। गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच और राक्षसों का मर्त्यों (आर्यों या मानवों) से वैर है। वे मानवों को सताते थे। उनको बचाने के लिए 'ब्रह्म' (ब्रह्म-बल) की आवश्यकता स्पष्टतः व्यक्त की गयी है।

प्रसिद्ध थे।[१] कुछ गन्धर्वों को दिव्य पद भी मिला था। विश्वावसु नामक गन्धर्व सुप्रसिद्ध था। कुछ गन्धर्वों से डरकर आर्य उनसे सुरक्षा की कामना करते थे।[२] कुछ गन्धर्व सोम-पान करते थे।[३] कुछ गन्धर्वों के आचार-विचार शुद्ध थे।[४]

ऐसा प्रतीत होता है कि गन्धर्वों के वैदिक युग में दो वर्ग थे। इनमें से एक देवपरायण वर्ग था और दूसरा देवताओं का शत्रु। गन्धर्वों को हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित किया गया और उनकी वैवाहिक विधि को शास्त्रसम्मत माना गया। गन्धर्वों को भी योग्यता के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में स्थान मिला। गायक और नर्तक होने के नाते वे प्रायशः शूद्र बने।

राक्षस

इन्द्र से आर्य प्रार्थना करते थे कि तुम राक्षसों को मारो। राक्षस ब्रह्म-द्वेषी थे, क्रव्याद (कच्चा मांस खाने वाले) थे और उनकी दृष्टि क्रूर थी। इनके दुष्कृत को आर्य स्मरण रखते थे। इतना वैर था आर्यों से कि राक्षसों का सर्वनाश ही वे चाहते थे। राक्षसों ने उस युग में अच्छी उन्नति कर ली थी। बात यह थी कि राक्षस लुक-छिप कर आर्यों को मारते ही रहते थे। ऋषि ने कामना की है—हे देवो, उस राक्षस का यश सूख जाय, जो हमें दिन-रात मारने की इच्छा करता है। किसी ऋषि को राक्षस कहना गाली देना ही था। फिर भी कुछ राक्षस ऐसे थे, जिनकी जीवन-पद्धति विशुद्ध थी। राक्षसों की स्त्रियाँ भी माया द्वारा हिंसा करती थीं।[५]

राक्षसों के भेद थे यातुधान और किमीदिन्। ये भेद सम्भवतः उनकी सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर प्रचलित थे।

इन राक्षसों की अशोभन चरित-गाथा से पुराणेतिहास और रामायण भरे हैं। इनको हिन्दू-समाज में गूंथने का काम शीघ्र पूरा न हो सका। रामायण-काल के पश्चात् इन्हें हिन्दू-समाज में पूर्ण रूप से समाविष्ट कर लिया गया। राक्षस विवाह की शास्त्रीय विधि इस सम्मिश्रण का स्मारक है।

---

१. अथर्व ४.३७.११।

२. अथर्व १२.१.५० इस मन्त्र में अराय और किमीदिन् इन दो का उल्लेख है, जो आर्यों के शत्रु थे।

३. ऋ० ९.८३.४।

४. शतपथ ६.३.१.१।

५. ऋग्वेद ७.१०४ से उपर्युक्त वर्णन।

राक्षसों को हिन्दू-समाज में स्थान मिला। कुछ राक्षस तो ब्रह्मराक्षस बन गये। बहुत से राक्षस बलशालिता के कारण क्षत्रिय बने।

पिशाच

ऋग्वेद में पिशाचों को राक्षसों के समान ही भयंकर कहा गया है।[1] राक्षसों से पिशाच मिलते-जुलते थे। वे कच्चा मांस खाते थे। आर्यों से पिशाचों की शत्रुता थी। पिशाचों ने आर्यों से युद्ध किया था। आर्यों को इनके विरोध में सफलता मिली थी। पिशाचों को आर्य-वसति से भगाना ऋषियों का काम था।[2] पिशाच-विद्या प्रसिद्ध थी।[3]

पिशाचों को भी हिन्दू-समाज में स्थान मिला। पिशाचों की विवाह-पद्धति शास्त्रीय मान ली गई। इन पिशाचों को वन्य व्यवसाय देकर शूद्र कोटि में रखा गया।

पणि

ऋग्वेद में आर्येतर वर्ग के पणियों का नाम अनेकशः आया है। पणि व्यापारी थे। ऋग्वेद में पणियों को वेकनाट नाम दिया गया है।[4] पणि सम्भवतः दस्युओं से सम्बन्धित थे। पणियों का अन्तर्भाव हिन्दू समाज में हुआ। वे पूर्ववत् व्यापारी होकर वणिक् बन गये होंगे।[5]

वैदिक समाज

हम देख चुके हैं कि वैदिक आर्यों की एक सुसंस्कृत जीवन-पद्धति थी। उनमें ब्राह्मण और ऋषि ज्ञान-निधि के संचेता थे, जिसे वे ब्रह्मन् कहते थे। आर्यों का क्षत्रिय वर्ग क्षत्र (प्रजा-रक्षक-शक्ति) का संवर्धन करता था। उनका विश् वर्ग मध्यम वर्गीय समाज था, जो व्यवसाय रूप में कृषि और पशु-पालन करता था। उन्हीं आर्यों में शिल्पी वर्ग था, जो रथ, वस्त्र, अलंकार आदि बनाता था। इन आर्यों की दास, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच आदि वर्गों से मुठभेड़ हुई। आर्यों ने इनको

---

१. ऋग्वेद १.१३३.५।

२. अथर्व ४.३६ से।

३. गोपथ ब्रा० १.१.१०।

४. ऋ० ८.६६.१०।

५. निरुक्त में पणियों को वणिक् कहा गया है।

मिटाया नहीं, अपने में मिला लिया और उपर्युक्त व्यवसायों को अपना कर ब्राह्मण आदि वर्णों में सम्मिलित होने की सुविधा दी। स्वभावतः अधिकतर लोग अपनी पुरानी रीति पर चलते हुए शिल्पी बने रहे, कुछ क्षत्रिय बने और संख्या में उनसे अधिक बने वैश्य। जिन्होंने अपने को आर्यों के द्वारा प्रचारित इस वर्ण-व्यवस्था में नहीं बाँधा, वे स्वतन्त्र जीवन बिताते हुए समाज से बाहर बने रहे। आज भी वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुए हैं। आज भी असुर, पिशाच, राक्षस आदि लोगों के जन-समुदाय भारत में बने पड़े हैं और उनका स्वतन्त्र जीवन और संस्कृति है।[1]

इस वैदिक समाज की रचना का श्रेय ब्रह्म-संस्कृति के अनुयायी ब्रह्मचारियों को है, जिनके विषय में अथर्ववेद में कहा गया है—

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः॥ अ० ११.५.२

(ब्रह्मचारियों का अनुसरण देव गन्धर्वादि ने किया)

भारतीय आर्य विचारकों को उन सभी भिन्न-भिन्न संस्कृति और भाषा वालों को जिस एक सूत्र में गूँथना था, उसका नाम वर्ण-व्यवस्था है।[2] यह वर्ण-व्यवस्था आर्यों में बीज रूप में पहले से ही थी। उन्होंने आर्येतरों को भी अपनी सामाजिक व्यवस्था में गुण-कर्म-विभागशः समाविष्ट होने का अवसर दिया—यह उनकी समाज-निर्माण की अप्रतिम योग्यता का परिचायक है। असंख्य लोगों को और विविध संस्कृतियों के अनुयायियों को अपनी वर्णव्यवस्था में लाने का उपक्रम

---

१. देखिए *Encyclopaedia of Religion and Ethics* में असुर, पिशाच आदि।

२. डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है कि भारत में सर्वप्रथम नेग्रिटो या नेग्रायड की वसति रही। ये अफ्रीका से आये और इण्डोनेशिया तक फैले। इनके पश्चात् प्रोटो-आस्ट्रोलायड आये। ये आस्ट्रेलिया तक जा फैले। ये कोल-मुण्डा आदि हैं। इनका प्राचीन नाम निषाद है। इन्हीं के नाम कोल, भील, नागा आदि हैं। ये भारत की नीच जातियों के पूर्वज हैं। मंगोलों को भारत में किरात कहते हैं। ये आसाम से कश्मीर तक हिमालय की तराई में फैले हैं। द्राविड़ लोग भूमध्य सागर प्रदेश से ५०० ई० पू० में आये। ये ही दास या दस्यु हैं। अन्तिम आर्य हैं।

नृतत्त्व-विज्ञान के आधार पर भारत के उपर्युक्त निवासी नीचे लिखे वर्गों में आते हैं (१) हिन्द आर्य वर्ग—पंजाब, राजस्थान और कश्मीर के खत्री, राजपूत और जाट आदि (२) शक-द्राविड़ वर्ग—पश्चिम भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी

उदार और त्यागमयी बुद्धि से किया गया। आर्यों ने अपने वंशीय रक्त की विशुद्धता का ध्यान न रखते हुए अन्य सांस्कृतिक वर्गों से विवाह सम्बन्ध किये, उनको अपनी भाषा पढ़ाई, अपने धार्मिक कार्यकलापों में निमन्त्रित किया और उनके धार्मिक विधि-विधानों को भी अपनाया। परिणाम यह हुआ कि जो आर्य सबको आर्य बनाना चाहते थे, उन्होंने स्वयं अपना आर्य नाम छोड़ दिया और हिन्दू बन गये। तभी वे सबको एक साथ लेकर चल सके।

आर्यीकरण

हम देख चुके हैं कि भारत में आर्य और आर्येतर दो वर्ग वैदिक काल में थे और आर्येतरों के नाम असुर या दास, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पणि आदि थे। कालान्तर में एक के बाद दूसरे आर्यों की वर्ण-व्यवस्था में समाविष्ट हो गये और आर्यों से उनका कोई अन्तर नहीं रहा। यह प्रक्रिया आर्येतरों का आर्यीकरण है।

आर्यों और आर्येतरों के मेल-मिलाप का प्रथम परिचय ऋग्वेद में मिलता है। दासों ने आर्यों को दान देकर उनकी प्रतिष्ठा की।[1] दान के माध्यम से उन दोनों वर्गों को एक दूसरे को समझने का अवसर मिला। दासों के द्वारा तत्कालीन ऐश्वर्यशाली समाज अलंकृत हुआ।[2] कुछ आर्येतर लोग वैदिक मन्त्रों की रचना में निष्णात हुए और स्वयं ऋषि बन गये। अर्बुद नामक आर्येतर नागवर्गीय ऋषि के

कुर्ग आदि (३) आर्य-द्राविड़ वर्ग—उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार आदि के लोग, जिनमें उच्चतर ब्राह्मण और हीनतर चमार हैं। (४) मंगोल-द्राविड़ वर्ग—बंगाल, उड़ीसा के ब्राह्मण और कायस्थ तथा पूर्वी बंगाल और आसाम के मुसलमान, (५) मंगोल वर्ग—नेपाल तथा आसाम की जातियाँ, (६) द्रविड़—गंगा की घाटी से लेकर लंका तक मद्रास, हैदराबाद, मध्यप्रदेश आदि की जातियाँ Risley : *The People of India* p. 31-33.

१. विप्र नामक ऋषि ने बल्बूथ तथा तरुक्ष नामक दासों से दान ग्रहण किया। ऋ० ८.४६.३२। महाभारत के अनुसार अगस्त्य ने इल्वल नामक दैत्यराज से दान ग्रहण किया। राजाओं को इल्वल नामक असुर से भरपूर धन मिला। आरण्यक पर्व ९७.१२.१५।

२. दासों में आर्यों को अलंकृत करने की योग्यता का उल्लेख ऋग्वेद ७.८६ में है।

रचे सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं।[१] अर्बुद ने तो देवताओं को भी यज्ञ-विधान की शिक्षा दी।[२] आर्यीकरण का मूल मन्त्र इस प्रकार मिलता है—

ब्राह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवी पर्वता अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥
ऋ० १०.६५.११।

अर्थात् देवों ने आर्य-व्रत (संस्कृति) को पृथिवी पर विस्तारित किया है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गन्धर्व वैदिक मन्त्रों का पाठ कर सकते थे।[३] असुरराज विरोचन के इन्द्र के साथ प्रजापति को आचार्य बनाकर अध्ययन और तपस्या करने का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है।

आर्यों ने आर्येतरों को धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश कराया। विश्वजित् यज्ञ में यजमान आर्य राजा को अस्थायी रूप से निषादों के घर रहना पड़ता था। ये निषाद आर्येतर थे। सम्भवतः आर्येतरों का एक सर्व-साधारण नाम निषाद था।[४] इस प्रकार निषादों से एक निकट सम्बन्ध जुट रहा था। असुरों के लिए भी यज्ञ-विधान की प्रतिष्ठा करने का काम शुक्राचार्य जैसे श्रेष्ठ महर्षि ने अपनाया।[५]

महाभारत काल में आर्येतर लोगों का आर्य-संस्कृति के अनुकूल व्यक्तित्व का विकास करने की जो योजना बनाई गई, वह उच्च कोटि की है। उस समय की आर्येतर जातियों के नाम हैं—यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक,

---

१. ऋ० १०.९४ का ऋषि अर्बुद है। १०.१२९ और १०.७६ भी आर्येतर नाग ऋषियों की रचनायें हैं।

२. ऐतरेय ब्रा० ६.१.१।

३. श० ब्रा० ३.२.४.६।

४. The word seems to denote not so much a particular tribe, but to be the general term for the non-Aryan tribes who were not under Aryan control etc. *Vedic Index* **निषाद।**

५. देवताओं का असुरों से संग्राम चलता रहता था। संग्राम में विजय की प्राप्ति के लिए यज्ञों का अवलम्बन भी किया जाता था। असुरों के लिए यज्ञ कराने के लिए शुक्र नामक ऋषि थे। *Vedic Index vol. p.* 103 **शुक्र का यह कथानक कल्पित भले ही हो, पर इससे यह परिणाम तो निकाला ही जा सकता है कि कुछ आर्य पुरोहित आर्येतर लोगों की विजयश्री के लिए यज्ञ-सम्पादन कराते थे और इस प्रकार उनके समाज में रहकर आर्य-संस्कृति का प्रचार करते थे।**

तुषार, कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ, काम्बोज आदि। इनके प्रति राजधर्म का विवेचन करते हुए बताया गया है कि 'इनको माता-पिता, आचार्यों आश्रमवासियों तथा राजाओं की सेवा करना चाहिए। उनको वैदिक धर्म की रीतियाँ—पितृ-यज्ञ करना चाहिए, कुयें, पौंसले आदि बनवाने चाहिए और समय-समय पर ब्राह्मणों को दान देना चाहिए। इन्हें अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि व्रतों को अपनाना चाहिए और पाक-यज्ञ करना चाहिए।'[1] इस प्रकार का धर्म आर्येतरों के द्वारा अपनाये जाने पर इसी धर्म के माध्यम से वे आर्य-संस्कृति की ओर खिंच रहे थे।

रामायण और महाभारत में अगस्त्य की कथा के अनुसार ब्राह्मण-ऋषि अगस्त्य सर्वप्रथम आर्य थे, जिन्होंने विन्ध्य को पार करके दक्षिण भारत के निवासियों का आर्यीकरण आरम्भ किया।[2] अगस्त्य सुदूर दक्षिण तक आर्यीकरण करते हुए पहुँचे थे।[3]

रामायण के अनुसार राम के दक्षिण में जाने के पहले अनेक महर्षि चित्रकूट से गोदावरी तक के मध्यप्रदेश में आश्रम बनाकर यज्ञादि कर्म में संलग्न थे।[4] स्वयं राम वानर और राक्षस—इन दो आर्येतर जातियों के सम्पर्क में आये।

सुत्तनिपात में बावरी नामक ब्राह्मण आचार्य की कथा आती है। वह कोसल प्रदेश के राजा पसेनदि का गुरु था। फिर तो वह आर्यावर्त छोड़कर गोदावरी के तट पर अश्मक प्रदेश में १६ शिष्यों के साथ रहने लगा। इन शिष्यों के भी शिष्य बने। ये सभी ऋषि थे। बावरी ने जो यज्ञ किये, उसमें स्थानीय जनता ने सहयोग दिया।

शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर मनु की प्रजा मानव, वरुण की प्रजा गन्धर्व, सोम की प्रजा अप्सरायें, अर्बुद की प्रजा सर्प (नाग), कुबेर की प्रजा राक्षस, असित धन्वा की प्रजा असुर, मत्स्य साम्माद की प्रजा उदकेचर, तार्क्ष्य की प्रजा वायोविद्भिक तथा इन्द्र की प्रजा देव के सम्मिलित होने की चर्चा की गई है।

---

१. शान्तिपर्व अध्याय ६५ से।

२. अरण्यकाण्ड ११.८५.८६ तथा महाभारत वनपर्व अध्याय १०४।

३. अरण्यकाण्ड ११.३७–४२। तामिल साहित्यकारों ने भी माना है कि अगस्त्य ऋषि द्रविड़ों का आर्यीकरण करने के पश्चात् अगस्त्य पर्वत पर आश्रम बना कर रहने लगे। यह पर्वत तिन्नेवली प्रदेश में है। Calfwell : *Grammar of the Dravidian languages* pp. 101 and 119.

४. अरण्यकाण्ड ६.५.१७।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि एक ऐसा युग बीत चुका था, जिसमें समाज के विविध सांस्कृतिक वर्गों को इकट्ठा करके उनके योग्य ज्ञान-निधि की चर्चा की जाती थी।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यज्ञ की संस्था को आर्यीकरण के लिए आर्य मनीषियों ने सुदूर प्राचीन काल से ही अपनाया था।

राम के राज्याभिषेक के अवसर पर आर्य और म्लेच्छ सभी प्रकार के राजाओं को दशरथ ने आमन्त्रित किया था।[2]

पारस्परिक विवाह के द्वारा आर्यों और आर्येतरों की सन्निकटता हुई।[3] कोई भी आर्येतर कन्या ज्यों ही किसी आर्य-पति के घर में पहुँचती थी कि वह आर्य बन जाती थी, पर वह सहसा अपनी आर्येतर संस्कृति को छोड़ तो देती नहीं होगी। परिणामतः आर्येतर संस्कृति आर्यों के घर में प्रतिष्ठित हुई। वैदिक धर्म के रूप में जो परिवर्तन पौराणिक युग में मिलते हैं, उनका मूल कारण आर्येतर संस्कृति का उपर्युक्त विधि से प्रभाव ही है। ऐसे विवाहों का इतिहास रोचक है।

त्वष्टा की स्त्री असुर कुल की थी। इसी स्त्री से विश्वरूप का जन्म हुआ। विश्वरूप आगे चलकर देवों का पुरोहित हुआ।[4] ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महीदास इतरा नामक दासी के पुत्र थे। दीर्घतमा का पुत्र कक्षीवान् उशिज् नामक दासी से उत्पन्न हुआ था। ऐलूष कवष इलूष नामक दासी का पुत्र था। वह तत्कालीन

---

१. इस प्रसंग में मानव या मनुष्यों को अश्रोत्रिय और गृहमेधी बताया गया है। यम की प्रजा पितर वृद्ध लोगों के रूप में इकट्ठी होती थी। गन्धर्वों का प्रतिनिधित्व नागरक नौजवान करते थे। अप्सराओं का प्रतिनिधित्व युवतियाँ करती थीं। नाग लोगों का प्रतिनिधित्व सर्पविद् करते थे। राक्षसों का प्रतिनिधित्व पापी लोग करते थे। असुरों का प्रतिनिधित्व कुसीदी (सूदखोर) लोग करते थे। उदके-चर का प्रतिनिधित्व मल्लाह करते थे। वायोविद्धिक के नाम पर चिड़ीमार होते थे। देवताओं का प्रतिनिधित्व श्रोत्रिय करते थे। शतपथ १३.४.३ विस्तार के लिए देखें।

२. अयोध्याकाण्ड ३.२५।

३. It is clear that there were then inter-marriages between the Aryans and the Dasyus. Radhakrishanan : *Indian Philosophy*, vol I p. 32.

४. तै० सं० २.५.१.१।

धर्माचार्यों के द्वारा ऋषि माना गया।[1] कण्व का पुत्र वत्स असुर माता से उत्पन्न हुआ था।[2]

महाभारत के अनुसार अनेक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कुमारों के विवाह आर्येतर नाग कन्याओं के साथ हुए। ब्राह्मण ऋषि जरत्कारु का विवाह नाग कन्या से हुआ था। रघुवंश के अनुसार राजा कुश का विवाह कुमुद नामक नाग की भगिनी कुमुद्वती से हुआ था।[3] महाभारत के अनुसार भीम का एक विवाह राक्षस कन्या हिडिम्बा से हुआ। कुन्ती ने इस विवाह की सन्तान घटोत्कच से कहा—तुम कुरुवंश में उत्पन्न हो। पाण्डव के पुत्रों में तुम सबसे बड़े हो। समय पर इनकी सहायता करना। महाभारत के युद्ध में घटोत्कच के नायकत्व में राक्षसों की सेना कौरवों के विरुद्ध लड़ने आई थी। इस युद्ध में संशप्तक नामक वीरों को दैत्य और राक्षस बताया गया है।

रावण के पिता विश्रवा आर्य-मुनि थे। उनकी पत्नी कैकसी राक्षसी थी। इस प्रकार रावण ब्रह्मराक्षस था। रावण के विरोध में राम का इस प्रकार जो युद्ध हुआ, उसमें भी आर्येतर वर्ग के वानरों ने राम के साथ मिलकर युद्ध किया।

पौराणिक युग में राक्षसों और दानवों के आर्य संस्कृति अपनाने के उल्लेख मिलते हैं। कई राक्षस वेदों का अध्ययन करते थे और तपोमय जीवन बिताते थे।[4] दानव भी ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करते थे।[5] सूर्यवंश के राजा दम ने श्राद्ध में राक्षस-कुल के ब्राह्मणों को भोजन कराया।[6]

आर्यीकरण से अप्रभावित लोगों में से एक आटविक वर्ग था, जिसकी चर्चा कौटिल्य ने की है कि ये विक्रमशाली हैं, संख्या में बहुत अधिक हैं, सामने आकर लड़ते हैं, राजाओं की भाँति आक्रमण करते हैं और नेता के अनुशासन में घूमते हैं। सम्भवतः वे राक्षस, पिशाच, असुर आदि के वंशज रहे।[7]

'भारत के जिन भागों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था नहीं थी, उसे म्लेच्छ देश कहा जाता था। धीरे-धीरे सारे भारत में कहीं म्लेच्छ देश न रहा।' इससे स्पष्ट है कि उन सभी

---

१. ऐतरेय ब्रा० २.१९.१।
२. पंचविंश ब्राह्मण १४.६.६।
३. रघुवंश १६.८५।
४. वायु पु० ७०.५३-५५।
५. मत्स्य पु० १२९.७-११।
६. ब्राह्मणान् भोजयामास राक्षसकुलसमुद्भवान्
७. अर्थशास्त्र पीडन-स्तम्भ प्रकरण से।

लोगों को जो म्लेच्छ थे, चातुर्वर्ण्य में लाया गया।[१] इस योजना के कार्यान्वित होने पर भी जो लोग बचे और वैदिक संस्कृति में न रँग सके, उनको गौतम बुद्ध की योजनानुसार बौद्ध बनने का अवसर मिला।

भारतीय संस्कृति के आर्यीकरण के सिद्धान्त में अतीव प्रभाव और सजीवता रही। कोई भी आर्येतर भारतीय संस्कृति-सागर में अवगाहन करते ही भारतीय समाज में मिल जाता था। भारतीय साहित्यकारों ने अपने कल्पित और ऐतिहासिक वर्णनों में आर्यीकरण के लिए उपयोगी वातावरण बना रखा है।

विदेशियों का आर्यीकरण

महाभारत के अनुसार विदेशियों से आर्य-धर्म का पालन कराना राजा का कर्तव्य है।[२] वे ब्राह्मणों के द्वारा निर्धारित यज्ञों का सम्पादन कर सकते थे और भारतीय देवताओं की भक्ति, पूजा तथा उनके लिए दान आदि करते थे। कार्ली की गुफा में धेनुकाकट के दो यवनों का उल्लेख है, जिनके नाम सिंहधय तथा धम्म थे। जुन्नार की गुफा में चण्ट, चिट तथा इरिल नामक यवनों की चर्चा की गई है। नासिक की गुफा में इन्द्राग्निदत्त नामक यवन का लेख है। इन सभी यवनों ने बौद्ध चैत्यों तथा विहारों को दान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये बौद्ध हो गये हों अथवा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हों और बौद्धों को दान देते हों। भिलसा के पार्श्ववर्ती बेसनगर में प्राप्त हेलियोदोर नामक ग्रीक राजदूत का गरुड-स्तम्भ और उस पर उत्कीर्ण उसकी भागवत उपाधि से सिद्ध होता है कि वैष्णव धर्म का द्वार विदेशियों के लिए खुला था। ग्रीसदेश के यवनों के अतिरिक्त, शक, आभीर, कुशन और हूणों का भी आर्यीकरण हुआ। शकों के दो राजवंश दक्षिण भारत में तथा दो उत्तर भारत में स्थापित हुए। दक्षिण के राजवंशों ने वैदिक धर्म तथा उत्तर वालों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिए। दक्षिण भारत में नहपान नामक शक राजा के दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) का लेख नासिक तथा कार्ली की बौद्ध गुफाओं में मिलता है। उसकी स्त्री का नाम संघमित्रा था। इन नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अवश्य ही वैदिक धर्म के अनुयायी थे। नासिक के एक दूसरे शिलालेख से ज्ञात होता है कि ऋषभदत्त शक था। ऋषभदत्त के पिता का नाम दीनीक था। ऐसा प्रतीत होता है कि पिता ने अपना नाम शक-संस्कृति का ही रखा था। एक दूसरे शिलालेख में ऋषभदत्त के तीन लाख गायें दान करने की चर्चा की गई है और बताया गया है कि

---

१. *Kane*: History of Dharmasastra vol. II Pt 1 page 15

२. शान्तिपर्व ६५. १३–२२।

उसने १६ गाँव देवताओं और ब्राह्मणों को दान में दिये थे। प्रभास (सोमनाथ) में आठ ब्राह्मणों को वैवाहिक व्यय के लिए धन भी ऋषभदत्त ने दिये थे। प्रतिवर्ष वह एक लाख ब्राह्मणों को भोजन देता था। ऋषभदत्त के ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी होने का उपर्युक्त बातों से निश्चित प्रमाण मिल जाता है और वह था विदेशी शक।

भारत में आभीरों का शकों के समकालीन प्रवेश हुआ। तीसरी शती में दक्षिण भारत में उन्होंने राज्य की स्थापना की।[1] आभीरों को दस्यु और म्लेच्छ कहा गया है।[2] आभीरों में से अधिक ग्वाले हो गये, पर अन्य जातियाँ भी बनीं जैसे अहीर-सोनार, अहीर-सुतार (बढ़ई) आदि, जो खानदेश में मिलती हैं। आभीर ब्राह्मण भी खानदेश, गुजरात तथा राजस्थान में मिलते हैं। ये बाहर से इतनी अधिक संख्या में आये कि इनकी एक अलग भाषा ही आभीरी नाम से विख्यात हुई। उपर्युक्त युग में मौर्यकाल के पश्चात् और गुप्त-काल के पहले बैक्ट्रिया के यवन-पह्लव आये। इन सबका भारत में सम्मिश्रण हो गया। शकों का भारत में आकर ब्राह्मण आदि बनना सर्वविदित है।

गुप्त राजवंश के दुर्बल होते ही अनेक विदेशी जातियाँ—हूण, गुर्जर, चाहमान, मैत्रक आदि आईं। हूणों का सर्वप्रथम राजा तोरमाण था। उसके वैदिक धर्म अपनाने का निश्चित प्रमाण तो नहीं मिला है, पर उसका पुत्र मिहिरकुल हिन्दू हो गया। मिहिरकुल की कुछ मुद्राओं पर बैल का प्रतीक बनाकर लिखा गया है—जयतु वृषः। मन्दसौर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वह शैव था। ग्यारहवीं शती आते-आते तो हूण पूरे क्षत्रिय बन गये।

गुर्जर जाति का प्रवेश भी हूणों के समकालीन ही हुआ। इनका राजवंश गुर्जर-प्रतिहार के नाम से कन्नौज (महोदय) में प्रतिष्ठित हुआ। दसवीं शती में महाकवि राजशेखर इस वंश के राजा महेन्द्रपाल और महीपाल के आश्रय में रहता था। महाकवि ने उनको रघुकुलतिलक की उपाधि दी थी। इससे प्रतीत होता है कि दशवीं शती आते-आते वे पूरे हिन्दू ही नहीं बन गये, अपितु उन्होंने भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध राम के वंश से अपना नाता भी जोड़ लिया। गुर्जर प्रारम्भ में एशिया और योरप के सीमा-प्रदेश से चले थे। वहाँ उनका नाम खजर था। भारत में गुर्जर पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि में अब भी किसान या ग्वाल हैं।

---

१. नासिक गुफा-लेख, जिसमें शिवदत्त-आभीर के पुत्र आभीर-ईश्वर सेन के शासन-काल का उल्लेख है।

२. विष्णु पु० ५.३८ तथा महाभारत मुसलपर्व ७.४६–४७। ये स्पष्ट ही विदेशी हैं।

गुजरात का नाम इन्हीं के नाम पर पड़ा था, पर अब ये इस प्रदेश में अन्य जातियों में मिश्रित होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो चुके हैं। फिर भी गुजरात में गूजर-बनिये, गूजर-सुतार (बढ़ई), गूजर-सोनार, गूजर-कुम्हार, गूजर-सलाट मिलते हैं। उस प्रदेश की भाषा गुजराती उन्हीं की भाषा का आधार लेकर बनी।

नवीं शती में गूजर-प्रतिहारों का प्रभुत्व कन्नौज में केन्द्रित हुआ। वहाँ से अफगानिस्तान तक उनका अधिकार था। इस युग में सिन्ध में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो चुका था। महेन्द्रपाल द्वितीय की मृत्यु के समय ग्यारहवीं शती के आरम्भिक काल तक विदेशियों ने भारत की राजकीय शक्ति से भयभीत होकर इस देश पर आक्रमण नहीं किया। ग्यारहवीं शती से इस्लाम धर्म के अनुयायी बन जानेवाले विदेशी आक्रमणकारी इस देश में आने लगे।

अनेक भारतीय राजाओं ने हूण कुमारियों से विवाह किये। गुहिल वंश के राजा अल्लट ने हूण-कुमारी हरिय देवी से तथा कलचुरी वंश के राजा कर्णदेव ने हूण-वंशी आवल्ल देवी से विवाह किये।[1]

वर्ण-परिवर्तन

सैद्धान्तिक पक्ष

प्राचीन काल में केवल भारत में ही नहीं अपितु सारे संसार में धर्म या वर्ण परिवर्तन कर लेना अत्यन्त स्वाभाविक और सरल काम माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यदि कोई सुर आसुर-भाषा का प्रयोग करता अथवा अशुद्ध भाषा बोलने लगता तो वह स्वयं म्लेच्छ या असुर हो जाता था।[2] यज्ञ करने वाला किसी वर्ण का क्यों न हो, ब्राह्मण बन जाता था। कोई जाति से ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मणत्व से च्युत कर दिया जाता था, यदि वह अश्वमेध-विज्ञान नहीं जानता था।[3] यद्यपि जन्मना जाति की प्रतिष्ठा थी, फिर भी उस वैदिक युग में माता-पिता का उच्च जाति का होना उतना गौरवास्पद नहीं था, जितना श्रुतशाली होना।[4]

उपनिषद् के अनुसार इस जीवन के बाद यदि उत्तम ब्राह्मण-योनि पाना हो

---

१. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी भाग ९, पृ० १९१।

२. शतपथ ३.२.१.२४।

३. वही ३.४.२.१७। ऐतरेय ७.२९ के अनुसार विधिहीन हवन करने से सन्तान अन्य तीन वर्णों की हो जाती है।

४. किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः॥ कृ० यजु० ६०.१।

तो रमणीय आचरण अपनाने की आवश्यकता है, अन्यथा कुत्ता, सूअर या चाण्डाल होना पड़ेगा।[1]

सूत्र-साहित्य के अनुसार संस्कार-विहीन लोग पतित-सावित्रीक होकर समाज से बहिष्कृत व्रात्य होते थे। फिर उनके उपनयन, अध्ययन, यज्ञ आदि के अधिकार छिन जाते थे।[2] आपस्तम्ब के अनुसार नीच वर्ण के लोग धार्मिक आचरण से उच्चतर वर्ण के हो जाते हैं और उच्च वर्ण के लोग भी अधर्म का आचरण करने से नीचतर वर्ण में आ जाते हैं।[3] बौधायन के अनुसार 'जो ब्राह्मण सन्ध्या नहीं करता, उसे धार्मिक राजा को शूद्रों के काम में लगा देना चाहिए। जो ब्राह्मण उच्च कुल में उत्पन्न होकर भी अन्य वर्णों का काम करने लगे, उसको शूद्र समझना चाहिए।[4] वसिष्ठ ने वेद न पढ़े हुए, वेद न पढ़ाने वाले और अग्नि में होम न करने वाले लोगों को शूद्रधर्मा बताया है।

वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से महाभारत-काल महत्त्वपूर्ण है। इस युग में वर्ण-व्यवस्था की जो रूप-रेखा बनी वह वैज्ञानिक थी और वह व्यावहारिक दृष्टि से परिपुष्ट थी। इस वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किसी भी व्यक्ति को, चाहे उसके माता-पिता किसी भी वर्ण के क्यों न हों, अपनी सद्वृत्तियों के द्वारा उच्चतर वर्ण का हो जाने का पूरा अवसर प्राप्त था। वह व्यवस्था आगे चलकर प्रायः सभी स्मृतियों और पुराणों में भी प्रचारित की गई है।

महाभारत के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य वर्णों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई।[5] इस प्रकार सभी वर्ण मौलिक रूप से ब्राह्मण हैं।[6] अपने-

---

१. छान्दो० उ० ५.१०.७।

२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.१९.५.७। अन्य कई सूत्रों में भी प्रायः इन्हीं शब्दों में इस विषय की चर्चा की गयी है। ऐसे संस्कार-विहीन लोगों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त-विधान भी थे, पर यदि तीन पीढ़ियों से किसी कुल में संस्कार नहीं हुए तो उनके वंशज सदा के लिए इस संस्कार के योग्य नहीं रह जाते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे शूद्र हो जाते थे।

३. धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं-पूर्वं-वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥

४. बौधायन-धर्मसूत्र २.४.२०; १.५.९५।

५. शान्तिप० ३२९.१३।

६. शान्तिप० ६०.४५।

अपने कर्मों के कारण लोग विभिन्न वर्णों के हो गए।[१] तीक्ष्ण स्वभाव वाले साहसी ब्राह्मण क्षत्रिय हुए, गो-रक्षा और व्यापार करने वाले वैश्य हुए तथा जो ब्राह्मण हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, लोभी, सभी कामों से जीविका चलाने वाले-काले थे, वे पवित्रता से भ्रष्ट हो कर शूद्र हो गए।[२] जो व्यक्ति भोजन के सम्बन्ध में शास्त्रीय मर्यादा का ध्यान नहीं रखता, सभी प्रकार के काम करता रहता है, वेद का परित्याग कर देता है, आचारहीन है, वही शूद्र है।[३]

महाभारत में ब्राह्मण के गुणों का विश्लेषण करके बताया गया है कि यदि ये गुण ब्राह्मण में नहीं वर्तमान रहते तो वह ब्राह्मण नहीं रह जाता है। यदि शूद्र में ये गुण पाये जाते हों तो वह शूद्र नहीं रह जाता है।[४] वृत्त (आचार) ही ब्राह्मण बना सकता है।[५] इसी सिद्धान्त के बल पर कहा गया है:—

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥ अनु० १४३.५१

(सदाचार से सभी ब्राह्मण हो जाते हैं, सदाचारी शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है।)

इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि करते हुए बताया गया है कि साधुता को अपनाने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है।[६] शुभ आचार से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और वैश्य क्षत्रिय बन जाता है।[७] हीन जाति में उत्पन्न शूद्र आगम-सम्पन्न हो कर संस्कृत द्विज बन जाता है।[८] यदि ब्राह्मण भी नीच वृत्ति अपना लेता है तो वह ब्राह्मणत्व छोड़कर पूर्ण रूप से शूद्र हो जाता है।[९]

---

१. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ शान्तिप० १८१.१०॥

२. शान्ति प० १८१.११-१३।

३. शान्ति १८२.७। शूद्रों के आर्य होने का विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है। देखिए ३.१३।

४. शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे चैतन्न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च॥ शान्ति० १८२.८॥

५. कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः। वन० ३१३.१०८॥

६. वन० २०६.१०।

७. अनु० १४४.२६।

८. अनु० १४४.४६।

९. अनु० १४४.४७।

महाभारत के अनुसार भृगु मुनि ब्राह्मणत्व के लिए ब्राह्मण कुल में जन्म होना आवश्यक नहीं मानते। इस मुनि की दृष्टि में गुण, चरित्र और आचार के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण होते हैं।[1] युधिष्ठिर के शब्दों में 'शूद्रवंश में उत्पन्न होने से न तो कोई शूद्र होता है और न ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने से ब्राह्मण होता है। जिन लोगों में सत्य, दान, क्षमा, उदारता, तप और दया हो, वे ही ब्राह्मण हैं। जिनमें इनका अभाव हो, वे शूद्र हैं।[2]

मनु ने उपर्युक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है :—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥१०.४२-४३॥

(तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में लोग जन्म की जाति से उत्कर्ष प्राप्त करते आए हैं, अन्यथा अपकर्ष प्राप्त करते हैं। धीरे-धीरे क्रिया के लोप तथा ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने से कुछ क्षत्रिय जातियाँ वृषल (शूद्र) हो गईं।)

मनु ने ऐसी जातियों के नाम गिनाये हैं।[3] मनु ने वेद न पढ़ने वाले ब्राह्मण के, जो किसी अन्य विषय के लिए श्रम करता हो, उसके जीवन-काल में ही शूद्र बन जाने का विधान बनाया है। केवल यही नहीं, उसके पुत्र-पौत्र आदि भी शूद्र हो जाते हैं।[4]

ब्रह्मपुराण में ब्राह्मण-धर्म का पालन करने से तथा ब्रह्म-कर्म के द्वारा जीविका प्राप्त करने से क्षत्रिय या वैश्य के भी ब्राह्मण बन जाने का प्रतिपादन किया गया है।[5] शुभ आचरणों से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है।[6]

---

१. शान्ति० १८१, १८२ अध्याय।

२. वन० १०८.२१-२६।

३. इन जातियों के नाम पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश हैं। विष्णुपुराण में ऐसी जातियों के नाम—शक, यवन, कम्बोज, पारद, पह्लव, हैहय, तालजंघ आदि मिलते हैं। ये जातियाँ अपने धर्म का परित्याग करने के कारण तथा ब्राह्मणों से परित्यक्त होकर म्लेच्छ हो गयीं। विष्णु पु० ४.३.१९-२१।

४. मनु २.१६८।

५. ब्रह्म पु० २२३.१४।

६. ब्रह्म पु० २२३.६२ तथा ३७.४०।

श्रीमद्‌भागवत में वर्ण व्यवस्था के लिए गुणों को ही प्रधान कारण मान कर कहा गया है :—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

(जिस वर्ण का जो लक्षण बताया गया है, यदि वह लक्षण किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति में मिले तो उस व्यक्ति का वर्ण गुणानुसार समझना चाहिए।)

गौतम बुद्ध के शब्दों में 'ज़ाति मत पूछ, तू तो बस एक आचरण पूछ। नीच कुल का मनुष्य भी धृतिमान्, सुविज्ञ ,और निष्पाप मुनि होता है।'[1] जो मनुष्य गाय चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो व्यापार करता है, वह व्यापारी तथा शिल्प करने वाला शिल्पी कहलायेगा, ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य दूसरों की परिचर्या करके अपनी जीविका चलाता है, वह परिचर है, ब्राह्मण नहीं। अपने कर्म से ही, कोई व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है और दूसरा अब्राह्मण।[2] गौतम बुद्ध का प्रत्यक्ष निष्कर्ष है कि कोई भी मनुष्य—चाहे वह किसी वर्ण के पिता से क्यों न उत्पन्न हो—पाप से विरत हो सकता है और राग-द्वेष की भावना से मुक्त हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में केवल जन्म से जाति हो ही नहीं सकती।[3] जो मनुष्य जातिवाद और गोत्रवाद के बन्धन में बँधे हुए हैं, वे अनुपम विद्याचरण-सम्पदा से दूर ही हैं। वर्ण-परिवर्तन का सिद्धान्त दृष्टि-पथ में रखते हुए गौतम बुद्ध ने कहा है[4]—यवन और कम्बोज तथा दूसरे सीमान्त प्रदेशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। मनुष्य वहाँ भी आर्य से दास हो सकता है और दास से आर्य। इसका तो कोई अर्थ ही नहीं कि कोई वर्ण जन्मना श्रेष्ठ है।[5] मूर्खों की धारणा में यह चिरकाल से घुसा हुआ है कि ब्राह्मण जन्म से होता है। ज्ञानी पुरुष यह कदापि नहीं कहेंगे कि ब्राह्मण जन्म से होता है। किसी माता से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी मनुष्य को ब्राह्मण नहीं कहता।[6]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सदाचार के द्वारा उच्चतर वर्ण का हो जाना संभव था और सदाचार से गिर जाने पर शूद्र कहलाये

---

१. बुद्धचर्या-अत्तदीप सुत्त।
२. मज्झिमनिकाय, वासेट्ठ सुत्तंत।
३. मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्तंत।
४. बुद्धचर्या, अंबट्ठ सुत्त।
५. मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्तंत।
६. मज्झिमनिकाय, वासेट्ठ सुत्तंत।

जाने की संभावना थी। फिर भी जन्म के नाते ही प्रत्येक पुरुष किसी न किसी वर्ण का अवश्य ही होता था। यदि वह अभ्युदय की कामना से उच्चतर जाति के कर्म, आचार और चरित्र को अपना कर अपने व्यक्तित्व को विकसित कर लेता था, तो तत्कालीन सुसंस्कृत समाज उसे उच्चतर वर्ण का मान लेता था। अपकर्ष की दिशा भी इसी प्रकार निर्बाध थी। ब्राह्मण-जीवन की तपोमय निष्ठा और कठिनाइयों से डरने वालों की संख्या कभी स्वल्प न रही होगी। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मण-कर्म को छोड़ कर क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र का काम अपना लेने में कम से कम आधिभौतिक दृष्टि से सुखी जीवन बिताने का लोभ जो संवरण नहीं कर सकते थे, वे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन जाते थे।

जन्म से वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व अवश्य रहा है। प्रायः दूसरे वर्ण के कर्म करते रहने पर भी जन्म की जाति प्रतिष्ठित रह सकती थी, पर केवल उपाधि-स्वरूप अथवा नाम के लिये। नामधारी ब्राह्मणों को क्षत्र, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ और चाण्डाल आदि की विशेष उपाधियाँ कर्मानुसार मिल ही जाती थीं। यह स्थिति ई० पू० दूसरी शती के महाभाष्य के उल्लेखों से स्पष्ट है कि अपने वर्ण को बनाये रखने के लिए तदनुरूप योग्यता की प्राप्ति आवश्यक है। यदि ब्राह्मण-माता-पिता से जन्म हुआ और ब्राह्मणोचित वेद-विद्यादि का अध्ययन उसने नहीं किया तो वह केवल जाति-ब्राह्मण है।[1]

व्यावहारिक पक्ष

ऋग्वैदिक काल में जब तक चतुर्वर्ण-व्यवस्था नहीं बनी थी, लोगों को अपने व्यवसाय-परिवर्तन की पूरी सुविधा थी। उस युग में प्रायः लोग अपने व्यवसाय के आधार पर उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं समझे जाते थे और न समझे जा सकते थे, क्योंकि एक ही व्यक्ति कई व्यवसाय कर सकता था अथवा एक ही कुटुम्ब के लोग ऐसे विभिन्न व्यवसाय कर सकते थे, जिनके आधार पर परवर्ती युग में वे विभिन्न जातियों में रखे गये।[2] ऋग्वेद में अपने पूर्ववर्ती व्यवसाय से

---

१. तपः श्रुतं च योनिश्चैतद्ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः।। महाभाष्य २.२.६
जाति-ब्राह्मण का तात्पर्य है कि वह व्यक्ति योग्यता से ब्राह्मण नहीं है।

२. यह परिस्थिति बहुत कुछ आजकल जैसी कही जा सकती है। आजकल भी एक ही कुटुम्ब के लोग विभिन्न व्यवसायों में लगे रहने पर प्रायः समान प्रतिष्ठा के पात्र रहते हैं। शिक्षक, सैनिक, व्यापारी आदि सभी समान माने जाते हैं।

संभवतः ऊबा हुआ व्यक्ति किसी नये व्यवसाय की कामना करते हुए इन्द्र से पूछता है :—

कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद्राजानं मघवन्नृजीषिन्।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः ॥३.४३.५

'क्या तुम मुझको लोगों का गोप बनाओगे, क्या राजा बनाओगे, या सोमपायी ऋषि बनाओगे अथवा मुझको असीम धन दोगे ?

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जिस दिन से राजा जनक ने याज्ञवल्क्य (पुरोहित) को ज्ञान दिया, उसी समय से वे ब्राह्मण हो गये।[1] ऋग्वेद में राजा शान्तनु का उल्लेख है। उनके शासन-काल में जब वृष्टि न होने के कारण अकाल पड़ा तो उनके भाई देवापि ने वृष्टि के लिए अपने पौरोहित्य में यज्ञ कराया।[2] शतपथ ब्राह्मण में श्यापर्ण सायकायन नामक पुरोहित ने कहा है कि मेरी सन्तान गुणानुसार साल्व के पुरोहित, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुछ भी हो सकती है।[3] ब्राह्मण साहित्य में विदेहराज जनक के ब्राह्मण बन जाने का उल्लेख है। यह जाति परिवर्तन ब्रह्म-विद्या में निष्णात होने के बल पर ही सम्भव हो सका था।[4]

वर्ण-परिवर्तन के लिए महात्माओं का आशीर्वाद-मात्र भी पर्याप्त रहा है। राजा वीतहव्य महर्षि भृगु के वचन-मात्र से ब्राह्मण हो गए। केवल वीतहव्य ही नहीं, उनका कुल ही ब्राह्मणों का हो गया। इस कुल में गृत्समद, सुतेजा, वर्चा आदि विद्वान् ब्राह्मण हुए।[5]

विश्वामित्र के क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की कथा सुविदित है। केवल विश्वामित्र ही नहीं, उनके सारे वंशज भी ब्राह्मण हुए।[6] महाभारत के अनुसार राजर्षि मनु और नहुष के वंशजों में से भी अनेक ब्राह्मण हुए। इन्द्र स्वयं ऋषि कश्यप का पुत्र था। वह कर्म से क्षत्रिय हुआ।[7]

---

१. ११.६.२.१०।
२. ऋग्वेद १०.९८.५; बृहद्देवता ७.१५५ तथा निरुक्त २.१०।
३. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ० २६३।
४. शतपथ ब्रा० ९.६.२.१ कौषीतकि उ० ४.१।
५. अनुशासन पर्व ३१.५४ के अनुसार—
भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः।
६. अनुशासनपर्व अध्याय ४.४८।
७. शान्तिपर्व २२.११।

वर्ण-परिवर्तन भले ही हो जाता था किन्तु मौलिक वर्ण का कुछ न कुछ रंग रह ही जाता था। विश्वामित्र ब्राह्मण बन चुके थे, पर जब शकुन्तला से दुष्यन्त को विवाह करना था तो उन्होंने कहा—तुम राजपुत्री हो।[1]

हरिवंश के अनुसार नाभारिष्ट के दो पुत्र, जो जन्मना वैश्य थे, ब्राह्मण हो गये।[2] ऊपर जिस गृत्समद का वर्णन आया है, उन्हीं के वंश में शुनक हुआ। शुनक से शौनक नामक जो सन्तान परम्परा चली, उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी हुए।[3] वत्सभूमि और भृगुभूमि नामक ब्राह्मणों से भी चारों वर्णों की सन्तान परम्परा चली।[4] राजा गृत्समद से भी चारों वर्णों की सन्तान परम्परा चली।[5]

विष्णु पुराण के अनुसार आंगिरस, शौनक, काण्वायन और मौद्गल्य ब्राह्मण वंशों की उत्पत्ति क्षत्रिय राजाओं से बताई गई है। इस पुराण में क्षत्रियों से उद्भूत ब्राह्मण का 'क्षत्रोपेत' नाम भी मिलता है।[6] विष्णु पुराण में पृषध्र नामक ब्राह्मण के गुरु के गौ का वध करने के कारण शूद्र बन जाने का उल्लेख मिलता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ भरत राजा हुआ और ८१ पुत्र उच्च कोटि के याज्ञिक ब्राह्मण हुए।[7] पुरुवंश जो प्रारम्भ में क्षत्रियों का था, आगे चल कर ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वंशों का उद्गम बन गया।[8] भरत नामक राजवंश में गर्ग की उत्पत्ति हुई थी। इसी गर्ग से गार्ग्य नामक ब्राह्मण-वंश चला। दुरितक्षय नामक राजा के तीन पुत्र—त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि ब्राह्मण बन गये।[9] धार्ष्ट्र नामक क्षत्रिय जाति ही ब्राह्मण बन गई।

---

१. आदिपर्व ६५.२९; ६७.१।

२. नाभारिष्टस्य पुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ। हरिवंश ११.६५८। विष्णु ४.१.१६।

३. हरिवंश २९.१५१९, विष्णु ४.८.१।

४. हरिवंश २९.१५९७-९८।

५. वही ३२.१७५४।

६. विष्णु ४.१९.१०।
वही ४.१.१४।

७. भाग० ५.४.१३।

८. भाग० ९.२०.१।

९. भाग० ९.२१.१९-२०।

वायुपुराण के अनुसार राजा नहुष के पुत्र संयाति तपस्या करके ब्राह्मण हो गये।[1]

ब्रह्मपुराण के अनुसार नाभाग और वृष्टि क्षत्रिय थे, पर इनकी सन्तान-परम्परा वैश्य हो गई। वलि नामक राजवंश से वालेय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों का प्रादुर्भाव हुआ।[2]

ऐतिहासिक युग में 'कदम्ब' वंश के ब्राह्मण मयूरशर्मा के राजा बनने और उसके वंशजों के वर्मा नामक उपाधि अपनाने का उल्लेख मिलता है। इस वंश के राजा काकुस्थ वर्मा ने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त आदि राजवंशों में किया।[3]

जाति-परिवर्तन आधुनिक युग तक होता चला आ रहा है। अनेक जातियाँ उच्चतर जाति में सम्मिलित होने का सफल प्रयास कर रही हैं। अभी सौ वर्ष के भीतर ही अनेक शूद्र और वैश्य जातियाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण नामधारी बन गई हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जाति-परिवर्तन प्रतिदिन हुआ ही करते थे। जिसने चाहा हो, भले ही अपनी जाति बदल ली हो पर असंख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हुए हैं, जिन्होंने अपने से हीनतर जातियों के व्यवसाय करते हुए जीवन यापन किया है। ब्राह्मण युद्ध-भूमि में अपनी दक्षता दिखाते ही थे। वैश्य और शूद्र की वृत्ति भी उनके लिए हेय नहीं थी। फिर भी वे ब्राह्मण के ब्राह्मण बने रहते थे। राजतरंगिणी में ऐसे ब्राह्मणों की चरित-गाथा देखी जा सकती है।

वर्ण-मिश्रता

अनुलोम-प्रतिलोम विवाह

जैसा पहले लिखा जा चुका है, ऋग्वेद के प्रारम्भिक युग में चतुर्वर्ण-व्यवस्था की सुदृढ़ प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी। ऐसी परिस्थिति में आर्य-वर्ग में विभिन्न व्यवसायों के लोग परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। चतुर्वर्ण-व्यवस्था के बन जाने पर भी समाज में त्रिजातीय विवाहों की प्रणाली पर रोक न लग सकी। किसी भी वर्ण की कन्या क्यों न हो, यदि वह रूप और गुण से सम्पन्न होकर कन्या-रत्न कही जा सकती थी, तो उससे विवाह करने के लिये उच्चतर वर्ण के नवयुवक मिल ही जाते थे। जहाँ तक विवाह भोग-विलास के लिये हो सकता है, उसमें वर्ण-मर्यादा का कोई स्थान उस सुदूर प्राचीन काल में नहीं था। समाज ऐसे लोगों को बुरा नहीं

---

१. वायुपु० ९७.१४।
२. ब्रह्मपुराण ७.२६।
३. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ८, पृ० २४।

समझता था, जो अन्तर्जातीय विवाह करते थे। भले ही उस दम्पति से उत्पन्न सन्तान हीन समझी जाती हो।

शतपथ ब्राह्मण में नियम बनाया गया है कि वैश्य स्त्री से उत्पन्न राजा का पुत्र राजपद के लिये अभिषिक्त नहीं हो सकता। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि राजाओं की स्त्रियाँ वैश्य जाति की हो सकती थीं। इसी के साथ ही शूद्रा के आर्य-जारा होने का उल्लेख है।[1]

प्रायः सभी सूत्र और स्मृति ग्रन्थों में अनुलोम रीति के सवर्ण विवाह की प्रशंसा की गई है और असवर्ण विवाह को या तो हीन बताया गया है, अथवा सवर्ण विवाह से घटकर कहा गया है, पर इतने से ही यह सिद्ध होता है कि ऐसे विवाह प्रचुर संख्या में होते थे। गौतम ने असवर्ण विवाहों का परिगणन किया है और साथ ही यह भी कहा है कि जो ब्राह्मण शूद्रा का पति हो, वह श्राद्ध में परित्याज्य है।[2] इससे इतना तो स्पष्ट प्रकट है कि यदि ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य कन्या से विवाह करता था तो वह श्राद्ध के लिये त्याज्य नहीं था और संभवतः तत्कालीन समाज में वह हीन नहीं समझा जाता था। कुछ ब्राह्मण ऐसे अवश्य थे, जो अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान न रखकर शूद्रा को अपनी पत्नी बना लेते थे। कुछ आचार्यों का मत है कि शूद्रा से विवाह करने में कोई दोष तो नहीं है, पर उस विवाह-संस्कार में वैदिक मन्त्रों का पाठ नहीं होना चाहिए।[3] ब्राह्मण के शूद्रा के साथ विवाह की निन्दा की गई है पर अन्य जाति की कन्याओं के साथ विवाह वैदिक मन्त्रोच्चार के साथ-साथ होते थे। ऐसे विवाहों को निन्दनीय नहीं समझा गया। उपर्युक्त विचारधारा का निदर्शन मनु ने इस प्रकार किया है :—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च तांश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥
न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥३.१२-१४।

---

१. १३.२.९.८०। शूद्रा यदार्यजारा न पोषाय धनायतीति तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिंचति।

२. गौतम-धर्मसूत्र ४.१४.१७।

३. पारस्कर-गृह्यसूत्र १.४.११ तथा वसिष्ठधर्मसूत्र १.२५ में इस मत का उल्लेख है।

(पत्नी होने के लिए सवर्ण सर्वश्रेष्ठ है, सौन्दर्य की अभिरुचि तथा भोग-विलास की दृष्टि से यदि विवाह करना हो तो अपने से नीचे के सभी वर्णों में विवाह किये जा सकते हैं। फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए शूद्रा को पत्नी बनाना किसी भी दशा में ठीक नहीं।)[1]

उपर्युक्त श्लोकों से भी यही ज्ञात होता है कि यद्यपि धर्म-शास्त्र उच्चतर आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहते थे और इस उद्देश्य से केवल सवर्ण विवाह की प्रशंसा करते थे, पर व्यवहार रूप में असवर्ण विवाह होते ही रहते थे। इसी परि-स्थिति को लक्ष्य करके मनु ने लिखा है:—

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥३.४४

(अपने से उच्चतर वर्ण के वर से विवाह करते समय क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा कन्यायें क्रमशः वर के हाथ में पकड़े हुए वाण, प्रतोद और वस्त्र के अंचल को अपने हाथ में ले लें।)

याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण और क्षत्रियों को क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य कन्याओं से विवाह कर लेने का विधान बनाया है, पर शूद्र कन्या से किसी द्विजाति का विवाह वे ठीक नहीं मानते। मनु और याज्ञवल्क्य सिद्धान्ततः तो शूद्रा के साथ विवाह करने के विरोधी हैं, पर उन्हीं के समय चारों वर्णों में अनुलोम रीति से विवाह का प्रचलन इतना बढ़ा हुआ था कि उनको इस प्रकार के नियम बनाने पड़े[2]—

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागोऽयं विधिः स्मृतः॥९.१४९
चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥९.१५३

(यदि ब्राह्मण की चार स्त्रियाँ चारों वर्ण की हों तो पिता के धन का उनके बीच इस प्रकार विभाजन करना चाहिये—ब्राह्मणी स्त्री का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग, वैश्या का पुत्र दो भाग तथा शूद्रा का पुत्र एक भाग।)[3]

---

१. मनु का मत इस सम्बन्ध में है कि अच्छी कन्या की जात-पाँत नहीं देखनी चाहिये। यदि स्त्री-रत्न हो तो 'समादेयानि सर्वतः' का सिद्धान्त लागू था। मनु २.२४०।

२. याज्ञवल्क्य-स्मृति १.५७

३. याज्ञवल्क्य-स्मृति २.१२५

मनु ने अनुलोम विवाह से उत्पन्न पुत्रों को संस्कार के योग्य बतलाया है और उच्च कुलों में उनके विवाह होते रहने पर कुछ पीढ़ियों के पश्चात् उनके पिता के वर्ण का हो जाने का विधान बनाया है।[1] मनु ने आचार्यों की असवर्ण पत्नियों का भी उल्लेख किया है।[2] स्मृति-काल में चारों वर्णों के पारस्परिक अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के आधार पर उपजातियों के विकास की योजना प्रतिष्ठित थी।[3] महाभारत में भी चारों वर्णों के अतिरिक्त उपजातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे 'वर्ण-संकर' की रीति से उत्पन्न हुई हैं।[4] विवाह के लिए जाति उस समय संभवतः विचारणीय ही नहीं रह गई थी। तभी तो इस ग्रन्थ में कहा गया :—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ॥

वनप० १८०.३१-३२

(सभी वर्णों के पारस्परिक विवाह के कारण किसी भी व्यक्ति की जाति को माता-पिता की जाति के आधार पर ज्ञात कर लेना कठिन है। सभी तो सब वर्णों की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं।)

सिद्धान्त की दृष्टि से जातियों के पारस्परिक विवाह का प्रचलन निरूपित किया गया है। व्यवहार-रूप में भी ऐसे विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद में श्यावाश्व नामक पुरोहित ऋषि का राजा रथवीति की कन्या से विवाह का उल्लेख है। इस कन्या के साथ विवाह में श्यावाश्व को पहले तो निराशा हुई पर अन्त में कन्या के माता-पिता ने वर को ऋषि जानकर तथा अपनी पुत्री को वेद-माता होने का अवसर देखकर उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक विवाह कर दिया।[5] शतपथ ब्राह्मण में महर्षि च्यवन के राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या से विवाह का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार महर्षि भृगु के पुत्र ऋचीक का विवाह गाधि की पुत्री सत्यवती से हुआ था।[6] ऋचीक के पुत्र यमदग्नि ने राजा प्रसेनजित् की कन्या रेणुका से विवाह

---

१. मनुस्मृति १०.५, ६४-६९
२. मनु० २.११०
३. मनुस्मृति १०.७-४०
४. शान्तिपर्व २८५.७-९
५. ऋग्वेद ५.६१.१७-१९ तथा बृहद्देवता ५.५०-७९
६. वनपर्व ११५.१७

किया।[1] रेणुका परशुराम की माता हुई। महाभारत में राजा शान्तनु का निषाद-कन्या सत्यवती से विवाह करने का सविस्तर वर्णन मिलता है। सत्यवती से जो वंश चला, उसमें आगे चल कर कौरव-पाण्डव हुए। रामायण के अनुसार राजा दशरथ की कन्या शान्ता का विवाह महर्षि ऋष्यश्रृंग के साथ हुआ था।[2] इसी ग्रन्थ में श्रवण की कथा मिलती है। श्रवण का पिता वैश्य था और माता शूद्रा। ये सभी तपस्वी हो गये थे।[3]

स्वयं मनु ने उल्लेख किया है कि 'अक्षमाला' तथा 'शारंगी' नामक कन्याएँ अधम जाति में उत्पन्न होकर भी क्रमशः वसिष्ठ और मन्दपाल नामक महर्षियों की पत्नियाँ बनकर पूजनीय बन गईं। इसी प्रकार नीच जाति की अन्य स्त्रियाँ भी पति के शुभ गुणों से उच्च हो गईं।

प्रतिलोम विवाह के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण शुक्राचार्य की कन्या देवयानी का विवाह राजा ययाति से हुआ था। बौद्ध ग्रन्थों में भी अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[4]

ऐतिहासिक युग में भी जातियों के पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध मिलते हैं। कालिदास ने स्वयं ऐसे विवाहों की कल्पना की है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में सोचता है:—

अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्

(शकुन्तला यदि कुलपति महर्षि कण्व की असवर्ण स्त्री से उत्पन्न कन्या हो तो काम ही बन जाय।)

'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने अग्निमित्र नामक ब्राह्मण का मालविका नामक क्षत्रिया से विवाह का आयोजन किया है। 'हर्षचरित' में बाण ने अपने साथियों का वर्णन करते हुए अपने दो पारशव भाई—चन्द्रसेन और मातृसेन का उल्लेख किया है।[5] नवीं शती के महाकवि राजशेखर ने ब्राह्मण होते हुए भी चौहान वंश की कन्या अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। उसने अपनी पत्नी के वंश का उल्लेख गर्वपूर्वक 'कर्पूरमंजरी' में किया है।

---

१. वनपर्व ११६.२

२. बालकाण्ड, ११.३ तथा १०.३३

३. अयोध्याकाण्ड ६३.५१

४. बुद्धिस्ट इंडिया पृ० ४३; जातक ४.३८,१४६,३०५; ६.३४८,४२१

५. उस युग में पारशव उन लोगों को कहा जाता था, जिनके पिता ब्राह्मण और माता शूद्रा होती थीं।

ऐतिहासिक राजाओं में भी इस प्रकार के असवर्ण विवाह का प्रचलन मिलता है। गुप्तवंश की राजकुमारी प्रभावती गुप्त का विवाह ब्राह्मण-वंशी वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ था।[1] वैश्य सम्राट् हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री का विवाह क्षत्रिय राजा ग्रहवर्मा से हुआ था। विजयनगर के राजा बक्क प्रथम (१२६८-१२९८ ई०) की कन्या विरूपा देवी का विवाह आरग-प्रान्त के शासक ब्रह्म या वोम्मण नामक ब्राह्मण से हुआ था।[2] 'प्रतिहार' राजवंश का उदय हरिचन्द्र नामक ब्राह्मण और उसकी क्षत्रिय पत्नी से हुआ था।[3] इसी प्रकार 'गुहिल' राजवंश की नींव गुहदत्त नामक ब्राह्मण ने डाली थी। गुहदत्त के वंश में भर्तृभट्ट ने राष्ट्रकूट वंश की राजकुमारी से विवाह किया था।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल से लेकर दसवीं शती तक द्विजातियों में अनुलोम रीति से विवाह का प्रचलन रहा, यद्यपि ई० पू० लगभग छठीं शती से ही ऐसे विवाह उच्च कोटि के नहीं माने जाते थे। ब्राह्मण में से जो लोग 'आदर्शवाद' का ध्यान रख कर धर्माचार्यों के अनुशासन से प्रतिबद्ध होते थे और तप तथा स्वाध्याय में संलग्न होते थे, वे असवर्ण विवाह को स्वीकृत नहीं कर सके। फिर भी रसिक और राजसी वृत्ति वाले ब्राह्मणों की कमी न थी। उन्होंने अनुलोम विवाह को बुरा नहीं समझा। क्षत्रिय-वर्ग भी अनुलोम रीति से असवर्ण कन्याओं को पत्नी बनाने में अग्रसर रहा!

वर्णों का सहकार

सिद्धान्त-पक्ष

हम देखते हैं कि भारत में मुख्य रूप से चार वर्ण और असंख्य जातियाँ और उपजातियाँ बनीं। इन सभी में संगति रही, एकमुखता रही और उनमें पारस्परिक संघर्ष का अभाव रहा। एक वर्ण या जाति यदि दूसरे वर्ण या जाति की विशेषताओं या अधिकारों को सहन कर सकती थी तो इसका क्या कारण था? वास्तव में सामाजिक अभ्युदय के लिए सभी जातियाँ एक दूसरे के लिए त्याग करती हुई और एक दूसरे से सहयोग करती हुई सुखी थीं।

ब्राह्मण यज्ञ करते थे, केवल अपने लिए नहीं, अपितु सबका या समाज का

---

१. प्रभावतीगुप्त का लेख

२. एपिग्राफिआ इण्डिका भाग १५, पृ० १२

३. वही भाग १, पृ० ८७

४. शक्तिकुमार का आटपुर लेख

कल्याण चाहते हुए यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण कामना करता था—'हे देव सभी वर्णों में रुक् (दीप्ति) प्रदान करो।[१] वेद ने आदेश दिया है कि शूद्रों से भी कल्याणी वाक् का प्रयोग करने से मनुष्य देवताओं का प्रिय बन सकता है।[२]

ब्राह्मण का सर्वोपरि कर्तव्य था शिक्षा देना और कर्तव्य पथ का ज्ञान कराना। इस प्रकार वह सारे समाज के विकास की दिशा निर्धारित करता था। वह धार्मिक कार्य-कलापों का संचालन करता था और आचार तथा धर्म की पद्धतियों का निर्माण करता था। वास्तव में वह समाज की गति-विधि की प्रतिष्ठा करता था। ब्राह्मण के उपर्युक्त कार्य-क्षेत्र को देखने से यह प्रतीत होता है कि वह निश्चय ही विज्ञ, दूरदर्शी और कर्मनिष्ठ मानव होगा। उसको चिरकाल तक तप और श्रम करने पर ही यह योग्यता प्राप्त होती थी। उसका इस दिशा में सारा उपक्रम प्रत्यक्षतः तो अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए था, पर गौण रूप से सारा समाज उसके द्वारा उपकृत होता था। वह सारी प्रजा को सत्पथ पर अग्रसर करने के लिए सचेष्ट रहता था।[३]

मनु के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे की सहायता से ही उन्नति कर सकते हैं।[४] मनु का स्पष्ट मत है कि जैसे पशुपालक अपने सभी पशुओं को रखता है, वैसे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय सारी प्रजा की रक्षा करें। इसके बदले परस्पर उपकार और सहायता स्वभावतः निर्धारित हुई।[५]

वैदिक काल से ही समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। ऋग्वेद के अनुसार जिस राजा के आगे ब्रह्मन् (विद्वान् ब्राह्मण) चलता है, वह अपने

---

१. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥ शु० यजु० १८.४८
इस प्रकरण के समर्थन के लिए देखिए तै० सं० ५.७.६.४, का० सं० ४०.१३, मै०सं० ३.४.८ वाजस सं० १८.४८.२६.२ अथर्ववेद १९.३२.८; १९.६२.१

२. यजु० २६.२

३. ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा। तैत्तिरीय ब्रा० २.२.१ तथा काठक सं० ९.१६। कात्यायन के अनुसार—सर्वाभ्युदयकृत् हि सः। स्मृति १२.४

४. स्मृति ९.३२२

५. प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः॥ ९.३२७
महाभारत के अनुसार
ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्तांश्च शूद्राः पर्यचरन् विशः॥

घर में प्रसन्न रहता है, सदा ही धान्य से समृद्ध रहता है और सारी प्रजा स्वयं उसके समक्ष नत रहती है।[1] ब्राह्मणों को देवता तथा देवताओं का आश्रय भी मान लिया गया।[2]

शतपथ-ब्राह्मण में ब्राह्मण का अन्य जातियों के साथ सहयोग का निदर्शन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण लोकपंक्ति (लोगों के व्यक्तित्व का विकास) करता है और लोग कृतज्ञ होकर उनकी पूजा करते हैं, उनको दान देते हैं, उनसे शत्रुता नहीं करते और उनको अवध्य मानते हैं।[3] क्षत्रिय को सफलता पाने के लिए इस ग्रन्थ में बताया गया है कि किसी काम का प्रारम्भ करने की इच्छा उत्पन्न होने पर उसे ब्राह्मण के समीप जाना चाहिए। ब्राह्मण के द्वारा समर्थित कर्म सफल होता है।[4] इसी युग से क्षत्रिय राजाओं के लिये ब्राह्मण-युक्त राजा अन्य राजाओं से बढ़ कर प्रतिष्ठित हुआ और इसी प्रकार राजा से युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से बढ़ कर समझा गया।[5] राजा के लिए नियम बनाया गया कि वह ब्राह्मणों के समक्ष यदि विनयी है तो शत्रुओं पर विजयी हो सकेगा।[6] ब्राह्मणों का अनादर करना राजशक्ति के लिए विनाशक माना गया।[7]

वैश्यों की संख्या वैदिक काल में सबसे अधिक थी।[8] वैदिक काल में वैश्यों को सारे समाज के उपभोग के लिए धन-धान्य उत्पन्न करने वाला माना गया। उसकी उत्पन्न की हुई सम्पत्ति सारे राष्ट्र के उपभोग के लिए थी और ऐसी परिस्थिति में कहा गया है कि वह यथेष्ट रूप में भोग्य है।[9]

महाभारत के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मण की सहायता करने से शुभ लोक,

---

१. ऋग्वेद ४.५०.८

२. एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः। तैत्तिरीय संहिता १.७.३.१ तथा यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तैत्तिरीय आरण्यक २.१५

३. लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैः ब्राह्मणं भुनक्ति अर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च। ११.५.७.१

४. शतपथ ४.१.४.६

५. तैत्तिरीय संहिता ५.१.१०.३

६. शतपथ ५.४.४.१५

७. अथर्ववेद ५.१८ तथा ५.१९

८. तैत्तिरीय संहिता ७.१.१.५

९. वह का तात्पर्य उसके धन से है।

क्षत्रिय की सहायता करने से विपुल कीर्ति, वैश्य की सहायता करने से सभी लोकों में प्रजा के द्वारा रंजन और शरणार्थी शूद्र को मोक्ष दिलाकर उच्च कुल में जन्म पाता है।[१] क्षत्रिय तो चारों वर्णों की रक्षा के लिए ही होता है। वास्तव में क्षत्रिय प्रजा का रक्षक रहा है।[२] इस कर्तव्य का पालन करते हुए उसके लिए चारों वर्णों के लोग समान थे।[३]

मनु ने ब्राह्मण के उत्तरदायित्वों का सूक्ष्म निरूपण करके व्यवस्था दी है:—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥१.९३

ब्राह्मण पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण, सबसे ज्येष्ठ होने के कारण और ब्रह्म (वैदिक अध्ययन) की रक्षा करने के कारण इस संसार में धर्मतः सबका प्रभु है।

मनु के अनुसार ब्रह्मा ने ब्राह्मण को सबकी गुप्ति (रक्षा) करने के लिए बनाया है। वह सभी प्राणियों के धर्मकोश (कर्तव्य पथ और उत्तरदायित्व) की रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुआ है।[४] ब्राह्मण के इसी महिमशाली कर्तव्य को देखकर ही मनु ने नियम बनाया कि दश वर्ष का भी ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय के लिए भी पिता के समान मान्य है।[५] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मनु ने ब्राह्मणों का पक्षपात किया है। जहाँ तक गुणों का सम्बन्ध है, ब्राह्मण इस प्रकार मान्य था, पर शूद्र के लिए भी मनु ने व्यवस्था दी है कि वह ९० वर्ष से अधिक अवस्था का हो जाने पर ब्राह्मणों के लिए भी माननीय होता है।[६]

शूद्र-वर्ण को पूषण कहा गया है। वह सारे समाज का पोषण करता था।[७] शूद्र यदि किसी उच्चजातीय व्यक्ति की सेवा करना चाहता था तो उसकी जीविका का प्रबन्ध कर लेना प्रथम कर्तव्य होता था। उसके लिए नियम बना था कि वह

---

१. आदिपर्व १५०.२१-२४ सभाप० ५.११६

२. मनुस्मृति १.८९

३. सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति॥
शान्तिपर्व ६३.२७

अर्थात् राजधर्म सर्वप्रधान है, सभी वर्ण इसके द्वारा परिपालित होते हैं।

४. १.९९

५. १.१३५

६. २.१३८

७. बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१३

आपत्ति काल में भी अपने स्वामी का त्याग न करे, यदि स्वामी सन्तानहीन हो तो उसके लिए पिण्डदान करे, बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका भरण-पोषण करना चाहिए। इस कार्य में धन का नाश भी हो तो भी उत्साहपूर्वक स्वामी का भरण-पोषण करना चाहिए। अपनी श्रद्धा के बल पर शूद्र स्वामी के द्वारा किये हुए यज्ञों के फल का अधिकारी होता है।[१]

महाभारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय की एकता की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि इन दोनों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है, दोनों का मूल एक है। ब्राह्मण में तप और मन्त्र का बल होता है और क्षत्रिय में अस्त्र तथा भुजाओं का। उनका बल और प्रयत्न अलग-अलग हो जाय तो वे संसार की रक्षा नहीं कर सकते। दोनों को साथ रहकर ही प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[२]

महाभारत के अनुसार क्षत्रियों के कर्तव्य-च्युत होने पर ब्राह्मणों का कर्तव्य हो जाता है कि उनको उचित मार्ग पर लायें। इसके लिये ब्राह्मण को तप, ब्रह्मचर्य, अस्त्र-शस्त्र, शारीरिक बल, सद्व्यवहार, कपट आदि जो कुछ उपाय उपयोगी सिद्ध हों, काम में लाना चाहिए। क्षत्रिय का नियन्त्रण ब्राह्मण ही कर सकता है।[३]

चारों वर्णों की सहकारिता राजनीतिक क्षेत्र में भी थी। वैदिककालीन रत्नि-परिषद् अथवा राजपरिषद् में पुरोहित (ब्राह्मण), सेनापति (क्षत्रिय), ग्रामणी (वैश्य) गोविकर्तन (वैश्य) तक्षा (बढ़ई, शूद्र) तथा रथकार (रथ बनाने वाले शूद्र) होते थे।[४] महाभारत में ३७ अमात्यों की परिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, २१ वैश्य और तीन शूद्र होते थे।

परवर्ती युग में यज्ञ के अवसर पर सभी वर्णों के लोगों को सहस्रों की संख्या में निमन्त्रित किया जाता था और सबका सत्कार और पूजा समुचित विधि से की जाती थी।[५]

व्यावहारिक स्वरूप

भारतीय साहित्य में चारों वर्णों के सद्भाव से समाज की समृद्धि होने का सर्वत्र वर्णन मिलता है।[६] सभी वर्णों के छोटे-बड़े भाई की भाँति रहने की रीति थी।

१-२. शान्तिपर्व ७९.१४-१६

३. वही ७९.२०-२१

४. शतपथ ब्रा० ५.३.१.१ तथा काठक सं० १५.४

५. रामायण बालकाण्ड १३.५, १८ तथा महाभारत सभापर्व ३०.४२

६. इस वृत्ति के पीछे सभी वर्णों का शाश्वत धर्म रहा है—

महाभारत के अनुसार जब पाण्डव वारणावत में पहुँचे तो वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके घर भेंट करने के लिए गये थे।[१] पाण्डव और कौरव राजकुमारों का अस्त्र-कौशल देखने के लिए चारों वर्णों के लोग उपस्थित हुए थे।[२]

राष्ट्र की रक्षा करने के लिए ब्राह्मणों ने कभी-कभी प्राणपण से प्रयत्न किया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय असंख्य ब्राह्मण युद्ध करते हुए पकड़े गये और फाँसी पर लटका दिये गये। इन ब्राह्मणों के प्रयत्न से सिकन्दर का आगे बढ़ना असम्भव हो गया था। उनमें से एक से फाँसी के पहले पूछा गया—तुम क्यों राजा और प्रजा को सिकन्दर के विरुद्ध उत्साहित करते हो? उसने उत्तर दिया—मैं चाहता हूँ कि वे सम्मान से जीयें और सम्मान से मरें।

जब कोई ब्राह्मण राष्ट्र के हित में महान् कर्म करता था तो चारों वर्णों के लोग ब्रह्ममह नामक उत्सव में उसका सम्मान करते थे।[३] वैश्यों ने राष्ट्र की रक्षा के लिए केवल कृषि, पशु-पालन आदि ही नहीं किया, अपितु शस्त्र लेकर भी शत्रुओं से समाज की रक्षा की।[४]

काश्मीर में प्रजा को कष्ट देने वाले राजाओं को पदच्युत करने के लिए ब्राह्मण प्रायोपवेश करते थे और असफल होने पर वे अग्नि में कूद कर प्राण गँवा देते थे।[५] कल्हण ने ब्राह्मणों की लोकसेवा प्रमाणित करते हुए लिखा है—कलि में धर्म के दुर्बल होने पर भी ब्राह्मणों का प्रभाव अभंगुर है। भ्रष्ट और दुष्टों का उत्पाटन करने में ब्राह्मण सबसे बढ़कर पटु हैं।[६] चाण्डाल भी गाँव के अभ्युदय में गाँव वालों का साथ देते थे। श्रीदेव नामक चाण्डाल ने जज्ज नामक राजा को ग्रामवासियों की ओर से मारा था। उस समय ग्रामवासी राजा का सामना कर रहे थे।[७]

दया समस्तभूतेषु तितिक्षा नातिमानिता।
सत्यं शौचमनायासो मंगलं प्रियवादिता।।
मैत्र्यस्पृहा तथा तद्वदकार्पण्यं नरेश्वर।
अनसूया च सामान्यवर्णानां कथिता गुणाः।।—विष्णु पु० ३.८.३६-३७

१. आदिपर्व १३४.७
२. आदिपर्व १२४.१५
३. महाभारत आदिप० १५२.१८
४. Vedic Index vol II P. 334.
५. राजत० ८.२२२५
६. राजत० ८.२२३९
७. राजत० ४.४७७ तथा ५.२२१

क्षत्रियों का भारतीय समाज के अभ्युत्थान के लिए बहुमान रहा है। राम और कृष्ण को अवतार मान कर उनके संबन्ध में कवियों ने विशाल साहित्य की रचना की। अनेक दूसरे क्षत्रिय राजाओं को नायक बनाया गया। ऐसा क्यों? वास्तव में क्षत्रियों की परोपकार-वृत्ति या समाज के अभ्युत्थान के लिए समर्थ क्षमता से भारतीय विचारक प्रभावित रहे हैं।

उपजातियों का विकास

कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का नियम होने पर चार ही वर्णों में सारे समाज का संगठन तो हुआ, पर असंख्य कर्मों के अनुकूल असंख्य जातियों के बन जाने का आरम्भ भी उपर्युक्त आधार पर हुआ। यज्ञ के अवसर पर १६ पुरोहित १६ प्रकार के कामों में संलग्न होते थे। इनके सोलह नाम मिलते हैं। इनमें से प्रत्येक के पद और प्रतिष्ठा भी समान नहीं थी। वैश्यों के तीन व्यवसाय माने तो गए, पर उनमें से दो—कृषि और पशुपालन सभी वर्णों के लोग समान रूप से अपना सकते थे और व्यापार की वस्तुओं की संख्या असंख्य थी तथा विभिन्न वस्तुओं के व्यापार करने वालों के पद और प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न रही। दूध बेचने वाला शराब बेचने वाले के बराबर कैसे हो सकता था? शूद्रों में उपजातियों की संख्या अन्य वर्णों से बढ़ कर विकसित हुई। शूद्रों को प्रायः सार्वजनिक उपयोगिता के लिए वस्तुओं का निर्माण करना पड़ता था। सभी प्रकार के काम इनके हाथ में थे। विभिन्न काम करने वालों के पद और प्रतिष्ठा की भिन्नता के आधार पर असंख्य उपजातियों का विकास होना स्वाभाविक ही था।

ऋग्वेद में वप्ता (नाई), तष्टा (बढ़ई), त्वष्टा (बढ़ई), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लोहार), चर्मम्न (चमार) आदि, अथर्ववेद में इनके अतिरिक्त रथकार (रथ बनाने वाले) तथा सूत आदि, तैत्तिरीय संहिता में कुलाल (कुम्हार), पुंजिष्ट (व्याध), निषाद (नाव चलाने वाला), इषुकृत् (बाण बनाने वाला), धन्वकृत् (धनुष बनाने वाला), मृगयु (मृगया करने वाला), आदि विभिन्न व्यावसायिकों के नाम मिलते हैं। इनमें से प्रायः सभी शूद्र वर्ण की विभिन्न उपजातियाँ बनीं।[1] देश-भेद से भी नई जातियाँ बनती रहीं।[2]

व्यवसायों के अनुसार बनी हुई शूद्र वर्ण की उपजातियों के नाम इस प्रकार

---

१. उपर्युक्त व्यावसायिकों में आर्य और अनार्य दोनों ही थे।

२. ब्राह्मणों के भेदोपभेद कान्यकुब्ज आदि, क्षत्रियों के मालव, गान्धार आदि पाणिनि के युग में बन चुके थे।

मिलते हैं—कांस्यकार (कँसेरा), कैवर्त (केवट), कुम्भकार (कुम्हार), चर्मकार तैलिक (तेली), नट, नापित (नाई), रजक (धोबी) सुवर्णकार आदि।

बौद्ध साहित्य में इनके अतिरिक्त नलकार (टोकरी बनाने वाले), पेसकार (जुलाहे), मणिकार, दुस्सिक (कपड़े के व्यापारी), गन्धिक (गन्ध बनाने और बेंचने वाले), तुन्नवाय (दर्जी), रजकार (रंगरेज), कट्ठहार (लकड़िहारा) उदाहार (पानी ढोने वाले), पेस्सिक (घरेलू काम करने वाले), सूपिक (भोजन पकाने वाले), रूपदक्खा (लेखक), दोवारिक (द्वारपाल), अनीकट्ठ (रक्षक), सन्धिक (मोरी साफ करने वाला), पुप्फच्छड्डक (झाड़ू लगाने वाला), हत्थारोह (महावत), हत्थिपाल (हाथी को सिखाने वाला) आदि व्यावसायिकों के नाम मिलते हैं।

बहुत सी उपजातियाँ देश-भेद के अनुसार मिलती हैं। ऐसी उपजातियाँ अम्व देश की अम्बष्ठ, मगध की मागध और विदेह की वैदेहक हैं। देशी अथवा विदेशी जन समुदायों की भी उपजातियाँ बन गईं। इनमें से प्रमुख निषाद, शक, यवन, खश, कम्बोज, द्रविड़, पारद, पह्लव, दरद, शबर, किरात आदि हैं।

सूत्र और स्मृति काल में विभिन्न जातियों और उपजातियों के लोगों की असवर्ण स्त्रियों से उत्पन्न की हुई सन्तान न तो पिता की जाति वाली होती थी और न माता की जाति की। ऐसी वर्णसंकर सन्तान की एक उपजाति बन जाती थी। इस प्रकार सवर्ण विवाह का प्रतिबन्ध न होने से असंख्य नई उपजातियाँ बनना सम्भव हो जाता है। धर्मशास्त्रकारों ने इनमें से कुछ की गणना की है और उनके व्यवसायों का निरूपण भी किया है। महाभारत में वर्णसंकर उपजातियों का परिचय इस प्रकार मिलता है:—शूद्र यदि द्विजाति स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय (चाण्डाल आदि) होती है। क्षत्रिय की ब्राह्मण जाति की स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'सूत' होती है। सूत स्तुति करता था। वैश्य की ब्राह्मण स्त्री से संतान वैदेहक या मौद्गल्य कही जाती थी। शूद्र की ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल होती थी। वह गाँव के बाहर बसता था और प्राणदण्ड देने के लिए नियुक्त होता था। वैश्य का क्षत्रिया के गर्भ से उत्पन्न पुत्र बन्दी या मागध कहा जाता था। बन्दी लोगों की प्रशंसा करके अपनी जीविका प्राप्त करता था। शूद्र की क्षत्रिया से उत्पन्न सन्तान निषाद होती थी और मछली मारकर जीविका उत्पन्न करती थी। शूद्र की वैश्या से उत्पन्न सन्तान आयोगव होती थी और बढ़ई का काम करके जीविका चलाती थी। वर्णसंकरचाण्डाल की चारों वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल से भी हीन कोटि की होती थी। चाण्डाल की निषादी से उत्पन्न सन्तति पाण्डुसौपाक जाति की होती थी और बँसफोर का काम करती थी।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी वर्णसंकर उपजातियों के नाम और व्यवसाय का उल्लेख प्रायः महाभारत की पद्धति पर ही मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध ही होता है कि वर्णसंकरता की उस युग में प्रचुरता थी। वर्णसंकर जातियों के नाम पद और व्यवसाय विभिन्न ग्रन्थों में समान नहीं हैं। वैदेहक नामक वर्णसंकर उपजाति को बौधायन, कौटिल्य, मनु, विष्णु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान मानते हैं, पर गौतम उसे शूद्र-पुरुष और क्षत्रिय-स्त्री की संतान बतलाते हैं और वैखानस तथा उशना आदि उसे शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान कहते हैं। मनु के अनुसार वैदेहक अन्तःपुर में स्त्रियों की देखभाल करता था। उशना और वैखानस ने वैदेहक को बकरी चराने, गाय-भैंस पालने और मक्खन मलाई बेंचने का काम दिया है। सूत-संहिता के अनुसार पुल्कस (चाण्डाल) और वैदेहक में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न स्थानों तथा युगों में विभिन्न शास्त्रकारों के लिए वर्णसंकर जातियों की मर्यादा विभिन्न रही है।

वर्णानुसार जीविका

वैदिक काल के प्रारम्भिक भाग में चतुवर्ण-व्यवस्था वहुत दृढ़ नहीं थी। उस युग में धन प्राप्त करने के चार प्रमुख साधन—मन्त्रों की रचना करके यजमानों के लिये यज्ञ करना, पशु-पालन, कृषि और शिल्प थे। प्रायः इन्हीं व्यवसायों में अधिकांश जनता लगी हुई थी। उस युग में नित्य ही शत्रुओं से लड़ाई करने की झंझट आई ही रहती थी। कुछ वीर तो प्रधान रूप से दिन-रात शत्रुओं से भिड़ने की योजनायें बनाकर उसी में संलग्न रहते थे। आर्य-वर्ग के सभी लोगों को अपनी योग्यता के अनुकूल अपने लिये एक या अनेक व्यवसाय चुन लेने की सुविधा थी।

उपर्युक्त व्यवसायों में कालान्तर में मन्त्रों की रचना करके यज्ञ करना और कराना सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना गया। युद्ध करके शत्रुओं को पछाड़ना उससे थोड़ा ही हीन कर्म द्वितीय कोटि का समझा गया। कृषि और पशु-पालन समाज के भरण-पोषण के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, पर वे तृतीय कोटि में रखे गये। संभवतः इसका कारण यही था कि खेती के काम के लिये न तो अगाध पाण्डित्य और प्रतिभा की आवश्यकता थी और न वीरता की ही। कृषि और पशुपालन सभी वर्ग के लोगों ने अपनाया। शिल्प शूद्रों के हाथ में व्यवसायरूप में रहा।

कुछ समय के पश्चात् ऋग्वेद-युग के उत्तर भाग में जब वर्ण-व्यवस्था अधिक दृढ़ हुई तो वह कर्मानुसार बनी। इस व्यवस्था के अनुसार किसी पुरुष का वर्ण उसके प्रधान कर्म के अनुसार निश्चित होता था। इस प्रकार प्रधान रूप से मन्त्र

रचना करने वाला ब्राह्मण, शस्त्र धारण करके प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय तथा कृषि और पशु-पालन करने वाला वैश्य हुआ। उपयोगी और ललित कलाओं को व्यवसाय-रूप में अपनाने वाला शूद्र हुआ।

ब्राह्मण

वैदिक काल का ब्राह्मण खेती और पशु-पालन भी करता था और आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी उठा लेता था, पर वह शस्त्रजीवी नहीं कहा जा सकता, अपितु वह शास्त्रजीवी था। वैदिक ऋषियों को धन-धान्य सम्पन्न रहने की अभिलाषा रहती थी। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार तत्कालीन ऋषि पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, इन्द्रियावी और पशुमान् होने के लिए यज्ञ करते थे। ऋषियों के आश्रमों में गायें रहती थीं और उनके बड़े विशाल क्षेत्र भी होते थे, जिनकी शस्य-श्यामला धरती मनोहर प्रतीत होती थी। पशु-पालन और कृषि में उनके शिष्य प्रायः सहायक होते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार तत्कालीन ब्रह्मज्ञ को अन्न, पशु और कीर्ति तीनों ही अलंकृत करते थे। निश्चय ही वह महान् कृषक और पशु-पालक होगा और साथ ही दार्शनिक भी।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में आरुणि ने प्रवाहण नामक राजा से कहा है कि मेरे पास सोना, गायें, घोड़े दासी और वस्त्र हैं।[2]

वैदिक काल के पश्चात् उच्च कोटि के ब्राह्मणों का कृषि के प्रति झुकाव कम हो गया। बौधायन ने लिखा है—

> **वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।**
> **शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्॥ धर्मसूत्र १.५.१.१**

सूत्रकाल आते-आते ज्ञान का भण्डार इतना बढ़ गया कि ज्ञान की प्यास को पूर्णरूप से तृप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति की खेती सूख जाती होगी और खेतों में मन लगाने वाले ब्राह्मण का वेद-पाठ ही नहीं हो पाता होगा। ऐसे शक्तिमान् विरले ही होते थे, जो खेती भी करते हों और वेद में पारंगत भी होते हों। प्रायः ब्राह्मणों ने खेती छोड़कर वेद की ओर रुचि दिखलाई, पर कुछ ऐसे ब्राह्मण अवश्य थे, जो हल जोतते थे। तभी तो बौधायन ने आगे चलकर कहा—

> **प्राक् प्रातराशात् कर्षी स्यात्।**

---

१. भृगुवल्ली ६

२. बृ० उ० ६.२.७

प्रातःकाल कुछ खाने के पहले ही हल जोते।[1]

बौद्ध साहित्य में ब्राह्मणों की खेती के प्रायः उल्लेख मिलते हैं। रामायण के अनुसार ब्राह्मण फालकुद्दाल-लांगली हो सकता था।[2]

महाभारत ब्राह्मण के किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने के पक्ष में नहीं हैं। 'अप्रवासी ब्राह्मण को पृथ्वी निगल जाती है'—यह महाभारत का स्पष्ट मत है।[3] इस मत से कम से कम इतना तो माना ही जा सकता है कि भ्रमणशील ब्राह्मण अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए दूसरों के व्यक्तित्व का विकास भी कर ही सकता था।

महाभारत युग में सिद्धान्ततः ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति नहीं अपना सकता था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के काम उसके लिये त्याज्य वतलाये गये।[4] फिर भी महाभारत-युग में द्रोणाचार्य जैसे योद्धाओं तथा आयोदधौम्य जैसे कृषक और पशु-पालक ब्राह्मणों की संख्या स्वल्प नहीं थी। उस समय ब्राह्मणों के लिये बैल दान दिये जाते थे।[5] अवश्य ही वे बैल उनकी खेती के काम में प्रयुक्त होते होंगे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का कर्त्तव्य था कि वह ऋत्विक्, आध्यात्मिक गुरुओं, पुरोहितों तथा वेदज्ञों को ब्रह्मदेय भूमि दे। इस भूमि से राजकर नहीं लिया जाता था। इसमें वहुत अधिक पैदावार होती थी।[6] निस्सन्देह वे ब्राह्मण खेती करते होंगे।

सूत्रकाल के बीतते ही ब्राह्मण को कृषि से विरत होने की सीख कुछ स्मृतिकारों के द्वारा दी गई। इस सम्वन्ध में कृषि का वेद-विनाशिनी होना तो कारण नहीं बताया गया, अपितु कहा गया कि कृषि में प्रारम्भ से अन्त तक प्राणियों का वध होता है। मनु ने कहा कि ब्राह्मण और क्षत्रिय आपत्तिकाल में वैश्य के काम को

---

१. ब्राह्मणों के हल जोतने का उल्लेख वसिष्ठ-धर्मसूत्र २.३२-३४ में भी मिलता है। पराशर ने भी ब्राह्मणों को खेती करने की अनुमति दी है पर नियम बनाया है कि बैलों के साथ दया का व्यवहार रखना चाहिये। पराशर ने खेती के काम में 'महादोष' का उल्लेख किया पर बतलाया कि राजा और देवताओं को यथोचित भाग देने पर दोष नहीं लगता।

२. अयोध्याकाण्ड ३२.३०

३. सभापर्व ५०.२१

४. शान्तिपर्व ६२.४ तथा ६३.१

५. सभापर्व ४९.२०

६. अर्थशास्त्र २.१

अपना लें, पर कृषि न करें क्योंकि उसमें प्राणिवध होता है और इसे करने में परमुखापेक्षी होना पड़ता है।[1] मनु ने कृषि को प्रमृत (विशेष हिंसायुक्त) कहा है।[2]

उपर्युक्त विधान बनने पर भी ब्राह्मणों का कृषि करना कभी रुका नहीं। अनेक परवर्ती धर्माचार्यों ने कृषि और पशुपालन को सभी वर्णों के लिये उचित व्यवसाय माना है, पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के युग के पश्चात् ज्ञान के पिपासु ब्राह्मण खेती से अलग ही रहे। हाँ, जो ब्राह्मण खेती करते थे, वे जाति-च्युत कभी नहीं हुए।

मनु ने ब्राह्मण-जीवन का जो चित्र खींचा है, उसके अनुसार निष्ठावान् ब्राह्मण कण या बाल चुन-चुन कर भोजन इकट्ठा करता हुआ देखा जाता होगा या विना माँगे हुए प्राप्त भोज्य पदार्थ से सन्तुष्ट रहता होगा। निन्दनीय ब्राह्मण भिक्षा माँग कर अथवा खेती करके जीविका प्राप्त करते होंगे।[3] मनु के अनुसार अध्यापन, यज्ञ, प्रतिग्रह, (दान), कृषि, पशुपालन तथा व्यापार—इन छः कर्मों में से कुछ ब्राह्मण सभी छः को, कुछ प्रथम तीन को और कुछ प्रथम दो को तथा कुछ केवल प्रथम को अपनाते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं,[4] पर सबसे अच्छा ब्राह्मण का जीवन है—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥ मनु ४.३

(केवल अपना काम भर चलाने के लिए अनिन्दित कर्मों के द्वारा अपने शरीर को किसी प्रकार का क्लेश न देते हुये धन-संचय करे।)

ऐसा धन अधिक से अधिक तीन वर्ष तक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होना चाहिये, फिर भी सबसे अच्छा वह है, जो कल तक की आवश्यकता के लिये संचय करता है।[5]

संवर्त-स्मृति में ब्राह्मण के लिये हल और बैल की अलंकृत जोड़ी दान देने का

---

१. मनुस्मृति ४.५

२. मनु० ४.५ तथा ४.९

३. मनु० १०.८३-८४। अर्थशास्त्र के सीताध्यक्ष प्रकरण में ऐसे ब्राह्मणों की जीविका के संबंध में कहा गया है—प्रशीर्णं च पुष्पफलं देवकार्यार्थं व्रीहियवमाग्रयणार्थं श्रोत्रियास्तपस्विनश्चाहरेयुः। ४१ वां सूत्र। राशिमूलमुञ्छवृत्तयः। ४२

४. मनु० ४.९

५. मनु० ४.७

अतिशय महत्त्व बतलाया गया है।[1] साथ ही अन्न उपजाने वाली भूमि भी देने से असंख्य वर्ष स्वर्गवास की योजना प्रकल्पित की गई है।

ब्राह्मण को परमुखापेक्षी न रहने देने की जो योजना पराशर ने बनाई, उसके अनुसार ब्राह्मण षट्कर्म करता हुआ कृषि करवा सकता था।[2] यहीं तक नहीं, वह स्वयं हल भी जोत सकता था। ऐसे ब्राह्मणों के लिये पराशर ने आदर्श प्रतिष्ठित किया कि वे अपने ही जोते हुये खेत में उत्पन्न अन्न को स्वयं इकट्ठा करके उससे पंचमहायज्ञ और ऋतु-दीक्षा सम्पादन करें। पराशर के अनुसार यह तो ठीक ही है कि खेती के काम में पाप बहुत होता है, पर यज्ञ, त्याग, गो-सेवा आदि से ये पाप उसका स्पर्श तक नहीं करते।

ब्राह्मणों के व्यवसाय के सम्बन्ध में यद्यपि आदर्श उपस्थित किये जाते रहे, पर अन्य जातियों के व्यवसाय करने वाले ब्राह्मण सदा ही समाज में प्रचुर संख्या में रहे। ऐसे ब्राह्मण नाम के लिये तो "ब्राह्मण" बने रहे, पर उनके ब्राह्मणत्व के साथ जो विशेषण जोड़े गये, वे उनकी अप्रतिष्ठा के द्योतक रहे। महाभारत में ब्राह्मणों को कर्मानुसार ब्रह्मसम, देवसम, क्षत्रसम, वैश्यसम आदि कोटियों में विभक्त किया गया।[3] क्षत्रसम और वैश्यसम वे ब्राह्मण थे, जो जन्म से तो ब्राह्मण थे, पर उन्होंने प्रधान रूप से क्षत्रिय और वैश्यों के काम अपना लिये थे। अत्रि ने कर्म के आधार पर दस प्रकार के ब्राह्मणों का परिगणन किया है। इनमें से देव-ब्राह्मण तो जप-तप में लगे रहते थे, मुनि-ब्राह्मण वनवासी होते थे और वन के मूल, फल और शाक से जीविका निर्वाह करते थे, द्विज-ब्राह्मण दर्शनों के अध्ययन में लगे रहते थे, क्षत्र-ब्राह्मण योद्धा थे, वैश्य-ब्राह्मण वैश्य के काम (कृषि, पशुपालन और व्यापार) करते थे, शूद्र-ब्राह्मण लाख, नमक, रंग, दूध, घी, मधु-मांस आदि बेचते थे। निषाद-ब्राह्मण, चोर और डाकू थे, पशु-ब्राह्मण केवल यज्ञोपवीत पहनते थे। उनको ब्रह्म से कुछ लेना-देना नहीं था। म्लेच्छ-ब्राह्मण सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं को नष्ट कर देते थे और चाण्डाल ब्राह्मण निर्दय होते थे।[4] उपर्युक्त श्रेणी विभाजन से यह सिद्ध होता है कि जाति की जन्मना सिद्धि होती थी और जाति तथा कर्म का कोई नाता व्यवहार-रूप में सब के लिये नहीं था।

---

१. संवर्त० ७०

२. पराशर-स्मृति २.२-१६

३. शान्तिपर्व ६२.४ तथा ६३.१

४. अत्रिस्मृति ३७३-३८४

श्रीमद्भागवत में ब्राह्मण के लिये ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत नामक पाँच प्रकार के जीविकोपार्जन के साधनों का उल्लेख मिलता है। शिलोञ्छ वृत्ति ऋत है, बिना माँगी हुई प्राप्त शालीन जीविका अमृत है, जा-जाकर भिक्षा माँगी हुई यायावर जीविका मृत है, कृषि-कर्म से प्राप्त वार्त्ता-जीविका प्रमृत है तथा व्यापार सत्यानृत है। नीच पुरुष की सेवा करना श्ववृत्ति है। इनमें से उत्तरोत्तर वृत्तियाँ हीन हैं। अन्तिम श्ववृत्ति को तो अपनाना ही नहीं चाहिये।[१]

पद्मपुराण में ब्राह्मणों की जीवन-वृत्ति का व्यावहारिक चित्रण मिलता है। इसके अनुसार ब्राह्मण की सर्वोच्च वृत्ति की विशेष प्रतिष्ठा तो है, पर साथ ही अन्य जातियों के योग्य कामों को भी ब्राह्मणों के लिए समुचित ठहराया गया है। सबसे अच्छी शिलोञ्छ वृत्ति मानी जाती थी।[२]

अत्रि के अनुसार ज्योतिषी, अथर्ववेद के अभ्यासी, पुराण-पाठक, भेड़ पालने वाले, चित्रकार, वैद्य, नक्षत्रपाठक आदि व्यवसायी ब्राह्मण हीन कोटि के माने जाते थे। यज्ञ में आये हुए ब्राह्मणों को यज्ञ के समाप्त हो जाने पर जो दक्षिणा मिलती थी, वह भी अच्छी वृत्ति मानी जाती थी। अध्यापन और यज्ञ कराने की दक्षिणा भी उचित मानी गई। इसी प्रकार अन्य माङ्गलिक शुभ कर्म कराने पर भी यजमानों से दक्षिणा लेने में किसी प्रकार की बुराई नहीं मानी गई। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से कहा गया कि शास्त्र के द्वारा जीविका चलाने वाले तथा वृक्ष और लताओं के सहारे अपनी जीवन-वृत्ति सम्पादित करने वाले लोग धन्य हैं।

पद्मपुराण में ब्राह्मणों के लिए अपनी उपर्युक्त वृत्ति के अभाव में क्षत्रिय तथा वैश्यवृत्ति से जीवन निर्वाह करना उचित माना गया है। न्याय-युक्त युद्ध में लड़ना, धनुर्वेद का अभ्यास करना तथा युद्ध में मर कर स्वर्ग में जा पहुँचना ऐसे ब्राह्मण के लिए कर्तव्य ठहराये गए। इस प्रकार वेद और धनुर्वेद के सामंजस्य की कल्पना इस पुराण में पल्लवित की गई है। क्षत्रिय का काम करते हुए ब्राह्मण का राजा से धन पाना बुरा नहीं माना जाता था।

वैश्य-वृत्ति वाला ब्राह्मण व्यापार अथवा खेती करा सकता था, पर वह स्वयं इस काम में नहीं लग सकता था। वह खेती के काम में हल जोत सकता था, बैल चरा

---

१. भागवत ७.११. १६-२०

२. किसानों के खेत काट लेने पर उन खेतों से, खलिहानों से अन्न उठा लेने पर उन खलिहानों से तथा बाजार उठ जाने पर गिरे हुए दानों को चुन कर ही भोजन की सामग्री इकट्ठी करना शिलोञ्छ-वृत्ति है।

सकता था और गोशाला स्वच्छ कर सकता था। इस पुराण में ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय या वैश्य वृत्ति अपना लेने पर भी ब्राह्मणोचित कर्मों को न छोड़ने की शिक्षा दी गई है।[१] ऐसी योजना ब्राह्मणों में अपने पैर पर खड़े होने की शक्ति देने के लिए थी।

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना और पवित्र दान लेना ब्राह्मण की जीविकायें हैं।

स्कन्द पुराण में ब्राह्मणों की वृत्तियों का निदर्शन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण वेद बेचते हैं, दूसरों से दान लेने में आसक्त रहते हैं, वैश्यों की भाँति कृषि और पशुपालन में लगे रहते हैं। ऐसी परिस्थिति उस समय नामधारी ब्राह्मणों की थी। इस पुराण में दो प्रकार के ब्राह्मण माने गए हैं—जाति से और कर्म से। वास्तविक ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि उनकी जीविका द्विजों को पढ़ाने और थोड़ा-सा दान लेने से चलती है। ब्राह्मण अपनी तपस्या के द्वारा दान लेने में समर्थ होता है, तो भी उसे दान स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो ब्राह्मण गोरक्षा, वाणिज्य, शिल्प अथवा सेवा के द्वारा जीविका प्राप्त करते थे, वे शूद्रवत् समझे जाते थे।[१] इसी युग में कुमारिल (७०० ई० के लगभग) ने तत्कालीन उत्तर भारत के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे लोग घोड़े, खच्चर तथा गदहों का व्यापार करते हैं।[२]

बौद्ध साहित्य में भी कर्तव्य-पथ से च्युत ब्राह्मणों का परिचय मिलता है। 'दसब्राह्मण जातक' में चिकित्सक, परिचारक, निग्राहक (कर उगाहने वाले), भिखमंगे, व्यापारी, अम्बष्ट (खेती करने वाले) पुरोहित आदि ब्राह्मणों की कोटियाँ दी हुई हैं। वासेट्ठ-सुत्त[३] में कृषक, शिल्पिक, व्यापारी, योधाजीवी, याजक, राजन्य आदि ब्राह्मणों की कर्मानुसार श्रेणियाँ बताई गई हैं। अंगुत्तर के अनुसार ब्रह्मसम, देवसम, समर्याद, संभिन्नमर्याद और ब्राह्मण-चाण्डाल पाँच प्रकार के ब्राह्मण थे। ब्रह्मसम ब्राह्मण विद्वान् होते थे और तपोमय जीवन बिताते थे। उनकी जीवनवृत्ति शिलोञ्छ कही जा सकती है। वे प्रायः आचार्य होते थे और जीवनभर अविवाहित रहते थे। देवसम ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् विवाह करते थे। समर्याद ब्राह्मण गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम नहीं अपनाते थे। वे जीवन भर गृहस्थ ही रह जाते थे। संभिन्नमर्याद किसी वर्ण की कन्या से विवाह करके भोग-विलास का जीवन बिताते थे। ब्राह्मण-चाण्डाल से कोई काम बचता नहीं था। वे सभी वर्णों

---

१. स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्वार्ध ४०

२. वार्तिक पृ० २०४

३. सुत्तनिपात से

के अच्छे-बुरे सभी काम कर लेते थे। चुल्लनन्दिय जातक के अनुसार तक्षशिला में अध्ययन करने के पश्चात् एक ब्राह्मण मृगया से जीविका चलाता था।

पौरोहित्य

वैदिक काल में पौरोहित्य का ऊँचा स्थान था। राजाओं के लिये पुरोहित सब से अधिक उपयोगी समझा जाता था और वह राष्ट्र के अभ्युदय के लिये सतत उद्योग और यज्ञ किया करता था। सूत्रकाल में भी पुरोहित के उच्चपद की झलक मिलती है। गौतम ने लिखा है कि जो उच्च कोटि का ब्राह्मण विद्या, अभिजन, वाक्, रूप, वय और शील से समायुक्त हो तथा जो न्याय-वृत्त का तपस्वी हो, उसे पुरोहित बनाना चाहिए।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक उच्च कोटि के ब्राह्मण इस काम को अपना लेते थे। प्रारम्भिक बौद्ध युग में भी पुरोहितों का समाज में ऊँचा स्थान था।[2]

मनु ने पौरोहित्य-कर्म को अत्यन्त निन्दित सिद्ध किया है और नियम बनाया कि पूगों (संघों) तथा गणों के पुरोहितों को श्राद्ध में भोजन देने के लिए नहीं बुलाना चाहिए।[3]

श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्राह्मण का धन तो शिलोञ्छ वृत्ति के द्वारा ही होता है। उसीसे उसके सभी सत्कार्य सिद्ध होते हैं। केवल दुर्मति ही पुरोहित बन कर प्रसन्न हो सकता है। यह कार्य निन्दनीय माना गया और कोई तत्त्वदर्शी इसे अपने हाथ में लेना नहीं चाहता था।[4]

तुलसीदास ने पौरोहित्य कर्म को ब्राह्मण के लिये अत्यन्त निकृष्ट बताते हुए कहा है—

उपरोहित्य कर्म अति मन्दा, वेद–पुराण–सुमृति कर निन्दा।[5]

उपनिषद् काल से ही दार्शनिक विचारधाराओं की प्रगति होने पर तथा शैव और वैष्णव धर्मों का विकास होने पर समाज में वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों की प्रतिष्ठा कम हो गई। पुरोहितों को धन की प्राप्ति होती थी किन्तु ब्राह्मण के लिए

---

१. गौतम-धर्मसूत्र ११.१२-१३

२. मच्छ जातक

३. मनुस्मृति १०.१०९; ३.१५१; ३.१६४

४. भागवत ६.७.३७

५. रामायण उत्तरकाण्ड ४८

धन पाने का प्रत्येक काम अनुचित मानकर निन्दनीय ठहराया गया था। ऋषियों का ऐसा विचार था कि धन आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में बाधक है। ऐसी परिस्थिति में पौरोहित्य की प्रतिष्ठा कम हो गई।

भिक्षा और दान

यों तो सदा ही समाज में कुछ लोग जीविका के उपार्जन में असमर्थ होकर भिक्षुक बनते हैं, पर ब्राह्मण जाति के लिए भिक्षा-वृत्ति को अपना लेना बहुत कुछ उसकी आलस्य-वृद्धि का परिचय देता है। कुछ अंश तक भारतीय धर्म भी इसका कारण रहा है। महाभारत-युग से लेकर आज तक ब्राह्मणों को दान देना स्वर्ग प्राप्त करने के लिये तथा पाप धोने के लिए साधन माना गया। यद्यपि पुराणों और स्मृतियों में वारंवार कहा गया है कि उच्च कोटि के सदाशय, सच्चरित्र और विद्वान् ब्राह्मण को ही दान देना चाहिए और दान का पात्र योग्य होना चाहिए, फिर भी ऐसे धर्माचार्य सदा ही रहे हैं, जिन्होंने आचारहीन ब्राह्मणों को भी पूज्य और दानयोग्य पात्र प्रतिष्ठित किया है। साधारण जनता किसी ब्राह्मण के ज्ञान और आचार की परख कहाँ कर सकती है? ऐसी परिस्थिति आलसी ब्राह्मणों के लिए अनुकूल सिद्ध हुई और उन्होंने भिक्षावृत्ति द्वारा अपने जीवन-निर्वाह की योजना अपना ली।

वैदिक काल में ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त और कोई भिक्षाटन नहीं करता था।[1] महाभारत-युग में भी केवल ब्रह्मचारियों का ही भिक्षा माँगना प्रचलित था। इस ग्रन्थ के अनुसार केकय नामक राजा ने अपने राज्य के सम्बन्ध में कहा है:—

नाब्रह्मचारी भिक्षावान् भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान्।

(कोई भी भिक्षुक ऐसा नहीं है, जो ब्रह्मचारी न हो।)

संभवतः राजा की ओर से ऐसा नियम बना हो कि समर्थ पुरुष भिक्षा की याचना न करे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार स्नातक के द्वारा आचार्य को दक्षिणा देने के लिए अथवा अपने विवाह के लिए, यज्ञ के लिए, तथा माता-पिता के भरण-पोषण के लिये भिक्षा माँगी जा सकती है। यदि कोई आलसी मनुष्य अपनी तृप्ति के लिए भिक्षा माँगे तो उसे भिक्षा देना पाप है; हाँ, भिक्षा माँग कर दीन-हीन लोगों को देना उचित काम है।[2] ऐसी व्यवस्था को देखने से यही परिणाम निकलता

---

१. अथर्ववेद १२.४.१—१२ आदि के अनुसार याचक ब्राह्मण थे। संभवतः वशा के लिए याचना करना बुरा नहीं माना जाता था। वशा की याचना का ही इस सूक्त में उल्लेख है।

२. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २.५.१०

है कि अभी तक भिक्षा व्यवसाय के रूप में नहीं चल सकी थी। वसिष्ठ ने भी कुछ विशेष परिस्थितियों में ही भिक्षा को उचित बताया है। 'जब कोई मनुष्य भूखा हो तो अपनी दीनता को सदा के लिए दूर करने के लिए खेत या पशु की याचना कर सकता है।'[१] अंगिरा ने रोगी, वृद्ध, दीन-हीन तथा पथिकों को ही भिक्षा माँगकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने का नियम बनाया है।

मनु ने यज्ञ करने के लिए भिक्षा द्वारा धन इकट्ठा करने की अनुमति दी है, पर यज्ञ करते हुए उस भिक्षा के धन से कुछ भी बचा लेना महापातक बताया है।

भिक्षा और दान का निकटतम सम्बन्ध है। अयाचित प्राप्त धन दान है, याचित होने पर वही भिक्षा है। यों तो ऋग्वेद-युग से ही दान की अतिशय महिमा का वर्णन मिलता है, पर संभवतः उस दान का विधान तत्कालीन समाज की व्यवस्था को दृष्टि-पथ में रख कर किया गया था। उस समय समाज में कुछ लोग ऐसे थे, जो दूसरों के धन को दान रूप में ग्रहण करके ही अपनी जीविका चलाते थे अथवा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उपनिषद्-काल में भी दान का उपर्युक्त रूप ही मिलता है। दान को धर्म का स्कन्ध माना गया।[२] उस समय के ब्राह्मण यज्ञ, दान और तप से आत्मा को जानने की इच्छा करते थे।[३] इन प्रकरणों से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का धर्म था दान देना न कि लेना।

मनु ने दान के विरोध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गस्तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्रह्मतेजः प्रशाम्यति॥४.१८६

(ब्राह्मण दान लेने में समर्थ हो, तब भी उसे दान में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और न दान की कामना करनी चाहिए; दान लेने से उस ब्राह्मण का ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।)

मनु ने कहा है कि स्वर्ण, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, सुगन्धि, द्रव्य, तिल, और घी को दान रूप में लेने वाला अविद्वान् ब्राह्मण लकड़ी की भाँति जल जाता है। वह नरक में जा गिरता है।[४]

---

१. वसिष्ठ-धर्मसूत्र १२.२-३

२. छान्दोग्य उपनिषद्—त्रयो धर्मस्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः—धर्म के तीन अंग हैं—यज्ञ, अध्ययन तथा दान प्रथम।

३. बृहदारण्यक ४.४.२२—तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा।

४. मनुस्मृति ४.१८८-१९०

पराशर ने दान की प्रतिष्ठा का उद्घाटन करते हुए विभिन्न कोटि के दानों का पर्यालोचन किया है:—

अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम्।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम्॥

(दाता स्वयं जब किसी योग्य व्यक्ति के पास जाकर दान देता है, तो वह उत्तम होता है। यदि उस व्यक्ति को अपने यहाँ बुलाकर देता है तो वह मध्यम कोटि का दान है। जो दान माँगने पर दिया जाय अर्थात् भिक्षा अधम कोटि की है। सेवक को दिया हुआ दान निष्फल ही है।)

योग्य ब्राह्मण को समाज भोजन, वस्त्र आदि का दान देने के लिए लालायित रहता था। पराशर के अनुसार गाँव में व्रतहीन और अनधीयान ब्राह्मण यदि भिक्षा माँगता मिले तो उस पूरे गाँव को दण्ड दे, क्योंकि वह गाँव चोरों को भोजन देता है।[1] अयोग्य ब्राह्मण को भिक्षा तक लेने का अधिकार नहीं। स्मृतिकार ने उल्लेख किया है—

ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरूपमकंटकम्।
वापयेत् सर्वबीजानि सा कृषिः सर्वकामिका॥

भागवत के अनुसार दान लेने से ब्राह्मण के तप, तेज और यश तीनों ही नष्ट हो जाते हैं, फिर भी दान को ब्राह्मण की जीविका का साधन तो कहा ही गया है।[2]

क्षत्रिय

क्षत्रिय का दूसरा नाम वैदिक काल से ही राजन्य रहा है। इस नाम से इस जाति के राजा होने की अभिव्यक्ति होती है। क्षत्रिय वीर प्राचीन काल में बाहु-बल तथा पराक्रम के द्वारा अपने लिए या तो राज्य की स्थापना कर लेते थे अथवा किसी राजा के राज्य में अपने क्षात्र बल से शान्ति और सुरक्षा की प्रतिष्ठा करने के लिए सैनिक बन जाते थे। शासन-सूत्र के संचालन में क्षत्रियों की बुद्धि और शक्ति का उपयोग होता था। क्षत्रिय राजा तो प्रजा से विविध प्रकार का कर लेते थे और क्षत्रिय सैनिक या राजपुरुष राजा के वेतन भोगी होते थे।

---

१. पराशरस्मृति १.६६

२. भागवत ११.१७.४१ तथा मार्कण्डेय पुराण २८

कृषि और पशुपालन का व्यवसाय क्षत्रिय जाति के लिए भी रुचिकर रहा है। साधारण क्षत्रिय लोग स्वयं अपने हाथों से ही पशु-पालन का सारा काम कर लेते होंगे; क्षत्रिय राजाओं का गोपालन-विभाग इसी व्यवसाय के लिये होता था। राजकीय पशुओं की संख्या अगणित होती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा के विभिन्न कोटि के पशुओं के लिए अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। कुछ क्षत्रिय प्रधान-रूप से वार्त्ता (कृषि, पशु-पालन और व्यापार) तथा शस्त्र से जीविका उत्पन्न करते थे।[1]

क्षत्रिय राजाओं की आय खनिज पदार्थों तथा प्रजा के द्वारा भेंट दी हुई वस्तुओं आदि से भी होती थी। उस प्राचीन युग में क्षत्रिय शिक्षक तो बन सकता था, पर वह किसी प्रकार का शुल्क विद्यार्थियों से नहीं ले सकता था।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी क्षात्र-कर्म छोड़ कर वैश्य और शूद्रों के विविध कर्मों को अपना लेते थे।

वैश्य और शूद्र

प्राचीन भारत में सम्पत्ति का अर्जन करने वाले प्रधान रूप से वैश्य लोग थे। कृषि, पशु-पालन और व्यापार इनके प्रमुख व्यवसाय थे। व्यापार की वस्तुओं को बनाने वाले प्रायः वैश्य और शूद्र ही रहे हैं। कृषि और पशु-पालन के अतिरिक्त वस्त्र, वर्तन, आभूषण, रथ, अस्त्र-शस्त्र, जूते तथा शिल्प आदि के बनाने का व्यवसाय प्राचीन काल में सदा ही वैश्यों तथा शूद्रों के हाथ में रहे हैं। समाज की प्रतिष्ठा तथा जीवन-व्यवहार की वस्तुओं को बनाने का श्रेय इन्हीं को ही मिला था।[2] उपनिषद्-काल से ही शूद्र समाज का पोषक माना गया है।[3]

शूद्रों में प्रायः दो वर्ग थे—शिल्पी वर्ग तथा दास वर्ग।[4] शिल्पी वर्ग अपनी बनाई हुई वस्तुओं के मूल्य से जीविका उपार्जित करता था और दास-वर्ग ब्राह्मण,

---

१. काम्बोज-सुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः।
अर्थशास्त्र भेदोपाद से।

२. वैश्यः शूद्रः तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम्। पराशरस्मृति २.१९
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ॥ शंखस्मृति १.५

३. बृहदारण्यक १.४.१३

४. द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्।
क्रयविक्रयजैर्वापि धनैः कारूद्भवेन वा॥ विष्णु पुराण ३.८.३२
मार्कण्डेय पु० पृष्ठ ११३ के अनुसार शिल्प शूद्रों की जीविका है।

क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा-शुश्रूषा करते हुए उन्हीं के कुटुम्ब का सदस्य बनकर उन से भोजन-वस्त्र आदि पाता था।[1] बहुत से शूद्र वन-प्रदेश में मृगया आदि करते हुए वन्य जीवन बिताते थे। साधारणतः लोगों की धारणा है कि शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकरण में सेवा शब्द का अर्थ सुदूर प्राचीन काल से ही वे शिल्प और कारु-कर्म हैं, जिनका उपयोग समाज के उच्च वर्ग के लोग करते आये हैं। स्वयं मनु ने इस विषय की विशद व्याख्या करते हुए लिखा है कि शूद्र उन सभी कारु-कर्म और शिल्पों को करे, जिनके करने से द्विजातियों की सेवा होती है।[2] शिल्पों को व्यवसाय रूप में अपनाने वाला शूद्र स्वतन्त्र और समृद्ध था।

उपर्युक्त चतुर्वर्ण के व्यवसाय की व्यवस्था साधारणतः सदा प्रचलित रही, पर इसका प्रतिबन्ध कभी कठोर नहीं रहा। अनेक वैश्य और शूद्र राजा हो चुके हैं, तथा वैश्य और शूद्रों की सेनायें भी युद्ध-भूमि में लड़ती थीं। वैश्य और शूद्र अपने-अपने व्यवसाय की शिक्षा भी देते थे। उनके कला-भवनों में कलायें सीखने के लिए दूर-दूर से वैसे ही विद्यार्थी आते थे, जैसे ऋषियों के आश्रमों में दार्शनिक तत्त्वों की खोज में ज्ञान के पिपासु।

शूद्रों की स्थिति

समाज में चारों वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि शूद्रों की ओर से कभी असन्तोष की अभिव्यक्ति होने का कोई कारण नहीं था। असन्तोष समाज में तब होता है, जब किसी प्रकार की आधिभौतिक या आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में जान-बूझ कर कोई रुकावट डाले। जहाँ तक भारतीय समाज का सम्बन्ध रहा—शूद्रों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो मार्ग निर्धारित किया गया, वह उच्च वर्णों के मोक्ष-मार्ग की अपेक्षा सरल और सुसह था। धर्म के क्षेत्र में यदि आध्यात्मिक अभ्युदय ब्राह्मण को दस गुने तप से प्राप्य था तो वह शूद्र को केवल राम-नाम रटने से ही सम्भव था। रही आधिभौतिक प्रगति की बात। प्राचीन भारत में आधिभौतिक ऐश्वर्य के लिए उतनी छीना-झपटी नहीं थी, जितनी आज-

---

१. इस धारणा के लिये आधार गौतम के धर्मसूत्र में मिलता है, जिसके अनुसार शूद्र को अपनी जीविका केवल उच्च वर्ण के लोगों से प्राप्त करनी चाहिए। वह उनके शेष भोजन को खाकर तथा उनके पुराने वस्त्र और जूते पहिन कर अपना जीवन बिताये। गौतम धर्मसूत्र १०.५७-५९ तक।

२. मनु ८.१००

कल। ब्राह्मण ज्ञान-विज्ञान का अधिष्ठाता होते हुए अपनी शक्तियों के द्वारा सर्वविध सम्पत्तियों को अधिकार में करने की क्षमता रखते हुए भी अपरिग्रह का व्रत अपनाता था। क्षत्रिय राजा भी वृद्ध होने के पहले ही वानप्रस्थ के द्वारा अपरिग्रही बन जाते थे। जिस धन से सर्वोच्च वर्ग विमुख हो रहा था, उस ओर शूद्र ही प्रवृत्त होता, यह कैसे सम्भव था ? फिर भी धनी बनने के लिए शूद्र को साधन समुपलब्ध थे। वास्तव में प्राचीन भारत में उत्पादक वर्ग था शूद्र। उत्पादकों के संघ होते थे और जैसा हम औद्योगिक प्रवत्ति के अध्याय में देखेंगे, शूद्र-वर्ग के पास अतुल धनराशि थी। सभी शिल्प के काम तो उन्हीं के हाथ में थे।

उच्च कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान शूद्रों को प्राप्य था।[1] पुराणेतिहास आदि तो शूद्र पढ़ ही सकते थे।[2] बौद्ध दर्शन और धर्म की शिक्षा उन्हें निर्बाध मिल सकती थी। अनेक शूद्र सदा ही उच्च कोटि के ज्ञानी-विज्ञानी हुए हैं। शूद्रों को यन्त्र-विद्या की शिक्षा का सर्वाधिकार प्राप्त था। चित्र-कला, स्थापत्य-कला, मूर्तिकला आदि व्यवसाय-रूप में उनके अतिरिक्त कोई नहीं अपना सकता था।

हम आज जो शूद्रों के वेदादि पढ़ने के निषेध को प्राचीन हिन्दू समाज का अभिशाप समझ बैठे हैं, उसका कारण यह है कि पढ़ने-लिखने से आधिभौतिकता की दृष्टि से मनुष्य का जीवन-स्तर उच्चतर हो जाता है। प्राचीन काल में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। यदि कोई वेदादि पढ़ लेता था तो उससे आशा की जाती थी कि वह अपरिग्रह और त्याग की प्रतिमूर्ति बनेगा। शूद्र इसके लिए तैयार नहीं थे। अतएव उनके वेद पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। जब वैश्यों में भी त्याग और अपरिग्रह की कमी देखी गई तो उनका भी वेद पढ़ना निषिद्ध हुआ। वास्तविक स्थिति तो इस प्रकार थी—

वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।

फिर भी शूद्र और चाण्डालों में से कुछ लोग दार्शनिक और महान् विचारक हुए हैं। कृष्ण ने गीता में ऐसे शूद्रों को परम गति (मोक्ष) का अधिकारी बताया है, जो उनका आश्रय लेते हैं।[3]

---

१. शंकर के अनुसार सभी वर्णों के लोग सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शांकर-भाष्य ३.४.३८

२. ऐसी सुविधा होते हुए भी कितने शूद्र पुराणादि पढ़ते थे—यह जानकर आश्चर्य होगा। बहुत ही कम ऐसे लोग थे।

३. गीता ९.३२ सेतुकेतु जातक ३७७। छान्दोग्य उ० के अनुसार रैक्व नामक शूद्र

विदेशों में प्राचीन काल में क्या पढ़ना-लिखना सबके लिए विहित था—यह जानकर ही भारतीय व्यवस्था की आलोचना करना समीचीन रहेगा। चाइल्ड ने योरप के विषय में लिखा है:—Till quite recently reading and writing have been mysteries revealed only to a minority of initiates in any society. In Christian Europe, despite the recognition of the Bible as a sacred book, literacy was in practice virtually restricted to the church.[१]

इस स्थिति से तुलना करते हुए देखें कि भारतीय समाज में कितनी उदारता ज्ञान को सबके लिए सुलभ बनाने की दिशा में थी। भारत ने तो चाण्डालों को भी ऋषि बन जाने की सुविधा दी है।[२] ब्रह्मपुराण का मत है:—

यस्तु शूद्रः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवाञ्शुचिः।
धर्मज्ञो धर्मनिरतः स धर्मफलमश्नुते।। २२३.२१

शूद्रों और चाण्डालों तक को तीर्थों और मन्दिरों में जाने का निषेध नहीं था। ब्रह्मपुराण के अनुसार विष्णु के मन्दिर में चाण्डाल जाकर उनकी आराधना कर सकते थे। विष्णु की सेवा करने के लिए वे वन्य पुष्पों का संग्रह कर लाते थे। शूद्रों को भी तीन वर्णों के साथ ही महाभारत में यज्ञ का वहन करने वाला कहा गया है।[३]

महान् अध्यात्मवेत्ता था। महाभारत में तुलाधार नामक व्याध के उच्च आत्मज्ञानी होने की विशद चर्चा है।

१. V. *Gordon Childe* : History Pp. 19-20

२. कथासरित्सागर ६.१.१२३-१३१। उत्तराध्ययन १२.१ के अनुसार हरिकेस बल नाम श्वपाक ऋषि होकर सर्वोत्तम गुणों से अलंकृत हुआ।

शंकर के अनसार किसी वर्ग का मनष्य उनके मठों में दीक्षित हो कर प्रवेश पा सकता था। बौद्ध संघ में भी सभी वर्णों के लोग प्रवेश पा कर सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकते थे। राधाकृष्णन्: Indian Philosophy Vol. II, P. 438

सांख्य दर्शन ने शूद्रों को सर्वोच्च दर्शन की प्राप्ति के मार्ग में कोई प्रतिबन्ध नहीं माना है। राधाकृष्णन्—Indian Philosophy Vol. II, p. 319.

शांकर-भाष्य में शंकर ने कहा है—किसी जाति का मनुष्य सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

३. ब्रह्मपुराण अ० २२७ से तथा महाभारत वनप० १३४.१०

क्या शूद्र राजा हो सकते थे ? ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि भारत में २५ % राजा सदैव शूद्र ही रहे हैं।[१] वास्तव में राजा होने के लिए क्षत्रिय होना कभी आवश्यक नहीं रहा।[२] स्कन्द पुराण के अनुसार आनर्त देश के शूद्र राजा की कन्या ने तपस्या की और उसके नाम पर वास्तुपाद तीर्थ का नाम शूद्री तीर्थ पड़ा।

ह्वेनसांग ने भारतीय राजाओं की गणना करते हुए बताया है कि सिन्ध-प्रदेश का राजा शूद्र है।[३] मतिपुर के राजा को ह्वेनसांग ने शूद्र बताया है।[४]

महाभारत और रामायण में अगणित शूद्र राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के दिग्विजय प्रकरणों में इन शूद्र राजाओं की चर्चा विस्तार से मिलती है।[५] रामायण में निषाद-राज प्रसिद्ध है। गुह नामक निषाद-राज कोसल और गंगा के बीच के प्रदेश का शासन करता था।[६] उसके पास सेना, कोश, दुर्ग और जनपद आदि राज्याङ्ग थे।[७]

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन भारत में धर्मान्ध प्रदेश नहीं थे। ऐसे धर्मान्ध प्रदेशों में शूद्रों के विरोध में कुछ रीतियाँ ऐसी भी प्रचलित थीं, जिन्हें अमानवीय ही कहना उचित होगा। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि आज भी आस्ट्रेलिया, अमेरिका और अफ्रीका आदि में आदिवासियों की जो स्थिति है, उससे सौ गुनी अच्छी स्थिति प्राचीन भारत में शूद्रों या चाण्डालों की रही है। वे हमारी सामाजिक व्यवस्था के अभेद्य अंग तो थे ही।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का जो भयावह रूप बीसवीं शती के परतन्त्र भारत में था, वह बहुत कुछ प्राचीन नहीं, अपितु नया रोग कहा जा सकता है। जहाँ तक अस्पृश्यता किसी पापी या दुराचारी को दण्ड देने के विधान रूप में है या स्वास्थ्य या स्वच्छता की रक्षा के लिए है, वह सब का समर्थन प्राप्त करने के योग्य कही जा सकती है।

---

१. हाँ, कुछ राजा शूद्र होते हुए भी अपने को क्षत्रिय कहते थे।

२. ह्वेनसांग के समय में उज्जैन, चित्तौर और महेश्वरपुर के राजा ब्राह्मण थे। वाटर्स भाग २, पृ० २५० तथा २५१

३-४. वाटर्स Vol. II, P. 252, Vol. I P. 322.

५. सभापर्व २४.१५; २७.९-१०, २५

६. अयोध्या का० ८४.१

७. वही ५२.७२

भारत की प्राचीन अस्पृश्यता प्रायशः इस आधार पर थी भी, परन्तु किसी व्यवसाय को अपनाने के कारण किसी जाति से सम्बद्ध होने पर कोई व्यक्ति अस्पृश्य हो जाय—यह विधान कभी माननीय नहीं होना चाहिए था।

अस्पृश्यता का विधान शरीर से स्पर्श करने के अर्थ में प्रायः कम ही रहा है। इसकी सीमा भोजन और पान तक विशेष रूप से व्याप्त थी। भोजन और पान के ग्रहणीय होने के सम्बन्ध में शास्त्रानुसार चाण्डाल, शूद्र और राजा आदि आते थे। इनमें से राजा का भोजन-पान तो आर्थिक प्रलोभन-वश शास्त्र-विरुद्ध होने पर भी ब्राह्मणादि ने ग्रहण कर लिया। शूद्रों के सम्बन्ध में शनैः शनैः अपवाद करते हुए उनके प्रति अस्पृश्यता कम होती गई, जैसा अत्रि ने लिखा है—

> **आलवालं तथा क्षीरं कन्दुकं दधिसक्तवः।**
> **स्नेहपक्वं च तक्रं च शूद्रस्यापि न दुष्यति॥२४८**
> **अन्त्यभाण्डस्थितास्त्वेते निष्क्रान्ताः शुद्धिमाप्नुयुः॥२४९**

उत्सवादि अवसरों पर स्पृष्टास्पृष्ट का विचार नहीं था। अत्रि ने लिखा है—

> **देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।**
> **उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते॥२४०॥**

यज्ञों में चारों वर्णों के लोग—शूद्र भी सहस्रों की संख्या में निमन्त्रित हो कर आते थे।[1]

नारी की स्थिति

सभी देशों में और सदा ही स्त्रियों और पुरुषों की संख्या प्रायः समान होती है। किसी भी राष्ट्र या समाज के अभ्युदय के लिए स्त्री और पुरुष दोनों के कृतित्व का समान ही महत्त्व है। भारत ने सामाजिक अभ्युत्थान में योग देने के लिए नारियों को अवसर प्रदान किया है। वास्तव में यह पुरुष का ही उदार दृष्टिकोण कम से कम भारत में रहा है कि उसने नारी की शक्तियों का विकास और सदुपयोग करने के लिए योजनायें बनाईं और उनको कार्यान्वित किया।[2]

---

१. रामा० बाल० १३.१३—१८

२. कुछ ऐसे समाज होते हैं, जिनमें स्त्रियों की प्रधानता होती है। उस समाज में स्त्रियाँ अधिक काम करती हैं अथवा पुरुष के लिए भी योजनायें बनाती हैं। ऐसे समाज अर्द्ध-सभ्य लोगों के होते हैं और उनकी संख्या नगण्य है।

प्राचीन समाज का अध्ययन करते हुए हम देख चुके हैं कि भारत में अनेक जन-समुदायों का मिश्रण हुआ। प्रत्येक समुदाय में नारी-वर्ग की स्थिति के स्तर भिन्न-भिन्न थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक आर्यों के बीच नारी की स्थिति इतनी ऊँची थी कि आज बीसवीं शती में संसार का अधिक से अधिक सुसंस्कृत राष्ट्र भी नहीं कह सकता कि उसने नारी को उतना ऊँचा स्थान प्रदान किया है। उन्हीं आर्यों के साथ ही भारत के विभिन्न भागों में कहीं दास, कहीं असुर, कहीं राक्षस, कहीं किरात और कहीं नाग जातियाँ थीं। इन वर्गों में स्त्रियों का चरित्र और पद उतना ऊँचा नहीं था। जब आर्यों और उपर्युक्त आर्येतर वर्गों का एक सामाजिक संघटन हुआ और उसको हिन्दू नाम दिया गया तो उस हिन्दू-समाज में आर्यों की नारी-सम्बन्धी धारणाओं के साथ आर्येतरों की धारणायें भी जोड़नी पड़ीं। इन दोनों का प्रतिफल महाभारत या मनुस्मृति आदि में मिलता है। इस युग में स्त्रियाँ कहीं उच्च और कहीं हीन स्थिति में देखी जा सकती हैं।

नारियाँ भी सीता से लेकर राजगणिका और वेश्या तक क्रमशः उदात्त या अधम प्रवृत्तियों में संलग्न रही हैं। भारतीय साहित्य में इन्हीं दो वर्गों की नारियों की चरित-गाथा प्रायशः मिलती है। मध्यम वर्ग की गृहिणियों का उल्लेख साहित्य में क्वचित् ही मिलता है। हमें प्रत्येक वर्ग की नारी का पृथक् विवेचन करके परिणाम निकालने से ही नारी की वास्तविक स्थिति का परिचय प्राप्त करने की सम्भावना हो सकती है।

समाज या कुटुम्ब में नारी की स्थिति का सर्वप्रथम आधार हो सकता है उनके व्यक्तित्व की ऊँचाई। स्त्रियों के अध्ययन-अध्यापन की प्रायः सुविधा रही है। परिणामतः स्त्रियाँ विदुषी बनकर अध्यापिकायें ,या ऋषिकायें भी बनती थीं। उनके द्वारा रचे हुए काव्य उच्च कोटि के रहे हैं।[१] कुछ स्त्रियाँ तो राजनीति-विज्ञान में दक्ष होकर स्वतन्त्र रूप से शासिकायें भी बनी हुई थीं इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक आर्यों के बीच स्त्रियों के अध्ययन-अध्यापन की जो प्रथा थी, वह परवर्ती युग में भारतीय समाज में कुछ कम हो चली थी। सूत्र और स्मृतियों के युग में स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास पर कहीं-कहीं प्रतिबन्ध भी लगे। पर इस

---

१. स्त्रियाँ उच्चकोटि की कवि होती थीं। परवर्ती युग में भी तंजौर की राज-सभा में सैकड़ों स्त्रियाँ उच्च कोटि की लेखिकायें और कवयित्रियाँ थीं। उनमें से मधुरवाणी का नाम सर्वोपरि है। उसका प्रादुर्भाव १७ वीं शती में हुआ। कृष्णमाचार्य—History of Skt. Lit. P, 231.

युग में भी कुछ उच्च व्यक्तित्व वाली नारियाँ हुईं। कश्मीर में रत्नादेवी, सूर्यमती और सुगन्धा या कर्नाटक की रट्टा देवी उच्चकोटि की शासिकायें थीं।

नारी की स्थिति कुटुम्ब में माता, गृहिणी, भगिनी आदि के रूप में सदैव अच्छी रही है।

साधारण स्त्री

स्त्रियों की निन्दा भारतीय साहित्य में असंख्य स्थलों पर मिलती है। यह निन्दा उन सती-साध्वी स्त्रियों के लिए नहीं है, जो माता, गृहिणी या भगिनी रूप में किसी कुटुम्ब को समलंकृत करती थीं। इनको कुल स्त्री कहते थे, जिनके विषय में वात्स्यायन लिखता है:—

> **धर्ममर्थं तथा कामं लभन्ते स्थानमेव च।**
> **निःसपत्नं च भर्तारं नार्यः सद्वृत्तमाश्रिताः॥ काम सू० ४.१.५५**

निन्दनीय वे स्त्रियाँ रही हैं, जो साधु पथ छोड़कर केवल शारीरिक उपभोग की सामग्री बन गईं अथवा कुचक्री लोगों का स्वार्थ-साधन बन कर सज्जनों को सत्पथ से भ्रष्ट कराती चलती थीं।[1] वे साधारण स्त्रियाँ हैं।

जिस भारत ने मोक्ष और संन्यास को सर्वोच्च उद्देश्य माना है, उस में स्त्रियों की निन्दा तो होनी ही चाहिए, जिससे गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास आदि की परम्परा चलती।[2] इसके साथ ही एक अन्य कारण था नारी-रूप के द्वारा ठगा जाना। महाभारत के अनुसार नारायण ने मोहिनी-माया धारण करके अद्भुत स्त्री-रूप बनाकर दानवों को ठगा था।[3] अप्सराओं के द्वारा तपस्वियों की सारी व्रतचर्या का विनशन सुविदित ही है। मेनका और

---

१. पक्वान्नमिव राजेन्द्र सर्वसाधारणाः स्त्रियः।
तस्मात्तासु न रज्येत नाश्वसेत् न विश्वसेत्॥

वल्लभदेव—सुभाषितावली पृ० ४६७

महाभारत के विराटपर्व ८.३० के अनुसार उन स्त्रियों की उपाधि प्राकृत है, जो सभी पुरुषों के लिए स्पृहणीय हो सकती हैं।

२. मध्ययुग के आदर्श महाकवि तुलसीदास ने 'शूद्र, गँवार, ढोल, पशु, नारी' इत्यादि भी उपर्युक्त दृष्टि से ही लिखा। वे सीता, कौशल्या, मन्दोदरी आदि के परम प्रशंसक थे।

३. आदिपर्व ९-१७ अध्याय

विश्वामित्र का वृत्तान्त अथवा नारदमोह का प्रकरण इस दिशा में व्यापक महत्त्व रखते हैं।

गौतम बुद्ध चाहते हैं कि नन्द भिक्षुता से विमुख होकर पुनः अपनी सुन्दरी भार्या की संगति के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करे। ऐसी स्थिति में महाकवि अश्वघोष यदि गौतम बुद्ध के माध्यम से नारी की निन्दा में अनेक सर्ग का प्रवचन न करा देते तभी आश्चर्य था।[१] प्रश्न एक नन्द और सुन्दरी का नहीं था, पूरे समाज का था। ये दोनों तो प्रतीक मात्र हैं। वात्स्यायन ने कहा है[२]—समाज में चारित्रिक भ्रंश के लिए ही ये विचित्र नारियाँ होती हैं, जिनके नाम हैं—भिक्षुकी, श्रमणा, क्षपणा, कुलटा, कुहका, इक्षणिका। भली स्त्रियों को इनसे बचना चाहिए। इन स्त्रियों को देखते हुए और क्या कहा जाता ?

स्त्रियों का उदात्त कृतित्व

स्त्रियों के कृतित्व के दो पक्ष हैं—पौराणिक और ऐतिहासिक। पौराणिक पक्ष को लेते हुए हमें वैदिक काल से ही देव और मानव कोटि की श्रेष्ठ महिलाओं का दर्शन होता है।[३] माता का अद्वितीय गौरव पृथिवी को दिया गया और दोनों को देवता मानकर उनकी पूजा करने का आदेश देने वाली वैदिक संस्कृति रही है। उस संस्कृति के उन्नायकों में सीता, द्रौपदी, गान्धारी आदि रानियों का चरित आदर्श रहा है। इतिहास-प्रसिद्ध राज्यश्री का चरित अतिशय उदात्त है।

भारतीय धारणा के अनुसार भौतिक सुख की सर्वोच्च सीमा है प्रिय स्त्री का साहचर्य। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राज्ञ आत्मा के साथ तादात्म्य होने पर कितना और किस प्रकार का सुख मिल सकता है—इसकी कल्पना कराने के लिए प्रिय स्त्री के साहचर्य-सुख की उपमा दी गई है।[४]

जैमिनीय अश्वमेध के अनुसार प्रमीला राष्ट्र का शासन करती थी। उसने अर्जुन से युद्ध किया। उसके पराजित न होने पर अर्जुन ने उससे सन्धि की और विवाह कर लिया।[५] सिन्धु के राजा दाहर की पत्नी का आदर्श परम उज्ज्वल है।

---

१. सौन्दरनन्द ८.१५-५५

२. कामसूत्र ४.१९

३. लोपामुद्रा, अपाला, रोमशा-सूर्या क्रमशः १.१७९; १०.९१ तथा १०.८५ ऋग्वेद के सूक्तों की रचने वाली पण्डितायें हैं। घोषा ने १०.३९, ४० सूक्तों की रचना की है।

४. बृहदारण्यक उ० ४.३.२१

५. प्राचीन चरित्र-कोश से

अरब आक्रमणकारियों से युद्ध करते हुए दाहर मारा गया। तब रानी उनसे युद्ध करने लगी। अन्त में जब भोजन समाप्त हो गया तो अन्य स्त्रियों के साथ उसने चिता-मरण स्वीकार किया।

कल्हण ने सूर्यमती रानी के विषय में लिखा है—देश में निरुपद्रव व्यवस्था संचालन करने में उस देवी का अद्वितीय श्रेय था। वह स्वयं ही राजकार्योद्यत रहती थी। और भी

भर्तुर्नारीविधेयत्वं तस्या भर्तृजयस्तथा।
निष्कलंकेन शीलेन नान्योन्यं गर्ह्यतामगात्॥७.२००

कल्हण ने कर्णाट प्रदेश की रानी रट्टा के विषय में कहा है—

तस्मिन् प्रसंगे रट्टाख्या कर्णाटी चटुलेक्षणा
अयासीन्नृपतिर्भूत्वा पृथुश्रीर्दक्षिणापथम्॥
विन्ध्याद्रिमार्गाः पर्याप्ता निष्पर्यन्तप्रभावया
दुर्गयेव तया देव्या कृता निहतकण्टकाः॥४.१५२-३

उस रट्टा देवी ने राज्य करते हुए विन्ध्य पर्वत के मार्गों को दुर्गा की भाँति निष्कण्टक बना दिया। कश्मीर की प्रजा ने सुगन्धा को शासक बनाया था।

कश्मीर देश की ही रड्डा देवी के विषय में कल्हण का कहना है—

सुबह्वीभिः प्रतिष्ठाभिर्जीर्णोद्धारश्च धीरया।
तया चित्रं चतुरया पंगुर्दिद्दा विलंघिता॥
अद्यापि विक्षरत्क्षीरार्णवकान्तिच्छटाच्छलात्।
यो भातीव सुधासूतिसितश्वेताश्मनिर्गतः॥
उपमन्योरुवन्यायां दारिद्र्योपद्रवापहः।
रुद्रो रुद्रेश्वरो नाम्ना श्रीमान्कश्मीरभूषणम्॥
जगत्सौन्दर्यसारं स स्वर्णामलसारकः।
शान्तावसादप्रासादोद्धारश्च विहितस्तया॥

राजत० ८.३३८८-९१

उपर्युक्त विवरण के अनुसार मन्दिरों का निर्माण, उनका जीर्णोद्धार आदि भी रानियों के कृतित्व को सार्थक बनाता है।

कश्मीर की रानी रत्ना देवी के समान देवियों से भारत-भूमि धन्य होकर रही। कल्हण उसके सम्बन्ध में लिखता है—

नीत्वा प्रतिष्ठां वैकुण्ठमठादिस्वविहारभूः।
रत्नादेव्या दृढं चक्रे स्वार्थग्रथनसुस्थिरा ॥८.२४३३
गोकुलानां विधातारो गोकुले विहिते तया
गणिताः शूरवर्माद्याः सतृणाभ्यवहारिणः ॥८.२४३६
गवामव्याहतस्वैरसंचार- चरकाञ्चिते।
तत्र वैतस्ततोयाढ्ये यदपोढामयं वपुः ॥८.२४३७
मुकुन्दस्तत्र साश्चर्यसौन्दर्यौदार्यमन्दिरम्
अश्वा गोवर्धनधरः सिद्धो ना विश्वकर्मणः ॥८.२४३८
एवं सर्वाङ्गमामुक्तालंकृतेरथ स क्षितेः।
विशेषकाभं भूभर्तृवृषा स्वमकरोन्मठम् ॥८.२४४२

(रत्ना देवी ने अपने निवास के पास अनेक भवन और मठ बनवाये। उसके द्वारा बनवाये हुए गोकुलों में गौओं के स्वतन्त्र विचरण, चरने और जल पीने की सुव्यवस्था थी। उसके द्वारा निर्मित मुकुन्द का गोवर्धन-मन्दिर विश्वकर्मा के कृतित्व को जीत रहा था। कश्मीर-भूमि को अलंकृत करके पृथिवी के अलंकरण-स्वरूप मठ उसने अपने नाम पर बनवाये।)

महमूद गजनवी ने जब भारत पर आक्रमण किया था तो उससे समाज और राष्ट्र की रक्षा करने के लिए अपेक्षित धन का कोश बनाने के लिए स्त्रियों ने अपने शरीर से अलंकार उतार कर दिये थे।[१]

स्त्रियों के उपर्युक्त उदात्त पक्ष को देखते हुए ही मनीषियों ने नियम बनाया कि केवल अपनी ही नहीं, किसी अन्य की भी स्त्री हो तो उसकी रक्षा होनी ही चाहिए—

यथात्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता ॥
रामा० अरण्य० ५०.८

कुटुम्ब में नारी

कुटुम्ब में नारी प्रधानतः पत्नी रूप में होती थी। कालान्तर में वह माता बन जाती थी और उसी कुटुम्ब में उसकी पुत्रवधुयें आ जाती थीं। नारी की स्थिति की दृष्टि से कुटुम्ब में पत्नी का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

---

१. *Majumdar*: Ancient India P, 326

वैदिक काल में जो विवाह-पद्धति विकसित हुई, उसमें नववधू के लिए कामना की गई :—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ऋ० १०.८५.४६

इस शुभाशंसा से प्रतीत होता है कि नववधू का पति के कुटुम्ब में अतिशय आदर होता होगा। 'वह श्वशुर, श्वश्रू, ननद और देवर के लिए सम्राज्ञी होती थी। वास्तव में आर्य संस्कृति में सहधर्मचारिणी पत्नी का जो स्थान है, उसके अनुरूप ही उपर्यूक्त उक्ति है, जिसमें सम्भवतः अत्युक्ति है। सप्तपदी में भी, जो कामना की जाती थी, उसमें पत्नी के माध्यम से भोजन, बल, धन-समृद्धि, सुख और मैत्री भावना आदि की कुटुम्ब में सम्भावना होती थी।

पति और पत्नी का सम्बन्ध वही था, जो शिव के अर्धनारीश्वर रूप में देखा जा सकता है।[१] पति पत्नी से कहता है—सामवेद मैं हूँ, तुम ऋग्वेद हो। हम दोनों परस्पर प्रिय हों, एक दूसरे के साथ प्रभान्वित हों, हम लोगों के मन परस्पर औदार्य बरतें और हम दोनों साथ सौ वर्ष जीयें। तुम तो पत्थर की भाँति दृढ़ बनो।

प्राचीन गृहस्थ का जीवन चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए था। उसका उत्तर-दायित्व अपने प्रति, कुटुम्ब के प्रति और समाज के प्रति था। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उसकी पत्नी सर्वोच्च सहायिका हो सकती थी।[२] उस पत्नी के बिना यह सब अशक्य होता। मनु ने सम्भवतः किसी नये विवाहित दम्पती को ही उपदेश दिया है—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥९.७

(अपनी सन्तान, चरित्र, कुल, अपनी और अपने धर्म की रक्षा कर सकते हो, अपनी पत्नी की सुरक्षा करते हुए।)

---

१. शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नी पति का आधा है। जब तक पति विवाहित नहीं होता और पुत्र नहीं उत्पन्न करता, वह अपूर्ण है। ५.२.१.१०

२. परवर्तीयुगीन धारणा है कि सन्तान के बिना पुरुष को परलोक में सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती। इस प्रकार स्त्री-पुरुष का दाम्पत्य जीवन आवश्यक माना गया। मनु० ९.१३७, १३८

दम्पती को एकमन वाला होना ही चाहिए।[1] वास्तव में दम्पती एक साथ ही एकमन होकर यज्ञादि कार्य में संलग्न होते थे। ऋग्वेद के अनुसार 'दम्पती को एकमन से यज्ञ का सोम बनाना चाहिए। ऐसे लोग समृद्ध होते हैं।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में जो नारी पतिरूपी सम्राट् की सम्राज्ञी थी, वही परवर्ती युग में पतिव्रता बनकर पति का अनुवर्तन करने वाली दासी के रूप में भी कुछ शास्त्रकारों के अनुसार होनी चाहिए थी। वास्तव में पत्नी की ये दो स्थितियाँ—सम्राज्ञी और दासी सदैव रही हैं और रहेंगी। वैदिक काल में वह सम्राज्ञी अधिक थी और दासी कम, पर परवर्ती युग में वह दासी ही अधिक रही और सम्राज्ञी कम। मनु ने कहा है:—

> विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
> उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः।।५.१५४

(पति शील-रहित, कामी, या गुणहीन हो, तब भी साध्वी स्त्री उसे देवता के समान मान कर पूजे।)

यह दासी का रूप है।[3] उसी मनु का कहना है कि पति-पत्नी को एक-दूसरे के प्रति सात्त्विक रहना चाहिये। यह है वैदिक समता का व्यवहार।[4] जिस महाभारत ने कहा है—

> पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।। अनु० १४६.५५

वही दुष्यन्त से पत्नी शकुन्तला की पूजा का भी वर्णन करता है—

> वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत।। आदिपर्व ६९.४३

महाभारत में दाम्पत्य-सम्बन्ध का सार इस प्रकार वर्णित है—

> सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
> सा भार्या या पति-प्राणा सा भार्या या पतिव्रता।।

---

१. ऋग्वेद ५.३.२

२. वही ८.३१.५,६

३. इस रूप के लिए देखिये याज्ञवल्क्य १.१७७, रामा० अयोध्या० २४.२६-२७

४. अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः।। ९.१०१

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः॥
आदिपर्व ६८.३९-४१

(भार्या घर के काम में दक्ष, सन्तति वाली, पतिप्राणा और पतिव्रता होती है। भार्या पति का आधा है। वह श्रेष्ठतम सखा है, धर्म, अर्थ और काम का मूल है और मरने वाले पति का मित्र है।)

दासी और सम्राज्ञी का जैसा समन्वय इन श्लोकों में है, वैसा अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही कहा जा सकता है। कालिदास ने दाम्पत्य के इसी सौरभ का निदर्शन इस प्रकार किया है—

गृहिणी सचिवः सखी तथा प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। रघु० ८ ६७

भागवत में स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री पति को विष्णु के रूप में माने तो वह श्री के समान प्रमुदित रहेगी। यह समता और सम्राज्ञी का पद नारी के लिए है। इस पुराण के अनुसार पत्नी के साथ 'नर्म' के द्वारा समय अच्छा कटता है—

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरुभामिनि॥१०.६०-३१

यदि पत्नी 'नर्म' की संगिनी थी तो वह 'समता' के पद पर प्रतिष्ठित मानी जा सकती है।

भारतीय कौटुम्बिक जीवन में दाम्पत्य का उच्च आदर्श पार्वती-शिव, सावित्री-सत्यवान्, दमयन्ती-नल, सीता-राम आदि की चरितगाथाओं में मिलता है।

पत्नी का गृहकार्य

हम लिख चुके हैं कि धार्मिक कामों में पति-पत्नी साथ रह कर यज्ञादि सम्पन्न करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कार्य-क्षेत्रों में पति और पत्नी पृथक् ही थे और अपने-अपने क्षेत्र में सर्वेसर्वा थे। महाभारत में द्रौपदी के द्वारा उसके गृह-कार्यों का उल्लेख इस प्रकार है—बाहर से आये हुए पति का अभिनन्दन, सबको समय पर भोजन देना, पति का कोश-रक्षण और सास की सेवा करना।[1] मनु ने स्त्रियों का कार्य बताया है—

---

१. वनपर्व २२२.१७-२८

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाहस्य वेक्षणे ।।९.११

वात्स्यायन ने बताया है कि पत्नी को घी निकालना, सूत कातना, कुटाई-पिसाई का निरीक्षण, नौकरों का हिसाब रखना, घर के पशु-पक्षियों की देख-रेख, गृह-वाटिका लगाना, शाक-भाजी पैदा करना आदि काम करने ही चाहिए।[1] ऐसा करती हुई पत्नी वन्दनीया है।[2]

नारी सम्बन्धी मध्यमा प्रतिपदा

प्राचीन भारत में उन मनीषियों की कमी नहीं रही, जिन्होंने स्त्रियों का समादर किया और कहा—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। मनु० ३.५६

महाभारत के अनुसार स्त्रियों को सान्त्वना दो और उनको सुरक्षित रखो। उनमें श्रद्धा न करो और उनसे गोपनीय बात न कहो।[3] यह था स्त्रियों की प्रकृति समझ कर उनके प्रति मध्यमा प्रतिपदा का व्यवहार। महाभारत ने संस्कृति-रक्षा का श्रेय स्त्री-वर्ग को देते हुए कहा है—

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः।।वन० ७२.२५

विष्णु पुराण में स्त्रियों के सम्बन्ध में मध्यमा प्रतिपदा का समर्थन करते हुए कहा गया है[4]—

योषितो नावमन्येत न चासां विश्वसेद्‌बुधः।
न चैवेर्ष्या भवेत्तासु न धिक्कुर्यात् कदाचन।।३.१२३०

कल्हण का मध्यम मार्ग है—
क्वचन नियमान्निन्द्या वन्द्या न वा सुधियां स्त्रियः।। ७.८५६

---

१. कामसूत्र ४.१.३३ तथा ४.१.६-७

२. मृच्छकटिक के चतुर्थ अंक में मदनिका गणिका की दासी भी पत्नी बनकर वन्दनीया हो गई।

३. सभापर्व ५.७३

४. चरक सूत्रस्थान ८.२५ में भी यह श्लोक इसी रूप में मिलता है। चरक

(नियम से स्त्रियों की निन्दा ही या प्रशंसा ही करना ठीक नहीं।)

कल्हण ने कहा है कि यदि कय्या की निन्दा करो तो सहजा की प्रशंसा भी करो। सहजा के सम्बन्ध में कल्हण की उक्ति है कि अकेले उसी के उदात्त चरित से आज भी स्त्रियों का सिर ऊँचा रहना चाहिए।

स्त्री का पद बहुत कुछ इस बात पर अवलम्बित है कि वह किसके पास है और किस वातावरण में पली है। यदि वह किसी कामी के पास है तो उसका मूल्य कामी की काम-वासना को बुझाने के समय तक ही है, अन्यथा सद्गृहस्थ के धर में स्त्री सदैव सुप्रतिष्ठित रही।

सोमदेव ने स्त्रियों को गुणवती माना है और कहा है कि उनमें से कई तो भूमण्डल का अलंकार बन जाती हैं—

तास्तु काश्चन सद्वंशजाता मुक्ता इवाङ्गनाः॥
याः सुवृत्ताच्छहृदया यान्ति भूषणतां भवि॥

कथासरित्सागर ४.१.९८

पर्दा-प्रथा

भारतीय नारियों के लिए प्राचीनकाल में आवश्यकतानुसार या परिस्थितिवश ही पर्दा रहता था। वास्तव में पर्दा स्त्रियों की परतन्त्रता का द्योतक है। पर यदि स्त्रियों के पर्दे में न रहने का भयावह प्रभाव हो, कोई कामुक उनका अपहरण करे अथवा उनको प्राप्त करने के लिए युद्ध करे, उनके पतियों को विष देकर मार डाले—यह केवल अपवाद रूप से न हो, प्रत्येक गाँव में दो-चार ऐसे निरंकुश लोग अशान्ति के कारण बन गये हों तो ऐसी स्थिति में सुसंस्कृत मनुष्य अपनी बहू-बेटियों को पर्दे में न रखते तो क्या करते? उदाहरण के लिए कश्मीर के राजा हर्ष का चरित देखिये। उसने कर्णाटक की रानी का चित्र मात्र देख लिया तो उसको प्राप्त करने के लिए सर्वविध उपद्रव कर डाला।[1]

पर्दा सदा नहीं रहा।[2] मेगस्थनीज का रानी के विषय में कहना है—

का कहना है—स्त्रियों में ही प्रीति की पराकाष्ठा है। उनसे सन्तान सम्भव है। उन्हीं से धर्मार्थ है। उन्हीं में लक्ष्मी है। उन्हीं में त्रिलोक प्रतिष्ठित है। चिकित्सित स्थान २.६

१. राजतरंगिणी ६.१११९–११५०

२. स्त्री और पुरुषों के सामूहिक उत्सवों के अनेक उल्लेख जातकों में मिलते हैं। स्वयंवर की प्रथा ही सिद्ध करती है कि स्त्रियाँ बिना पर्दे के भी समाज में आ-जा सकती थीं।

She had no Purdah. She could move as freely as any male in the royal entourage. She could ride on an elephant or a horse and go for a hunt with the king.[१]

स्त्रियों का पर्दा सार्वत्रिक नहीं था। भास के प्रतिमा नाटक के प्रथम अंक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि धनी वर्गों की स्त्रियाँ भी यज्ञ, विवाह या वन में अथवा विपत्ति पड़ने पर पर्दा नहीं रखती थीं।

पौराणिक हिन्दू समाज की विवाह पद्धति में ब्राह्म, दैव, आर्ष और मानवकोटि की कन्या-प्राप्ति की योजनायें तो निष्कलुष थीं, पर ज्यों हीं हम गान्धर्व, राक्षस, आसुर तथा पैशाच विवाहों की ओर दृष्टिपात करते हैं, हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामाजिक स्थिति उस प्राचीन युग में कभी-कभी या किन्हीं स्थानों पर ऐसी नहीं रही कि कन्याओं को स्वच्छन्द रूप से विचरण करने दिया जाता।[२] इन विवाहों की मूल भित्ति थी, कन्या को स्वच्छन्द रूप से बाहर जाने देना और नायिका बनने का अवसर प्रदान करना। कामसूत्र में इन विवाहों का जो व्यावहारिक स्वरूप है, उससे पर्दे की महती उपयोगिता निर्विवाद है। कामसूत्र तो कन्या, पुनर्भू और वेश्या तीनों को नायिका मानता है। पुनर्भू को नायिका मानना विवाहित स्त्रियों को भी पर्दे में बन्द करने के लिए था।

व्यावहारिक अवमानना

सम्भवतः स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा का स्तर-हीन होने के कारण उन्हें कभी-कभी अनुचित व्यवहार का पात्र होना पड़ा है। स्त्रियों का दान रूप में दिया जाना उसी प्रवृत्ति का प्रथम परिचायक है। कन्या का पिता उसे वर को दान-रूप में देता है। यह तो सांस्कृतिक स्तर पर उचित कहा जाता है, पर राजाओं और धनिकों के इधर-उधर से प्राप्त की हुई कन्याओं को धर्म-अर्जन

---

१. Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian p. 71

२. गान्धर्व विवाह वर और कन्या का विवाह के सम्बन्ध में आपसी निर्णय था, जिसमें प्रायः माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह होता था। राक्षस विवाह में कन्या को वर-पक्ष युद्ध और मार-काट करके ही प्राप्त करता था। पिशाच-विवाह में कन्या चुरा ली जाती थी। आसुर विवाह में कन्या का क्रय धनी लोग करते थे।

करने के लिए दान या दक्षिणा रूप में देने-लेने की व्यवस्था मानवोचित नहीं है।[1]

राजाओं और समृद्धिशाली लोगों का अनेक और कभी-कभी तो सहस्रों स्त्रियों को पत्नी और उपपत्नी रूप में रखना साधारणतः गर्हणीय प्रवृत्ति रही है। इसे पुरुष-वर्ग का अत्याचार ही कहा जा सकता है। राजा दशरथ के पास भी तीन पत्नियों के अतिरिक्त ३५० उपपत्नियाँ थीं।[2] विलासिता और ऐश्वर्य की महिमा को सर्वातिशायी बनाने के लिए हाथी, घोड़े, रथ आदि के साथ ही कुमारियों का स्वामित्व भी अधिकाधिक होना आवश्यक समझा गया।[3] दास और दासियों की संस्था महाभारत-युग में विशेष प्रचलित थी।[4]

स्त्रियों को कुछ धार्मिक क्षेत्रों में शूद्रों के समकक्ष बना देना, उनके संस्कार आदि को मन्त्रहीन विधि से सम्पन्न करना आदि परवर्ती मान्यतायें विडम्बना-मात्र ही कही जा सकती हैं। स्त्रियों की शिक्षा के प्रति उपेक्षा भाव तो गर्ह्य है।

स्त्रियों की लाचारी का लाभ उठाते हुए अनेक स्थानों पर साहित्य में उल्लेख मिलते हैं कि हे पत्नि, अब तू दूसरा पति ढूंढ़ ले। रामायण में रावण-विजय के पश्चात् सीता के प्रति राम की यह उक्ति कितनी खेदजनक लगती है।[5]

स्त्रियों का विवाह कम अवस्था में होना चाहिए अथवा 'स्त्री स्वातन्त्र्य के योग्य है ही नहीं' इस प्रकार की कुछ मान्यतायें स्पष्ट व्यक्त करती हैं कि समाज की स्थिति कुछ ऐसी हो चली थी कि ऐसे नियम बनाये गये। फिर भी मनीषियों को ऐसे नियम बनाने से पहले उस समाज को सुधारने का प्रयास करना चाहिए था।

---

१. ऐसी स्त्रियाँ प्रायः युद्धविजित या अपहृत या क्रीत होती होंगी। रामा० सुन्दर का० ९.६ के अनुसार रावण ऐसी कन्याओं से आवृत था। कन्याओं के दान के लिए देखिये दीघनिकाय २.४ में महासुदस्सनसुत्त के अनुसार राजा सुदर्शन की दानशाला में अन्य वस्तुओं के साथ स्त्री भी दान में दी जाती थी।

महाभारत सभा ३०.५१ राजसूय के अवसर पर युधिष्ठिर ने १ लाख कन्यायें ब्राह्मणों को दान में दीं। शान्तिपर्व २९.५८, वन प० २९४.३

२. अयोध्या ३९.३६। कश्मीर के राजा हर्ष के पास ३६० रानियाँ थीं। राजत० ७.९६३

३. चुल्लवग्ग ६.४.३

४. युधिष्ठिर के पास एक लाख दास और कई लाख दासियाँ थीं। सभा-पर्व ५४.१२-१७

५. दूसरा उदाहरण देखिये दीघनिकाय के महागोविन्द सुत्त में।

उपर्युक्त विवेचन में स्त्रियों के सम्बन्ध में प्राचीन भारत की मान्यताओं का निदर्शन करते हुए मेरा यही मन्तव्य है कि हमारे समाज में उस समय कुछ दुर्बलतायें थीं, पर उस समाज की निन्दा करना अनुचित है। यदि निन्दा ही करने का विचार हो तो उस युग के संसार के अन्य देशों की स्त्रियों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करके ही ऐसा करना चाहिए। पहले ही लिखा जा चुका है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति संसार के अन्य देशों से बहुत अच्छी थी।

स्वतन्त्र जीविका

भारत के कुछ मनीषियों ने स्त्रियों की स्वतन्त्र जीविका की कल्पना की है। विदुषी स्त्रियाँ प्राचार्या आदि बनकर समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकती थीं। वात्स्यायन ने लिखा है कि विद्या प्राप्त करके स्त्रियाँ विषम परिस्थितियों में सुख-पूर्वक रह सकती हैं—

तथा पतिवियोगे च व्यसनं दारुणं गता।
देशान्तरेऽपि विद्याभिः सा सुखेनैव जीवति॥

कामसूत्र १.३.२३

गणिकाओं का समाज में यद्यपि बहुत उच्च स्थान नहीं था, पर उनकी स्वतन्त्र जीविका तो थी ही। उनके सम्बन्ध में वात्स्यायन कहता है कि वे शील, रूप और गुण से सम्पन्न होती हैं और ६४ कलाओं में निपुण होती हैं। राजा और गुणवान् उनकी पूजा करते हैं और प्रशंसा करते हैं।[1] इन्हीं गणिकाओं में से जनपद-कल्याणी के होने की सम्भावना है। वह सुन्दरतम रमणी चारों वर्णों में से किसी एक से हो सकती थी—राष्ट्र में सबसे सुन्दर स्त्री।[2]

सत्रहवीं शताब्दी में तंजौर की राजसभा में उच्चकोटि की सैकड़ों लेखिकायें और कवियित्रियाँ थीं। उनमें से मधुरवाणी की प्रतिभा सर्वोच्च थी।

विधवा

भारतीय समाज में विधवा-प्रथा से प्राचीन काल में असीम हानि हुई है। विधवाओं की संख्या उस स्थिति में बढ़ी, जब स्त्रियों का पति की मृत्यु के पश्चात् विवाह होना बन्द हुआ और उनका पति की चिता पर जल जाना भी न सम्भव हो

---

१. कामसूत्र १.३.२०-२२

२. दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त १.९

सका। वास्तव में कुछ विधवायें वृद्धा स्वतन्त्र रूप से तप करके स्वर्ग प्राप्त करने के योग्य बनती थीं और कुछ बड़ी योग्यता से अपने कुटुम्ब का अभ्युदय कर सकीं, किन्तु उन विधवाओं से तो समाज की हानि ही हुई, जो वारवनिता बन कर अपने उच्च कुल को कलंकित करती रहीं। होता क्या था? विधवा निष्पुत्र हुई तो किसी कारण दुश्चरित्रता का आरोप लग ही जाता था और वह घर से बाहर निकाल दी जाती थी। अन्त में वह वेश्या बन कर जीवन-यापन करती थी। पद्मपुराण में जीवन्ती और क्षेमकरी नामक दो वेश्याओं का विस्तृत वर्णन मिलता है, जो इसी कोटि की थीं।[1]

प्राचीन युग में वैदिक युग के पश्चात् साधारणतः सभी उच्च कुल की मनस्विनी स्त्रियाँ सती होती थीं। अपवादात्मक परिस्थितियों में कुछ विधवायें सती नहीं होती थीं—जैसे यदि किसी को अपने छोटे शिशुओं का पालन करना है तो उसे जीवित रहना ही पड़ता था। कुछ स्त्रियाँ मृत पति के प्रति किये हुए अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए सती नहीं होती थीं।[2]

सती-प्रथा

वैदिक काल में विधवा के पुनर्विवाह की रीति थी। फिर भी पति से भावुक स्त्रियों का प्रेम कुछ इतना गहरा होता है कि आज भी बहुत सी स्त्रियाँ पति की मृत्यु के पश्चात् किसी न किसी उपाय से मर ही जाती हैं।[3] महाभारत में मृत पति के अनुवर्तन का माहात्म्य इन शब्दों में मिलता है—

याऽपि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता॥

शान्तिप० १४५.१५

कुछ स्त्रियाँ सती नहीं होना चाहती थीं और उन्हें बलात् चिता में जला दिया जाता था, किन्तु अधिक संख्या ऐसी सतियों की थी, जो स्वेच्छा से अनुमरण स्वीकार

---

१. क्रिया-योगसारखण्ड से

२. राजत० ४.९८

३. केवल पति ही क्यों, राजाओं या महापुरुषों के मरने पर उनके मन्त्री, शिष्यों या सहवासियों के मरने के अनेक उल्लेख प्राचीन या आधुनिक साहित्य में मिलते हैं। प्रेम का आकर्षण अनिर्वचनीय ही है। लता ने जिस वृक्ष का आश्रय लिया, यदि वह वृक्ष गिर पड़ा तो लता भी स्वभावतः विनष्ट हो जाती है। सती प्रथा का आरम्भ स्त्रियों ने किया था, पुरुषों की थोपी हुई यह प्रथा नहीं है।

करती थीं। कुछ पुरुष भी अपनी प्रियतमा पत्नी की मृत्यु के पश्चात् मर जाते थे।[1]

सती होना कभी अनिवार्य नहीं था। दशरथ की स्त्रियाँ सती नहीं हुईं। प्रायः उच्च वर्गों तक ही सती-प्रथा सीमित रही। इसके निर्मूलन की योजना अभिनन्दनीय रही।

पतित स्त्रियों का उद्धार

समाज में सदा सब तरह की स्त्रियाँ रही हैं और रहेंगी। उनको लौकिक और पारलौकिक जीवन के प्रति निराश करना हिन्दू-धर्मशास्त्रकारों का उद्देश्य नहीं रहा। अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त, उपवास, व्रत आदि किये जा सकते थे। वेश्याओं तक के लिए व्रतोपवास, दान, इष्टापूर्त आदि का विधान करके उनके लिए एक सात्त्विक जीवन की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई। यह तो कहा ही गया कि वेश्या होना बुरा है और वेश्यागामी होना बुरा है—किन्तु ऐसा होने पर भी, उनके लिए आशा की किरण का प्रस्ताव करने वाले धर्मशास्त्रकार महान् थे।

यदि स्त्री दुश्चरित्र भी हो जाय तो उसे घर से बाहर नहीं निकाला जा सकता। उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त से हो जानी चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य ने साधारण स्थितियों में पुंश्चली स्त्रियों को अपना लेने की योजना प्रस्तुत की है।[3] यदि स्त्री का पवित्रीकरण सम्भव न हो, तब भी उसे समाज से बाहर न निकाल कर उसे अपने घर के किसी कोने में रखकर उसका भरण-पोषण करते रहना चाहिए।[4]

विवाह

भारतीय समाज में बहुविध वैवाहिक रीतियाँ जैसी आज हैं; वैसी ही प्राचीन काल में भी थीं। ब्राह्मण-स्नातकों को विवाह के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विधियों से कन्यायें साधारणतः प्राप्त हो जाती थीं, किन्तु अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी, जिनके विवाह उपर्युक्त विधियों से नहीं होते थे। बहुत से ब्राह्मणों और ऋषियों को याचना करने पर कन्यायें दान-रूप में प्राप्त हो जाती थीं। ऐसी कन्यायें

---

१. मदालसाचम्पू ४.१११
२. गौतम २२.३५
३. याज्ञ० १.७०, ७२
४. मनु ११.६०

ब्राह्मणेतर भी होती थीं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग की वैवाहिक विधियाँ उपर्युक्त रीतियों से भिन्न थीं। इनके विवाह दो प्रकार के थे—शालीन और व्यावसायिक। शालीन विवाह में कन्या और वर के माता-पिता की अनुमति सर्वप्रथम होती थी। अभिभावकों के निर्णय के अभाव में कन्या और वर स्वयं विवाहित हो जाने का निर्णय कर सकते थे।

व्यावसायिक विवाह में अपनी योग्यता की उत्कृष्टता से वधू प्राप्त की जाती थी। क्षत्रिय क्षत्र-बल, वैश्य धन-बल और शूद्र शिल्प-कौशल की उत्कृष्टता प्रकट करते थे। क्षत्रियों के लिए स्वयंवर ऐसा ही अवसर प्रायशः प्रस्तुत करता था। विरले ही स्वयंवरों में कोरे ऐश्वर्य या गुणों के आख्यान से जयमाला प्राप्त हो सकती थी। ऐसा होने पर भी विवाह के पहले या पीछे युद्ध का होना साधारणतः अवश्यम्भावी था।

इस प्रकार के विवाहों से विवाहित व्यक्ति का निराश व्यक्तियों से वैर की गाँठ बंध जाने के उल्लेख प्रायशः मिलते हैं। क्षत्रियों के लिए साधारण बात थी कि वे युद्ध, करते हुए अनेक परिचित राजाओं की कन्यायें वधू-रूप में प्राप्त करते थे।

गान्धर्व विवाह राजाओं से लेकर दीन-हीन लोगों तक में सुप्रचलित थे। राजाओं के लिए गान्धर्व विधि से अनेकानेक कन्यायें प्राप्त कर लेना उनके मनोरंजन का प्रधान साधन था। किसी भी ब्राह्मणेतर सुन्दर कन्या को अन्तःपुर में लाने का राजाओं का प्रयास साधारण नागरिकों के लिए भी आदर्श बना। ऐसी कन्यायें साधारणतः सत्कुल की नहीं होती थीं। उनके लिए मनु ने नियम बनाया—

स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि

अच्छे कुलों में अभिजात वर को शास्त्र-विहित विधि से कन्या देनेकी रीति थी। गान्धर्व विवाह पहले गन्धर्व-जाति के लोगों में विशेष प्रचलित था।

आसुर-विवाह आरम्भ में असुर-वर्ग के लोगों में बहुप्रचलित था। अन्य वर्ग के लोग परवर्ती युग में दीन-हीन लोगों की कन्यायें विवाह के लिए धन देकर क्रय कर लेते थे। नागरिकों के बीच स्वभावतः ऐसे विवाह का प्रचलन रहा है।

माता-पिता से बल-प्रयोग द्वारा कन्या छीन लेने का प्रचलन पहले राक्षस लोगों में था। कई स्वयंवरों में वर-पक्ष को बल-प्रयोग से ही कन्या प्राप्त होती थी। जब कभी माता-पिता किसी अन्य वर से विवाह करना चाहते थे और कन्या स्वयं किसी वर का आह्वान करती थी, तो माता-पिता अथवा अन्य वरों के विरोध में उस कन्या को प्राप्त कर लेना केवल शक्ति से ही सम्भव होता था।

चोरी करके कन्या प्राप्त करना और उससे विवाह करना पहले पिशाच-वर्ग के लोगों में प्रचलित था। पिशाच पिछड़े हुए लोग थे। आज तक हीन संस्कृति के लोगों में इस प्रकार के विवाह प्रायः सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों के माध्यम से साधारणतः अनुलोम रीति का अनुसरण करके कन्या प्राप्त की जाती थी। प्रतिलोम रीति निषिद्ध थी।

अन्तःपुर

अन्तःपुर में प्राचीन नारी की स्थिति कुछ अच्छी नहीं कही जा सकती। रामायण और महाभारत के राजकीय अन्तःपुर की दुर्दशा प्रत्यक्ष सी है। राजाओं की असंख्य पत्नियां हो सकती थीं, जिनमें से साधारण परिस्थितियों में कुछ ही ऐसी हुई हों, जो जीवनभर राजा के द्वारा समादृत रहीं। अन्तःपुर की नारियाँ राजा के विलास की सामग्री-मात्र साधारणतः होती थीं और ऐसी सामग्री को नित्य नूतन बनाये रखने के लिए नई-नई स्त्रियाँ लाई जाती थीं, जिनमें से कुछ के साथ राजा के विवाह का स्वांग भी रचा जाता था।[1] कुछ रानियाँ कभी-कभी राजा के बहु-पत्नीत्व पर रोक लगाने की चेष्टायें भी करती थीं, पर उन्हें इस उपक्रम में सफलता अपवाद रूप से ही मिल पाती थी।

कालिदास ने व्यंजना से अन्तःपुर की दुर्दशा का परिचय दिया है। शकुन्तला के विवाह के पहले उसकी सखी अनसूया दुष्यन्त से कहती है—'सुनते हैं, राजाओं की बहुत सी प्रियतमायें होती हैं। हमारी प्रिय सखी के साथ ऐसा व्यवहार करें कि हमें उसके लिए शोक न करना पड़े।'

अनसूया की इस उक्ति से व्यक्त होता है कि सपत्नियों के बीच रानियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। सपत्नियों का पारस्परिक व्यवहार सदा मधुर नहीं होता था। तभी तो कण्व को शकुन्तला से कहना पड़ा—'कुरु सखीवृत्तिं सपत्नी जने।'

अन्तःपुर की स्त्रियों की दुःस्थिति का व्यावहारिक स्वरूप चित्रित करते हुए कालिदास ने पुनः हंसपदिका की गाथा गाई है। हंसपदिका का गीत है—

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओसि णं कहं॥

अभिज्ञान-शाकुन्तल ५.१

---

१. ऐसी स्त्रियां किसी भी जाति की हो सकती थीं। राजाओं की काम-परिलिप्सा की पूर्ति के लिए विदेशों से भी स्त्रियां, क्रय करके लाई जाती थीं।

राजा दुष्यन्त के प्रति हंसपदिका का यह उपालम्भ अत्यन्त मार्मिक है। इसके उत्तर में राजा ने कहा कि एक बार इससे प्रेम किया था। इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि राजकीय परिग्रह की रमणियों के लिए सकृत् प्रेम साधारण सी बात थी। उनमें से यदि कोई महारानी या पटरानी भी बन कर दीर्घकाल तक राजा का प्रेम-पात्र बनती थी तो उसकी भी स्थिति कालान्तर में शोचनीय हो सकती थी, जब राजा किसी नवयुवती के प्रेम-पाश में आबद्ध होकर पूर्व-परिग्रह को विस्मत कर देता था। मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका और कर्पूरमंजरी आदि रूपकों में ऐसी महारानियों की चिन्तायें निर्दशित हैं।

अध्याय ३

शैशव-विकास

भारतीय दृष्टिकोण से मनुष्य के जीवन का एकमात्र यही उद्देश्य माना गया कि वह अपने जीवन-काल में अधिक से अधिक सुख या आनन्द प्राप्त करे और जीवन के पश्चात् उसे स्वर्ग अथवा मुक्ति की प्राप्ति हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता थी कि मानव-जीवन दीर्घायु हो। भारत ने सौ वर्ष के कर्मठ जीवन की कल्पना की थी।[1] सौ वर्ष के जीवन में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए आवश्यक था कि शरीर स्वस्थ रहे और इन्द्रियाँ सशक्त रहें। तभी तो जीवन में आनन्द की प्राप्ति सम्भव हो सकती थी। इसके पश्चात् आधिभौतिक सुखों के लिए उपभोग-सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। विश्व की अधिकाधिक वस्तुओं को अपने ज्ञान-विज्ञान के द्वारा अधिकतम उपयोगी बनाने की प्रक्रिया मानव-संस्कृति के आदिकाल से ही चली आ रही है। इस दिशा में मनुष्य को जो सफलता मिली है, उसके लिए उसका बौद्धिक विकास और श्रमशीलता प्रधान रूप से सहायक रही हैं। आध्यात्मिक आनन्द के लिए दर्शन की अपेक्षा होती है। दर्शन तप और तत्त्वज्ञान के माध्यम से साधक को योग-पथ पर अग्रसर करके समाधि का आनन्द प्राप्त कराता है। काव्य और कला की कृतियों से आनन्द की निष्पत्ति के लिए कलात्मक आलोचना और सौन्दर्यानुभूति की संवर्धना आवश्यक होती हैं। समाज में सुख और शान्ति पाने के लिए अपने व्यवहार में सदाचार की प्रतिष्ठा करना अपेक्षित है।

भारत ने जीवन को सफल बनाने के लिए उपर्युक्त सभी दिशाओं में व्यक्तित्व के विकास के लिए योजनायें बनाईं। वास्तव में मानव के व्यक्तित्व का विकास जितनी मात्रा में जिस दिशा में हो पाता है, उतनी मात्रा में उस दिशा में जीवन की सफलता सम्भव होती है। भारत में व्यक्तित्व के विकास का प्रथम सोपान संस्कार और आश्रम की योजनाओं से आरम्भ हुआ है। संस्कारों की प्रक्रिया जन्म के पहले से आरम्भ होती है और शैशव में उनका विशेष महत्त्व रहता है। आश्रम-

---

१. ऋषियों की वाणी है—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

व्यवस्था का आरम्भ उपनयन संस्कार के माध्यम से होता है। संस्कार और आश्रम के द्वारा निरन्तर अभ्युदय करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

संस्कार

संस्कार का साधारण अर्थ है किसी वस्तु को ऐसा रूप देना, जिसके द्वारा वह अधिक उपयोगी बन जाये।[1] संस्कृति की दृष्टि से मानव के संस्कार की अभिव्यक्ति की परिधि निःसीम है। आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक शुद्धि के साथ ही संस्कार मानव के समक्ष भावी जीवन की उत्थानमयी परम्परा प्रस्तुत करते हैं।

भारतवासियों की शाश्वत धारणा रही है कि 'किसी मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए देवताओं की सहायता लेना अपेक्षित है। देवता अदृश्य होते हुए भी पदे-पदे मानव को सहारा देने के लिए तथा सुपथ पर अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।' संस्कार की प्रक्रियाओं में इन्हीं देवताओं के समक्ष शुद्ध, संस्कृत और उन्नतोन्मुखी भावी जीवन की प्रतिज्ञा की जाती है। भारतीय कल्पना के अनुसार भावनाओं और विचारों के अनुकूल हमारी परिस्थितियों की रूप-रेखा बनती है और इन्हीं के अनुरूप हमारी शक्तियों और प्रवृत्तियों का विकास या ह्रास होता है।

धर्मशास्त्रों में संस्कारों की संख्या बहुमत से सोलह मानी गई, यद्यपि इनके नामों की अलग-अलग सूची विभिन्न ग्रन्थों में मिलती है। जिन सोलह संस्कारों को साधारणतः मान्यता प्राप्त हुई, उनके नाम हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुबलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्त्तन और विवाह।[2]

---

१. संस्कार शब्द की अभिव्यक्ति समझने के लिए प्राचीन साहित्य के ये उल्लेख देखिए—संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। जैमिनिसूत्र ३.१.३ पर शबर की टीका। योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते। तन्त्रवार्तिक पृ० १०७८। संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा। वेदान्तसूत्र १.१.४ पर शांकरभाष्य।

२. गौतम ८.१४-२४ के अनुसार संस्कारों की संख्या ४० है, जिनमें प्रधान-संस्कारों के अतिरिक्त पाँच दैनिक महायज्ञ, सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञों की गणना की गई है। वैखानस के अनुसार १८ शारीर संस्कार हैं, जिनमें उत्थान, प्रवासागमन और पिण्डवर्धन ऐसे हैं, जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं

गर्भाधान

शिशु का माता के गर्भ में बीज रूप से प्रतिष्ठित होना गर्भाधान है। वैदिक धारणा के अनुसार शिशु की इस प्राथमिक प्रतिष्ठा के लिए विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति, सरस्वती, अश्विद्वय आदि देवताओं का आयोजन अपेक्षित है।[1] इस अवसर पर तत्कालीन दम्पती की मनःस्थिति का परिचय उनकी पारस्परिक कामना से मिलता है—हमारी आँखें मधु के समान स्निग्ध हों, हमारी प्रभा अंजन के समान रहे, तुम मुझे हृदय में धारण करो, हम दोनों का मन एक हो।[2] पति कामना करता था कि तुम अनेक बार वीर-माता बनो। तुम ऐसा पुत्र प्राप्त करो, जो तुम्हें समृद्धि प्रदान करे और तुम उसे समृद्धि प्रदान करो।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में विविध गुणों और योग्यताओं से सम्पन्न पुत्र पाने के लिए अलग-अलग प्रकार के भोजन करने का विधान मिलता है।[4]

पुंसवन

माता-पिता के द्वारा उच्च विचारों की मानसिक प्रतिष्ठा, महान् और तेजस्वी पुत्र पाने की कामना तथा दिव्य शक्तियों के सान्निध्य की प्रतीति पुंसवन संस्कार की प्रमुख विशेषतायें हैं। गर्भ में प्रतिष्ठित शिशु को पुत्र रूप देने के लिए यह संस्कार किया जाता था। इसमें देवताओं की स्तुति और उनसे पुत्र-प्राप्ति सम्बन्धी वर की याचना के साथ ही कुछ ऐसी औषधियां का उपयोग होता था, जिन्हें आयुर्वेद के ग्रन्थों में पुत्रोत्पत्ति और गर्भ-रक्षा के लिए समर्थ बतलाया गया है। पुंसवन

मिलता। इन्हीं के साथ २२ यज्ञों की भी चर्चा है, जो गौतम के अनुसार संस्कार हैं। अंगिरा ने संस्कारों की संख्या २५ बतायी है। इनमें गौतम के द्वारा निर्दिष्ट पंच महायज्ञ तक सभी संस्कार समन्वित हैं। निष्क्रमण संस्कार अधिक है और इनके आगे विष्णु-बलि, आग्रयण, अष्टका, श्रावणी, आश्वयुजी, मार्गशीर्षी, पार्वण, उत्सर्ग तथा उपाकर्म संस्कार हैं। मनु, याज्ञवल्क्य और धर्मसूत्रकार विष्णु के अनुसार गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक १६ संस्कार हैं। जिनसेनाचार्य द्वारा रचित महापुराण (३८.५१-६८) में १०८ संस्कारों के नाम गिनाये गये हैं और इनकी प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है।

१. ऋग्वेद १०.१८४; अथर्ववेद ५.२५ से तथा बृहदारण्यक ६.२.१३।

२. अथर्ववेद ७.३६ से।

३. अथर्ववेद ३.२३ से।

४. बृहदारण्यक ६.४ से।

और सीमन्तोन्नयन संस्कार शिशु की गर्भावस्था में क्रमशः तीसरे और चौथे मास में संपन्न किये जाते थे।

सीमन्तोन्नयन

सीमन्तोन्नयन-संस्कार अतिशय धूमधाम से मनाया जाता था। इसकी प्रधान प्रक्रिया पति के द्वारा पत्नी के केशपाश का अलंकरण करते हुए उसमें सीमन्त (माँग) काढ़ना है, पर आनुषंगिक रूप से गर्भभार से कृश और क्लान्त माता को प्रमुदित करना वैदिक काल से ही विशेष महत्त्वपूर्ण आयोजन रहा है। सीमन्तोन्नयन के अवसर पर सामूहिक रूप से आनन्द मनाया जाता था। वीणागाथी वीणा की संगीत-लहरी से समन्वित सोमराज की स्तुति का गायन करते थे। सोमराज से मानव-मात्र के कल्याण की प्रार्थना की जाती थी।[1]

सीमन्तोन्नयन-संस्कार गर्भावस्था के प्रायः चौथे मास के शुक्ल पक्ष में पुंस्त्व द्योतक नक्षत्र वाली तिथि में सम्पन्न किया जाता था। विभिन्न धर्मशास्त्रकारों ने तीसरे मास से लेकर आठवें मास तक इस संस्कार के लिए समुचित समय माना है।

विष्णुबलि

सीमन्तोन्नयन के पश्चात् गर्भस्थ शिशु के आठवें मास में विष्णु-बलि संस्कार में विष्णु के लिए ६४ बलियों को समर्पित किया जाता था और ऋग्वेद के श्लोकों से विष्णु की स्तुति की जाती थी। इस संस्कार के द्वारा गर्भ के संरक्षण और निरापद् प्रसव के लिए आयोजन किया जाता था। गर्भस्थ शिशु के दसवें मास में जन्म के कुछ दिन पहले सोष्यन्तीकर्म संस्कार के द्वारा शिशु के जीवन-सम्पन्न, स्वस्थ और कुशल होकर प्रकट होने की योजना की जाती थी।[2]

जातकर्म

वैदिक काल में पुत्र-जन्म के अवसर पर द्वादश कपाल पर पकाये हुए रोट

---

१. सोमो नो राजावतु मानुषीः प्रजाः निविष्टचक्रासाविति।

परवर्ती युग में सोम के स्थान पर उस देश के राजा अथवा किसी वीर के पराक्रमों की गाथा गाने का प्रचलन हुआ।

२. सोष्यन्तीकर्म की ओर संकेत करने वाले आरम्भिक मन्त्रों के लिए देखिए ऋग्वेद ५.७८.७-९ तथा अथर्ववेद १.११।

को वैश्वानर (अग्नि) के लिए समर्पित करके कृतज्ञता प्रकाशित की जाती थी। लोगों की धारणा थी कि जिस पुत्र के जन्म के अवसर पर उपर्युक्त विधि से वैश्वानर को तृप्त किया जाता है, वह पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, इन्द्रिय-बल से सम्पन्न और अनेक पशुओं का स्वामी होता है।[१]

वैदिक युग में नाभि कटने के पहले पाँच ब्राह्मणों को बुलाकर नवजात शिशु को अनुप्राणित करने का विधान था। इस विधान से बालक के पूर्ण जीवन और बुद्धि की आशा की जाती थी।[२] अवश्य ही वह विधान उस शिशु में ब्राह्मणोचित वृत्तियों का विकास करने के लिए ब्राह्मणों के संसर्ग के महत्त्व को दृष्टि-पथ में रखकर किया गया था। बृहदारण्यक उपनिषद् में नवजात शिशु को गोद में लेकर जमे हुए दूध और घी की हवि बनाकर हवन करने का विधान मिलता है। हवन करते समय पिता कामना प्रकट करता था—अपने घर में इस शिशु से संवर्धनशील होकर मैं सहस्रों का पोषण करूँ। पशुओं और सन्तति का कभी मेरे लिए विच्छेद न हो। इसके पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान के समीप तीन बार वाक् कहता था।[३] वह दधि, मधु और घी को स्वर्ण से मिश्रित करके शिशु को खिलाते हुए कहता था[४]—भूस्ते दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि। भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि। अर्थात् मैं तुममें भूः (पृथिवी), भुवः (वायुलोक) और स्वः (स्वर्गलोक) की प्रतिष्ठा करता हूँ।[५] इस प्रतिष्ठा के द्वारा मानव के विश्वात्मक व्यक्तित्व का नियोजन होता था। वैज्ञानिक दृष्टि से मानव अखिल ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म स्वरूप है। इस दार्शनिक तत्त्वानुशीलन की मानसिक प्रतिष्ठा के लिए शिशु का जन्म प्रथम-अवसर था।

उपर्युक्त प्रतिष्ठा के पश्चात् पिता शिशु को माता का दूध पीने के लिए देता था। माता का दूध पिलाते समय पिता सरस्वती देवी की स्तुति इन शब्दों में करता था—हे सरस्वति! तुम शिशु के द्वारा आत्मसात् होने के लिए माता के स्तन में

---

१. तैत्तिरीय संहिता २.२.५.३-४।

२. शतपथ ११.८.३-६ से।

३. वाक् से तत्कालीन समग्र वैदिक साहित्य की अभिव्यक्ति होती थी, जिसमें चारों वेद प्रमुख थे। वाक् वाणी या साहित्य की देवी सरस्वती है।

४. वैदिक विचारधारा के अनुसार दधि इन्द्रियों की शक्ति का संवर्धक है। मधु ओषधियों का रस है और घी पशुओं का तेज है। ऐतेरेय ब्राह्मण ८.२०। वहीं, घी और मधु को वैदिक युग में सर्वश्रेष्ठ भोजन माना गया है। शतपथ ९.२.११

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ६.४ से।

प्रवेश करो। तुम्हीं सभी प्राणियों का पोषण करती हो, रत्न धारण करती हो और उदार हो। अन्त में पिता शिशु की वीर-प्रसविनी माता का अभिनन्दन इन शब्दों में करता था—हे मैत्रावरुणि, वीरांगने, तुम इला हो, तुमने वीर पुत्र को जन्म दिया है, तुम वीरवती हो और तुमने हम लोगों को वीर पुत्र से समृद्ध बनाया है। फिर लोग उस शिशु को आशीर्वाद देते थे— तुम अपने पिता से बढ़ कर हो, पितामह से बढ़कर। इस प्रकार के ज्ञान से पुत्र श्री, ब्रह्मचर्य और यश से सर्वोच्च पद प्राप्त करता है।[1]

आश्वलायन के अनुसार दही और घी का घोल चटाते समय पिता शिशु के सौ वर्ष जीने की कामना करता था। इसके पश्चात् वह मेधाजनन की प्रक्रिया सम्पन्न करता था। वह अपना मुख शिशु के कान के समीप ले जाकर श्लोक पढ़ता था—

मेधां त्वे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां त्वे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(तुमको सविता, सरस्वती और अश्विद्वय मेधा प्रदान करें।)

अन्त में नवजात शिशु के कन्धों का स्पर्श करके पिता कहता था—

अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव।
वेदो वै पुत्रनामासि जीव शरदः शतमिति
इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेह्यस्मै।
प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्

अर्थात् पत्थर बनो, परशु बनो, अक्षुण्ण स्वर्ण बनो। तुम्हारा 'यह' नाम है। सौ वर्ष जीओ। हे इन्द्र, इसे श्रेष्ठ धन दो।

उपर्युक्त आशीर्वाद केवल शाब्दिक ही नहीं रहा। इसे प्रत्यक्ष रूप दिया गया। पत्थर के ऊपर परशु और परशु के ऊपर स्वर्ण-खण्ड रख कर शिशु को उसके ऊपर रख कर प्रकट किया जाता था कि वह प्रत्यक्ष ही अश्मा, परशु और हिरण्य के ऊपर है और गुणों के द्वारा भी इनसे बढ़ कर है। कुछ अभ्युदयशील कुलों में शिशु को ब्रह्मलोक-परायण बनाने के लिए जन्म के दिन निरन्तर अग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी।[2]

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ६.४.२७-२८ से।

२. असातमन्तजातक।

जन्मोत्सव के अवसर पर गौ और निष्क आदि ब्राह्मणों को दान देने की रीति रही है। जन्म-दिवस की वार्षिक तिथि पर उत्सव मना कर दान देने का प्रचलन समृद्धिशाली लोगों के बीच परवर्ती युग में हुआ।[1]

नामकरण

भारत में नाम का अतिशय महत्त्व रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में नाम के महत्त्व से सम्बद्ध एक संवाद मिलता है। प्रश्न है कि मरने के पश्चात् पुरुष को क्या नहीं छोड़ता है? इसका उत्तर है कि वह नाम है। इसी नाम से वह अनन्त लोकों को जीतता है। नाम भी अनन्त होते हैं।[2]

महाभारत-काल में नामकरण संस्कार के अवसर पर शिशु में अभीष्ट उच्च गुणों की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से उनके नाम को भावी जीवन की प्रवृत्तियों का परिचायक बनाया जाने लगा था। कुछ नाम उन महान् पराक्रमों के स्मारक-स्वरूप रखे जाते थे, जिनके करने के पश्चात् पिता को पुत्र उत्पन्न हुआ हो। कुल के सम्मान्य महापुरुषों के नाम पर अथवा जन्म-नक्षत्र के अधिष्ठाता देव के नाम के अनुरूप शिशुओं के नाम रखने का प्रचलन भी महाभारत में मिलता है।[3] भारत में प्रायः सदा से ही किसी व्यक्ति या देवता के अनेक नाम साधारणतः कुल, गोत्र और माता-पिता के नाम पर और किये हुए महान् पराक्रमों के अनुसार रखने की रीति रही है। इन सबके उदाहरण विष्णुसहस्रनाम में अनेकशः मिलते हैं।

वैदिक काल के पश्चात् नामकरण संस्कार के लिए नाम-सम्बन्धी कुछ नियम बने। इनके अनुसार नाम का आरम्भ घोष वर्णों से होना चाहिए, नाम का एक अक्षर अन्तःस्थ वर्णों में से होना चाहिए और अन्त में विसर्ग होना चाहिए। दो अक्षरों का नाम होने पर पुरुष को लौकिक प्रतिष्ठा और चार अक्षर का नाम होने पर आध्यात्मिक अभ्युदय की प्राप्ति होती है। पुरुष के नाम में युग्म अक्षर और

---

१. महाभारत आदि पर्व २१३.६२से। भास ने 'पंचरात्र' में उल्लेख किया है कि राजा विराट के जन्म दिवस के अवसर पर असंख्य गायें दान दी गयीं।

२. बृहदारण्यक ३.२.१२।

परवर्ती युग में नाम की महिमा की कल्पना नीचे लिखे श्लोक से की जा सकती है :—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥ बृहस्पति

३. आदिपर्व २१३.८०-८५।

स्त्रियों के नाम में अयुग्म अक्षर होने चाहिए। प्राचीन काल के नामों को देखने से प्रतीत होता है कि उनमें से अधिकांश उपर्युक्त नियमों के विरुद्ध पड़ते हैं, यथा कृष्ण, भरत, अर्जुन, पाणिनि, सीता आदि।

बौधायन ने नामकरण की उस पद्धति का निर्देशन किया है, जिसके अनुसार आजकल प्रायः नाम मिलते हैं। इस पद्धति से नाम किसी ऋषि, देवता या पूर्वज के नाम के आधार पर होना चाहिए। देवताओं के नाम सीधे-सीधे अपना लेने का विरोध कुछ धर्मशास्त्रों में मिलता है। इस प्रकार ब्रह्मप्रकाश, शिवदास, देवदत्त आदि नाम ठीक पड़ते हैं पर राम, विष्णु, सुरेन्द्र आदि नाम पुरुष के लिए रखना उचित नहीं है। 'नाम अर्थहीन, निन्दनीय, अपशब्दयुक्त, अमांगलिक और घृणास्पद नहीं होना चाहिए। अत्यन्त दीर्घ या अत्यन्त लघु और कठिन अक्षरों वाले नाम न होने चाहिए। नाम का उच्चारण सुखपूर्वक होना चाहिए और उसके अन्त भाग के वर्ण लघु होने चाहिए।[१] कुछ विद्यार्थियों के नाम गुरुओं के नाम पर पड़ते थे। एक पिता के दो पुत्र राम और वासुभद्र क्रमशः गार्ग्य और गौतम हुए।[२]

नामों के आगे क्रमशः चारों वर्ण के लिए शर्मा, वर्मा, गुप्त तथा दास और इनके पर्यायों को उपाधि रूप में जोड़ने का प्रचलन वैदिक काल में नहीं मिलता। गौतम और वसिष्ठ के आगे शर्मा अथवा राम और कृष्ण के आगे वर्मा का योग प्राचीन साहित्य में नहीं है। इन उपाधियों का प्रयोग सम्भवतः उस युग में विशेष रूप से होने लगा, जब कोई मनुष्य अपने कर्म और व्यक्तित्व के विकास के बल पर अपने में अपनी जाति की झलक नहीं ला पाता था, फिर भी अपनी जाति की उत्कृष्टता का बोध कराना आवश्यक समझता था।[३] उपर्युक्त प्रवृत्ति का निदर्शन मनु की उस योजना से भी होता है, जिसमें उन्होंने ब्राह्मण के नाम से मांगल्य, क्षत्रिय के नाम से बल, वैश्य के नाम से वैभव और शूद्र के नाम से नीचता का बोध कराने की युक्ति बतलाई है।[४] श्री का प्रयोग आदरार्थ था।[५]

---

१. विष्णुपुराण ३.१०.१०-११।

२. सौन्दरनन्द १.२३।

३. नाम का अर्थ बौद्ध साहित्य में मानसिक प्रवृत्ति है। सम्भवतः यही कारण है कि नाम के आगे शर्मा, वर्मा आदि मानसिक प्रवृत्ति की द्योतक उपाधियाँ कालान्तर में जोड़ी गयीं।

४. मनुस्मृति २.३१.३२। तथापि व्यवहार रूप में देखा जा सकता है कि चाण्डाल तक का नाम श्रीदेव हो सकता था। राजतरंगिणी ४.४७४-४७५।

५. मृच्छकटिक के छठे अंक में श्री चारुदत्त।

जिस माता-पिता के लड़के मर जाते थे, वे अपने शिशु का अभव्य नाम रख कर उसके जीवन की आशा करते थे।[1]

कन्याओं के नाम के लिए उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त आ, ई या दा में अन्त होने की रीति का उल्लेख मिलता है। ऐसे नाम क्रमशः सीता, कौमुदी या मोक्षदा हैं। कन्याओं के नाम नदी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पूषा आदि के नामों पर नहीं होने चाहिए और न उनसे देवताओं के द्वारा दी हुई होने की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। विष्णुदत्ता नाम कन्या के लिए नहीं रखा जा सकता। मनु के अनुसार कन्याओं के नाम सरलता से उच्चारण करने योग्य, अक्रूर, स्पष्ट अर्थ वाले, मनोरम, मांगलिक, दीर्घ वर्ण में अन्त होने वाले और आशीर्वादात्मक होने चाहिए।[2] कन्याओं के नाम के विषय में इतनी छान-बीन होने लगी कि कुछ धर्मशास्त्रकारों ने नियम बनाया कि नक्षत्र, वृक्ष और नदी के नाम पर जिस कन्या का नाम हो, उसे विवाह के लिए नहीं चुनना चाहिए।[3] वात्स्यायन के अनुसार--

> नक्षत्राख्यां नदीनाम्नीं वृक्षनाम्नीं च गर्हिताम्।
> लकार-रेफोपान्तां च वरणे परिवर्जयेत्॥
>
> कामसूत्र ३.१.१३

कर्णवेध

नामकरण संस्कार के पश्चात् कर्णवेध संस्कार होता था। इस संस्कार का स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्व तो था ही, साथ ही कान के छेद से कुण्डल लटकाने की सुविधा हो जाती थी। कर्णवेध से आँत की वृद्धि रुकने का उल्लेख सुश्रुत ने किया है।[4] सुश्रुत के युग में स्वयं वैद्यराज कर्णवेध करते थे। वे बायें हाथ से शिशु के कान को खींचकर सूर्य की किरण के प्रकाश से प्राकृतिक छिद्र को देखकर उसी में धीरे से छेद करते थे और रूई से उस पर तेल लगा देते थे।[5]

---

१. रानी विभवमती के लड़के का नाम गुरुओं ने भिक्षाचर रखा था। राजत० ८.१७

२. मनुस्मृति २.३३।

३. मनु के अनुसार इनके अतिरिक्त म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, सर्प तथा दासी के नाम पर जिनके नाम हों, उन कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही भयंकर नाम वाली कन्याएँ परिगणित हैं। मनुस्मृति २.९।

४. रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्। सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान १६.१।

५. सूत्रस्थान १६.१।

परवर्ती युग में कर्णवेध संस्कार का महत्त्व बढ़ा। देवल ने तो यहाँ तक लिखा कि जिस ब्राह्मण के कर्णवेध के छेद से सूर्य की किरणें न प्रवेश कर पाती हों, उसे देख लेने पर सभी पुण्य भाग खड़े होते हैं। यदि भूल से भी श्राद्ध में उसे कुछ दे दिया गया तो दाता को असुर होना पड़ता है।

निष्क्रमण

शिशु जब तक लगभग चार मास का नहीं हो जाता था, उसे घर के भीतर रखा जाता था। चौथे मास में घर से बाहर निकालना आरम्भ किया जाता था। घर से पहली बार बाहर निकालने की प्रक्रिया निष्क्रमण संस्कार के रूप में होती थी। उपर्युक्त संस्कारों के वर्णन के प्रकरण में लिखा जा चुका है कि भारतवासी शिशु के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अत्यन्त सचेष्ट रहता था। यह बात निष्क्रमण संस्कार के सम्पादन से विशेष रूप से प्रमाणित होती है। शिशु माता के गर्भ से निकला, उसने एक सीमा से अपने को विमुक्त किया और उसे घर की बृहत्तर परिधि मिली। वह केवल घर की सीमाओं तक आबद्ध नहीं रह सकेगा। वह घर की संकुचित परिधि से निष्क्रमण-संस्कार के अवसर पर बाहर निकलता है। इस सीमा को तोड़ने पर सभी प्रसन्न होते हैं। इसी परम्परा में आगे चल कर महाभिनिष्क्रमण आता है, जब पुरुष सामाजिक सीमा का अतिक्रमण करके सभी प्रकार की सीमाओं से विमुक्त होकर एकमात्र ब्राह्मपथ का अनुसरण करता है।

निष्क्रमण संस्कार में शिशु को घर से बाहर लाकर सूर्य का दर्शन कराया जाता है। सूर्य या आदित्य के दर्शन की प्रधानता होने से इस संस्कार को आदित्यदर्शन कहते हैं। भारतीय धारणा के अनुसार सूर्य ज्ञान-विज्ञान का परम निधान है। उससे शिशु को ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति हो सके—इसी उद्देश्य से सूर्य के दर्शन को शिशु के अभ्युदय-पथ में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। सूर्य का दर्शन कराते समय पिता नीचे लिखे वैदिक श्लोकों का पाठ करता था—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छक्रमुच्चरत्,
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
वा० सं० ३६.२४।

(देवताओं के द्वारा पुरस्कृत यह आँख पूर्व में श्वेत होकर विराजमान है,

हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जीयें, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष गौरवशाली होकर रहें, सौ वर्ष से अधिक भी।)

रात्रि के समय शिशु को चन्द्र का दर्शन कराया जाता था। इन दिव्य विभूतियों के दर्शन का शिशु के संवर्धन पर सुखावह प्रभाव पड़ता था।

अन्नप्राशन

शिशु को जन्म के समय दही, मधु और घी चटाया जाता था। यह प्रक्रिया मधुप्राशन है। जब शिशु लगभग छः मास का हो जाता था तो उसे आहार देना आरम्भ किया जाता था। आहार देने की प्रथम प्रक्रिया अन्नप्राशन-संस्कार के रूप में होती थी। आयुर्वेद के अनुसार लघु और हितकर आहार छः मास के शिशु को दिया जाना चाहिये।[१]

साधारणतः शिशु को प्रारम्भ में भात, दही, मधु और घी का मिश्रित भोजन दिया जाता था। भोजन का ग्रास देते समय भूः, भुवः, स्वः का उच्चारण पिता करता था। कुछ आचार्यों ने विविध गुणों की निष्पन्नता के लिए विविध प्रकार के मांसों का प्राशन इस संस्कार के योग्य माना है।[२]

भारतीय धारणा के अनुसार 'अन्न' देवता है। अन्नप्राशन संस्कार में अनेक वैदिक मन्त्रों से पदे-पदे अन्नदेव की स्तुति की जाती थी।

अन्न-प्राशन संस्कार की प्राचीन काल की जो अन्तिम रूप-रेखा मिलती है, उसके अनुसार उस दिन पूज्य देवताओं की उपस्थिति में सभी व्यवसायों के प्रतीक उपादान रखे जाते थे। उनमें से कोई एक या दो शिशु चुन लेता था। जिस उपादान को शिशु सर्वप्रथम चुनता था, उसी से सम्बद्ध व्यवसाय उसकी जीविका के लिए उपयुक्त समझा जाता था।

शिशु के प्रथम वर्ष के प्रत्येक मास में उसकी जन्म-तिथि के दिन तथा जीवन भर प्रत्येक वर्ष जन्म-दिवस की तिथि के दिन वर्ष-वर्धन का संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार में देवताओं के अतिरिक्त तिथि और नक्षत्रों के लिए हवन होता था। बौधायन के अनुसार प्रतिवर्ष, प्रतिषण्मास, प्रतिचतुर्मास, प्रतिऋतु तथा प्रतिमास जन्म-नक्षत्र आने पर वर्षवर्धन संस्कार होना चाहिए। आगे चलकर वर्षवर्धन का नाम आयुर्वर्धापन भी मिलता है।

---

१. षण्मासं चैतमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च। सुश्रुत शारीरस्थान १०.६४।

२. पारस्करगृह्यसूत्र १.१९, शांखायन गृह्यसूत्र १.२७।

चूडाकरण

शिशु के जीवन के पहले या तीसरे वर्ष में उसके केशपाश का कर्त्तन करके सिर पर चूडा छोड़ दी जाती थी। केशकर्त्तन एवं चूडा का स्वास्थ्य, प्रसाधन और धार्मिक विधानों की दृष्टि से भी महत्त्व है।[1] शिखा रखने का आरम्भ इसी संस्कार से होता है। शिखा के वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने का विवेचन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'सिर के शिखर पर शिरा-सन्धियों का सम्मिलन होता है। रोमावर्त इस स्थान का अधिपति है। इस स्थान पर किसी प्रकार का आघात होने पर शीघ्र मृत्यु होती है।[2] इस कोमल स्थान की रक्षा शिखा से करना सरल प्रतीत होता है।

केश-कर्त्तन का समारम्भ पिता स्वयं करता था। वह विभिन्न देवताओं की स्तुति करते हुए कामना प्रकट करता था कि शिशु को दीर्घ जीवन, यश और आनन्द की प्राप्ति हो। कुल की रीति के अनुसार सिर पर एक, तीन या पांच चूड छोड़ने का विधान था। कुछ लोगों के सिर पर उतने ही चूड होते थे, जितने उनके प्रवर होते थे।[3] भृगु के मतानुसार चूड या शिखा नहीं रखना चाहिए।

विद्यार्थी

वेदकालीन शिक्षा की रूप-रेखा देखने से ज्ञात होता है कि शिक्षा का आरम्भ बालकों के लगभग बारह वर्ष का हो जाने के पहले नहीं होता होगा। विद्या के सम्बन्ध में वेद कालीन भारतवासी पूर्ण पाण्डित्य चाहते थे, अधकचरापन नहीं। विद्या के इस परिपक्व स्तर को प्राप्त करने के लिए जिस सावधानी और ध्यान की आवश्यकता है, वह पाँच-छः वर्ष के बालकों में नहीं होता। उस युग में साधारण अध्ययन-अध्यापन का क्रम था वेदों को सस्वर कण्ठाग्र करना। इसमें किसी प्रकार की

---

१. पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥ सुश्रुत चिकित्सा-स्थान २४.७२।
पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम्॥ चरक।

२. शारीरस्थान ६.८३।

३. किसी भी मनुष्य के कुल में उत्पन्न महर्षियों को उस कुल का प्रवर कहा जाता है। प्रवर से कुल की उच्चता का परिचय मिलता है और साथ ही उन्नति करके प्रवरों के समान महर्षि बनने का प्रोत्साहन प्राप्त होता है। प्रवरों की संख्या प्रायः एक से पांच तक हो सकती है।

त्रुटि होना अत्यन्त दोषावह था। ऐसी परिस्थिति में नन्हें बच्चों को वैदिक विषयों की शिक्षा नहीं दी जाती थी—यह निश्चित प्रतीत होता है। उपनयन के समय विद्यार्थी को गायत्री-मन्त्र की शिक्षा दी जाती थी और वह भी तीन बार में। इससे यही सिद्ध होता है कि उसके पहले विद्यार्थियों को वेदों के वर्ण्य विषय का ज्ञान नहीं होता था।

विद्यारम्भ

वैदिक काल के पश्चात् वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य लौकिक विषयों के अध्ययन के प्रति जब अभिरुचि जाग्रत हुई तो छोटे बालकों को उपनयन के पहले पढ़ने योग्य विषयों का अभाव नहीं रहा। अर्थशास्त्र के अनुसार चूडाकरण संस्कार के पश्चात् उपनयन संस्कार होने के पहले राजकुमारों को लिखने-पढ़ने और अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी।[1] उत्तररामचरित के अनुसार लव और कुश को वेदों के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा चूडाकरण संस्कार के पश्चात् और उपनयन संस्कार के पहले दी गई। ऐसी परिस्थिति में उपनयन के पहले विद्यारम्भ नामक संस्कार का प्रचलन वैदिक काल के पश्चात् हुआ। इस संस्कार का आयोजन कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी से लेकर आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी तक शुभ तिथि, दिवस और नक्षत्र में किया जाता था। इसमें सरस्वती और विद्यादेवी के अतिरिक्त हरि, लक्ष्मी और सूत्रकारों की पूजा होती थी और इन देवताओं के उद्देश्य से हवन किया जाता था। कालान्तर में इस संस्कार में गणपति की पूजा का विधान बना।

उपनयन

विद्यार्थी के आचार्य के द्वारा ब्रह्मविद्या की शिक्षा देने के लिए स्वीकार किये जाने की विधि उपनयन संस्कार है।[2] इस संस्कार के पश्चात् प्राचीन काल में बालक

---

१. वत्तचौलकर्मा लिपिसंख्यानं चोपयंजीत। अर्थशास्त्र १.५। 'लिपिसंख्यान नामक संस्कार में बालक के पाँचवें वर्ष में प्रथमाक्षर-दर्शन होता था और विद्यार्थी को उपाध्याय की अध्यक्षता में अध्ययन कराया जाता था। महापुराण ३८.१०२-१०३

२. उपनयन का मौलिक अर्थ है (आचार्य के द्वारा) ग्रहण किया जाना। उप + नी का अर्थ 'धारण करना' है। प्रत्येक आचार्य स्वयं अपने विद्यार्थियों का उपनयन करता था। जिन-जिन आचार्यों के पास कोई व्यक्ति ब्रह्मविद्या पढ़ने जाता था, वे सभी उसका उपनयन कर सकते थे। उपनयन का दूसरा नाम पाँचवीं

का ब्रह्मचर्याश्रम-जीवन आरम्भ होता था। प्राचीन काल में आचार्यों की धारणा थी कि विद्यार्थी को पूर्ण रूप से जब तक अपना नहीं बना लिया जाता, तब तक उसे समीचीन विधि से शिक्षा नहीं दी जा सकती। इस धारणा के अनुसार उपनयन संस्कार में आचार्य उस विद्यार्थी को एक नया जन्म देता है। विद्यार्थी आचार्य का पुत्र हो जाता है और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' सिद्धान्त के अनुसार पुत्र पिता का स्वरूप ही है। पुत्र बनाने की प्रक्रिया का वर्णन अथर्ववेद में इस प्रकार मिलता है :—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥११.५.३

(उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को गर्भ में प्रतिष्ठित करता है। तीन दिन तक उदर में उसका पोषण करता है। उसके उत्पन्न होने पर देवता उसे देखने आते हैं।)

उपर्युक्त विधि से आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान-शरीर देता था।

वैदिक काल में विद्यार्थी आचार्य के समीप ब्रह्मचर्य-जीवन के लिए आता था। ब्रह्मचर्य ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए होता था। आचार्य उस विद्यार्थी को आरम्भ में दैवी विभूतियों से सम्पन्न करता था। सर्वप्रथम विद्यार्थी को संकल्प कराया जाता था कि तुम प्रजापति से सम्बद्ध हो। इसके पश्चात् उपनयन आरम्भ होता था। आचार्य विद्यार्थी का दाहिना हाथ पकड़ कर कहता था—तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारा आचार्य है, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ। वह विद्यार्थी को इन्हीं दो देवताओं को सौंप देता था। फिर वह उसे प्राणियों के निमित्त सौंपते हुए प्रजापति और सविता देवताओं के लिए देता था। इसी प्रकार वह विद्यार्थी को द्यावा, पृथिवी, ब्रह्म आदि देवताओं को सौंप देता था।[1] जल में अमृत की भावना करा कर आचार्य उससे आचमन करवाता था और आदेश देता था—'कर्म करो,

---

शती ई० पू० में आचार्यकरण मिलता है। पाणिनि १.३.३६। काशिका में आचार्यकरण उस प्रक्रिया का नाम बताया गया है, जिसके माध्यम से आचार्य माणवक को आत्म-समीप (अपने निकट सम्बन्ध में) लाता है। पिता माणवक को आचार्य के समीप ले जाकर उससे प्रार्थना करता था कि आप इसका उपनयन करें। पाणिनि ३.३.१६१ पर काशिका।

१. वैदिक धारणा के अनुसार इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, सविता, द्यावा-पृथिवी आदि श्रेष्ठ और बलिष्ठ देवता हैं। इनके प्रभाव से ब्रह्मचारी कभी विपत्ति में नहीं पड़ता।

कर्म ही बल है, बल बढ़ाओ। समिधा से हवन करो, अपने आप को तेजस्विता और ब्रह्मवर्चस्विता से समिद्ध करो, मत सोओ।[१] विद्यार्थी एक वार और आचमन करता था और दो बार के आचमन से वह दोनों ओर से सुरक्षित होकर सभी विपत्तियों से मुक्त हो जाता था।

उपर्युक्त प्रक्रिया के पश्चात् आचार्य विद्यार्थी के लिए गायत्री या सावित्री मन्त्र का शिक्षण आरम्भ करता था। उपनिषद्-काल तक उपनयन की रूप-रेखा ऊपर जैसी ही सरल रही। समिधा के साथ जहाँ कोई बालक आचार्य के समीप पहुँचता कि उसका नाम, गोत्र आदि पूछ कर आचार्य उसको अपना ब्रह्मचारी बना लेता था। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सत्यकाम ने अपने आचार्य हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा—ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्यामि, उपेयां भगवन्तमिति। यह जानकर कि सत्यकाम वास्तव में सत्यकाम ही है, आचार्य ने कहा—समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये।[२]

इस युग में ब्रह्मज्ञान की कामना करने वाले व्यक्तियों का वारंवार उपनयन हो सकता था और प्रत्येक नया आचार्य वैकल्पिक रूप से उपनयन करा सकता था। गृहस्थों का भी उपनयन हो सकता था, यदि वे ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे।[३] उपनिषद्-काल में बालक प्रायः १२ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य-जीवन बिताने के लिए आचार्यकुल-वासी हो जाते थे।[४]

सूत्र और स्मृति-युग में उपनयन विषयक विधान की विस्तृत रूप-रेखा प्रस्तुत की गई। उपनयन के लिए आयु निर्धारित हुई। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था से लेकर १६, २२ और २४ वर्ष तक उपनयम के योग्य समझे जाते थे। विशेष योग्यता के लिए इन तीनों जातियों का क्रमशः ५, ६ और ८ वें वर्ष में भी उपनयन किया जा सकता था।[५] उपर्युक्त आयु-निर्धारण से ज्ञात होता है कि यह संस्कार निश्चित रूप से आचार्य के आश्रम में जाकर रहने के लिए नहीं होता था और न वेदों का समुचित अध्ययन ही इतनी अवस्था के सभी

---

१. व्यंजना से सोना मरने के अर्थ में प्रयुक्त है। 'मत सोओ' का अर्थ है मत मरो। उपर्युक्त संस्कार-विधि का परिचय शतपथ ब्राह्मण ११.५.४ से दिया गया है।

२. छान्दोग्य उप० ४.४.५।

३. छान्दोग्य उ० ५.११.७।

४. छान्दोग्य उ० ६.१.२।

५. मनुस्मृति २.३६-३८।

बालक कर पाते होंगे। ऐसी परिस्थिति में प्रतीत होता है कि कुछ बालकों के लिए सूत्र और स्मृति-कालीन उपनयन वैदिक उपनयन का प्रतीक मात्र रहा अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपनयन से गौण सम्बन्ध रहा। कुछ आचार्य केवल दक्षिणा मात्र के लिए उपनयन करते थे और यह निश्चित नहीं रहता था कि उपनयन के पश्चात् समावर्तन संस्कार तक विद्यार्थी उनके साथ रहेगा।[1] उपनयन विद्यार्थी के घर पर भी होने लगा और माता-पिता का विशेष आयोजन भी इस संस्कार में होता था। तीनों वर्णों के लिए क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु उचित मानी गई। कालान्तर में उपनयन के मास और तिथियों का विधान किया गया। सूत्रयुग में उपनयन सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार उपनयन की विधि संक्षेपतः इस प्रकार थी—विद्यार्थी उत्तरीय और वास पहनकर, सिर का केश कटवा कर, मेखला और दण्ड धारण करके उपनयन के लिए आचार्य के सम्मुख बैठ कर उसका हाथ पकड़ता था और आचार्य हवन की अग्नि के उत्तर ओर अपना मुख पूर्व दिशा में करके आज्य-होम करता था। फिर आचार्य अपनी और विद्यार्थी की अंजलि जल से भर कर ऋग्वेद का मन्त्र पढ़ता था—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ ५.८२.१

(हम लोग सविता देव के भोजन को प्राप्त कर रहे हैं। वह श्रेष्ठ है, सबका पोषक है, रोगनाशक है।)

यह मन्त्र पढ़कर वह अपने हाथ का जल विद्यार्थी की अंजलि में डाल देता था और उसका हाथ अँगूठे के साथ पकड़ लेता था। इसके पश्चात् आचार्य कहता था—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृभ्णाम्यसौ।

(देव सविता के अनुशासन में अश्विद्वय की बाँहों से, पूषा के हाथों से मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ।)

'सविता ते हस्तमग्रभीदसौ' कहकर वह एक बार और उसका हाथ पकड़ता था। तीसरी बार हाथ पकड़ते हुए वह नीचे लिखा मन्त्र पढ़ता था—

'अग्निराचार्यस्तवासौ' (अग्नि तुम्हारा आचार्य है।)

इसके पश्चात् सूर्य का दर्शन कराते हुए कामना करता था—

---

1. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ४.११.१९।

'देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी, तं गोपाय स मा मृत।'

(हे देव सवितः, यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है, इसका संरक्षण करो। यह कहीं मर न जाय।)

आचार्य ब्रह्मचारी से पूछता था—किसके ब्रह्मचारी हो? तुम प्राण के ब्रह्मचारी हो। तुम्हारा उपनयन कौन किसके लिए करता है? मैं तुम्हें प्रजापति के लिए दे रहा हूँ। फिर आचार्य कहता था—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्। स उ श्रेयान् भवति जायमानः।

(युवक सुन्दर वस्त्र पहन कर मेखला धारण किए हुए आया है। वह उत्पन्न होकर अभ्युदय प्राप्त करता है।)

फिर विद्यार्थी आचार्य की प्रदक्षिणा करता था। आचार्य अपने दोनों हाथों को उसके कन्धों पर रख कर उसका हृदय हाथ से छूते हुए कहता था—

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥

(मन में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाले देवताओं के उपासक विद्वान् कवि उन्नति के पथ पर उसे अग्रसर कर रहे हैं।)

अग्नि के चारों ओर झाड़ कर ब्रह्मचारी अग्नि में समिधा डालता था और मन्त्र पढ़ता था—

अग्नये समिधमहार्षं बृहते जातवेदसे।
तया त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वयम्॥

(महान् जातवेदा, अग्नि के लिए मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्नि उस समिधा से तुम बढ़ो, हम ब्रह्म के द्वारा बढ़ें।)

अग्नि में समिधा डालकर और अग्नि का स्पर्श करके ब्रह्मचारी तीन बार कहता था—'तेजसा मा समनज्मि'

'मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु'
'मयि मेधां, मयि प्रजां, मयि इन्द्र इन्द्रियं दधातु'
'मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु'

यत्तेऽग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।
यत्तेऽग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्तेऽग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्।

(मैं तेज से समायुक्त हो रहा हूँ। अग्नि मुझमें मेधा, प्रजा और तेज की प्रतिष्ठा करें। इन्द्र मुझ में मेधा, प्रजा और इन्द्रिय-बल की प्रतिष्ठा करें। सूर्य मुझमें मेधा, प्रजा और प्रतिभा की प्रतिष्ठा करें।

हे अग्नि, जो तेजस्विता, वर्चस्विता और हरण शक्ति तुममें है, उसके द्वारा मैं भी तेजस्वी, वर्चस्वी और हरस्वी बनूं।)

अग्नि की आराधना करने के पश्चात् ब्रह्मचारी घुटने के बल बैठ कर आचार्य के चरणों पर नतमस्तक होकर कहता था—

'अधीहि भोः सावित्रीं भो अनुब्रूहीति।'

(हे आचार्य आप सावित्री बतायें, उसे बोलें।)

आचार्य ब्रह्मचारी के वस्त्र और हाथों को अपने हाथों से पकड़ कर सावित्री (गायत्री) मन्त्र का पाठ पहले पदशः, फिर आधा और फिर पूरा करता था। आचार्य ब्रह्मचारी से गायत्री का उतना पाठ कराता था, जितना वह कर सकता था। वह शिष्य के हृदय-प्रदेश पर अपना हाथ अंगुलियों को ऊपर करके रखता था और कहता था—

'मम व्रते हृदयं ते दधामि, मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु। मम वाचमेकव्रतो जुषस्व, बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।'

(तुम्हारे हृदय को अपने अनुशासन में रखता हूँ, तुम्हारा चित्त मेरे चित्त का अनुसरण करे, एकव्रत होकर मेरी वाणी पर ध्यान दो, बृहस्पति तुमको मेरे लिए नियुक्त करे।)

ब्रह्मचारी को मेखला बाँधकर, और दण्ड देकर ब्रह्मचर्य-जीवन का आदेश आचार्य इन शब्दों में करता था—

'ब्रह्मचार्यस्यपोशान, कर्म कुरु, दिवा मा स्वाप्सीराचार्याधीनो वेदमधीष्व।'

(तुम ब्रह्मचारी हो, जल पीओ, काम करो, दिन में मत सोओ, आचार्य के अधीन होकर वेद का अध्ययन करो।)

उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य और ब्रह्मचारी का वह सम्बन्ध स्थापित होता था, जिसके द्वारा विद्यार्थी लगभग १२ वर्षों तक वैदिक साहित्य और दर्शन का अध्ययन करता था। आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध के विषय में मान्यता थी कि यह सम्बन्ध देवताओं की उपस्थिति में उन्हीं की प्रेरणा से सम्पन्न हुआ है। इस विधि में ब्रह्मचारी की मानसिक पवित्रता और सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिए वह

योजना निहित है, जो विद्यार्थी को उल्लसित करके तप और त्याग के जीवन में आनन्द का सर्जन करती थी ?[१]

वैदिक काल के पश्चात् आचार्यों के आश्रम पर प्रायः उन्हीं विद्यार्थियों का उपनयन संस्कार होता था, जो आचार्यों को अपने लिए नियुक्त नहीं कर पाते थे। महाभारत में राजाओं के द्वारा राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए आचार्यों को नियुक्त करने के उल्लेख मिलते हैं। द्रोणाचार्य को पाण्डवों और कौरवों को शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया गया था। राजा आचार्यों के लिए आश्रम बनवा देते थे। वे राजकुमारों का उपनयन करके उनको शिक्षा देते थे। अपने घर पर उपनयन करने की पद्धति का बीजारोपण यहीं से होता है। ऐसे आचार्य गाँवों या नगरों के समीप बसते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत में वनवासी आचार्यों की परम्परा के साथ ही ग्रामीण आचार्यों की परम्परा चल पड़ी। ये ग्रामीण आचार्य प्रायः पौरोहित्य करते थे।

यज्ञोपवीत

उपनयन संस्कार के उपर्युक्त परिचय में यज्ञोपवीत या जनेऊ का नाम नहीं आया है। वैदिक युग में आधुनिक जनेऊ का प्रचलन नहीं था। आधुनिक जनेऊ वैदिककालीन उत्तरीय के स्थान पर प्रयुक्त होता है। वीत का अर्थ है पहना हुआ। वैदिक काल में उत्तरीय के पहनने या धारण करने की तीन विधियों के नाम निवीत, आवीत और उपवीत मिलते हैं। इनमें से उपवीत विधि से उत्तरीय धारण करने का प्रचलन देवों में था। यज्ञ करते हुए मानव 'देव' कोटि में आ जाता है। अतः वह यज्ञ के अवसर पर उपवीत उत्तरीय धारण करता था। समग्र जीवन-विन्यास को ही यज्ञ मान कर सदैव यज्ञोपवीत उत्तरीय धारण करने की रीति का प्रचलन हुआ।

सूत्रयुग में सूत्र के बने हुए जनेऊ का विकल्प से प्रचलन हुआ। नियम बना कि गृहस्थ को सदैव उत्तरीय या सूत्र उपवीत विधि से धारण करना चाहिए। उत्तरीय साधारणतः मृगचर्म का होता था—भारी-भरकम। यदि विकल्प से सूत्र धारण किया जा सकता था तो भारत की जलवायु में स्वभावतः चर्म के उत्तरीय के स्थान पर सूत्र के जनेऊ से सुविधा हो सकती थी। इस सूत्र के जनेऊ का प्रचलन बढ़ा। फिर भी उस प्राचीन काल के उत्तरीय से उपवीत होने का स्मारक उस विधान में

---

१. उपनयन की उपर्युक्त विधि सूत्र-स्मृति, और पौराणिक युग में प्रायः इसी रूप में थोड़े हेर-फेर और परिवर्तन तथा संवर्धन के साथ चलती रही।

मिलता है, जिसके अनुसार आज भी उपनयन संस्कार करते समय मृगचर्म से ही उपवीत पहली बार बनाया जाता है। यद्यपि सूत्र के जनेऊ ने सूत्रकाल में उत्तरीय का स्थान प्रायः ले सा लिया, फिर भी भोजन करते समय उत्तरीय को यज्ञोपवीत विधि से धारण करने का नियम बना कर वैदिक उत्तरीय विधि को सदा के लिए अक्षुण्ण रखा गया।[1]

आरम्भिक युग में यज्ञोपवीत धारण करने के लिए अवसर नियत थे—गुरु, वृद्ध और अतिथियों की उपासना करते समय, होम और जप करते समय, भोजन, आचमन और स्वाध्याय के समय।[2] इससे प्रतीत होता है कि उस युग में सदा यज्ञोपवीत धारण करना—चाहे वह उत्तरीय या सूत्र रूप में हो—आवश्यक नहीं था। यज्ञ के अवसर पर यज्ञोपवीत धारण करना परमावश्यक नियत किया गया। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार यज्ञोपवीती का ही यज्ञ सफल होता है। ब्राह्मण यज्ञोपवीती होकर जो कुछ पढ़ता है, वह यज्ञ है, इसलिए यज्ञोपवीती होकर ही पढ़ना चाहिए, अथवा यज्ञ करना चाहिए, जिससे सफलता प्राप्त हो।[3] ब्रह्मचर्याश्रम का अध्ययन-काल दीर्घसत्र माना गया है। ब्रह्मचर्य यज्ञ का प्रतीक है।[4] ऐसी मान्यता के अनुकूल ब्रह्मचर्य के साथ उत्तरीय और यज्ञोपवीत की प्रतिष्ठा हुई।

उपनयन संस्कार के अवसर पर उत्तरीय वस्त्र का सूक्ष्म रूप ही पहले वैकल्पिक विधि से और कालान्तर में अनिवार्य रूप में ग्रहण किया गया।[5] वैदिक काल में यज्ञोपवीत का सूत्र-रूप सम्भवतः अज्ञात था। सूत्र का जनेऊ भारतीय जीवन की सरलता और जलवायु के अनुरूप ही ग्रहण किया गया है।

---

१. नित्यमुत्तरं वासः कार्यम्। अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २.२.४.२२-२३। सोत्तराच्छादनश्चैव यज्ञोपवीती भुञ्जीत। आप० धर्म० २.८.१९.१२।

२. आप० धर्म० १.५.१५.१।

३. यत्किं च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजते एव तत्। तस्माद्यज्ञोपवीत्ये-वाधीयीत याजयेद्यजेत वा यज्ञस्य प्रसृत्यै। तैत्तिरीय आरण्यक २.१।

४. दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति। शतपथ ११.३.३.२।

५. इस सम्बन्ध में देखिए सायण की तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.९ की टीका में स्वकीयेन वस्त्रेण यज्ञोपवीतं कृत्वा आदि। गोभिलगृह्य सूत्र १.२.१ में यज्ञोपवीतं कुरुते वस्त्रं वापि कुशरज्जुमेव। स्मृतिचन्द्रिका १ के पृ० ३२ पर सूत्रमपि वस्त्रा-भावाद्वेदितव्यमिति। अपि वाससा यज्ञोपवीतार्थान् कुर्यात्तदभावे त्रिवृता सूत्रेणेति। ऋष्यशृंगस्मरणात्।

सूत्र के जनेऊ का प्रचलन होने पर उसकी रचना-सम्बन्धी अभिव्यक्तियों का अनुसंधान समय-समय पर किया गया। इसके अनुसार इसके द्वारा मनुष्य की चार अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और अद्वैत; तीन गुणों—सत्त्व, रजस् तथा तमस् और तीन ऋणों का परिचय कराया गया है और इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तथा कुल के प्रवर महर्षियों की प्रतिष्ठा की गई है।[1]

कन्याओं का उपनयन

जिन कन्याओं की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, उनका उपनयन वैदिक काल से होता आया है। प्रारम्भ में जिस प्रकार सभी बालकों का उपनयन होना आवश्यक नहीं था, उसी प्रकार सभी कन्याओं का भी उपनयन नहीं होता था।[2] सदा से ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में शिक्षा की कमी रही है। ऐसी परिस्थिति में ऐसी कन्याओं की संख्या प्राचीन काल में बहुत अधिक नहीं थी, जिनका उपनयन होता हो। जो कन्यायें अध्ययन करने के लिए आश्रम में जाती थीं, उनका उपनयन होता था।

कालान्तर में कन्याओं के विवाह की अवस्था क्रमशः कम निर्धारित होती गई। ऐसी परिस्थिति में उनका आश्रम में जाकर पढ़ना बन्द होने लगा और ऐसी कन्याओं की संख्या स्वल्पमात्र रह गई, जो उपनयन के पश्चात् वेद-विद्याओं का अध्ययन करती हों। कन्याओं का उपनयन विवाह के समय केवल धार्मिक विधान की पूर्ति के लिए होने लगा।[3] विवाह के अवसर पर कन्याओं के यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख गोभिल-गृह्यसूत्र में भी मिलता है।[4]

यम ने कन्याओं के उपनयन का उल्लेख करते हुए लिखा है—प्राचीन समय में कन्याओं के लिए मौञ्जीबन्धन, वेदों का अध्यापन और सावित्री-वाचन की बात कही जाती है। इनको पिता, चाचा या भाई के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति न

---

१. *Pande* : Hindu Saṁskāras p. 226

२. वही, पृ० २२८।

३. हारीत धर्मसूत्र में कन्याओं के उपनयन के विषय में कहा गया है—द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः। स्मृतिचन्द्रिका पृ० २४ तथा संस्कार-प्रकाश, पृ० ४०२ से।

४. गोभिल गृ० २.१.१९।

पढ़ाये। वे अपने घर में ही भीख माँगें; उन्हें अजिन, चीर और जटा नहीं धारण करना चाहिए।[1] मनु के अनुसार कन्याओं का उपनयन बिना मन्त्र पढ़े ही करना चाहिए। मनु कन्याओं का उपनयन दिखावे मात्र के लिये मानते हैं। तभी तो उन्होंने कहा है कि पति की सेवा करना ही अन्तेवासी बनना है।[2]

साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ प्राचीन काल में यज्ञोपवीत धारण करती थीं। बाण ने कादम्बरी में तपस्विनी महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका शरीर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से पवित्र हो रहा था।

यज्ञोपवीत सूत्र का धार्मिक महत्त्व सदा रहा है, पर प्राचीन काल में नाम मात्र के लिए यज्ञोपवीत पहनने वाले उसका बहुविध अधार्मिक उपयोग करते थे। यथा—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्,
एतेन मोचयति भूषण - सम्प्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥मृच्छकटिक ३.१६

चोर सेंध की माप के लिए इसका उपयोग करते थे।

---

१. संस्कारप्रकाश, पृ० ४०२-४०३ से।

२. मनुस्मृति २· ६६-६७।

अध्याय ४

अध्ययन

प्राचीन भारत में वास्तविक अध्ययन अध्यापन का समारम्भ उपनयन संस्कार के पश्चात् होता था। तभी से विद्यार्थी का ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता था। विद्यार्थी की साधारण उपाधि ब्रह्मचारी थी। उसका प्रमुख उद्देश्य था वेद-विद्या या ब्रह्म-विद्या में पारंगत होना। तत्कालीन धारणा के अनुसार इन्हीं के द्वारा मानव-जीवन सार्थक हो सकता है।

ज्ञान की प्रतिष्ठा

ज्ञान अपनी आधिभौतिक उपयोगिता के बल पर तो विश्व में सदैव प्रतिष्ठित रहा है और रहेगा। प्राचीन भारत में इसके अतिरिक्त ज्ञान की प्रतिष्ठा के कुछ विशेष कारण थे। वैदिक धारणा के अनुसार ज्ञान के द्वारा मानव का व्यक्तित्व दिव्य हो जाता है। वह ज्ञान से सम्पन्न होने पर देवता बन जाता है।[1] ऐसे विद्वान् को समाज में सर्वोच्च आदर प्राप्त होता था।[2] मानव के जन्मजात तीन ऋणों में ऋषि-ऋण से मुक्ति विद्या प्राप्त करने के द्वारा सम्भव मानी जाती थी।[3]

अथर्ववेद के अनुसार ज्ञान से चक्षु, प्राण और प्रजा पाने की विशेषता है—

> यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृत्तां पुरम्।
> तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥अथर्व १०.२.२९

---

१. विद्वांसो हि देवाः। शतपथ ३.७.३.१०। ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्येषु देवाः। शतपथ २.२.२.६। एते देवा यत् प्रत्यक्षं ब्राह्मणाः। तैत्तिरीय संहिता १.७.३.१।

२. ऋग्वेद १.१६४.१६ के अनुसार दार्शनिक रहस्यों को जानने वाले पिता के भी पिता हैं। अथर्ववेद ११.५.२६ के अनुसार स्नातक पृथिवी पर अतिशय शोभा पाता है।

३. तै० सं० ६.३.१०.५।

शतपथ ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है— स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतन्त्र बन जाता है। नित्य उसे धन प्राप्त होता है। वह सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक है। उसे इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है। उसे यश मिलता है। वह लोक को अभ्युदय की ओर लगा लेता है। वह ज्ञान के द्वारा ब्राह्मण का समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व है, उसे पूरा करता है। समाज अपनी आदर-भावना से, दान से और सुरक्षा से उसे सन्तुष्ट करता है। विविध विषयों का अध्ययन करने वाले लोग देवताओं को सन्तुष्ट करते हैं और प्रसन्न होकर देवता उनकी सभी कामनायें पूरी कर देते हैं।[१]

उपनिषद्-काल में ब्रह्मज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व था। ब्रह्मज्ञान के द्वारा स्वयं ब्रह्मा बनना, अपने कुल की ब्रह्मज्ञता की प्रतिष्ठा करना, शोक को पार करना, पापरहित होना, अमरता तथा गुहा-ग्रन्थि से मुक्ति पाना सम्भव माना जाता था।[२] अध्ययन और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को धर्म का प्रमुख अंग माना गया है।[३] विद्या से अमरता पाने अथवा स्वर्ग में स्थान पाने की सम्भावना बताई गई।[४] इस युग में ब्रह्मचर्य जीवन को न अपनाने वाला व्यक्ति ब्रह्मबन्धु अर्थात् नाममात्र का ब्राह्मण कहा जाता था।[५] इसके विपरीत अविद्वान् नरक के अन्धेरे में जा गिरता है।[६] अर्थशास्त्र में पूज्य लोगों में विद्या और बुद्धि से सुशोभित लोगों के लिये सर्वोच्च स्थान नियत किया गया।[७]

महाभारत के अनुसार ब्राह्मणों में पूज्यता विद्या से उत्पन्न होती है—

यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम्।

आदिपर्व ८४.२।

इस ज्ञान से मिलता क्या है? इसका निर्धारण करते हुए महाभारत कहता है कि श्रुति का फल है शील और वृत्त।[८]

---

१. शतपथ ११.५.७.१-५।

२. मुण्डक उप० ३.२.९।

३. छान्दोग्य १.२३.१ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।

४. ईश० ११ तथा केन उ० ४.९ बृहद् आ० १.५.१६।

५. छान्दोग्य ६.१.१।

६. बृहदारण्यक उ० ४.४.११।

७. अर्थशास्त्र ३.२०।

८. सभापर्व ५.१०१।

महाभारत में सनातन आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है—

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि श्रितः।
ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसंस्तरः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः॥
एतदेतादृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिनः॥
आश्वमेधिक पर्व २६.१६-१८।

मनु ने ब्राह्मण-समाज की प्रतिष्ठा का आधार ज्ञान को ही बतलाया है। मनु की दृष्टि में 'वही ब्राह्मण ज्येष्ठ है, जो सबसे अधिक ज्ञानी हो। अशिक्षित ब्राह्मण काठ के हाथी के समान अपने नाम को सार्थक नहीं करता।'[1] ब्राह्मणों का सर्वोच्च कर्तव्य वेदाध्ययन है। वेदाभ्यास ब्राह्मण का सर्वोत्तम तप है।[2] यदि ब्राह्मण अध्ययन न करके कोई अन्य काम करता है तो वह जीवन-काल में ही वंशसहित शूद्र हो जाता है।[3] अशिक्षित ब्राह्मण तृण की अग्नि की भाँति निस्तेज हो जाता है।[4] यदि ऐसे व्यक्ति का भूल से भी स्पर्श हो जाय तो तीन बार स्नान से शुद्धि होती है।[5]

समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उनको ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान सभी प्राणियों का भरण-पोषण करता है। इस आशय की पुष्टि करते हुए मनु ने लिखा है:—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥१२.९९

मनु ने श्राद्ध के अवसर पर विद्वान् ब्राह्मणों को ही भोजन देने का विधान बनाया। वेद में पारंगत तथा ज्ञान में उत्कृष्ट ब्राह्मण ही हव्य, कव्य और दान के

---

१. मनु० २.१३५-१३६, १५५-१५८।
२. मनु० २.१६४-१६७ तथा ११.२४५।
३. मनु० २.१६८ पराशर स्मति ११.२९।
४. मनु० ३.१६८।
५. आपस्तम्बस्मृति ९.४०।

योग्य है।[1] वेद न जानने वाले एक सहस्र ब्राह्मणों को भोजन देने से कहीं अच्छा है केवल एक ही वेदज्ञ ब्राह्मण को खिलाना।[2] वेद न जानने वाले ब्राह्मणों को भोजन देने पर दाता को मरने के पश्चात् उतने ही जलते हुए लोहे के गोले खाने पड़ते हैं, जितने ग्रास उन अविद्वान् ब्राह्मणों ने श्राद्ध में खाये हों।[3]

विद्वान् स्नातक को मनु ने समाज का सर्वोच्च अभिनन्दनीय व्यक्ति मानकर नियम बनाया है कि सभी अन्य लोगों की अपेक्षा स्नातक और राजा बढ़कर मान्य हैं, पर इन दोनों में भी स्नातक राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है। राजा और स्नातक दोनों मधुपर्क विधि से सत्कार किये जाने योग्य माने गये।[4]

मनु ने विद्या की प्रशंसा करते हुए विवेचन किया है कि ब्राह्मण के लिये तप और विद्या दोनों निःश्रेयसकर हैं। इनमें से तप के द्वारा वह पाप को नष्ट करता है और विद्या के द्वारा अमर पद पाता है। ज्ञान की महिमा की इसी दिशा का निर्देशन करते हुए मनु ने कहा है—

> **वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।**
> **इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१२.१०२**

(वेद-शास्त्र आदि के तत्त्वों को जानने वाला विद्वान् चाहे किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।)

वेदज्ञ सभी कर्मों से उत्पन्न दोषों को जला देता है, जैसे प्रखर अग्नि हरे वृक्षों को भी जला देती है। वेदाध्ययन से मनुष्य सभी पापों से निवृत्त हो जाता है।[5] श्रुति और स्मृति ब्राह्मण की आँखें हैं। एक के बिना वह काना और दोनों के बिना अन्धा है।[6]

पौराणिक युग में वेदों का अध्ययन पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहा। विष्णु-पुराण के अनुसार वेदों का अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वस्त्रों को धारण करना। वेद मानवता के लिए परिधान हैं। जो व्यक्ति मोहवश इनका

---

१. मनुस्मृति ३.१२८, १३०, १३२।
२. मनु० ३.१३१।
३. मनु० ३.१३३।
४. मनु० २.१३९, ३.११९।
५. मनु० १२.१०१।
६. अत्रिस्मृति ३४९; हारीतस्मृति १.२४।

परित्याग करता है, वह नंगा और पापी है। शूद्र भी ब्रह्मचर्य से ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।[1]

राजाओं के द्वारा स्नातकों और विद्वानों को बहुविध सुविधायें दी जाती थीं। उन्हें समय-समय पर अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण देने पर पुरस्कार और दान दिये जाते थे। उच्च कोटि के विद्वान् राजकर से सर्वथा मुक्त होते थे। राजा का कर्तव्य होता था कि विद्वान् स्नातकों को समाज में सुव्यवस्थित विधि से बसाने का प्रबन्ध करे।

बौद्ध संस्कृति में प्रव्रज्या लेकर लोग ज्ञान प्राप्त करते थे। गौतम ने बताया है कि राजा का दास यदि प्रव्रज्या ले तो उसका स्वामी राजा भी उसका अभिवादन करेगा।[2] उच्चकोटि के विद्वानों को संघ में शारीरिक सुख और सुविधा मिलने के अतिरिक्त सार्वजनिक विधि से उन्हें सम्मानित किया जाता था। छः शास्त्रों का शिक्षण देने वाला विद्वान् जब हाथी पर चढ़ कर यात्रा करता था, तो उसके साथ अनुचर भी नियुक्त होते थे। विद्वानों के विवाद के अवसर पर विजयी विद्वानों को हाथी पर चढ़ा कर सम्मानित किया जाता था।[3]

उपर्युक्त मान्यताओं के अनुरूप विद्वानों को राजा से लेकर दीन-हीन लोगों तक का आदर प्राप्त हुआ। कालिदास ने रघुवंश में राजा रघु के द्वारा महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स के आतिथ्य का जो वर्णन किया है, वह भले ही आदर्श माना जाय, पर उससे कम से कम इतना सिद्ध होता ही है कि समाज के नेताओं और अधिकारियों की दृष्टि में विद्वान् को सर्वोच्च सम्मान मिला था। निःसन्देह उस युग में विद्या का पलड़ा ऐश्वर्य और शक्ति के पलड़े से अधिक गौरवपूर्ण माना गया।

कुछ राजा विद्वानों के लिए अग्रहारादि देने के अतिरिक्त घर बनवा देते थे। कश्मीर के राजा जयसिंह के विषय में कल्हण कहता है—

> विदुषां विततोत्सेधसौधास्तद्विहिता गृहाः।
> व्याप्ताः सप्तर्षिभिर्द्रष्टुमुत्कर्षमिव मूर्धसु॥ राजत० ८.२३९६

राजा जयपीड ने अन्य राज्यों के असंख्य विद्वानों को बुलाकर आश्रय

---

१. विष्णुपुराण ३.१७.५-८। भागवत ९.२.९-१४।
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्॥ विष्णुपु० २.६.४८।

२. दीघनिकाय १.२ से।

३. वाटर्स-ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १६२।

दिया।[1] राजा अवन्तिवर्मा ने भी विद्वानों को बुलाकर उन्हें समृद्धि प्रदान की। वे विद्वान् राजाओं के योग्य वाहनों में राजसभा में जाते थे।[2] सुकवियों को राजाओं की ओर से वेतन मिलता था।[3] कश्मीर के कवि बिल्हण को कर्नाटक में राजा के सम्मुख छत्र धारण करने का अधिकार था।[4]

प्राचीन काल में विद्याध्ययन केवल गौणरूप से ही धन कमाने के लिए था। विद्या के द्वारा मानव प्रधान रूप से अपनी वैयक्तिक चेतनाओं को जागरित करके तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होता था। ऐसे महामानव के लिए आधिभौतिक ऐश्वर्य की मनोहारिता बहुत अधिक स्पृहणीय नहीं थी। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरण-रज लेकर अपने को धन्य मानता था। ज्ञान का आनन्द निःसीम माना गया था। ब्रह्मज्ञान अनुपम समझा गया। इस अपरिमित आनन्द-सागर में अवगाहन करने के लिए उत्सुक होकर भारतीय समाज—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—ने लौकिक विभूतियों को तिलाञ्जलि दी और भिक्षुक का जीवन अपनाकर भी ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियों की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके लिए समर्पित कर दिया। ऐसी परिस्थिति में उन विद्वानों को अनागार और दिगम्बर होने पर भी यह प्रतीत न हुआ कि घर वाले अथवा स्वर्ण-जटित वस्त्र वाले उनसे अच्छे हैं। अवश्य ही उन विद्वानों का समाज पर यह प्रभाव पड़ कर रहा कि अनेक राजाओं और राजकुमारों ने अपने वैभव और ऐश्वर्य के पद को अङ्गीकार न करके जीवन भर ज्ञान-मार्ग के पथिक रह कर सरल जीवन बिताया और अपने पवित्र जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।

ज्ञान की उपर्युक्त प्रतिष्ठा को शाश्वत मूल्य प्रदान करने की आवश्यकता बताते हुए विवेकानन्द ने कहा है—

Unselfish and genuine zeal for scholarship and honest earnest thought must again become dominant in the life of our countrymen, if they are even to rise to occupy among nations a rank, worthy of their own historic past.[5]

---

१. राजत० ४.४९२।

२. राजत० ५.३२-३३।

३. राजत० ५.२०३-२०४।

४. राजत० ७.९३५-९३७।

५. Complete Works Vol. IV p. 220

अध्ययन-काल

वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम का आरम्भ अथवा वैदिक साहित्य के अध्ययन का आरम्भ लगभग १२ वर्ष की अवस्था में होता था। उस युग में वेदों का अध्ययन प्रधान था।[१] बारह वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था, अथवा वैदिक ज्ञान के प्रति अभिरुचि रहती थी, तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से १०१ वर्षों तक शिक्षा ग्रहण की थी।[२] भरद्वाज ने जीवन के तीन भाग (७५ वर्ष) तक वेदों का अध्ययन किया और चौथे भाग में भी ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए अनुष्ठान किया था।[३] गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य के लिए ४८ वर्ष नियत किये गये हैं। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का अध्ययन पर्याप्त माना गया। कम से कम एक वेद पढ़ ही लेना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में कम से कम १२ वर्ष का समय ब्रह्मचर्य के लिए उचित माना गया।[४] वेदों के अध्ययन के क्रम से १२, २४, ३६ और ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया जा सकता था। नियम था कि अधिक से अधिक वेदों का अध्ययन करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते थे, वे प्रायः १२ वर्ष तक वेदाध्ययन करने के पश्चात् स्नातक बन जाते थे क्योंकि ४८ वर्षों तक विद्यार्थी-जीवन बिता लेने के पश्चात् ६० वर्ष की अवस्था में विरले ही विद्वान् पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते होंगे। अवश्य ही वे या तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर जीवन-भर अध्ययन-अध्यापन में तत्पर रहते होंगे या संन्यासी बन जाते होंगे। वैदिक काल के अन्तिम युग में १२ वर्षों में ही सभी वेदों में स्नातक पारङ्गत होने लगे थे।[५]

मनु ने तीनों वेदों के अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य-काल की अवधि ३६ वर्ष निर्धारित की है, पर साथ ही कहा है कि १८, ९ या अभीष्ट ज्ञान की प्राप्ति के समय तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए।[६] मनु के युग में ब्रह्मचर्याश्रम

---

१. छान्दोग्य उ० ६.१.१-२। २. छा० उ० ८.११.३।

३. भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह इन्द्र उपव्रज्योवाच—यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०-११।

४. गोपथ २.५।

५. श्वेतकेतु के सम्बन्ध में कहा गया है—स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य...छान्दोग्य ६.१.२।

६. मनु० ३.१।

का आरम्भ पाँच वर्ष की अवस्था से लेकर १२वें वर्ष तक हो सकता था। इस युग में विद्यार्थी साधारणतः २५ वर्ष की अवस्था में स्नातक बन कर गृहस्थाश्रम के अधिकारी हो जाते थे।[1]

दूर-दूर के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी आयु बढ़ जाने पर जाते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए प्रायः १६ वर्ष की अवस्था के विद्यार्थी जाते थे।[2] सोलह वर्ष के पहले तक विद्यार्थी पास-पड़ोस के आचार्यों से शिक्षा लेकर फिर प्रसिद्ध और दूरस्थ आचार्यों के ज्ञान-सागर में अवगाहन करने के लिए चल देते थे।[3]

पौराणिक युग में विद्यार्थी-जीवन की तपोमय प्रवृत्तियों को अपनाने में असमर्थ लोगों के लिए सुविधाजनक मार्ग निकाला गया। परिणामतः ब्रह्मचर्य की अवधि एक वर्ष या तीन दिन तक भी मान ली गई।[4] अर्थशास्त्र में राजकुमारों को केवल १६ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचारी रहने का विधान मिलता है।[5]

कम से कम उपनिषद्-काल में ब्रह्मचारी होने के लिए अविवाहित होना आवश्यक नहीं था और न कोई अवस्था सम्बन्धी प्रतिबन्ध ही था। कोई गृहस्थ यदि ज्ञान की खोज में अध्ययन करने लगता तो उसे ब्रह्मचारी कहा जाता था। इस युग में श्वेतकेतु का पिता देवयान और पितृयान विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पञ्चाल के राजा प्रवाहण के समीप ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए गया था।[6]

---

१. मनु० ४.१।

२. असातमन्त जातक ६१।

३. लोगों की धारणा थी कि दूरस्थ आचार्यों से पढ़ना अच्छा है। यद्यपि उनके समकक्ष आचार्य निकट हों तो भी दूर जाना चाहिए। बृहस्पति ने इसका कारण समझाते हुए कहा है—देशान्तरवासेन जितक्लेशो भवति—बार्हस्पत्य सूत्र ३.२।

४. श्रीमद्भागवत ३.४२।

५. अर्थशास्त्र १.५.९।

६. बृहदारण्यक उप० ६.२.४। इसी प्रकार प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल, जो महाशाल, महाश्रोत्रिय आदि थे और गृहस्थ थे, आध्यात्मिक मीमांसा करते हुए किसी निश्चित परिणाम पर न पहुँचे तो वे सभी समित्पाणि होकर राजा अश्वपति के पास शिक्षा लेने के लिए शिष्य भाव से पहुँचे। छान्दोग्य ५.११। परवर्ती युग में गृहस्थों के ब्रह्मचारी बनने की सुविधा पर रोक लगा दी गयी। देखिए

बौद्ध संस्कृति में कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके किसी अवस्था का भी होने पर बुद्ध, संघ और धर्म की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था। जैन आचार्यों ने भी समग्र जीवन को विद्याध्ययन के लिए उपयुक्त माना।

विद्या के अधिकारी

प्राचीन काल में प्रायः प्रत्येक आचार्य की सर्वप्रथम कामना होती थी कि मेरे शिष्यों में से अधिक से अधिक विद्वान् बनकर मेरे सुयश को प्रख्यात करें और वे भी आचार्य बनकर अन्य शिष्यों को पढ़ायें, जिससे शिष्य-परम्परा से मेरा ज्ञान अमर रहे। ऐसी परिस्थिति में योग्य शिष्यों का चुनाव करने में आचार्य सदैव सावधान रहते थे। आचार्य की योग्यता इस बात में भी मानी जाती थी कि वह योग्य शिष्यों को ग्रहण करे।[1]

वैदिक काल में जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्रायः उन्हीं को अपनाते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी, उन्हें हल-फाल या ताने-बाने के काम में लगना पड़ता था।[2] बालकों की मनोवृत्ति परखने की रीति उस समय थी। मनोवृत्ति देखकर उसे समुचित व्यवसाय में लगाया जा सकता था।[3]

विद्यार्थी को अपनाने के पहले आचार्य उसके शील और चरित्र की परीक्षा कर लेता था। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से आचार्यों के प्रति विद्यादेवी की यह प्रार्थना विख्यात रही है—मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ। मुझे असूया करने वाले, कुटिल और असंयमी को मत दो। तभी मैं वीर्यवती रहूँगी। उसी को विद्या प्रदान करो, जो पवित्र हो, प्रमाद नहीं करता हो, मेधावी हो और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हो।[4]

यो गृहस्थाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत्पुनः।
न यतिर्न वनस्थश्च सर्वाश्रमवर्जितः।। दक्षस्मृति १.९।

१. देखिए मालविकाग्निमित्र का प्रथम अंक—विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति।

२. ऋग्वेद १०.७१.९। ३ ऋ० ९.११२.१

४. आचार्य साधारणतः ज्ञान देने के पहले विद्यार्थी को उपनयन-विधि से ब्रह्मचारी बना लेता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्यार्थी में उच्च ज्ञान पाने की पात्रता उदय होती थी। कभी-कभी अधिक अवस्था के लोगों को, जो पहले से ही विद्वान् होते थे, शिक्षा देने के लिए ब्रह्मचारी बनाना आवश्यक

गुरु-द्रोही को मुझे न दो।[1]

उपनिषदों में विद्यार्थी को अपनाने के पहले उसकी परीक्षा करने के विशद वर्णन मिलते हैं। इन्द्र और वैरोचन को आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण करने की बातचीत होने के पहले ही ३२ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहना पड़ा।[2] विद्यार्थियों की योग्यता का परिचय पाने के लिए आचार्य उसका कुल, गोत्र, नाम आदि पूछते थे। सत्यकाम में विद्यार्थी बनने के लिए उत्साह तो था, पर उसे अपने गोत्र का ज्ञान माता से पूछने पर भी न हो सका। आचार्य के पूछने पर सत्यकाम ने माता के तत्सम्बन्धी अज्ञान की चर्चा कर दी। आचार्य को विद्यार्थी के सत्य बोलने पर प्रसन्नता हुई। सम्भवतः सत्यशीलता का ही परिचय गोत्र जानने से भी मिलता। आचार्य ने कहा—तुमको अपना विद्यार्थी बनाऊँगा। तुम सत्य से विचलित नहीं हुए। इस प्रकार आचार्य को सन्तोष हुआ कि सत्य से विचलित न होने वाला विद्यार्थी शिष्य बना लेने योग्य है और ऐसा सत्यवादी ब्राह्मण ही हो सकता है।[3] पिप्पलाद ने कौसल्य को प्राणविद्या की शिक्षा के योग्य इसी कारण माना कि वह ब्रह्मनिष्ठ था।[4]

मनीषियों का विश्वास था कि उच्च आध्यात्मिक ज्ञान साधारण लोगों को नहीं देना चाहिए। कठोपनिषद् के अनुसार आचार्य यम ने जब देख लिया कि नचिकेता की प्रवृत्ति लोकनिष्ठ नहीं है—वह प्रिय वस्तुओं को अथवा मनोरम रूप वाली वस्तुओं को ठुकरा चुका है, तभी उन्होंने ब्रह्मज्ञान विषयक व्याख्यान आरम्भ किया।[5]

नहीं माना जाता था। ऐसे विद्यार्थियों की ब्रह्मचारी बनने की आकांक्षा होने पर भी उनसे आचार्य कहता था—मैं तुम्हें ज्ञान दूंगा। तुम्हारा ब्रह्मचारी बनना आवश्यक नहीं है। शतपथ ११.४.१.९।

१. निरुक्त २.४; वसिष्ठधर्मसूत्र २.८.९; मनुस्मृति २.११४-११५।

२. छान्दोग्य ८.७.३। बाण ने कादम्बरी में इसका समर्थन करते हुए लिखा है—अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेनोपदेशगुणाः।

३. छान्दोग्य ४.४।   ४. प्रश्न उ० ३.२।

५. कठोपनिषद् प्रथम वल्ली २०-२९ तथा द्वितीय वल्ली। विद्यार्थियों की ऐसी परीक्षा के लिए देखिए कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ३.१। इस उपनिषद् (१.१) के अनुसार मान का न होना विद्या प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च गुण है। बुद्धचरित २.३५ के अनुसार विद्या-प्राप्ति दूसरों को दुःख देने के लिए हो सकती है। अतः विद्यार्थी की परीक्षा करनी चाहिए।

अर्थशास्त्र के अनुसार शिक्षा पात्र को ही योग्य बनाती है।[1] शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह तथा तत्त्व को ढूँढ़ निकालने में लगी हुई बुद्धि वाले व्यक्ति को विद्या आती है, दूसरों को नहीं।[2]

साधारणतः स्मृतियों का मत है कि योग्य विद्यार्थियों को शिक्षा देनी चाहिए।[3] इस प्रकरण में योग्यता का अर्थ विद्यार्थी की प्रतिभा और सच्चरित्रता है। याज्ञवल्क्य ने विद्यार्थी की योग्यता के उपर्युक्त मानदण्ड के अतिरिक्त उसके स्वास्थ्य और गुरुभक्ति का उल्लेख किया है।[4] स्वस्थ व्यक्ति विद्या-प्राप्ति के तपोपय जीवन और श्रम के लिए समर्थ हो सकता है। गुरुभक्ति का अध्ययन की सार्थकता पर प्रभाव पड़ता ही है। भक्ति और श्रद्धा साथ होती हैं और इनसे समन्वित विद्यार्थी गुरु के व्यक्तित्व की गरिमा को समझता है तथा गुरु के शब्दों को उचित महत्त्व देते हुए उन्हें ग्रहण करता है।

पौराणिक युग में विद्याध्ययन के अधिकारी की योग्यता का मानदण्ड पूर्ववत् मिलता है। कृतज्ञ, द्रोह न करने वाले, मेधावी, गुरु बनाने वाले, विश्वासपात्र और प्रिय व्यक्ति, अध्यापन के योग्य समझे जाते थे।[5] स्कन्दपुराण के अनुसार साधु, विश्वासपात्र, ज्ञानवान् धन देने वाले, प्रतिभाशाली, दोष-दृष्टि न रखने वाले तथा पवित्र विद्यार्थी को धार्मिक कर्तव्य समझकर पढ़ाने का विधान था[6]।

उपर्युक्त विवेचन से कदापि यह नहीं समझना चाहिए कि मन्द बुद्धि बालकों को विद्यालयों में स्थान नहीं मिल पाता था। उन्हीं को देखकर भवभूति ने लिखा है—

> वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
> न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्ति करोत्यपहन्ति वा।
> भवति च तयोर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
> प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः॥
>
> उत्तररामचरित २.४।

---

१. कालिदास के अनुसार 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति', रघु० ३.२९।

२. अर्थशास्त्र १.५.४-५।

३. मनु० २.११३; हारीत १.२०।

४. याज्ञ० स्मृति १.२८।

५. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ५३ वाँ अध्याय।

६. काशीखण्ड पूर्वार्ध ३६.१५।

बौद्ध संस्कृति में विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक गुण माना जाता था। तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान है, जो क्रय किये जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है, उसी से आचार्य की जड़ काटता है।[1] भिक्षुओं को उच्चतर शिक्षण देने के लिए जो उपसम्पदा-संस्कार होता था, उसके पहले संघ के सभी सदस्यों का मत लिया जाता था। यदि संघ पक्ष में नहीं होता था तो उस भिक्षु की उपसम्पदा नहीं हो सकती थी। गौतम ने नियम बनाया कि ढोंगी, ढीठ, मायावी या गृहस्थों की निन्दा करने वाले भिक्षुओं के लिए संघ में स्थान नहीं है। गौतम ने आदेश दिया कि गृहासक्त, पापेच्छु, या पापसंकल्पी भिक्षु को वाहर निकाल दिया जाय।[2]

संघ में विद्याध्ययन करने के लिए प्रवेश पाने वाले भिक्षुओं को छूत के रोग से मुक्त होना, ऋण के भार से मुक्त होना, राजा की सेवा में न होना, माता-पिता की स्वीकृति होना, अवस्था का कम से कम २० वर्ष का होना आदि आवश्यक बातें थी।[3]

कुछ बौद्ध विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए पहले से कुछ विषयों का ज्ञान अपेक्षित था। नालन्दा के विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए द्वार-पण्डितों के द्वारा ली हुई परीक्षा में सफल होना पड़ता था। उस परीक्षा में लगभग २०% विद्यार्थी सफल होते थे। प्रवेश-परीक्षा प्रायः मौखिक होती थी। विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में भी छः प्रकाण्ड पण्डित द्वार पर प्रतिष्ठित थे।[4]

जैन आचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभाषी और मधुरकर्मा होना आवश्यक बतलाया है।[5]

आर्येतर वर्णों का विद्याधिकार

वैदिक काल में आर्येतर जातियों का आर्य-भाषा और संस्कृति में निष्णात होकर वैदिक मन्त्रों की रचना करने का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में वैरोचन

---

१. उपाहन जातक २३१।

२. सुत्तनिपात में चुन्दसुत्त तथा धम्मियसुत्त। चल्लवग्ग ९.१.४ में उपर्युक्त मत का समर्थन।

३. चुल्लवग्ग १०.१७.२।

४. वाटर्स-ह्वेनसांग, भाग २, पृ० १६५।

५. उत्तराध्ययन ११.१४।

नामक असुर के इन्द्र के साथ ही प्रजापति को आचार्य बनाने की चर्चा मिलती है। वैरोचन ३२ वर्षों तक ब्रह्मचारी बन कर प्रजापति के आचार्यत्व में रहा। शुक्राचार्य असुरों के आचार्य ही थे। इन सब उल्लेखों के आधार पर इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि कम से कम आरम्भिक युग में आर्यों ने आर्येतर जातियों के लिए विद्यादान करने में संकोच नहीं किया।[1]

शूद्रों का विद्याधिकार

वैदिक काल के पश्चात् जब आर्यों के सम्पर्क में आई हुई प्रायः सभी जातियाँ वर्ण-व्यवस्था में गुँथ गईं तो वैदिक साहित्य के पढ़ने-लिखने का अधिकार प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को मिला। शूद्रों की वैदिक शिक्षा पर यह रोक प्रधानतः स्मृति-काल में लगी। वैदिक साहित्य साधारणतः आर्य धर्म का याज्ञिक साहित्य था। शूद्रों को आर्यों के याज्ञिक विधान में विशेष अभिरुचि नहीं थी। उन्होंने आर्य-संस्कृति और धर्म को अपनाते हुए भी अपनी सनातन संस्कृति और धर्म का परित्याग नहीं किया। ऐसी स्थिति में उनको वैदिक साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा नहीं थी। सम्भवतः यही कारण था कि उन्हें वैदिक साहित्य पढ़ने का अधिकार नहीं मिला।

भारत में सुदूर प्राचीन काल से वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक धाराओं और विज्ञान तथा कला की शाखाओं का अभ्युदय हुआ है। इनमें से पुराणों की साहित्यिक धारा का स्थान प्रमुख है। पुराणों में भारतीय आर्येतर संस्कृति और धर्म का स्वरूप मिलता है। शूद्रों के लिए सदा से पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी। साथ ही दर्शन की विविध प्रणालियों के अध्ययन के लिए भारत की सभी जातियों को प्रोत्साहित किया गया।

शूद्रों की शिक्षा और उनकी ज्ञान-समृद्धि का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रायः मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों जातियों के समावर्तन-संस्कार के विधान दिये गये हैं।[2] जातक-काल में ऐसे अनेक

---

१. वा० रामायण सुन्दरकाण्ड ४.१३ के अनुसार लंका में बसने वाली आर्येतर जाति स्वाध्याय करती थी। वाल्मीकि ने इस जाति के सम्बन्ध में लिखा है —

बुद्धिप्रधानान्रुचिराभिधानान्संश्रद्धधानाञ्जगतः प्रधानान्। सुन्दरकाण्ड५.१५

२. आ० गृ० सू० ३.८ के अनुसार अनुलेपनेनपाणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेत्, बाहू राजन्यः, उदरं वैश्यः, ऊरूसरणजीविनः ॥

शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं, जो उच्च कोटि के दार्शनिक और विचारक थे।[1] महाभारत में सभी वर्णों के लोगों की संस्कृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी पूर्वकालीन प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है:—

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः॥शान्ति १८१.१५

(ये ही चारों वर्ण हैं, जिनके लिए ब्रह्मा ने ब्राह्मी सरस्वती—संस्कृत भाषा और साहित्य का विधान किया था, लोभ के कारण ये उससे हीन हो गये।)

शूद्रों के वैदिक मन्त्र सुनने पर महाभारत-युग तक रोक नहीं लगी। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में शूद्र भी दर्शक बनकर गये थे। शंकर ने सभी वर्णों को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बतलाया है और कहा है कि ऐसा ब्रह्मज्ञानी —चाहे वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण—गुरुरूप में स्वीकार करने के योग्य है।[2] सांख्यदर्शन के आचार्यों ने शूद्रों को भी सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने के योग्य माना है।[3]

मनु ने भी शूद्र गुरुओं का उल्लेख किया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र आचार्यों की संस्थाओं में प्रायः शूद्र अध्ययन करते थे। कम से कम शिल्पाचार्य सदा से अनेक शूद्र रहे हैं और उनके विद्यार्थी प्रायः शूद्र थे।[5] परवर्ती युग में भी केवल वैदिक साहित्य ही शूद्रों को नहीं पढ़ाया जा सकता था। पंचम वेद नाट्यशास्त्र और महाभारत आदि सभी वर्णों के अध्ययन और अध्यापन के लिए नियत हुए।[6]

---

१. सेतकेतु जातक ३७७। सुत्तनिपात के अनुसार मातंग नामक चाण्डाल इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ण के लोग जाते थे।

२. ब्रह्मसूत्र ३.४.३८ पर शांकरभाष्य—पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवास-देवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति।

३. राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६१७।

४. राधाकृष्णन्, इण्डि० फि०, भाग २, पृ० ३१९।

५. स्मृति २.२३८।

६. भारतीय संस्कृति में शिल्प का व्यवसाय प्रधानतः शूद्रों के हाथ में था, यद्यपि अन्य जातियों के लोग भी शिल्प सीखते थे। जातक साहित्य में अनेक शिल्पाचार्यों के उल्लेख मिलते हैं, जो शूद्र थे। देखिए, सूची जातक ३८७, उपाहन जातक २३१ तथा कुब्बच जातक ११६।

बौद्ध संस्कृति में ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करने का मार्ग सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया। एक बार संघ में प्रवेश पा जाने पर ज्ञान पाने की दिशा में शूद्र को अपनी जाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती थी। शूद्रवर्ण के असंख्य व्यक्ति गौतम के जीवन-काल में उनके शिष्य बन चुके थे।[१] जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तराध्ययन में हरिकेशबल चाण्डाल की चर्चा आती है। वह स्वयं ऋषि वन गया और सभी गुणों से अलंकृत हुआ।[२]

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि सभी वर्णों के लोग अपनी जाति और प्रवृत्ति के अनुसार अध्ययन कर सकते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का अध्ययन प्रायः वैदिक और दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध होता था और साथ ही वे आयुर्वेद आदि विषयों की शिक्षा लेते थे। वैश्य और शूद्र प्रधानतः शिल्पों का अध्ययन करते थे, पर उनमें से अनेक विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित बनने के लिए अध्ययन की सुविधा पा सकते थे। श्वपाक भी नृत्य, संगीत आदि विद्याओं में निष्णात होते थे।[३]

स्त्रियों का विद्याधिकार

स्त्रियों की शिक्षा के लिए कम से कम वैदिक काल में उतना ध्यान दिया जाता था, जितना पुरुषों की शिक्षा के लिए। तत्कालीन शिक्षा के लिए जिस तपोमय जीवन की आवश्यकता थी, उसके लिये स्वभावतः सुकुमार नारियाँ अधिक संख्या में प्रस्तुत नहीं हो सकती थीं। परिणामतः शिक्षित स्त्रियों की संख्या पुरुषों से सदैव कम रही है।

वैदिक काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करके सभी प्रकार की शिक्षायें ग्रहण करती थीं। पुरुषों और स्त्रियों के अध्ययन-क्षेत्र प्रायः समान थे। यही परिस्थिति उस युग में अनेक ऋषिकाओं की प्रतिष्ठा का कारण हुई। ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं की रची हुई कवितायें मिलती हैं।[४] इनमें से लोपामुद्रा, विश्व-वारा, आत्रेयी, अपाला तथा काक्षीवती घोषा आदि प्रमुख हैं। अथर्ववेद में स्त्रियों

---

१. चुल्लवग्ग ९.१४ तथा महावग्ग ६.३७.१।

२. उत्तरा० १२.१।

३. राजत० ५.३५३-३९०।

४. इनके रचे हुए सूक्तों के लिए देखिए, ऋ० १.१७९; ५.२८; ८.९१; १०.३९-४० आदि।

के ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के विषय में कहा गया है—ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति प्राप्त करती है।[१] उपनिषदों में कई दार्शनिक स्त्रियों की उच्च कोटि की विद्वत्ता का परिचय मिलता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान के द्वारा अमर पद प्राप्त करना चाहती थी।[२] याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी।[३] उपनिषद्-काल में गार्गी वाचक्नवी प्रख्यात दार्शनिक महिला थी। उसने जनक की परिषद् में याज्ञवल्क्ये से दर्शन सम्वन्धी रहस्यमय समस्याओं का आकलन किया था। मैत्रेयी और गार्गी उसी समय से प्रातःस्मरणीय रही हैं।[४] पथ्यावस्ति ने वेद-विद्या में पारंगत होने पर वाक् की उपाधि पाई थी।[५]

उपनिषद्-काल में कन्याओं को विदुषी बनाने की रीति की लोकप्रियता की कल्पना इस बात से भी होती है कि लोग उस युग में विदुषी बनने की योग्यता रखने वाली कन्याओं को पुत्री-रूप में पाने के लिये विशिष्ट योजनायें सम्पादित करते थे।[६]

कालान्तर में कन्याओं को शिक्षा देने के लिए विद्यालय बने, जिनमें स्त्रियाँ अध्यापन करती थीं। ऐसी स्त्रियों को आचार्या और उपाध्याया कहा जाता था।[७] पतञ्जलि ने औदमेध्या तथा उसके शिष्यों का उल्लेख किया है।[८] उन्होंने स्त्री-छात्रों की उपाधियाँ अध्येत्री और माणविका बतलाई हैं। कठी वृन्दारिका कठ-शाखा की श्रेष्ठ छात्रा थी। वेदकालीन चरणों में स्त्रियाँ वेद भी पढ़ती थीं। ऋग्वेद की बह्वृच शाखा पढ़नेवाली स्त्रियाँ बह्वृची कही जाती थीं। पाणिनि ने अस्त्र-शस्त्र विद्या में कुशल स्त्रियों का उल्लेख किया है।[९] आश्वलायन गृह्य-

---

१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व० ९.५१.८।

२. बृहदारण्यक २.४.३।

३. बृह० ४.५.५-१५।

४. देखिए आश्वलायन गृह्यसूत्र ३४.४। ब्रह्मयज्ञ में मैत्रेयी और गार्गी के अतिरिक्त वडवा प्राचितेयी के लिए तर्पण करने का विधान है। इस प्रसंग में इनकी गणना आचार्या की कोटि में है।

५. कौषीतकि ब्राह्मण से।

६. बृहदारण्यक ६.४.१७ अथ या इच्छेत्—दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै

७. काशिका व्याख्या पाणिनि सूत्र ४.१.५९ तथा ३.३ २१।

८. महाभाष्य ४.१.७८।

९. शक्ति चलाने की विद्या जानने वाली स्त्रियों की उपाधि शाक्तिकी थी। पतंजलि का भाष्य ४.४.५९; ४.१.१५ आदि। पतंजलि के कुमारश्रमण,

सूत्र में स्त्रियों के समावर्तन-संस्कार सम्बन्धी नियमों से भी उनके ब्रह्मचर्य-व्रत के पश्चात् स्नातिका बनने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[1] आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में स्त्री-आचार्यों का उल्लेख है।[2]

अर्थशास्त्र के गणिकाध्यक्ष प्रकरण में गणिका, दासी तथा अभिनेत्री बनने वाली कन्याओं को शिक्षा देने के लिये राजाओं की ओर से आचार्यों के नियुक्त करने का उल्लेख है। इनकी शिक्षा अनेक विषयों में होती थी, यथा—गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्य, नाट्य, अक्षर, चित्र, वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि बजाना, गन्ध-माला आदि बनाना, संवाहन, वेश-भूषा पहनाना तथा अन्य कलायें।

स्त्रियों के अनेक विद्याओं में पारङ्गत होने के बहुविध साहित्यिक उल्लेख मिलते हैं। राजकुल की दासियां तक ६४ विद्याओं में विशारद तथा नृत्य, वाद्य और संगीत में कुशल होती थीं। स्त्रियों की रची हुई अनेक गाथायें हाल की गाथा-सप्तशती में संगृहीत हैं।[3] परवर्ती युग में स्त्रियों की रची हुई कवितायें तथा उनकी प्रशस्तियाँ भारतीय काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र मिलती हैं।[4] स्त्री-कवियों की चर्चा करते हुए राजशेखर ने लिखा है—पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। राजकन्यायें, महामात्रों की कन्यायें, गणिकायें और कुटुम्ब में रहने वाली भार्यायें शास्त्र-विचक्षण हैं और रही हैं।[5] इसी युग के शंकर और मण्डन मिश्र के विवाद की चर्चा का उल्लेख शंकर-दिग्विजय नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसके अनुसार

कुमारप्रव्रजिता, कुमाराध्यापिका, कुमार तापसी, कुमार पण्डिता आदि पदों की सिद्धि से अविवाहित रह कर उच्च अध्ययन करने वाली नारियों का अभिप्राय स्पष्ट है। महाभाष्य २.१.७०।

१. आश्वलायन ३.८.११। हारीत ने भी कन्याओं के समावर्तन का उल्लेख किया है। देखिए संस्कारप्रकाश पृ० ४०४।

२. आ० ध० १.७.२१.९।

३. उदाहरण के लिए देखिए, पाहई १.७०, बद्धवही १.८६, रेवा १.८७, १.९० आदि।

४. ऐसी कवयित्रियों में शील-भट्टारिका, देवी, विजयांका आदि प्रमुख हैं। इनके विषय में जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली में राजशेखर द्वारा रचित प्रशस्तियाँ मिलती हैं। अन्य उच्च कोटि की स्त्री-साहित्यकारों के परिचय के लिए देखिए चक्रवर्ती और डे द्वारा रचित हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४७७।

५. काव्य-मीमांसा दशम अध्याय से।

इन दो महापण्डितों की जय-पराजय का निर्णय करने के लिए मण्डन मिश्र की पत्नी निर्णायक नियुक्त हुई थीं।

भारतीय काव्य-साहित्य में सरस्वती और पार्वती को विद्या की अधिष्ठात्री देवी के पद पर प्रतिष्ठित करने की कल्पना से कम से कम इतना तो सिद्ध होता है कि स्त्रियों को विद्या प्राप्त करने के मार्ग में धार्मिक दृष्टि से रुकावट हो ही नहीं सकती थी।

बौद्ध संस्कृति में स्त्रियों के अध्ययन के लिये समुचित सुविधा प्रदान की गई। अनेक भिक्षुणियों ने संघ की शरण ली और वहाँ रह कर उच्च कोटि की विद्वत्ता प्राप्त करके उस संस्कृति से सम्बद्ध साहित्य की अभिवृद्धि की। अकेले थेरी-गाथा में लगभग ५० भिक्षुणियों की कवितायें संगृहीत हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के पश्चात् यद्यपि अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने वाली कन्याओं की संख्या में कुछ कमी हुई, फिर भी उच्च कुलों की स्त्रियाँ शिक्षा पाती रहीं। इनकी शिक्षा प्रायः कलाओं तक सीमित थी—नृत्य, संगीत और काव्यात्मक साहित्य का स्त्रियों में विशेष प्रचलन था। उस युग में उच्च कुल की ललनाओं के लिये उपर्युक्त कलात्मक ज्ञान आवश्यक था। क्षत्रिय कुल की कन्याओं के युद्ध-विद्या-विशारद होने की रीति प्रचलित थी। रामायण के अनुसार कैकेयी अस्त्र-शस्त्र विद्या में निष्णात थी। ब्राह्मणों के कुलों में साधारणतः शिक्षा का आरम्भ कन्याओं के लिए भी बालकों के साथ ही होता था। कन्याओं के विवाह की अवस्था कम होने के कारण उनकी शिक्षा प्रायः स्वल्प रह पाती थी।

अध्ययन के विषय

प्राग्वैदिक

सिन्धु-सभ्यता के नागरिक उच्च कोटि के शिल्पी थे। वास्तु, मूर्ति और चित्र-कलाओं के क्षेत्र में उनकी उन्नति तत्कालीन विश्व में अद्वितीय थी। उनकी मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि नृत्य, गीत और वाद्य-विद्याओं के प्रति उनकी अभिरुचि असाधारण थी। शरीर के प्रसाधन के लिए भाँति-भाँति की धातुओं, रत्नों और पुष्पों का अलंकार बनाने में उन्होंने अपनी परम्परागत सुरुचिपूर्ण कलाओं के अभ्यास का परिचय दिया है। शिक्षण की जिस शैली से उपर्युक्त विषयों की वंशानुक्रम से सहस्रों वर्षों तक अमरता प्रतिष्ठित रही, उसका इतिहास अतीत के अन्धकार में सदा के लिए विलीन हो गया है।

सिन्धु-सभ्यता के नागरिक लिखना-पढ़ना जानते थे, पर किस सीमा तक

उनका उपयोग होता था—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उनके कुछ लेख मुद्राओं और ताबीजों पर अंकित मिलते हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी लिखावट की सुन्दरता और सुघटता सतत अभ्यास से सम्भव हो सकी होगी और इसके लिए विद्यार्थी सम्भवतः काठ की पट्टियों को काम में लाते होंगे। उनकी लिपि में अनेक चित्र मिलते हैं। उनका लिपि-बद्ध साहित्य यदि कभी कुछ अध्ययन-अध्यापन के लिए रहा भी तो वह भी पंचतत्त्वों में कभी का विलीन हो गया।

वैदिक शिक्षा

वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्व-प्रथम रहा है। जिस सनातन ज्ञान की निर्मल धारा के विशाल और निरवधि प्रवाह के एक तीर्थ को सुमर्यादित करके ऋग्वेद नाम दिया गया, उसके प्राचीनतम स्वरूप की कल्पना प्रासंगिक है।

ऋग्वेद काव्यात्मक ग्रन्थ है। काव्य की रचना के लिए वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति अपेक्षित होती है। मानस-पटल में वाक् और अर्थ की प्रतिष्ठा करने के लिए सुकवि को तपोमय साधना करनी पड़ती है। उस युग में ऐसे साधक का नाम ऋषि था।[1] ऋषि जिन विषयों का वर्णन करता था, उनका नाम देवता था। देवता के विषय में जो वाणी मुख से निःसृत हुई, उसे मन्त्र और सूक्त कहा गया। ऐसे ऋषि के व्यक्तित्व के विकास अथवा अध्ययन की दिशा कुछ-कुछ इस प्रकार थी—अच्छे से अच्छे शब्दों का अच्छे से अच्छे अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए वह नित्य अभ्यास करता था। शब्दों का सम्यक् ज्ञान व्याकरण के द्वारा सम्भव होता है और अर्थों का बोध प्रस्तुत विषयों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा प्राक्कालीन सदुक्तियों और उनके अर्थों के संग्रह द्वारा सम्भव होता है। जिन ऋषियों ने मन्त्रों की रचना की थी, अवश्य ही उन्होंने अपने पहले के महर्षियों के साथ बैठकर शब्दों और अर्थों का ज्ञान प्राप्त किया था और प्रकृति की एकान्त सम्पन्नता का आश्रय लेकर

---

१. वैदिक ऋषि मन्त्र-रचना को श्रेष्ठ कला मानते थे। एक ऋषि ने इस कला के सम्बन्ध में कहा है—जैसे शिल्पी रथों को प्रस्तुत करता है, वैसे ही हम लोग स्तुतियों को प्रस्तुत करते हैं।

'या तक्षाम रथाँ इवाऽवोचाम बृहन्नमः। ऋ० ५.७३.१०

उसके गुणों से मानस-पटल को परिचित्रित करके वाणी के माध्यम से उनको सर्वजनीन बना दिया। ऋग्वेद की रचना जिस युग में हो रही थी, उसमें सूक्तों को कण्ठाग्र करने की पद्धति सनातन रूप से प्रचलित थी, और तभी से सदैव प्रचलित रही है। जहाँ किसी महर्षि की वाणी असाधारण रूप से रुचिकर प्रतीत हुई कि उस महर्षि के कुटुम्ब के लोग तथा कवि बनने की इच्छा रखने वाले अन्य लोग उसकी रचना को कण्ठाग्र कर लेते थे और उसे अमरता प्रदान करने के लिए वंश-परम्परा या शिष्य-परम्परा में योग्य व्यक्तियों को स्मरण करा देते थे। इस प्रकार के असंख्य सूक्त प्राचीन काल में प्रचलित थे। इनमें से कुछ वैदिक संहिताओं में संकलित किये गये, पर अधिकांश विस्मृत होकर विलीन हो गये। एक ही विषय पर अनेक सूक्तों के हो जाने पर उनमें से केवल उत्कृष्ट कोटि के कुछ सूक्तों का संग्रह किया गया और शेष उपेक्षित होकर मिट से गये।[१] वैदिक संहिताओं को आज हम जिस रूप में देख रहे हैं, वे सभी दो, चार या पचास वर्ष में ही नहीं रच ली गईं। उनकी रचना के समय भिन्न-भिन्न हैं। सैकड़ों या सहस्रों वर्षों की असंख्य ऋषियों की कृतियों का सम्पादन करके इन संहिताओं को यह रूप दिया गया। इनकी रचना का एक पूरा युग ही माना जा सकता है।[२]

संहिताओं की रचना के युग में एक के पश्चात् दूसरे ऋषि की योग्यता के वंशानुक्रम से यथापूर्व प्रतिष्ठित रहने की एक ही योजना हो सकती थी—पहले के ऋषियों के ज्ञान को उनसे ग्रहण करना और उनकी संगति में बैठकर तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक, काव्यात्मक, पौराणिक और ऐतिहासिक विचारधाराओं का विवेचन करना। इसके बिना वैदिक रचना असम्भव थी।

उपर्युक्त अध्ययन के विषयों के अतिरिक्त वेदांग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—का महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है। इन विषयों का सम्बन्ध आरम्भ में वैदिक साहित्य और यज्ञों से विशेष रूप से था, पर स्वतन्त्र रूप से भी इनका अध्ययन-अध्यापन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वैदिक काल में ही होने लगा था। परवर्ती युग में व्याकरण की परिधि के भीतर ही प्रायः

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११ के 'अनन्ता वै वेदाः' से ज्ञात होता है। कि वैदिक काल में भी लोगों की मान्यता थी कि वेद अनन्त हैं।

२. ऋग्वेद ६.२१.५ में प्रत्न, मध्यम तथा नूतन ऋषियों की स्तुतियों की चर्चा की गई है। ऋग्वेद के विविध स्थलों पर प्रयुक्त भाषा के आधार पर यह मत सप्रमाण प्रतीत होता है।

शिक्षा और निरुक्त[1] का अन्तर्भाव हुआ और पाणिनि का व्याकरण अनन्त काल से प्रवाहित शब्दानुशीलन की सरिताओं का महासागर बना। व्याकरण की यह शैली शब्दों के वैज्ञानिक तत्त्वालोचन के माध्यम से प्रस्फुटित हुई थी।

वैदिक संहिताओं के सामंजस्य में जिन-जिन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचलन हुआ, शनैः शनैः उन सबको साहित्य के सूत्र में ग्रथित करके अध्ययन-अध्यापन का विषय बना दिया गया। संहिताओं में समन्वित यज्ञसम्बन्धी व्याख्याओं को ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में संकलित किया गया। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध अनेक ब्राह्मण या आरण्यक रचे गये। उनमें से केवल कुछ ही आज तक विद्यमान हैं। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन के विषयों का उल्लेख है। इनमें से वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कुछ विषय थे—अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा-नाराशंसी।[2] इनमें से अनुशासन वेदांग हैं। विद्यायें न्याय-मीमांसा आदि दर्शन-शास्त्र हैं। वाकोवाक्य आधुनिक शास्त्रार्थ के समकक्ष पड़ते हैं। इनमें यज्ञ, ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी विषयों पर विवाद होते थे। इतिहास और पुराणों में पराक्रमी वीरों और देवर्षियों की चरित-गाथा का वर्णन होता था। गाथा-नाराशंसी महापुरुषों की स्तुतियों का निबन्ध था। शतपथ ब्राह्मण में देवजन-विद्या, मायावेद और इतिहास-पुराण आदि को विद्या कहा गया है।[3]

ब्राह्मणकालीन यज्ञ-विद्या का अध्ययन-अध्यापन विशेष महत्त्वपूर्ण था। यज्ञ-विद्या की गुत्थियों को सुलझाने में ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं का व्याख्यान अपेक्षित होता था। इनमें पुराण, इतिहास और आख्यान, सृष्टि की रचना का विन्यास, आचार-शास्त्र और दर्शन की गवेषणा के आभास स्थान-स्थान पर समन्वित थे।

उपनिषद्-युग में वैदिक संहिताओं, वेदांगों और याज्ञिक विद्याओं का अध्ययन प्रचलित तो रहा, पर सबसे अधिक महत्त्व दिया गया परा विद्या को। परा विद्या वह ब्रह्मविद्या है, जिसका सर्वोच्च विकास उपनिषदों में मिलता है। सम्भव है, वैदिक काल में आरम्भ से यह विद्या किसी न किसी रूप में सदा रही हो।

---

१. शिक्षा वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ का विज्ञान है। कल्प में याज्ञिक विधानों का वर्णन होता है। निरुक्त में शब्दों का अर्थ जानने के लिए व्याख्याएँ की गई हैं। शेष स्पष्ट हैं।

२. अथर्ववेद १५.६.११-१२; ११.७.२४; शतपथ ११.५.६.८।

३. शतपथ १३.४.३।

ब्रह्मविद्या सीखने के लिए प्रायः वे ही विद्यार्थी योग्य माने जाते थे, जो पहले से वेद-वेदांग आदि में निष्णात होते थे। साधारणतः विद्यार्थी वेद-वेदांग आदि का ज्ञान ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त करते थे। ब्रह्मविद्या के आचार्यों की कमी थी और यह सर्वसाधारण के लिये कभी भी प्रदेय नहीं मानी गई।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में तत्कालीन अध्ययन के विषयों की एक विस्तृत सूची इस प्रकार मिलती है—चारों वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण) पित्र्य (श्राद्ध-यज्ञ), राशि (गणित), दैव (भौतिक विज्ञान), निधि (काल-ज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या और देवजन-विद्या (शिल्प तथा कलायें)।[2] इस उपनिषद् में आगे चलकर कहा गया है कि विज्ञान से इन विषयों का अध्ययन होता है, केवल इन्हीं का नहीं अपितु स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, तेज, मनुष्य, देव, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट, पतंग, चींटी, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, अन्न-रस और लोक-परलोक सबको विज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। इस प्रकरण से इतना सिद्ध ही होता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से ज्ञान की परिधि का विस्तार हो रहा था।

भारत की प्राचीनतम शिक्षण-संस्था, जो सर्वाधिक विख्यात रही है, तक्षशिला का विश्वविद्यालय है। इस विद्यालय में सर्वसाधारण के लिए तीन वेदों की शिक्षा प्रायः अनिवार्य थी। इस प्रकरण में वेदों के साथ वेदांगों का समन्वय भी है। परवर्ती धार्मिक और साम्प्रदायिक रचनाओं के साथ ही साथ वेद और वेदांग प्रायः सदैव ही वैदिक शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं। लगभग पाँचवीं शती ई० पू० से उपर्युक्त विषयों में से किसी एक में विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यज्ञ-विद्या में विशेषता प्राप्त करने वाले विद्यार्थी, याज्ञिक और व्याकरण-परायण विद्यार्थी, वैयाकरण कहे जाते थे।[3] कुछ अन्य विद्यार्थी अग्निष्टोमिक और वाजपेयिक भी

---

१. छान्दोग्य उ० ८.७ के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन की परीक्षा लेकर वैरोचन को ब्रह्मज्ञान का पात्र न समझा। इन्द्र को ब्रह्मज्ञान के लिए सौ वर्षों से भी अधिक तपस्या करनी पड़ी। कठोपनिषद् के अनुसार यम ब्रह्मविद्या के सर्वोच्च आचार्य थे। उन्होंने नचिकेता की परीक्षा लेकर उसे ब्रह्मविद्या सिखाई और कहा कि यह विद्या सुविज्ञेय नहीं है, अणु है।

२. छान्दोग्य ७.१.२।

३. पाणिनि सूत्र ४.३.१२९ तथा ६.३.७।

थे, जो क्रमशः अग्निष्टोम और वाजपेय यज्ञों का विशेष अध्ययन करते थे। इस युग में सूत्र-साहित्य की अतिशय अभिवृद्धि हुई और इनका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। पाणिनि ने कल्प-सूत्र, भिक्षु-सूत्र और नट-सूत्रों का उल्लेख किया है।[1] इनके अतिरिक्त इतिहास-पुराण की शिक्षा दी जाती थी।[2] महाभारत के अनुसार संसर्गविद्या सीखी जाती थी। इसके द्वारा समाज में व्यवहार करने का ज्ञान होता था।[3] अध्ययन के विषयों की यह परिधि सभी सुसंस्कृत नागरिकों के लिए पौराणिक युग में भी नियत रही। पौराणिक काल में चौदह या अठारह विद्याओं का अध्ययन प्रधान रहा। इनके नाम चार वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र मिलते हैं। इन्हीं के साथ चार वेदों के उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र भी समन्वित कर लेने पर विद्या की शिक्षणीय शाखायें १८ बन जाती हैं।[4] उपर्युक्त विद्याओं से सम्बद्ध साहित्य की अभिवृद्धि निरन्तर होती रही। इस प्रकार पाठ्य ग्रन्थों की संख्या भी बढ़ती रही।

बौद्ध

बौद्ध अध्ययन और अध्यापन के विषय उपर्युक्त पद्धति से सर्वथा भिन्न रहे हैं। बौद्ध शिक्षण का आरम्भ उन उपदेशों में मिलता है, जिन्हें स्वयं गौतम ने सर्वप्रथम अपने शिष्यों को मृगदाव में दिया था। ये उपदेश वास्तव में जीवन-दर्शन का पर्यालोचन करने के लिए हैं। गौतम ने कहा—निर्वाण की इच्छा रखने वालों को दो अन्तों का परित्याग करना है। वे दो अन्त हैं—भोग-विलास की अतिशयता तथा तप के द्वारा शरीर को कष्ट देना। इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग है, जिसके द्वारा नेत्र खुल जाते हैं, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है तथा चित्त को शान्ति प्राप्त होती है और जिससे उच्च बोध की प्राप्ति होती है, प्रकाश मिलता है और निर्वाण मिलता है। यह मध्यमा प्रतिपदा है, अष्टांगिक मार्ग है।

गौतम बुद्ध के जीवनकाल में इच्छानंगल के ब्रह्मदेय ग्राम में पौष्कर नामक

---

१. पाणिनि-सूत्र ४.३.८७-८८, १०५, ११०, १११, ११६।

२. महाभारत आदिपर्व १०३.१८; ५४.३।

३. आदिपर्व १०८.१६।

४. रघुवंश ५.२१, याज्ञवल्क्य-स्मृति १.३; विष्णु पु० ३.७.२८-३०, मत्स्य-पुराण ५३.५-६ आदि में १४ विद्याओं का उल्लेख किया गया है। तन्त्रवार्तिक पृ० २०१ में कुमारिल ने १४ या १८ विद्याओं का परिगणन किया है।

ब्राह्मण चारों वेद, निघण्टु, कैटुभ, अक्षर-प्रभेद, शिक्षा, इतिहास, पद-ज्ञान, व्याकरण, लोकायत, महापुरुष-लक्षण आदि विद्यार्थियों को पढ़ाता था।[1]

गौतम ने चार आर्यसत्यों का विवेचन किया और उन भिक्षुओं से कहा—मैंने ज्योंही इन चार आर्यसत्यों का पूरा परिचय पा लिया, मुझे निश्चय हो गया कि मुझे उस ज्ञान का सम्यक् दर्शन हो गया, जो भूतल अथवा स्वर्ग में अथवा श्रमण या ब्राह्मणों में अथवा मानवों और देवताओं में सर्वोत्तम है। यही गौतम का धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।[2] गौतम ने अपने इस जीवन-दर्शन को व्याख्यानों के माध्यम से समाज और शिष्यों के समक्ष रखा।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक युग में बौद्ध शिक्षणपद्धति में गौतम के उपदेश और व्याख्यान ही अध्ययन के विषय मान्य हुए।[3] गौतम के जीवन-काल में भिक्षु प्रथम वर्ष अट्ठकवग्गिक को कण्ठाग्र कर लेते थे और साथ ही अर्थ समझ लेते थे, उसका मनन कर लेते थे और मधुर स्वर से उसका पाठ करते हुए दूसरों को समझा सकते थे।[4] विभिन्न कक्षा के भिक्षु विभिन्न विषयों का विशेष अध्ययन करते थे। ऐसी कक्षायें सुत्तन्त का पाठ, विनय का पारस्परिक विमर्श और पर्यालोचन करने वालों की तथा धम्म का उपदेश करने वालों की अलग-अलग होती थीं।[5] विनय की शिक्षा सर्वोच्च प्रतिष्ठित थी।[6]

गौतम के जीवन-काल में ज्यों-ज्यों उनके व्याख्यानों और उपदेशों की संख्या बढ़ती गई, अध्ययन का विषय भी साथ ही साथ बढ़ता गया। उस समय अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करके विद्यार्थी त्रिपिटकधारी, ध्यानलाभी, मधुर-भाषी और धर्मकथिक बन जाते थे।[7] उपदेशों और व्याख्यानों का पाठ कराने के

---

१. दीघनिकाय १.३ अम्बट्ठ सुत्त।

२. आर्यसत्य का सविस्तर वर्णन बौद्ध धर्म के प्रकरण में देखिए। दुःख, दुःख का समुदय, दुःख का निरोध और दुःख के निरोध का मार्ग—ये चार आर्य-सत्य हैं।

३. गौतम के उपदेश और व्याख्यान लोक भाषा—पालि में दिये गये। उनको समझने के लिए पहले से ही व्याकरण का ज्ञान आवश्यक नहीं था। गौतम ने स्वय कहा है कि बुद्धों की वाणी प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी भाषा में सीखे।

४. महावग्ग ५.१३.९। अट्ठकवग्गिक सुत्तनिपात का चौथा वग्ग है।

५. चुल्लवग्ग ४.४.४।

६. चुल्लवग्ग ६.१३.१।

७. जम्बुखादक जातक की वर्तमान कथा।

अतिरिक्त उनमें जिज्ञासा जागरित की जाती थी, उचित रूप से सोचने का अभ्यास कराया जाता था और कर्तव्यों को सुचारु रूप से पालन करने का ढंग सिखाया जाता था।[1] गौतम ने भिक्षुओं को ज्योतिष आदि कुछ लोकोपयोगी विद्यायें सीखने के लिए आदेश दिया।[2]

गौतम के मरने पर उनके व्याख्यानों का संग्रह तीन पिटक—अभिधम्म, विनय और सुत्त के रूप में संगृहीत हुए। इन्हीं को यथासाध्य अमर प्रतिष्ठा देना और इनके द्वारा समाज का आध्यात्मिक अभ्युत्थान करना भिक्षुओं का प्रधान कर्तव्य रहा। यह सारा शिक्षा-विन्यास मौखिक माध्यम से सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहा। इनका सर्वप्रथम लिपिबद्ध रूप लंका में ८० ई० पू० में किया गया। त्रिपिटक की व्याख्यायें भी आरम्भ में मौखिक माध्यम से अध्ययन का विषय बनीं।

परवर्ती युग में त्रिपिटक के सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए और साथ ही उनसे सम्बद्ध दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए हीनयान और महायान पंथ के विद्वानों ने ग्रंथों की रचना करना आरम्भ किया। इन ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन विहारों में त्रिपिटक साहित्य के साथ होने लगा।

भिक्षु-जीवनचर्या का शिक्षण बौद्ध संस्कृति में महत्त्वपूर्ण था। इसके लिए उपसम्पदा के पश्चात् पाँच वर्षों में मातृका (भिक्षु-प्रातिमोक्ष तथा भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष) कण्ठाग्र कराई जाती थी। कप्पिय, अकप्पिय (कर्तव्याकर्तव्य) का ज्ञान कराया जाता था, तीन प्रकार की अनुमोदनायें (मांगलिक, अमांगलिक और भिक्षा) सिखाई जाती थीं। इसके पश्चात् योगाभ्यास की विधि का शिक्षण होता था। इस विधि का नाम कर्मस्थान था। कर्मस्थानों की संख्या ४० थी।[3]

सातवीं शती में ह्वेनसाँग के लेखानुसार प्रतीत होता है कि बौद्ध विद्यालयों में ब्राह्मण सम्प्रदाय के दर्शन और धर्मग्रंथों की भी शिक्षा दी जाती थी और साथ ही पाणिनि के व्याकरण की पढ़ाई होती थी। ऐसी स्थिति में कुछ बौद्ध विद्यालय बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के लिए भी उपयोगी हो गये।[4] नालन्दा विश्वविद्यालय में वेद, वेदान्त और सांख्य दर्शन की शिक्षा दी जाती थी।[5]

---

१. गजकुम्भ जातक की वर्तमान कथा।

२. चुल्लवग्ग ८.६.३।

३. वरण जातक ७१ की वर्तमान कथा।

४. वाटर्सः ह्वेनसाँग भाग १, पृ० ३१९, भाग २, पृ० १००, १०८।

५. बील, पृ० ११२।

ह्वेनसाँग ने तोषासन बिहार में अभिधर्म की शिक्षा १४ मास तक ली और फिर नगरधन के विहार में चार मास तक अभिधर्म का अध्ययन किया। वह स्रुघ्न के विहार में सौत्रान्तिक शाखा की सभी विभाषाओं को पढ़ता रहा। उसने कन्नौज के विहार में बुद्धदास-रचित विभाषा का अध्ययन किया। नालन्दा में उसने शीलभद्र से योगशास्त्र की शिक्षा ली। उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि साधारण स्तर तक विद्याओं का अध्ययन कर लेने के पश्चात् विशेष अभिरुचि रखने वाले विद्यार्थी अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति से अपने ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्र में पारंगत होने के लिए सतत प्रयास करते रहते थे।

अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन का उस युग में विशेष महत्त्व था। उच्च कोटि के विद्वान् अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं को सत्य सिद्ध करने के लिए अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों से उन विषयों पर विवाद करते थे। ह्वेनसाँग ने असंख्य विवादों की चर्चा की है। बौद्ध आचार्यों का तीर्थिकों से विवाद कभी-कभी दस दिन से अधिक समय तक भी चलता था।[1] सातवीं शती के दूसरे चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार बौद्ध विद्यालयों में पाणिनि-व्याकरण की शिक्षा साधारणतः दी जाती थी। व्याकरण का विशेष अध्ययन करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी पतंजलि का महाभाष्य आदि पढ़ते थे। व्याकरण के अतिरिक्त तर्कशास्त्र का अध्ययन लोकप्रिय था। विद्यालयों में नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन विशेष अभिरुचि से होता था।[2]

जैन

जैन संस्कृति में धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्ययन-अध्यापन की परम्परा प्रायः बौद्ध पद्धति के अनुरूप रही है। जैन संस्कृति के कुछ तीर्थंकरों के उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलते हैं।[1] संभवतः वैदिक काल में जैन संस्कृति के अनुयायियों के बीच इन तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन-सम्बन्धी विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। इन विद्याओं से सम्बद्ध साहित्य उस प्राचीन युग में रहा होगा, पर उसका विलयन सुदूर प्राचीन काल में ही हो गया। अन्तिम तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं और प्रवचनों का जैन संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में सदा प्रमुख स्थान रहा है। इनका संग्रह

---

१. वाटर्स: ह्वेनसाँग भाग १, पृ० १५९।

२. इत्सिंग पृ० १७०-१८०।

३. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० २८७।

द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्व के नाम से विख्यात है।[1] अंगों और पूर्वों के आधार पर परवर्ती युग में जैन-संस्कृति के विशाल साहित्य की रचना हुई। इस कोटि की रचनाओं में सर्वप्रथम स्थान षट्खण्डागम नामक सूत्रग्रन्थ का है। यह प्राकृत भाषा में ई० शती के आरम्भिक युग में लिखा गया। प्रायः इसी युग में काषाय-पाहुड नामक ग्रन्थ गाथा-छन्दों में लिखा गया। षट्खण्डागम और काषाय-पाहुड की अनेक टीकायें समय-समय पर लिखी गईं। प्रथम ईसवी शती में जैन दर्शन के तीन महान् ग्रन्थ—समय-सार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय प्राकृत भाषा में लिखे गये।[2] जैन संस्कृति की उपर्युक्त साहित्यिक परम्परा में परवर्ती युग में उच्च-कोटि की रचनायें समय-समय पर होती रहीं। जैन शिक्षण-संस्थाओं में उन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन होता था।

साधारण पाठकों के लिए जैन संस्कृति में पुराण और काव्य-साहित्य की रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में हुई। इन ग्रन्थों की संख्या वैदिक संस्कृति के तद्विषयक ग्रन्थों की संख्या से कम नहीं है। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर जैन-संस्कृति के आचार्यों ने ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों का विशेष सम्मान जैन संस्थाओं में रहा। प्राचीन काल की प्रान्तीय भाषाओं में भी जैन संस्कृति के सिद्धान्तों को उपनिबद्ध किया गया। द्राविड़ भाषा में जैन आचार्यों के लिखे हुए अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन प्रान्तीय संस्थाओं में होता था।

शिल्प और कलायें

सिन्धु-सभ्यता के युग से प्रायः सदा से विविध प्रकार के शिल्पों के उच्च कोटि के आचार्य भारत में होते आये हैं। शिल्पों के क्षेत्र में यह प्रगति शिष्य-परम्परा से सम्भव हुई थी, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि छठी शती ई० पू० से पहले शिल्पों की शिक्षा के लिए विद्यालय थे कि नहीं। निःसन्देह शिल्पाचार्यों की अध्यक्षता में उनके साथ रह कर और काम करते हुए सदा से

---

१. अंगों और पूर्वों में पारंगत विद्वान् को श्रुतकेवली की उपाधि दी जाती थी।

२. इन ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्द हैं। कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वामी का लिखा हुआ तत्त्वार्थसूत्र जैन विद्वत्-समाज में प्रायः सदा सबसे अधिक लोक-प्रिय ग्रन्थ रहा है।

शिल्प सीखने की रीति भारत में प्रचलित रही है और वह सिन्धु-सभ्यता के युग में तथा वैदिक काल में भी थी।

वैदिक काल के पश्चात् जातक-युग में छठीं शती में तक्षशिला के विश्वविद्यालय में १८ शिल्पों की शिक्षा देने के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं।[1] अठारह शिल्पों में गीत, वाद्य, नृत्य, चित्र आदि कलाओं के अतिरिक्त व्यावसायिक विद्यायें भी सम्मिलित थीं।[2] जातककाल के राजकुमार संगीत, वीणा-वादन, मूर्ति-रचना, पंखा बनाना, माला गूंथना, भोजन पकाना आदि कामों में निष्णात होते थे।[3] महाभारत-काल में गान्धर्व विद्या के उच्चकोटि के विद्यालय थे। अर्जुन ने नृत्य, गीत, वाद्य आदि का अध्ययन गान्धर्व विद्यालय में किया था। उसने राजा विराट के आश्रय में इन विद्याओं का शिक्षण किया था। कुमारियों और राजघराने में काम करने वाली कन्याओं को गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्य, नाट्य, अक्षर, चित्र, वीणा-वेणु-मृदंग आदि बजाना, गन्ध, माला आदि बनाना, संवाहन, वेष-भूषा पहनाना आदि सिखाने वाली संस्थाओं के तीसरी शती ई० पू० से पहले ही राजाओं के द्वारा संचालित होने का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।[4] भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य सम्बन्धी सभी कलाओं की शिक्षा नाट्याचार्यों के द्वारा देने की योजनायें मिलती हैं। भरत मुनि स्वयं ऐसी संस्था के आचार्य थे। गुप्तकाल की कालिदास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि राजाओं का आश्रय पाकर चित्र, नाट्य, संगीत, वाद्य आदि सिखाने वाली संस्थायें चल रही थीं। इसी युग में रचे हुए कामसूत्र से ज्ञात होता है कि शिल्प और कलाओं में नागरिकों की विशेष अभिरुचि थी और इन विषयों की शिक्षा प्रतिष्ठित संस्थाओं में दी जाती थी।

सातवीं शती में राजकुमारों के अधीत विषयों की चर्चा करते हुए बाण ने कहा है कि वे वाद्य-विद्या, नाट्य-शास्त्र, गन्धर्व-वेद, चित्रकर्म, पत्रच्छेद्य, दारु-कर्म, वास्तु-विद्या, काव्य, सर्वशिल्प आदि सीखते थे। ये विषय शिल्प और कलाओं के अन्तर्गत हैं। ब्राह्मणकुमार भी वेद-वेदांगों के साथ ही कलाओं में निष्णात होते

---

१. कुस जातक, असदिस जातक १८१। परवर्ती युग में इन्हीं से विकसित ६४ कलाओं का अध्ययन-अध्यापन होने लगा। भागवत १०.४५.३३-३६।

२. विद्यार्थी तीनों वेदों के साथ १८ शिल्पों की भी शिक्षा लेते थे। लाभगरह जातक १८७ असातमन्त जातक ६१, चुल्ल धनुग्गह जातक ३७४।

३. कुस जातक ५३१; महाउम्मग्गजातक ५४६।

४. गणिकाध्यक्ष प्रकरण से।

थे। बाण के पूर्वज नृत्य, गीत और वादित्र में अबाह्य थे। हर्ष की बहिन राज्यश्री नृत्य, गीत आदि कलाओं में विदग्ध थी।

मन्दिरों में देवमूर्तियों के समक्ष नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन करके देवताओं का परितोष करने के साथ ही इन कलाओं को उच्चतर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और साथ ही साथ मन्दिर के साम्प्रदायिक विद्यालयों में नृत्य, गीत आदि का शिक्षण भी होने लगा। ग्यारहवीं शती के एन्नारियम् के विद्यालय में रूपावतार (चित्र, मूर्ति तथा वास्तु) की शिक्षा दी जाती थी।[१]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल में नवकर्मिक विहारों के निर्माण-कार्य का पर्यवेक्षण करते थे। सम्भवतः नवकर्मिकों को संघ में सम्मिलित होने के पश्चात् वास्तुकला सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। कम से कम विहार-सम्बन्धी वास्तुकला की अभिज्ञता भिक्षुओं को प्राप्त होती ही थी। परवर्ती युग में ईसवी शती के आरम्भ से पहले ही गुफा-विहारों और चैत्यों में उच्चकोटि की कला का अभ्युदय हुआ। इसके लिए प्रधानतः भिक्षुओं को ही श्रेय दिया जा सकता है। अजन्ता की चित्रकला बौद्ध संस्कृति के चित्राचार्यों की कृति है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन चित्राचार्यों की शिष्य-परम्परा संघ के ही भिक्षुओं में होती थी। बौद्ध संस्कृति का विदेशों में प्रचार करने के लिए चित्रकला और मूर्तिकला के महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होने पर इन कलाओं में प्रचारकों को निष्णात बनाने की योजना बौद्ध विद्यालयों में अधिक उत्साह के साथ अपनायी गई। भारतीय भिक्षुओं ने न केवल भारत में ही इन कलाओं के अभ्युदय में योग दिया, अपितु विदेशों में भी भारतीय कलाओं के विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों के कलाकारों ने चीन, हिन्दचीन, तिब्बत और पूर्वी द्वीप-समूहों में अपनी कला-कृतियों को प्रतिष्ठित किया। जैन संस्कृति में चित्रों से हस्तलिखित ग्रंथों को अलंकृत करने की रीति रही है। निश्चय ही जैन संस्कृति के विद्यार्थी कम से कम चित्रकला सीखने का अभ्यास करते रहे होंगे।

बहुविध शिल्पों के द्वारा अपनी जीविका के उपार्जन करने की रीति का प्रचलन जैन-संस्कृति के साधु-समाज में रहा है। शिल्पों को सीखने के लिए जैन-संस्थाओं में समुचित प्रबन्ध रहा होगा।

सैन्य-शिक्षण

सैन्य-शिक्षण के द्वारा युद्ध-विद्या-विशारद बनने की रीति सदैव प्रचलित रही है। युद्ध-भूमि में अधिक से अधिक उपयोगी बनाने के लिए हाथी और घोड़ों

१. *Annual Reports of South India for* 1912 No. 201

तक को वर्षों शिक्षा दी जाती थी, फिर सैनिकों को सुशिक्षित बनाने की योजना का होना अवश्यम्भावी है। सैन्य-शिक्षण का विशद वर्णन वैदिक युग के पश्चात् लिखे हुए ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। उपनिषदों में क्षत्र-विद्या या युद्ध-विद्या के अध्ययन करने के उल्लेख मिलते हैं।[1] महाभारत में महर्षियों के आश्रमों में वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त ब्राह्मण आचार्यों के द्वारा धनुर्वेद की शिक्षा देने के असंख्य उल्लेख मिलते हैं। ऐसे आचार्यों में भरद्वाज, द्रोण, परशुराम आदि के नाम प्रमुख हैं। इनके शिष्यों में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के शिष्य होते थे। क्षत्रिय कुमारों को धनुर्वेद, अश्वपृष्ठ (घोड़े की सवारी), गदा-युद्ध, असिचर्म (ढाल और तलवार का प्रयोग), गज-शिक्षा और नीति-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी श्रम और व्यायाम में कुशल होते थे।[2] द्रोणाचार्य ने कौरव और पाण्डव कुमारों के साथ अनेक देशों के राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। साथ ही वे अपने पुत्र को पढ़ाते थे। उस समय कुमारों को चार स्थितियों में युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी—घोड़े, हाथी या रथ पर बैठे हुए अथवा भूतल पर खड़े होकर बाण चलाना, गदा-युद्ध, असिचर्या, तोमर, प्रास, शक्ति द्वारा प्रहार करना और संकीर्ण युद्ध (अनेक वीरों से घिरे होने पर उन सभी से युद्ध करना) सिखाया जाता था।[3] राजाओं को हस्ति-सूत्र, अश्व-सूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र, नागर-सूत्र और विष-योग आदि का सतत अभ्यास करना पड़ता था।[4] अर्थशास्त्र के अनुसार १६ वर्ष की अवस्था तक राजकुमार त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन करता था। इसके पश्चात् दिन के प्रथम भाग में वह हाथी, घोड़े, रथ और शस्त्र सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन और अभ्यास करता था। वैदिक साहित्य के शिक्षण के साथ धनुर्वेद या युद्ध-विद्या सीखने की सुविधा तक्षशिला के विश्वविद्यालय में थी। कुछ ब्राह्मणकुमार धनुर्वेद का अभ्यास करके उसी के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते थे। उपर्युक्त विद्याओं के साथ पटरे चीरना, लोहा चीरना आदि सरकस की विद्यायें भी तक्षशिला में सिखाई जाती थीं।[5] सैनिक की परीक्षा भी होती थी।[6]

---

१. छान्दोग्य ७.१.२।
२. महाभारत आदिपर्व १०२.१६-१८; रामायण बाल० १८.२५-२८।
३. महाभारत आदिपर्व १२२-१२३ अध्याय से।
४. महाभारत सभापर्व ५.१०९-१११।
५. सरभंग जातक ५२२, असदिस जातक १८१।
६. चुल्लकालिंग जातक ३०१।

सैन्य-शिक्षण के लिए प्राचीन काल के महाविद्यालयों की उच्चता की कल्पना बाण के कादम्बरी के उस प्रकरण से भी होती है, जिसमें उसने क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित राजकीय विद्यामन्दिर के तुरंग-वाह्याली-विभाग का वर्णन किया है। इसके नीचे व्यायामशाला थी। विद्यालय में राजनीति, व्यायाम-विद्या, शस्त्र-विद्या (चाप, चक्र, चर्म, कृपाण, शक्ति, तोमर, परशु, गदा आदि से सम्बद्ध), रथचर्या, गजपृष्ठ, तुरंगम, हस्ति-शिक्षा, तुरगवयोज्ञान, यन्त्र-प्रयोग, विषापहरण, सुरुङ्गोपभेद, तरण, लंघन, प्लुति, आरोहण, सर्वदेशभाषा आदि का शिक्षण होता था।[1]

राजनीति

राजनीति का अध्ययन भारत में साधारणतः धर्मशास्त्र के अन्तर्गत रहा है। वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करते हुए सूत्र-युग से ही राजा के प्रजा के प्रति उत्तर-दायित्व और कर्तव्यों का विशद विवेचन किया गया है। स्मृति-साहित्य में प्रायः राजा के समक्ष प्रजा की अभ्युदय सम्बन्धी योजनायें प्रस्तुत की गई हैं और साथ ही बताया गया है कि राजा किस प्रकार राष्ट्र और प्रजा की रक्षा करे।[2] महाभारत में स्थान-स्थान पर राजनीति का विवेचन किया गया है और इसके शान्तिपर्व में राजनीति के व्यापक स्वरूप का निदर्शन किया गया है। सूत्र, स्मृति-साहित्य तथा पुराणेतिहास प्राचीन काल के पाठ्य-क्रम में प्रायः सदा समन्वित रहे हैं। अर्थशास्त्र प्रधान रूप से राजनीति का ग्रन्थ है। इसमें राजकुमारों को दण्ड-नीति के अध्ययन करने का विधान दिया गया है। इसके अनुसार दण्डनीति वह विद्या है, जिससे अलब्ध का लाभ होता है, लब्ध की रक्षा होती है और रक्षित का संवर्धन होता है।[3] अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर राजनीति के अगणित आचार्यों की रचनाओं और मतों के उल्लेख मिलते हैं। प्रायः इन सबका देश और काल के भेद से अध्ययन-अध्यापन होता था।

व्यावसायिक विषय

व्यावसायिक या औद्योगिक विषयों का शिक्षण प्रायः सदा ही तत्सम्बन्धी

---

१. कादम्बरी पूर्व भाग, पृ० ७४-७५।

२. मनुस्मृति अध्याय ७।

३. अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी आदि दण्डनीति के विशेषण देखिए अर्थशास्त्र १.४.६ में। विष्णुपुराण १.१९.२५-२६ में राज कुमारों को राजनीति पढ़ाने का विधान मिलता है।

आचार्यों के साथ ही काम करते हुए विद्यार्थी प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार साधारणतः व्यावसायिक वर्ग के लोग अपने कुल और परम्परा की विद्यायें उत्तराधिकार के रूप में सीखते थे। कुछ व्यवसायों और शिल्पों को सीखने के लिए वेद-वेदाङ्ग आदि की शिक्षण-संस्थाओं में प्रबन्ध किया गया था। यह शिक्षण प्रायः उन उच्च-वर्गीय विद्यार्थियों के लिए था, जो प्रमुख रूप से वेद-वेदांग आदि पढ़ते थे। तक्षशिला के विश्वविद्यालय में प्रायः १८ शिल्पों की शिक्षा देने की व्यवस्था थी। इन शिल्पों में कुछ तो प्रधान रूप से व्यावसायिक थे, जैसे तक्षण, कृषि, पशु-पालन, व्यापार, मृगया, इन्द्रजाल आदि।[1] महाभारत में पाण्डव-कुमारों के विविध व्यवसायों में निष्णात होने का परिचय उनके विराट नगर में वास करने के प्रकरण से प्राप्त होता है। युधिष्ठिर का जुआ खेलना, अर्जुन का प्रसाधन-कर्म, भीम का पाचक का काम करना, नकुल की अश्व-विद्या और सहदेव का गोपालन आदि सिद्ध करते हैं कि राजकुमारों को कुछ व्यावसायिक विद्याओं का अध्ययन करना अपेक्षित था। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजकुमारों के लिए 'वार्ता' विद्या सीखने का विधान बनाया है। वार्ता है कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य।[2] राजकुमार वार्ता का अध्ययन इन विषयों के अध्यक्षों की अधीनता में करता था।[3] तत्कालीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कलिंग के राजकुमारों को जहाज चलाना सिखाया जाता था और वैदेशिक व्यापार की शिक्षा दी जाती थी।[4]

आयुर्वेद

भारत में आयुर्वेद की परम्परा अतिशय प्राचीन है। वैदिक काल में अश्विद्वय की आयुर्वेद सम्बन्धी सिद्धियों को देखने से ज्ञात होता है कि यह विज्ञान पर्याप्त प्रगति कर चुका था। अथर्ववेद के उल्लेखों से इस मत की पुष्टि होती है। अथर्ववेद के महर्षियों की परम्परा में आयुर्वेद का ज्ञान सतत संचित रहा। परवर्ती युग का आयुर्वेद नामक उपवेद इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।[5]

---

१. *Education in Ancient India p.* 306

२. अर्थशास्त्र १.४.१।

३. अर्थशास्त्र १.५.८।

४. *Hunter : Orissa Vol I. p.* 197

५. आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। सुश्रुत इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं।

आयुर्वेद को शैक्षणिक संस्थाओं में बौद्धयुग में महत्त्वपूर्ण स्थान मिल चुका था। जीवक ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में सात वर्षों तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[१] शिल्पों में आयुर्वेद का प्रमुख स्थान था। छान्दोग्य उपनिषद् में सर्पविद्या के अध्ययन का उल्लेख मिलता है।[२] यह विद्या सम्भवतः सर्पों का विष दूर करने के लिए उपयोगी होती थी। चरक और सुश्रुत की संहिताओं में आयुर्वेद के आचार्यों की नामावली मिलती है और आयुर्वेद के आचार्यों की शिक्षण-पद्धति एवं विद्यार्थियों के जीवन की आचारमयी निष्ठा का वर्णन मिलता है।[३]

बौद्ध शिक्षण-संस्थाओं में आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन पर ध्यान दिया जाता था। नालन्दा के विश्वविद्यालय में चिकित्सा-विद्या की पढ़ाई होती थी। इसके अन्तर्गत रोगों का निदान करने के लिए शल्य-चिकित्सा और औषधियों के प्रयोग सिखाए जाते थे।[४] इत्सिग के अनुसार आयुर्वेद के पाठ्य क्रम के आठ विभाग थे—(१) अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्रण की चिकित्सा (२) ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा (३) शारीरिक रोग (४) आधिदैविक रोग (५) विष-चिकित्सा (६) कौमार भृत्य (७) काया-कल्प (८) अंगों को सशक्त बनाना। आयुर्वेद का अध्ययन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य था।[५]

अन्य विद्याएँ

अन्य विद्याओं में सबसे अधिक महत्त्व चारित्रिक विकास की योजनाओं का रहा है। चारित्रिक विकास के लिए जीवन को सदाचार के द्वारा शुद्ध बनाना और तप एवं योग के द्वारा अपनी काम करने की शक्तियों को उल्लसित करने का अभ्यास कराया जाता था। वैदिक, जैन, और बौद्ध तीनों संस्कृतियों के विद्यालयों में इस विषय के शिक्षण को समान रूप से अपनाया गया।

छान्दोग्य उपनिषद् में लगभग २० विद्याओं की शाखाओं का परिगणन किया गया है।[६] इनमें से अनेक तो ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक

---

१. महावग्ग ८.६–८।
२. छान्दोग्य ७.१.२।
३. चरक संहिता विमानस्थान ३.२।
४. वाटर्सः ह्वेनसांग भाग १, पृ० १५४।
५. *Record of the Western World p.* 170-175
६. छान्दोग्य ७.१.२।

नहीं कहा जा सकता कि उनका स्वरूप और विस्तार-परिधि क्या थी। सम्भव है, परवर्ती युग में उन विद्याओं का किसी दूसरे नाम से प्रचलन रहा हो।

जातक-युग में सभी मतों की विद्यायें सीखने तथा देश व्यवहार का पर्यालोचन करने के लिए विद्यार्थियों के पर्यटन करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पर्यटन करते हुए राजकुमार स्वेच्छा से हाथी हाँकना सीख सकता था।[1] प्रथम शती ईसवी पूर्व में राजकुमार खारवेल को लेख, रूप, गणना, व्यवहार और विधि आदि विद्याओं की शिक्षा दी गई थी। इस प्रकार वह सर्वविद्यावदात हो गया था।[2] इसी युग में शकुन-ज्ञान, स्वप्न-विचार, धूमकेतु से भविष्य-विचार, उल्कापात-विचार, भूकम्प, आकाशीय भविष्य-सूचनायें, चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण, अंक-गणित, पशु-पक्षियों से निमित्त-ज्ञान, इन्द्रजाल, काव्य-रचना आदि विषयों के अध्ययन और अध्यापन का प्रचलन था।[3]

सातवीं शती में बाण के अनुसार अध्ययन के विषय थे पुरुषलक्षण, पुस्तक व्यापार, लेखकर्म, द्यूतकला, शकुनिरुत-ज्ञान, रत्नपरीक्षा, दन्तव्यापार, यन्त्र-प्रयोग, विषापहरण, रतितन्त्र, सर्वसंज्ञा आदि।[4] इनमें से यन्त्र-प्रयोग का विशेष महत्त्व है। यह महाभारतकालीन यन्त्र-सूत्र से सम्बद्ध प्रतीत होता है। यन्त्र सम्भवतः उन कार्यपरायण साधनों या मशीनों के नाम थे, जिनकी कार्य-शक्ति प्रत्यक्ष-नहीं होती थी।[5] ह्वेनसांग ने नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन के

---

१. दरीमुख जातक ३७८। सुप्पारक जातक के अनुसार नौ-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी।

२. देखिए हाथीगुम्फा लेख—ततो लेख-रूप-गणना-व्यवहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन आदि।

३. मिलिन्दपञ्हो ४.३.३६। दीघनिकाय १.१ के अनुसार कुछ हीन विद्यायें थीं—अंगविद्या, उत्पादविद्या, स्वप्नविद्या, लक्षणविद्या, मूषिकविद्या, वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, शिव-विद्या, भूत-विद्या, सर्प-विद्या, विषविद्या, पक्षिविद्या, मणिलक्षण, वस्त्रलक्षण, दण्डलक्षण, असिलक्षण, स्त्री-पुरुषलक्षण, हस्तिलक्षण, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, नक्षत्र-ग्रहण, भूकम्प, ग्रहों का उदय, वृष्टिज्ञान, हस्तरेखा-विद्या, कविता-पाठ आदि। इन सबका अध्ययन-अध्यापन होता था। इसके अति-रिक्त इन्द्रजाल करने के लिए गान्धारी-विद्या सीखी जाती थी।

४. कादम्बरी, पृ० ७५।

५. गीता के 'यन्त्रारूढानि मायया' से सम्भवतः इसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

विषयों की चर्चा करते हुए जिन पंचविषयों का उल्लेख किया है, उनमें विज्ञान-विद्या का स्थान है। विज्ञान-विद्या में यन्त्रों के सिद्धान्त और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया जाता था।[1] यन्त्र-विद्या आजकल की इंजीनियरिंग के समकक्ष थी। रामायण में यन्त्रों के द्वारा भारी-भरकम पेड़ और पत्थरों को उठाकर रामसेतु की रचना का वर्णन है। अर्थशास्त्र में युद्ध-सम्बन्धी बहुविध यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मनु ने महायन्त्र-प्रवर्तन को उपपातक माना है।[2] कल्हण के अनुसार कुछ राजकुमार नाट्यशास्त्र का अध्ययन करते थे।[3]

---

१. वाटर्सः ह्वेनसांग भाग १, पृ० १५४।

२. मनु० ११.६३।

३. राजत० ४.४२२।

अध्याय ५

विद्यालय

सुदूर प्राचीन काल से लेकर आजतक भारत में अध्यापन पुण्य का कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मण के पाँच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का स्थान सर्वोच्च था। ब्रह्मयज्ञ में विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान कर्म था।[1] ब्रह्मयज्ञ के लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ के लिये शिष्यों का होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्यों में आचार्य के पुत्र भी होते थे। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय था। ऐसे विद्यालयों का प्रचलन वैदिक काल में विशेष रूप से था।[2] महाभारत में भी गृहस्थाश्रम में रहने वाले आचार्यों के अपने घर में अध्यापन करने के उल्लेख मिलते हैं।[3]

उपर्युक्त वैदिक विद्यालयों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे बड़े नगरों में नहीं होते थे। विद्यालयों की स्थिति साधारणतः नगरों से दूर वनों में होती थी। महर्षि गृहस्थ होने पर भी अपने रहने के लिये वनभूमि को ही प्रायः चुनते थे। जिन वनों, पर्वतों और उपनद-प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए उपयोगी माना और जहाँ ग्रीष्म-ऋतु का सन्ताप प्रखर नहीं था, उन्हें आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के लिए चुना।[4] विद्यालय प्रायः

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। मनुस्मृति ३.७०।

२. वैदिक साहित्य में आचार्य कुल में वेदाध्ययन करने का उल्लेख मिलता है। देखिए छान्दोग्य ८.१५.१; ४.९.१ तथा २.२३.६। बृहदारण्यक ३.७.१ के अनुसार मद्र प्रदेश में पतंजल के घर में यज्ञ-विद्या के अध्ययन करने वाले शिष्य रहते थे। कुछ राजा राजधानी में शिक्षण कार्य करते थे। बृ० ३.६.२.१-७।

३. महाभारत आदि० ३.८३ के अनुसार गृहस्थाश्रम के आचार्य वेद अपने तीन शिष्यों को घर पर पढ़ाते थे। आचार्य धौम्य के गुरुकुल के चारों ओर खेत लहलहाते थे और वहाँ पशुओं के चरने के लिए गोचर प्रदेश था। आदिपर्व ३.२१। व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कराया था।

४. आश्रमों की प्रतिष्ठा के साथ ही सम्बद्ध प्रदेशों के निवासियों का आर्यीकरण होता था। आर्यों के उपनिवेश का आरम्भ आश्रम से होता था। सुदूर

वहीं होते थे, जहाँ आचार्यों की गौओं को चरने के लिए घास का मैदान होता था, हवन की समिधा वन के वृक्षों से मिल जाती थी और स्नान करने के लिए निकट ही कोई सरोवर या सरिता होती थी। तत्कालीन वैदिक विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य और तप का विशेष महत्त्व था। इनकी सिद्धि के लिए नगर और ग्राम से दूर रहना अधिक समीचीन माना गया। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान के शिक्षक ऋषियों की आवास-भूमि अरण्य को ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियों के समीप ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी पहुँचते थे।[1] अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाने लगा।[2]

महाभारत में कण्व, व्यास, भरद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं। इनमें से कण्व का आश्रम जिस वन में था, वह अतिशय मनोरम था। इसमें सर्वत्र सुगन्धि थी। वायु पराग-मिश्रित थी। ऊँचे वृक्षों की छाया सुखदायिनी थी। वनों के वृक्षों में कण्टक नहीं थे। वे फल देते थे। सभी ऋतुओं में कुसुमों की शोभा मनोहारिणी थी। वायु के संचार के साथ पथिकों के ऊपर वृक्ष अनायास ही पुष्प-वृष्टि करते थे। इस वन में मालिनी नदी के तट पर महर्षि कण्व का आश्रम था। अनेक महर्षियों के आश्रम आसपास थे। चारों ओर वृक्ष कुसुमों से अलंकृत थे। पथिकों को घास सुख पहुँचाती थी। पक्षियों का कलकल निनाद मधुर लगता था। नदी के तट पर ध्वज की भाँति आश्रम प्रतिष्ठित था। हवन की अग्नि प्रज्वलित थी, पुण्यात्मक वैदिक मन्त्रों के पाठ हो रहे थे। तपस्वियों से तो आश्रम की शोभा में अतिशय वृद्धि हो रही थी।[3] उस आश्रम में विविध दार्शनिक विषयों पर विद्यार्थियों के लिए व्याख्यान दिये जाते थे और वेद-वेदाङ्गों पर विवाद होते थे।[4] महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर था। इस आश्रम में व्यास की अध्यक्षता में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे।[5] वसिष्ठ का आश्रम मेरु-पर्वत के पार्श्व में था। वहाँ वन में फल-फूल की समृद्धि

दक्षिण से लेकर हिमालय पर्वत तक सभी वन-प्रदेशों में, नदियों के तट पर तथा पर्वत-नितम्बों पर आर्य-सभ्यता के उपनिवेश संस्थापित हुए और उन-उन प्रदेशों का आर्य-दृष्टि से अभ्युदय हुआ।

१. मुण्डक उप० १.२.११-१२।

२. यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। छान्दोग्य उप० ८.५.३।

३. महा० आदिपर्व ६४ वें अध्याय से।

४. महा० आदिपर्व ६४.३१-३२।

५. महा० शान्तिपर्व ३१४-३१५ वें अध्याय से।

थी।[1] महर्षि भरद्वाज गंगाद्वार (हरिद्वार) में रहते थे। उनके विद्यालय में वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा के साथ अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। राजा द्रुपद ने इस आश्रम में द्रोण के साथ शिक्षा पाई थी।[2] परशुराम का आश्रम महेन्द्र पर्वत पर था। इसमें प्रयोग, रहस्य और उपसंहार-विधि के साथ सभी अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दी जाती थी।[3] शौनक का आश्रम नैमिषारण्य में था। यहीं उग्रश्रवा ने महाभारत सुनाया था।[4] ऐसे आचार्यों में दुर्वासा और वैशम्पायन प्रमुख थे।

प्रयाग में रामायण काल में भरद्वाज का रम्य आश्रम संगम के समीप था। इस आश्रम में विविध प्रकार के वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होम का धूम छाया रहता था। संगम की दोनों नदियों के जल के संघर्ष की ध्वनि का कलकल आश्रम-भूमि में सुनाई पड़ता था। वहाँ पर विविध प्रकार के सरस वन्य अन्न और मूल-फल मिलते थे। मुनियों के साथ ही मृग और पक्षी वहाँ रहते थे। महर्षि भरद्वाज के चारों ओर शिष्य रहते थे। अध्ययन-अध्यापन और आवास के लिए पर्णशालाएँ बनी थीं।[5] आश्रम-जीवन में ऋषियों और शिष्यों के अतिरिक्त हवन की अग्नि, वृक्षों और मृग-पक्षियों का महत्त्व था। भरद्वाज के आश्रम पर पहुँच कर वसिष्ठ और भरत ने मुनि से कुशल-क्षेम 'शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु' पूछा।[6] आश्रम में आने-जाने वाले दर्शकों को ध्यान रखना पड़ता था कि आश्रम के वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओं को किसी प्रकार की हानि न हो।[7] महाभारत में प्रयाग में अगस्त्य के आश्रम का वर्णन है।[8]

रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था। चित्रकूट की पवित्रता

---

१. आदिपर्व ९३.६-११।

२. आदिपर्व १२१.८, ९। महाभारत के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा के लिए राजधानी में राजाओं की ओर से विद्यालय बनने लगे थे। भीष्मपितामह ने हस्तिनापुर में धनुर्वेद के महाविद्यालय की स्थापना की थी। आदिपर्व १२२, १२३ अध्याय। स्वयं अर्जुन ने धनुर्वेद के महाविद्यालय की स्थापना की थी। सभा० ४.२८, २९।

३. आदि० १२१.२१।

४. आदिपर्व ४.१।

५. वा० रामायण २.५४।

६. वा० रामा० २.९०.८।

७. वा० रामा० २.९१.९।

८. महा० वनपर्व ८७.१५।

और रमणीयता ऋषियों, मयूरों, कोकिलों, फल के वृक्षों और मन्दाकिनी नदी के झरनों से स्फुरित हो रही थी।[1] वसिष्ठ का आश्रम भी उपर्युक्त विभूतियों से सुशोभित हो रहा था।[2]

रामायणकालीन दण्डकारण्य में अगस्त्य ऋषि का आश्रम वन-वृक्षों की अतिशयता से प्रभावशाली प्रतीत होता था। सभी फूले-फले वृक्ष पुष्पित लताओं से आच्छादित थे। वृक्षों के पत्ते स्निग्ध थे और पशु-पक्षी शान्त थे। इन्हीं लक्षणों से ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है। आश्रम का समीपवर्ती वन होम के धूम से परिव्याप्त था। आश्रम में अगस्त्य शिष्यों से परिवृत थे। इस आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड़, कार्तिकेय और धर्म के स्थान बने हुए थे।[3] इन स्थानों पर सम्भवतः इन्हीं देवताओं से सम्बद्ध साहित्य और विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन होता था।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय महाभारत-काल से ही सारे भारत में विख्यात था। यहीं पर आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा पाई थी। जातक कथाओं के अनुसार तक्षशिला नगर और राजधानी भी थी।[4] इस विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनी प्रदेशों से विद्यार्थी जाते थे।[5] गौतम बुद्ध के समकालीन सर्वोच्च वैद्यराज जीवक ने यहीं सात वर्षों तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था। वह पटना से पढ़ने के लिए इतनी दूर गया था।[6] इस विद्यालय में तीन वेदों के साथ हस्तिसूत्र, धनुर्वेद और

---

१. वा० रामायण अयो० ५६.१६।

२. वा० रामा० १.५१.२३-२८ तथा १.५२.४।

३. अरण्य का० ११.७५-८०; १२.१७-२१।

४. पंचगरुक जातक १३२।

५. तिलमुट्ठि जातक २५२; पीठजातक ३३७; दरीमुख जातक ३७८; ब्रह्मदत्त जातक ३२३।

६. महावग्ग ८। इस युग में आसपास के नगरों में प्रसिद्ध आचार्यों के होते हुए भी राजकुमारों के लिए आवश्यक था कि दूर देशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें, जिससे उनका मान-मर्दन हो, शीत और उष्ण सहने का अभ्यास हो और वे लोक-व्यवहार सीखें। तिलमुट्ठि जातक २५२। महाभारत अनुशासन-पर्व ३६.१५ के अनुसार अपने-आप या पिता के घर में पढ़े हुए पण्डित ग्राम्य कहे जाते हैं।

१८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी।[1] पाणिनि और कौटिल्य ने सम्भवतः तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी।

तक्षशिला विश्वविद्यालय के अवशेष अब भी मिलते हैं। इस विद्यालय का प्राकृतिक दृश्य रमणीय था। समीप ही एक नदी बहती थी। विद्यालय-भवन पहाड़ियों पर बने हुए थे।

जातक-युग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या बहुत अधिक थी। नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर वेद और शिल्प-विद्याओं में निष्णात विद्वान् ऋषि-प्रव्रज्या लेकर हिमालय पर रहते थे। ऐसे ऋषियों के साथ उनके शिष्य रहा करते थे, जिनकी संख्या कभी-कभी ५०० तक जा पहुँचती थी। आचार्य अपनी शिष्य-मण्डली के साथ कभी-कभी पर्यटन करते हुए हिमालय से चलते-फिरते काशी तक आ पहुँचते थे।[2]

पाणिनि की जन्म-भूमि शालातुरी उच्चकोटि के व्याकरण के आचार्यों की नगरी रही है। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि व्याकरण का ज्ञान इस नगरी में शिष्य-परम्परा से चल रहा है और इसका अध्ययन बहुत चाव से हो रहा है। यहाँ के अध्ययनशील और अनुसन्धानपरायण ब्राह्मण विख्यात हैं।[3] गुरु का घर, जहाँ विद्यार्थी पढ़ते थे, गुरुकुल या तीर्थ कहा जाता था।[4]

जातक-युग में काशी वेद-विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए विख्यात थी। बोधिसत्त्व के काशी के विद्यालय में सौराष्ट्रों से आये हुए ब्राह्मण और क्षत्रियकुमार वैदिक साहित्य का अध्ययन करते थे।[5]

ऊपर जिन आचार्यों और महर्षियों के आश्रमों का वर्णन किया गया है, उनकी पुण्यदायिनी और उन्नतिमयी शक्तियों से रामायण और महाभारत-काल के लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमों में यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओं की प्रतिष्ठा होती थी।[6]

---

१. सुसीम जातक १६३; असदिस जातक १८१ तथा थुस जातक ३३८।

२. केसव जातक के अनुसार कल्पकुमार नामक काशी-राष्ट्रवासी ब्राह्मण तक्ष-शिला में सभी विद्याएँ सीख कर ऋषि-प्रव्रज्या से प्रव्रजित होकर हिमालय पर तप करने वाले महर्षि केशव का प्रधान शिष्य बना। केशव के शिष्यों की संख्या ५०० थी।

३. वाटर्स, ह्वेनसांग भाग १, पृ० २२२।

४. महाभाष्य २.१.१; ६.३.८७।

५. नंगलीस जातक, कोसिय जातक।

६. महाभारत वनपर्व ८०.११६, १३३; ८३.७२, ७७। वनपर्व ८५ वें अध्याय में यज्ञ के कारण बने हुए अनेक तीर्थों के उल्लेख हैं।

रामायण के अनुसार अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि महर्षियों के आश्रम तीर्थ थे। तीर्थ बने हुए उपर्युक्त आश्रमों के नाम आयतन और पुण्यायतन भी मिलते हैं। आयतन और पुण्यायतन शब्द 'पवित्र करने की शक्ति रखने वाले स्थान' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[१] इन्हीं आश्रमों और तीर्थों में परवर्ती पौराणिक युग में मन्दिर बनने लगे। अग्निपुराण के अनुसार—

तीर्थे चायतने पुण्ये सिद्धक्षेत्रे तथाश्रमे।
कर्तुरायतनं विष्णोर्यथोक्तात् त्रिगुणं फलम्॥३८.१५॥

आश्रम, तीर्थ और पुण्यायतनों में मन्दिर बनवाने का प्रचलन विशेष रूप से हुआ। आश्रमों में देवों के स्थान होते ही थे। पौराणिक युग में मन्दिर भी वहीं बनने लगे।[२] मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती थीं। तीर्थों और आश्रमों के मन्दिरों में देवताओं के साथ ही महर्षियों की प्रतिष्ठा हुई।[३] पुराण-कालीन मन्दिरों की व्यवस्था के लिए राजाओं की ओर से धन मिलता था। इस धन से देवपूजा के साथ-साथ स्थानीय आचार्यों का भरण-पोषण होता था। इस प्रकार प्रायः सभी मन्दिर उच्चकोटि के विद्वानों के आश्रम बन गये। उससे सम्बद्ध विद्यालय चलने लगे। मन्दिरों के विद्यालय-स्वरूप का परिचय ह्वेनसाँग के इस लेख से भी मिलता है:—

Beside the capital and close to the Ganges was the I-lan-na mountain; the dark mists of which eclipsed sun and moon; on this an endless succession of Rishis had always

---

१. महा० वनपर्व ८१.१६९; ८५.२२, २३। आश्रम का अर्थ भी तीर्थ हो चुका था। वनपर्व ८७.२, १९, २०।

२. महाभारत के अनुसार मुनियों के आश्रम में देवायतन बनते थे। देखिए अनुशासन-पर्व १०.१७। मुनि तो शिक्षक होते ही थे। बुद्धचरित ७.३३ के अनुसार 'जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठ' होते थे और तपस्वियों के रहने के लिए मठ होते थे। बुद्धचरित ७.४।

३. देवताओं के स्थानों के आश्रमों में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख देखिए रामायण अरण्य० १२ वाँ सर्ग। रामायण काल में यज्ञों का विशेष प्रचलन था। देवस्थान उस समय यज्ञ के लिए थे। पौराणिक युग में जब यज्ञों का स्थान बहुत कुछ देव-पूजा ने ले लिया तो देव-प्रतिष्ठा की प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुग के पुण्यायतन आगे चल कर मन्दिर रूप में प्रतिष्ठित हुए।

lodged and their teachings were still preserved in the Deva Temples.[1]

उन मन्दिरों में स्थानीय पूर्वयुगीन आचार्यों के ज्ञान-दर्शन का प्रवाह शिष्य-परम्परा से चलता रहा।

पाँचवीं शती ई० पू० के लगभग से आचार्यों के विद्यालयों में से अनेक आश्रम के स्थान पर मन्दिर बन गये। उन मन्दिरों की रूप-रेखा आधुनिक मन्दिरों से भिन्न थी। उनको यदि विद्यामन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम-जीवन का आदर्श चल रहा था। पौराणिक युग में मन्दिर धर्म-सम्बन्धी अभ्युदय के प्रमुख प्रतीक रहे हैं।

गौतम बुद्ध के जीवन काल में ब्रह्मदेय नामक भूमि में बहुत से गाँव थे। इनमें आचार्य और विद्यार्थियों के पोषण के लिए सभी प्रकार की वस्तुयें और सुविधायें थीं। मगध के खाणमुत नामक ब्रह्मदेय ग्राम में कुटदन्त ३०० माणवकों को पढ़ाता था। वे नाना देशों से आये हुए वेद-विद्या के शिष्य थे। कोसल देश में मनसाकट नामक ब्राह्मणों का ग्राम था। वहाँ के अभिज्ञात और महाशाक्त ब्राह्मणों में से पोक्खर साति और तारुक्ष माणवकों को ब्रह्मविद्या पढ़ाते थे।[2]

ह्वेनसाँग ने अपनी भारत-यात्रा के वर्णन में तत्कालीन भारत के प्रमुख महा-विद्यालयों का वर्णन किया है। कामरूप (आसाम) की शिक्षण-संस्थाओं की चर्चा करते हुए उसने लिखा है—कामरूप वैदिक शिक्षा का केन्द्र है। राजा भास्कर वर्मा ने स्वयं कामरूप में विद्यालय की प्रतिष्ठा की है। इस विद्यालय की ख्याति इतनी बढ़ गई है कि दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए वहाँ आते हैं। काशी, कलिंग, उज्जयिनी, चित्तौड़ आदि प्रदेशों के विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करते हैं। राजा और प्रजा दोनों विद्या-व्यसनी थे।[3]

ह्वेनसाँग ने जिस प्रकार विहारों के साथ भिक्षुओं की संख्या बतलाई है, उसी प्रकार देव-मन्दिरों के साथ तीर्थिकों की संख्या का परिगणन किया है। कुड्य प्रदेश का वर्णन करते हुए उसने लिखा है—यहाँ विहार तो नहीं है, पर सौ के लगभग देव-मन्दिर हैं, १०,००० तीर्थिक हैं।[4] ह्वेनसाँग के इस प्रसंग के असंख्य उल्लेख मिलते हैं। इनको देखने से प्रतीत होता है कि बौद्ध संस्कृति में शिक्षण के

---

१. वाटर्स-ह्वेनसाँग, भाग २, पृ० १७८।

२. दीघनिकाय १.३.४.५ से।

३. वाटर्स-ह्वेनसाँग, भाग २, पृ० १८६।

४. वाटर्स-ह्वेनसाँग, भाग २, पृ० १९६।

लिए जो स्थान विहारों का था, वही स्थान ब्राह्मण-संस्कृति में मन्दिरों का था। ह्वेनसाँग के समय में प्रयाग में कई सौ मन्दिर और दो विहार थे। काशी में २० देव-मन्दिर थे। इनके भवनों में अनेक तल थे, पास के वृक्ष-कुंज से समीपवर्ती प्रदेश में सर्वत्र छाया होती थी और उनसे होकर स्वच्छ जल के सोते बहते थे। जालन्धर के तीन देव-मन्दिरों में ५०० पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी रहते थे। कुलुतो प्रदेश में २० विहारों के अतिरिक्त १५ देवमन्दिर बुद्धेतर सम्प्रदाय वालों के थे। थानेश्वर में तीन विहार और सौ देवमन्दिर थे। स्रुघ्न में पाँच विहार और ५० देव-मन्दिर थे। अहिच्छत्रा के दस विहारों में १०० से अधिक भिक्षु थे और नव मन्दिरों में ३०० शिव के उपासक पाशुपत थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मन्दिर साधारणतः साम्प्रदायिक शिक्षण-संस्थायें थीं। धर्म के उन्नायक मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुए।

सरस्वती का मन्दिर विशेष रूप से विद्यादान के लिए पुण्यावह माना गया। धारा नगरी के ग्यारहवीं शती के राजा भोज के बनवाये हुए सरस्वती-मन्दिर संस्कृत के महाविद्यालय थे। इनमें सरस्वती की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। ये मन्दिर आज भी वर्तमान हैं।

चौथी शती ई० से लेकर सातवीं शती ई० के ब्राह्मण-संस्कृति के विद्यालयों का परिचय तत्कालीन काव्य-साहित्य के उल्लेखों से प्राप्त होता है। कालिदास ने हिमालय पर्वत पर स्थित वसिष्ठ के आश्रम का वर्णन किया है और इस आश्रम के उपवन, नीवार-धान्य, अग्निहोत्र और विद्यार्थियों के ब्राह्ममुहूर्त्त में वेदघोष की विशेषताओं का आकलन किया है। आश्रम में विद्यार्थी वृक्ष लगाते थे और उनका संवर्धन करते थे।[2] सातवीं शती में बाण ने महर्षि जाबालि के आश्रम का वर्णन किया है। महर्षि का विद्यालय बटु-समूह के अध्ययन से गूँज रहा था। मुनियों के साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिए हुए मुखर शिष्य, मयूर, दीधिकायें, पर्णशालाओं के आँगन में सूखता हुआ श्यामाक, फल-राशि आदि आश्रम की विशेषतायें थीं। आश्रम में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा होती थी। यज्ञ-विद्या पर व्याख्यान होते थे। धर्मशास्त्र की आलोचना होती थी। पुस्तकें पढ़ी जाती थीं। सभी शास्त्रों के अर्थ का विवेचन होता था। कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रों की साधना करते थे। आश्रम में पर्णशालाएँ बनाई जाती थीं,

---

१. वाटर्स-ह्वेनसाँग, भाग १, पृ० २९२, २९६, २९८, ३१४, ३१८, ३२२, ३३१, ३६१।

२. रघुवंश १.४९-५३; ५.८२।

आँगन लीपे जाते थे। सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था। बाण के शब्दों में वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।[1] हर्षचरित में बाण ने हर्ष की राज्यश्री को ढूँढ़ने की यात्रा के प्रसङ्ग में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों से अलंकृत दिवाकर मित्र के आश्रम का वर्णन किया है। विन्ध्यवन के इस आश्रम में आचार्य परस्पर विवाद के माध्यम से अपने ज्ञान का संवर्धन करते थे। इसमें अगणित सम्प्रदायों के शिष्य और आचार्य थे।

सातवीं शती के गुरुकुलों को स्वयं देखते हुए बाण ने वर्णन किया है। बाण ने स्वयं १४ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में अध्ययन किया था। वहाँ से समावर्तन के पश्चात् निकलने पर वह अनेक गुरुकुलों में पर्यटन करते हुए पढ़ता रहा। उन गुरुकुलों का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि इनमें विमल विद्या का प्रकाश है। ये साक्षात् ही वेदों के तपोवन हैं और इनमें उपाध्याय श्रमपूर्वक अध्यापन करते हैं।

बाण के गाँव में जो ब्राह्मण रहते थे, उनके घर गुरुकुल-स्वरूप थे, जिनमें वेद और तत्सम्बन्धी अन्य विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। उन गुरुकुलों में बहुत से छोटे-छोटे ब्रह्मचारी यज्ञ-विद्या सीखने आते थे। उन्हें ब्राह्मण-गृहपति वेद, व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा आदि की शिक्षा देते थे। गुरुकुलों में सदैव वेदों का पाठ होता था, यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित रहती थी हवन होता था और विधिपूर्वक यज्ञ किये जाते थे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि सातवीं शती में वैदिक परम्परा के गृहस्थ-आचार्यकुलों की शिक्षण-संस्थायें प्रायः गुरुकुलों के नाम से प्रचलित रहीं, साथ ही वानप्रस्थ महर्षियों की शिक्षण-संस्थाओं का वन की प्राकृतिक उदारता की पृष्ठभूमि में अभ्युदय हो रहा था। इनके अतिरिक्त मन्दिरों में शिक्षा देने वाली संस्थाओं की संख्या अत्यधिक हो चली थी। मन्दिर-महाविद्यालयों के अवशेष अब भी पर्वत-प्रदेशों के एलौरा आदि गुफा-मन्दिरों में मिलते हैं।

मन्दिरों के शिक्षण-संस्था होने के बहुसंख्यक ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शती से मिलते हैं। बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सलोतगी के मन्दिर में त्रयी पुरुष की प्रतिष्ठा राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण के द्वारा की गई थी। इसका प्रधान कक्ष, जो ९४५ ई० में बनवाया गया था, विद्यालय था। विद्यालय में अनेक जनपदों से विद्यार्थी आते थे और उनके रहने के लिए २७ छात्रावास बने हुए थे। विद्यालय-भवन ग्यारहवीं शती में जीर्ण होकर गिर पड़ा और उसका पुनर्निर्माण किया गया।

---

१. कादम्बरी, पूर्वभाग पृ० ३९-४०।

एन्नारियम् के वैदिक विद्यालय की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शती के आरम्भिक भाग में हुई थी। यह अर्काट प्रदेश के दक्षिण भाग में अवस्थित था। इसमें ३४० विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गई थी, जिनमें से ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्ण यजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्ल यजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर-मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमें १६ अध्यापक थे। विद्यालय को समीपवर्ती प्रदेश की ग्रामीण जनता चलाती थी।[१]

चिंगलीपुट के विद्यालय की स्थापना ग्यारहवीं शती में वेंकटेश्वर के मन्दिर में हुई थी। विद्यालय में ६० विद्यार्थियों के आवास और भोजन का प्रबन्ध किया गया था। इनमें से १० ऋग्वेद के, १० यजुर्वेद के, २० व्याकरण, दस पंचरात्र-दर्शन के और तीन शैवागम के विद्यार्थी थे। इनके साथ ही साथ वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम के महात्मा रहते थे।[२]

दसवीं शती में धारवाड़ जिले के हब्बाल नगर में भुजब्बेश्वर के मन्दिर से सम्बद्ध विद्यालय था।[३] ग्यारहवीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में जो विद्यामन्दिर था, उसमें वेद पढ़ने वाले २००, स्मृति पढ़ने वाले २००, पुराण पढ़ने वाले सौ तथा दर्शन पढ़ने वाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिर के पुस्तकालय में छः अध्यक्ष थे।[४] सन् १०७५ ई० में बीजापुर के एक मन्दिर में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शन की उच्च शिक्षा देते थे।[५] ऐसे अनेक विद्यामन्दिर दसवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक बीजापुर जिले में मनगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शिमोग जिले में तालगुण्ड, तंजोर जिले में पुन्नबोयल आदि स्थानों में थे।[६]

दसवीं शती के आसपास अग्रहार कोटि की शिक्षण-संस्थाओं का विशेष रूप से प्रचलन हुआ। राजाओं के द्वारा अथवा समाज के धनी व्यक्तियों के द्वारा जिन आचार्यों और विद्वानों को भूमि या अन्न-दान दिया जाता था, वे जीविकोपार्जन सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपना जीवन अध्ययन-अध्यापन में लगाते थे।

---

१. *Annual Reports of South Indian Ehigraphy* 1918 *p.* 145

२. *Epigraphia Indica XXI No* 220 .

३. *Epigraphio Indica IV p.* 355

४. *Hyderabad Archaeological Survey No* 8 *p.* 7

५. *Indian Antiquary X pp.* 129-131

६. *Epigraphia Indica V p.* 22; *Epigraphia Carnatica I No.* 45; *Annual Reports of South Indian Epigraphy* 1913 *pp* 109-110

इस प्रकार की भूमि या अन्नदान को अग्रहार कहा जाता था।[1] अग्रहार कोटि की अन्य संस्थायें घटिका और ब्रह्मपुरी रही हैं। इस प्रकार की संस्थायें दक्षिण भारत में अधिक संख्या में थीं।

राष्ट्रकूट राजवंश की ओर से दसवीं शती में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में कदियुर अग्रहार दो सौ ब्राह्मणों के लिये दिया गया था। इसमें वैदिक साहित्य, काव्य-शास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण, राजनीति आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों में निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध अग्रहार की आय से होता था।[2] सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूर के हस्सन जिले में प्रतिष्ठित था। इस अग्रहार के प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक कृत्यों में लीन रहते थे।[3] मैसूर राज्य में वनवासी की राजधानी बेलगाँव से सम्वद्ध तीन पुर, पाँच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं वौद्ध विहार थे। इनमें वेद-वेदांग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहार की भाँति टोल नामक शिक्षण-संस्थायें उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में प्रचलित रही हैं। टोल नागरिकों की आर्थिक सहायता और भूदान से चलते थे और गाँवों से सम्बद्ध होते थे। गाँवों के आचार्य आसपास के गाँवों से आए हुए विद्यार्थियों के लिए भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते थे। टोलों का महत्त्व साधारण विद्यालयों के रूप में प्रायः सदा रहा है।

शंकराचार्य ने मठों को शिक्षा-केन्द्र बनाने का अनुपम प्रयास किया। उन्होंने पुरी, कांची, द्वारिका तथा बदरी में उच्च कोटि के मठीय विद्यालयों की स्थापना

---

१. उच्च कोटि के आचार्यों, विद्वानों और ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन-सम्बन्धी चिन्ता से मुक्त रखने का उत्तरदायित्व राजाओं और समाज के धनी लोगों पर सुदूर प्राचीन काल से रहा है। उपनिषद्-साहित्य में जनक के द्वारा याज्ञवल्क्य के लिए, जो अपना राज्य देने की चर्चा की गयी है, वह अग्रहार कोटि का दान माना जा सकता है। महाभारत के अनुशासन पर्व ६१ वें अध्याय में अग्रहार देने का उल्लेख है। प्राग्बौद्ध काल में विद्वान् ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मदान के रूप में गाँव दिए जाने का वर्णन मिलता है। सोमदत्त जातक २११ तथा नानाच्छन्द जातक २८९। गौतम बुद्ध के जीवनकाल से ही बौद्धविहारों के लिए, जो भूमि, उद्यान और भवन का दान किया जाता था, वह अग्रहार का पूर्व रूप था।

२. *Epigraphia Indica XIII p.* 317

३. *Epigraphia Carnatica V p.* 114

की। इन मठों की स्थापना भारत की सांस्कृतिक एकता का निर्देश करती है। वहाँ विद्यालयों के समीपवर्ती प्राकृतिक दृश्य मनोरम और उदात्त थे। हिरण्यमठ, कोडियमठ, पंचमठ आदि अन्य प्रसिद्ध संस्थायें इस कोटि की हैं। शैक्षणिक दिशा में इन मठों की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक थी। धीरे-धीरे सारे भारत में छोटे-बड़े मठीय विद्यालयों की प्रतिष्ठा हुई। यह संस्था अब तक विद्यमान है, परन्तु अपने प्राचीन आदर्शों को मठाध्यक्ष भूल गये हैं।

कश्मीर के विद्यालय

कश्मीर में कुछ आचार्यों के घर ही विद्यालय थे।[1] मन्दिरों में बड़े-बड़े विद्यालय होते थे। राजा अवन्ति वर्मा के मन्त्री शूर ने महोदय में महोदय स्वामी की प्रतिष्ठा की थी और उस मन्दिर में रामज उपाध्याय वैयाकरण को व्याख्याता बनाया।[2] विद्यार्थियों के लिए राजाओं की ओर से मठों का भी निर्माण होता था। कल्हण ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है—

भूभुजादानशौण्डेन पैतृके स्थण्डिले कृतः।
छात्राणामार्यदेश्यानां तेन विद्यार्थिनां मठः॥

इस मठ का निर्माता यशस्कर नामक ब्राह्मण राजा था।

बौद्ध विद्यालय

बौद्ध शिक्षण-संस्थाओं के प्रसिद्ध प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। गौतम ने अपने दर्शन और धर्म के अनुकूल मानव-व्यक्तित्व के विकास की जो योजना बनाई, उसमें गृहस्थाश्रम का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था। गौतम के पहले भी कुछ ऐसे विचारक थे, जिनके मत से गृहस्थाश्रम की उपयोगिता किसी विद्वान् या अग्रशोची व्यक्ति के लिए नहीं है।[3] ऐसी परिस्थिति में कुछ विचारशील माता-पिता स्वयं अपने पुत्र को ब्रह्मपरायण बनाने के लिए निश्चय कर लेते थे और अपने बालक की अवस्था सोलह वर्ष हो जाने पर उसे सदा के लिए वन में भेज देते थे, जिससे वह अग्नि की पूजा करते हुए ब्रह्मलोकगामी हो जाय।[4] ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार भी

---

१. राजत० ८.१००।

२. राजत० ५.२९।

३. देखिए उदंचनि जातक १०६।

४. असातमन्त जातक ६१, नंगुट्ठ जातक १४४, सन्थव जातक १६२। यही योजना वैदिक साहित्य में वर्णित ब्रह्मचर्य का मूल रूप प्रतीत होती है। समिधा

बाल्यावस्था से ही लोग प्रव्रजित हो सकते थे।[1] ऋषि-प्रव्रज्या लेने वाले लोग प्रायः हिमालय पर्वत पर किसी आचार्य-महर्षि की अध्यक्षता में जीवन बिताते थे।[2] कभी-कभी वे पर्वतीय प्रदेश छोड़कर नगरों की ओर आते-जाते थे और नागरिकों को उपदेश देते थे। ऋषि नगरों में भिक्षा माँगते थे। उनके हाथ में भिक्षापात्र होता था। राजाओं के द्वारा उनका सम्मान होता था और उन्हें बढ़िया भोजन और आसन आदि मिलता था। ऋषि वर्षा ऋतु में किसी एक ही स्थान पर रहते थे। राजा के उद्यान में इनके लिए वर्षाकाल विताने के लिए पर्णशाला बन जाती थी।[3] वनों में रहते हुए ऋषि वनान्तर से फल-मूल आदि अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ लाते थे।[4] ऋषियों की यह प्रव्रज्या अग्नि-पूजा के विरुद्ध थी।[5] उनके जीवन-क्रम और अभ्यास बहुत कुछ ऐसे ही थे, जैसे परवर्ती युग में बौद्ध संस्कृति में प्रतिष्ठित हुए। अरक जातक के अनुसार बोधिसत्त्व एक वार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर काम-भोगों को छोड़कर ऋषि-प्रव्रज्या अपना कर चारों ब्रह्म-विहारों से समापन्न होकर अरक नाम के उपदेशक हुए। वे हिमालय प्रदेश में अनुयायियों के साथ रहते थे। अरक के उपदेश थे—'प्रव्रजित को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए। मैत्री-भावना से सुभावित चित्त अर्पणा, समाधि और ब्रह्मपरायणता प्राप्त करता है।'[6]

गौतम ने स्वयं कहा है कि प्राचीन काल में अनेक अर्हत् बुद्ध हो चुके हैं।[7] फाह्यान ने लिखा है कि देवदत्त के अनुयायियों के भी संघ हैं। वे पूर्व के तीन बुद्धों—कश्यप, ककुच्छद और कनक मुनि की भी पूजा करते हैं, केवल शाक्यमुनि की

से समायुक्त होकर सामाजिक जीवन से दूर वह ब्रह्मचारी रहता ही था। उसका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य इससे भिन्न नहीं था।

१. एकपण्ण जातक १४३, इन्दसमानगोत्त जातक १६१, सन्थव जातक १६२, उपसाल्ह जातक १६६, समिद्धि जातक १६७, अरक जातक १६८, आदिच्चुपट्ठान जातक १७५।

२. इन्दसमान-गोत्त जातक १६१।

३. एकपण्ण जातक १४९।

४. इन्दसमान-गोत्त जातक १६१।

५. नंगुट्ठ जातक १४४ और सन्थव जातक १६२।

६. अरक जातक १६९।

७. महापरिनिब्बान सुत्तन्त १.१६।

नहीं।[१] उपर्युक्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि गौतम ने व्यक्तित्व के विकास की जिन योजनाओं और संस्थाओं को अपनाया, उनका पूर्व रूप भारतीय संस्कृति में सुदूर प्राचीन काल से चला आ रहा था।

गौतम ने प्रव्रज्या लेने वाले ऋषियों के संघीय रहन-सहन को अपनाया और उन्हीं की भाँति आजीवन व्रत-निष्ठ रहने का विधान बनाया। इस जीवन-विन्यास में उन्होंने अरण्यवास और पर्णशालाओं को बहुत महत्त्व नहीं दिया।[२] बौद्ध विहार नगरों के आस-पास ही ऊँचे भवनों के रूप में बने। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनी लोगों ने गौतमबुद्ध के समय से ही विहारों के बनवाने का उत्तरदायित्व लिया। ऐसी परिस्थितियों में विहारों का राज-प्रासाद के समकक्ष होना स्वाभाविक था।

जहाँ तक विहारों के नगरों के समीप होने का सम्बन्ध है, गौतम का स्पष्ट उद्देश्य था—नागरिकों के अवगाहन के लिए अपनी उदात्त विचार-धारा को सुलभ बनाना। इसमें गौतम को सफलता मिली।[३]

भिक्षुओं को विहार में रहने की अनुमति गौतम ने राजगृह के नगर-सेठ के प्रार्थना करने पर दी थी। इसके पहले भिक्षु गौतम बुद्ध से शिक्षा लेने के लिए प्रातःकाल आ जुटते थे और दिन भर शिक्षा-ग्रहण करके रात्रि का समय वनों में, वृक्षों के नीचे, पर्वत की पार्श्व-भूमि में, गुफाओं में, श्मशान में, भूप्राङ्गण में अथवा घास की राशि पर बिता देते थे। गौतम बुद्ध चलते-फिरते महात्मा थे। उनकी शिष्य-मण्डली भी उनके साथ चलती-फिरती थी। जब शिष्यों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई तो सबको साथ लिए घूमना कठिन हो गया और उनको भवन में रहने के लिए अनुमति दे दी गई।

भिक्षुओं की बेघर होकर घूमने की परिस्थिति का अवलोकन करके राजगृह के सेठ ने उनके लिए ६० घर बनवा दिये। गौतम ने अनुमति दी थी कि भिक्षुओं

---

१. फाह्यान पृ० ४६। देवदत्त गौतम का समकालीन धर्माचार्य था।

२. गौतम ने अरण्य में रहने की व्यवस्था पर रोक भी नहीं लगायी। वन में विहार बना कर भिक्षु वहाँ रहते थे। ऐसे वन गाँवों के पास होते थे, जहाँ से भिक्षा मिल सकती थी। चुल्लवग्ग ८.६।

३. नियम था कि भोजन कर लेने के पश्चात्, जिसने निमन्त्रण द्वारा भोजन दिया हो, उसे अवश्य ही प्रवचन दिया जाय। यह काम सबसे जेठे भिक्षु को करना पड़ता था। लोग ऐसा प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। चुल्लवग्ग ८.४.१। विहारों में जाकर भी नागरिक प्रवचन सुनते थे और अपने संशय का निराकरण करते थे।

के रहने के लिए पाँच प्रकार के घर हो सकते हैं—विहार, अड्ढयोग, पासाद (प्रासाद), हम्मिय (हर्म्य) तथा गुहा। उन्होंने ६० घरों के दान का अनुमोदन करते हुए सेठ को इन शब्दों में धन्यवाद दिया—जो व्यक्ति संघ के लिए विहार का दान करता है, वह भिक्षुओं को जाड़े, गर्मी और वर्षा के प्राकृतिक प्रकोपों से बचाता है, मच्छरों और कीड़ों से उनकी रक्षा करता है तथा उष्ण वायु के झोकों से सुरक्षित रखता है। विहार-भवन में शांतिपूर्वक बैठकर भिक्षु समाधि लगा सकते हैं और चित्त को एकाग्र करके चिन्तन कर सकते हैं। बुद्धिमान् पुरुष अपने कल्याण की भावना से मनोरम विहारों को बनवायें और वहाँ विद्वान् मनीषियों को आश्रय दें। जिन लोगों का अन्तःकरण शुद्ध है, उनके लिए प्रसन्न मन से भोजन, पेय, वस्त्र, आवास आदि का दान देना चाहिये। ऐसे लोग उपकृत होकर सत्पथ का प्रदर्शन करेंगे। सत्य ही सब प्रकार के शोकों को उन्मूलित करता है। सत्य को जानकर मानव पाप नहीं कर सकता।[1]

जनता में बौद्ध संस्कृति के प्रति असीम उत्साह था। लोगों ने विहार बनवाना आरम्भ किया। प्रारम्भ में विहार सरल होते थे। उनमें किवाड़ तक नहीं लगाये जाते थे और छत को घास-फूस से छा देते थे। विहारों की रूप-रेखा अरण्यवासी मुनियों की पर्णशाला के समान थी। आरम्भ में जो किवाड़ लगाये गये, वे दीवालों को छेद कर उसमें रस्सी या लता-प्रतान लगाकर स्थिर किये जाते थे। ऐसा प्रबन्ध कैसे टिकाऊ होता ? शीघ्र ही चौखट बाजू वाले किवाड़ लगने लगे। आगे चलकर घास-फूस की छत के स्थान पर चमड़े का आस्तरण लगाया जाने लगा और उसके नीचे-ऊपर लेप कर दिया जाता था। विहार को वायु और धूप के द्वारा स्वच्छ बनाने के लिए उसमें खिड़कियाँ लगाई जाने लगीं।

गौतम बुद्ध सांस्कृतिक पर्यटन करते हुए वनों, उपवनों और आरामों में ठह-रते थे। शनैः शनैः इन आरामों का दान गौतम को मिलने लगा और इनमें विहार बनते गये।[2]

पर्वतों की गुफाओं में रहना बौद्ध-योजना के अनुकूल है। गौतम के जीवनकाल में पर्वतों की प्राकृतिक गुफाएँ विहार-रूप में परिणत होने लगी थीं। कुछ राजा ऐसी गुफाओं के आसपास भिक्षुओं की सुविधाओं के लिए उपवन लगवा देते थे।[3]

---

१. चुल्लवग्ग ६.१.५।

२. ऐसे आरामों और विहारों के अगणित उल्लेख महावग्ग के पाँचवें और छठें खन्धक में हैं।

३. महावग्ग ६.१५।

श्रावस्ती के जेतवन विहार का निर्माण अनाथपिण्डिक ने गौतम बुद्ध के जीवन-काल में कराया था। निर्माता के न रहने पर यह विहार कुछ समय तक उपेक्षित पड़ा रहा। गौतम के जीवन-काल में ही यह जल कर गिर पड़ा। एक बार और उसी स्थान पर बड़ा विहार बना। वह भी जलकर गिर पड़ा। कुछ समय पश्चात् पुनः विहार-भवन बने और एक बार और श्रावस्ती बौद्ध संस्कृति का उच्च केन्द्र हो गया। जेतवन आराम का क्षेत्रफल लगभग १३० एकड़ था। इसमें १२० भवन और अनेक शालायें थीं। उपदेश देने के लिए, समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए अलग-अलग शालायें निर्धारित थीं। साथ ही स्नानागार, औषधालय, पुस्तकालय, अध्ययन-कक्ष आदि बने हुए थे। इसके जलाशयों के चारों ओर घनी और मनोरम छाया थी। सारे भवन ऊँची दीवार से घिरे थे। पुस्त-कालयों में बौद्ध धर्म की पुस्तकों के अतिरिक्त वैदिक तथा अन्य विचार-धाराओं के ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। साथ ही तत्कालीन विज्ञान और शिल्प-शास्त्रों के ग्रन्थों को भी रखा गया था। विहार नगर से दूर होने के कारण नागरिकों के कोलाहल और व्यस्तता से क्षुब्ध नहीं हो सकता था, पर इतना दूर भी नहीं था कि नगर से प्राप्य सुविधाओं का बहुत समय तक अभाव रहे। आराम में सर्वत्र छाया विराजती थी और दिन की कड़ी धूप और गर्मी में भी उपवन में विचरण किया जा सकता था। आराम की परिधि में अनेक सोतों से होकर जल प्रवाहित होता था। उसमें अनेक जलाशय बनाये गए थे। इन सबका जल शीतल, शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद था। आसपास कहीं भी विषैले जन्तु नहीं रहते थे। सभी धर्मों के सज्जन आचार्य इनमें बसेरा ले सकते थे। गौतम बुद्ध के जीवन-काल से ही इस स्थान का सौंदर्य संवर्धन-शील रहा। स्वयं गौतम ने आदेश दिया था—विहार-भूमि में वृक्ष लगाओ, और सड़कों के किनारे वृक्षारोपण करो। गौतम ने बाड़ लगाकर वहाँ बकरियों और अन्य पशुओं का आना बन्द करा दिया था और भरपूर पानी आने के लिए नहरें बनवाई थीं।[1]

गौतम के पर्यटन करते समय उनका चलता-फिरता विद्यालय होता था। उनके साथ कभी-कभी १२५० भिक्षु तक चलते-फिरते शिक्षा ग्रहण करते थे। कुसिनारा जाते समय बुद्ध के साथ २५० भिक्षु थे और इतने ही भिक्षु साथ थे, जब वे कुसिनारा से आतुमा जा रहे थे।[2] इसी प्रकार की अपनी परियात्रा करते समय गौतम छोटे-बड़े सभी विहारों में पहुँच कर आचार्य का काम करते थे।[3]

---

१. वाटर्स-ह्वेनसांग, भाग १, पृ० ३८५-३८६।

२. महावग्ग ६.३६.१ तथा ६.३७.१।

३. वही १०.४.१, २।

गौतम के प्रतिभा-सूत्र से तत्कालीन भारत के सारे विहार गुंथे हुए थे। वे भ्रमण करते हुए सभी विहारों की देख-भाल करते थे, प्रायः ऐसा भी होता था कि विहारों की दुर्व्यवस्था का समाचार गौतम के पास आने-जाने वाले भिक्षुओं के द्वारा पहुँच जाता था। विहारों की इस प्रकार की गड़बड़ियों को दूर करने के उपाय गौतम द्वारा स्वयं निर्धारित किये जाते थे। वे शीघ्र ऐसे विहारों में पहुँच जाते थे अथवा अपने विश्वस्त ज्येष्ठ शिष्यों को भिक्षु-मंडली के साथ भेज देते थे और उन्हें बता देते थे कि किस प्रकार संघ को सुधारा जाय।[1]

गौतम की भाँति उनके अन्य ज्येष्ठ अनुयायी भ्रमण करते थे और विभिन्न विहारों में ठहर कर अपने ज्ञान का प्रकाश प्रसारित करते थे। ऐसे आचार्यों में सारिपुत्त, मोग्गलान, महाकच्चान, महाकोट्ठित, महाकप्पिन, अनिरुद्ध, रेवत, उपालि, आनन्द, राहुल आदि थे।

विहार प्रायः आरामों में होते थे।[2] उन आरामों में पक्की दीवाल और सीढ़ी वाले जलाशय होते थे। जलाशयों का जल नलिका से बहाकर पुनः उनमें स्वच्छ जल भरने का प्रबन्ध होता था। कुछ विहारों से स्नानागार सम्बद्ध होते थे। स्नानागार के ऊपर छत होती थी।[3] विहारों की रचना वास्तु-विज्ञान की दृष्टि से सुदृढ़ और सुरक्षित होती थी। उनमें अनेक छोटी-छोटी कोठरियाँ और ओसारे आदि होते थे। दीवालें चिकनी और सुघड़ होती थीं। विहार के चारों ओर ईंट, लकड़ी या पत्थर की बनी हुई दीवाल खड़ी होती थी। आराम के चारों ओर बाँस, काँटे आदि की बाड़ होती थी। आराम से जल बहा देने के लिए नालियाँ होती थीं। गौतम ने विहारों के लिए ईंट, पत्थर, सीमेण्ट, पुआल और पत्तों की छत बनाने की अनुमति दी थी।[4]

विहारों के निर्माण के लिए संघ के किसी कुशल भिक्षु को 'नवकम्मिक' नियुक्त किया जाता था। संघ की आवश्यकता और नियमों का ध्यान रखते हुए नवकम्मिक पाँच वर्ष से लेकर दस वर्ष तक किसी विहार के बनवाने में लगा रह सकता था। कुछ लोग दीन-हीन होने पर भी श्रद्धावश अपने हाथों से ही विहार बनाना आरम्भ कर देते थे। वैशाली का एक दर्जी विहार बनाने का श्रेय लेने के लिए

---

१. चुल्लवग्ग १.१३.१ से १.१६.१।

२. विहार का एक पर्याय आराम हो गया। देखिए चुल्लवग्ग ५.२७.२। तथा ५.२९.१।

३. चुल्लवग्ग १.१७.२।

४. चुल्लवग्ग ६.३।

अपने हाथ से मिट्टी सानता था, ईंट जोड़ता था और दीवाल उठाता था। हाँ, उसकी दीवाल तीन बार गिर पड़ी।

साधारणतः सभी विहार सारे बौद्ध संघ की वस्तु होते थे। पर्यटन करते हुए भिक्षु सभी विहारों में समानाधिकार से बस सकते थे। जेतवन के विहार का दान देते समय अनाथपिण्डिक ने संकल्प किया था—'मैं अखिल विश्व के भिक्षुओं के उपयोग के लिए इसे दे रहा हूँ। सभी भिक्षु जो यहाँ हैं, अथवा भविष्य में आयेंगे, यहाँ सुविधापूर्वक रहें।'[1]

गौतम के जीवन-काल के पश्चात् बौद्ध संस्कृति की धारा में पर्याप्त बल रहा। इसके सर्वप्रथम उन्नायक महाराज अशोक हुए। उन्होंने भिक्षुओं के लिए असंख्य विहारों का निर्माण कराया, जिनमें से कुछ अब भी मिलते हैं। ईसवी शती के पहले से ही अजन्ता में बौद्ध विद्यालयों के लिए गुफा-विहारों की रचना का समारम्भ हुआ और आठवीं शती तक नई-नई गुफायें बनती रहीं। इन गुफाओं में गुप्तकालीन चित्र और मूर्तियों का आदर्श भव्य है। इनके अतिरिक्त पर्वतों में असंख्य गुफा-विहारों की रचना कर दी गई। ऐसे गुफा-विहारों से दक्षिण भारत भरा पड़ा है।

चौथी शती के विहारों की स्थिति का वर्णन फाह्यान के उल्लेखों से मिलता है। इसके अनुसार कश्यप बुद्ध का संघाराम पर्वत काटकर बनाया गया था। यह पाँचतला था। इनमें से प्रत्येक तल किसी न किसी पशु-पक्षी की आकृति का बना था। पहला तल हाथी के आकार का था। इसमें ५०० गुहागृह थे। दूसरा तल सिंह के आकार का था। इसमें ४०० कोठरियाँ थीं। तीसरा घोड़े के आकार का था, जिसमें ३०० कोठरियाँ थीं। चौथा बैल के आकार का था और उसमें २०० कमरे थे। पाँचवाँ तल कबूतर के आकार का था। इसमें केवल सौ कोठरियाँ थीं। सबसे ऊपर एक जल-प्रपात था। इसकी धारा ऊपरी तल से नीचे तक चक्कर करती आती थी और द्वार के सामने से निकल जाती थी। सभी गुहा-गृहों से प्रकाश आने के लिए गवाक्ष बने थे और नीचे से ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं।

फाह्यान के लेखानुसार सुवास्तु प्रदेश के उद्यान जनपद में ५०० संघाराम थे। पेशावर (पुरुषपुर) जनपद के संघाराम में ६०० भिक्षु रहते थे। आधुनिक काबुल के लोई प्रदेश में ३,००० भिक्षुओं के रहने का प्रबन्ध था। पोना (आधुनिक बन्नू) में ३,००० भिक्षु रहते थे। पंजाब प्रदेश को पार करते हुए फाह्यान को अनेक विहार मिले और उसका अनुमान है कि उन विहारों में लाखों भिक्षु

---

१. चुल्लवग्ग ६.६.१; ६.९.१; ६.११.१ और ६.१६.१।

रहते थे। मथुरा के आस-पास के २० विहारों में ३,००० से अधिक भिक्षु रहते थे। फाह्यान के अनुसार भारत के सभी जनपदों के राजाओं और सेठों ने भिक्षुओं के लिए विहार बनवाये और उनसे सम्बद्ध खेत, घर, वन, आराम, प्रजा और पशु को दान कर दिया। परवर्तीयुगीन राजा भी इस दान को अक्षुण्ण रखते थे। विहारों में संघ को भोजन, पेय, वस्त्र आदि मिलते थे और वर्षावास करने वालों को सभी सुविधायें प्रदान की जाती थीं। संकाश्य के बौद्ध विहार में ४,००० श्रमण रहते थे। उन सबको संघ के भण्डार से भोजन मिलता था। फाह्यान ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके वहाँ के विहारों का परिचय लिखा है।

फाह्यान के पश्चात् यात्री ह्वेनसाँग ने ६३० ई० से ६४५ ई० तक भारत में रहकर विभिन्न प्रदेशों का पर्यटन करते हुए विशेष रूप से तत्कालीन शिक्षण-संस्थाओं का प्रादेशिक क्रम से ऐतिहासिक परिचय लिखा है। ह्वेनसाँग के अनुसार उस समय भारत में लगभग ६,००० विहार थे और उसमें ढाई लाख भिक्षु और उनके आचार्य रहते थे।

सातवीं शती की कुछ बौद्ध संस्थाओं के विश्वविद्यालय रूप में विकसित होने के उल्लेख मिलते हैं। इनमें नालन्दा, वलभि, विक्रमशिला आदि सारे एशिया में प्रख्यात थे।

नालन्दा

नालन्दा विश्वविद्यालय के समीप से होकर एक छोटी नदी बहती थी। उस प्राचीन युग में नालन्दा के आसपास वनराजि की अतिशय शोभा रही होगी। आजकल वहाँ केवल शस्य-श्यामला धरती की ही रमणीयता है। नालन्दा से कुछ मीलों की दूरी पर पहाड़ियों और सोतों की शोभा निराली है।

ह्वेनसाँग के लेखानुसार नालन्दा-क्षेत्र को ५०० सेठों ने दस करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें देकर मोल लिया था और गौतम बुद्ध को समर्पित किया था। इस क्षेत्र से गौतम का पहले से ही सम्बन्ध था। यहीं पर गौतम के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र का जन्म हुआ था। यहाँ के आम्रवन में कई दिनों तक रहकर गौतम ने शिष्यों को सदाचार और विनय की शिक्षा दी थी।[1] सम्भवतः इन बातों का विचार करके ही अशोक ने वहाँ पर एक विहार का निर्माण कराया था। फिर शक्रादित्य (सम्भवतः कुमार गुप्त ४१४-४४५ ई०) ने यहाँ पर एक बड़े विहार की स्थापना की। आगे चल कर पाँचवीं शती में बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त, नरसिंह गुप्त, बालादित्य, वज्र आदि अनेक राजाओं ने वहाँ विहार बनवाये। इनकी ख्याति इतनी बढ़ी कि केवल भारत के ही नहीं, अपितु अन्य देशों के भी कुछ प्रमुख राजाओं ने नालन्दा

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त १.१५-१८।

में विहार बनवा कर अपनी कीर्ति अमर की। सुमात्रा के राजा बालपुत्र ने नवीं शती में विहार बनवाया था और अपने मित्र राजा देवपाल से नालन्दा के विद्यालय के लिए पाँच गाँवों का दान करवाया था।

विहारों की रचना वास्तुकला की दृष्टि से उच्चकोटि की थी। शक्रादित्य के विहार में गौतम की एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। प्रतिष्ठापक की दी हुई तत्सम्बन्धी वृत्ति का उपभोग करने के लिए ४० भिक्षु नित्य वहाँ भोजन करने जाते थे। बालादित्य ने गौतम की मूर्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए ३०० फुट ऊँचा मन्दिर बनवाया था। उस मंदिर का अलंकरण मनोरम था। ह्वेनसाँग के नालन्दा में रहते समय सम्राट् हर्षवर्धन की ओर से काँसे का एक मन्दिर बनवाया जा रहा था। विहार की परिधि के बाहर इस मंदिर से लगभग २०० फुट पूर्व की ओर पूर्णवर्मा का बनवाया हुआ, जो छः तला मंदिर था, उसमें ८० फुट ऊंची ताँबे की बनी हुई गौतम बुद्ध की मूर्ति थी। उपर्युक्त विहारों के निर्माता प्रायः राजा रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि इनके भवन राजकीय वैभव के अनु-रूप होंगे। आठवीं शती के यशोवर्म के शिलालेख में नालन्दा की विहारावली के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनकी शिखर-श्रेणी बादलों का चुम्बन करती थी, मानो विधाता ने पृथिवी के लिए आकाश में विराजमान मनोरम माला बना दी हो।

नालन्दा विश्वविद्यालय के सघन कुंजों और उपवनों में ह्वेनसाँग का मन रमता था। मनोरम कासारों के रुचिर जल में नील पद्म अपनी पँखुरियों का विकास करते थे। विद्यालय की शोभा कनक-वृक्षों से विशेष मनोहर प्रतीत होती थी। इनके रक्तिम कुसुमों के गुच्छे चित्ताकर्षक थे। आम्रमंजरी और उसके हरित पत्र मन को मोह लेते थे। विद्यालय के समीप दस स्नानागार बने हुये थे। नहाने के समय घण्टा बजता था। भवनों की उच्चता का निरूपण करते हुए ह्वेनसाँग लिखता है—इसका मानमन्दिर प्रातःकाल के कुहरे में अदृश्य हो जाता है, इसके ऊपर के कमरे मानो बादल में छिपे रहते हैं। पर्वतों के समान ऊँचे विद्यालयों के शिखर पर ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है। इनकी खिड़कियों से लोग वायु और बादलों के परिवर्तन का अनुमान कर लेते हैं। यहीं से सूर्य-चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं। बाह्य मन्दिर के चार विभाग हैं। इसकी वलभि रंगीन है और इसके लाल स्तम्भों पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। स्तम्भों का प्रसाधन-कर्म मन को मोह लेता है। कठरों को विविध प्रकार से अलंकृत किया गया है। छत के खपड़ों से प्रतिफलित होकर सूर्यरश्मि सहस्रों भागों में बिखर जाती है। मंदिरों के बनाने में सुन्दर ईंटों को इस प्रकार जोड़ा गया है कि उनके जोड़ दिखाई नहीं पड़ते।[१]

१. नालन्दा-वर्णन प्रकरण, ह्वेनसांग का जीवन-चरित—लेखक ह्वी-ली।

नालन्दा का विश्वविद्यालय अतिशय विशाल था। उसकी खुदाई करने पर जो अवशेष मिले हैं, उनको देखने से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। नालन्दा के विद्यालय का क्षेत्र एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा खोदा गया है। भवनों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि उनकी सापेक्षिक अवस्थिति का परिकल्पन विशद विवेचन के पश्चात् ही किया गया था। भवनों का विन्यास कलात्मक ढंग से किया गया था। उनकी अवस्थिति में क्रम था और सर्वत्र मेल मिलाया गया था। प्रधान विद्यालय में सात बड़े हाल थे। इनके अतिरिक्त ३०० बड़े कमरे व्याख्यान देने के लिए थे। सबसे बड़ा विहार २०३ फुट लम्बा और १६८ फुट चौड़ा मिला है। दीवालें लगभग ७ फुट चौड़ी हैं। जिन ईंटों से दीवालों की जोड़ाई हुई है, वे भलीभाँति सुघड़, पकी हुई और सुडौल हैं। ईंटों का जोड़ कहीं-कही दिखाई तक नहीं पड़ता। विहार की कोठरियाँ ९।। फुट से लेकर १२ फुट तक लम्बी हैं। सोने के लिए कोठरियों में चबूतरे बने हैं और पुस्तक तथा दीप रखने के लिए समुचित स्थान बनाये गये हैं।

नालन्दा-विश्वविद्यालय बारहवीं शती तक चलता रहा। बारहवीं शती के अन्तिम भाग में बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में आये हुए आक्रमणकारियों ने नालन्दा को मिटा-सा दिया। पाँचवीं शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक नालन्दा विश्वविद्यालय में नये भवनों का निर्माण होता रहा और यह संस्था भारतीय विद्याओं के लिए सर्वोच्च केन्द्र रही। ग्यारहवीं शती में पाल राजाओं का विशेष संरक्षण पाकर विक्रमशिला का विश्वविद्यालय नालन्दा से बढ़ कर महत्त्वपूर्ण हो चुका था। नालन्दा विश्वविद्यालय ग्यारहवीं और बारहवीं शती में विक्रमशिला से सम्बद्ध होकर चलता रहा।

नालन्दा के विश्वविद्यालय में ह्वेनसांग के समय में विद्यार्थियों और आचार्यों की सम्मिलित संख्या १०,००० थी। प्रतिदिन लगभग १०० व्याख्यान दिये जाते थे। शीलभद्र सर्वोच्च आचार्य थे। नालन्दा में बौद्ध संस्कृति के ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण, तर्क और साहित्य की शिक्षा दी जाती थी और वैदिक संस्कृति के ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता था। ह्वेनसांग के अनुसार तीन वेद, वेदान्त तथा सांख्य की शिक्षा दी जाती थी और इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे विषय पढ़ाये जाते थे। ऐसे विषयों में ज्योतिष, पुराण, धर्मशास्त्र, वैद्यक आदि का सम्भवतः समावेश हुआ हो। नालन्दा में पढ़ने के लिए चीन, कोरिया, तिब्बत, तोखार, जापान आदि देशों से विद्यार्थी आते थे।

नालन्दा के प्रायः समकालीन वलभि का बौद्ध विश्वविद्यालय काठियावाड़ प्रदेश में प्रतिष्ठित रहा है। इसका समूल विनाश आठवीं शती के अन्तिम भाग में

अरबों के आक्रमण के कारण हो गया। वलभि के प्रथम विहार की नींव राजकुमारी टुड्डा ने डाली थी। दूसरे विहार की प्रतिष्ठा राजा धरसेन प्रथम ने ५८० ई० में की थी। इस विहार का नाम श्री बप्पपाद था। आचार्य स्थिरमति की अध्य-क्षता में इस विहार की नींव पड़ी थी। वलभि प्रदेश में विहारों की संख्या शनैः शनैः बढ़ती रही। ह्वेनसाँग के समय में वहाँ सौ से अधिक विहार थे और उसमें ६०० से अधिक विद्यार्थी रहते थे। इनके अतिरिक्त सैकड़ों देवमन्दिर थे। यहीं के एक विहार में रहते हुए गुणमति और स्थिरमति ने कुछ धर्म-ग्रन्थों की रचना की थी, जिनका सम्मान जनता में विशेष रूप से हुआ।

नालन्दा की भांति सौराष्ट्र प्रदेश में आठवीं शताब्दी तक वलभि में विद्यार्थी सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करते थे और लगभग दो-तीन वर्षों तक महान् आचार्यों की संगति में रहकर तर्क द्वारा अपने सन्देहों को मिटाते हुए अपने पाण्डित्य को परि-पक्व करते थे। इस प्रकार समाज में वलभि के आचार्यों की अतिशय प्रतिष्ठा होती थी। वलभि विश्वविद्यालय के महाद्वारों पर वहाँ के सर्वोत्कृष्ट विद्वानों और आचार्यों के नाम श्वेत अक्षरों में लिख कर उनकी प्रतिष्ठा की जाती थी। इस विश्वविद्यालय को अनेक राजाओं और धनिकों की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। वलभि प्रदेश के मैत्रक-वंशीय राजाओं ने सहायता देकर इसके अभ्युदय में योग दिया था। यहां ६००० विद्यार्थी और लगभग १०० विहार थे।

नालन्दा की भाँति बिहार प्रदेश में विक्रमशिला का विश्वविद्यालय आठवीं शती से तेरहवीं शती तक चलता रहा। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने गंगा नदी के तट पर किसी पहाड़ी के ऊपर विहार बनवा कर की थी।[1] फिर तो प्रायः सभी पालवंशी राजाओं ने समय-समय पर आवश्यक सहायता देकर तथा मन्दिर, विहार और विद्यालय-भवन बनवा कर इस विश्वविद्यालय को नित्य संवर्धित किया। विश्वविद्यालय-भवनों की उच्चता और सुदृढ़ता का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण हो सकता है कि इसके विनाश करने वाले बख्तियार खिलजी को यह राजकीय दुर्ग से समायुक्त नगर प्रतीत हुआ और इसी भ्रम से बहुत चावपूर्वक उसने इस संस्था का सर्वस्व नष्ट कर डाला।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में भारत के तत्कालीन महान् आचार्यों को चुन-

---

१. अभी तक विक्रमशिला की अवस्थिति का निश्चित ज्ञान नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। सम्भवतः यह आजकल के 'पथरघाट' पर रही हो। यह स्थान भागलपुर से २४ मील दूर है।

चुन कर स्थान दिया गया और यह संस्था सैकड़ों वर्षों तक केवल भारत में ही नहीं, अपितु समग्र एशिया में प्रख्यात हो गई। लगभग ४०० वर्षों तक तिब्बत से असंख्य विद्यार्थी हिमालय को लाँघ कर विक्रमशिला में अपनी ज्ञान-तृष्णा को बुझाते रहे। तिब्बत के छात्रों से विक्रमशिला का एक छात्रावास भरा रहता था। वह छात्रावास तिब्बती छात्रों के लिए बनवाया गया था। बारहवीं शती में विक्रमशिला में विद्यार्थियों की संख्या ३,००० थी। इससे पूर्ववर्ती शतियों में बौद्ध धर्म के अभ्युदय के दिनों में विद्यार्थियों की संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।

धर्मपाल ने जो बिहार बनवाया था, उसके चारों ओर सुदृढ़ दीवाल थी। मध्य में बौद्ध मंदिर था। मंदिर की भित्तियों पर महाबोधि के दृश्यों का तक्षण किया गया था। अन्य छोटे-मोटे मंदिरों की संख्या सौ से ऊपर थी। धर्मपाल ने १०८ आचार्यों की नियुक्ति की और साथ ही सुव्यवस्था के लिए अन्य पदाधिकारियों का चुनाव किया था। विश्वविद्यालय की भित्तियों और द्वारों पर संस्था के सर्वोच्च विद्वानों और आचार्यों के चित्र बने हुए थे, जिनमें दीपंकर और अतिश सर्वोपरि थे। शनैः शनैः छः महाविद्यालयों का निर्माण हुआ और इनके बीच में एक विशाल शाला बनवाई गई। इस शाला के छः द्वार छः विद्यालयों की ओर थे। विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए छः द्वार-पण्डितों के द्वारा परीक्षित होकर उनकी अनुमति लेना आवश्यक होता था। दसवीं शती के अन्तिम भाग में प्रथम द्वार पर कश्मीर के रत्नव्रज तथा द्वितीय द्वार पर गौड-देश के ज्ञानश्री मित्र बैठते थे और अन्य चार द्वारों पर रत्नाकर शान्ति, वागीश्वर कीर्ति, नरोप और प्रज्ञाकर-मति नामक आचार्य आसन ग्रहण करते थे।

विक्रमशिला के आचार्यों में दीपंकर का नाम अमर रहेगा। दीपंकर का जन्म ९८० ई० में गौड प्रदेश के राजकुल में हुआ था। किशोरावस्था में दीपंकर को विराग हो गया और कृष्णगिरि के विहार में राहुल-गुप्त तथा ओदन्तपुरी के विहार में क्रमशः शील-रक्षित, धर्मरक्षित और चन्द्रकीर्ति से शिक्षा लेकर वे ४० वर्ष की अवस्था में बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वोच्च विद्वान् हो गये। दीपंकर ने तिब्बत में बौद्ध संस्कृति का प्रचार भी किया। उनके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या लगभग दो सौ थी।

ग्यारहवीं शती के अन्तिम भाग में बंगाल और मगध के राजा रामपाल ने अपने नाम पर बसाई हुई रामावती नामक नगरी में जगद्दल नामक विहार की स्थापना की। इस विहार का अन्त नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों के साथ ही तेरहवीं शती के आरम्भिक काल में हो गया। इस विहार से विभूति-

चन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त, शुभंकर आदि आचार्य और ग्रन्थकार सम्बद्ध रहे हैं। तिब्बत के विद्यार्थियों का इस विहार से भी सम्बन्ध रहा है।

ओदन्तपुरी का विहार कभी बहुत अभ्युदयशील रहा। अभयंकर गुप्त के समय में इस विहार में १,००० भिक्षु रहते थे। इस विहार से प्रभाकर नामक महान् आचार्य का सम्बन्ध रहा है। पालवंशीय राजाओं ने इस संस्था के संवर्धन के लिये भरपूर सहायता दी और वैदिक और बौद्ध विचार-धारा के असंख्य ग्रन्थों का दान करके इसे समृद्धशाली बनाया।

जैन विद्यालय

जैन संस्कृति की आचार्य-परम्परा तीर्थंकरों से आरम्भ होती है। प्रायः तीर्थंकर अनागार हुए हैं। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का दिगम्बर होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थंकरों की शाला का भवनों में होना सम्भव नहीं था। उनके शिष्य-संघ आचार्यों के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते रहे। आरम्भिक युग की यह रीति प्रायः परवर्ती युग में सदैव प्रचलित रही। गणधरों के साथ उनके सैकड़ों शिष्यों के भ्रमण करने के वृत्तान्त मिलते हैं। शनैः शनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिए गुफा-मन्दिर तथा तीर्थ-क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे। इन विद्यालयों का स्वरूप बहुत कुछ वैदिक और बौद्ध संस्कृति के विद्यालयों के अनुरूप ही था।

भारत के आर्ष विद्यालयों के प्रति महामनीषियों की सदैव श्रद्धा रही है। रवीन्द्रनाथ ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश वसु को जो पत्र लिखा था, उसमें उसी प्राचीन परम्परागत प्रकृति-प्रेम की झलक है, जो वैदिक कुलपतियों के हृदय में सदैव विराजमान रहा। इस पत्र में लिखा है—पश्चिमी देशों के छात्र यहाँ पढ़ने आयेंगे। उनके लिए विशाल भवन बनाने की आवश्यकता नहीं। जो तुम्हारी झोपड़ी में प्राचीन :ाथा के अनुसार धरती पर बैठकर पढ़ना चाहेंगे, उनको ही आने दिया जायेगा। तुम यहाँ पर विशाल बरगद के वृक्ष की घनी छाया में अपने उपकरणों को रखकर बैठोगे तो प्राचीन ऋषि-मुनि भी अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारी सराहना करेंगे। भारत के विस्तृत मैदान तथा आकाश तुम्हारा हार्दिक स्वागत करने को उत्सुक हैं।

अध्याय ६

अध्यापन

वैदिक काल में सर्वप्रथम आचार्य देवरूप में प्रतिष्ठित हुए थे। आचार्य-रूप में जो देवता ऋग्वेद में प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें इन्द्र और अग्नि प्रमुख हैं।[1] दोनों देवों के व्यक्तित्व के अनुरूप तत्कालीन मानव-आचार्यों के व्यक्तित्व की सम्भावना हो सकती है। ऋग्वेद में अग्नि के लिए प्रचेता (विशेष ज्ञानी), विश्ववेदा (सर्वज्ञ), जातवेदा (जो कुछ उत्पन्न हुआ हो, उसे जानने वाला), धियावसु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यमन्मा (सत्य को जानने वाला), विश्वानि वयुनानि विद्वान् (विविध विद्याओं को जाननेवाला), धीनां यन्ता (बुद्धि को प्रगति देने वाला) आदि विशेषण मिलते हैं।[2] ऋग्वैदिक धारणा के अनुसार आचार्य अंगिरा के रूप में अग्नि का अवतार हुआ था।[3] उस युग में अग्नि के असंख्य कामों में से कुछ इस प्रकार परिगणित किये जा सकते हैं—ऋत्वा चेतिष्ठो विशाम् (प्रजा को चेतना देने वाला) तथा त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः (वरुण की भाँति व्रतों की प्रतिष्ठा करने वाला) आदि।[4] इन्द्र के आचार्य-स्वरूप व्यक्तित्व का परिचय इन विशेषणों से मिलता है—न त्वा वां अस्ति देवता विदानः (तुम्हारे समान विद्वान् कोई अन्य देवता नहीं है), शिक्षानर (शिक्षण के लिए नेता), हृदो निःवरथस्तमांसि ('यजमानों के

---

१. शतपथ ब्राह्मण ११.५.४.१ में उपनयन के अवसर पर आचार्य विद्यार्थी से कहता है—तुम इन्द्र के शिष्य हो। तुम अग्नि के शिष्य हो। तुम मेरे शिष्य हो। छान्दोग्य उ० ४.१० के अनुसार अग्नि ने उपकोसल को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी। ईशोपनिषद् १८ में अग्नि को आचार्य माना गया है। महाभारत वनपर्व ४५.३-४ में अर्जुन का इन्द्र से अस्त्र-शस्त्र विद्या सीखने का प्रकरण है। अन्य देवता भी आचार्य रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं—ईशोपनिषद् ११, १५ तथा १६ में पूषा और अथर्ववेद ११.५.१४-१५ में मृत्यु और वरुण आचार्य हैं।

२. ऋग्वेद १.४४, ५८, ७३, १४५, १८९; ३.३; ७.४।

३. ऋ० १.७४.५ तथा १.७५.२।

४. ऋ० १.६५.५ तथा २.१.४।

हृदय से अन्धकार को दूरकर देते हो), चोदय धियमयसो न धाराम् (बुद्धि को तलवार की धार के समान प्रखर कर दो)।[1]

वैदिक आचार्य

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आचार्य, जिनके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे। उनकी अपरिमित विद्वत्ता का परिचय इसी बात से मिलता है कि उन्होंने स्वयं वैदिक मन्त्रों की रचना की और आनुषङ्गिक ज्ञान और दर्शन का प्रवर्तन किया। आचार्य में अग्नि की तेजस्विता और इन्द्र की वीरता प्रधान थीं। वह ऋषि था, कवि था और स्वभावतः ऐसा व्यक्ति पुरुप्रिय (लोकप्रिय) होगा ही।[1] तत्कालीन राष्ट्रीय अभ्युत्थान-सम्बन्धी विचार-धारा में अवगाहन करने वाले ऋषि देवताओं के सन्निकट थे। वे स्वयं पुरोहित, ऋत्विक् होता, अध्वर्यु आदि होते थे। इन आचार्य-ऋषियों का आचार उच्चकोटि का था। जो आचार्य-कुल ऐसे सत्साहित्य की संवर्धना कर सका था, उसकी चरित्र-सम्बन्धी उच्चता आज अनुपमेय कही जा सकती है। ऋग्वेद के अनुसार सद्विचार वाले धीर कवि, जो मन लगाकर देवताओं की आराधना करते थे, ब्रह्मचारी को ऊँचा उठाकर उसे श्रेष्ठ बना देते थे।[2]

किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में साधारणतः सर्वप्रथम हाथ उसके माता-पिता का होता है। माता-पिता ही आरम्भ में अपने पुत्र को, जो कुछ वे स्वयं जानते हैं अथवा जो कुछ उसको बतलाने योग्य समझते हैं, सिखा देते हैं। वैदिक-विद्वानों के सम्बन्ध में इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि जिस ज्ञान को वे अपने पूर्वजों से सीखते थे और जितना ज्ञान वे अपने निजी प्रयत्न से संवर्धित करते थे, उसे अपनी चिर-संचित निधि मानकर उत्तराधिकार के रूप में अपने पुत्र

---

१. ऋ० १.१६५.९; ४.२०.८; ५.३१.९; ६.४७.१०।

२. ऋग्वेद ५.३१.९ के अनुसार वह अध्यापन के बल पर स्तुत्य था। आचार्य रूप में अग्नि के विशेषण ऋग्वेद में हैं—विश्वविद् १०.९१.३; ऋषि ३.१.१७, कवि ३.३.४, विद्वानों या विपश्चितों में असुर ३.३.४, पुरुप्रिय ३.३.४, पुरोहित, ऋत्विक् और होता १.१। अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है—तुमसे काव्य, मनीषा और उक्थ उत्पन्न होते हैं। ऋ० ४.११।

३. युवा सुवासा परिवीत आगात् स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥ऋ० ३.८.४

को सिखा जाते थे।[1] ऐसे आचार्यों के पास पढ़ने के लिए उनके पुत्रों के अतिरिक्त गाँव के अन्य विद्यार्थी होते थे। शिक्षण के क्षेत्र में वह आचार्य-पिता सभी विद्यार्थियों का पिता बन जाता था। पिता का आचार्यत्व उस युग की विशेषता थी और यह विशेषता इतनी प्रगाढ़ थी कि आगे चल कर आचार्य को पितृ-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। कालान्तर में आचार्य पिता से बढ़ कर प्रतिष्ठित हुआ।[2]

वैदिक काल से धारणा रही है कि आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता है। अथर्ववेद के अनुसार उपनयन संस्कार के अवसर पर आचार्य शिष्य को गर्भ में धारण करता है और तीन रात्रि तक उदर में उसका भरण-पोषण करके चौथे दिन उसको जन्म देता है।[3] इस प्रकार आचार्य का मातृत्व स्वयंसिद्ध है।[4] आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता था। वह अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था।[5] कुछ आचार्यों का जीवन तपोमय था।[6]

वैदिक काल में अध्यापन का कार्य धन के अर्जन के लिए नहीं होता था। उस युग के आचार्यों ने समझ लिया था कि जैसे सूर्य का काम स्वभावतः प्रकाश देना है, नदी का काम जल देना है, उसी प्रकार हम स्वभावतः ज्ञान देते हैं। वह पढ़ाता था, जैसे सूर्य प्रकाश देता है। जैसे प्रकाश पाने वाले को सूर्य के अस्तित्व

---

१. महाभारत में माता के द्वारा बालक को सदाचार की शिक्षा देने का उल्लेख है। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा पिता या कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से प्राप्त होती थी। द्रोण, व्यास आदि का अपने पुत्रों को शिक्षा देना सर्वविदित ही है। वनपर्व १८०.२७-२८।

२. विष्णुधर्म सूत्र ३०-४४; गौतम २.५६; मनु २.१४६।

३. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥११.५.३

४. निरुक्त २.४ में आचार्य को माता-पिता मानने की सीख दी गयी है। परवर्ती युग में पिता रूप में प्रतिष्ठित होने के उल्लेख शतपथ ब्रा० ११.१.४.१२ आपस्तम्ब ध० सू० १.१.१.१६-१८; गौतम १.८; विष्णु सू० ३०.४४-४५; वसिष्ठ २.३–५; मनुस्मृति २.१४४-१४८; महाभारत शान्तिपर्व १०९.१९-२० आदि में मिलते हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—त्वं हि नः पिताः योऽस्माकं परंपारं तारयसीति॥ ६.८

५. अथर्ववेद ११.५.१६।

६. शतपथ ब्रा० १४.१.९.२८-३३।

तथा पोषण की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वैसे ही ज्ञान प्राप्त करने वाले के ऊपर आचार्य के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व नहीं था। जैसे प्रकृति स्वभावतः स्वयं सूर्य के पोषण, संवर्धन और स्थिति की चिन्ता करती है, वैसे ही वन-भूमि की प्राकृतिक समृद्धि आचार्य के पोषण और संवर्धन की सुव्यवस्था करती थी। इस प्रकार शिक्षक-आचार्य का व्यक्तित्व गौरवपूर्ण था। इसका वर्णन करते हुए वैदिक साहित्य में कहा गया है—अध्ययन और अध्यापन दोनों ही आनन्द के निस्यन्द हैं, मन युक्त हो जाता है, स्वतन्त्र होकर व्यक्ति नित्य समृद्धि पाता है और वह शांति से सोता है।[1]

उपनिषद्कालीन आचार्य प्रायः महर्षि थे। प्रश्नोपनिषद् में आचार्य पिप्पलाद का वर्णन मिलता है। उनके नाम से प्रतीत होता है कि उनके तपोमय जीवन में आधिभौतिक सम्पन्नता को स्थान नहीं मिला था।[2] आचार्य ने अपने जिज्ञासु शिष्यों से कहा—तुम लोग एक वर्ष तक यहीं तपोमय जीवन-यापन करो। फिर प्रश्न पूछना। यदि मुझे उत्तर ज्ञात होगा तो सब कुछ बताऊँगा। पिप्पलाद के व्यक्तित्व की उच्चता उनके इस वाक्य से सिद्ध होती है। ऋषि का तपोमय जीवन में विश्वास था। आचार्य की ज्ञाननिष्ठा सात्त्विक थी। तभी तो उन्होंने कहा कि यदि ज्ञात होगा तो बताऊँगा।[3] साधारणतः आचार्य विनयी थे। अतएव वे समावर्तन संस्कार के अवसर पर कह सकते थे—हम आचार्यों के जो सुचरित हों, वे तुम्हारे लिए अनुकरणीय हैं, अन्यथा नहीं। जो हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनको तुम्हें आसन देना चाहिए।[4] उस युग का आचार्य सत्यनिष्ठ था। तभी तो वह अपने स्नातक से कह सकता था—सत्यं वद। धर्मं चर। यान्यनवद्यानि, कर्माणि तानि सेवितव्यानि।[5]

आचार्य के समीप आने वाले शिष्यों को अतिथि मानकर उन्हें सम्मानित

---

१. शतपथ ब्राह्मण ११.५.७.१।

२. पिप्पलाद का अर्थ 'पीपल का फल खाने वाला' है। ऐसे ही आचार्य कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक हैं। ये कण खाकर जीवनयापन करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि सभी उपनिषद्कालीव आचार्य ऐसे ही दीन-हीन तपस्वी थे। याज्ञवल्क्य जैसे धनी गृहस्थ आचार्य भी उस युग में प्रतिष्ठित थे। बृहदारण्यक ३.१.२।

३. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ११।

४. तैत्तिरीय० शीक्षावल्ली ११।

५. कठोपनिषद्—यम और नचिकेता का संवाद १.१.९।

किया जाता था और उनको भोजन और आवास की यथाविधि सुविधा दी जाती थी।[1] ऐसे आचार्य प्रायः समृद्धिशाली गृहस्थ थे। एक ऐसे आचार्य ने अपने व्यक्तित्व के विकास की कामना इन शब्दों में प्रकट की है—इन्द्र मेरी मेधा का संवर्धन करें। मैं अमरता धारण करूँ। मेरा शरीर अतिशय कर्मनिष्ठ बने। मेरी जिह्वा मधुरतम वाणी बोले। मैं कानों से अतिशय सुन सकूँ। अर्थात् सुन-सुन कर अपना ज्ञान बढ़ा सकूँ। मैंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, उसका संरक्षण इन्द्र करें। मेरे पास वस्त्र, गौ, अन्न-पान आदि की सतत प्रचुरता रहे। मेरे पास ऊन वाले पशुओं की सुश्रीकता रहे। मेरे पास ब्रह्मचारी आयें। मैं मानवों में यशस्वी बनूँ। धनिकों से बढ़कर धनी बनूँ। मैं ब्रह्ममय बन जाऊँ। इस प्रकार मैं शुद्ध बन जाऊँगा, जिस प्रकार जल नीचे की ओर बहता है, जैसे मास वर्ष में लीन हो जाता है, उसी प्रकार चारों ओर से ब्रह्मचारी मेरे पास आते रहें। मुझको प्रतिभाशाली बनाइए। हे इन्द्र, मुझे अपने ही समान बना लीजिये।[2] इस अवतरण में जिस आचार्य के व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है, वह और उसके समकालीन आचार्य नित्य अपना ज्ञान बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। उनका जीवन पवित्र था। वे भोजन-वस्त्र और जीवन की अन्य सुविधायें दूसरों को भी प्रस्तुत कर सकते थे।[3] उपनिषद्कालीन आचार्य का व्यक्तित्व मधुर था। उसकी वाणी मधुर थी। वह अपने ज्ञान की निर्झरिणी स्वान्तः सुखाय सतत प्रवाहित रखना चाहता था। आचार्य की धारणा थी कि व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वाध्याय और प्रवचन समान रूप से आवश्यक हैं। वह वारंवार कामना करता था कि मेरा और मेरे शिष्य का अध्ययन तेजस्वी हो।[4] यह विचार शिष्य और आचार्य की सुदृढ़ एकता की अभिव्यक्ति करता है।

उपनिषद्-युग में साधारणतः शिक्षक ब्राह्मण थे, पर कुछ क्षत्रिय राजा भी उस समय उच्च कोटि के दर्शन के विद्वान् थे। उनके पास अध्ययन के लिए ब्राह्मण-विद्यार्थी भी जाते थे। ऐसे राजाओं में काशिराज अजातशत्रु का नाम सुप्रसिद्ध

---

१. नवागन्तुक विद्यार्थियों के आचार्य के द्वारा आतिथ्य का उल्लेख तिलमुट्ठि जातक २५२ में भी मिलता है।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली अनुवाक ४।

३. आचार्य आरुणि ने अपनी लौकिक समृद्धि का स्वयं परिचय देते हुए कहा है—मेरे पास स्वर्ण, गौ, अश्व, दासी, कम्बल और वस्त्र पर्याप्त मात्रा में हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ६.२.७।

४. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली का आरम्भ।

था।[1] राजा जनक ब्रह्मविद्या में निष्णात थे। उनसे आचार्य याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गायें मिली थीं।[2] याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी तो उपकृत होकर जनक ने कहा—आपको नमस्कार। यह सारा विदेह और मैं भी आपका ही हूँ।[3]

विद्यार्थी का अन्तेवासी नाम ब्राह्मण-युग से मिलता है।[4] ब्रह्मचारी का एक पर्याय आचार्य-कुलवासी भी रहा है। विद्यार्थी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर आजीवन आचार्य के घर में रह सकते थे।[5] इस प्रकार आचार्य का केवल हृदय ही विशाल नहीं था, अपितु उसके कुटुम्ब की सदस्यता भी बहुत बड़ी थी।

तक्षशिला के आयुर्वेदाचार्य ने जीवक का सात वर्षों तक भरण-पोषण किया और उसकी शिक्षा समाप्त हो जाने पर भरपूर धन मार्ग-व्यय के लिए दिया, जिससे वह तक्षशिला से साकेत तक आ सका। जीवक ने अपने आचार्य के उपकार का आभार जीवन भर वहन किया और उसे २,००,५०० औंस स्वर्ण स्वयं अर्जित करके दिया।[6]

आचार्य प्रायः विद्यार्थियों की सेवाओं से अतिशय प्रसन्न होते थे। कभी-कभी तो वे किसी मन्दबुद्धि वाले विद्यार्थी की सेवाओं से प्रसन्न होकर नई-नई योजनाओं के अनुसार उसे ज्ञान देने का भरसक प्रयत्न करते थे।[7] इस युग की धारणा के अनुसार आचार्य अपनी साधना के बल पर मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक जाते थे।

१. बृहदारण्यक उपनिषद् २.१.१५।

२. बृहदारण्यक ३.१.२ तथा २.४.१। राजा जनक ने जो गायें उपहार में दी थीं, उनमें से प्रत्येक के सींग में १० पाद स्वर्ण बँधा था। अपने युग के सर्वोच्च ब्रह्म होने के उपलक्ष्य में ऋषि को यह उपहार मिला था। राजाओं को दार्शनिक ज्ञान देकर ही उनसे धन लेने की विधि याज्ञवल्क्य ने अपनाई थी। बृ० उ० ४.१.२।

३. बृहदारण्यक उ०४.२.४।

४. शतपथ ५.१.५.१७; तैत्तिरीयोपनिषद् १.११।

५. छान्दोग्य उ० २.२३.१।

६. महावग्ग ८.६-८।

७. नंगलीस जातक १२३ के अनुसार आचार्य बोधिसत्त्व अपने भक्त किसी मन्दमति विद्यार्थी को नई-नई उपमाओं और बातों को कहने का अवसर प्रस्तुत करके उससे प्रश्न पूछते थे, जिससे उसकी पर्यवेक्षण और वर्णन की शक्ति बढ़ती थी। जब आचार्य ने विशेष प्रयत्न करके भी देखा कि शिष्य की बुद्धि का विकास होना असम्भव है तो उसे मार्ग-व्यय देकर घर भेज दिया। वह धम्म-अन्तेवासिक था और आचार्य के घर सेवा करते हुए निःशुल्क भोजन आदि सब कुछ पाता था।

उपनिषद्-काल के पश्चात् ऐसा युग आया, जिसमें एक आचार्य के सैकड़ों शिष्य होने लगे थे। इनमें से बहुत से विद्यार्थियों को आचार्य अपनी ओर से भोजन देता था और विद्यार्थी उसके घर का काम करते थे। ऐसे विद्यार्थियों को धम्म-अन्तेवासिक कहा जाता था। आचार्य के घर न तो इतना काम हो सकता था और न वह इतना धनी होता था कि सभी विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र आदि दे सके। धनी विद्यार्थी शुल्क-रूप में एक सहस्र मुद्रा देकर आचार्य-कुल के सदस्य हो सकते थे। दीन विद्यार्थियों के लिए सनातन-सुप्रतिष्ठित भिक्षा-वृत्ति का मार्ग खुला था।[१] आचार्य शुल्क देने वाले विद्यार्थियों को भी अपनी ओर से धन लगाकर उनके अध्ययन-काल तक उनका भरण-पोषण करता था। उनका दिया हुआ १,००० मुद्राओं का शुल्क उनके ऊपर पूरे अध्ययन-काल के व्यय का अंशमात्र था।

जातकों में कुछ ऐसे आचार्य के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने अप्रतिम ज्ञान के द्वारा अभिमानी शिष्यों को विनयी बनाते थे। कुछ विद्यार्थियों को कभी-कभी भ्रम हो जाता था कि हम आचार्य के बराबर जान चुके हैं और फिर वे आचार्य की सेवा में नहीं जाते थे। ऐसी परिस्थिति में आचार्य को अपनी असाधारण विद्वत्ता का परिचय देना पड़ता था। फिर भी आचार्य के मन में शिष्यों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं उत्पन्न होता था।[२] अनेक राजाओं के मन्त्री राजकार्य के साथ अध्यापन करते थे। महागोविन्द नामक मन्त्री एक ऐसा ही आचार्य था, जिसके यहाँ ७०० विद्यार्थी थे।[३]

आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्त में आचार शब्द से बतलाते हुए कहा गया है कि आचार को ग्रहण कराने वाला व्यक्ति आचार्य है।[४] आचार्य तभी आचार ग्रहण करा सकता था, जब वह स्वयं आचार-निष्ठ हो। प्रायः विद्यार्थियों को सदाचारी बनाने के लिए आचार्य का उपदेश पर्याप्त होता था।[५]

---

१. सुसीम जातक १६३। तिलमुट्ठि जातक २५२ के अनुसार धम्म-अन्तेवासिक दिन में आचार्य का काम करते थे और रात्रि में शिल्प सीखते थे। शुल्क देने वाले विद्यार्थियों को काम नहीं करना पड़ता था।

२. मूलपरियाय जातक २४५।

३. दीघनिकाय महागोविन्दसुत्त २.६।

४. आचार्यः अस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। निरुक्त १.४। यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.१.१४।

५. चुल्लनन्दिय जातक २२२, तिलमुट्ठि जातक २३२।

पाणिनि के अनुसार गुरु छाता है। गुरु और शिष्य परस्पर छाते की भाँति रक्षक होते हैं।[1]

रामायण और महाभारत में भरद्वाज, अगस्त्य, वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, द्रोण, परशुराम, अर्जुन आदि अनेक आचार्यों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। रामायण के अनुसार आचार्य भरद्वाज महात्मा, ऋषि, व्रतपरायण, और एकाग्र-चित्त तपस्वी हैं। वे राम का स्वागत अर्घ्य और मधुपर्क से करते हैं। उनके भोग के लिए नानाविध अन्न, रस, मूल, फल आदि प्रस्तुत करते हैं।[2] आचार्य ने भरत, उनके परिवार और सेना के खाने-पीने और रहने की जो व्यवस्था की, इससे उनकी समृद्धिशालिता का परिचय मिलता है। वे तपस्वी और मुनि तो अवश्य थे, पर उनकी इच्छामात्र से ही अभीष्ट वस्तुओं का संभार प्रस्तुत हो सकता था।[3] वसिष्ठ ने भी विश्वामित्र का आतिथ्य करने के अवसर पर ऐसी ही दैवी शक्ति के द्वारा विविध प्रकार की वस्तुओं का संग्रह कर दिया था।[4] महाभारत के अनुसार आचार्य कण्व तपस्वी महर्षि थे। वे रजोगुण से सर्वथा मुक्त थे, और व्रतपरायण थे। महर्षि व्यास ने आचार्य का कर्तव्य बताते हुए कहा है—जो मनुष्य ब्रह्मलोक में अक्षय निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि विद्यार्थियों को सदा वेद पढ़ाए। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया है कि तुम लोग भी वेदों का विस्तार करो। उन्होंने भविष्य में आचार्य बनने के लिए उद्यत शिष्यों को मार्ग-निर्देश किया है—तुम लोग अपने शिष्यों को कभी अनुचित या भयदायक काम में न लगाना। आचार्य का उद्देश्य होना चाहिए कि सभी मनुष्य दुःखों के पार हो जायँ तथा सबका अभ्युदय हो। धार्मिक विधि से प्रश्नों का उत्तर न देने से मृत्यु हो सकती है। व्यास ने चारों वर्णों को शिक्षा देने की योजना अपने शिष्यों के समक्ष प्रस्तुत की और स्वाध्याय करते रहने का महत्त्व समझाया। आगे चल कर जब व्यास के शिष्य आचार्य हुए तो वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके यज्ञ कराते हुए अपनी जीविका प्राप्त कर लेते थे। समाज में उनका अतिशय आदर था। सर्वत्र वे अपनी योग्यता के कारण विख्यात थे। शिष्यों के प्रति आचार्य की जो आत्मीयता होती थी, उसकी कल्पना व्यास के इन शब्दों से हो सकती

---

१. गुरुश्छत्रम् । गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः। ४.४.६२।

२. वा रा० अयोध्याकाण्ड ५४ वाँ सर्ग।

३. वा० रामायण अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९१।

४. वा० रा०, बाल० सर्ग ५३।

है—अपने प्रिय शिष्यों से वियोग होने के कारण आज मेरा मन विशेष प्रसन्न नहीं है।[१]

रामायण में आचार्य अगस्त्य के व्यक्तित्व का निरूपण किया गया है। आचार्य अपने कर्म से लोक-विश्रुत थे। उनके पुण्य-कर्म लोकहितकारी थे। उनके प्रभाव से उस प्रदेश में राक्षसों के अत्याचार पर रोक लग गई थी। वे प्रशान्त और निर्वैर थे। सारा लोक उनकी पूजा करता था। वे सदा सज्जनों का हित करने में तत्पर रहते थे। अगस्त्य महामुनि और तपस्वी थे। अगस्त्य में सूर्य की तेजस्विता थी। उन्होंने वानप्रस्थ धर्म के अनुकूल राम, लक्ष्मण और सीता को भोजन दिया और फल-मूल और पुष्प से उनकी पूजा की। अगस्त्य ने राम को वैष्णव धनुष भी दिया।[२]

यह उन आचार्य-महर्षियों के व्यक्तित्व की गरिमा थी, जो राम को उनकी ओर आकर्षित करती थी। राम ने समसामयिक महर्षियों का दर्शन करके अपने को पवित्र माना। उन्होंने प्राचीन महर्षियों की चरित-गाथा का ध्यानपूर्वक श्रवण किया।

महाभारत में आचार्य और उपाध्याय का अन्तर स्पष्ट नहीं है। शुक्राचार्य को कहीं-कहीं उपाध्याय कहा गया है।[३] शुक्र ब्रह्मराशि थे, पर थे बड़े विनयी। उन्होंने बृहस्पति के पुत्र कच का स्वागत किया और कहा कि मैं आपकी पूजा करता रहूँगा।[४] अर्जुन धनुर्वेद का आचार्य था। उसने अपने पुत्रों और भतीजों को इसकी शिक्षा दी।[५] आचार्य और शिष्य की संगति महाभारत के अनुसार आदर्श है। यथा—

अनुगम्यमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः॥ सभापर्व २.१७॥

महाभारतकालीन उच्च कोटि के आचार्य वेतन लेकर वेद नहीं पढ़ा सकते थे। महाभारत के अनुसार यदि किसी ने वेतन लेकर वेद पढ़ाया तो प्रायश्चित्त के बिना उसकी शुद्धि नहीं हो सकती थी।[६]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ३१४, ३१५ अध्याय।
२. वा० रामायण, अरण्यका० सर्ग ११, १२।
३. आदिपर्व ७१.२१।
४. आदिपर्व ७१.५०, १९।
५. आदिपर्व २१३.६५, ८१।
६. शान्तिपर्व ३५.६।

राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए जो आचार्य नियुक्त होते थे, उनकी उपाधि महाभारत में कारणिक मिलती है। कारणिक धर्म एवं अन्य शास्त्रों के भी कोविद होते थे।[1]

आचार्य अपने शिष्य को पुत्र की भाँति स्नेह करते हुए सावधानी से पढ़ाये और उससे कुछ भी गुप्त न रखे।[2] उससे कभी इतना काम न ले कि उसके अध्ययन में बाधा पड़े। यदि आचार्य ने अध्यापन में किसी प्रकार की उदासीनता दिखाई तो वह आचार्य नहीं रह जाता था। उपनयन के लिये वही आचार्य चुना जाता था, जिसमें परम्परागत पाण्डित्य हो और जो स्वयं उच्च कोटि का विद्वान् हो।[3]

आचार्य के अनुशासनमय जीवन की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई। आचार्य गृहस्थ होने पर भी ऐसा जीवन बिताता था कि उसे देखकर किसी प्रकार का विकार शिष्यों के मन में नहीं उत्पन्न होता था। उसकी रहन-सहन से गौरव टपकता था। वर्षा और शरद् में वह ब्रह्मचारी की भाँति रहकर अपनी स्त्री से अलग रहता था। वह चारपाई पर लेटे-लेटे या उसी पर बैठकर नहीं पढ़ा सकता था। वह माला और अनुलेपन आदि से अपना अलंकरण नहीं करता था। आचार्य आधी रात के पश्चात् नहीं सोता था। उसी समय से वह विद्यार्थियों को उनका काम बताता था अथवा स्वयं मन ही मन स्वाध्याय करता था। रात के तीसरे पहर भी वह अध्यापन करता था। इसके पश्चात् भी वह सो नहीं सकता था। भले ही किसी खम्भे का सहारा लेकर ऊँघ ले। वह हीन व्यक्तियों से मिलता नहीं था और भीड़ से दूर रहता था। वह तैर कर नदी नहीं पार करता था और उसी नाव पर बैठता था, जिसकी दृढ़ता पर उसे पूरा विश्वास होता था। वह व्यर्थ इधर-उधर थूकता नहीं था और न घास काटता या ढेले फोड़ता था।[4]

गौतम बुद्ध के समकालीन ब्राह्मण आचार्यों का सम्मान राजा भी करते थे। खाणमुत के आचार्य कुटदन्त राजा बिम्बिसार के लिये सत्कृत, गुरुकृत, मानित, पूजित और अपचित थे।[5]

---

१. सभापर्व ५.३३।

२. इस स्नेह का यह तात्पर्य नहीं था कि विद्यार्थी मनमाना आचरण करे। विद्यार्थी को सुधारने के लिए आचार्य उससे अनशन करा सकता था या उसके ढीठ होने पर उसे संस्था से निकाल सकता था। आपस्तम्ब ध० सू० १.२.८.२८-२९।

३. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.८.२४-२७, १.१.१.११-१२।

४. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.१.३२।

५. दीघनिकाय कुटदन्तसुत्त १.५।

महाभाष्य के अनुसार आचार्य और प्राचार्य सर्वोच्च अध्यापक थे। इनके नीचे गुरु और उपाध्याय होते थे। उपाध्यायों के यहाँ विद्यार्थी अपने घर से आकर पढ़ते थे और गुरुओं के यहाँ दूर-दूर से आकर अन्तेवासी बनकर पढ़ते थे। पाणिनि और पतञ्जलि ने आचार्य कोटि को समुज्ज्वल किया था। शिक्षक धनुर्वेद आदि व्यावसायिक विषयों की शिक्षा देते थे। गुरु-पद विशेष समादृत था। कुछ अध्यापक वेतन भी लेने लगे थे।[१] सभी प्रकार के शिक्षकों का साधारण नाम उपाध्याय भी था।

मनु ने प्रत्येक विद्वान् ब्राह्मण का परमावश्यक कर्तव्य निर्धारित किया कि वह यज्ञ के रूप में नित्य अध्यापन करे। इसीलिए मनु ने कहा है—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः।[२]

भारतीय साहित्य में आचार्य के व्यक्तित्व की जो रूप-रेखा समय-समय पर निरूपित की गई है, वह आदर्श रूप में अमर प्रतिष्ठा पाती रही। कादम्बरी में बाण ने आचार्य जाबालि का इस प्रकार वर्णन किया है—उन्होंने अत्यन्त उग्र तपस्या की थी। उनको चारों ओर से महर्षियों ने घेर रखा था। श्वेत भस्म से उनका शरीर धवल हो रहा था। सिर पर जटायें शोभायमान थीं। उनके ललाट पर त्रिपुण्ड बना हुआ था। कन्धे से धवल यज्ञोपवीत लटक रहा था। उन्होंने स्थिरता पर्वत से, गम्भीरता समुद्र से, तेजस्विता सूर्य से, प्रशम चन्द्रमा से और निर्मलता आकाश-तल से ले रखी थी। वे दीन-अनाथ और विपन्न लोगों को शरण देते थे। वे सभी विद्याओं के आश्रय थे। इनके व्यक्तित्व की ज्योति से सारा आश्रम आलोकित था और सर्वत्र शान्ति विराजती थी।

पौराणिक युग के आचार्य के व्यक्तित्व की रूप-रेखा प्रायः वैसी ही रही, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है। विष्णुपुराण के अनुसार आचार्य अपने भोजन में से कुछ भाग अपने शिष्यों के लिये तथा भूखे लोगों को देता था।[३] मत्स्य पुराण के अनुसार उसी व्यक्ति को आचार्य होना चाहिए, जो अवस्था में वृद्ध हो, निर्लोभ, आत्मज्ञानी, अदाम्भिक, अतिविनम्र तथा मृदु स्वभाव वाला हो।[४]

---

१. महाभाष्य २.१.६५; ३.३.२०; ५.१.७४; १.३.३१; १.४.२९।

२. मनुस्मृति ३.७०। दक्षस्मृति में भी ब्रह्मयज्ञ में वेद का अध्यापन सम्मिलित किया गया है। दक्ष० २.१३।

३. विष्णु पु० ३.११.८०।

४. मत्स्यपुराण १४५.२८।

इस युग में विद्यादान के द्वारा आचार्य के स्वर्ग या मोक्ष पाने की धारणा थी।[1]

आठवीं शती में आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। शंकर से आचार्यों की एक परम्परा का आरम्भ होता है, जो भारतीय इतिहास में पूरे मध्य युग तक चलती रही और आज तक चल रही है। शंकर की प्रतिभा अलौकिक थी। उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में वैदिक साहित्य में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। बाल्यावस्था में शंकर ने संन्यास ले लिया था। वे कर्मयोगी थे। वे अपने युग के सर्वोच्च आचार्य बने। उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में विशाल भारत के चारों कोनों पर मठ के रूप में विश्वविद्यालयों की स्थापना की। शंकर के व्यक्तित्व में चतुर्दिक् प्रतिभा का समन्वय था। वे कोरे दार्शनिक नहीं थे, उनकी गद्य-लेखन-शैली आज भी आदर्श मानी जाती है। उनका काव्य सर्वगुणसम्पन्न है। उनका ऋषि-जीवन उदात्त था। भारत का सांस्कृतिक अभ्युत्थान करने की उनमें अप्रतिम योग्यता थी।

कुछ आचार्यों की विवादशीलता उल्लेखनीय रही है। विवाद की परिपाटी का आरम्भ संभवतः भारत में संस्कृति के अरुणोदय के साथ ही हुआ था। वैदिक साहित्य में विद्वानों के परिषदों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें शास्त्रार्थ-पद्धति से विद्वानों के साथ ही समाज के ज्ञान का संवर्धन होता था। आचार्यों का विवाद से डरना निन्दनीय समझा जाता था। भारतीय धारणा के अनुसार केवल जीविका के लिए ही यदि आचार्य का ज्ञान हुआ तो आचार्यत्व की कोई महिमा नहीं है। ऐसा आचार्य मानो ज्ञान का क्रय-विक्रय करता है। आचार्य को तो शास्त्रार्थ-पद्धति से समाज के समक्ष अपने ज्ञान की गरिमा का परिचय देना पड़ता था। यही उनकी उच्चता थी। शंकराचार्य के शास्त्रार्थ प्रख्यात हैं।

बौद्ध आचार्य

बौद्ध शिक्षण में गौतम के व्यक्तित्व की सर्वोपरि महिमा थी। आचार्य रूप में गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया, वह बौद्ध शिक्षण के परवर्ती आचार्यों के लिये पथ-प्रदर्शक बनकर रहा। गौतम ने भारत के सभी विद्यालयों के भिक्षुओं के लिए नियम बनाया और सर्वत्र घूम-घूम कर देखा कि उन नियमों का यथाविधि

---

१. विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परं कारणम्॥ पद्मपुराण, उत्तर ख० ११७ वें अध्याय से।

पालन तो हो रहा है अथवा उनमें किसी परिवर्तन की कहाँ तक आवश्यकता है। गौतम में अदम्य उत्साह था, कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई-नई विषम परिस्थितियों को सुलझाने के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के समीप अपने सन्देहों को मिटाने के लिए आते थे और अपने विवादों का निपटारा गौतम के सहारे करते थे।[1]

गौतम का जन्म राजकुल में हुआ था। उन्होंने राजोचित आधिभौतिक भोगों को त्याग दिया क्योंकि उनसे वास्तविक सुख या शान्ति मिलती हुई न दिखाई दी। गौतम ने आरम्भ में तप का मार्ग अपनाया, पर उससे भी उन्हें सन्तोष न हुआ। अन्त में उन्हें चार आर्य सत्य और अष्टाङ्गिक मार्ग का बोध हुआ। यह खोज न तो नई थी और न रहस्यमयी ही थी, पर इसके द्वारा गौतम का वह व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ था, जिसमें शान्ति और गौरव की असीम शोभा परिलक्षित हो रही थी। यह वही व्यक्तित्व था, जिसके सम्पर्क में यदि कोई आया तो प्रभावित और मुग्ध होकर रहा और वह निरन्तर सोचने लगा कि वह कौन सा ज्ञान है, जो गौतम को इतनी उच्चता और भव्यता प्रदान कर रहा है।

गौतम में मानवता के प्रति सच्ची सहानुभूति थी। उन्होंने अपना जीवन लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर दिया था। गौतम ने आचार्य बनने वाले अपने शिष्यों को उपदेश दिया—'तुम लोग जाओ और सर्वजनीन हित करते हुए भ्रमण करो। संसार के सभी प्राणियों के प्रति दया-भाव रखते हुए, सभी लोगों के कल्याण, लाभ और मंगल के लिए प्रयत्न करो। तुममें से दो किसी एक दिशा में न जायँ। तुम उस जीवन-दर्शन का प्रचार करो, जिसका आदि, मध्य और अवसान कल्याणमय है। पूर्ण, पवित्र और सत् जीवन की घोषणा करो।[2] इस वाणी के पीछे गौतम की वही सहानुभूति अन्तर्हित है, जिसने उन्हें जीवन भर लोकोपकार के लिए तत्पर रखा और उसी समय से सदा के लिए बौद्ध दर्शन और धर्म के त्यागी स्वयंसेवकों का उत्साह बढ़ाया।

गौतमबुद्ध ने कहा है—मैं तब तक मरना भी नहीं चाहता, जब तक मेरे शिष्य व्यक्त विनय-युक्त, विशारद, बहुश्रुत, धर्मधर, धर्ममार्ग पर आरूढ़, सन्मार्ग पर आरूढ़ और अनुधर्मचारी न बन जायें और अपने सिद्धान्त को सीखकर उपदेश, ख्यापन, प्रज्ञापन और प्रतिष्ठापन में समर्थ न हो जायें।[3]

---

१. महावग्ग १३.७.५; १३.८ तथा ७.१.१।
२. अंगुत्तर निकाय ४.१.४।
३. दीघनिकाय महापरिनिर्वाण २.३।

गौतम की वाणी मधुर थी। उनका स्वभाव मृदुल था। उन्होंने विषम परिस्थितियों में भी किसी प्रकार चित्त में विकार नहीं आने दिया। यदि किसी ने उनको गाली दी तो उन्होंने प्रेमपूर्वक उसको शान्त करके अपना अनुयायी बना लिया।[१]

गौतम ने रात-दिन अपने शिष्यों की मानसिक और शारीरिक प्रगति की चिन्ता की। वे देखते रहते थे कि किसी भिक्षु के मनोविकार क्या हैं। वे यथाशीघ्र उसे सत्पथ का अनुशासन करके अभ्युदय-पथ पर लगा देते थे। गौतम ने एक बार किसी भिक्षु को, जो अतिसार से पीड़ित होकर मल में परिलिप्त था, अपने हाथों से स्वच्छ करके उसका बिस्तर बदला और विहार के सभी भिक्षुओं को बुला कर शिक्षा दी—जो कोई रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। यही वह आचार्यत्व का आदर्श है, जो संघ में सदा प्रतिष्ठित रहा और जिसके होने के कारण विहार में शिष्यों और आचार्यों के बीच कुटुम्ब का वातावरण बन गया। आचार्यों के लिए नियम था कि सदाचार की शिक्षा दें। उत्तम रीति से पढ़ायें। जितनी विद्या का ज्ञान हो, वह सारी शिष्य को दे दें। शिष्य के गुणों की प्रशंसा करें। जब कहीं बाहर जायें तो ऐसी व्यवस्था कर दें कि शिष्य को खाने-पीने की असुविधा न हो।[२] गौतम बुद्ध के जीवन काल में उनके अनेक शिष्य उस युग के सुप्रसिद्ध आचार्य हुए। इनमें से आनन्द, मौद्गल्यायन, सारिपुत्र, राहुल, उपालि आदि सुप्रसिद्ध हैं। प्रथम शती ईसवी में मिलिन्द-प्रश्न का रचयिता आचार्य नागसेन अपने युग का सर्वोच्च व्याख्याता था।

फाह्यान ने चौथी शती के पाटलिपुत्र के आचार्य राधास्वामी के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए लिखा है—राधास्वामी विशुद्ध विवेक और ज्ञान से सम्पन्न थे। उनका आचार विमल था। जनपद का राजा उनको आचार्य मानकर सम्मानित करता था। जब राजा उनसे बातचीत करने जाता था तो उनके समक्ष बैठने का

---

१. एक बार किसी गृहस्थ ने गौतम को जब बहुत बुरा-भला कहा तो गौतम ने पूछा—यदि किसी भिक्षुक को कोई भिक्षा दे और भिक्षुक उसे न ले तो वह भिक्षा किसकी होगी? गृहस्थ ने उत्तर दिया—भिक्षा देने वाले की ही भिक्षा रह जायेगी गौतम ने कहा—मैंने तुम्हारी गाली स्वीकार नहीं की है। यह किसकी रही। यह तुम्हारे ऊपर ही तो पड़ी। पर मेरी तो बड़ी हानि हुई कि तुम जो मेरे मित्र थे, अब मित्र न रहे। मज्झिम निकाय ७५।

२. बुद्धचर्या सिगालोवाद सुत्त १३ तथा चुल्लवग्ग ८.२६। इस प्रकार आचार्यों का पितृत्व सिद्ध होता है। देखिए महावग्ग १.६.३।

साहस नहीं करता था। राजा श्रद्धा-भक्ति से यदि कभी उनका हाथ छूता तो हाथ छूटते ही श्रमण झट पानी से धो डालता था। आचार्य की अवस्था ५० वर्ष से अधिक थी। सारे जनपद में उनका सम्मान था। इस एक मनुष्य से बौद्ध धर्म की ख्याति सर्वत्र फैल रही थी।

भास ने आचार्यों का महान् उत्तरदायित्व माना है कि यदि कहीं उनके शिष्य में दोष रह गया तो वह आचार्य पर पड़ेगा। यथा—

अतीत्य बन्धूनवलंघ्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः। पंचरात्र १.१८

महाकवि बाण ने सातवीं शती के आचार्य का परिचय इस प्रकार दिया है—

विवृण्वतो यस्य विसारि वाङ्मयं दिने दिने शिष्यगणा नवा नवाः।
उषस्सु लग्नाः श्रवणाधिकां श्रियं प्रचक्रिरे चन्दन-पल्लवा इव॥

कादम्बरी की भूमिका

सातवीं शती के बौद्ध आचार्यों के व्यक्तित्व का निरूपण ह्वेनसांग की रचनाओं में मिलता है। ह्वेनसांग स्वयं उन आचार्यों से अध्ययन कर चुका था। वह भारत में अपनी शिक्षा पूर्ण करके नालन्दा के विश्वविद्यालय में सर्वोच्च आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। ह्वेनसांग ने नालन्दा के विश्वविद्यालय के भूतपूर्व सर्वोच्च आचार्यों में धर्मपाल और चन्द्रपाल की गणना की है। वे बौद्ध दर्शन के सर्वोच्च विद्वान् थे। आचार्य गुणमति और स्थिरमति का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था। प्रभाकर मित्र का तर्क प्राञ्जल था। ज्ञानचन्द्र का चरित्र आदर्श था और प्रज्ञा विशद थी। जिनमित्र का वार्तालाप उच्च स्तर का होता था। शीलभद्र की प्रतिभा परिपक्व होने पर भी प्रच्छन्न-सी थी। ह्वेनसांग के अनुसार ये सभी आचार्य सर्वविद्या-विशारद थे और उन्होंने अनेक लब्धप्रतिष्ठ शास्त्रों की रचना की थी, जिनकी उस युग में प्रसिद्धि हो चुकी थी। इनमें से शीलभद्र नालन्दा के कुलपति थे और उन्होंने ह्वेनसांग के अध्यापन के विषय में विशेष रुचि दिखलाई थी।[1] इन आचार्यों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें अपने अध्ययन और व्यक्तित्व के विकास के प्रति अनुपम अभिरुचि थी। वे उत्साहपूर्वक जीवन भर अध्ययन और अध्यापन में तल्लीन रहते थे और मनोयोगपूर्वक बौद्ध दर्शन से सम्बद्ध साहित्य का संवर्धन करते रहते थे।

---

१. वाटर्स, ह्वेनसांग भाग २, पृ० १६४-१६६।

बौद्ध आचार्यों की सबसे बढ़कर उदात्त चरित-गाथा है उनका न केवल भारत में ही अपितु विदेशों में भी जाकर भारतीय संस्कृति के सन्देश का आलोक विस्तृत करके धर्म-विजय प्राप्त करना। उन आचार्यों के जीवन-पथ में असंख्य संकट और कठिनाइयाँ आई होंगी, जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते। उन्होंने विदेशों में जाकर वहाँ की भाषा सीखी। उन विदेशी भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की और उन देशों की संस्कृति के आचार्यों का सहयोग प्राप्त करके अपनी सांस्कृतिक निधि का वितरण किया।

जैन आचार्य

जैन शिक्षण के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के व्यक्तित्व की छाप रही है। बौद्धाचार्यों की भाँति जैनाचार्य भी अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देते थे।[1] आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की रूप-रेखा जो आगे बनी, वह कुछ-कुछ इस प्रकार थी—वह सत्य को छिपाता नहीं था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नहीं करता था और न यश की कामना करता था। वह मन्त्र-तन्त्र के द्वारा आचार्य-मार्ग को दूषित नहीं करता था। वह कभी अन्य धर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था। सत्य कठोर होने पर भी उसके लिए अत्याज्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। वह सज्जनों और गुणवान् व्यक्तियों के साथ ही रहता था और शनैः-शनैः अज्ञान के भ्रम में पड़े हुए शिष्य को भी सत्पथ का प्रदर्शन कराता था। शिष्य को डाँट-डपट कर या अपशब्द कह कर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्ण रूप से जानता था। वह शास्त्रज्ञ था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यान-शैली शुद्ध थी। वह कुशल, विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित था।[2]

जैन-शिक्षण में परवर्ती युग में आचार्य और उपाध्याय नामक दो कोटियाँ मिलती हैं। आचार्य वह मुनि है, जो अपने आपको तथा दूसरों को आचार से समन्वित कर देता है। इस प्रकरण में आचार है, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चरित्र और तप। वह मुनि उपाध्याय है, जो स्वयं तीन रत्न—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त होता है और नित्य धर्मोपदेश में तत्पर रहता है।[3]

---

१. आचारांग १.६.५.२-४।

२. सूयगडंग १.१४.१९-२७।

३. द्रव्य-संग्रह ३.२.५२-५३।

शिक्षण-विधि

वैदिक काल में आरम्भ से ही सूक्तों को कण्ठाग्र करने की रीति थी। उसी समय से लेकर आज तक साधारणतः किसी भी संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थ को और विशेषतः वेदों और वेदाङ्गों को कण्ठस्थ करने का प्रचलन मिलता है।[1] यज्ञों और उत्सवों के अवसर पर वैदिक सूक्तों का सस्वर गायन होता था। ऐसे पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए थी। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही हाथ की गति से की जाती थी। लोगों की भावना थी कि मन्त्रों का अशुद्ध पाठ करने से पाप लगता है और कभी-कभी तो स्वरों का हेर-फेर हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।[2] ऐसी स्थिति में पाठ की शुद्धि के लिए आचार्य और विद्यार्थी बहुत सतर्क रहते थे। इस प्रकार की शिक्षा में आचार्य का आदर्श रूप में स्वयं पाठ समुपस्थित करना और फिर विद्यार्थियों को उसे दुहराना तथा साथ ही आचार्य के द्वारा अशुद्धियों की ओर विद्यार्थी का ध्यान आकर्षित करना स्वाभाविक विधि थी। ऋग्वेद के 'अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्' में इसी विधि का निर्देश किया गया है।[3] पिता की पुत्र को पढ़ाने की शैली आदर्श मानी जाती थी।[4]

ऋग्वेद के मन्त्रों को देखने से प्रतीत होता है कि अनेक मन्त्र विशेष परिस्थितियों में देवताओं का आह्वान करके उनकी सहायता पाने के लिए रचे गये हैं अथवा उनके माध्यम से यजमानों की प्रशंसा की गई है। ऐसे मन्त्रों की रचना करने के लिए जो होनहार कवि आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे, उन्हें मंत्र-रचना का सतत अभ्यास कराया जाता था और उनके नये रचे हुए श्लोकों की त्रुटियों को दूर

---

१. यह विवादग्रस्त समस्या है कि ऋग्वेद के विद्वान् लिखना जानते थे कि नहीं। भारतीय ध्वनि-विन्यास का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने पर स्पष्ट प्रकट होता है कि बिना लिपिबद्ध किये हुए इसका वह स्वरूप ही नहीं बन सकता था। योरपीय विद्वान् भी जिस युग की रचना इन वेदों को मानते हैं, उसमें विश्व के कई भागों में लिखने की रीति थी। भारत के वैदिक महर्षि इन परिस्थितियों में लिखना न जानते हों, यह आश्चर्यजनक लगता है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोग वैदिक साहित्य को लिपिबद्ध करने के पक्ष में नहीं थे।

२. पाणिनि-शिक्षा के अनुसार वृत्र ने इन्द्र को मारने के लिए, जो यज्ञ किया था, उसमें स्वर के अशुद्ध उच्चारण से फल ठीक उलटा मिला।

३. ऋग्वेद ७.१०३.५; ४.४४.१।

४. पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्। ऋग्वेद १०.३९.६।

किया जाता था। नित्य नये कवियों का अभ्युदय हो रहा था और नई-नई स्तुतियाँ रची जा रही थीं।[१]

वैदिक मन्त्रों को कण्ठस्थ करने के लिए और साथ ही उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे। यथा—

संहिता-पाठ

यत् पुरुषेण। हविषा। देवा यज्ञमतन्वत।

पद-पाठ

यत्। पुरुषेण। हविषा। देवा। यज्ञम्। अतन्वत।

क्रम-पाठ[२]

यत् पुरुषेण। पुरुषेण हविषा। हविषा देवा। देवा यज्ञम्। यज्ञमतन्वत। अतन्वतेत्यतन्वत।

जटा-पाठ

यत् पुरुषेण पुरुषेण यद्यत्पुरुषेण। पुरुषेण हविषा हविषा पुरुषेण पुरुषेण हविषा। हविषा देवा देवा हविषा हविषा देवा। देवा यज्ञं यज्ञं देवा देवा यज्ञम्। यज्ञमतन्वतातन्वत यज्ञं यज्ञमतन्वत। अतन्वतेत्यतन्वत।

घन-पाठ

यत्। पुरुषेण पुरुषेण यद्यत् पुरुषेण हविषा हविषा पुरुषेण यद्यत् पुरुषेण हविषा। पुरुषेण हविषा हविषा। पुरुषेण हविषा पुरुषेण देवा देवा हविषा पुरुषेण पुरुषेण हविषा देवा। हविषा देवा देवा हविषा हविषा देवा यज्ञं यज्ञं देवा हविषा

---

१. ऋग्वेद १.२४ सूक्त शुनःशेप की रचना है। यह सूक्त केवल वैयक्तिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचा गया था। ऋग्वेद १.१२६ सूक्त में कक्षीवान् की स्वानुभूत घटना का वर्णन है।

२. क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ में स्वर-विन्यास का निर्देशन पूर्ववत् है। इन पाठों में एक ही पद को बारंबार पढ़ने की विशेषता है। जटा-पाठ में एक ही पाद छः बार तक उच्चारित करना पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए 'देवा'।

हविषा देवा यज्ञम्। देवा यज्ञं यज्ञं देवा देवा यज्ञमतन्वतातन्वत यज्ञं देवा देवा यज्ञमतन्वत। यज्ञमतवन्तवतान्वत यज्ञं यज्ञमतन्वत। अतन्वतेत्यतन्वत।

उपर्युक्त विधि से वैदिक साहित्य को कण्ठस्थ रखने वालों का प्रयास स्तुत्य है। इसीसे वैदिक साहित्य अपने शुद्धतम रूप में सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण बना रहा। सम्भव है कि ऐसे कण्ठाग्र-परायण पण्डितों को वेदों का अर्थ और रहस्य जानने के लिए पूरा समय न मिल पाता हो और कण्ठाग्र-मात्र करना ही परवर्ती युग में अद्भुत सिद्धि मान ली गई हो। संहिता-युग के पश्चात् सदा ऐसे चलते-फिरते ग्रन्थ-रूप पण्डितों की प्रतिष्ठा रही है।[1] उन्हीं ज्ञानियों में बहुत से ऐसे भी होते थे, जो अर्थ न जानते हुए ही वेदों को रटते थे। आलोचकों ने ऐसे पण्डितों को 'ठूंठ वृक्ष' अथवा 'भारहार' आदि परिहासास्पद उपाधियों से सम्बोधित किया। भारतीय धारणा के अनुसार वेदों का अर्थ जानने वाला इस लोक में कल्याण भोगता है और ज्ञान से पाप के धुल जाने पर स्वर्ग में जा पहुँचता है।[2] ऐसी स्थिति में वैदिक शिक्षण-पद्धति में अर्थ-विवेचन का प्रायः सदा महत्त्व रहा।

ऋग्वेद के अनुसार दार्शनिक शिक्षण की एक पद्धति थी, विद्वानों की परिषद् में जिज्ञासुओं का प्रश्न पूछना। जिज्ञासु विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रकट करते थे। वे कहते थे—हम पाक (न जानने वाले) हैं। इस विषय में कुछ न जानते हुए हम पूछ रहे हैं। इस विषय को जो जानता हो, वह उत्तर दे।[3]

ब्राह्मणकालीन शिक्षण-पद्धति की कल्पना उपनयन के अवसर पर आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को गायत्री सिखाने की विधि से हो सकती है। आचार्य पहले गायत्री का पाठ पादशः करता था फिर आधे का और अन्त में पूरे का। शिष्य दुहराता जाता था।[4] इस युग की शिक्षण-विधि में प्रश्नोत्तर का विशेष महत्त्व था। प्रश्नों की रूप-रेखा इस प्रकार थी—अग्निहोत्री क्या जानकर प्रवास करता

---

१. एक ही बार सुन कर स्मरण करने वाले विद्यार्थियों को श्रुतधर कहा जाता था। कथासरित्सागर १.२.६१। इत्सिंग ने ऐसे लोगों के विषय में लिखा है—मैं स्वयं ऐसे लोगों से मिला हूँ। *Record of the Western World p.* 183.

२. निरुक्त में प्रतिपादन किया गया है—स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते, अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ निरुक्त १.१८-१९॥

३. ऋग्वेद १.१६४.४-७।

४. शतपथ ११.५.४.१५।

है ? वह कैसे इस ज्ञान को प्राप्त करता है ? अग्नियों के द्वारा कैसे उसकी सतत प्रतिष्ठा होती है ? कैसे वह कह सकता है कि उसका घर से प्रवास नहीं हुआ ? उत्तर इस प्रकार दिये जाते थे—जो सबसे अधिक प्रगतिशील है, वही प्रवास करता हुआ देखा जाता है, इस प्रकार उसकी बुद्धि प्रकट होती है और उसकी अग्नियाँ उसकी प्रतिष्ठा करती हैं। अपनी मानसिक वृत्तियों के कारण वह प्रोषित नहीं होता।[1]

यज्ञ-विद्या सम्बन्धी जो व्याख्यान ब्राह्मण-साहित्य में मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि आचार्यों के व्याख्यानों में प्रक्रिया-सम्बन्धी विस्तार होते थे और उन प्रक्रियाओं के रहस्य और प्रभावों का सोदाहरण विवेचन किया जाता था।[2]

शनैः शनैः ज्ञान की गरिमा बढ़ी। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वैदिक विषयों का अध्ययन गाँव में मन ही मन मौखिक उच्चारण किये बिना ही करने का विधान बना। गाँव से बाहर अरण्यों में उन विषयों का अध्ययन वाचा अर्थात् वाणी से बोल कर करने की पद्धति चली।[3] सम्भवतः पाठकों को ध्यान रहता था कि उनके पाठों को अयोग्य व्यक्ति न सुन सकें।

अपने ज्ञान की परिपक्वता और पूर्णता की प्रतिष्ठा करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी भ्रमण करते हुए विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों से विवाद करते थे। विवाद में परास्त होने पर वे कभी-कभी स्वयं विजयी विद्वान् के शिष्य बनकर उनसे विद्या सीखते थे। ऐसे विवाद वैदिक काल से ही प्रायः सदा होते आये हैं। विवादों में आजकल के शास्त्रार्थ की भाँति हठधर्मिता नहीं होती थी। विवादों के द्वारा सत्य का अनुसन्धान कर लेना तथा उसके आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करना प्रधान उद्देश्य होता था।[4]

---

१. शतपथ ११.३.१.५-६।

२. शतपथ ११.४.१.१०-१२।

३. तै० आ० २.११.१२-१५।

४. ऐसे विवादों के उदाहरण के लिए देखिए ऋग्वेद ५.१०.७१। शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक तथा स्वैदायन के विवाद के लिए देखिए ११.४.१.१-९। बृहदारण्यक उ० ३.१ के अनुसार याज्ञवल्क्य का कुरुपाञ्चालों के साथ विवाद हुआ था। छान्दोग्य० १.८ में शिलक, चैकितायन तथा प्रवाहण के शास्त्रार्थ का उल्लेख है। वैदिक, जैन, बौद्ध आदि संस्कृतियों के आचार्यों में परस्पर शास्त्रार्थ होते थे। ह्वेनसांग ने ऐसे अनेक शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। शंकर-दिग्विजय में शंकर का मण्डन मिश्र से जो विवाद हुआ था, वह सुप्रसिद्ध है। कथा-सरित्सागर १.८.२४ के अनुसार व्याकरण सम्बन्धी शास्त्रार्थ आठ दिन तक चलते रहते थे।

ब्राह्मण-साहित्य की भाँति उपनिषद्-साहित्य भी प्रायः आचार्य-महर्षियों के द्वारा शिष्यों के समक्ष दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह है। ईशोपनिषद् में इस प्रकार की व्याख्यान-शैली का उल्लेख नीचे लिखे श्लोक में किया गया है :—

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद्विचचक्षिरे॥

प्रायः ऐसे व्याख्यान प्रश्नोत्तर के रूप में हैं। विद्यार्थी के मन में शंका होती थी। वह अपनी शंकाओं को समाधान करने के लिए महर्षि के समक्ष प्रस्तुत करता था। महर्षि उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। केनोपनिषद् में आरम्भ में विद्यार्थी आचार्य से पूछता है—मन, प्राण, वाणी, नेत्र और श्रोत्र किसकी प्रेरणा से अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं ? इसके उत्तर में आचार्य ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी व्याख्यान देतें हैं। इस प्रश्नोत्तर में सम्भवतः आचार्य के एक शिष्य की ही कल्पना है। उसी को वारंवार सम्बोधित करते हुए सारा भाषण दिया गया है। आचार्य के प्रति किसी शिष्य की उपनिषद् सम्बन्धी जिज्ञासा इस प्रकार उपनिबद्ध की गई है—'उपनिषदं भो ब्रूहीति।[1] उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन के अन्त में आचार्य कहता था—उक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।[2] उपनिषद् के प्रवचन में तत्सम्बन्धी उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया जाता था। इसके द्वारा व्याख्यान के विषय में विद्यार्थी की अभिरुचि जागरित की जाती थी। केनोपनिषद् में आचार्य ने अपने भाषण के अन्त में ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कहा है—इसको जानने वाला स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। कठोपनिषद् में आचार्य यम ने 'ओ३म्' की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि ओ३म् का बोध, जिसको हो जाता है, उसकी कामनायें पूरी हो जाती हैं। ओ३म् श्रेष्ठ आलम्बन है, इसको जानकर विद्वान् ब्रह्मलोक में पूज्य होता है।[3]

आचार्य और शिष्य में प्रवचन या व्याख्या का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आचार्य और अन्तेवासी के बीच प्रवचन सन्धान है। इसी से विद्या-सन्धि की उत्पत्ति होती है।[4]

---

१. महाशय, आप उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन दें।

२. उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन समाप्त हुआ, मैंने तेरे लिए ब्रह्म-विषयक उपनिषद् पर व्याख्यान दे दिया। केन उ० ४.७।

३. कठोपनिषद् १.२.१६-१७। इस उपनिषद् में विद्यार्थी नचिकेता और आचार्य यम के प्रश्नोत्तर संगृहीत हैं।

४. तै० उ० ३.३।

तत्कालीन आचार्य ब्रह्मज्ञान के गूढ़ रहस्यों को उपमा द्वारा सुबोध बनाते थे। आत्मा, शरीर, बुद्धि और मन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन पगहा है।[1] कभी-कभी आचार्य आध्यात्मिक रहस्यों का बोध कराने के लिए चाक्षुष कल्पना का अवलम्बन लेते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्मा के सम्बन्ध में प्रवचन देते समय जब देखा कि शिष्य की समझ में आध्यात्मिक रहस्य नहीं आ रहा है तो चाक्षुष कल्पना कराने के लिए उन्होंने वट के फल को टुकड़े-टुकड़े करवा कर समझाया। आचार्य और शिष्य का इस प्रसङ्ग में इस प्रकार वार्तालाप हुआ—

श्वेतकेतु—मुझे आप फिर समझायें।

आचार्य—ठीक है, तुम वट का एक फल लाओ।

श्वेतकेतु—यह है भगवन्।

आचार्य—इसको फोड़ो।

श्वेतकेतु—यह फोड़ा भगवन्।

आचार्य—इसमें क्या देख रहे हो?

श्वेतकेतु—नन्हें बीज, भगवन्।

आचार्य—इनमें से किसी एक को फोड़ो।

श्वेतकेतु—यह फोड़ा।

आचार्य—इसमें क्या देख रहे हो?

श्वेतकेतु—भगवन्, कुछ भी नहीं।

आचार्य—जिस अणिमा को तुम नहीं देख रहे हो, उसी अणिमा का बना हुआ यह महान् वट-वृक्ष है। सोम्य, श्रद्धा करो। आत्मा भी उसी प्रकार वह अणिमा है, जिससे यह सारा विश्व है। श्वेतकेतु, तुम भी वही हो।

श्वेतकेतु—भगवन्, आप मुझे फिर समझायें।[2]

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

२. छान्दोग्य० ६.१२। बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को ब्रह्मविषयक ज्ञान देने के लिए किसी सोये हुए मनुष्य के पास उसे ले जाकर जगाया और फिर गार्ग्य से पूछा—यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था, जब यह व्यक्ति सोया हुआ था? इस प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा शिक्षा दी गयी। बृ० उ० २.१.१६।

श्वेतकेतु की समझ में न आने पर अनेक उदाहरणों के द्वारा आचार्य ने उपर्युक्त विषय को दस बार समझाया।

ऊपर के इस व्याख्यान से प्रकट होता है कि आचार्य की वाणी मधुर होती थी। वह शिष्य का सम्बोधन करते हुए उसे 'सोम्य' कहता था और शिष्य आचार्य को 'भगवन्' कहता था। उपनिषदों में अन्यत्र भी आचार्य के शिक्षण में शिष्यों के उत्साह-संवर्धन का सफल प्रयास मिलता है। कठोपनिषद् में आचार्य ने शिष्य से कहा है—उठो, जागो, श्रेष्ठ आचार्यों को पाकर बोध प्राप्त करो?[१] प्रवचन के आरम्भ में आचार्य कभी-कभी ऐसे वाक्य कहता था—सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।[२] ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[३] (हम दोनों को यश और ब्रह्मवर्चस् साथ प्राप्त हों। हमारी साथ ही रक्षा करो, हम साथ पोषण प्राप्त करें, साथ ही बलशाली बनें, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर विद्वेष न करें।)

इस प्रकार की आचार्य और शिष्य की परस्पर भावनाओं और विचारों से अध्ययन करने के लिए उदात्त वातावरण बन जाता था।

आध्यात्मिक रहस्यों का चाक्षुष ज्ञान कराने के लिए शिष्य को उपवास तक करना पड़ता था। १५ दिन का उपवास करने पर श्वेतकेतु जब वेद-मन्त्रों को विस्मृत कर बैठा तो आचार्य ने उसे समझाया—मन अन्नमय है।[४] भृगु ने वारंवार तपस्या करके अन्त में ब्रह्म के स्वरूप को जाना। इस प्रकार शिक्षण-विधि में तप का महत्त्व था।[५]

आचार्य कभी-कभी विद्यार्थियों से प्रश्न पूछ कर उनकी शंकाओं का समाधान करते थे। अश्वपति ने अपने छः शिष्यों में से प्रत्येक से पूछा—तुम किसको आत्मा समझ कर उपासना करते हो? प्रत्येक का उत्तर सुनकर उसका विवेचन करके त्रुटियाँ बतला दीं।[६] अन्त में व्याख्यान किया।

उपनिषद्-युग में आचार्य का शिक्षण में विशेष महत्त्व था। अपने-आप सीखी

---

१. कठोप० ३.१४।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ३.१।

३. तै० उ० ब्रह्मानन्दवल्ली का आरम्भ।

४. छान्दोग्य० ६.७।

५. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली।

६. छान्दोग्य० ५.११-१८। बृहदारण्यक उ० ४.२.१ में याज्ञवल्क्य ने जनक से प्रश्न पूछा और उनके उत्तर न देने पर प्रवचन आरम्भ कर दिया।

हुई विद्या कच्ची समझी जाती थी।[1] फिर भी तत्कालीन शिक्षण को गौरवान्वित करने में जिज्ञासु विद्यार्थियों की ज्ञानपरायणता को प्रथम कारण कहा जा सकता है। आचार्य से जो कुछ श्रवण किया, उसे मनन और निदिध्यासन के द्वारा संवर्धित करके तदनुकूल व्यक्तित्व का विकास करने वाले ब्रह्मचारी महान् थे।

उपनिषद् का ज्ञान प्रारम्भ में वैयक्तिक निधि के रूप में विकसित हुआ। उस समय विभिन्न आचार्यों से शिक्षा पाने के लिए उत्सुक विद्यार्थी सदैव तत्पर रहते थे। जहाँ-कहीं ज्ञात हुआ कि कोई विद्वान् दर्शन के उच्च तत्त्वों का ज्ञान रखता है, झट विद्यार्थी उसके पास पहुँचकर उस नई वस्तु को सीख लेते थे। इस प्रकार उपनिषद्-ज्ञान का शिक्षण प्रायः यथावसर ही प्राप्त किया जा सकता था। जनक पहले से ही उपनिषद् के विद्वान् थे। स्वयं गृहस्थाश्रम का जीवन बिताते थे। उपनिषद् के आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य के आने पर उनके अभिनव ज्ञान का परिचय पाकर वे कहने लगे—नमस्कार। हे याज्ञवल्क्य, मुझे शिक्षा दीजिये। यह कह कर वे आसन से उठ पड़े।[2]

वैदिक संहिताओं के अध्ययन-अध्यापन की शैली प्रायः पूर्ववत् रही। आचार्य दो पद या अधिक पदों का उच्चारण करता था। पहला शिष्य उनमें से पहले पद की आवृत्ति करता था। फिर अन्य शिष्य शेष पदों को दुहराते थे। यदि सामासिक पद होते थे तो आचार्य केवल एक पद बोलता था। यदि आवश्यकता हुई तो आचार्य उच्चारण-विधि का निदर्शन करता था। इस प्रकार पूरा प्रश्न समाप्त हो जाता था। फिर सभी शिष्य उसको दुहराते थे।[3]

वैदिक शिक्षण-विधि का परिचय सूत्र-साहित्य में प्रायः मिलता है। 'इसके अनुसार अध्ययन करने के लिए आचार्य और शिष्य दोनों अग्निहोत्र के उत्तर ओर बैठते थे। आचार्य का मुंह पूर्व की ओर और शिष्य का पश्चिम की ओर होता था।

---

१. आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्टा प्रापति। छा० उ० ४.९.३ आचार्य का महत्त्व प्रायः सदा ही रहा है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य का आचार्यत्व न पाकर उनकी मूर्ति बना कर अपना काम चलाया। महाभारत आदिप० १२३.१२, १३। नारद के अनुसार तो —

पुस्तक-प्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भा इव स्त्रियः॥ पराशर-माधवीय भाग १, पृ० १४४।

२. बृहदारण्यक उ० ४.२.१।

३. ऋक्-प्रातिशाख्य पटल १५।

शिष्य आचार्य का पादाभिवन्दन करके अपने हाथ पर जल छिड़क कर दाहिना घुटना टेक कर बैठ जाता था। वह अपने हाथों से कुशों के मध्य भाग को पकड़ लेता था। आचार्य उन्हीं कुशों को सिरे पर बायें हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से उन पर पानी छिड़कता था।[1] इसके पश्चात् शिष्य के प्रार्थना करने पर आचार्य गायत्री मन्त्र से अध्यापन आरम्भ करता था।[2]

पढ़ते समय शिष्य आचार्य से न अधिक दूर और न अधिक निकट बैठता था। वह पलथी लगाकर नहीं बैठता था और पढ़ते समय सावधान होकर आचार्य की वाणी सुनने के लिए उत्सुक रहता था। बैठने के लिए वह हाथ से न तो भूमि का और न किसी अन्य वस्तु का सहारा लेता था। विद्यार्थी सदैव गुरु की ओर मुंह किये रहता था, चाहे गुरु उसकी ओर न भी देखता हो। यदि एक शिष्य होता था तो वह गुरु की दाहिनी ओर बैठता था। यदि अनेक शिष्य होते थे तो वे अपनी सुविधानुसार बैठ जाते थे।[3]

उपनिषदों की भाँति महाभारत में कई स्थलों पर आचार्यों के भाषण संगृहीत हैं। अध्यापन की साधारण शैली थी—शिष्यों का प्रश्न पूछना और आचार्य का पिता की भाँति उत्तर में व्याख्यान देना।[4] एक व्याख्यान की रूप-रेखा इस प्रकार है—आचार्य के पास उसके मेधावी शिष्य ने आकर सिर से प्रणाम करके कहा—हे विप्र, मैं निःश्रेयस-परायण होकर आपके समीप आया हूँ। आप कृपा करके बतायें श्रेय क्या है? मैं कहाँ से आया, आप कहाँ से और अन्य प्राणी कहाँ से उत्पन्न हुए? प्राणी कैसे जीते हैं? सत्य, तप, गुण, कल्याण-पथ, सुख, पाप आदि क्या हैं? इन प्रश्नों का वास्तविक उत्तर आपको छोड़कर कौन दे सकता है? 'हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ, मेरा परम कौतूहल है। लोकप्रसिद्ध है कि आप मोक्ष, धर्म और अर्थ में कुशल हैं। आपको छोड़कर कोई और सर्वसंशयच्छेत्ता नहीं है और हम लोग संसार में पुनर्जन्म से डरते हैं। हम मोक्ष चाहते हैं।' व्याख्यान की

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.८ के अनुसार कुश मेध्य (पवित्र) है। इसके परिधान से अपवित्र भी पवित्र बन जाता है। ७.३.२.३ के अनुसार इसका अग्रभाग दैवी है। शतपथ १.१.३.४-५ के अनुसार कुश उस पवित्र जल का प्रतीक है, जो वृत्र के मरे हुए शरीर से अपवित्र नहीं हुआ। इस प्रकार उसकी पावन शक्ति अक्षुण्ण है।

२. शांखायन गृह्यसूत्र २.७।

३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.२.६।

४. मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे॥आदि प० १४.२॥

उपर्युक्त भूमिका से हम तत्कालीन शिक्षण के वातावरण की कल्पना कर सकते हैं। उस आचार्य-महर्षि ने विद्यार्थी की जिज्ञासा को विधिवत् महत्त्व दिया और एक-एक प्रश्न का उत्तर प्राचीन महर्षियों की परम्परागत दार्शनिक विचार-धारा के अनुरूप समझाया।[1] आचार्य अपने ज्ञान को सर्वजनीन उपयोगिता का विषय बनाने के लिए यज्ञ-स्थलों में प्रवचन करते थे। व्यास इसी उद्देश्य से शिष्यों के साथ जनमेजय के यज्ञ में गये।

वैदिक शिक्षण-पद्धति में शिक्षा देने की भाषा में ब्रह्मस्वर की विशेष उपयोगिता मानी जाती थी। ब्रह्मस्वर है भाषण की स्पष्टता, सुबोधता, मंजुलता, श्रवणीयता, धाराप्रवाहशीलता, क्रमानुकूलता, गम्भीरता और उच्चता।[2] आचार्य के समान ही खड़े होकर, बैठकर, चलकर या सोकर उनसे प्रश्न पूछने की विधि थी। अन्यथा आचार्य का अपमान समझा जाता था।[3]

मनुस्मृति में शिक्षण-विधि की जो संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है, वह परवर्ती युग में आदर्श मान ली गई। इसके अनुसार उपनयन हो जाने के पश्चात् आचार्य शिष्य को आरम्भ में शौच, आचार, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासन आदि की शिक्षा देता था। अध्ययन आरम्भ करने के पहले नित्य विद्यार्थी हल्का वस्त्र पहन कर शास्त्रीय विधि से आचमन करता था।[4] वह आचार्य के चरण का स्पर्श करता था और हाथ जोड़कर बैठ जाता था।[5] अध्ययन आरम्भ करने के पहले आचार्य कहता था—अधीष्व भो। विद्यार्थी अध्ययन आरम्भ करने के पहले कहता था 'ओ३म्'। अध्ययन समाप्त करते समय भी विद्यार्थी 'ओ३म्' कहता था और अन्त में आचार्य के चरणों का दोनों हाथों से स्पर्श करता था।[6] शिष्यों के समक्ष मधुर और प्राञ्जल वाणी के माध्यम से सीख देने का विधान मनु ने नीचे लिखे श्लोक में दिया है—

> अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
> वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥२२.१५९

---

१. आश्वमेधिकपर्व अध्याय १६ से।

२. दीघनिकाय जनवसभसुत्त २.५

३. दीघनिकाय अम्बट्ठसुत्त १.३

४. आचमन के माध्यम से जल विद्यार्थी को निरलस और स्फूर्तिमान् बना देता था।

५. मनुस्मृति २.७१। पढ़ते समय हाथ जोड़कर' जो अंजलि बनाई जाती थी, उसका नाम ब्रह्माञ्जलि था।

६. मनुस्मृति २.६९-७४।

पाणिनि ने शिक्षण-विधि में पारायण-शैली का उल्लेख किया है। अर्थ समझे बिना पढ़ते जाने वाले विद्यार्थी का नाम पारायणिक था।[1] पाँच, सात या नव बार पढ़कर कण्ठाग्र करने की रीति थी। परीक्षा में उच्चारण करते समय एक, दो या तीन अशुद्धि करने वालों को क्रमशः ऐकान्यिक, द्वैयन्यिक तथा त्रैयन्यिक कहा जाता था।[2]

वैदिक मन्त्रों को दिन में पढ़ कर रात्रि में कुक्कुट के बोलने के समय उठ कर विद्यार्थी उसे दुहराते थे। उठने का समय लगभग चार बजे ब्राह्म मुहूर्त था। इसी में ब्रह्म (वेद) का पाठ हो सकता था।[3]

वैदिक साहित्य के साथ-साथ अन्य शास्त्रीय विषयों को कण्ठाग्र करने की रीति आज तक प्रचलित रही है, पर भारतीय साहित्य वैदिक काल के पश्चात् इतना विशाल हो गया कि कुछ गिने-चुने ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों को पुस्तकों से पढ़ने की प्रथा अपनायी गई। उस प्राचीन काल में पुस्तकों का अभाव था। न तो उस समय प्रेस थे और न कागज। ऐसी स्थिति में ग्रन्थों की यदि एक प्रति भी होती तो उसका पारायण होता था और उसको सुनने वालों की संख्या सैकड़ों तक जा पहुँचती थी। काव्य के ग्रन्थों और इतिहास-पुराणों का पठन-पाठन इसी प्रकार प्रचलित रहा। नाटकीय काव्यों का आनन्द रंग-मंच पर अभिनय के द्वारा सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो सकता था।[4] फिर भी उच्च कोटि के काव्य-ग्रन्थों को समग्र तथा पुराणेतिहास आदि को आंशिक रूप से कण्ठाग्र करने की रीति का भारत में लोप नहीं हुआ।

वैदिक अध्ययन का आरम्भ उपाकर्म-विधि से श्रावण की पूर्णिमा के दिन होता था। तब से लेकर पाँच मास तक अध्ययन चलता था। पौष की पूर्णिमा के दिन उत्सर्जन-विधि होती थी और उसी समय वेदों का अध्ययन समाप्त हो जाता था। वैदिक मन्त्रों की पवित्रता का ध्यान रखते हुए आवश्यक था कि शुद्ध मन से शुद्ध स्थान पर और शुद्ध समय में उनका पाठ किया जाय। प्राकृतिक वातावरण के अशान्त होने पर अनध्याय रहता था। समाज में किसी प्रकार की अशान्ति का कारण उपस्थित होने पर भी वेद-पाठ स्थगित रहता था। वैदिक काल में अनध्यायों

---

१. पाणिनि-सूत्र ५.१.७२।

२. पाणिनि-सूत्र ४.४.६३–६४।

३. गामणीचण्ड जातक २५७।

४. काव्य की दो कोटियाँ श्रव्य (सुनने योग्य) और दृश्य (देखने योग्य) इसी आधार पर प्रतिष्ठित हुईं।

की संख्या स्वल्प थी। सूत्र और स्मृति-युग में अनध्याय के दिनों और अवसरों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई।[1]

योग-दर्शन के शिक्षण में श्रुति, मनन, निदिध्यासन और निर्विकल्पक समाधि के क्रमशः उच्चतर सोपान माने जाते थे। यथा—

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्॥
विवेकचूडामणि ३६५॥

सातवीं शती की वैदिक शिक्षण-पद्धति का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है। वह लिखता है—आचार्य साधारण अर्थ की व्याख्या कर देते हैं और फिर भावार्थ और गूढ तत्त्व समझा देते हैं। वे विद्यार्थियों को कर्मण्य बना देते हैं और कुशलतापूर्वक उनको प्रगति के पथ पर अग्रसर कर देते हैं। वे आलसी और मन्दबुद्धि को भी कर्तव्यपरायण और प्रतिभाशाली बना देते हैं। यदि प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी किसी कारण से अध्ययन से विरक्त हो जाता था तो आचार्य उसको छोड़ता नहीं था, अपितु किसी न किसी प्रकार उसे अध्ययन में लगाये रख कर उसका अध्ययन सफलता से समाप्त करा देता था।[2]

ग्यारहवीं शती के भारत-यात्री अलबेरूनी ने तत्कालीन भारतीय शिक्षण के सम्बन्ध में लिखा है कि ब्राह्मण वेदों को बिना समझे ही पाठ करके कण्ठस्थ कर लेते हैं। एक से सुन कर दूसरा कण्ठस्थ करता है। ब्राह्मणों में वेदों का अर्थ ज़ानने वाले स्वल्प हैं। उन लोगों की संख्या तो और कम है, जिनका पाण्डित्य इतना बढ़ा हो कि वैदिक विषयों और उनकी टीकाओं पर धार्मिक विवाद कर सकें।[3]

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि प्राचीन वेदाध्ययन की परिपाटी चलती आ रही थी और साधारणतः सभी ब्राह्मण वेद के कुछ भाग कण्ठाग्र कर लेते थे, पर ऐसे उच्च कोटि के विद्वानों की कमी थी, जो वैदिक साहित्य के गूढ़ रहस्यों को जानते हों और उनका अध्यापन कर सकते हों। यह युग भारतीय शिक्षण के ह्रास का द्योतक कहा जा सकता है। इस युग में भी वेदों के लिखने का प्रचलन नहीं था।[4]

---

१. इस विवरण के लिए देखिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.३.९-१२। अनध्याय की विस्तृत सूची भी इसी प्रकरण में है।

२. वाटर्स : ह्वेनसांग भाग १, पृ० १६०।

३. अलबेरूनी का भारत, परिच्छेद १२, पृ० २९।

४. अलबेरूनी का भारत, परिच्छेद १२, पृ० ३० तथा परिच्छेद १, पृ० २९-३०।

ज्योतिष के अध्यापन में परिलेख या चित्रों का सहारा लिया जाता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों के भेद का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता कि बिम्ब की किस दशा से मोक्ष तथा ग्रास कितना होगा? इसके लिए चित्र द्वारा साक्षात्दर्शन कराया जाता था।[1] ग्रहों की कक्षाओं का ज्ञान कराने के लिए यन्त्रों का उपयोग किया जाता था।[2]

बौद्ध शिक्षण-पद्धति का आदर्श स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति का विवेचन करते हुए कहा है, 'जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः शनैः बढ़ती है, सहसा नहीं, हे भिक्षुओ, उसी प्रकार इस धर्म की शिक्षा शनैः शनैः होनी चाहिए, पद-पद चल कर ही अर्हत् बना जा सकता है।'[3] इस कथन से प्रतीत होता है कि विद्यार्थी या भिक्षु की योग्यता देखकर ही व्याख्यान का स्तर नियत होता था। गौतम ने शिष्यों को अपनी-अपनी भाषा में उपदेश ग्रहण करने का सरल मार्ग खोल दिया।

गौतम के शिक्षण में प्रासङ्गिक उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण और कथा का समावेश होता था। इनके द्वारा उनकी शिक्षा प्रायः सुबोध हो जाती थी। गौतम के नीचे लिखे व्याख्यान के अवतरण से उनके शिक्षण की कल्पना की जा सकती है—

गौतम बुद्ध ने शीशम के वृक्ष की कुछ पत्तियाँ तोड़कर, उन्हें हाथ में लेकर अपने शिष्यों से कहा—मेरे शिष्यो, तुम क्या सोचते हो, जो पत्तियाँ मेरे, हाथ में हैं, वे अधिक हैं अथवा जो वृक्षों पर हैं? शिष्यों ने कहा—जो थोड़ी सी पत्तियाँ आपके हाथ में हैं, वे उतनी नहीं हैं, जितनी वृक्षों पर हैं। गौतम ने समझाया—उसी प्रकार, हे शिष्यों, जो कुछ मैंने तुमसे बताया है, वह जितना मुझे ज्ञात है, उससे बहुत कम हैं और मेरे शिष्यो, वह सब मैंने क्यों नहीं बताया है? क्योंकि मेरे शिष्यों, तुम्हें उससे कोई लाभ नहीं होगा, उससे तुम्हारे व्यक्तित्व के विकास में कोई प्रगति नहीं होगी, उससे सांसारिकता की ओर से विमुख होकर कामनाओं के नियन्त्रण में कोई सहायता नहीं मिलती और न उससे शान्ति, ज्ञान, प्रकाश और निर्वाण आदि ही मिल सकेंगे। अतएव मैंने वह अतिरिक्त ज्ञान तुम्हें नहीं दिया।[4]

विद्यार्थी अपने पाठ के पूर्ण रूप से कण्ठाग्र हो जाने पर संघ के बीच में पाठ

---

१. सूर्यसिद्धान्त ६.१।
२. सिद्धान्त-शिरोमणि का गोलबन्धाधिकार।
३. चुल्लवग्ग, ९.१.४।
४. संयुत्त निकाय ५.४३७।

करते थे। इस प्रकार सारे संघ के लिए धर्मोपदेश की योजना बनी थी और पाठ करते-करते भिक्षुओं में आचार्य बनने की योग्यता आ जाती थी।[1]

गौतम ने अपने शिष्यों की जिज्ञासा को प्रखर बनाने की सदैव चेष्टा की और सदा के लिए बौद्ध शिक्षण में शिष्यों के तर्क और पर्यालोचन को प्रतिष्ठित कर दिया था। गौतम ने स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया—किसी वस्तु को सुनकर उसे स्वीकार न कर लो और न यही समझो कि यह सदा से लोक-प्रतिष्ठित परम्परा से सत्य ही है। कभी भी सहसा परिणाम न निकालो कि यह ऐसा ही है। इसलिए किसी कथन को सच न मान लो कि यह हमारी पुस्तकों में पाया जाता है और न इसी कल्पना के आधार पर किसी बात को सच मान लो कि यह स्वीकरणीय है और न इसी से सच मान लो कि यह आचार्य का कथन है। तभी किसी बात को सच मानो, जब स्वयं समझ लो कि यह कुशल है, अनवद्य है तथा सुख और हित के लिए है।

ईसवी शती के आरम्भिक युग की बौद्ध शिक्षण-पद्धति का एक आदर्श मिलिन्द-प्रश्न में मिलता है। इस पद्धति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से दैनिक जीवन की घटनाओं के सामञ्जस्य पर सूक्ष्म दार्शनिक तथ्यों के रहस्योद्घाटन का सफल प्रयास मिलता है। यह शैली सरस है और साथ ही पाठक के मन में सदैव उत्सुकता जागरित करके उसके मस्तिष्क को वस्तुओं के दार्शनिक पक्ष की ओर प्रवृत्त कर देती है।

फाह्यान ने लिखा है कि आचार्य मौखिक शिक्षा ही देते हैं। यद्यपि पुस्तकें उस युग में थीं, पर शिक्षा देने के लिए उनका उपयोग नहीं होता था।'[2]

जैन शिक्षण-पद्धति बौद्ध शिक्षण-पद्धति के प्रायः समान ही थी। जिस प्रकार बौद्ध शिक्षण का आदर्श गौतम ने प्रस्तुत किया था, उसी प्रकार जैन शिक्षण के प्रवर्तन का श्रेय महावीर को है। महावीर के कुछ व्याख्यानों के संग्रह अंग-साहित्य में मिलते हैं। महावीर के अनुसार 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं, वैसे ही शिष्यों को नित्य दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए।'[3] यदि शिष्य संक्षेप में कुछ नहीं समझ पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था, जिससे शिष्य की समझ में आ ही जाय। आचार्य अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे। वे अपने आचार्य

---

१. दद्दर जातक १७२ की वर्तमान कथा।

२. फाह्यान पृ० ७९।

३. आचारांग १.६.३.३।

से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं कहते थे।[१]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना सन्देह दूर करता था। विद्यार्थी वारंवार आवृत्ति करके अपने पाठ को कण्ठस्थ कर लेता था। फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था।[२] प्रश्न पूछने के पहले विद्यार्थी हाथ जोड़ लेता था।[३]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाँच अंग थे—वाचना (पढ़ना), पृच्छना (पूछना), अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन), आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा धर्मोपदेश (व्याख्यान देना)।[४]

भारतीय विद्यार्थियों की श्रमशीलता सदैव प्रसिद्ध रही है। वे आचार्य की सेवा तो दिन-रात करने को प्रस्तुत रहते ही थे, अध्ययन के लिए भी उनमें अदम्य उत्साह था। किसी एकान्त कोने में बैठकर दीप जलाकर पढ़ने और जब दीप का तेल समाप्त हो जाय तो उपले जलाकर प्रकाश कर लेने की रीति का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है।[५]

भारतीय शिक्षण-पद्धति की प्राचीन उच्चता का वर्णन करते हुए विवेकानन्द ने लिखा है—

Whatever India now holds as a proud possession, has been undeniably the result of such labour on the part of her worthy sons in days gone by; and the truth of this remark will become at once evident on comparing the depth and solidarity as well as the unselfishness and the earnestness of purpose of Indian ancient scholarship with the results obtained by our modern universities.[६]

---

१. सूयगडंग १.१४.२४-२७।

२. उत्तराध्ययन २९.१८ तथा १.१३।

३. उत्तराध्ययन १.२२।

४. वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः। तत्त्वार्थसूत्र ९.२५।

५. महाभाष्य ३.१.२६ पर भाष्य।

६. Complete Works Vol. IV, p. 219

अनुशासन

भारतीय शिक्षण में विद्यार्थी-जीवन तपोमय माना गया है। लोगों की धारणा रही है कि तप के द्वारा मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ ज्ञान की ओर प्रवृत्त हो सकती हैं। विद्या-प्राप्ति के मार्ग में सांसारिक बन्धन, भोग-विलास अथवा मनोरंजन को बाधक माना गया। 'ब्रह्मचर्य' शब्द उसी तपोमय जीवन का प्रतीक है।[1]

वैदिक अनुशासन

आचार्य के व्रत में रहकर व्यक्तित्व के विकास की योजना का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इसके अनुसार आचार्य के व्रत में रहने से विशुद्ध दृष्टि पाने की

---

१. ब्रह्मचर्य वह चर्य (जीवन-विधि) है, जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। महाभारत में ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में कहा गया है—'विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या। उद्योग ४४.२। वैदिक धारणा के अनुसार ब्रह्म वह ऐकान्तिक और मूल सत्ता है, जिससे विश्व की सृष्टि होती है। ब्रह्म में ही सारा विश्व प्रतिष्ठित है। वैदिक युग में व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास माना जाता था—ब्रह्म को उपर्युक्त दृष्टि से देखना और साथ ही ब्रह्म सम्बन्धी उपर्युक्त सत्य की अनुभूति करना। जो व्यक्ति यह अनुभूति कर लेता था, उसके सम्बन्ध में मान्यता होती थी कि उसका ब्रह्म से तादात्म्य हो चुका है। (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)। ब्रह्म की अनुभूति का प्रथम साधन था वेदों का अध्ययन। इस साधन को भी ब्रह्म माना गया और वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो जीवन-चर्या नियत हुई, उसे ब्रह्मचर्य कहा जाने लगा। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली २ के अनुसार 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व तपो ब्रह्मेति'। ब्रह्मज्ञान का साधन होने से तप को ब्रह्म कहा गया। ब्रह्म को जानने के दूसरे साधन स्वाध्याय और संयम हैं। इनको ब्रह्म-रूप में प्रतिष्ठित करते हुए विष्णु-पुराण में कहा गया है—

स्वाध्यायसंयमाभ्यां स दृश्यते पुरुषोत्तमः।
तत्प्राप्तिकरणं ब्रह्म तदेतदिति पठ्यते॥६.६.१

इस प्रकार गौण रूप से वेद, तप, स्वाध्याय और संयम को ब्रह्म माना गया और साध्य और साधन में अन्तर मिटता-सा गया। परिणामतः महाभारत में ब्रह्मज्ञान के साधन ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्म मान लिया गया—

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्॥

बौद्ध संस्कृति में ब्रह्मचर्य शब्द का ब्रह्म और वेद आदि से सम्बन्ध न रहा। ब्रह्मचर्य

संभावना होती है।[1] अपने व्रत के द्वारा ब्रह्मचारी देवताओं का अंग माना जाता था।[2] ब्रह्मचारी को समाज में सूर्य-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। अथर्ववेद के अनुसार सूर्य की भाँति ही प्रभा-सम्पन्न होकर वह अपने तप से देवताओं और आचार्यों को पूर्ण कर देता है। वह अपनी समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोकों को पूर्ण बनाता है। ब्रह्मचारी की दाढ़ी बढ़ी होती थी, वह भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाता था।[3] उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि विद्यार्थी-जीवन तपःप्रधान था एवं विद्यार्थी की रहन-सहन और वेशभूषा तपस्वियों के समान थी।

शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार आचार्य विद्यार्थी को शिक्षण के प्रथम दिन आदेश देता था—अपना काम करो, कर्मण्यता ही शक्ति है। अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि से तथा पवित्र ओजस्विता से समिद्ध करो, सोओ मत।[4] वैदिक ब्रह्मचर्य दीर्घ सत्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस यज्ञ का प्रतीक था नित्य का होम। तत्कालीन धारणा के अनुसार विद्यार्थी बनते समय ब्रह्मचारी के चार भागों में से तीन क्रमशः अग्नि, मृत्यु और आचार्य में प्रवेश करते हैं। चौथा भाग उसी में रह जाता है। वह इन भागों को समिधा लाकर अग्नि से, भिक्षा माँगकर मृत्यु से तथा सेवा करके आचार्य से पुनः प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व को पूर्ण कर लेता है।[5]

विद्यार्थी के तपोमय जीवन की रूप-रेखा स्पष्ट की गई थी। उसे धरातल पर सोना चाहिए था, उच्चासन पर नहीं। उसे संगीत, नृत्य और परिभ्रमण से दूर रहना चाहिए था। उसे ब्रह्मतेज का अभिमान नहीं करना चाहिए था और न ख्याति, निद्रा, क्रोध, आत्म-प्रशंसा, सौन्दर्य और सुगन्धि की कामना करनी चाहिए

का अर्थ इस संस्कृति में था अष्टाङ्गिक मार्ग। चुल्लवग्ग १०.१। जैन संस्कृति के अनुसार ज्ञान, दया और काम-विनिग्रह ब्रह्म हैं। इनमें प्रतिष्ठित होने वाला ब्रह्मचारी है। नीतिवाक्यामृत पृ० ६६। उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य का साधारणतः अर्थ 'पवित्र जीवन-विधि'। है।

१. ऋ० १.३१।

२. ऋ० १०.१०९.५।

३. अथर्ववेद ११.५।

४. शतपथ ११.५.४.५। सोओ मत का तात्पर्य परवर्ती उल्लेखों के अनसार गुरु के सोने पर सोना और उनके जागने के पहले उठ जाना है। इस प्रकार की निद्रा को सोना नहीं कहते। आपस्तम्ब गृ० सू० १.१.४.२८।

५. शतपथ ११.४.३.३।

थी।[१] विद्यार्थी के चारों ओर पवित्र वातावरण की कल्पना की गई थी। नियम था कि वह इधर-उधर न थूका करे और न श्मशान में जाय।[२]

विद्यार्थी के तपोमय जीवन की रूप-रेखा में उपनिषद्-काल में अतिशय विस्तार हुआ। इसके अनुसार तप और ब्रह्मचर्य पर्याय-से हो गये।[३] मौन, अनाशकायन (भोजन न करना), अरण्यायन (वन में रहना) आदि ब्रह्मचर्य के स्वरूप माने गये।[४] ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी के लिए पाप से विराग, चित्त की शान्ति, समिधा और जितेन्द्रियता आवश्यक गुण माने गये। तप, दम और कर्म को उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञान के लिए प्रधान साधन माना गया।[५] भृगु को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक बार तप करना पड़ा था।[६] इस युग में ब्रह्मचारी आचार्य की गौवें चराते हुए तथा आचार्य की अनुपस्थिति में बारह वर्ष तक हवन करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[७]

सूत्रयुगीन नियमों के अनुसार भिक्षा में प्राप्त अन्न को विद्यार्थी पहले आचार्य को दिखलाता था और उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं को खाता था। आचार्य के अनुपस्थित होने पर उसके कुटुम्ब के किसी सदस्य को अथवा अन्य किसी विद्वान् ब्राह्मण को दिखाकर उसकी अनुमति से ही भोजन किया जा सकता था।[८] विद्यार्थी अपनी थाली में कुछ भी नहीं छोड़ता था और भोजन कर लेने के पश्चात् थाली को धो देता था।[९] उसके लिए मधु और मांस-खाने का निषेध था।[१०] खाते समय पास में जल रखने का नियम था। शनैः शनैः भोजन करने का विधान था और भोजन के समय मौन, सन्तोष और निर्लोभ वृत्ति की आवश्यकता निर्धारित की गई थी।[११] बौधायन ने विद्यार्थियों को यथेच्छ मात्रा में भोजन करने का आदेश दिया है।[१२]

---

१. गोपथ ब्राह्मण २.५–७ तथा २.१-९।

२. गोपथ० २.५-७।

३. प्रश्नोपनिषद् १.२।

४. छान्दोग्य० ८.५।

५. कठोप० २.२४, मुण्डको० १.२.१३, केनोप० ४.८।

६. तै० उ० भृगुवल्ली।

७. छान्दोग्य० ५.४.५।

८. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.३.३१-३५।

९. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.३.३७-३८।

१०. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.४.६ तथा गौतम ध० सू० २.१३।

११. गौ० ध० सू० २.४१।

१२. बौधायन २.७.३१-३३।

विद्यार्थी को आचार्य के घर में रहना पड़ता था। वह अन्यत्र नहीं रह सकता था। वह दिन में नहीं सो सकता था। रात्रि में ब्राह्म मुहूर्त में जग कर अपना नाम लेकर आचार्य को प्रणाम करता था। प्रातःकालीन भोजन के पहले वह गाँव के सभी वृद्ध ब्राह्मणों को नमस्कार करता था।[1] सोने के पहले विद्यार्थी आचार्य के चरण को धोता था और उसकी आज्ञा लेकर सोने जाता था। सोते समय वह अपना पैर आचार्य की ओर नहीं करता था। विद्यार्थी स्वयं बैठे हुए कभी आचार्य से प्रश्न नहीं पूछता था। यदि आचार्य खड़े होकर प्रश्न पूछते थे तो वह भी स्वयं खड़ा होकर उत्तर देता था। वह चलते समय आचार्य के पीछे-पीछे रहता था या दौड़ता था। वह आचार्य के समीप कभी जूते पहन कर या सिर ढके हुए या हाथ में कुछ भर कर नहीं जाता था। आचार्य के समीप विद्यार्थी सावधान-चित्त होकर बैठता था और उसकी वाणी को अतिशय ध्यानपूर्वक सुनता था। वह बैठते समय ध्यान रखता था कि मुझसे होकर वायु आचार्य की ओर तो नहीं जा रही है।[2]

विद्यार्थी के लिए नित्य स्नान, सन्ध्या और समिधाधान धार्मिक जीवन के प्रमुख अंग थे। उसका स्नान साधारण होता था। स्नान करने के पश्चात् वह सन्ध्या करता था। स्नान करते समय जल-क्रीडा और तैरने के मनोरंजन निषिद्ध थे।[3] शरीर का संस्कार विद्यार्थी के लिए केवल स्नान-विधि तक ही सीमित था। उसके लिए गन्ध और अलंकारों का उपयोग पूर्ण रूप से निषिद्ध था। वह केशों का एक गुच्छा बना कर सिर पर बाँध लेता था अथवा सिर पर शिखा छोड़कर शेष केश का मुण्डन करा देता था।[4] वह पेड़-पौधों के पत्तों और फूलों को सूँघने के लिए नहीं तोड़ता था। वह जूते, छाते, रथ आदि भोग-विलास की वस्तुओं का कभी उपयोग नहीं करता था।[5]

विद्यार्थी दण्ड (लाठी) धारण करते थे। इस दण्ड का विद्यार्थी-जीवन में उपयोग था। लाठी लेकर वह आचार्य की गायें चरा सकता था। उसके बल पर अन्धकार में चल सकता था अथवा जल में प्रवेश कर सकता था। आश्वलायन ने नियम बनाया है कि दण्ड देखने में सुन्दर और सीधा होना चाहिए और आग से

---

१. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२.११, १७, २४; १.२.५.१२-२२।
२. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.६.१-१७।
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.२.३०।
४. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२.२५, २७, ३१, ३२ तथा गौतम ध० २.१३।
५. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.७.४-५।

जला न होना चाहिए।[१] विद्यार्थी के लिए नियम था कि वह दण्ड को सदैव सुरक्षित रखे।

विद्यार्थी के साधारणतः दो परिधान होते थे—उत्तरीय और वास। सनातन परम्परा के अनुसार उत्तरीय विभिन्न वर्ण के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न पशुओं के चर्म के बने होते थे। समय-समय पर कम्बल भी उपयोग में लाया जा सकता था।[२] उत्तरीय यज्ञोपवीत की भाँति बायें कन्धे के ऊपर से होते हुए दाहिनी बाँह के नीचे रखकर धारण किया जाता था। उत्तरीय को सदा पहनना आवश्यक नहीं था। वास से कटि-प्रदेश के नीचे वह अवश्य ढका रहता था।[३]

सूत्रयुगीन विद्यार्थी नाच-तमाशे और भीड़-भाड़ से दूर रहता था। वह गप्प में अपना समय नहीं लगाता था। वह सदैव अपनी शक्ति और समय का विचारपूर्वक उपयोग करता था। वह स्त्रियों से केवल अपनी आवश्यकता भर की बात कर सकता था।[४] विद्यार्थी कभी हँसता नहीं था। यदि उसे कभी हँसना ही पड़ता तो हाथ से मुँह ढक लेता था। वह स्त्रियों के सम्पर्क में नहीं आता था और उनके लिए मन में किसी प्रकार की कामना नहीं लाता था।[५] स्वाध्याय या वेदाध्ययन को तप माना गया है।[६] ऐसी परिस्थिति में तप के साथ मनोरंजन को स्थान कैसे मिल सकता था?

विद्यार्थी को क्षमाशील, जितेन्द्रिय, अथक परिश्रमी, कर्तव्यपरायण, विनयी, कर्मण्य, आत्मविजयी, स्फूर्तिशील, क्रोधरहित और ईर्ष्यारहित होना चाहिए था।[७] उसके लिए आत्म-प्रशंसा, पराक्षेप आदि दुर्गुण सर्वथा परित्याज्य माने जाते थे।[८] उसे कभी कटु भाषण नहीं करना चाहिए था। उसके लिए नियम बना था कि जिह्वा, बाहु तथा पेट पर संयम रखे।[९] आचार्य से पूछे बिना विद्यार्थी कभी उनसे

---

१. आश्व० १.१९-२३।

२. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.३-९।

३. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२.३८।

४. आपस्तम्ब ध०सू० १.१.३.११-१६। गौतम ध० सू० २.१३ में नृत्य, संगीत, परनिन्दा, भीरुता आदि को भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य बतलाया गया है।

५. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.७.६-१०।

६. तैत्तिरीय आरण्यक २.१४.३; मनुस्मृति २.१६६।

७. आपस्तम्ब ध०सू० १.१.३.१७-२४।

८. आपस्तम्ब ध०सू० १.२.७.२४।

९. गौतम ध०सू० २.१९, २२।

बात नहीं करता था। वह कभी आचार्य का स्पर्श नहीं करता था और न उनके साथ कानाफूसी करता था। आचार्य के समक्ष हँसना, उन्हें आदेश देना, उनका नाम लेना आदि काम विद्यार्थी के लिए निषिद्ध थे। घोर आवश्यकता पड़ने पर ही वह इन उपायों से आचार्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता था।[1] गौतम ने जँभाई लेने और उँगली चटकाने आदि का निषेध किया है।[2]

ब्रह्मविद्या के लिए त्वरा और हर्ष को बाधक माना गया। ब्रह्मचारी के आचार-व्यवहार को चार चरणों में विभक्त किया गया। आचार्य का नित्य अभिवादन तथा पवित्र और प्रमाद-रहित होकर मान और रोष को छोड़ देना प्रथम पाद है। द्वितीय पाद के अनुसार मन, वचन और कर्म द्वारा प्राण और धन से भी आचार्य का प्रिय करना चाहिए। आचार्य के उपकार का सदैव ध्यान रखते हुए और अपने संवर्धन के लिए आचार्य का उपकार मानते हुए विद्यार्थी का प्रसन्न मन से आचार्य का सम्मान करना तृतीय पाद है। समावर्तन के समय आचार्य का प्रत्युपकार करना और तब भी यह न समझना कि मैं कुछ कर रहा हूँ, चतुर्थ पाद है।[3] ब्रह्मचारी के लिए छः कर्म नियत किये गये—सन्ध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथि-पूजन।[4] विद्यार्थी आचार्य के घर में रहते हुए सबके सो जाने पर सोये और सबसे पहले उठे। वह उठते ही शिष्य और दास के करने योग्य सभी कामों को स्वयं करे। उसे सभी घरेलू कामों को करने में दक्ष होना चाहिए था। वह अपने व्यवहार में सबके प्रति उदार होता था, किसी के प्रति आक्षेप नहीं करता था और पवित्र एवं मृदुभाषी होता था। वह सभी वस्तुओं की ओर जितेन्द्रिय की दृष्टि से देखता था। वह आचार्य के खाने-पीने, उठने-बैठने और सोने के पश्चात् ही स्वयं खाता-पीता, उठता-बैठता या सोता था। वह अपने हाथ को उत्तान करके गुरु के चरणों का स्पर्श करता था।[5] गन्ध-रसादि का वह सेवन नहीं करता

---

१. गौ० ध० सू० १.२.८.१४-१६।

२. गौतम ध०सू० २.१५।

३. महाभारत उद्योग पर्व ४४.८–१०।

ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम्।
येनाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान्॥

आदिपर्व ७१.५१।

४. महा० शान्तिपर्व ६१.२१।

५. दाहिने हाथ से दाहिना पैर और बायें हाथ से बायाँ पैर स्पर्श करने की रीति थी। महा० शान्तिपर्व २३४.२२।

था।[१] प्रश्न पूछते समय विद्यार्थी औचित्य का ध्यान रखता था। वह स्वयं गुण-सम्पन्न, शान्त और प्रियंकर होता था और नित्य आचार्य के साथ छाया की भाँति बना रहता था।[२] अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा के लिए भी विद्यार्थियों को तपोमय जीवन अपनाना पड़ता था और रौरवाजिन धारण करना पड़ता था।[३]

महाभारत में कुछ शिष्यों की कर्तव्यपरायणता का उल्लेख मिलता है। आरुणि को आचार्य ने खेत की मेंड़ बाँधने के लिए भेजा था। इस प्रयास में असफल होने पर वह स्वयं उस स्थान पर लेट गया, जहाँ मेंड़ बननी चाहिए थी और वहाँ से तभी उठा, जब आचार्य ने आकर उसे बुलाया। आरुणि ने उठते ही कहा—आज्ञा दीजिए भगवन्, अब और क्या करूँ।[४] उपमन्यु पूरे दिन गुरु की गायें चराता था और भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाता था। आश्रम में रहते हुए उसे घनघोर कष्ट का सामना करना पड़ा।[५] गौतम के शिष्य उत्तंक ने अपने व्रतों से आचार्य को इतना प्रसन्न कर लिया था कि आचार्य उसके गृहस्थ बनने की बात ही मन में नहीं लाते थे। वह वहीं वृद्ध हो चला। आचार्य के लिए वह वन से काठ तक लाता था। उत्तंक ने स्वयं आचार्य से एक दिन निवेदन किया—'आप ही में मेरा मन लगा रहा। आपका मैं प्रिय करता रहा। आप में मेरी भक्ति बनी रही। आपके ही भावों में मैं रँगा रहा। मुझे वृद्धावस्था का आना ज्ञात तक न हुआ। मैंने सुख नहीं जाना'।[६] महाभारत के अनुसार अभिमान छोड़कर पढ़ने में ही कल्याण है।[७]

विद्यार्थी-जीवन के अनुशासन के सम्बन्ध में मनु की योजना सर्वोपरि प्रतिष्ठित मानी जा सकती है। उन्होंने विद्यार्थी के भोजन, वस्त्र, मेखला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु आदि के विषय में विस्तृत नियम बनाये हैं। मनु का स्पष्ट विचार है कि जिसके भाव दूषित होते हैं और जो इन्द्रियों के विषयों के चक्कर में पड़ा है, वह वेद का अध्ययन नहीं कर सकता है। इन्द्रियों के अनुभवों से जिसे हर्ष और विषाद नहीं

---

१. महा० शान्तिपर्व २३४ वाँ अध्याय।
२. महा० आश्वमेधिक पर्व ३५.१०।
३. महा० आदिपर्व १२२ वाँ अध्याय, सभापर्व ४.२८।
४. महा० आदिपर्व ३.१९-२४।
५. महा० आदिपर्व ३.३३-५९।
६. महा० आश्वमेधिक पर्व ५५.१५-१६।
७. अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चास्य तद्ब्रह्मफलं ददाति॥
आदिपर्व ८५.२३-२४।

होता, वही जितेन्द्रिय है। जितेन्द्रिय होकर ही विद्या प्राप्त की जा सकती है। विद्यार्थी को मनु के अनुसार नित्य समिधा से हवन करना चाहिए था और पृथ्वी पर सोना चाहिए था।[1] विद्यार्थी को सदैव अपने तप का संवर्धन करना चाहिए, स्नान करने के पश्चात् देवता, ऋषियों और पितरों का तर्पण करना चाहिए। उसे मधु, मांस, गन्ध, विलेपन, माला, रस, स्त्री, सिरका, आसव आदि का परित्याग करना चाहिए और प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। मनु के नियमों के अनुसार चलने वाला विद्यार्थी शरीर का अनुलेपन नहीं कर सकता था, आँखों का सौंदर्य काजल से नहीं बढ़ा सकता था और न छाता या जूता धारण कर सकता था। वह सभी प्रकार के मनोरंजनों से दूर रहता। निन्दा, असत्य और कलह से दूर रहता था। वह स्त्रियों की ओर देखता तक नहीं था। आचार्य की पूजा का प्रबन्ध करने के लिए वह जल-कलश, पुष्प, गोबर, मिट्टी, कुश आदि सामग्री ला देता था। गुरु के समीप, वह अन्न, वस्त्र और वेश की दृष्टि से हीन रहता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता था।[2]

मनु ने नियम बनाया कि शिष्य आचार्य का नाम न ले। वह आचार्य के भाषण और चेष्टाओं का अभिनय न करे। यदि कहीं गुरु की निन्दा होती हो तो वहाँ कान बन्द कर ले या अन्यत्र चला जाय। गुरु की पूजा निकट से करनी चाहिए और उनके निकट होकर अपनी बात सुनानी चाहिए। गाड़ी, कोठा, चटाई, चट्टान, फलक और नाव पर गुरु के साथ बैठा जा सकता था, अन्यत्र नहीं।[3]

ब्रह्मचारी के केश का मुण्डन हो सकता था अथवा वह सिर पर जटा रख सकता था या शिखामात्र की जटा बना सकता था। यदि सूर्योदय के समय तक वह सोया रहता था तो उसे दिन भर जप करते हुए उपवास करके आत्मशुद्धि करनी पड़ती थी। यदि सूर्यास्त के समय ब्रह्मचारी सोया रहता था तो उसे प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धि करनी पड़ती थी। नियम था कि दोनों संध्याओं के समय आचमन करके यम-नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर पवित्र प्रदेश में बैठ कर वह यथाविधि उपासना करे।[4]

---

१. मनुस्मृति २.४४-१२१।

२. मनुस्मृति ३.१७५-१९४। क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने के अधिकारी नहीं थे।

३. मनु० २.१९५-२०५।

४. मनु० २.२१९-२२९।

क्षत्रिय ब्रह्मचारी की सनातन रूप-रेखा का वर्णन भवभूति ने उत्तररामचरित में इस प्रकार किया है—

चूडाचुम्बितकंकपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥४.२०

(लव की पीठ पर दोनों ओर तूणीर थे, जिसमें रखे हुए बाण उसकी चूड़ा से चुम्बित हो रहे थे। भस्म की रेखा से बनाये हुए पवित्र चिह्न वाली छाती पर मृगचर्म का आवरण था। मँजीठ रंग की धोती मूर्वा की मेखला से नियन्त्रित हो रही थी। उसके हाथों में अक्षसूत्र की माला वाला धनुष और पिप्पल का दण्ड था।)

अपराध करने वाले विद्यार्थियों को साधारण दण्ड देने की रीति थी। डाँटने-फटकारने के अतिरिक्त शारीरिक दण्ड देने का विधान भी था। आर्थिक दंड नहीं दिये जाते थे। अतिशय शीतल जल से नहलाना भी दण्ड रूप में नियत था। गौतम ने लिखा है कि कठोर दण्ड देने वाला आचार्य दण्डनीय है। महाभाष्य में वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ करते समय अशुद्धि करने पर चपेटा जड़ देने की रीति का उल्लेख मिलता है। राजकुमारों तक की बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था।[1] ऐसे विद्यार्थियों को समावर्तन के अवसर पर भी आचार्य कहने से नहीं चूकते थे—तात, तू कठोर, परुष तथा दुस्साहसी है। ऐसे लोगों का सब समय एक-सा नहीं होता। वे महादुःख और महाविनाश को प्राप्त होते हैं। तू कठोर मत हो। ऐसा मत कर, जिससे पीछे पछताना पड़े।[2]

बौद्धानुशासन

बौद्ध-शिक्षण पद्धति के अनुशासन में प्रायः सर्वत्र मध्यमा प्रतिपदा दृष्टिगोचर होती है। गौतम बुद्ध ने स्वयं तप करके देख लिया था कि शरीर को कष्ट देने वाले तप के द्वारा ज्ञान का प्रकाश और शान्ति का मिलना सम्भव नहीं है। गौतम ने देव-पूजा, पितृ-तर्पण, सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड-विधियों को भी निःसार

---

१. तिलमुट्ठिजातक २५२।
२. चुल्लनन्दिय जातक २२२।

बतलाया।[1] गौतम ने विद्यार्थियों के जीवन के आचार-व्यवहार की जिस पद्धति को निरूपित किया, उसमें शरीर को कष्ट देने वाले व्यवहार नहीं दिखाई पड़ते। गौतम ने शरीर को स्वस्थ रखने वाले सभी उपादानों को संग्रह करने का नियम बनाया, पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी कि भोग-विलास की वस्तुओं का परित्याग करना ही पड़ेगा। शरीर को कष्ट देना और भोग-विलास में पड़ना दोनों ही विद्यार्थी के ज्ञान-मार्ग में समान रूप से बाधक हैं।[2]

गौतम के समय से शरणत्रय और दश-शिक्षापद नामक व्रत भिक्षुओं को आरम्भ से ही लेने पड़ते थे। शरणत्रय के अनुसार भिक्षु बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता था। इन व्रतों के ग्रहण करने का अभिप्राय है कि बौद्ध भिक्षु के लिए गौतम के जीवन के आचार-व्यवहार आदर्श थे और गौतम के व्यक्तित्व की छाप भिक्षुओं पर पड़ती थी। धर्म की शरण लेना पवित्र जीवन का द्योतक है। संघ की शरण में जाने का तात्पर्य था, इस प्रकार आचार-व्यवहार रखना कि संघ की प्रतिष्ठा रहे और किसी प्रकार उसकी सुव्यवस्था में गड़बड़ी न हो।

दश-शिक्षापद में अहिंसा व्रत को सर्वोच्च स्थान मिला। इसके पश्चात् किसी के द्वारा दी हुई वस्तु न लेना, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्य बोलना, मादक द्रव्यों का सेवन न करना, समय पर ही भोजन करना, नृत्य-गीत आदि कौतुकों से अलग रहना, गन्ध-माला-विलेपन-आभूषण आदि के द्वारा शरीर का अलंकरण न करना, ऊँची या बड़ी शय्या पर न सोना, स्वर्ण-रजत आदि धातुओं को न लेना आदि विधान हैं। ये सभी नियम प्रायः वैदिक शिक्षण-पद्धति के अनुरूप हैं।

दश-शिक्षापद नकारात्मक विधान है। प्रायः इन्हीं का समन्वयात्मक और साक्षात् विधान अष्टांगिक मार्ग में मिलता है। अष्टांगिक मार्ग है— दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् अर्थात् पूर्ण और विशुद्ध होना।[3] इनके अतिरिक्त भिक्षुओं के

---

१. गौतम ने कहा है—मैं यह दारुदाह छोड़ कर अपनी आभ्यन्तर ज्योति जलाता हूँ। नित्य अग्नि वाला और नित्य एकान्त चित्त वाला होकर मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हूँ। यही सच्ची शुद्धि है। बुद्धचर्या भरद्वाज सुत्त।

२. महावग्ग १.१.७।

३. कुशल और अकुशल को जानना सम्यक् दृष्टि है। संसार को छोड़ने का विचार सम्यक् संकल्प है। सत्य, मधुर एवं सबको अच्छी लगने वाली बातें कहना सम्यक् वाणी है। हिंसा, अदत्तादान आदि से अलग रहना सम्यक् कर्मान्त है। दोषमयी जीविकाओं से बचना सम्यक् आजीव है। अपनी शक्तियों का सदुपयोग

लिए सप्तरत्नों की प्रतिष्ठा की गई थी।[1]

भिक्षु के लिए नियम था कि वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर संयम रखे और सभी विषयों के प्रति अनासक्त हो। उसे अध्यात्मरत होना चाहिए। भिक्षु को चिन्तन करके बोलना चाहिए। वह संसार की किसी वस्तु के प्रति ममता न रखे। यदि उसकी कोई वस्तु चली जाय तो उसे शोक नहीं होना चाहिए। संसार के सभी प्राणियों के प्रति वह मैत्री-भावना विकसित करे। उसे सदैव संसार की दुःखमयता का ध्यान रखना चाहिए। उसे अकेले रह कर चित्त शान्त करके लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करना चाहिए। ऐसे भिक्षु का चित्त प्रांजल और शान्त होता था।[2]

सांघिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए गौतम ने निर्देश किया है—भिक्षुओ, पशु भी परस्पर प्रेम, आदर और विश्वास के साथ रहते हैं। तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिए कि तुम्हारा प्रकाश तुम्हारे आगे शोभा पाये। तुमने इसीलिए संसार छोड़ा और उत्तम आचार की शिक्षा ग्रहण की। अपने से बड़ों को प्रणाम करना, उनका आदर करना, उन्हें आसन देना तथा भोजन एवं पान प्रस्तुत करना चाहिए।[3]

गौतम ने अपने जीवन-काल में भिक्षुओं के उत्तरदायित्व को समझते हुए उन्हें कुछ छूट दी। उन्होंने निर्देश किया—यदि भिक्षु चाहे तो वन में रहे या गाँव के पड़ोस में बसे। वह भिक्षा माँग कर खाये या उपासकों का निमन्त्रण स्वीकार करे। चाहे चीथड़े पहने या उपासकों का दिया हुआ वस्त्र दान

सम्यक् व्यायाम है। वस्तु-स्थिति का सच्चा आकलन सम्यक् स्मृति है। चित्त की एकाग्रता सम्यक् समाधि है।

१. सप्तरत्न इस प्रकार हैं—चार स्मृति के उपस्थान—शरीर, वेदना, चित्त और धर्म के प्रति जागरूक रहना। चार सम्यक् प्रधान—सद्गुणों का संरक्षण, अलब्ध गुणों का उपार्जन, दुर्गुणों को छोड़ना और उनसे बचना।

चार ऋद्धियाँ—दृढ़ संकल्प, उद्योग, उत्साह, आत्मसंयम।

पाँच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, समाधि, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा।

पाँच बल—श्रद्धा, समाधि, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा का बल।

सात बोध्यंग—स्मृति, धर्म-प्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्नब्धि, समाधि, उपेक्षा।

अष्टांगिक मार्ग—देखिए पादटिप्पणी ३ पृष्ठ २२५

२. धम्मपद भिक्खुवग्ग।

३. चुल्लवग्ग ६.६.४।

में ग्रहण करे। वह चाहे तो वर्षाकाल को छोड़कर आठ मास तक वृक्ष के नीचे ही सोये।[1]

भिक्षाटन सम्बन्धी नियम सोच-विचार कर बनाये गये थे। भिक्षु को विधिवत् वस्त्र पहन कर गाँव में प्रवेश करना चाहिए। किसी घर में भिक्षु का आना और वहाँ से जाना शालीनतापूर्वक होना चाहिए। उसे वहाँ न तो देर तक रुकना चाहिए और न शीघ्रता करनी चाहिए और न तो बहुत समीप ही और न बहुत दूर ही खड़ा होना चाहिए। उसको समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि लोग भिक्षा देना चाहते हैं कि नहीं। यदि गृहिणी आसन से उठकर चम्मच धोती हुई या थाली धोती हुई दिखाई देती तो वह समझ लेता था कि भिक्षा मिलने वाली है। भोजन लेते समय उसे अपनी संघाटी (उत्तरीय) को बायें हाथ से उठा लेना चाहिए, जिससे उसका पात्र दिखाई पड़े। दोनों हाथों में पात्र लेकर उसमें भोजन लेना चाहिए। भोजन देने वाली स्त्री के मुँह की ओर नहीं देखना चाहिए। यदि चटनी मिलने की आशा हो तो रुके, अन्यथा पात्र को चीवर से ढक कर धीरे-धीरे सावधानी से लौट चले।[2]

भिक्षा माँग कर जो भिक्षु सबसे पहले लौटता था, उसे विहार के सभी भिक्षुओं के लिए आसन, जल, पाद-पीठ, तौलिया आदि की व्यवस्था यथास्थान करनी पड़ती थी, जिससे सभी के लिए आते ही आते भोजन करने की सुविधा प्राप्त हो सके। भोजन के पश्चात् भोजनशाला की स्वच्छता तथा आसन और पाद-पीठ आदि को यथास्थान रखने का काम अन्त में आने वाले भिक्षुओं को करना पड़ता था।[3]

वन में रहने वाले भिक्षुओं को गौतम ने आदेश दिया कि तुम्हें समय पर उठकर थविका (झोले) में पात्र रख कर, कन्धे पर टिका कर, उत्तरीय को ठीक से ओढ़ कर, और चट्टी पहन कर अपने बर्त्तनों को ठीक-ठिकाने रखना चाहिए। तुम्हें पीने का पानी, हाथ-पैर धोने का पानी, आग आदि दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रखना चाहिए।[4]

---

१. चुल्लवग्ग ७.३.१५।

२. चुल्लवग्ग ८.५।

३. चुल्लवग्ग ८.५, महापरिनिब्बानसुत्त में गौतम ने यही शिक्षा दुहराई है।

४. चुल्लवग्ग ८.६.२.३। गौतम ने यह नियम उस परिस्थिति में बनाया जब कुछ वनवासी भिक्षुओं को चोरों ने आग, पानी आदि न दे सकने पर समझा कि ये भिक्षु नहीं हैं।

भिक्षुओं के पास साधारणतः तीन वस्त्र—संघाटी, अन्तरवासक और उत्तरासंग पहनने के लिए होते थे। संघाटी दो तथा अन्तरवासक और उत्तरासंग एक-एक उपयोग में लाये जा सकते थे। उत्तरासंग गले से लेकर घुटने तक लटकता था और वैदिक उत्तरीय के समकक्ष होता था। संघाटी लुंगी की भाँति पहनी जाती थी। इसको कमर पर स्थिर रखने के लिए कपड़े की पट्टी से बाँधते थे। इस पट्टी का नाम कायबन्ध था। अन्तरवासक बनिआइन की भाँति पहना जाता था।[1] इनके अतिरिक्त जल छानने के लिए और मुँह पोंछने के लिए कपड़े होते थे और कपड़े का बना झोला होता था।[2] प्रावार नामक वस्त्र पूरे शरीर को ढकने के काम में आता था।[3]

आरम्भ में भिक्षु परित्यक्त वस्त्र को अपना कर उसी से अपना काम चलाते थे। श्मशानों से पंसुकूल नामक वस्त्र लाकर पहनते थे। आगे चलकर उपासक-गृहस्थों से दान में प्राप्त वस्त्रों को अपने उपयोग में लाने का नियम स्वयं गौतम बुद्ध ने बनाया।[4] भिक्षुओं के वस्त्र रँगे होते थे। रंग वृक्षों और लताओं की जड़, तना, छाल, पत्ते, फूल और फलों से बना लिये जाते थे।[5]

बौद्ध संस्कृति में स्नान की सुव्यवस्था थी। विहारों में उष्ण स्नान करने के लिए स्नानागार बने हुए थे। उस कमरे में आग जलती थी। भिक्षु स्वयं उस कमरे को स्वच्छ कर लेते थे। स्नानागार में विविध प्रकार के चूर्ण, पानी से भीगी मिट्टी और घड़ों में जल रखा रहता था।[6]

बौद्ध भिक्षु प्रायः इधर-उधर भ्रमण करते थे और योग्य आचार्यों को पाकर कहीं भी अध्ययन करने लगते थे। ऐसी परिस्थिति में प्रवासी भिक्षुओं की सुविधा के लिए गौतम बुद्ध ने स्वयं नियम बनाये थे।

जब प्रवासी भिक्षु को किसी आराम में प्रवेश करना होता था तो वह अपना जूता उतार कर, उसे साफ करके, अपने वस्त्रों को अच्छी प्रकार पहन कर सावधानी से धीरे-धीरे भीतर आता था। जहाँ-कहीं भी आराम में अन्य भिक्षु गये होते थे, वहाँ जाकर वह एक ओर पड़े हुए आसन पर बैठ जाता था। वह हाथ-पैर धोने के लिए पानी के विषय में पूछ लेता था कि कहाँ रखा है। प्यास होने

---

१. महावग्ग ८.१३; ५.२९।

२. महावग्ग ८.२०।

३. महावग्ग ८.१.३६।

४. महावग्ग ८.१.३५; ८.४.१।

५. महावग्ग ८.१०।

पर पानी पी लेता था। फिर वह अपने जूते को सूखे कपड़े से और तत्पश्चात् गीले कपड़े से पोंछ लेता था और उन कपड़ों को धोकर एक ओर फैला देता था। वह अपने रहने के लिए कमरे की सूचना प्राप्त कर लेता था और उस स्थान का परिचय प्राप्त कर लेता था, जहाँ से उसे भिक्षा प्राप्त हो सकती थी। वह अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का परिचय प्राप्त कर लेता था। यदि भिक्षु को कोई रिक्त विहार मिलता तो वह उसके द्वार पर पहले खटखटाता था। थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वयं द्वार खोलता था। द्वार पर खड़े होकर झाँकता था। भीतर प्रवेश करने पर यदि उसे विहार धूलि-धूसरित मिलता तो वहाँ की सभी वस्तुओं की शनैः शनैः सफाई कर देता था और सारे कचरे को बाहर फेंक देता था। अन्त में रहने के लिए कोई समुचित स्थान चुन लेता था।[1]

गौतम ने भिक्षुओं के जीवन के आचार-व्यवहार की जो रूप-रेखा प्रतिष्ठित की, वह आगे चल कर भी प्रायः वैसी ही बनी रही और उसी रूप में विदेशी भिक्षुओं के द्वारा भी अपनायी गई। फाह्यान के भारत-यात्रा-वर्णन से ज्ञात होता है कि खोतान प्रदेश के गोमती विहार में तीन हजार भिक्षु रहते थे। भोजन का समय होने पर घंटा वजता था और सभी भिक्षु खाने के लिए भोजन-शाला में पहुँचते थे। वे सभी वहाँ शालीनतापूर्वक व्यवहार करते थे और यथास्थान पंक्तियों में बैठ जाते थे। सारा वातावरण निःशब्द होता था। पात्रों का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता था। सभी मौन रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर हाथ से संकेत-मात्र करते थे। कीचा-प्रदेश के भिक्षुओं के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि उनका आचार आश्चर्यजनक है—इतना विधि-निषेधात्मक है कि वर्णनातीत ही है।

मथुरा के विहारों का वर्णन करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि विहार में संघ को भोजन-पान तथा वस्त्र मिलता है और वर्षा ऋतु में अतिथियों को आवास मिलता है। आगन्तुक भिक्षुओं के प्रति शिष्टाचार का निरूपण करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि स्थायी भिक्षु उनके लिए प्रत्युद्गमन करते हैं और उनके वस्त्र और भिक्षा-पात्र स्वयं ले आते हैं। उनके लिए पैर धोने का जल और सिर में लगाने का तेल दिया जाता है। उनके विश्राम कर लेने पर पूछा जाता है कि आपने कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उनके लिए योग्यतानुसार रहने का स्थान दिया जाता है और यथानियम उनके साथ व्यवहार किया जाता है।

---

१. चुल्लवग्ग ८.१।

जैनानुशासन

जैन शिक्षण में भिक्षुओं के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्त्व दिया गया। विद्यार्थी को यदि अपने व्रतों का पालन करने में मरना भी पड़े तो वह अच्छा माना गया, पर व्रत-भंग करना उचित नहीं समझा गया। यदि उपवास का व्रत लिया तो मरने की शंका उपस्थित होने पर भी उसे छोड़ा नहीं जा सकता था। शरीर को नंगा रखना प्रथम व्रत था। इस प्रकार शरीर काँटा-कुश, जाड़ा-गर्मी और वर्षा तथा दंशक प्राणियों के द्वारा उत्पन्न कष्टों के सहने के लिए अभ्यस्त हो जाता था। इस दिशा में महावीर स्वामी का जीवन आदर्श माना गया। 'महावीर अनागार होकर नंगे भ्रमण करते थे। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे और ताड़ना भी करते थे, पर वे इन बातों पर ध्यान न देते हुए केवल दार्शनिक चिन्तन में लीन रहते थे। लाढ-प्रदेश में तो लोगों ने उन पर कुत्तों से आक्रमण करवाया, और उनको शारीरिक यन्त्रणा पहुँचाई। उनके ऊपर कंकड़, फल आदि फेंके गये। फिर भी महावीर ने अपना ध्यान नहीं छोड़ा। ऐसी परिस्थिति में चाहे उनके शरीर पर घाव ही क्यों न हो गया हो, उन्होंने उपचार की चिन्ता नहीं की और कोई औषधि न ली। महावीर ने कभी स्नान नहीं किया और न दाँतों को स्वच्छ किया। जाड़े में छाया के नीचे और गर्मी में चिलचिलाती धूप में बैठकर वे ध्यान लगाते थे। कई मास तक जल नहीं पीते थे और कभी-कभी तो छठीं, आठवीं, दसवीं या बारहवीं बेला पर भोजन करते थे। ऐसी स्थिति में भी महावीर ध्यान और दार्शनिक चिन्तन में निमग्न रहते थे।'[1]

जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु अनर्थ-कारी बतलाया गया और साथ ही वैदिक पद्धति के अग्निहोत्र आदि की भी उपेक्षा की गई है।[2]

परवर्ती युग के बालक-विद्यार्थियों के लिए नियम बनाये गये—आचार्य की आज्ञाओं का पालन करना, डाँट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, नीच लोगों का साथ न करना, भिक्षा में स्वादिष्ठ भोजन न लेना आदि। विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जग कर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण और गुरुजनों का अभिवादन करते थे। दिन के तीसरे पहर में वे भिक्षा माँगते थे और रात्रि के तीसरे पहर में सोते थे। सूर्योदय के समय भिक्षा-पात्र, मुख-वस्त्र और गुच्छक (झाड़ू) आदि सँभालते थे। सन्ध्या के समय विद्यार्थी गुरु का अभिवादन करके अपने कक्ष का

---

१. आचारांग सूत्र।

२. सूयगडंग १.७।

निरीक्षण करते थे। विद्यार्थी भूल से किए हुए पापों का प्रायश्चित्त करते थे और ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र सम्बन्धी अशुद्ध निश्चयों पर विचार-विमर्श करते थे।[1]

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, सन, ताड़-पत्र, रूई आदि के बने हुए वस्त्रों के लिए गृहस्थों से याचना करते थे। वे चमड़े के वस्त्र या अन्य बहु-मूल्य रत्न या स्वर्णजटित या अलंकृत वस्त्रों को नहीं ग्रहण करते थे। हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहनती थीं। भिक्षुणी के चार वस्त्रों में एक तीन फुट चौड़ा, दो साढ़े चार फुट चौड़े और एक छः फुट चौड़ा होता था।[2] वे उन वस्त्रों को नहीं ग्रहण करते थे, जो उन्हीं के लिए मोल लिए गये होते थे अथवा उन्हीं के लिए बनाए गए होते थे। वे केवल उन्हीं वस्त्रों को धारण कर सकते थे, जो दूसरों के लिए बने हों।[3] भिक्षुओं के लिए आवश्यक था कि अध्ययन करते समय वे अपने वस्त्रों को भलीभाँति पहन कर सज्जित हों।[4]

समावर्तन

अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ युवक आचार्य की अनुमति से घर लौट आते थे।[5] आश्रम छोड़ते समय विद्यार्थी को आचार्य कुछ ऐसे उपदेश देता था, जो उसे भावी जीवन के प्रगति-पथ में सहायक होते थे। इस अवसर पर ब्रह्मचारी के शरीर का प्रसाधन-कर्म और अलंकरण होता था, जिससे वह नागरिक की भाँति समाज में विचरण कर सकता था। उपर्युक्त सभी प्रक्रियायें समावर्तन संस्कार के अन्तर्गत सम्पन्न की जाती थीं। समावर्तन का मौलिक अर्थ है लौटना। इस संस्कार में ब्रह्मचारी का विधिपूर्वक स्नान होता था। इस स्नान को महत्त्व देते हुए इस संस्कार को 'स्नान' भी कहते हैं। समावर्तन सम्बन्धी स्नान कर लेने वाला व्यक्ति स्नातक कहा जाता था। पाणिनि ने स्नातक का एक पर्यायवाची शब्द स्रग्वी बतलाया है।[6] ब्रह्मचारी माला आदि भोग-विलास की वस्तुयें विद्यार्थी-जीवन में नहीं पहन सकता था। उसका स्रग्वी होना इस विराग-व्रत के अन्त का द्योतक है। स्नातक की प्रशंसा में अथर्ववेद में कहा गया है—

---

१. उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्याय।

२. आचारांग २.५.१.१।

३. आचारांग २.५.१.३।

४. आचारांग २.५.२.१।

५. ऐसे स्नातकों को निवेशार्थी कहा जाता था। आदिपर्व ४२.१३।

६. विद्यार्थी जीवन या ब्रह्मचर्य यज्ञ है। छान्दोग्य उ० ८.५.१। जिस

स स्नातः बभ्रुः पृथिव्यां बहु रोचते ।

(ब्रह्मचारी स्नान करके भूरे और पीले रंग का बन कर पृथ्वी पर अतिशय शोभा पाता है।)

शतपथ ब्राह्मण में स्नातक के उच्च पद की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि उसे भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए।[1] स्नातक आचार्य का आश्रम छोड़ते समय उसके प्रति अपनी कृतज्ञता की भावना की अभिव्यक्ति करते हुए कहता था—आप हमारे पिता हैं, जो अविद्या के परंपार मुझे तैराकर ले जा रहे हैं। आप परमर्षि को नमस्कार! विद्यार्थी आचार्य की अर्चना करता था।[2]

तैत्तिरीयोपनिषद् में समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य के द्वारा दिये हुए उपदेश का सनातन स्वरूप इस प्रकार मिलता है—सच बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय के प्रति असावधान न हो। आचार्य के लिए प्रिय धन लाओ। अपनी वंश-परम्परा की प्रतिष्ठा रखो। सत्य, धर्म, भूति, स्वाध्याय, प्रवचन, देव और पितृकार्य से प्रमाद न करो। माता-पिता, आचार्य और अतिथि को देव मान कर उनका सम्मान करो। निर्दोष काम करो। विपरीत कार्यों को मत करो। हमारे अच्छे कामों को अपनाओ, उनके विपरीत कामों को नहीं। जो ब्राह्मण हमसे श्रेष्ठ हों, उनके लिए आसन दो। श्रद्धापूर्वक दान करो, बिना श्रद्धा के नहीं। श्री, ह्री, भय और स्नेहपूर्वक दान दो। यदि अपने कर्तव्य-पथ के सम्बन्ध में कोई सन्देह हो तो आसपास के जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, जो विनयी, कर्तव्यपरायण और धर्मनिष्ठ हों, उनकी आचार-पद्धति के अनुरूप आचरण करो। यही आदेश है, उपदेश है, वेद का उपनिषद् है। यही अनुशासन है। यही उपासना है।[3]

बृहदारण्यक उपनिषद् में स्नातक के लिए संक्षिप्त उपदेश का विधान केवल 'द' अक्षर में मिलता है। द का अर्थ दाम्यत, दत्त और दयध्वम् है। इसका तात्पर्य है कि गृहस्थ अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, दान दे और दया करे।[4]

महाभारत में व्यास के द्वारा दिया हुआ समावर्तन सम्बन्धी भाषण मिलता

प्रकार यज्ञ का अन्त होने पर यजमान अवभृथ नामक स्नान करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-यज्ञ की समाप्ति होने पर ब्रह्मचारी समावर्तन के समय सांस्कारिक स्नान करता था। स्नान सम्भवतः ज्ञान-सागर में पारंगत होने का प्रतीक है।

१. शतपथ ११.३.३.७।

२. प्रश्नोपनिषद् ६.८।

३. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ११ वाँ अनुवाक।

४. बृहदारण्यक ५.२।

है। उन्होंने शिष्यों से कहा—'तुम लोग वेद का विस्तार करो। तुम्हारे प्रयास से सभी अपनी कठिनाइयों से पार हो जायं। सभी कल्याण का अनुभव करें। ब्राह्मण-वर्ग के विद्यार्थियों को आगे रख कर सभी वर्ण के लोगों को शिक्षा दो। वेद का अध्ययन करते रहना। यही महान् कर्म है। सदा शिष्यों का उपकार करो।' शिष्यों ने आचार्य को विश्वास दिलाया—आपकी इच्छानुसार वेदों का प्रचार करने के लिए हम लोग जा रहे हैं। शिष्य व्यास की प्रदक्षिणा करके और सिर से अभिवादन करके चल पड़े। समावर्तन के अवसर पर शिष्यों का प्रीति-सम्मेलन भी होता था।[1]

महाभारत में कुछ शिष्यों के आग्रह करने पर समावर्तन के अवसर पर आचार्य के द्वारा माँगी हुई दक्षिणा लाने के लिए स्नातक चल देता था।[2] प्रायः स्नातक उदार राजाओं के पास दक्षिणा के धन के लिए जाते थे। स्नातकों का सम्मान और आतिथ्य करने के लिए राजाओं के द्वारा अनेक उच्च कोटि के सेवक नियुक्त होते थे।[3] स्वयं राजा उनका अभिवादन करते थे और कहते थे—भगवन्, आज्ञा दीजिए मैं आपके लिए क्या करूँ।[4] मनु के अनुसार 'राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्' अर्थात् राजा और स्नातक—इन दोनों में स्नातक राजा के लिए सम्माननीय है। यदि मार्ग पर राजा और स्नातक दोनों आ मिलें तो राजा का कर्तव्य था कि स्नातक के लिए मार्ग छोड़े।[5] स्नातकों से मिलने के लिए कुछ राजा आधी रात होने पर भी निरलस होकर प्रस्तुत रहते थे।[6]

समाज में स्नातक की ऊँची प्रतिष्ठा का विशद वर्णन कालिदास ने रघुवंश में किया है। 'वरतन्तु अपने शिष्य कौत्स से कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहते थे। उन्होंने

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ३१४, ३१५ अध्यायों से। भागवत १०.२०.४९ के अनुसार स्नातक लोककल्याण के लिए विचरण करते थे। आदिपर्व १.१०८ के अनुसार सहस्रों स्नातक राजाओं के साथ रहते थे।

२. वैदिक धारणा के अनुसार आचार्य देव है। उसको दक्षिणा देने से स्वर्ग मिलता है। सम्भवतः यही कारण है कि आचार्य के न चाहने पर भी शिष्य दक्षिणा देने के लिए सत्याग्रह तक करते थे। शतपथ ब्रा० २.२.२.६ तथा महाभारत आदि पर्व ३.९८।

३. महाभारत सभापर्व ५४.१२-१४।

४. महाभारत आदिपर्व ३.१०७।

५. मनुस्मृति २.१३८-१३९

६. महाभारत सभापर्व १९.२१।

स्पष्ट कहा—मैं तुम्हारी निरलस गुरुभक्ति को ही सब कुछ समझता हूँ। फिर भी कौत्स ने आग्रह किया तो गुरु को क्रोध हो आया। उन्होंने कहा—तुमने १४ विद्यायें मुझसे पढ़ी हैं। बस, १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की दक्षिणा प्रस्तुत करो। कौत्स महाराज रघु की राजधानी अयोध्या की ओर चल पड़ा। अयोध्या के द्वार पर ही राजा रघु उसका स्वागत करने के लिए मिले। राजा के हाथ में स्नातक की पूजा की सामग्री मिट्टी के पात्र में रखी हुई थी। इस पात्र को देखते ही कौत्स ने समझ लिया कि राजा दिग्विजय के पश्चात् अपना सर्वस्व दान कर चुका है और उसके पास राजा की उपाधि छोड़ कर कुछ भी नहीं है। राजा ने कौत्स से आश्रम-सम्बन्धी कुशल-क्षेम आदि जान लेने के पश्चात् कहा—आपके आने मात्र से मेरा परितोष नहीं हो रहा है। मेरा मन आपकी आज्ञा पालन करने के लिए उत्सुक है। कौत्स ने कहा—मैं कुछ देर में पहुँचा हूँ। आपने अपना सर्वस्व योग्य व्यक्तियों को दे डाला है। केवल शरीर-मात्र आपके पास बचा है। आप उस नीवार धान के पौधे के समान हैं, जिसके दाने तपस्वियों ने चुन लिए हों। मुझे १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें गुरु को देनी हैं। राजा ने निवेदन किया—आप जैसा स्नातक गुरु-दक्षिणा के लिए रघु के पास आकर निराश लौट जाय, और किसी दूसरे उदार पुरुष के पास जाय, इससे बढ़कर मेरा क्या अपवाद हो सकता है? आप दो-चार दिन प्रतीक्षा करें। मैं आपका उद्देश्य पूरा करने का प्रयत्न करता हूँ। रघु के पुण्य-पराक्रम से शीघ्र ही उसके कोश में असंख्य मुद्रायें आ गईं। उन्होंने कौत्स से कहा—आप सब ले जाइए। कौत्स ने कहा—मुझे १४ करोड़ से अधिक एक भी मुद्रा नहीं चाहिए। कालिदास ने इस दृश्य का निदर्शन करते हुए कहा है-—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥ रघुवंश ५.३१

(साकेत की जनता के लिए उन दोनों का आचरण स्तुत्य प्रतीत हुआ। राजा प्रार्थी को आवश्यक धन से अधिक देने पर तुला हुआ था और प्रार्थी गुरुदक्षिणा से अधिक लेने के लिए उद्यत नहीं था।)

सूत्र-साहित्य में तीन प्रकार के स्नातकों के उल्लेख मिलते हैं—व्रत-स्नातक, विद्या-स्नातक और उभय-स्नातक। व्रत-स्नातक ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर चुकता था, पर विद्याओं में पारंगत नहीं होता था। विद्या-स्नातक विद्याओं में पारंगत होता था, पर ब्रह्मचर्य की अवधि भर व्रतों का पालन नहीं कर पाता था। उभय-स्नातक विद्या और व्रत दोनों में पारंगत होकर उभय-निष्णात होता था। विवाह होने के समय तक स्नातक-पद की

प्रतिष्ठा रहती थी। विवाह होते ही स्नातक गृहस्थ की उपाधि से अलंकृत हो जाता था।[1]

समावर्तन संस्कार के लिए आचार्य की अनुमति पाकर ब्रह्मचारी अपने लिए ११वस्तुओं का प्रबन्ध करता था—मणि, दो कर्णशोभन, दो वस्त्र, छाता, जूता, छड़ी, माला, अनुलेपन, चूर्ण और समिधा।[2] केशान्त और स्नान से शरीर को शुद्ध करके वह वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए इनमें से एक-एक को धारण करता था। अन्त में वह अपनी लाई हुई समिधा से हवन करता था।[3] इसके पश्चात् वह स्नातक बन जाता था। आचार्य स्वयं उसे मधुपर्क समर्पित करता था।[4] मनुस्मृति के अनुसार स्नातक आचार्य को उत्तम आसन पर बैठाकर उसे माला पहिनाता था और दक्षिणा देता था।

स्नातक समाज का सबसे अधिक प्रतिष्ठित नागरिक होता था।[5] समाज के समक्ष उसके उदात्त आचार-व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत होना चाहिए था। नियम था कि स्नातक शरीरतः और मन से सदैव शुद्ध रहे। उसे प्रतिदिन स्नान करके अपने शरीर का प्रसाधन करना चाहिए। उसे स्वभावतः उदार, धीर, संयत और परोपकारशील होना चाहिए। वह मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी को दुःख न पहुँचाये। उसे अपनी शक्तियों का सदुपयोग करते हुए अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। उसे समाज को अप्रिय लगने वाले काम नहीं करने चाहिए, यद्यपि शास्त्रों ने इसके लिए सम्मति भी दी हो। वह अभिमानी, धर्महीन और पतित लोगों से कुछ भी न ग्रहण करे और न ऐसे लोगों से कोई सम्बन्ध करे। स्नातक को ऐसी वेश-भूषा और रहन-सहन अपनानी चाहिए कि वह भद्र प्रतीत हो। वह पुराना और मलिन वस्त्र न पहने। उसके वस्त्र श्वेत होने चाहिए। वह रंगे या बिना रंगे काले वस्त्र न पहने और न किसी दूसरे का वस्त्र, माला, जूता, आदि धारण करे। यदि दूसरे की वस्तु काम में लानी ही पड़े तो उसे भली भाँति झाड़-पोंछ या धो लेना चाहिए। उसे अपनी दाढ़ी और केश नहीं बढ़ने देना

---

१. आ जायासंगमात्स्नातका भवन्ति। अत ऊर्ध्वं गृहस्थाः।। बौधायन गृह्यसूत्र परिभाषा १.१५.१०।

२. प्राचीन भारत में प्रत्येक गृहस्थ नागरिक की वेष-भूषा आदि के लिये नित्य काम में आने वाली प्रायः यही ११ वस्तुएँ थीं।

३. विस्तृत विधि के लिए देखिए आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.८ और आगे।

४. गोभिलगृह्यसूत्र ३.४.३१-३४।

५. महद्वै भूतं यः स्नातकः; आश्व० गृ० सू० ३.९.८।

चाहिए। उसे हाथ में जूता लेकर न तो बैठना ही चाहिए और न गुरुओं और देवताओं को नमस्कार करना चाहिए। स्नातक मुह से फूंक कर आग न जलाये। उसे दो ब्राह्मणों के बीच में बिना आज्ञा प्राप्त किये हुए नहीं जाना चाहिए। स्नातक को माला-धारण और अनुलेपन आदि इस प्रकार करना चाहिए कि ऐसा करते समय कोई देख न सके।

स्नातक उदय और अस्त होते हुए सूर्य को न तो स्वयं देखे और न दूसरों को दिखाये। उसे सदैव स्निग्ध वचनावली का प्रयोग करना चाहिए, जैसे अन्धे को प्रज्ञाचक्षु कहना चाहिए। गाय के द्वारा की हुई किसी प्रकार की हानि का प्रकाशन नहीं करना चाहिए। स्नातक का अपने गाँव में आना या गाँव से जाना उत्तर या पूर्व दिशा से होना चाहिए सदैव प्रमुख द्वार से किसी नगर, गाँव या घर में प्रवेश करना चाहिए। गोधूलि के समय उसे गाँव के बाहर मौन भाव से बैठना चाहिए। दिन के समय कभी सिर ढक कर नहीं घूमना चाहिए। गाय, दक्षिणा और कुमारी में दोष देखना स्नातक के लिए निषिद्ध है। स्नातक को बुरे लोगों के संसर्ग से बचना चाहिए और कभी ऐसे प्रदेश में नहीं जाना चाहिए, जहाँ उनका बाहुल्य हो। उसे सभा और समाज के उत्सवों में नहीं भाग लेना चाहिए। स्नातक को ऐसे ही प्रदेश में रहना चाहिए, जहाँ ईन्धन, जल, घास, कुश, पुष्प आदि की प्रचुरता हो और जहाँ पर आर्यों तथा परिश्रमी और धार्मिक लोगों की अधिकता हो।

स्नातक को अपना भोजन और योग आदि प्रक्रियायें अकेले में करनी चाहिए। उसे अपनी वाणी, बुद्धि और शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वह अपने धन और अवस्था की कहीं चर्चा न करे।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

कुछ विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन की ओर इतनी अधिक होती थी कि वे जीवन भर आचार्य के आश्रम में रह कर अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्न करते थे। ऐसे विद्यार्थी आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे। उनकी उपाधि नैष्ठिक ब्रह्मचारी थी।[1] जो विद्यार्थी अध्ययन करके समावर्तन संस्कार के

---

१. निष्ठा का अर्थ 'अन्त' है। नैष्ठिक का अभिप्राय जीवन के अन्त तक व्रत लेने वाला है। आत्मानं निष्ठामुत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः', अर्थात् आजीवन व्रत लेने वाला नैष्ठिक है। स्त्रियाँ भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत अपना सकती थीं। विष्णु स्मृति के अनुसार—

पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के अभिलाषी होते थे, उन्हें उपकुर्वाण कहा जाता था।

भारतीय धारणा के अनुसार मानव की इन्द्रियाँ उसे प्रकृति से प्राप्तव्य ऐन्द्रियक सुख प्रस्तुत कर सकती हैं। यह सुख आत्मा से प्राप्तव्य आनन्द की अपेक्षा तुच्छ है। आत्मा से सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। उस ब्रह्म को जान लेने के पश्चात् ज्ञानी ब्रह्मसंस्थ बन कर वैसे ही आनन्द पाता है, जैसे प्रकृति से प्राकृत जन आनन्द पाते हैं। निःसंदेह ब्रह्मसंस्थ का आनन्द अनुपमेय और असीम है। ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाला व्यक्ति सांसारिक भोग-विलास से दूर रहता है। वह इन्हें अपनी प्रगति के मार्ग में बाधक मानता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में कुछ लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं करते थे और बहुत से लोग गृहस्थ होने पर भी यथाशीघ्र घर छोड़ कर ब्रह्मानन्द की खोज में वानप्रस्थ बन जाते थे।[1] उपनिषद्-काल में ऐसे ब्रह्मचारियों की संख्या प्रचुर रही होगी जो जीवन भर आचार्य कुल में ही रह जाते थे।[2]

नैष्ठिक ब्रह्मचारी कभी-कभी एक आचार्य के पास से दूसरे आचार्य के यहाँ पर्यटन करते हुए अध्ययन करते थे। कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी समाज का कल्याण करने के लिए लोगों को सत्पथ पर लाना अपेक्षित मानकर कथायें सुनाया करते थे। सबसे अधिक महत्त्व उन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का है, जो आचार्य बनकर विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करते थे। ऐसे आचार्यों में महर्षि कण्व का नाम सर्वोपरि है। प्राचीन भारत में आचार्य का नैष्ठिक ब्रह्मचारी होना सर्वोत्तम माना

वेदस्वीकरणे हृष्टो गुर्वधीनो गुरोर्हितः।
निष्ठां तत्रैव यो गच्छेत् नैष्ठिकः स उदाहृतः॥१.२४

भागवत १२.८.८ के अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहद्व्रतधारी हैं।

१. नैष्ठिक ब्रह्मचारी की प्रवृत्तियों का निदर्शन बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार मिलता है——

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति॥

(आत्मा के इस रहस्य को जानकर ब्रह्म को जानने वाले लोग पुत्र, धन और लोकों की इच्छा का परित्याग करके भिक्षाचारी बने रहते हैं।)

२. छान्दोग्य उप० २.१३.१ के अनुसार धर्म के तीन स्कन्धों में से प्रथम यज्ञ, अध्ययन और दान है, द्वितीय तप है और तृतीय आचार्य कुल में जीवन भर रहना है। ब्रह्मसंस्थ अमर पद प्राप्त करता है।

गया था।[1] आचार्य शंकर कण्व की परम्परा में परवर्तीयुगीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे।

नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की उपर्युक्त परम्परा प्रायः सदा चलती रही। ह्वेनसांग ने सातवीं शती के इन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के गौरव का वर्णन इस प्रकार किया है—भारत में ऐसे महामानव हैं, जिन्होंने प्राचीन साहित्य और संस्कृति के विशाल सागर में अवगाहन किया है। वे एकान्त में ब्रह्मचर्य-जीवन बिताते हैं। इनके जीवन की प्रवृत्तियाँ असाधारण हैं। न तो वे प्रशंसा की कामना करते हैं और न निन्दा की ही चिन्ता करते हैं। उनका यश दूर तक फैला हुआ है। राजा भी उनकी प्रतिष्ठा करते हैं, पर वे उनको राजधानी में नहीं बुला सकते। राज्य की ओर से विद्वानों और प्रकाण्ड पण्डितों का सम्मान होता है और जनता विद्वानों का आदर करती है। ऐसी परिस्थिति में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की प्रतिष्ठा और स्तुति असीम है। राजा और प्रजा दोनों की ओर से उनका बहुमान होता है। ऐसी दशा में लोगों की ज्ञानार्जन के प्रति अतिशय प्रवृत्ति स्वाभाविक है। अविश्रान्त गति से चलने वाले ज्ञान-मार्ग के ये पथिक, कला और पाण्डित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सैकड़ों मील की यात्रा हँसते-हँसते पूरी कर लेते हैं। अपने परिवार के समृद्ध होने पर भी ये भिक्षाचर्या से ही जीविका चलाते हैं। ये सदैव पर्यटन करते हैं। इनकी प्रतिष्ठा ज्ञान प्राप्त करने में है और निर्धनता में इनका गौरव है।[2]

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य साधारण जीवन-पद्धति के रूप में अपनाया गया। बालक बिहार-शिक्षण-पद्धति के लिए सामणेर बन कर प्रवेश पाते थे और जीवन के अन्त तक वहीं स्थविर-आचार्य बन कर रहते थे। जैन साधुओं ने दीक्षा देने के लिए बालकों को सर्वोत्तम माना। ऐसे बालक तपोमय जीवन बिताते हुए नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन करते थे।

---

१. तत्कालीन धारणा के अनुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेने वाले शिक्षक का चित्त अस्थिर हो जाता है और उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। जिस प्रकार निर्मल जल में सीपी, शंख, कंकड़, बालू आदि दिखाई देती हैं, उस प्रकार स्थिर चित्त होने पर आत्मार्थ तथा परार्थ सूझता है। अनभिरति जातक १८५।

२. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १६०।

अध्याय ७

गृहस्थाश्रम

समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक नागरिक बन कर समाज का प्रतिष्ठित सदस्य बन जाता था। समाज उसका स्वागत करता था। गृहस्थ उसको मधु-पर्क-विधि से सम्मानित करने में अपना गौरव मानता था। प्राचीन राजनीतिक विधान के अनुसार राजा का कर्तव्य था कि स्नातक को जीवन की समस्त सुविधायें प्रस्तुत करके उसे अपने राज्य में प्रतिष्ठित करे, जिससे वह गृहस्थ बनकर यथा-शीघ्र समाज का कल्याण करने में समर्थ हो सके। भारतीय धारणा के अनुसार मनुष्य चार ऋणों के साथ उत्पन्न होता है। वह यज्ञ, स्वाध्याय, तप, पुत्रोत्पत्ति एवं श्राद्ध और आनृशंस्य से देव, ऋषि, पितर और मानवों को संतुष्ट करके अनृण बनता है।[1]

स्नातक के लिए प्रथम आवश्यकता होती थी गृहिणी की। भारतीय मान्यताओं के अनुसार जिनके पास गृहिणी नहीं, उनके पास घर नहीं। गृहिणी ही गृह है।[2] स्नातक के लिए गृहिणी का मिलना प्रायः नितान्त सरल था। तत्कालीन समाज में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर लेने वाली स्नातिकायें होती थीं। उस समय साधारण नियम था कि ब्रह्मचर्य के द्वारा कन्या युवा पति पाती है।[3] ऐसी कन्याओं का एक नाम पतिंवरा भी था। उनको स्वयं अपना पति चुन लेने का अधिकार संभवतः प्राप्त था। कन्याओं के व्यक्तित्व के विकास का ध्यान रखते हुए ही तत्कालीन लोकरीति में ऐसे प्रचलन को प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी होगी।[4]

---

१. यज्ञैश्च देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्।
पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान्॥
महाभारत आदिपर्व १११.१४।

२. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। महाभारत शान्ति० १४४.६।

३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद ११.५.१८।

४. पाणिनि० ३.२.४६।

विवाह

वैदिक धारणा के अनुसार गार्हपत्य (गृहस्थ-जीवन) के लिए पत्नी का होना अपेक्षित है।[१] देवताओं की पूजा करने के लिए पति और पत्नी का सहयोग होना ही चाहिए। अपनी अमरता के लिए भी पुरुष पत्नी प्राप्त करके पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक समझता था।[२] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पत्नी अर्धाङ्गिनी है। इसीलिए जब तक पत्नी नहीं होती, तब तक सन्तान नहीं होती और पत्नी के बिना पुरुष असर्व (अपूर्ण) रहता है।[३] विवाह के बिना वैदिक यज्ञों का सम्पादन असम्भव माना गया था।[४]

मनुष्य को पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक था। पुत्र भी अपनी पत्नी से उत्पन्न होना चाहिए। जिस स्त्री से विवाह न हुआ हो, उससे उत्पन्न की हुई सन्तान न तो पुत्र है और न वह पितृ-ऋण से मुक्त कर सकती है।[५]

विवाह की उपर्युक्त प्रतिष्ठा देखकर तत्सम्बन्धी संस्कार के महत्त्व की कल्पना की जा सकती है। विवाह कौटुम्बिक अभिवृद्धि, प्राकृतिक सुख और धर्म-सम्पादन आदि का मूल है। ऐसी परिस्थिति में विवाह की संस्कार-विधि का यज्ञीय स्वरूप और साथ ही साथ उसके लिए हर्षोल्लासमय लोकाचार विकसित हुए।

योग्यता की परख

विवाह के उपर्युक्त महत्त्व की कल्पना करने वाला समाज वर-वधू की योग्यता की परख करने में अतिशय सतर्क था। वैदिक काल से लेकर ही योग्यता की परख के लिए नित्य नये-नये मापदण्ड बनते रहे। कन्यापक्ष के लिए योग्य वर पाने की समस्या प्रायः सदा रही है। वर-पक्ष भी योग्य वधू की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहा है, क्योंकि योग्य वधू केवल पति की ही नहीं, अपितु सारे कुटुम्ब और कुल की प्रतिष्ठा का कारण होती है। अयोग्य वधू से कुल और कुटुम्ब का विनाश अवश्य-

---

१. ऋ० वे० १०.४५.३४; ५.३.२; ५.२८.३।

२. भारतीय धारणा के अनुसार 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् मनुष्य स्वयं पुत्र-रूप में उत्पन्न होता है। ऐतरेय ब्राह्मण ७.३ में इस प्रकरण का विशद विवेचन है।

३. शतपथ ब्रा० ५.२.१.१०।

४-५. तैत्तिरीय संहिता ६.३.१०.५।

म्भावी माना जाता था। ऐसी परिस्थिति में वर और वधू में समान रूप से गुणों की परख की गई।[1]

वर और वधू की परीक्षा दो दृष्टिकोणों से हो सकती है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य दृष्टि से वर-वधू की अवस्था, शारीरिक सौन्दर्य, पुरुषत्व और नारीत्व तथा आभ्यन्तर दृष्टि से वर-वधू के चरित्र, विद्वत्ता, कुल आदि की परख होती है।[2]

आश्रम-व्यवस्था पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विवाह तब होना चाहिए जब वर और वधू दोनों की अवस्था गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के योग्य हो। वैदिक काल में साधारणतः वर और वधू के युवावस्था में होने पर ही विवाह होता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पुरुष और स्त्री की आदर्श युवावस्था क्रमशः २५वें और १६वें वर्ष में होती थी।[3] सूत्र-युग में विवाह की अवस्था प्रायः पूर्ववत् रही। सूत्र-युग में नियम बना कि यदि कोई अभिभावक या पिता कन्या के युवा होने पर उसका विवाह नहीं करता तो वह दोषी बन जाता है और प्रायश्चित्त-विधान से उसकी शुद्धि हो सकती है।[4] ऐसा विधान होने पर भी उन धर्माचार्यों की कमी नहीं रही, जिन्होंने कहा कि भले ही कन्या युवती हो या मृत्यु-पर्यन्त घर में रह जाय, पर गुणहीन वर के साथ उसका विवाह नहीं होना चाहिए। इस युग में कन्याओं को अपने आप वर चुन लेने की रीति का कुछ परिस्थितियों में अधिकार था। कन्या के युवती हो जाने पर यदि तीन वर्ष तक उसका अभिभावक या पिता उसका विवाह नहीं कर देता था तो वह स्वयं अपने लिए वर चुन लेती थी।[5]

कन्याओं की वैवाहिक अवस्था को स्वल्पतर करने की इतनी उत्कट कामना कुछ विचारकों में उत्पन्न हो गई थी कि रामायण में सीता और राम की अवस्था

---

१. याज्ञवल्क्य ने योग्य वधू के गुणों का वर्णन करके वर के विषय में लिखा है—एतैरेव गुणैर्युक्तः। अर्थात् वर भी इन्हीं गुणों से युक्त हो। स्मृति १.५५।

२. कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥
स्मृति-चन्द्रिका में यम की उक्ति।

३. सुश्रुत संहिता ३५.८।

४. गौतम १८.२०-२३।

५. मनुस्मृति ९.८९-९०; महाभारत अनुशासन पर्व ४४.१५; बौधायन धर्मसूत्र ४.१.१४।

क्रमशः ६ और १३ वर्ष प्रकट करने वाले प्रक्षिप्त श्लोक जोड़ दिये गये, यद्यपि निश्चित प्रमाणों के आधार पर उनकी अवस्था के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे युवा थे।

विवाह के लिए पति की अवस्था से कन्या की अवस्था का कम होना आवश्यक विधान के रूप में मान्य हुआ। कन्या की अवस्था वर की अवस्था से तीन वर्ष कम होनी चाहिए थी।[1] ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवधि तक आश्रम में रहकर स्नातक होकर लौटने वाले युवकों के विवाह के योग्य कन्याओं की अवस्था के विषय में तो आधुनिक दृष्टि से हास्यास्पद नियम बने। मनु के अनुसार ३० वर्ष का वर और १२ वर्ष की कन्या अथवा २४ वर्ष का वर और ८ वर्ष की कन्या का विवाह होना चाहिए था। वर और कन्या की आयु में तीन और एक का अनुपात महाभारत और विष्णुपुराण में भी समीचीन माना गया।[2] इसके अनुसार ३० और २१ वर्ष के वर के लिए क्रमशः दस और सात वर्ष की कन्या से विवाह होना चाहिए।

वाह्य दृष्टि से विवाह के लिए शारीरिक सौन्दर्य का अतिशय महत्त्व है। स्वयंवर-विधि इस दृष्टि से वर और वधू के साक्षात् परीक्षण के लिए वैदिक काल से ही प्रायः सदा प्रचलित रही है। ऋग्वेद में मनोरम रूपवाली कन्या का स्वयं भलीभाँति सजधज कर वर चुनने का उल्लेख मिलता है।[3] वर भी अपनी वेश-भूषा और सौन्दर्य के द्वारा कन्याओं को अपनी ओर आकृष्ट करते थे।[4] उस समय कन्याओं के सौन्दर्य-निरूपण के शाश्वत मानदण्डों को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।[5]

सूत्र और स्मृति-युग में लक्षण-सम्पन्न और स्वस्थ व्यक्ति को वर चुनने का स्पष्ट विधान बना।[6] जिन कुलों में असाध्य रोगों से पीड़ित लोग हों, उनमें कन्या नहीं प्रदान करनी चाहिए।[7] मनु की दृष्टि में नारी के सौन्दर्य की अतिशय प्रतिष्ठा

---

१. वात्स्यायन कामसूत्र ३.१.२। गौतम ४.१; वसिष्ठ ८.१।

२. मनुस्मृति ९.९४; महाभारत अनु० ४४.१४, विष्णु पु० ३.१०.१६।

३. ऋ० वे० १०.२७.१२।

४. ऋ० १.११५.२; अथर्व० २.३०; ३.२५।

५. एवमिह हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिं विमृष्टान्तरां सा मध्ये संग्राह्येति॥ शतपथ १.२.५.१६।

६. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १.३.२०।

७. मनु० ३.६-७।

थी। उन्होंने मत दिया है कि यदि बुरे कुल में भी स्त्री-रत्न हो तो उसे ग्रहण करना चाहिए।[1] कामसूत्र के अनुसार रूप, शील और लक्षण से सम्पन्न, सर्वाङ्ग सुन्दर और प्रकृत्या स्वस्थ शरीर वाली कन्या तथा उसी के सदृश वर का विवाह होना चाहिए।[2] आश्वलायन ने आदेश दिया है कि बुद्धि, रूप शील और लक्षण से सम्पन्न नीरोग कन्या से विवाह करना चाहिए।[3] आपस्तम्ब के अनुसार जिस कन्या में मन और नेत्रों का निबन्ध हो, उसी कन्या को विवाह के द्वारा प्राप्त करके कोई व्यक्ति समृद्धिशाली हो सकता है। किसी अन्य लक्षण को कन्या में ढूंढ़ना ही नहीं चाहिए।[4] कन्या के नाम तक में रमणीयता की अभिव्यक्ति ढूंढ़ी जाने लगी थी[5]।

शारीरिक सौन्दर्य के प्रति अतिशय अभिरुचि स्वाभाविक थी। फिर भी कुछ आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि बुद्धिहीन कन्या के साथ तो जीवन दूभर हो जाता है। भले ही उसके पास धन, रूप और बान्धव न हों, पर प्रज्ञा तो होनी ही चाहिए।[6] वर में भी बुद्धि और गुण की उत्कृष्टता आवश्यक मानी जाती थी।[7] मनु ने वैदिक अध्ययन से रहित कुलों को विवाह-सम्बन्ध के लिए अयोग्य बतलाया है।[8] इसका कारण बताते हुए हारीत ने कहा है कि माता-पिता के अनुरूप ही सन्तान होती है।

वर में विद्या के साथ ही सच्चरित्रता का होना विशेष गुण माना जाता था। क्रोधरहित, सदैव प्रसन्नचित्त, और सुशील व्यक्ति को कन्या देना उचित समझा जाता था। यदि भूल से किसी पतित या शील-रहित व्यक्ति से विवाह हो जाय

---

१. मनु० २.२३८।

२. कामसूत्र ३.१.२; मनु० ३.८-१०।

३. आश्व० गृह्य० १.५.३।

४. आ० ध० सूत्र ३.२१। कामसूत्र के ३.१.१४ में इस विषय का प्रायः इन्हीं शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। भारद्वाज-गृह्यसूत्र १.११ में उपर्युक्त कथन का भाव नीचे लिखे श्लोक में व्यक्त किया गया है —

> यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
> तां विद्यात्पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति ।।

५. याज्ञवल्क्य १.५२।

६. भारद्वाज १.११।

७. आश्व० गृ० सू० १.५.२; बौधायन ध० सू० ४.१.२०।

८. मनु० ३.६-७।

तो उस विवाह-सम्बन्ध को भंग करके उस दुष्ट पुरुष के चंगुल से कन्या को बचा लेने तक का विधान बनाया गया।[1]

प्राचीन काल में प्रायः सदा ही अनुलोम विवाह शास्त्र-सम्मत रहा है और व्यवहार-रूप में भी ऐसे असंख्य विवाह हुए, जिनमें वधू वर की जाति से हीनतर जाति की थी। मनु ने अनुलोम विवाह का समर्थन तो किया है, पर उन्होंने सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ माना है।

विवाह के सम्बन्ध में किसी प्रकार अपने लाभ का ध्यान रखना उचित नहीं माना जाता था। इस दृष्टि से नियम बना कि कोई व्यक्ति अपनी कन्या का किसी कुल में विवाह करके उस कुल से अपने पुत्र के विवाह के लिए कन्या न ग्रहण करे। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति को दो कन्यायें देना अथवा दो भाइयों का दो बहिनों से विवाह करना अनुचित माना गया।[2] कन्याओं के साथ दहेज देने का प्रचलन समृद्धिशाली वर्ग में सुदूर प्राचीन काल से रहा है।[3]

वधू-प्राप्ति की योजना

स्नातकों का विवाह साधारणतः उनकी योग्यता, विद्या और चरित्र के द्वारा उत्तम कुल की योग्य कन्याओं से अनायास ही हो जाता था। स्नातकों के ब्रह्मज्ञान पर मुग्ध होकर कुछ उच्च कोटि के नागरिक अपनी कन्या उन्हें दान में देते थे। इस प्रकार की वैवाहिक योजना का नाम ब्राह्म विवाह था।[4] मनु ने इस विवाह की परिभाषा में कहा है कि कन्या को वस्त्र पहना कर तथा पूजा करके वेदज्ञ और शीलवान् स्नातक को अपने घर बुलाकर दे देना ब्राह्म विवाह है। प्राचीन काल के दार्शनिक कुलों में ब्रह्मज्ञान का महत्त्व था। उनमें ब्राह्म विवाह का प्रचलन प्रायः सदा रहा। क्षत्रियों में ब्राह्म विवाह के समकक्ष उन स्वयंवरों की योजना थी, जिनमें क्षत्रिय कुमार को अपने सर्वोच्च पराक्रम का प्रदर्शन करके कन्या प्राप्त होती थी।

---

१. वराह गृ० सू० १०.१.६।

२. स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रम-धर्म, पृ० १४८।

३. ऋग्वेद ६.२८.५; अथर्व० ५.१७.१२। महाभारत के अनुसार पांडवों को अनेक विवाहों में पर्याप्त दहेज प्राप्त हुए थे। अन्यत्र आदिपर्व २१३ में। चुल्ल-कालिंग जातक ३०१ में भी इसका उल्लेख मिलता है। कथासरित्सागर ८.१.७०-७८ तथा ७.९.२१४-२१६।

४. यह विवाह ब्रह्मवर्ग में प्रचलित था। ब्रह्म वे लोग थे, जो ब्रह्मविद्या से सम्पन्न होते और समदर्शी थे। महा० शान्तिपर्व ७७.२।

ब्राह्मण-विद्वानों की योग्यता की परख कभी-कभी यज्ञ-सम्पादन में भी होती थी। यज्ञ-सम्पादन करते हुए स्नातक की योग्यता पर मुग्ध होकर यजमान दक्षिणा-रूप में अपनी कन्या उसे दान दे देते थे। इस विधि का नाम दैव विवाह था। इसके माध्यम से प्रायः क्षत्रिय यजमानों की कन्यायें ब्राह्मण स्नातकों को प्राप्त होती थीं।

कुछ स्नातकों को अपने विवाह के लिए कन्या प्राप्त करने में एक जोड़ी बैल और गाय कन्या के पिता को देना पड़ता था। ऐसे स्नातक वैदिक ऋषियों के कुल के होते थे, जिनमें कृषि और पशु-पालन के द्वारा समृद्धिशाली रहने की रीति थी। गाय-बैल की जोड़ी सम्भवतः स्नातक की अपनी ऋषित्व-सम्बन्धी समृद्धि-शालिता का परिचय देने के लिए थी।[1] यह आर्ष विवाह था।

प्राचीन समाज में कुछ महर्षियों के कुल प्राजापत्य व्रत का पालन करते थे।[2] इस व्रत का पालन करने वाले दम्पती पूरा जीवन प्रायः गृहस्थाश्रम में ही बिताते थे। कन्या का पिता वर से उपर्युक्त आशय की प्रतिज्ञा लेकर कन्या-दान करता था।[3] यह प्रजापति मनु से सम्बद्ध मानव-विवाह है।

---

१. मनु ने इस विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥३.२९॥

मनु के अनुसार गाय-बैल की यह जोड़ी कन्या के लिए शुल्क रूप में नहीं थी। मनुस्मृति ३.५३। ऋषियों को गाय अतीव प्रिय थी। भाग० ८.८.२।

प्राचीन काल में याज्ञिक जीवन बिताने के लिए गोपालन का विशेष महत्त्व था। काणे के अनुसार

The daily Agnihotra required the maintenance of at least two cows. History of Dharmaśāstra, Vol. II Part II p. 979.

समुद्र-मन्थन के समय जब गोरत्न प्राप्त हुआ तो उसे ऋषियों ने माँग लिया था।

२. प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति-व्रत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस व्रत को लेने वाले पुत्र और कन्या आदि सन्तति-परम्परा उत्पन्न करते हैं। १.१५।

३. मनु ने प्राजापत्य विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी है —

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥३.३०

उपर्युक्त चार योजनाओं के द्वारा कन्या-ग्रहण करना स्नातक के लिए समीचीन था। मनु के अनुसार इन योजनाओं के अनुकूल जो विवाह होते हैं, उनके माध्यम से ब्रह्मवर्चस्वी सन्तान होती है।[1] इनके अतिरिक्त विवाह के लिए वधू प्राप्त करने की चार अन्य योजनायें—गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच थीं। इनका प्रचलन प्रायः गन्धर्व, असुर, राक्षस और पिशाच जाति के लोगों में विशेष रूप से था। स्नातक के लिए इन योजनाओं से वधू प्राप्त करने का निषेध था।[2]

वैवाहिक विधि

वैवाहिक विधि का प्रथम परिचय वैदिक साहित्य से मिलता है। यह संस्कार कन्या के घर पर सम्पन्न होता था। वहीं पर स्नातक अपने इष्ट-मित्र और सम्बन्धियों के साथ आ जाता था। वहाँ कन्या के सम्बन्धी पहले से एकत्र होते थे। अतिथियों का स्वागत सुस्वादु भोजन से किया जाता था।[3] कन्या का पाणिग्रहण करते समय वर कहता था —

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ऋ० वे० १०.८५.३६

(मैं तुम्हारा पाणि सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ, जिससे मुझ पति के साथ तुम वृद्धावस्था तक रहो। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुमको मेरे लिए दिया है, जिससे मैं गार्हपत्य का पालन कर सकूं।)

पिता देवताओं और विशेष रूप से अग्नि के समक्ष वर के लिए कन्या-दान करता था। इस अवसर पर सम्मान्य पुरुष दम्पती को इन शब्दों में आशीर्वाद देते थे—तुम दोनों सदैव साथ रहो। कभी तुम्हारा वियोग न हो। अपने घर में जीवन भर तुम दोनों पुत्रों और पौत्रों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीडा करो। हे इन्द्र, तुम इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यशालिनी बनाओ। इसे दस पुत्र प्रदान करो। पति को ग्यारहवाँ बनाओ। यह ससुर, सास, ननद और देवर के लिए सम्राज्ञी बने।

विवाह की विधि शनैःशनैः अधिक जटिल होती गई। वैदिक विवाह की सांस्कारिक विधियाँ स्वल्प थीं, क्योंकि वे प्रधानतः आर्य-समुदाय की ही थीं, पर

---

१. मनुस्मृति ३.३९।

२. मनु० ३.३१-३४, ४१-४२।

३. ऋग्वेद १०.८५; १०.१७.१; ४.५८.९; अथर्ववेद ६.६०; १४.२.५९।

कालान्तर में आर्येतर जातियों के वैवाहिक लोकाचार भी सम्मिलित होते रहे। परिणाम-स्वरूप इस संस्कार की विधियों का अतिशय विस्तार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य-विधियों को मूल केन्द्र मान कर विविध प्रदेशों में रहने वाली आर्येतर जातियों के विविध सांस्कारिक विधान उसके साथ जोड़े गये और प्रायः प्रत्येक प्रदेश में नई-नई स्थानीय विधियों के साथ संयुक्त होने पर आर्य-विधि के विविध रूप बन गये।

सूत्रकार आश्वलायन ने उपर्युक्त स्थिति को दृष्टि-पथ में रख कर कहा है—'विभिन्न प्रदेशों और गाँवों में इस संस्कार की विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने देश के आचार को अपनाये। मैं उन्हीं विधियों का उल्लेख करूँगा, जो सभी देशों में साधारणतः पायी जाती हैं।'[1]

आश्वलायन के अनुसार मण्डप की वेदिका में विवाह की अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। यही अग्नि विवाह का साक्षी है। यह देवताओं का प्रतिनिधि है। अग्नि के पश्चिम की ओर दृषद् (चक्की) और उत्तर की ओर जल-कलश रखे जाते थे। घट की जल से पूर्णता भारतीय संस्कृति की भूमा की अभिव्यक्ति करती है। पूर्णता ही सृष्टि के समारम्भ का द्योतक है। दृषद् सम्भवतः स्थिरता का प्रतीक है। ऐसे वातावरण में हवन के पश्चात् वैवाहिक विधि आरम्भ होती थी। तत्पश्चात विवाह-संस्कार सम्पन्न होता था। वर कन्या का पाणिग्रहण करते हुए ऋग्वेद के मन्त्र 'गृभ्णामि' आदि का गायन करता था।[2] इसके पश्चात् वर कन्या को अपने नेतृत्व में जलकलश-सहित अग्नि की प्रदक्षिणा कराता था। वह कन्या का सम्बोधन करके कहता था—'मैं पुरुष हूँ, तुम नारी हो। तुम नारी हो, मैं पुरुष हूँ। मैं द्यौ (आकाश) हूँ, तुम पृथ्वी हो। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो। हम दोनों विवाह करें। एक दूसरे के लिए, प्रिय रोचनशील और प्रसन्न मन वाले होकर हम दोनों सन्तान उत्पन्न करें। हम लोगों का जीवन सौ वर्ष का हो।' प्रत्येक वार प्रदक्षिणा कर लेने पर वह कन्या को चक्की के पत्थर पर चढ़ाता था और कहता था—इस पत्थर पर चढ़ो। पत्थर की भाँति स्थिर बनो। शत्रुओं को जीतो। उन्हें पादाक्रान्त करो। इसके पश्चात् कन्या अर्यमा, वरुण और पूषा देवों के लिए लावा का

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.७.१-२।

२. पाणिग्रहण अखण्ड मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना के लिए होता था। केवल वैवाहिक सम्बन्ध करने के अवसर पर ही पाणिग्रहण नहीं होता था, अपितु मित्रता का सम्बन्ध करने के लिए भी अग्नि के समक्ष पाणिग्रहण किया जाता था। रामायण के अनुसार राम और सुग्रीव का मैत्री-सम्बन्ध इसी विधि से सम्पन्न; आ था।

होम करती थी। इस अवसर पर प्रत्येक देव को होम करने के साथ वर कहता था—कन्या ने अमुक देव के लिए अग्नि में होम किया है। वे देव कन्या को यहाँ से मुक्त करें। यदि वधू की शिखायें गुंथी होती थीं तो वर उन्हें खोलता था और कहता था कि मैं तुम्हें वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ।

अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सप्तपदी होती थी। वर के नेतृत्व में वधू सात पद अपराजिता (उत्तर-पूर्व) दिशा में चलती थी। इनमें से एकपदी अन्न के लिए, द्विपदी बल के लिए, त्रिपदी धन-समृद्धि के लिए, चतुष्पदी सुख के लिए, पंचपदी सन्तान के लिए, षट्पदी ऋतुओं के लिए तथा सप्तपदी सख्य-भाव के लिए थी। पति कहता था— हम दोनों अनेक पुत्र प्राप्त करें। वे सभी दीर्घायु हों।

इसके पश्चात् वर-वधू के सिरों को एक साथ करके पुरोहित उन पर जल छिड़कता था। रात में वे किसी वृद्धा ब्राह्मणी के घर में वास करते थे, जिसके पति और पुत्र जीवित होते थे। रात्रि के समय ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षियों को नक्षत्र-मण्डल में देख कर वधू कहती थी—मेरा पति जीवित रहे। मुझसे सन्तान उत्पन्न हो।

वधू के पति के घर प्रयाण करते समय मार्ग में जो घर पड़ते थे, वहाँ घोषणा की जाती थी कि यह नववधू सौभाग्य लिये चलती है। वधू के पति के घर में प्रवेश करते समय मन्त्र पढ़ा जाता था कि तुम्हारी सन्तान के द्वारा इस घर में आनन्द की अभिवृद्धि हो। घर में वधू और उसके पति साथ बैठते थे। वैदिक मन्त्रों से हवन होता था। अन्त में पति दही खाते हुए मन्त्र-गायन करता था—सभी देवता हम दोनों के हृदय को संयुक्त करें। शेष दही को वह पत्नी के लिए दे देता था और पत्नी के हृदय-प्रदेश का लेप कर देता था। उस दिन से तीन रात, बारह रात या एक वर्ष पर्यन्त वे क्षार और लवण नहीं खाते थे, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे, अलंकार धारण नहीं करते थे और धरातल पर सोते थे। एक वर्ष तक ऐसा व्रत कर लेने पर जो सन्तान विवाहित दम्पती से उत्पन्न होती थी, वह ऋषि होती थी।[1]

परवर्ती युग में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना की प्रक्रियाओं का अधिक विकास हुआ। इसका परिचय नीचे लिखे विवरण से मिलता है:—

वर-प्रेक्षण, वाग्दान या कन्यावरण के द्वारा वैदिक काल में भी कन्या के पिता के पास वर की ओर से कुछ लोग जाकर विवाह का प्रस्ताव करते थे।[2] फिर तो वर स्वयं अपने मित्रों के साथ जाकर कन्या के पिता की विवाह-सम्बन्धी अनुमति

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.५-८।

२. ऋ० वे० १०.८५.९, १५, ३३।

लेने लगा। वर आरम्भ में शची की पूजा कर लेने के पश्चात् सजी-धजी वधू की पूजा करता था और कामना करता था कि तुम सौभाग्य, स्वास्थ्य और सन्तान का संवर्धन करो।[1] परवर्ती युग में वर की अवस्था स्वल्प ही होती थी। ऐसी परिस्थिति में उसका पिता ही दो-चार मित्रों के साथ कन्या के पिता के घर जाकर उससे अपने पुत्र के लिये कन्या की याचना करता था। कन्या का पिता कुटुम्ब के सभी सदस्यों का मत लेकर अपनी स्वीकृति दे देता था। यही वाग्दान था—'मैं अपनी कन्या को आपके पुत्र के लिए दान दे देता हूँ। मैंने वचन से यह कन्या सन्तानोत्पत्ति के लिए दे दी है। आप ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। आप प्रसन्न मन से कन्या का पर्यवेक्षण करें।' वर का पिता कहता था—'आपने कन्या-दान किया। मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया।' इसके पश्चात् वर का पिता कन्या की पूजा धन, वस्त्र और पुष्प आदि से करता था। अन्त में ब्राह्मण आशीर्वाद देते थे।[2]

विवाह के दिन मण्डप बनाने का काम होता था, जिसे मण्डपकरण कहा जाता था। उसी दिन समय-ज्ञान के लिए घटिका-यन्त्र का निर्माण होता था। इस युग से वैवाहिक प्रसाधन-कर्म में हरिद्रा-लेपन का प्रचलन महत्त्वपूर्ण बना।

समंजन की विधि में वर और वधू दोनों के हृदयों के एकीकरण की कामना वैदिक मन्त्रों से की जाती थी। कन्या का पिता वर और वधू का अनुलेपन करते हुए कामना करता था कि लेपन उन दोनों के स्नेह का प्रतीक हो। परस्पर समीक्षण या अन्तःपट की प्रक्रिया में वर और वधू के बीच फैलाई हुई तिरस्करिणी को शुभ मुहूर्त में हटा दिया जाता था, जिससे वे एक दूसरे को देख सकें। तिरस्करिणी पड़े रहने के समय ब्राह्मण मंगलाष्टक का पाठ करते थे। तिरस्करिणी हटाते समय ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ वर करता था। इस प्रक्रिया का तात्पर्य सम्भवतः यह था कि दाम्पत्य-जीवन में पति-पत्नी के बीच किसी प्रकार का दुराव नहीं होना चाहिए। गोत्रोच्चार-विधि में कन्या-दान के पहले एक वार या तीन वार वर और कन्या के पूर्वजों के नाम का गायन होता था। साथ ही उनके गोत्र और प्रवर का एक या तीन वार नामोच्चारण होता था। प्राचीन ऋषियों से वर और कन्या का सम्बन्ध बतला कर समाज को वैवाहिक सम्बन्ध के औचित्य और गरिमा का परिचय देना इस प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य था।

---

१. वीरमित्रोदय, भाग २, पृ० ८१०।

२. उपर्युक्त विधि के स्थान पर इसके ठीक विपरीत आधुनिक वर-वरण (तिलक) की विधि चल पड़ी है। यह रीति भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बहुत प्राचीन नहीं है।

गृहस्थ-जीवन

समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक का विवाह होता था और उसका गृहस्थ-जीवन आरम्भ होता था। प्राचीन भारत में विद्यार्थी-जीवन में व्यक्तित्व के विकास के लिए जो योजना बनी थी, उसमें प्रायः ज्ञान और तपोमय साधना के साथ लोकोपयोगी विषयों का शिक्षण आवश्यक अंग था। इस प्रकार सुशिक्षित नागरिक अपने ज्ञान और शक्तियों को अपने कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र का अभ्युदय करने में लगा देने का अवसर पाता था। उपर्युक्त उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक पूरा करना व्यक्तित्व के विकास के लिए परवर्ती सोपान के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। गृहस्थ रहकर कोई भी विद्वान् व्यक्ति उस समाज का ऋण चुकाने में समर्थ होता था, जिसकी उदारता के बल पर वह विद्यार्थी-जीवन में अपने लिए भोजन, वस्त्र और आवास आदि की आवश्यकताओं से निश्चिन्त रहता था।

वैदिक गृहस्थ

वेदयुगीन गृहस्थों का जीवन सदाचार-निष्ठ था। वे सतत उद्योग करके अपने उपभोग की प्रचुर सामग्री प्राप्त कर लेते थे।[1] यज्ञों में गृहस्थ-ऋषि देवताओं से प्रार्थना करते थे कि हमें भरपूर अन्न, धन और सौभाग्य की प्राप्ति हो और हमारे पास असंख्य पशु हो जायँ।[2] यज्ञों में पुरोहित को सैकड़ों गायें, घोड़े, रथ और स्वर्ण-मुद्रायें प्राप्त होती थीं। ऐसे समृद्धिशाली गृहस्थ समाज का अभ्युदय करने में समर्थ थे। वे नित्य नई स्तुतियों की रचना करके उनसे देवताओं के लिए यज्ञ करते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार देवता प्रसन्न होते हैं। यज्ञ के माध्यम से उन्हें देवताओं के सान्निध्य की प्रतीति होती थी। इसके प्रभाव से वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते थे। देवताओं के चरित की जो कल्पना वैदिक साहित्य में मिलती है, उसके अनुसार वे कर्मण्य, उदार, सत्यपरायण, सहानुभूति-

---

१. उदाहरण के लिए ऋग्वेद १.११६.३ के अनुसार उषा काल से मानव ही क्या पशुपक्षी भी काम में जुटे हैं। ऋग्वेद १०.३४.१३ में शिक्षा दी गई है—जुआ मत खेलो। खेती करो। जो धन है, उसी को भोगो। अपने पशुओं और स्त्री की चिन्ता करो। यह शिक्षा सभी अकर्मण्य लोगों के लिए चेतावनी-रूप में है।

२ ऋग्वेद १.४८.१-१६, १.४३.७; ६.१२.६; ७.१.५, २३, २४।

मय, पराक्रमी और उत्साह-सम्पन्न हैं।[1] इन्हीं गुणों को गृहस्थों ने अपने जीवन में ढालने का प्रयास किया।

वैदिक काल से इस देश में प्रायः सदा अतिथियों का बहुविध आदर सत्कार करने की योजना सदा प्रतिष्ठित रही है। लोगों को इस उच्च सिद्धांत का बोध हो गया था कि जो मनुष्य अकेले खाता है, वह निरा पापी है।[2] तत्कालीन समाज को अतिथि शब्द इतना प्रिय था कि लोग अपने नाम में अतिथि जोड़ लेते थे।[3] उस युग के मानव ने सहस्र-पोष्य की कल्पना की थी। इसके अनुसार एक व्यक्ति के द्वारा सहस्रों के पोषण की सम्भावना सहज ही उसकी उच्चता सूचित करती है।[4]

वैदिक गृहस्थ का जीवन अतिशय धार्मिक था। प्रातः और सायं अग्निहोत्र के विधान के द्वारा हवन होता था। हवन में प्रधानतः अग्नि की स्तुति होती थी। दोपहर या दिन के किसी अन्य भाग में सोम-यज्ञ सम्पन्न होता था। विविध देवताओं के बहुविध अन्य यज्ञों का प्रचलन था। उनके कृषि के काम में. पशु-पालन में तथा अज्ञानान्धकार को दूर करने में सदैव देवताओं की सहायता और तदनुकूल स्तुति अपेक्षित थी।[5]

वैदिक गृहस्थ के व्यक्तित्व का परिचय उसकी नीचे लिखी कामना से हो सकता है—हे इन्द्र. मुझे श्रेष्ठ धन दो। धन और दक्षतापूर्ण चेतनता प्रदान करो और मुझे सम्पत्तिशाली बनाओ। मेरी सम्पत्तियों का पोषण करो। शरीर को स्वच्छ बनाओ। हमारी वाणी में मधुरता भर दो। मेरे दिनों को सुदिन बनाओ।[6] हे वरुण. मुझे किसी धनी और दानशील व्यक्ति से कुछ याचना न करनी पड़े।[7] ऋण भोगने वाले के लिए तो मानो उषा का उदय होता ही नहीं। मुझे दूसरे

---

१ उदाहरण के लिए देखिए अथर्ववेद १२.१.४८ के अनुसार पृथ्वी मूर्ख और विद्वान् दोनों का भरण-पोषण करती है। अच्छे बुरे सब उस पर रहते हैं।

२. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद १०.११७.६।

३. ऐसे नाम मेधातिथि और अतिथिग्व आदि हैं। अग्नि को ऋग्वेद ५.८.२ में पूर्व्य अतिथि की उपाधि दी गयी है।

४. ऋग्वेद ६.३५.१।

५. ऋ० १.४३.२, ६।

६. ऋग्वेद २.२१.६।

७. ऋ० २.२७.१७।

का धन न भोगना पड़े।[१] यजुर्वेद में गृहस्थ की सूर्य से प्रार्थना है—हे देव, सभी पापों को मुझसे दूर रखें। जो कुछ कल्याणप्रद हो. उसे मुझे दें।[२]

देवताओं की भाँति पितरों की कल्पना भी ऋग्वेद के युग में हो चुकी थी। देवताओं के साथ लोग पितरों की स्तुति करते थे और उनके लिये सोम, हवि और स्वधा का समर्पण करते थे। पितरों से आशा की जाती थी कि वे प्रसन्न होकर अपने वंशजों की रक्षा करेंगे, उनकी सहायता करेंगे और उन्हें शान्ति प्रदान करके हानि से बचायेंगे। पितरों से धन और शक्ति मिलने की सम्भावना भी थी। वैदिक आर्यों ने पितरों को सत्यनिष्ठ माना और उनके पथ-प्रदर्शन से अनुगृहीत हुए।[३] पितरों के स्वरूप की उपर्युक्त कल्पना के आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज पितरों के रहस्यमय साहचर्य की अनुभूति करता था और समाज के चरित्र-निर्माण में पूर्वजों की सत्यपरायणता और सहायशीलता का अच्छा योग रहा होगा। लोगों के समक्ष मृत्यु और वृद्धावस्था का भय तो रहता ही नहीं होगा, जब वे सोचते होंगे कि मरने के पश्चात् पितृ-कोटि में आ जाने पर अतिशय सुख की सम्भावना है।[४]

समृद्धिशाली गृहपति का समाज में सम्मान था। उनकी उदारता से तत्कालीन ऋषियों का भरण-पोषण होता था। महर्षि भरद्वाज ने कामना की है—हे देव, हमें किसी वीर, धनी और प्रचुर दक्षिणा देने वाले गृहपति से मिलाओ।[५]

परवर्ती वैदिक साहित्य में गृहस्थों का अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अदम्य उत्साह दिखाई पड़ता है। वे कामना करते थे कि मेरा व्यक्तित्व, वर्चस्विता, तेजस्विता, वल और ओजस्विता से समन्वित हो। मेरा व्यक्तित्व मधुर हो जाय, जिससे मैं लोगों के बीच प्रभावोत्पादक बातें कह सकूँ।[६] अथर्ववेद का गृहस्थ ऋत, सत्य, तप, धर्म, कर्म, श्रम, राष्ट्र, वीर्य, बल, लक्ष्मी, समृद्धि आदि की उदात्त कल्पनाओं के द्वारा स्वयं उदात्त बन चुका था। वह इनके द्वारा प्राप्य आनन्द, मोद,

---

१. ऋ० २.२८.९।

२. शुक्लयजुर्वेद संहिता ३०.३।

३. ऋग्वेद १०.१५।

४. ऋग्वेद १.११६.२५ में कक्षीवत् ने अपने सम्बन्ध में कहा है—मेरे पास अच्छी गायें हों। मेरे पुत्र अच्छे हों। मैं दीर्घायु को देखते और भोगते हुए वृद्धावस्था में वैसे ही प्रवेश करूँ, जैसे अपने घर में प्रवेश करता हूँ।

५. ऋग्वेद ६.५३.२।

६. अथर्ववेद ९.१.१७-२२।

प्रमोद आदि भावों की अनुभूति करता था।[1] उसकी कल्पना थी कि सत्य, ऋत, तप, ब्रह्म, यज्ञ आदि पृथ्वी को धारण करते हैं।[2] समाज को धारण करने के लिए भी उन्होंने इन्हीं गुणों को आवश्यक माना था। वे पृथ्वी से प्रार्थना करते थे—हमें गौ, अश्व, और पक्षी के साथ ही वर्चस्विता प्रदान करो। जिस प्रकार स्वर्ण की आभा पड़ने से कोई वस्तु स्वर्णिम हो जाती है, वैसे ही मुझे चमका दो। मुझसे कोई द्वेष न करे। मुझे उस गन्ध से सुरभित कर दो, जो कमलों में है।[3]

गृहस्थाश्रम के सुसंयत और तपोमय जीवन का नाम ब्रह्मचर्य था। लोगों की कल्पना थी कि संयम और पवित्र जीवन के द्वारा मानव में उस शक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे समाज का सर्वोच्च कल्याण किया जा सकता है।[4] प्रायः सभी नागरिक स्वयं सुप्रतिष्ठित होकर श्रीसम्पन्न और वैभवशाली होना चाहते थे।[5] संभवतः उपर्युक्त उद्देश्य से ही वे अपने शरीर को कर्मण्य और सक्षम बनाये रखने की इच्छा करते थे। वे पृथ्वी की स्तुति करते हुए कामना करते थे—हमारा दाहिना या बायाँ पाँव फिसल न जाय, जब हम उठते, बैठते, खड़े होते या चलते-फिरते हैं। हम चाहे कितने ही वृद्ध क्यों न हो जायँ, हमारी देखने की शक्ति क्षीण न हो।[6]

जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त सौष्ठव के लिए आवश्यकता थी अत्यधिक धन की। उनको पृथ्वी से भरपूर धन मिलता था। खेती करते हुए वे प्रचुर मात्रा में अन्न उत्पन्न करते थे। भारत के विशाल प्राङ्गण में पशुओं के चरने के लिए घास के मैदान सदैव हरे-भरे रहते थे। इस प्रकार वे अधिकाधिक पशुओं का पालन कर सकते थे। पृथ्वी के रत्नों और धातुओं की सम्पन्नता का अतिशय महत्त्व था। पृथ्वी सहस्र धाराओं के माध्यम से उन्हें रत्न और धातु आदि देती थी। ऋषि ने पृथ्वी की प्रशंसा करते हुए कहा है—

---

१. अथर्ववेद ११.७.१७, १८, २६।

२. अथर्ववेद १.१२.१।

३. अथर्व० १२.१।

४. अथर्व० ११.५.१६ के अनुसार आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता है। ११.५ १७ के अनुसार ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। ब्रह्मचर्य के बल पर ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पाता है। ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मृत्यु को मार भगाया। अथर्व० ११.५.१९।

५. अथर्व० १२.१.६३।

६. अथर्व० १२.१.२८, ३३।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथ्वी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥अथर्व० १२.१.४४

(अपने गर्भ में विविध प्रकार की निधि धारण करने वाली पृथ्वी मेरे लिए मणि और हिरण्य देगी। उदारतापूर्वक धन देने वाली पृथ्वी हम सबको धन देगी।)

ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में पृथ्वी की खनिज सम्पत्ति का महत्त्व लोगों को भली भाँति ज्ञात हो गया था और वे श्रम से सम्पत्ति प्राप्त करके अपनी रहन-सहन को ऊँचा बना रहे थे।

अपने व्यक्तित्व का उचित दिशा में विकास करके ही अथर्वयुगीन मानव कह सकता था—

यद्वदामि मधुमत् तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥अथर्व० १२.१.५८

(जो कुछ बोलता हूँ, मधुर बोलता हूँ। जो कुछ मैं चाहता हूँ, वह मुझे प्राप्त हो जाता है। मैं प्रतिभाशाली हूँ। मैं जागरूक और उद्यमी हूँ। जो मेरे ऊपर आक्रमण करते हैं, उन्हें मैं परास्त करता हूँ।)

तत्कालीन गृहस्थों में से कुछ ऐसे मन्त्र-रचयिता थे, जो आधिभौतिक अभ्युदय के लिए व्यापार करते थे। व्यापार में वे सौगुना उपार्जन करने के लिए प्रवृत्त होते थे।[1]

अथर्ववेद के गृहस्थ के घर की रूप-रेखा कुछ-कुछ इस प्रकार थी—घर में अनेक वीर पुत्र-पौत्र हैं। उसमें घोड़े, गायें और बहुविध सम्पन्नता विराजती है। वहाँ घी, दूध आदि के पान से महान् सौभाग्य प्रकट हो रहा है। घर क्या है— आश्रम है, बड़ी-सी छत और उसमें भरा हुआ है पवित्र धान्य। घर में बछवे और बालक आते-जाते हैं। सन्ध्या के समय दुधार गायें आ पहुँचती हैं। घर तो फूस का ही है, पर बहुत सुखप्रद है और धन-धान्य-सम्पन्न है। उसमें अनेक स्वस्थ और वृद्ध पुरुष रहते हैं। घर में पेय सामग्री भी भरपूर प्रस्तुत है। अमृत और घृत से भरा घड़ा है, जिसमें से यथेच्छ पी लेना ही शेष काम है। घर के एक भाग में अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित हो रही है।[2]

अथर्ववेद के अनुसार अतिथि साक्षात् ब्रह्म है। उस समय अतिथि का सत्कार

---

१. अथर्ववेद ३.१५।
२. अथर्ववेद ३.१२।

यज्ञ-रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस यज्ञ में अतिथि पुरोहित होता था और आतिथेय यजमान होता था। सत्कार सम्बन्धी सारी विधियों को क्रमशः याज्ञिक विधियों के समकक्ष मान्यता प्राप्त हुई थी।[1] अतिथि का अतिशय महत्त्व गृहस्थ के पाप दूर कर देने में माना गया। तत्कालीन धारणा के अनुसार अतिथि आतिथेय को स्वर्ग-लोक का अधिकारी बना देता है।[2]

अतिथि को सबसे पहले भोजन दिया जाता था। लोगों का विश्वास था कि जो मनुष्य अतिथि के पहले खा लेता है, उसके घर के इष्ट और पूर्त विनष्ट हो जाते हैं। उसके घर में दूध और रस का अभाव हो जाता है। सभी लोग बलहीन हो जाते हैं। वहाँ किसी प्रकार का अभ्युदय सम्भव नहीं होता। सन्तान और पशु की कमी हो जाती है। यश और कीर्ति मिट जाती हैं। श्री और सहमति उस घर को छोड़ कर चल देते हैं। नियम बना कि स्वादिष्ठ वस्तुयें पहले अतिथि को दी जायँ।[3]

अथर्वयुगीन धारणा के अनुसार अतिथियों के लिए विविध प्रकार के भोज्य देने से विभिन्न यज्ञों के फल प्राप्त होते हैं। अतिथि के लिए जलमात्र लेकर प्रस्तुत होने वाले मनुष्य को सन्तान की समृद्धि सम्भव होती है। वह मनुष्य प्रतिष्ठित हो जाता है और अपनी सन्तान का प्रेमपात्र बना रहता है।[4] उस युग में अतिथि को देखते ही गृहस्थ का हृदय उल्लसित हो जाता था। वह मधुर वाणी से उसका अभिनन्दन करता था। कुटुम्ब के सभी लोग काम छोड़ कर अतिथि के स्वागत में तत्परतापूर्वक जुट जाते थे।[5]

शतपथ ब्राह्मण में गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञों का विधान है। गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह नित्य इन यज्ञों का सम्पादन करे। पंच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ सर्वप्रथम है। ब्रह्मयज्ञ था वेदों का स्वाध्याय। इसका सम्पादन करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति सम्भव मानी गई। इस यज्ञ के माहात्म्य का परिचय देने के लिए ही सम्भवतः कहा गया कि अन्य यज्ञों में दक्षिणा-रूप में प्रदान की हुई सारी पृथ्वी और धन से जो लोक प्राप्त होते हैं, उनसे तिगुने अच्छे लोक ब्रह्मयज्ञ के द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। स्वाध्याय से प्रसन्न होकर देवता स्वाध्यायी को विविध प्रकार

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए अथर्ववेद ९.६.१-१२।

२. अथर्ववेद ९.६.१८-२३।

३. अथर्ववेद ९.६.३१-३९।

४. अथर्व० ९.६.४०-४९।

५. अथर्व० ९.६.५२-६०।

के अभ्युदयों से समायुक्त कर देते हैं। स्वाध्याय के विषय थे वेद, वेदांग, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, नाराशंसी, गाथा आदि। तत्कालीन धारणा के अनुसार स्वाध्याय से देवताओं को मधु की हवि मिलती है और स्वाध्यायी से पितरों को घी और मधु की धारा प्राप्त हो जाती है। चाहे कोई किसी भी स्थिति में क्यों न हो, उसे कुछ न कुछ स्वाध्याय नित्य करना ही चाहिए।[१] ब्रह्मयज्ञ के स्वाध्याय में गृहस्थ के व्यक्तित्व के विकास की अनूठी योजना मिलती है।

शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म-यज्ञ के अतिरिक्त पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ और अतिथि-यज्ञ का विधान मिलता है। पितृ-यज्ञ में पितरों की परितृप्ति के लिए स्वधा के साथ जल आदि समर्पित किया जाता था। देव-यज्ञ में स्वाहा के साथ समिधा आदि से देवताओं का परितोष किया जाता था। भूत-यज्ञ में प्राणियों की परितृप्ति के लिए नित्य बलि दी जाती थी। अतिथि-यज्ञ में अतिथि के लिए जल आदि प्रस्तुत करके उनका परितोष किया जाता था।[२] उपनिषद्-युग में महायज्ञों का विधान प्रायः इसी प्रकार है।[३]

उपनिषद्कालीन गृहस्थ के जीवन की रूप-रेखा का प्रारम्भिक परिचय इन शब्दों में मिलता है—किसी पवित्र देश में स्वयं स्वाध्याय करते हुए, पुत्र और शिष्यों का अध्यापन करते हुए, उन्हें धार्मिक बनाते हुए, आत्मा में सभी इन्द्रियों को सम्प्रतिष्ठित करके, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसामय व्यवहार करते हुए वह पूर्ण जीवन बिताये।[४] उपर्युक्त जीवन-विन्यास का सूत्रपात समावर्तन-संस्कार-सम्बन्धी आचार्य के उस भाषण से होता है, जिसमें वह कहता था—सत्यं वद, धर्मं चर आदि। गृहस्थ-जीवन के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—दम, दान और दया करना सभी विद्वान् पुरुषों के कर्तव्य

---

१. शतपथ ब्रा० ११.५.६।

२. शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.२।

३. स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो निपृणाति यत् प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहे श्वापदा वयांसि आपिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति। बृहदारण्यक उप० १.४.१६।

४. छान्दोग्यो पृ० ८.१५.१।

हैं।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में गृहस्थ के लिए स्वाध्याय और प्रवचन को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाकर उनके साथ तप, दम, शम, अग्निहोत्र, अतिथि, मानुष, प्रजा (सन्तान) आदि के प्रति उनका ध्यान आकर्षित किया गया है।[2]

उपनिषद्युगीन जीवन-पद्धति के लिए सत्पथ का सर्वाधिक महत्त्व था। समाज का अनायास ही अभ्युदय करने के लिए प्रवचन अर्थात् निःशुल्क अध्यापन को उसके लिए कर्तव्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। गृहस्थ स्वाध्याय करते हुए उच्च-कोटि का आचार्य होता था। वह देवता और पितरों के लिए यज्ञ करता था और आतिथ्य को धर्म का प्रमुख अंग मानता था। ये चारों विधान—स्वाध्याय, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ और आतिथ्य—शतपथ ब्राह्मण के महायज्ञों के समकक्ष हैं। शतपथ ब्राह्मण का भूत-यज्ञ उपनिषद् के अग्निहोत्र में समन्वित है। गृहस्थ-जीवन में अग्निहोत्र की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि अग्निहोत्र सभी प्राणियों के भरण-पोषण का प्रतीक है। जिस प्रकार क्षुधित बालक माता का आश्रय लेते हैं, वैसे ही सभी भूत अग्निहोत्र का आश्रय लेते हैं।[3]

उपनिषद्-काल के गृहस्थ आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नित्य अपना अभ्युदय करने के लिए उद्यत रहते थे। स्वाध्याय और प्रवचन के अतिरिक्त वे उच्च दार्शनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महान् आचार्यों के समीप जाते थे अथवा उनसे भेंट होने पर अपने सन्देहों को दूर करते थे। कुछ राजा दार्शनिक विवादों की व्यवस्था करके ज्ञान के प्रसार में सहयोग देते थे।[4] तत्कालीन नागरिक की प्रार्थना इन शब्दों में होती थी—हे देव, मैं अमरता धारण करूँ। मेरा शरीर कर्मण्य हो। मेरी जिह्वा मधुमत्तम हो। कानों के द्वारा मैं बहुश्रुत बनूँ।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ११, बृहदारण्यक ५.२।

२. तै० शीक्षावल्ली ९।

३. यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते,
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते॥ छान्दोग्य० उ० ५.२४.५

४. माण्डूक्य उप० १.३ के अनुसार शौनक नामक महाशाल (गृहस्थ) ने अंगिरा से ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछा था। छान्दोग्य उप० ५.११ के अनुसार प्राचीन शाल, सत्ययज्ञ आदि ने पहले स्वयं ब्रह्मविषयक मीमांसा की। अन्त में वे राजा अश्वपति के पास प्रश्न पूछने के लिए गये। ब्रह्मविषयक वाद-विवाद का आयोजन करने वालों में राजा जनक का नाम सर्वोपरि है। बृहदारण्यक उप० ४.१।

हे सूर्य, तुम दिशाओं के सर्वोत्तम कमल हो। मैं स्वयं मनुष्य-जाति का सर्वोत्तम कमल बन जाऊँ।[1]

उपनिषद्-कालीन ब्रह्मज्ञान के आचार्यों के द्वारा आधिभौतिक अभ्युदय के लिए जो योजना बनाई गई, उसके अनुसार 'सारा जगत् ईश से व्याप्त है। किसी के धन के लिए लोभ नहीं करना चाहिए।' इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं था कि मानव अकर्मण्य होकर बैठे। उसे काम करते हुए ही १०० वर्ष जीने की कामना करनी चाहिए।[2] गृहस्थ के लिए प्रकाशमय जीवन प्रशस्त माना गया। वह अपने पशु, सन्तान और कीर्ति से महान् समझा जाता था। मानव का महामनस्वी होना आवश्यक गुण था। उसके जीवन की सफलता इस बात में थी कि वह अन्नाद (बहुभोजी) हो।[3] मनुष्य में शरीर का सौष्ठव भी होना चाहिए। किसी अंग में विकार नहीं होना चाहिए।[4] मनुष्य का प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस्विता और भोज्य पदार्थ आदि से समायुक्त होना संहिताओं के ज्ञान के फल-स्वरूप माना गया। विद्वान् ब्राह्मण के पास वस्त्र, भोजन, पान और विविध प्रकार के पशुओं का समूह होना चाहिए।[5] तत्कालीन समृद्धिशाली विद्वान् गृहस्थ ही कामना कर सकता था कि मैं अपने इस घर में अभ्युदय करके सहस्र लोगों का पोषण करने योग्य बन जाऊँ।[6]

महाभारतीय गृहस्थ

गृहस्थाश्रम सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा का भारतीय संस्कृति में सदा सम्पोषण होता रहा। गृहस्थ के आचार और विशेषतः पंच महायज्ञों के पुण्यात्मक प्रभाव का प्रायः सभी शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। उपनिषद्-काल के पश्चात् गृहस्थों की समृद्धिशालिता के सम्बन्ध में दो निश्चित मत मिलते हैं—प्रथम, मनुष्य अधिक से अधिक धन अर्जन करके गृहस्थ-धर्म का पालन गौरवपूर्वक करे और

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ४.१; बृहदारण्यक उप० में दिशामेकपुण्डरीकमसि आदि।

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। ईशावास्योपनिषद्।

३. छान्दोग्य उप० २.११,१२।

४. छान्दोग्य उप० २.१९।

५. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ३.४; ४.१-२।

६. बृहदारण्यक उप० ६.४.२४-२८।

दूसरा, धन उपार्जन करने के चक्कर में न पड़े। फिर भी गृहस्थ-धर्म का पालन केवल उसी धन से करता रहे, जो कुछ आकाशवृत्ति से आ जाय। पहली विधि में गृहस्थ-धर्म के पालन में आधिभौतिक दृष्टि से उत्कृष्टता है और दूसरी विधि आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय की उच्चता का परिचायक रही है। पहली विधि प्रायः ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरी जातियों के लिए थी और दूसरी प्रधानतः ब्राह्मणों के लिए थी। दोनों विधियों में गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को अक्षुण्ण रखा गया।

महाभारत में गृहस्थ-जीवन के गौरव की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है—गृहस्थ के पास धन, गौ, भृत्य तथा अतिथि अधिकाधिक संख्या में होने चाहिए। इनके बिना वह कृश है।[1] गृहस्थ सभी प्राणियों के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है। गृहस्थाश्रम की त्यागमयी प्रवृत्तियों का आकलन करते हुए इसे यज्ञ का पर्याय माना गया और इस यज्ञ की सार्थकता इस प्रकार सिद्ध की गई—

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना।। महा० वनपर्व २.५३

(गृहस्थ के धन में सभी प्राणियों का भाग है। उसे उन सबके लिए कुछ न कुछ देना है, जो अपना भोजन स्वयं नहीं पकाते।)

गृहस्थ यदि दरिद्र भी हो तो उसके घर पर सभी प्राणियों के लिए तृण, भूमि, पानी और मधुर वाणी का अभाव होना ही नहीं चाहिए। आर्त के लिए शयन, थके व्यक्ति के लिए आसन, प्यासे के लिए पानी, भूखे के लिए भोजन आदि देना ही चाहिए।[2] इनको यथाविधि देने के लिए गृहस्थ के पास पर्याप्त धन होना आवश्यक था।

गृहस्थ-जीवन को महाभारत में कठोर और मुनिजनोचित कहा गया है। इसमें भी इन्द्रियों के भोगों के प्रति विरक्ति होनी चाहिए। कम से कम इन्द्रियों के ऊपर संयम होना चाहिए। इन्द्रियों के विषयों के प्रति अनासक्त होना, शठता और कपट से दूर रहना, परिमित आहार करना, अपने व्यवहार में सत्य, मृदु भाषण, दया और क्षमा की प्रतिष्ठा करना आदि गृहस्थ के आवश्यक गुण माने गये। इनके अतिरिक्त देवता और पितरों के लिए यज्ञ और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए दान का आवश्यक विधान बना।[3]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ८.२४।
२. महा० वनपर्व २.५२-५३।
३. महा० शान्तिपर्व ६१.९-१५।

महाभारतीय धारणा के अनुसार गृहस्थाश्रम के यज्ञ से देवता, शास्त्रों के श्रवण, अभ्यास और धारण से ऋषि तथा सन्तान उत्पन्न करने से प्रजापति प्रसन्न होते हैं। अतिथि के आने पर उसका आतिथ्य न करना अत्यन्त हानिकारक माना गया। लौकिक विश्वास था कि जिस गृहस्थ के द्वार से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उस गृहस्थ को अपना सारा पाप दे डालता है और स्वयं उसका पुण्य लेकर चल देता है।[1] अतिथि-यज्ञ के पंचदक्षिण-यज्ञ नामक पाँच अंगों की कल्पना हुई। ये पाँच अंग हैं—अतिथि को देखना, उसके प्रति मन से स्नेह करना, उससे बोलना, उसके पीछे चलना और उसकी उपासना करना।[2]

ब्राह्मण के अकिंचन होने से ही संस्कृति की प्रतिष्ठा की सम्भावना देखकर नियम बना कि सबसे अच्छे वे ब्राह्मण हैं, जो कापोती वृत्ति से रहते हैं।[3] उन्हें नित्य ही वेदों के अध्ययन-अध्यापन में लगे रहना चाहिए। उनसे थोड़े ही नीचे वे लोग माने गये, जो केवल दिन भर के लिए अन्न का संग्रह कर लेते हैं। इनका कर्त्तव्य था कि अध्ययन-अध्यापन के साथ दान देते रहें। यदि कोई ब्राह्मण कहीं मास भर के लिए अन्न संग्रह करता तो वह हीनतर कोटि का गिना जाता था। उसका कर्त्तव्य था कि अध्ययन-अध्यापन और दान के अतिरिक्त यज्ञों का सम्पादन करे। सबसे निकृष्ट वे ब्राह्मण गिने जाते थे, जो वर्ष भर के लिए अन्न संग्रह करते थे। सभी ब्राह्मणों के लिए तपोमय जीवन का विधान बना, जिसके अनुसार ब्राह्मण को दिन में तथा रात्रि के पहले पहर में नहीं सोना चाहिए, प्रातः-सायं भोजन करना चाहिए, और बीच में कुछ खाना नहीं चाहिए। चाहे कापोती वृत्ति का ही ब्राह्मण क्यों न हो, उसके लिए आवश्यक था कि अपने द्वार पर आये हुए छोटे-बड़े सबका आतिथ्य करे। इस प्रकार संन्यासी से लेकर चाण्डाल तक उसके आतिथ्य की परिधि में आते थे।[4]

महाभारत में इस समस्या पर विचार किया गया है कि मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए संन्यास लेना आवश्यक है कि नहीं अथवा क्या गृहस्थाश्रम में ही व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास सम्भव है? तत्कालीन विचारकों का मत है कि व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त

---

१. महा० शा० प० १८४.९-१८।

२. चक्षुर्दद्यान्मनोदद्याद्वाचं दद्याच्चसूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः॥ महा० अनुशासन पर्व ७.६।

३. कपोत की भाँति दाने चुन कर जीविका चलाना कापोती वृत्ति है।

४. महाभारत शान्तिपर्व २३५ वाँ अध्याय।

करने के लिए गृहस्थाश्रम के कर्मकाण्ड और संन्यास-आश्रम की ब्रह्मनिष्ठता समान रूप से उपयोगी हो सकती हैं। महाभारत के अनुसार अनेक राजा और ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सके हैं। ब्रह्मज्ञान भी भगवान् का यजन होता है। उपर्युक्त जीवन-विन्यास के द्वारा किसी भी आश्रम में रहता हुआ मानव सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[1]

बौद्ध गृहस्थ

गृहस्थ-जीवन की उपर्युक्त प्रवृत्तियों का समर्थन तत्कालीन बौद्ध साहित्य में मिलता है। इन ग्रन्थों में मानवता का जो उच्च आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है, उसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—मनुष्य को किसी की वस्तु का अपहरण नहीं करना चाहिए और न कभी झूठ बोलना चाहिए। यश पाने पर प्रमाद नहीं करना चाहिए। धार्मिक विधि से धन प्राप्त करना चाहिए—धोखा-धड़ी से नहीं। भोग-विलास की सामग्री पाने पर प्रमाद नहीं करना चाहिए। मनुष्य का चित्त स्थिर होना चाहिए। उसकी श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिए। वह स्वादिष्ठ वस्तुओं को कभी अकेले न खाय। प्रत्यक्ष या परोक्ष होने पर कभी सज्जनों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जैसा कहे, वैसा ही करना चाहिए।[2] ऐसी परिस्थिति में गृहस्थ की जीविका का उत्तम कोटि का होना आवश्यक ही है। 'जो धन या यश आत्मपतन या अधर्माचरण से प्राप्त होता है, वह कदापि स्पृहणीय नहीं है।'[3] इस युग में प्रत्येक नगर और गाँव में कम से कम कुछ गृहस्थ आतिथ्य करने के लिए विख्यात थे। उनके द्वार पर छोटे-बड़े भिक्षु बिना रोक-टोक पहुँच जाते थे। यदि अतिथि कोई महात्मा हुआ तो उसका उच्च कोटि का सत्कार होता था। किसी सेठ ने अपनी कुल-रीति का परिचय इन शब्दों में दिया है—हमारे द्वार पर कोई भिक्षुक, श्रमण या ब्राह्मण ऐसा नहीं आया, जो बिना कुछ पाये लौट गया हो। हमारे पिता-पितामह के समय से ही यह नियम चला आता है कि हम लोग अतिथि के लिए आसन, पानी और अन्य वस्तुयें देते हैं। हम उत्तम लोगों की सेवा भली भाँति करते हैं, मानो वे अपने सम्बन्धी हों।[4]

भारत की उपर्युक्त आतिथ्य-प्रियता इस देश की सांस्कृतिक प्रगति में अतिशय

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २६२.१३।

२. कक्कारु जातक ३२६।

३. लाभगरह जातक।

४. पीठ जातक ३३७।

सहायक सिद्ध हुई है। इसी के द्वारा तत्कालीन सर्वोच्च दार्शनिक और विचारकों का अनायास ही गृहस्थों के सम्पर्क में आना सम्भव होता था। इस प्रकार गृहस्थों को जीवन-दर्शन के उच्च तत्त्वों को उनसे सीखने का स्वर्ण अवसर मिलता था। आतिथ्य का अवलम्बन लेकर ही भारत में असंख्य संस्कृति के उन्नायक रोटी-पानी की झंझट से सर्वथा और सर्वदा मुक्त होकर दिन-रात अपने व्यक्तित्व का विकास करने में लग सके। जहाँ-कहीं उनमें यह योग्यता आई कि वे मानवता को अभ्युदय का पथ दिखा सकें, वे यत्र-तत्र-सर्वत्र लोगों से मिलते-जुलते, भ्रमण करते रहे। इस प्रकार उन्होंने उच्च जीवन का वह दीप भारत के कोने-कोने में इस प्रकार जलाया कि उसका शाश्वत प्रकाश शतियों तक अपनी अप्रतिम प्रभा से जगमगाता रहा है। वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृति के असंख्य आचार्य और शिष्यों को सतत प्रेमभाव से सहस्रों वर्षों तक इन्हीं गृहस्थों ने भोजन, वस्त्र, शयनासन और आवास दिया। कल्पना कीजिये—गौतम बुद्ध अपने साथ ५०० भिक्षुओं को लेकर गाँव-गाँव और नगर-नगर भ्रमण करते हैं। तत्कालीन भारतवासी, चाहे वह किसी मत का अनुयायी क्यों न रहा हो, उनका यथाशक्ति स्वागत करने के लिए प्रस्तुत है। व्यक्तिगत रूप से अथवा पूरा गाँव या नगर मिलकर इस पूरे जनसमूह को श्रद्धापूर्वक खिलाता-पिलाता है। इनके रहने के लिए विहार बना देता है। इस श्रद्धा के बल पर उनको अवसर मिलता है कि वे तत्कालीन सर्वोच्च विचारक और प्रबुद्ध महात्मा के अनुभवों को सुन सकें और उनके प्रवचनों से अपनी बौद्धिक समस्याओं का समाधान करा सकें।[१]

दिनचर्या

सूत्र और स्मृति-साहित्य में गृहस्थ के दैनिक जीवन का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। गृहस्थ के लिए नियम था कि वह रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में जागता रहे। इस प्रकार गृहस्थ का दिन रात्रि के अन्तिम पहर से लेकर एक पहर रात बीत जाने तक का होता था। रात्रि के मध्य के दो पहर—छः घण्टे सोने के लिए नियत थे। शेष छः पहर अर्थात् १८ घण्टों में गृहस्थ कब क्या करे और कैसे करे—यह नियत किया गया।

रात्रि के समय ब्राह्ममुहूर्त में तीन-चार बजे शय्या छोड़ते समय गृहस्थ

---

१. ऐसे प्रकरणों के लिए देखिए महावग्ग और चुल्लवग्ग। सारा बौद्ध साहित्य ऐसे प्रकरणों से ओतप्रोत है। धार्मिक नेताओं और उनके अनुयायियों के प्रति भारत की सदा अनुपम श्रद्धा रही है।

पवित्र विचारों से मन को शुद्ध करता था। इसके पश्चात् वह शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पंचमहायज्ञ, अग्निहोत्र, दोपहर के समय भोजन, जीविकोपार्जन, अध्ययन-अध्यापन, सायंकालीन संध्या, दान और सोना—गृहस्थ के लिए नित्य या आह्निक कर्म के रूप में करता था।

दिन में कर्मण्य बने रहने के लिए तथा अपनी शक्तियों का सत्कर्मों में उपयोग करने के लिए लोग नित्य ही अपनी बुद्धि को शुद्ध करना आवश्यक समझते थे। यों तो मानव का समग्र ज्ञान उसके लिए साधारण रूप से पथप्रदर्शक होकर कर्तव्य और तत्संबंधी विधि का बोध कराता है, फिर भी प्रातःकालीन नित्य चिन्तन से मानव के हृदय में सत्पथ के प्रति अभिनव उत्साह का संवर्धन होना स्वाभाविक है। गृहस्थ के लिए धर्म और अर्थ के विषय में चिन्तन की रीति का यही आधार रहा है। इसके साथ ही वह कहीं आधिभौतिक प्रवृत्ति में अधिक निमग्न न हो जाय, वह शारीरिक क्लेशों का, उनके कारणों का तथा वेदों के दार्शनिक तत्त्व का मनन करता था।[1]

शौच का विधान प्रत्यक्षतः शरीर की शुद्धि के लिए था, पर उसका विशेष महत्त्व मानव की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों को स्फुरणशील बना देने में है। भारतीय विचारधारा के अनुसार शौच धार्मिक जीवन का प्रथम सोपान है। यह ज्ञान का आयतन है। इसमें श्री का निवास होता है। इससे मन प्रसन्न होता है। यह देवताओं को प्रिय है। इससे आध्यात्मिक ज्ञान में सहायता मिलती है और शौच का सबसे बढ़कर महत्त्व बुद्धि को प्रखर बना देने में है।[2] शौच सम्बन्धी विधानों के द्वारा नगरों और गाँवों को मलिनता से बचाया गया और वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल तथा देवमूर्तियों के लिए पवित्र वातावरण का आयोजन किया गया।[3] शौच के पश्चात् मिट्टी और जल से १० बार बायें हाथ की और ७ बार दोनों हाथों की सफाई करने का नियम बनाया गया। इसके साथ ही पाद-प्रक्षालन और तीन बार आचमन करने का विधान था।[4]

दन्तधावन के लिए विविध वृक्षों की टहनियों के विभिन्न गुणों का आकलन

---

१. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च।। मनु० ४.९२।।

२. शौचं नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनं श्रियोऽधिवासो मनसः प्रसादनं देवानां प्रियं शरीरे क्षेत्र-दर्शनं बुद्धिप्रबोधनम्। हारीत गृहस्थ-रत्नाकर, पृ० ५२२।

३. मनुस्मृति ४.४५-५२।

४. मनस्मृति ५.१३६-१३९।

किया गया, साथ ही दातून की मोटाई और लम्बाई के सम्बन्ध में नियम बने। दन्तधावन सूर्योदय से पहले ही कर लेने का विधान था। भोजन के पश्चात् भी मुख-शुद्धि के लिए दातून करने का प्रचलन था। दातून करते समय मौन रहना आवश्यक था।[1]

दन्तधावन के पश्चात् नित्य स्नान का विधान था। स्नान किये बिना कोई धार्मिक विधि नहीं सम्पादित हो सकती थी।[2] वास्तव में भारतीय जलवायु में शरीर की शुद्धि और स्फूर्ति के लिए नित्य स्नान करना आवश्यक है। आयुर्वेद की दृष्टि से सायं-प्रातः स्नान होना चाहिए।[3] कुछ धर्मशास्त्रकारों ने भी गृहस्थों के लिए दो बार स्नान करने का नियम प्रस्तुत किया है।[4] स्नान के लिए वह जल सर्वोत्तम माना गया, जिसमें प्रवाह होता था। मनु ने नदी, झील, सरोवर आदि को स्नान करने के लिए उपयुक्त बताया है। गृहस्थ के लिए स्नान की सरल और सुविधापूर्ण विधि नियत थी। पानी में प्रवेश करने के पहले और प्रवेश कर लेने पर स्नायी वैदिक मन्त्रों का पाठ करता था। वह मिट्टी और गोबर का साबुन की भाँति उपयोग कर सकता था। स्नान कर लेने पर जल में भीगे वस्त्रों के साथ ही वह देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करता था। नंगे होकर स्नान करना निषिद्ध था। स्नान के पश्चात् शुद्ध वस्त्र धारण करके सन्ध्या की जाती थी। सन्ध्या कर लेने पर प्रातः-सायं हवन किया जाता था। इसके पश्चात् ऋग्वेद के मन्त्रों का पारायण होता था।

उपर्युक्त सभी काम दिन निकलने के दो घड़ी पश्चात् तक समाप्त हो जाते थे। तब से लेकर दोपहर तक जीविकोपार्जन करने के लिए श्रम करने का समय होता था।

दोपहर से पंच महायज्ञों का विधान आरम्भ होता था। प्रारम्भिक काल से इन यज्ञों के सम्पादन में इच्छानुसार व्यक्ति अधिक समय और धन लगा सकता था, अथवा यदि वह चाहता तो थोड़े समय में स्वल्प वस्तु के विनियोग से इन

---

१. विष्णु धर्मसूत्र ६१ तथा चरक सूत्रस्थान ५.६८।

२. कुछ धर्मशास्त्रकारों ने दन्तधावन से तो छुटकारा किसी-किसी दिन के लिए दे दिया है, पर स्नान से नहीं? पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३३.२ के अनुसार रविवार को दातून न करके केवल १२ कुल्ले से मुख-शुद्धि होनी चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व १२७.४ में अमावस्या के दिन दातून न करने का विधान है।

३. चरक-सूत्रस्थान ८.१८।

४. याज्ञवल्क्य १.९५, १००।

यज्ञों को पूरा कर लेता था।[1] शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया, पर आगे चलकर किसी वेद की एक ऋचा मात्र पढ़ लेना भी ब्रह्मयज्ञ के लिए पर्याप्त माना गया। शतपथ ब्राह्मण के समान तैत्तिरीय आरण्यक में यज्ञों की सरल विधियाँ पायी जाती हैं। इसके अनुसार अग्नि में समिधामात्र डाल देना देवयज्ञ, पितरों को स्वधा (पानी ही क्यों न हो) देना पितृ-यज्ञ, प्राणियों के लिए बलि रख देना भूत-यज्ञ और ब्राह्मणों को अन्न देना मनुष्य-यज्ञ है।[2]

पंच-महायज्ञ

मनु ने पंच महायज्ञों की स्पष्ट रूप-रेखा इस प्रकार दी है।[3]

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।मनु० ३.७०

(अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृ-यज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि देना भूतयज्ञ है और अतिथि का पूजन नृयज्ञ है।)

मनु के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में ऋषियों का अर्चन होता है। पितृ-यज्ञ में पितरों के लिए तर्पण के साथ ही श्राद्ध होना चाहिए। श्राद्ध नित्य होना चाहिए। अन्न, फल, मूल आदि जितनी वस्तुओं की आवश्यकता किसी व्यक्ति को पड़ती है, उतनी ही वस्तुओं की आवश्यकता पितरों को पड़ती है। पितरों तक इन वस्तुओं को पहुँचाने के माध्यम ब्राह्मण हैं। कम से कम एक ब्राह्मण को नित्य भोजन कराने का

---

१. गौतम० ५.९.६।

२. शतपथ० ११.५.६-१ तथा तै० आ० २.१०।

३. मानवी कल्पना के अनुसार मनु से सप्तर्षियों का प्रादुर्भाव हुआ। सप्तर्षियों से पितर, पितरों से देवता और मानव तथा देवताओं से चराचर जगत् (दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सुपर्ण और किन्नर तथा अन्य प्राणी और वनस्पति) उत्पन्न हुए हैं। मनुस्मृति ३.१९४-२०१। पंच महायज्ञ के लिए यह कल्पना दृढ़ आधार के रूप में प्रतिष्ठित रही है। यह सारा जगत् एक मनु से उत्पन्न है। अतः परस्पर संरक्षण का भाव समीचीन है। महाभारत के अनुसार तो —

पंचयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः।।

शान्तिपर्व १३४.२६।

नियम था। यह दैनिक श्राद्ध है। इसके अतिरिक्त, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में विशेष श्राद्ध होते थे।[1]

बलि का दूसरा नाम बलिवैश्वदेव है। यह भूतयज्ञ के लिए सम्पन्न होता था। इस यज्ञ के माध्यम से विभिन्न देवताओं, पितरों, वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के लिए बलि रखने का विधान था।[2]

मनु ने ब्रह्मयज्ञ में स्वाध्याय के स्थान पर अध्यापन की व्यवस्था देकर इसका महत्त्व अतिशय उत्कृष्ट कर दिया है। इसके माध्यम से प्रत्येक गृहस्थ-ब्राह्मण का शिष्यों को निःशुल्क पढ़ाना नित्य के लिए कर्तव्य रूप में प्रतिष्ठित हुआ। आगे चल कर भी मनु का यह मत मान्य हुआ। दक्ष के शब्दों में वेद और वेदांगों का अभ्यास ब्रह्म-यज्ञ है। वेदाभ्यास के पाँच अंग हैं—वेद को स्वयं पढ़ना, उसके अर्थों का विचार, उसके अनुसार कर्म करना, जप और शिष्यों को पढ़ाना।[3] दक्ष ने ब्रह्म-यज्ञ को ब्राह्मणों के लिए परम तप माना है और दिन के द्वितीय भाग में वेदाभ्यास करने का आदेश दिया है।[4] स्वाध्याय का महत्त्व केवल आर्य-संस्कृति में ही नहीं था, अपितु आर्येतर संस्कृति के लोग भी स्वाध्यायी थे। रामायण के अनुसार कुछ यातुधान स्वाध्याय करते थे।[5]

सूत्र और स्मृति-युग में नृयज्ञ या मनुष्य-यज्ञ में सम्पादित किये जाने वाले आतिथ्य का विशद विवेचन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि सभी गृहस्थों को —चाहे स्वयं उनको भरपेट भोजन मिलता हो या नहीं—अपने द्वार पर आये हुए अतिथि का सत्कार करना ही चाहिए। शत्रु-अतिथि का भी सत्कार करे।[6]

---

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए मनुस्मृति ३.२८१-२८६।

२. मनुस्मृति ३.८३-९२।

३. दक्षस्मृति २.२८, २९।

४. दक्ष० २.२७।

५. वा० रामा० सुन्दरकाण्ड ४.१३।

६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.४.९.५; पराशर १.४० के अनुसार—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

इस सम्बन्ध में अतिथिपति की उपमा वृक्ष से दी गयी है, जो अपने काटने वाले को भी छाया देता है। महा० शान्तिपर्व १४६.५।

अतिथि प्रायः भोजन के समय किसी गृहस्थ के द्वार पर जा पहुँचते थे। दिन के भोजन की वेला में अथवा रात्रि के भोजन की वेला में अतिथि को भोजन मिलने मात्र से प्रयोजन होता था। कहीं दो-चार दिन ठहरने वाले अतिथि प्राचीन साहित्य में कम ही दिखाई देते हैं।[1] किसी अतिथि का गृहस्थ के घर पहुँचना केवल इसी उद्देश्य से नहीं होता था कि घूम-फिरकर इधर-उधर खाना-पीना है।[2] लोग अपने काम से इधर-उधर आते-जाते हुए कहीं भी भोजन की वेला में भोजन पा सकते थे। यह तो साधारण लोगों की बात हुई। अनेक महर्षि भी देश-भ्रमण करते हुए अतिथि-रूप में स्वागत करने के लिए मिल सकते थे।[3] इन महर्षियों के दो उद्देश्य थे—तीर्थाटन करना और समाज के समक्ष सनातन सदाचार और ज्ञान का संदेश देना। ऐसी परिस्थिति में अतिथियों की कमी न थी और न उनका स्वागत करने के लिए उत्सुक गृहस्थों का अभाव था। प्रत्येक गृहस्थ की भावना थी कि प्रतिदिन किसी न किसी अतिथि को कहीं न कहीं से पकड़ कर अपने घर पर उसका आतिथ्य करना है। कभी-कभी तो घंटों खड़े रह कर गृहस्थ उनकी प्रतीक्षा करते थे कि कहीं कोई अतिथि दृष्टिगोचर हो जाय।[4] अतिथि के न मिलने पर आतिथ्य के पुण्य का भागी होने के लिए शास्त्रों में विविध योजनायें बनाई गईं।

अतिथि का सत्कार उसके आने के समय से लेकर पुनः प्रस्थान करने के समय तक बराबर हुआ करता था। उसके लिए प्रत्युद्गमन करना, (आगे बढ़कर लाना) पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, मधुपर्कादि समर्पित करना, उसके समीप प्रकाश के लिए दीपक जला देना, उसके उपयोग के लिए भोजन, शय्या, बिछौना, तकिया आदि की व्यवस्था करना तथा अन्य प्रकार की सुविधायें प्रस्तुत करना और जब वह जाने लगे तो उसे कुछ दूर तक पहुँचाना आदि प्रक्रियायें आतिथ्य की परिधि में रही हैं।[5]

---

१. गौतम० ५.३६; मनु० ३.१०२-१०३।

२. मनु ने ऐसे अतिथियों को धमकाया है—

> उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
> तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥ मनुस्मृति ३.१०४॥

३. पराशर १.४६-४७ तथा दक्ष० ७.४२-४४।

४. बौधायन गृह्यसूत्र २.९.१-२; वसिष्ठ ११.६।

५. गौतम० ५.२९-३४; आप० ध० सू० २.३.६.७-१५; मनु० ३.९९, १०७ तथा ४.२९; दक्ष ३.५-८। प्रत्युद्गमन की विधि श्रेष्ठ अतिथि के लिए थी।

यदि अतिथियों की संख्या भोजन पकाने के पहले ज्ञात हो जाती थी, तो उन सबके लिए भोजन पका लिया जाता था, पर कभी कभी अतिथि असमय आ पहुँचते थे, जब भोजन पक चुका होता था या कुछ अतिथि खा चुके होते थे। ऐसे अतिथियों के लिए पुनः भोजन पकाया जाता था।[1] गृहस्थ तो सभी अतिथियों के ही नहीं, अपितु अपने पूरे कुटुम्ब के भोजन कर लेने के पश्चात् खाता था।[2]

आतिथ्य की सामाजिक उपयोगिता प्रत्यक्ष है। धार्मिक दृष्टि से आतिथ्य का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है। आतिथ्य के माध्यम से स्वर्ग की प्राप्ति, मानसिक शान्ति और पापों से निवृत्ति की सम्भावना मानी जाती थी।[3] अतिथि-रूप में आये हुए योगी का सत्कार करने से मानव के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। यति तो साक्षात् विष्णु है।[4] अतिथियों को विभिन्न प्रकार के भोजन देने से विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों के सम्पादन का पुण्य बतलाया गया, यथा दूध-मिश्रित भोजन से वही फल मिलता है, जो अग्निष्टोम यज्ञ से।[5]

अतिथियों में श्रोत्रिय, आचार्य, ऋत्विक्, राजा और स्नातक के लिए सूत्र और स्मृति-युग में मधुपर्क समर्पण करने की रीति थी, जब वे कम से कम एक वर्ष के अन्तर से अतिथि बन कर किसी गृहस्थ के यहाँ पहुँचते थे। इस प्रकार पुरुष सबका पोषण करता था।[6]

उपर्युक्त यज्ञों के माध्यम से प्राचीन भारतवासियों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करने वाले देवताओं, ऋषियों, पितरों और महामनीषियों के सम्पर्क में आने का अनुपम अवसर मिलता था।

गृहस्थ अपने आश्रित जनों और अतिथियों के भोजन कर लेने पर स्वयं खाता था। यदि कहीं भोजन की कमी पड़ जाती तो स्वयं गृहपति, उसकी पत्नी और बालक भूखे रह सकते थे, पर दास को अवश्य भोजन देने का नियम था।[7] वह भूलकर भी

शूद्र-अतिथि से कुछ काम भी लिया जा सकता था। आप० ध० सू० २.२.४.१६-२१; मनु ३.१०७।

१. मनुस्मृति ३.१०५, १०८।

२. मनु० ३.११३, ११६-११८, २८५ तथा आप० ध० सू० २.४.९.१०।

३. आप० ध० सू० २.३.६.६ तथा २.३.७.५; विष्णुधर्मसूत्र ६७.३३।

४. दक्ष० ७.४२-४४; वृद्धहारीत ८.८९।

५. आप० ध० सू० २.३.७.४।

६. पूरयति सर्वमिति पुरुषः। पृ + कुषन्।

७. आपस्तम्ब ध० सू० २.५.९.११ ।

ऐसी वस्तुयें नहीं खा-पी सकता था, जो पहले से ही अतिथि आदि को न दी गई हों। भोजन के लिए शास्त्रीय विधि इस प्रकार थी—गृहस्थ को जल से हाथ-मुँह और पैर धोकर लिपे-पुते, पवित्र और रमणीय स्थान पर भोजन करने के लिए आसन पर बैठना चाहिए। भोजन करते समय सर्वतः शान्ति के लिए स्थिर आसन, एकान्त स्थान और मौन-व्रत अपनाना चाहिए। असमय भोजन नहीं करना चाहिए। पहला भोजन दिन में दोपहर के समय और दूसरा एक पहर रात जाते-जाते कर लेना चाहिए। इन दोनों भोजनों के बीच फल-मूल आदि खाये जा सकते थे।[1] भोजन के लिए जिन पात्रों का उपयोग होता था, वे धातुओं या पत्तों के बने होते थे। स्वर्ण की थाली से लेकर कमल के पत्ते तक भोजन के लिए काम में लाये जाते थे। इनके अतिरिक्त लकड़ी और मिट्टी के बर्त्तन खाने के लिए उपयोग में लाये जाते थे। स्वच्छता के लिए विविध प्रकार के विधान बनाये गये थे। भोजन के पहले और पीछे दो वार आचमन किया जाता था।[2] भोजन करते समय उत्तराच्छादन से शरीर का ऊपरी भाग ढका होता था, पर सिर पर कोई कपड़ा या पगड़ी नहीं रखी जाती थी।[3]

भोजन

भोजन की सर्वोच्च उपयोगिता के लिए उसके प्रति प्रशंसनीय भावना रखना आवश्यक माना गया। नियम था कि ज्यों ही भोजन परोसा जाय, खाने वाला तत्काल उसका अभिनन्दन करे। भोजन को देखते ही चित्त को उल्लसित हो जाना चाहिए। भोजन करते समय उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। आदर के साथ खाये हुए भोजन से बल और तेजस्विता का संवर्धन होता है और अनादर से खाया हुआ भोजन इनका विनाश करता है।[4]

---

१. आप० ध० सूत्र २.८.१९.१०।

२. आप० ध० सू० १.५.१६.९।

३. आप० ध० सू० २.८.१९.१२।

४. गौतम० ९.५९; वसिष्ठ धर्मसूत्र ३.६९; मनु० २.५४-५५। तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१.११ के अनुसार प्रातःकालीन भोजन के लिए कहना चाहिए—तुम सत्य हो। तुम्हारा परिषेक ऋत से करता हूँ। सायंकालीन भोजन के सम्बन्ध में कहना चाहिए—तुम ऋत हो। सत्य से तुम्हारा परिषेक करता हूँ। आप० ध०सू० २.२.३.११ के अनुसार भोजन पक जाने का समाचार सुनते ही कहना चाहिए—अच्छी तरह पका भोजन तेजस् प्रदान करता है।

भोजन करते समय मुँह चलाने की कोई ध्वनि श्रव्य नहीं होनी चाहिए। मुँह में ग्रास डालते समय अंगुलियों का स्वल्प भाग ही मुँह में जाना चाहिए। भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में नियम बने हुए थे। तत्कालीन धारणा के अनुसार भोजन की मात्रा न जानने वाले संकट में पड़ते हैं। भोजन सोच-विचार कर करना चाहिए। केवल रसास्वादन के लिए भोजन नहीं होना चाहिए, अपितु शरीर को चलाने, भूख मिटाने और श्रेष्ठ जीवन बिताने के लिए होना चाहिए। पेट में जब चार-पाँच ग्रास खाने के हेतु स्थान रिक्त रहे तभी पानी पी लेना चाहिए और भोजन समाप्त कर देना चाहिए।[1] उपर्युक्त नियम का स्पष्टीकरण भोजन की मात्रा को नाप-जोख कर सन्तुलित करके पूरा हुआ। नियम बना कि गृहस्थ को ३२ ग्रास खाना चाहिए, पर इतनी मात्रा में तो भोजन होना ही चाहिए कि काम करने की पूरी शक्ति बनी रहे।[2]

शयन

शयन-सम्बन्धी नियम बने हुए थे। सोते समय सिर उत्तर या पश्चिम दिशा में नहीं होना चाहिए। सिर को शरीर के शेष भाग से अधिक ऊँचाई पर रखना चाहिए। नंगे होकर सोना अथवा टूटी-फूटी चारपाई पर या पलाश की बनी शय्या पर सोना निषिद्ध था। श्मशान, निर्जन घर, मन्दिर, गोशाला, पर्वत-शिखर या अशुद्ध प्रदेश सोने के लिए समुचित स्थान नहीं माने जाते थे। दुष्ट पुरुषों या स्त्रियों से घिरकर सोना अनुचित माना जाता था। दिन में या गोधूलि-वेला में सोना निषिद्ध था। अपने गुरुओं की शय्या पर सोना वर्जित था।[3] सोने के पहले रात्रि-सूक्त के जप का विधान था। इसके साथ ही विष्णुनमस्कार तथा अगस्त्य, माधव, महाबली, मुचकुन्द, कपिल तथा आस्तीक मुनि की स्तुति की जाती थी। सिरहाने मांगलिक वस्तुओं से भरा जलपूर्ण कलश रखा जाता था तथा वरुण देवता सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों से अपनी रक्षा की जाती थी।[4]

---

१. आपस्तम्ब ध० सू० २.८.१९.५-६, वसिष्ठ १२.१९-२०; सक जातक २५५।

२. आप० ध०सू० २.४.९.१३; २.५.९.१२; वसिष्ठ ध०सू० ६.२०-२१

३. विष्णु धर्मसूत्र ७०। पौराणिक योजना के अनुसार घर पर सिर को पूर्व की ओर, विदेश में पश्चिम की ओर ससुराल में दक्षिण की ओर रखकर सोना चाहिए। पद्मपुराण उत्तर खण्ड २३३.७५।

४. पद्मपुराण उत्तर खण्ड २३३.७६-८५।

धार्मिक ग्रन्थों में गृहस्थों के रहन-सहन के सम्बन्ध में कुछ सामयिक नियम भी मिलते हैं, यथा वैशाख मास में तेल लगाना, दिन में सोना, काँसे के बर्त्तन में भोजन करना, खाट पर सोना, घर में स्नान करना, रात्रि में भोजन करना आदि निषिद्ध हैं।[1]

गृहस्थ का अपने विद्यार्थी-जीवन के आचार्य से सम्बन्ध बना रहता था। यदि आचार्य अपने ही गाँव का हुआ तो जीवन भर गृहस्थ प्रायः नित्य ही उसका दर्शन-मात्र करने के लिए उसके द्वार पर जा पहुँचता था। आचार्य के समक्ष वह सदैव ऐसा व्यवहार करता था, मानो अभी विद्यार्थी हो। वह नित्य कुछ स्वाध्याय तो करता ही रहता था। यदि पहले के पाठों में कुछ कम समझ में आया होता तो वह आचार्य से पढ़ लेता था। प्रतिवर्ष अध्ययन-सत्र के आरम्भ होने के समय वह उपाकर्म-विधि से अध्ययन का समारम्भ करता था।[2]

गृहस्थ के जिस व्यक्तित्व का निदर्शन ऊपर किया गया है, वह भारत में सदा आदर्श रूप में प्रतिष्ठित रहा। मनु ने उपर्युक्त आदर्श को लेकर गृहस्थाश्रम-जीवन की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की, उसके अनुसार गृहस्थ ब्राह्मण चार प्रकार के थे—ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ, स्वाध्यायनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठ। मनु की दृष्टि से इनमें से ज्ञाननिष्ठ सर्वश्रेष्ठ थे।[3] तपोनिष्ठ गृहस्थ ब्राह्मण सपरिवार तपस्या करते थे। ऐसे तपोनिष्ठ ब्राह्मणों की कथायें पुराणेतिहासों में प्रायः मिलती हैं।[4]

मनु ने कुछ ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मणोचित कर्मों से विरत हो चुके थे। ऐसे ब्राह्मण यज्ञ कराने वाले, वैद्य, व्यापारी, पशुपाल, कुशीलव, धन

---

१. स्कन्दपुराण वैष्णव खण्ड वैशाख-मास-माहात्म्य ४.१.२ः

२. आपस्तम्ब ध० सू० २.२.५।

३. मनुस्मृति ३.१३४-१३५।

४. उदाहरण के लिए देखिए आश्वमेधिक पर्व ९३.२ से आगे। कुरुक्षेत्र का एक ब्राह्मण स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू आदि के साथ उञ्छ-वृत्ति से अपनी जीविका उपार्जित करता था। पूरा परिवार ही तपस्वी था। छठी बेला आने पर सपरिवार भोजन करता था। एक बार कई दिनों के पश्चात् उसे सत्तू का भोजन मिला। वह ज्यों ही सपरिवार खाने बैठा कि एक अतिथि आ पहुँचा, जिसकी भूख सारा सत्तू खाने पर ही मिटी। अन्त में पूरे परिवार को उस दिन उपवास करना पड़ा। इस ब्राह्मण को ब्रह्मपद की प्राप्ति हुई। गृहस्थाश्रम में रहते हुए उपर्युक्त विधि से तप की सुविधा प्रदान करके मनु ने वानप्रस्थ और संन्यास की सर्वोच्च उपयोगिता के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया।

लेकर शिक्षा देने वाले, युद्ध-विद्या के आचार्य, खेती से जीविका चलाने वाले आदि थे। मनु ने इन सबको परित्याज्य बताया है।[1] ऐसी स्थिति में ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए क्या करे? प्राचीन काल में इस प्रश्न का उत्तर सरल था। विद्वान् ब्राह्मणों के लिए जीविका की कोई झंझट नहीं थी। समाज से उनको पर्याप्त दान एवं भोजन के लिए निमन्त्रण आदि मिलते थे। फिर भी यदि काम न चला तो खेत कट जाने पर और बाजार उठ जाने पर अन्न के दाने चुनने का काम ब्राह्मण अपना सकता था।

मनु ने पंक्ति-पावन ब्राह्मणों की कल्पना प्रस्तुत की है।[2] सभी वेदों और तत्सम्बन्धी प्रवचन में अग्रगण्य और वेदज्ञों के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण पंक्ति-पावन कहे जाते थे। इस कोटि में वेद का अर्थ जानने वाले, वेद को पढ़ने वाले, सहस्र गायों को दान देने वाले ब्राह्मण भी आते हैं।[3] मनु के अनुसार श्रेष्ठ ब्राह्मण वे ही हैं, जो क्रोध नहीं करते, सदा प्रसन्न रहते हैं और लोक के आप्यायन में तत्पर हैं।[4] ब्राह्मण की कामना हो सकती थी—

> दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
> श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति॥ मनु० ३.२५९॥

(हमारे कुटुम्ब के दाताओं का अभ्युदय हो। वेद और सन्तान की अभिवृद्धि हो। हमारी श्रद्धा कम न हो। हमारे पास दान देने के लिए बहुत कुछ हो।)

ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के युग में ब्राह्मण गृहस्थ के समक्ष कम से कम दो आदर्श थे—प्रथम प्राचीन ऋषियों की वैभव-सम्पन्नता तथा द्वितीय गृहस्थ होते हुए भी तप और त्याग। द्वितीय आदर्श तप और त्याग को बौद्ध और जैन आचार्यों ने केवल प्रव्राजकों के लिए नियत किया था। मनु ने सिद्ध किया कि प्रव्रज्या लेकर तो आत्म-विकास करना सम्भव है, परन्तु बिना प्रव्रज्या लिये हुए घर पर या कुटुम्ब में रहते हुए भी सर्वोच्च आत्मविकास हो सकता है। प्रव्रज्या में भी वस्तुओं का त्याग ही तो होता है। वह कुटुम्ब में रहकर भी सम्भव है। ऐसी परिस्थिति में युवावस्था में गृहस्थाश्रम का परित्याग मनु की दृष्टि में बहुत समीचीन नहीं रहा। मनु ने

---

१. मनुस्मृति ४.२-१६।

२. जिन लोगों के साथ बैठने से दूषित जन-समूह पवित्र होता है, वे पंक्ति-पावन हैं।

३. मनुस्मृति ३.१८६।

४. मनु० ३.२११।

स्पष्ट कहा—गृहस्थाश्रम में यज्ञ का सम्पादन करके और पुत्र उत्पन्न करके ही संन्यास ले। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह नीचे गिरता है।[1] युवावस्था में गृहस्थाश्रम में रहकर ऋत और अमृत आदि वृत्तियों से जीविका चलाने वाला अश्वस्तनिक व्यक्ति तपस्वी ही है।[2] मनु की इस योजना में बौद्ध और जैन संस्कृतियों का युवावस्था का तपोमय जीवन समन्वित है और साथ ही वैदिक संस्कृति के गृहस्थाश्रम की अवश्यंभाविता भी अक्षुण्ण रह जाती है। बौद्ध और जैन संस्कृतियों के अनुयायी युवक भिक्षा-ग्रहण करते हुए दृष्टिगोचर हो सकते थे। मनु ने नौजवानों का भीख माँगना और वह भी अपनी भूख मिटाने के लिए कभी भी उपयुक्त वृत्ति नहीं मानी। उन्होंने भिक्षा को मृतवृत्ति माना।[3] ऐसी परिस्थिति में मनु का मध्यम मार्ग था—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥ मनुस्मृति ४.३॥

(जीवन-यात्रा-मात्र चलाते रहने के लिए अपने योग्य अनिन्दित कर्मों के द्वारा शरीर को बिना कोई कष्ट दिये हुए धन का संचय करना चाहिए।)

मनु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाला गृहस्थ ब्राह्मण घर में रहते हुए भी आधिभौतिक दृष्टि से बहुत सुखी जीवन नहीं बिता सकता था। जिस प्रकार संसार के अन्य लोग झूठ-सच बोलते हुए टेढ़े-मेढ़े उपायों से धन कमाते हैं, वैसे तो वह धन-अर्जन कर ही नहीं सकता था। वह शिलोञ्छ-वृत्ति से जीवन-यापन करता हुआ यदि सुखी हो सकता था तो इसके लिए एकमात्र कारण उसकी संयम और सन्तोष की वृत्ति थी। मनु के अनुसार सुख सन्तोष में है। असंतोष अधिकाधिक

---

१. मनु० ६.३६-३७।

२. ऋत-वृत्ति खेतों में छूटे हुए दानों को चुन कर होती थी। अमृत-वृत्ति अयाचित धन से होती थी। अश्वस्तनिक उनकी उपाधि थी, जो केवल उतनी ही वृत्ति एकत्र करते थे, जिसमें से कुछ भी अगले दिन के लिए शेष नहीं रह जाता था। मनु० ४.३-८; भागवत ७.११.१९।

३. मनुस्मृति ४.५। यह नियम गृहस्थों के लिए था। वानप्रस्थ के मुनि में यदि काम करने की शक्ति हो तो उसके लिए भीख माँगना मनु ने अनुचित बतलाया है। मनु की दृष्टि में अत्यन्त वृद्धावस्था में केवल संन्यासी भीख माँगने के अधिकारी थे। मनु के पूर्ववर्ती और परवर्ती शास्त्रकारों का प्रायः यही मत रहा है।

धन एकत्र करने की प्रवृत्ति है। वह दुःख को उत्पन्न करता है। यदि सन्तोष-वृत्ति से ब्राह्मण की जीविका नहीं चल पाती थी तो विशेष स्थितियों में वह राजा, यजमान और अपने छात्रों के समक्ष धन की इच्छा प्रकट करता था।[1] ब्राह्मण गृहस्थ का जीवन गौरवास्पद था। उसकी वेश-भूषा, वाणी और बुद्धि उसकी अवस्था, कर्म, अर्थ, श्रुत और कुल के अनुरूप होती थीं[2]

मनु ने जिस प्रकार ब्राह्मण गृहस्थ के जीवन की रूप-रेखा दी है, उसके अनुसार ब्राह्मण को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूरा अवसर मिलता था। मनु ने आदेश दिया है कि बुद्धि का संवर्धन करने के लिए ब्राह्मण वेद और शास्त्रों का नित्य अध्ययन करे। अध्ययन करने से मानव का ज्ञान प्राञ्जल होता है।[3] वास्तव में उस युग का गृहस्थ ब्राह्मण अपने स्वाध्याय और अध्यापन के लिए प्रसिद्ध था।[4]

पौराणिक गृहस्थ

गृहस्थ-जीवन की रूप-रेखा पौराणिक काल में पौराणिक संस्कृति के अनुकूल बनी। पौराणिक संस्कृति में मूर्ति-पूजा, उपवास, तीर्थ-यात्रा, पूर्त-निर्माण, मन्त्र-जप, भगवान् के स्वरूप का ध्यान, नाम-संकीर्तन, श्रवण, वन्दन, चरण-सेवन, प्रसाद-ग्रहण, भक्तों की सेवा आदि के द्वारा केवल स्वर्ग ही नहीं मोक्ष भी सुलभ माना गया।[5] महापुरुषों के आख्यानों के पठन-पाठन का भी मोक्ष पाने की दिशा में अप्रतिम महत्त्व बतलाया गया है।[6] विष्णु का एक नाम भी सभी वेदों से बढ़कर माना गया।[7] इस प्रकार की धारणाओं से गृहस्थाश्रम-जीवन की एक अभिनव दिशा की ओर समाज की प्रवृत्ति की कल्पना की जा सकती है।

मनु के द्वारा निर्दिष्ट गृहस्थ के जीवन की विविधता आर्थिक दृष्टि से प्रायः

---

१. मनुस्मृति ४.३४।

२. मनुस्मृति ४.१०-१८। गृहस्थ के गौरव के विशेष परिचय के लिए देखिए मनुस्मृति ४.६३-८२, १३०-१६०।

३. मनु० ४.१९-२०। अध्ययन की विस्तृत रूपरेखा के लिए देखिए मनु० ४.९४-१०२।

४. मनु० ४.१७। पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३३.८० के अनुसार गृहस्थ को रात्रि का पहला और अन्तिम पहर वेदाभ्यास में व्यतीत करना चाहिए।

५. उदाहरण के लिए देखिए पद्मपुराण सृष्टिखण्ड; भागवत ७.१४.२७-३३।

६. भागवत ४.१२.४४-५२ तथा ८.४.१७-२५।

७. विष्णोरेकैकनामैव सर्ववेदाधिकं मतम्। पद्मपुराण उत्तरखण्ड २८१.२७।

सदा बनी रही। पुराणों में एक ओर तो गृहस्थ के लिए धन की अनुपम महिमा बताई गई और दूसरी ओर धनहीनता को गृहस्थ की उन्नति का प्रथम सोपान भी कहा गया।[1] धन नित्य दुःख देता है। यह वास्तव में दुर्लभ है, पर है आत्मा की मृत्यु। विद्वान् भी धन से मोहित हो जाता है।[2] भागवत में धन से यथाशीघ्र छुटकारा पाने की उपयोगिता का निदर्शन इस प्रकार मिलता है—मनुष्य जब निर्धन हो जाता है तो उसके सम्बन्धी उसे छोड़ देते हैं। वारंवार प्रयत्न करने पर भी किसी व्यक्ति को ईश्वर यदि धनी नहीं बनने देता है तो यह ईश्वर का अनुग्रह है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति धन कमाने की इच्छा छोड़ देता है और भगवद्भक्तों की शरण में जा पहुँचता है। कुछ देवता प्रसन्न होकर यदि अपने भक्त को धनी बना देते हैं तो वह प्रमत्त होकर उन्हीं देवताओं को भूल जाता है।[3] दरिद्रता का उपयोग गृहस्थ के लिए भागवत के अनुसार इस प्रकार है—श्रीमद के साथ स्त्री, द्यूत, आसव आदि होते हैं। जो दुष्ट श्रीमद से अन्धे हैं, उनके लिए दरिद्रता अंजन है। दरिद्र औरों को भी अपने समान देख सकता है। वह किसी को कष्ट नहीं देना चाहता। जो दुःख वह भोगता है, वह तप है।[4]

भागवत का उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रायः अभिनव है। भागवत के अनुसार यदि गृहस्थ धनी भी हो जाय तो उसे अत्यन्त सरल जीवन बिताना चाहिए। अपने धन का आडम्बर कभी भी प्रदर्शनीय नहीं है।[5]

भागवत में गृहस्थ-जीवन को बहुत उच्च नहीं माना गया। इसके अनुसार विद्यार्थी-जीवन की अवधि पूरी होने पर ब्रह्मचारी चाहे तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे या सीधे वानप्रस्थ या संन्यास ले। इस प्रकार गृहस्थाश्रम को अनिवार्य नहीं माना गया।[6] भागवत की दृष्टि में गृहस्थ साधारणतः व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास

---

१. उदाहरण के लिए देखिए विष्णुपुराण ३.११.२३ के अनुसार मनुष्य को धनार्जन के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि धन के द्वारा ही सोम, हवि और पाक यज्ञों की प्रतिष्ठा होती है। दूसरी ओर भागवत ८.२२.२४ तथा १०.८८.८ के अनुसार दरिद्रता भगवान् की प्रसन्नता का परिचायक है। 'तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्।'

२. भागवत ११.३.१९; ८.२२.१७।

३. भावगत १०.८८.८-११।

४. भागवत १०.१०.८-१६।

५. भागवत ७.१५.३; ११.१७.५१।

६. भागवत ११.१७.३८।

करने में असमर्थ होता है। फिर भी इस ग्रन्थ में गृहस्थाश्रम को अभ्युदय के मार्ग में सर्वथा बाधक नहीं माना गया है, अपितु गृहस्थ के लिए निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता बतलाई गई है। इसके अनुसार 'कुटुम्ब में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और न प्रमाद करना चाहिए। जिस प्रकार यात्रा में पथिक मिल जाते हैं, वैसे ही पुत्र, स्त्री और बन्धु-बांधवों के संगम को भी समझना चाहिए। घर में अतिथि की भाँति रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम के बन्धन निर्मम और निरभिमान व्यक्ति को बाँध नहीं सकते। गृहस्थाश्रम के कर्तव्य को पूरा करता हुआ गृहस्थ भक्त बन कर चाहे घर पर रहे या वानप्रस्थ ले या संन्यासी बन जाय—कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुटुम्ब में रहते हुए यदि कोई व्यक्ति आसक्ति रख कर विषय-भोगों में पड़ा रहता है तो वह तमोमय नरक में जा गिरता है।[1]

भागवत में गृहस्थ की दिनचर्या का निरूपण किया गया है। मनुष्य घर पर रहते हुए भी गृहोचित कर्मों का सम्पादन करे और उन्हें वासुदेव को समर्पित कर दे। वह महामुनियों की सेवा करता रहे। उसे सदैव भगवान् की अवतार सम्बन्धी कथायें सुननी चाहिए। भगवान् में श्रद्धा रखनी चाहिए। ऐसे लोगों के साथ रहना चाहिए, जो स्वयं उपशान्त हों। जिस प्रकार स्वप्न से उठा हुआ मनुष्य स्वप्न की वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति नहीं रखता, वैसे ही सत्संगति के प्रभाव से धीरे-धीरे अपने में और कुटुम्ब के लोगों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। अपने शरीर की उपासना नाममात्र के लिए करनी चाहिए। वह विरक्त होते हुए भी रागी पुरुष की भाँति ही अपने कर्तव्यों का पालन करे। जाति के लोग, माता-पिता, पुत्र, भाई-बन्धु और अन्य मित्र लोग जैसा कहें या चाहें उसका अनुमोदन निर्मम होकर कर देना चाहिए।[2]

भागवत में गृहस्थ के लिए सन्तोष-वृत्ति का समर्थन करते हुए कहा गया है कि यदि धन प्राप्त ही हो जाय तो भी उसका संग्रह नहीं करना चाहिए, अपितु यथाशीघ्र उसे संसार के सभी प्राणियों के हित के लिए लगा देना चाहिए। मनुष्य का अधिकार तो केवल उतने ही धन पर है, जितने से उसका पेट भर जाय। इससे अधिक धन को जो अपना मानता है, वह चोर है और दण्डनीय है। मानवेतर पशु-पक्षी को भी अपने पुत्र के समान ही समझे। गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम के लिए बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिए। अपने धन को मानव से लेकर कुत्ते, चाण्डाल पर्यन्त सभी जीवों में बाँट कर भोगना चाहिए।[3]

---

१. भागवत ११.१७.५२-५८।

२. भागवत ७.१४.१-६।

३. भागवत ७.१४.७-११।

गृहस्थ के धन-संग्रह के सम्बन्ध में पद्मपुराण का मत समीचीन प्रतीत होता है। इसके अनुसार गृहस्थ को अपनी जीविका-वृत्ति कम करने की इच्छा रखनी चाहिए। उसे धन बढ़ाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन तथा यज्ञों के सम्पादन से भी ब्राह्मण को वह उच्च गति नहीं मिलती, जो सन्तोष के द्वारा प्राप्त हो सकती है। ब्राह्मण को दान लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जो सन्तोषी नहीं है, वह स्वर्ग पाने का अधिकारी नहीं है। गृहस्थ अपने गुरुजनों और भृत्यों के उद्धार की इच्छा से तथा देवताओं और अतिथियों का तर्पण करने के लिए दान ले सकता है, किन्तु दान को अपनी तृप्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए।[1] साधारण नियम यही था कि वह दान न ले क्योंकि दान लेने से ब्राह्मण का तप, तेज और यश तीनों नष्ट हो जाते हैं। यदि शिलोञ्छ-वृत्ति से काम न चले तो यज्ञ और अध्यापन के माध्यम से धन का अर्जन किया जा सकता था।[2]

आवास

गृहस्थ के रहने योग्य स्थान का विवेचन मनु ने किया है। इसके अनुसार गृहस्थ को वहीं रहना चाहिए, जहाँ उसे अभ्युदयात्मक जीवन बिताने की सुविधायें हों और किसी प्रकार की बाधायें न आती हों।[3] पुराणों में इस विषय का कुछ विस्तृत विवेचन मिलता है। इसके अनुसार 'जहाँ ऋण देने वाले, वैद्य, श्रोत्रिय, ब्राह्मण और जलपूर्ण नदी न हों, वहाँ नहीं रहना चाहिए। विद्वान् उसी देश में रहे, जहाँ राजा शत्रु-विजयी, बलवान् और धर्मपरायण हो। जिस प्रदेश का राजा पराक्रमी हो, पुरवासी संयमी एवं न्यायशील हो, प्रजा ईर्ष्या न करती हो, वहाँ का निवास भविष्य में सुखदायक होता है। जिस प्रदेश में निरलस किसान हों, वे सब प्रकार के अन्न उत्पन्न करते हों, वहाँ बुद्धिमान् मनुष्य को रहना चाहिए। जहाँ विजय के इच्छुक, पहले के शत्रु तथा सदा उत्सव मनाने में लीन रहने वाले लोग हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।'[4] मानव-व्यक्तित्व के विकास में मानसिक

---

१. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ५७.७०-८०।

२. भागवत ११.१७-४१।

३. मनुस्मृति २.२४ के अनुसार ब्रह्मावर्त, मध्यदेश एवं आर्यावर्त देशों में द्विजातियों को रहना चाहिए। जिस देश में कृष्णसार मृग नहीं विचरण करते, वह म्लेच्छों का देश है। कृष्णसार मृग वाले प्रदेश यज्ञिय हैं। छान्दोग्य उप० ८.१५.१ के अनुसार स्नातक को गृहस्थाश्रम के लिए किसी पवित्र प्रदेश को चुनना चाहिए। कुछ स्नातक गृहस्थ गाँव के बाहर घर बना लेते थे। आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२२.८

४. मार्कण्डेय पुराण ३४ वाँ अध्याय।

शान्ति और समृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से अपने रहने के स्थान का संचयन सदा ही अतिशय महत्त्वपूर्ण रहा है।

आदर्श

भारतीय काव्य में गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा प्रायः उपर्युक्त विधि से ही मिलती है। कालिदास के अनुसार गृहस्थाश्रम में वह शक्ति है, जिससे सबका उपकार किया जा सकता है।[1] राजा रघु गृहस्थ-धर्म का पालन करता हुआ स्नातक कौत्स का आतिथ्य करने के लिए अपने सिंहासन से उठकर आगे बढ़ता है और विधिपूर्वक उसकी पूजा अर्घ्य से करता है। राजा स्नातक से कहता है—आपके स्वागतमात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ। मेरा मन आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए उत्सुक है। रघु सब कुछ विश्वजित् यज्ञ में दान दे चुका है, फिर भी स्नातक की आवश्यकता पूरी करने के लिए सन्नद्ध है।[2] रघुवंश के राजाओं का परिचय देते हुए कालिदास ने कहा है—वे विधिपूर्वक हवन करते थे। याचकों की इच्छायें पूरी करते थे। अपराधियों को यथोचित दण्ड देते थे। समय पर जागते थे। वे त्यागी, सत्यवादी, मितभाषी, यशस्वी और विजिगीषु थे।[3] तत्कालीन आतिथ्य का वर्णन कालिदास ने कुमारसम्भव में किया है। हिमालय ने सप्तर्षियों का आतिथ्य किया। वह अर्घ्य लेकर दूर से ही उनकी ओर दौड़ गया। उसने विधिपूर्वक ऋषियों का सत्कार किया, अन्तःपुर में ले आया और बेंत के आसन पर बिठाकर स्वयं बैठा। उसने महर्षियों की प्रशंसात्मक स्तुतियाँ कीं और कहा कि आप लोगों के दर्शन से मैं कृतकृत्य हुआ। आज्ञा दीजिए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ।[4]

विद्वान् गृहस्थों के उत्तरदायित्व का निरूपण करते हुए बाण ने बताया है कि उनको देव, पितर और मनुष्य के ऋण से मुक्त होना रहता है, पुत्र-पौत्र की परम्परा से अपने वंश की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है, अनन्त दक्षिणायें देकर महायज्ञ करने पड़ते हैं। उनके सत्र, कूप, प्रपा, प्रासाद, तड़ाग और आराम आदि कृत्यों के द्वारा पृथ्वी अलंकृत होती है। उनका अमर यश आकल्प दिशाओं में फैल जाता है। वे गुरुओं का अनुवर्तन करके उन्हें सुख पहुँचाते हैं और स्नेही बन्धु-बान्धवों का उपकार करते हैं। वे प्रणयी जनों को समग्र विभव दे देते हैं एवं साधुओं का संवर्धन करते

---

१. सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते। रघुवंश ५.१०।

२. रघुवंश ५ वाँ सर्ग।

३. रघुवंश सर्ग १.६-७।

४. कुमारसम्भव ६.५०-६३।

हैं। वे अपने अनुजीवियों को समान रूप से बाँट कर भोग करते हैं।[1] वे अभ्यागतों की तृष्णा मिटा देते हैं और धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि करते हैं। राजा की दिनचर्या का उल्लेख करते हुए बाण ने लिखा है—वह दोपहर तक सभा में बैठकर राजकार्य करता था। इसके पश्चात् वह व्यायाम, स्नान, तर्पण, सूर्योपस्थान, शिवपूजन, हवन, विलेपन, भोजन आदि करता था।[2]

बौद्ध गृहस्थ

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में भी गृहस्थ का जीवन प्रायः उपर्युक्त विधानों के अनुरूप था। जैन और बौद्ध संन्यासी गृहस्थों के ऊपर जीविका के लिए आश्रित थे और इस प्रकार उनके निकट सम्पर्क में आने पर गृहस्थों के व्यक्तित्व का आध्यात्मिक दिशा में विकास हुआ। विहार में किसी कार्य से जाने वाले नागरिकों को उचित शिक्षा मिलती थी।[3] भोजन देने वाले गृहस्थ के ज्ञान का संवर्धन करने के लिए प्रवचन दिये जाते थे।[4] गृहस्थ बौद्धाचार्यों के साथ रह कर उनके जीवन और आचार से सीख ग्रहण कर सकते थे।[5]

बौद्ध संस्कृति में गृहस्थ भी बुद्ध, उनके धर्म और संघ की शरण लेते थे। उन्हें चार आर्य सत्यों का आभास मिलता था। गौतम का भाषण सुनकर गृहस्थ कहने लगता था—जो औंधा हो गया था, उसे आपने ठीक प्रस्तुत कर दिया। जो गुप्त था, उसे आपने प्रकट कर दिया। जो पथ-भ्रष्ट था, उसे आपने मार्ग पर ला दिया। आपने अँधेरे में प्रकाश ला दिया। आपने स्पष्ट विधि से जीवन-दर्शन को समझा दिया।[6]

स्वयं गौतम गृहस्थों का सम्मान करते थे।[7] बौद्ध भिक्षु गृहस्थों के उपकार

---

१. कादम्बरी पृ० २६६, २८०।

२. कादम्बरी, पृ० १५-१६।

३. चुल्लवग्ग ४.४.६ तथा महावग्ग ६.२८.१।

४. महावग्ग ६.२३.३।

५. महावग्ग ५.१३.१।

६. महावग्ग ५.१.९-११।

७. गौतम गृहस्थों को दयनीय नहीं समझते थे। यदि कोई भिक्षु किसी सदाचारी गृहस्थ के प्रति बुरा व्यवहार करता तो गौतम के निर्देशानुसार उसे उस सदाचारी गृहस्थ से क्षमा माँगनी पड़ती थी। चुल्लवग्ग १.२२ गृहस्थ की प्रतिष्ठा का मूल कारण गौतम का स्वयं भी अनेक पूर्वजन्मों में बोधिसत्व रहकर गृहस्थ जीवन

से कृतज्ञ होते थे। फिर भी साधारणतः बौद्धाचार्यों का मत है कि यथाशीघ्र गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में ही कल्याण है। जो नहीं छोड़ सकते, वे भले ही गृहस्थ उपासक बने रहें। उपासक बनना व्यक्तित्व के विकास की सबसे पहली सीढ़ी मानी गई। उपासक से आशा की जाती थी कि वह बौद्ध साधुओं की उत्कृष्टता देखकर स्वयं ही उनके समान बनने के लिए प्रव्रज्या ले लेगा।[1]

बौद्ध गृहस्थ संघ की सेवा के लिए दान देते थे और शारीरिक श्रम से भी संघ को लाभ पहुँचाते थे। वे रोगी भिक्षुओं का परिचय प्राप्त करके उनके लिए आवश्यक वस्तुयें प्रस्तुत करते थे।[2]

गौतम बुद्ध गृहस्थों को सदाचार के पथ पर प्रगतिशील बना देने के लिए भाषण भी देते थे। कभी-कभी गृहस्थ नागरिकों की बड़ी सभायें उनका भाषण सुनने के लिए एकत्र होती थीं। पाटलिग्राम के गृहस्थ उपासकों की सभा में भाषण देते हुए गौतम ने कहा—दुराचारी की पाँच प्रकार की हानियाँ होती हैं। वह अपने आलस्य के कारण महादरिद्र हो जाता है। सर्वत्र उसकी निन्दा होने लगती है। वह जहाँ-कहीं भी महापुरुषों के बीच जाता है, लज्जा के कारण उसका सिर झुका रहता है। मरते समय वह चिन्ता से ग्रस्त रहता है और परलोक में नरक में जा गिरता है। इसके विपरीत सदाचारी के पाँच लाभ होते हैं।[3] इस प्रकार के असंख्य उपदेश गौतम ने अपने जीवन भर अधिकाधिक मानवों के समक्ष रखे। उनके भाषणों में साधारणतः गृहस्थ-जीवन के सभी पक्षों को उज्ज्वल बनाने वाली सूक्तियों का संग्रह होता था। महामंगल की जो योजना प्रस्तुत की गई, वह समग्र मानवता को जीवन की प्रायः सभी परिस्थितियों में अभ्युदय प्रदान करने के लिए थी।[4] गौतम

बिताना है। मनुष्य किसी जन्म में अपने कर्मानुसार निर्वाण प्राप्त कर सकता है। हाँ, अधिक से अधिक सदाचारी होने में उसका कल्याण है।

१. महावग्ग ५.१३ और ५.१, सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त १७.२९।

२. महावग्ग ६.२३.३ के अनुसार सुप्रिया नामक गृहपत्नी ने किसी रोगी भिक्षु की इच्छा पूरी करने के लिए उसे मांस-भोजन देने का संकल्प किया। उस दिन नगर में मांस का विक्रय नहीं होता था। ऐसी परिस्थिति में उसने अपनी जाँघ का मांस काट कर उसे भिक्षु के लिए दिया। उस युग में लोगों की धारणा थी कि संघ का आतिथ्य करने से लोक-परलोक में अभ्युदय की संभावना है। महावग्ग ६.२५.५।

३. महावग्ग ६.२८.४५।

४. महामंगल की योजना है—मूर्खों के सहवास से दूर रहना, सत्पण्डितों

के अनुसार यदि श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग—ये चार गुण हैं, तो वह इस लोक में तथा परलोक में भी शोक नहीं करता।[१]

गौतम ने जीवन भर प्रयत्न किया कि जो कोई उनके सम्पर्क में आये, वह अपना अभ्युदय-पथ सोच और समझ ले। उन्होंने अपने अनुयायियों को सीख दी—सदैव मानवता को सत्पथ दिखाओ। भिक्षुओ, अब तुम बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए भ्रमण करो। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो, जो आदि, मध्य और अन्त में कल्याण-कारी है।[२]

गौतम बुद्ध के पश्चात् कालान्तर में बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा प्रस्फुटित हुई। महायान के अनुसार कोई गृहस्थ जीवन के किसी क्षेत्र में क्यों न हो, प्रव्रज्या लिए बिना ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, वह चाहे व्यापारी, शिल्पी, राजा, दास या चाण्डाल ही क्यों न हो। ऐसे गृहस्थ को निर्वाण प्राप्त कराने के साधन दया, मैत्रीभावना, उदारता, त्याग, आत्म-बलिदान, बुद्ध और बोधिसत्त्वों की भक्ति आदि हैं।[३] महायान की यह सुविधा भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग और भक्ति-पथ के अनुरूप पड़ती है। भक्ति की महिमा शनैः शनैः बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बुद्ध की पूजामात्र से, स्तूप की पूजा करने से और उस पर फूल-माला आदि चढ़ाने से अतिशय पुण्य की सम्भावना मानी गई।[४] तत्कालीन धारणा के अनुसार 'जिस किसी ने बुद्ध के उपदेशों का श्रवणमात्र कर लिया है, जिसने कोई भी पुण्य का काम किया है और पवित्र जीवन बिताया है, वह बुद्ध हो सकता है। जो चैत्यों की पूजा

का संग करना, पूज्य लोगों की पूजा करना, अनुकूल प्रदेश में रहना, पूर्व जन्म के पुण्य और सन्मार्ग में मन को लगाना, विद्या और कला की शिक्षा ग्रहण करना, सद्व्यवहार करना, सुभाषण, माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र आदि की रक्षा, कामों को ठीक से करना, नम्रता, सन्तोष, कृतज्ञता, क्षमा, मधुर भाषण, सत्संग, तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का ज्ञान, निर्वाण-पद का साक्षात्कार। सुत्तनिपात महामंगल सुत्त १-८।

१. सुत्तनिपात आडवक सुत्त।

२. अंगुत्तर निकाय ४.१.१४।

३. महायान सूत्रालंकार २ पृ० १६ और आगे। मिलिन्द प्रश्न ६.२.४ के अनुसार गृहस्थ के लिए निर्वाण पाना असम्भव नहीं है। ऐसे अनेक गृहस्थ हो चुके हैं, जिन्होंने निर्वाण पाया है।

४. महावस्तु २.३६२ और आगे।

करते हैं, स्तूप बनवाते हैं, बुद्ध की मूर्ति बनवाते हैं, स्तूपों के पास संगीत का आयोजन करते हैं अथवा भूल से भी बुद्ध के प्रति पूजा-भावना मन में लाते हैं, वे सभी सर्वोच्च पद निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।[1]

जैनगहस्थ

जैनसंस्कृति में प्रायः आरम्भ से ही गृहस्थों के व्यक्तित्व के विकास की योजना सुव्यवस्थित विधि से प्रस्तुत की गई है।[2] साधारणतः जैनमतानुयायी गृहस्थ उन्हीं नियमों और व्रतों को अंशतः अपनाता था, जिनको जैन मुनि पूर्ण रूप से अपनाते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रत मुनि और गृहस्थ दोनों को समान रूप से लेना पड़ता था। मुनि के लिए यह महाव्रत होता था और वे इनको सर्वतः ग्रहण करते थे, पर गृहस्थ के लिए इनको सर्वतः ग्रहण करना असंभव ही है। ऐसी परिस्थिति में उनका व्रत केवल आंशिक ही होता था। उनके आंशिक व्रत का नाम अणुव्रत था।

उपर्युक्त व्रतों की पूरी छान-बीन की गई और उनके सूक्ष्म रहस्यों को अतिचार के रूप में प्रस्तुत किया गया।[3] अहिंसा के अतिचार बन्ध, वध, अतिभारारोपण, और अन्नपान-निरोध हैं। किसी प्राणी को बाँधना बन्ध है। उस पर अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। उसको भोजन न देना या कम भोजन देना अन्नपान-निरोध है। सत्य के अतिचार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख-क्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्र भेद हैं। किसी के रहस्य को प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान है। दूसरे का हस्ताक्षर बनाकर लेख बनाना कूटलेख-क्रिया है। किसी की धरोहर में गड़बड़ी करना न्यासापहार है और किसी के आकार को देखकर उसकी बातें जानना और उनका प्रकाशन करना साकार-मन्त्र-भेद है। अस्तेय के अतिचार स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक २.६१और आगे।

२. जैन संस्कृति के आरम्भिक साहित्य का संग्रह 'अंग' है। 'अंग' साहित्य का एक ग्रन्थ उवासगदसाओ है। इसमें जैन गृहस्थों के व्यक्तित्व के विकास का निरूपण किया गया है।

३. ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थ-साधन करने के लिए अर्थ का अनर्थ करने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य ही रहे होंगे, जिनको दृष्टि-पथ में रखकर अतिचारों का विवेचन करना पड़ा। अन्यथा अतिचारों की कल्पना द्वारा व्रतों की अभिव्यक्ति कराने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

व्यवहार हैं। चोर को नियुक्त करना स्तेन-प्रयोग है। उसकी लाई हुई वस्तु को रखना तदाहृतादान है। विरुद्धराज्यातिक्रम से अनुचित व्यापार की प्रवृत्ति होती है। कम या अधिक नाप-तौल हीनाधिक-मानोन्मान है। अशुद्ध वस्तुओं की मिलावट प्रतिरूपक व्यवहार है।[1]

ब्रह्मचर्य के अतिचार परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा और तीव्राभिनिवेश हैं। दूसरों का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना परविवाहकरण है। दूसरों की विवाहित या अविवाहित स्त्रियों से सम्बन्ध रखना इत्वरिका-परिगृहीत और अपरिगृहीत-आगमन के अन्तर्गत आते हैं। अनंगक्रीड़ा काम-विहार है। मन में काम-भावनाओं को जागरित होने देना तीव्राभिनिवेश है। अपरिग्रह-व्रत के अतिचारों के द्वारा गृहस्थ के खेत, घर, सोना-, चाँदी, धन-धान्य, दास-दासी आदि की मात्रा मर्यादित होती है।

अणुव्रतों के साथ गृहस्थ को तीन गुणव्रत—दिक्, देश और अनर्थदण्ड से विरति तथा चार शिक्षा-व्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण तथा अतिथि-संविभाग—लेने पड़ते थे। दिशाओं में आने-जाने की परिधि नियत करना दिग्व्रत है। यह मर्यादा पूरे जीवन के लिए होती थी। कभी भी थोड़े समय के लिए आने-जाने की मर्यादा नियत की जाती थी। यह देश-व्रत है। दूसरों की हानि करने का विचार अनर्थदण्ड है। सामायिक व्रत में गृहस्थ प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में नित्य कुछ समय तक आध्यात्मिक तत्त्वानुशीलन करता था। प्रोषधोपवास के अनुसार गृहस्थ दोनों पक्षों की अष्टमी और चतुर्दशी को भोजन से विरत रहने का व्रत लेता था। अपने काम में आने वाली सभी वस्तुओं की मात्रा नियत करना उपभोग-परिभोग-परिमाण है। अतिथि-संविभाग के द्वारा अतिथियों का स्वागत होता था और पहले अतिथि को भोजन देकर स्वयं भोजन करने का व्रत लिया जाता था। इन व्रतों में से सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथि-संविभाग क्रमशः वैदिक संस्कृति के ब्रह्मयज्ञ, व्रतोपवास और अतिथि-यज्ञ के समकक्ष पड़ते हैं।[2]

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७.२५-२९।

२. गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के सूक्ष्म रहस्यों को अतिक्रमों के रूप में प्रस्तुत किया गया। इनके अनुसार व्रती दूसरे का परिहास तक नहीं कर सकता था। उसके लिए व्यर्थ की बकवास पर रोक थी। आसन बिछाते समय उसे देखना पड़ता था कि कोई छोटा-सा भी जीव तो नीचे नहीं पड़ता। व्रती हरे भोज्य नहीं खा सकता था और न शीतल जल पी सकता था। पीने के पहले जल

गृहस्थ के जीवन का अन्त सल्लेखना-विधि से होना चाहिए था। इसके अनुसार शुद्ध मन होकर, सभी मनोविकारों से मुक्त होकर और सभी लोकों को क्षमा प्रदान करके अपने सभी पापों की आलोचना की जाती थी और अन्त में महाव्रतों को अपना कर शोक, भय, विषाद, अरति आदि से चित्त को विमुक्त करके भोजन और पेय का सर्वथा त्याग करके समाधि-मरण अपना लिया जाता था।[1]

गृहस्थाश्रम में व्यक्तित्व का विकास व्यावहारिक विधि से होता था। कोरे ज्ञान से व्यक्तित्व को उतना विकसित नहीं मान सकते, जितना उस ज्ञान के द्वारा अपने और समाज का कल्याण करते हुए व्यक्तित्व समुन्नत होता है। कलात्मक दृष्टि से भी गृहस्थाश्रम विकास का अवसर देता है। गृहस्थाश्रम में स्वाध्याय, अध्यापन, अतिथियों के प्रवचन, पुराण-पाठ आदि के द्वारा गृहस्थ का ज्ञान नित्य संवर्धित होता था।

कौटुम्बिक जीवन

शान्तिमय जीवन के लिए गृहस्थ का कौटुम्बिक जीवम सुखी होना ही चाहिए था। 'वसुधैव कुटुम्वकम्' में कुटुम्ब के उपमेय होने से सिद्ध होता है कि गृहस्थों का कौटुम्बिक जीवन अत्यन्त सुखमय था। वेदयुगीन कुटुम्ब में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-कन्या, वधू आदि थे। इनमें से पिता गृहपति होता था। वैदिक कुटुम्ब में सौहार्द था, जैसा एक कवि ने व्यक्त किया है—

सहृदयता, मन में शुभ विचारों की प्रतिष्ठा, परस्पर अवैर, पारस्परिक प्रेम हम सभी कुटुम्ब के सदस्य वैसे ही करें, जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति करती है। पुत्र माता-पिता के प्रति और पत्नी पति के प्रति मधुर और शान्तिपूर्ण बातचीत करें। भाई-भाई से और बहिन-बहिन से द्वेष न करे। एक मति और कर्म वाले होकर सभी परस्पर मधुर भाषण करें। तुम्हारे कुटुम्ब के सभी सदस्यों के लिए हम ऐसी व्यवस्था करते हैं कि उनमें वैर न बढ़े, पर प्रेम बढ़े। वृद्धों को मान देने वाले, उत्तम मन वाले, फलप्राप्ति तक यत्न करने वाले एक धुरी के नीच कार्य सम्पादन करने वाले और आगे बढ़ने वाले बनो, परस्पर विरोध न करो, प्रेमपूर्ण बातचीत करो। मैं तुम सबको मिलकर काम करने वाला और उत्तम विचार वाला बनाता हूँ।[2]

उबालना पड़ता था। उसका भोजन सुपक्व होना चाहिए था। तत्त्वार्थसूत्र ७.३०-३६।

१. तत्त्वार्थसूत्र ७.२२, ३७।

२. अथर्ववेद ३.३०.१-५।

उपर्युक्त उद्धरण से तत्कालीन कौटुम्बिक आदर्श की उच्चता प्रतिष्ठित होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कौटुम्बिक प्रेम को अपने ही लाभ के लिए उपयोगी तत्त्व बताते हुए पति, पत्नी, पुत्र आदि के प्रति सौहार्द का उल्लेख किया गया है।[१]

कुटुम्ब में पिता के पश्चात् जेठे भाई की प्रतिष्ठा थी। इस विषय में मनु का मत है कि माता-पिता के मरने के पश्चात् सभी भाई मिलकर उनकी सम्पत्ति का बराबर विभाजन कर सकते हैं, पर अच्छा तो यह है कि छोटे भाई बड़े भाई के अधीन वैसे ही रहें, जैसे वे पिता के साथ में रहते थे। जेठे पुत्र से पिता पुत्रवान् होता है। पिता उसके कारण पितृ-ऋण से मुक्ति पाता है। अतएव उसे सभी स्वामित्व का अधिकार होता है।[२] भाइयों के परस्पर सम्बन्ध का निर्धारण मनु ने इस प्रकार किया है—

पितेव पालयेत् पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः।
पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः॥९.१०८॥

मनु ने जेठे भाई को लोक में पूज्यतम माना है, पर यदि कहीं जेठा भाई पिता की भाँति पालक नहीं हुआ तो वह अन्य भाइयों के बराबर ही है।[३]

कुछ विद्वानों ने भाइयों के विभक्त हो जाने पर धर्मवृद्धि मान कर उनके अलगाव को धर्मसंगत माना है।[४] महाभारत ने भाइयों के इस अलगाव को समीचीन नहीं माना है। अतिशय व्यावहारिक दृष्टि का परिचय देते हुए महाभारतकार का कहना है—बहुत से भाई अज्ञानवश पिता की सम्पत्ति बाँट लेने पर धन-मद से परस्पर शत्रु हो जाते हैं। उन दोनों के शत्रु उनके पारस्परिक दुर्भाव को बढ़ाते हैं। शत्रुओं को उनके ऊपर आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। भाइयों का बँटवारा प्रशंसनीय नहीं है।[५] महाभारत बृहत्कुटुम्ब के पक्ष में है।[६] महाभारत

---

१. बृहदारण्यक २.४.५।

२. मनुस्मृति ९.१०४-१०६।

३. वही ९.११०।

४. वही ९.१११; गौतम का कहना है—विभागे धर्मवृद्धिः २८.४। बृहस्पति का कहना है—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।
एकं भवेत् विभक्तानां तदेव स्यात् गृहे-गृहे॥

५-६. आदिपर्व २९.१७-२१; १५३.३२-३४ विष्णुपु० ३.७.३०।

में उस आदर्श कुटुम्ब का चित्रण है, जिसके छोटे-बड़े सभी सदस्य दूसरों की सुरक्षा के लिए अपना प्राण त्याग करने के लिए उत्सुक हैं।[१]

कुटुम्ब को ठोस बनाये रखने के लिए धर्मशास्त्रों में कुछ उपयोगी योजनायें मिलती हैं। तदनुसार छोटे भाई को बड़े भाई के पहले विवाह नहीं करना चाहिए। छोटे भाई को बड़े भाई की पत्नी की पूजा करनी चाहिए। कुटुम्ब के सदस्यों को छोड़ने पर पाप लगता है।[२] भागवत के अनुसार तो—

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥१०.४५.७

कवियों ने कौटुम्बिक शालीनता को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए निर्घोष किया है। कल्हण की उक्ति है—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्बारवोद्‌गारिणी
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितः
दृष्टो येन परं न तस्य निरये भोक्तव्यमस्त्यप्रियम् ॥राजत० ७.१४१४

कुटुम्ब में प्रत्येक सदस्य का क्या स्थान था—यह कौटुम्बिक वातावरण के ज्ञान के लिए अपेक्षित समाधान है।

माता-पिता

माता और पिता को आचार्य के साथ ही आराध्य मान कर कहा गया है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव।

अन्यत्र कहा गया है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वार्गादपि गरीयसी।

---

१. आदिपर्व अध्याय १५६-१६० तक।

२. अथर्ववेद ६.११२.३; रामायण किष्कि० ६.२२; मनु० ८.३८९; विष्णुपुराण ३.१५.७।

अर्थात् माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़ कर हैं।[१]

विवेकानन्द के शब्दों में माता की गरिमा का निर्देशन इस प्रकार है—

Even in this poverty, a Brahman's wife will never allow a poor man to pass through the village without giving him something to eat. That is considered to be the highest duty of a mother in India and because she is the mother, it is her duty to be served last; she must see that every one is served before her turn comes. That is why the mother is regarded as god in India.[२]

महाभाष्य में अच्छी माता का सम्मान नीचे लिखे सत्पुत्रों के सम्बोधन से व्यक्त किया गया है—सौभागिनेय, कल्याणिनेय, भाद्रवाहेय, भाद्रमातुर, सांमातुर।

महाभारत का स्पष्ट मत है कि माता-पिता पूज्य हैं यथा—

माता पित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते॥ शान्ति० अ० १०९.३

मनु ने माता को गृह-लक्ष्मी बताया है:—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियश्च श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥९.२६

वाल्मीकि ने पिता की सेवा को सर्वोत्तम धर्म मानकर बताया है—

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो माता-पितृपरायणाः॥

कवियों ने काव्यों में माता-पिता को उत्तम स्थान दिया है। भास के अनुसार 'माता परं दैवतम्' है। पौराणिक साहित्य में माता-पिता को सर्वत्र सेव्य माना गया है। भागवत के अनुसार—

---

१. माता के गौरव से पत्नी का गौरव स्वयं सिद्ध है। भारत ने पत्नी को भी माता के समान ही माना है, क्योंकि पुत्र पिता का ही प्रतिरूप है। "आत्मा वै जायते पुत्रः" के सिद्धान्त से पत्नी ही माता बन जाती है। ऐसी धारणा पत्नी के अतिशय गौरव के लिए है।

२. Complete Works Vol. IV, P. 157

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
स पुनर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥

(शरीर देने के कारण, उसका पालन करने के कारण माता-पिता किसी व्यक्ति को सर्वोच्च अभ्युदय के योग्य बनाते हैं। सौ वर्ष के जीवन से भी सेवा करते हुए मनुष्य माता-पिता के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता है।)

आदर्श पुरुषों के चरित में माता-पिता की सेवा के अनुत्तम उदाहरण मिलते हैं। राम और कृष्ण की तत्सम्बन्धी कथायें प्रसिद्ध हैं। महाभारत में तुलाधार की कथा के अनुसार माता-पिता की सेवा से मानव को मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है। सम्भवतः यही प्रवृत्ति देखकर अशोक ने कहा है—माता-पिता की सेवा सर्वोच्च कर्तव्य है।

पत्नी

गृहपति की पत्नी कुटुम्ब की स्वामिनी होती थी। वह कुटुम्ब के सभी सदस्यों और अतिथियों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करती थी। उसके इस उत्तरदायित्व-पूर्ण पद को देखकर मनु ने व्यवस्था दी है—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥९.७

वैदिक काल से ही पत्नी धार्मिक कार्य-कलापों में पति की सहचारिणी रही है।

एकपत्नीव्रत को आदर्श माना गया, यद्यपि बहुपत्नीत्व समृद्ध वर्ग में प्राचीन काल में प्रायः सदैव रहा। नागरकों में परदारगमन की कुरीति बहुप्रचलित थी, किन्तु ऐसे नागरकों की संख्या स्वल्प थी और वे प्रायः नगरों में ही सीमित थे। निःसन्देह ऐसी परिस्थितियों को सहने वाली नागरक-पत्नियाँ सुखी नहीं थीं। सम्भवतः बहुपत्नीत्व के दूषण को देखकर शास्त्रों ने विधान बनाया—

धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत् ॥आपस्तम्ब गृ० २.५.११–१३

गृहशान्ति के लिए पत्नी को विषम स्थिति में भी सहनशक्ति और पतिसेवा-परायण होने की सीख मनु ने दी है—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥५.१५४

मनु ने आदर्श दम्पती की पारस्परिक सद्भावना की प्रतिष्ठा की है—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥९.१०२

महाभारत में आदर्श पत्नी का स्वरूप बताया गया है—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः॥आदिपर्व ६८.३९,४१

महाभारत में द्रौपदी का आदर्श पत्नीव्रत प्रशंसित है।

भागवत में पत्नी की उपयोगिता बताई गई है कि उसके साथ समय हास-परिहास में अच्छा बीत जाता है—

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रिया भीरु भामिनि॥भा० १०.६०.३१

भागवत के अनुसार पति को भगवान् का स्वरूप ही समझना चाहिए।[1]

पुत्र

कुटुम्ब में अनेक दृष्टियों से पुत्र का महत्त्व था। पुत्रहीन की संगति नहीं होती। मनु के अनुसार तो—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥९.१३७

'आत्मा वै जायते पुत्रः' के सिद्धान्त से पुत्र के माध्यम से अमरता प्राप्त होती है। ऋषियों को भी पुत्र के बिना दुर्गति में रहना पड़ता था।[2] पुत्र-स्पर्श के लिए गृहस्थ लालायित रहता था। यथा—

---

१. भाग० ७.११.२९।

२. सन्तानप्रक्षयाद्ब्रह्मन् पताम निरयेऽशुचौ॥ आदि० १३.१४।

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः।
शिशोरालिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ।।आदिपर्व ६८.५५।।
जीवितं त्वदधीनं मे सन्तानमपि चाक्षयम्।
तस्मात्त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ।।आदिपर्व ६८.६२।।

ऐसे पुत्र से कौटुम्बिक सौरम्य निरन्तर बढ़ता रहता था।

कन्या

कन्या का स्थान यद्यपि स्वभावतः पुत्र जैसा ऊँचा नहीं था, फिर भी वैदिक समाज में उनका समादर था। कुछ ऋषियों ने तो कन्या-प्राप्ति तक के लिए कामना की है, यद्यपि पुंसवन संस्कार से पुत्र-जन्म की अभीष्टता प्रत्यक्ष है।[1]

कन्या को उच्चकुलीन और समृद्धिशाली वर के लिए प्रदान करना पुण्यावह माना जाता था। पार्वती, सीता आदि कन्याओं के आदर्श पर प्राचीन काल में पिताओं ने अपनी कन्या को आदरणीय माना है।

भ्राता

प्राचीन भारत में सहोदर भाई का अतिशय ऊँचा स्थान था। राम और युधिष्ठिर के भाइयों का उज्ज्वल उदाहरण है। मनु के अनुसार बड़े भाई को पिता के समान होना चाहिए।[2]

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता

यद्यपि व्यक्तित्व के विकास-पथ में गृहस्थाश्रम को अन्तिम क्रम नहीं माना गया, फिर भी सदा से ही कुछ ऐसे विचारक रहे हैं, जिन्होंने समाज में गृहस्थों का महान् कर्तृत्व देख कर उन्हें किसी साधु-संन्यासी से कम हिमशाली नहीं माना। यदि किसी राष्ट्र में अच्छे गृहस्थ न हों तो उस राष्ट्र की सुश्रीकता नष्ट हो जाती है—सम्भवतः इसी बात को देखकर मनु ने इस आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए कहा है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माद् ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।३.७८

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ६.४.१७

मनु की यह विचार-धारा सर्वसम्मत कही जा सकती है, यद्यपि कुछ विचारकों के अनुसार ब्रह्मचर्य के पश्चात् सीधे संन्यास लिया जा सकता है। मनु के पूर्ववर्ती समर्थक गौतम हैं, जिन्होंने स्पष्ट कहा है कि आश्रम तो एक ही है—वह है गृहस्थ। ब्रह्मचर्य उसके लिए योग्यता प्रदान करने का सोपान-मात्र है।[1] बौधायन ने कहा है कि मानव पितरों के ऋण से पुत्रोत्पत्ति के बिना मुक्त नहीं हो सकता और इसके लिए गृहस्थ बनना ही पड़ेगा।[2]

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता इसी कारण मानी गई कि इसमें सबका उपकार करने का अवसर मिलता है। कालिदास ने कहा है—

सर्वोपकारक्षम आश्रमोऽयम् ।।रघुवंश ५.१०।।

मनु के अनुसार गृहस्थ के बिना अन्य आश्रम सम्भव नहीं हैं—

यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।६.९०।।

वसिष्ठ ने भी उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।[3]

---

१. एकाश्रम्यं त्वाचार्या प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य ।।३.३५

२. बौधायन-धर्मसूत्र २.४२-४३।

३. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः।।

अध्याय ८

वानप्रस्थ

वैदिक साहित्य के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उस युग में ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम की योजनाओं के अतिरिक्त 'वानप्रस्थ' आश्रम[1] की योजना थी। इस योजना के अनुसार प्रारम्भिक युग में किसी भी अवस्था का व्यक्ति वानप्रस्थ-विधि से व्यक्तित्व का विकास करने के लिए सामाजिक जीवन को छोड़कर चल देता था। इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन के पश्चात् वानप्रस्थ के तपोमय जीवन का समारम्भ सम्भव था।

व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का ज्ञान और गृहस्थाश्रम का कर्मयोग कभी भी सभी विचारकों के द्वारा एकमात्र माध्यम नहीं माने गये। कुछ विचारकों के अनुसार प्रकृति के बीच रहकर तपःसाधना के द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। ऐसे विचारकों ने गृहस्थाश्रम की उपेक्षा तो नहीं की, पर उनका निश्चित मत था कि गृहस्थाश्रम का सांसारिक जीवन अभ्युदय के पथ में सर्वथा उपयोगी नहीं है। यदि सम्भव हो तो गृहस्थाश्रम अपनाना ही नहीं चाहिए। यदि गृहस्थ हो ही गया तो यथाशीघ्र घर छोड़कर वन की शरण लेनी चाहिए। गृहस्थाश्रम की उपेक्षा-सम्बन्धी विचार-धारा का समर्थन आगे चलकर जैन और बौद्ध संस्कृतियों में विशेष रूप से मिलता है। वैदिक संस्कृति के अनुसार जब विराग हो जाय तभी घर छोड़ देने का विधान तो है, पर इस संस्कृति में गृहस्थाश्रम की सदैव प्रतिष्ठा रही और कुछ विचारकों का यह निश्चित मत रहा कि गृहस्थ रहते हुए निष्काम कर्मयोग और भगवद्भक्ति के द्वारा मानव मोक्ष पा सकता है।

उपनिषद्-युग के पहले गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में दो स्पष्ट मत थे—(१) गृहस्थाश्रम को न अपनाये अथवा इसे यथाशीघ्र छोड़ दे। (२) गृहस्थ रहकर निष्काम कर्मयोग द्वारा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करते हुए अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करे।[1] परवर्ती युग में वैदिक संस्कृति में उप-

---

१. उपनिषद्-काल तक वैदिक संस्कृति में वानप्रस्थ और संन्यास को सर्वोच्च प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी। गौतम० ३.३५ के अनुसार कुछ लोग गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ मानते थे।

युंक्त दोनों विचार-धाराओं का समन्वय किया गया। इस समन्वय के अनुसार साधारण लोगों के लिए नियम बना कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थ-जीवन बिताते समय यदि सांसारिक जीवन से विरति हो जाय तो घर छोड़ दे और वन में जाकर तप करे।[१] सूत्र और स्मृति-युग में गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों आश्रमों में से प्रत्येक के लिए २५ वर्ष नियत किये गये।

मानव-जीवन के अभ्युदय-पथ में गृहस्थाश्रम की उपेक्षा न करते हुए साधारणतः उसकी प्रतिष्ठा करके वैदिक संस्कृति ने जिस मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है, वह इस संस्कृति को अमर और लोकप्रिय बनाने में सहायक हुआ है। बौद्धिक पक्ष लेते हुए किसी भी साधारण मानव को युवावस्था में सांसारिक जीवन से अलग करके तपश्चर्या में लगा देना कठिन नहीं है, पर उसकी मनोवृत्तियों को सदा के लिए काम-वासनाओं से अलग रखना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक विरागी युवकों की चरित-गाथायें मिलती हैं, जो काम-वासनाओं के फेर में पड़कर तपोमय जीवन से गिर गये।[२] बौद्ध और जैन संस्कृतियों में युवक विरागियों की संख्या बहुत अधिक थी। ऐसी परिस्थिति में इन दोनों संस्कृतियों में पथ-भ्रष्ट विरागियों की संख्या स्वभावतः स्वल्प नहीं रही।[३] बौद्ध संस्कृति को पतनोन्मुख बनाने में ऐसे पथ-भ्रष्ट युवकों का हाथ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के चार वर्गों में से गृहस्थाश्रम में 'काम' की प्रतिष्ठा करके वैदिक संस्कृति में मानव जीवन के विकास की जो योजना बनाई गई, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समीचीन सिद्ध हुई और इसके अनुसार तपोमय जीवन बिताने वाले लोगों को पथ-भ्रष्ट होने के अवसर कम उपस्थित हो सकते थे।

---

१. इस समन्वय का पर्यालोचन करते हुए विण्टरनित्ज ने लिखा है :—

Lastly as has so often been the case in the history of Indian thought, the Brahmans had the knack of bringing into line with their own priestly wisdom and orthodoxy even such ideas as were in opposition to them. They succeeded in doing this by means of the doctrine of the four Āśramas whereby the ascetic and hermit life was made an essential part of the Brahmanical religious system. *A History of Indian Literature, Vol. I, p.* 233.

२. बुद्धचरित ४.९-२१।

३. *Jain : Life in Ancient India p.* 200 *and* 202.

गृहस्थाश्रम का त्याग क्यों

गृहस्थाश्रम के प्रति विराग का सर्वप्रथम परिचय मुनियों और यतियों की संस्था में मिलता है।[1] सम्भवतः ये ऐसे लोग थे, जो गृहस्थों की वसतियों से दूर रहकर तपोमय जीवन बिताते थे। गृहस्थोपयोगी यज्ञ और सांसारिक ऐश्वर्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था।[2] सम्भवतः वैदिक साहित्य का 'आरण्यक' भाग इसी कोटि के तपस्वियों की रचना थी। आरण्यक साहित्य का अध्ययन ऐसे लोगों के लिए निषिद्ध था, जो नगर या गाँव में गृहस्थ का जीवन विताते हों। केवल अरण्य में रहने वाले लोग ही आरण्यक के अध्ययन के अधिकारी थे।[3]

उपनिषद्-काल में अरण्यायन को ब्रह्मचर्य माना गया है।[4] यह अरण्यायन वानप्रस्थ का प्रतीक है। अरण्य में तप और श्रद्धा से समायुक्त जीवन शान्त होता था। इस प्रकार का वानप्रस्थ-जीवन बिताने वाले लोग विद्वान् थे। ब्रह्मचर्य की भाँति उनकी जीवन-पद्धति का नाम भैक्षचर्या था।[5] उपनिषद् में भैक्षचर्या के लिए उद्यत मानव की मानसिक वृत्तियों का निदर्शन इस प्रकार किया गया है—

> परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
> तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
>
> मुण्डक उपनिषद् १.२.१२

(कर्म के द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को वैराग्य हो जाता है। वह समझ लेता है कि कर्म से प्राप्य वस्तु की शाश्वत प्रतिष्ठा नहीं हो सकती

---

१. ऋग्वेद १०.१३६ में केशी नामक मुनि का उल्लेख है और मुनियों की रहन-सहन की चर्चा की गयी है। ऋग्वेद ७.५६.८ में मुनि का उल्लेख है। ऋग्वेद ८.१७.१४ के अनुसार इन्द्र मुनियों का सखा है। तैत्तिरीय संहिता ६.२.७.५ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ७.२८ के अनुसार इन्द्र ने यतियों को शालावृकों का भोजन बना दिया। पंचविंश ब्राह्मण १४.४.७ के अनुसार असुरों ने मुनिमरण नामक स्थान पर वैखानसों को मारा था और इन्द्र ने उन्हें पुनर्जीवित कर दिया। इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि मुनि आर्यवर्ग के थे और उनके समकक्ष यति असुर-वर्ग के थे।

२. विण्टरनित्ज Hist. of Lndion Lit, Vol. I, p. 231.

३. *A History of Indian Literature, Vol. I p.* 234

४. छान्दोग्य उप० ८.५.३।

५. मुण्डक उपनिषद् १.२.११; १.२.७-१०।

है। वह वास्तविक ज्ञान-विज्ञान की खोज में हाथ में समिधा लेकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाता है।)

ज्ञान-विज्ञान का यह सोपान ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ही हो सकता था। सम्भव है, वैराग्यपरक मनःस्थिति गहस्थाश्रम में रहकर होती हो। याज्ञवल्क्य का विराग गृहस्थ-जीवन के पश्चात् हुआ था। याज्ञवल्क्य गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मज्ञानी थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार वानप्रस्थ या भिक्षाचर्य के लिए सर्वप्रथम आत्मा का इस स्वरूप में ज्ञान हो जाना चाहिए कि आत्मा ही भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से परे है। आत्मा के इस स्वरूप को जानकर जो ब्राह्मण पुत्र, धन, लोक-परलोक आदि की इच्छा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्य अपना लेते हैं, वे मुनि हैं।[1] आत्मा को जानने के लिए यज्ञ, दान, तप और अनाशक—चार साधन माने गये हैं। आत्मा को जान कर लोग मुनि होते हैं। आत्मलोक की इच्छा करते हुए लोग प्रव्रज्या लेते हैं। यही आध्यात्मिक वृत्ति किसी आत्मज्ञानी की मानसिक वृत्तियों को इस प्रकार सुधार सकती थी कि वह गृहस्थाश्रम को नहीं अपनाता था। वह पुत्र की कामना नहीं करता था।[2] याज्ञवल्क्य की भाँति ब्रह्मज्ञानी भले ही कुछ समय तक गृहस्थ-जीवन बिता ले, फिर भी याज्ञवल्क्य के आदर्श के अनुरूप वह प्रव्रज्या लेकर ही अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सकता था।[3]

गृहस्थ-जीवन की उपेक्षा का परिचय नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के विधान से भी मिलता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के द्वारा जीवन भर आचार्य-कुल में रह कर ज्ञान प्राप्त करना और गृहस्थ-जीवन की ओर प्रवृत्त न होना कम से कम इतना तो सिद्ध ही करता है कि उस युग में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो व्यक्तित्व के विकास में गृहस्थ-जीवन को रुकावट ही मानते थे।[4] वानप्रस्थ-जीवन भी इसी विचार-धारा के अनुरूप विकसित हुआ।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ-जीवन बहुत कुछ ब्रह्मचर्य-जीवन के समान ही है।[5] ब्रह्मचर्य की तपोमय वृत्ति और ज्ञान की खोज वानप्रस्थ आश्रम में अक्षुण्ण बनी रहती थी और चरम सीमा तक पहुँच जाती थी। गृहस्थ

---

१. बृहदारण्यक उप० ३.५.१।

२. बृहदारण्यक उप० ४.४.२२।

३. बृहदारण्यक उप० ४.५.१, २, १५।

४. पूर्ववर्ती युग में ७५ वर्ष की अवस्था तक भरद्वाज के ब्रह्मचर्य पालन करने का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०।

५. वानप्रस्थ के लिए ब्रह्मचारी नाम ब्रह्माछत्त जातक ३३६ में मिलता है।

रह कर कोई व्यक्ति अपनी शक्तियों को पूर्णरूपेण आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधारणतः नहीं लगा सकता। ऐसी स्थिति में नियम बना कि गहस्थाश्रम का परित्याग करके अरण्य के शान्तिमय वातावरण में तप, श्रद्धा और भिक्षाचर्य के द्वारा ब्रह्म-विषयक चरम सत्य को सोचा और समझा जाय।

उपनिषद्-कालीन वानप्रस्थ की योजना और तत्सम्बन्धी गृहस्थ-जीवन के परित्याग की भावना का आधार दृढ़ प्रतीत होता है। यह योजना अपने विशुद्ध रूप में भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में सदैव बनी रही, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वानप्रस्थ की रूप-रेखा यहीं तक सीमित रह जाती है। गहस्थ-जीवन का परित्याग करके वनों में रहने वाले तपस्वियों की कालान्तर में अनेक कोटियाँ बनीं।

उपनिषद्-काल में वानप्रस्थ-जीवन के प्रति लोगों की अभिरुचि बढ़ी और ऐसे लोगों की संख्या कुछ कम न रही, जो ब्रह्मपरायण होने के उद्देश्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करना चाहते हों अथवा जिन्होंने गृहस्थाश्रम में कुछ दिनों रह कर उसे छोड़ न दिया हो और वन का मार्ग अपनाया हो। सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ माता-पिता अपने पुत्र को ब्रह्मलोक-परायण बनाने के उद्देश्य से उसके गृहस्थ न होने की कामना करते थे।[१] वे अपने पुत्र के जन्म के दिन निरन्तर अग्नि जलाते थे। पुत्र की अवस्था बढ़ जाने पर उससे कहते थे कि यदि तुम गृहस्थ बनना चाहते हो तो तीनों वेदों का अध्ययन करो और यदि ब्रह्मलोक जाना चाहते हो तो अग्नि लेकर वन में चले जाओ। वह वन में आश्रम बनाकर अग्निहोत्र के माध्यम से अग्नि की परिचर्या करता था।[२] ऐसा विश्वास था कि जीवन भर इस प्रकार अग्नि की परिचर्या करने से महाब्रह्मा प्रसन्न होते हैं और अग्निहोत्री ब्रह्मलोक-गामी होता है।

ब्रह्मपरायण होने का दूसरा मार्ग था ऋषि-प्रव्रज्या लेना। यह प्रव्रज्या तपोमय

---

१. मुनि के तपोमय जीवन की उच्चता से उस युग में लोग अतिशय प्रभावित थे। इसी भावना की अभिव्यक्ति सीता के नीचे लिखे वाक्य से होती है :—

अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्रूश्वसुरयोर्मम।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ॥वा०रामायण अरण्य० ९.२९

२. नंगुट्ठ जातक १४४ तथा असातमन्त जातक ६१। सम्भवतः अग्नि की परिचर्या करने वाले ऐसे ही वानप्रस्थ मुनि का उल्लेख धम्मपद के सहस्स-वग्गो ८ में मिलता है।

थी। इसमें जंगल के फल-फूल खाते हुए जीवन-यापन करना पड़ता था।[1] ब्रह्म-परायण बनने वाले लोगों को गृहस्थ-जीवन बन्धन-स्वरूप प्रतीत होता था। ऐसे लोग गृहस्थ के उत्तरदायित्व से निकल भागने में ही पराक्रम मानते थे।[2] जैसे किसी गृहस्थ को वानप्रस्थ-मुनि का जीवन कठोर प्रतीत होता है, उसी प्रकार किसी वान-प्रस्थ-मुनि के लिए गृहस्थाश्रम दोषों से पूर्ण प्रतीत होता था। वानप्रस्थ-आश्रम में रहते हुए बोधिसत्त्व ने गृहस्थाश्रम के दुर्गुणों का निदर्शन इस प्रकार किया है — परिश्रम न करने वाले का घर नहीं रहता। यदि झूठ न बोले, तब भी गृहस्थी नहीं चलती। दूसरों को दण्ड दिये बिना अथवा अपकार किये बिना गृहस्थाश्रम हो ही नहीं सकता। इस प्रकार छिद्रों से पूर्ण और कठिन गृहस्थाश्रम-जीवन को कौन अपनाये ?[3]

प्राग्बौद्ध काल में ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ऋषि-प्रव्रज्या लेने वालों की संख्या बहुत अधिक थी। उनके संघ में ५०० भिक्षु भी हो सकते थे। इस प्रकार के उनके उपनिवेश हिमालय पर्वत पर बसे हुए थे।[4] वानप्रस्थ-मुनियों के आश्रम विद्या-लयों के समकक्ष पड़ते थे। इन विद्यालयों में शिक्षा पाने के लिए प्रव्रज्या लेना आवश्यक था। ऐसे विद्यालयों में ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक विद्यार्थी प्रव्रज्या ले लेते थे।[5]

केवल विद्वानों की ही नहीं, अपितु साधारण राजाओं की भी यही धारणा

---

१. नंगुट्ठ जातक १४४ तथा संकप्प जातक २५१।

२. बन्धनागार जातक २०१ के अनुसार बोधिसत्व ने ऋषि-प्रव्रज्या लेने के उद्देश्य से अपनी गर्भवती स्त्री और बच्चे को छोड़कर रात्रि में हिमालय का मार्ग पकड़ा। इस बन्धन को तोड़ने में जो वीरता उन्होंने दिखायी, उसका निरूपण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—रस्सी या लोहे के बन्धन को पण्डितों ने दृढ़ नहीं माना है। पुत्र और स्त्री के प्रति आसक्ति ही दृढ़ बन्धन है। इससे पतन होता है। यह कठिनाई से छुड़ाने योग्य है। इसको भी तोड़कर विद्वान् चल देते हैं। वे काम-सुखों के प्रति उपेक्षा भाव रख कर उसे छोड़ देते हैं।

३. वच्छनख जातक २३५। भिस जातक ४८८ में गृहस्थ-जीवन के काम-वर्ग की भर्त्सना की गयी है।

४. तित्तिर जातक ११७।

५. महाछत्त जातक ३३६; सेतकेतु जातक ३७७। महाभारत में भी हिमालय प्रदेश में ऋषियों के एक आश्रम का वर्णन है, जहाँ उपकुलपति शिक्षा और दीक्षा देता था।

थी कि वृद्धावस्था गृहस्थ-जीवन के लिए उपयुक्त नहीं है। ज्यों ही सिर के बाल श्वेत होने लगते थे कि राजा समझ लेता था कि मेरी प्रव्रज्या का समय आ गया है।[१]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रायः लोग व्यक्तित्व के विकास के लिए वानप्रस्थ-जीवन अपनाते थे, पर ऐसे वानप्रस्थ-मुनियों का सर्वथा अभाव नहीं था, जो गृहस्थाश्रम के श्रम से मुक्ति पाने के लिए तपस्वी की वेश-भूषा धारण कर लेते थे। तपस्वी का तत्कालीन समाज में बड़ा मान था। यह तो कोई व्यक्ति सरलता से परख नहीं सकता था कि कोई मुनि वास्तव में तपस्वी है अथवा निरा ढोंगी है। ऐसी परिस्थिति में साधारणतः सभी मुनियों को अच्छा से अच्छा भोजन मिल ही जाता था। आलसी लोगों के लिए इससे बढ़कर क्या सुविधा हो सकती थी? अनेक आलसी इस सुविधा का अनुचित लाभ उठाकर पेट पालने-मात्र के लिए ढोंगी तपस्वी बन गये।[२]

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में गृहस्थ-जीवन के प्रति जिस उपेक्षा-भाव की धारा प्रवाहित की गई, उससे वैदिक संस्कृति अछूती नहीं रह सकी। वैदिक संस्कृति में भी गृहस्थ-जीवन के इन्द्रिय-सुखों को प्रलोभन-मात्र मानकर यथाशीघ्र उन्हें छोड़ने की सीख दी गई। महाभारत में गृहस्थ-जीवन का विवेचन करते हुए नीचे लिखी कथा कल्पित की गई है।[३]

'कोई ब्राह्मण किसी घने वन में जा रहा है। वह वन के दुर्गम भाग में जा पहुँचता है। उसे सिंह, व्याघ्र, हाथी और रीछ आदि भयंकर जन्तुओं को देखकर भय होता है। वह वन में किसी सुरक्षित स्थान को ढूँढ़ते हुए देखता है कि वह चारों ओर जाल से घिरा है। एक भयंकर स्त्री ने उसे अपनी भुजाओं से घेर रखा है। पर्वत के समान सिर वाले साँप भी उसे घेरे हुए हैं। उसे वन में एक कुआँ दिखाई देता है, जिसमें लतायें और घास उग आई हैं। ब्राह्मण भटकता हुआ उसी में गिर पड़ता है और लता-जाल में फँस कर सिर नीचे पैर ऊपर लटकता है। उसे कुयें में बड़ा साँप दिखाई देता है। साँप के एक ओर हाथी खड़ा है। हाथी श्वेत और काले वर्ण का है। उसके छः मुख और १२ पैर हैं। वह धीरे-धीरे कुयें की ओर आ रहा है। कुयें के तटीय वृक्षों पर मधुमक्खियों के छत्ते हैं, जिनसे मधु की धारायें चू रही हैं। ब्राह्मण मधु की धाराओं को पी रहा है। उसकी तृष्णा शान्त नहीं

---

१. मखादेव जातक ९।

२. सेतकेतु जातक ३७७।

३. महा० स्त्रीपर्व अध्याय ५, ६ तथा ७।

होती है। जिस वृक्ष से वह लटका है, उसे श्वेत और काले चूहे काट रहे हैं। उसके चारों ओर भय ही भय है। फिर भी वह मस्त होकर मधु पिये जा रहा है।'

उपर्युक्त कथानक का वन संसार है। हिंस्र जीव व्याधियाँ हैं। स्त्री वृद्धावस्था है। कुआँ मनुष्य-देह है। साँप काल है। वह सबको खा जाता है। कुयें के भीतर की लता संसार में जीवन की आशा है। छः मुंह वाला हाथी संवत्सर है। छः ऋतु उसके मुख हैं और १२ मास पैर हैं। उस वृक्ष को काटने वाले चूहे दिन और रात हैं। मानव की विविध कामनायें मधुमक्खियाँ हैं। मक्खियों के छत्ते से चने वाला मधु भोगों से प्राप्त होने वाला सुख है। इसी सुख में लोग साधारणतः मग्न हैं।

इस कथानक के द्वारा शिक्षा दी गई है कि संसार का रहस्य समझ कर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। वे निरे मूढ़ हैं, जो संसार की व्याधियों से पीड़ित होकर भी विरक्त नहीं होते। यदि कोई व्याधियों से बचता जाय तो अन्त में वृद्धावस्था का चंगुल तो है ही। इसीसे भाँति-भाँति के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से घिर कर मज्जा और मांस-रूपी कीचड़ से भरे हुए आश्रयहीन देह-रूप गढ़े में मानव पड़ा रहता है। वर्ष, मास, पक्ष और दिन-रात—सभी मानव के रूप और आयु का नाश किया करते हैं। ये सब काल के प्रतिनिधि हैं। बुद्धिमान् पुरुष को संसार से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जो बुद्धिहीन पुरुष भाँति-भाँति के माया-मोह में फँसे हुए हैं और जिन्हें बुद्धि के जाल ने बाँध रखा है, वे विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं। ज्ञानी महापुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, मनु ने गृहस्थाश्रम की सर्वोच्च प्रतिष्ठा वैदिक आदर्शों के अनुरूप की है, फिर भी उन्होंने क्रमशः वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों को अपनाने का आदेश दिया है।[1] मनु ने गृहस्थाश्रम से बचने वालों का भयावह चित्र खींचा है। भले ही वानप्रस्थाश्रम छोड़ दिया जाय, पर मनु की दृष्टि में गृहस्थाश्रम अनिवार्य है।[2] मनु का संन्यास कर्मयोग के समकक्ष है, जिसमें संन्यासी घर पर रह सकता है।[3] यदि कोई व्यक्ति जीवन भर गहस्थ ही रहे तो मनु की दृष्टि में वह अच्छा ही है, निन्दनीय नहीं।

पुराणों में सूत्र और स्मृतियों की भाँति गृहस्थाश्रम की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है और गृहस्थ-जीवन के पंच-महायज्ञों द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति सुलभ

---

१. मनुस्मृति ६.१, ३३, ३४।

२. मनु० ६.३७, ४१।

३. मनु० ६.९५।

बताई गई है।[१] फिर भी नियम बनाया गया कि घर में रहते हुए मर जाना बन्धन का कारण है। कम से कम मृत्यु तो किसी तीर्थस्थान में होनी ही चाहिए।[२] श्रीमद्-भागवत में गृहस्थाश्रम के निष्काम कर्मयोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति तो सम्भव बताई गई है, पर इस ग्रन्थ में गृहस्थ-जीवन की साधारणतः ऊँची प्रतिष्ठा नहीं दिखाई देती।[३] गृहासक्त की दुर्गति भागवत के अनुसार अवश्यम्भावी है।[४] भागवत का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है—

> **यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।**
> **गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥११.७.७४**

(यह मानुष-लोक मुक्ति का अनावृत द्वार है। इसे पाकर जो पक्षी की भाँति गृह में आसक्त है, वह आरूढच्युत है।)

महाभारत की भाँति भागवत में गृहस्थाश्रम में आसक्त व्यक्ति की विपत्तियों का निदर्शन किया गया है और आदेश दिया गया है कि इस आश्रम को छोड़ो। यह अंगनाश्रम है।[५] भागवत के अनुसार वेद ऐसे कर्म का प्रतिपादन नहीं करता, जो गृहस्थ यज्ञों के द्वारा सम्पादित करता है। फिर कर्म क्या है—

> **तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥४.२९.४९**

(कर्म वही है, जिससे हरि सन्तुष्ट होते हैं। विद्या वही है, जिससे हरि के प्रति बुद्धि प्रवृत्त होती है)।

भागवत में गृहस्थाश्रम को अनिवार्य नहीं माना गया। भागवत के मत के अनुसार नन्हें बालक भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवृत्त होने के पहले ही वैराग्य लेकर अन्त में मोक्ष-पथ के पथिक बन सकते हैं।[६]

आश्रमों की इस तारतम्यात्मक गुत्थी को सुलझाने के लिए जो उपाय किये गये, उनमें से सर्वप्रथम था इन सभी आश्रमों का यथासाध्य समन्वय कर देना। समन्वय की रूप-रेखा बहुत-कुछ इस प्रकार रही है—ब्रह्मचर्य-आश्रम प्रायः

---

१. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ४७.६।
२. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ४७.२५२-२५५।
३. भागवत ४.३०.१९-२० तथा ११.१७.५५।
४. भागवत ११.१७.५६-५८; ११.७.७३।
५. भागवत ४.२९.५२-५५ तथा ११.८.७।
६. भागवत ६.५.२१, ३३।

वानप्रस्थ और संन्यास से मिलता-जुलता ही है। ऐसी स्थिति में किसी का ब्रह्मचर्य से विरोध नहीं हो सकता था। ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता था। कठिनाई गृहस्थाश्रम के सम्वन्ध में आती थी। गृहस्थ का उत्तरदायित्व यद्यपि सम्माननीय है, पर गृहस्थ के लिए सांसारिक जीवन के चक्कर में पड़ कर पतन की ही अधिक सम्भावना है, अभ्युत्थान की नहीं। इस कठिनाई की प्रतीति आरम्भिक युग से हो चुकी थी। प्रायः सदा ही शास्त्र-कारों का सुझाव रहा है कि गृहस्थी की झंझट बहुत न बढ़ाई जाय और जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च बनाने का प्रयत्न किया जाय, भले ही आधिभौतिक दृष्टि से गृहस्थ हीन ही क्यों न हो। इस दिशा में 'कर्मयोग' का अतिशय महत्त्व है। 'कर्मयोग' के सिद्धान्त में गृहस्थ-जीवन और संन्यास का वैज्ञानिक समन्वय किया गया है। गृहस्थ यदि भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करे और भागवत के अनुसार निर्धन जीवन बिताये तो उसके लिए घर ही वन है। वानप्रस्थ-आश्रम सबसे कठोर आश्रम है। इस कठोरता को अपनाने का प्रधान कारण यही रहा है कि वन में जाकर किसी-किसी विद्वान को वे सारी सुविधायें और चित्त की शान्ति मिल सकती थी, जिनके द्वारा वह व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने में पूर्ण रूप से सफल हो सकता था। गृहस्थ के लिए सीमायें रहती हैं—वह थोड़ा ही देख सकता है, सुन सकता है, जान सकता है क्योंकि वह गृह के खूंटे से बंधा होता है। उसका पगहा उसे जितनी दूर जाने दे सकता है, उतनी ही दूर वह जा सकता है। घर छोड़ने वाले के समक्ष यह कठिनाई नहीं रहती। उसके लिए कोई बन्धन नहीं। सारी प्रकृति का दर्शन, और पूर्ण ज्ञान उसके लिए निर्बाध खुला है। वानप्रस्थ की इस उच्चता को निर्बाध बनाये रखने के लिए तथा उसकी कठोरता को कम करने के लिए समय-समय पर गृहस्थाश्रम की कुछ सुविधायें वानप्रस्थ-मुनियों के लिए दे दी गईं। उसके लिए कुटी हो सकती थी। उसके कुटुम्ब में स्त्री-पुत्रादि वहाँ रह सकते थे और वह अपने उपभोग के लिए गिनी-चुनी वस्तुओं का संग्रह कर सकता था।[1] इस प्रकार वैदिक संस्कृति का वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य के तपोमय जीवन और ज्ञान की खोज तथा गृहस्थाश्रम के पंच-महायज्ञों और अन्य सुविधाओं से समन्वित होकर ग्रहणीय बना रहा।

---

१. उपर्युक्त सुविधाएँ केवल उन्हीं मुनियों के लिए थीं, जो उन्हें चाहते थे। ऐसे मुनियों की संख्या अधिक थी, जो इन सुविधाओं से विमुख थे। वान-प्रस्थ और गृहस्थ की इसी समानता को दृष्टि-पथ में रखते हुए पद्मपुराण सृष्टि खण्ड के सोलहवें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ और वानप्रस्थ तो प्रायः समान हैं। वास्तव में संन्यास भिन्न है।

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में यद्यपि गृहस्थ के लिए व्यक्तित्व के विकास की योजना बनाई गई, पर गृहस्थाश्रम को कभी आवश्यक नहीं माना गया। दोनों संस्कृतियों के ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम के दोषों की गणना प्रायः मिलती है। इस सम्बन्ध में खेती के कामों की कठोरता की ओर कृषकों का ध्यान आकर्षित किया गया है। खेती करने में कभी विश्राम नहीं है। वही-वही काम इस वर्ष, अगले वर्ष और सारे जीवन।[1]

गौतम के शब्दों में वह शक्ति भरी थी कि जो कोई उनके समक्ष आया, वह उनका अनुयायी बन कर रहा। उन्होंने गृहस्थ-जीवन की विषमताओं की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। 'इन्द्रियों को अपने विषयों को भोगने से जो सुख प्रतीत होता है, उसे मैं मीठा विष कहता हूँ। गृहस्थ अपने व्यवसाय में तन-मन-धन से प्रयत्नशील रह कर भारी कष्ट भोगता है। इतना कष्ट भोगने पर भी यदि उसे अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती तो वह शोकाकुल होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, पर यदि कहीं उसे अपने उद्योग में सफलता मिल गई और अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो गई तो वह दिन-रात इस चिन्ता में पड़ा रहता है कि दुष्ट राजा या चोर उसे लूट न ले जायँ, आग या बाढ़ से वह नष्ट न हो जाय अथवा शत्रुता करने वाले बन्धु-बान्धव कहीं हानि न पहुँचायें। इन विचारों से उसका मन सदा ही शंकित रहता है और यदि कहीं उसकी आशंका सत्य निकली तो उस मनुष्य के दुःख का पार नहीं रहता। विषयों के भोग के लिए एक राजा दूसरे राजा के साथ. माता पुत्र के साथ, बहिन भाई के साथ और मित्र मित्र के साथ संघर्ष करते हैं। विषयों की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के काण्ड होते हैं—गाली-गलौज, हाथा-पाई, अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग और लोगों की मृत्यु तक परिणामस्वरूप देखी जाती हैं। महान् युद्ध तक इन्हीं के लिए होते हैं। सारे पाप तो लोग इन्हीं के लिए करते हैं। इस विषाक्त विषय-भोग के लिए ही मनुष्य मन, वाणी और शरीर से घोरातिघोर दुराचार करता है और मरने के पश्चात् परिणामस्वरूप उसकी दुर्गति होती है। किसी व्यक्ति में युवावस्था में सौन्दर्य है। उसी की वृद्धावस्था में सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। यह सौन्दर्य का दोष है। सौन्दर्य के विषय में आसक्ति न रखना ही सौन्दर्यजन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। सौन्दर्य की मिठास, उसके दोष, और उस दोष से बचने की विधि को परखने वाला बुद्धिमान् स्वयं तो विषय-भोग में पड़ता नहीं, अपितु वह दूसरों को भी इनसे मुक्ति पाने के मार्ग को बताता है।[2]

---

१. चुल्लवग्ग ७.२।

२. महादुक्खक्खन्ध सुत्तन्त १-१२। धम्मपद २०.१२ में गौतम ने

गौतम ने गृहस्थाश्रम का विवेचन करते हुए बताया—पुत्र और पशु में आसक्त मन वाले मनुष्य को मृत्यु उसी प्रकार ले जाती है, जैसे सोये गाँव को बाढ़। ऐसी स्थिति में पुत्र, पिता, या भाई-बन्धु कोई नहीं बचा सकते। जब सत्य इस प्रकार है तो शीलवान् पण्डित यथाशीघ्र निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को अपने लिए खोज निकाले।[1] दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर भी गौतम ने वैराग्य का कारण बताते हुए कहा है कि सभी संस्कार (बनी हुई वस्तुयें) अनित्य और दुःखमय हैं। सभी धर्म (पदार्थ) अनात्म हैं। जब इन बातों को कोई व्यक्ति अपनी प्रज्ञा से देखता है तो उसे संसार से विराग होता है। यही विशुद्धि का मार्ग है।[2] इसके साथ ही साथ निर्वाण की मनोरम कल्पना अतिशय मनोरम रही है। ऐसी विचार-धारा में उस युग में गृहस्थों का बह जाना और मुनि-पथ पर चलना साधारण बात हो गई।

जैन संस्कृति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चराचर सम्पत्ति रखता है या उसके रखने की सम्मति देता है तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।[3] गृहस्थाश्रम के घनघोर श्रम से बचने के लिए कुछ लोग उसका परित्याग करते थे। तभी तो उनके सम्बन्धी उनसे कहते थे—तुमसे हम सरल काम करायेंगे, तुम्हारा ऋण भी हम बाँट लेंगे, तुम घर लौट चलो। ऐसे आश्वासन पाकर कभी-कभी लोग घर लौट भी जाते थे।[4] इस संस्कृति में गृहस्थ-जीवन को पाप का कारण माना गया और कहा गया कि सांसारिकता के चक्कर से बच कर रहना ही ठीक है।[5] संसार के सभी प्राणी आतुर हैं—यह देखकर घर से निकल पड़ना चाहिए।[6] उस

व्यक्तित्व के विकास की दिशा में स्त्री-परित्याग को इन शब्दों में आवश्यक कहा है :—

> यावं हि वनथो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
> पटिबद्धमनो नु ताव सो वच्छो खीरपको व मातरि॥

(यदि मनुष्य का स्त्री के प्रति तनिक भी अनुराग रहा तो वह वैसे ही बँधा रहता है, जैसे दूध पीने वाला बछवा)।

१. धम्मपद मग्गवग्ग १५-१७।
२. धम्मपद मग्गवग्ग ५-७।
३. सूत्रकृतांग १.१.१.२।
४. सूत्रकृतांग १.३.२।
५. आचारांग १.५.६.३।
६. आचारांग ३.१.१०९।

संस्कृति के विचारकों को मानव-जीवन नश्वर, घृणास्पद और चंचल प्रतीत होता था। उन्हें इस जीवन को सुधारने के लिए प्रव्रज्या ही एकमात्र उपाय दृष्टिगोचर होता था। ऐसी धारणा हो जाने पर स्वभावतः गृहस्थाश्रम के काम-भोगों में अशुद्धि और अपवित्रता दिखाई पड़ती थीं। प्रत्यक्ष है कि संसार का सारा ऐश्वर्य मरने वाले के साथ नहीं जाता है। उसके जीवन-काल में उसका ऐश्वर्य अनेक शत्रुओं के द्वारा विनष्ट किया जाता है। पुत्र आदि सब कुछ नश्वर ही हैं—फिर किस के लिए गृहस्थाश्रम की हाय-हाय रखी जाय?[1]

वन्य वृत्ति

वानप्रस्थ नाम से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस आश्रम के सम्बन्ध में आरम्भिक युग से घर छोड़कर वन की शरण लेने का विधान रहा होगा। ऋग्वेद में केशी नामक मुनि का वर्णन आता है। इस नाम से मुनियों के केश रखने की रीति की कल्पना होती है। कुछ मुनियों की उपाधि वातरशना थी। इस उपाधि से प्रगट होता है कि मुनि अपने शरीर के मध्य भाग को वस्त्र से नहीं आच्छादित करते थे। उनके वस्त्र पिशंग और मलिन होते थे। मुनि अप्सराओं, गन्धर्वों और मृगों के पथ पर चलते थे।[2]

वैदिक धारा

ऐतरेय ब्राह्मण में मल, अजिन, श्मश्रु और तप—चारों ही वानप्रस्थके लक्षण बताये गये हैं।[3] परवर्ती साहित्य में वानप्रस्थ लेने वालों की रहन-सहन का विस्तृत

---

१. ज्ञातधर्मकथा १.१। यही बात तत्त्वार्थसूत्र ७.१२ में इन शब्दों में कही गयी है—जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।

२. ऋग्वेद १०.१३६।

३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.११ में 'किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः तपस्वी ब्राह्मणों के विषय में मिलता है। यह श्लोक उन ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त है, जो पुत्र नहीं चाहते थे। ऐसे तपस्वियों के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा गया है कि वे पुत्रैषणा से परे होते थे। बृहदारण्यक ३.५.१। किं नु मलम् आदि में कुछ विद्वान् चारों आश्रमों का उल्लेख ढूँढ़ते हैं। वे मल को गृहस्थाश्रम का, अजिन को ब्रह्मचर्य का, श्मश्रू को वानप्रस्थ का तथा तप को संन्यास का लक्षण बतलाते हैं। वास्तव में वानप्रस्थ और संन्यास का भेद सूत्र-काल से सुनिश्चित हुआ। इसके पहले गृहस्थाश्रम को छोड़ने वाले सभी लोग मुनि कहलाते थे। प्रारम्भिक

वर्णन मिलता है। असंख्य तपस्वी हिमालय पर पहुँचते थे। वहाँ ऋषियों के गण होते थे। इन गणों में ५०० ऋषि तक हो सकते थे। गणों के संचालक शास्ता (शिक्षक) थे। तपस्वियों का भोजन वन में प्राप्त होने वाले फल-मूल, श्यामाक और नीवार से होता था।[1] वन के सुन्दर, रमणीय और मनोरम वृक्षों के बीच ऋषियों का मन रमता था।[2] इन्हीं वृक्षों के बीच उनके आश्रम होते थे। आश्रम में मृग भी पाले जाते थे।[3] आश्रम में रहने के लिए पर्णशालायें बनाई जाती थीं।[4] तपस्वियों की जीविका उञ्छाचरिया से चलती थी।[5] वे कभी-कभी स्वादिष्ट भोजन पाने के लिए पर्वत प्रदेश से उतर कर मैदानों में काशी तक जा पहुँचते थे और नगरों में भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाते थे। नगरों में आने पर उन्हें प्रायः राजोद्यान में रहने के लिए पर्णशाला और स्वादिष्ट भोजन का सुप्रबन्ध हो जाता था।[6] कुछ तपस्वी नगर के पास आरामों में भी रहते थे। वे स्वयं उपवन का संवर्धन करके अपने भोजन के लिए फल-मूल आदि उत्पन्न कर लेते थे। तपस्वियों के लिए फल-मूल का भोजन प्रशस्त और अन्न-भोजन निन्दित माना जाता था।[7] कुछ तपस्वी संघ बना कर गाँवों के समीप रहते थे।[8] वे भिक्षा माँगते समय भिक्षा-पात्र ले लेते थे। गाँव के समीप रहने वाले तपस्वियों को उनके उपासक भोजन देते थे।[9]

मुनि अजिन-वस्त्र धारण करते थे और सिर पर जटा रखते थे। उनके दाँत

युग के वानप्रस्थ और संन्यासी दोनों को मुनिकोटि में रखा जा सकता है। ऋग्वेद १०.१३६ में मुनि के मल-पिशंग धारण करने की चर्चा है। अतः मल मुनि का लक्षण है। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ दोनों अजिन धारण करते थे। देखिए गोध-जातक ३२५; संकल्प जातक २५१।

१. अम्बजातक १२४; केसव जातक ३४६।

२. केसव जातक ३४६।

३. मिगपोतक जातक ३७२।

४. उदञ्चनि जातक १०६।

५. उञ्छाचरिया थी घूम-फिर कर गिरे फल चुन कर खाना। संकप्प जातक २५१।

६. संकप्प जातक २५१।

७. गामणीचण्ड जातक २५७।

८. सेतकेतु जातक ३७७।

९. संकप्प जातक २५१; गोध जातक ३२५।

मैले होते थे। उनके मुख से कान्ति नहीं टपकती थी।[1] वे वल्कल भी धारण करते थे। सम्भवतः अधोवस्त्र अजिन का और उत्तरीय वल्कल का होता था।[2]

कुछ तपस्वी विविध प्रकार के श्रम करके अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे कुल्हाड़ी से लकड़ी फाड़ने का काम करते थे।[3] कुछ तपस्वी परिग्रहशील भी होते थे। तभी तो वे आलुक आदि खोदना, विलालि तथा तक्कल कन्दों को खोदना, श्यामाक और नीवार धान पैदा करना, शाक, भिस, मधु-मांस, बदर, आमलक आदि का संग्रह करना, भोजन पकाना आदि कामों को अपना सके थे।[4]

दक्षिण भारत के वानप्रस्थ-मुनियों की रहन-सहन का परिचित्रण रामायण में किया गया है।[5] वन में भ्रमण करते समय राम को असंख्य वानप्रस्थ-मुनि मिले। मुनियों के आश्रमों की रूप-रेखा का परिचय राम के आश्रम-वर्णन से हो सकता है। 'सर्वप्रथम आश्रमोपयोगी भूमि का चुनाव होता था। ऐसे प्रदेश में आश्रम होना चाहिए था, जहाँ जलाशय निकट हो और वन तथा जल के दृश्य रमणीय हों। आश्रम-भूमि के समीप ही समिधा, पुष्प और कुश मिलने चाहिए थे।' जिस स्थान पर पंचवटी में राम का आश्रम बना, वह समतल था। वहाँ मनोरम वृक्ष और पुष्पों की शोभा निराली थी। समीप ही रमणीय जलाशय था, जिसके कमलों की सुगन्धि के कारण पार्श्ववर्ती वातावरण अतिशय रम्य था। थोड़ी दूर पर गोदावरी नदी थी। उसके दोनों तटों पर पुष्पित वृक्ष खड़े थे। उस प्रदेश की पर्वत-शोभा मनोहर थी। वे पुष्पित वृक्षों से अलंकृत थे। वृक्षों पर मयूर आदि पक्षी विचरण कर रहे थे। अन्यत्र वन्य पशु सुशोभित हो रहे थे।[6] रामायण में प्रयाग में संगम पर भरद्वाज के आश्रम, चित्रकूट में वाल्मीकि आदि ऋषियों के आश्रम, दण्डकारण्य

---

१. सेतकेतु जातक ३७७; गोध जातक ३२५।

२. संकप्प जातक २५१। मुनियों के अजिन और वल्कल धारण करने का उल्लेख महाभारत शल्य० ३७.३५ में भी मिलता है।

३. तित्तिर जातक ११७।

४. भिक्खा-परम्परा जातक ४९६।

५. महाभारत वनपर्व ५८.२१ के अनुसार विन्ध्य के महाशैल पर महर्षियों के आश्रम थे।

६. वा० रामायण अरण्य काण्ड सर्ग १५। दण्डकारण्य के तपस्वियों के आश्रम के वर्णन के लिए देखिए अरण्यकाण्ड १.१-९।

में अगस्त्य आदि महर्षियों के आश्रमों के प्रचुर वर्णन मिलते हैं।[1] वन में मुनि लोग अपने उपनिवेश के लिए उपवन बना लेते थे।[2] उस युग में मुनियों का महत्त्वपूर्ण काम था—वन-प्रदेश को शरण्य बना देना। इस दिशा में अगस्त्य मुनि का चरित उल्लेखनीय है। उन्होंने दक्षिण भारत के दण्डकारण्य में केवल आश्रम ही नहीं बनाया, अपितु विप्रों के संहारक राक्षसों का विनाश भी किया।[3] वानप्रस्थ के मुनि महापुरुषों का आतिथ्य करके उन्हें वानप्रस्थ संस्कृति के अनुकूल भोजन देते थे। आश्रमों में राजाओं का सत्कार फल-मूल, पुष्प आदि से होता था।[4] तपस्वी मुनि दर्श, पौर्णमास यज्ञ आदि विविध प्रकार के यज्ञ करते थे।[5] आतिथ्य तथा अग्निहोत्र आदि सम्पादन करने के लिए कुछ मुनि गायें रखते थे। वसिष्ठ के पास नन्दिनी गाय थी।[6] ऋषियों के गण का कुलपति होता था।[7]

रामायणकालीन मुनियों के गण या संघ भी होते थे। उनकी रहन-सहन का परिचय रामायण में दिये हुए उनके नामों से लग सकता है—वैखानस, बालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप, अश्मकुट्ट, शीर्णपर्णाशिन, पत्राहार, तापस, दन्तोलूखली, उन्मज्जक, गात्रशय्या, अशय्या, अनवकाशिक, मुनि, सलिलाहार, वायुभक्ष, आकाश-निलय, स्थण्डिल-शायी, ऊर्ध्ववासी, दान्त, आर्द्रपटवास, सजप, तपोनिष्ठ, पंचतपोन्वित आदि।[8] इन नामों से ज्ञात होता है कि मुनियों की तपस्या के विविध

---

१. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४, ५६; अरण्यकाण्ड सर्ग ६, ८, ११ और १२।

२. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ११.७८।

३. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ११.५५-६६, ८१-८३ तथा १२.५४।

४. वा० रामा० बालकाण्ड ५२.३; अरण्यकाण्ड १२.२७-३१।

५. वा० रामा० बालकाण्ड ५३.२४।

६. वा० रामा० बालकाण्ड सर्ग ५५। बुद्धचरित ७.६ में तपोवन में गाय रखने का उल्लेख मिलता है।

७. अयोध्याकाण्ड ११६ वें सर्ग से।

८. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ६.२-५; बालकाण्ड ५२.२५-२८। महाभारत शल्य० ३६.४५-४६ में भी वानप्रस्थ मुनियों के नाम प्रायः ये ही मिलते हैं। इनमें प्रसंख्यान की एक नई कोटि है। मुनि-संघ की चर्चा महाभारत के अनुशासन पर्व १०.११; शल्य० ३६.३४; ३८.२ आदि में मिलती है। कण्व के आश्रम में भी महर्षियों का गण रहता था। यह तपोवन ऋषियों का उपनिवेश ही था। आदि पर्व ६८ वें अध्याय से।

रूप थे और उन्हीं के अनुकूल उनकी रहन-सहन थी। कुछ लोग अपने पास केवल तत्कालीन भोजन की आवश्यकता भर के लिए द्रव्यों का संग्रह करते थे और उसके पश्चात् अपने पात्र धो डालते थे। कुछ मुनि सूर्य की किरणों का पान करते थे। कुछ तपस्वी केवल पत्थर के टुकड़ों को ही अपने भोज्य पदार्थ से छिल्के निकालने अथवा कूटने के लिए काम में लाते थे। इस काम के लिए कुछ लोग दाँतों का ही प्रयोग करते थे। कुछ तपस्वी केवल पत्तों का आहार करते थे और कुछ फल-मूल का। ऐसे भी तपस्वी थे, जो आकण्ठ जल में रह कर तप करते थे। सोने के लिए कुछ मुनि कोई उपादान नहीं अपनाते थे और कुछ तो कभी सोते ही नहीं थे। केवल जल पीकर अथवा वायु-मात्र से कुछ तपस्वी अपना जीवन धारण करते थे। कुछ तपस्वी सदा अपने वस्त्र गीले रखते थे और कुछ पंचाग्नि में तपते थे।

रामायण और महाभारत-युग में कुछ मुनियों के सकुटुम्ब वन में रहने का उल्लेख मिलता है। वसिष्ठ का नाम इस कोटि के मुनियों में सर्वोपरि है। महाभारत में एक ऐसे मुनि का नाम व्रीहिद्रोण मिलता है। वे वन में शिलोञ्छ और कापोती वृत्ति से जीविका उपार्जित करते थे और पक्ष में एक बार भोजन करते थे। वे कपोत-वृत्ति से पक्ष में एक द्रोण अन्न उपार्जित करके उसी से यज्ञ करते थे और अतिथियों का सत्कार भी।[1] रामायण में महर्षि ऋचीक और विश्वामित्र के सकुटुम्ब होने के उल्लेख मिलते हैं।[2] महाभारत के अनुसार मुनि अपने शिष्यों के साथ विचरण भी करते थे। वे गृहस्थों के पास जाकर कुछ दिनों तक उनके घर ठहर सकते थे। गृहस्थ यथाविधि उनकी पूजा और आतिथ्य करते थे।[3]

कुछ मुनि दीर्घकालीन यज्ञ किया करते थे। नैमिषारण्य के तपस्वियों ने १२ वर्ष का दीर्घसत्र यज्ञ के माध्यम से सम्पन्न किया था। अनेक ऋषि विभिन्न प्रदेशों से आकर उस यज्ञ के सम्पादन में संलग्न थे।[4] कुछ महातपस्वी मुनि यजमानों के लिए यज्ञ-सम्पादन का काम करते थे। वे यज्ञ की दक्षिणा—पशु आदि ग्रहण करते थे। राजा उनकी प्रतिष्ठा करते थे। यज्ञ-सम्पादन करने के लिए वे परिभ्रमण करते थे।[5]

---

१. महाभारत वनपर्व २४६ वें अध्याय से।

२. वा० रामायण बालकाण्ड ६१ वाँ और ६२ वाँ सर्ग।

३. महा० वन० २४५.८; २४६.१२-१६।

४. महा० शल्यपर्व ३६.३९। ऋषियों के द्वारा विविध प्रदेशों में किये हुए यज्ञों का उल्लेख शल्य० ३७.१५-२६ में मिलते हैं।

५. महा० शल्यपर्व ३७.१६-२०।

महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ दिन भर में नियमपूर्वक केवल एक बार तीसरे पहर थोड़ा भोजन कर सकता था। गृहस्थों की भाँति ही उसे अग्निहोत्र, गो-सेवा तथा पंच महायज्ञादि सम्पादन करना चाहिए था। वह बिना जोती हुई भूमि से उत्पन्न अन्न को अतिथियों के भोजन कर लेने के पश्चात् खा सकता था। वानप्रस्थ-मुनि अतिथि-सेवा तथा यज्ञ के उद्देश्य से एक दिन, एक मास, एक वर्ष और १२ वर्षों के लिए भी अन्न-संग्रह कर सकते थे। वे भूतल पर लोटते थे या पंजों के बल खड़े रहते थे अथवा किसी एक स्थान पर आसन लगा कर बैठते थे। मुनि दिन में तीन बार—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल स्नान और सन्ध्या करते थे। कुछ मुनि पक्ष में केवल एक बार यवागु पीकर ही रहते थे, अथवा कन्द-मूल, फल या फूल से जीविका चलाते थे। वे सभी ऋतुओं में प्रकृति की विषमताओं से अपने शरीर को तपाते थे।[1] कुछ मुनि इंगुदी और रेंडी के तेल का उपयोग करते थे। इस प्रकार वानप्रस्थ मुनि के लिए वन में रहना, वन में विचरना, वन में ठहरना, वन के मार्ग पर चलना, वन को गुरु की भाँति मान कर उसकी शरण लेना आदि साधारण जीवन-विन्यास का क्रम था। वे सब प्रकार के स्त्रियों के संयोग से दूर रहते थे। स्रुवा ही एकमात्र उनका पात्र होता था, तीन अग्नियों की वे नित्य शरण लेते थे और सदा सत्पथ पर चलते थे।[2]

महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ मुनि को कभी गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिये था। वह वन के फल-मूल से अथवा पायी हुई भिक्षा से आये हुए अतिथियों की पूजा करता था और भिक्षुओं को भिक्षा देता था।[3] नियम था कि वानप्रस्थ अपनी वाणी पर संयम रखे, किसी से स्पर्धा न करे, अपने ऊपर दम और दूसरों के प्रति क्षमा तथा मैत्री-भाव बढ़ाये और सत्यपरायण बने। साधारणतः वानप्रस्थ मुनि केश और श्मश्रु बढ़ाते थे। नित्य समाहित होना वानप्रस्थ के लिए साधारणतः आवश्यक था।[4]

वानप्रस्थ-स्त्रियाँ भी वल्कल और अजिन धारण करती थीं। गान्धारी और कुन्ती ने वानप्रस्थ-व्रत अपनाया था।[5]

---

१. महा० शान्तिपर्व २३६ वाँ अध्याय।

२. महा० अनुशासनपर्व १४२ वाँ अध्याय।

३. स्ववीर्यजीवी, दाता परेभ्यो नियताहारचेष्टः। आदिपर्व ८६.४।

४. महा० आश्वमेधिक पर्व ४६ वाँ अध्याय।

५. महा० आश्रमवासिक पर्व २५.१५; ३३.११, १२। परवर्ती साहित्य में अनेक स्थानों पर तापसियों के उल्लेख मिलते हैं; यथा रघुवंश १४.८०।

धृतराष्ट्र के तपस्वी हो जाने पर युधिष्ठिर सपरिवार उनके आश्रम पर गये थे। वह आश्रम मृगों से परिव्याप्त था। केले के वनों से उसकी शोभा बढ़ रही थी।[१] धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर का स्वागत जल, मूल और फल से किया। आश्रम की वेदियों में होम की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। मुनि-समुदाय होम कर रहा था। मृगों का समूह निःशंक होकर विचरण कर रहा था। मयूर, कोकिल आदि पक्षियों का मनोरम निनाद हो रहा था। उच्च कोटि के विद्वानों का वेद-पाठ सुनाई पड़ रहा था। कहीं-कहीं फल और मूल की राशि सुशोभित हो रही थी।[२] राजा युधिष्ठिर ने वहाँ वनवासी मुनियों के लिए कलश, अजिन, प्रवेणी, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, स्थाली, पिठर, लौहपात्र आदि आवश्यक वस्तुओं का दान दिया।[३]

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि महाभारत और रामायण की विशाल परिधि में विविध प्रकार की रहन-सहन वाले मुनियों का समुदाय है।

सूत्र और स्मृति-साहित्य में वानप्रस्थ जीवन की रूपरेखा बहुत-कुछ ऊपर जैसी ही रही। ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ-जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए इस युग में विशेष प्रयास किया गया। इस युग में वनवासियों की रहन-सहन में कुछ अधिक कठोरता दिखाई पड़ती है। धीरे-धीरे विविध प्रकार के यज्ञों को वानप्रस्थ-जीवन में अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठा मिली।[४] मनु ने वानप्रस्थ-मुनियों को गृहस्थों से भिक्षा माँगने की सुविधा तो दी है, पर ऐसा भोजन आठ ग्रास से अधिक नहीं होना चाहिये था और वह भी वन में लाकर ही खाया जा सकता था।[५] वनवासी अपने बनाये हुए नमक को भी खा सकता था।[६] वानप्रस्थ को सुख के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए था। उसे ब्रह्मचारी-जीवन बिताते हुए भूतल पर सोना चाहिये अथवा वृक्ष की जड़ में ही अपना स्थान बना लेना चाहिए था।[७] मुनि के भोजन पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये, वे सम्भवतः उसकी तपस्या के ही अङ्ग थे। वह दिन और रात में केवल एक वार ही भोजन कर सकता था। धीरे-धीरे भोजन छोड़ने का विधान अधिक प्रचलित हुआ। एक दिन, दो दिन वा तीन

---

१. महा० आश्रमवासिक पर्व ३१.३।

२. महा० आश्रमवासिक पर्व अध्याय ३३ और ३४।

३. महा० आश्रमवासिक पर्व ३४.१२-१५।

४. मनुस्मृति ४.९, १०; याज्ञवल्क्य० ३.४५।

५. मनुस्मृति ६.१२।

६. मनु० ६.१२।

७. मनु० ६.२६।

दिन तक लगातार उपवास करके पारणा करना, चान्द्रायण-विधि से भोजन करना, अथवा पक्ष के अन्त में एक बार भोजन करना आदि शरीर-शुद्धि के लिए आवश्यक नियम माने गये।[1] अन्त में भोजन छोड़कर जीवन-धारण करने के लिए केवल जल या वायु ग्रहण करना सर्वोच्च शुद्धि समझी गई।[2]

वानप्रस्थ-मुनियों के लिए पहले जो सुविधा आश्रम में रहने के लिए थी, वह कालान्तर में शनैः शनैः नहीं रह गई।[3] पहले के महर्षि आश्रमों में अपने विद्यार्थियों—ब्रह्मचारियों और ऋषियों-के साथ मनोरम पर्वतों के रमणीय वनों या नदियों के तट पर शान्त जीवन बिताते थे। उनके जीवन में जो प्रकृति-प्रदत्त सौरभ और समृद्धि थी, वह परवर्ती काल में लुप्तप्राय-सी हो गई। ऐसी परिस्थिति में इस युग में मुनि-जीवन का स्तर पहले जैसा ऊँचा न रहा और मुनि-जीवन का उद्देश्य एकमात्र तप हो कर रहा। गृहस्थों के वनवासी मुनियों के सम्पर्क में आने के अवसर नये विधानों के अनुसार कम होते गये। निःसन्देह पूर्ववर्ती युग में भी घोर तपस्या करने वाले कुछ मुनि अवश्य ही थे, पर आश्रमवासी मुनियों की परम्परा का उस युग की संस्कृति के निर्माण करने में अधिक महत्त्व रहा है।

यदि वानप्रस्थ-मुनि रोग से पीड़ित होकर अपने आचार का पालन करने में असमर्थ होता था या उसे मृत्यु निकट आती प्रतीत होती थी तो वह उत्तर-पूर्व दिशा में महाप्रस्थान करता था। ऐसी परिस्थिति में वह भोजन नहीं कर सकता था और जितने दिन जीवित रह सकता था, केवल जल पीकर रहता था। अन्त में जब वह

---

१. मनु० ६.१९, ३१; विष्णुधर्मसूत्र ९५.५-६।

२. आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२३.२ तथा मनु० ६.३१। बौधायन धर्मसूत्र ३.३ में भोजन करने की दृष्टि से वानप्रस्थ मुनियों के दस भेद मिलते हैं—पकाया हुआ भोजन करने वाले पचमानक और कच्चा भोजन करने वाले अपचमानक कहे जाते थे। इन्द्रावसिक्त शाकाहारी और रेतोवसिक्त मांसाहारी पचमानक थे। पचमानकों के तीन भेद फल, मूल और शाक में से एक, दो या तीनों को खाने के आधार पर थे। अपचमानकों में से उन्मज्जक मुनि भोजन रखने के लिए पात्र काम में नहीं लाते थे; प्रवृत्ताशी हाथ में लेकर भोजन करते थे, मुखेनादायी बिना हाथ लगाये पशुओं की भाँति खाते थे। तोयाहारी जल पीकर और वायुभक्ष केवल पवन के सहारे जीते थे।

३. आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२१.२० मनु० ६.२५ तथा वसिष्ठ० ९.११।

गिर पड़ता था तो वहीं से उसकी स्वर्गलोक की यात्रा का आरम्भ माना जाता था।[1]

राजाओं के द्वारा तपस्वियों के लिए तपोवन बनाने का विधान मिलता है। ऐसे तपोवन कम से कम मील भर लम्बे-चौड़े होते थे। तपोवन की सीमा निर्धारित होती थी और उसका समुचित संरक्षण होता था, जिससे वह वनैले पशुओं और गाय-भैंसों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता था।

पुराणों में वानप्रस्थ-जीवन की रूप-रेखा प्रायः पूर्ववत् मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आश्रम में शरीर की उपेक्षा करने का भाव दिनो-दिन बढ़ता गया। शरीर की मलिनता बढ़ाने के लिए केश, नख, रोम और श्मश्रु का बढ़ाना पर्याप्त था ही। आगे चल कर नियम बना कि शरीर के मलों को हटाना नहीं चाहिए। शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और धूप से शरीर को कष्ट देने के लिए आवश्यक था कि कुटी या पर्णशाला में न रहे। हाँ, अग्निहोत्र की अग्नि को किसी कुटी, पर्णशाला या पर्वत की कन्दरा में रख कर अवश्य बचाना चाहिए। इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रम धीरे-धीरे कठोर होता गया। इसकी कठोरता से घबरा कर गृहस्थ उसको अपनाने में हिचकने-से लगे। धीरे-धीरे इस आश्रम का नाम मिटने लगा। पहले तो वानप्रस्थ-आश्रम की अवधि कम कर दी गई और इसका कारण बताया गया कि अधिक तप करने से कहीं बुद्धि में विकार न उत्पन्न हो जाये। अतएव अपनी शक्ति के अनुसार १२,८,४ या केवल एक वर्ष तक वानप्रस्थ के नियमों का पालन करे।[2]

वानप्रस्थ-जीवन की कठोरता शनैः शनैः बढ़ी और इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक राजाओं ने वानप्रस्थ बनने के पश्चात् जटायें कटवाकर, गृहस्थ बन कर पुनः राज्य किया। ऐसे राजाओं में शाल्वाधिप. अम्बरीष, अन्धराम, सांकृति और अन्तिदेव उल्लेखनीय हैं। वानप्रस्थ की कठोरता को दूर करने के लिए वनों, नदियों के तटों आदि रम्य स्थानों में मठ बनने लगे, जहाँ तपस्वी

---

१. मनुस्मृति ६.३१। भागवत ११.१८.११ में मुनि के लिए अग्निप्रवेश के द्वारा मरण का विधान है।

२. श्रीमद्भागवत ११.१८ तथा ७.१२। इस पुराण के अनुसार

> चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ व चतुरो मुनिः।
> द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥७.१२.२२

आधुनिक युग में अब वानप्रस्थ केवल एक दिन के लिए स्मरण की वस्तु रह गया है। ऋषि-पंचमी के दिन जो व्रत लिया जाता है, वह वानप्रस्थ का स्मारक है।

सुविधापूर्वक रहते थे।[1] अवन्ति वर्मा के मन्त्री शूर ने अपने भवन के समान मठ तपस्वियों के लिए बनवाया।[2]

बौद्ध वन्य वृत्ति

व्यक्तित्व के विकास के लिए बौद्ध संस्कृति में भी वनों का अतिशय महत्त्व रहा है। इस संस्कृति में अरण्य को रमणीय माना गया और कहा गया कि कामनाओं के फेर में न पड़ने वाले विरागी पुरुष इन्हीं अरण्यों में रमण करते हैं।[3] थेर गाथा और थेरी गाथा में अधिकांश चरित ऐसे ही महापुरुषों के हैं, जिन्होंने वन में रहते हुए ही अपने व्यक्तित्व का विकास किया था और साथ ही जिन्होंने वन-भूमि को अतिशय रमणीय मानकर प्रायः वहीं अपना जीवन-यापन किया। इन ग्रन्थों के अनुसार अरण्य-संज्ञी उन मुनियों की उपाधि थी, जिनका चित्त वन की शोभा और सुविधाओं की ओर विशेष प्रवृत्त था। पर्वत और वन की प्रशान्ति के बीच अंगुलिमाल का मन रमता था। वन-वृक्षों की हरी शीतल छाया में विचरण करने वाले मुनि वन-सरिताओं का शीतल जल पीते थे, उसी में स्नान करते थे और वनराजि में इतस्ततः परिभ्रमण करते थे। वन और पर्वत की शीतल वायु उनके अज्ञान रूपी कुहरे को मानो उड़ा देती थी। वे वन की पुष्प-रंजित भूमि पर बैठ कर मुक्ति और बन्धनविहीनता का अनुभव करते थे। प्रकृति की वन्य सुरम्यता को भिक्षुओं ने अपनी प्रगति में सर्वथा सहायक पाया। ऐसा वातावरण उनकी समाधि और चिन्तन को स्फुरित करता था। वन की प्राकृतिक उदारता के प्रति भिक्षुओं की कृतज्ञता के अनेक उद्गार इन पुस्तकों में संकलित हैं। उसभ नामक थेर को शरद् की वनश्री की संवर्धना के द्वारा आत्म-विकास का सन्देश मिला था।

गौतम बुद्ध ने वन की उपयोगिता प्रमाणित करते हुए कहा है कि जब तक भिक्षु वन के शयनासन का उपभोग करेंगे, उनकी वृद्धि होगी।[4] उन्होंने नियम बनाया कि भिक्षु एकासन और एकशय्या वाला होकर अकेले विचरण करे, आलस्य न करे, अकेले अपना दमन करे और वन में आनन्दपूर्वक रहे।[5] गौतम बुद्ध का मन पर्वतों और वनों की प्राकृतिक शान्ति में रमता था। उनके जीवन-काल में

---

१. राजत० ८.३३५०।

२. राजत० ५.३८।

३. धम्मपद अरहन्तवग्गो १०।

४. महापरिनिब्बानसुत्तन्त १६।

५. धम्मपद पकिण्णवग्गो १६।

प्राय: भिक्षु वनों और पर्वतों की गुफाओं में रहते थे।[१] स्वयं बुद्ध भी कभी-कभी वनों में कई दिनों तक लगातार रहते थे। आगे चल कर प्रकृति की सुरम्यता के बीच नगरों से दूर, नदियों के तट पर और पर्वतों की घाटियों में अनेक विहार बने। विहारों में रहने वालों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए राजाओं और धनी लोगों के द्वारा भूमि और धन का दान दिया गया।[२] फिर भी योगाभ्यास के लिए वन-भूमि को ही सर्वोत्तम माना गया।[३]

बौद्ध मुनियों के लिए नियम था कि वे नित्य भ्रमण करें। केवल वर्षा के चार मास तक उन्हें किसी विहार का आश्रय लेकर रहना आवश्यक था। मुनियों को भिक्षा माँग कर ही अपने भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में उनके लिए नित्य के भ्रमण करने में कोई असुविधा नहीं थी। प्रारम्भिक युग में मुनियों को अपने पहनने के लिए कपड़े इधर-उधर गिरे-पड़े चीथड़ों से ही बना लेने की अनुमति थी। परवर्ती युग में उनको दान में नये वस्त्र प्राय: मिलने लगे।

गौतम बुद्ध की मध्यमा-प्रतिपदा के अनुसार इन भिक्षुओं को न तो गृहस्थों की भाँति अतीव सुख था और न वैदिक मतानुयायी वानप्रस्थ-मुनियों की भाँति उन्हें जीवन की कठोरता का ही सामना करना पड़ता था। भिक्षुओं ने तप से शरीर को कष्ट देने की रीति को कभी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक नहीं माना। गौतम ने जैन और वैदिक मुनियों की कठोर तपस्या का घोर विरोध किया।[४]

सातवीं शती के चीनी यात्री इत्सिग ने आदर्श मुनियों के जीवन-विन्यास का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह किसी प्रशान्त वन-प्रदेश में बैठकर पक्षियों और मृगों की संगति का आनन्द लेता है और यश की खोज में न पड़कर निर्वाण की अखण्ड शान्ति चाहता है।

---

१. आगे चलकर विहारों के बनने पर भिक्षुओं का वन में रहना प्राय: रुक गया। आरम्भिक युग में उपसम्पदा के समय उनको प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि हम चीथड़ों का ही वस्त्र पहनेंगे और वृक्ष की जड़ में निवास करेंगे। गौतम ने स्वयं कहा है कि आरण्यक-शयनासन हानि से बचाने के लिए है। महापरिनिर्वाण सुत्त से।

२. उदाहरण के लिए देखिए नासिक के गुहालेख *Collected Works of Bhandarkar* भाग १ में प्रकाशित।

३. सौन्दरनन्द १.१७ के अनुसार नन्द योगाभ्यास के लिए वन में गया।

४. दीघनिकाय कस्सपसीहनाद सुत्त १.८। गौतम ने सील-सम्पत्ति, चित्त-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माना।

जैन मुनि वृत्ति

जैन संस्कृति में आत्मा को कर्मों के संस्कार से बचाने के द्वारा पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की जो योजना बनाई गई, उसके लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चरित्र को साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया।[1] इनमें से गुप्ति है मन, वचन और शरीर पर निग्रह रखना। चलने, बोलने, खाने, उठने, रखने तथा शौच के कामों में सावधानी रखना समिति है। धर्म दस प्रकार के हैं—क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य। परिषह २२ हैं[2]—भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी, डँस तथा मच्छरों का काटना, नग्नता, असन्तोष, स्त्री, चलना-फिरना, ध्यान के लिए आसन लगाने पर बाधाओं का आना, नींद आना, गाली सुनना, पीटा जाना, याचना करने पर किसी वस्तु का न मिलना, रोग, काँटों या झाड़ियों से शरीर को कष्ट होना, मल, आदर होना, ज्ञान का अभिमान, अज्ञान होना तथा दर्शन का अभाव। ये ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जो किसी मुनि के समक्ष आ सकती हैं और उसके सत्पथ पर अग्रसर होने में बाधक हो सकती हैं। मुनि इन सबको सहते हुए आगे बढ़ता है।

जहाँ तक जैन मुनियों के रहने और खाने-पीने की व्यवस्था का सम्बन्ध था, यह निश्चित नियम रहा है कि न तो उनके निमित्त कोई घर बनना चाहिए था और न भोजन या वस्त्र। ऐसी परिस्थिति में वह श्मशान, शून्यागार, गुहा तथा शिल्पशाला में रह सकता था।[3] वह शीत से बचने के लिए आग नहीं जलाता था। उसके लिए वस्त्र भिक्षा में प्राप्त होते थे। शीत से बचने के लिए वह कुछ अधिक वस्त्र ले सकता था, पर गर्मी आते ही वह उन्हें छोड़ देता था।[4]

मुनि का भोजन स्वाद के लिए नहीं होता था। खाते समय अधिक स्वाद

---

१. अनुप्रेक्षा के विवेचन के लिए देखिए इसी अध्याय का 'वानप्रस्थ का तप और तत्त्वज्ञान' प्रकरण पृष्ठ ३२४।

२. उपर्युक्त रहन-सहन का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र ९.१-१७ के आधार पर किया गया है। परिषहों के संस्कृत नाम नीचे लिखे सूत्र में हैं—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याकोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानऽदर्शनानि। तत्त्वार्थ सूत्र ९, ९।

३. आचारांग सूत्र १.७.२.१।

४. आचारांग १.७.३.३; १.७.४.१। तत्त्वार्थ सूत्र ७.६ के अनुसार शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण आदि क्रमशः पर्वत, परित्यक्त घर और स्वामी-रहित घर मुनियों के आवास के लिए थे।

पाने के लिए वह भोजन के ग्रास को दाहिनी से बाईं ओर और बाईं ओर से दाहिनी ओर नहीं ले जा सकता था।[१] उनको भोजन भिक्षा से मिलता था।

जैन मुनियों के जीवन का आदर्श महावीर के तपोमय जीवन के अनुरूप बना है। चार मास से अधिक दिनों तक विविध प्रकार के जीव उनके शरीर पर रेंगते रहे और उन्हें काटते रहे। केवल १३ मास तक उन्होंने वस्त्र धारण किया और इसके पश्चात् वस्त्रहीन होकर दिगम्बर बन गये। अनागार तो वे थे ही। उन्होंने चार हाथ वर्ग भूमि में अपनी दृष्टि सीमित करके समाधि लगाई। वे गृहस्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे। पापी लोग उन्हें डण्डों से पीटते थे। महावीर नमस्कार करने वाले व्यक्ति का भी उत्तर न देते थे। दो वर्षों तक उन्होंने शीतल जल का उपयोग नहीं किया। उन्होंने स्त्रियों को सभी पापों का मूल माना। जो वस्तु उन्हीं के निमित्त बनाई जाती थी, उसे नहीं खाते थे। केवल पवित्र भोजन ग्रहण करते थे। महावीर कभी स्वादिष्ठ भोजन की कामना नहीं करते थे। वे कभी अपनी आँख और शरीर को खुजलाते नहीं थे। वे किसी अन्य व्यक्ति का वस्त्र नहीं पहनते थे और न किसी के पात्र में भोजन ही करते थे। जहाँ भोजन बनता था, वहाँ से वे उदासीन भाव से चले जाते थे। अत्यधिक शीत होने पर भी वे सारे वस्त्रों का त्याग करके बाँहें फैला कर घूमते रहते थे और किसी वृक्ष का भी आश्रय नहीं लेते थे।[२]

महावीर किसी उपचार की कामना नहीं करते थे। वे स्नान और दन्तधावन आदि भी नहीं करते थे क्योंकि वे शरीर के स्वभाव से परिचित थे कि यह नित्य ही मलमय है। भोजन और पान का अधिकाधिक त्याग उनके तप का प्रमुख अंग था। वे भोजन पाने के लिए श्रमण, ब्राह्मण या पशु-पक्षियों से होड़ नहीं लगाते थे। भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय वे चिन्तन में निमग्न रहते थे।[३]

यात्रा करते समय यदि मार्ग में कोई नदी या नाला मिलता और उसे पार करते समय उनका शरीर भीग जाता था तो वे तब तक तट पर खड़े रहते थे, जब तक उनका शरीर सूख नहीं जाता था। यदि उनके पैर में कीचड़ लग जाती थी तो वे घास पर चल कर उस कीचड़ को छुड़ाते नहीं थे। ऐसा करने में घास को

---

१. आचारांग १.७.६.२।

२. आचारांग १.८.१।

३. आचारांग १.८.४। शरीर की शुद्धि की उपेक्षा के लिए देखिए सूयगडंग १.९.१२, १३।

क्षति पहुँचने की सम्भावना थी। वे उसी मार्ग पर चलते थे. जिस पर घास कम होती थी।[1]

महावीर शरीर की रक्षा करने के लिए किसी प्रकार की सावधानी नहीं रखते थे। यदि उनके मार्ग में कोई हिंसक पशु आ जाता तो वे विचलित नहीं होते थे, भले ही वह उनको हानि पहुँचाये। किसी के द्वारा प्रहार किये जाने पर वे राजा के यहाँ न्याय के लिए भी नहीं जाते थे।[2]

महावीर के जीवन के आदर्श पर जैन मुनियों के जीवन की रूप-रेखा इस प्रकार मिलती है—मुनि दो, तीन, चार, पाँच, छः या सात दिनों में, पखवारे अथवा एक से लेकर छः मास में केवल एक बार खाते थे। उनका भोजन प्रत्यग्र, शुद्ध, भिक्षा द्वारा प्राप्त और बिना धोये हुए हाथों से दिया हुआ ही हो सकता था। उनकी याचना जिह्वा के आस्वादन के लिए नहीं होती थी। वे खड़े हो कर या आसन पर बैठ कर खा लेते थे, दण्ड की भाँति लेट जाते थे अथवा लकड़ी की भाँति धूप में बैठते थे और दिगम्बर रहते थे। वे शरीर को खुजलाते नहीं थे और न थूकते थे। उनकी दाढ़ी, केश, नख आदि प्रायः प्राकृतिक रूप में बढ़ते रहते थे। कुछ मुनि केशों का लुंचन भी करते थे। सोने के लिए मुनि धरातल अथवा चौकी का उपयोग करते थे।[3]

परवर्ती युग में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मुनियों ने शारीरिक सुख की दृष्टि से मध्यमा प्रतिपदा अपनायी। उनके विविध प्रकार के वस्त्र सन, ऊन और रुई आदि उपादानों के बने होते थे। साधारणतः वस्त्र बिना सिले हुए ही पहने जाते थे। ऐंसे वस्त्र थे धोती और चादर। स्त्री-मुनियों के लिए विविध प्रकार के वस्त्रों के पहनने की सुविधा थी।[4]

तप और तत्त्वज्ञान

मुनियों की रहन-सहन में सुख का अभाव और शरीर को कष्ट सहने के योग्य बनाने की प्रक्रिया तप के साधन हैं। इनको तप का प्रथम सोपान माना जा सकता है। लोगों का विश्वास था कि आध्यात्मिक उन्नति का जहाँ आरम्भ होता है, वहीं आधिभौतिक सुखों का अन्त हो जाना चाहिए। शरीर को जीवित-मात्र रखने के लिए ही भोजन, वस्त्र और आवास आदि हो सकते हैं। कालान्तर में एक

१-२. आचारांग २.३.३.१३।

३. सूयगडंग २.२.७२।

४. बृहत्कल्प सूत्रभाष्य ३.२८३५; ४.३६७१, ४०८२-४०८५।

ऐसा युग आया, जब शरीर को अधिकाधिक कष्ट देना आध्यात्मिक उन्नति का स्वरूप माना जाने लगा। आरम्भ में शारीरिक सुखों की उपेक्षा इसलिए की जाती थी कि उनके चक्कर में पड़कर मनुष्य को समाधि और योग के लिए मन लगाना सरल नहीं रहता है, पर आगे चल कर कुछ लोगों के लिए शरीर को कष्ट देना ही तप का एकमात्र उद्देश्य हो गया।

तप का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥१०.१२९

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार तप संवर्धन का साधन है। यही तप विकास का मूल कारण माना गया। मानव-व्यक्तित्व के विकास में तप का वैसा ही महत्त्व समझा गया।

तप के द्वारा उत्थान की सम्भावना का उल्लेख वैदिक युग से ही मिलता है।[1] तप के द्वारा दूसरों की रक्षा करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होना सम्भव माना जाता था।[2] वैदिक कल्पना के अनुसार तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।[3] तप को अमरता प्रदान करने का साधन भी माना गया।[4]

वेदकालीन ब्रह्मचारी तपस्वी के रूप में चित्रित किया गया है। वह तप से तप्यमान होता है और आचार्य, देवों और लोकों को तप से आपूरित करता है।[5] तप के साथ ब्रह्मचारी तपस्वी के अन्य लक्षण थे—समिधा, मेखला, श्रम तथा घाम (धूप) का आवरण आदि।[6]

ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त वैदिक काल में ऋषि भी तप करते थे। तप के

---

१. पूर्वो जातो ब्राह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानः तपसोदतिष्ठत्। अथर्व० ११.५.५।

२. अथर्व० ११.५.८, १०।

३. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। अथर्व० ११.५.१७।

४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। अथर्व० ११.५.१९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.१३.१ के अनुसार देवताओं ने तप से देवत्व पाया है। शतपथ ब्राह्मण १०.४.४.१-३ के अनुसार प्रजापति १,००० वर्ष तपस्या से अपनी शुद्धि करके मृत्युपाश से विमुक्त हो सका।

५. अथर्व० ११.५.१, २, ४।

६. अथर्व० ११.५.४, ५।

द्वारा उन्हें उसी प्रकार सफलता मिल सकती थी, जैसे यज्ञ से।[1] तप से लोकों पर विजय प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों तप की मात्रा बढ़ती है, मानव उच्चतर लोकों को जीतता है और इस लोक में भी वह श्रेष्ठतर हो जाता है।[2]

वैदिक कल्पना के अनुसार तप करने से शरीर में अलौकिक ज्योति जगती है। इस ज्योति के साथ जो प्रकाश और सन्तापन होते हैं, उनका भारतीय साहित्य में उल्लेख मिलता है। 'जब प्रजापति तप कर रहे थे, उस समय उनके केश-छिद्रों से जो प्रकाश ऊपर की ओर निःसृत हुआ, वही ताराओं के रूप में प्रतिष्ठित है।'[3]

उपनिषद्-काल में ब्रह्मचर्य और तप की जो समन्वित रूप-रेखा मिलती है, उसमें यज्ञ, इष्ट, सत्रायण, मौन, अनशकायन और अरण्यायन को स्थान मिला है।[4] तप को ज्ञानमय माना गया है।[5] पिप्पलाद ऋषि ने अपने शिष्यों को तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक एक वर्ष तक रह कर अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए आदेश दिया।[6] उपनिषदों में तप को ब्रह्मज्ञान का साधन ही नहीं माना गया, अपितु उसे ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित किया गया।[7] इस युग में गृहस्थाश्रम को छोड़कर ऋषि-प्रव्रज्या लेने की प्रवृत्ति लोकप्रिय रही।

तपस्या के माध्यम से शरीर को कष्ट देने के लिए विविध प्रकार की प्रक्रियायें थीं। साधारण प्रक्रिया थी—भोजन, पान, वस्त्र आदि को केवल उतनी ही मात्रा में ग्रहण करना, जितने से जीवन का अस्तित्व-मात्र बना रहे। यदि किसी ने चाहा तो इनका सर्वथा परित्याग ही कर दिया। शरीर को कष्ट देने की कुछ अन्य प्रक्रियायें थीं—चमगादड़ की भाँति उलटा लटकना, काँटों की शय्या पर सोना, पंचाग्नि से सन्तप्त होना, उकडूँ बैठना आदि।[8]

साधना-पथ पर अग्रसर होने वाले मुनि चार ब्रह्म-विहारों की भावना करते

---

१. अथर्व० १२.१.३९।

२. शतपथ ब्रा० ३.४.४.२७।

३. शतपथ ब्रा० १०.४.४.२।

४. छान्दोग्य उप० ८.५।

५. मुण्डक उप० १.१.९।

६. प्रश्नोप० १.२।

७. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली २५।

८. सेतकेतु जातक ३७७।

थे।[१] उन्हें पाँच अभिज्ञायें तथा आठ समापत्तियाँ तपोमय जीवन की सिद्धि होने पर प्राप्त होती थीं।[२]

रामायण में तप के द्वारा प्रभा के द्योतित होने का उल्लेख है। तपस्या करके महात्मा अग्नि के समान देदीप्यमान हो जाते थे। मुनि साधारणतः जप और होम में संलग्न रहते थे।[३] तप के द्वारा ब्रह्मत्व की सम्भावना मानी जाती थी। रामायण-काल में यज्ञ की भाँति तप के लिए नियत अवधि होती थी। उस अवधि के समाप्त होने पर तपस्वी वैसे ही स्नान करते थे, जैसे ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर लेने पर स्नातक बनते समय।[४]

कभी-कभी तपस्या अत्यन्त घोर होती थी। विश्वामित्र की घोर तपस्या का परिचय रामायण के इस श्लोक से मिलता है—

> ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्,
> घर्मे पंचतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः,
> शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः ॥बाल० ६३.२३-२४

(बिना कोई अवलम्ब लिए, केवल वायु से ही जीवन-वृत्ति करते हुए, धूप में पंचाग्नि का सेवन करते हुए, वर्षा में आकाश का आश्रय लेकर शिशिर में दिन-रात पानी में पड़े रहकर उन्होंने तपस्या की।)

तत्कालीन धारणा के अनुसार मनोविकारों से तप का क्षय होता था। ऐसी परिस्थिति में यदि किसी कारणवश उचित क्रोध भी हो गया तो समझा जाता था कि तप की सिद्धि नहीं हुई। कुछ मुनि व्रत लेते थे कि जब तक तप करना है, कभी बोलूंगा ही नहीं।[५] ऐसे घोर तप से सारा संसार जलने लगता था।[६]

तप के प्रभाव से ज्ञान की अलौकिक शक्ति की सम्भावना मानी जाती थी।[७]

---

१. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार मनोवृत्तियों को ब्रह्मविहार कहते हैं।

२. अभिज्ञा दिव्य ज्ञान है—इच्छानुसार रूप बना लेना, कितनी भी दूरी से सुन लेना, दूसरों के विचार जान लेना तथा उनसे सम्बद्ध घटनाएँ जान लेना।

३. वा० रामा० बालकाण्ड ५१ वाँ सर्ग।

४. वा० रामा० बालकाण्ड ६३.१।

५. वा० रामा० बालकाण्ड ६४.१७।

६. वा० रामा० बालकाण्ड ६५.१३-१७।

७. मनु० ११.२३६; ५.२९।

तत्कालीन धारणा के अनुसार तपस्वी दूर-दूर की वस्तुओं को इन्द्रियों से परे होने पर भी जान सकते थे। मुनि दूसरों के मन की बातें भी जान लेते थे।[1] तप से आत्मज्ञान होता था। ऐसे आत्मज्ञानी तपस्वियों को भावितात्मा कहा जाता था।[2] अन्त में उन्हें ब्रह्म से साक्षात्कार हो सकता था।[3] इनके अतिरिक्त तप की लौकिक उपयोगिता भी थी। 'तपस्वियों की कामनायें मन में आते ही पूर्ण हो जाती हैं; जैसे जल बरसना, किसी को सन्तान होने का वर देना आदि।[4] मनु के अनुसार तप से औषध, आरोग्य, विद्या और दैवी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। ऋषियों ने तप से वेदों को पाया। तप से ही सौभाग्यशालिता की भी उत्पत्ति होती है।[5] कुछ तपस्वी योग की प्रक्रियाओं में संलग्न होते थे।[6]

तपस्वी का कर्तव्य था कि वह नित्य अपने आध्यात्मिक ज्ञान का संवर्धन करे। मनु ने वानप्रस्थ के लिए विविध प्रकार की उपनिषदों और श्रुतियों के अध्ययन का उल्लेख किया है।[7]

तपोमय जीवन बिताने वाले मुनियों के आश्रमों में मुनि बन कर रहने की इच्छा करने वाले लोगों की दीक्षा होती थी। आश्रमों के कुलपति दीक्षित मुनियों को धर्म-सम्बन्धी प्रवचन देते थे। इन आश्रमों में मुनियों के अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व को विकसित करने की सफल योजनायें थीं।[8]

महाभारत में तप की सुव्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसके अनुसार तप तीन प्रकार के हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और प्राज्ञों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप हैं। किसी के मन को कष्ट न देने वाली वाणी बोलना, सत्य, प्रिय और लाभप्रद बातें कहना, स्वाध्याय और अपने कर्म के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, मन को वश में रखना और शुद्ध भावना मानसिक तप हैं। इन तीनों प्रकार के तपों को निष्काम भाव से करना सात्त्विक तप है।

---

१. वा० रामायण अरण्यकाण्ड १४.१५-१६।

२. वा० रामा० ५.४।

३. वा० रामा० ५.४२।

४. आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२३.७-८।

५. मनुस्मृति ११.२३७-२४४।

६. वा० रामायण अरण्य० ६. ६।

७. मनुस्मृति ६.२९।

८. महा० अनुशासनपर्व अध्याय १८, आदिपर्व अध्याय ७०।

यदि इन्हें सत्कार तथा पूजा आदि के लिए किया जाय अथवा दम्भ से किया जाय तो वह राजस तप है। यदि मूर्खतावश अपने को पीड़ा देकर दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए तप किया जाय तो वह तामसिक तप है।[1]

मनु ने गृहस्थों के लिए तप की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। इसके अनुसार ब्राह्मण के लिए ज्ञान प्राप्त करना, क्षत्रिय के लिए प्रजा-पालन करना, वैश्य के लिए कृषि, पशु-पालन आदि व्यवसाय और शूद्र के लिए समाज-सेवा ही तप है।[2] तप की यह सार्वजनिक रूप-रेखा परवर्ती युग में विशेष लोकप्रिय हुई।

पतञ्जलि के योगसूत्र के अनुसार तप से अशुद्धि का क्षय होता है और शरीर तथा इन्द्रिय सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[3] तप क्रियायोग है।[4]

बौद्ध योग-साधन

बौद्ध संस्कृति में तप के नाम से प्रचलित शरीर को कष्ट देने वाली सभी प्रक्रियाओं को अनुचित कहा गया, पर इसमें गीता की भाँति शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप की प्रतिष्ठा की गई है। गौतम ने मन की स्वच्छता को साधु-जीवन के लिए सबसे बढ़ कर आवश्यक माना है।[5] निन्दा और हिंसा से विरत होने, अपने ऊपर संयम रखने और चित्त को योगमार्ग में स्थिर करने की शिक्षा गौतम ने दी।[6] चित्त को सम्बोधि-अंगों में लगाना गौतम के अनुसार मानसिक तप है। सम्बोधि-अंग हैं—स्मृति (सत्सिद्धान्तों को स्मरण रखना), धर्म-विचय (धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करना), वीर्य (उद्योगपरता), प्रीति (मन की प्रसन्नता), प्रश्रब्धि (शान्ति), समाधि तथा उपेक्षा। बौद्ध संस्कृति में इन्हीं के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति

---

१. श्रीमद्भगवद् गीता १७.१४-१९ में प्रस्तुत की हुई तप की यह रूप-रेखा समाज की प्रतिष्ठा के लिए है। इस तप के लिए वन में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिक युग में गांधीजी का तपोमय जीवन उपर्युक्त आदर्श पर प्रतिष्ठित था।

२. मनुस्मृति ११.२३५।

३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगसूत्र २.४३।

४. योगसूत्र २.१ के अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रिया-योग हैं। इनसे समायुक्त होकर ही कोई व्यक्ति योग की प्रक्रियाओं के लिए समर्थ हो सकता है।

५. धम्मपद यमकवग्गो ९, बुद्ध वग्गो १ तथा दण्डवग्गो १३।

६. धम्मपद चित्तवग्गो ६-७।

हो सकती है। परवर्तीयुग में इन्द्रिय-तर्पण (स्वस्थ मन आदि) को ध्यान, समाधि आदि के लिए आवश्यक माना गया।[1]

गौतम ने मुनि के लक्षण बताये हैं—सत् और असत् को परखने वाला पुरुष मुनि है। वह सत् को ग्रहण करता है। मुनि इस लोक और परलोक का मनन करता है।[2] मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो दुःख और तृष्णाओं से विमुक्त है, वही मुनि है।[3] जो व्यक्ति पूर्व जन्मों को तथा स्वर्ग और नरक को जानता है, जिसका जन्म क्षय हो गया है और जो अभिज्ञा-तत्पर है, वही मुनि है।[4] अध्यात्मविषयक और ब्रह्म-विषयक धर्म को जानकर आसक्ति से परे रहने वाला व्यक्ति मुनि है।[5]

बौद्ध संस्कृति में मुनियों के जागरण के साधन-स्वरूप चार स्मृति-उपस्थानों की प्रतिष्ठा की गई। इनके अनुसार मुनि अपने शरीर, वेदना, चित्त तथा मनोवृत्तियों का तात्त्विक पर्यालोचन करता था। शरीर की तात्त्विक अशोभन गति का ध्यान करके वह इसके प्रति अनासक्त हो जाता था। ऐसे व्यक्ति की उपाधि थी कायानुपश्यी योगी। यह प्रथम उपस्थान था। द्वितीय उपस्थान में मुनि अपनी वेदनाओं की सुख-दुःखमय प्रवृत्तियों का ध्यान करके समझ लेता था कि जो वेदना उत्पन्न हुई है वह मिट कर रहेगी। ऐसा अनासक्त मुनि वेदनानुपश्यी योगी कहा जाता था। तृतीय उपस्थान के माध्यम से मुनि अपने चित्त का विवेचन करता था कि वह काम, द्वेष, मोह आदि से ग्रस्त है अथवा मुक्त। वह समझ लेता था कि चित्त स्वभावतः चञ्चल है। ऐसी स्थिति में योगी चित्तानुपश्यी कहा जाता था। अन्तिम उपस्थान में मुनि अन्तःकरण के पाँच आवरण—काम, विकार, द्वेष, आलस्य, अस्वस्थता और संशय पर विचार करते हुए समझ लेता था कि वह इनसे मुक्त नहीं है। वह इन आवरणों की उत्पत्ति, विनाश और पुनः उत्पत्ति की समस्या पर ध्यान लगाता था। इसके साथ ही वह पाँच स्कन्ध, सात बोध्यङ्ग, चार आर्य सत्य तथा इन्द्रियों और उनके विषयों का तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए देखता था कि मेरा अन्तःकरण कहाँ तक इनसे प्रभावित है। ऐसा योगी धर्मानुपश्यी होता था।

गौतम ने उपर्युक्त चार उपस्थानों की महिमा प्रकट करते हुए कहा है कि यदि भिक्षु सात वर्षों तक इन उपस्थानों की भावना करे तो वह अर्हत् हो जायेगा।

---

१. बुद्धचरित १२.१०२-१०५।
२. धम्मपद धम्मट्ठवग्गो १३-१४।
३. सुत्तनिपात पारायणवग्गो।
४. मज्झिमनिकाय ब्रह्मासुत्तन्त।
५. सुत्तनिपात सभियसुत्त।

यदि सात दिन भी यथार्थ रीति से इनकी भावना करे तो वह अर्हत् हो सकता है। इन स्मृतियों का उपस्थान शोक और कष्ट को मिटाने के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण के साक्षात्कार के लिए एकमात्र मार्ग है।[1]

जैन तपःसाधना

जैन संस्कृति में दो प्रकार के तपों की प्रतिष्ठा हुई—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप में अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग भोजन सम्बन्धी व्रत हैं। अनशन करने पर निराहार रहना पड़ता था। अवमौदर्य में कभी भर पेट नहीं खाया जाता था। वृत्तिपरिसंख्यान अपनाकर मुनि कुछ विशिष्ट प्रकार के गृहस्थों से ही भिक्षा ग्रहण कर सकता था। घी, दूध, दही, चीनी, नमक, तेल आदि का न खाना रस-परित्याग है। विविक्त शय्यासन व्रत सोने और बैठने के सम्बन्ध में है। मुनि वहीं बैठ और सो सकता था, जहाँ कोई और प्राणी न हो। बाह्य तप का अन्तिम व्रत काय-क्लेश है। इसका एकमात्र उद्देश्य शरीर को कष्ट देना है।

आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान हैं। वैयावृत्य तप में श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा का विधान है और व्युत्सर्ग के द्वारा शरीर के प्रति विराग-भावना जागरित की गई है।[2]

बौद्ध संस्कृति के स्मृति-उपस्थान की भाँति जैन संस्कृति में मुनियों के लिए १२ अनुप्रेक्षाओं का विधान है। इन अनुप्रेक्षाओं के अनुसार मुनि को धारणा बनानी पड़ती थी कि 'संसार में प्रत्येक वस्तु अनित्य है। कहीं शरण नहीं है, जहाँ कर्मों का फल पाने से आत्मा को बचाया जा सके। आत्मा को जन्मान्तर में विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, जब तक वह मुक्त न हो जाय। मैं ही कर्म करता हूँ और मुझे ही कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। संसार में सम्बन्धी, भाई-बन्धु, शरीर, मन आदि कोई भी तात्त्विक दृष्टि से मेरे नहीं हैं। मेरा शरीर अपवित्र और मलिन है। जब तक कर्म किये जाते हैं, उन कर्मों के प्रभाव से जन्म-मरण का बन्धन बना रहेगा। इन कर्मों से अलग रहना ही है, जिससे उनका प्रभाव आत्मा पर न पड़े।' मुनि इन अनुप्रेक्षाओं के साथ लोकों का ध्यान करता था। वह सोचता था कि

---

१. स्मृतियों के उपस्थान के लिए देखिए मज्झिमनिकाय सतिपट्ठानसुत्तन्त
२. तत्त्वार्थ सूत्र ९.१९-२०।

बोधि दुर्लभ है। ऐसी परिस्थिति में वह सम्यक् पथ, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अन्वेषण में तत्पर हो जाता था।[1]

समाज सेवा

वानप्रस्थ मुनियों के लिए साधारणतः समाज से दूर वन में रहने का विधान था, पर साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि समाज के अभ्युदय की दिशा में मुनियों की गति-विधि का महत्त्व रहा है। मुनियों के आश्रमों में तो गृहस्थ अपनी समस्याओं को लेकर जाते ही थे अथवा मुनियों का केवल दर्शन करने के लिए उनके समीप जा पहुँचते थे। ऐसे अवसरों पर मुनियों का कर्तव्य था कि वे गृहस्थों को सत्पथ पर प्रवृत्त कर दें। कुछ मुनि अपनी तपस्या की अवधि समाप्त हो जाने पर लोक-पर्यटन करते हुए लोगों को जीवन की सत्प्रवृत्तियों की ओर झुका देते थे।[2] प्रायः राजा मुनियों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रजा-पालन की उदात्त नीति की दीक्षा लेते थे। उनके सम्पर्क में आने से राजाओं का चरित्र नितान्त शुद्ध होने की सम्भावना थी। महर्षि वसिष्ठ का रघुकुल से सम्बन्ध होना इस प्रवृत्ति का परिचायक है। राज-परिवारों में गृह-कलह होने पर स्वयं ही आकर मुनि उस कलह को मिटाने का प्रयास करते थे। महाभारत में विदुर, व्यास, मैत्रेय आदि महर्षियों की इस दिशा में प्रयास करने की चरित-गाथा प्रायः मिलती है।[3] युद्ध-भूमि तक में ऋषि आकर अपना सुझाव दे सकते थे। महाभारत के युद्ध में सप्तर्षियों ने द्रोणाचार्य से कहा कि अब तुम युद्ध करना बन्द करो क्योंकि तुम अधर्म युद्ध करते हो। द्रोण को ऐसा ही करना पड़ा।[4] परशुराम और कण्व ने दुर्योधन को पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करने से रोका था।[5] परवर्ती युग में शंकराचार्य का समाज के अभ्युत्थान में अनुपम योगदान रहा।

---

१. अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ तथा धर्मस्वाख्यातत्त्व—इन १२ का अनुचिन्तन अनुप्रेक्षाएँ हैं। तत्त्वार्थ सूत्र ९.७।

२. महाभारत आदि० ८७.२ के अनुसार गृहस्थों के बीच अनिकेत और संयमशील मुनि आरण्यक मुनियों से पहले देवभाव प्राप्त करता है। इससे गृहस्थों का मुनियों से सम्पर्क सिद्ध होता है।

३. उदाहरण के लिए देखिए महा० वनपर्व ८ वाँ से १० वाँ अध्याय तक और भागवत ६.१५.१०-१६।

४. महा० द्रोणपर्व १९० अध्याय से।

५. महा० उद्योगपर्व ९४-९६ अध्याय से।

गौतम बुद्ध ने जीवन भर समाज में सत्य, अहिंसा आदि के उदात्त सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। महापरिनिर्वाण सूत्र में गौतम के द्वारा राजनीतिक समस्याओं के समाधान किये जाने का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि कुछ मुनि समाज की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक थे। प्राचीन मुनियों के द्वारा रचे हुए ग्रन्थ उनकी समाज-सेवा के अद्वितीय प्रमाण हैं।

अध्याय ९

संन्यास और कर्मयोग

संन्यास-आश्रम में मनुष्य सर्वतन्त्र-स्वतंत्र होकर महान् विचारक बनने का अवसर पाता है। जब तक मानव किसी एक स्थान, कुटुम्ब, ग्राम, देश, कुल, धर्म, व्यवसाय और पद से सम्बद्ध रहता है, तब तक उसके बौद्धिक विकास और विचार-क्षेत्र सीमित रहते हैं। संन्यास का विधान मानव को इसी संकुचित सीमा से परे करने के लिए अपेक्षित है। संन्यासी अपने व्यक्तित्व की असीमता का अनुभव करके उसके विकास के लिए अपनी शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर सकता है।

वानप्रस्थ आश्रम के मनन, चिन्तन और तप साधारणतः ब्रह्मज्ञान के साधन हैं। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर इन साधनों की आवश्यकता नहीं रह जाती। साधना की अवधि समाप्त हो जाने पर मुनि की संन्यास-अवस्था होती है। इस स्थिति में ब्रह्मज्ञानी के जीवन-क्रम में नये पथ का आविर्भाव होता है। ऐसे ब्रह्मज्ञानियों का उल्लेख उपनिषद्-साहित्य में मिलता है, जो सम्भवतः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वान-प्रस्थ आश्रमों में अपने व्यक्तित्व का विकास करके ब्रह्मसंस्थ हो चुके हैं।[1] ब्रह्मसंस्थ उपाधि से ज्ञात होता है कि वे ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव कर चुके हैं और ब्रह्ममय होकर ब्रह्मवत् आचरण करते हैं। ब्रह्मज्ञानियों को रामायण में 'भावि-तात्मा' की उपाधि दी गई है।[2] तप समाप्त होने पर कुछ मुनि वन के आश्रमों

---

१. गृहस्थ और वानप्रस्थ की भाँति ब्रह्मसंस्थ भी व्यक्तित्व के विकास का सोपान है। छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.१ के अनुसार ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व प्राप्त करता है। मनु ने संन्यासी के ब्रह्मसंस्थ होने का उल्लेख किया है:—

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ मनुस्मृति ६.८१॥

गीता २.७२ में ब्राह्मी स्थिति ब्रह्मसंस्थ के लिए ही बताई गयी है। इसके द्वारा मरणोत्तर काल में ब्रह्मनिर्वाण पाने की कल्पना है।

२. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ५.४ में तप से भावितात्मा अर्थात् आत्मज्ञानी होने का उल्लेख है।

में रहते थे। ऐसे मुनियों में वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र आदि प्रमुख रहे हैं। जातक साहित्य में ऋषि-प्रव्रज्या लेकर अभिज्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त करने वाले महात्माओं का प्रायः उल्लेख मिलता है। वे वन-जीवन में परिवर्तन करने के लिए कभी-कभी नगरों की ओर आते थे और संन्यासी के समान भिक्षा माँगते थे। वन-जीवन में जो कष्ट उन्हें होता था, उससे भिक्षा माँगने के समय छुटकारा मिल जाता था। इस प्रकार कम से कम प्रारम्भिक युग में वानप्रस्थ की ही सर्वोच्च अवस्था संन्यास आश्रम के नाम से प्रचलित रही है।[1]

तपस्या का जीवन निरवधि काल तक नहीं चल सकता था। तप की अवधि पूरी हो जाने पर मुनि तप में लगे हुए अन्य मुनियों से साधारणतः उच्चतर कोटि का समझा जाता था।[2] जिन मुनियों की तपस्या पूर्ण हो जाती थी, उनको वन में रहना आवश्यक नहीं रह जाता था। ऐसे ही मुनियों के जीवन-क्रम को संन्यास नाम देकर एक नये आश्रम की योजना कालान्तर में चलाई गई।[3]

परवर्ती युग में वानप्रस्थ आश्रम की उपेक्षा होने लगी और ब्रह्मचारी या गृहस्थ बिना वानप्रस्थ-आश्रम अपनाये हुए अथवा केवल कुछ दिनों के लिए वानप्रस्थ होकर यथाशीघ्र संन्यास ले लेते थे।[4] आधुनिक युग में वानप्रस्थ

---

१. पौराणिक उल्लेखों से भी ज्ञात होता है कि किसी न किसी युग में वानप्रस्थ के अन्तर्गत संन्यास रहा है। उदाहरण के लिए देखिए :—

तपसा कर्शितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
संन्यासी स हि विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः॥
गरुडपुराण ४९.१३

२. वानप्रस्थ और संन्यास दोनों अवस्थाओं में मुनि की उपाधि समीचीन रही है। मनुस्मृति ६.२५, ४१, ४३।

३. इस दिशा में संन्यास-योग के मौलिक परिचय के लिए देखिए मुण्डकोपनिषद् ३.२.६। मुनि बनने के लिए भी अपनी सभी वस्तुओं का परित्याग (संन्यास) करना ही पड़ता था। वा० रामायण अरण्यकाण्ड ९.२९। जातक साहित्य के अनुसार ऋषि-प्रव्रज्या लेने वाले सर्वस्व छोड़ कर वन के लिए चल पड़ते थे। फिर भी मुनियों के साथ पंच महायज्ञों का विधान, अपना कुटुम्ब तथा पर्णशाला आदि हो सकते थे। संन्यासी को इन सभी परिग्रहों को छोड़ कर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बन जाने की सुविधा थी।

४. महाभारत आदिपर्व ११० वें अध्याय के अनुसार वानप्रस्थ न लेने वाले

का नाम प्रायः मिट सा गया है। यदि किसी को वैराग्य होता है तो वह तत्काल संन्यासी बन जाता है। वानप्रस्थ जीवन के प्रति उपेक्षा का प्रधान कारण वन्य जीवन की कठिनाइयाँ हैं।

जीवन-वृत्ति

संन्यास आश्रम की स्पष्ट रूप-रेखा सूत्र-युग से मिलती है। इससे पहले यह वानप्रस्थ-आश्रम का एक अंग बन कर रहा है। सूत्रयुगीन विधान के अनुसार संन्यासी अग्नि, घर, सुख, सुरक्षा आदि से अलग होकर मौन रहता था। वह अपने भोजन-मात्र के लिए गाँव में आकर भिक्षा माँग लेता था। लोक और परलोक के सम्बन्ध में निश्चिन्त होकर संन्यासी केवल परिभ्रमण करता था। उसके लिए फटे-पुराने वस्त्र कहीं भी मिल जाते थे अथवा वह दिगम्बर रह सकता था। उसका एकमात्र कार्य था आध्यात्मिक चिन्तन में तल्लीन रहना।[1] इस प्रकार संन्यासी का जीवन वन की वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं रहता था।

गौतम ने संन्यासियों के लिए नियम बनाया कि वे वर्षा ऋतु में कहीं भ्रमण न करें। केवल भिक्षा माँगने के लिए गाँव में प्रवेश करें। भिक्षा माँगने के लिए देर से निकलें। अपनी नग्नता छिपाने-मात्र के लिए वस्त्र धारण करें। संन्यासी वृक्षों के पत्र-पुष्पादि अपने आप गिरे होने पर ग्रहण करें, उन्हें तोड़ें नहीं। वे किसी गाँव में एक रात से अधिक न रहें। वे सिर के बालों का मुण्डन करवा लें अथवा जटा-जूट रखें। संन्यासी सभी प्राणियों के प्रति उपेक्षा-भाव रखें, चाहे वे उन्हें लाभ पहुँचाते हों या हानि। संन्यासी कोई काम न करें।[2]

मनु के समय तक संन्यास-जीवन की स्पष्ट रूप-रेखा बन चुकी थी। मनु के अनुसार संन्यासी को नित्य अकेले विचरण करना चाहिए। वह केवल भोजन-मात्र के लिए गाँव में प्रवेश करके उन्हीं घरों से भिक्षा ले, जिन्हें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते या अन्य भिक्षुक पहले से घेरे हुए न हों। वह केवल एक बार भिक्षा-याचना करता था और इस काम को अपनी दिनचर्या में कोई प्रधान स्थान नहीं देता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार भिक्षा के चक्कर में पड़ने वाले संन्यासी को विषय-वासना आ घेरते हैं। संन्यासी की भिक्षा के लिए समय नियत था।

पाण्डु को संन्यास लेने की सुविधा थी। भागवत ५.६ में इसी सुविधा का उल्लेख है।

१. आपस्तम्ब धर्म० सूत्र २.९।

२. गौतम० ३.११-२३।

जब गृहस्थ सभी कामों से निवृत्त होकर स्वयं भोजन कर चुके हों, रसोई का धुँआँ मिट चुका हो, मुसल से कूटने का शब्द न होता हो, आग बुझ गई हो, सभी लोग खा चुके हों, खाने-पीने के पात्र यथास्थान रखे जा चुके हों, तब संन्यासी भिक्षा के लिए गृहस्थों के द्वार पर जाता था। उसे भिक्षा मिलने या न मिलने से हर्ष या विषाद नहीं होता था। उसकी भिक्षा इतनी गौण होती थी कि उसे प्राण-यात्रिक—प्राणयात्रा कराने वाली कहा गया है। संन्यासी को अपनी प्राणयात्रा के प्रति अनुराग नहीं होता था। यदि कोई आदरपूर्वक भिक्षा देता था तो वह इस पूजा से घृणा करता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पूजा के साथ ली हुई भिक्षा मुक्त संन्यासी को भी बन्धन में डाल देती है। एकान्तवास और स्वल्प भोजन संन्यासी को इन्द्रियों के विषयों के चक्कर में पड़ने से बचा सकते थे।

मनु की दृष्टि में संन्यासी मुक्त है। उसके बाह्य लक्षणों का विवेचन मनु ने इन शब्दों में किया है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नैतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥३.४४॥

(खप्पर, वृक्ष की जड़, फटे-पुराने वस्त्र, किसी का साथ न होना और सब के प्रति समभाव—यही मुक्त पुरुष के लक्षण हैं।)

संन्यासी केश, नख और दाढ़ी को बढ़ाता नहीं था, उन्हें यथासमय कटवा देता था। उसकी सामग्री—भिक्षापात्र, दण्ड और कमण्डलु होती थी। वह कभी किसी प्राणी को कष्ट न देते हुए नित्य भ्रमण करता था। संन्यासी के पात्र धातु के बने नहीं होते थे। उनमें छिद्र नहीं होते थे। जल-मात्र से ही उसके पात्रों की शुद्धि होती थी। लौकी के फल, मिट्टी या लकड़ी के बने हुए पात्रों का ही वह उपयोग करता था।

संन्यासी की रहन-सहन का कुछ परिचय मनु के इस श्लोक से मिलता है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

(वह किसी स्थान को भली भाँति देख कर वहाँ पद रखे, छान कर जल पीये, सत्य बोले और मन से पवित्र समझ कर आचरण करे।)

संन्यासी की मानसिक वृत्तियों का विवेचन करते हुए मनु ने कहा है कि वह मैत्री-भावना का संवर्धन करता है। यदि मुनि से कोई अनर्गल विवाद करता है तो वह उसे सह लेता है। वह किसी का अनादर नहीं करता और न किसी के

प्रति वैर-भाव रखता है। उससे किसी भी प्राणी को भय नहीं होता है। यदि कोई उस पर क्रोध भी करता है तो वह उसके प्रति भद्र वाणी का प्रयोग करता है। वह सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में बातचीत नहीं करता है। संन्यासी सदैव आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त रहता है और अन्य किसी भी वस्तु के विषय में वह निरपेक्ष रहता है। वह उन लोगों की मरणोत्तर दुर्गति पर विचार करता है, जो आध्यात्मिक चिन्तन से विरत होते हैं। ऐसे विचारों की रूप-रेखा मनु ने प्रस्तुत की है—कर्म के दोष से मनुष्य नरक में जा गिरते हैं और उनको यमलोक की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। उनको प्रिय वस्तुओं की हानि, और अप्रिय वस्तुओं के संयोग—बुढ़ापा, व्याधि आदि पीड़ाओं को सहना पड़ता है। वे इस शरीर को छोड़ कर पुनः गर्भ में उत्पन्न होते हैं और कोटि-सहस्र योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। शरीरधारियों के सभी दुःख अधर्म से उत्पन्न होते हैं। धर्म से सुख होता है। शरीर क्या है? घर की भाँति अस्थियाँ इसके खम्भे बनाती हैं, मांस और रक्त से इनका लेप होता है और वह चमड़े से आच्छादित मल-स्वरूप है। इसमें जरा और शोक का प्रवेश है। यह रोगों का आयतन है। इस रजःपूर्ण अनित्य आवास को छोड़ देना चाहिए।

संन्यासी शनैः शनैः सभी प्रकार की लौकिक आसक्तियों से मुक्त हो कर ब्रह्म में अवस्थित रहता है।[1] मनु ने संन्यासी के लिए योग का महत्त्व निर्दिष्ट किया है। वह योग के द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता को समझ लेता है। अज्ञान से जो हिंसायें हो जाती हैं, उनसे शुद्ध होने के लिए वह नित्य स्नान करने के पश्चात् छः प्राणायाम करता है। प्राणायाम उसका तप है। प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार और ध्यान से क्रमशः देह के दोष, पाप, संसर्ग और अनीश्वर गुण (क्रोध, लोभ, असूया आदि) का नाश हो जाता है। वह अपने ध्यान-योग से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[2]

महाभारत में संन्यासियों की जीवन-विधि को मोक्ष-धर्म कहा गया है। संन्यासी चार प्रकार के होते थे—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस।[3] इस ग्रन्थ में

---

१. मरते समय जो जिस विषय में आसक्त रहता है, दूसरे जीवन में भी उसी में आसक्त होता है। ताराचरण भट्टाचार्य: मित्र गोष्ठी, भाग ४, पृ० २७।

२. संन्यासाश्रम के विवेचन के लिए देखिए मनुस्मृति ६.३३-८५।

३. कुटीचक कुटी में रहते थे। बहूदक प्रायः तीर्थयात्राएँ करते थे। हंस आश्रम-धर्म का पालन करता था। परमहंस निस्त्रैगुण्य होकर सभी प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त होता था।

संन्यासी के रहने के लिए वृक्ष का आश्रय, नदी का तट, शून्य घर आदि बताया गया है। उसे कभी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहना चाहिए।[1]

महाभारत में विना वानप्रस्थ लिए हुए संन्यासी बन जाने वाले मुनियों के लिए नियम था कि वह वानप्रस्थ-मुनियों के उपनिवेशों में भिक्षाचारी बनकर रहे। वह मुण्डक बन कर रहता था। धूलि-धूसरित होने पर अपने शरीर को स्वच्छ बनाने की चेष्टा संन्यासी नहीं करता था। वह प्रसन्न होकर सभी प्राणियों के हित में तल्लीन रहता था। भिक्षा न मिलने पर वह अनशन कर लेता था। उसकी क्षमा असीम होती थी।[2]

कुछ महाभारतकालीन संन्यासी बालक की भाँति भोले-भाले रहते थे, यद्यपि वे वास्तव में तत्त्वज्ञ होते थे। वे सदा तृप्त रहते थे। ऐसे मुनि संसार को प्रकृति का खेल मान कर उसकी विषमताओं से तनिक भी प्रभावित नहीं होते थे। उनकी धारणा थी कि संसार की विषमता ही स्वाभाविक है, सब कुछ नश्वर है। ऐसी परिस्थिति में वे संसार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोचते थे। निश्चिन्त-मात्र होने से ही उनको अतिशय आनन्द मिलता था। वे अच्छे-बुरे भोजन और वस्त्र से सन्तोष करते थे। इस प्रकार अनियत रूप से उन्हें अपने जीवन-निर्वाह की वृत्तियाँ प्राप्त होती थीं।[3]

पुराणों में संन्यासाश्रम की रूप-रेखा प्रायः पूर्ववत् है।[4] पद्मपुराण में

---

१. महा० अनुशासनपर्व १४१.८०-९०।

२. वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः॥ आदिपर्व ११०.१४॥

संन्यासी के क्षमावाद के सर्वोच्च उदाहरण के लिए खन्तिवादी जातक ३१३ देखिए। इसमें किसी संन्यासी ने कहा है कि जिसने मेरे हाथ, पाँव आदि काट डाले हैं, वह राजा भी चिर काल तक जीवित रहे। मेरे समान लोग क्रोध नहीं करते।

३. महाभारत में इसी वृत्ति का नाम अजगर-वृत्ति है। शान्तिपर्व १७२. १०—३६। भागवत पुराण ५.५.३२-३३ में ऋषभ नामक योगी-संन्यासी के अजगर-वृत्ति अपनाने का उल्लेख है। वे लेटे-लेटे ही खाना-पीना आदि सभी कर्म करते थे, जिससे साधारण लोग उनसे घृणा करते थे।

४. ब्रह्मपुराण अध्याय २२२; पद्मपुराण सृष्टि खण्ड, अध्याय १५; विष्णु० पु० ३.९।

संन्यास का एक नाम ब्रह्माश्रम मिलता है। इसमें तीन प्रकार के संन्यासियों की गणना की गई है—ज्ञान-संन्यासी, वेद-संन्यासी और कर्म-संन्यासी। ज्ञान-संन्यासी सर्वथा मुक्त, निर्द्वन्द्व और निर्भय होकर आत्मा में स्थित रहता है। वेद-संन्यासी कामना और परिग्रह छोड़कर नित्य वेद का अभ्यास करता है। वह मोक्षेच्छु और विजितेन्द्रिय होता है। कर्म-संन्यासी अपने में अग्नि को लीन करके स्वयं ब्रह्म में लीन होकर महायज्ञ-परायण होता है। इन तीनों में ज्ञान-संन्यासी को सर्वोच्च माना गया है। वह चाहे पत्तों से जीवन-निर्वाह करे, कौपीन पहने या नंगा रहे। उसका ज्ञान ही भोजन और परिधान है। उसे जीवन-मरण के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं रहती है। वह कभी अध्ययन, श्रवण और प्रवचन आदि के फेर में नहीं पड़ता है। इस पुराण के अनुसार संन्यासी के लिए किसी एक मनुष्य के अन्न पर अवलम्बित रहना निषिद्ध है। वह वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष मासों में कहीं नहीं वास करता है। वह स्नान और शौच आदि आचारों से अपने शरीर को पवित्र रखता है। उसका चित्त सदा मोक्ष-ज्ञान या ब्रह्म-दर्शन में लगा रहता है।[1]

कभी-कभी कुछ संन्यासियों की दुर्गति भी होती थी। संन्यासियों की रहन-सहन की विचित्रता साधारण लोगों के मन में कुतूहल उत्पन्न करती थी। उनका नंगा रहना, उन्मत्त होना, उनके केश का बिखरा रहना, जड़ता, मौन आदि ऐसी बातें थीं कि मनचले लोगों को उन्हें तंग करने में आनन्द आता था। ऐसी परिस्थिति में उनको धमकी, गाली और मार भी मिलती थी। संन्यासी ऐसे व्यवहारों से क्रुद्ध नहीं होता था।[2]

भागवत के अनुसार संन्यासी को इस प्रकार रहना चाहिए कि उसे कोई पहचान न सके कि संन्यासी है। वह इस प्रयोजन से अपने आश्रम के चिन्हों को छोड़ भी सकता था। संन्यासी की आभ्यन्तर और वाह्य परिस्थितियों में जो अन्तर होना चाहिए था, उसका निदर्शन इस प्रकार किया गया है:—

> अव्यक्तलिंगो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।
> कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥भागवत ७.१३.१०॥

(संन्यासी का कोई लक्षण उसमें न दिखाई दे। उसे सारे आध्यात्मिक रहस्यों

---

१. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड अध्याय ५९।

२. भागवत ५.५ के अनुसार ऋषभदेव नामक राजा को अवधूत कोटि का संन्यासी होने पर ऐसी ही दुर्दशा सहनी पड़ी थी।

का ज्ञान होना चाहिए। वह मनीषी होते हुए भी उन्मत्त या बालक की भाँति रहे। वह प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी गूंगें की भाँति लोगों को प्रतीत हो।)

भागवत के अनुसार संन्यासी अजगर के समान निश्चेष्ट पड़ा रहकर जो कुछ मिल जाय, उससे जीवन-निर्वाह करता है। यदि कुछ नहीं मिलता तो वह यों ही सोया रहता है। उसके भोजन की मात्रा कभी स्वल्प, कभी अधिक हो सकती है; कभी स्वादिष्ट, कभी नीरस, कभी गुणयुक्त या कभी गुणहीन हो सकती है। उसके लिए कभी तो कोई श्रद्धा से भोजन दे जाता है अन्यथा उसे कभी-कभी मानरहित विधि से भोजन मिलता है। दिन या रात में जब जैसा भोजन मिला, वह खा लेता है। उसके परिधान अच्छे-से-अच्छे वस्त्र—क्षौम, दुकूल आदि के भी हो सकते हैं, अन्यथा मृगचर्म, चीर या वल्कल से ही वह अपना अंग ढक लेता है। उसके सोने के लिए कभी तिनके, पत्तों आदि की बनी शय्या अथवा राख या पत्थर की चट्टान हो सकती है। कभी उसे राजप्रासाद में पलंग मिल सकता है। कभी नहा-धोकर वह राजकुमारों की भाँति शरीर का शृंगार करके रथ, हाथी आदि पर चढ़ कर ऐश्वर्यशाली प्रतीत होता है, अन्यथा नंग-धड़ंग पर्यटन करता है। वह नित्य परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर आध्यात्मिक सुख का अनुभव करता है।[1]

संन्यासी मुनि के लिए भागवत के अनुसार वस्त्र का धारण करना आवश्यक नहीं है, पर यदि संन्यासी वस्त्र पहने ही तो केवल कौपीन (लंगोटी)। वह उसके ऊपर लुंगी लपेट सकता है। वह दण्ड और पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है। उसका दण्ड मन, वाणी और शरीर के संयमन का प्रतीक होता है। वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिए प्राणायाम दण्ड हैं। वह निन्दित लोगों को छोड़कर चारों वर्ण के किसी व्यक्ति से भिक्षा ले सकता है। वह सात घरों से भोज्य-भिक्षा की याचना करता है, पर उन घरों को पहले से ही निश्चित नहीं करता। जो कुछ भिक्षा मिल जाती है, उसी से सन्तोष करता है।[2] वह भिक्षा लेकर गाँव से बाहर जलाशय के तट पर हाथ-पैर धोकर भोजन को जल से पवित्र करता है, अपने भोजन में से भाग पाने योग्य प्राणियों को यथाविधि भोजन अर्पित करके शेष भोजन मौन होकर स्वयं खाता है। इसके पश्चात् वह आध्यात्मिक चिन्तन में लीन हो जाता है। उसके आध्या-

---

१. संन्यासी-जीवन का यह विवरण भागवत ७.१३ में दत्तात्रेय की आत्म-कथा से लिया गया है।

२. संन्यासी के लिए वानप्रस्थ मुनियों से प्राप्त भिक्षा सर्वश्रेष्ठ बताई गई है। भागवत ११.८.२५।

त्मिक चिन्तन की रूप-रेखा इस प्रकार होती है—परमात्मा के साथ मेरा तादात्म्य सम्बन्ध है। इन्द्रियों का विषयों के प्रति आकर्षित होना बन्धन है। इन्द्रियों का संयम मोक्ष है। परमात्मा सर्वव्यापी है। जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सारा नश्वर है। आत्मा से सम्बद्ध मन-वाणी और प्राणों का संघात-स्वरूप जगत् सर्वथा माया है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में है, उसी प्रकार सारे प्राणी एक ही आत्मा से अनुस्यूत हैं। एक ही परमात्मा सभी प्राणियों में विराजमान है। यही संन्यासियों का आध्यात्मिक सुख है। ऐसे विचारों में तन्मय होकर संन्यासी पवित्र देशों में, नदी के तट पर, पर्वत, वन और आश्रम सम्बन्धी प्रदेशों में विचरण करता है।[1]

भागवत में संन्यासी को पूरी स्वतंत्रता दी गई है कि वह जैसा जीवन चाहे, बिताये। 'ज्ञाननिष्ठ हो या विरक्त हो, भगवान् का भक्त हो या उसकी भी अपेक्षा न रखता हो, सभी चिह्नों को छोड़कर मनमाना आचरण करता हो, विद्वान् होकर बालकों के समान क्रीडा करता हो, कुशल होकर जड़ की भाँति आचरण करता हो, विद्वान् होकर पागल की भाँति बोलता हो अथवा वेदविद् होकर भी पशुओं की भाँति रहता हो—उसके संन्यास-पथ में कोई त्रुटि नहीं आती।'[2]

भागवत के अनुसार यदि संन्यासी को पहले से ही पूरा आध्यात्मिक ज्ञान न हो तो उसके लिए उच्च कोटि के गुरु से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी विद्याओं को सीखने का आदेश दिया गया है। इस दृष्टि से गुरु को भगवान् का स्वरूप मान कर उससे आदरपूर्वक शिक्षा ग्रहण करना कर्तव्य बताया गया है। आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता के विना यदि कोई संन्यासी की वेश-भूषा धारण कर ले और केवल जीविका-मात्र के लिए संन्यासी बना रहे तो वह केवल अपने को ही नहीं, अपितु समाज को और भगवान् को ठगने की चेष्टा करता है।[3]

भागवत में संन्यासी के लिए योग का अतिशय महत्त्व बताया गया है और योग के अधिकारी का निरूपण इन शब्दों में किया गया है—

> **यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।**
> **अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेत् चंचलं मनः॥ भाग० ११.२०.१८**

---

१. भागवत ११.१८.१५-२७।

२. भागवत ११.१८.२८-२९।

३. भागवत ११.१८.३३-४०।

(कर्मों के प्रति उदासीन हो जाने पर विरक्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाला योगी अभ्यासपूर्वक अपने मन को स्थिर करे।)

भागवत में ज्ञान, कर्म और भक्ति सम्बन्धी तीन प्रकार के योग निरूपित किये गये हैं। जो व्यक्ति कर्मों और उनके फलों से विरक्त हो चुके हैं, वे ज्ञान-योग के अधिकारी हैं। जिनके चित्त में कर्मों के प्रति आसक्ति है और जो सकाम हैं, वे कर्मयोग के अधिकारी हैं। जिनकी मनःस्थिति इन दोनों के बीच है और जो भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा रखते हैं, वे भक्तियोग के अधिकारी हैं।[1]

योग

संन्यासी का जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उसमें प्रायः उसके योगी होने की चर्चा की गई है। योग शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में चाहे आगे-पीछे जब कभी हुआ हो, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योग की विधि वैदिक काल के आरम्भिक युग से ही किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त लोगों के द्वारा अपनायी गई थी। सुदूर सिन्धु-सभ्यता के युग में जो ध्यान-निमीलित नेत्र वाली मूर्ति मिलती है, वह सम्भवतः योगी की है।

योग सुदूर प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ भौतिक जगत् से आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार आत्मा परमात्म-तत्त्व से यथेष्ट वस्तुएं प्राप्त करता है। अथर्ववेद में योग का मौलिक अर्थ बताया गया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोधि शीर्षतः॥१०.२.२६

अर्थात् अथर्वा सिर और हृदय को आपस में सीकर प्राण को सिर के बीच में और मस्तिष्क के ऊपर प्रेरित करता है।

योगी की अपनी भाषा होती है, जैसा अथर्ववेद में कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥९.१०.२७

तुरीय वाणी लौकिक है। वाणी के शेष तीन रूप योगियों के द्वारा प्रयुक्त हैं।

सोते समय विस्मृति के कारण सर्वविध अपरिग्रह से सर्वाधिक सुख होता है। उससे उच्चतर कोटि का सुख अनासक्त योगी को समाधि में होता है, जब वह तत्त्वतः ब्रह्म में लीन होता है।

---

१. भागवत ११.२.५।

वैदिक मान्यता के अनुसार इन्द्रियों की स्थिर धारणा योग है। योगी इन्द्रियों को वश में करके अप्रमत्त हो जाता है।[1] योग की साधारण परिभाषा है—चित्त वृत्तियों का निरोध करना।[2] प्रायः सभी लोग चित्त-वृत्तियों का किसी न किसी अंश में निरोध करते हैं, अन्यथा चित्त की वृत्तियाँ उच्छृंखल और परिणामतः असंख्य होकर चिन्ता के रूप में असह्य बोझ मनुष्य के ऊपर डाल देंगी। भारतीय दृष्टिकोण से चित्त चंचल है और वह सतत कोई न कोई समस्या मनुष्य के लिए उपस्थित किया करता है। चित्त की शक्ति असीम है, तभी तो वह इतना सोच सकता है—दिन-रात कल्पनाओं के सागर में उन्मग्न और निमग्न होते हुए थकता नहीं। इस शक्ति का सदुपयोग करने के लिए चित्त-वृत्ति को एकाग्र करने की योजना बनाई गई है। अभीष्ट-प्राप्ति के उद्देश्य से योगमार्ग अपनाने वाले व्यक्ति के लिए चित्त साधन-स्वरूप साथी है। यह साथी जितना अधिक शुद्ध, सात्विक और एकपरायण हो, उतना ही अधिक उपयोगी है। जब योग से अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है तो इस साथी चित्त का कोई काम नहीं रह जाता है। यही चित्त-वृत्ति का निरोध है।

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की सिद्धि की जाती है।[3] नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आते हैं।[4] यम के द्वारा योग-मार्ग में प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति इनमें से एक-एक को क्रमशः सिद्ध करता चलता है। यम और नियम के पश्चात् आसन की प्रक्रिया आरम्भ होती है। जिस विधि से बैठने पर साधक को स्थिरता और सुख का अनुभव हो, वही उसके लिए उपयुक्त आसन है। आसन लगा कर

---

१. कठोपनिषद् ६.११।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र

३. योग के माध्यम से इन व्रतों का सर्वोच्च सीमा तक पालन किया जाता है। उस सीमा की कल्पना इस आधार पर हो सकती है कि अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन कर लेने वाले व्यक्ति के चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जिसमें किसी प्रकार की स्वाभाविक शत्रुता भी नहीं रह जाती है। इस परिस्थिति के सांगोपांग परिचय के लिए देखिए कादम्बरी में जाबालि-आश्रम का वर्णन।

४. ईश्वरप्राणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणम्। तत्फलन्यासो वा। सभी क्रियाओं को परम गुरु (ईश्वर) में अर्पण करना अथवा उनके फल के प्रति निष्काम होकर उनको अर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान है। योगसूत्र।

प्राणायाम किया जाता है। श्वास की गति का संयमन प्राणायाम है। प्राणायाम के द्वारा मन में धारणा की शक्ति उत्पन्न होती है। धारणा चित्त की स्थिरता है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ अपने विषयों से अलग कर ली जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में वे चित्त के स्वरूप का अनुसरण करती हैं। इन्द्रियाँ चित्त के साथ ही साथ उसकी गति का अनुवर्त्तन करती हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से वशीभूत होती हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का सम्मिलित नाम संयम है। धारणा के द्वारा चित्त को किसी एक देश (अपने शरीर के नाभि-चक्र, हृदय-कमल, मूर्धा, नासिका का अग्रभाग अथवा शरीर के बाहर के सूर्य, चन्द्र आदि किसी वस्तु) में बाँध देते हैं। उसी एक देश में चित्त को लगाये रखने की प्रक्रिया ध्यान है। ध्यान की वह सर्वोच्च अवस्था समाधि है, जिसमें ध्येय के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व साधक के लिए नहीं रह जाता है।[१] समाधि में चित्त-वृत्तियों का निरोध होते ही ध्येय के साथ जो तादात्म्य होता है, उसे योग कहते हैं। समाधि की अवस्थायें होती हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त को ध्येय का ज्ञान तथा उससे अपनी भिन्नता का भास रहता है। इस समाधि में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता की भावनायें रहती हैं। इससे अधिक प्रगाढ़ असम्प्रज्ञात समाधि होती है, जिसमें चित्त-वृत्तियों का सर्वथा अभाव होता है। इसमें पुरुष के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता।

योगश्री के लिए सबसे अधिक हानिकारक सम्मान को माना गया है। जो योगी अन्य मनुष्यों से अपमानित होता है, वह शीघ्र ही सफल होता है—इस धारणा से कुछ योगी ऐसा आचरण करते थे कि लोग उनका अपमान या अवहेलना करते थे।[२]

योग-मार्ग में नारी के प्रति आसक्ति को सबसे बढ़कर बाधक माना गया है। योगी की मान्यताओं के अनुसार नारी नरक का द्वार है। स्त्री योगी के लिए मृत्यु है। वह तृण से ढके कूप की भाँति भयंकर पतन का कारण है।[३]

योग की धार्मिक उपयोगिता का निरूपण किया गया है। इसके अनुसार योग-मार्ग से हीन वर्ण के पुरुष और स्त्री भी परम गति के अधिकारी हैं।[४]

बौद्ध संस्कृति में योग की प्रायः वैसी ही प्रतिष्ठा की गई है, जैसी पतंजलि

---

१. योग का यह वर्णन पतंजलि-योगसूत्र के आधार पर है।

२. विष्णुपुराण २.१३.४२-४३।

३. भागवत ३.३१.३९-४०।

४. महाभारत शान्तिपर्व २३२.३२।

के योग-सूत्र में मिलती है। अष्टांगिक योग में जहाँ तक चित्त और शरीर की शुद्धि के लिए यम-नियम आदि की योजना है, वह बौद्ध संस्कृति के दस शिक्षापदों और चार स्मृति-उपस्थानों में संगृहीत है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का अंत-र्भाव गौतम बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित अष्टांगिक मार्ग की समाधि में हुआ है।

बौद्ध संस्कृति में चित्त का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसको संयम के द्वारा उपयोगी बनाने की योजना प्रस्तुत की गई। चित्त के विषय में कहा गया—यह चंचल है, चपल है, कठिनाई से रक्षा करने योग्य है और दुर्निवार्य है। मेधावी इसको उसी प्रकार सीधा करे, जैसे बाण बनाने वाला बाण की नोक को। चित्त का दमन करना श्रेयस्कर है। दमन किये जाने पर यह सुख देता है। चित्त कठिनाई से दिखाई देता है। अत्यन्त निपुण होता है। इसकी गति यथेष्ट होती है। यह संयत किये जाने पर ही सुख देता है। चित्त स्थिर होने पर प्रसन्न होता है और ऐसी स्थिति में प्रज्ञा उत्पन्न होती है। जिसका चित्त निर्मल, स्थिर और पाप-पुण्य-विहीन होता है, उस जागरूक पुरुष के लिए भय नहीं है। अनासक्त होकर चित्त की रक्षा करनी चाहिए। कोई भी शत्रु मनुष्य की उतनी हानि नहीं कर सकता, जितनी हानि असत्प्रवृत्त चित्त करता है। माता-पिता आदि सभी सम्बन्धी उतना लाभ नहीं कर सकते, जितना सम्यक् प्रकार से प्रणिहित चित्त।[1]

अष्टांगिक मार्ग में जिस सम्यक् समाधि की प्रतिष्ठा की गई है, उसके चार सोपान हैं। इन सोपानों को ध्यान कहते हैं। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—चित्त की ये पाँच वृत्तियाँ रहती हैं। द्वितीय ध्यान में केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता—तीन वृत्तियाँ रह जाती हैं। तृतीय ध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की वृत्तियाँ रहती हैं। चतुर्थ ध्यान में सुख नहीं रह जाता, केवल उपेक्षा और एकाग्रता रहती हैं।[2] समाधि के लिए चार स्मृति-प्रस्थानों को निमित्त और चार सम्यक् प्रधानों को परिष्कार-रूप में ग्रहण किया जाता था।[3]

---

१. धम्मपद का चित्तग्गो।

२. दीघनिकाय का महासतिपट्ठान सुत्त।

३. शरीर के प्रति जागरूक रहना, वेदनाओं के प्रति जागरूक रहना, चित्त के प्रति जागरूक रहना और धर्मों के प्रति जागरूक रहना—चार स्मृति-उपस्थान हैं। सद्गुणों का संरक्षण, अलब्ध सद्गुणों का उपार्जन, दुर्गुणों का परित्याग और नतन दुर्गुणों की अनुत्पत्ति का प्रयत्न—चार सम्यक् प्रधान हैं। इनकी आसेवना, भावना और बहुलीकरण समाधि भावना है।

बौद्ध संस्कृति में समाधि के लिए अरण्य, वृक्ष-मूल, पर्वत, कन्दरायें, पर्वत की गुफायें, श्मशान, वन-प्रदेश, खलिहान आदि उपयुक्त प्रदेश बतलाये गये हैं। गाँव से भिक्षा लेकर साधक ऐसे स्थान पर जा पहुँचता था और आसन लगा कर समाधि में लीन हो जाता था।[1]

जैन संस्कृति के अनुसार महावीर ने अपने जीवन में स्वयं समाधि के द्वारा अपने चित्त को समाहित किया था। वे चार वर्ग हाथ भूमि में अपनी दृष्टि सीमित करके समाधि लगाते थे। महावीर १३ वर्षों तक दिन-रात मनोयोगपूर्वक निर्विघ्न रूप से समाधिस्थ रहे। ऐसी स्थिति में वे बहुत कम सोते थे, पूर्ण रूप से निष्काम रहते थे। भिक्षा माँगते समय भ्रमण करते हुए भी वे चिन्तन में निमग्न रहते थे। वे चलते हुए कहीं-कहीं अचल होकर समाधिस्थ बन जाते थे। इस प्रकार महावीर जीवन भर संयमपूर्वक रहे।[2]

परवर्ती धार्मिक साहित्य में धर्म्य और शुक्ल ध्यानों के द्वारा मोक्ष पाने की योजना प्रस्तुत की गई है। इन दोनों ध्यानों में शास्त्रीय निर्देश, विश्व की रचना आदि का विचार तथा आध्यात्मिक विवेचन करने की रीति रही है। इनके परिणामस्वरूप आत्मा में सर्वथा लीन हो जाने की कल्पना सिद्ध होती है।[3]

पौराणिक युग में ध्यान का महत्व बढ़ा और जैन संस्कृति में योग के द्वारा व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की योजना बनी। इस युग में ध्यान की परिभाषा अधिक व्यापक दिखाई देती है। किसी एक वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का निरोध ध्यान है। जिस ध्यान की वृत्ति बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होती है, वही यथार्थ ध्यान है, अन्यथा वह अपध्यान है। ध्यान के पर्याय योग, समाधि, धीरोध, मनोनिग्रह, अन्तःसंलीनता आदि माने गये।[4]

ध्यान के लिए निर्विघ्न स्थान का चुनाव होता था। ऐसे स्थान में भूतल पर ही वीरासन या कायोत्सर्ग आसन से बैठकर हथेली, आँख, दाँत तथा शरीर के शेष भागों के समुचित विन्यास का विधान होता था। फिर मन को नियोजित किया जाता था। योग के द्वारा व्यक्तित्व के अनुपम विकास की सिद्धि मानी जाती थी, यथा—

---

१. मज्झिम निकाय—चूलहत्थिपदोपमसुत्त।

२. आचारांग सूत्र १.८.१-४।

३. तत्त्वार्थ सूत्र ९.२७-४४। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों के साथ वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को धर्म कहते हैं। इन्हीं का ध्यान धर्म्य है। कषाय रूपी मलों का छूटना शुक्लता है। यह ध्यान शौक्ल्य है। महापुराण २१.१३३-१३४

४. महापुराण २१.५-१२।

अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यपरमोदयम् ।
भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ।।महापुराण २१.२३८

(योगवित् मुनि इस लोक में अणिमा आदि गुणों से युक्त सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय और ऐश्वर्य का भोग करके मुक्त होकर निर्वाण पाता है।)

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों संस्कृतियों में योग को मानव-व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए एकमात्र साधन माना गया। गीता के अनुसार तो योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनों से उच्चतर है।[1]

मानव अपने सुख के लिए जब तक अपने शरीर के बाहर की वस्तुओं पर अवलम्बित है, तब तक उसे निराशा हो सकती है।[2] शरीर के अंग-प्रत्यंग जरा-जीर्ण होते हुए न तो शाश्वत आनन्द के साधन हैं और न इनसे पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार प्रथम पद में बाह्य वस्तुओं को छोड़कर केवल अपने शरीर को आनन्द का साधन बनाया जा सकता है, वैसे ही शरीर का संन्यास करके आत्मा को आनन्द के साधन-रूप में सीमित कर लेना सफलता की दिशा में दूसरा पद है। जब तक व्यक्ति शरीर को आनन्द या सुख का साधन बनाता है, तब तक मरणोत्तर काल में वह शरीरी होता है। योग के द्वारा जब वह आत्मा को ही आनन्द के साधन-रूप में सीमित कर लेता है तो वह मरने के पश्चात् शरीरी नहीं होता। यही मुक्ति की अवस्था है। यही आत्मरति की परमपद-प्राप्ति है। आत्मा का आत्मा में आनन्द पाना सर्वोच्च अनुभूति है। जैसे शरीर और संसार संसारी जीव के आनन्द-निष्यन्द हैं, वैसे ही योगी के लिए आत्मा और ब्रह्म हैं।

कर्मयोग

संन्यास का परिचय देते समय लिखा जा चुका है कि संन्यासी को यथासम्भव सभी कर्म छोड़कर योग के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यही संन्यासी की सर्वोच्च प्रगति थी। ऐसी परिस्थिति में संन्यासी

---

१. गीता ६.४६।

२. आइन्स्टाइन ने अपने जीवन दर्शन का विवेचन करते हुए लिखा है:—
Possession, outward success, publicity, luxury—to me these have always been contemptible. I believe that a simple and unassuming manner of life is best for every one, best both for the body and the mind.—*I Believe, P.* 70

का सामाजिक जीवन के कर्मक्षेत्र से साधारणतः कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। उसके कर्म छोड़ने का कारण यही था कि किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य को जन्म लेना ही पड़ता है। इस प्रकार कर्म करने वालों को मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि कर्म न किये जायें तो स्वतः मुक्ति मिल जाती है। कर्म के त्याग के द्वारा मोक्ष पाने की योजना बौद्ध और जैन संस्कृतियों में भी मान्य हुई। इस प्रकार कर्म-संन्यास अर्थात् काम न करने का सिद्धांत प्रायः सर्वसम्मत होकर भारतीय संस्कृति में अमर प्रतिष्ठा तो प्राप्त कर सका, पर वैदिक काल से ही इसके समकक्ष प्रतिष्ठित कर्मयोग के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की विचारधारा सदा ही प्रवाहित रही है।[1] कर्म-योग-सिद्धांत के द्वारा सिद्ध किया गया है कि कर्म तभी तक जन्मान्तर-बन्धन का कारण हो सकता है, जब तक कर्म के फल की आशा रखकर कर्म किया जाता है। यदि फल के प्रति आसक्ति न रखी जाय तो कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, अपितु वह मोक्ष का साधन बन जाता है।[2] इस कर्म-मार्ग को जनक, कृष्ण, वसिष्ठ, व्यास आदि ने अपनाया। शंकराचार्य ने साधारणतः तो यही कहा कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म-संन्यास के बिना मोक्ष असंभव है, पर उन्होंने भी माना है कि जनक आदि के समान ज्ञानी जीवन भर कर्म करें तो अनुचित नहीं।[3] स्वयं शंकराचार्य संन्यासी होते हुए भी जीवन भर अनवरत श्रम करते हुए भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में संलग्न रहे।

कर्मयोग का सर्वप्रथम स्पष्ट विवेचन गीता में मिलता है। इसके अनुसार कर्म-संन्यास (कामों को छोड़कर संन्यासी बनना) तो अच्छा है, पर उससे अधिक अच्छा है कर्मयोग—फल की आशा छोड़कर कर्म करते रहना। कृष्ण के शब्दों में—

---

१. कर्मयोग शब्द में योग का अर्थ युक्ति या शैली है। कर्मयोग का अर्थ है काम करने की वह शैली, जिसके द्वारा कर्ता को उसके पापात्मक या पुण्यात्मक फलों को भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार मोक्ष पाने के मार्ग में कर्मों का सम्पादन बाधक नहीं होता। गीता २.५० में योग की परिभाषा बतलाई गयी है—योगः कर्मसु कौशलम्। परवर्ती युग में बौद्ध संघ की महायान शाखा में भी कर्मयोग का सिद्धान्त अपनाया गया।

२. गीता ५.५ एवं ईशोपनिषद् १, २ के अनुसार संसार में जो कुछ है, उसमें ईश्वर की व्याप्ति माने और समझ ले कि मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ ईश्वर का है। इस प्रकार निष्काम-भाव से काम करते हुए जीवन बिताये। ऐसे मनुष्य के लिए कर्म का बन्धन नहीं है।

३. वेदान्तसूत्र शंकर भाष्य ३.३.३२। गीता शा० भा० २.११।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म-संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥गीता ५.२॥

(संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर हैं अर्थात् मुक्तिप्रद हैं। इन दोनों में कर्म छोड़ देने से अच्छा है कर्म करते रहना।)

मुक्ति पाने के लिए कर्मयोग उतना ही स्वतन्त्र मार्ग है, जितना संन्यास।[1] जिस प्रकार संन्यासी के लिए मरते समय तक कोई काम करना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार कर्मयोगी के लिए अन्त तक कर्म करते रहने की सुविधा है।

कर्मयोग के अधिकारी साधारण पुरुष नहीं हो सकते। इसके अधिकारी वही हैं, जिन्होंने मन से इन्द्रियों को वश में कर रखा है और जो योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय एवं सर्वभूतात्म-भूतात्मा हैं। ऐसे व्यक्ति का काम करना भी नैष्कर्म्य है। ऐसा व्यक्ति समझता है कि मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ और कामों को करने में जो शारीरिक व्यापार हैं, वे केवल इन्द्रियों का अपने विषयों में प्रवर्तन-मात्र हैं।[2] जिस प्रकार कर्म-संन्यासी कर्मों को छोड़ता है, वैसे ही कर्मयोगी संकल्पों को छोड़ता है।[3] 'कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता। फल की वासना छोड़ने वाला, चित्त का नियमन करने वाला और सभी परिग्रहों को छोड़ देने वाला व्यक्ति केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता। अनायास जो प्राप्त हो जाय, उससे सन्तुष्ट, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से मुक्त, निर्भय और कर्म की सिद्धि या असिद्धि को एकसा ही मानने वाला पुरुष कर्म करके उनके बन्धन में नहीं पड़ता। आसङ्गरहित, मुक्त, ज्ञान में स्थिर चित्त वाले और यज्ञ-रूप में कर्म करने वाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।"[4] कर्मयोगी को समझना चाहिए कि सभी कर्म प्रकृति के द्वारा कराये जा रहे हैं।[5] कर्मयोगी की परिभाषा है—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥गीता १८.२६॥

---

१. गीता ३.३।

२. गीता ३.७; ५.७-९; १८-४९।

३. गीता ६.२।

४. गीता ४.२०, २३।

५. गीता १३.२९।

(जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं और मेरा' नहीं करता, कार्य में सफलता हो या विफलता—मन में कोई विकार नहीं लाता, वही सात्त्विक कर्त्ता है।)

कर्मयोगी का भक्त होना अपेक्षित है। सात्त्विक वृत्तियों का मनुष्य स्वतः भगवान् का भक्त हो जाता है। भक्ति के द्वारा वह भगवान् के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। ऐसे कर्मयोगी के सम्बन्ध में कहा गया है—भगवान् का आश्रय लेकर सदा सभी कामों को करता हुआ कर्मयोगी भगवान् के अनुग्रह से शाश्वत अव्यय पद पा लेता है।[१]

कर्मयोगी कौन काम करे? निःसन्देह कर्मयोगी उन सभी कामों को नहीं कर सकता, जिसे साधारण लोग करते हैं। कर्मयोगी के काम असन्दिग्ध रूप से हैं—यज्ञ, दान और तप। इन तीनों के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है।[२] कर्मयोगी जिस काम को समझे कि मेरा कर्त्तव्य है, उसे अवश्य ही करे।[३] कर्त्तव्य कर्मों की सूची गीता में वर्ण-धर्म के अनुकूल बताई गई है।[४] अपने वर्ण के अनुकूल जो कर्म बताये गए हैं, उन्हें सम्पादित करते हुए लोग सिद्धि पाते हैं। कर्म क्या है—कर्म अर्चना की सामग्री है। अर्चना उस महादेव की होनी चाहिए, जिससे सभी प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है। यही कर्म का याज्ञिक स्वरूप है। यही मानव की सच्ची सफलता का रहस्य है।[५]

शरीरधारी के लिए पूर्ण रूप से कर्म का त्याग करना असम्भव है। हाँ, वह कर्म के फलों का त्याग करके भले ही त्यागी बन सकता है।[६] खाना-पीना, खेलना-जीना, उठना-बैठना, हंसना-रोना, देखना-सुनना, सोना-जागना, देना-लेना, चुप रहना, बोलना आदि सभी काम हैं। ऐसे कामों को छोड़ा नहीं जा सकता।[७] ऐसी परिस्थिति में कर्म-संन्यासी का पूर्ण रूप से काम छोड़ देना असम्भव है। अनेक कर्म-संन्यासी लोक-संग्रह के लिए समय-समय पर योग्य शिष्यों को उपदेश और ज्ञान देते रहे हैं।

गीता की दृष्टि में मानव-लोक कर्म-भूमि है। यहाँ पर कर्म का पूर्ण रूप से त्याग

---

१. गीता १८.५६।
२. गीता १८.५।
३. गीता १८.९।
४. गीता १८.४१-४४।
५. गीता १८.४६।
६. गीता १८.११।
७. गीता ३.५; १८.११।

कर डालना असम्भव है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म-संन्यासी भी कर्म से सर्वथा विमुक्त नहीं कहे जा सकते। कर्म-संन्यासी और कर्मयोगी में बस इतना ही अन्तर रहा कि कर्म-संन्यासी कम से कम काम करना चाहता है और कर्मयोगी अधिक से अधिक कर्म करके लोक-कल्याण करता है। संन्यासी को आत्म-कल्याण की विशेष चिन्ता होती है और कर्मयोगी अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए लोक का अभ्युदय चाहता है। लोक-कल्याण के महत्त्व का निदर्शन करते हुए कृष्ण ने कहा है—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायेंगे।[1] ज्ञान हो जाने पर कर्म-क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होने के लिए सबसे बड़ा कारण लोक-संग्रह है। लोक-संग्रह का अर्थ है लोकों की रक्षा। ज्ञानी को संसार के पालन-पोषण और संरक्षण का उसी प्रकार ध्यान रहता है, जैसे ईश्वर को। ईश्वर को संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। फिर भी वह संसार की रक्षा में तत्पर है। ईश्वर के आदर्श पर ज्ञानी को संसार की रक्षा के लिए तत्पर होकर कर्म करना है। इस प्रकार समाज में सुव्यवस्था और शान्ति की प्रतिष्ठा करके सच्चरित्रता के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना ज्ञानी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। वह समाज का आदर्श नेता है। वह अपने ज्ञान से जीवन-पथ को प्रकाशित करके जिस कार्य-पद्धति का निर्माण करता है, उसी पर समाज चलता है।

कर्म-योग को व्यक्तित्व के विकास का सर्वोच्च सोपान माना गया है और सिद्ध किया गया है कि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से कर्म के फल का त्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग क्रमशः उच्चतर हैं। कर्मयोग से निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार कर्म-संन्यासियों के अष्टांगिक योग-मार्ग के सर्वोच्च शिखर पर जो धारणा, ध्यान और समाधि हैं, उनसे भी ऊपर कर्मयोग को प्रतिष्ठित किया गया है।[3]

गीता की दृष्टि में काम्य कर्मों का त्याग ही सच्चा संन्यास है। वास्तविक

---

१. गीता ३.२४।

२. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

चित्त की स्थिरता के लिए जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास है। योग-सूत्र १.१३।

३. निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता के लिए देखिए गीता ३.८; ५.२; ६.४६।

त्याग कर्म के फलों का त्याग ही है।[1] काम्य कर्म वे हैं जो आसक्त बुद्धि से किए जाते हैं। कर्मयोगी की बुद्धि में आसक्ति नहीं रह जाती। ज्ञान की दृष्टि से जब कर्मयोगी भगवान् के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो उसके द्वारा किए हुए कर्म मानो भगवान् के द्वारा किए जाते हैं। वह अपने कृतित्व को इस प्रकार मिटा देता है। उसे इस परिस्थिति में फल की आशा नहीं रहती।

गीता में कर्मयोग, संन्यास-योग और भक्ति-योग—इन तीनों की प्रतिष्ठा की गई है। इनमें से कर्मयोग सर्वोपरि है। भक्ति-योग और संन्यास-योग के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेने पर निष्काम-भाव से कर्म करते रहना सर्वोच्च पथ है। कोरे भक्ति-योग या संन्यास-योग गीता की दृष्टि में कर्मयोग के समक्ष हीन पड़ते हैं। भारतीय संस्कृति में देवताओं को पदे-पदे आदर्श माना गया है। उन देवताओं के आदर्श पर कर्मयोग सर्वोत्तम प्रतीत होता है। देवताओं ने स्वयं सदा कर्म में संलग्न रह कर अपना और मानवता का कल्याण किया है। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ने निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञान हो जाने पर कर्म करना कर्म न करने से अच्छा है।[2] कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया है कि तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकाण्डी से कर्मयोगी श्रेष्ठ है।[3]

---

१. गीता १८.२ तथा १८.९।

२. गीता ३.८ में 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' कहा गया है। अरस्तू ने भी कर्म के महत्त्व को प्रायः इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया है—ज्ञानी मनुष्य दो प्रकार के हैं—तत्त्व-विचार में रहने वाले और दूसरे राजनीतिक कामों में निमग्न रहने वाले। दोनों मार्ग अंशतः ठीक हैं, पर कर्म की अपेक्षा अकर्म को अच्छा नहीं कहा जा सकता। आनन्द भी कर्म है और वास्तविक अभ्युदय ज्ञान और नीति पर आधारित कर्म करने में है—*Aristotle Politics* जोवेट का अनुवाद, भाग २, पृ० २१२।

३. गीता ६.४६।

अध्याय १०

दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

प्राचीन भारत की सर्वोच्च प्रतिभा का उपयोग दार्शनिक अनुशीलन में हुआ। भारतीय दर्शन संक्षेप में जगत् के आध्यात्मिक पक्ष का ज्ञान है। इस ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया को भी दर्शन कहते हैं। दर्शन के प्रकाश में मानव ने अपने जीवन के उद्देश्य और कर्तव्य-पथ का निर्धारण किया है।

वैदिक दर्शन

आत्मा-विषयक सर्वप्रथम वैदिक धारणा इन शब्दों में मिलती है:—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'[1]

(दो पक्षी संयुक्त और सखा एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा विना खाये ही देखता रहता है।)

इस व्यंजना में आत्मा खाने वाला पक्षी और परमात्मा देखने वाला पक्षी है। तत्कालीन आध्यात्मिक ज्ञान की प्रक्रिया का ऋग्वेद में इस प्रकार उल्लेख है—

सतः बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ऋग्वेद १०.१२९.४॥

(असत् अर्थात् प्रकृति में सत् अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध ऋषियों ने अपनी मनीषा के द्वारा हृदय में ढूंढ़ कर जान लिया।)

वैदिक आर्यों ने सर्वप्रथम प्रकृति की विविध विभूतियों का देव-रूप में दर्शन किया। दर्शन के क्षेत्र में प्राकृतिक पृष्ठभूमि से ऊपर उठने पर जो अध्यात्म-तत्त्व चित्त् का विषय बना, उसे भी शनैः शनैः देवताओं के व्यक्तित्व के साथ समाहित

---

१. ऋग्वेद १.१६४.२०। अथर्ववेद १०.७.३१ में यही सत्य वर्णित है।

किया गया। देवताओं में जो अमरत्व का गुण है, वह प्राकृतिक तत्त्व नहीं है, अपितु आध्यात्मिक है। धीरे-धीरे सभी देवताओं को उसी प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व का प्रस्फुटन मान लिया गया, जैसे आजकल के वैज्ञानिक नीहारिका से ग्रह, उपग्रह, तथा नक्षत्र-मण्डल आदि अखिल विश्व की उत्पत्ति मानते हैं। सभी देवताओं का आदिदेव अथवा एक देव 'पुरुष' नाम से विख्यात हुआ।[१]

वैदिककालीन ऋषियों ने सृष्टि के आरम्भ-सम्बन्धी अपने चिन्मय अनुसन्धान के द्वारा जो दर्शन प्राप्त किया, उसकी एक रूप-रेखा नासदीय सूक्त में संगृहीत है। इसके अनुसार 'आदि में न तो सत् ही था और न असत् ही। उस समय कुछ भी तो नहीं था। इन सभी से व्यतिरिक्त 'एक' था। उस 'एक' की अपनी निजी 'स्वधा' (आत्मिक शक्ति) थी। आत्मिक शक्ति से वह श्वास लेता था। बस वही 'एक' और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था। फिर तमस् और सलिल का परिव्यापक अस्तित्व हुआ। उसी 'एक' के मन में काम उत्पन्न हुआ। फिर सृष्टि का आरम्भ हुआ। जहाँ कुछ नहीं था, वहीं से सब कुछ उद्भूत होने लगा। सृष्टि के साधन थे—रेतः, महिमा, स्वधा तथा प्रयति। सारी सृष्टि के अध्यक्ष रूप में जिस 'एक' की प्रतिष्ठा की गई थी, उसकी अवस्थिति परम व्योम में मानी गई थी ?'[२]

उस एकदेव के अधिक बोधगम्य स्वरूप की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ-रूप में की गई है। 'प्रारम्भ में वही हिरण्यगर्भ वर्त्तमान हुआ। वह सभी भूतों का 'एकपति' उत्पन्न हुआ था। वह पृथ्वी और आकाश-लोक को धारण करता था। वही आत्मा और बल देने वाला है। सभी देवता उसके आशिस् की कामना करते हैं। अमृत और मृत्यु उसकी छाया है। वह सभी प्राणि-जगत् और निमिषधारि-जगत् का राजा है। द्विपद या चतुष्पद का ईश है। हिमालय, समुद्र और भूमि उसकी महिमा हैं। दिशायें-प्रदिशायें उसकी बाँहें हैं। उसके माध्यम से आकाश प्रकाशमान है, पृथिवी स्थित है और स्वर्ग-लोक प्रतिष्ठित है। उसी ने अन्तरिक्ष में रजो-लोक की माप की। सूर्य उदित होकर उसी के ऊपर प्रकाश करता है। वह देवताओं का प्राण है और पृथिवी का जनयिता है। वह सत्यधर्मा

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद १.१६४.४६।

२. ऋग्वेद १०.१२९.७ इसी का समर्थन अथर्ववेद १०.८.२० में है।

है। उसने दिवलोक को उत्पन्न किया। उसी से सुप्रकाश-जल की उत्पत्ति हुई।"[1]

पुरुष, सत्, हिरण्यगर्भ, एकदेव आदि सभी परवर्ती युग के ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं। जब तक वैदिक ऋषियों की दृष्टि ससीम थी, उन्हें ऐसी सत्ताओं और विभूतियों का आभास हुआ, जो ससीम रहीं। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की विभूतियाँ ससीम थीं। शीघ्र ही उन ऋषियों को असीमता का ज्ञान होकर रहा। अनेक ससीम होते हैं, एक असीम होता है। वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि में व्यक्तिशः शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता थी। उसी शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता का बृहत्तम संयोजन जिस सत्ता में हुआ, वही 'एकदेव' ब्रह्म हुआ। ब्रह्म की एक शक्ति सभी शक्तियों का उद्गम बनी। ब्रह्म के जिन गुणों का आकलन किया गया, उनसे उसकी असीमता का आभास मिला। जो कुछ ससीम है, उसका समन्वय उसी ब्रह्म में है। केवल ब्रह्म ही असीम है।

अथर्ववेद में सर्वाधार की प्रतिष्ठा मिलती है। यह परवर्ती युग के ईश्वर के समकक्ष है। इसी से सारी सृष्टि का उद्भव माना जाता था। ऋषियों ने आत्म-तत्त्व को सत् के नाम से अभिहित किया था। यथा—

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥१०.७.२१॥

उस समय कुछ सत् और कुछ असत् शाखा के ग्राहक थे। शरीर का दार्शनिक विवेचन करते हुए कहा गया—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ १०.८.४३॥

पुरुष ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति और स्कम्भ एक ही सत्ता का नाम समझा गया।[2] ब्रह्म क्या है—

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम् ॥अथर्व० १०.८.२४

अर्थात् उसमें शत् सहस्र...अनन्त स्व (आत्मा) वर्त्तमान हैं। और भी

---

१. ऋग्वेद १०.१२१.१-९।
२. अथर्ववेद १०.७.१७।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखम् ॥
अथर्ववेद १०.८.२७॥

वैदिक ऋषियों की मरणोत्तर-विधान-सम्बन्धी कल्पना सुखमय थी। मरने के पश्चात् मनुष्य पितृलोक या देवलोक में जाता है, जहाँ सुख ही सुख है। तत्कालीन धारणा के अनुसार मरणोत्तर-जीवन यम की अध्यक्षता में बीतता है। नीचे लिखे श्लोक में मरणात्मा के लिए सम्बोधन है:—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥ऋग्वेद१०.१४.८

(अपने इष्टापूर्त के द्वारा परम व्योम में पितरों के साथ, यम के साथ गमन करो अर्थात् उनसे मिलो। अवद्य (दोष) को छोड़कर पुनः (नये) घर में जाओ। वर्चस्वी शरीर प्राप्त करो।)

ऋग्वेद में दुर्जनों के लिए नरक की कल्पना की गई है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि शरीर के अन्त को ऋग्वैदिक काल में जीवन का अन्त नहीं माना जाता था। ऋषियों ने जान लिया था कि ऋभुओं ने अमृतत्व प्राप्त किया है और अग्नि अमरता दे सकती है अथवा मरने के पश्चात् पितरों से मिलन होता है।[2] इन वक्तव्यों से सिद्ध होता है कि उस युग में आत्मा की अमरता की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

ब्राह्मण-साहित्य में स्वर्ग-नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवताओं के लिए यज्ञ करता है, वह उतना उच्च लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला।[3] जो पुरुष वेद पढ़ता है, वह वारंवार मरने से छुटकारा पा जाता है और उसे ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।[4] ज्ञान से मनुष्य उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ पूर्ण रूप से निष्कामता होती है।[5] शतपथ ब्राह्मण में सम्भवतः मुक्त व्यक्ति के लिए अमरत्व

---

१. ऋग्वेद ४.५.५।

२. ऋग्वेद ३.३५.३; ५.४.१०; १०.५८.१-२; १०.१६.१-६ तथा अथर्ववेद ६.१२०.३।

३. ऐतरेय ब्राह्मण ११.२.६।

४. ऐतरेय ब्राह्मण १०.५.६।

५. शतपथ ब्राह्मण १०.५.४.१६।

की कल्पना मिलती है।[1] मरने के पश्चात् मुक्ति पा लेने पर सम्यक् जीवन की सिद्धि होती है।[2]

उपनिषद्-दर्शन

उपनिषदों में मानव-जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य का स्पष्ट परिचय पहली बार मिलता है। इसके अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर सांसारिक जीवन को तुच्छ मान कर पुनर्जन्म के चक्कर से बचने की योजना बनाई गई—'सभी इन्द्रियों को आत्मा में प्रतिष्ठित करके मनुष्य ब्रह्मलोक में जा पहुँचता है। वहाँ से फिर लौटना नहीं पड़ता।[3]

उपनिषद् में पर विद्या या ब्रह्म-विद्या को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसके अनुसार मानव के सर्वोच्च अभ्युदय के लिए ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षित है। ब्रह्म को जानने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई। उपनिषदों में आदेश दिया गया—तप से ब्रह्म को जानो।[4] ब्रह्म तक चक्षु, वाक्, मन आदि की गति नहीं है।[5] तप, दम और कर्म ब्राह्मी उपनिषद् के लिए साधन हैं।[6] ब्रह्म में अनेकता (नाना) नहीं है। उसे एकधा देखना चाहिए। उसी आत्मा को जान कर धीर उसकी प्रज्ञा करे, बहुत शब्दों का ध्यान न करे क्योंकि वाक् कठिनाइयों में डालने वाला है।[7] मनुष्य ब्रह्म का ध्यान करने से स्वयं ब्रह्म बन जाता है।

ब्राह्मण का जीवन-स्तर ऊँचा था। वह यज्ञ, दान, तप और कामनाओं के परित्याग से आत्मा को जान कर मुनि बन जाता था। वह आत्म-लोक की इच्छा करते हुए प्रव्राजक बन जाता था। उसे सांसारिक विभूतियों के प्रति कोई अभिरुचि नहीं होती थी और वह पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से परे होकर भिक्षाचर्या करता था।[8] जो पुरुष ब्रह्ममय है, वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण बुरे काम से लिप्त नहीं होता। वह शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपने में ही आत्मा

---

१. शतपथ ब्राह्मण १०.४.३.१०।

२. शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१९।

३. छान्दोग्य उपनिषद् ८.१४, १५।

४. तैत्तिरीय उ० भृगुवल्ली द्वितीय अनुवाक।

५. केन उ० १.३।

६. केन उ० ४.८।

७. बृहदारण्यक ४.४.१९-२१।

८. बृहदारण्यक ४.४.२२।

को देखता हुआ सर्वात्मा का पर्यालोचन करता है। उसे पाप वश में नहीं कर पाता, वह स्वयं पाप को वश में कर लेता है। उसे पाप नहीं जलाता, अपितु वह पाप को जलाता है। वह पाप, श्रम आदि से मुक्त हो जाता है। यही उसका ब्रह्मलोक है।[1]

ब्रह्म को जानने की महती उपयोगिता का आकलन किया गया था। 'ब्रह्म को जानना ही एकमात्र सत्य है। जो पुरुष सभी भूतों में उसी ब्रह्म की सत्ता को देखते हैं, वे मरने के पश्चात् अमृत हो जाते हैं।[2] आत्मा (ब्रह्म) को न जानने वाले व्यक्ति मरने के पश्चात् असूर्य और तम से आच्छादित लोक में जाते हैं।[3]

ब्रह्म क्या है—उपनिषदों में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन मिलता है। ब्रह्म की साधारण परिभाषा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति होती है। उसी से सबका पोषण होता है। उसी में सबका विलयन होता है। वह आत्म-रूप में हृदय में विराजमान है। ब्रह्म छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है। वह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापक आदि है।[4] ब्रह्म के चार पदों में अखिल विश्व प्रतिष्ठित है।'[5]

ब्रह्म का परिचय देने में रहस्यात्मक विधि को भी अपनाया गया है। 'प्राण' ब्रह्म है। 'क' ब्रह्म है। 'ख' ब्रह्म है। जो 'क' है वही 'ख' है। जो 'ख' है, वही 'क' है। इस प्रसंग में 'क' आनन्द है और 'ख' आकाश है।[6]

सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्म को कोई देख नहीं सकता क्योंकि दृष्टि के द्रष्टा को कौन देख सकता है ? ब्रह्म श्रुति का श्रोता है, मति का मन्ता है, और विज्ञाति का विज्ञाता है। ऐसी परिस्थिति में उसका प्रत्यक्षीकरण असम्भव है। यही आत्मा (ब्रह्म) सर्वान्तर है। इससे भिन्न सब कुछ आर्त है।[7] सभी प्राणियों को सूत्रात्मक विधि से अनुस्यूत करने वाला ब्रह्म (आत्मा) वही है, जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा

---

१. बृहदारण्यक ४.४.२३।

२. केन उ० २.५।

३. ईशोपनिषद् ३।

४. छान्दोग्य उप० ३.१४.१-४। ब्रह्म से जगत् की सृष्टि के क्रम-विन्यास के लिए देखिए छान्दोग्य उ० ३.१९.१।

५. छान्दोग्य उप० ४.५-८।

६. छान्दोग्य उ० ४.१०।

७. बृहदारण्यक ४.२। यह पहेली इस प्रकार सुलझती है—ब्रह्म ही नेत्र को नेत्र बनाता है। वही नेत्र के माध्यम से देखता है। नेत्र का ब्रह्म अपने से भिन्न को ही देख सकता है। वह अपने आप (ब्रह्म) को नहीं देख सकता।

मृत्यु आदि के प्रभाव से परे है। ब्रह्म स्वयं पृथिवी, आपस्, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, दिवलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारे, आकाश, तम, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान और रेतस् में स्थित रहकर, उनमें परिव्याप्त होकर, फिर भी उनके द्वारा न जाना जाता हुआ और उन्हीं को शरीर बना कर भी उनके ऊपर शासन करता हुआ आत्मा-रूप अन्तर्यामी और अमृत है। स्वयं अदृष्ट, अश्रुत, अमृत, अविज्ञात आदि होते हुए भी वह द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा देखने, सुनने. जानने वाला है ही नहीं। वही तुम्हारा आत्मा है, अन्तर्यामी अमृत है। जो कुछ उससे भिन्न है, वह आर्त है।[1]

जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, जिसके समीप जाते हैं और जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है। इस दृष्टि से आनन्द ब्रह्म है।[2] वह स्वयंभू है।[3]

पुरुष के रूप में आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। पुरुष के शरीर में आत्मा की ज्योति होती है। पुरुष आत्मा के प्रकाश से काम करता है। पुरुष शरीर धारण करके उत्पन्न होते हुए पाप से संसृष्ट होता है और शरीर से विमुक्त होकर पाप से रहित हो जाता है। पुरुष के दो स्थान हैं—इहलोक और परलोक। इन दोनों के बीच में स्वप्नलोक है। स्वप्नलोक में रहकर वह दोनों को देखता है। परलोक की अपनी स्थिति के लिए किए हुए प्रयत्न के अनुसार वह पुरुष आनन्द का अनुभव करता है। वह स्वयं अपने आपमें से सारी परिस्थितियों का निर्माण करके स्वप्न-निमग्न होता है।[4]

आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलते हुए पुरुष प्राज्ञ होता है। इस स्थिति में वह वाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं को भूल जाता है। यही पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। प्राज्ञ की सभी इच्छायें पूर्ण रहती हैं। उसे एकमात्र आत्मा की चाह रहती है। इच्छाओं के न होने से उसे शोक भी नहीं रहता है।[5] पुरुष वास्तव में काममय है। वह काम की पूर्ति के लिए कर्म करता है और कर्मों के अनुसार फल

---

१. बृहदारण्यक ३.७।

२. तैत्तिरीय उ० भृगवल्ली प्रथम तथा षष्ठ अनुवाक्।

३. ईशोपनिषद् ८।

४. बृहदारण्यक ४.३।

५. बृहदारण्यक ४.३। गौतम बुद्ध ने इच्छाओं को दुःख का एकमात्र कारण मान कर अष्टांगिक मार्ग द्वारा उनसे छुटकारा पाने की योजना को अपने धर्म में प्रमुख स्थान दिया।

पाता है।[१] आत्मा विज्ञानमय है, महान् है, और अज है। प्राणियों के अन्तर्हृदय-आकाश में वह सोता है। आत्मा सबको वश में रखने वाला सम्राट् है। वह अच्छे कामों से न तो बढ़ता है और न बुरे कामों से क्षीण होता है। वह सेतु है। लोकों को धारण करने वाला आत्मा है।[२]

आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'यही' है। न तो यह ग्रहण किया जा सकता है, न यह शीर्ण होता है और न आसक्त होता है। आत्मा सीमित नहीं है। उसे न तो व्यथा होती है और न उसका नाश होता है।[३] आत्मा महान्, अज, अन्नाद (सबके भीतर रहकर सब भोजन करने वाला), और वसुदान (धन देने वाला) है। वह अजर-अमर, अमृत और अभय है।[४]

आत्मा ही ऐन्द्रियक व्यवहारों के लिए इन्द्रिय-रूप है। मन आत्मा का दैवी नेत्र है। मन से आत्मा अनुभूति करता हुआ रमण करता है। ब्रह्मलोक में अवस्थित इस आत्मा को जान लेने पर सभी इच्छायें पूरी हो जाती हैं।[५] वह सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है। आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा देखने, सुनने, मनन करने अथवा जानने वाला नहीं है।[६] आत्मा नाम और रूप से रहित है। वह ब्रह्म है, अमृत है।[७]

आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। उसके दर्शन और विज्ञान आदि से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। मनुष्य के लिए संसार में जो कुछ प्रिय है, वह सारा का सारा आत्मा के लिए प्रिय होता है। पुत्र पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिए प्रिय होता है। जो कुछ है, वह सारा का सारा आत्मप्रधान है। इसी महाभूत (आत्मा) के निःश्वसित रूप सभी वेद, इतिहास, उपनिषद् आदि हैं। यह महाभूत अनन्त, अपार और विज्ञानघन है। इसके अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं है। जहाँ द्वैत होता है, वहाँ एक दूसरे को जान सकता है। जहाँ दूसरा कुछ है ही नहीं, वहाँ क्या जाना जाय और कौन जानने वाला है? ज्ञाता और ज्ञेय तो तत्त्वतः एक ही है।[८]

---

१. बृहदारण्यक ४.४.५।
२. बृहदारण्यक ४.४.२२।
३. बृहदारण्यक ४.४.२२।
४. बृहदारण्यक ४.४.२४-२५।
५. छान्दोग्य उ० ८.१२।
६. बृहदारण्यक ३.८.११।
७. छान्दोग्य उ० ८.१४।
८. बृहदारण्यक २.४।

आत्मा सभी भूतों का अधिपति है, सभी भूतों का राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि और नेमि में सभी अर समर्पित होते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा में सभी भूत, सभी देवता, सभी लोक, सभी प्राणी, सभी आत्मायें भी समर्पित हैं।[1]

आत्मा सर्वतः और सर्वत्र है। आत्मा से ही प्राण, स्मृति, आकाश, तेज, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, वाक्, मन्त्र, कर्म आदि का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा की भूमा-रूप कल्पना का यही आधार है। भूमा में सुख और अल्प में दुःख है।[2]

आत्मा हृदय में रहता है। इसका पर्याय 'हृद्य' है।[3] शरीर मर्त्य होने पर भी अमृत और अशरीर आत्मा का निवास है। सशरीर होने पर आत्मा प्रिय और अप्रिय से प्रभावित होता है। आत्मा इस स्थिति में प्रिय और अप्रिय से बच नहीं सकता। शरीर से मुक्त होने पर आत्मा प्रिय और अप्रिय से मुक्त होता है।[4]

परमज्योति का सम्पादन करके इस शरीर से ऊपर उठकर आत्मा अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है। वह ऐसी स्थिति में उत्तम पुरुष है, और शरीर का स्मरण तक न करते हुए संसार के व्यवहार में लगा रहता है, जैसे गाड़ी में बैल।[5]

इस लौकिक जीवन में ही पुरुष (आत्मा) और प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) का मिलन सम्भव है। मिलन होने पर सांसारिक सम्बन्ध छूट जाते हैं—माता-पिता, लोक, देव, वेद, स्तेन, भ्रूणहा, चाण्डाल, पौल्कस, श्रमण, तापस आदि सभी के सभी अपिता, अमाता, अलोक आदि हो जाते हैं। ब्रह्म का आनन्द परम है। इसी आनन्द के अंशमात्र को अन्य प्राणी भोगते हैं।[6]

उपनिषद्-दर्शन के अनुसार मन इन्द्रियों का सम्राट् है। उसकी अध्यक्षता में इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। इन्द्रियाँ और मन ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं, पर वे अपने लिए ज्ञान नहीं प्राप्त करते। वास्तव में ज्ञान से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता है। ज्ञान का प्रयोजन प्रज्ञा को होता है। प्रज्ञा मन को जागरित करती है और मन इन्द्रियों को। इन्द्रियाँ किसी वस्तु के सम्पर्क में आने पर यदि मन

---

१. बृहदारण्यक २.५।

२. छान्दोग्य उ० ७.२३-२६।

३. छान्दोग्य उ० ८.३।

४-५. छान्दोग्य उ० ८.१२। यह स्थिति निष्काम कर्मयोग की है।

६. बृहदारण्यक ४.३.२२, ३२।

की प्रेरणा पाती हैं तो प्रज्ञा को ज्ञान प्रदान करती हैं। प्रज्ञा के पर्यायवाची शब्द प्राण या आत्मा भी हैं। प्राण वास्तव में आनन्द, अजर और अमृत है। वह अच्छे काम से न तो बढ़ता है और न असाधु काम से गिरता है। जिस व्यक्ति को वह इस लोक से ऊपर उठाना चाहता है, उससे अच्छा काम कराता है और जिसे गिराना चाहता है, उससे बुरा काम कराता है।[१]

उपनिषदीय मरणोत्तर-विधान के अनुसार जिस प्रकार जोंक किसी तृण के सिरे से दूसरे अवलम्बन पर पहुँचने के लिए अपना उपसंहार करती है, उसी प्रकार यह आत्मा अपने शरीर को छोड़ कर अन्य अवलम्बन प्राप्त करने के लिए अपना उपसंहार करता है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण से नई-नई मनोरम मूर्तियाँ बनाता है, उसी प्रकार यह आत्मा वर्त्तमान शरीर को छोड़ कर पूर्ण विद्या प्राप्त करके नवतर और कल्याणतर रूप बना लेता है। नये रूप पितरों, गन्धर्वों, देवों, प्रजापतियों या ब्रह्म के अनुरूप होते हैं।[२]

सकाम मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा पुनर्जन्म पा सकता है। जो निष्काम है, इच्छाओं से परे है, जिसकी इच्छायें पूरी हो चुकी हैं अथवा केवल आत्मा-विषयक हैं, वह ब्रह्म बन जाता है, चाहे वह इसी लोक में क्यों न जीवित रहे। इच्छाओं के मिटते ही मानव अमृत हो जाता है, ब्रह्म का आनन्द भोगने लगता है।[३] जिस प्रकार साँप केंचुली को कहीं भी छोड़ देता है, वैसे ही आत्मा शरीर को छोड़ देता है। तब अशरीरी और अमृत प्राण (आत्मा) स्वयं तेज या ब्रह्म बन जाता है।[४] यहाँ से विमुक्त होकर ब्रह्मवित् पुरुष स्वर्गलोक (ब्रह्म) की प्राप्ति करते हैं।[५] ब्रह्म की ओर ले जाने वाले मार्ग पर केवल ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस ही चलते हैं। अविद्या की उपासना करने वाले अन्धतमः (नरक) में जा गिरते हैं। जो ब्रह्म को नहीं जानते, उनका विनाश हो जाता है। ब्रह्मवित् अमृत हैं, शेष व्यक्ति केवल दुःख ही हैं।[६]

---

१. कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् ३.७-८।

२. बृहदारण्यक ४.४.४।

३. अथर्ववेद १०.८.४४ में पूर्ववर्ती युग में आत्मा को अकाम कहा गया है यहाँ आत्मा ब्रह्म का पर्यायवाची है। यदि ब्रह्म अकाम है तो मनुष्य को भी अकाम होना चाहिए।

४. बृहदारण्यक ४.४.६-७।

५. बृहदारण्यक ४.४.८।

६. बृहदारण्यक ४.४.१४।

मरने के पश्चात् श्रद्धापूर्वक तप करने वाले ज्ञानी लोग देवयान से ब्रह्मलोक में जा पहुँचते हैं। इष्टापूर्त सम्पादित करने वाले लोग पितृयान से चन्द्रलोक पहुँचते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों से रहित प्राणी जन्म लेते और मरते रहते हैं।[1] जिस प्रकार पका फल अपने बन्धन से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर के अंगों से मुक्त हो जाता है और किसी अन्य शरीर को प्राप्त करने के लिए यथाविधि प्रवृत्त होता है।[2] आत्मा शरीर को छोड़ते समय विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा से समायुक्त होता है।[3]

उपनिषद् में सृष्टि की समारम्भ-सम्बन्धी कल्पनायें प्रस्तुत की गई हैं। सृष्टि के आरम्भ के सम्बन्ध में दो प्राचीन मत थे—(१) सत् ही आरम्भ में था और (२) सत् से पहले असत् था। उससे सत् उत्पन्न हुआ।[4] छान्दोग्य उपनिषद् में सीधे तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है कि असत् से सत् उत्पन्न ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सत् ही आरम्भ में था—यह निर्विवाद है। सत् से तेजस् उत्पन्न हुआ। तेजस् से आपस् की उत्पत्ति हुई और उससे अन्न का उद्भव हुआ। इन तीनों का सम्मिश्रण हुआ। मनुष्य तेजस्, आपस् और अन्न—इन तीनों को खाता-पीता है। इन्हीं से मानव के सभी स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व बनते हैं। इस प्रकार मन अन्नमय है। प्राण आपोमय है और वाणी तेजोमयी है।[5]

आत्मा ही आरम्भ में था। उसका स्वरूप पुमान् का था। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। वह अकेले होने के कारण डरा। उसने अपने चारों ओर देखा कि मेरे अतिरिक्त कोई नहीं है। मैं किससे डरूँ? उसका भय चला गया क्योंकि भय दूसरे से उत्पन्न होता है। अकेलेपन को दूर करने के लिए उसने अपने में से स्त्री और पुरुष भाग को अलग-अलग किया। इस प्रकार दम्पती बन गया। उसी से मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्नी ने लज्जावश अपने को पति से छिपाया और गाय बनी, जिससे पति उसे पहचान न सके। पति ने वृष बन कर उससे गो-जाति का प्रवर्तन किया। इसी प्रकार अन्य योनियाँ भी प्रवर्तित

---

१. छान्दोग्य उ० ४.१०.४-८।

२. बृहदारण्यक ४.१.४।

३. बृहदारण्यक ४.३.३६; ४.४.२।

४. कुछ वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि असत् ही आरम्भ में था। बौद्ध दार्शनिकों का भी यही मत है।

५. छान्दोग्य उ० ६.२५।

हुई।[1] उसी आत्मा ने देवताओं और चारों वर्णों को अपने में से ही उत्पन्न किया।[2]

वैदिक काल के उत्तरार्ध में दर्शन और यज्ञ सम्बन्धी प्रकरणों पर विवाद करके सत्यासत्य के निर्णय करने का प्रचलन था। उच्च कोटि के आचार्य प्रायः राजाओं की अध्यक्षता में तर्क के द्वारा अपने दर्शन की प्रतिष्ठा करते थे। उस युग में तर्क को अतिशय मान्यता प्राप्त हुई थी। तभी से लेकर प्राचीन भारत में प्रायः सदा ही विविध दर्शन की प्रणालियों के आचार्यों के प्रायः विवाद होते थे। इन विवादों का स्वरूप द्विविध होता था। प्रथम तो तर्क द्वारा एक दर्शन का आचार्य दूसरे दर्शन के आचार्य की मान्यताओं को असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता था। दूसरे तर्क के द्वारा दर्शन के सत्यों को अपने शिष्यों के लिए सुबोध बनाने की रीति थी।

बौद्ध, जैन और वैदिक संस्कृतियों के विद्यालय प्रायः आसपास स्थित होते थे। समय-समय पर अपने दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उन संस्थाओं के आचार्यों में विवाद होते रहते थे। इस प्रकार प्राचीन युग में अपने दर्शन की विजय-पताका तर्क के द्वारा ऊँची फहरा कर समाज में उसकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा की जाती थी।

उपर्युक्त परिस्थिति सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियों के परिशोधन के लिए थी। उनमें तर्कहीन विचार-धाराओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इसके साथ ही तर्क-शास्त्र का सम्मान बढ़ा। बौद्ध, जैन और वैदिक दर्शनों में उच्च कोटि के तर्क की प्रतिष्ठा हुई। वैदिक दर्शन में न्याय अपनी सूक्ष्म तर्क-शैली के लिए सर्वोच्च प्रतिष्ठित हुआ।

उपनिषद्-काल के पश्चात् भारतीय दर्शन की दो प्रमुख शाखायें दृष्टिगोचर होती हैं—वैदिक और अवैदिक। इनमें से प्रथम शाखा वैदिक साहित्य को मान्यता प्रदान करती है और दूसरी उसकी उपेक्षा करती है। वैदिक शाखा की छः प्रमुख उपशाखायें हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। अवैदिक शाखा की तीन उपशाखायें हैं—चार्वाक, बौद्ध और जैन।[3]

---

१. बृहदारण्यक १.४।

२. बृहदारण्यक १.४.६, ११।

सृष्टि के विकास-सम्बन्धी विवरण के लिए अन्यत्र देखिए ऐतरेय उप० १.१-३।

३. माधव के सर्वदर्शन-संग्रह में उपर्युक्त दर्शनों की संख्या १६ है। इनमें शैव दर्शन के चार उपभेद तथा रामानुज और पूर्णप्रज्ञ के दर्शन वेदान्त सूत्र से सम्बद्ध हैं। माधव का पाणिनिदर्शन व्याकरण पर आधारित है। बौद्ध दर्शन की

वैदिक दर्शनों की एकसूत्रता वेद को मान्यता प्रदान करने के माध्यम से प्रतिष्ठित हुई है। वैदिक साहित्य में आत्मा, पुरुष, अविद्या, माया, लोक की सृष्टि आदि का विश्लेषण करने में तत्कालीन सभी आचार्य एकमत नहीं थे। वेदकालीन विभिन्न आचार्यों के मतों को अपना कर उनकी पुष्टि करने वाले परवर्ती युग के आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित नवीन दर्शन-पद्धतियों की स्थापना की गई। इन सभी दर्शनों ने अपने मतों के सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद को प्रमाण माना है।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों के अनुसार मरने के पश्चात् किसी भी प्राणी की मोक्ष, स्वर्ग या पुनर्जन्म आदि गतियाँ हो सकती हैं। इनमें से मोक्ष को सर्वोपरि मान कर इसकी प्राप्ति के लिए योजनायें प्रस्तुत करना भारतीय दर्शनों की एक प्रधान विशेषता है। मीमांसा दर्शन के आरम्भिक युग में मानव के लिए स्वर्ग प्राप्त करना प्रधान उद्देश्य माना गया।

जैन और बौद्ध दर्शनों में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है, पर उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा का गहरा प्रभाव इन दोनों दर्शनों पर पड़ा है। उपनिषदों के अनुसार आध्यात्मिक अभ्युदय के मार्ग में ज्ञान को सोपान बना कर तप और समाधि के द्वारा चिन्मय प्रवृत्तियों को जागरित करके नित्य प्रगति करना मानव का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। जैन और बौद्ध दर्शनों में इस विधान को वैसी ही प्रतिष्ठा मिली है, जैसी वैदिक दर्शन में।

षड्दर्शन

प्रमाण और ज्ञान

दर्शन की पद्धति में सत्यासत्य का निर्णय करते समय तर्क होना स्वाभाविक है। तर्क के साथ प्रमाण की प्रतिष्ठा होती है। भारतीय दर्शनों में प्रमाणों का विवेचन अतिशय सूक्ष्मता से किया गया है। इस दिशा में न्याय-दर्शन अग्रणी रहा है।[1] इस दर्शन की प्रमुख प्रवृत्ति को दृष्टि-पथ में रख कर इसे तर्क-विद्या और वाद-विद्या भी कहते हैं। न्याय प्रमाण-शास्त्र है। प्रमाण-शास्त्र के द्वारा प्रमेय वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान होता है और साथ ही विदित होता है कि जो ज्ञान प्राप्त

चार और जैन दर्शन की दो प्रधान उपशाखाओं का परिगणन इस ग्रन्थ में मिलता है।

१. वात्स्यायन के अनुसार कः पुनरयं न्यायः? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

किया गया है, वह सत्य है कि नहीं। न्याय दर्शन की दृढ़ भित्ति इस सिद्धान्त पर है कि जिन वस्तुओं की सत्ता है, वे सभी ज्ञेय हैं। जो ज्ञेय नहीं हैं, उनकी सत्ता भी नहीं है।

न्याय के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें से प्रत्यक्ष सर्वविदित है। प्रमाण की दृष्टि से अनुमान की अतिशय विशेषता है। अनुमान की आधार-भित्ति प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-ज्ञान सम्बन्धी सत्यों की परम्परा बनती रहती है। उन सत्यों की आनुषंगिक परिस्थितियों की कार्य-कारण या चिह्न-रूप में बौद्धिक प्रतिष्ठा होती रहती है। उन्हीं आनुषंगिक परिस्थितियों को देखते ही उनसे सम्बद्ध वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। यही अनुमान है। अनुमान तीन प्रकार के हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् में पूर्व (कारण) के द्वारा कार्य का ज्ञान होता है। इसमें कारण ही लिंग बन जाता है। जैसे मेघ की उन्नति देखकर वृष्टि का अनुमान करना। शेष (कार्य) के द्वारा कारण का ज्ञान कर लेना शेषवत् है। जब कार्य और कारण के अतिरिक्त कोई लिंग किसी वस्तु का परिचायक हो तो उस ज्ञान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। काश का फूलना देखकर शरद् ऋतु के आगमन का ज्ञान होने के लिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान उपयोगी हैं।[1] पहले से ही ज्ञात वस्तुओं के सादृश्य के द्वारा किसी पद का उसके अर्थ से सम्बन्ध का ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है। शब्द प्रमाण यथार्थ ज्ञान कराने वाले वाक्य हैं, जैसे वेद।

ज्ञान की प्रतीति आत्मा को मन के माध्यम से होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुओं के सन्निकर्ष को मन तक पहुँचाती हैं और मन उसे आत्मा तक पहुँचाता है।

इनके अतिरिक्त न्याय दर्शन में रहस्यात्मक अथवा अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान कराने के लिए यौगिक प्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा हुई है। अणु, धर्म आदि का ज्ञान यौगिक प्रत्यक्ष से होता है।

सांख्य दर्शन में न्याय के उपमान प्रमाण को प्रतिष्ठा नहीं मिली है। इस दर्शन के अनुसार बुद्धि प्रकृति-तत्त्व होने के कारण अचेतन है। ऐसी स्थिति में बुद्धि-जन्य सुख-दुःख आदि सभी अचेतन हैं। बुद्धि सुख और दुःख का ज्ञान प्राप्त करती है। सुख-दुःख चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस प्रकार पुरुष मानो ज्ञानवान् होता है। बुद्धि के माध्यम से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने सम्पर्क में आये हुए विषयों को पुरुष तक पहुँचाती हैं।

---

१. प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान वस्तु ज्ञात होती है और अनुमान से सत् और असत् सब कुछ ज्ञात होता है। वात्स्यायन के अनुसार 'त्रिकालयुक्ता अर्था अनु-

सांख्य के अनुसार प्राप्त प्रमाण के अन्तर्गत वेद, इतिहास और स्मृति के लेख आते हैं। इनके साथ ही कपिल की वाणी सत्य मानी गई है। योग दर्शन में सांख्य के प्रमाण अपनाये गये हैं। योग के अनुसार जिस ज्ञान के लिए बुद्धि का सहारा लिया जाता है, वह पूर्णतया सत्य नहीं होता क्योंकि बुद्धि प्रकृति-तत्त्व है। वास्तविक सत्य का ज्ञान केवल योग के द्वारा हो सकता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में सांख्य की भाँति तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रतिष्ठित हुए। परवर्ती युग में प्रमाणों की संख्या बढ़ती गई। पहले प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण जोड़े। फिर कुमारिल ने अनुपलब्धि नामक नया प्रमाण स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा मीमांसा में छः प्रमाण माने गये। इस दर्शन में अलौकिक प्रत्यक्ष या यौगिक प्रत्यक्ष को नहीं माना गया है। इनके अनुसार कुछ भी अतीन्द्रिय नहीं है या यदि कुछ अतीन्द्रिय है तो वह शब्द प्रमाण से ज्ञेय है।

मीमांसा दर्शन का प्रधान क्षेत्र धर्म का ज्ञान है। धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवल उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं, जिनका स्वरूप भौतिक होता है। वेदों को प्रमाण मान कर धर्म का विवेचन हो सकता है। शब्द-ज्ञान का प्रधान स्रोत वेद है। आप्त पुरुषों की वाणी शब्द-प्रमाण का द्वितीय स्रोत है। मीमांसक वेद को ईश्वर की कृति नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वेद सनातन हैं। ईश्वर के हाथ-मुँह आदि नहीं हैं। वह कैसे कुछ लिखेगा या बोलेगा ? यदि कहा जाय कि ईश्वर वेद लिखने के लिए ही हाथ और मुँह वाला पुरुष बन जाता है तो उसकी सर्वोच्चता सन्दिग्ध हो जाती है क्योंकि वह भौतिक जगत् के पाश में बँधता है। वेद के सूक्तों के साथ उनके ऋषियों के नाम सम्बद्ध हैं। क्या वे ऋषि उन सूक्तों के रचयिता हैं ? मीमांसकों की दृष्टि में ऋषि उनके रचयिता नहीं हैं, वे उनके केवल अध्ययन और अध्यापन करने वाले हैं। वैदिक साहित्य में जो ऐतिहासिक नाम और घटनायें हैं, उन्हें भी मीमांसक लौकिक नाम और घटना नहीं मानते। उनके अनुसार उन नामों और घटनाओं का सम्बन्ध विश्वात्मक रहस्यों से है, लौकिक व्यापारों से नहीं।

मीमांसक किसी वस्तु के सम्बन्ध में दो प्रत्यक्षों के बीच आने वाली असंगति को अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा दूर करते हैं। असंगति का स्वरूप सन्देहात्मक होता है। 'देवदत्त दिन में नहीं खाता, फिर भी मोटा है।' ये दो प्रत्यक्ष हैं। दिन में न

मानेन गृह्यन्ते। भविष्यतीत्यनुमीय भवतीति चाभूच्च, असच्च खल्वतीतमनागतं चेति।

खाने वाला मोटा रहे—यह सन्देहात्मक असंगति है, जिसे दूर करने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण से जान लेते हैं कि वह रात्रि में खाता है। अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत नहीं आ सकता क्योंकि अनुमान में सन्देह को स्थान नहीं है। इस दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। 'आकाश में चन्द्रमा नहीं है।' ऐसी स्थिति में चन्द्र के अभाव का ज्ञान केवल अनुपलब्धि प्रमाण से सम्भव होता है।

वेदान्त दर्शन में श्रुति (उपनिषद्) प्रत्यक्ष है और स्मृतियाँ—भगवद्गीता महाभारत, और मनुस्मृति अनुमान हैं। जैसे अनुमान प्रत्यक्ष पर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार स्मृति श्रुति पर अवलम्बित होती है। वेदान्त सूत्र के रचयिता बादरायण केवल इन्हीं दो प्रमाणों को मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और उससे सम्बद्ध तत्त्वों को तर्क के द्वारा जाना जा सकता है, परब्रह्म को शास्त्रों से जान सकते हैं।

शंकर ने प्रमाण के द्वारा ज्ञातव्य सत्ता के तीन रूप बतलाये हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। इनका प्रकाशन आत्मा के माध्यम से होता है। आत्मा प्रकाशक है। वह अन्तःकरण को ज्ञान प्राप्त करने की जो शक्ति प्रदान करता है, उससे अन्तःकरण वस्तुओं को प्रकाशित करने लगता है। इसी अन्तःकरण के माध्यम से आत्मा को ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में अन्तः-करण में जो विकार होता है, उसका नाम वृत्ति है। वृत्तियाँ चार प्रकार की हैं—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। अन्तःकरण की इन वृत्तियों के सम्बन्ध में क्रमशः चार संज्ञायें होती हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तः-करण भिन्न होता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण की कार्यशीलता या बोध की मर्यादा उस व्यक्ति के पूर्वजन्मों के कर्मों के अनुरूप मर्यादित होती है।

शंकर के अनुसार अन्तःकरण की सहायता से जो कुछ ज्ञान आत्मा प्राप्त करता है, वह अविद्या है। केवल आत्मा के चिन्मय रूप का ज्ञान ही विद्या है। शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं का विवेचन करते हुए आत्मा की पारमार्थिक और उसके अतिरिक्त जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानी है। व्यावहारिक सत्ता की प्रतीति अध्यास के कारण होती है। किसी वस्तु को उस वस्तु से भिन्न जानना अध्यास है।[1] अध्यास के कारण आत्मा का कर्त्ता और भोक्ता रूप प्रतीत होता है। अध्यास की ओर प्रवृत्ति का होना अविद्या है। इनके अतिरिक्त प्रातिभासिक

---

१. अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः।

सत्ता है जो भ्रान्ति के कारण होती है, जैसे रस्सी में साँप की प्रतीति। भ्रान्ति के दूर होते ही प्रातिभासिक सत्ता मिट जाती है। स्वप्न-जगत् की सत्ता प्रातिभासिक है।

तर्क-विद्या अविद्या ही है। वह ब्रह्म के सत्-स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकती। ब्रह्म को अनुभव से ही जाना जा सकता है। अविद्या के कारण ब्रह्म जगत्-रूप में दिखाई पड़ता है। तर्क-विद्या ब्रह्म के व्यावहारिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कराने के नाते न तो सत् ही है और न असत् और न दोनों ही। शंकर के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है।

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्रमेय हैं।[1] प्रमेयों में आत्मा और अपवर्ग प्रमुख हैं। इन्हीं का विवेचन प्रधान रूप से अभीष्ट है।

प्रमेय

वैशेषिक दर्शन के प्रमेय पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि हैं।[2] इनमें से द्रव्य कोटि में पंच भूत, काल, दिक्, आत्मा और मन हैं। काल और दिक् वैशेषिक के अपने निजी प्रमेय हैं। वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या १७ है।[3] वैशेषिक का कर्म है उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। अनेक व्यक्तियों में सामान्य रूप से प्राप्तव्य तत्त्व सामान्य है, जैसे मानवों में मानवता। विशेष के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है।[4] अवयव और अवयवी, गुण और गुणी आदि के सम्बन्ध का नाम समवाय है। वैशेषिक दर्शन की प्रवृत्तियाँ प्रायः न्याय दर्शन के समान हैं।

---

१. इन प्रमेयों में अर्थ, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव और फल—इस प्रसंग में साधारणतः बोधगम्य नहीं हैं। पृथिवी, जल आदि पाँच भूतों के गुण गन्ध, रस आदि हैं। इन गुणों को अर्थ कहते हैं। आत्मा को जो एक बार एक ही ज्ञान कराता है, वह मन है। वाक्, बुद्धि और शरीर के व्यापार प्रवृत्ति हैं। प्रवृत्ति उत्पन्न कराने वाले दोष हैं। मरने के पश्चात् पुनः जन्म लेना प्रेत्य-भाव है। प्रवृत्ति के दोष से उत्पन्न सुख और दुःख आदि उपभोग फल हैं।

२. परवर्ती युग में अभाव अभिनव पदार्थ जोड़ा गया।

३. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

४. इसी विशेष नामक पदार्थ के कारण इस दर्शन को वैशेषिक कहते हैं। अन्य दर्शनों में विशेष को स्थान नहीं मिला।

सांख्य दर्शन के प्रमेय पुरुष और प्रकृति हैं। इनमें से पुरुष निर्विकार है। प्रकृति का विकास नीचे लिखी तालिका में अंकित क्रम से होता है :—
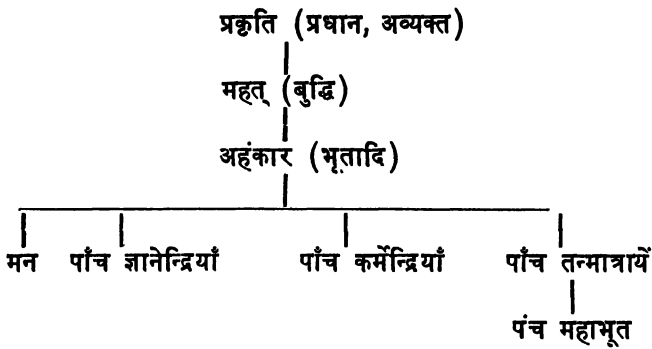
सांख्य में पुरुष के साथ प्रकृति के इन सभी विकासों को लेकर २५ तत्त्व होते हैं। मुक्ति पाने के लिए इन २५ तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित है। योग दर्शन के प्रमेय सांख्य दर्शन के समान ही हैं।

पूर्व-मीमांसा दर्शन के आठ प्रमेय हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें से परतन्त्रता न्याय दर्शन के समवाय के समकक्ष है। द्रव्य, गुण, सामान्य और कर्म के कारण बनकर कार्य उत्पन्न करने की क्षमता का नाम शक्ति है। सादृश्य का आश्रय गुण है। परवर्ती-युगीन मीमांसक कुमारिल ने द्रव्यों के भेदों में न्याय के ९ भेदों के अतिरिक्त तमस् और शब्द की गणना की है।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में पदार्थ के भेद द्रव्य और अद्रव्य हैं। इनमें से द्रव्य का क्रमिक विकास और भेदोपभेद आगे दी हुई तालिका के अनुसार है :—
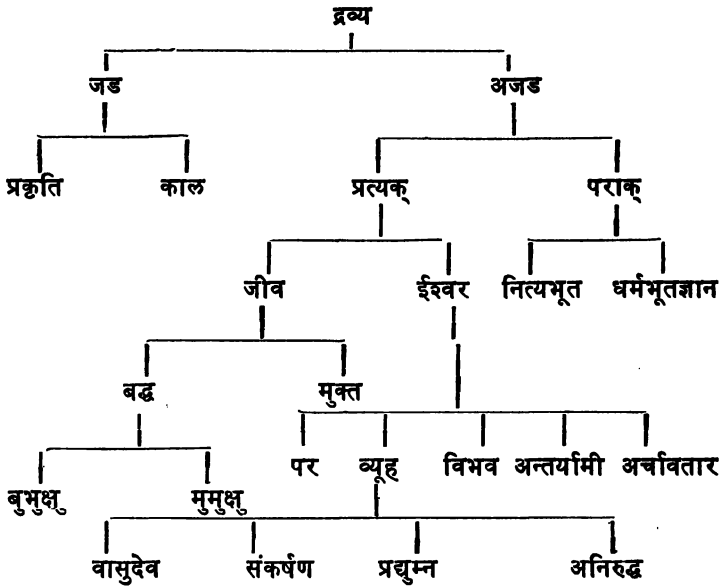
अद्रव्य पदार्थ दस हैं—सत्, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

इस दर्शन की प्रकृति का स्वरूप सांख्य दर्शन की प्रकृति के प्रायः समान है। इसके अनुसार प्रकृति जीवों का आश्रय है। अजड द्रव्य स्वयं प्रकाश हैं। इनमें से नित्य विभूति में मुक्त जीव, ईश्वर आदि की स्थिति होती है। इसी के द्वारा स्वर्ग आदि लोकों की रचना होती है। ऊपर की ओर इसका अनन्त विस्तार है। इसके नीचे प्रकृति होती है, जिसके द्वारा पृथिवी लोक का सब कुछ बना है। धर्मभूत-ज्ञान जीव और ईश्वर का होता है। ईश्वर के व्यूह नामक विकास से अवतार-कोटि की लोकोपकारिणी सत्ताओं का विकास होता है।

न्याय दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को अनुमान द्वारा सिद्ध किया गया है और वैदिक साहित्य के उल्लेखों से उसकी पुष्टि की गई है। कुछ नैयायिक आत्मा को

आत्मा, पुरुष, जीव आदि

प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध मानते हैं। 'मैं' की भावना जिसके सम्बन्ध में होती है, वह आत्मा है। साधारणतः किसी वस्तु को जानने की इच्छा होती है और वह वस्तु जानी जाती है। ऐसी स्थिति में जानने की इच्छा और ज्ञान जिससे होता है, वह आत्मा है। वही आत्मा हमारे जीवन के सारे उपक्रमों की सतत परम्परा का संयोजक है।

स्वभाववादियों का सिद्धान्त है कि शरीर हमारे ज्ञान का अधिष्ठाता है। इस कथन का निराकरण न्याय में एक पद में ही कर दिया गया है कि यदि शरीर में ज्ञान होता है तो मरने के पश्चात् शरीर तो रहता ही है। उसमें ज्ञान कहाँ है?

आत्मा की इन्द्रियों से भिन्नता स्पष्ट है। आत्मा इन्द्रियों का नियामक है और इन्द्रियों के ज्ञानों का विवेचन करता है। यदि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न नहीं होता तो यह ज्ञान कैसे होता कि मैं जो वस्तु देख रहा हूँ, उसके विषय में सुन भी चुका हूँ आँख फूट जाने पर भी वह ज्ञान आत्मा को ही रहता है कि मैंने यह देखा था।

आत्मा मन से भिन्न है। मन के द्वारा आत्मा मनन करता है। शरीर, मन और इन्द्रिय की उपरति होने पर भी आत्मा रहता है। मन आत्मा को ज्ञान कराता है।

आत्मा निरवयव (एक-पूर्ण) और सनातन है, अनादि और अनन्त है। जिसका आदि होता है, उसका अन्त भी होता है। आत्मा का आकार सीमा के प्रतिबन्ध से परे है। ससीम तो अवयवों से बना होता है और वह नश्वर होता है। आत्मा का अणु-रूप नहीं हो सकता क्योंकि अणु-रूप आत्मा को गुण, बुद्धि, इच्छा आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। अणु-रूप आत्मा को पूरे शरीर के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति भी सम्भव नहीं होती। वह असीम आत्मा सर्वव्यापी है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी आत्मा है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूतियाँ होती हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-दुःख का स्वयं अनुभव करता है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो मन को मार कर बैठा रहे। उसे कोई अनुभूति होगी ही नहीं। किसी व्यक्ति के आत्मा को तभी तक ज्ञान या अनुभूति रहती है, जब तक वह व्यक्ति जागरित अवस्था में हो और उसका मन आत्मा के सम्पर्क में हो।

आत्मा का शरीर से अमिट सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति कर्म करता है। शरीर कर्म का माध्यम है। शरीर के माध्यम से आत्मा को उस कर्म के परिणाम-स्वरूप सुख-दुःख भोगना पड़ता है। शरीर की रूप-रेखा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए समीचीन माध्यम होता है। किसी व्यक्ति का शरीर उसके माता-पिता के कर्मों तथा उस व्यक्ति के पूर्व जन्म के कर्मों के अनुरूप बनता है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो जाना जन्म है और इसी सम्बन्ध का टूट जाना मृत्यु है।

न्याय दर्शन के आत्मा के समकक्ष सांख्य और योग दर्शन का पुरुष है, यद्यपि आत्मा और पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं। सांख्य का पुरुष न तो प्रकृति है और न

विकृति।[1] पुरुष का अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध किया गया है। वह भोग्य वस्तुओं का भोक्ता है। प्रकृति के विकास में भोग्य वस्तुओं का समुच्चय है। यह समुच्चय पुरुष के लिए है। भोक्ता पुरुष को भोग्य प्रकृति से गुणतः भिन्न होना चाहिए। प्रकृति उसी के लिए भोग्य होगी, जिसमें प्रकृति के तीन गुणों का अभाव हो। प्रकृति का अधिष्ठाता होना ही चाहिए। प्रकृति में स्वयं चेतना नहीं है। अतः वह स्वयं अधिष्ठात्री नहीं हो सकती। प्रकृति सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं कर सकती। यह पुरुष ही कर सकता है। प्रकृति के पाश से मुक्त होने का प्रयत्न प्रकृति से भिन्न पुरुष ही कर सकता है।

पुरुष प्रकृति के सभी तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि प्रकृति के तत्त्वों में चेतनता नहीं हो सकती और पुरुष का प्रधान धर्म चेतनता है। पुरुष की चेतनता प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि, मन और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करती है। पुरुष सदैव प्रकाश-स्वरूप है। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। पुरुष से प्रकाश पाकर ही प्रकृति अपना विकास करने के लिए सशक्त होती है। पुरुष का आकार सीमाबद्ध नहीं है। वह स्वयं कुछ नहीं करता। पुरुष की संख्या अनियत है। प्रत्येक शरीर में सुख-दुःख की भिन्न-भिन्न भावनायें पुरुष-बहुत्व की ओर संकेत करती हैं। यदि पुरुष एक होता तो सभी लोग एक साथ ही मुक्त या बद्ध होते।

प्रकृति-पाश में आबद्ध पुरुष का नाम जीव है। जीव का आभास बुद्धि में होता है। बुद्धिगत जीव का शरीर अहंकार है। अहंकार के साथ दस इन्द्रियाँ और मन सम्बद्ध होते हैं। जीव के अपने कर्मगत संस्कार और अविद्या भी होती है। जीव के साथ भौतिक शरीर का सम्बन्ध केवल जीवन भर रहता है। मरने के पश्चात् जीव का साथी केवल लिंग-शरीर होता है।[2] लिंग-शरीर के साथ जीव का पुनर्जन्म होता है। तभी उसे पुनः भौतिक शरीर की प्राप्ति हो जाती है। लिंग-शरीर में प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस् की सत्ता रहती है। तमः प्रधान होने पर पशु कोटि में और रजस् प्रधान होने पर मानव-कोटि में जीव जन्म लेता है। लिंग-शरीर में सत्त्व गुण की प्रधानता होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। रजस् और तमस् से आबद्ध पुरुष अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और तभी तक वह जन्म-मरण के पाश में आबद्ध रहता है।

---

१. जिससे कुछ उद्भव होता है, वह प्रकृति है। जिसका किसी से उद्भव होता है, वह विकृति है।

२. लिंग-शरीर में बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां, पांच तन्मात्राएँ तथा मूल रूप में पंचभूतों के बीज रहते हैं।

मीमांसा दर्शन में आत्मा की सत्ता शब्द प्रमाण से सिद्ध मानी गई है। वेद के अनुसार मरने के पश्चात् पुण्य कर्मों का फल मिलता है। यह शरीर मरते ही नष्ट हो जाता है। जिस किसी को यह फल मिलता है, वह आत्मा है। परवर्ती युग में ज्ञान प्राप्त करने वाले को आत्मा माना गया। आत्मा जिस शरीर से सम्बद्ध होता है, उसका अध्यक्ष बन कर संचालन करता है। आत्मा की शक्ति से ही शरीर को शक्ति मिलती है। आत्मा प्रत्येक शरीर के साथ भिन्न-भिन्न होता है। अहं का ज्ञान आत्मा के माध्यम से होता है। आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है।

वेदान्त दर्शन के आचार्य शंकर ने आत्मा को चित् रूप माना। शंकर के अनुसार आत्मा सदैव प्रकाशमान है। न्याय दर्शन में आत्मा को बुद्धि (चित्) का अधिकरण माना गया था, पर अद्वैत वेदान्त में आत्मा बुद्धि का अधिकरण नहीं, अपितु बुद्धि ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा चित् स्वभाव है अथवा आत्मा चैतन्य है। आत्मा का दूसरा स्वभाव आनन्द है। आत्मा की कोई प्रवृत्ति नहीं है। वह कुछ नहीं करता, पर आत्मा के बिना कोई कर्म नहीं होता। आत्मा का जो स्वरूप कार्यपर प्रतीत होता है, वह 'अहम्' है। 'अहम्' का भाव आत्मा के शरीरी बनने पर होता है। आत्मा एक, विश्वात्मक और असीम है। आत्मा स्वयंसिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। आत्मा प्रमाण आदि व्यवहारों का आश्रय होने के कारण इन व्यवहारों से पहले ही सिद्ध होता है।

शांकर वेदान्त का आत्मा अज्ञान की उपाधि होने पर जीव बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि शक्तियाँ वर्त्तमान होती हैं। इस प्रकार जीव स्थूल शरीर से समायुक्त होता है और उसके १७ तत्त्व होते हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि।

जीव शरीर के द्वारा किये हुए कर्मों से आबद्ध होता है। तत्त्वतः आत्मा होने के नाते जीव विभु है, अणु नहीं। प्रत्येक जीव में साक्षी आत्मा भी होता है। अन्तःकरण की उपाधि से उपहित होने पर उसे साक्षी कहते हैं। अन्तःकरण जीव का अंग है। यही साक्षी और जीव का अन्तर है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर जीव को उसके पूर्व कर्मों के अनुसार नये कर्मों में प्रवृत्त करता है। कर्मों का फल देने का विधान ईश्वरीय है। ईश्वर कर्माध्यक्ष है। जीव की दो कोटियाँ—बद्ध और मुक्त होती हैं। बद्ध कोटि का जीव या तो भोग-विलास में प्रवृत्त होकर मरने के पश्चात् जन्म-बन्धन में पड़ जाता है, अन्यथा वह मुक्त होने की इच्छा से तप और तत्त्व-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होकर मुमुक्षु बन जाता है। जीव और ईश्वर दोनों अजड से विकसित होते हैं।

वात्स्यायन के अनुसार मन की गणना इन्द्रियों में होनी चाहिये, यद्यपि अन्य इन्द्रियों से इसमें कुछ विशेषतायें हैं। अन्य इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से बनी हैं। उनका ज्ञान-क्षेत्र सीमित है। मन भौतिक तत्त्वों से नहीं बना है। मन की ज्ञान-परिधि के भीतर सभी विषय आते हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक अकेला मन सम्बद्ध होता है।

मन

मन का स्वरूप अणु मात्र है। अणुता के फल-स्वरूप वह एक समय में एक इन्द्रिय के सम्पर्क में आ सकता है। मन की गति अतिशय तीव्र है। यही कारण है कि यद्यपि मन एक समय में एक ही ज्ञान कराता है, पर अनेक ज्ञानों की परम्परा को इतने कम समय में उत्तरोत्तर आत्मा का विषय बना देता है कि प्रतीत होता है कि एक समय में मन अनेक ज्ञानों को प्राप्त कराता है।

आरम्भ में न्याय दर्शन ईश्वर के सम्बन्ध में मौन था। न्याय-सूत्र के प्रमेयों में ईश्वर का नाम नहीं है। प्रमेयों में आत्मा का नाम है। उस आत्मा में ईश्वर का सर्वथा आभास नहीं मिलता। परवर्तीयुगीन न्याय में ईश्वर की चर्चा है। इसके अनुसार ईश्वर का संसार से सम्बन्ध है। ईश्वर जगत् का रचयिता है। आरम्भिक आत्मा के ही आगे चलकर दो रूप माने गये—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा आरम्भिक आत्मा से अतिशय और जीवात्मा उससे न्यून माने गये। जीवात्मा और परमात्मा दोनों में विभुत्व, ज्ञानाश्रयत्व आदि गुण समान हैं। जीवात्मा का ज्ञान सीमित है और परमात्मा सर्वज्ञ है। दोनों ही नित्य हैं। परमात्मा में द्वेष नहीं है, पर इच्छा है। यह इच्छा अशुभ नहीं होती। जीवात्मा द्वेष और अशुभ इच्छा का अधिष्ठान है। जीवात्माओं की संख्या असीम है।

परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर

नैयायिकों को सृष्टि की प्रक्रिया की व्याख्या ढूंढ़ने में ईश्वर का दर्शन हुआ। आरम्भ में वे मानते थे कि आत्मा को उसका अदृष्ट (पुण्य और पाप के संस्कार) शरीर-बन्ध में बाँधने का कारण बनता है। परवर्तीयुग में अदृष्ट की स्वयं-प्रवृत्ति को सन्दिग्ध माना जाने लगा और कहा गया कि इस अदृष्ट में प्रवर्त्तन की शक्ति कहीं बाहर से आई है। ऐसी स्थिति में न्याय दर्शन के अनुसार अदृष्ट में प्रवर्त्तन का व्यापार ईश्वर के द्वारा नियोजित माना गया। ईश्वर की प्रतिष्ठा अदृष्ट के अध्यक्ष-रूप में हुई और उसे कर्मफल-प्रद कहा गया। यही ईश्वर चिन्मय है।

ईश्वर की अन्य विशेषताओं का दर्शन शीघ्र हो गया। उसके सत्, चित् और आनन्द रूप की प्रतिष्ठा हुई। धर्म और ज्ञान को ईश्वर की सम्पत्ति या विशेष गुण माना गया और उसे अधर्म, अज्ञान और प्रमाद से रहित बताया गया। न्याय के अनुसार ईश्वर अपनी सृष्टि के सम्बन्ध में सतर्क और सचेष्ट है, जैसें कोई

पिता अपनी सन्तान के विषय में होता है। ईश्वर में पूर्ण चिन्मयता और आनन्द के साथ इच्छा का आरोप स्वाभाविक ही था। वास्तव में ईश्वर की सभी इच्छाओं का पूर्ण होना और उसका आप्तकाम होना आदर्श सत्य के रूप में नियत हुआ।

वैशेषिक दर्शन में आरम्भ में ईश्वर की चर्चा नहीं मिलती। विश्व की रचना में ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना गया। परवर्ती युग में ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मान लिया गया और उसे सृष्टि की प्रक्रिया के संयोजक रूप में प्रतिष्ठा मिली, क्योंकि न तो वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं में और न आत्मा में अपने-आप रचना करने की शक्ति थी।

सांख्य दर्शन में मूलतः ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। सांख्य का पुरुष न्याय के आत्मा के प्रायः समकक्ष है, पर परमात्मा के तत्त्व उसमें वर्त्तमान नहीं हैं। ऋग्वेद का पुरुष वेदान्त के ब्रह्म के समकक्ष था। उसका कोई विशेष सम्बन्ध सांख्य के पुरुष से नहीं है। इस प्रकार सांख्य का पुरुष ईश्वर नहीं है। केवल इतने से ही कहा जा सकता है कि आरम्भिक सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है, यद्यपि यह दर्शन ईश्वर के विषय में मौन है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र में 'ईश्वरासिद्धेः' के आधार पर कुछ विद्वान् प्रमाणित करना चाहते हैं कि इस दर्शन में ईश्वर की मान्यता है, पर उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि सांख्य ईश्वर को मानता तो उसकी सत्ता का विवेचन करता, अपने प्रमेयों में उसे स्थान देता अथवा पुरुष और प्रकृति से उसका सम्बन्ध स्थापित करता ।

परवर्तीयुगीन सांख्याचार्यों ने ईश्वर को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार ईश्वर 'पुरुष' का नियोजक है। वह 'पुरुष' और 'प्रकृति' के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। ईश्वर को मान लेने पर इस दर्शन की प्रकृति की विकासमयी प्रवृत्ति का प्रवर्तक ईश्वर-रूप में मिल जाता है, अन्यथा मूलतः सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों के निष्क्रिय होने पर यह प्रश्न रह जाता था कि प्रकृति की विकास-परम्परा को कौन नियोजित करता है। उपर्युक्त विचार-धारा ईश्वर-सांख्य और योग-दर्शन में अपनायी गई।

योग दर्शन में ईश्वर के प्रणिधान द्वारा समाधि प्राप्त करने की योजना मिलती है। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह अचेतन प्रकृति को विकास की ओर प्रवर्तित करता है। वह सदैव देखता रहता है कि प्रकृति का विकास इस प्रकार हो कि पुरुष की प्रगति में वह सहायक हो। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। वह संसार पर अनुग्रह करते हुए सन्मार्ग दिखाने के लिए आचार्यत्व अवश्य ही करता है। उसी की वाणी वेद में संगृहीत है। ईश्वर अनादि-काल से अनन्त काल तक प्रकृति के विकास की अध्यक्षता करता रहा है और करता रहेगा। मुक्ति पाने वाले पुरुषों का प्रकृति

से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता. पर ईश्वर का प्रकृति से यह शाश्वत सम्बन्ध है। ईश्वर सदैव सत्त्व गुण से समापन्न होकर अपने कार्य करता है। 'ओ३म्' उस ईश्वर का प्रतीक है।

योग दर्शन में शनैः शनैः ईश्वर की प्रतिष्ठा बढ़ी और उसे पुरुष के अधिक निकट लाया गया। परवर्तीयुगीन योग दर्शन में ईश्वर को तत्त्वतः पुरुष से अभिन्न बनाने का प्रयास मिलता है। इस प्रकार पुरुष के प्रकृति के पाश से मुक्त होने पर ईश्वर के साथ तादात्म्य की मान्यता हुई।

प्रारम्भिक मीमांसा में ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। कुमारिल ने सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर नहीं है, और सृष्टि की रचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कहे कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अधीन संचरणशील हैं तो उससे प्रश्न पूछा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा कैसे उत्पन्न होती है?

परवर्तीयुग में मीमांसा दर्शन में भी ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई। आपदेव और लौगाक्षिभास्कर के नाम इस खोज के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ईश्वर के लिए यज्ञ का विधान किया। अन्तिम युग में सेश्वर-सांख्य की भाँति सेश्वर-मीमांसा सम्भव हुई।

वेदान्त-सूत्र में ब्रह्म को जगत् का आदिकारण माना गया। हृदय के भीतर रहने वाला विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डल के भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष ब्रह्म है। आकाश ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है। आत्मा की ज्योति ब्रह्म ही है।

शांकर वेदान्त अनुभव को आध्यात्मिक सत्ता के ज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। इसके अनुसार ब्रह्म के विषय में साधारणतः कुछ भी निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो शब्द वर्णन के माध्यम हैं, वे व्यावहारिक सत्ता वाले जगत् के लिए ही पर्याप्त हैं। मानव-वाणी में स्वभावतः वह शक्ति नहीं हो सकती, जिसके द्वारा वह दृश्य जगत् से बाह्य तत्त्वों का पर्यालोचन कर सके, क्योंकि जो शब्द हम बनाते हैं, वे हमारे दृश्य जगत् की वस्तुओं की संज्ञामात्र होते हैं। ब्रह्म विषयक जो अनुभव किया जाता है, उसके वर्णन के लिए शब्द हमारे कोश में नहीं होते। दृश्य जगत् की किसी भी वस्तु से ब्रह्म की उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की समानता या असमानता नहीं है। शंकर ने उस ब्रह्म का एक विशेषण अवश्य बताया है और वह है अद्वैत। जिस प्रकार दृश्यमान जगत् की वर्णना के लिए भाषा होती है, वैसी ब्रह्मानुभव की वर्णना के लिए नहीं हो सकती। यदि ब्रह्मानुभव करने वाले कोई भाषा बनायें तो केवल वे ही उसे समझ सकते हैं। उन्होंने जो भाषा बनायी है, उसके कुछ शब्द सत्, चित्

और आनन्द हैं, पर इन शब्दों का जो अर्थ हम समझते हैं, उससे प्राय: भिन्न अर्थों में ब्रह्मानुभवी इनका प्रयोग करते हैं।

शांकर वेदान्त का ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। उसकी सत्ता न तो स्वयंसिद्ध है और न तर्कों के सहारे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। श्रुति के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् है। वह सारे जगत् के आत्मा का एक प्रतिनिधि है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता है।[1] यह नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि और विलयन का कारण है। ईश्वर अन्तर्यामी है। वह स्वयं असम्भव है अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। वह कार्य नहीं है और ऐसी स्थिति में ईश्वर का कोई कारण नहीं है। ईश्वर व्यक्तिगत आत्माओं का समाहार है। आत्मा सशरीर होने पर जीव या देही है। सभी जीवों का समाहार विराज् या वैश्वानर है। लिंग-शरीर से समन्वित आत्मा लिंगी या तैजस है। इनका समाहार हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा है। कारण-शरीर से समन्वित आत्मा प्राज्ञ है और प्राज्ञों का समाहार ईश्वर है।

ईश्वर का सम्बन्ध माया से है। माया ही जगत् है। जगत् ब्रह्म से तत्वत: भिन्न नहीं है। ब्रह्म जगत् का आधार है, फिर भी ब्रह्म और जगत् एक ही नहीं हैं। ब्रह्म तत्व है और जगत् प्रतिभास है। जगत् माया है, क्योंकि वह ब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप नहीं है। ब्रह्म का जगत् से जो सम्बन्ध है, उसे शंकर ने अनिर्वचनीय कहा है। जगत् ब्रह्म से अव्यतिरिक्त और अनन्य नहीं है। विवर्त के द्वारा ब्रह्म जगत्-रूप में दिखाई देता है, जैसे रस्सी सर्प-रूप दृष्टिगोचर होती है। जगत् का अधिष्ठान वैसे ही ब्रह्म है, जैसे मायात्मक सर्प का अधिष्ठान रस्सी है।

माया से उपहित ब्रह्म का नाम ईश्वर है। माया ईश्वर की शक्ति है। यह शक्ति ब्रह्म के तात्त्विक रूप को छिपा देती है। इसीलिए इसे अविद्या कहते हैं।

ईश्वर और जीव में थोड़ा ही अन्तर है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्व-व्यापी है, पर जीव अल्पज्ञ और अशक्त है। निरतिशयोपाधि से उपहित ईश्वर निहीनोपाधि से उपहित जीवों का अध्यक्ष है। ईश्वर में अविद्या नहीं है। ईश्वर की माया उसके अधीन रह कर सृष्टि की रचना और प्रलय में योग देती है। माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या से उपहित होने पर वही जीव है। ईश्वर जीव की भाँति बन्धन में नहीं होता। वह जीवों को उसके कर्मों का फल देता है। जीव अनेक हैं और ईश्वर एक।

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। शांकर-

---

१. ब्रह्मसूत्र १.१.२।

वेदान्त की भाँति रामानुज का ईश्वर कोरी माया के आधार पर ही अपना अस्तित्व नहीं बनाए हुए है, अपितु वह वास्तव में ईश्वर है—सभी ऐश्वर्य से पूर्ण तथा ज्ञान, शक्ति और करुणा से समायुक्त है। उसकी भक्ति करने से मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है। जीव-रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से जीव ईश्वर के शरीर हैं। ईश्वर की विकासावस्था में पाँच रूप होते हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, पर और अन्तर्यामी। अर्चा का रूप मन्दिरों की मूर्तियों में दृष्टिगोचर होता है। विभव और व्यूह अवतार हैं। व्यूहावतार कृष्ण से सम्बद्ध वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न आदि हैं। 'पर' रूप में ईश्वर भगवान्-स्वरूप है और लक्ष्मी उसकी पत्नी है। अन्तर्यामी सबके अन्तः में विराजमान है।

मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण

न्याय दर्शन के अनुसार मुक्ति दुःख का अत्यन्ताभाव है। दुःख के लिए शरीर अपेक्षित है। संसार में आत्मा को तभी तक जन्म-बन्ध में बँधना पड़ता है, जब तक उसे कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर का माध्यम आवश्यक होता है। ज्यों ही ऐसे कर्मों की परम्परा की इतिश्री हो जाती है, पुनर्जन्म नहीं होता। यही मुक्ति की अवस्था है। मुक्तावस्था में आत्मा को किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता, क्योंकि इन अनुभवों के लिए इन्द्रियों और मन का आत्मा के साथ सहयोग अपेक्षित होता है। जो कुछ सांसारिक है, वह मुक्तात्मा के लिए नहीं रह जाता। उस आत्मा का आनन्द आध्यात्मिक होता है।[1] संसारी आत्मा का सुख आधिभौतिक है और न्याय दर्शन के अनुसार सुख-दुःख में अन्तर थोड़ा ही है।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा गंगा की धारा की भाँति है। शरीर के सम्पर्क से यदि इस धारा में कहीं तत्सम्बन्धी कल्मष प्रकट हुआ तो अनादि-अनन्त-काल और निर्मर्याद विश्व में उसकी गणना ही क्या है? कल्मष का पनाला रुका कि धारा की उज्ज्वलता प्रतिष्ठित हुई।

न्याय के अनुसार मुक्ति पाने के लिए प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान—इन सोलह विषयों का तत्त्वज्ञान होना चाहिए।[2] तत्त्वज्ञान होने

---

१. इस अवस्था का वर्णन न्याय-भाष्य में इन शब्दों में मिलता है—तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिः॥१.१.२२। भागवत ५.१.१६ के अनुसार मुक्ति के पश्चात् भी पुनर्जन्म की सम्भावना है।

२. प्रमाण और प्रमेय की चर्चा पहले की जा चुकी है। संशय किसी विषय के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक ज्ञान है। प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय

पर पहले मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के मिटते ही रागद्वेष-रूपी दोष मिट जाते हैं। इनके जाते ही धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति नहीं रह जाती और तब जन्म नहीं होता है। ऐसी स्थिति में दुःख मिट जाते हैं। दुःखों का अत्यन्ताभाव ही अपवर्ग या मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए न्याय दर्शन की भाँति तत्त्वज्ञान अपेक्षित है। इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान होते ही निःश्रेयस (मोक्ष) मिल जाता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी बन्धनों से विमुक्त अपने शुद्ध रूप में आकाश की भाँति निर्मल होता है। उस स्थिति में आत्मा का आनन्द आध्यात्मिक कोटि का होता है।

सांख्य के अनुसार पुरुष वास्तव में न तो बन्धन में पड़ता है और न उसका मोक्ष होता है। स्वयं प्रकृति पुरुष के लिए बन्धन बनाती है और विशेष परिस्थितियों में उसे छोड़ देती है। बन्धन की स्थिति में पुरुष और प्रकृति का परस्पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। मोक्षावस्था में प्रत्येक पुरुष का, प्रकृति के पाश से विनिर्मुक्त होने पर, स्वतन्त्र और शाश्वत स्वरूप होता है। अपने जीवन-काल में जिस व्यक्ति को तत्त्वज्ञान होता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त को प्रारब्ध कर्मों का फल भोगने के लिए सशरीर होना अपेक्षित होता है। मरने पर जीवन्मुक्त विदेह-कैवल्य (पूर्ण मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। इन्हीं जीवन्मुक्तों से मोक्ष-मार्ग सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की जा सकती है।

योग-पद्धति में सम्यग्दर्शन के द्वारा पुरुष के लिए प्रकृति के पाश से मुक्ति पाने की योजना मिलती है। मुक्ति के लिए पुरुष को प्रकृति का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वास्तव में पुरुष को प्रकृति के चित्त-तत्त्व से छुटकारा पाना है। चित्त से छुटकारा पाने के लिए अष्टांगिक योग की प्रतिष्ठा की गई। योग की परिभाषा है—चित्त-वृत्तियों का निरोध। चित्त के माध्यम से पुरुष पर संसार का

और वाद नामतः अर्थ देते हैं। अवयव न्याय-वाक्य के पाँच अंग हैं। जल्प व्यर्थ का विवाद है। छल, जाति और निग्रह-स्थान के द्वारा प्रतिपक्ष पर अनुचित विजय पाई जाती है। जिस जल्प में अपने मत की स्थापना न करके केवल विरोधी पक्ष का खण्डन किया जाय, वह वितण्डा है। हेत्वाभास में अनुमान का हेतु आभासमात्र होता है, वास्तविक नहीं। छल में वास्तविक अर्थ के स्थान पर मनमाना अर्थ लगाया जाता है। अस्थिर तर्क का नाम जाति है। तर्क करते हुए जिन परिस्थितियों में पराजय मान ली जाती है, वे निग्रह-स्थान हैं।

प्रभाव पड़ता है। यदि योग के द्वारा चित्त को अपने काम से विरत कर दिया जाय तो पुरुष के लिए संसार का अस्तित्व नहीं रह जाता।

योग की मुक्ति का नाम कैवल्य है। कैवल्य के द्वारा पुरुष वह अमर स्वरूप प्राप्त करता है, जिसमें वह प्रकृति के पाश से मुक्त होता है। अविद्या पुरुष को बन्धन में डालती है। अविद्या ही चित्त और इन्द्रियों का अधिष्ठान है। विवेक-ख्याति (सम्यग्ज्ञान) के प्रकाश से अविद्या का अन्धकार दूर होता है। विवेक-ख्याति होने पर अनायास ही शरीर और चित्त से पुरुष की मुक्ति हो जाती है।

समाधि की अवस्था में पहुँचा हुआ योगी अपने कर्मों का क्षय करना आरम्भ करता है। जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक शरीर के माध्यम से उनका फल पाने के लिए लौकिक जीवन बिताना पड़ता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—प्रारब्ध, संचित और आगामी। भूतकाल के कर्म, जिन्होंने फल देना आरम्भ कर दिया है, प्रारब्ध हैं और जिनके फल किसी भावी जीवन में मिलेंगे, वे संचित कर्म हैं। वर्त्तमान काल के वे कर्म, जिनका फल इस जीवन में या भावी जीवन में भोगना है, आगामी कर्म हैं। ईश्वर की भक्ति और समाज-सेवा से आगामी कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है। प्रारब्ध कर्मों का फल सरलता से यथासमय प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं आती। भावी जीवन में फल देने वाले कर्मों का फल भोगने के लिए योगी को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उसकी मुक्ति के मार्ग में कर्म का बन्धन नहीं रह जाता।

मीमांसा दर्शन में प्रारम्भ में मोक्ष की कल्पना स्पष्ट नहीं थी, जैमिनि और शबर ने यज्ञों के द्वारा स्वर्ग-लोक पाने की योजना प्रस्तुत की है। परवर्ती युग के आचार्य प्रभाकर ने अन्य दर्शनों के समकक्ष मीमांसा को लाने के लिए धर्माधर्म से विरहित आत्मा की मोक्ष-गति का अनुसन्धान किया। प्रभाकर के अनुसार धर्माधर्म से वशीकृत होकर जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेता है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार मोक्ष पाने के लिए याज्ञिक कर्मों को छोड़ना चाहिए। फिर शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा आत्मज्ञान को विकसित करना एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति का साधन रहा। इस दर्शन में मोक्षावस्था को आत्मा के लिए आनन्द की स्थिति नहीं माना गया। यह निर्द्वन्द्व की अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने शुद्ध रूप में वर्त्तमान रहता है।

वेदान्तसूत्र के अनुसार ब्रह्म में निष्ठ व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है।[1] शंकर ने मोक्ष की जो कल्पना की है, वह बौद्धों के निर्वाण से प्रायः मिलती-जुलती है।

---

१. वेदान्तसूत्र १.१.७।

शंकर ने जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति की व्याख्या की। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीवन-काल में जीवन्मुक्ति होती है। विदेह-मुक्ति मरने के पश्चात् सम्भव होती है। मुक्त हो जाने पर जगत् को व्यावहारिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि अमुक्तात्माओं की ही होती है। जीवन्मुक्त की दृष्टि पारमार्थिक होती है। शंकर के अनुसार मोक्ष की स्थिति में आत्मा पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश की भाँति सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्य-तृप्त, निरवयव और स्वयं ज्योतिस्स्वभाव होता है। इस अवस्था में आत्मा में धर्म, अधर्म, कार्य तथा कालत्रय की विशेषता नहीं रहती। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अविद्या से मुक्त होकर अपनी विशुद्ध अवस्था में होता है।

जीवन्मुक्त पुरुष को सब कुछ ब्रह्मरूप दिखाई देता है। मुक्त आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मुक्तात्मा का वर्णन असम्भव है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में भक्ति को मुक्ति का प्रधान साधन माना गया। भक्ति के लिए वे ही समर्थ माने गये, जिन्होंने निष्काम कर्मयोग से अपने हृदय को शुद्ध करके ज्ञान के द्वारा भगवान् के अन्तर्यामी स्वरूप को जान लिया है। भक्ति की सम्पूर्णता ही मुक्ति है। भक्ति का अन्तिम सोपान प्रपत्ति है, जिसका अभिप्राय है भगवान् में मिल जाना।

रामानुज के अनुसार मुक्ति की अवस्था में आत्मा संसार के बन्धन-मात्र से छूटता है। मुक्त होने पर उसकी अपनी निजी सत्ता बनी रहती है, वह विलीन नहीं होता। मुक्त आत्मा प्रायः ईश्वर से मिलता-जुलता है, पर ईश्वर नहीं बन जाता।[1] वह सर्वज्ञ होकर सदैव ईश्वर की अनुभूति करता है। इसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। मुक्तात्मा को स्वराट् कहते हैं क्योंकि वह कर्म के नियंत्रण की परिधि से बाहर होता है। कर्मों का क्षय कर लेने के पश्चात् शरीर-बन्धन से छुटकारा पा लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म का अन्तर केवल इतना ही है कि मुक्तात्मा अणु-रूप है और ब्रह्म सर्वव्यापक या विभु है। सृष्टि के व्यापार में मुक्तात्मा का कोई हाथ नहीं होता। सृष्टि एकमात्र ब्रह्म की कृति है।

ब्रह्मलोक में असंख्य मुक्तात्मा विद्यमान रहते हैं। मुक्तात्मा विशुद्ध सत्त्व के बने होते हैं। इसी की सहायता से वे अपने विचार और इच्छाओं को रूप देते

---

१. इसका वर्णन संस्कृत में इस प्रकार है :—

ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्।

हैं। मुक्तात्मा दो प्रकार के होते हैं—(१) भक्ति-मार्ग से मुक्ति प्राप्त करके मुक्त होने पर भी भक्ति में रत तथा (२) ध्यान और उपासना से मुक्ति प्राप्त करके ऐकान्तिक रहने वाले केवली।

न्याय दर्शन के अनुसार सभी कर्म दुःखदायी हैं। कर्मों की उत्पत्ति दोष से होती है। ईश्वर ने संसार की रचना जिस उद्देश्य से की है, वह निगूढ़ रहस्य है।

सृष्टि का रहस्य

संसार में दुःख ही दुःख तो है। फिर भी नैयायिकों के अनुसार सृष्टि की रचना में ईश्वर की दया देखने को मिलती है। संसार में एक अवसर तो मिलता है कि व्यक्ति अपने अदृष्ट का क्षय करके कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर ले। संसार के सुख-दुःख का भोग करना सर्वोच्च अभ्युदय के लिए सोपान-स्वरूप है।

प्रलय के समय आत्मा प्रवृत्ति-विहीन होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रवृत्तियाँ पुनः जागरित हो जाती हैं। इन सबके पीछे ईश्वर का कर्तृत्व है। ईश्वर के कर्तृत्व में सन्देह का अवसर स्पष्ट है। ईश्वर की सत्ता इसी आधार पर मानी गई कि सभी कार्यों का एक कर्ता होता है। जगत् भी कार्य है। इसका कर्ता भी कोई होना ही चाहिए। जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। पर उस ईश्वर का कर्त्ता कौन है? यदि कहें कि ईश्वर कार्य नहीं है तो इसका प्रमाण क्या है?

वैशेषिक दर्शन में सृष्टि और प्रलय के विवेचन में परमाणुवाद का सहारा लिया जाता है। प्रलय की कामना आदिदेव करता है। इस इच्छा का कारण उसकी दया है। वह देखता है कि संसार के जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए जीव कष्ट पाते हैं। उन्हें कुछ समय के लिए विश्रान्ति मिलनी चाहिए। ऐसा विचार आते ही प्राणियों को जन्म-मरण के चक्र में डालने वाला अदृष्ट (धर्माधर्म) अपने प्रभाव से हीन हो जाता है और जगत् की सभी वस्तुयें—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के क्रम से परमाणु रूप में विघटित होने लगती हैं। ऐसी स्थिति में प्राणियों के आत्मा अपने अदृश्य से समन्वित होकर निस्पन्द पड़े रहते हैं।

विश्रान्ति-युग का अन्त होता है, जब आदिदेव पुनः कामना करता है कि प्राणी अपने अदृष्ट का फल भोगें और मोक्ष की ओर विकास-पथ पर अग्रसर हों। बस परमाणुओं में गति आ जाती है, उनका संघटन होने लगता है। पहले वायु के सभी परमाणुओं का संघटन द्व्यणुक (दो अणुओं की एकता) रूप में होता है। फिर उसी के त्र्यणुक बनते हैं और इस परम्परा में वायु का साधारण रूप विकसित होता है। इसी प्रकार क्रमशः तेज, जल और पृथिवी का द्व्यणुक, त्र्यणुक के क्रम से विकास होते हुए साधारण रूप बन जाता है। फिर उसी देव के अभिध्यान-मात्र से अग्नि और पृथ्वी के परमाणुओं से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। इसी में ब्रह्

आदिदेव स्वयं विश्व और ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात ब्रह्मा की अध्यक्षता में सृष्टि का विकास-कार्य चलने लगता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्मा एक महामानव है, दिव्य सम्राट् है। ब्रह्मा से उसके मानस-पुत्र प्रजापति, मनु, देव, पितर, ऋषि चारों वर्णों के लोग तथा अन्य जीव अपने अदृष्ट के प्रभावानुसार जन्म लेते हैं। इसी महामानव ब्रह्मा की अनुभूतियों के लिए सारी सृष्टि होती है। प्रलय और सृष्टि के युगों में काल, दिशा और आकाश एक समान रहते हैं। सृष्टि के एक युग के लिए एक ब्रह्मा प्रतिष्ठित होता है। एक ब्रह्मा के पश्चात् स्वभावतः दूसरा ब्रह्मा आ जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति से सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। सांख्य की प्रकृति में आधिभौतिक और बौद्धिक दोनों तत्त्वों का समन्वय है। उससे पाँच भूतों के साथ ही साथ बुद्धि, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

प्रकृति का विकास उसके तीन गुणों—सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण होता है।[१] सत् का भाव सत्त्व है। सत्त्व का सम्बन्ध चैतन्य से होता है। सत् का एक अर्थ पूर्णता है। इस अभिप्राय से सत्त्व के द्वारा आनन्द और सत्य की अभिव्यक्ति होती है। सत्त्व का प्रयोग प्रकाश के लिए भी होता है। रजस् से दुःख की उत्पत्ति होती है। इसके द्वारा कार्यपरता का नियोजन होता है। इसकी अभिव्यक्ति भोग-विलास और अविरत प्रयास रूप में होती है। तमस् कार्यपरता का निरोध करता है और मोह एवं आवरण की सृष्टि करता है। अज्ञान और आलस्य इसके प्रतीक हैं। तीनों गुणों के कार्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन हैं। इनके द्वारा ये सुख, दुःख और स्थिति उत्पन्न करते हैं। गुण एक दूसरे से अलग नहीं होते, अपितु एक, दूसरे को सहारा देते हुए मिल कर कार्य करते हैं। दीपक के प्रकाश में लौ सत्त्व है, तेल रजस् है, और बत्ती तमस् है। ये तीनों मिलकर प्रकृति का निर्माण करते हैं। प्रकृति से जो कुछ उत्पन्न होता है, उनमें तीन गुण पाये जाते हैं। यदि प्रकृति से निर्मित तत्त्वों में परस्पर अन्तर है तो वह केवल इन गुणों को प्रत्येक तत्त्व में विभिन्न मात्राओं के कारण सम्भव है।

सांख्य के अनुसार सृष्टि का नाम असंगत है। किसी वस्तु की सृष्टि होती ही नहीं है। केवल उसके रूप का प्रादुर्भाव होता है। इस रूपात्मक प्रादुर्भाव में सत्त्व रूप है। वह प्रादुर्भाव की नियोजिका शक्ति है और तमस् प्रादुर्भाव के पथ में बाधक है।

---

१. गुण का अर्थ रस्सी है। पुरुष को रस्सी की भाँति बांधने वाले प्रकृति के गुण हैं।

प्रकृति की अविकसित साम्यावस्था में तीनों गुण शान्त और सन्तुलित स्थिति में पड़े रहते हैं। ज्यों ही गुण-क्षोभ (सन्तुलन का भंग) होता है कि गुणों का परस्पर प्रभाव आरम्भ होता है। विश्व के वैचित्र्य का कारण प्रकृति के गुणों का विविध प्रकार का पारस्परिक प्रभाव डालना है। जिस गुण की अधिकता होती है, वह स्पष्ट झलकता है। दूसरे गुण वर्त्तमान होते हुए भी स्पष्ट नहीं होते। स्थावर वस्तुओं में तमस्, चर वस्तुओं में रजस् और प्रकाश देने वाली वस्तुओं में सत्त्व की प्रधानता होती है।

प्रकृति के विकास की प्रथमावस्था महत् और बुद्धि है। इनमें से महत् भौतिक और बुद्धि भावनात्मक तत्त्वों का प्रतीक है। बुद्धि का सम्बन्ध धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की भावनाओं से होता है। बुद्धि के द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं का बोध होता है। इसी बुद्धि के द्वारा विवेक और दर्शन होता है। बुद्धि के पश्चात् अहंकार तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इस तत्त्व के द्वारा प्रत्येक पुरुष को अपने 'अहम्' का बोध होता है। बुद्धितत्त्व में 'मैं' का परिचय कराने वाली शक्ति रहती है। इसी अहंकार तत्त्व के माध्यम से प्रकृति के द्वारा सम्पादित कार्यों को पुरुष अपना समझ लेता है।[1]

अहंकार के सात्त्विक स्वरूप से मन और दस इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। इस सात्त्विक स्वरूप का नाम वैकृत है। अहंकार के तामसिक स्वरूप भूतादि से पाँच तन्मात्राओं का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त दोनों स्वरूपों के साथ अहंकार का राजसिक स्वरूप वर्त्तमान रहता है। यही वैकृत और भूतादि को संचालित करता है। तन्मात्राओं से पंचभूतों का प्रवर्तन होता है।

संसार में जो कुछ भौतिक शरीर दिखाई देता है, उसका प्रधान उपादान पृथ्वी से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी के साथ अन्य भूत गौण रूप से वर्त्तमान रहते हैं।

प्रकृति का उपर्युक्त विकास और विलय-क्रम अनादि और अनन्त हैं। विलयन में विकास के सभी तत्त्व क्रमशः अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। विलयन में प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था की अवधि के समाप्त होते ही विकास-परम्परा का समारम्भ होता है। जितने पुरुष मुक्त नहीं होते, उन्हें प्रकृति-नटी अपनी नाट्य-शाला में दर्शक बना लेती है, पर दर्शन के साथ ही वे नाट्य के अभिनेता-रूप में

---

१. देखिए गीता ३.२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

प्रकट होने लगते हैं। सभी पुरुष मुक्त नहीं हो सकते। अतएव इस नाट्य के लिए अभिनेताओं का अभाव नहीं होता। संसार का नाटक चला करता है। विलयन की अवस्था नाटक के अवकाश (इण्टरवल) के समकक्ष है।

सांख्य दर्शन के प्रायः समान ही योग दर्शन के तत्त्वों का विकास है। इन दोनों का अन्तर नीचे दी हुई योग दर्शन की विकास-तालिका को सांख्य दर्शन की विकास-तालिका से सन्तुलित करने पर स्पष्ट होता है।
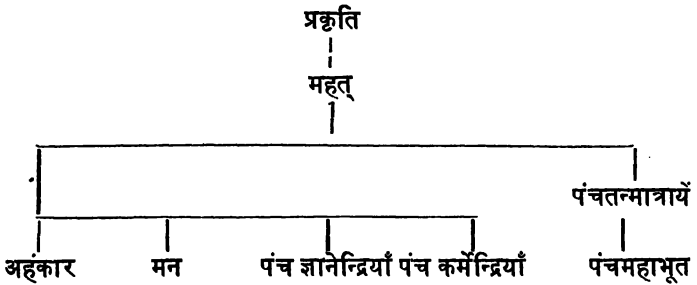
योग दर्शन में महत् (बुद्धि), अहंकार और मन को चित्त-वर्ग में रखा गया है। इस दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ और मन भौतिक तत्त्व हैं। ऐसी स्थिति में सांख्य दर्शन के लिंग-शरीर की प्रतिष्ठा योग में नहीं है।

योग के अनुसार सृष्टि की परम्परा ईश्वर और अविद्या के द्वारा चलती है। अविद्या के द्वारा प्रकृति विकास-पथ पर चलती है। ईश्वर इस विकास-पथ पर आने वाली बाधाओं को दूर करता है। पुरुष की सिद्धि के लिए ईश्वर उपयुक्त प्राकृतिक साधनों को उपस्थित कर देता है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त है। ईश्वर का इसकी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुमारिल ने न्याय दर्शन के ईश्वर की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तर्कों की कटु आलोचना की है।

वेदान्त-सूत्र में पुरुष और प्रकृति को वास्तविक दृष्टि से दो तत्त्व नहीं माना गया है, अपितु इन दोनों को मूल रूप से एक तत्त्व समझा गया है। वह एक मौलिक तत्त्व उपनिषदों का ब्रह्म है। उसी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। संसार की रचना करने में ब्रह्म को किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अकेले ही सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण है। जो कुछ चराचर

है, वह सभी ब्रह्म का ही कार्य है।[१] ब्रह्म सभी तत्त्वों को रचकर उनमें प्रवेश कर जाता है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म से आगे सृष्टि का विकास होता है। कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म और जगत् में कोई अन्तर नहीं है।[२] मिट्टी और मिट्टी के घड़े में अन्तर ही क्या है? ब्रह्म में सृष्टि की शक्ति स्वभावतः है, जैसे अग्नि में उष्णता होती है। जिस प्रकार साधारण पुरुष लीला करते हैं, वैसे ही सारा जगत् का खेल ब्रह्म के लिए लीला-कैवल्य है।[३] वह स्वयं अपने को ही जगत्-रूप में प्रकट करता है।[४] प्रलय के समय अव्यक्त रूप से जगत् की स्थिति रहती है।[५]

शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वर और ईश्वर का विराज् स्वरूप व्यावहारिक दृष्टि से होते हैं। विराज् सभी जीवों का समाहार-स्वरूप है और ईश्वर सभी प्राज्ञों का समाहार है। ब्रह्म और माया का मिश्रण ही सृष्टि है। ईश्वर के सम्बन्ध से माया के दो व्यापार होते हैं--काम और संकल्प। माया ईश्वर से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे उष्णता अग्नि से। माया का नाम प्रकृति है। प्रकृति ईश्वर का कारण-शरीर है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार माया से जगत् का उद्भव होता है। प्रलय के समय माया शक्ति-रूप में रहती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म जगत् का कारण केवल इसी अर्थ में है कि वह जगत का आधार है। वास्तव में ब्रह्म का जगत् से संस्पर्श भी नहीं होता। जगत् ब्रह्म का परिदृश्यमान स्वरूप है। परिदृश्यमान कोटि में ईश्वर, नामरूप प्रपंच (जगत्) तथा जीव आते हैं।

शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् का प्रादुर्भाव ईश्वर से हुआ है। ईश्वर से सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है। फिर उससे क्रम से अन्य भूत उत्पन्न होते हैं। शंकर के मत के अनुसार आकाश में स्थान है और वह सर्वत्र परमाणुओं से परिव्याप्त है। आकाश शून्य नहीं है। आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष होता है, उसी प्रकार भूतों में उनके गुण अन्तर्हित होते हैं। उपर्युक्त मत के अनुसार आकाश से सारा जगत् उत्पन्न हुआ

---

१. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्। वेदान्तसूत्र। २.३.७।
२. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। वेदान्तसूत्र २.१.१४।
३. वेदान्तसूत्र २.१.३३।
४. वेदान्तसूत्र १.४.२६।
५. वेदान्तसूत्र २.१.२०।

है। वास्तव में सभी भूत अचेतन हैं और उनसे जो क्रमिक विकास होता है, वह ईश्वर के अन्तरस्थ होने के कारण ही सम्भव है।

प्रलय के समय सभी भूत अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं। उस समय पृथ्वी जल बन जाती है, जल अग्नि, अग्नि वायु तथा वायु आकाश हो जाता है। अन्त में आकाश ईश्वर में विलीन हो जाता है।

शरीर की इन्द्रियाँ और मन आदि भूतों से उत्पन्न होते हैं। मन, प्राण और वाक् क्रमशः पृथ्वी, जल और अग्नि से उत्पन्न होते हैं।

शंकर ने पौधों, पशुओं, मानवों और देवों को आत्मा से समन्वित माना है। इनमें से देवों को असीम आनन्द है और मानवों को सुख-दुःख दोनों भोगना है। पशुओं को असीम दुःख है। शरीरी आत्मा के लिए सूक्ष्म शरीर और प्राणों का शाश्वत साथ रहता है और मुक्त होने के समय तक साथ बराबर बना रहता है। आत्मा ब्रह्म से वैसे ही निकलते हैं, जैसे आग से चिनगारी। मुक्त होने पर वे पुनः ब्रह्म से मिल कर ब्रह्म बन जाते हैं।

रामानुज के अनुसार प्रलय के समय ब्रह्म की कारणावस्था और सृष्टि के समारम्भ में कार्यावस्था होती है। सृष्टि के समारम्भ को रामानुज केवल अध्यास, माया या विवर्त नहीं मानते। रामानुज के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का परिणमन है। सृष्टि के आरम्भ में आत्मा अपने कर्म के बल से प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था को भंग करते हैं। सृष्टि के विन्यास में ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर और जीव तथा जगत् को रामानुज ने सत् रूप में प्रतिष्ठित किया और सिद्ध किया कि शंकर की 'माया' कोरी माया है।

परमाणुवाद

वैदिक दर्शनों में परमाणुओं का तत्त्वानुशीलन वैशेषिक दर्शन की निजी विशेषता है।[1] अवैदिक दर्शनों की जैन, आजीविक, वैभाषिक और सौत्रान्तिक शाखाओं में भी परमाणुवाद की प्रतिष्ठा मिलती है।

जिन वस्तुओं का स्पर्श सम्भव है, उनके टुकड़े हो सकते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ऐसे तत्त्वों में हैं। टुकड़े करने की परम्परा अनन्त नहीं होती। इस प्रक्रिया में एक समय ऐसा आता है कि टुकड़े का टुकड़ा नहीं सम्भव होता। वही सबसे छोटा टुकड़ा परमाणु है। ये परमाणु सभी कार्यों के उपादान कारण हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु क्रमशः गन्ध, रस, रूप और स्पर्श उत्पन्न करते हैं। परमाणुओं का आकार गोल (पारिमाण्डल्य) होता है।

---

१. परमाणु में 'विशेष' है। इसी आधार पर इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।

पृथ्वी-वर्ग के परमाणुओं में पाक से रंग-परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन की व्याख्या न्याय और वैशषिक दर्शनों में क्रमशः पिठरपाक और पीलुपाक सिद्धान्त पर बताई जाती है। पिठरपाक के अनुसार पकाये जाने पर घड़े के रंग का परिवर्तन उसके परमाणुओं के रंग के परिवर्तन के साथ ही साथ होता है। पीलुपाक का सिद्धान्त रहस्यात्मक है। इसके अनुसार पकाने की प्रक्रिया में घड़ा परमाणु-रूप में परिवर्तित हो जाता है, अथात् नष्ट हो जाता है। उन्हीं परमाणुओं का रंग-परिवर्तन होता है। ये परिवर्तित परमाणु पुनः मिल कर अपने रंग के घड़े का पुनः निर्माण करने में कारण बनते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में केवल ९ क्षण लगते हैं। नैयायिकों का पाक-सम्बन्धी सिद्धान्त समीचीन प्रतीत होता है। वैशेषिकों का कच्चा घड़ा यदि परमाणु-रूप में आकर नष्ट हो गया तो पके घड़े और कच्चे घड़े की तनिक भी एकता नहीं मानी जा सकती, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से कच्चे और पक्के घड़े में केवल रंग-मात्र का अन्तर है और वास्तव में वे एक ही प्रतीत होते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार मानव अच्छे या बुरे सभी कामों को अपने लाभ के लिए करता है। सभी कर्मों के प्रयोजन हैं—सुख-प्राप्ति और दुःख का परिहार।

प्रवृत्ति-विवेचन

अच्छे और बुरे सभी कर्म प्राणी को संसार-बन्ध में बाँधते हैं। राग-द्वेष-मोह आदि से विवश होकर मानव कर्म करता है। राग-द्वेष आदि मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतिशय राग के कारण घोर पाप को भी कोई व्यक्ति कर्तव्य मान लेता है।

न्याय के अनुसार ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को समष्टि में सन्निहित कर देने पर कर्मों का बन्धन नहीं रह जाता। इस प्रकार की समष्टिमयी भावना तत्त्वज्ञान से सम्भव होती है। तत्त्व-ज्ञान से सत्प्रवृत्ति और मिथ्या ज्ञान से असत्प्रवृत्ति का उद्रेक होता है। तत्त्व-ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिल पाता। इसके लिए मनन निदिध्यासन, स्वाध्याय आदि की आवश्यकता पड़ती है। योग के द्वारा तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रयोजन से सांसारिक सुखों को छोड़ कर, इच्छाओं को तिलांजलि देकर, वन की शरण लेकर आध्यात्मिक अग्नि में कर्मों का हवन करना अपेक्षित है। न्याय दर्शन में इस उद्देश्य से भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।

वैशेषिक दर्शम में सर्वसाधारण के कर्तव्यों का परिगणन इस प्रकार है—अहिंसा, श्रद्धा, भूतहितत्व, सत्य वचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा भावशुद्धि, क्रोध-वर्जन, अभिषेचन (स्नान, शुचि द्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति उपवास, और अप्रमाद। इनका सम्पादन धर्म है। इस दर्शन में आत्म-संयम के लिए योग-मार्ग का अवलम्बन लेने की शिक्षा दी गई है। वैशेषिक के अनुसार कर्मों के माध्यम से धर्म अभिव्यक्त नहीं होता, अपितु वह मानव की अन्तर्वृत्तियों से व्यक्त होता है।

तत्त्व-ज्ञान के द्वारा स्वार्थ-बुद्धि और स्वार्थपरता से मानव ऊपर उठ जाता है। ऐसी स्थिति में उसके कर्म अदृष्ट बन कर उसके भवबन्धन का कारण नहीं बनते। वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार मानव का सर्वोच्च कर्तव्य है अपने स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान कि मैं पुरुष हूँ। ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं—अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश। सत्त्व के द्वारा मानव की सात्त्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है और वह ऋषित्व की ओर अग्रसर होता है। सांख्य में स्वभावतः ज्ञान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई और ऐसी स्थिति में वैदिक यज्ञों का इस दर्शन में कोई स्थान न रहा। ज्ञान का पथ सबके लिए निर्बाध रूप से खुला माना गया—चाहे कोई व्यक्ति शूद्र या चाण्डाल ही क्यों न हो।

पूर्वमीमांसा यज्ञ-प्रधान दर्शन है। वैदिक धर्म में यज्ञ का सर्वोपरि स्थान था। जीवन की सारी प्रवृत्तियों को याज्ञिक स्वरूप दिया गया था। मनुष्य को अपने अभ्युदय के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्म करना चाहिए।[१] विशेष कामनाओं को पूरा करने के लिए काम्य कर्म करने का विधान था। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के सम्पादन से मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है।

वेदान्त-सूत्र में ब्रह्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के लिए संन्यास और कर्मयोग आवश्यक बतलाये गये हैं।[२] इसके अनुसार जीवन्मुक्त होने पर भी कर्म करते ही जाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान होते ही उन कर्मों का क्षय हो जाता है, जिनका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है।

शंकर ने अष्टांगिक योग के द्वारा सुगमता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत की है। उन्होंने बतलाया है कि सभी वर्णों के लोग ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। शंकर ने क्रममुक्ति की योजना प्रस्तुत की है। 'ओ३म्' की उपासना करने से मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और वहाँ शनैः शनैः सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान होते ही मुक्ति हो जाती है। ईश्वरोपासना से पाप का क्षय, ऐश्वर्य-प्राप्ति और फिर से मुक्ति मिलती है। ब्रह्मलोक तक आत्मा का अपना व्यक्तित्व होता है।

रामानुज जीव का पतन कर्म और अविद्या के कारण मानते हैं। इसी के कारण उसे शरीर के बन्धन में पड़ना पड़ता है। जीव जो पाप करता है, उससे

---

१. नित्य कर्म सन्ध्या आदि हैं, जिन्हें प्रतिदिन करने का विधान था। नैमित्तिक कर्म विशेष अवसरों पर सम्पादित किये जाते थे।

२. वे० सू० ३.४.३२-३५।

उसके अभ्युदय में बाधा पड़ती है। ईश्वर पुण्य के कामों से प्रसन्न होता है और पाप से अप्रसन्न रहता है। अविद्या को विद्या से दूर किया जा सकता है। विद्या है ईश्वर को सबका मौलिक उद्भव तत्त्व मानना। ईश्वर को जो लोग इस रूप में नहीं समझ पाते, उन्हें उनके ही कर्मों द्वारा ईश्वर कर्म-फल का भोग देकर विद्या की ओर प्रवृत्त करता है। ईश्वर की उपासना या प्रार्थना से पापों से मुक्ति हो जाती है। ईश्वर को समर्पित करके किये हुए कर्म मोक्ष के लिए होते हैं। ऐसे कर्मों से सत्त्व की वृद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों भक्ति के आधार हैं।

रामानुज के अनुसार भक्ति के द्वारा ईश्वर का ज्ञान सम्भव होता है। ज्ञान होने पर ईश्वर से प्रेम होता है और अन्त में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। भक्ति की पूर्णावस्था में आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य का बोध होता है। अपने को ईश्वर के लिए समर्पित करना प्रपत्ति है। प्रपत्ति से मुक्ति सुलभ होती है।

सत्कार्यवाद सांख्य दर्शन की विशिष्ट वस्तु है। इसका तात्पर्य है—उपादान कारण में कार्य पहले से वर्त्तमान होता है। मिट्टी (उपादान) में घट, दीप, ईंट आदि सभी वर्त्तमान हैं। सत्कार्यवाद का पक्ष और विपक्ष लेकर अन्य दर्शन-प्रणालियों में पर्याप्त विवेचन मिलता है।

सत्कार्यवाद

सांख्य-कारिका के नीचे लिखे श्लोक में सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है :—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती।[1] कारण का कार्य से निश्चित सम्बन्ध होता है।[2] सब कुछ सम्भव नहीं है।[3] जो जिसके लिए शक्त

---

१. यदि तिल (कारण) में तेल (कार्य) नहीं होता तो वह कैसे निकाला जा सकता? बालू से कोई तेल क्यों नहीं निकाल लेता? मिट्टी में घड़ा पहले से ही वर्तमान है।

२. कारण-कार्य सम्बन्ध सर्वविदित है। कारण सत् है। सत् से सम्बद्ध असत् हो नहीं सकता। अतएव कार्य भी सत् होना चाहिए।

३. यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध न मानें तो किसी भी कारण से सभी प्रकार के कार्य उत्पन्न होने चाहिए।

है, वह उसी को तो उत्पन्न कर सकता है।[1] कार्य कारण का ही एक रूप है।[2]

न्याय-दर्शन में असत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार यदि कारण में कार्य है, तो उसके करने की आवश्यकता ही क्या है? कारण का पहले अस्तित्व होता है, पश्चात् कार्य की सृष्टि होती है। बीज और सूत्र के अस्तित्व से क्रमशः वृक्ष और वस्त्र उत्पन्न होते हैं।

शंकराचार्य और रामानुज ने सत्कार्यवाद को मान्यता दी है। उनके अनुसार उत्पत्ति के पहले विद्यमान घट आदि कार्य आवृत्त होने के कारण अनुपलब्ध रहते हैं। कार्य तब तक आवरण के कारण अज्ञेय रहते हैं, जब तक उन्हें करने वाला कोई नहीं रहता है।

कारण में कार्य के होते हुए भी सहकारिता-शक्ति की अपेक्षा होती है, जिसके द्वारा कार्य का आविर्भाव होता है। तिल में तेल है। तिल को पेरने पर तेल का आविर्भाव होगा। वह सहकारी शक्ति यहाँ 'पेरना' है।

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन के समकक्ष बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त जैन दर्शन भी रहा है। यह दर्शन बौद्ध दर्शन की भाँति वैदिक साहित्य को प्रामाणिक नहीं मानता और धर्म की परिधि में यज्ञ का विरोध करता है। इस दर्शन में उच्च कोटि के प्रमाण-शास्त्र तथा विशुद्ध और तपोमय जीवन-विन्यास की प्रतिष्ठा की गई है।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष-मार्ग के तीन सोपान हैं। आरम्भ में सम्यग्दर्शन सम्भव होता है। उससे सम्यग्ज्ञान होता है और अन्त में सम्यक् चारित्र निष्पन्न होता है। इनको रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रय का अधिष्ठान जीव है। इस दृष्टि से जीव (आत्मा) को मोक्ष का कारण माना गया है।

जैन दर्शन में नव तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य हैं। इन तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान तत्त्वार्थ है। तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धामयी भावना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान के लिए इन तत्त्वों को पूर्ण रूप से जानना अपेक्षित है। इनको जानने के लिए दो साधन हैं—प्रमाण और नय।

---

१. मिट्टी में घड़ा उत्पन्न करने की शक्ति है, तेल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। अतः मिट्टी से घड़ा बनता है, तेल नहीं निकलता।

२. पानी और बर्फ में अन्तर ही क्या है?

तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने के पहले इनके ज्ञान के साधनों का बोध कर लेना अपेक्षित है।

प्रमाण

जैन दर्शन में प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। 'अवधि-प्रत्यक्ष' दिव्य दृष्टि से संभव होता है।[१] 'मनःपर्यय' के द्वारा दूसरों के मन की बात जान लेते हैं। 'केवल-प्रत्यक्ष' सर्वज्ञता का सूचक है। यह ज्ञान केवल मुक्तात्माओं के लिए संभव होता है।

परोक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है—मति और श्रुति। मति के लिए इन्द्रियों और मन की सहायता अपेक्षित होती है। इसके अन्तर्गत स्मृति (पूर्वकालीन ज्ञान का स्मरण), संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आते हैं। स्मृति के द्वारा पहले के किसी ज्ञान का स्मरण हो आता है, यद्यपि उसके समान कोई वस्तु सामने न हो। यदि उसके समान कोई वस्तु सामने हो तो वह संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है। चिन्ता और अभिनिबोध तर्क के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

श्रुतिज्ञान मतिज्ञान के पश्चात् होता है। इसके दो भेद हैं--अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अंग, उपांग आदि जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थों में प्राप्य ज्ञान अक्षरात्मक हैं।[२] अनक्षरात्मक ज्ञान को लिंग-जन्य भी कहते हैं। लक्षणों या चिन्हों को देखकर यह ज्ञान प्राप्त होता है।[३]

स्याद्वाद

जैन दर्शन में सात नय हैं, जिन्हें सप्तभंगी नय या स्याद्वाद भी कहते हैं। इन नयों में किसी वस्तु के ज्ञान सम्बन्धी विविध दृष्टि-कोणों का समावेश किया गया है। कोई भी वस्तु सात वाक्यों के द्वारा सत्, असत्, अवक्तव्य आदि कोटियों में मानी जा सकती है—(१) स्यादस्ति (सम्भवतः सत् है), (२) स्यान्नास्ति (सम्भवतः असत् है), (३) स्यादस्तिनास्ति (संभवतः है, नहीं भी है), (४) स्यादवक्तव्यः (संभवतः अनिर्वचनीय है), (५) स्यादस्ति अवक्तव्यः (संभवतः है, पर अनिर्वचनीय है) (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यः (संभवतः नहीं है और अनिर्वचनीय है), (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यः (संभवतः है, नहीं है,

---

१. अवधि-प्रत्यक्ष वैदिक दर्शन की योगदृष्टि के समकक्ष प्रतीत होता है।

२. अक्षरात्मक ज्ञान प्रायः आप्त प्रमाण के समकक्ष है।

३. यह न्याय दर्शन के अनुमान के समकक्ष है।

अवक्तव्य है)। भारतीय दर्शन में इन नयों के द्वारा वस्तु-स्वभाव का पद-पद पर विश्लेषण मिलता है।

प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है। तत्त्वों में जीव सर्व-प्रथम है। जीव वैदिक दर्शन के आत्मा के समकक्ष है। जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी और मुक्त। जीव का विवेचन प्रधानतः दो दृष्टियों से किया जा सकता है—व्यावहारिक और निश्चयात्मक। व्यावहारिक दृष्टि संसारी जीवों के अध्ययन में उपयोगी होती है और निश्चयात्मक मुक्त जीवों के सम्बन्ध में।

जीव

जीव उपयोगमय है।[1] उसकी मूर्ति नहीं है। वह कर्त्ता है। जीव का परिमाण उस देह के बराबर होता है, जिसमें वह रहता है। जीव भोक्ता है, संसार में रहता है, सिद्ध है और उसकी ऊर्ध्व गति होती है अर्थात् यह ऊपर की ओर जाता है। जीव में चार प्राण—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वास होते हैं। कर्म के बन्धन से जीव को मूर्त रूप प्राप्त होता है। जीव पुद्गल-कर्म करता है और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख भोगता है। उपर्युक्त संसारी जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के रूप में आते हैं। इनकी एक ही इन्द्रिय होती है। त्रस (जंगम) जीव दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं। केवल पाँच इन्द्रियों वाले जीव मन वाले हो सकते हैं। अन्य चार इन्द्रियों तक के जीव मन से रहित होते हैं। जीव का उपर्युक्त स्वरूप व्यावहारिक दृष्टि से है।

निश्चयात्मक दृष्टि से जीव में चेतना होती है। उसकी विशेषतायें हैं—शुद्ध ज्ञान और दर्शन। उसमें वर्ण, रस, गन्ध आदि नहीं हैं। जीव केवल चेतन-भाव होता है और वह चेतन-कर्म करता है। उसे सुख-दुःख नहीं होते। उसका अस्तित्व असंख्य देशों में है। शुद्ध नय की दृष्टि से जीव शुद्ध भावों का कर्ता है।

मुक्त जीव निष्कर्म होता है। उसमें आठ गुण होते हैं—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु तथा अव्याबाध।[2] मुक्त जीवों का एक

---

१. उपयोग दो प्रकार का होता है—दर्शन और ज्ञान। जीव में आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन होते हैं।

२. सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन है। वीर्य शक्ति है। सूक्ष्मता के कारण मुक्त जीव अदृश्य होता है। अवगाहन के द्वारा प्रकाश की भाँति एक जीव दूसरे जीव के लिए निर्बाध होता है। अगुरुलघु होने से वह न तो नीचे जाता है और न ऊपर, अपितु स्थिर रहता है। अव्याबाध होने से उसके लिए किसी प्रकार बाधा नहीं रहती।

विशिष्ट लोक है, जिसमें वे नित्य प्रतिष्ठित होकर निर्जर में पड़े रहते हैं। जिस शरीर से जीव को मुक्ति मिलती है, उससे थोड़ा न्यून परिमाण उस जीव का मुक्तावस्था में होता है।

अजीव

अजीव पाँच प्रकार के होते हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल भौतिक तत्त्व के समकक्ष पड़ता है। पुद्गल से शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति-भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश और आतप की उत्पत्ति होती है। इनमें से बन्ध कर्मों का बन्धन है और भेद विभाजन है। पुद्गल में रूप, रस आदि गुण होते हैं। ये गुण शेष अजीवों में नहीं पाये जाते। पुद्गल और जीव की गति के लिए धर्म वैसे ही अपेक्षित है, जैसे मछली के तैरने के लिए पानी। धर्म उन्हीं को गति देता है, जिनमें गति की प्रवृत्ति होती है। धर्म का ठीक विलोम अधर्म है। वह जीव और पुद्गल को स्थिर बनाता है। जो जीव या पुद्गल गति की ओर प्रवृत्त हैं, उन्हें वह नहीं रोकता। आकाश जीव, पुद्गल, धर्म, काल आदि को अवकाश या स्थिति प्रदान करता है। लोकाकाश वहाँ तक है, जहाँ तक जीव और अजीव परिव्याप्त हैं। इसके ऊपर अलोकाकाश है। काल 'अस्तिकाय' नहीं है।[1] इसका विश्लेषण व्यावहारिक और पारमार्थिक दो दृष्टियों से होता है। व्यावहारिक दृष्टि से काल द्रव्य का परिवर्तन करने वाला है और पारमार्थिक दृष्टि से वह वर्तन (सतत अस्तित्व) के द्वारा जाना जाता है। लोकाकाश के प्रदेश में एक-एक काल का अंश स्थित है।

जीव और अजीव के सात विशेषण हैं—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। इन सातों के साथ जीव और अजीव को ग्रहण करके जैन दर्शन में सब नव तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है। इनमें से आस्रव के द्वारा कर्म जीव (आत्मा) तक पहुँचता है। आस्रव दो प्रकार के होते हैं—कर्मास्रव और भावास्रव। कर्मास्रव से कर्म और भावास्रव से भावनाओं के संस्कार जीव पर पड़ते हैं। बन्ध के द्वारा जीव और कर्म का सम्बन्ध स्थापित होता है। आस्रव का अभाव संवर है। संवर के लिए व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, जय तथा चारित्र की योजना

---

१. जैन दर्शन में काय (शरीर) वाले अजीवों को अस्तिकाय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय हैं। काय में अनेक प्रदेश होते हैं। एक परमाणु की व्याप्ति के योग्य स्थान को प्रदेश कहते हैं। काल की व्याप्ति प्रदेश में एकैकशः होती है। अतः काल की काय नहीं मानी गयी।

बनाई गई है। निर्जरा के द्वारा जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। निर्जरा के पश्चात् मोक्षावस्था उत्पन्न होती है। अपने शुभ या अशुभ भावों के द्वारा जीव पुण्य या पाप-स्वभाव वाला होता है।

मोक्ष

जीव को जब उपर्युक्त नव तत्त्वों के प्रति श्रद्धा हो जाती है तो उसके सम्यग्ज्ञान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। सम्यग्ज्ञान के होने पर जीव संशय, विमोह और विभ्रम से रहित हो जाता है।[1] चारित्र अशुभ से विनिवृत्ति और शुभ की ओर प्रवृत्ति है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् ऐसे चारित्र की सम्भावना होती है। चारित्र है व्रत, समिति और गुप्ति। संसार का कारण है कर्म का बन्धन। सम्यग्ज्ञान के द्वारा कर्म का अवरोध सम्यक् चारित्र है। इस दृष्टि से कर्म मानसिक, वाचिक और शारीरिक तीन प्रकार के माने गये हैं।

मुनि ध्यान के द्वारा उपर्युक्त रत्नत्रय की सिद्धि कर सकता है। अर्हत्, सिद्ध और आचार्य ध्यान के विषय हैं। आत्मा को अपने में स्थिर करने के लिए चेष्टा, बातचीत, चिन्ता आदि को साधक के लिए त्याज्य बतलाया गया है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध न्याय में केवल दो प्रमाण प्रतिष्ठित हैं—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वलक्षण तथा अनुमान प्रमाण से सामान्य लक्षण-वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[2] प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित और नाम तथा जाति आदि से विशिष्ट नहीं होता।[3] प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का होता है—इन्द्रिय, मन, स्वसंवेदन तथा योग सम्बन्धी। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है,

---

१. इन तीनों को समासतः समारोप कहते हैं। जैन दर्शन में भ्रान्ति का नाम विमोह और सन्देह का नाम संशय है। ज्ञान का अस्पष्ट होना विभ्रम है। शंख को चाँदी समझना विमोह है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में सन्देह होना कि यह मनुष्य है कि स्तम्भ है—संशय है। अन्धा किसी वस्तु को हाथ से छू कर आरम्भ में साधाणतः विभ्रम-ज्ञान करता है। वह नहीं समझ पाता कि यह क्या है।

२. स्वलक्षण वे वस्तुएँ हैं, जो स्वरूपतः अद्वितीय हैं अर्थात् जिनके लक्षण अन्य किसी वस्तु के लक्षण के समान नहीं हैं। सामान्य-लक्षण वे वस्तुएँ हैं, जिनके स्वरूप सामान्यतः अन्य वस्तुओं में प्राप्तव्य हैं।

३. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।

उससे स्वलक्षण अर्थात् अन्य वस्तुओं से भिन्नता की प्रतिष्ठा करने वाले विशेषणों को जान पाते हैं, पर उसके रूप, रंग आदि को नहीं जानते। नाम आदि का ज्ञान अनुमान से होता है।

प्रत्यक्ष के लिए चार प्रत्यय आवश्यक हैं—आलम्बन, सहकारी, अधिपति और समनन्तर। जिसका प्रत्यक्ष होता है, वह आलम्बन प्रत्यय है, जैसे घट। इन्द्रियों के सक्रिय होने के लिए जो प्रत्यय आवश्यक है, उसे सहकारी कहते हैं; जैसे नेत्रों के लिए प्रकाश। इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है। इन सबके पश्चात् इन्द्रिय का व्यापार होने के लिए जिस संचारिणी शक्ति का उपयोग होता है, वह समनन्तर प्रत्यय है। इन्द्रियाँ ज्ञान के जिस स्वरूप को मन तक पहुँचाती हैं, वह मानस-प्रत्यक्ष है। उस वस्तु के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह आदि के जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हैं। समाधि की अवस्था में योगियों को इन्द्रियों की सहायता के बिना ही जो ज्ञान होता है, वह योगि-प्रत्यक्ष है।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थ और परार्थ। अपने लिए किया हुआ अनुमान स्वार्थ है और जो अनुमान दूसरों को कराया जाता है, वह परार्थ है।

अनात्मवाद

बुद्ध ने वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठित आत्मा को नहीं माना है। वे साधारणतः आत्मा के सम्बन्ध में मौन थे। इसका प्रधान कारण था कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस तप और तत्त्वज्ञान के पचड़े में पड़ना अपेक्षित था, उसके बिना ही उन्हें निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग मिल चुका था। उन्होंने पंच स्कन्धरूप-वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के संघात की प्रतिष्ठा की थी।[1] यही बुद्ध का व्यावहारिक आत्मा था। वे पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा को नहीं मानते थे। गौतम के अनुसार इन्हीं पाँचों का पुनर्जन्म होता है। आत्मा को न मानने वाले बुद्ध ब्रह्म, ईश्वर और परमात्मा को क्योंकर मानते।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य (कारणों के एकत्र होने) से समुत्पाद (किसी वस्तु का प्रादुर्भाव) होता है। यही प्रतीत्य समुत्पाद है। प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार भव-चक्र चला

---

१. इन्द्रियों और उनके विषयों के लिए रूप प्रयुक्त होता है। अहंभाव तथा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्तव्य ज्ञान विज्ञान है। सुख-दुःख आदि की भावना वेदना है। संज्ञा नाम है। संस्कार मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं।

करता है। भव-चक्र के १२ अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण।[1] इन अंगों में से प्रथम दो—अविद्या और संस्कार पूर्व जन्म से सम्बद्ध हैं और अन्तिम दो—जाति और जरामरण भावी जन्म से सम्बद्ध हैं। शेष आठ वर्तमान जीवन के शरीर से सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त चक्र में उत्तरोत्तर कारण-कार्य सम्बन्ध होता है।

निर्वाण

गौतम बुद्ध ने वैदिक दर्शनों के प्रवर्तकों की भाँति मानव को दुःख से निवृत्त करने की योजना को सर्वोच्च पद निर्वाण के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में जन्म, जीवन और मरण—तीनों ही दुःख हैं। दुःख को दूर करने की दृष्टि से उन्होंने चार आर्य सत्यों का विवेचन किया—(१) दुःख है, (२) दुःख का समुदय है, (३) दुःख का निरोध किया जा सकता है, (४) उसे दूर करने का अष्टांगिक मार्ग है—दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो जाना। इनमें से सम्यक् दृष्टि और संकल्प प्रज्ञा कहे जाते हैं। सम्यक् वाक्, कर्मान्त और आजीविका शील हैं तथा सम्यक् व्यायाम, स्मृति और समाधि—समाधि के अन्तर्गत आते हैं। प्रज्ञा, शील और समाधि को साधनत्रय कहते हैं। अष्टांगिक मार्ग पर चलने से दुःख का दूर हो जाना निर्वाण है।

दार्शनिक सम्प्रदाय

बौद्ध दर्शन के १८ सम्प्रदायों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। इनमें से चार प्रमुख हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक।[2]

---

१. अविद्या अज्ञान है, जिससे प्राणी दुःख-बन्धन में पड़ता है। संस्कार अज्ञान के कारण किये हुए वे कर्म हैं, जिससे पुनर्जन्म में बँधना पड़ता है। विज्ञान गर्भावस्था है। नाम गर्भ की मानसिक और रूप शारीरिक अवस्था है। षडायतन छः इन्द्रियों से समायुक्त होने की जन्मकालिक अवस्था है। स्पर्श शैशवावस्था में संसार के सम्पर्क में आना है। वेदना सुखमयी, दुःखमयी और द्वन्द्वमयी होती है। सुख देने वाली वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा तृष्णा है। उपादान सांसारिक वस्तुओं के प्रति अभिरुचि है। भव भावी जन्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करने वाले कर्म हैं। जाति जन्म लेना है और जिसका जन्म हुआ, उसे जरामरण के बन्धन में पड़ना ही है।

२. वैभाषिकों का प्रधान ग्रन्थ कात्यायनी पुत्र का ज्ञानप्रस्थान है। इसकी

इनमें से प्रथम दो हीनयान की और अन्तिम दो महायान की शाखायें हैं। इन चारों सम्प्रदायों का मूल भेद जगत् की सत्ता को लेकर हुआ है। वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध मानता है। इस प्रकार इसमें बाह्यार्थ-प्रत्यक्षवाद की प्रधानता है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में जगत् की सत्ता को अनुमान प्रमाण से सिद्ध माना जाता है और इसमें बाह्यार्थानुमेयवाद की प्रधानता है। जगत् की सत्ता मानने के कारण वैभाषिक और सौत्रान्तिक को सर्वास्तिवादी भी कहते हैं। योगाचार सम्प्रदाय बाह्य जगत् की सत्ता को नहीं मानता। इसमें भौतिक जगत् को मिथ्या माना गया है। इसकी दृष्टि से केवल चित्त (विज्ञान) ही सत् है। इसी से सब कुछ उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह मत विज्ञानवाद है। शून्य-वादी कहते हैं कि जगत् और विज्ञान दोनों असत् हैं। एकमात्र शून्य ही सत् है। ये ही शून्यवादी माध्यमिक सम्प्रदाय में हैं। इन्हीं को सर्ववैनाशिक भी कहते हैं। बुद्ध के लगभग ३०० वर्ष बाद वैभाषिक, ४०० वर्ष बाद सौत्रान्तिक और ५०० वर्ष पश्चात् माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। योगाचार सम्प्रदाय की स्थापना तीसरी शती ई० में हुई।

वैभाषिक दर्शन

वैभाषिक दर्शन के अनुसार जगत् में जो कुछ है, उसका प्रथमतः दो विभाग—विषयीगत तथा विषयगत में दो वर्गों में किया जा सकता है। विषयीगत विभाजन के तीन भेद हैं—पंच स्कन्ध, द्वादश आयतन और अष्टादश धातु। इनमें से पंच स्कन्ध का विवरण पहले आ चुका है। षडायतन मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हीं के छः विषयों को षडायतन में जोड़ देने पर द्वादश आयतन होते हैं। इन्द्रियों के छः विज्ञानों को आयतन से जोड़ देने पर अष्टादश धातु होती हैं। द्वादश आयतन इस दर्शन के अनुसार सत् हैं। इस प्रकार शाश्वत रूप से सत् इन्द्रिय और उनके विषय हैं।

विषयगत वर्गीकरण दो प्रकार का है—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत धर्म

टीका का नाम विभाषा है। इस सम्प्रदाय में विभाषा के महत्त्व के कारण इसे वैभाषिक कहते हैं। सुत्तपिटक के सूत्रों को प्रथमतया अपनाने वाले सौत्रन्तिक हैं। योग के द्वारा ही बोधि को सम्भव मानने वाले योगाचार हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय का मूल गौतम बुद्ध की मध्यमा प्रतिपदा है, जिसके अनुसार दार्शनिक और व्यावहारिक दृष्टि से बीच में पड़ने वाला मार्ग—मध्यमा प्रतिपदा है। इसी कारण इसे माध्यमिक नाम दिया गया है।

कारण-जनित होते हैं। अतएव वे अस्थायी, अनित्य, गतिशील और आस्रवबद्ध होते हैं। असंस्कृत धर्म कारण-जनित नहीं होते और वे स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनास्रव होते हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय में सांख्य का सत्कार्य प्रायः उसी रूप में प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल चार क्षणों तक होता है—उत्पत्ति का क्षण, अस्तित्व का क्षण, विलयन का क्षण और अन्त होने का क्षण। यही बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद है।

वैभाषिकों के अनुसार केवल चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। वे आकाश को तत्त्व नहीं मानते। उनके अनुसार परमाणुओं के परस्पर संयोग से वस्तुओं के स्वरूप का निर्माण होता है। सभी वस्तुएँ अन्ततोगत्वा परमाणु में विलीन हो जाती हैं। रूप की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। वैभाषिक द्व्यणुक या त्र्यणुक की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार परमाणु में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, पर अतीन्द्रिय हैं। पर्याप्त परमाणुओं का संघात होने पर इन गुणों की सत्ता गोचर होती है। सभी वस्तुओं में सभी प्रकार के परमाणु होते हैं। जिन परमाणुओं की विशेषता होती है, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे धातुओं में पृथ्वी-परमाणुओं की अधिकता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान को ग्रहण करने वाला विज्ञान (मन या चित्त) है। उनका चित्त न्याय-दर्शन के आत्मा और मन दोनों का मिश्रित स्वरूप है। वे मानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयों के सम्पर्क में आने पर जो ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसे चित्त को देकर उपरत हो जाती है। उनके अनुसार इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से बनी हुई हैं।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को अनुमान के द्वारा प्रतिष्ठित मानते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। उनका मत है कि जब सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं तो उनके स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे सम्भव है ? जिस क्षण में कोई इन्द्रिय किसी वस्तु के सम्पर्क में आती है, उसी क्षण वह वस्तु बदल जाती है। उसका प्रतिबिम्ब-मात्र मानस पटल पर चित्रित रहता है। इसी प्रतिबिम्ब के आधार पर उस वस्तु का अनुमान के द्वारा ज्ञान होता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान में अपने आपको प्रकाशन की शक्ति है। जैसे दीपक अपने आपको भी प्रकट करता है, वैसे ही ज्ञान भी स्वसंवेदन करता है। ज्ञान के स्वसंवेदन की प्रक्रिया विज्ञानवादियों को भी मान्य है।

वैभाषिकों की भाँति सौत्रान्तिक भी आत्मा और ईश्वर को नहीं मानते।

उनके मत से सृष्टि का क्रम अनादि और अनन्त है और इसका निर्माता कोई नहीं है। इसमें ईश्वर की निर्माण-शक्ति का भी निराकरण किया गया है।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार संसार में दुःख ही दुःख है। जिसे साधारण पुरुष सुख समझते हैं, वह भी वास्तव में दुःख ही है।

योगाचार

योगाचार सम्प्रदाय में बोधि के लिए योग की अतिशय प्रतिष्ठा है। इस सम्प्रदाय में विज्ञान को एकमात्र सत्ता माना गया है। विज्ञान से आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् विकसित होता है।[1] इस दृष्टि से विचार करने वाला केवल अपने समग्र ज्ञान का एक अंग है और वह जो कुछ जानता है, वह सारा उसके व्यक्तित्व का अंग है। ज्ञान का आधार पूर्वकालीन ज्ञान है। ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। सर्वात्मक विज्ञान का नाम आलय-ज्ञान है। यही मूल तत्त्व है और काल तथा स्थिति की दृष्टि से अनन्त है। आलय-विज्ञान से सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और इसी में वे विलीन हो जाती हैं। आलय-विज्ञान में ज्ञाता और ज्ञातव्य दोनों की अवस्थिति है।

योगाचार के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। स्वप्नावस्था में प्राप्त ज्ञान परिकल्पित कोटि का है, क्योंकि उसका आधार कल्पना-मात्र है। जिस ज्ञान के लिए पूर्व ज्ञान अपेक्षित होता है, वह परतन्त्र कोटि का है। नीलत्व को आज जान कर कल भी उसे पहचान लेने में आज का ज्ञान आधार है। अतएव कल का ज्ञान परतन्त्र है। इसके लिए आज का ज्ञान बीज-रूप है। जब इस प्रकार के बीज-ज्ञान नहीं होते और पूर्वकालीन ज्ञान का क्षय हो जाता है तो परिनिष्पन्न ज्ञान होता है। परिकल्पित ज्ञान भ्रान्तिमात्र है, जैसे रस्सी को साँप समझना। परतन्त्र ज्ञान व्यावहारिक सत्ताएँ हैं, जैसे रस्सी को रस्सी समझना। परिनिष्पन्न ज्ञान दार्शनिक सत्य है, जैसे 'सर्वं बुद्धिमयं जगत्'। यह ज्ञान योग के द्वारा प्राप्त होता है।

किसी भी मानव को अपना व्यक्तित्व तभी तक परिलक्षित होता है, जब तक उसे अविद्या घेरे रहती है। परस्पर भेद का कारण अविद्या ही है। विज्ञान का कर्म के संस्कार से लिप्त होना अविद्या का मूल है। अविद्या से सुख-दुःख, साधु-असाधु आदि का अन्तर प्रतीत होता है। जिन प्रयत्नों से विज्ञान का शुद्ध रूप प्रस्फुटित होता है, वे मुक्ति के लिए होते हैं।

---

१. सर्वं बुद्धिमयं जगत् (सारा जगत् बुद्धिमय है)।

योगाचार में आठ प्रकार के विज्ञानों की प्रतिष्ठा की गयी है, जिनमें से चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा के विज्ञान प्रत्यक्ष ही इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं। काम-विज्ञान का सम्बन्ध त्वगिन्द्रिय से है। इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान और आलय-विज्ञान हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मन के मनन से है। क्लिष्ट मनोविज्ञान का सम्बन्ध विवेचन से है। आलय-विज्ञान में सभी विज्ञान विलीन होते हैं।

मनोविज्ञान का मन अविद्या, अभिमान, कर्तृत्व तथा कामनाओं से विशिष्ट है। यही चार क्लेश हैं। आलय-विज्ञान में सदैव परिवर्तन होता रहता है। आलय-विज्ञान की उपमा समुद्र से दी गयी है। विषय-रूपी वायु से आलय के समुद्र में विज्ञान की लहरें उठती हैं। आलय-विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सात विज्ञान लहरों की भाँति हैं, जो वास्तव में समुद्र से भिन्न नहीं हैं।

माध्यमिक

माध्यमिक सिद्धान्तों के अनुसार पदार्थ गुणों का समाहार-मात्र है। इस सिद्धान्त के मान लेने पर आत्मा नामक द्रव्य अपने गुण चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यदि आत्मा अपने कर्म—देखने, सुनने आदि से भिन्न है तो क्या देखना, सुनना आदि आत्मा के बिना नहीं हो सकते ?

माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार सब कुछ शून्य है। पर शून्य क्या है? शून्य परम तत्त्व है, जिसकी परिभाषा है—न सत्, न असत् और न सत्-असत्। वह सत्-असत् दोनों से विशिष्ट भी नहीं है।[1] इस प्रकार माध्यमिकों का परमतत्त्व शून्य गणित के शून्य के समान है। वह शून्य सत् और असत् के बीच की कोई वस्तु है। शून्य को न भावात्मक कह सकते हैं, न अभावात्मक। यही माध्यमिक की मध्यमा प्रतिपदा है।

महायान ग्रन्थों में बीस प्रकार की शून्यताओं का निरूपण किया गया है। इनका सम्बन्ध अध्यात्म, बहिर्धा, अध्यात्म-बहिर्धा, शून्यता, महाशून्यता, परमार्थ, संस्कृत, असंस्कृत, अत्यन्त, अनवराग्र, अनवकार, प्रकृति, सर्वधर्म, लक्षण, उपालम्भ, भाव, अभाव, स्वभाव, अभाव-स्वभाव और परभाव से है। इन पदों का विश्लेषण इस दर्शन में मिलता है। अध्यात्म-शून्यता के अनुसार छः विज्ञान शून्य हैं। इनके अनुसार आत्मा की शून्यता प्रमाणित होती है। बहिर्धा-शून्यता इन्द्रियों के विषयों की शून्यता का निर्देश करती है। इससे रूप-रस-गन्ध और स्पर्श आदि की शून्यता

---

१. न सन्नासन्नसदसन्नचाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ॥माध्यमिककारिका १.७॥

सिद्ध होती है। अध्यात्म-बहिर्धा शून्यता आध्यात्मिक और आधिभौतिक तत्त्वों को शून्य होने के नाते समान बतलाती है। शून्यता-शून्यता के सिद्धान्त से शून्यता की वास्तविकता का निराकरण होता है। महाशून्यता दिशाओं की शून्यता का निर्देश करती है। परमार्थ-शून्यता निर्वाण को शून्य सिद्ध करती है। संस्कृत-शून्यता उपादान-जन्य वस्तुओं के शून्य-स्वरूप का आभास देती है। असंस्कृत-शून्यता उपादान के बिना उत्पन्न अर्थात् नित्य प्रतीत होने वाली वस्तुओं की शून्यता बतलाती है। अत्यन्त-शून्यता दोनों अन्तों—नित्यता और अनित्यता की शून्यता सिद्ध करती है। अनवराग्र-शून्यता किसी वस्तु के आदि, मध्य और अन्तकालीनता का निराकरण करती है। अनवकार-शून्यता अनुपधिशेष-निर्वाण की कल्पना को असिद्ध बतलाती है। प्रकृति-शून्यता के अनुसार प्रकृति या स्वभाव के उत्पन्न करने की कल्पना निराधार है। सर्वधर्म-शून्यता के सिद्धान्त से भूत और चित्त के सूक्ष्म तत्त्वों की शून्यता प्रमाणित होती है। लक्षण-शून्यता किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने वाले विशेषणों की अवास्तविकता की ओर संकेत करती है। उपालम्भ-शून्यता तीन प्रकार के कालों की धारणा को अवास्तविक ठहराती है। भाव, अभाव, स्वभाव, अभाव-स्वभाव और परभाव की शून्यताओं के अनुसार भावात्मक, अभावात्मक, उपादानात्मक अथवा पारमार्थिक—सभी प्रकार की वास्तविकताओं का निराकरण होता है।

नागार्जुन ने शून्यता की परिभाषा करते समय कहा है कि अन्य दर्शनों में तर्क के द्वारा आत्मा, परमात्मा, जगत्, मोक्ष आदि जिन-जिन की सत्ता सिद्ध की गयी है, वही तर्क इनकी असत्ता सिद्ध करने में समर्थ है। तर्क के द्वारा सब कुछ असिद्ध है—गौतम का तथागत होना, निर्वाण आदि असिद्ध हैं। सिद्ध और असिद्ध के व्यापार—जहाँ तक बुद्धि और तर्क की परिधि में रहेंगे—सदैव सन्दिग्ध रहेंगे। तर्क की प्रखर तलवार के सामने कुछ भी अच्छिन्न नहीं ठहरता। नागार्जुन ने तर्क का सहारा लेकर अद्भुत कौशल द्वारा शून्य की प्रतिष्ठा की है।

शून्य ही माध्यमिकों की दृष्टि में एकमात्र तत्त्व है। वास्तविक दृष्टि से शून्य नामक यह तत्त्व तर्क की परिधि से बाहर है। तर्क सत्, असत् आदि कोटियों तक की वस्तुओं की सत्ता और असत्ता को प्रमाणित करता है। जो सत् और असत् से परे है, उसके विषय में तर्क का सहारा लेना उपादेय नहीं है। यह शून्य उपनिषदों के अनिर्वचनीय ब्रह्म के समकक्ष पड़ता है। शून्य अभावात्मक नहीं है।

स्वभाववाद

स्वभाववाद वास्तव में दर्शन-कोटि में नहीं आता। दर्शन के लिए जिस उच्च कोटि की विचारणा की अपेक्षा होती है, उसका स्वभाववाद की पृष्ठभूमि में

सर्वथा अभाव है। स्वभाववाद वर्तमान की चिन्ता करता है। यही उसकी प्रमुख विशेषता है। उसे भविष्य से कोई प्रयोजन नहीं है। स्वभाववादी के लिए मरणोत्तर भविष्य का अस्तित्व कदापि नहीं है। इतने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस वाद में आत्मा की अमरता, परलोक, कर्मफल, मुक्ति, पाप-पुण्य, ईश्वर, देवता आदि को कपोल-कल्पित मानना स्वाभाविक था। स्वभाववाद में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को माना गया है। इसके आधार पर अनुमान के द्वारा सिद्ध सत्ताएँ तथा आप्त-प्रमाण के मूल-ग्रन्थ वेद आदि को कोई मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी है।

स्वभाववाद को लोकायत भी कहते हैं क्योंकि इसमें इस लोक की सत्ता को ही माना गया है। स्वभाववादियों को तदनुसार लोकायतिक कहते हैं। इस वाद के एक प्रसिद्ध आचार्य चार्वाक थे। उनकी स्मृति में इस वाद को चार्वाक दर्शन भी कहा जाता है।[१]

प्रत्यक्ष के द्वारा जिन चार भूतों को स्वभाववादी देख पाते हैं उन्हीं की सत्ता में उनका विश्वास है। ऐसे भूत चार ही हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु। इन्हीं से सारे जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। ये अनादि और अनन्त हैं। इन्हीं से बुद्धि बनी है। जिस प्रकार पान की लालिमा चार वस्तुओं के सम्मिश्रण से बन जाती है, उसी प्रकार भूतों के सम्मिश्रण से बुद्धि का विकास होता है। विचारणा भी इन्हीं भूतों का काम है। शरीर में बुद्धि प्रधान है, आत्मा नाम की कोई वस्तु इससे भिन्न नहीं है।

स्वभाववाद में आत्मा के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोण मिलते हैं—(१) आत्मा, शरीर से भिन्न नहीं है, (२) इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, (३) प्राण आत्मा है, (४) मन आत्मा है। आत्मा-विषयक इन सभी मतों के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त है।

स्वभाववाद में स्वभावतः वैदिक धर्म की कटु आलोचना होनी चाहिए थी। स्वभाववादी धर्म को वितण्डावाद मानते थे और धर्म को बौद्धिक रोग कहने में नहीं हिचकते थे। उनका देव, गन्धर्व, यक्ष, भूत, प्रेतादि कोटियों में कोई विश्वास नहीं था।

अन्य दर्शनों में शरीर को तपोमय जीवन-विधान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने

---

१. स्वभाववाद की रूप-रेखा सम्भवतः बृहस्पति-सूत्र में सुव्यवस्थित हुई। यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता। इसकी प्रवृत्तियों का परिचय वा० रामायण अयोध्याकाण्ड ९८.१-८; चुल्लवग्ग ५.३३.२; महापुराण ५.१८-३५; सर्वदर्शन संग्रह के प्रथम अध्याय तथा बुद्धचरित ९.५५-६२ में मिलता है।

के लिए सक्षम बनाने की योजना मिलती है। स्वभाववाद तप के विरुद्ध है।[१] शरीर को भोग-विलास के द्वारा अधिकाधिक सुख पहुँचाना स्वभाववाद का मन्तव्य है। इस प्रकार के भोग-विलासमय जीवन के लिए अच्छे-बुरे, पुण्यमय या पापमय—सभी साधन अपनाने की अनुमति स्वभाववाद ने दी है। स्वभाववाद पुण्य और पाप की धारणाओं को कोई मान्यता नहीं प्रदान करता, अपितु इसके अनुसार इन धारणाओं की रूप-रेखा स्वार्थी लोगों के द्वारा दूसरों को अन्धा बनाए रखने के लिए प्रस्तुत की गयी है।

स्वभाववाद की विचार-धारा प्रायः सनातन प्रतीत होती है। बृहस्पति और चार्वाक आदि प्रमुख प्रवर्तकों के अतिरिक्त बौद्ध काल में पुराणकश्यप, अजित, केशकम्बली, पकुध, कच्चायन, संजय बेलट्ठ-पुत्त और मक्खली गोसाल घोर यथार्थ-वादी या भौतिकवादी थे। पुराण कश्यप को पुण्य-पाप में भेद नहीं दिखाई देता था। केशकम्बली कर्मों के फल को नहीं मानता था। उसके अनुसार आत्मा की अमरता पुनर्जन्म आदि निःसार कल्पनाएँ हैं। पकुध कच्चायन की दृष्टि में पृथ्वी आदि भूत, सुख-दुःख, आत्मा आदि का कोई रचयिता नहीं है। वह हत्या में कोई दोष नहीं मानता था। संजय सन्देहवादी था। उसका परलोक में विश्वास नहीं था। कुछ स्वभाववादियों के नाम अहेतुवादी, उच्छेदवादी तथा क्षतविधवादी मिलते हैं।[२]

दार्शनिकों का व्यक्तित्व

भारतीय दर्शन की प्रतिष्ठा देववाद के आधार पर हुई है। देव-कल्पना का आभास चर्म-चक्षुओं से नहीं होता। इसके लिए योगि-प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से इतना तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक देववाद के पीछे योगियों की दृष्टि थी। वैदिक साहित्य को परवर्ती युग में आप्त वचन मान कर प्रमाण-रूप में प्रतिष्ठित किया गया। इससे प्रमाणित होता है कि वैदिक साहित्य की रचना का श्रेय साधारण कोटि के कवियों को नहीं दिया जा सकता।

---

१. लोकायतिक दर्शन के अनुसार थाली का भोजन न खाकर हाथ चाटने के समान उन लोगों का प्रयास है, जो परलोक में सुख पाने के लिए तप करते हैं। महापुराण ५.३५।

२. अहेतुवादी के अनुसार प्राणी बिना किसी कारण के ही इस संसार में उत्पन्न होते हैं। उच्छेदवादी के अनुसार परलोक नहीं है। इसी लोक में मानव का उच्छेद होता है। क्षतविधवादी का कथन है कि माता-पिता को भी सुख पाने के लिए मारना पड़े तो कोई बात नहीं। महाबोधि जातक ५२८।

वैदिक साहित्य के रचयिताओं की ऋषि-उपाधि इसी सत्य की ओर संकेत करती है।

आरण्यक और उपनिषद्‌काल के दार्शनिक साधारणतः दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—गृहस्थ-वर्ग और संन्यासी-वर्ग। इनमें से गृहस्थवर्ग की परम्परा सनातन थी। गृहस्थों में से कुछ राजा थे, जैसे जनक और अजातशत्रु और दूसरे ब्राह्मण-वर्ग के गृहस्थ थे, जिन्हें ऋषि-गृहस्थ कहा जा सकता है। आरुणि, उषस्ति चाक्रायण और याज्ञवल्क्य इस वर्ग के प्रतिनिधि थे। गृहस्थाश्रम में भी इनका जीवन तपोमय था। संन्यासी-वर्ग के दार्शनिकों की प्रथम कोटि आरण्यक साहित्य के निर्माताओं और अध्येताओं में मिलती है। उपनिषदों में महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य के अन्त में संन्यासी बनने का उल्लेख मिलता है।[१]

उपनिषद्-काल के पश्चात् दर्शन की प्रवृत्ति प्रधानतः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम वालों के लिए विहित हो गयी। गृहस्थ रह कर यदि जन्म-मरण के भय से मुक्ति की सम्भावना होती तो गौतम बुद्ध प्रव्रजित नहीं हुए होते। भारतीय दर्शन का उद्देश्य केवल ज्ञानपरक नहीं था, अपितु मोक्षपरक भी था। तत्कालीन धारणा के अनुसार दर्शन के उच्च तत्त्वों का अनुसन्धान तब तक नहीं हो सकता, जब तक गृहस्थ-जीवन से सम्बन्ध न छूट जाय। उपनिषद्-काल के पश्चात् दार्शनिक प्रवृत्तियों के ऐसे स्रोत ऋषियों के आश्रमों और भिक्षुओं के विहारों में मिलते हैं। ऐसे आश्रमों के विवरण जातक साहित्य में भरे पड़े हैं। दार्शनिक के तपोमय जीवन का विन्यास इस प्रकार वानप्रस्थ-विधि से समायुक्त था। इस जीवन का नाम अश्वघोष ने ब्रह्मचर्य बतलाया है और इसका सविस्तर वर्णन किया है।[२]

मौर्यकालीन दार्शनिकों के जीवन का वर्णन ग्रीस के विद्वानों ने किया है। मेगस्थनीज़ के अनुसार दार्शनिकों के आश्रम नगर के सामने उपवनों में बने हुए थे। आश्रवमासियों का जीवन सरल था। वे चटाई या मृगच्छाल पर पड़े रहते थे। वे दार्शनिक व्याख्यानों के सुनने में अपना समय बिताते थे और स्वयं भी दूसरों को आध्यात्मिक शिक्षा देते थे। मेगस्थनीज़ का उपर्युक्त विवरण किसी दार्शनिक महाविद्यालय के सम्बन्ध में है, जहाँ कोई महर्षि कुलपति होता था और उसकी अध्यक्षता में वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य-आश्रम के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। परवर्ती युग के रघुवंश में वर्णित वसिष्ठ तथा कादम्बरी में निरूपित जाबालि के आश्रम उपर्युक्त परम्परा के ही प्रतीत होते हैं।

---

१. बृहदारण्यक उप० २.४.१

२. बुद्धचरित १२.४२-६५।

दर्शन की ओर प्रवृत्त होने वाले लोगों के लिए शंकर ने चार लक्षणों का निर्देश किया है—पहले तो उन्हें सत् और असत् के भेद का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् जिज्ञासा होनी चाहिए। दूसरा लक्षण है जिज्ञासु का निष्काम होना। इसके लिए संन्यास अपेक्षित है। संसार को जानने के लिए संसार की परिधि से बाहर होना आवश्यक है। संसार में रह कर संसार को नहीं जाना जा सकता। उपर्युक्त गुण की प्राप्ति के लिए यम-नियम होना चाहिए। यही तीसरा लक्षण है। यम-नियम के बिना मन और इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं आती, जिससे वे वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप को देख सकें। अन्तिम लक्षण है—मोक्ष पाने की उत्कट अभिलाषा का होना। अभिलाषा वह उत्साह जागरित करती रहती है, जो दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में आवश्यक प्रयत्न करा सकता है।[१]

अद्वैत वेदान्त के सर्वोच्च उन्नायक शंकर अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न थे। आठ वर्ष की स्वल्पावस्था में वे सभी वेदों में निष्णात हो चुके थे। उनके आचार्य गोविन्द स्वयं अद्वैत वेदान्त के उच्च कोटि के पण्डित थे। गोविन्द के पिता गौडपाद ने अद्वैत का अभिनव अरुणोदय किया था। बाल्यावस्था में शंकर ने संन्यास ले लिया था। शंकर का संन्यास उन्हें कर्म से विरत करने के लिए नहीं था। वे कर्म-योगी थे। आरम्भ से ही उनकी ज्योतिष्मती प्रतिभा के आलोक से भारत का विशाल प्रांगण जगमगा उठा। शंकर अपने युग के सर्वोच्च आचार्य बने। उन्होंने तत्कालीन भारत के सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों को अद्वैत-चिन्तन की ओर प्रवृत्त कर दिया। भारत में सदा ही विविध दर्शनों के अगणित आचार्य रहे हैं। शंकर को अग्रणी बनने के लिए आवश्यक था कि वे उन सभी आचार्यों को वाद में परास्त करते। उन्हें इस दिशा में सफलता मिली और अनेक आचार्यों को उन्होंने अद्वैत मार्ग में अपना अनुयायी और शिष्य बना लिया।

शंकर ने सारे भारत में सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए परिभ्रमण करते हुए अद्वैत के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में देश के चारों कोनों पर मठ के रूप में विश्वविद्यालयों की स्थापना की।[२] शंकर के व्यक्तित्व में सार्वभौमता थी। यों तो उनका ध्रुव निश्चय था कि अद्वैत सर्वोत्कृष्ट दर्शन है, फिर भी उन्होंने तत्कालीन भारत में सुप्रचलित भक्तिमार्ग को अपनाया। उनके द्वारा रची हुई विष्णु, शिव, शक्ति,

---

१. शांकरभाष्य वेदान्तसूत्र १.१.१।

२. इनमें से प्रधान मठ मैसूर में श्रृंगेरी का है। अन्य मठ पूर्व दिशा में पुरी, पश्चिम दिशा में द्वारका तथा उत्तर में हिमालय पर्वत पर बदरिकाश्रम में हैं।

सूर्य आदि देवताओं की स्तुतियाँ इतनी मनोरम थीं कि इन देवताओं के सम्प्रदाय में शंकर का सम्मान बढ़ा।

धर्म-सुधारक के रूप में शंकर का व्यक्तित्व अतिशय उदात्त है। उन्होंने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' सिद्धान्त के अनुसार धर्मों के विगलित अंगों के पुनर्निर्माण के साथ ही उनकी कुरूपताओं का समूल विनाश करने का प्रयास किया। दक्षिण भारत में शक्ति-पूजन की हीन परिपाटियों को उन्होंने सदा के लिए रोक दिया। दक्षिण भारत में कुक्कुर के रूप में मल्लारि नाम से शिव की पूजा होती थी। कापालिक तो भैरव की पूजा के निमित्त केवल पशुओं की ही नहीं, अपितु मनुष्यों की भी बलि देते थे। शंकर ने इन कुप्रथाओं को बन्द कराया। जलते हुए धातु-खण्ड से शरीर को मुद्रित कराने की प्रथा भी शंकर ने रोकी।

शंकर के व्यक्तित्व में चातुर्दिश प्रतिभा का सम्मिश्रण था। वे कोरे दार्शनिक नहीं थे। उनकी गद्य-लेखन-शैली आज भी आदर्श मानी जाती है। शंकर की रची हुई कविताएँ सर्वगुण-सम्पन्न हैं। उनका ऋषि-जीवन उदात्त है और उनमें धार्मिक सुधार करने की अप्रतिम योग्यता थी। इन सभी गुणों के साथ उनकी कार्य करने की क्षमता विशेष रूप से शोभनीय है। उन्होंने इसी के बल पर अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा का अनुपम उपयोग करके इस देश की सांस्कृतिक प्रगति को अद्वैत का जो सन्देश दिया, वह अमर है।

रामानुज ने लगभग २०० वर्षों के पश्चात् शंकर के अद्वैत का अपने विशिष्टाद्वैत के द्वारा संस्कार किया। रामानुज ने गृहस्थाश्रम को बीच से छोड़ कर संन्यास ले लिया था। उनके संन्यास की उत्कृष्टता के बल पर उन्हें शीघ्र ही यतिराज की उपाधि मिली। उन्होंने अपना अधिक समय दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने में लगाया और वैष्णव मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। उन्होंने वैष्णव धर्म के अनुयायियों की संख्या में बहुगुण वृद्धि कर दी।

उपर्युक्त दार्शनिकों के व्यक्तित्व के निदर्शन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन केवल विद्वानों की बुद्धि और जिह्वा का विषय नहीं था, अपितु दर्शन में ही उनका जीवन रंग गया था। उनका व्यक्तित्व दर्शनमय होता था। दार्शनिकों ने समग्र राष्ट्रीय जीवन को दार्शनिक विचार-धारा से ओत-प्रोत करने का सफल प्रयास किया था।

जैन दर्शन के सर्वोच्च उन्नायक महावीर (वर्धमान) मगध के राजकुमार थे। उन्होंने २८ वर्ष की अवस्था के पश्चात् संन्यास लिया और १२ वर्षों तक पर्यटन करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए तप किया। अन्त में वे

'केवली' हुए। 'केवली' इस दर्शन के अनुसार सर्वश्रेष्ठ पद है। महावीर की अन्य उपाधियाँ तीर्थङ्कर, जिन आदि हैं।

'केवली' सर्वज्ञ होता है। महावीर ने अपनी सर्वज्ञता का उपयोग जनता को सत्पथ पर लाने की दिशा में किया। उनके सार्वजनिक जीवन का युग ३० वर्षों का था। उन्होंने प्राचीन जैन दर्शन में अभिनव प्रगति की शक्ति का संचार किया। महावीर ने अपने अनुयायियों का संघ बनाया और उसके संचालन के लिए नियमित व्यवस्था की।

महावीर के व्यक्तित्व में अद्भुत शक्ति और अपूर्व उत्साह था। उन्होंने तपोमय जीवन की धारा को सार्वजनीन बनाने का जो संकल्प किया था, उसमें उनको सफलता मिली। जीवन भर भ्रमण करते हुए उन्होंने अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि का शाश्वत सन्देश नगरों, गाँवों और वन-वसतियों तक पहुँचाया। उनकी वाणी में वह शक्ति थी, जो सबको आकृष्ट करती थी। जैन दर्शन और धर्म के प्रचार, प्रसार एवं चिर जीवन और अभ्युदय के पीछे महावीर का उदात्त व्यक्तित्व सदा रहा है।

गौतम बुद्ध के जीवन का इतिहास आदि से अन्त तक उनके व्यतिक्त्व के विकास की गाथा है। जिस मानसिक संकल्प-विकल्प में गौतम को उनकी युवावस्था में हम पाते हैं, वह सदा किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए साधारण है। गौतम में अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए असाधारण अदम्य उत्साह था। उनके जीवन की सार्थकता उनकी दृष्टि में भोग-विलास आदि नहीं थे, अपितु जीवन की विषमताओं से अपना उद्धार करना था। गौतम की प्रारम्भिक प्रतिभा और तर्क-परायण मननशीलता ने उनको इस योग्य बना दिया था कि उस युग के दार्शनिक आचार्यों और ग्रन्थों के प्रतिपादित सिद्धान्तों की उत्कृष्टता और निकृष्टता की वे परख कर सकते थे। उन्होंने स्वयं तप और योग एवं मनन और निदिध्यासन के द्वारा निर्वाण पथ का अनुसन्धान किया था।

गौतम के व्यक्तित्व की ऋजुता उल्लेखनीय है। उनके व्यक्तित्व में रहस्य को कोई स्थान नहीं था। उनके आर्य-सत्य और अष्टांगिक मार्ग की सरल कल्पना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप थी। गौतम का मनोबल अवश्यमेव अलौकिक था। उन्होंने जिस सत्य का दर्शन किया था, उसमें उनकी दृढ़ आस्था थी और उसके अनुरूप उनका व्यवहार था।

जिस ज्ञान-दीपक को गौतम ने आत्म-प्रकाश के लिए पाया, उसको उन्होंने सदा के लिए सर्वजन सुलभ बनाने का संकल्प किया था। उन्होंने जीवन भर एतदर्थ अहर्निश प्रयत्न किया। इसमें उन्हें जो सफलता मिली, उसके पीछे उनके ज्ञान का

उतना महत्त्व नहीं था, जितना उनके सच्चरित्र, उदारता और स्पष्ट व्यक्त होने वाली कल्याणपरता को था। उनके व्यक्तित्व से जो शान्ति और अभिजातीयता प्रकट होती थी, उसे उन्हीं के मार्ग से पाने के लिए तत्कालीन समाज लालायित हो उठा था।

गौतम की दिनचर्या थी भ्रमण करते हुए अधिकाधिक लोगों को निर्वाणपथ पर अपना अनुयायी बनाना। उनकी दृष्टि में कोई बड़ा-छोटा नहीं था। जहाँ कहीं भी उन्होंने उपयुक्त अवसर पाया, अपनी ज्ञान की पोटली खोल दी और निर्बाध रूप से उसका वितरण किया। घर छोड़ने के १२ वर्ष पश्चात् गौतम पुनः अपने नगर में पहुँचे, पर इस बार उनका उद्देश्य था अपने माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि को निर्वाण-पथ पर प्रवृत्त करने के लिए संघ में प्रविष्ट कराना।

गौतम लोक-सेवा को सर्वोच्च धर्म मानते थे। उन्होंने जीवन भर यही किया। जहाँ-कहीं उनके समक्ष दुःख की अग्नि से जलता व्यक्ति आया कि गौतम ने उसे अपनी दया की निर्झरिणी में अभिषिक्त करके सदा के लिए अपना लिया। गौतम के व्यक्तित्व का प्रभाव बौद्ध दर्शन के परवर्ती विद्वानों पर तो पड़ा ही, अन्य दर्शन के आचार्य भी उससे प्रभावित हुए। दार्शनिकता के साथ-साथ आचार्यत्व की संगति और साधारण जन-समाज का नेतृत्व —यह गौतम की विशेषता थी।

दार्शनिक विशेषताएँ

सुदूर प्राचीन काल से भारत अपनी दार्शनिक प्रवृत्तियों के लिए विख्यात रहा है। इस देश में दार्शनिक विषयों के अध्ययन और मनन को सर्वोच्च विद्वानों ने अपने जीवन का परम उद्देश्य माना था। राष्ट्र ऐसे विद्वानों को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्रदान करके उनके सामने नतमस्तक था। दर्शन को सभी विद्याओं का आदिस्रोत माना गया। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार 'ब्रह्मविद्या-सर्वविद्या प्रतिष्ठा' है अर्थात् ज्ञान की सभी शाखाओं का मूल-स्तम्भ ब्रह्मविद्या या दर्शन है। अर्थशास्त्र के अनुसार दर्शन सभी ज्ञानों के लिए दीपक के समान है और इसी के द्वारा सभी कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं। उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि दर्शन की इस देश में अनुपम महिमा थी और इसके प्रति लोगों की स्वाभाविक अभिरुचि थी। यही कारण है कि राष्ट्रीय जीवन की समग्र गति-विधि पर दर्शन का अप्रतिम प्रभाव था। दर्शन के प्रकाश से राष्ट्रीय जीवन प्रकाशित था।[1]

---

१. तत्कालीन विश्व में प्रायः सर्वत्र भारतीय दर्शन के उच्च तत्त्वों को अपनाया गया। इस वृत्त की पुष्टि के प्रमाण के लिए देखिए मैकडानल का संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४२२-४२३। एशिया में बौद्ध और वैदिक दर्शनों का प्रभाव सर्वविदित है।

भारतीय दर्शन की निजी विशेषतायें रही हैं। सर्वप्रथम विशेषता है—दर्शन का मोक्षपरक होना। मोक्ष पाने के लिए विशुद्ध ज्ञान के साथ विशुद्ध जीवन-चर्या की प्रतिष्ठा की गई। प्रायः सभी दर्शन मोक्ष के इन दोनों साधनों को विविध दृष्टिकोणों के अनुसार प्रस्तुत करते हैं। उनके मतों में विविधता का होना स्वाभाविक है, पर उनके मतों का अधिकांश में तत्त्वतः समान होना प्रत्यक्ष सत्य है।

मोक्ष को सर्वोच्च सत्य मान लेने पर प्रश्न होता है कि आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के द्वारा जब मोक्ष की सिद्धि होती है तो आधिभौतिक प्रवृत्तियों का क्या किया जाय ? भारतीय दर्शन इस समस्या का अनुपम समाधान प्रस्तुत करता है। आधिभौतिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए साधन बनाना है। कालिदास का 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इसी समाधान की ओर संकेत करता है। इस योजना के द्वारा आधिभौतिक प्रवृत्तियों को पाशविकता की उच्छृंखलताओं से पराङ्मुख करके उदात्त बना दिया गया है। यही दार्शनिक जीवन की विशुद्ध मर्यादा है, जो आधिभौतिक क्षेत्र में गीता के कर्मयोग की क्रान्ति उपस्थित कर सकी। बौद्ध दर्शन के अष्टाङ्गिक मार्ग में इस तत्त्व की सर्वोपरि प्रतिष्ठा मिलती है। साधारणतः सभी धर्मों की आधिभौतिक प्रवृत्तियों का मूल तत्त्व आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की ओर नियोजित है।

अध्याय ११

धार्मिक प्रवृत्तियाँ

दर्शन के द्वारा मनुष्य को ज्ञात होता है कि जीवन के इन्द्रिय-जनित सुखों की परिधि सीमित है और वास्तव में ये सुख, स्वर्ग और मुक्ति के आनन्द की तुलना में हीन हैं। प्रत्येक दर्शन स्पष्ट निर्देश करता है कि कुछ कर्मों के फल भोगने के लिए वारंवार इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। जीवन के जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मानव अपने पुण्यों के द्वारा कुछ समय तक स्वर्ग में रह सकता है, पर पुण्य के क्षीण होने पर फिर इसी बन्धन में पड़ता है। सर्वोत्तम है मुक्ति, जिस पद को प्राप्त कर लेने पर पुनः बन्धन असम्भव है।

स्वर्ग और मुक्ति की जो कल्पना दर्शन के द्वारा मानव के हृदय में प्रतिष्ठित की गई है, उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। मानव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को दृष्टि-पथ में रखते हुए विचारकों ने जो योजनायें बनाईं, वे धर्म के अन्तर्गत आती हैं। इस योजना के द्वारा निर्णय किया गया है कि विश्व की विविध वस्तुओं के प्रति विविध परिस्थितियों में मानव कैसा व्यवहार करे। धर्म के इस महत्त्वपूर्ण अंग का नाम आचार-शास्त्र है। मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों और पदों की रूप-रेखा प्राचीन काल में वर्ण और आश्रम के अनुसार नियोजित होती थी। धार्मिक विधानों के द्वारा प्रत्येक वर्ण और आश्रम के व्यक्ति के लिए उन कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है, जो उसके व्यक्तिगत अभ्युदय और सामाजिक कल्याण के लिए हो सकते हैं। वर्णाश्रम-विधान और आचार-शास्त्र दोनों ही आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए सर्वतः शुद्धि का सर्वाधिक महत्त्व बतलाते हैं।[1] सर्वतः शुद्धि की

---

१. धर्म के तीन स्वरूप हैं—श्रौत, स्मार्त और शिष्टाचार। बौधायन १.१.१—४ इनमें से श्रौत वैदिक साहित्य के यज्ञादि का विवेचन करता है, स्मार्त स्मृतियों में प्रतिपादित वर्णाश्रम का निरूपण करता है और शिष्टाचार सामान्य धर्म है, जो किसी सुसंस्कृत समाज में सम्मानित व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में लक्षित होता है। इस अध्याय में श्रौत और स्मार्त धर्म का विवेचन है। अगले अध्याय में शिष्टाचार का विवेचन किया जायेगा।

परिधि में मानव की मानसिक, शारीरिक और वाचिक शुद्धि, उसके कर्मों की शुद्धि एवं उसके सभी संग्रहों की शुद्धि का निदेशन किया गया है। संग्रह शब्द के अन्तर्गत इस प्रसंग में समाज आता है, जिसका अंग व्यक्ति है।

धर्म की परिधि

भारतीय धर्म की परिधि अतिशय विशाल रही है। धर्म के आदर्श सृष्टि के आदि तत्त्व ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों से अनुबद्ध हैं। वैदिक धारणा के अनुसार देवता अतिशय समर्थ हैं। वे अमर हैं। उन्हें धर्म के क्षेत्र में विशेष समादर प्राप्त हुआ। लोगों की धारणा रही है कि अभ्युदय के पथ में यजन-पूजन और भक्ति के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करके मनोनुकूल फल प्राप्त किया जा सकता है, जो सम्भवतः अन्यथा अप्राप्य हों। देवताओं के वैदिक या पौराणिक चरित को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को दिव्य साँचे में ढालने का उत्साह धर्म की एक अद्भुत देन है।

धर्म की योजना का आधिदैविक मूल प्राकृतिक या दैवी विधानों में मिलता है। जिस देव ने इस विश्व की रचना की है अथवा जिससे विश्व का प्रादुर्भाव माना जाता है, वह ऐसे विधानों की अपेक्षा रखता है कि विश्व की स्थिति रहे। सृष्टि-रचयिता के लिए देव, मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी-समुद्र, सूर्य-तारे आदि सबकी स्थिति रक्षणीय है। उसने इस प्रयोजन से प्राकृतिक विधान बनाया है, जिसे ऋत कहते हैं। ऋत प्राकृतिक धर्म है, जिसे आधिदैविक धर्म भी कहा जा सकता है। मानव भी प्रकृति का अंग है। वह इस आधिदैविक ऋत-धर्म को मानने के लिए बाध्य है। विश्व में किसी का धर्म एकाङ्गी नहीं हो सकता। किसी एक का धर्म ऐसा नहीं होना चाहिए कि उससे दूसरे की स्थिति में बाधा पड़े। मानव-धर्म भी ऐसा होना चाहिए, जो सबकी प्रतिष्ठा के लिए हो। मानव-धर्म से विश्व के देव, पशु-पक्षी, और सूर्य-तारे सबका कल्याण होना चाहिए—यही धर्म के विषय में भारत का शाश्वत दृष्टिकोण है।[1]

धर्म के कुछ मौलिक अंगों की विशेषताओं का ऊपर परिचय दिया गया है। इनमें एक या अनेक को लेकर धर्म की परिभाषा बनाई गई है। कणाद के अनुसार

---

१. मनु के अनुसार वह धर्म त्याज्य है, जिससे लोक को कष्ट हो। ४.१७६
महाभारत के अनुसार :—

> सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
> उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥ उद्योग० ३५.२॥

'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् धर्म वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो।[1] इस प्रकरण में अभ्युदय का अभिप्राय लौकिक उन्नति है और निःश्रेयस मुक्ति है। सूत्र में होने पर भी यह परिभाषा विशद अर्थों से समन्वित है। इसके भाष्य में धर्म के प्रायः सभी अंगों का अन्तर्भाव हो जाता है। निःसंदेह धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक है।

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार धर्म के तीन भाग हैं—(१) यज्ञ, अध्ययन दान, (२) तप, (३) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य। इस उपनिषद् के अनुसार ये तीनों पुण्य-लोक प्रदान करने वाले हैं। इन तीनों स्कन्धों के अन्तर्गत मानव की सभी उदात्त प्रवृत्तियों और कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है।

मनु ने धर्म की शाश्वत परिभाषा बतलाई है। यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥६.९२॥

धर्म की उपयोगिता बताते हुए मनु ने कहा है कि धर्म एक मात्र मित्र है, जो मरने के पश्चात् भी साथ जाता है। यथा—

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः॥२.१७

आचार्य क्षेमेन्द्र ने धर्म की उपयोगिता को इस प्रकार व्यक्त किया है—

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम्॥

धर्म की लोक और परलोक में उपयोगिता होने से वह अपरिहार्य माना गया।

उपर्युक्त परिभाषा से मिलती-जुलती महाभारत की परिभाषा है, जिसके अनुसार दान, ब्रह्मचर्य, भूत-दया, सत्य, अनुक्रोश, धृति और क्षमा सनातन धर्म के सनातन मूल हैं।[2] महाभारत में धर्म की व्युत्पत्ति बतलाई गई है कि धारण करने की योग्यता होने से धर्म शब्द सार्थक है। धर्म समाज को धारण करता है।[3] सभी

---

१. कणादसूत्र १.१.२।

२. एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्॥ अश्वमेधिकपर्व ९४.३१॥

३. धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। कर्णपर्व ४९.५० तथा अन्यत्र इस विषय का समर्थन शान्तिपर्व ११०.११-१२ में है।

प्राणियों के प्रति मन में कल्याण-भावना रखना मानसिक धर्म है।[१] महाभारत में आत्मसम्पत्तियों को धर्म का मूल माना गया। ये सम्पत्तियाँ हैं—बहुश्रुत होना, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्रिया, क्षमा, भाव-शुद्धि, दया, सत्य और संयम।[२] प्रायः इन्हीं के समकक्ष विधान—यज्ञ, अध्ययन, दान और तप से पितृयान तथा सत्य, क्षमा, दम और अलोभ से देवयान का पथिक बन जाने की योजना महाभारत में प्रस्तुत की गई है।[३]

पौराणिक युग में भी मानवता के सर्वश्रेष्ठ गुणों को धर्म का आवश्यक अंग माना गया। भागवत के अनुसार विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चार पद हैं—अर्थात् धर्म इन्हीं के अनुरूप हो सकता है।[४] वायुपुराण के अनुसार कुशलता और अकुशलता सम्पादित करने वाले कर्म ही धर्म या अधर्म हैं। अधर्म वही है, जिसके धारण करने से महत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है और जो धारण करने के योग्य नहीं है।[५] धर्म की प्रायः यही परिभाषा जैन महापुराण में भी मिलती है, जिसके अनुसार वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रिया-विधि, मन्त्र, देवता-लिंग, आहार आदि की शुद्धि का जो विवेचन ऋषियों ने किया है, वह धर्म है।[६]

अशोक ने सभी धर्मों के अनुरूप जो परिभाषा धर्म के लिए नियत की, उसके अनुसार पाप से दूर रहना, अच्छे काम करना, दया, दान, सत्य और पवित्रता का व्रत लेना धर्म है।[७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म की परिधि में जीवन के सभी पक्षों और प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है।[८]

---

१. शान्तिपर्व १८२.३०।

२. शान्तिपर्व १६१.५-६।

३. वनपर्व २.७१–७३

४. भागवत ३.१२.४१।

५. वायुपुराण ५९ वाँ अध्याय।

६. महापुराण ३९.२०-२१।

७. अशोक का द्वितीय स्तम्भ-लेख।

८. काणे के अनुसार—The writers on Dharmasāstra meant but a mode of life or a code of conduct, which regulated a man's worb and activities as a member of society and as an individual and was intended to bring about the

धर्म-संगम

भारत के विशाल प्राङ्गण में अनेक वर्गों के लोग सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न स्तरों पर प्रायः सदा ही रहे हैं। उनमें से सभी वर्गों के धर्मों की कुछ निजी विशेषताओं का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सदा के लिए सम्भव हो सकता है, परन्तु साधारणतः उनका एक दूसरे से सङ्गम होकर उनकी एक धारा वैसे ही प्रवाहित हुई है, जैसे अगणित नदियों से सङ्गम करके कोई महानदी प्रवाहित होती है। आधुनिक हिन्दू-सनातन-धर्म कुछ ऐसा ही है। इसकी प्राचीनतम रूप-रेखा ऋग्वेद में मिलती है। उस आदिकालीन वैदिक धर्म के साथ आर्येतर धर्मों का सङ्गम वैदिक काल में आरम्भ हुआ। ऐसी स्थिति में वैदिक धर्म की परिधि कुछ अधिक विस्तृत हुई। इस नये धर्म के स्वरूप का परिचय रामायण और महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलता है। इस धर्म का सर्वाङ्गीण विकास पौराणिक साहित्य में देखा जा सकता है।

प्राचीनतम आर्येतर धर्म

आर्येतर धर्म की एक शाखा का परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से मिलता है। वहाँ के तत्कालीन निवासी मूर्ति-पूजक थे। वे शिव के उपासक थे। शिव के पशुपति एवं लिङ्ग-प्रतीक की उस युग में प्रतिष्ठा थी। वे सम्भवतः पाशुपत योग की साधना करते थे। उस समय नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा, जल-पूजा और पशु-पूजा भी प्रचलित थी। सम्भवतः पूजा के निमित्त बकरे की बलि दी जाती थी। उस समय के लोगों को शारीरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान था। वे स्नान करने के पश्चात् पूजा-पाठ करते थे और ध्यान लगाते थे। पूजा करते समय अथवा कर्मकाण्डों के अवसर पर नृत्य और वाद्य का समारोह होता था। ताबीजों और जादू-टोनों के प्रति उनकी आस्था थी।

सिन्धु-युग की सबसे अधिक पूजनीय देवी के रूप में माता की प्रतिष्ठा थी। वह सम्भवतः प्रकृति की आदिशक्ति का प्रतीक थी। मातृदेवी की मिट्टी की बनी हुई असंख्य मूर्तियाँ मिलती हैं। इसके समकक्ष वैदिक धर्म की अदिति या पृथ्वी माता है। पौराणिक युग में मातृदेवी के समकक्ष चण्डी, दुर्गा, भवानी आदि मिलती हैं। सिन्धु-युग की एक मुद्रा पर नारी के पेट से एक पौधे की उत्पत्ति और

---

gradual development of a man and to enable him to reach what was deemed to be the goal of human existence.

History of Dharmaśāstra Vol II Part 1 page 2.

विकास का दृश्य अंकित है। सम्भवतः यह पृथ्वी देवी का अंकन है। यही देवी आगे चल कर ग्रामदेवी के नाम से भारत के गाँव-गाँव में आज तक प्रतिष्ठित है।

तत्कालीन शिवांकित मुद्रा में शिव के तीन मुख दिखाये गये हैं। शिव की मुद्रा योगी की है। उनके चारों ओर हिंस्र पशु—चीते, गैंडे और भैंसे अंकित हैं। शिव के सिर पर दो सींग हैं। परवर्ती ऐतिहासिक युग में शिव की दो, तीन या चार मुखों की मूर्तियाँ मिलती हैं। शिव की परवर्ती युगीन पशुपति उपाधि सम्भवतः सिन्धु-सभ्यता की सनातन परम्परा का स्मारक है। उस समय की मुद्राओं पर योगीश्वर, ऊर्ध्वलिङ्ग (लकुलीश), विरूपाक्ष आदि शिव के विविध स्वरूपों का अंकन है। उस युग के बने हुए अनेक शिव-लिंग वहाँ मिलते हैं, जिनकी सम्भवतः पूजा होती थी। मूर्ति-पूजा या लिंग-पूजा वैदिक संस्कृति में नहीं प्रचलित थी। पौराणिक संस्कृति की लिंग-पूजा सिन्धु-सभ्यता की लिंग-पूजा की सनातन परम्परा में है।

सिन्धु-युगीन पूजनीय पशुओं की मूर्तियाँ और चित्र मिलते हैं। पशुओं की आकृति प्रायः काल्पनिक है। कुछ पशुओं के सिर और धड़ में एकता नहीं है। यदि सिर मानव का है तो धड़ किसी पशु—बकरे, बैल या हाथी का है। एक मूर्ति का सिर बकरे का है, पर धड़ मनुष्य का है। मनुष्य और पशु की मिश्रित मूर्तियों के निर्माण की परम्परा परवर्ती धार्मिक शिल्पों में मिलती है। किन्नर की साहित्यिक कल्पना की परम्परा उपर्युक्त सिन्धु-सभ्यता की धार्मिक कल्पना पर आधारित प्रतीत होती है। कुछ लोग नाग-पूजा करते थे। पूजा के लिए प्रायः भैंस, नील गाय, बैल, हाथी, गैंडा और व्याघ्र चुने गये थे।

सिन्धु-सभ्यता में मृतकों को गाड़ने का प्रचलन था। शव के साथ प्रायः १५ से २० तक पात्र रख दिये जाते थे। मृत व्यक्ति के लिए वस्त्राभूषण और प्रसाधन-सामग्री रख दी जाती थी। कुछ शव लकड़ी की पेटी में बन्द किये जाते थे।

आर्येतर धर्म

सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त अन्य आर्येतर धर्मों का अभ्युदय प्राचीन भारत में रहा है। ऋग्वेद के अनुसार 'आर्येतर' जातियाँ जल और अश्वत्थ वृक्ष की पूजा करती थीं। वृत्र नामक नाग इन्हीं आर्येतर लोगों का देव था। कृष्ण नामक जाति का नेता कृष्ण अपनी जाति के धर्म का संरक्षक था। कृष्ण का इन्द्र से युद्ध हुआ था। कृष्ण के पास १०,००० सेना थी।[1] छान्दोग्य उपनिषद् के

---

१. राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलासफ़ी, भाग १, पृ० ८७।

अनुसार असुर दान नहीं देते थे। उनमें श्रद्धा नहीं थी। वे यज्ञ नहीं करते थे। यही उनका उपनिषद् था। वे प्रेत के शरीर को सुगन्धित द्रव्यों, अलंकारों तथा बहुमूल्य वस्त्रों से सजाते थे। उनका विश्वास था कि इस विधि से वे लोक-परलोक में विजयी होंगे।[१] रामायण के अनुसार राक्षसों का अपना धर्म स्वतन्त्र रूप से था।[२] महाभारत में देव, असुर और ब्राह्मणों के अलग-अलग धर्म होने का उल्लेख है।[३]

आर्येतर धर्म में पूजा प्रधान थी। पूजा के लिए पशुओं की बलि देने का प्रचलन था। साथ ही पुष्प समर्पित किये जाते थे। शक्ति की पूजा का आर्येतर समुदाय में विशेष महत्त्व था। शक्ति का आह्वान करके भक्त उसे देवी रूप में किसी प्रतीक—मूर्ति, घर, वृक्ष, चित्र आदि में प्रतिष्ठित करता था। भक्त की भावना के अनुसार शक्ति प्रतीक में आ विराजती थी। बस, प्रतीक का आदरणीय अतिथि का सा स्वागत आरम्भ होता था। प्रतीक को स्नान कराया जाता था। पत्र, पुष्प, अक्षत आदि उस पर छिड़के जाते थे और उसके लिए सुस्वादु भोजन का भोग लगाया जाता था। अन्त में उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करके रक्त-चन्दन से चर्चित किया जाता था अथवा सिन्दूर का लेप किया जाता था। इस सत्कार के पश्चात् भक्त प्रार्थना और ध्यान में तल्लीन हो जाता था। द्राविड़ों में शक्ति के अतिरिक्त हनुमान की पूजा का प्रचलन था। कादम्बरी में बाण ने आर्येतर जातियों की धार्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत पशुओं के उपहार और रुधिर से देवताओं की बलि-पूजा का उल्लेख किया है। कुछ जातियों में नर-बलि तक देने का प्रचलन था।[४]

पुराणों के अनुसार यक्ष, राक्षस, भूत-पिशाच, सर्प, वेताल आदि की पूजा का प्रचलन आर्येतर वर्ग में था। वैष्णव भक्तों के लिए इनकी पूजा निषिद्ध थी।[५] विष्णु पुराण में इन्द्र के लिए यज्ञों के समकक्ष गोप जाति में गिरि-यज्ञ और गो-यज्ञ के प्रचलन का उल्लेख है। गोप जाति के ये यज्ञ वैदिक यज्ञों के समान नहीं थे। इन यज्ञों में सर्वप्रथम गोवर्धन-गिरि की पूजा होती थी। फिर हवन के पश्चात् ब्राह्मण-भोजन होता था। इसके पश्चात् शरद् ऋतु के पुष्पों से सजे हुए मस्तक वाली गौओं से गोवर्धन की प्रदक्षिणा कराई जाती थी। यज्ञों में दधि, पायस, मांस आदि से

---

१. छान्दोग्य उ० ८.८.५।
२. इस ग्रन्थ में बहुधा राक्षस-धर्म-वर्णन है। यथा बालकाण्ड सर्ग ३०।
३. महा० सभापर्व ६१.६५।
४. सोनसाल जातक ३५३।
५. पद्मपुराण उत्तर खण्ड २८० वाँ अध्याय।

पर्वत को बलि दी जाती थी। यह यज्ञ सार्वजनिक महोत्सव के रूप में होते थे, जिसमें वृन्दावन के सभी गोप भाग लेते थे।[1]

आर्येतर धर्मों की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उससे आदिकालीन वैदिक धर्म की समानता प्रायः नहीं दिखाई पड़ती है। वैदिक धर्म यज्ञ-प्रधान है। यज्ञ के अवसर पर मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान करके उन्हें भोजन, पेय आदि सामग्री समर्पित की जाती थी। इस अवसर पर उनकी स्तुति वैदिक मन्त्रों से की जाती थी। वैदिक युग में आर्य धर्म में पुष्प आदि से देव-पूजा का विधान नहीं था।

कालान्तर में शनैः शनैः यज्ञों की महिमा घटी। यज्ञ का स्थान मन्दिरों की देव-पूजा, भक्ति, तीर्थ-यात्रा, तप, इष्टापूर्त और व्रतोपवास आदि ने ले लिया। यही धर्म की पौराणिक परम्परा है। नित्य नये-नये देवताओं की कल्पना होती रही और पुराने देवताओं में से कुछ का महत्त्व बढ़ा और कुछ का महत्त्व घटा। वेदकालीन धर्म में इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि आदि का स्थान प्रायः सर्वोच्च है, पर पुराणों में शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य आदि के समक्ष वे हीन प्रतीत होते हैं। अवतारवाद की स्पष्ट कल्पना पौराणिक धर्म की अभिनव योजना प्रतीत होती है। यही पौराणिक धर्म भारत में शाश्वत प्रतिष्ठा पा सका। इस प्रकार भारत में अनेक धर्मों का संगम हुआ है।

संस्कृति के आरम्भिक युग में धार्मिक भावनाओं का उदय जिस रूप में हुआ होगा, उसकी कल्पना-मात्र हो सकती है। प्रकृति की शक्ति-शालिनी प्रवृत्तियों को देख कर मानव के मन में उसकी महिमा के प्रति श्रद्धा जागरित हुई। प्रकृति के प्रति मानव ने नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा और समादर-भावना को प्रकट करने के निमित्त अपनी प्रियतम वस्तुओं से उसकी अर्चना की होगी। विविध प्रदेशों और युगों में उपर्युक्त अर्चना के विविध रूप रहे होंगे। इन्हीं रूपों के चिरकालीन विकास का प्रथम रूप सिन्धु-सभ्यता और वैदिक सभ्यता के धर्मों में दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म का सुविकसित स्वरूप सर्वप्रथम वैदिक संहिता-ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से इस धर्म के मूल स्वरूप की कुछ-कुछ कल्पना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ से ही वैदिक धर्म में प्रकृति की दिव्य सत्ताओं की प्रतिष्ठा रही है। इन सत्ताओं के दो रूप हैं—व्यावहारिक और आध्यात्मिक। इनमें से व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आध्या-

---

१. विष्णु पुराण ५.१०.३८-४६।

त्मिक रूप का आभास-मात्र मिलता है। आध्यात्मिक बोध के लिए श्रद्धा आवश्यक होती है। कभी-कभी व्यंजना के द्वारा भी आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होता है।[1] सूर्य अपने लौकिक या व्यावहारिक स्वरूप द्वारा जगत् को प्रकाश देता है और अपने आध्यात्मिक स्वरूप के द्वारा मानवों की बुद्धि को प्रस्फुटित करता है। यही सूर्य की दिव्यता है।[2] दिव्य सत्ताओं की संख्या भारतीय धर्म में शनैः शनैः बढ़ती गई है। समाज के सभी वर्गों के लोगों ने अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल विशिष्ट गुणों से सम्पन्न देवताओं की प्रतिष्ठा कर ली।[3]

देवताओं के व्यक्तित्व के आदर्श की प्रतिष्ठा ऋषियों ने मानवों के चारित्रिक विकास के उद्देश्य से की है। जो कुछ देवताओं ने जिस विधि से किया है, वैसे ही मानवों को भी करना चाहिए। इस प्रकार धर्म के संस्थान में देवताओं के व्यक्त्वि की कल्पना का विशेष महत्त्व है। भारतीय धर्म की तात्त्विक प्रवृत्तियों तक पहुँचने के लिए देवताओं के व्यक्तित्व को समझ लेना अपेक्षित है।

देव-प्रतिष्ठा

मानवीय कल्पना के अनुसार देवता मानवों से अधिक सशक्त हैं। वे प्रकृति की शक्तियों का नियन्त्रण करते हैं। देवताओं का सभी प्राणियों पर एकच्छत्र अधिकार है। उनके विधान के प्रतिकूल कोई नहीं चल सकता। साधारणतः

---

१. सूर्य का आध्यात्मिक स्वरूप मानव के आध्यात्मिक स्वरूप के समकक्ष माना जा सकता है। मानव का भौतिक स्वरूप उसके आध्यात्मिक स्वरूप से जिस मात्रा में भिन्न कल्पनीय है, उसी प्रकार सूर्य का भौतिक रूप उसके आध्यात्मिक रूप से भिन्न है।

२. सूर्य की उपासना मानव के लिए स्वाभाविक है। ग्रीक धर्म में सूर्य की पूजा का अतिशय महत्त्व है। प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में सूर्य की पूजा की व्यवस्था दी है। उसकी दृष्टि में सूर्य सत् का प्रतीक है। फारस में भी सूर्य की पूजा रही है। राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफ़ी, भाग १, पृ० ८०।

३. वैदिक ऋषियों को जो कुछ उपयोगी प्रतीत होता था, उसके प्रति लोगों के 'देव' भाव जागरित हो जाते थे। ऋग्वेद १.२३.१८-१९ में जल के सोते की स्तुति करने का आदेश दिया गया है। जहाँ गाएँ पानी पीती हैं, उस सोते के लिए हवि समर्पित करने का विधान बनाया गया। कवि ने उपर्युक्त बातें कहने के पश्चात् आदेश दिया—जल में अमृत है, भेषज है। जल की प्रशस्ति के लिए उद्यत रहना चाहिए।

देवता लोकोपकारी हैं। वे सत्यपरायण हैं और किसी को धोखा नहीं देते। देवता सच्चरित्र व्यक्तियों के मित्र हैं। वे उनकी रक्षा करते हैं और पापियों को दण्ड देते हैं।

वेदकालीन धारणा के अनुसार आर्यों की देवताओं से अतिशय समीपता थी। आर्यों का विश्वास था कि देवताओं की सहायता से हमें शत्रुओं पर विजय मिलेगी, धन प्राप्त हो सकेगा तथा हमारे दुःखों और पापों का निवारण होगा। उदाहरण के लिए अग्नि की स्तुति लीजिये—हे अग्नि, जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए आसन्न-वर्ती होता है, वैसे ही आप हमारे लिए हों। हमारे कल्याण के लिए आयोजन करें?[1] अग्नि हमारे पिता हैं, स्वजातीय हैं, भाई हैं और मित्र हैं।[2]

आर्यों का अपने शत्रुओं से प्रायः संघर्ष रहता था। इस संघर्ष में आर्यों को देवताओं की सहायता का पूरा भरोसा था। ऐसे देवताओं में इन्द्र का नाम सर्वोपरि है। इन्द्र के सम्बन्ध में वैदिक धारणा थी कि लोगों को उनके बिना विजय नहीं प्राप्त हो सकती। वे अचल को भी चलायमान कर देते हैं। युद्ध करने वाले सहायता पाने के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं। वे शत्रुओं का सामना करने में समर्थ हैं।[3] इन्द्र मेघों को रोक रखने वाले असुरों को वज्र से मार कर जल बरसाते हैं।

आर्यों का विश्वास था कि देवता पापियों को दण्ड देते हैं। उनके दण्ड से बचने के लिए कभी-कभी स्तुतियाँ पर्याप्त मानी जाती थीं। वरुण से ऋषि ने कहा है—हमारे पितरों को पाप से मुक्त कीजिये। हमें पाप से बचाइये।[4] वरुण सभी देवताओं के पोषक हैं और ऋत के प्रवर्तक हैं। वे मूर्तिमान् सत् हैं।

विष्णुलोक में देवताओं के उपासक प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं। इस लोक में मधु का स्रोत है।[5] विपत्ति में पड़े मानवों की रक्षा के लिए विष्णु ने स्वयं तीन बार

---

१. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ऋग्वेद १.१.९॥

२. अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्। ऋग्वेद १०.७.३॥

३. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव योऽच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ऋग्वेद २.१२.९

४. अवद्रुग्धानि पित्र्या सृजानः ऽव या वयं चकृमा तनूभिः ॥ऋग्वेद ७.८६.५॥

५. ऋग्वेद १.१५४.५।

पृथ्वी की परिक्रमा की है। वे आह्वान करने वालों के आमन्त्रण पर आ उपस्थित होते हैं।[1]

लोकोपकारी देवताओं में अश्विद्वय की गणना सर्वप्रथम होती है। वैदिक धारणा के अनुसार मानवलोक या देव-लोक में जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती थी, अश्विद्वय उपस्थित होकर सहायता करते थे। लोगों को विपत्तियों से बचाने में और चिकित्सा करने में अश्विद्वय विशेष रूप से निष्णात थे। किसी ऋषि ने अश्विद्वय के इन गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा है—पवित्र मानवों की सहायता के लिए अपने रथ पर धन रख कर उपस्थित हो जाइये। हमारे आलस्य और रोगों को दूर कर दीजिये। हे मधु के रसिक, आप लोग दिन-रात हमारी रक्षा करते रहें।[2]

उपर्युक्त धारणाएँ लोगों को देवताओं के प्रति प्रवृत्त करने में समर्थ थीं। ऋग्वेद में जिन देवताओं की कल्पना हो चुकी थी, उनमें से प्रमुख नीचे लिखे हैं—

आकाश के देवता—द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, विष्णु, पूषा, अश्विद्वय, उषा, चन्द्र रात्रि।

वायु के देवता—इन्द्र, अपांनपात्, वायु, पर्जन्य, आपः, रुद्र, मरुत्।

पृथ्वी के देवता—अग्नि, सोम, नदी (सरस्वती, सिन्धु, विपाश्, शतुद्री), पृथ्वी, समुद्र।

लघु देवता—ऋभु, गन्धर्व, अप्सरा, वन, वृक्ष और पौधों के अधिष्ठाता देव, गोचर और पर्वतों के अधिष्ठाता देव, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति, सीता, नक्षत्र, यज्ञ के उपकरण, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र और पशु। इनके अतिरिक्त कर्तृदेव हैं, जिनमें से धाता-विधाता, त्राता, नेता, त्वष्टा आदि हैं।

यज्ञ

यज्ञ का स्वरूप दो प्रकार का था—नित्य और नैमित्तिक। नित्य यज्ञ पंच महायज्ञों के रूप में थे, जिनका विवरण गृहस्थाश्रम के प्रकरण में दिया जा चुका है। यजमान अपने पुरोहितों की सहायता से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कराने के लिए नैमित्तिक यज्ञ करवाते थे। ऐसे उद्देश्य असंख्य हो सकते थे, जिनकी परिधि के भीतर प्रायः सभी प्रकार की इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ आ सकती थीं।[3] कुछ यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी।

---

१. ऋग्वेद १.१५५.६।

२. ऋग्वेद ७.७१.३।

३. शतपथ ब्राह्मण २.६.४.८ के अनुसार वैश्वदेव यज्ञ से यजमान अग्नि-

यज्ञों से लौकिक और अलौकिक ऐसे लाभों की सम्भावना थी, जिनमें से केवल कुछ आजकल वैज्ञानिक साधनों से प्राप्त हो सकते हैं। यज्ञों की लोकप्रियता का यही प्रधान कारण रहा है।

वैदिक काल में सोम-यज्ञ का विशेष प्रचलन था। इसमें सोम-लता को पीसने, रस निचोड़ने तथा भेड़ के ऊन से उसे छानने और उसमें दूध तथा मधु आदि मिलाने की सारी प्रक्रिया वैदिक मन्त्रों के गायन के साथ सम्पन्न होती थी। सोम रस के प्रस्तुत हो जाने पर स्तुतियों द्वारा विभिन्न देवताओं का आवाहन होता था। प्रत्येक देवता के लिए अलग-अलग पात्र में पेय रखा जाता था। देवताओं के लिए रस समर्पित कर लेने के पश्चात् उसे पी जाने की रीति थी। यह यज्ञ प्रातःकाल प्रधानतः अश्विद्वय के लिए तथा मध्याह्न में इन्द्र के लिए सम्पन्न किया जाता था। रात्रि के समय भी सोम-यज्ञ सम्पन्न होते थे।

मरणोत्तर विधान

मरने के पश्चात् शव को जलाने का प्रचलन था। उस समय प्रज्वलित चिता के समीप पितरों की स्तुति में मन्त्र-पाठ होते थे। कल्पना थी कि मृत व्यक्ति साधारणतः मरने के पश्चात् पितर बनकर यमलोक में सानन्द रहता है। वही स्वर्ग है।[१] वहीं उसे मर्त्यों के द्वारा सम्पादित यज्ञादि का फल मिलता है। पुत्र और पौत्रों के द्वारा प्रदत्त वस्तुयें वहाँ उनके लिए भोग्य होती हैं।

आत्मा के अमरत्व की कल्पना ऋग्वेद के युग से रही है।[२] कुछ लोगों में पुनर्जन्म होने की धारणा थी।[३] मरने के पश्चात् मृत व्यक्ति की आत्मा के उसके

लोक प्राप्त करता है और साकमेध और वरुण-प्रधास से इन्द्रलोक और वरुण-लोक मिलते हैं। आयुष्कामेष्टि दीर्घायु के लिए, स्वस्त्ययनी यात्रा-सुख के लिए, पुत्रकामेष्टि पुत्र पाने के लिए, लोकेष्टि लोककल्याण के लिए, महावैराजी बड़े राज्य के लिए, मित्रविन्दा अधिकाधिक मित्र पाने के लिए, संज्ञानी शत्रुओं को मित्र बनाने के लिए, और वारीष्टि जल बरसाने के लिए यज्ञ नियत थे। सभी संस्कार, आश्रम-परिवर्तन, राज्याभिषेक दिग्विजय आदि के साथ यज्ञ अनुबद्ध थे। पशुबन्ध यज्ञ के द्वारा विभिन्न पशुओं को बलि देकर विविध कामनाओं की पूर्ति की योजना बनायी जाती थी। इन पशुओं को काम्य पशु कहा जाता था।

१. ऋग्वेद ९.११३.११।

२. ऋग्वेद ४.३५.३ तथा ५.४.१०।

३. ऋग्वेद १०.१६.१-६, यजुर्वेद ४.१५, अथर्ववेद ५.१.१२।

सम्बन्धियों से मिलने की भावना थी।[१] नरक में कर्म का फल भोगना पड़ता है।[२] ब्रह्मज्ञता के द्वारा मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति भी सम्भावित थी।[३]

उपनिषद्-धर्म

उपनिषदों के अनुसार यज्ञ और पुण्य-कार्यों के फल पा लेने पर स्वर्ग से मानव इसी लोक में या इससे नीचे जा गिरते हैं।[४] अव्ययात्मा और अमृत पुरुष (ब्रह्म) के लोक में जाने के लिए मार्ग हैं:—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षाचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

(तप और श्रद्धा के साथ जो लोग अरण्य में रहते हैं, शान्त और विद्वान् हैं तथा भिक्षाचर्या के द्वारा जीविका उपार्जन करते हैं, वे सूर्यद्वार से अव्ययात्मा या अमृत पुरुष लोक को प्राप्त कर लेते हैं।)[५]

कर्मकाण्ड के द्वारा जिन लोकों की प्राप्ति सम्भव है, उन्हें उपनिषद् तुच्छ बतलाकर ब्रह्मनिष्ठ-गुरु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की सीख देता है। यही उपनिषद् का विशेष धर्म है।[६] यह अभिनव क्रम वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति के सरल सोपान-रूप में अपनाया गया। इसमें ज्ञान के द्वारा विशुद्ध सत्त्व तथा ध्यान की महत्ता ब्रह्मप्राप्ति के लिये विशेष प्रतिष्ठित है। उपनिषदों में सुप्रतिष्ठित इस आश्रम-योजना को परवर्ती युग में वर्णाश्रम-धर्म के नाम से सूत्र, स्मृति और पुराण साहित्य में अङ्गीकृत देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक अभ्युत्थान

उपनिषदों में आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए उपासना की योजना प्रस्तुत की गई है। मनुष्य जिस किसी की उपासना करता है, वह वही बन जाता है। वह महः की

---

१. अथर्ववेद १२.३.७; ६.१२०.३।

२. शतपथ ११.६.१; ऋग्वेद ७.१०४.२।

३. शतपथ ५.६.९; ११.४.४.१।

४. मुण्डक उप० १.२.८-१०।

५. मुण्डक उप० १.२.११।

६. मुण्डक उपनिषद् २.७ के अनुसार नाव-रूपी यज्ञ अदृढ़ हैं। वे वृद्धावस्था और मृत्यु से नहीं बचा सकते।

उपासना से महान्, मनः की उपासना से मानवान् तथा नमः की उपासना से कामनाओं का विजेता बन जाता है। सबसे बढ़कर है ब्रह्म की उपासना, जिससे उपासक ब्रह्मवान् बन जाता है।[१] मनुष्य को एकमात्र ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। ब्रह्मभाव का स्वरूप है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ। ब्रह्म की इस रूप में उपासना करने से उपासक स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जो अन्य देवताओं की उपासना करता है और समझता है कि मैं उपास्य देव से भिन्न हूँ, वह अज्ञानी है और देवताओं का पशु बनकर उनके लिए उपभोग की सामग्री बनता है। अपने लिए वह कुछ भी नहीं करता।[२]

उपनिषदों में वैदिक यज्ञों के नवीन स्वरूप की कल्पना मिलती है। जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक अभ्युदय है। इस दृष्टि से सभी यज्ञ आत्मज्ञान के लिए होने चाहिए। जीवन यज्ञ है। पुरुष स्वयं ही यज्ञ है। उसके प्रथम २४ वर्ष प्रातः सवन हैं, २४ से ४४ वर्ष तक माध्यन्दिन सवन है और ४४ से ८४ वर्ष तक तृतीय सवन है।[३]

उपनिषद् के अनुसार पाप से बचने के लिए मानव को आत्मा का दर्शन करना है। आत्मदर्शी के लिए पाप की शंका नहीं रह जाती।[४] ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस् प्रकृति के लोग ब्रह्मपथ पर जाते हुए ब्रह्मलोक पहुँचते हैं।[५] ब्रह्म को न जानने से महती विपत्तियों का अनुभव करना पड़ता है। विद्वान् ब्रह्म को जान कर अमर बन जाते हैं। ब्रह्म को जानने मात्र से सभी दुःख दूर हो जाते हैं।[६]

मानव अपने अभ्युत्थान के लिए क्या करे ? इस समस्या का समुचित समाधान छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख को जान कर भूमा की कल्पना हो सकती है। भूमा ही सुख है। भूमा से बाहर कुछ नहीं है। भूमा अनल्प है। सब कुछ और सर्वत्र भूमा है। भूमा आत्मा ही है। वह सर्वव्यापक है। आत्मा सब कुछ है। आत्मा को

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०.३-४।

२. बृहदारण्यक १.४.१०।

३. छान्दोग्य० ३.१६। यज्ञात्मा पुरुष के जीवन के समस्त पक्ष किसी न किसी प्रकार यज्ञ के अनुरूप पड़ते हैं, जैसे उसके तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य-वचन आदि उसकी याज्ञिक दक्षिणाएँ हैं। छान्दोग्य० ३.१७।

४. बृहदारण्यक ४.४.२३।

५. बृहदारण्यक ४.३.९।

६. बृहदारण्यक ४.३.१४।

जान कर मानव मृत्यु, रोग, दुःख आदि के चक्कर में नहीं पड़ता।[1] आत्मा को जाने बिना कल्याण नहीं है। कर्म (काण्ड) और पुण्य के द्वारा प्राप्त लोकों का क्षय हो जाता है। जो पुरुष आत्मा को जाने बिना ही मरते हैं, उनका क्षय होता है। उनकी सभी कामनायें सभी लोकों में व्यर्थ होती हैं।[2]

ज्ञान के द्वारा ज्ञानी में कुछ विशेषताओं का अभ्युदय होना उपनिषद् धर्म की नवीनता मानी जा सकती है। तेजस्वी, अन्नाद, श्रीमान्, यशस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, कीर्त्तिमान्, ओजस्वी, सुन्दर, प्रख्यात आदि होने के लिए प्राण, व्यान, समान आदि वायुओं का दार्शनिक स्वरूप जानना मात्र पर्याप्त है।[3] यह योजना मानव की उदात्त प्रवृत्तियों को सत्प्रेरणा प्रदान करने के लिए सफल माध्यम है।

उपनिषद् में आत्मा या परमात्मा का मानव के अभ्युत्थान की दिशा में अतिशय महत्त्व दिखलाया गया है। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को परमात्मा ऊँचा उठाना चाहता है, उससे अच्छे काम कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है, उनसे बुरे काम कराता है। वही आत्मा लोकपाल, लोकाधिपति और लोकेश है।[4] यह धारणा भक्तिमार्ग के लिए आवश्यक रही है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार हृदय स्वर्ग है। हृदय में सब कुछ प्राप्य है। यही सभी सत्य कामनाओं का आश्रय है। जिस प्रकार सोने की खनि को न पहचानने वाले उसके ऊपर से ही वारंवार जाते हुए उसे नहीं परख सकते और उसका लाभ ऐसी स्थिति में नहीं उठा पाते, उसी प्रकार सभी लोग प्रतिदिन इस हृदयगत ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हुए नहीं जान पाते, क्योंकि वह रहस्य है।[5]

उपनिषद्कालीन युवकों में से कुछ ने समझ लिया था कि धन से मानव की तृप्ति नहीं हो सकती अथवा धन से अमरता नहीं प्राप्त हो सकती।[6] उस युग

---

१. छान्दोग्य उप० ७.१७-२६।

२. छान्दोग्य उप० ८.१.६।

३. छान्दोग्य उप० ३.१३। इसी प्रकार रोगों से मुक्त होने के लिए अथवा दीर्घायु होने के लिए वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं की प्रार्थना-मात्र पर्याप्त है। छान्दोग्य उप० ३.१६। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है—वैश्वानर आत्मा को दिव्, आदित्य, वायु, आकाश, पृथ्वी आदि रूपों में जानने से अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। ५.१२-१७।

४. कौषीतकि उप० ३.८।

५. छान्दोग्य उप० ८.३।

६. कठोपनिषद् १.२७-२९।

की सर्वोच्च शिक्षा थी—श्रेय और प्रेय। इन दोनों में से धीर श्रेय को चुन लेते हैं और मन्द पुरुष योग और क्षेम को पाने के लिए प्रेय को चुनते हैं।[1] तत्कालीन धार्मिक पुरुषों की कामनायें इस प्रकार थीं—समाज में मुझे यश मिले, मैं धनी लोगों से श्रेयस्कर बनूं। मैं ब्रह्ममय बनूं। हे धाता, मुझे चमका दो। मुझे अपने ही समान बना दो।[2] स्वाध्याय और प्रवचन के साथ ऋत, सत्य, तप, दम, शम अग्निहोत्र, अतिथि-पूजा तथा समाज और कुटुम्ब के कल्याण की भावना करने से मानव का व्यक्तित्व को सुसंस्कृत माना जाता था।[3]

पाप-निवृत्ति

उपनिषद् में पाप की परिभाषा नियत की गई है। इसके अनुसार अपनी इन्द्रियों को अनुचित विषयों की ओर प्रवृत्त करना पाप है। अपनी इन्द्रियों का उन्हीं विषयों के सम्पर्क में आना उचित है, जो अप्रतिम (अयोग्य) न हों, अन्यथा पाप होता है। पाप की कोटि में असत्संकल्प भी आते हैं।[4]

पापों के पाश से छुटकारा पाने के लिए आदित्य की उपासना करने की नीति थी। उदय होते हुए, मध्याह्न के समय तथा अस्त होते हुए आदित्य से प्रार्थना की जाती थी कि आप पाप को दूर करने वाले हैं। मेरे पाप को दूर करें।

महाभारतीय धर्म

अभिनव प्रवृत्तियाँ

उपनिषदों के अनुरूप महाभारत में यज्ञों के द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ बताई गई है, पर यज्ञ से अधिक महत्त्व तप और दान को दिया गया है।[5] महाभारत में वैदिक यज्ञों की प्रतिष्ठा-मात्र है। इन्हीं के साथ मन, वाणी और कर्मों के द्वारा यज्ञ करने की रीति का प्रचलन हुआ। धार्मिक विधानों के द्वारा सामाजिक अभ्यु-

---

१. कठोपनिषद् २.२; ४.२।
२. तैत्तिरीय उप० शीक्षावल्ली ४.३।
३. तैत्तिरीय उप० शीक्षावल्ली ९.१।
४. बृहदारण्यक १.३.२-६।
५. महा० आश्वमेधिक पर्व ९४.३०।

त्थान की अपूर्व योजना महाभारत में मिलती है। शान्तिपर्व में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि धर्म वही है, जिसके द्वारा प्रजा धारण की जाती है।[1]

महाभारत के अनुसार वेदों को जानना मात्र विशेष उपयोगी नहीं है। वेदों में ऐसी शक्ति नहीं कि वे मायावी और पापी का उद्धार कर सकें। पाप को पुण्य से ही दूर किया जा सकता है। पुण्य का मार्ग है तप और यज्ञ। तप निष्काम होना चाहिए। ऐसा तप महाभारतीय युग में वैदिक यज्ञों के सम्पादन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। वैदिक काल में देवताओं से जो कुछ सिद्धियाँ यज्ञ के माध्यम से हो सकती थीं, उनके लिए महाभारतीय युग में तप को पर्याप्त साधन माना गया।[2] तप के द्वारा देवताओं से अस्त्र-शस्त्र की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी। अर्जुन तपोबल से सदेह स्वर्ग जा सकता था।

महाभारत में यज्ञों के समान ही महत्त्व तीर्थ-यात्रा के लिए निर्धारित किया गया है। महाभारत के अनुसार दरिद्र यज्ञों को करने में असमर्थ थे क्योंकि यज्ञों के लिए अत्यधिक सामग्री लगती थी और नाना प्रकार के अन्य साधनों की आवश्यकता होती थी। यज्ञों का विधिपूर्वक सम्पादन राजा या समृद्धिशाली लोगों के लिए सम्भव था। इसके विपरीत तीर्थयात्रा दरिद्रों के लिए सुकर थी। महाभारत में तीर्थयात्रा का पुण्यात्मक महत्त्व यज्ञों से बढ़कर सिद्ध किया गया है। तीर्थयात्रा में एक और विशेषता थी। सभी वर्णों के लोग—शूद्र भी तीर्थयात्रा से लाभ उठा सकते थे, पर यज्ञ का द्वार केवल द्विजातियों के लिए खुला था।

महाभारतीय युग में यज्ञ का स्वरूप बदला। कुछ तत्कालीन चिन्तकों का स्पष्ट मत है कि यज्ञ में पशुओं को मारना सनातन धर्म नहीं है। हिंसा धर्म नहीं है। बीज से यज्ञ करना चाहिए। अगस्त्य ने १२ वर्ष का बीज-यज्ञ सम्पादित किया था। उस समय बीज-यज्ञ के अतिरिक्त चिन्ता-यज्ञ, स्पर्श-यज्ञ और ध्यान-यज्ञ की विधियाँ भी प्रचलित थीं। इन यज्ञों को पशु-यज्ञ से उच्चतर स्थान प्राप्त हुआ।[3]

महाभारतीय धर्म में देवों के अतिरिक्त आर्येतर जातियों के उपास्य वर्गों की

---

१. धर्मेण विधृताः प्रजाः ॥शान्ति० ११०.११।

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः।
तथा संवरणंपार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ॥आदि० १६०.१८॥

२. महाभारत उद्योग पर्व ४३ वाँ अध्याय।

३. महा० आश्वमेधिक पर्व ९४ और ९५ वाँ अध्याय।

पूजा करने का विधान सर्वसाधारण के लिए बनाया गया। ऐसे विधान से आर्य और आर्येतर वर्गों का परस्पर मेल-जोल बढ़ने का उद्देश्य पूरा हुआ होगा। इसके अतिरिक्त कुछ कुलों में राक्षसी की पूजा करने का उल्लेख मिलता है। देवतायतन और पर्वत की पूजा होती थी।

तीर्थ

भारतीय धर्म में तीर्थों की प्रतिष्ठा का प्रथम कारण वह भावना है, जिसके अनुसार प्राचीन भारतीय नागरिक समझता था कि तीर्थों की जलवायु और प्रकृति का मानव-व्यक्तित्व के विकास पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। भारतीय धारणा के अनुसार यदि किसी तीर्थ की जलवायु और प्रकृति किसी एक व्यक्ति को तपःसाधन के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचा सकती है तो वह साधारणतः किसी भी नागरिक के व्यक्तित्व के विकास के लिए भी हो सकती है। यह मत संस्कृति और प्रकृति के सम्बन्ध से समीचीन प्रतीत होता है। तीर्थों में प्रायः यज्ञ होते थे। इनमें विद्या और तप से समन्वित वेदपारग ब्राह्मण महात्माओं की पुण्य कथाओं का वाचन करते थे। इस वातावरण में तीर्थ-यात्रियों को उच्च आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान का परिचय सरलता से हो सकता था।[1]

महाभारतीय धारणा के अनुसार तीर्थ-यात्रा का फल उन्हीं को प्राप्त होता है, जिनके हाथ-पैर और मन सुसंयत हैं, जो विद्यावान्, तपस्वी और कीर्तिमान् हैं, दान नहीं लेते, अहंकार रहित हैं, थोड़ा खाते हैं, जितेन्द्रिय हैं, सभी पापों से विमुक्त हैं, क्रोध नहीं करते, सत्यपरायण हैं और सभी प्राणियों को अपने समान समझते हैं।[2]

तीर्थ-सम्बन्धी मान्यताओं का बहुत-कुछ परिचय पुष्कर के नीचे लिखे वर्णन से होता है:—

सन्ध्याकाल में असंख्य तीर्थों का समावेश पुष्कर में रहता है। सभी देवता वहीं वर्त्तमान रहते हैं। वहीं देव, दैत्य, ब्रह्मर्षि और दिव्य योगियों ने तप करते हुए महापुण्य प्राप्त किया है। पुष्कर में ब्रह्मा का नित्य वास है। इस तीर्थ में न जाने वाले यदि मन से इसका ध्यान कर लेंगे तो उनके सारे पाप धुल जायेंगे। इस तीर्थ में जो पुरुष पितर और देवों की अर्चना करते हुए स्नान करता है, वह अश्वमेध से भी दस-गुना अधिक पुण्य पाता है। पुष्कर में एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देने पर इस लोक और परलोक में प्रमोद प्राप्त होता है। जो पुरुष

---

१. महा० वनपर्व ९३.१४–१५।

२. महा० वनपर्व ८०.३०-३३।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन पुष्कर में स्नान करता है, वह अक्षय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

गंगा की प्रतिष्ठा इस युग से बढ़ती गई है। परवर्ती युग में इस नदी का जल कश्मीर तक राजाओं के पीने के लिए जाता था। कश्मीर का राजा जयापीड अपने लिए गंगाजल प्रयाग से मँगवाता था। उसने यह अधिकार संगम पर ब्राह्मणों को एक लाख घोड़ों का दान देकर प्राप्त किया था।[१]

सामाजिक संश्लिष्टता

सामाजिक सौष्ठव के लिए महाभारत में इष्टापूर्त के अतिरिक्त अन्नदान और जलदान का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है।[२] समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का यथाविधि पालन करे। कर्तव्य-पथ पर चलने वालों में राजा का स्थान सर्वोपरि मान कर धार्मिक विधान प्रस्तुत किया गया कि यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करता तो प्रजा उसको राजा न रहने दे।[३] 'यथा राजा तथा प्रजा:' के सिद्धान्त के अनुसार राजा के कर्तव्यपरायण होने पर सारी प्रजा के कर्मनिष्ठ होने की सम्भावना थी। महाभारतीय योजना के अनुसार किसी भी व्यक्ति के लिए करणीय कर्म उसके पूर्व जन्म के अनुसार निर्णीत हैं। ऐसी स्थिति में अपने कर्मों को छोड़ना उचित नहीं, चाहे प्रत्यक्ष रूप से वह कर्म घृणित ही क्यों न प्रतीत होता हो।[४]

समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले लोगों पर रोक लगाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान बना, जो गाँवों को नष्ट करते थे, आग लगाते थे, वेतन लेकर वेद पढ़ाते थे, दूसरों का घर जलाते थे अथवा झूठ बोलकर पेट पालते थे।[५] महाभारत में मित्र-द्रोही और कृतघ्न के लिए अनन्त और घोर नरक का भय उपस्थित किया गया है।[६]

---

१. राज-तरंगिणी ४.४१६-४१८।

२. महा० अनुशासन पर्व ६४.३, ४, ६।

३. महा० अनुशासन पर्व ६०.१९, २०।

४. महा० वनपर्व १९९.१५-२५।

५. महा० शान्तिपर्व ३५ वाँ अध्याय।

६. महा० शान्तिपर्व १६७.२०: अनुशासन पर्व के १११ वें अध्याय के अन्तिम १०० श्लोकों में कुटुम्ब और समाज की शालीनता, शान्ति और सौष्ठव भंग करने वालों की मरणोत्तर दुर्गति का भयावह चित्र खींचा गया है।

कौटुम्बिक संश्लिष्टता

महाभारतीय धर्म में कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए समुचित विधान मिलते हैं। पत्नी के प्रति पति के आदर्श-व्यवहार की रूप-रेखा द्रौपदी और सत्यभामा के सम्भाषण में प्रस्तुत की गई है।[1] माता-पिता के साथ सद्व्यवहार का निरूपण धर्मव्याध के उपाख्यान में किया गया है। माता-पिता की पूजा की महिमा भीष्म ने इस श्लोक में व्यक्त की है :-

मातापित्रोर्गूरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते ॥शान्ति० १०९.३॥

अनुशासन पर्व में माता-पिता को प्रसन्न रखना सर्वोच्च धर्म मान कर कहा गया है—

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथ्वी तेन पूजिता ॥७.२५॥

बड़े भाई के अविवाहित रहते हुए विवाह कर लेने वाले छोटे भाई के लिए तथा बड़ी बहिन के अविवाहित रहते हुए उसकी छोटी बहिन से विवाह करने वाले पति के लिए प्रायश्चित्त का विधान बनाना भी कौटुम्बिक सश्लिष्टता के लिए है।[2] कुटुम्व के सदस्यों के परस्पर व्यवहार की रूप-रेखा तथा एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का नियोजन भी महाभारत में मिलता है।[3]

धर्म से क्या प्राप्तव्य है, वह धर्म की दस पत्नियों के रूप में वताया गया है। यथा—

कीर्तिर्लक्ष्मीधृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश॥
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा ॥आदि ६०.१४॥

इनके होने पर ही कोई व्यक्ति धार्मिक हो सकता है।

---

१. महा० वनपर्व २२२ और २२३ वाँ अध्याय।
२. महा० शान्तिपर्व ३५.४।
३. महा० अनुशासनपर्व १०५ वाँ अध्याय।

पाप-निवृत्ति

पाप और पुण्य के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन महाभारत में मिलता है। महाभारत के अनुसार कुछ पाप ऐसे हो सकते हैं, जो कुछ परिस्थितियों में पाप नहीं रह जाते, जैसे अपने या दूसरे के प्राण की रक्षा के प्रसंग में, गुरु के लिए, स्त्रियों के सम्बन्ध में और विवाह के आयोजन में झूठ बोलना पाप नहीं है।[1] गौ के लिये वन जलाने में कोई दोष नहीं है।[2]

पाप से निवृत्ति यद्यपि तप, कर्म और दान से होती है, पर यह निवृत्ति केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए सम्भव होती है, जो भविष्य में पाप नहीं करते।[3] इस दिशा में दान और उपवास का विधान बना।

कुछ पापों से निवृत्त होने के लिए प्राणान्तक विधियाँ भी निर्धारित थीं, जैसे जलहीन देश में पर्वत से गिर कर, अग्नि में प्रवेश करके अथवा महाप्रस्थान-विधि से हिमालय में गल कर प्राण देने से मनुष्य सभी पापों से छुटकारा पा जाता है। चोरी के पाप से निवृत्ति के लिए उतना ही धन लौटा देने का नियम था। पशु-पक्षियों की हत्या करने वाले अथवा वृक्ष काटने वाले की पाप से निवृत्ति तब हो सकती थी, जब वह तीन दिन तक वायु-भक्षण करे और लोगों के सामने अपना कुकर्म प्रकट करे। अज्ञानवश किये हुए पापों से मुक्ति के लिए दिन में आकाश की ओर देखना, रात्रि में खुले मैदान में सोना और तीन बार दिन में और तीन बार रात्रि में स्नान करना पड़ता था। महाभारतीय मरणोत्तर विधान के अनुसार मनुष्य को शुभ या अशुभ कर्मों का फल मरने के पश्चात् भोगना पड़ता है। इनमें से जिसकी अधिकता होती है, उसी का फल कर्ता को मिलता है। ऐसी स्थिति में दान, तप और शुभ कर्मों के द्वारा पुण्य की वृद्धि करनी चाहिए, जिससे वह पाप को दबा कर स्वयं बढ़े।[4]

मरणोत्तर विधान

महाभारत के अनुसार सत्पात्र को प्रिय वस्तुयें दान देकर और सच बोल कर अहिंसापरायण व्यक्ति स्वर्ग में जाते हैं।[5] कर्म के अनुसार मरणोत्तर काल में तीन

---

१. महा० शान्ति० ३५.२५।

२. महा० शान्ति० ३५.३१।

३. महा० शान्ति० ३६.१।

४. महा० शान्ति० ३६ वाँ अध्याय।

५. महा० वन० १७८.२, ३। विविध प्रकार की वस्तुओं के दान से परलोक की सद्गति के वर्णन के लिए देखिए वनपर्व १८४.८-१६।

गतियाँ होती हैं—मनुष्य-जन्म, स्वर्गवास और तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी, कीट आदि होना)। काम, क्रोध, हिंसा, लोभ आदि के द्वारा मनुष्य पशु-योनि में पड़ता है। इनका फल भोग लेने पर वह पुनः मनुष्य बन जाता है। गौ और घोड़ों की योनि से उसे कभी-कभी देवत्व भी प्राप्त हो जाता है। ज्ञान के द्वारा मानव ब्रह्म में लीन हो जाता है और कर्म-फल की कामना न करने से उसे मुक्ति प्राप्त होती है।[1]

मरने के पश्चात् जो लोग स्वर्ग में जा पहुँचते हैं ,वे वहाँ से पुण्य क्षीण होने पर च्युत होते हैं। जैसे धन-रहित कुटुम्बी को उसके बान्धव छोड़ देते हैं, वैसे ही देवता उस व्यक्ति को छोड़ देते हैं, जिसके पास पुण्य नहीं रह जाते। यथा—

ज्ञाति-सुहृत्स्वजनो यो यथेह क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसंघाः।।
आदिपर्व ८५.२

पुनर्जन्म की विधि बताते हुए महाभारत में निर्देश किया गया है कि कर्म-क्षय होने पर स्वर्ग से प्राणी जल के रूप में गिरता है। फिर वह पुष्प-फल के रूप में अन्य कर्मों से समायुक्त होकर वीर्य बन जाता है। वही रज से मिलकर जीव बनता है।[2]

महाभारतीय धारणा के अनुसार तप से स्वर्ग-गमन, दान से भोगों की प्राप्ति तथा ज्ञान से मोक्ष मिलता है और तीर्थ-स्नान से पापों का क्षय होता है।

मानव धर्म

सामाजिक संश्लिष्टता

मनु के अनुसार धर्म मानव को कर्तव्य का निर्णय कराने के लिए है।[3] मानव-धर्म वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार है। मनु ने वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त देश-धर्म, कुल-धर्म, पाषण्ड-धर्म और गण-धर्म की योजना प्रस्तुत की है।[4] इन सभी धर्मों

---

१. महा० वन० १७८.९-१५। इस प्रसंग में नरक का उल्लेख नहीं है। पशुयोनि ही सम्भवतः नरक है। नहुष ने अपने को सर्पावस्था में निरय का प्राणी बतलाया है।

२. आदिपर्व ८५.१०।

३. मनुस्मृति १.२६।

४. मनुस्मृति १.११८।

के व्याख्यान द्वारा मनु ने सामाजिक और कौटुम्बिक संश्लिष्टता का नियोजन किया है। मनु के अनुसार वृद्धों की सेवा करने वाले अभिवादनशील व्यक्तियों की आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। मनुस्मृति में अभिवादन, प्रत्यभिवादन, कुशल-क्षेम-प्रश्न, छोटे-बड़ों के सम्बोधन, अन्य वर्णों के लोगों को बड़ा-छोटा मानने का मानदण्ड और दूसरों को मार्ग देने के नियम मिलते हैं।[1]

मनु ने समाज में छोटे-बड़े की व्यवस्था देते हुए कहा है कि धन, बन्धु, अवस्था, कर्म और विद्या उत्तरोत्तर बढ़ कर मान्यता के प्रतीक हैं। यदि समाज में रहते हुए किसी ने अवमानना कर दी तो मनु की दृष्टि में सुख से सोने का समय आ गया। 'अपमानित पुरुष सुख से सोता है, सुख से जागता है, और सुखपूर्वक विचरण करता है, पर अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है।'[2]

मनु की योजना के अनुसार प्यासे को पानी देने वाला तृप्त होता है, भूखे को भोजन देने वाला अक्षय सुख प्राप्त करता है और दीपदान करने वाले को उत्तम नेत्र मिलते हैं।[3]

कौटुम्बिक संश्लिष्टता

मनु ने आदेश दिया है कि कुटुम्ब में बड़े और छोटे किसी की अवमानना नहीं करनी चाहिए।[4] अपने कुटुम्ब के लोगों, सम्बन्धियों और दास-वर्ग से विवाद नहीं करना चाहिए। इनसे विवाद न करने वाला सभी पापों से छूट जाता है।[5] मनु ने माता-पिता और आचार्य का प्रिय और सेवा करने का विधान बना कर कहा—ये तीनों लोक हैं, अक्षय हैं, वेद हैं और अग्नि हैं। इन तीनों की सावधानी से पूजा करने पर गृहस्थ तीनों लोकों को जीत लेता है। अपने शरीर से दीप्यमान होकर वह देवताओं की भाँति सुख पाता है। माता की भक्ति से मानव-लोक, पिता की भक्ति से मध्यम लोक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक भोगने का अवसर प्राप्त होता है। इन्हीं तीनों से सम्बद्ध परम धर्म है, शेष उपधर्म हैं।[6]

---

१. मनुस्मृति २.१२२-१३८।

२. सुखं ह्यवमतं शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥मनु० २.१६३॥

३. मनुस्मृति ४.२२९।

४. मनुस्मृति २.२२५-२२७।

५. मनुस्मृति ४.१८०-१८१।

६. मनुस्मृति २.२२५-२३७।

कुलस्त्री और कन्याओं को सर्वथा सन्तुष्ट रखने की योजना प्रस्तुत करते हुए मनु ने कहा है—कन्या को न बेचना, कन्या की पूजा करना, उसको आभूषित करना आदि धर्म की दृष्टि से अभ्युदय के कारण हैं। जहाँ स्त्रियाँ पूजित नहीं होतीं, वहाँ देवता नहीं रमण करते और वहाँ सभी धार्मिक क्रियाएँ निष्फल होती हैं। जिस कुल में वधू और कन्याएँ शोक करती हैं, उसका नाश हो जाता है। स्त्रियों के प्रसन्न होने से सारा कुल प्रकाशित होता है।[1]

व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी प्रकार के लोगों से शिक्षा ग्रहण करना मनु ने समीचीन माना है। 'शुभ विद्या नीच से ले लेना, चाण्डाल से भी सर्वोत्तम धर्म की शिक्षा लेना, बालक से भी सुभाषित ग्रहण करना, और शत्रु से भी सदाचार सीख लेना उचित है। विष से भी अमृत मिले तो उसे क्यों न ग्रहण किया जाय ?[2]

यज्ञ-विधान

मनु ने देव-यज्ञ के अवसर पर अग्नि, सोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू (द्वितीया की अधिष्ठात्री देवी), अनुमति (शुक्ल चतुर्दशी तथा पूर्णिमा की अधिष्ठात्री देवी) और द्यावा-पृथ्वी के लिए गृह्य अग्नि में हवन करने का उल्लेख किया है। मनु-युग में इन्द्र, यम, वरुण और सोम को उनके अनुयायियों सहित बलि दी जाती थी। मरुत् के लिए द्वार पर, आपस् के लिए जल में और वनस्पति के लिए मुसल और ओखल में बलि दी जाती थी। घर के उत्तर-पूर्व में लक्ष्मी के लिए ,दक्षिण-पश्चिम में भद्रकाली के लिए तथा घर के मध्य भाग में ब्रह्मा और वास्तुपति के लिए बलि दी जाती थी। विश्वेदेवों के लिए बलि आकाश में फेंक दी जाती थी। मनु की बलि-वैश्वदेव की योजना में मानव के द्वारा सभी दृश्य और अदृश्य कोटि के चराचरों, कुत्तों, चींटियों, पतितों, पापियों और चाण्डालों तक के भरण-पोषण का ध्यान रखा गया है।[3]

नरक और स्वर्ग

मनुस्मृति से नरक की तत्कालीन कल्पना का परिचय मिलता है। मनु के

---

१. मनुस्मृति ३.५१-६२।
२. मनुस्मृति २.२३८-२४१।
३. मनुस्मृति ३.८४-९२।

अनुसार २१ नरकों का द्वार राजा का दान लेने वालों के लिए खुला है। इनमें से प्रमुख तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, महावीचि, सम्प्रतापन, लोहशंकु, असि-पत्र-वन आदि हैं।[1] विविध दानों के द्वारा उत्तम व्यक्तित्व की और मरणोत्तर काल में मनोरम लोकों की प्राप्ति की योजना प्रस्तुत की गयी है।[2]

व्यावहारिक सौष्ठव

व्यावहारिक जीवन में मानव की कर्मण्य प्रवृत्तियों को प्रशस्त दिशा में संचारित करने के लिए मनु ने उपयोगी नियम बनाये हैं, जिनके अनुसार ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए, सन्ध्या करनी चाहिए, अनध्याय के समय या अपवित्र स्थान में अध्ययन नहीं करना चाहिए, धन को दुर्लभ न मान कर आमरण उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस प्रयास में कहीं असफलता मिले तो अपना तिरस्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं। मनु ने आदेश दिया है कि असमय में अपरिचित व्यक्ति के साथ न चले, पवित्र स्थानों के समीप गन्दगी न फैलाये, सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, असत्य प्रिय होने पर भी न बोले, तथा शुष्क वैर और विवाद न करे, किसी अंगहीन, दोषी, कुरूप या बहिष्कृत व्यक्ति पर आक्षेप न करे। द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और क्रूरता को छोड़ दे। हाथ, पैर, नेत्र तथा वाणी को चपल न बनाये और न दूसरों की हानि करने की चेष्टा करे। अपने कुल की पद्धति पर चले, छोटे लोग तिरस्कार भी कर दें तो चुपचाप सह ले और सज्जनों के बीच अपना ठीक परिचय दे।[3]

स्वतन्त्रता से प्रेम

धार्मिक दृष्टि से मनु स्वतन्त्रता के परम पुजारी थे। उनका स्पष्ट मत है कि जो कोई काम परवश हो, उसे यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए और जो काम अपने वश में हो, उसे ही करना चाहिए। सब कुछ परवश दुःख है, अपने वश में सब कुछ सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षेप में लक्षण है। वही काम करना चाहिए, जिससे अन्तरात्मा का परितोष हो। इसके विपरीत कामों को नहीं करना चाहिए।[4]

---

१. मनुस्मृति ४.८७-९०।

२. मनुस्मृति ४.२२९-२३३।

३. मनुस्मृति ४.९२-१५२, १७४, १८६-१९१, २१८ और २५५

४. मनुस्मृति ४.१५९-१६१।

पौराणिक धर्म

ईसवी शती के आरम्भिक युग से भारतीय धर्म की जो विशाल धारा दृष्टि-गोचर होती है, उसकी पृष्ठभूमि में पूर्वकालीन आर्य और आर्येतर धार्मिक मान्यताओं की सरिताओं का प्रवाह अवश्य ही रहा है। इन मान्यताओं का संगमित रूप बहुत कुछ महाभारत-काल में बन चुका था। महाभारत के समय से भारतीय विचारकों ने धर्म की उस असीम परिधि की कल्पना की थी, जिसमें सभी दिशाओं और सभी कालों की विचार-सरणी केन्द्रित हो सकती थी।

शनैःशनैः यज्ञों का स्वरूप परिवर्तित होता रहा। यदि पशु-हिंसा यज्ञ के लिए करनी ही हो तो पशु की मूर्ति घी या आटे की बना कर उसी की बलि दी जाती थी। कश्मीर के राजा मेघवाहन के शासन काल में पशु-हिंसा बन्द हुई और नियम बना —

तस्य राज्ये जिनस्येव मारविद्वेषिणः प्रभोः।
क्रतौ घृतपशुः पिष्टपशुर्भूर्तबलावभूत् ॥
राजतरंगिणी ३.७

पौराणिक धर्म की कुछ प्रवृत्तियाँ सर्वजनीन हैं, पर उनमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिन्हें साम्प्रदायिक विशेषण दे सकते हैं। पहले सर्वजनीन प्रवृत्तियों का आकलन समीचीन है।

अनुष्ठान और मान्यताएँ

पौराणिक धर्म में भक्ति की प्रधानता रही है। साधन की दृष्टि से भक्ति तीन प्रकार की है—मानस, वाचिक और कायिक। ध्यान और धारणापूर्वक बुद्धि के द्वारा वेदार्थ का विमर्श मानस-भक्ति है। मन्त्र, जप, वेद-पाठ तथा आरण्यकों के जप वाचिक-भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। मन और इन्द्रियों को रोकने वाले व्रत, उपवास, नियम, चान्द्रायण व्रत आदि के द्वारा भगवान् की आराधना कायिक-भक्ति है।[1]

भक्ति

वैधानिक दृष्टि से भक्ति के अन्य तीन रूप लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १५ वाँ अध्याय तथा पातालखण्ड ८५ वाँ अध्याय।

हैं। लौकिक भक्ति में घी-दूध, रत्न, दीप, चन्दन, माला, धूप की सुगन्धि, आभूषण, सुवर्ण, हार, नृत्य, संगीत, वाद्य, भक्ष्य-भोज्य आदि नैवेद्य से पूजा होती है। वैदिक मन्त्रों का जप, संहिताओं का अध्यापन आदि वैदिक भक्ति हैं। यज्ञ और देवताओं के निमित्त किये हुए सभी कर्म वैदिक भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। आध्यात्मिक भक्ति दो प्रकार की होती है—सांख्यज और योगज। सांख्य दर्शन के अनुकूल प्रकृति और पुरुष का विवेचन सांख्यज भक्ति है और योगाभ्यास से ध्यान करना योगज भक्ति है।[1] भक्ति की उपर्युक्त परिधि के भीतर तत्कालीन भारत की प्रायः सभी धार्मिक विधियों का समावेश हो जाता है।

भक्ति के तीन अन्य रूपों की कल्पना हुई—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विक भक्ति मोक्ष की इच्छा से आत्म-समर्पण-बुद्धि से होती है। विषयों की इच्छा रख कर अथवा यश और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भगवान् की जो पूजा होती है, वह राजसी भक्ति है। अहंकार को लेकर या आडम्बर के लिए अथवा ईर्ष्या से तामसी भक्ति होती है।[2]

भगवान् से वैर कर लेना भी उन्हें प्रसन्न कर लेने के लिए हो सकता है। यथा

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥ भाग० ७.१.२६॥

(भगवान् के प्रति वैर-भाव रखने वाले व्यक्ति की उससे जितनी तन्मयता हो पाती है, उतनी भक्तियोग से नहीं।)

रामानुज के अनुसार भक्ति के साधन हैं विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, और अनवसाद। विवेक भोजन के सम्बन्ध में होना चाहिए। विमोक है इच्छा रहित होना, और अभ्यास ईश्वर-प्रणिधान है। क्रिया परोपकार है। कल्याण है सत्य और आर्जव। अनवसाद है प्रसन्नता।[3]

व्रत

व्रतों की विधियाँ सम्भवतः प्रारम्भ में सरल रही हों, परन्तु कालान्तर में कुछ व्रतों की विधियों की शाखाएँ और प्रशाखाएँ बढ़ती रहीं और परिणामतः

---

१. पद्मपु० सृष्टिख० अध्याय १५, पातालख० अध्याय ८५
२. पद्मपुराण उत्तर खण्ड १२६ वाँ अध्याय।
३. विवेकानन्द—Complete Works Vol IV p. 6-10

वे जटिल हो चलीं।[1] व्रतों की जटिलता याज्ञिक विधियों की पूजा के साथ ही सम्पन्न करने के कारण विशेष रूप से बढ़ी हुई है।, भीमद्वादशी व्रत में उपवास, विष्णु-पूजन, गन्ध-पुष्प-धूप तथा पकवानों से श्रीकृष्ण, महादेव, गणेश आदि की पूजा, मण्डप के भीतर वेदिका बनवाकर उसमें बैठ कर कलश से गिरती हुई जल-धारा को मस्तक पर धारण करना, जौ, घी और तिलों का विष्णु सम्बन्धी मन्त्रों से हवन, चार ऋग्वेदी ब्राह्मणों द्वारा हवन, चार यजुर्वेदी ब्राह्मणों का रुद्राध्याय का पाठ और चार सामवेदी ब्राह्मणों का विष्णु-साम-गायन होता था।

व्रतों की संख्या पौराणिक युग में अगणित हो चली थी। व्रतों से मरणोत्तर-सद्गति की सम्भावना होती थी। प्रायः व्रतों में विविध प्रकार के उपवास, दान और ब्राह्मण-भोजन का आकलन मिलता है, जैसे महापातक-नाशन-व्रत में रात्रि में अन्न पका कर कुटुम्ब वाले ब्राह्मण को बुला कर उसे भोजन कराया जाता था और एक गौ, सुवर्णमय चक्र से युक्त त्रिशूल तथा वस्त्र दान दिये जाते थे। इससे शिवलोक-प्राप्ति की सम्भावना होती थी। प्रीति-व्रत में आषाढ़ से चार मास तक तेल नहीं लगाया जाता था और भोजन की सामग्री दान दी जाती थी। इससे हरि का लोक मिलने की सम्भावना होती थी। आनन्द-व्रत में चैत्र से आरम्भ करके चार मास तक प्रतिदिन लोगों को बिना माँगे जल पिलाया जाता था और व्रत की समाप्ति होने पर अन्न-वस्त्र-सहित जलपूर्ण कलश, तिल से पूर्ण पात्र तथा सुवर्ण दान दिये जाते थे। इससे ब्रह्मलोक प्राप्ति की सम्भावना थी। अहिंसा-व्रत में मांस-भोजन का परित्याग करना पड़ता था तथा गौ और सोने के मृग दान दिये जाते थे। इससे अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलने की सम्भावना थी और अन्त में राजपद-प्राप्ति की आशा होती थी।[2]

व्रतों के पालन से विविध प्रकार के लाभों के लिए तद्विषयक साहित्य में समाज की रुचि स्वभावतः उत्पन्न हुई होगी। कथा-साहित्य की अद्यावधि लोकप्रियता का एक प्रधान कारण उपर्युक्त मान्यताएँ हैं।

---

१. उदाहरण के लिए पद्मपुराण सृष्टिखण्ड के २३ वें अध्याय में देखिए भीमद्वादशी व्रत का जटिल विधान।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अध्याय २०। इस प्रकरण में अन्य व्रत—रुद्र, नील, गौरी, शिव, सौभाग्य, सारस्वत, साम ,वीर, सूर्य, विष्णु, शील, दीप्ति, वृढ़, ब्रह्म, कल्पवृक्ष, भीम, धनप्रद, सुगति, भानु, वैनायक, सौर, त्र्यम्बक, भवानी आदि से सम्बद्ध हैं।

मूर्ति-पूजा के तत्त्वों का वैदिक धर्म से कोई विरोध नहीं है। पौराणिक धर्म में मन्दिर-निर्माण और मूर्ति-पूजा का प्रचलन विशेष रूप से बढ़ा। राजा, रानियाँ, मन्त्री, व्यावसायिक संघ तथा अन्य धार्मिक प्रवृत्ति के समृद्धिशाली लोग अनेक मन्दिर अधिकाधिक धन सम्पत्ति लगा कर बनवाने में अपना गौरव मानते थे और धार्मिक पुण्य का अर्जन करने के लिए इसे अद्वितीय साधन समझते थे।

मूर्तिपूजा

मन्दिरों और मूर्तियों का दुरुपयोग करने वालों की कमी नहीं रही। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने परिहास-केशव को मध्यस्थ बना कर गौडनरेश को अभय दान तो दिया किन्तु उसे तीक्ष्णों से मरवा डाला।[१] हिन्दू और मुसलमान अनेक राजाओं ने मन्दिरों की स्वर्ण प्रतिमा या रत्नों को लूटने का काम किया है।

देव प्रतिष्ठा

पौराणिक युग में त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव का स्पष्टतः सर्वाधिक महत्त्व माना गया। इस मान्यता के पीछे इन देवों का सृष्टि के उद्भव और प्रलय के आदि कारण के रूप में प्रतिष्ठित होना है। उन्हीं से प्रस्फुरित होकर यह चराचर जगत् प्रलय-काल में अथवा मोक्षावस्था में उन्हीं में मिल जायेगा। इनमें से प्रत्येक में मोक्षावस्था प्रदान करके आत्मसात् कर लेने की शक्ति है। अन्य देवताओं से उनकी यह विशेषता है।

त्रिदेव

ब्रह्मा, विष्णु और शिव में से कौन पूज्यतम है—इस समस्या का समाधान पौराणिक युग में हो चुका था और साधारणतः विष्णु को सर्वोच्च देव मान लिया गया।[२] विष्णु-पुराण के अनुसार भगवान् ब्रह्मारूप से विश्व की रचना करते

---

१. राजतरंगिणी ४.३२१-३३०।

२. त्रिदेवों की श्रेष्ठता का प्रश्न जब महर्षि समाज में उठा तो उन्होंने भृगु को निर्णायक बना दिया। भृगु ने इन तीनों देवों का साक्षात्कार करके मत देने का निश्चय किया। इस प्रक्रिया में उन्हें बोध हुआ कि शिव तमोगुण-प्रधान हैं, ब्रह्मा रजोगुण-प्रधान हैं और विष्णु सत्त्वगुण-प्रधान हैं। उन्होंने शाप दिया कि शिव के लिए समर्पित अन्न, जल, फल-फूल आदि सब कुछ भक्त के लिए अभक्ष्य होगा। ब्रह्मा समस्त संसार के लिए अपूज्य हो जाएँगे। विष्णु से प्रसन्न होकर भृगु ने विधान बनाया कि विष्णु का चरणोदक पितरों, देवताओं तथा सभी ब्राह्मणों के लिए सेव्य है। यह पापों का नाशक और मुक्ति का दाता है। भगवान् विष्णु के लिए निवेदन किया हुआ हविष्य देवताओं के लिए हवन करना चाहिए या पितरों को देना चाहिए।

हैं, विष्णुरूप से पालन करते हैं और शिवरूप से संहार करते हैं। यहीं से त्रिदेवों की एकात्मकता का सूत्रपात होता है। बाणासुर का जब कृष्ण से युद्ध हुआ तो शिव ने असुर के पक्ष में कृष्ण से युद्ध किया। इस संघर्ष में शिव की पराजय हुई। फिर भी कृष्ण ने अन्त में कहा—हे शंकर, आप अपने को मुझ से सर्वथा अभिन्न देखें। जो मैं हूँ, वही आप हैं। यह जगत्, देव, असुर और मानव भी मुझ से भिन्न नहीं हैं।[1]

वायुपुराण में त्रिदेवों के पारस्परिक सम्बन्ध की मनोरम गाथा मिलती है। इसके अनुसार प्रलय-काल में केवल एक देव विष्णु की सत्ता रहती है। उनके नाभि देश से एक कमल की सृष्टि होती है। ब्रह्माण्ड से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा घूमते-फिरते विष्णु के समीप जा कर उनसे पूछते हैं—आप कौन हैं? विष्णु कहते हैं—मैं सबका प्रभु हूँ। विष्णु के पूछने पर ब्रह्मा ने अपना परिचय दिया—मैं आदिकर्ता प्रजापति हूँ। मुझ में सब प्रतिष्ठित हैं। विष्णु और ब्रह्मा ने एक दूसरे के अन्तरतम में प्रवेश करके देखा कि सभी चराचर लोक यहाँ विद्यमान हैं। यही उन दोनों का कौतुक-व्यापार था।[2]

उपर्युक्त कौतुक-व्यापार के अवसर पर शिव वहाँ आ गये। विष्णु और ब्रह्मा ने उनका अभिनन्दन किया। विष्णु ने ब्रह्मा से कहा—मैं सनातन योनि हूँ, आप बीज हैं और शिव बीजी हैं। ब्रह्मा और विष्णु ने शिव की स्तुति की। ब्रह्मा ने शिव को पुत्र रूप में प्राप्त होने का वर माँगा। शिव ने कहा—तुम्हारे क्रोध करने पर तुम्हारे पुत्र-रूप में मैं ११ रुद्र बन कर उत्पन्न हो जाऊँगा। विष्णु ने शिव में अपनी स्थिर भक्ति का वर माँगा। शिव ने इसे स्वीकार करके विष्णु और अपने स्वरूप की एकात्मक पूरकता का निर्देश करते हुए कहा—मैं अग्नि हूँ, तुम सोम हो। तुम रात्रि हो, मैं दिन हूँ। सुकृत करने वाले लोग तुम्हारा जप करके मुझ में प्रविष्ट हो जायेंगे। तुम अपने को प्रकृति समझो, मुझे पुरुष। तुम जिस प्रकार मेरे आधे शरीर हो, उसी प्रकार मैं तुम्हारा आधा शरीर हूँ। तुम मेरे हृदय हो और मैं तुम्हारे हृदय में स्थित हूँ।[3]

पद्मपुराण उत्तरखण्ड २८२ वाँ अध्याय। भागवत १०.८९.१५ में भृगु के द्वारा विष्णु की श्रेष्ठता के निर्णय का उल्लेख है।

१. विष्णुपुराण ५.३३.४७-४८।

२. वायुपुराण २४.१-३०।

३. वायपुराण २५.११-३०।

भागवत के अनुसार ब्रह्मा और शिव—दोनों ही परमात्मा (विष्णु) में विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का वास्तव में एकत्व है।[१] त्रिदेवों में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ सम्मानित किया गया है।[२] इस पुराण में ब्रह्मा के द्वारा विष्णु के पद-प्रक्षालन का उल्लेख है। यही जल गंगा के रूप में प्रवाहित हुआ है, जिसे शिव अपने मस्तक पर धारण करते हैं।[४]

वायुपुराण के अनुसार कृतयुग में ब्रह्मा पूजित होते हैं, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में विष्णु और चारों युगों में महादेव शिव की पूजा होती है। ब्रह्मा, विष्णु और यज्ञ—ये तीन काल की तीन कलाएँ या अंश हैं, किन्तु चार मूर्ति वाले महेश्वर सभी कालों में हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि पुराणों की साधारण प्रवृत्तियों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव में परस्पर सौहार्द और एकता की भावना है। यदि उनमें से किसी के छोटे-बड़े होने की कल्पना है तो वह निरी साम्प्रदायिकता है। त्रिदेव के भक्तों के परस्पर विवाद में ब्रह्मा का पक्ष प्रायः उपेक्षित-सा रहा। इस प्रसंग में समीचीन मत पद्मपुराण का है :—

> एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
> त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥ भूमिखण्ड ७१.२०

अन्य देवता

पौराणिक युग में कुछ नये देवताओं की प्रमुखता बढ़ी। इनमें से गणेश का नाम सर्वप्रथम है। सभी धार्मिक विधियों में गणेश की अग्रपूजा का विधान बना। गणेश शिव और पार्वती के पुत्र हैं। इनके भाई स्कन्द हैं। गणेश की महिमा का कारण बताया जाता है कि माता-पिता की भक्ति में इन्हें विशेषता प्राप्त थी। गणेश की प्रथम पूजा से सभी देवता प्रसन्न होते हैं और साथ ही यज्ञों का फल कोटि गुना अधिक होता है। सभी देवता अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए गणेश की पूजा करते हैं। वे सभी विघ्नों को दूर करने वाले हैं। पुष्प-फल, मूल, मोदक, दही-दूध, धूप-दीप आदि सामग्रियों से तथा वाद्य से गणेश की पूजा करने का प्रचलन था।[५]

---

१. भागवत ४.७.५२-५४।

३. भागवत १०.८९.१५।

४. भागवत १.१८.२१।

५. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ६१ वाँ अध्याय।

सूर्य को ब्रह्म के स्वरूप से प्रकट हुआ ब्रह्म का ही उत्कृष्ट तेज माना गया। वह चारों पुरुषार्थों को देने वाला है। सूर्य की आराधना से मोक्ष पाने तक की सम्भावना मानी गयी। सूर्य कश्यप और अदिति के पुत्र हैं। पौराणिक धारणा के अनुसार सूर्य की उपासना से मनुष्य को सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है और वे अन्धे, दरिद्र, दुःखी और शोकग्रस्त नहीं होते। सूर्य की पूजा के लिए मन्त्र-पाठ, नैवेद्य, नाना प्रकार के फल, अर्घ्य, अक्षत, जवापुष्प, मदार के पत्ते, लाल चन्दन, कुंकुम, सिन्दूर, कदली-पत्र आदि अपेक्षित रहे हैं।[1]

पौराणिक युग में लक्ष्मी विष्णु की पत्नी रूप में प्रतिष्ठित हुईं। विष्णु के लिए वैकुण्ठ ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए है और यह सम्पूर्ण जगत् लीला करने के लिए है। वैकुण्ठ लोक में विष्णु अपनी नारायणी शक्ति अथवा सम्पूर्ण जगत् की माता-रूपी लक्ष्मी के साथ रहते हैं। स्थावर-जंगम रूप सारा

लक्ष्मी

जगत् उनके कृपा पर अवलम्बित है। विश्व का पालन और संहार उनके नेत्रों के खुलने और बन्द होने से हुआ करते हैं। लक्ष्मी सबके लिए आदि-भूता, त्रिगुणमयी और परमेश्वरी हैं। लक्ष्मी के दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। इन दोनों रूपों से लक्ष्मी विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं। सम्पूर्ण वेद और उनके द्वारा ज्ञेय तत्त्व लक्ष्मी के स्वरूप हैं। स्त्रियों का सौन्दर्य, शील, सदाचार और सौभाग्य लक्ष्मी के रूप हैं। लक्ष्मी की कृपा से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, चन्द्र, सूर्य, कुबेर, यमराज तथा अग्नि अपनी शक्ति पाते हैं। लक्ष्मी के नाम पर लक्ष्मी-नारायण मन्त्र की प्रतिष्ठा हुई। इस मन्त्र के जप से विष्णु-लोक इतनी सरलता से मिलता है, जितना वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान, व्रत, तपस्या, उपवास तथा अन्य साधनों से भी नहीं मिलता।[2]

विष्णु की योग-निद्रा अथवा महामाया की प्रतिष्ठा दुर्गा के रूप में हुई। दुर्गा के अन्य नाम आर्या, वेद-गर्भा, अम्बिका, भद्रा, भद्रकाली, क्षेमदा, भाग्यदा आदि उनकी स्तुति के लिए प्रयुक्त होते हैं। दुर्गा की स्तुति से

दुर्गा

सभी कामनाएँ विष्णु स्वयं पूरी कर देते हैं। दुर्गा की पूजा के लिए सुरा, मांस आदि उपहार तथा भक्ष्य और भोज्य का विधान था।[3]

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ७५-७६ वाँ अध्याय।
२. पद्मपुराण उत्तर खण्ड २५५-२५६ वाँ अध्याय।
३. विष्णुपुराण ५.१.७०-८६।

दुर्गा की प्रतिष्ठा भूति, सन्नति, क्षान्ति और कान्ति रूप में हुई। दुर्गा के प्रत्यक्ष रूप आकाश, पृथ्वी, धृति, लज्जा आदि हैं।

मानवों से सान्निध्य

देवताओं का मानव-रूप में अथवा अन्य जीवधारियों के रूप में प्रकट होकर मानवोचित कार्य करने की कथाएँ प्रायः मिलती हैं। वे मनुष्य रूप में दूसरों का पथ-प्रदर्शन करते हैं, प्रश्नों के उत्तर देते हैं, धर्मोपदेश करते हैं, अपना विराट् रूप दिखलाते हैं, मनोहर ब्राह्मण का रूप धारण करके माता-पिता की सेवा करने वाले चाण्डाल के घर में रहते हैं, अथवा कथा-कहानियों या इतिहास के उपाख्यान कह कर दूसरों के वृत्तान्त बतलाते हैं।[1] भगवान् क्षपणक बन कर लोगों को भाग्य बतलाते हैं और धर्म की परीक्षा करते हैं।[2] कुछ देवता अपने भक्तों की अर्चना से प्रसन्न होकर स्वयं उनके पास आकर बातचीत करते हैं और कहते हैं कि आप लोगों का उपकार करने के लिए मैं स्वयं उपस्थित हूँ। सूर्य ने अपने भक्तों की प्रार्थना सुन कर उनसे कहा कि आप सभी शुद्ध होकर कल्पपर्यन्त मेरे रमणीय धाम में निवास करें। सूर्य के इस अनुग्रह से मानवों की कौन कहे, कीड़े-मकोड़े भी स्वर्ग-लोक प्राप्त कर लेते हैं।[3]

विष्णु भक्तों की परीक्षा भी करने लगते हैं। दीन-हीन ब्राह्मण विष्णुदास की पकाई हुई रसोई चुरा कर खाते हुए चाण्डाल रूप में वे देखे जा सकते हैं। फिर तो विष्णुदास की भक्ति से प्रसन्न होकर विष्णु साक्षात् प्रकट होते हैं और अपने विमान में बैठा कर भक्त को विष्णुलोक ले जाते हैं।[4]

देवताओं का लौकिक व्यवहार प्रायः मानवोचित दिखाई देता है। उनके कुटुम्ब होते हैं, स्त्रियाँ और पुत्र हैं। शिव का कुटुम्ब प्रख्यात है। ब्रह्मा के पुत्र नारद हैं। ब्रह्मा का प्रादुर्भाव विष्णु से हुआ है।

विष्णु के अवतार

विष्णु के साथ ही उनके अवतारों को देवता माना गया। अवतार स्वयं विष्णु

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७ वाँ अध्याय।

२. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ५० वाँ अध्याय।

३. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ८२ वाँ अध्याय।

४. पद्मपुराण उत्तरखण्ड ११३ वाँ अध्याय।

ही हैं।[1] प्रमुख अवतार १० हैं—वराह, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। भागवत में विष्णु के अन्य अवतारों का उल्लेख है—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, नर, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, व्यास और बलराम। इनके अतिरिक्त भगवान् के असंख्य अवतारों की कल्पना भागवत पुराण में मिलती है।[2] उपर्युक्त सभी देवताओं की प्रतिष्ठा काव्य और कला-कृतियों में की गयी।

लोक-कल्याण

पौराणिक धर्म में लोक-कल्याण के लिए समुचित विधान मिलते हैं। इस दिशा में कुटुम्ब और समाज को सुघटित स्वरूप देने का प्रयास विशेष महत्त्वपूर्ण है। कुटुम्ब या समाज के जो लोग अपने सम्पर्क में आते हैं, उनसे विवाद न करना मात्र पुण्यावह माना गया। कुटुम्ब या समाज को अपने सद्व्यवहार से प्रसन्न कर लेना सभी लोकों पर विजय पाने का साधन माना गया। ऐसे व्यवहार से पाप-निवृत्ति का होना सम्भव बता कर इसके प्रति लोक-रुचि जागरित की गयी। नियम था कि यदि कुटुम्ब या समाज का कोई व्यक्ति अपमान भी कर दे तो चुपचाप सह लेना चाहिए।[3]

कौटुम्बिक और सामाजिक संश्लिष्टता

गृहस्थों को अपने चारों ओर शान्त, स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद वातावरण बनाने के लिए नीचे लिखा विधान उपयोगी प्रतीत होता है—'उन घरों में प्रेत भोजन करते हैं, जहाँ पवित्रता नहीं है, जो स्त्रियों के द्वारा दग्ध और छिन्न-भिन्न है, जिनके सामान इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं, जिनमें मानसिक लज्जा का अभाव है, जिनमें पतितों का निवास है, जिनके निवासी लूट-पाट का काम करते हैं, जहाँ गुरुजनों

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए भागवत १.३। कलियुग के अन्तिम भाग में अभी कल्कि अवतार होने वाला है।

३. ऐसे लोगों की सूची में ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, कुटुम्बी, सम्बन्धी, बान्धव, माता-पिता, दामाद, भाई पुत्र, स्त्री, बेटा, दास-दासियाँ आदि परिगणित हैं। पद्मपुराण के सृष्टि-खण्ड १५ वें अध्याय में इस प्रकरण का विशद विवेचन है।

का आदर नहीं होता और जहाँ स्त्रियों का प्रभुत्व है। वह व्यक्ति प्रेत नहीं होता, जिसके हृदय में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया है और जो शत्रु और मित्र में समान भाव रखता है।' इन्हीं विधानों के साथ सामाजिक संश्लिष्टता के नियम मिलते हैं—मित्र की धरोहर हड़पने वाला, विश्वासघाती, कूटनीति का आश्रय लेने वाला और भूमि तथा कन्या का अपहरण करनेवाला प्रेत होता है।[1]

सामाजिक और कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए सबसे अधिक पुण्यात्मक, सर्वप्रिय और सनातन कर्म माने गये हैं—माता-पिता की पूजा, पति की सेवा, सबके प्रति समान भाव, मित्रों से द्रोह न करना और भगवान् विष्णु की भक्ति। इनको पंच महायज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।[2] पद्मपुराण में विष्णु के कथनानुसार इनमें से एक-एक यज्ञ करने वाले के घर वे नित्य निवास करते हैं और उनके साथ ही सरस्वती और लक्ष्मी होती हैं। चाण्डाल भी यदि माता-पिता की सेवा करे तो उसके घर सभी देवताओं का निवास होता है।[3]

कौटुम्बिक शालीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है पति-पत्नी के आदरपूर्ण सम्बन्ध की प्रतिष्ठा। पौराणिक मान्यता के अनुसार स्त्री के लिए पति सर्वोत्तम तीर्थ है, और वह सम्पूर्ण धर्मों का स्वरूप है। यज्ञों से जो पुण्य यजमान को होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री को पति की पूजा करने से तत्काल प्राप्त होता है।[4]

कुछ धार्मिक विधानों के द्वारा गांवों में अनेक प्रकार के कलहों को निर्बीज कर देने की योजना प्रस्तुत की गयी है, जैसे खेत की आधी अँगुली सीमा हर लेने पर सभी शुभ कर्म, दान, तप, स्वाध्याय तथा अन्य धर्म-सम्बन्धी कार्य नष्ट हो जाते हैं, गो-तीर्थ (गौओं के चरने और पानी पीने आदि के स्थान), गाँव की सड़क तथा श्मशान की सीमा कम करने से अथवा गांव को पीड़ित करने से अवश्य ही नरक में प्रलय काल तक रहना पड़ता है। ये नियम गाँवों की सुव्यवस्था के लिए हैं।[5]

पौराणिक मान्यता के अनुसार गृह-कलह दरिद्रा-देवी के आवाहन के लिए होता है। वहीं दरिद्रता के साथ अमंगल रहता है। कठोर भाषण, असत्य, मलिन

---

१. उपर्युक्त नियमों और विधानों के लिए देखिए पद्मपुराण सृष्टिखण्ड २६ वाँ अध्याय।

२. पित्रोरर्चा पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च।
मित्राद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पंचमहामखाः॥ पद्मपुराण सृ० ख० ४७.७॥

३. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७ वाँ अध्याय।

४. पद्मपुराण भूमिखण्ड ४१.१३-१५।

५. पद्मपुराण उत्तरखण्ड ३२ वाँ अध्याय।

अन्तःकरण तथा सन्ध्या-शयन के साथ दरिद्रता का सामंजस्य है। दरिद्रा कलह-प्रिया है।[1]

विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सबका हित चाहना, दूसरे की वस्तुओं की कामना न करना आदि सर्वोच्च गुण हैं।[2]

सामाजिक और कौटुम्बिक संश्लिष्टता के मार्ग में बाधा डालने वाले लोगों के लिए भागवत में मरणोत्तर दुर्गति का भयावह चित्र खींचा गया है। ऐसे लोगों की सूची में प्राणियों के प्रति द्रोह करने वाले, माता-पिता के विरोधी, झूठी साक्षी देने वाले, बड़ों का सम्मान न करने वाले, नरमेध करने वाले, अतिथि के प्रति क्रोधी, धन के मद से सबके प्रति टेढ़ी दृष्टि रखने वाले आदि आते हैं।[3]

अत्याचारों को रोकने के लिए नियम बनाया गया कि किसी को अत्याचार करते हुए देख कर शक्ति होते हुए भी उसका निवारण न करने वाला व्यक्ति अत्याचार के पाप का भागी होता है और नरक में गिरता है।[4]

भारतीय धर्मों ने मानव की मानसिक प्रवृत्तियों को इस प्रकार सुसंस्कृत बना दिया, जिससे सबकी धारणाएँ इस प्रकार की हों कि 'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें। दूसरों पर स्नेह रखें। सभी प्राणियों का कल्याण हो। उन्हें आतंकों से दुःखी न होना पड़े। प्राणियों को व्याधिग्रस्त न होना पड़े। सभी प्राणी सभी लोगों के पोषक बनें। परस्पर प्रेम-व्यवहार की अभिवृद्धि हो। सभी वर्णों की समृद्धि हो। सभी कर्मों में सफलता हो और सभी लोग सभी प्राणियों के कल्याण की भावना करें। अपने समान या अपने पुत्र के समान सभी प्राणियों के प्रति व्यवहार करें। जो व्यक्ति मुझ से आज स्नेह करता है, संसार में उसका सदा कल्याण हो। जो मुझमें द्वेष करता है, वह भी कल्याण-भाजन बने'।[5]

समाज में सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के लिए नियम बनाया गया कि समाज

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड २६० वाँ अध्याय।

२. यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वथा तोष्यते सुखम्॥ विष्णुपुराण ३.८.१७॥
परदारपरद्रव्यपरहिंसासु यो रतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः॥ विष्णु पु० ३.८.१४॥

और भी भागवत १०.७.१३ तथा विष्णुपुराण ३.१३.४५।

३. भागवत ५.२६।

४. नारदपुराण पूर्वभाग प्रथमपाद १४.११४।

५. मार्कण्डेयपुराण ११७.१२-१५, १९।

की हानि करने वाले तीर्थयात्रा के अधिकारी नहीं हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार काशी के अविमुक्त क्षेत्र में कृतघ्न, निष्कर्मण्य, लोकद्वेषी, गुरु-द्वेषी और पाप-कर्म में निरत लोगों को दण्डनायक-भैरव प्रवेश नहीं करने देते।[1]

धर्म-प्रचार

लोक कल्याण के लिए समाज को धर्म के पथ पर चला देना अतिशय पुण्यावह माना जाता था। धर्म के पथ पर चलने के लिए धर्म का ज्ञान होना प्रथम आवश्यकता थी। धर्म का ज्ञान कराने के लिए जो भी योजनाएँ हो सकती थीं, उन्हें धार्मिक साहित्य में कर्तव्य रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।[2]

पूर्त

लोक-कल्याण की दृष्टि से पूर्तों का विधान प्रत्यक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। पूर्त सार्वजनिक उपयोगिता के लिए होते थे। इनके निर्माताओं के पुण्य-भागी होने का विधान पुराणों में मिलता है। पद्मपुराण के अनुसार जलाशय, उपवन, कूप, मन्दिर आदि के निर्माण से लोक और परलोक में अतिशय कल्याण की सम्भावना होती है। वसन्त या ग्रीष्म तक जिस जलाशय में जल रहता हो, उसका निर्माता अश्वमेध या राजसूय यज्ञों के सम्पादन का फल पाता है। पूर्त के निर्माताओं की मरणोत्तर सद्गति अवश्यम्भावी है। शुद्ध चित्त से कुआँ, मन्दिर या जलाशय बनवाने वाला ब्रह्मलोक में स्थान पाता है।

यज्ञों के स्थान पर पूर्तों की प्रतिष्ठा कर देना दूरदर्शी राष्ट्र-निर्माता ऋषियों की अपूर्व सूझ का परिचय देता है। इसी प्रकार वृक्ष लगाने से पुत्रहीन को पुत्रवान् होने का फल मिलना, वृक्षों को लगाने वालों के लिए पिण्डदान देना, अशोक का शोक नाश करना, पाकड़ वृक्ष का यज्ञ का फल देना आदि धार्मिक विधान लोक-कल्याण के लिए थे।

उपर्युक्त पूर्तों के समकक्ष प्याऊ चलाना, सेतुबंध बनवाना, गोचर-भूमि छोड़ना आदि आयोजन भी माने गये। इनके सम्पादन से स्वर्ग-प्राप्ति सुलभ मानी गयी।

---

१. मत्स्यपुराण १८५.४५-४७।

२. भागवत १२.१०.२९ में:—

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च॥

सार्वजनीनता

धर्म के स्वरूप को पौराणिक युग में ऐसा रूप मिल सका कि सभी लोग—धनी और निर्धन अथवा उच्च या नीच जाति के व्यक्ति धर्म-पथ को अपनाकर सर्वोच्च कल्याण करने में समर्थ हो सकते थे। महाभारत के नकुलोपाख्यान के अनुसार युधिष्ठिर के यज्ञ से अधिक महत्त्वपूर्ण दरिद्र ब्राह्मण का सत्तू दान था। निर्धनों के बीच यह धार्मिक मान्यता धर्म को लोकप्रिय बना सकी।

पद्मपुराण के अनुसार तृण और काष्ठ का उपार्जन करके अथवा कौड़ी-कौड़ी माँग कर जो पुरुष पितरों का श्राद्ध करता है, उसके कर्म का लाख गुना फल होता है। पिता की पुण्यतिथि आने पर जो निर्धन पुरुष गौ को घास खिला देता है, उसे पिण्ड-दान से भी अधिक फल मिलता है।[1] दरिद्रों के लिए इस पुराण में सर्वोच्च अभ्युदय का साधन बताते हुए कहा गया है—कामनाओं का त्याग करने से सभी व्रतों का पालन हो जाता है। क्रोध छोड़ देने से तीर्थों का सेवन हो जाता है। दया ही जप के समान है। सन्तोष शुद्ध धन है। अहिंसा सबसे बड़ी सिद्धि है। शिलोञ्छ-वृत्ति सर्वोत्तम जीविका है। शाक-भोजन अमृत के समान है। उपवास उत्तम तपस्या है। कौड़ी का दान महादान है। परस्त्री से अलग रहना यज्ञ है।[2]

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार चाण्डाल और शूद्र तक पवित्र और धार्मिक जीवन बिता कर मुनि-पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उनको मरणोत्तर काल में विष्णुलोक प्राप्त होता है।[3] ब्रह्मपुराण के अनुसार चारों वर्णों के लोग, स्त्री, अन्त्यज आदि सभी नरसिंह का भक्तिपूर्वक पूजन करके कोटि जन्मों के पाप और दुःखों से दूर हो जाते हैं।[4] भक्ति-पथ के द्वारा मोक्ष का द्वार चाण्डालों तक के लिए अनावृत्त हुआ—

श्वपाकोऽपि च मद्भक्तः सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
प्राप्नोत्यभिमतां सिद्धिमन्येषां तत्र का कथा॥[5]

असुरों के व्यक्तित्व को विष्णु भगवान् की भक्ति एवं सच्चरित्रता से समन्वित करने वाले भागवत धर्म की लोकप्रियता आर्येतर समाज में भी हो सकी। वृत्रासुर स्वयं उच्चकोटि के भगवद्भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[6]

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७ वाँ अध्याय।
२-३. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ५० वाँ अध्याय।
४. ब्रह्मपुराण ५९ वाँ अध्याय।
५. ब्रह्मपुराण १७८.१८६।
६. भागवत ६ ठें स्कन्ध का १३-१४ वाँ अध्याय।

नारदपुराण के अनुसार धनी पुरुष का पत्थर का निर्मित और दरिद्र का मिट्टी का बना मन्दिर समान फल देते हैं। इसी प्रकार धनी का नगर-दान दरिद्र के एक हाथ भूमि देने के समान पुण्यावह है। धनी का जलाशय दरिद्र के कुएँ के बराबर है।[१]

मत्स्यपुराण में वेश्याओं के सदाचार का आकलन किया गया है और उनके लिए व्रत, दान आदि का विधान बना है। इस पुराण के अनुसार व्रतों का पालन करने वाली स्त्रियाँ वैकुण्ठ लोक में सुशोभित होती हैं और विष्णु भगवान् के परमानन्द-दायक पद को प्राप्त करती हैं।[२]

स्वास्थ्य-संवर्धन

धार्मिक विधानों से स्वास्थ्य-संवर्धन की योजना धर्म को लोक-प्रिय बनाने में सहायक हुई है। धार्मिक पुरुषों के लिए प्रतिदिन दूध-दही और घी खाना आवश्यक बतलाकर पद्मपुराण में सम्भवतः जान-बूझ कर उनको स्वस्थ बनाने का आयोजन किया गया है। इस पुराण के अनुसार जिस पुरुष को गाय का दूध-दही और घी खाने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, उसका शरीर मल के समान है। लगातार एक मास तक गव्यरहित भोजन करने वाले पुरुष के भोजन से प्रेतों को भाग मिलता है।[३] स्वास्थ्य की दृष्टि से अन्य महत्त्वपूर्ण धार्मिक विधान हैं—भीगे पैर न सोना, सूखे पैर भोजन न करना, अँधेरे में न सोना या भोजन करना आदि। कई बार भोजन करना निषिद्ध था।[४] धोबी का धोया वस्त्र पुनः घर पर धोकर पहना जा सकता था।[५]

आँवले के विविध उपयोगों द्वारा पापों के विनाश और पुण्य-अर्जन करने की योजना लोगों को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए थी। पद्मपुराण के अनुसार आँवले के खाने से सब पापों से मुक्ति हो जाती है, आयु बढ़ती है, उसका जल पीने से धर्म-संचय होता है और उस जल से स्नान करने से दरिद्रता दूर होती है तथा सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जो पुरुष आँवले के रस से सदा अपने केश धोता है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। आँवले का बना मुरब्बा आदि का नैवेद्य अर्पण करने से विष्णु को प्रसन्नता होती है।[६]

---

१. नारदपुराण पूर्वभाग प्रथम पाद १३ वाँ अध्याय।

२. मत्स्यपुराण ७०.६३।

३. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ५९ वाँ अध्याय।

४-५. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४६.५३।

६. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ५८ वाँ अध्याय। आधुनिक आयुर्वेद विज्ञान आँवले में बहुत से विटामिन देख रहा है।

तुलसी के धार्मिक महत्त्व को बतला कर उसे लोगों के लिए नित्य उपयोग में लाने की वस्तु बना देना स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए था—यथा विष्णु के परम परितोष के लिए तुलसी-पत्र के सहित उनका नैवेद्य समर्पित होना चाहिए। भगवान् की प्रतिमाओं और शालिग्राम शिलाओं पर चढ़े हुए तुलसी-दल को प्रसाद-रूप में ग्रहण करने वाला पुरुष विष्णु का सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म की रूपरेखा विष्णु के चरित के आदर्शों के अनुरूप विकसित हुई। विष्णु वैदिक देवता हैं। ऐसी परिस्थिति में इस धर्म का मूल विष्णु सम्बन्धी वैदिक सूक्तों और कथानकों में माना जा सकता है। इस धर्म में ऋग्वेद में वर्णित देवताओं की पराक्रमशीलता, उपनिषदों में प्रतिष्ठित ज्ञान और दर्शन प्रधान अंग हैं। वैदिक साहित्य में प्रतिपादित याज्ञिक कर्म-काण्ड को उपिनषदों में कोई विशेष मान्यता नहीं प्राप्त हुई। भागवत धर्म में जो उपनिषदों का तत्त्व-ज्ञान प्रतिष्ठित हुआ, उसके प्रकाश में याज्ञिक कर्मकाण्ड का टिकना सम्भव न था। इस याज्ञिक कर्मकाण्ड के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों और उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुरूप भक्ति की प्रतिष्ठा हुई।

भागवत धर्म के आरम्भिक स्वरूप का परिचय महाभारत से मिलता है। भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ गीता है। इसके अतिरिक्त महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में नारायणीय धर्म के नाम से भागवत धर्म का वर्णन किया गया है।[1] इसके अनुसार महर्षि नर तथा नारायण परब्रह्म के प्रतिनिधि हैं। ये इस धर्म के अवतार और मूल प्रवर्तक हैं। लोक-कल्याण के लिए स्वयं भगवान् ने आरम्भ में इस धर्म का उपदेश दिया।[2]

वैष्णव धर्म का समय-समय पर प्रमुख उन्नायकों द्वारा अभ्युत्थान हुआ। आरम्भ में कृष्ण भगवान् के द्वारा सात्वत जाति के लोगों में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। उस युग में कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया और उन्हीं की भगवान् उपाधि के अनुरूप इसे भागवत धर्म कहा गया। सात्वत जाति में इसका प्रथम प्रचार होने के कारण इसे सात्वत धर्म कहते हैं। परवर्ती युग में नारद और भागवत

---

१. नारायणीयोपाख्यान के लिए देखिए महाभारत शान्तिपर्व ३२१-३३९ वें अध्याय तक।

२. पद्मपुराण भूमिखण्ड ७१ वें अध्याय के अनुसार वैष्णव धर्म के प्रथम प्रवर्तक राजा ययाति हैं।

पुराण के रचयिता व्यास ने इस धर्म की प्रवृत्तियों को स्पष्ट रूप प्रदान किया।

कृष्ण ने भगवद्गीता की शिक्षाओं के द्वारा भागवत धर्म की रूप-रेखा स्थिर कर दी। इसमें वेदवाद, संन्यास और यज्ञ-विधान को हेय ठहराकर भगवदर्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। कृष्ण के उपदेश का सार है कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवान् के भक्त को परमेश्वर के समान जगत् के धारण-पोषण के लिए सदा यत्न करते रहना चाहिए। महाभारत के नारायणीय आख्यान के अनुसार नारायणीय या भागवत धर्म प्रवृत्ति-(कर्म) प्रधान है।[1]

विष्णु का व्यक्तित्व

वैदिक युग में विष्णु के व्यक्तित्व की विशेषतायें उनकी सहायशीलता और अद्वितीय पराक्रम-परायणता हैं।[2] पौराणिक युग के विष्णु यथासम्भव सभी गुणों की खानि हैं, जिनकी कल्पना मनुष्य कर सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म या परमात्मा के जिन गुणों की कल्पना की गई है, वह प्रायः अपने मूल रूप में अथवा संवर्धित रूप में गीता के माध्यम से पौराणिक विष्णु में प्रतिष्ठित है।

विष्णु का व्यक्तित्व है—अतिशय शक्तिशाली, उपकारपरायण और आनन्द-दाता। पौराणिक मान्यता के अनुसार विष्णु परमपावन, पुण्य-स्वरूप, वेद के ज्ञाता, वेद-मन्दिर, विद्या और यज्ञों के आधार, गीतज्ञ, गीतप्रिय, सभी लोकों के उद्भव और तारक, भवसागर में डूबने वालों के लिए नौका-स्वरूप, महाकान्त, अत्यन्त उत्साही, महामोह-विनाशन, यज्ञवल्लभ, सभी भूतों में निवास करने वाले, व्यापक, विश्व-वेत्ता, विज्ञान, परमपद, शिव, मोक्ष-द्वार, सभी लोकों का भरण करने वाले, सबके आश्रय, सर्वमय, सर्वस्वरूप, शान्त, सुख, सुहृद्, ज्ञान-सागर, सत्याश्रय, यज्ञ-स्वरूप और पुरुषार्थ-रूप हैं।[3]

विष्णु के व्यक्तित्व में अतिशय लोक-प्रियता है। भागवत में स्वयं विष्णु के मुख से कहलवाया गया है:—

---

१. शान्तिपर्व ३३५.७५।

२. ऐतरेय ब्राह्मण १.१ तथा शतपथ ब्रा० १४.१.१ के अनुसार विष्णु सर्वोच्च देव हैं। ऋग्वेद का पुरुष विष्णु की पुरातन महिमा का बीज है। देखिए पुरुष-सूक्त।

३. पद्मपुराण भूमिखण्ड ९८ वाँ अध्याय।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥९.४.६३॥

(मैं भक्त के अधीन हूँ। पूर्णतया परतन्त्र हूँ। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं।)[1]

एक ओर विष्णु भगवान् की अप्रतिम लोक-हितकारिणी कार्यक्षमता और दूसरी ओर उनकी अनुपम भक्त-प्रियता है। ये विशेषतायें उनकी ओर लोगों को आकृष्ट करने में पर्याप्त समर्थ थीं।

वैष्णव का व्यक्तित्व

वैष्णव धर्म के अनुयायी वैष्णवों का व्यक्तित्व विष्णु के व्यक्तित्व के अनरूप विकसित करने की योजना बनाई गई है। उसके लिए सभी प्राणियों के प्रति दया-भावना की प्रतिष्ठा इस आधार पर की गई कि भगवान् सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में विराजमान हैं। इस प्रकार प्राणियों का अनादर विष्णु का अनादर हो जाता है। नियम था कि प्राणियों से वैर रख कर मन शान्त नहीं किया जा सकता। भक्त सभी प्राणियों में स्थित भगवान् को अपने हृदय में देखते हुए सबके साथ अपनी एकसूत्रता स्थापित कर ले।[2]

भागवत की दृष्टि में आदर्श मानव श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरों के प्रति दोष-दृष्टि न रखने वाला, सभी प्राणियों का मित्र, सेवक, आधिभौतिक वस्तुओं के प्रति विरक्त, शान्त-चित्त, मत्सररहित, शुचि और भगवान् को प्रिय मानने वाला होता है।[3] ऐसे ही व्यक्ति को उच्च भागवत तत्त्व सुनने का अधिकार होता है। सम्पत्ति और विपत्ति में विकार का न होना और उत्तम, मध्यम और अधम को समान मान कर समभाव रखना आवश्यक है। भगवान् समचित्तवर्ती हैं।[4]

भागवत के अनुसार वैष्णव को काम और अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तियों से अलग रहना चाहिए। इनके चिन्तन से मनुष्य के सभी पुरुषार्थों का नाश हो जाता है। और वह इनकी चिन्ता से ज्ञान-विज्ञान से च्युत हो जाता है।[5] मन में कामना के उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और

---

१. इस भाव के अन्य श्लोकों के लिए देखिए भागवत ९.४.६४-६८।
२. भागवत ३.२९.२१-२७।
३. भागवत ३.३२.३९-४३।
४. भागवत ४.२०.१२, १३, १६।
५. भागवत ४.२२.३३-३४।

सत्य का नाश हो जाता है।[1] शरीर, स्त्री, पुत्र आदि के प्रति आसक्ति छोड़ना, देह और गेह का आवश्यकतानुसार सेवन, आवश्यकता की पूर्ति मात्र के लिए अपेक्षित घन को अपना मानना, पशु-पक्षियों को पुत्रवत् समझना, धर्म, अर्थ और काम के लिए अधिक कष्ट न उठाना, अपनी भोग्य सामग्री को सभी प्राणियों के साथ बाँट कर भोगना आदि भागवत-धर्मानुयायी गृहस्थ की प्रगति-दिशा में प्रकाश-स्तम्भ हैं।[2] वैष्णव की लोकोपकार-वृत्ति उसकी सर्वोच्च आराधना है।[3] रन्तिदेव नामक वैष्णव का व्यक्तित्व आदर्श है। उसने कामना की है—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा—
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा—
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥ भागवत ९.२१.१२॥

(मैं ईश्वर से परम गति की कामना नहीं करता, जिसके द्वारा आठों ऋद्धियाँ अथवा मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। मैं चाहता हूं कि सभी प्राणियों के अन्तस् में प्रतिष्ठित होकर उन सबके दुःख को अपना लूं, जिससे वे दुःख-रहित हो जायें।)

विष्णु भगवान् के अवतार कृष्ण की उस योजना का निर्देशन भागवत में मिलता है, जिसके द्वारा वे वष्णवों के व्यक्तित्व का विकास करते हैं। जिस व्यक्ति पर कृष्ण का अनुग्रह होता है, उसका सर्वस्व वे शनैः शनैः अपहरण कर लेते हैं। ऐसे दुःखी व्यक्ति को उसके स्वजन छोड़ देते हैं। अपने उद्योगों में विकल होकर वह व्यक्ति कृष्ण के अधिक अनुग्रह का पात्र बन जाता है। परिणामस्वरूप उसे परम ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

शैव धर्म

आर्येतर मूल

शैव धर्म का प्रथम परिचय निःसन्देह सिन्धु-सभ्यता के तत्सम्बन्धी अवशेषों से लगता है, जिनमें प्रथम स्थान उस मुद्रा का है, जिस पर शिव की आकृति पशुपति

---

१. भागवत ७.१०.८।
२. भागवत ७.१४.१-१३।
३. तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशोजनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥भागवत ८.७.४४॥

रूप में है। इस आकृति के साथ शिव का प्रतीक लिंग भी है। शिव की एक दूसरी आकृति ताम्र-पट्ट पर मिलती है, जिसमें वे योगी-रूप में दिखलाये गये हैं। उनके सामने दो सर्प बैठे हैं और गले में सर्प की माला है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में विविध आकारों के छोटे-बड़ अनेक लिंग और योनियाँ प्राप्त हुई हैं। नवीन पाषाण-युग का एक सुन्दर लिंग प्राप्त हुआ है। बड़े लिंग एक फुट से तीन फुट तक ऊँचे है।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि परवर्ती-युगीन पौराणिक और आधुनिक शिव के व्यक्तित्व में सिन्धु-सभ्यता की शिव-सम्बन्धी मान्यताओं का विकास मिलता है।

आर्य-संस्कृति के ऋग्वदिक रुद्र के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी बातें मिलती हैं, जो सिन्धु-संस्कृति के शिव में भी पायी जाती हैं। ऋग्वेद में रुद्र की एक उपाधि पशुप मिलती है।[1] रुद्र का संहारक रूप वैदिक स्तुतियों में विशेष रूप से दिखाई देता है। इसी संहार से मानव अपनी वंश-परम्परा, पशु और घरों को बचाने के लिए रुद्र की स्तुति करता था और उनके लिए हवि समर्पित करता था। रुद्र पथ्वी के सभी प्राणियों की चिन्ता करते हैं और साथ ही अपने साम्राज्य के सभी देवताओं को देखते हैं।[2]

वैदिक काल में आर्येतर शिव के व्यक्तित्व का आर्य रुद्र के साथ मिलन हुआ। शतरुद्रिय के अनुसार रुद्र या शिव मानवों की वसति से दूर रहते हैं। वे वन, पथ और पथिकों, चोरों और डाकुओं तथा व्रात्यों के स्वामी हैं। यजुर्वेद के इस वर्णन से प्रतीत होता है कि शिव का सम्बन्ध उन आर्येतर लोगों से भी है, जो आर्य-संस्कृति की परिधि से बाहर हैं। शतरुद्रिय में रुद्र के गण, गणपति, तक्षा, निषाद आदि पर्यायों से प्रतीत होता है कि वैदिक रुद्र का आर्येतर जातियों के द्वारा पूजित किसी देवता के साथ तादात्म्य अवश्य हुआ।

आर्येतर जातियों से इस देव के अतिशय सम्बन्ध की कल्पना का प्रमाण अथर्ववेद के इस वाक्य से मिलता है—देवताओं ने महादेव (पशुपति, शर्व, धनुर्धर, भव, रुद्र, उग्र) को विभिन्न दिशाओं के व्रात्यों का अधिष्ठाता बनाया है। इससे ज्ञात होता है कि व्रात्यों के द्वारा पूजित अनेक देवताओं को वैदिक रुद्र की समकक्षता प्राप्त हुई थी।[3]

---

१. ऋग्वेद १.११४.९।

२. ऋग्वेद १.११४ तथा ७.४६.२।

३. अथर्ववेद १५.५.१-७।

श्वेताश्वतर उपनिषद में रुद्र शिव को उसी स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है, जिस पर उपनिषद् का ब्रह्म या गीता का विष्णु प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार रुद्र अनन्यतम देव है। उसी का संसार पर शासन है। वही सभी व्यक्तियों में स्थित है। वह सबकी रचना करता है अथवा संहार करता है। वह देवताओं का आदि प्रभव है। उसी से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई है। इसी परब्रह्म, सर्वव्यापक ईश (रुद्र, शिव) को जानकर मानव अमर बन जाता है।[१]

महाभारत में शिव की महिमा योद्धा के रूप में सुप्रतिष्ठित है। शिव के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस युग तक हो चुका था। वे सर्वभूत-महेश्वर, सर्वेश्वर, कल्याणकारी, परमकारण, सर्वव्यापक आदि उपाधियों से अलंकृत हैं। स्वयं अर्जुन और कृष्ण शिव से मिलने के लिए हिमालय पर जाते हैं और उनसे वर पाने के लिए स्तुति करते हैं।[२] इन उपाधियों से तथा अर्जुन (नर) और कृष्ण (नारायण) के उनकी वन्दना करने से ज्ञात होता है कि महाभारत काल में शंकर का स्थान पूज्य था।

महाभारत में उमा और शिव से पशुओं की उत्पत्ति बताई गई है। इसके अनुसार ब्रह्मा और विष्णु शिव की परिचर्या करते हैं। स्वयं कृष्ण ने महादेव की प्रसन्नता के लिए तप किया है और अन्त में कृष्ण को महादेव और उमा ने वर दिये है।[३]

पौराणिक शिव

पौराणिक साहित्य के अनुसार ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, क्षमा, धृति, सृष्टि-योग्यता, शासन-गुण और आत्मसंबोध—ये दस गुण शंकर में सदैव वर्त्तमान रहते हैं। शिव देवता, असुर और ऋषियों में सबसे अधिक तेजस्वी हैं। इसी से उनका नाम महादेव है। उन्होंने ऐश्वर्य से देवों को, बल से असुरों को और ज्ञान से ऋषियों को पराजित किया है। शिव परम योगी हैं।[४] शिव के आठ रूप है—पाँच तत्त्व, सूर्य, चन्द्र और दीक्षित ब्राह्मण के प्रतीक हैं। इनका समादर शिवतत्त्व का अधिष्ठान होने के कारण ही है।[५]

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३, ४, ७।

२. महाभारत वनपर्व ३९ से ४२ वें अध्याय तक।

३. महा० अनुशासनपर्व १४ वाँ अध्याय।

४. वायुपुराण १०.६५-६८।

५. वायुपुराण २७ वाँ अध्याय।

शिव में अपने कार्यों को सिद्ध करने की अद्भुत शक्ति थी। उन्होंने दक्ष का यज्ञ-विध्वंस करने के लिए अपने मुँह से जाज्वल्यमान अग्नि की भाँति वीरभद्र को उत्पन्न करके उसे अपने काम पर नियुक्त किया। देवी पार्वती के क्रोध से भयंकर माहेश्वरी भद्रकाली उत्पन्न हुई थी। उसने वीरभद्र का साथ दिया।[1]

शिव का लोकरक्षक स्वरूप प्रशंसनीय है। उनका विषपान लोक-रक्षा के लिए था। आत्माराम होते हुए भी शिव लोक-रक्षा के लिए शक्ति (शिवा) के साथ विचरण करते हैं।[2]

माहेश्वर योग

भक्तों में शिव की योग सम्बन्धी प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा हुई। उनका योगपथ माहेश्वर कहा जाता है। इसमें प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण इन पाँच तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है। इस पथ के उपासक वासना से रहित एवं शरद् ऋतु के आकाश के समान निर्मल हो जाते हैं। शैवपथ के मुनि आत्मा में मन को लगाकर उपासना करते हैं। इसके अनुसार प्राणायाम से दोषों का, धारणा से पाप का, प्रत्याहार से विषय-समूह का और ध्यान से अनीश्वर गुणों का नाश होता है।[3] लिंगपुराण में शिवलिंग की पूजा का अतिशय माहात्म्य बतलाया गया है।[4]

शाक्त सम्प्रदाय

शाक्त सम्प्रदाय में सृष्टि के उद्भव और विकास में दिव्य शक्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। शक्ति का नारी स्वरूप है। वास्तव में सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का स्थान प्रत्यक्ष ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

शाक्त सम्प्रदाय का प्राचीनतम मल सिन्धु-सभ्यता की मातृदेवी की पूजा में मिलता है। उस समय माता-रूप में प्रकृति या पृथ्वी की पूजा होती थी। वैदिक साहित्य में अदिति और पृथ्वी को देवताओं की कोटि में रखकर आदिशक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।[5] यही अदिति आदित्य-वर्ग के सर्वश्रेष्ठ देवों की माता है।

---

१. वायुपुराण ३०.११४, २९६।

२. भागवत ४.२४.१८।

३. वायुपुराण १०.७१-९४।

४. लिंगपुराण ३० वाँ अध्याय।

५. ऋग्वेद १.८९.१० के अनुसार अदिति ही माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा आदि सब कुछ हैं।

वह पृथ्वी को धारण करती है।[1] अथर्ववेद में शक्ति का निरूपण किया गया है।[2]

पौराणिक युग में जिन गुणों से समन्वित होकर कोई देव या देव भक्तों की दृष्टि में सर्वोच्च अथवा पूजनीय पद पा सकता था, वे स्पष्ट ही अदिति में वर्त्तमान हैं। उपनिषद् में गायत्री और तत्स्वरूपिणी पृथ्वी को सारी सृष्टि का रक्षक बताया गया है।[3] केन उपनिषद् की हैमवती उमा उसी शक्ति का परिचय देती है।

शैव सम्प्रदाय में शक्ति को शिव की पत्नी मान लिया गया। शक्ति की प्रेरणा से शिव अपने कार्यों में प्रवर्तित होते हैं। शिव का कार्य-कलाप सृष्टि की रचना, पोषण और संहार मानकर शक्ति को इन सभी के लिए नियोजिका रूप में प्रतिष्ठित किया गया। पौराणिक युग में शक्ति के स्वतन्त्र रूप से असंख्य महान् पराक्रमों के कथानक मिलते हैं, जिनसे केवल मानव-समाज को ही नहीं, अपितु देवताओं को भी शक्ति की सहायता की अपेक्षा प्रतीत होती है।

शाक्त दर्शन के अनुसार शिव वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अखिलानुगत, प्रकाश और अकर्ता हैं। उनकी शक्ति सारे कार्यों के मूल में है। वह सभी जीवात्माओं को समन्वित करती है। शक्ति से समन्वित शिव सृष्टि के लिए समर्थ हैं। शिव प्रकाश हैं, और शक्ति विमर्श है। विमर्श शिव का शाश्वत गुण है। शक्ति के ज्ञान से मुक्ति सम्भव होती है।

सिन्धु-सभ्यता के युग से लेकर पौराणिक युग तक आर्य और आर्येतर वर्गों के द्वारा शक्ति या उसके समकक्ष अनेक अन्य देवियों की आराधना का प्रचलन था। आर्य और आर्येतर वर्गों के धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से तथा विविध वर्गों के पारस्परिक मेल-जोल से शक्ति आदि विभिन्न देवियों का विलयन हुआ। विलयन की प्रक्रिया में प्रायः सारी देवियों के नाम स्तोत्रों में उनके पराक्रमों के स्मारक-स्वरूप वर्त्तमान रहे। उनकी विविध पूजा-विधियों को भी शास्त्रों में स्थान मिला। इस सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप देने की प्रक्रिया में शक्ति उपाधि नाम को विशेष समादर प्राप्त हुआ। यही कारण है कि शक्ति के स्वरूप और उसकी आराधना-विषयक विविधतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

---

१. ऋग्वेद १.१३६.३।

२. एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
महो देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥
अथर्ववेद १०.८.३० ॥

३. छान्दोग्य उप० ३.१२.१-३।

शाक्त सम्प्रदाय के तन्त्र-साहित्य में शक्ति के आनन्द-भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी और ललिता नामों को प्रमुख स्थान मिला। शिव आनन्दभैरव या महाभैरव हैं। आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी का सामरस्य ही सृष्टि का समारम्भ है। आनन्द-भैरवी सृष्टि करने में और आनन्दभैरव सृष्टि के संहार में प्रमुख भाग लेते हैं।

शिव और शक्ति के सम्बन्ध का दार्शनिक निरूपण किया गया है। सृष्टि के पहले शिव और शक्ति ही थीं। शिव प्रकाश रूप से शक्ति के विमर्श रूप में प्रतिष्ठित होकर बिन्दु-स्वरूप बन जाते हैं। शक्ति भी शिव में प्रवेश करती है। तभी बिन्दु का विकास होकर नाद बनता है। नाद और बिन्दु के संयोग से काम की उत्पत्ति होती है। काम का श्वेत और रक्त बिन्दुओं का सम्पर्क होने पर कला की उत्पत्ति होती है। काम और कला के संयोग से त्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप कामकला निष्पन्न होती है। इसी से अखिल विश्वात्मक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, और पद और पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त त्रिपुरसुन्दरी से तादात्म्य कर लेना शाक्त की सर्वोच्च सिद्धि है। इसके लिए प्रथम सोपान है अपने को स्त्री समझना। तादात्म्यपरक दीक्षाओं के अनुसार शक्ति और शिव का कामकला-रूप से ध्यान किया जाता है, श्रीचक्र को यौन-प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करके उसकी पूजा की जाती है अथवा शाक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आचार की दृष्टि से शाक्त सम्प्रदाय के दो भेद मिलते हैं—कौलिक और समयी। कौलिक मांस, मदिरा, मधु, मद्य आदि पंचमकारों से येन-केन प्रकारेण नारी-सुलभ ऐन्द्रियक सुखों को अपनाकर शक्ति को प्रसन्न करने का प्रत्यक्षतः घृणास्पद आयोजन करते हैं। समयी इस प्रकार के आयोजनों से दूर रहते हैं। वे प्रतीकवाद का सहारा लेकर अपनी आराधना को पूर्ण मान लेते हैं।

भैरवीचक्र की आराधना के समय आराधकों के बीच जाति-सम्बन्धी भेदों का लोप माना जाता है। सभी जाति के लोग ब्राह्मण बन जाते हैं। पूजा समाप्त होते ही सभी पूर्ववत् जाति-सम्बद्ध हो जाते हैं। शाक्तों में मद्यपान का उल्लेख कल्हण ने किया है।[1]

गाणपत्य सम्प्रदाय

ऋग्वेद में रुद्र के गण मरुतों का उल्लेख मिलता है। मरुतों के गणों के अधिपति गणपति को वैदिक काल में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। महाभारत में गणपति के

---

१. राजतरंगिणी ५.५२३।

समकक्ष विनायक का नाम मिलता है। इन दोनों देवताओं को सर्वव्यापी माना गया है। उनके सम्बन्ध में धारणा है कि वे मानवों के कार्य को देखते हैं। स्तुतियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विनायक मानवों की विपत्तियों को दूर कर देते हैं। मानवगृह्यसूत्र में विनायकों की विघ्नकारिणी प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। उनका स्वरूप इस प्रकरण में आधुनिक भूतों के प्रायः समान पड़ता है।[१] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार विनायकों को रुद्र और ब्रह्मदेव के द्वारा गणों का अधिपति नियुक्त करके मानवों की कार्य-पद्धति में विघ्न-बाधायें उपस्थित करने का काम दिया गया है। इस प्रकरण में विनायक की माता अम्बिका हैं।[२]

गणपति के नाम पर जो सम्प्रदाय चला उसकी छः शाखायें मिलती हैं। इन में से महागणपति के आराधक उन्हें आदिदेव मानकर प्रलय-काल में उनके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं मानते। इस प्रकार वे सृष्टि के आदिकर्त्ता हैं। वे ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं। महागणपति का एकदन्त वाला शुण्डमुख तथा शक्ति से आश्लिष्ट स्वरूप ध्येय है। हरिद्रा-गणपति के उपासक गणपति को हल्दी में रँगे परिधान वाले पीत यज्ञोपवीतधारी, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, पीतानुलिप्त मुख वाले, हाथ में पाश, कुश तथा दण्डधारी-स्वरूप का ध्यान करते हैं। उनके अनुसार गणपति से ब्रह्मसमेत समग्र सृष्टि का उद्भव हुआ है। हरिद्रा-गणपति के उपासक अपनी बाँहों पर गणपति के मुख और दन्त की मुद्रा तपाये हुए लोहे से मुद्रित कराते हैं। उच्छिष्ट गणपति के उपासक वाममार्गी हैं और आचार-विचार में प्रायः कौल शाक्तों के समान पड़ते हैं। वे गणपति के अश्लील स्वरूप की पूजा करते हैं। मदिरा और मदिराक्षी का सेवन उनका परम विकास है। उनके ललाट पर लाल मुद्रा होती है। उनके लिए संध्या-वन्दन आदि वैकल्पिक रहे हैं।

गाणपत्य सम्प्रदाय की अन्य तीन शाखायें नवनीत, स्वर्ण और सन्तान हैं। ये तीनों गणपति को सर्वोच्च देव मानकर उन्हीं के अवयव-स्वरूप अन्य देवताओं की प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा करते हैं।

सभी धार्मिक पूजाओं में गणपति की अर्चा का विधान है। इससे प्रतीत होता है कि किसी न किसी युग में गाणपत्य सम्प्रदाय की अतिशय लोकप्रियता गणपति को सनातन प्रतिष्ठा प्राप्त करा सकी होगी।

---

१. मानवगृह्यसूत्र २.१४।

२. याज्ञवल्क्यस्मृति १.२७१-२८०।

सौर सम्प्रदाय

वैदिक काल में सूर्य और उसके पर्यायवाची शब्दों से अनेक देवताओं की अभिव्यक्ति होती थी। विश्व को प्रत्यक्ष ही प्रकाश देने के सम्बन्ध से उसके गुणों पर वैदिक ऋषियों का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक था। सूर्य या सविता को आचार्य रूप में ग्रहण किया गया और शिक्षण-पद्धति की सन्ध्योपासन-विधि में गायत्री की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई।[1] इसके साथ ही गृहस्थ और वानप्रस्थ की सन्ध्योपासन-विधि में सूर्य की आराधना होती थी। इस दृष्टि से भारतीय समाज में सूर्य की शाश्वत प्रतिष्ठा धार्मिक क्षेत्र में बनी रही।

पौराणिक युग में सौर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का एक ही आधार हो सकता था कि सूर्य अखिल जगत् का आदि कारण और साथ ही विलयन का अधिष्ठान हो। इस प्रतिष्ठा के लिए सौर सम्प्रदाय के उद्भावक वैदिक साहित्य में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं—'सूर्य चराचर का आत्मा है।'[2] 'आदित्य ब्रह्म है।'[3]

विष्णु के समान सूर्य की आराधना की विधियाँ रही हैं। कुछ पूजा सम्बन्धी विशेषतायें—सूर्यनमस्कार, अर्घ्यदान आदि हैं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्योन्मुख होकर मन्त्र या स्तोत्र का जप आदित्य-व्रत था। षष्ठी या सप्तमी तिथियों में दिन भर उपवास रहकर भगवान् भास्कर की पूजा करना पूर्ण व्रत था। पौराणिक धारणा के अनुसार जो-जो पदार्थ सूर्य के लिए अर्पित किये जाते हैं, उन्हें लाख गुना करके सूर्य लौटा देते हैं। उस युग में सूर्य की एक दिन की पूजा सैकड़ों यज्ञों के अनुष्ठान से बढ़कर मानी गई।[4]

सौर पुराणों में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ देव बतलाया गया है और सभी देवताओं को इन्हीं का स्वरूप कहा गया है। इन पुराणों के अनुसार सूर्य वारंवार जीवों की सृष्टि और संहार करते हैं। ये पितरों के भी पिता और देवताओं के भी देवता हैं। जनक, बालखिल्य, व्यास तथा अन्य संन्यासी योग का आश्रय लेकर सूर्य-मण्डल में प्रवेश कर चुके हैं। सूर्य सम्पूर्ण जगत् के माता-पिता और गुरु हैं।[5]

सूर्य के द्वादश रूप हैं। इनमें से इन्द्र देवताओं का राजा है, धाता प्रजापति है, पर्जन्य जल बरसाता है, त्वष्टा वनस्पति और औषधियों में विराजमान है, पूषा

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.२०.६।
२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद १.११५.१।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.१।
४. ब्रह्मपुराण २९ वाँ अध्याय।
५. ब्रह्मपुराण २९-३० वाँ अध्याय।

अन्न में स्थित है और प्रजाजनों का पोषण् करता है, अर्यमा वायु के माध्यम से सभी देवताओं में स्थित है, भग देहधारियों के शरीर में स्थित है, विवस्वान् अग्नि में स्थित है और जीवों के खाये हुए भोजन को पचाता है, विष्णु धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं, अंशुमान् वायु में प्रतिष्ठित होकर प्रजा को आनन्द प्रदान करता है, वरुण जल में स्थित होकर प्रजा की रक्षा करता है और मित्र सम्पूर्ण लोक का मित्र है। सूर्य का उपर्युक्त व्यक्तित्व उसे अतिशय लोकप्रिय बना देता है।[1]

सूर्य के सहस्र नामों की कल्पना स्तोत्र-रूप में विकसित हुई। इन्हीं नामों का एक संक्षिप्त संस्करण बना, जिसमें २१ नाम हैं। इसको स्तोत्रराज की उपाधि मिली। इसके द्वारा शरीर के आरोग्य, धन की वृद्धि और यश-प्राप्ति की सम्भावना थी।[2]

सौर सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर लाल चन्दन से सूर्य की आकृति बनाते हैं और लाल पुष्पों की माला धारण करते हैं। वे ब्रह्म-रूप में उदयोन्मुख सूर्य की, ईश्वर-रूप में मध्याह्न सूर्य की तथा विष्णु-रूप में अस्तोन्मुख सूर्य की पूजा करते हैं। सूर्य के कुछ भक्त उसे विश्वात्मा मानकर नित्य सूर्य-मण्डल को देखने का व्रत लेते हैं। कुछ भक्त सूर्य को देखे बिना भोजन नहीं करते। कुछ लोग सूर्य की मुद्रा को तपाये हुए लोहे से ललाट पर अंकित करके निरन्तर उसके ध्यान में मग्न रहने का विधान अपनाते हैं।

भारत में सूर्य के कुछ उपासक तीसरी शती ईसवी में बाहर से आये।[3] ऐसी जातियों में मगों का नाम उल्लेखनीय है। राजपूताने में मग जाति के ब्राह्मण आजकल भी मिलते हैं। यह जाति मूलतः प्राचीन ईरान की मग जाति है। वहीं से ये भारत में आये। कुशान-युग में उनकी सूर्य की पूजा-विधि ईरान से भारत आई।

भारत में सूर्य की पूजा से सम्बद्ध बहुत से मन्दिर पाँचवी शती के आरम्भिक काल से बनते रहे। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध और आज भी वर्त्तमान तेरहवीं शती का कोणार्क का सूर्य-मन्दिर है। छठीं शती से कुछ राजा प्रमुख रूप से

---

१. ब्रह्मपुराण २९-३० वाँ अध्याय।

२. ब्रह्मपुराण ३१.३१-३३।

३. विदेशों में कहीं-कहीं सूर्य-पूजा प्रचलित थी। सिकन्दर स्वयं सूर्य का उपासक था। उसने भारत पर विजय की आशा से उगते हुए सूर्य की पूजा की और अपनी कामना पूर्ण करने के लिए निवेदन किया। सूर्य-पूजा का प्रसार एशिया माइनर से रोम तक था।

सूर्य की उपासना करते रहे हैं। इनमें से हर्षवर्धन और उसके पूर्वजों के नाम प्रसिद्ध हैं।

सौर सम्प्रदाय का परिचय ब्रह्मपुराण के अतिरिक्त सौर पुराण से भी मिलता है। ब्रह्मपुराण में सूर्योपासना की प्रमुखता होने के कारण इसे भी सौर पुराण कहते हैं। सौर पुराण में शैव सम्प्रदायों का परिचय विशेष रूप से मिलता है। इसमें शिव का सूर्य से तादात्म्य भी दिखलाया गया है। स्वयं सूर्य से कहलाया गया है कि शिव की उपासना श्रेयस्कर है।[१]

साम्प्रदायिक सहिष्णुता

भारतीय धर्मों की साम्प्रदायिक सहिष्णुता उच्च कोटि की कही जा सकती है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण महाभारत की धर्म-सम्बन्धी इस उक्ति में मिलता है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥ वनपर्व १३१.१०

(धर्म वही है जो किसी धर्म का विरोध नहीं करता। जो धर्म किसी दूसरे धर्म का विरोध करता है, वह कुधर्म है।)

वैदिक काल से ही आर्य धर्म और आर्येतर धर्म के अनुयायियों में जो परस्पर सम्मान की भावना थी, वही आगे चलकर पौराणिक धर्म को जन्म देने में समर्थ हुई।[२] परवर्ती युग में बौद्ध संस्कृति के अनुयायी गृहस्थों के लिए धार्मिक कर्मकाण्ड की वैदिक पद्धति को छोड़ना आवश्यक नहीं रहा। स्वयं गौतम ने अन्य धर्मों के सत्सिद्धान्तों के प्रति आदर प्रकट किया है और अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति समभाव की प्रतिष्ठा की है।[३] जैन संस्कृति के अनुयायी अपने कर्मकांड को ब्राह्मण-पुरोहितों से सम्पादित कराते रहे है। इस संस्कृति के श्लाघ्य महापुरुषों की सूची में राम, कृष्ण आदि को स्थान मिला। बाइसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का

---

१. *Winternitz: A History of Indian Literature Vol. I p.* 535-536

२. व्रात्यों के प्रति जो समादर और आतिथ्य की भावना का प्रमाण अथर्ववेद में मिलता है, उससे सिद्ध होता है कि विधर्मियों अथवा अन्य मतावलम्बियों के प्रति वैदिक काल में भी लोग असहिष्णु नहीं थे। अथर्ववेद १५.११.१३; ५.८.३।

३. महावग्ग १.७.५।

कृष्ण से सम्बन्ध प्रतिष्ठित हुआ। ऐसी परिस्थिति में जैन समाज में वैष्णव वर्ग ही बन गया।[1]

पौराणिक धर्म की विविध प्रवृत्तियों में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव शंकर के सफल प्रयास से निष्पन्न हुआ। शंकर षण्मतस्थापनाचार्य हैं। उन्होंने शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और कापालिक—छः सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को प्रामाणिकता प्रदान की और उनमें अन्तर्हित सत्य की प्रतिष्ठा की। शंकर ने विविध सम्प्रदायों के प्रधान देवों की प्रशंसा में स्तोत्रों की रचना की। शंकर का व्यक्तित्व वास्तव में सहिष्णुता की स्थापना की दिशा में आदर्श है।

सहिष्णुता का मूलाधार

भागवत धर्म में अन्य सम्प्रदायों के प्रति आदर भाव रखने की शिक्षा दी गई है। कम से कम अन्य शास्त्रों के प्रति अनिन्दा का भाव तो ग्रहण करना ही चाहिए।

सहिष्णुता का मूलाधार है धर्माचार्यों की वह धारणा, जिसके द्वारा मान लिया गया कि एक सत् का विविध रूपों में वर्णन हो सकता है।[2] सत्य की एक बार प्रतिष्ठा हो जाने पर धार्मिक सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष रूप से परस्पर विरोध होने पर भी उनकी एकसूत्रात्मकता की अभिव्यक्ति वास्तविक मानी जाती थी। इसी प्राकृतिक प्रवृत्ति का निदर्शन ऋग्वेद के इस कथन में भी मिलता है—सड़क एक है, रथ बहुत से हैं।[3]

वैदिक काल में धार्मिक सहिष्णुता का आदर्श देवताओं के चरित के अनुरूप विकसित हुआ। पृथ्वी की सहिष्णुता अनुपम प्रतीत होती है। पृथ्वी विविध प्रकार की भाषाओं और धर्मों के अपनाने वालों को धारण करती है।[4] वह मूर्ख और विद्वान् दोनों को धारण करती है। उस पर अच्छे और बुरे दोनों रहते हैं।[5]

भारत के प्रायः सभी धर्मों में प्राणिमात्र पर दया, विश्वबन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और आचार-विचार की शुद्धता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, समान रूप से महापुरुषों की प्रतिष्ठा की गई और व्रत तथा उपवास के द्वारा शारीरिक एवं मान-

---

१. *Radhakrishnan: Indian Philosophy Vol. I p.* 331

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

३. एकं नियानं बहवो रथासः। ऋग्वेद १०.१४२.५

४. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथ्वी यथौकसाम्।
अथर्ववेद १२.१.४५।

५. अथर्ववेद १२.१.४८।

सिक शुद्धता सम्भव बताई गई। घृणा को किसी धर्म ने नहीं अपनाया। ऐसी परिस्थिति में किसी दूसरे धर्म के प्रति द्वेष-भाव रखना किसी धर्म ने नहीं सिखाया। पद्मपुराण में अपने ही धर्म की रक्षा के लिए दूसरे धर्म का दोष न निकालने की सीख दी गई है।[1]

पौराणिक युग में धर्मों में सहिष्णुता की भावना बढ़ती हुई दिखाई देती है। प्रत्येक धर्म में दूसरे धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों को उस युग में ले लेने की चेष्टा की गई। गौतम बुद्ध को पौराणिक धर्म में विष्णु का अवतार मान लिया गया और बौद्ध आदर्शों के अनुरूप पशु-हिंसामय यज्ञों का विरोध किया गया। परिणामतः बौद्ध धर्म पौराणिक धर्म का अंग बन कर विलीन हो गया। धार्मिक सहिष्णुता की यह सर्वोच्च विजय थी।

धार्मिक सहिष्णुता को सुदूर प्राचीन काल से राजकीय समर्थन मिला है। साधारणतः राजा अन्य सभी धर्मों के प्रति सद्भाव रखता था और उनकी प्रगति में योग देता था। कुछ राजाओं की इसी प्रवृत्ति का प्रभाव है कि आज यह अनुसन्धान कर लेना कठिन हो जाता है कि उनका वास्तविक धर्म क्या था। ऐसे राजाओं में चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष और कुमारपाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श प्रतिष्ठित किया। वह प्रधान रूप से बौद्ध होते हुए भी अन्य धर्मों की उन्नति चाहता था। उसने एक शिलालेख के द्वारा कामना प्रकट की है कि सभी धार्मिक सम्प्रदायों की सुप्रतिष्ठा हो। उसने प्रजा को जिस धर्म की शिक्षा दी है, वह सभी धर्मों का निचोड़ है। यही उसका मानव धर्म था।

राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता का ऐतिहासिक प्रमाण उनके धार्मिक व्यवहारों से भी मिलता है। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने असंख्य बिहार, चैत्य, स्तूप और विष्णु मन्दिर बनवाये।[2] महीपाल प्रथम ने गौतम बुद्ध के उद्देश्य से एक गाँव वाजसनेय शाखा के ब्राह्मण को दान में दिया। राजा शुभाकरदेव बौद्ध था। उसने २०० ब्राह्मणों के लिए दो गाँव दान में दिये। वलभि के राजा गुहसेन ने भिक्षुसंघ को चार गाँव दान में दिये, यद्यपि वह स्वयं शैव था। बौद्ध विश्वविद्यालयों को विविध सम्प्रदायों के अनुयायी राजाओं ने आर्थिक सहायता दी। वैदिक धर्म के अनुयायी गुप्त सम्राटों ने नालन्दा के विश्वविद्यालय को भरपूर आर्थिक सहायता दी।

मूर्तिकला के क्षेत्र में कहीं-कहीं धार्मिक सहिष्णुता व्यक्त होती है। उदाहरण

---

१. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य परधर्मं न दूषयेत्। सृष्टिखण्ड १९.३३२।

२. राजतरंगिणी ४.१८८-२००।

के लिए उड़ीसा में लकुलीश शिव की जो मूर्तियाँ मिलती हैं, वे बुद्ध के समान हैं। अन्तर है केवल लकुट का। यह अनुकृत मूर्ति श्रावस्ती की धर्मचक्र प्रवर्तन वाली मूर्ति से मिलती है, जिसमें बुद्ध पूर्ण विकसित कमल पर बैठे हैं और सामने शिष्य-मण्डली है।

धार्मिक सहिष्णुता का उच्च आदर्श प्राचीन कलाकारों ने प्रस्तुत किया है। कालिदास स्वयं शैव थे, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाओं में विष्णु की धार्मिक प्रतिष्ठा की है। अजन्ता के गुफा-चित्रों और मूर्तियों में बौद्ध धर्म की परिधि से बाहर के देवी-देवताओं को स्थान मिला है। कालिदास तो इसके परम प्रमाण है।[१]

साधारण जन-समाज पर उपर्युक्त धार्मिक सहिष्णुता का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि भारत के पौराणिक इतिहास में आर्यों के धर्म के नाम पर आर्येतर जातियों से लड़ने के अनेक उल्लेख मिलते हैं, पर इन सभी युद्धों का विवेचन करने से प्रतीत होता है कि आर्यों को अपनी संस्कृति की रक्षा में युद्ध करना पड़ा। उन्होंने दूसरे धर्मों के अनुयायियों को धर्म के नाम पर कभी मारा-काटा नहीं, अपितु आर्य समाज में आर्येतर लोगों को उनके धर्म के साथ ही अंगीकार कर लिया। भारत के बाहर से जिस किसी धर्म के अनुयायी आये, उन्हें प्रायः सदा ही भारतीय समाज ने धार्मिक स्तर पर अंगीकार करने की उत्सुकता प्रकट की। इस दिशा में भारत को प्रायः सफलता मिली।

चाहे गृहस्थ किसी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो, उसने किसी भी अन्य धर्म के अनुयायी आचार्यों का आतिथ्य किया और उनकी उपदेश भरी वाणी ध्यान से सुन कर आत्म-तोष प्राप्त किया। बौद्ध संघ को ब्राह्मणों से प्रायः निमन्त्रण मिला करते थे।[२] जैन साधुओं को भी इसी प्रकार से समाज से भोजन, वस्त्र आदि आदर-भाव के सहित मिला करता था। ऐसी स्थिति में अनेक धर्मों के अनुयायी आचार्य और गृहस्थ एक स्थान पर प्रेमपूर्वक रहते थे।[३] एक स्थान पर विभिन्न धर्मों की संस्थायें और शिक्षण-केन्द्र भी होते थे। ऐसे केन्द्रों में मथुरा, काशी, साँची,

---

१. एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषा प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ कुमार ७.४४।

२. उदाहरण के लिए देखिए महावग्ग ६.३५—केनिय नामक ब्राह्मण ने बौद्ध संघ के १,२५० भिक्षुओं को गौतम के साथ पेय और भोजन दिया।

३. उदाहरण के लिए देखिए मथुरैकांजि। इसके अनुसार मथुरा में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी साथ-साथ प्रेमपूर्वक रहते थे।

भिलसा, एलौरा आदि आज भी उस प्राचीन युग की धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हैं।

कुछ शिक्षण-संस्थाओं में विविध धर्मों की शिक्षा देने का आयोजन किया गया था। नालन्दा का विश्वविद्यालय इस प्रकार की संस्थाओं में सर्वोच्च था। बाण ने हर्षचरित में हर्ष के राज्यश्री को ढूंढ़ते समय विन्ध्याचल पर दिवाकर मित्र के विद्यापीठ में जा पहुँचने का उल्लेख किया है, जहाँ विभिन्न सम्प्रदायों के धर्माचार्य अपने विषय का प्रतिपादन कर रहे थे।

पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की एक साथ पूजा का साधारण प्रचलन था।[1] एक ही मन्दिर में सैकड़ों देवी-देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती थी और उन देवताओं के सम्प्रदाय के अनुयायी वहाँ साथ ही सबकी पूजा करते थे। एक ही कुटुम्ब में विविध देवताओं से सम्बद्ध सम्प्रदायों के अनुयायी अथवा विभिन्न धर्मों के अनुयायी भी साथ-साथ रहते थे। हर्षवर्धन सम्भवतः शैव था। उसका बड़ा भाई राज्यवर्धन बौद्ध था। हर्ष का पिता सौर सम्प्रदाय का था।[2] इस दृष्टि से यह कुटुम्ब मौर्यों के कुटुम्ब से मिलता-जुलता था, जिसमें चन्द्रगुप्त सम्भवतः जैन था, अशोक बौद्ध था, सम्प्रति जैन था और शालिशूक बौद्ध था।

सुदूर प्राचीन काल से विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के परस्पर विवाह सम्बन्ध आदि होते थे। आर्य और आर्येतर धर्मावलम्बियों के वैवाहिक सम्बन्धों के अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं। बौद्ध-युग में भी विभिन्न मतावलम्बियों के विवाह होते थे।[3]

गौतम बुद्ध ने धार्मिक असहिष्णुता की जड़ काटते हुए कहा—किसी सम्प्रदाय के अनुयायी का दूसरे सम्प्रदाय वालों को मूर्ख कहना अनुचित है। अपने मत को सर्वोपरि मान कर दूसरे मत की निन्दा करना हीन कर्म है। रूढ़ मतों को छोड़ देने वाला किसी के साथ विवाद नहीं करता। गौतम के अनुसार अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद में पड़ता है, निश्चल मनुष्य इससे दूर रहते हैं।[4]

---

१. कादम्बरी पृ० ४०।

२. हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग आकर तीन दिनों तक क्रमशः बुद्ध, आदित्य और शिव की मूर्ति स्थापित करके सभी धर्मावलम्बियों को तीन मास तक दान देता था।

३. सुवण्णमिग जातक ३५९।

४. सुत्तनिपात में चूलवियूहसुत्त तथा बुट्ठक सुत्त।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव छठी शती ई० पू० में हुआ था। उनको तत्कालीन प्रचलित धार्मिक पद्धतियों में मानव को सर्वथा निश्चिन्त बनाने वाले स्पष्ट आयोजनों का अभाव-सा लगा। उनकी तर्क-बुद्धि सुविकसित थी। सत्य की खोज में भ्रमण करते हुए उन्होंने समसामयिक कुछ आचार्यों से जीवन के वास्तविक तत्त्वों के विषय में जब कुछ सीखना चाहा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि उन आचार्यों के व्यक्तित्व और शिक्षण का स्तर इतना ऊँचा नहीं है कि वे उनकी समस्याओं की गुत्थियों को सुलझा पाते। पूर्ववर्ती उपनिषद्युग में निःसन्देह ऋषियों का वह वर्ग था, जो इस प्रकार की दार्शनिक गुत्थियों का समुचित समाधान कर सकता था। उन ऋषियों के अभाव में उनके ज्ञान की वास्तविक व्याख्या करने वालों का भी सम्भवतः अभाव ही था। ऐसी परिस्थिति में गौतम को किसी महान् आचार्य का साहचर्य नहीं प्राप्त हो सका। उन्हें अपने पूर्ववर्ती उपनिषद् के ऋषियों की शिक्षायें अवश्य ही सुनने-सुनाने के माध्यम से प्राप्त हो चुकी थीं। गौतम ने इन उपनिषदों से जो जीवन-दर्शन की ज्ञान-निधि पायी, उसे अपने मनन-चिन्तन और निदिध्यासन से संवर्धित करके सर्वसाधारण जीवन की दुःखमयी प्रवृत्तियों का निरोध करने के लिए एक अभिनव पथ का प्रदर्शन किया। वे इस पथ पर चलने वालों के नेता थे। इस दिशा में वे समग्र मानवता के प्रथम आचार्य थे।[1]

गौतम ने जिस जीवन-दर्शन का आकलन किया, वह प्रारम्भ में शास्त्रीय दृष्टि से अतिशय सरल और सुरुचिपूर्ण था। अन्य दर्शनों की आचार सम्बन्धी धारणाओं से उनका विशेष विरोध नहीं था। कोरे दर्शन की आध्यात्मिक गुत्थियों के विषय में तो वे प्रायः मौन थे। उनके जीवन-काल में उनके अनुयायियों और प्रशंसकों की संख्या लाखों तक जा पहुँची थी। ऐसे लोगों का समुचित संघटन गौतम ने स्वयं किया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की स्थितियों का यही संक्षिप्त स्वरूप था।

---

१. मैक्समूलर ने बौद्ध धर्म के विषय में कहा है —

Buddhism is the highest Brahmanism popularised, every thing esoteric being abolished, the priesthood replaoed by monks and these monks being in their true character the successors and representatives of the enlightened dwellers in the forest of the former ages.

Last Essays Second, Series (1901) *p.* 121

परवर्ती युग में बौद्ध धर्म अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। अशोक ने इस धर्म को अधिक प्रांजल और ग्राह्य बनाने का सफल प्रयास किया। अशोक के युग में बौद्ध जीवन-दर्शन सम्बन्धी चिन्तन का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इस नवीन चिन्तन का मूलाधार गौतम की शिक्षा थी। इस प्रकार नवीन संवर्धित धर्म का नाम हीनयान है। इसका समारम्भ अशोक के युग से माना जा सकता है। अशोक के समय से कनिष्क के युग तक अन्य दर्शनों और धर्मों के प्रभाव से समन्वित बौद्ध धर्म का नाम महायान है। हीनयान में उस युग की नई चेतनाओं को स्थान मिला। बौद्ध धर्म की हीनयान-शाखा उपनिषदों की ज्ञानाश्रयी-शाखा के समकक्ष तपःप्रधान थी और महायान शाखा पौराणिक धर्म के अनुरूप भक्ति-प्रधान थी।

गौतम के चरित का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि अपने जीवन के पूर्वार्ध में वे प्रायः अपनी वैयक्तिक शान्ति की खोज में संलग्न थे और उत्तरार्ध में वे समस्त मानवता की शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहे। मानव-समाज में अपने अभ्युत्थान के लिए जो लोग समुत्सुक मिले, उन्हें गौतम ने दो वर्गों में रखा—(१) वैयक्तिक शान्ति चाहने वाले और (२) गृहस्थाश्रम में आदर्श जीवन बिताने की कामना करने वाले। गौतम ने इन दोनों वर्गों के लोगों के लिए जिस धर्म का आकलन किया, वे क्रमशः भिक्षु-धर्म और गृहस्थ-धर्म कहे जा सकते हैं। इनमें से पहला अन्तःशुद्धि-प्रधान है और दूसरा आचार-प्रधान। पहले में योग के द्वारा निर्वाण पाने की योजना है और दूसरे में समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा करके शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने का आदर्श है।

गौतम का अभ्युन्नति-पथ धर्म-प्रधान था, दर्शन-प्रधान नहीं। उन्होंने निर्वाण के लिए ज्ञान को एकमात्र साधन तो माना ही नहीं, साथ ही यह भी तो नहीं कहा कि ज्ञान मुक्ति की दिशा में स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सहायता कर सकता है। ज्ञान गौतम की दृष्टि में दीपक है। उस दीपक की तभी तक आवश्यकता है, जब तक पथ न जान ले। पथ पर चलना ही वास्तविक अभ्युदय है। अन्य दर्शनों में ज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया।

धर्म क्या है? इस विषय में गौतम का मत स्पष्ट है। जो जीवन-पद्धति किसी व्यक्ति या समाज को निर्वाण के निकट पहुँचाती है, वह धर्म है। धर्म के नाम पर सदा से असंख्य विधि-विधान और धारणायें प्रचलित रही हैं, जिनको गौतम व्यर्थ मानते हैं। इनमें से यज्ञ-विधान का विरोध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैदिक यज्ञ-विधान में देवताओं के परितोष के लिए पशु-हिंसा का प्रचलन

गौतम को अरुचिकर प्रतीत हुआ। उन्होंने ऐसे यज्ञ का घोर विरोध किया।[1] गौतम की धार्मिक विचार-धारा में पूर्ववर्ती देवताओं, उनकी उपासना-पूजा एवं उपनिषदों के ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा का न होना इसे एक नया धर्म ही बना देता है क्योंकि वैदिक धर्म में ये ही दो बातें प्रधान हैं।[2] फिर भी वैदिक धर्म और दर्शन की बहुविध मान्यतायें गौतम ने स्वीकार की हैं, जिनमें कर्म-फल, पुनर्जन्मवाद, मोक्ष आदि प्रमुख हैं। गौतम का निर्वाण उपनिषदों की मुक्ति या मोक्ष के प्रायः समकक्ष है। मोक्ष पाने के लिए गौतम ने अष्टांगिक मार्ग की प्रतिष्ठा की।

वैदिक संस्कृति के विचारकों ने दुःख के स्वरूप की समुचित कल्पना की थी। वे इहलौकिक भोग-विलास की वस्तुओं को अपरिमित मात्रा में पाकर दुःख को दूर करने की योजना बनाते रहे। इस जीवन में यज्ञ या देव-पूजा से दुःख दूर करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती थीं। मरने के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति भी यज्ञों के सम्पादन द्वारा सुलभ मानी गई। गौतम ने दुःख दूर करने के सम्बन्ध में कहा—इच्छाओं की पूर्ति का न होना ही दुःख नहीं है, अपितु इच्छा का उत्पन्न होना भी दुःख है। इसी की जड़ काटना है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी दुःख हैं, जिनका निवारण वैदिक यज्ञ नहीं कर सकते—जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, अप्रिय की प्राप्ति और प्रिय का वियोग—इनको वैदिक यज्ञों से नहीं रोका जा सकता।[3] इनसे छुटकारा कैसे मिले? गौतम ने उपनिषदों के ऋषियों की

---

१. गौतम ने यज्ञ के विषय में अपना मत दिया है—यज्ञ करने का उद्देश्य है पुनर्जन्म और ऐसी परिस्थिति में मृत्यु के पाश में पड़ना। यज्ञ करने वाले देवताओं से प्रार्थना करते हैं, स्तुति करने हैं, हवन करते हैं और अपने लाभ तथा काम-सुख की याचना करते हैं। यज्ञ में फँसे हुए लोग जन्म और जरा के महासागर को पार नहीं कर सकते—सुत्तनिपात पारायणवग्ग। गौतम का यह मत उपनिषद् और गीता की शिक्षाओं के प्रायः समकक्ष पड़ता है।

२. ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में गौतम का कहना है—जिस चन्द्र-सूर्य को ये ब्राह्मण प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उन तक पहुँचने का मार्ग जब वे न जान ही सकते हैं, न बतला ही सकते हैं तो उस ब्रह्म-सायुज्यता के मार्ग का वे क्या उपदेश करेंगे, जिसे न उन्होंने ही कभी देखा है और न उनके आचार्यों ने ही। यदि ब्रह्म-सायुज्यता के मार्ग का वे उपदेश करते हैं तो यह एक विचित्र ही बात है। दीघनिकाय तेविज्जसुत्त। फिर भी गौतम ने ब्रह्मचर्य विधान को अपनाया। इससे सनातन सांस्कृतिक परम्परा का ग्रहण करना स्वयंसिद्ध है।

३. अंगुत्तर निकाय के अनुसार चार बातें हैं, जिन्हें कोई श्रमण ब्राह्मण,

भाँति निर्णय किया कि इस जीवन में ऐसा प्रयत्न करना है कि पुनर्जन्म न हो। तब जन्म, जरा, व्याधि, इच्छा आदि का दु:ख न रहेगा।

गौतम के अनुसार व्यक्तित्व का विकास करने के लिए मानव को अपने से बाहर किसी उपादान को नहीं ढूँढ़ना है। किसी बाह्य वस्तु की सहायता से वास्तविक लाभ की सम्भावना नहीं हो सकती। उन्होंने बतलाया कि ज्ञान के प्रकाश में अपनी चित्त-वृत्तियों को इस प्रकार सुसंस्कृत कर लेना है कि साधारण लोगों की भाँति इहलौकिक अथवा आधिभौतिक सिद्धियों और सांसारिक भोग-विलासों के पाश में न बँधना पड़े। ये ही दु:ख के कारण बनते हैं। गौतम का यह आयोजन सर्वथा तर्कपूर्ण था।

तृष्णा का त्याग

मानव-समाज को गौतम शान्ति के पथ पर अग्रसर कराना चाहते थे। उन्होंने बतलाया कि जब तक समाज तृष्णाभिभूत है, तब तक दु:ख बना ही रहेगा। मानव-जीवन के साथ तृष्णा का अटूट सम्बन्ध है। उन महर्षियों का जीवन अपवाद-स्वरूप है, जो तृष्णा के मृगमरीचिका-तत्त्व को समझ कर उसकी जड़ काटने पर तुले हुए हैं। तत्कालीन समाज निश्चय ही तृष्णाभिभूत था। वह अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिए धर्म के माध्यम से देवी-देवताओं की पूजा और उपासना करने में प्रवृत्त था। उपनिषदों के ऋषि तृष्णा की इस परिव्याप्ति से पूर्ण रूप से परिचित थे। उन्होंने इसके पाश से मुक्त होने का पथ ज्ञात कर लिया था, पर उस पथ को वे सार्वजनीन नहीं बनाना चाहते थे। उनका मत था कि केवल सुयोग्य शिष्यों को उपनिषद् की शिक्षायें पाने का अधिकार है। इसके विपरीत गौतम की योजना सार्वजनीन है।

गौतम ने सबके व्यक्तित्व के विकास की योजना बना दी। चाहे किसी वर्ण, वर्ग और व्यवसाय से कोई सम्बद्ध क्यों न रहा हो, वह गौतम की योजना के अनुसार समुन्नत जीवन के पथ पर चल ही सकता था।

गौतम ने तृष्णा के स्वरूप का केवल रहस्योद्‌घाटन ही नहीं किया, अपितु उसके साथ ही यह भी बतलाया कि तृष्णा की पूर्ति के लिए देवी-देवताओं की पूजा से कोई लाभ नहीं, उनके चक्कर में न पड़ो। जीवन का उद्देश्य तृष्णाओं की पूर्ति

देवता, मार या ब्रह्मा अथवा शिव या कोई प्राणी सम्भव नहीं कर सकता—(क) रोगशील को नीरोग रखना, (ख) मरणशील को अमर बनाना, (ग) नश्वर को अनश्वर बनाना, (घ) चलायमान को रोक देना।

नहीं, अपितु तृष्णाओं का विनाश है। तृष्णाओं के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति उन देवी-देवताओं के चक्कर से मुक्त था।

कर्मण्यता

विवेचनात्मक दृष्टि से यद्यपि गौतम ने सांसारिक वैभव को उपेक्षणीय बतलाया है और घोर श्रम से प्राप्त सम्पत्ति के चारों ओर चिन्ता, शंका और त्रास की व्याप्ति देखी है, फिर भी वे गृहस्थों को कर्मण्य बनने का सतत उपदेश देते रहे। उन्होंने शिक्षा दी—आलस्य के फल अति भयंकर हैं। आज का काम कल पर छोड़ने वाला व्यक्ति उपार्जन से विरहित होता ही है, साथ ही वह अपने पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को भी नष्ट करता है। आलस्य सम्पत्ति-नाश का द्वार है। सौ वर्ष के आलसी और पराक्रमहीन जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।[1] गौतम ने कहा—धर्मपूर्वक माता-पिता का भरण-पोषण करो, व्यवसाय और वाणिज्य करो। गृहस्थों को इस प्रकार आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपना धर्म पालन करना चाहिए।[2]

कौटुम्बिक और सामाजिक संश्लिष्टता

कौटुम्बिक संश्लिष्टता की योजना गौतम के उन नियमों के मूल में है, जिनके अनुसार किसी युवक को कुटुम्ब के सदस्यों की अनुमति लिये बिना भिक्षु बनना सम्भव नहीं हो सकता। गृहस्थ के लिए गौतम ने छः दिशाओं का निर्देश किया—माता-पिता पूर्व दिशा, गुरु दक्षिण दिशा, पत्नी पश्चिम दिशा, बन्धु-बान्धव उत्तर दिशा, सेवक पाताल दिशा और साधु-सन्त आकाश-दिशा के प्रतिनिधि हैं। इन सभी प्रतिनिधियों के प्रति अपनी सुशीलता का परिचय देना इनकी पूजा है—यथा बन्धु-बान्धवों के प्रति उपयोगी बनना, उनसे निष्कपट व्यवहार रखना, समान भाव से व्यवहार करना, सेवकों को यथोचित वेतन देना, रोगी होने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि कुटुम्ब और समाज में मधुर वातावरण की सृष्टि करने के लिए हैं।[3]

गौतम ने सामाजिक संश्लिष्टता के लिए ही मानो निर्णय दिया है—समाज में वही व्यक्ति उच्चवर्गीय है, जिसके व्यक्तित्व से शान्ति और अभ्युदय का प्रसार

---

१. महादुक्खखंध सुत्तन्त ३-४ तथा सुत्तनिपात २.४.१४।
२. धम्मपद सहस्सवग्गो।
३. सुत्तनिपात धम्मिकसुत्त।

हो। इसके विपरीत वह चाण्डाल ही है, जो समाज में अशान्ति का बीज बोता है। क्रोधी, वैर मानने वाला, पापी, गुणी जनों को दोष देने वाला तथा मायावी मनुष्य चाण्डाल है। गाँव और नगर को लूटने वाला, ऋण न लौटाने वाला, माता-पिता का पालन-पोषण न करने वाला, लाभप्रद उपाय पूछने पर हानिकर उपाय बताने वाला, दूसरे का आतिथ्य ग्रहण करने के पश्चात् उनका आतिथ्य न करने वाला और अयोग्य होने पर भी अपने को योग्य समझने वाला चाण्डाल है। कर्म से मनुष्य चाण्डाल होता है, कर्म से वह ब्राह्मण होता है।[१] जो पुरुष प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, न दी हुई वस्तु को उठा लेता है, पराई स्त्री के साथ सहवास करता है या शराब पीता है, वह लोक में अपनी जड़ स्वयं खोदता है।[२]

सामाजिक उच्चता के लिए गौतम ने लोकप्रिय मानदण्ड का निदर्शन किया है—वास्तव में महान् वही है, जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, और जो मलरहित और धीर है।[३]

शरणत्रय

बौद्ध साहित्य के अनुसार गौतम बुद्ध के जीवन-काल में भी असंख्य गृहस्थ बौद्ध-धर्मावलम्बी हो चुके थे।[४] गृहस्थों को उपासक कहा जाता था। उपासक बनने के लिए बुद्ध, धर्म और संघ—शरणत्रय में आश्रय लेने का व्रत लेना पड़ता था। लिच्छवियों का सेनापति सीह गौतम बुद्ध का शिष्य बन गया और गृहस्थ ही बना रहा।[५] अपराध करने पर उपासकों को दण्ड देने का अधिकार संघ को था। उपासक के क्षमाप्रार्थी होने पर प्रायः उन्हें क्षमा प्रदान कर दी जाती थी।[६]

बुद्ध धर्म का समारम्भ आर्यचतुष्टय से होता है। इसका सम्बन्ध दुःख से है—दुःख है, दुःखों का कारण तृष्णा है, दुःख का निरोध तृष्णा के उन्मूलन से सम्भव है। पर तृष्णा से कैसे छुटकारा हो? इसके लिए बौद्ध धर्म का चौथा आर्यसत्य है अष्टाङ्गिक मार्ग। अष्टाङ्गिक मार्ग अतिशय व्यापक है।

---

१. सुत्तनिपात वसलसुत्त।
२. धम्मपद मलवग्ग।
३. धम्मपद धम्मट्ठ वग्ग।
४. महावग्ग ५.३.१; ६.३१; ५.२०।
५. महावग्ग ५.१.१०।
६. चुल्लवग्ग ५.२०।

अष्टांगिक मार्ग

दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्म, आजीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् (पूर्ण) होना अष्टाङ्गिक है। इनमें से प्रथम दो प्रज्ञा, इसके पश्चात् तीन शील और अन्तिम तीन मार्ग समाधि के अन्तर्गत आते हैं। सम्यक् दृष्टि से अकुशल, अकुशल का मूल तथा कुशल और कुशल का मूल जाने जाते हैं। अकुशल कर्म शरीर, वाणी और मन से किये जाते हैं। प्राणियों की हिंसा, न दिये हुए को ग्रहण करना, और कमनीय वस्तुओं के प्रति मिथ्याचार—ये शरीर-संबन्धी अकुशल कर्म हैं। दूसरे की वस्तु की इच्छा, पापमय आयोजन तथा मिथ्या दृष्टि—ये मानसिक कर्म हैं। लोभ, द्वेष और मोह—ये तीन ही अकुशल कर्म के मूल हैं। अकुशल के विपरीत कुशल है। इसी प्रकार चार आर्यसत्यों को जानकर पुरुष सम्यक् दृष्टि वाला होता है।

सम्यक् संकल्प नैष्कर्म्य और अहिंसा सम्बन्धी होते हैं। इसके द्वारा सांसारिक कामों को छोड़ने और किसी प्राणी को दुःख देने से विरत होने का मानसिक व्रत लिया जाता है। सभी परिस्थितियों में सच बोलना सम्यक् वाणी है। इसके अन्तर्गत वाणी के द्वारा किसी को दुःखी करने का निषेध था। सम्यक् कर्मान्त है प्राणि-हिंसा से विरति, अदत्तादान, कामोपभोग के मिथ्याचार से विरति आदि। सम्यक् आजीव के अन्तर्गत जीविकोपार्जन के केवल वे कर्म आते हैं, जिनके करने से समाज में सुख और शान्ति का संवर्धन होता है। बौद्ध धर्मानुयायी गृहस्थों के लिए पाँच जीविकाएँ वर्जित थीं—शस्त्र-वाणिज्य, प्राणियों का व्यापार, मांस का व्यापार, विष का व्यापार तथा जो व्यापार किये जा सकते थे, उनमें किसी प्रकार, की धोखा-धड़ी का प्रयोग, घूस लेना, कृतघ्नता, कुटिलता, छेदन, वध, बन्धन, डाका डालना, लूट-पाट की जीविका आदि को गौतम ने गर्हित बतलाया है।[1] सम्यक् व्यायाम से अकुशल कर्मों के न करने का निश्चय करना, परिश्रम करना उद्योग करना, चित्त को वश में रखना और सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त रहना आदि सम्भव होते हैं। सम्यक् स्मृति के अन्तर्गत अशुचि, जरा, मृत्यु आदि दैहिक धर्मों का अनुभव करना, कर्मण्य होकर लोभ और मानसिक सन्तापों को छोड़ना आदि आते हैं। कुशल धर्मों में चित्त को लगा देना सम्यक् समाधि है। चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। सम्यक् समाधि के सोपान-रूपी चार ध्यान हैं। पहले ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता होते हैं। दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार का लोप हो जाता है। प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये तीन मनोवृत्तियाँ

---

१. अंगुत्तर-निकाय ५ तथा दीघनिकाय पृ० २६९।

रहती हैं। तीसरे ध्यान में प्रीति का लय हो जाता है और केवल सुख और एकाग्रता रहती है। चौथे ध्यान में सुख भी लुप्त हो जाता है और उपेक्षा और एकाग्रता रहती हैं।

उपर्युक्त आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्ग भिक्षु और उपासक (गृहस्थ-अनुयायी) दोनों के लिए समान रूप से थे। निःसन्देह किसी भिक्षु को अष्टांगिक मार्ग पर चलने की अधिक सुविधा हो सकती थी। गृहस्थ के मार्ग में कठिनाइयाँ थीं। यही कारण है कि गृहस्थ यथाशीघ्र भिक्षु बन कर अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए तत्पर होते थे।

त्रिविध यान

हीनयान के अतिरिक्त दो और यान हैं—प्रत्येक –बुद्धयान और महायान। यान इस प्रसंग में पथ है। हीनयान केवल हीन (व्यक्तिगत) निर्वाण का मार्ग है। इसके विपरीत महायान महापथ है, जिससे असंख्य पुरुषों को निर्वाण प्राप्त कराया जा सकता है।

हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान भी है। उस पुरुष को श्रावक कहते हैं, जो जीवन के दुःख से ऊब कर निर्वाण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। श्रावक की चार कक्षाएँ हैं— स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत्।

व्यक्तित्व के विकास के प्रक्रिया-रूपी सोते में बहने वाला श्रावक स्रोतापन्न है। उसे चार प्रकार की सम्बोधि की सम्भावना होती है –बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति संघानुस्मृति तथा शीलानुस्मृति। इनके द्वारा उसे बुद्ध, धर्म, संघ तथा शील के प्रति सद्भावना और समादर उत्पन्न होते हैं। स्रोतापन्न व्यक्ति को सात जन्मों के अनन्तर निर्वाण प्राप्त होता है।

स्रोतापन्न उन्नति करके अपने आस्रव (क्लेश) का नाश करने की कक्षा में सकृदागामी कहलाता है। उसे एक जन्म के अनन्तर निर्वाण प्राप्त होता है। सकृदागामी शब्द का यही अभिप्राय है। वह साधक अनागामी है, जो वर्तमान जीवन में निर्वाण प्राप्त कर लेता है। उसके लिए भावी जन्म अपेक्षित नहीं होता। अर्हत् कक्षा में श्रावक को निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

प्रत्येक बुद्धयान ऐसे माहात्माओं के लिए है, जो किसी गुरु की सहायता के बिना निर्वाण-पथ का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनकी बोधि का नाम प्रत्येक बुद्धि-बोधि है। अपनी बोधि के द्वारा वह अपना कल्याण कर सकता है, पर दूसरों का कल्याण करने में असमर्थ होता है।

महायान का दूसरा नाम बोधिसत्त्वयान है। इसके द्वारा केवल निजी निर्वाण

की पूजा पत्र-पुष्प और दीप-दान आदि के द्वारा करने की अनुमति दी है।[1] उन्होंने भिक्षुओं और उपासकों के लिए चार तीर्थों की योजना बनाई। ये तीर्थ गौतम के जन्म, बोधि, धर्मचक्र प्रवंतन तथा दिवंगत होने के स्थान हैं। आरम्भ से ही उपासकों का कर्तव्य रहा है कि वे भिक्षुओं की सुविधा और जीवन-चर्या के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, विहार आदि प्रस्तुत करते रहें।[2] परवर्ती महायान सम्प्रदाय में भी उपासकों के लिए भिक्षुओं की आवश्यकता-पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य रहा है।[3]

महायान की विशेषताएँ

महायान सम्प्रदाय में गृहस्थ-उपासकों की प्रतिष्ठा बढ़ी। गृहस्थ बोधिसत्व के माध्यम से अर्हत् हो सकता था। विवाहित पुरुष को बोधिसत्त्व के कर्तव्य-पालन के लिए विशेष समर्थ माना गया और पत्नी के लिए जन्मजन्मान्तर में उसी पति के साथ पातिव्रत्य धर्म का निर्वहण अनुपम उत्थान का प्रतीक बतलाया गया है। इस प्रकार के दाम्पत्य भाव में पति का पत्नी और पुत्र को दान-रूप में दे देना सर्वोच्च उदारता का प्रतीक है। जीवन की ऐसी दिशा अपनाकर कोई गृहस्थ भी निर्वाण प्राप्त कर सकता था—यह महायान की निजी विशेषता थी। हीनयान में गृहस्थों का निर्वाण पाना असम्भव था। निर्वाण के लिए हीनयान के अनुसार भिक्षुक बनना अनिवार्य है।

महायान की उपर्युक्त मान्यता के द्वारा गृहस्थों के असंख्य कुटुम्ब बौद्ध पद्धति के अनुसार अभिनव संस्कृति से समन्वित हो गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वसाधारण गृहस्थ के लिए निर्वाण-पथ खोलने से महायान सम्प्रदाय के भिक्षुओं को ब्रह्मचर्य की सात्त्विकता से डिगने का अवसर अनायास ही मिल गया, क्योंकि

---

१. कथावत्थु १७.१।

२. इस प्रकार के अनेक उल्लेख महावग्ग में मिलते हैं।

1. For the layman who is a Bodhisattva there is always the duty of aiding the monks, of providing for their needs and building for them monasteries. The Mahayana in fact provides for monks and laity alike a vista of helpful and cheerful activity imbued with the desire to aid others as the only possible means indirectly of aiding one self.

A. B. Keith: Buddhist Philosophy. p. 295

उनके मन में गृहस्थ-धर्म की अभिरुचि ज्योंही उत्पन्न होती थी कि वे भिक्षु-व्रत से छुट्टी लेकर अपना विवाह करके गृहस्थ बन जाते थे।

यद्यपि कुछ विधानों में महायान भले ही तर्क की दृष्टि से प्रगति-पथ पर अग्रसर दिखाई देता है, पर उनका भयावह प्रभाव अनुयायियों के जीवन पर पड़ कर रहा। एक विधान के अनुसार पाप करने में कोई दोष नहीं, यदि वह पाप उपकार के लिए होता हो। इस प्रसंग में—पाप दूसरे के उपकार के लिए ही हो रहा है—यह निर्णय भी कर्त्ता के ऊपर ही छोड़ दिया गया। ऐसी स्थिति में महायान मत के अनुयायियों में उन पापों की संख्या बढ़ते देर ही कितनी थी, जिनके माध्यम से कर्त्ता को कुछ सुख मिल सकता था और साथ ही किसी अन्य व्यक्ति का उपकार हो सकता था। यह परिस्थिति महायान को पतनोन्मुख करने के लिए थी। महायान के विहारों में व्यभिचार का पदार्पण ऐसे विधानों के द्वारा हुआ। पाप सम्बन्धी उपर्युक्त विधान यदि सर्वसाधारण के लिए न बनाकर केवल अपवाद-स्वरूप रखा गया होता तो सम्भवतः वह अधिक उपयोगी बन पाता।

बोधिसत्त्वों के पापमय भोग-विलासों में पड़ जाने पर उनके उद्धार का मार्ग बना देना उनको निडर होकर अविचारपूर्ण ऐन्द्रियक सुखों के प्रति आसक्त बना कर ही रहा। सभी प्रकार के ऐसे पाप मानों धुल ही जाते थे, जब पाप-मार्जक आह्निक कर लिए जाते थे अथवा उनको अन्य बोधिसत्त्वों के बीच स्वीकार (ख्यापन) कर लिया जाता था। पाप-मार्जन की अन्य विधियाँ थीं—बुद्धों की उपासना करना, विश्वात्मक मैत्री भाव का निवेदन करना आदि। पापों के परिमार्जन की यह विधि अभिनव पापों के लिए दुर्बल बोधिसत्त्वों को उत्साहित करती होगी।

महायान में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की उपासना को प्रमुख स्थान मिला। सद्धर्मपुण्डरीक में जिस बुद्ध की कल्पना मिलती है, वह अनादि-काल से ही बोधिसत्त्वों को निर्वाण-पथ की शिक्षा देते आ रहे हैं। इन गुणों से सम्पन्न बुद्ध अमर माने जा सकते हैं। जिन गौतम बुद्ध को हम प्रत्यक्ष जानते हैं, वे बुद्ध के अवतार-मात्र हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों के लिए अगणित बुद्धों की कल्पना हुई।[1] प्रारम्भ में छः बुद्ध माने गये। इनकी संख्या कुछ शतियों में २४ हुई और फिर महायान धर्म में असंख्य हो गई।

ब्राह्मण धर्म के देवलोक की भाँति बौद्ध धर्म में सुखावती नामक स्वर्ग की कल्पना मिलती है। सुखावती में ऋषि-महर्षि रहते हैं। इनकी विकास-गाथा

---

१. बुद्धचर्यावतार ७.१८।

अलौकिक है। ये कमल-गर्भ में उत्पन्न होकर वहीं संवर्धित होते हैं और फिर दिव्य वचनों से पोषित होकर पूर्णावस्था में निकलते हैं, जब बुद्ध की ज्योति से कमल प्रस्फुटित होते हैं। इस लोक के अधिपति अमिताभ हैं। उपासना के क्षेत्र में अमिताभ सूर्य के प्रतीक हैं। सूर्य की उपासना के द्वारा अमिताभ-लोक के ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। अमिताभ के नाम-संकीर्तन-मात्र से महापापी तक के स्वर्ग में स्थान पाने की संभावना होती है। साधारणतः नरक के योग्य प्राणी अमिताभ की दया से केवल इतना दण्ड पाते हैं कि उन्हें पद्म-गर्भ में कुछ काल तक विलम्ब करके वहीं बुद्ध-वाणी से आत्म-शुद्धि करनी पड़ती है।

बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर का व्यक्तित्व अतिशय महिमाशाली है। उन्होंने तब तक बुद्ध न बनने का व्रत लिया है, जब तक संसार के सभी मानवों को निर्वाण-गति नहीं प्राप्त करा लेते। प्रत्येक बुद्ध के दो सहायक बोधिसत्त्व होते हैं, जो समस्त मानवता को सद्धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं, मरणासन्न व्यक्तियों को सान्त्वना देते हैं और मृतात्माओं को स्वर्ग पहुँचाते हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण बोधिसत्त्व मैत्रेय और मंजुश्री आदि हैं।

शनैः शनैः महायान धर्म में अनेक वैदिक देवताओं को बौद्ध रंग में रंगकर प्रस्तुत किया गया। नागार्जुन ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और काली को हिन्दू धर्म के अनुकूल ही उपास्य माना। त्रयस्त्रिंशलोक के अधिपति शतमन्यु या वज्रपाणि वैदिक इन्द्र ही हैं। अन्यत्र बौद्ध देवता मंजुश्री हिन्दुओं के ब्रह्मा के समकक्ष हैं। इनकी दो पत्नियाँ लक्ष्मी और सरस्वती हैं। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि वैदिक धर्म के विष्णु हैं। बौद्ध धर्म के सप्त तथागत सप्तर्षि हैं और अजित, शाक्य मुनि और अवलोकितेश्वर त्रिदेव हैं।

सृष्टि के विकास-क्रम में बौद्ध धर्म का धर्मकाय-वेदान्त के ब्रह्म के समान पड़ता है। इसका विकसित स्वरूप नाम और रूपात्मक सम्भोगकाय है, जो ईश्वर के समकक्ष है। आदिबुद्ध सम्भोगकाय है। इसके विकसित रूप अवतार आदि होते हैं। सृष्टि का आरम्भ आदिबुद्ध के ध्यान की प्रक्रिया से होता है। आदिबुद्ध से अवलोकितेश्वर का प्रादुर्भाव होता है और अवलोकितेश्वर के विविध अंगों से महेश्वर, ब्रह्मा, नारायण, सरस्वती, सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न होते हैं।

वज्रयान

तन्त्रवाद का सर्वाधिक प्रसार बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा में आठवीं शती से हुआ। वज्रयान में तन्त्र का प्रतीक हठयोग है। हठ शब्द में ह और ठ क्रमशः चन्द्र और सूर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस परिभाषा के अनुसार हठ का अर्थ है

सूर्य और चन्द्र का एक साथ होना। सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधि-शरीर में पिंगला (दाहिनी नाडी) और इडा (बाईं नाडी) हैं। इडा और पिंगला की सम अवस्था में इन दोनों के बीच की सुषुम्ना नाडी स्वयं उद्‌बुद्ध हो जाती है। इसी नाडी के मुख-द्वार की प्राणवायु को योगी ऊर्ध्व-मुख करने की साधना करते हैं। ऐसी स्थिति में कुण्डलिनी जाग्रत् रहती है। कुण्डलिनी के माध्यम से सहस्रार-चक्र में स्थित शिव का रसास्वाद होता है।

तन्त्रयोग की शिक्षा के लिए शिष्य को मुद्रायुक्त होना पड़ता था। इस प्रकरण में मुद्रा है—नवयुवती। वज्रयान की दीक्षा मन्दिर में होती थी, जहाँ गन्ध, धूप, पुष्प आदि के अतिरिक्त मदिरा की सुगन्ध होती थी। वज्रयान में व्यक्तित्व के विकास के लिए शारीरिक तप की आवश्यकता नहीं है, अपितु विषय-रसों के द्वारा परिपोषित चित्त सभी उद्देश्यों की प्राप्ति कल्पवृक्ष की भाँति कराता है।[1] चित्त को सराग बनाकर अभ्युदय की योजना का अभिनव प्रचार सम्भवतः लोकप्रिय हो सकता था, पर ऐसे तन्त्र में उस सात्त्विकता का प्रत्यक्ष ही सर्वथा अभाव है, जो किसी सम्प्रदाय को अमर पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए अपेक्षित है। वज्रयान का योग इस दृष्टि से देखने पर पतंजलि के योग अथवा गौतम बुद्ध की सम्यक् समाधि से बहुत दूर पड़ता है।

हिन्दूतन्त्र के शिव और शक्ति वज्रयान में क्रमशः शून्यता और करुणा हैं। इनके दूसरे नाम क्रमशः वज्र और कमल हैं। वज्र और कमल की एकात्मकता का प्रदर्शन नीचे के त्रिभुजाकारों से होता है।
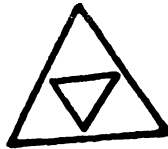
इसी यन्त्र का ध्यान करने से योगी को अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

वज्रयानियों का 'एवं' बीजतन्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार है:

---

१. तनुतरुचित्तांकुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते॥

इसमें बड़ा त्रिभुज ए माता-रूप है और चन्द्र तथा प्रज्ञा का प्रतीक है। छोटा त्रिभुज व पिता है और सूर्य तथा उपाय का प्रतीक है। दोनों त्रिभुजों का केन्द्र-बिन्दु अनाहत-ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है। विश्व की इसी युगलात्मक एक सत्ता को वैष्णवों में युगल मूर्ति, तान्त्रिकों में यामल तथा वज्रयानियों में युगनद्ध शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं। एवं बीज ध्येय-रूप में सर्वज्ञता का प्रतिनिधित्व करता है। उसे जान लेने पर कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। इस प्रकार यह बुद्ध का प्रतीक है। एवं को सोपान बनाकर बुद्ध-पथ पर अग्रसर होने की सफल साधना का समारम्भ किया जाता है।

कालचक्रयान

नवीं या दसवीं शती में कालचक्रयान नामक तन्त्र सम्प्रदाय का बौद्ध मतावलम्बियों में प्रसार हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुसार मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का प्रतीक-स्वरूप है। इसका प्रमुख सिद्धान्त है कार्य, प्राण तथा चित्त को शुद्ध करके निर्वाण प्राप्त करना।

कालचक्रयान के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् का समन्वयात्मक रूप आदि-बुद्ध हैं। बुद्ध के दो प्रधान लक्षण हैं—प्रज्ञा और करुणा। प्रज्ञा सर्वज्ञता की शक्ति है और करुणा, विश्व के सभी प्राणियों को बुद्ध बनने के लिए समुत्सुक कर देने वाली असीम दया है।

बौद्ध धर्म का ह्रास

बौद्ध धर्म की महायान शाखा ने गौतम बुद्ध के द्वारा मूलतः प्रवर्तित हीनयान की जड़ खोद डाली। इस प्रकार बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित जो महायान धर्म था, उसमें न तो गौतम के उच्च व्यक्तित्व और न उनकी शिक्षाओं की ही छाप थी। महायान के परवर्ती आचार्यों में वह प्रतिभा नहीं थी कि वैदिक धर्म के आचार्यों का सफलतापूर्वक प्रतिवाद करते। उस युग में आचार्यों के पार-स्परिक विवाद में सफलता पाने का अतिशय महत्त्व था। बौद्ध आचार्यों का विवाद में हारते जाना जनता में उनके धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न करती गई।

महायान के विहार में पवित्र जीवन का अभाव-सा दृष्टिगोचर होने लगा था। तान्त्रिक संप्रदायों का जीवन-विन्यास प्रायः कामुकतापूर्ण हो चला था। धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार भला कब तक चल सकता था ? 'दूसरों को सुख देने के लिए पाप किया जा सकता है'—यह ऐसी छूट थी, जिसकी आड़ में कुछ विहार पाप के अड्डे बन गये। इस मान्यता के अनुसार जो जितना ही अधिक पाप करता था, वह उतना ही अधिक लोककल्याण में तत्पर समझा जाता था। यह कोरी विडम्बना थी।

इधर वैदिक धर्म के आचार्यों ने पूर्ण सतर्कता से काम लिया। उन्होंने पहले तो वैदिक हिंसामय यज्ञ का परित्याग-सा कर दिया। यज्ञों में पशु-हिंसा का नाम लेकर बुद्ध वैदिक धर्म की विशेष निन्दा करते थे। वैष्णव धर्म में जिस पवित्र जीवन का आकलन किया गया, वह गौतम के अष्टांगिक मार्ग से कम ऊँचा नहीं था, साथ ही इसमें याज्ञिक हिंसा का विरोध भी मिलता है। वैष्णव धर्म की अभिनव पवित्रता के सामने महायान विरोधी धर्म के रूप में टिक न सका। महायान में पहले तो वैष्णव धर्म के कुछ सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया और अंत में वह वैष्णव धर्म में प्रायः विलीन हो गया। बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर वैष्णव धर्म के आचार्यों ने बौद्ध धर्म के वैष्णव धर्म में विलयन की प्रक्रिया की गति प्रखर बना दी।

भारतीय धर्म के महानद से बौद्ध धर्म की शाखा निकली थी। इसकी प्रशाखायें विदेशों में आज तक विद्यमान हैं। भारत में बौद्ध धर्म आज भी पौराणिक धर्म के भीतर विलीन होकर विद्यमान है।

जैन धर्म

परम्परागत विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि और अनन्त है। प्रलय होने के पश्चात् अभिनव कल्प में जब पुनः सृष्टि का समारम्भ होता है तो कोई तीर्थंकर उस कल्प में धर्मोपदेश करने के लिए उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार २४ तीर्थंकर हो चुके हैं, जिनमें से प्रथम ऋषभदेव हैं और अन्तिम तीन नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर क्रमशः हैं।

पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव ई० पू० आठवीं शती में हुआ था। पार्श्वनाथ के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् गौतम के प्रायः समकालीन महावीर स्वामी हुए। आधुनिक जैन धर्म पर महावीर के व्यक्तित्व की अमिट छाप है। निःसन्देह महावीर के उपदेशों में पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की शिक्षायें अन्तर्निहित हैं। चौथी शती ई० पू० में पाटलिपुत्र में तत्कालीन धर्माचार्यों ने इस धर्म के सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित

सम्पादन किया। दिगम्बर मत के अनुसार पहली शती ईसवी में जैन धर्म के सिद्धान्तों को पुस्तक-रूप में प्रस्तुत किया गया। पाँचवीं शती में वलभि की जैन परिषद् में देवर्द्धि गणी की अध्यक्षता में इस धर्म को वह सनातन रूप मिला, जो आज तक प्रामाणिक माना जाता है।

पूजा

जैन धर्म के अनुसार वैदिक धर्म के याज्ञिक कर्मकाण्ड व्यर्थ हैं और उनसे पाप की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में देव-पूजा को इस धर्म में कोई स्थान नहीं मिला है। गृहस्थ के लिए नियम था कि वह पंच-परमेष्ठी की पूजा, नमस्कार आदि करे। पंच परमेष्ठी हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने वाले जीवन्मुक्त महात्मा अर्हत् हैं। तीर्थंकर अर्हत् होते हैं। मुक्त पुरुषों को सिद्ध कहते हैं। आचार्य साधुओं के व्यक्तित्व के विकास का आयोजन करते हैं। वे स्वयं धार्मिक और दार्शनिक जीवन-पद्धति पर चलते हैं और साथ ही अपने अधीन रहने वाले साधुओं को भी सत्पथ पर चलाते हैं। उपाध्याय शास्त्रों में पारंगत होते हैं और साधुओं को उपदेश देते हैं। मोक्ष-पथ के साधकों की उपाधि साधु है। उपर्युक्त पूजा के सम्बन्ध में गृहस्थों की तीर्थ-यात्रा आवश्यक मानी गई है।

पंच-परमेष्ठी की मूर्ति-पूजा का विधान है। प्रायः अर्हतों की मूर्तियाँ मिलती हैं। मूर्तियों में अर्हत् ध्यानस्थ मुद्रा में पद्मासन या खड्गासन लगाये हुए दिखाये गये हैं। सिद्धों की मुक्तावस्था की मूर्ति की कल्पना नहीं की गई। वे उस स्थिति में देहरहित होते हैं। उनकी साकार अभिव्यक्ति धातु की चद्दर से मानवाकार भाग काट कर की जाती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु की मूर्तियाँ साधारणतः नहीं मिलतीं।

जैन-मूर्तियों की प्रतिष्ठा मन्दिरों में होती है। मन्दिरों को परमेष्ठियों के अमर व्यक्तित्व से प्रभावित मान कर तीर्थंकरों की स्तुतियाँ की जाती हैं और नमस्कारपूर्वक मूर्ति की प्रदक्षिणा की जाती है। मूर्ति-पूजा की प्रक्रिया का आरम्भ अभिषेक से होता है। अभिषेक जल से अथवा दूध, दही, घी, रस आदि से किया जाता है। पूजन के लिए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल का उपयोग होता है। प्रत्येक पूजन-सामग्री का समर्पण एक स्तुति के श्लोक से होता है। पूजन का उद्देश्य होता है—शारीरिक और मानसिक शुद्धि एवं मोक्ष की प्राप्ति। अवशिष्ट सामग्री का मिश्रण करके उसे अर्घ्य रूप में समर्पित किया जाता है। जैन धर्म में मानसिक पूजा का भी विधान है।

व्रत

जैन धर्म में अहिंसा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिलती है। गृहस्थों के लिए चार प्रकार की अहिंसा मानी गई है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। जान-बूझ कर अपने स्वार्थ के लिए संकल्पी हिंसा होती है। गृहस्थ को अपने उद्योग-धंधों में स्वभावतः उद्योगी हिंसा करनी पड़ती है। अनजाने ही यदि हिंसा हो जाय तो वह आरम्भी है। आत्मरक्षा या पररक्षा के लिए विरोधी हिंसा होती है।

जैन धर्म की अहिंसा की परिधि सुविस्तृत है। इसके अनुसार चराचर जगत् में किसी प्राणी को किसी प्रकार से जाने-अनजाने कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के अन्याय आ जाते हैं। अहिंसा से बचने के लिए रात्रि-भोजन का परित्याग आवश्यक माना गया है। रात्रि के समय क्षुद्र जन्तुओं की अधिकाधिक संख्या संचरणशील हो जाती है और मानव की पर्यवेक्षण-शक्ति स्वल्प रह जाती है। ऐसी स्थिति में भोजन के माध्यम से हिंसा होने की सम्भावना अधिक रहती है। छाने हुए और उबाले हुए पानी को पीने का विधान इसीलिए बनाया गया है।

अपरिग्रह-व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ संकल्प करता है कि उचित उपायों से भी अत्यधिक धन-संग्रह नहीं करूँगा। इस प्रसंग में गुणभद्राचार्य की उक्ति समीचीन है—सज्जनों की सम्पत्ति शुद्ध धन से नहीं बढ़ती। सागर कभी स्वच्छ जल से नहीं भरते।[1] जैन गृहस्थों के अन्य व्रत अस्तेय, सत्य और ब्रह्मचर्य हैं।

धार्मिक गृहस्थों को व्रत-पालन की दृष्टि से पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक—तीन कोटियों में रखा गया है। जो गृहस्थ व्रतों का पालन करते हुए उनके सम्बन्ध में स्वभावतः अतिचार (त्रुटि) क ते हैं, वे पाक्षिक गृहस्थ हैं। व्रतों का त्रुटि-रहित विधि से पालन करने वाले नैष्ठिक गृहस्थ हैं। जो गृहस्थ एकमात्र आध्यात्मिक साधना में तल्लीन हैं, उनके सम्बन्ध में व्रतों के टूटने का प्रश्न ही नहीं रहता। वे साधक हैं।

धर्म-लक्षण

जैन धर्म के दस लक्षण हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये लक्षण भागवत धर्म और बौद्ध धर्म में भी प्रायः इसी रूप में विद्यमान हैं। धर्म के पथ पर चलने के लिए तीन शल्यों का अभाव

---

१. शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥आत्मानुशासन ४५।

होना चाहिए। प्रथम है निदान शल्य अर्थात् इच्छाओं का काँटा। द्वितीय है माया शल्य अर्थात् अपने व्यवहार को सरल न रख कर, उसमें कृत्रिम कुटिलता रखना। तृतीय शल्य है मिथ्यात्व, जिसके होने पर असत्य ही सत्य प्रतीत होने लगता है।

जगत् की उपेक्षा

जैन विचार-धारा के अनुसार देव, मनुष्य आदि सभी अनित्य हैं, अशरण हैं, इस संसार के सभी प्राणी अनन्तकाल से कर्मों के कारण भव बन्धन में हैं, आत्मा या जीव अकेला है, सम्बन्धी केवल कुछ ही दिनों के लिए साथ हैं और देह अपवित्र है। इसी प्रकार की अन्य भावनायें भी हैं। इन भावनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन धर्म लौकिक विभूतियों को अपने शरीर-सुख के लिए उपेक्षणीय मानता है। ऐसी स्थिति में गृहस्थ को कर्म करने के लिए कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता। मोक्ष को उपादेय मानकर सभी कर्मों के संस्कारों से आत्मा को मुक्त कर लेना सर्वोच्च कर्त्तव्य रहा है। यह तभी सम्भव हो सकता था, जब गृहस्थ यथाशीघ्र घर छोड़कर साधु, उपाध्याय आदि बन जाय।

कर्म का रहस्य

धार्मिक दृष्टि से कर्म आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से प्रथम दो ज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में जीव की प्रगति नहीं होने देते। वेदनीय कर्म आरम्भ में थोड़ा सुख और अन्त में अधिक दुःख देते हैं। मोहनीय कर्मों से जीव अपने शुद्ध स्वरूप के ठीक विपरीत प्रमत्त-सा बन जाता है। आयु कर्म से वारंवार जन्म का बन्धन नियत होता है। नाम-कर्म से पुनर्जन्म की देव, मनुष्य, पशु आदि कोटियाँ निर्धारित होती हैं। गोत्र कर्मों के द्वारा गोत्र की श्रेष्ठता या हीनता नियत होती है। अन्तराय कर्म से पुण्य कर्मों में बाधा उत्पन्न होती है। इन्हीं कर्मों के परमाणु भावनाओं के माध्यम से आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। जीव का कर्म-बन्धन कुछ परिस्थितियों में अवधिगत होने पर भी मानो निरवधि-काल तक प्रभाव दिखाता है।

मरणोत्तर विधान

मरने के पश्चात् जो जीव निर्वाण प्राप्त करते हैं, वे सिद्ध होकर विश्वमंडल के शिखर पर अवस्थित होते हैं। इनके लोक का नाम ईषत्प्राग्भार है। यह लोक श्वेत स्वर्ण से निर्मित है और परम शुचि है। इस लोक में आत्मा (जीव) का परिमाण अन्तिम लौकिक शरीर का ⅔ रह जाता है। केवल आत्मा ही इस लोक

में रहता है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर शरीर आत्मा से विलग हो जाता है। आत्मा का तत्कालीन स्वरूप ज्ञान, दर्शन और आनन्द से निर्मित होता है।

जैन-ग्रंथों में पापियों की नरक-गति का प्रायः वैसा ही विवरण मिलता है, जैसे हिन्दू धर्म के पुराणों में। जलना, चीरा जाना, कीड़ों से खाया जाना आदि नारकीय यातनायें हैं। नरकगति के पश्चात् उसे विभिन्न माताओं के गर्भ से वारंवार उत्पन्न होकर लौकिक यातनायें सहनी पड़ती हैं।

तपोमय जीवन बिताने वाले मुनि यदि निर्वाण नहीं प्राप्त कर पाते तो वे देव-लोक में सर्वोत्तम देवकोटि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उन्हें विविध प्रकार के भूषण, अनुलेपन, मालायें, चूर्ण आदि प्राप्त होते हैं, जिनके उपयोग से वे रंगीले दिव्य शरीर को सजाकर दशों दिशाओं को अपनी प्रभा से चमका देते हैं। वे सर्वथा मनोरम होते हैं।

जो उपासक-गृहस्थ सल्लेखना द्वारा प्राणोत्सर्ग करते हैं, वे स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त करते हैं और अन्त में देवराज बनते हैं। उनका इन्द्राभिषेक होता है और समीचीन राजनीति का समाधान करते हुए, वे स्वर्ग में शासन करते हैं। इन्द्र की आयु सीमित होती है। उन्हें स्वर्ग का साम्राज्य छोड़कर पुनः मानव-लोक में अव-तार लेना पड़ता है। यह इन्द्रावतार है। इस लोक में वे भगवान् के रूप में अभि-षिक्त होते हैं और स्वर्ग के इन्द्रों के लिए भी पूज्य बन जाते हैं। वे चक्रवर्ती सम्राट् बन कर दिग्विजय करते हैं। अन्त में उन्हें विराग होता है और वे संन्यासी बन कर दीक्षा ले लेते हैं।

राष्ट्रीय एकता

भारतीय धर्म ने समाज और कुटुम्ब की एकता की प्रत्यक्ष योजनायें प्रस्तुत की हैं। सारे भारत की राष्ट्रीय एकता अप्रत्यक्ष रूप से धर्म ने संभव की है। भारतवासियों के लिए भारत के कोने-कोने में तीर्थ स्थान, पुण्यप्रद नदियाँ और धार्मिक क्षेत्रों की योजना देश की एकता के लिए हुई। धर्म के उन्नायकों ने सारे भारत को अपना कार्य-क्षेत्र चुना और सभी धर्म देश के सभी कोने-कोने तक पहुँचे। संस्कृत भाषा का धार्मिक महत्त्व था। यह भाषा देश के सभी भागों में समान रूप से अपनाई गई। इसी प्रकार सभी देवी-देवता भारत के सभी भागों में पूज्य बने और उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों में सारे देश की एकता प्रस्फुटित है। मनु ने जो राज-धर्म प्रवर्तित किया, वह सारे देश में मान्य हुआ और उसके माध्यम से देश की राज-नीतिक एकता प्रस्फुटित हुई।

अध्याय १२

आचार और चरित्र-निर्माण

मानव-संस्कृति के विन्यास में सदाचार और सच्चरित्रता का आरम्भिक युग से महत्त्व रहा है। इनके बिना सुश्लिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्ति की कल्पना भी न होती। भारत में आचार तथा चरित्र की प्रतिष्ठा का प्रधान आधार प्रकृति की उदारता और सहायशीलता रही है। प्रकृति की समृद्धि ने मानव को शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारता के अनुरूप मानव के हृदय को उदार बना दिया। परिणामतः मानव पारस्परिक व्यवहार में स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओं का स्फुरण हुआ।

सिन्धु-सभ्यता के युग में जिस नागरिकता का उदय हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में मानव की उच्चतम चरित्र-निष्ठा रही होगी। उस समय के मानवों ने सामूहिक उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों का देश-विदेश में प्रसार किया था। ऐसी सभ्यता के निर्माण में असंख्य पुरुषों के सहयोग की अपेक्षा थी। ऐसी स्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि उस युग के भारतीय पूर्वज आचार-पथ पर आगे बढ़ चले थे।

वैदिक आचार

ऋत

वैदिक कालीन आचार-पद्धति में ऋत अथवा सत् या सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई थी।[1] तत्कालीन धारणा के अनुसार चराचर-लोक की सृष्टि, संवर्धन और संहार का नियामक ऋत है। प्रकृति की शक्तियाँ तथा दैवी विभूतियाँ ऋत के अनुकूल अपने-अपने व्यापार में संलग्न हैं। इस प्रकार विश्व की सन्तुलित गति

---

१. ऋत प्रकृति का वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्बाध रूप से प्रकृति के सारे कार्य-व्यापार चलते हैं। ऋतुओं का आगमन, सूर्योदय, दिन और रात्रि आदि सारे प्राकृतिक विधानों की क्रमबद्धता के मूल में ऋत है।

के लिए ऋत की आवश्यकता है। ऋत वह वस्तु है, जिसके अभाव में प्रकृति के सारे कार्य-व्यापार रुक जाते हैं। ऋत के विपरीत अनृत है। अनृत पाप है।

वैदिक समाज ने ऋत की प्रतिष्ठा सामाजिक जीवन में की। प्राकृतिक ऋत को आदर्श मान कर उन्होंने अपने जीवन में क्रमबद्धता और व्यवस्था को प्रथम स्थान दिया। उनके याज्ञिक विधानों में क्रियाओं का क्रम था। उस क्रम का व्यवधान नहीं होना चाहिए था। वैदिक मन्त्रों के पाठ में क्रम की योजना थी तथा मन्त्रों के उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विन्यास था। यदि मन्त्रोच्चार में किसी प्रकार की अशुद्धि हो जाती तो जितने पुण्य-फल की आशा की जा सकती थी, उससे कई गुना अधिक पाप का भागी बनना पड़ता था। निःसन्देह उन महर्षियों का जीवन असाधारण रूप से सुव्यवस्थित था।

दैवी प्रेरणा

वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि देवता मानवों के चरित्र का पर्यालोचन करते हैं तथा वे पापियों को दण्ड देते हैं। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य मानवों के साधु और असाधु आचार को देखते हुए ऊपर चढ़ता है।[1] मित्र और वरुण सत्य के द्रष्टा हैं। ऊँचे आकाश से वे सबको देखते हैं।[2] वरुण की दोनों आँखें सारे संसार को देखती हैं। कोई व्यक्ति स्वर्ग के दूसरे छोर पर ही उड़कर क्यों न चला जाय, वह वरुण की दृष्टि से नहीं बच सकता। वरुण के दूत सारी पृथ्वी पर विचरण करते हुए पापियों को ढूंढ़ निकालते हैं।[3]

ऋषियों को देवताओं के परोपकार और सुकृत का परिचय प्राप्त था। वैदिक साहित्य में इन्द्र और अश्विद्वय आदि देवताओं की परोपकारमयी उदात्त भावनाओं का जो आदर्श है, वह ऋषि-वर्ग में प्रतिष्ठित हुआ।[4] मानवों ने देवताओं की सहायता के लिए स्तुति की, उनका गुण-गान किया और उनके आदर्शों को अपने जीवन में ढाला। ऋषियों का विश्वास था कि देवताओं की कृपा उन्हें ही प्राप्त हो सकती है, जो उनके अनुशासन को मानते हैं और स्वयं पुण्य-पथ पर अग्रसर हैं।[5]

---

१. ऋग्वेद ४.१.१७।

२. ऋग्वेद ८.२५.७-९।

३. अथर्ववेद ४.१६।

४. शतपथ ब्राह्मण ७.३.२.६ के अनुसार मानव को वही करना चाहिए, जो देवताओं ने किया।

५. शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता २६.२ में ऋषि की कामना है—मैंने सभी लोगों

देवताओं के आदर्श पर मानवता को सन्देश दिया गया—

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।[१]

ऋग्वेद में सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए और सत्य से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि तत्त्व स्थिर हैं।[२] सत्य के समक्ष असत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।[३] अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[४]

अथर्ववेद में पाप का मानवीकरण करते हुए एक ऋषि ने अपने हृदय की आन्तरिक वेदना को दाक्षिण्यपूर्वक व्यक्त किया है—'हे मन के पाप, दूर चले जाइये, क्योंकि आप ऐसी बातें कहते हैं, जो कहने के योग्य नहीं हैं। दूर जाइये; मैं आपको नहीं चाहता। वृक्षों के ऊपर चले जाइये। वन में चले जाइये। मेरा मन पशुओं और घरों में आसक्त हो (आप में नहीं)। हे पाप्मन्, यदि आप मुझे नहीं छोड़ते तो मैं ही आपको छोड़ दूंगा। आप किसी दूसरे के पीछे पड़िये।'[५] पाप से डरने की भावना मानव को सदाचारी बनाकर सच्चरित्रता के पथ पर लगा देती है।

शतपथ ब्राह्मण में सत्य को सर्वोच्च गुण बतलाया गया है। इसके अनुसार असत्य बोलने वाला व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कामों के लिए अधिकार नहीं रह जाता।[६] इस ग्रन्थ में सत्य के द्वारा मानव की तेजस्विता की प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदय की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। 'जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है। वह प्रतिदिन अच्छा होता जाता है। इसके विपरीत असत्य बोलने वाले का प्रकाश क्षीण होता जाता

के प्रति जो कल्याणी वाक्यावली का प्रयोग किया है, उससे मैं देवताओं का प्रिय बन सकूं। ऋग्वेद ४.४८.१४ के अनुसार अस्ति रत्नमनागसः अर्थात् रत्न निष्पाप मनुष्यों का होता है।'

१. ऋग्वेद ६.७५.१४। समान विचारधारा यजुर्वेद ३६.१८ तथा अथर्ववेद १७.१.७ में मिलती है।

२. ऋग्वेद १० १९०.१ तथा १०.८५.१।

३. ऋग्वेद ७.१०४.१२।

४. अथर्ववेद ४.१६।

५. अथर्ववेद ६.४५.१; ६.२६.२-३।

६. शतपथ ३.१.२.१० तथा १.१.१.१।

है। वह प्रतिदिन दुष्ट बनता जाता है। ऐसी परिस्थितियों में सदा सत्य-भाषण करना चाहिए।"[1] उस युग की मान्यता थी कि प्रारम्भ में भले ही सत्यवादी की पराजय हो, पर अन्त में उसी की विजय होती है। 'देवताओं और असुरों में जो युद्ध हुआ, उसमें प्रारम्भ में देवताओं की पराजय हुई, क्योंकि सत्यवादी प्रारम्भ में विजयी नहीं होते, अन्त में विजयी होते हैं। देवता भी अन्त में विजयी हुए। अपने दुर्विनय और अभिमान के कारण असुर अन्त में पराजित हुए।[2] सत्य दुःख को दूर करता है।[3] सत्य के द्वारा देवताओं की विजय होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा मिलती है। नाभानेदिष्ठ ने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक पाया। उसी अवसर पर आदेश दिया गया है—विद्वान् को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए।

सत्य के द्वारा पाप को दूर करने का विधान बना था। यदि मनुष्य से कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभाव को कम करने के लिए उस पाप को सबके समक्ष स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पाप सत्य के सम्पर्क में आने पर सत्य बन जाता है। यज्ञ के अवसर पर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमान के सम्बन्धियों को कष्ट में डालता है।[4] उस युग में सत्य को सर्वोच्च आराधना के रूप में प्रतिष्ठा मिली।[5]

उपनिषद्-काल में ऋषियों के दार्शनिक जीवन की भित्ति सदाचार के आधार पर खड़ी हुई। उनका चिन्तन दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित था। चिन्तन के लिए चित्त की एकाग्रता और शान्ति की आवश्यकता थी। इनकी प्राप्ति के लिए ऋषियों ने केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु सारे समाज के लिए उच्च कोटि की आचार-पद्धति की व्यवस्था दी है।

ब्राह्मी-स्थिति

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सभी प्रकार के पापों से छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्म सभी प्रकार के पापों से मुक्त है। ज्यों ही मानव की सत्ता ब्रह्ममय हो जाती है, वह भी ब्रह्म की भाँति शुद्ध हो जाता है। जब मानव

---

१. शतपथ २.२.२.१९।
२. शतपथ ३.४.२.८, १४ तथा ९.५.१.१६।
३. शतपथ ११.५.३.१३।
४. शतपथ २.५.२.२०।
५. शतपथ २.२.२.२०।

अपने अभ्युदय की प्रतिष्ठा सांसारिक विभूतियों से परे ब्रह्म की एकता में करता है तो वह सांसारिक पापों से निर्लिप्त हो जाता है। मुण्डक उपनिषद् में ऐसे ब्रह्मनिष्ठ के सम्बन्ध में कहा गया है—

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

(वह शोक को पार कर जाता है। पाप को पार कर जाता है। गुहा-ग्रन्थि से विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है।)[1]

इस उपनिषद् में मानव के व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में कहा गया है—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' अर्थात् ज्ञान के प्रसाद से मानव का स व विशुद्ध हो जाता है। आत्म-ज्ञान के लिए आचार की आवश्यकता का निरूपण करते हुए इस उपनिषद् में कहा गया है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥[2]

(आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से लभ्य है। मानव-शरीर के भीतर ज्योतिर्मय शुभ आत्मा है। उस आत्मा को दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं।)

मानव तभी तक बुरी प्रवृत्तियों के चंगुल में फँसा रहता है, जब तक उसे ज्ञान नहीं रहता। ज्योंही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्ममय है, उसकी पापमयी प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। ईशोपनिषद् में यह कहने के पहले कि किसी के धन के लिए लोभ मत करो, यह बताया गया है कि जगत् में सब कुछ ईश से व्याप्त है। जो पुरुष अपने को सब में और अपने में सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणी से घृणा कर सकता है अथवा किसी की हानि कर सकता है।[3] यही एकत्व उपनिषद्-युग की आचार-पद्धति का दृढ़ आधार है। ईश उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापों से रहित है।[4] ब्रह्म के अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्व के विकास की योजना बनाता आ रहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य को धर्म का स्वरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गई है। 'सत्य के बल पर दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर

---

१. मुण्डक ३.२.९।

२. मुण्डक ३.१.५।

३. ईशोपनिषद् ६.७।

४. ईशोपनिषद् ८ तथा मुण्डक उप० २.२.९।

सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बल का सबसे बड़ा बल है।[1] तत्कालीन मानव की सदाचारमयी निष्ठा का ज्ञान इस उपनिषद् में प्रस्तुत नीचे लिखी प्रार्थना से लगता है :—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय॥[2]

(मुझे असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रवृत्त करो।)

इस उपनिषद् के अनुसार धर्म और सत्य सभी प्राणियों के मधु (पोषक) हैं और स्वयं मानव सभी प्राणियों के लिए मधु है।[3]

लोकोपकार

ऋग्वैदिक काल से दान का महत्व रहा है। दान को ब्रह्मज्ञान का साधन भी माना गया।[4] उपनिषदों में समाज-सेवा का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में नागरिक को आदेश दिया गया है कि किसी मनुष्य से यह न कहो कि तुम्हारे लिए वसति (रहने का स्थान) नहीं है। यह व्रत होना चाहिए। केवल रहने के लिए स्थान-मात्र देना कर्तव्य नहीं रहा। उस व्यक्ति को कुछ भोजन भी देना है। अतिथि को आदरपूर्वक भोजन देना चाहिए।[5] बृहदारण्यक उपनिषद् में महान् बनने के लिए जिस मनोवृत्ति को आवश्यक कहा गया है, वह लोक-कल्याण के लिए है। मानव महान् बनने के लिए कामना करता है—मानवों में मैं अद्वितीय कमल बन जाऊँ, जैसे सूर्य दिशाओं में कमल है।[6] अतिथि के सत्कार द्वारा वैदिककालीन भारतीय लोकोपकारिता का परिचय मिलता है। उस समय प्रत्येक ग्राम और नगर में आवसथ बने हुए थे। आवसथ सार्वजनिक रूप से अतिथियों के लिए स्वागत-भवन थे।[7]

---

१. बृहदारण्यक १.४.१४।
२. बृहदारण्यक १.३.२८।
३. बृहदारण्यक० २.५.११-१३।
४. बृहदारण्यक० ४.४.२२ तथा ५.२.१-३।
५. तैत्तिरीय० भृगुवल्ली १०.१।
६. बृहदारण्यक० ५.३.६।
७. *Vedic Index Vol. I P.* 66

सौत्राचार

सूत्रों के अनुसार आर्यों का आदर्श सर्वसम्मति से सदाचार माना गया। धर्म और अधर्म कहते नहीं चलते कि हम यहाँ हैं। आर्य जिसकी प्रशंसा करें, वह धर्म है और जिसकी निन्दा करें वह अधर्म है।[१] सदाचार के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति तक बौधायन के अनुसार संभव है। यदि पुरुष उदार हो, उसका हृदय कोमल हो और उसमें आर्जव की आभा हो तो वह जहाँ रहता है, वहीं स्वर्ग है।[२] यदि मानव का आचार ठीक न हो तो उसे स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि पतन से नहीं बचा सकते। दुराचारी दुःखी और रोग-ग्रस्त होते हैं।[३] गौतम ने आत्मगुणों को सभी संस्कारों से बढ़ कर माना है। इन्हीं से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[४] वसिष्ठ ने भी आचार-पथ की उच्च प्रतिष्ठा का समर्थन किया है। उनके अनुसार सभी आश्रम के लोगों को ईर्ष्या, निन्दा, अभिमान, अहंभाव, कुटिलता, आत्मप्रशंसा, लोभ, प्रवंचना, मोह, क्रोध, द्रोह आदि छोड़ना चाहिए, दूरदर्शी बनना चाहिए और सर्वोच्च पद की ओर लक्ष्य करना चाहिए, इधर-उधर नहीं।[५]

सौत्र विचारकों की धारणा थी कि यदि पाप हो ही गया तो उससे छुटकारा पाना आवश्यक है। ऐसी मानसिक स्थिति में प्रातः और सन्ध्या के समय अग्निहोत्र करते समय वे प्रार्थना करते थे—जानकर या अज्ञानवश मैंने रात्रि या दिन के समय जो पाप किया हो, उससे मुक्त करो। इस प्रकार की प्रार्थना करने वाले के द्वारा समाज में आचार की सत्प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी है।

महाभारतीयाचार

शिष्टाचार

महाभारत में सदाचार का पर्याय शिष्टाचार मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट वे पुरुष हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को वश में करके केवल धर्म को अपनाकर सन्तुष्ट रहते हैं। वे सदैव आचारनिष्ठ रहते हैं। शिष्ट

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.२०.६।

२. बौ० धर्मसूत्र ३.२.४.२५।

३. वसिष्ठ धर्मसूत्र ६.२.६।

४. गौतम धर्मसूत्र ८.२३-२४ के अनुसार सभी प्राणियों पर दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा आठ आत्मगुण हैं।

५. वसिष्ठ धर्मसूत्र १०.३० तथा ३०.१।

पुरुष सदैव नियमित जीवन बिताते हैं। वे वेदों का स्वाध्याय करते हैं, त्याग-परायण होते हैं और सत्य को सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। शिष्ट पुरुष अपनी बुद्धि को संयम में रखते हैं, आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों पर चलते हैं और मर्यादा में स्थित होकर धर्म और अर्थ पर दृष्टि रखते हैं। शिष्ट पुरुष जानते हैं कि शभ और अशुभ कर्मों के फल-संचय से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम क्या हैं। शिष्ट पुरुष सबको दान देते हैं, निकटवर्ती लोगों में सब कुछ बाँट कर खाते हैं, दीनों पर अनुग्रह करते हैं, उनका जीवन तपोमय होता है और वे सभी प्राणियों पर दया करते हैं।[1] इस युग में यज्ञ से बढ़कर अक्रोध, दया आदि को अच्छा माना गया।[2]

शिष्ट पुरुषों का आचार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार के अन्तर्गत धर्म के सर्वोच्च तत्त्वों का परिगणन होता था। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य शिष्टाचार के प्रमुख अंग माने गये।[3] शिष्टाचार में त्याग का स्थान ऊँचा है। महाभारत के अनुसार धर्म के तीन लक्षण हैं—परम धर्म वह है, जो वेदों में बतलाया गया है, धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट धर्म और शिष्टों का आचार। इस प्रकार शिष्टाचार क: उस युग में प्रतिष्ठा बढ़ी।[4]

शिष्ट पुरुषों के पास जब कोई सन्त पहुँचता है तो वे अपनी स्त्री और कुटुम्बी जनों को कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्ति से अधिक दान देते हैं। ऐसे शिष्ट पुरुष, महाभारत के अनुसार, अनन्त काल तक उन्नति की ओर अग्रसर होते रहते हैं। वे समस्त लोक के लिए प्रमाण हैं। शिष्टाचार है—दोषदृष्टि का अभाव, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रिय भाषण और शास्त्रों के अनुकूल कर्म करना।[5] दूसरे का यश अपनी विद्या के द्वारा मिटाना अवनति के लिए है।[6]

महाभारत के अनुसार सदाचार केवल आध्यात्मिक अभ्युदय की दृष्टि से ही ग्रहणीय नहीं है, अपितु शील के साथ धर्म, धर्म के साथ सत्य, सत्य के साथ सदा-

---

१. महाभारत वनपर्व १९८.५७-९४।

२. यो यजेवपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः।
न क्रुध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः॥आदि ७४.६।

आदि पर्व ९४.१६ के अनुसार राजा शान्तनु पशु-पक्षियों का भी पिता था।

३. यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम।
पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा॥वनपर्व १९८.५७॥

४-५. वनपर्व १९८ वाँ अध्याय।

६. आदिपर्व २५.२३।

चार, सदाचार के साथ बल और बल के साथ लक्ष्मी का निवास होता है।[१] इस प्रकार सदाचार से बल और ऐश्वर्य की प्राप्ति शिष्ट-योजना कही जा सकती है।

व्यावहारिक रूप

महाभारत में शिष्टाचार का व्यावहारिक रूप अनेक स्थलों पर मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट पुरुष स्वयं अपनी शक्ति का परिचय देना ठीक नहीं समझते और न अपने गुणों का वर्णन उचित मानते हैं।[२] आत्मश्लाघा से पुण्य क्षीण होने की धारणा थी।।[३] किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के आने पर आसन छोड़कर खड़ा हो जाना चाहिए और उसकी पूजा करके अभिवादन करना चाहिए। यदि वह व्यक्ति पद में समान हो तो उसके हाथ का अपने हाथ से स्पर्श करना चाहिए।[४] राजा या श्रेष्ठ पुरुषों को हाथ जोड़ कर प्रणाम करने की विधि थी। इसमें हाथ की अंजलिमुद्रा होती थी। जिसे प्रणाम किया जाता था, वह अंजलि ग्रहण करता था।[५] अतिथि को कुछ दूर तक पहुँचाना चाहिए।[६] अभिवादन करते समय अपना नाम बताना चाहिए।[७] किसी नये स्थान पर रहने के लिए जाये तो वहाँ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोगों से मिलना चाहिए।[८] यदि कोई उपकार करे तो उससे बढ़ कर प्रत्युपकार कर देना कर्तव्य है।[९] किसी श्रेष्ठ पुरुष से मिलने के लिए जाने पर प्रयोजन बताते हुए कहा जा सकता है कि आपका अभिवादन करने के लिए आ गया हूँ।[१०] कहीं से जाते समय वृद्धों का अभिवादन और बालकों का आलिंगन करना चाहिए।[११] तीर्थ-यात्रा आदि कोई महान् कार्य करने के पहले अपने सम्बन्धियों से अनुमति

---

१. शान्तिपर्व १२३ वाँ अध्याय।
२. आदिपर्व ३०.२।
३. वनपर्व ११९.७।
४. उद्योगपर्व १५४.१९-२१।
५. भीष्मपर्व ९३.२७, २८।
६. सभापर्व ४२.४०।
७. वनपर्व १५६.१।
८. आदिपर्व १३४.६।
९. आदिपर्व १४५.१४।
१०. आदिपर्व ७१.२२.२३।
११. वनपर्व १२०.२९।

लेनी चाहिए।[1] स्नेही जनों के सिर सूंघने की रीति थी।[2] पुत्रवधू के पहली बार आने पर उसका सिर सूंघा जाता था।[3] मार्ग में किसी व्यक्ति को लाँघ कर नहीं जाना चाहिए। लाँघने पर देह में व्यापक निर्गुण परमात्मा की अवमानना होती है।[4] यदि कोई मीठी वस्तु खानी हो तो उसे पहले अपने से छोटों को देकर खाना चाहिए।[5]

महाभारत का स्पष्ट मत है कि अच्छे कामों के साथ अभिमान होने पर वे सत्कार्य अच्छा फल नहीं दे पाते। मैंने इतना किया यह आपने यदि कहीं प्रकाशित किया तो जो कुछ किया, वह भयंकर बन जाता है। वास्तव में

> तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
> नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः॥
>
> आदिपर्व ८५.१२

यदि किसी ने सम्मान कर ही दिया तो

> न मान्यमानो मुदमाददीत॥ आदिपर्व ८५.२५।

महाभारत में शिष्ट बनने की कामना करने वालों को आदेश दिया गया है—उद्योगी बनो, वृद्धों की उपासना करो, उनसे अनुमति लो और नित्य उठ कर वृद्धों से कर्तव्य पूछो।[6] दिन में ऐसा काम करो कि रात में सुख से सो सको। वर्ष में आठ मास ऐसे काम करो कि वर्षा के चार मास सुख से बीतें। युवावस्था में ऐसा काम करो कि वृद्धावस्था आनन्द में बीते और जीवन भर ऐसा काम करो कि मरने के पश्चात् सुख हो।[7] मानव का आचरण सूर्य की भाँति होना चाहिए। सबका उपकार करना एकमात्र कर्तव्य है। स्वर्ग में उसी व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-दृष्टि से देखता है, सभी प्राणियों के दुःख का निवारण करता है और सबके साथ प्रेम-पूर्वक सम्भाषण करके उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है।

---

१. उद्योगपर्व १५४.३४।
२. विराटपर्व ६६.२३।
३. आदिपर्व २३१.१८।
४. वनपर्व १४७.८।
५. द्रोणपर्व ५१.३१. ३३।
६. सौप्तिकपर्व २.२२।
७. उद्योगपर्व ३५.५७, ५८।

आर्येतर शिष्टाचार

महाभारत के अनुसार आर्यों के अतिरिक्त अनार्यों में सदाचार की प्रतिष्ठा थी। दस्युओं के नेता कायव्य ने अपने वर्ग के लोगों को सच्चरित्रता का पाठ इन शब्दों में पढ़ाया—स्त्री, भीत, तपस्वी और शिशुओं को न मारना। जो युद्ध न करता हो, उस पर हाथ न उठाना। स्त्री को बलपूर्वक न पकड़ना। सत्य की रक्षा करना। मंगल-कार्य में बाधा न पहुँचाना। उनके ही विरुद्ध आचरण करना जो हमारे प्राप्त धन हमें न देना चाहें। दण्ड दुष्टों का दमन करने के लिए है, शिष्टों को पीड़ा देने के लिए नहीं।[1]

गीता से आचार-शिक्षण

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण के चरित्र में आदर्श आचार की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है। कृष्ण ने कहा है—मैं साधुओं की रक्षा करने के लिए पापियों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ। उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्रता के संवर्धन के लिए समुचित वातावरण की सृष्टि करती रही है।[2] आगे चल कर कृष्ण ने बतलाया है कि अपनी इन्द्रिय मन तथा बुद्धि पर अधिकार रखने वाले क्रोध से रहित होकर परम कल्याण पा सकते हैं।[3] ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म का एक लक्षण है, लोकहित के लिए होना। यह एक प्रकार का यज्ञ है।[4] इसे वही कर सकता है, जो किसी से द्वेष और मैत्री आदि नहीं करता।[5] निष्काम व्यक्ति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा गया है—वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण गौ, हाथी, कुत्ते, और चाण्डाल के सम्बन्ध में समदर्शी होता है। उसके लिए शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदि के विषय में समान दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है।[6]

मानवीय व्यक्तित्व के सर्वश्रेष्ठ विकास की योजना लोकहित की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कृष्ण के बताये हुए आचार-पथ को अपनाने वाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाज में हो तो उस समाज में शान्ति का साम्राज्य होगा। कृष्ण ने

---

१. शान्तिपर्व १३३ वाँ अध्याय।
२. गीता ४.८।
३. गीता ४.१०; ५.२८।
४. गीता ४.२३।
५. गीता ५.३।
६. गीता ५.१८; ६.९।

ऐसे मनस्वी की परिभाषा इस प्रकार दी है—किसी से द्वेष न करने वाला, सबसे मित्रता रखने वाला, करुण, ममत्व, और अहंकार से रहित सुख-दुःख में समान, क्षमावान्, सन्तुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ़ निश्चय वाला तथा मुझमें मन और बुद्धि को अर्पित कर देने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[1]

कृष्ण ने गीता में दैवी सम्पत्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव बतायी है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, सभी प्राणियों के प्रति दया, तृष्णा का न होना, (बुरे कामों से) लज्जा, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्रोह न रखना, अपने को बहुत बड़ा न मान लेना—ये दैवी सम्पत्ति के गुण हैं। इनके विपरीत दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता, अज्ञान—ये आसुरी सम्पत्ति के गुण हैं। आसुरी सम्पत्ति विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म के लिए होती है। काम, क्रोध और लोभ में से एक-एक नरक-द्वार हैं। वे हमारा नाश कर डालते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए।[2]

सत्य से स्वर्ग और असत्य से नरक-गति की सम्भावना बतलायी गयी। साथ ही कहा गया है कि असत्य के कारण लोग नाना प्रकार के रोग, व्याधि और ताप से दुःखी रहते हैं तथा भूख, प्यास और परिश्रम के कारण कष्ट भोगते हैं। इतना ही नहीं, असत्यवादी को आँधी, पानी, सर्दी और गर्मी से उत्पन्न हुए भय तथा शारीरिक कष्ट झेलने पड़ते हैं और बन्धु-बान्धवों की मृत्यु, धन के नाश और प्रेमी जनों के वियोग के कारण होने वाले मानसिक शोक से ग्रस्त होना पड़ता है। इसी प्रकार वे जरा और मृत्यु के दुःखों को भोगते हैं।[3]

आचार के अपवाद

असत्य-भाषण क्या किसी परिस्थिति में उचित माना जा सकता है? इस सम्बन्ध में प्रायः शास्त्रकारों का मत रहा है कि विशेष परिस्थितियों में असत्य-भाषण क्षम्य हो सकता है। किसी भले आदमी के प्राणों की रक्षा करने के लिए असत्य बोलने में पाप नहीं होता।[4] पुरोहितों के प्राण की रक्षा करने के लिए, गो-रक्षा के लिए, विवाह अथवा प्रेम-सम्बन्ध में, परिहास में, संकट पड़ने पर तथा क्रोध

---

१. गीता १२.१३, १४।
२. गीता १६.२१।
३. शान्तिपर्व १८३ वाँ अध्याय।
४. मनु और आपस्तम्ब का मत।

होने पर झूठ बोलना कोई अपराध या पाप नहीं है।[1] महाभारत में उपर्युक्त विचार-धारा का निदर्शन नीचे लिखे श्लोक में मिलता है:—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि।।

आदिपर्व ७७.१६।

(परिहास की बात से, स्त्री के सम्बन्ध में, विवाह के समय, प्राण का संकट होने पर और सर्वस्व नष्ट होने की आशंका होने पर यदि झूठ बोला ही जाय तो वह पाप नहीं है।)

महाभारत उपर्युक्त परिस्थितियों में भी असत्य को सर्वथा समीचीन नहीं मानता। उपर्युक्त असत्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान बना। यदि असत्य बोल कर किसी महर्षि की रक्षा कर ली गयी तो क्या हुआ? सत्य की हत्या तो हुई ही। ऐसी परिस्थिति में कुछ शास्त्रकारों ने निर्णय दिया है कि किसी भी स्थिति में असत्य न बोला जाय, तभी सत्य की हत्या न होगी।[2] महाभारत में स्पष्ट कहा गया है—जो व्यक्ति अपने लिए अथवा दूसरों के लिए परिहास में कभी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्ग में जाते हैं।[3] फिर भी लोकहित के लिए अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति की रक्षा करने के लिए असत्य बोलना कभी भी निन्दनीय नहीं समझा गया।

अत्याचारियों अथवा दुष्टों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए—इस सम्बन्ध में प्रायः सभी शास्त्रकारों का मत है कि यदि अत्याचारी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझाने से अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करने से सत्पथ पर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारत के अनुसार क्रोध को अक्रोध से और असाधु को साधुता से जीतना चाहिए।[4] वैर का अन्त वैर से नहीं होता। दुष्टों के साथ दुष्ट न बने।[5]

---

१. आपस्तम्ब और गौतम आदि का मत।

२. विश्व के इतिहास में ऐसे महापुरुषों की संख्या स्वल्प नहीं रही है, जिन्होंने सत्य के पीछे अपना सर्वस्व होम कर दिया और असत्य बोल कर अपने प्राणों तक की रक्षा न की। सुकरात, ब्रूनो आदि योरप में ऐसे सत्य के प्रतिष्ठापक हुये हैं। भारत में सत्यपरायण हरिश्चन्द्र का नाम ऐसे मनीषियों में सर्वप्रथम है।

३. अनुशासनपर्व १४४.१९।

४. उद्योगपर्व ३९.५८।

५. न पापे प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत।
न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति।।

रामायणीयाचार

रामायण में जिन उदात्त पात्रों के चरित्र का चित्रण आदर्श रूप में किया गया है, उनका आचार-व्यवहार सदा से इस देश में अनुकरणीय माना गया है। पिता के वचन को सत्य बनाने के लिए पिता तथा अन्य बन्धु-बान्धवों की इच्छा के विरुद्ध राम ने चौदह वर्ष वनवास किया। चित्रकूट से राम को लौटाने के लिए भरत और कौशल्या आदि के प्रार्थना करने पर राम ने पिता के वचनों को सत्य बनाने के संकल्प को नहीं छोड़ा। इस अवसर पर जाबालि ने राम को नास्तिक पथ की शिक्षा दी—इस संसार में कौन किसका पिता है? तुम बुद्धि से काम लो और कष्ट देने वाले वन को छोड़ कर भोग-विलासमयी अयोध्या में लौट चलो। इस महर्षि को जो उत्तर राम ने दिया, वह भारतीय आचार के इतिहास में अमर रहेगा—पाप का आचरण करने वाला व्यक्ति मर्यादारहित होकर या सच्चरित्रता को छोड़ कर सज्जनों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। पुरुष उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हो या नीच कुल में, उसका चरित्र ही उसकी पवित्रता या अपवित्रता का कारण होता है। यदि मैं धर्म के नाम पर अधर्म अपना लूँ तो संसार को कुमार्ग पर बढ़ाने वाले मुझको कौन विद्वान् आदर की दृष्टि से देखेगा? जैसा राजा का आचरण होता है, वैसा ही प्रजा का आचरण होता है। राजा का आचरण सत्य के अनुकूल होना चाहिए। सत्य में लोक की प्रतिष्ठा है। ऋषियों और देवताओं ने सत्य का सम्मान किया है। सत्यवादी को परलोक में सुगति मिलती है। लोग जिस प्रकार साँप से डरते हैं, वैसे ही असत्यवादी से डरते हैं। सबका मूल सत्य में ही है। सत्य से ऊँचा कुछ नहीं है। देवता और पितर भी मिथ्यावादी के अन्न को नहीं ग्रहण करते। तत्कालीन सनातन आचार-पथ का निदर्शन करते हुए राम ने कहा है—

> सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पा प्रियवादिता च।
> द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥[1]

रामायण के अनुसार मानव को अपने शुभाशुभ आचरणों का फल पाना पड़ता है। अतः काम आरम्भ करने के पहले उसके शुभाशुभ परिणाम पर विचार कर लेना चाहिए। पलाश के फूलों को मनोरम देख कर उसके फल के लोभ से जो व्यक्ति आम का उपवन कटवा देता है और पलाशों को सींचने लगता है, वह फल आने पर शोक करता है। पलाश सींचने वाले की भाँति वह

---

१. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड १०९ वाँ सर्ग।

व्यक्ति फल पाने पर शोक करता है, जो फल को बिना जाने बुरे काम करने लगता है।[1]

मानव आचार

मनु ने आचार से लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति का प्रभावोत्पादक विश्लेषण किया है। मनु के अनुसार आचार से मनुष्य दीर्घायु होता है, अभीष्ट सन्तान पाता है और अक्षय धन पाता है।[2] दुराचारी मनुष्य की निन्दा होती है। वह दुःख का भागी होता है और सदैव रोगी रहता है। ऐसे पुरुष की आयु क्षीण हो जाती है।[3] सभी लक्षणों से दीन-हीन होने पर भी सदाचारी सौ वर्ष जी सकता है।[4] मनु ने असत्य बोलने वाले घोर पापी को महान् चोर माना है और कारण बताया है कि अन्य चोर तो किसी अन्य व्यक्ति का धन चुराता है, असत्यवादी अपनी आत्मा का ही अपहरण करता है। सज्जनों के बीच किसी बात को अन्यथा बतलाना असत्य है।[5] मनु ने शब्द और अर्थ को तोड़-मरोड़ कर उलटी-सीधी बातें बनाने वालों को भी चोर माना है। मनु की शब्दावली में उनका नाम सर्वस्तेयकृत् अर्थात् सब कुछ चुराने वाला है।[6] मनु की दृष्टि में असत्य बोलने वाले को उसी नरक में जाना पड़ेगा, जिसमें ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदि की हत्या करने वाला जाता है। झूठ बोलने वाले का सारा पुण्य उसे छोड़ कर कुत्ते के पास चला जाता है। झूठे को नंगा, अन्धा, भूखा, प्यासा आदि होकर भीख माँगते हुए शत्रु-कुल में जाना पड़ता है। वह पापी सिर नीचे किए हुए नरक के घोर अँधेरे में जा गिरता है।[7] इसके अतिरिक्त न्यायालय में सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा होती है—जिस पुरुष के बोलते हुए सर्वज्ञ अन्तर्यामी को यह शंका नहीं होती कि यह कभी झूठ बोलता है, उससे बढ़ कर देवताओं की दृष्टि में कोई प्रशंसनीय नहीं है।[8] असत्य बोलने वालों के लिए मनु ने घोर दण्ड का विधान बनाया है।[9]

---

१. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड १३.९।
२. मनु० ४.१५६।
३. मनु० ४.१५७।
४. मनु० ४.१५८।
५. मनु० ४.२२५।
६. मनु० ४.२५६।
७. मनु० ८.८९-९५।
८. मनु० ८.९६।
९. मनु० ८.२५७।

मनु ने समाज में पाप की प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार पर सफल योजना बनायी है। इसके अनुसार पापी का पाप से छुटकारा हो सकता है, यदि वह दूसरों से अपने पाप की निन्दा करे और यह निश्चय करे कि अब फिर वैसा काम नहीं करूँगा।[१]

मनु ने तीन प्रकार के पापों की चर्चा की है—मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक। दूसरों का धन लेने का विचार मानसिक पाप है। परुषता, परनिन्दा, और ऊटपटाँग बातें बनाना वाचिक पाप हैं। न दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, हिंसा आदि शारीरिक पाप हैं।[२] इन्हीं पापों के परिणामवश सूअर, कुत्ता, खटमल, पिशाच, छछून्दर आदि योनियों में उत्पन्न होकर मनुष्य अतिशय कष्ट भोगता है।[३]

बौद्ध आचार

ऊपर जिस विचारधारा का निरूपण किया गया है, उसके अनुसार मानव अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों की सिद्धि कर सकता है। बौद्ध संस्कृति अर्थ और काम की उपेक्षा करती है और केवल धर्म तथा मोक्ष के लिए मानव को प्रोत्साहित करती है।[४] ऐसी स्थिति में बौद्ध आचार का आदर्श सर्वोच्च प्रतिष्ठित हो सका।

बौद्ध संस्कृति में महर्षि-पूजा के माध्यम से समाज में आचार की सुप्रतिष्ठा सरलता से हो सकती थी। गौतम ने कहा—'यदि सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ सौ वर्षों तक प्रतिमास सम्पादित किये जाएँ तो भी वे उतना फल नहीं देते, जितना क्षण भर की हुई महर्षि (भावितात्मा) की पूजा। सौ वर्षों तक कोई क्यों न वन में रह कर अग्नि में होम करता जाय, वह उसके समान नहीं हो सकता, जिसने क्षण भर भावितात्मा की पूजा कर ली हो। पुण्य प्राप्त करने की इच्छा से वर्ष भर जो यज्ञ और हवन आदि किये जाते हैं, वे सरल चित्त वाले पुरुषों के प्रति किये गये अभिवादन के समक्ष तुच्छ हैं। जो अभिवादनशील है और बड़ों की सेवा करता है, उसकी आयु, वर्ण, सुख तथा बल में वृद्धि होती है।' जो पुरुष सदाचारी भिक्षु को देख कर उसे नमस्कार करता है और उसके पीछे हो जाता है, वह व्यक्ति

---

१. मनु० ११.२२७-२३२।

२. मनु० १२.५-७।

३. मनु० १२.५२-८०।

४. धम्मपद पियवग्गा ७ लोकवग्गो १२

इस संसार में प्रशंसा प्राप्त करता है और मरने के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। जो लोग विद्वान् हैं और अनेक विषयों पर चिन्तन कर चुके हैं, उनकी सेवा करनी चाहिए।[१] उपर्युक्त परिस्थिति में समाज तत्कालीन महर्षियों के सम्पर्क में आ सकता था।[२]

गौतम ने व्यक्तित्व के विकास के लिए जाति और वर्ण आदि के बन्धन को अनुचित ठहराया। सभी वर्ण और जाति के लोग संघ में प्रविष्ट हुए और निर्वाण के अधिकारी बने। समाज में सर्वसाधारण को अभीष्ट आचार-पथ पर प्रगतिशील बनाने का श्रेय गौतम को मिला।

गौतम के अनुसार सदाचार से इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय सम्भव है। 'सदाचार से सम्पत्ति की वृद्धि होती है, कीर्ति बढ़ती है और प्रत्येक सभा में प्रभाव पड़ता है। सदाचारी की मृत्यु भी शान्ति से होती है तथा मरणोत्तर काल में उसकी सुगति होती है।[३] इसके विपरीत दुःशील व्यक्ति की अवनति होती है।[४] दुःशील और अस्थिर चित्त वाले व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से शीलवान् तथा ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।[५]

बौद्ध संस्कृति के अनुसार शक्र नामक देवराज मानव-लोक में आचार की प्रतिष्ठा करता है। वह देखता रहता है कि कौन सदाचारी और दुराचारी है। वह सदाचारियों की प्रशंसा करता है और दुराचारियों को दण्ड देता है।[६] यदि सदाचारियों को कोई दण्ड देता है तो उस अत्याचारी को शक्र स्वयं दण्ड देता है।[७] केवल शक्र ही नहीं, अन्य दैवी शक्तियाँ भी पापी को दण्ड देने के लिए सतत उद्यत रहती हैं। महाप्रताप नामक राजा ने अपने निरपराध पुत्र के हाथ-पाँव, सिर आदि काट कर उसके सिर को तलवार की नोक पर लगाया ही था कि वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। पृथ्वी उसका भार नहीं सह सकी। दरार फटी और वह

---

१. धजविहेठ जातक ३९१।

२. वैदिक विचारधारा के अनुसार जो आश्रम-व्यवस्था बनी, उसमें अरण्य-वासी मुनियों को समाज में आने का निषेध किया गया। बौद्ध आदर्श इस प्रकार समाज को सदाचार की ओर उन्मुख करने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सका।

३. महापरिनिब्बाणसुत्त तथा महावग्ग ६.२८.४।

४. मच्छुद्दान जातक ।

५. धम्मपद सहस्सवग्गो ११।

६. अम्ब जातक।

७. मणिचोर जातक तथा एकराज जातक।

अवीचि नामक नरक में पहुँचा।[1] उस युग में शील और सदाचार को लोक में सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। धारणा थी कि आचारनिष्ठ कुल में अकाल मृत्य नहीं होती।[2]

पाप से पतन

गौतम ने लोगों को पाप से विरत करने का जो काम अपने ऊपर लिया, उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि पापी लोग संसार में प्रत्यक्ष ही फलते-फूलते और सुखी दिखायी देते हैं। गौतम ने इस परिस्थिति का पर्यालोचन करके बताया कि 'जब तक पाप फल नहीं देता, तब तक मूर्ख उसे मधु की भाँति मधुर मानता है, पर जब पाप फल देने लगता है, तब उससे दुःख होता है। पाप ताजे दूध की भाँति शीघ्र ही विचार नहीं लाता, वरं भस्म से ढकी हुई आग की भाँति जलाता हुआ वह पापी का दूर तक पीछा करता है।[3] प्रारम्भ में पापी भले ही सुख भोग ले, परन्तु उन्हीं कर्मों के कारण अन्त में उसे जलना पड़ेगा।[4] आकाश में, समुद्र में, पर्वतों की गुफाओं में—कहीं भी मनुष्य पाप के फल से नहीं बच सकता।[5] कल्याण करने वाला कल्याण पाता है, पाप करने वाला पाप ही पाता है। जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा फल पाता है।[6] गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पापमयी वृत्ति से प्राप्त धन या यश को धिक्कार है।[7]

पाप-निवारण

ऐसा होने पर भी यदि पाप हो ही गया तो उस पाप को अपने पुण्यों से ढकने की सीख गौतम ने दी है। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति संसार को प्रकाशित करता है।[8] एक बार पाप करने पर यह नहीं समझना चाहिए कि मैं सदा के लिए पापी हो गया, वरं निश्चय करना चाहिए कि पुनः

---

१. चुल्ल धम्मपाल जातक तथा धम्मपद दण्डवग्गो।
२. देखिए महाधम्मपाल जातक ४४७—
अनरियं परिवज्जेम सब्बं, तस्मा हि अम्हं दहर न मीयरे॥
३. धम्मपद बालवग्गो और पापवग्गो।
४. धम्मपद बालवग्गो, पापवग्गो और दण्डवग्गो।
५. धम्मपद बालवग्गो और पापवग्गो।
६. चुल्लनन्दिय जातक।
७. छवक जातक।
८. धम्मपद लोकवग्गो।

पाप नहीं करूँगा। शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितों का परित्याग करके सदाचारी बनना चाहिए।[1]

भिक्षु-संघ के लिए गौतम ने नियम बनाया—यदि तुम अपने पाप को देखते हो और उसके लिए यथोचित शोक करते हो तो हमें यह शोधन-पद्धति ठीक प्रतीत होती है। अभ्युदय का यह पथ विनय के अनुकूल है। पाप से भविष्य में बचने के संकल्प को गौतम ने प्रायश्चित्त माना।[2]

गौतम ने आर्य सत्यों का प्रकाशन करके भिक्षुओं के लिए अष्टांगिक मार्ग और दस शिक्षा-पद की व्यवस्था दी। इनमें से अष्टांगिक मार्ग प्रधानतः विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान करने के लिए है। इसके द्वारा जीवन-पद्धति का परिशोधन अवश्यम्भावी था। दस शिक्षा-पद रहन-सहन को समाज के लिए कल्याण-प्रद और व्यक्ति के लिए शान्तिमय बनाने के लिए हैं।[3] इस पद्धति पर चलने वालों का आचरण समाज के लिए आदर्श था। गौतम के अनुयायियों के जीवन में भोग-विलास को स्थान नहीं था। उनका जीवन प्रधानतः चिन्तन में बीतता था। इस प्रकार जो ज्ञान और चरित्र उन्हें प्राप्त होता था, उसके समक्ष दुःशीलता ठहर ही नहीं सकती थी।

मैत्री-भावना

बौद्ध संस्कृति की मैत्री-भावना साधक के लिए सारे संसार को ऐसा रूप दे देती है, जिसमें वह पूर्ण रूप से जगत् को कल्याणमय पाता है। मैत्री-भावना से मानव सुखपूर्वक सोता और जागता है, बुरे स्वप्न नहीं देखता, उसकी रक्षा देवता करते हैं; अग्नि, विष या अस्त्र-शस्त्र उसकी हानि नहीं करते और उसके मुख की कान्ति अच्छी रहती है। मरने के पश्चात् यदि उसे निर्वाण न मिले तो भी ब्रह्मलोक में वह अवश्य प्रतिष्ठित होता है।[4]

मैत्री-भावना से समायुक्त पुरुष संसार के सभी प्राणियों को सुखी और सानन्द

---

१. धम्मपद कोधवग्गो।

२. महावग्ग ९.१.८।

३. इसके अनुसार प्राणियों की हिंसा, न दिये हुए को ले लेना, अब्रह्मचर्य, झूठ बोलना, सुरापान, विकाल भोजन, नृत्य-गीत-माला-धारण आदि के द्वारा शरीर का अलंकरण, ऊँचा शयन रखना, सोने-चाँदी का ग्रहण आदि से विरत रहने का व्रत लिया जाता था।

४. अंगुत्तरनिकाय मेत्तसुत्त।

देखना चाहता है। चाहे वे चर-स्थावर, छोटे-बड़े, दृष्ट-अदृष्ट, दूर या पास हों। जिस प्रकार माता अपने पुत्र का पालन-पोषण और संरक्षण करती है, वैसे ही मानव को सभी जीवों के प्रति असीम प्रेमपूर्वक व्यवहार करने के लिए मैत्री अपेक्षित होती है।[1] मैत्री-भावना करने से मानव की अपनी भी रक्षा सम्भव होती है। मैत्री-भावना करने वाले बोधिसत्त्व और उनके साथियों को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत राजा के द्वारा प्रवर्तित हाथियों ने उन्हें नहीं कुचला, क्योंकि हाथी बोधिसत्त्व से प्रभावित थे।[2]

अहिंसा

बौद्ध संस्कृति की अहिंसा वैदिक संस्कृति की अहिंसा से सूक्ष्मतर है। इसके अनुसार अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी किसी प्राणी का वध करना उचित नहीं है।[3] मानव अपने को ही नहीं औरों को भी हिंसा से विरत करे।[4] पशु-हिंसा के कारण मानवों में रोगों का प्रसार हुआ है। प्रारम्भ में इच्छा, भूख तथा वृद्धावस्था—ये ही तीन रोग थे, परन्तु पशु-हिंसा के कारण रोगों की संख्या बढ़कर ९८ हो गयी। गौतम का मत है कि यज्ञ में पशु-हिंसा की योजना कुछ स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी भूख शान्त करने के लिए चलायी थी। यज्ञ के नाम पर की गयी पशु-हिंसा प्रशंसनीय नहीं है। इस हिंसा से भी पाप होता है। यह धर्म नहीं अधर्म है।[5] यज्ञ में यदि किसी पशु की बलि दी जाती है तो परिणामस्वरूप याजक को असंख्य योनियों में अपना सिर कटवाना पड़ता है।[6]

इसमें सन्देह नहीं कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है और सभी सुख चाहते हैं। ऐसी दशा में अपने सुख की इच्छा से किसी दूसरे प्राणी की हिंसा करना उचित नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान मान कर न किसी को मारे, और न मरवाये।[7] गौतम ने अहिंसा के सिद्धान्त को पुनर्जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। जिस प्राणी को अपना भोजन बनाने

---

१. सुत्तनिपात मेत्तसुत्त तथा मतकभत्त जातक।
२. कुलावक जातक ३१।
३. धम्मपद निरयवग्गो।
४. धम्मपद लोकवग्गो।
५. बुद्धचर्या ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त।
६. मतकभत्त जातक।
७. धम्मपद दण्डवग्गो।

के लिए अथवा दण्ड देने के लिए कोई उद्यत होता है, सम्भव है, वही प्राणी अपने पूर्वजन्म में हिंसा करने वाले का निकट सम्बन्धी रहा हो।[1] जातक की कथाओं के अनुसार गौतम बुद्ध, आनन्द, सारिपुत्र और देवदत्त आदि अपने असंख्य पूर्वजन्मों में मानव, पशु-पक्षी और कीट-योनियों में जीवन बिता चुके थे।

गौतम के अनुसार यज्ञ में हिंसा करने वाले आर्य नहीं हैं। जो पुरुष किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही आर्य है।[2]

गौतम ने प्रभावोत्पादक शब्दों में काम, क्रोध और हिंसा सम्बन्धी भावों को मन से निकालने की सीख दी है। 'ये सर्वनाश कर देते हैं, हलाहल विष, विषैले सांप, बिजली या आग की भाँति भयंकर हैं। उनसे डरो। उनके पैदा होते ही उन्हें उखाड़ फेंको।'[3]

क्षमा

भिक्षुओं को अतिशय क्षमाशील होने की सीख देते हुए गौतम ने उन्हें ब्रह्मदत्त का इतिहास सुनाया है कि किस प्रकार उन्होंने क्षमाशील शत्रु के लिए उसका राज्य, सेना, रथ और कोष आदि लौटा दिया। अन्त में गौतम ने उपदेश दिया—शस्त्रास्त्र और मुकुट धारण करने वाले राजाओं में क्षमाशीलता और विजय इतनी मात्रा में पायी जाती है तो तुम्हें कितना विनयी और क्षमाशील होना चाहिए। तुमको तो अपनी सच्चरित्रता का प्रकाश विश्व के समक्ष इस प्रकार फैलाना चाहिए कि तुम विनयी और क्षमाशील प्रतीत हो और प्रकट हो कि तुमने इस सद्धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तों और नियमों को अपनाया है।[4]

गौतम के इतिहास के उपर्युक्त उल्लेख से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत की राजनीति में शस्त्र-प्रयोग के स्थान पर अहिंसा, क्षमा, विनय आदि के द्वारा अभीष्ट सफलता प्राप्त कर लेने की रीति रही है। आधुनिक युग में गाँधी जी के अहिंसा के राजनीति-क्षेत्र में प्रयोग प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं।

सद्भाव

गौतम ने जिस आचार-पद्धति का प्रचार किया, उस पर चलने वाले लोगों

---

१. सतपत्त जातक तथा सुवण्णहंस जातक।

२. धम्मपद धम्मट्ठ वग्गो।

३. सिगाल जातक १२४।

४. महावग्ग १०.२.२०।

को सम्भव है, सांसारिक भोग-विलास तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो सके, परन्तु चित्त की शान्ति तो मिल कर रहेगी। गौतम ने शिक्षा दी—मन में ऐसे विचार आने ही मत दो कि मुझको किसी ने गाली दी, किसी ने मारा, किसी ने पराजित किया अथवा लूट लिया। वैर का अन्त वैर से नहीं, अवैर से ही वैर का अन्त होता है। बदला लेकर वैर कैसे शान्त किया जा सकता है?[1] यही आचार-पद्धति बीसवीं शती में महात्मा गाँधी के सत्याग्रह रूप में प्रस्फुटित हुई दिखायी पड़ती है। गौतम ने कहा—क्रोध को अक्रोध से जीतो, बुराई को भलाई से जीतो और झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।[2] गाली देने वाले, थप्पड़ मारने वाले और अस्त्र-शस्त्र प्रहार करने वाले के ऊपर तुम्हारे चित्त में विकार नहीं आना चाहिए। उन्हें अप-शब्द नहीं कहना चाहिए। शत्रु के प्रति दया, मैत्री-भाव आदि होना चाहिए, क्रोध नहीं। शान्त और नम्र वही है, जो निन्दा सुन कर शान्त और नम्र रहे। तुम्हारे अंग काटने वालों के प्रति तुम्हें क्रोध न होना चाहिए।[3] गौतम ने ऐसे ही लोगों को अपना सच्चा अनुयायी माना है। अंग काटने वाले चोर और डाकुओं के प्रति मैत्री-भावना अहिंसा की सर्वोच्च साधना है।

सम्भव है, उपर्युक्त रीति से कुछ ही अत्याचारियों पर अच्छा प्रभाव पड़े, पर दण्ड या पीड़ा देकर अत्याचारियों का सुधार करना गौतम ने नहीं सिखाया। 'दुष्टों के प्रति तुम तो मैत्री-भावना रखो, वह सुधरे या न सुधरे। यदि वह ऐसे नहीं सुधरता तो सेर का सवा सेर मिल ही जायगा। तुम्हारे लिए स्वयं सवा सेर बनना उचित नहीं है।[4]

ज्ञान और आचार

गौतम ने व्यक्तित्व के विकास के लिए ज्ञान और आचार दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है। 'ज्ञान के द्वारा मानव यशस्वी होता है और सदाचार से शान्ति पाता है।[5] इन दोनों में आचार बढ़ कर है।' गौतम के अनुसार सदाचार से रहित

---

१. धम्मपद यमकवग्गो।

२. धम्मपद बुद्धवग्गो।

३. मज्झिमनिकाय ककचूपम सुत्तन्त। वास्तव में इस प्रकार की सद्भाव-सरिता में तत्कालीन सारा भारत अवगाहन कर रहा था। प्रायः इन्हीं शब्दों में इन विचारों को महाभारत में देखा जा सकता है।

४. महिस जातक।

५. सेतकेतु जातक ३७७।

ज्ञान व्यर्थ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चाण्डाल आदि सभी के सभी धर्म के अनुकूल आचरण के अपनाने से देवताओं के समान होते हैं।[१] ऐसी स्थिति में धनी और निर्धन, उच्च और नीच सभी आचार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते थे। गौतम के अनुसार आचार के द्वारा जन्मना चाण्डाल ब्राह्मण बन सकता था।[२]

अशोक की आचार-निष्ठा

गौतम की आचार-पद्धति को अशोक ने अपनी राजनीति का प्रमुख अंग माना। अशोक के शब्दों में उसकी राजनीति है—मैं प्रजा को धर्माचरण में प्रवृत्त करना ही यश और कीर्ति का द्वार मानता हूँ। सब लोग विपत्ति से दूर हो जायें। पाप ही एकमात्र विपत्ति है।[३] दास और सेवकों के साथ उचित व्यवहार करना माता-पिता की सेवा करना, मित्र-परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणों को दान देना और प्राणियों की हिंसा न करना धर्म है।[४] अशोक ने प्रजा को शिक्षा दी—चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान, ईर्ष्या—ये सब पाप के कारण हैं।[५] उसने लोगों को पशु-पक्षियों की हिंसा से विरत करने के लिए नियम बनाये। उसने प्राणिमात्र को सुख पहुँचाने के लिए सड़कों पर छाया देने वाले पेड़ लगवाये। आम्र-वृक्ष की वाटिकाएँ लगवाईं, सड़कों पर आध-आध कोस पर कुएँ खुदवाये, यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ बनवाईं तथा पशुओं और मनुष्यों के लिए पौंसले बनवाये।

अशोक ने कहा—धर्म की उन्नति और आचरण इसी में है कि दान, सत्य, पवित्रता तथा मृदुता लोगों में बढ़े। उसने इच्छा प्रकट की—दीन-दुखियों के साथ तथा दास और नौकरों के साथ उचित व्यवहार होना चाहिए।[६]

बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा में बोधिसत्त्व के आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रधान रूप से की गयी है। इसके अनुसार जैसे गौतम बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में बोधिसत्त्व होकर अपने उच्च आचरण के द्वारा विश्व के सभी चराचर का कल्याण करते रहे, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को संसार के सभी प्राणियों का उपकार करते

---

१. सीलवीमंस जातक।
२. धम्मपद ब्राह्मणवग्गो।
३. दशम शिलालेख।
४. एकादश शिलालेख।
५. तृतीय शिलालेख।
६. सप्तम स्तम्भलेख।

हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करना है और बुद्ध की भाँति ही सभी प्राणियों को निर्वाण-पथ पर अग्रसर करना है।

जैन आचार

जैन दर्शन के अनुसार संसार में सर्वत्र जीव ही जीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, लता आदि स्थावरों में एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके अतिरिक्त दो से पाँच इन्द्रिय वाले जीव क्रमशः कीड़े-मकोड़े, चींटी-खटमल, मच्छर-मक्खी और मानव-देव हैं। नियम बनाया गया कि इन सभी जीवों को कम से कम हानि तथा अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना प्रथम कर्तव्य है।[1] उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि जैन अहिंसा की प्रवृत्ति अतिशय सूक्ष्म है।

महावीर ने स्पष्ट शब्दों में बताया—धन संग्रह मत करो। धनी मनुष्य संसार-सागर के पार नहीं जा सकता। किसी को कष्ट न दो। तुम्हारे ही समान अत्याचार से पीड़ित होना सबको खलता है।[2] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा के द्वारा मोक्ष सुलभ है। मुनियों के लिए ये महाव्रत हैं।[3]

जैन आचार की यही प्रारम्भिक रूप-रेखा थी। इसका परिपालन संन्यासियों के लिए भले ही कठिन न रहा हो पर साधारण गृहस्थों के लिए प्रायः असम्भव है। परवर्ती युग में गृहस्थों के लिए सुविधा दी गई कि वे यथासम्भव इन व्रतों का पालन करें। यथाशक्य व्रत-पालन को अणु-व्रत कहा गया।[4] जैन मुनियों की आचार-पद्धति का विकास महावीर के आदर्शों को लेकर हुआ और मुनियों के आचार को सुगम रूप देकर गृहस्थों की आचार-पद्धति का निर्माण हुआ।

पंच भावना

महाव्रत या अणुव्रत के सम्बन्ध में पाँच भावनाओं का विधान प्रस्तुत किया गया, यथा—अहिंसा का परिपालन करने के लिए सदैव जागरूक रहना चाहिए कि कहीं वचन के द्वारा किसी की हानि तो नहीं हुई। कम बोलना ही अच्छा है। मन में किसी प्राणी की हिंसा की बात नहीं आनी चाहिए। चलते समय इतना साव-धान रहना चाहिए कि कहीं किसी प्राणी की हिंसा न हो। किसी वस्तु को उठाने

---

१. आचारांग सूत्र १.७.६१।
२. आचारांग सूत्र १.५.५.४।
३. आचारांग सूत्र ७.१-२।
४. तत्त्वार्थ सूत्र ७.१.२, २०।

और रखने में सावधानी न रखने से हिंसा हो सकती है। भोजन और पान में हिंसा की अधिक सम्भावना रहती है। बहुत देख-भाल कर खाना चाहिए।[१] सत्य का अनुष्ठान तभी हो सकता है जब क्रोध, लोभ, भीरुता तथा हास्य का परित्याग करके केवल शास्त्रानुकूल वचन बोले जायँ। अस्तेय के लिए निर्जन स्थानों में रहना परित्यक्त स्थानों में रहना, दूसरों के द्वारा न अपनाये हुए स्थानों में रहना, शुद्ध भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करना, और साथियों से विवाद न करने का विधान था।[३] ब्रह्मचर्य की निष्ठा के लिए स्त्रियों के प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाली कथायें उनके मनोरम स्वरूप का दर्शन, पहले के भोगों का स्मरण, भोग-विलासों के प्रति उत्तेजित करने वाले रस और अपने शरीर के अलंकरण का परित्याग कर देना चाहिए।[४] परिग्रह से बचने के लिए किसी वस्तु को सुन्दर मानना, किसी को असुन्दर मानना आदि भावनाओं को मन से निकाल देना चाहिए तथा इन्द्रिय के विषयों को तथा राग-द्वेष को छोड़ देना चाहिए।[५]

भावनाओं के साथ हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि के कारण मानव-लोक और परलोक में जो दुर्दशाएँ सम्भव होती हैं, उनका विचार करना चाहिए। सोचना चाहिए कि ये सभी दुःख ही हैं। उनसे बचने के लिए सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणवान् व्यक्तियों के प्रति प्रमोद, कष्ट सहने वालों के प्रति कारुण्य तथा, दुर्विनीत लोगों के प्रति सहिष्णुता का संवर्धन करना चाहिए। संसार की गति तथा शरीर के स्वभावों का अनुशीलन करने से हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि से विराग होना स्वाभाविक है।[६] मन में दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि उपर्युक्त व्रतों का पालन करने वाला व्यक्ति निःशल्य (सर्वथा सुखी) होता है।

पुण्य-पाप

पुण्य और पाप का विवेचन जैन आचार-शास्त्र के अनुसार स्पष्ट है। सद्वेद्य (आनन्द देने वाले), शुभ आयु को प्रदान करने वाले, शुभ यश देने वाले तथा शुभ गोत्र में जन्म के कारण-स्वरूप जो कार्य होते हैं, वे पुण्य हैं। इसके विपरीत कर्म

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७.४।
२. तत्त्वार्थ सूत्र ७.५।
३. तत्त्वार्थ सूत्र ७.६।
४. तत्त्वार्थ सूत्र ७.७।
५. तत्त्वार्थ सूत्र ७.८।
६. तत्त्वार्थ सूत्र ९.७-१२।
७. तत्त्वार्थ सूत्र ७.१८।

पाप हैं।[1] जिसका परिणाम शुभ हो, वह पुण्य है और जिसका परिणाम अशुभ हो वही पाप है।[2] सभी प्राणियों पर दया अपने साथियों पर अनुकम्पा, दान, संयम, योग, क्षमा और शौच सद्वेद्य हैं।[3] मानव पुण्य-कर्मों के द्वारा ही उच्च कुल में जन्म पाकर तीर्थंकर बन सकता है। ऐसे पुण्य-कर्मों में प्रमुख हैं—विनय-सम्पन्नता, शील-व्रत का परिपालन, यथाशक्ति त्याग, तप आदि। उच्च कुल में जन्म पाने के लिए पर-प्रशंसा, आत्मनिन्दा, दूसरों के अच्छे गुणों का प्रचार, विनय और निरभिमानिता आवश्यक हैं। शुद्ध मन, वचन और कर्म के द्वारा सदाचरण से शुभ यश मिल सकता है।[4] दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदना आदि के लिए कारण बनना पाप है। पुण्य-कर्मों से आत्मा पर शुभ और पाप कर्मों से अशुभ संस्कार पड़ते हैं।[5]

जैन विचार धारा के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेने वाला व्यक्ति केवल अपना ही संरक्षक नहीं होता, अपितु चराचर सभी प्राणियों को अभ्यु-दय-पथ पर अग्रसर करने के लिए वह प्रयत्नशील बन जाता है।[6]

दुराचार को रोकने के लिए पाप कर्मों के द्वारा नरक की भयावह यातनाओं के सहने का सांगोपांग वर्णन उपयोगी रहा है। सदाचार से प्राप्य स्वर्ग के अनुपम सुखों की कल्पना मनोरम रही है।[7] इस दृष्टि से जैन पुराण, हिन्दू पुराणों के प्रायः समान ही सदाचार के प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं।

ग्यारहवीं शती में आचार्य अमितगति ने वण-व्यवस्था का आधार आचार को माना। उनके अनुसार सत्य, शौच, तप, शील ध्यान और स्वाध्याय से रहित कोई व्यक्ति किसी जाति का अधिकारी नहीं हो सकता। जातियों का भेद आचार-मात्र से है। जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण हों, उसी की जाति ऊँची है। नीच जाति में उत्पन्न होकर भी शीलवान् व्यक्ति स्वर्ग में गये हैं और संयम और शीलरहित व्यक्ति कुलीन होते हुए भी नरक में पहुँचे हैं।[8] आचार्यों के द्वारा आचार की इस प्रकार प्रतिष्ठा होने पर समाज स्वभावतः सदाचार को अपनाता है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ८.२५।
२. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय १.३२।
३. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.१२।
४. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.२३-२६।
५. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.३, ११।
६. उत्तराध्ययन सूत्र २०.३५।
७. जिनसेनाचार्यकृत महापुराण १०.१८-२६; ३७.१९१-२००; ३८.३१।
८. धर्मपरीक्षा परि० १७

जैन आचार की अहिंसा, सत्य आदि आपत्काल में अपवादस्वरूप परिहार्य हैं। शरीर की रक्षा के लिए कोई भी व्रत तोड़ा जा सकता है, क्योंकि यदि शरीर रहेगा तो प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः शुद्धि करके धर्म की साधना हो सकती है। कभी-कभी राजाओं और मन्त्रियों के कुचक्रों से सन्तप्त होने पर शान्तिमय उपायों की विफलता से निराश होकर श्रमण-संघ उनको दण्ड देना अपना कर्तव्य मानता था। विपरीत बुद्धि वाले राजा का प्रतिकार करना धर्मसंगत हो जाता है। ऐसे संघ के नेताओं में कालकाचार्य प्रसिद्ध हैं। अत्याचारियों से संघ की रक्षा करने में प्राण दे देना सद्यः मुक्तिप्रद है। आवश्यक हिंसा ऐसी स्थिति में पाप के स्थान पर पुण्य का साधन होती है। बौद्ध आचार-शास्त्र जिस विषम परिस्थिति में मैत्री-भाव का आदेश देता है और प्राणों की चिन्ता न करने की सीख देता है, उसी परिस्थिति में जैन आचार-शास्त्र अत्याचारी की हिंसा का हिंसा से ही वीरतापूर्वक उत्तर देने की सीख देता है।

जैन आचार के कुछ सिद्धान्त साधारण बुद्धि से परे हैं। यदि कहीं प्राणिहिंसा करके दान देने का आयोजन किया जाता हो तो जैन मुनि को वहाँ चुपचाप रहना चाहिए, क्योंकि यदि वहाँ मुनि हिंसा न करने की सीख देता है तो जिसको दान देना है, उसकी क्षति होगी और यदि कहीं हिंसा की अनुमति देता है तो पाप होगा। बस, ऐसी स्थिति में चुप रहने से निर्वाण मिलेगा। ऐसे सिद्धान्तों की सर्वत्र और सदा प्रतिष्ठा न हो सकी।

आचार-प्रशंसा

उच्चादर्श

भारतीय आचार की उच्चता के प्रमाण तत्कालीन विदेशी लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं। स्ट्राबो के अनुसार भारतीय इतने सच्चे हैं कि उन्हें घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और न अपने लेन-देन और व्यवहारों में लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है।[1] एरियन के अनुसार कोई भी भारतवासी असत्य नहीं बोलता था।[2] चौथी शती में जारडैनस ने प्रमाणित किया है कि भारतवासी सत्यवादी हैं और न्याय के क्षेत्र में निष्कपट हैं।[3]

फाह्यान ने भारतीय लोकोपकार की भावना का निरूपण करते हुए लिखा है—रथयात्रा के अवसर पर जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदाव्रत और

---

१. *Strabo Lib (Xv) p.* 488 (*ed.* 1587).

२. *Tndica Chap XII.* 6.

३. *Marcopolo, ed. H. Yule. Vol. II p.* 354.

औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले-लँगड़े और रोगी इस स्थान पर जाते हैं। उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। रोगी अनूकूल पथ्य और औषध पाते हैं और अच्छे होकर लौट जाते हैं।[१]

ह्वेनसांग ने भारतवासियों के सम्बन्ध में लिखा है—वे स्वभावतः शीघ्रता करने वाले और अनाग्रह बुद्धि के होते हैं। उनके जीवन के सिद्धान्त पवित्र और सच्चरित्रतापूर्ण हैं। किसी भी वस्तु को वे अन्याय्य विधि से नहीं ग्रहण करते और औचित्य से अधिक त्याग करने के लिए तत्पर रहते हैं। भारतवासियों का विश्वास है कि पापों का फल भावी जीवन में मिल कर रहता है। वे इस जीवन के भोगों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। वे धोखा-धड़ी नहीं जानते और अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहते हैं।[२]

ह्वेनसांग ने आगे चल कर पुनः लिखा है—सारे भारत में असंख्य पुण्यशालाएँ हैं, जिनमें दीन-दुःखी लोगों को सहायता दी जाती है। शालाओं में औषध और भोजन वितरित किये जाते हैं, यात्रियों की सब प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं और उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं रहती है।[३]

ग्यारहवीं शती के भूगोल-शास्त्र-वेत्ता इद्रीसी ने भारतवासियों की लोकप्रियता के कारण का निरूपण करते हुए लिखा है कि भारतीय लोग न्याय-प्रिय हैं। वे कर्तव्य-पथ में अन्याय नहीं अपनाते हैं। वे अपनी श्रद्धा सच्चाई और प्रतिज्ञा-पालन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।[४] तेरहवीं शती में शमसुद्दीन अबू अब्दुल्लाह ने भारतीय सच्चरित्रता का उल्लेख करते हुए बतलाया है—भारतवासी बालू के कण की भाँति असंख्य हैं। धोखा-धड़ी तथा हिंसा से मानो उन्हें परिचय ही नहीं है। वे मृत्यु से और जीवन से भी नहीं डरते।[५]

---

१. फाह्यान यात्रा-विवरण पृ० ६१।

२. *Watters Vol. I p.* 171.

३. *Watters Vol. I p.* 287-288.

४. *Elliot's History of India Vol. I p.* 88.

५. *Maxmuller's India : What Can It Teach Us ? p.* 275.

अध्याय १३

राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय

मानवीय संस्कृति की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष हैं। इनके प्रवर्तन के लिये समाज में समुचित वातावरण की व्यवस्था होना आवश्यक है। इस दिशा में समाज का संघटन करने का उत्तरदायित्व सदा से राजा तथा उच्चकोटि के विचारकों और आचार्यों पर रहा है।[1] विचारक और आचार्य समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिए योजनायें बनाते आये हैं और राजा उन योजनाओं को कार्य-रूप में परिणत कराने के लिये सूत्रधार रहा है। समाज-संघटन की योजना के अन्तर्गत राजा और प्रजा का जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह राजनीतिक जीवन का प्रथम रूप है। समाज में उपर्युक्त योजना के लिये संवर्धनमयी परिस्थितियों की प्रतिष्ठा करना तथा विपरीत परिस्थितियों का उन्मूलन करना राजनीति का उद्देश्य है। साधारणतः मानव को सांस्कृतिक तत्त्व के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सन्तुलित मात्रा को जीवन में सम्पादित करने की प्रेरणा मिलती है पर सदा ही समाज में कुछ ऐसे लोग रहे हैं, जो इस विकासमयी पद्धति पर न चलकर केवल अपने ही लिये नहीं, अपितु पूरे समाज के लिये अभिशाप होकर रहते हैं। ऐसे लोगों को सत्पथ पर लाने के लिये अथवा असत्प्रवृत्तियों से विरत करने के लिये राजदण्ड की आवश्यकता पड़ती है। राजदण्ड राजकीय सत्ता का प्रतीक है। इन प्रवृत्तियों से राजपद के उच्च आदर्शों का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त राजपद से सम्बद्ध कुछ ऐसी बातें हैं, जो इनके गौरव को निःसन्देह कम कर देती हैं। राजा के जीवन में भोग-विलास की अतिशयता दिग्विजय की लालसा से असंख्य

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५.४.४.५ के अनुसार राजा और श्रोत्रिय धर्म के पालक हैं। यह कथन उपर्युक्त शाश्वत विचारधारा की पुष्टि करता है। महाभारत के अनुसार त्रिवर्ग की उत्पत्ति दण्ड से होती है। शान्ति ५९.३१। अशोक ने सप्तम स्तम्भ लेख में इसका विवेचन इस प्रकार किया है—ये अतिकंतं अंतलाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने धंमवढिया वढेया अर्थात् भूतकालीन राजाओं ने इच्छा की है कि कैसे लोगों में धर्म-वृद्धि हो।

निरीह प्राणियों के प्राण संकट में डालना, अपने पद के ऐश्वर्य को सर्वोपरि बनाने के लिये प्रजा से अधिकाधिक धन येन-केन प्रकारेण प्राप्त करना आदि राजनीतिक दूषण रहे हैं। प्राचीन भारत में उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर प्रजा की सेवा करने वाले राजाओं की अधिकता रही है। प्रजा ने उन्हें पिता और देवता माना। पर ऐसे राजाओं का भी सर्वथा अभाव नहीं रहा, जिन की दिनचर्या में शुभ कर्मों को केवल कभी-कभी ही स्थान मिल पाता था। ऐसे राजाओं के कुचक्र से प्रजा का पथ-भ्रष्ट होना स्वाभाविक था। उनकी नीति से अशान्ति का प्रादुर्भाव होता था। दुष्ट राजाओं का अन्त करना अन्य अच्छे राजाओं की नीति का प्रधान अंग रहा।

राजकर्म की परिधि

राजत्व की प्रतिष्ठा ऋग्वैदिक काल में भली-भाँति हो चुकी थी। उस युग में वरुण और इन्द्र सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित थे।[१] इन दोनों के चरित में तत्कालीन राजकर्म की रूप-रेखा का परिचय प्राप्त होता है। सम्राट् वरुण के आदर्श पर प्रजा के कल्याण के लिये प्रयत्न करना[२], पापियों और अपराधियों को क्षमा करना[३] लोगों को विपत्तियों से बचाना, नेतृत्व करना, दूर तक देखना[४], शासन-विधान की प्रतिष्ठा करना[५], मानवों का अभ्युदय करना[६], अपने शासन में सबको सौभाग्यशाली बनाना[७], प्रजा के जीवन से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना[८], पापियों को दण्ड देना, प्रजा के शत्रुओं को दूर भगाना[९], चोरों से प्रजा की रक्षा करना[१०], ऋत की प्रतिष्ठा करना[११] आदि राजकर्म की परिधि में आते थे। वरुण का राजकर्म शान्ति-

---

१. ऋग्वेद १.२५.२०। ऋग्वेद १.१७.१ के अनुसार इन सम्राटों से रक्षा वरण की जाती है। वे चर्षणी के धर्ता हैं।

२. वही ५.८५.३।

३. वही ५.८५.७-८।

४. वही १.२५.५।

५. वही १.२५.१०।

६. वही १.२५.१५।

७. ऋग्वेद २.२८.२।

८. वही २.२८.६।

९. वही २.२८.७।

१०. वही २.२८.१०।

११. वही ८.६।

युगीन है। राजा के युद्धयुगीन कर्म इन्द्र के कार्यकलाप में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रजा की रक्षा करने के लिए शत्रुओं से युद्ध करना, पापियों को मार डालना, दस्युओं को जीतकर आर्यों को भूमि का स्वामी बनाना आदि देवताओं के राजा इन्द्र के कार्य हैं। इन्द्र और वरुण के कर्म के समान राजा के कर्म की परिधि होने का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। राजा त्रसदस्यु ने अपने सम्बन्ध में कहा है—मैं प्रजा का राजा हूँ, वरुण हूँ, देवता वरुण के कामों का कर्त्ता मुझे बताते हैं; देवताओं ने मुझे असुरों का नाश करने वाली शक्तियाँ प्रदान की हैं। मैं इन्द्र और वरुण हूँ मैं धनवान् इन्द्र होकर युद्ध करता हूँ।[1] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार राजा के द्वारा मनुष्य विधृत होते हैं।[2]

परवर्ती वैदिक काल में राजकर्म की परिधि बढ़ी। राजा के लिए अभिषेक के अवसर पर अतिकर्मण्य श्रेयोविधायक और अतिशायी के सम्बोधनों द्वारा सिद्ध होता है कि प्रजा के अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना उसका कर्तव्य था।[3] राजा, उसके भाई सूत, ग्रामणी आदि अधिकारियों में उच्चतर व्यक्तियों के प्रति सम्मान-भाव की प्रतिष्ठा करवाना राजा का उत्तरदायित्व था।[4] अभिषेक के समय प्रजा राजा से आशा करती थी कि जिस प्रकार वर्षा से प्रजा का भरण-पोषण होता है, उसी प्रकार राजा के प्रयत्नों से भी हमारा संरक्षण और पोषण हो।[5] शतपथ ब्राह्मण में राजा को राष्ट्रभृत् (राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाला) उपाधि दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा का काम सूर्य की भाँति तपना है। उसका राष्ट्र उग्र (सुव्यवस्थित) होना चाहिए था। राष्ट्र में किसी प्रकार का आन्दोलन नहीं होना चाहिये था।[7] राष्ट्र को समृद्ध बनाने के लिए राजा आयोजन करता

---

१. वही ४.४२। उपर्युक्त विचारधारा का परिचय शतपथ ब्राह्मण ५.४.४. १०—१२ में भी मिलता है, जिसके अनुसार अभिषेक के अवसर पर उसे वरुण और इन्द्र संज्ञाएं दी जाती थीं। महाभारत शान्तिपर्व ९२.४१ के अनुसार 'सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयत' तथा ९२.५२ के अनुसार 'एतद्वृत्तं वासवस्य, यमस्य वरुणस्य च तत्कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम्।'

२. तस्माद्राज्ञा मनुष्या विधृताः। तै० सं० २.६.२.२।

३. बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेति य एवन्नामा भवति... शत० ५.४.४.१४।

४. वही ५.४.४.१६—१९।

५. शतपथ ९.३.३.११।

७. ऐतरेय ब्राह्मण ७.३४।

था।[1] वह प्रजा का त्राण करता था।[2] राजा ब्रह्म का संरक्षण और धर्म की रक्षा करता था।[3]

परवर्ती बौद्ध साहित्य के अनुसार महाराज सुदस्सन प्रजा से कहता था—जीव नहीं मारना चाहिए। चोरी नहीं करनी चाहिए। काम में पड़कर दुराचार नहीं करना चाहिए। मिथ्या-भाषण और मदिरा से बचो।[4]

राजा के द्वारा बौद्ध धर्मानुयायियों के रहने के लिए विहार बनवाने के उल्लेख मिलते हैं। दीन-दुःखियों और भिखमंगों को राजा की ओर से सदाव्रत रूप में दान दिया जाता था।[5] कुछ राजाओं ने प्रजा को सदाचारी बनाने के लिए योजनायें कार्यान्वित की हैं। बोधिसत्त्व ने राजा होने पर घोषणा करवा दी कि हमारे राज्य में जितने दुराचारी हैं, उन सबका बलिदान होगा। बस उसी समय से सभी सत्पथ पर प्रवृत्त हो गये।[6] राजाओं की आज्ञायें संभवतः शासन-पत्र के रूप में होती थीं। जो उनकी आज्ञायें नहीं मानते थे उन्हें राजा दण्ड देता था।[7] राजा धर्म से राज्य करते थे और अमात्य धर्म से ही न्याय करते थे।[8] राजा का पुरोहितामात्य अर्थ-धर्मानुशासक होता था। वह आर्थिक और धार्मिक अभ्युदय की योजनाओं को कार्यान्वित कराता था।[9]

राष्ट्र को सुखी और समृद्धिशाली बनाने के उद्देश्य से राजा के लिए धर्म करना आवश्यक माना जाता था। इस प्रसंग का निदर्शन नीचे लिखी गाथा में है:—

सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको। राजोवादजातक ३३४ राजा वैश्य को वाणिज्य, कृषि और पशु-पालन की और क्षत्रिय को भक्त-वेतन की सुविधा प्रदान करता था। गृहस्थ पुत्रों को गोद में नचाते थे।[10]

---

१. वही ८.९ से। २. वही ११ से।

३. वही ८.१२ में इन्द्र के अभिषेक के अवसर पर कहा गया है—ब्रह्मणो गोप्ताजनि, धर्मस्य गोप्ताजनि। शतपथ ५.३.३.९ के अनुसार राजा वरुण की भाँति धर्मपति है।

४. दीर्घनिकाय, महासुदस्सनसुत्त २.४।

५. महासीलव जातक ५१।

६. दुम्मेध जातक ५०।

७. तेलपत्त जातक ९६।

८. राजोवाद जातक।

९. पुण्णनदी जातक २१४, पुटभत्त जातक २२३, पादाञ्जली जातक २४७।

१०. दीघनिकाय १—५ से

परवर्ती सूत्र—युग में राजकर्म का स्पष्ट विवेचन मिलता है। इसके अनुसार राजा का काम था—सभी प्राणियों की रक्षा करना, उचित दण्ड देना, सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों को शास्त्रानुकूल सत्पथ पर चलने के लिए समुचित वातावरण बनाना और यदि कहीं कोई अपने कर्त्तव्य-पथ से च्युत हुआ तो उसका उत्थान करना।[1] इनके अतिरिक्त राजा दीन विद्यार्थियों, ब्राह्मणों, श्रोत्रियों तथा श्रम करने में असमर्थ लोगों का भरण-पोषण करता था।[2]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार राजा देखता था कि वनों और गाँवों में चोरों का उपद्रव नहीं होता। वह ब्राह्मणों को धन और क्षेत्र देता था और प्रजा की रक्षा के लिए गाँवों और नगरों में राजकर्मचारी नियुक्त करता था। वे चोरी गई हुई वस्तुओं को उनके स्वामी को दिलाते थे। राजा अपराधों और पापों के लिए समुचित दंड की व्यवस्था करता था।

महाभारत-युग में राजकर्म में दण्ड को प्रधानता मिली। इसके अनुसार दण्ड ही समस्त प्रजा का शासन और उसकी रक्षा करता है, दण्ड से धर्म, अर्थ और काम की रक्षा होती है और वह धन-धान्य की रक्षा करता है। पापी दण्ड के भय से पाप नहीं करते। इसके बिना संसार के सभी प्राणी घोरान्धकार में गिरते हैं।[3] वास्तव में दण्ड का राजकर्म में अतिशय महत्त्व है। इस ग्रन्थ में राजधर्म की चर्चा करते हुए आगे बताया गया है कि राजा दुष्टों का दमन करे, साधुओं की रक्षा करे, प्रजा को सत्पथ पर चलाये और उनके साथ धर्मानुसार व्यवहार करे।[4] इसकी सिद्धि के लिये दण्ड प्रमुख साधन माना जा सकता है। राजकर्म की संक्षिप्त रूप-रेखा इन शब्दों में व्यक्त की गई है—

> यज देहि प्रजां रक्ष, धर्मं समनुपालय।
> अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय॥शान्ति पर्व १५.५३॥

(यज्ञ करना, दान देना, प्रजा-पालन, धर्माचरण, शत्रु-संहार, मित्र-रक्षण राजा के कर्त्तव्य हैं)।

---

१. गौतम ११.९–१०, वसिष्ठ १९.१—२; १९.७–८; विष्णुधर्मसूत्र .२–३ तथा महाभारत शान्तिपर्व २५.३२–३४।

२. गौतम १०.४३।

३. शान्तिपर्व १५वें अध्याय से। अर्थशास्त्र १.४ में 'सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति' इसी विचारधारा का प्रतीक है।

४. शान्ति पर्व २१. १३–१४।

महाभारत के अनुसार धर्म राजमूल है। इस प्रसंग में धर्म वह तत्त्व है, जिससे मानव एक दूसरे का विनाश नहीं कर पाते। तत्कालीन धारणा के अनुसार प्रजा राजा के भय से ही परस्पर भक्षण नहीं कर पाती। राजा धर्मपूर्वक अखिल लोक की आराधना करके स्वयं विराजमान होता है।[1] इस उद्देश्य से 'राजा गुल्म, प्रणिधि, चार, अमात्य आदि रखता था। राजा विशाल राजमार्ग बनवाता था। वह नागरिकों की रक्षा के लिये औषधियों का संचय करता था और चतुर वैद्यों को नियुक्त करता था। उसके द्वारा नियुक्त नर्तक, मल्ल तथा मायावी लोग नागरिकों का मनोरंजन करते थे। दुर्बल लोगों को बाँट कर वह खाता था। राजा दस्युओं से राष्ट्र की रक्षा करता था। वह पाप करने वालों को प्रिय होने पर भी दण्ड देता था, यात्रियों की रक्षा पुत्र की भाँति करता था, कृपण, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोछता था, प्रजा को हर्षित करता था तथा मित्रों का संवर्धन, शत्रुओं का क्षय और साधुओं की पूजा करता था।'[2]

महाभारत में युधिष्ठिर के विषय में कहा गया है—

> दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः।
> आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ॥शान्ति पर्व ४२.११॥
> एष वृद्धाननाथांश्च पंगूनन्धांश्च मानवान्।
> पुत्रवत् पालयमास प्रजाधर्मेण वै विभुः ॥विराटपर्व ७०.२४॥

विराटपर्व के अनुसार युधिष्ठिर ८८,००० स्नातकों को जीविका प्रदान करता था।[3]

राष्ट्र के औद्योगिक अभ्युदय में राजा का प्रधान हाथ होता था। कृषि का संवर्धन करने के लिये वह किसानों की सब प्रकार की सहायता करता था।[4] वह व्यापार-संवर्धन के लिये अनेक प्रकार की योजनायें कार्यान्वित करता था।[5]

राजा का कर्त्तव्य था कि वह चारों वर्णों और आश्रमों के आचार की रक्षा करे और नष्ट होते हुये धर्म (न्याय) की स्थापना करे।[6] यदि प्रव्रज्या लिये हुये

---

१. शान्तिपर्व ६८.८९
२. वही ६९वें अध्याय से
३. विराट पर्व ६५.१६
४. सभापर्व ५.६८–६९
५. शान्तिपर्व ८८.३५–३८
६. चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचार-रक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः ॥अर्थशास्त्र ३.१ से

संन्यासी भी मिथ्याचारी हों तो राजा दण्ड देकर उन्हें सत्पथ पर ले आये।[1] राजा युग का प्रवर्त्तक होता है। 'राजा कालस्य कारणम्' है[2] और साथ ही युग निर्माता है। यथा

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥ शान्तिपर्व ६९.९८॥

राजा परीक्षित के विषय में कहा गया है—

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत ॥ आदिपर्व ४५.७॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु।
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वनुष्ठिताः॥आदिपर्व ४५.९॥

उसके द्वारा चारों वर्णों के लोग अपने कर्म में प्रतिष्ठापित किये गये थे।)

विधवानाथकृपणान् विकलांश्च बभार सः।
सुदर्शः सर्वभूतानामासीत् सोम इवापरः॥ आदिपर्व ४५.१०॥

वह सभी विधवा, अनाथ आदि का पोषक था।

अर्थशास्त्र में राजकार्य की विशद व्याख्या मिलती है। इसके अनुसार राजा सतत जागरूक और प्रयत्नशील रहकर योग-क्षेम का साधन करता था और कार्यानुशासन से प्रजा को स्वधर्म में प्रतिष्ठित करता था। प्रजा को धन-धान्य सम्पन्न बनाकर तथा उनका उपकार करके वह लोकप्रिय बन जाता था। राजा का प्रधान काम था समुचित दण्ड-विधान। तत्कालीन धारणा के अनुसार—

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥अर्थशास्त्र १.४.१९॥

(चारों वर्ण और आश्रमों के लोग राजा के द्वारा दण्ड से पालित होने पर अपने कर्म में अभिरत होकर अपने पथ पर चलते रहते हैं।)

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा के द्वारा किये जाने वाले लोकहितकारी कार्यों की संख्या बहुत बड़ी थी। वह नये गाँव बसाता था, जिसमें परदेशी या घने क्षेत्रों से उजड़े हुये लोग बसते थे। वह ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि को ब्रह्मदेय भूमि प्रदान करता था, जलाशय बनवाता था, बाल, वृद्ध, व्याधि-विपत्तिग्रस्त तथा अनाथ लोगों का भरण-पोषण करता था, अनाथ-गर्भवती स्त्रियों और उनके

---

१. प्रव्रज्यासु वृथाचारान्राजा दण्डेन वारयेत्॥वही ३.१६ से
२. शान्तिपर्व ६९.८०।

शिशुओं का पालन करता था, वह चोर और वन्य पशुओं से कृषि की रक्षा करता था, वणिक्पथ को सर्वदा सुरक्षित रखता था और पशुओं के रोगों की रोकथाम करवाता था।[1] निर्जन अकृष्य भूमि को विकसित करने के लिये राजा उसे गोचर, तपोवन आदि बना देता था और वन की वस्तुओं को उपयोग में लेने की योजनायें कार्यान्वित करता था।[2] वह व्यापार के लिये बहुविध सुविधायें प्रस्तुत करता था।[3] उस के द्वारा नियुक्त सुवर्णाध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, सीताध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष आदि राष्ट्र में विविध उद्योग-धन्धों की उन्नति करने में प्रजा के साथ सहयोग करते थे। राजा प्रजापीडकों से प्रजा की रक्षा करता था।[4] इसके अतिरिक्त राष्ट्र में शान्ति और सुव्यवस्था के लिये राजा के द्वारा समर्थ सेना रखी जाती थी और समुचित दण्ड-विधान के लिये न्यायालयों का प्रबन्ध होता था।

मनु के अनुसार राजा राज्य के आर्थिक विकास का आयोजन करता था। वह व्यापारियों के द्वारा ठगे जाने से प्रजा को बचाता था। सभी व्यापारीय वस्तुओं के मूल्य राजा की ओर से निश्चित कर दिये जाते थे और माप-तोल को शुद्ध बनाने के लिये उनका परीक्षण होता था। प्रति छः मास पर माप-तोल का परिशोधन कराया जाता था। राज्य की ओर से व्यावसायिकों और श्रमिकों की देख-माल की जाती थी।[5]

वैदिक और पौराणिक साहित्य में असंख्य राजाओं के कामों की रूपरेखा निरूपित की गई है। निःसन्देह अच्छे राजाओं की चारु चरितावली को ही साहित्य में प्रायः स्थान मिलता है। बुरे राजा तो प्रतिद्वन्द्वी रूप में कहीं-कहीं स्थान पाते रहे हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति की उदात्त प्रवृत्तियों से राजा प्रायः प्रभावित रहे हैं और उन्होंने अपने पारलौकिक अभ्युदय के लिये तथा प्रजा के परिपालन के लिये श्रेयस्कर प्रयत्न किये।

ग्रीक लेखकों के अनुसार मौर्यकालीन शासन के द्वारा नगर में उद्योग-धन्धों

---

१. अर्थशास्त्र २.१।

२. वही २.२।

३. वही २.१६।

४. अर्थ ४.४–५।

५. मनुस्मृति ७.१४–२१; २२–२४, ८०, ८२–८८, १४४.३.१३४–१३६, १४३; ९.३०९–३८६, ४०१–४०३.९२३६–२६०, ३०४, ३०९, ११ १८.२२ २३।

की उन्नति, विदेशियों की देख-भाल, जनसंख्या का परिगणन, व्यापार की व्यवस्था आदि का प्रबन्ध राजा की ओर से नियुक्त समितियों और सभासदों के द्वारा किया जाता था। राज्य के कुछ कर्मचारी नदियों का निरीक्षण और भूमि की माप करते थे। सभी किसानों को सुविधापूर्वक सिंचाई का जल प्राप्त कराने के लिये अधीक्षक नियुक्त होते थे, जो नहरों की देख-भाल करते थे।

पूर्ववर्ती युग में राजकर्म में धर्म की प्रतिष्ठा करना महत्त्वपूर्ण रहा पर धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करने का काम केवल कुछ ही राजाओं ने अपनाया था। यह काम साधारणतः ऋषियों और मुनियों के हाथ में था। परवर्ती युग में कुछ राजाओं ने धर्म का प्रचार करना प्रमुख कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया।[1] ऐसे राजाओं में अशोक का नाम सर्वोपरि है। धर्म के आचार सम्बन्धी उच्च सिद्धान्तों को अशोक ने स्तम्भों और शिलाओं पर लिखवा कर उन्हें अमर स्वरूप दिया। ऐसे धर्मशासन की रूप-रेखा अशोक के नीचे लिखे वाक्यों से हो सकती है—छोटे लोग भी उच्च कर्म से विपुल स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। माता-पिता तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा करना चाहिये। प्राणियों के प्रति गौरव-प्रदर्शन करना चाहिये, सत्य बोलना चाहिये, विद्यार्थी आचार्य की सेवा करें। अपने जाति के लोगों से सद्व्यवहार करना चाहिये। कोई प्राणी न तो मारा जाय और न प्राणिवध के द्वारा होम किया जाय। समाजोत्सव न किया जाय।' अशोक के द्वारा नियुक्त राजकर्मचारी परिभ्रमण करते हुये जनता के बीच घोषणा करते थे—जीव-हिंसा न करना साधु कर्म है। स्वल्प व्यय करना तथा स्वल्प संग्रह करना समीचीन है। उसने धार्मिक मनोरंजन भी जनता के लिये प्रस्तुत किया। जहाँ—कहीं कोई कष्ट में पड़ा कि धर्म-महामात्र नामक कर्मचारी उसकी सहायता के लिये जा पहुँचते थे। अशोक ने धर्म-यात्रा का प्रवर्तन किया। धर्म-यात्रा में ग्रामवासियों के पास जाकर उन्हें उपदेश देना प्रमुख काम था। धर्ममंगल के द्वारा अशोक ने दास और भृत्यों के प्रति सद् यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा, श्रमण-ब्राह्मणों के लिए दान आदि की प्रतिष्ठा की। उसने सभी धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया। अशोक ने धर्म के अनुसार प्रजा-पालन, धर्म के अनुसार काम करना, धर्म से सुख पाना और धर्म से रक्षा

---

१. अशोक के शब्दों में राजकर्म का यह अंग धर्मानुशासन या धर्मानुशिष्टि है। इसके द्वारा धर्माचरण अर्थात् सदाचार की समाज में प्रतिष्ठा होती है। देखिए चतुर्थ शिलालेख। अशोक की धर्म-प्रचार सम्बन्धी उत्सुकता के लिए देखिए टोपरा का सप्तम स्तम्भ लेख।

करना अपना कर्त्तव्य माना। उसने संघ के सुव्यवस्थित संचालन के लिये नियम बनवाये।[1]

सार्वजनिक उपयोग के लिये राजाओं के द्वारा किये हुये काम का आदर्श सुदर्शन-तडाग-सेतु-संस्कार सम्बन्धी शिलालेख में मिलता है। इस तडाग के निर्माण-कर्त्ताओं में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, महाक्षत्रप रुद्रदामन् तथा स्कन्दगुप्त के नाम अमर प्रतिष्ठा पा चुके हैं। सिंचाई के साधन प्रस्तुत करने की दिशा में खारवेल, राजा आदित्य सेन की महारानी, काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के मन्त्री सूर्य, परमार वंशी राजा वाक्पति मुंज, राजा भोज, करिकाल चोल, राजेन्द्र प्रथम आदि के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं।

दूसरी शती ईसवी पूर्व के कलिंग के सम्राट् खारवेल ने मनोयोगपूर्वक कलाओं का संवर्धन किया। प्रजा के लिये मनोविनोद की सामग्री प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उसने समाज, नृत्य, संगीत आदि का आयोजन किया। साधु-सन्तों को आश्रय देने के लिये उसने कुमारी-पर्वत में अनेक गुफाओं का निर्माण कराया। उसने मौर्य राजाओं की भाँति सिंचाई की व्यवस्था करने के लिये नहरें बनवाईं और पुरानी नहरों का नवीकरण करवाया। वह ब्राह्मणों को भरपूर दान देता था। उसने जैन धर्म के अभ्युदय के लिये अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया।[2]

फाह्यान के कथनानुसार गुप्तवंशीय राजाओं ने अनेक बौद्ध विहारों को भूमि-दान दिया। तत्कालीन शिलालेखों के अनुसार राजाओं ने ब्राह्मणों, विद्वानों, विद्यार्थियों और धार्मिक संस्थाओं को भूमि दान दिया था। सत्र और दान-शालाओं को चलाने के लिये राजा धन देता था। रानियाँ धार्मिक संस्थाओं के संचालन के लिये दान करती थीं और तडाग का निर्माण कराती थीं। राजाओं ने अनेक मन्दिर और स्तम्भ बनवाये और मन्दिरों में मूर्तियों की स्थापना की। राजा के उपर्युक्त कार्यों का अनुकरण मन्त्री आदि अन्य राजकर्मचारी तथा समृद्धिशाली लोग करते थे।[3] राजा का प्रजा के प्रति पिता जैसा व्यवहार था। समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भ के अनुसार वह धर्म का संरक्षण करता था, दीन-हीन तथा असहाय लोगों की सहायता करता था तथा कलाओं का आश्रयदाता था। जूनागढ़ के स्कन्दगुप्त के शिलालेख के अनुसार तत्कालीन राजा को अभिमान हो सकता था कि उसके राज्य

---

१. अशोक के शिलालेख और स्तम्भ लेख।

२. हाथीगुम्फा-शिलालेख से।

३. देखिए फ्लीट के शिलालेख संग्रह ५, ६, ७; १०, १२, १३, १७, ४४ तथा ५५ आदि।

में कोई व्यक्ति धर्मपथ से च्युत नहीं होता, किसी व्यक्ति को दरिद्रता, कार्पण्य तथा अन्य मनोविकार नहीं सताते और अपराधी को यथोचित दण्ड मिलता है। उपर्युक्त परिस्थिति तभी आ सकती थी, जब राजा का इस दिशा में सतत प्रयत्न हो।

प्रायः सदा ही कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों को राजाओं का आश्रय मिला है। ईसवी शती से आरम्भ होने वाले युग में इस प्रकार के राजाश्रय का विशेष प्रचलन हुआ। अश्वघोष को कनिष्क का आश्रय सम्भवतः प्राप्त था। कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा अलंकृत करते थे। भवभूति को कन्नौज के राजा यशोवर्मा का आश्रय मिला था। हर्ष उच्चकोटि का कवि तथा नाटककार था। उसकी राजसभा महाकवि बाण के द्वारा अलंकृत होती थी। महाकवि वाक्पतिराज गौड नरेश के आश्रय में रहा। इस दृष्टि से उल्लेखनीय राजा राजशेखर के आश्रयदाता महेन्द्रपाल तथा महीपाल, हेमचन्द्र के आश्रयदाता कुमारपाल, बिल्हण का आश्रय-दाता चालुक्य वंशी विक्रमादित्य तथा परमार वंशी राजा मुज और भोज आदि हैं। काश्मीर के राजा जयापीड ने आठवीं शती के अन्तिम भाग में अपने राज्य में संस्कृत का प्रचार करने के लिये अपनी राजसभा में उच्चकोटि के विद्वानों और कवियों को आश्रय दिया।

भारतीय राजा उत्साह से युद्धभूमि में सेनाओं का नेता बनकर युद्ध करते थे। वे अनेक धार्मिक विधानों को सम्पादित करते थे। सम्राट् हर्ष प्रजा की परिस्थिति का परिचय पाने के लिये स्वयं भी राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुये लोगों से मिलकर उनके दुःख-सुख का ज्ञान प्राप्त करता था। ऐसी यात्रायें करते समय विश्राम के लिये जो डेरे बनाये जाते थे, उनका नाम जयस्कन्धावार मिलता है। ह्वेनसांग ने हर्ष के कामों का विवरण प्रस्तुत किया है—राजा का दिन तीन भागों में बटा था, जिनमें से एक भाग शासनकार्य में तथा शेष दो भाग धार्मिक कृत्यों में बीतते थे।[1] राजा उच्चकोटि के विद्वानों को पुरस्कार देता था तथा विभिन्न धर्मों की संस्थाओं को दान देता था।[2] हर्ष ने प्राणिवध पर रोक लगा दी और नियम बनाया कि मांसाहार करने पर मृत्युदण्ड दिया जायगा। उसने राज्य की सभी बड़ी सड़कों पर औषधालय बनवा कर वैद्य नियुक्त किये और यात्रियों तथा दीन-हीन व्यक्तियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा औषधि देने की व्यवस्था की। वह विद्वानों की परिषद् आयोजित करवाता था और उनमें शास्त्रार्थ होने पर स्वयं सभापति बनकर निर्णय देता था। वह सज्जनों को पुरस्कृत करता था और प्रतिभाशाली

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग भाग १, पृ० ३५४, भाग २, पृ० १८३।

२. वही भाग १, पृ० १७६।

विद्वानों की पदोन्नति करता था। धार्मिक संस्थाओं की सहायता करने के लिये तथा विशिष्ट योग्यता वाले पुरुषों को पुरस्कार देने के लिये राजा अतिशय धन व्यय करता था। प्रयाग में प्रति छठें वर्ष हर्ष सभी धर्मों के संवर्धन के लिये महोत्सव करता था। हर्ष की भाँति तत्कालीन अन्य राजाओं ने भी अपने राज्य में विद्या और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिये बहुमुखी योजनायें कार्यान्वित कीं।[1] कश्मीर के दसवीं शती के राजा यशस्कर के प्रयत्न से राज्य में चोरी मिट सी गई। रात में दूकानें खुली छोड़ दी जाती थीं। मार्ग में पथिकों को किसी प्रकार का भय नहीं रह गया। व्यापार और कृषि की उन्नति हुई तथा प्रजा में सच्चरित्रता का विकास हुआ। हर्ष तथा अन्य तत्कालीन राजाओं ने शिक्षा के प्रसार के लिये देश के विभिन्न भागों में असंख्य मन्दिरों और विहारों की प्रतिष्ठा की और इनको चलाने के लिए भूमि और धन दान दिये। अनेक बौद्ध राजा अपने धर्म के संवर्धन और संरक्षण करने में प्रयत्नशील थे।[2]

परवर्ती युग में काश्मीर के राजाओं के कार्यों का उल्लेख कल्हण की राजतरङ्गिणी में मिलता है। इसके अनुसार आठवीं शती में ललितादित्य ने पद्मसरोवर के जल को निकालकर उस प्रदेश में कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि की और अन्नोत्पादन बढ़ाया। वितस्ता का पानी पत्थरों के द्वारा रुकने से एक बड़ा भूभाग जलमग्न हो गया था। सूय्य नामक मन्त्री ने पत्थरों को हटवा कर और जल बहवा कर उस भूभाग को कृषि योग्य बनवाया। नदियों को उसने अनेक मार्गों में विभक्त कर दिया। भूमि को जलरहित करके नये ग्राम बसाये। नदियों के बीच में स्तम्भ बनवाकर उनका नियन्त्रण किया गया। नदी की नहरों से गाँवों को पानी दिया गया। यथा

असिञ्चच्च जलैर्ग्रामान् ग्रामान् मृद्रुमुपाहृताम्।
या यावता क्षणेनागाच्छोषं तां तावता हृदि॥५.११०॥
कालेन मत्वा सेकार्हां प्रतिग्रामं जलस्रुतेः।
परिमाणं विभागं च परिकल्प्य निरत्ययम॥५.१११॥

ललितादित्य ने कश्मीर में वितस्ता का पानी गाँव-गाँव में पहुँचा दिया। उसने अरघट्टाली लगाई थी।[3] बारहवीं शताब्दी के राजा हर्ष ने पम्पा नामक दिगन्तव्यापी सरोवर बनाया था।[4]

---

१. वेणीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, ३७४–३७५।
२. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग २, पृ० २३६।
३. राजतरंगिणी ४.१९१।
४. वही ८.९४०।

प्राचीन काल के एक राजा मेघवाहन ने सर्वत्र भेरी द्वारा घोषणा करवा दी कि पशु-वध करना अपराध है, चाहे किसी भी उद्देश्य से ऐसा क्यों न करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो।[१] उसने दिग्विजय में जीते हुये राजाओं से प्रतिज्ञा ली कि वे पशु-वध से विरत रहेंगे।[२] मांस बेचने वालों का धन्धा बन्द हो गया तो उन्हें राज-कोश से आर्थिक सहायता दी गई कि वे कोई अन्य निर्दोष व्यवसाय आरम्भ करें।[३] मेघवाहन ने मेघवन नामक अग्रहार ब्राह्मणों को दिया और मेघमठ बनवाया। उसने मयष्ट नामक गाँव बसाया।[४] नवीं शती के उत्तरार्ध में अवन्ति वर्मा ने राजा मेघवाहन के आदर्श पर आज्ञा प्रवर्तित की कि एक विशेष झील पर पक्षी और मछलियाँ न मारी जायँ।[५] बारहवीं शती के राजा हर्ष ने एक नये प्रकार की वेष-भूषा का प्रवर्तन किया।[६]

कश्मीर के राजा जयापीड ने अत्यन्त लुप्तप्राय विद्याओं को पुनरुज्जीवित किया और विद्वानों को शिक्षक नियुक्त किया। उसने व्याकरण की महाभाष्य परम्परा चलाने के लिए देशान्त से वैयाकरण बुलवाये।[७] राजा विद्वानों को दूसरे देशों से लाकर अपने देश में बसाते थे।[८] कुछ राजा अस्पताल बनवाते थे।[९] राजा की ओर से देव, गौ, ब्राह्मण, अनाथ और अतिथि के लिए वृत्तियाँ मिलती थीं।[१०] ग्यारहवीं शती के चालुक्य राजा कुमारपाल ने अपने राज्य में पशु-हिंसा तथा द्यूतक्रीडा पर रोक लगा दी थी।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि राजा राष्ट्र में शान्ति की प्रतिष्ठा करने के लिये सेना रखते थे और राष्ट्र को शत्रु-राजाओं के आक्रमण से सुरक्षित

---

१. राजतरंगिणी ३.५।

२. वही ३.२९।

३. वही ३.६।

४. वही ३.८।

५. राजतरंगिणी ५.११९।

६. हर्ष के पहले लोग बाल खुला रखते थे। पगड़ी, कुण्डल आदि केवल राजा धारण कर सकते थे। हर्ष ने यह वेष सार्वजनिक कर दिया। राजतरंगिणी ८.९२२–९२५।

७. राजतरंगिणी ४.४८६, ४९०।

८. राजतरंगिणी १.११७।

९. राजतरंगिणी ३.४६१।

१०. राजतरंगिणी ७.४३।

रखने के लिये युद्ध करते थे। अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रधान काम था। किसी प्रकार की विपत्ति में पड़े हुये व्यक्ति या समाज की रक्षा राजा वैसे ही करता था, जैसे पिता पुत्र की। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था राजा का वह प्रयत्न, जिसके द्वारा वह प्रजा की शक्तियों को सत्पथ में प्रवृत्त करने के लिये वर्णाश्रम धर्म का उन्नायक बन जाता था। इस प्रकार प्रजा में शिक्षा का प्रसार करना राजा का कर्त्तव्य था। कला-कौशल की दृष्टि से तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति द्वारा राष्ट्र का संवर्धन कुछ राजाओं ने किया है।

राजा का व्यक्तित्व

सैद्धान्तिक स्वरूप

भारतीय राजनीति-शास्त्र के अनुसार राज्य के सात अंग या प्रकृतियाँ होती हैं—राजा, अमात्य, जनपद या राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) तथा मित्र। सातों अंगों में राजा का नाम सर्वप्रथम है। साधारणतः राजा के व्यक्तित्व के अनुरूप शेष छः अंगों का स्वरूप बन जाता था।

प्राचीन काल के राजा के समक्ष वैदिक काल से इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का आदर्श प्रतिष्ठित था। इन्द्र के आदर्श पर लोक-कल्याण के लिये राजा को उच्चकोटि का पराक्रमी विजेता तथा लोगों की पापमयी प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करने के लिये वरुण के आदर्श पर अपने राष्ट्र के प्रत्येक भाग में होने वाले कामों से अभिज्ञ होना चाहिये। राजर्षि त्रसदस्यु की वैदिक प्रार्थना से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद-काल में राजा अपने व्यक्तित्व में इन्द्र और वरुण आदि देवताओं को अन्तर्हित मानते थे। उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक होता था कि उसकी परिधि में भूः भुवः और स्वः का अन्तर्भाव होता था। वे सारे जगत् के प्रेरक थे और उनकी धारणा थी कि हम द्यावा-पृथिवी को धारण करते हैं। वह राजा स्वयं युद्धस्थल का सेनानी था। अन्य वीर नेता उसका अनुसरण करते थे। वे शत्रुओं को पराजित करने योग्य बल से सम्पन्न होते थे। वे अतिशय कर्मण्य थे, क्योंकि उनमें देव-बल था।[1] राजा के अभिषेक के समय पुरोहित कहता था—मैं आपको सोम, अग्नि, सूर्य और इन्द्र की तेजस्विता से समायुक्त करता हूँ। हे देवो! तुम इस राजा को महान् साम्राज्य के

---

१. ऋग्वेद ४.४२। राजा के देवता होने की कल्पना परवर्ती युग में सदा रही है। यथा—मनु० ७.४–५, ८; अग्निपुराण २२६.१७–२०; भागवत ४.१४. २६–२७।

लिये अद्वितीय शासक बनाओ।[1] राजा के अभिषेक के अवसर पर उसकी योग्यता के अनुकूल उसे उग्र, मित्रवर्धन, वृष, व्याघ्र, सिंह आदि उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं। वह श्रीसम्पन्न होता था और अपनी प्रतिभा से चमकते हुये विचरण करता था। वर्चस्विता से समायुक्त होना राजा का विशेष गुण था। वह सर्वप्रिय होता था। राजा का इन्द्र से सहयोग होता था।[2] राजा अतिशय यशस्वी होता था।[3] तत्कालीन राजा के उदात्त चरित का प्रमाण अथर्ववेद के इन शब्दों में मिलता है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।११.५.१७॥

(ब्रह्मचर्य और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है)।

अभिषेक के अवसर पर राजा में सैनान्य की प्रतिष्ठा की जाती थी।[4] ऐसे राजा के सुकृतों की परम्परा वैदिक काल में उल्लेखनीय थी।[5] अथर्ववेद में राजा को सिंह और व्याघ्र का प्रतीक माना गया है।[6] उसको मानवों में उत्तम कहा गया है।[7]

उपनिषदों में कुछ ऐसे राजाओं के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है, जो उस युग के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में थे। अजातशत्रु, जनक, प्रवाहण जैवलि, अश्वपति आदि राजाओं की दार्शनिक विचारधारा में तत्कालीन भारत अवगाहन करता था। निःसन्देह उन्हीं के द्वारा प्रवर्तित निष्काम कर्मयोग की आचार-पद्धति का प्रचार हुआ।

परवर्ती युग में राजाओं की योग्यता के लिये उनकी कुमारावस्था में सर्वाङ्गीण शिक्षा की योजना मिलती है। जातक साहित्य के अनुसार राजकुमार अपने घर से दूर स्थित विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेकर शिल्प, विज्ञान, कला आदि विषयों की शिक्षा ब्रह्मचारी बनकर प्राप्त करते थे।[8] राजाओं के समक्ष प्रायः अपने पिता का

---

१. वाजसनेयि सं० ९.४० तथा २५, १७.१८।

२. अथर्व ४.८; ४.२२।

३. वही ६.३९।

४. ऐतरेय ८.४.१६।

५. वही ८.४.१५।

६. सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रं प्रतीकोऽवबाधस्व शत्रून्। अथर्ववेद ४.२२.७।

७. वही ४.२२.५।

८. महासीलव जातक ५१, पंचावुध जातक ५५। तिलमुट्ठिजातक २५२ के अनुसार मान-मर्दन, सरदी-गर्मी सहने की योग्यता, लोक-व्यवहार के ज्ञान आदि के उद्देश्य से दूर स्थित विद्यालयों में राजकुमार भेजे जाते थे।

आदर्श होता था, जो गृहस्थाश्रम के पश्चात् ऋषि-प्रव्रज्या लेकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करते थे।[1] कुछ राजा अतिशय धार्मिक होते थे। वे शान्ति, मैत्री और दया से युक्त होते थे और गोद में रखे हुये पुत्र की भाँति सभी प्राणियों को सन्तुष्ट करते थे। उनका विचार था—मेरे लिये दूसरों को कष्ट नहीं होना चाहिए। इसी विचार से वे आक्रमण करने वाले शत्रुओं का विरोध नहीं करते थे। वे उससे कहते थे—मेरे साथ युद्ध करने की आवश्यकता नहीं। तुम राज्य ले लो। शत्रु-राजा के द्वारा पीड़ित होने पर वे चुपचाप रहते थे, यहाँ तक कि शत्रु के प्रति मैत्री भावना रखते थे। यह राजाओं का सत्याग्रह था।[2] राजा ऋषियों का आदर करते थे और ज्ञान का लाभ उठाने के लिये उन्हें अपने उद्यान में पर्णशाला बनवाकर रख लेते थे। ऐसे ऋषि राजकुल को उपदेश देते थे।[3] अनेक दार्शनिक राजा प्रजा को उदारता, सद्व्यवहार आदि का उपदेश देकर राज्य में सदाचार की प्रतिष्ठा करते थे।[4]

राजा अतिशय ऐश्वयशाली भी होते थे। उनकी रहन-सहन की शैली ऊँची थी।[5] उनका ऐश्वर्य विलासिता की परिधि का अतिक्रमण करता था। कुछ राजाओं के पास सहस्रों स्त्रियाँ होती थीं। वे किसी भी सुन्दरी को अपनी स्त्री बना लेने के लिये प्रयत्नशील देखे जा सकते थे।[6]

कुछ अच्छे राजा अपने दुर्गुणों को दूर करने के लिये आलोचकों को ढूंढा करते थे। ब्रह्मदत्त नामक राजा ने दोषदर्शी ढूंढने के लिये केवल अपनी राजधानी में ही नहीं, अपितु पूरे जनपद में परिभ्रमण किया। उसका सिद्धान्त था, क्रोध को अक्रोध से, असाधु को साधु से और असत्य को सत्य से जीतना चाहिये। कुछ राजाओं में न्याय-बुद्धि उच्चकोटि की होती थी।[7] कुछ राजाओं की कृतज्ञता आदर्श थी। वे उपकार के लिये प्रत्युपकार करने में संकोच नहीं करते थे।[8] इन्द्रप्रस्थ के राजा कुरुधर्म का पालन करते थे, जिसके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मद्यपान के त्याग का व्रत लेना पड़ता था।[9]

---

१. मखादेव जातक ९, सुखविहारी जातक १०।
२. महासीलव जातक।
३. मुदुलक्खण जातक ६६।
४. महासुदस्सन जातक ९५।
५. पलासी जातक २२९।
६. असिताभू जातक २३४।
७. राजोवाद १५१।
८. तिरीटवच्छ जातक ४१।
९. कुरुधम्म २७६।

राजकुमार को राजा बनाने के पहले कभी-कभी अमात्य उनकी परीक्षा लेते थे। राजकुमार को न्याय करना पड़ता था अथवा अपनी वैज्ञानिक और तर्क-निष्ठ बुद्धि का परिचय देना पड़ता था।[१]

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ राजा दुर्व्यसनी थे और नीति तथा सदाचार के सिद्धान्त से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। जुआ खेलना तथा तत्सम्बन्धी अन्य दुष्प्रवृत्तियों को अपनाते हुए उन्हें संकोच नहीं था। निष्प्रयोजन युद्ध और उपद्रव करने वाले राजाओं का कभी अभाव नहीं रहा है।[२] कुछ राजाओं को अपने बल का अभिमान होता था। वे युद्धेच्छु होकर किसी न किसी बहाने शत्रु ढूंढ़कर लड़ते थे।[३] राजा की चार अगतियाँ मानी गई थीं—स्वच्छन्दता, दोष, मोह और भय। कुछ राजा बुद्धिहीन होते थे। वे अपना हित नहीं समझ पाते थे।[४] वे चापलूसों की बात में आकर अपनी जड़ खोदते थे।[५] कुछ राजा कामुक होते थे। वे परस्त्री को फँसाने के प्रयत्न में अपनी जान भी गँवा देते थे।[६] कुछ राजाओं को तो केवल पागल ही कहा जा सकता है। वे अपने मनोरंजन के लिये भी अन्य प्राणियों को त्रास देने में तत्पर होते थे।[७] प्रजा को पीड़ित करने वाले राजाओं का अभाव नहीं था। अधर्म से राज्य करने वाले, क्रोधी, कठोर और दुस्साहसी राजाओं की मृत्यु होने पर प्रजा सार्वजनिक मनोविनोद करती थी।[९]

जातकों में अच्छे तथा बुरे राजा का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार बिना विचार किये हुये काम करने वाला राजा योग्य नहीं है। विचार कर काम करने वाले राजा का यश और कीर्ति बढ़ती है।[१०]

---

१. पादंजली जातक २४७, गामणीचण्ड जातक २५७।

२. महासीलव जातक ५१, अण्डभूत जातक ६२, सच्चंकिर जातक ७३, असातरूप जातक, सुहनु जातक।

३. चुल्लकालिंग जातक।

४. नन्दियमिगराज जातक ३८५। इनसे बचने के लिए दसराजधर्म नियत थे—दान, शील, त्याग, ऋजुभाव, मृदुता, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षमा तथा अविरोध।

५. कुम्मेध जातक, कामनीत २२८।

६. असदिस जातक १८१, धम्मद्धज जातक २२०।

७. मणिचोर जातक।

८. केलिसील जातक २०२।

९. महापिंगल जातक २४०।

१०. मणिकुण्डल जातक।

महाभारत में राजा के व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रभाव मानते हुये बतलाया गया[1] है वह अर्थ और काम की प्रवृत्तियों में संयत होकर ही चिरकाल तक राज्य कर सकता है।[2] महाभारत में राजा के वेद-वेदांग का ज्ञाता, प्राज्ञ, तपस्वी, दान-शील, यज्ञशील आदि गुणों की कल्पना की गई है।[3] राजा को अभ्युदयशील बनने के लिये इनके अतिरिक्त लोक-संग्रह, मधुरवाणी, अप्रमाद, शौच आदि गुण आवश्यक माने गये।[4] महाभारत के अनुसार अदक्ष राजा प्रजा की रक्षा कर ही नहीं सकता। राज्य महान् भार है, वह सुदुष्कर है। वही राज्य-भार ले सकता है, जो दंडवित्, शूर आदि हो। मूर्ख और पुरुषार्थहीन व्यक्ति शासन का काम नहीं कर सकते।[5] लोग कभी-कभी राजा का चुनाव भी करते थे। वे ऐसे ही लोगों को चुनते थे, जो दाता, संविभक्ता, मृदु, शुचि तथा अपनी प्रजा का त्याग न करने वाले होते थे।[6] महाभारत में उस युग के जिन राजाओं का वर्णन मिलता है, वे साधारणतः इस ऊँची योग्यता के नहीं थे। फिर भी इस ग्रन्थ में पूर्वयुगीन असंख्य उदात्त राजाओं का परिचय मिलता है, जिनमें प्रायः उन सभी गुणों का सद्भाव था, जिनका होना राजा के व्यक्तित्व को सर्वोच्च बना सकता था। प्रायः इस युग की राजनीति-. सम्बन्धी चर्चा रामायण में भी मिलती है। रामायण में न केवल सिद्धान्त रूप में राजा के व्यक्तित्व की उच्चता व्यक्त की गई है, अपितु दशरथ, राम आदि को श्रेष्ठ प्रजा-पालक सम्राट् के रूप में निरूपित किया गया है।

मनु ने राजा के दिव्य व्यक्तित्व का निरूपण करते हुये बतलाया है कि वह इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ लोकपालों का अंश लेकर उत्पन्न होता है। यही कारण है कि वह सभी प्राणियों को अपने तेज से अभि-भूत करता है। मनु का चान्द्रव्रतिक राजा चन्द्र के समान प्रजा का आह्लादक था। मनु ने उसके सम्बन्ध में कहा है—

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः॥

---

१. शान्तिपर्व ६९.६८।
२. वही ६९.३०।
३. वही ६९.३०
४. शान्तिपर्व ९२, ५०–५१।
५. वही ९२.४४–४५।
६. वही ९४.२७।

(जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र को देखकर मानव हर्षित होते हैं, उसी प्रकार यदि राजा को देखकर प्रजा प्रसन्न होती हो तो वह राजा चान्द्रव्रतिक है।)

आगे चलकर मनु ने राजा के पार्थिव व्रत की प्रतिष्ठा की है और कहा है कि उसे पृथिवी की भाँति प्राणियों का भरण-पोषण करना चाहिये।

मनु ने राजा के ऊँचे व्यक्तित्व की कल्पना की है। इसके अनुसार उसे मद्यपान, जुआ, स्त्रीसेवन और आखेट से दूर रहना चाहिये। राजा को दिन-रात अपनी इन्द्रियों की जय करने की चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रखने में सफल हो सकता है। पवित्र, सत्यपरायण, शास्त्रों के अनुसार काम करने वाला और बुद्धिमान् राजा सज्जन सहायकों के साथ राजदंड सफलता से वहन कर सकता है। असहाय, लोभी, मूढ़, बुद्धिहीन तथा विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति न्यायपूर्वक राजदंड नहीं धारण कर सकता। राजदंड तो महान् तेज है। इसे आध्यात्मिक ज्ञान के बिना धारण ही नहीं किया जा सकता। धर्मपथ से विचलित होना बन्धु-बान्धवों सहित राजा के नाश का कारण होता है। मनु का राजा दूसरों की निन्दा नहीं करता, दिन में नहीं सोता, तथा विद्वान् और बड़े-बूढ़ों की संगति करता है। विनय उसका सर्वोपरि गुण है। अविनय के कारण, वेन, सुदाः और नहुष आदि शक्तिशाली राजा नष्ट हो गये और विनय के बल पर, पृथु को राज्य मिला। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता अथवा भोग-विलास में अनुरक्त होता है तो उसका पतन होते देर नहीं लगती।[१]

अर्थशास्त्र में राजा के लिए विद्याविनीत होने की आवश्यकता बतलाई गई है। वह स्वयं विनयी होने पर ही प्रजा को विनयी बनाने में सफल हो सकता था। वह सभी प्राणियों का कल्याण करने में तत्पर होकर शत्रुरहित राज्य का भोग कर सकता था। सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियों की जय कर लेने पर ही राजा विद्या और विनय को फलस्वरूप प्राप्त करने में समर्थ होता था। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि के त्याग को राजा के लिये इन्द्रिय-जय माना गया। यदि राजा इन्द्रिय-जयी नहीं है तो उसका विनाश शीघ्र ही होना अवश्यंभावी है। इस ग्रन्थ में अनेक राजाओं के उदाहरण दिये गये हैं, जो इन्द्रिय-लोलुप होने के कारण नष्ट हो गये। इसके विपरीत जितेन्द्रिय राजा रहे हैं, जिन्होंने चिरकाल तक प्रजा-पालन किया। राजा को वृद्धों से प्रज्ञा और गुप्तचरों से देश-विदेश का समाचार आदि प्राप्त करना चाहिये था और कर्मण्य बनकर राष्ट्र को आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगतिशील बनाना चाहिये था। राजा को धर्म और अर्थ के

---

१. मनु० ७.२८, ३०, ३१, ४४।

अनुकूल काम का सेवन करना चाहिये था। धर्म, अर्थ और काम तीनों का असमान रूप से सेवन करने पर वह संकट में पड़ता था।[1]

राजा बनने की योग्यता सम्पादन कराने के लिये कौटिल्य ने राजकुमारों के अध्ययन करने की योजना बनाई है। उन्हें उच्चकोटि के आचार्यों का शिष्य बनकर वेद, तर्कशास्त्र, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, दंडनीति आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिये। विवाह होने के पश्चात् अनुभवी लोगों के सम्पर्क में रहकर नित्य विद्या का अर्जन करना चाहिये। इन विषयों के अध्ययन के अतिरिक्त राजकुमार को युद्ध-विद्या का अध्ययन करना पड़ता था। वह हस्तिविद्या, अश्वविद्या, रथचर्या, शस्त्रास्त्र-विद्या आदि का अभ्यास नित्य दोपहर के पहले करता था तथा दोपहर के बाद पुराणेतिहास का अध्ययन करता था।[2] राजकुमार को धर्म और अर्थ की शिक्षा लेनी चाहिये, अधर्म और अनर्थ की नहीं।[3]

राजत्व की गरिमा की प्रतिष्ठा कौटिल्य ने इन शब्दों में की है—

> प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
> नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थशास्त्र १.९

यदि राजकुमार में परस्त्रियों की ओर प्रवृत्ति हो या मद्यपान, जुआ, मृगया आदि के प्रति रुचि हो तो उसे सफल उपायों से इन कुटेवों से विरक्त बनाने की योजना कौटिल्य ने बनाई है।[4]

सूत्र और स्मृति साहित्य में राजा के व्यक्तित्व का आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है। इस आदर्श के लिये परम्परागत प्राचीन राजाओं की कथाओं में निरूपित उनके व्यक्तित्व का आभास ग्रहण किया गया, जिसके द्वारा उन्होंने केवल इसलोक में ही नहीं, अपितु परलोक में भी अमर पद पाया। इस प्रकार भारत के राजाओं के समक्ष सदा से शिवि, दधीच, हरिश्चन्द्र, राम, युधिष्ठिर आदि के आदर्श रहे हैं।

व्यावहारिक स्वरूप

भारतीय राजाओं के व्यक्तित्व की जिस रूप-रेखा का निरूपण ऊपर किया गया है, उसके उदात्त पक्ष की प्रतीति सर्वप्रथम अशोक में होती है। अशोक ने राजा

---

१. अर्थशास्त्र १.५—७।
२. वही १.५।
३. वही १.१७।
४. अर्थशास्त्र १.१७ से।

का कर्त्तव्य माना– अपनी प्रजा का ही नहीं, अपितु सारी मानवता का आध्यात्मिक और आधिभौतिक अभ्युदय करना। यह सरलता से तभी हो सकता था, जब राजा स्वयं अपना आदर्श प्रजा के सामने प्रस्तुत करे। अशोक ने अपने व्यक्तित्व के अभ्युत्थान के द्वारा प्रजा का नेतृत्व किया। गौतम बुद्ध के समान अशोक का हृदय मानवता की विपत्तियों, अभावों और संकीर्णताओं को देखकर पसीज उठा था। उसने कलिंग के युद्ध में भीषण नर-संहार देखा था और युद्ध के समाप्त होने पर महामारी की विभीषिका का दर्शन किया था। बस, वह विचारशील हो उठा और उसने युद्ध-विजय के स्थान पर धर्म-विजय को अपनाया। धर्म-विजय है संसार में सदाचार की प्रतिष्ठा और व्यक्तिशः या समष्टिशः प्रयत्नों से मानवता के लिये सुख के साधन प्रस्तुत करना।

समाज में सदाचारमयी प्रवृत्तियों को लोकप्रिय बनाने का काम अशोक ने लिया। इस काम को उस युग में प्रक्रम कहा जाता था। अशोक उच्चकोटि का प्रक्रमी था। छोटे-बड़े सब को प्रक्रमी बनाने के लिये उसके हृदय में उत्साह था। वह चाहता था कि प्रक्रम के द्वारा मुझे तथा छोटे-बड़े सबको विपुल स्वर्ग-सुख की प्राप्ति हो। लोगों के रोग दूर करने के लिये उसने औषधियों और औषधालयों का देश-विदेश में प्रबन्ध किया।

अशोक की दया सभी प्राणियों के लिये थी। उसने अपने भोजन के लिये प्राणिवध कम करा दिया और प्रजा से भी अनुरोध किया कि वे भोजन के लिये प्राणिवध कम से कम करें। उसे सभी प्राणियों की सुविधाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रहा करता था। अपनी प्रजा के लिए तो वह पिता ही था।[1]

अशोक की राजकार्य-परायणता का परिचय उसके छठें शिलालेख से इन शब्दों में मिलता है, 'बहुत समय हो गया कि प्रजा का काम सदा न हो सका और न गुप्तचरों से प्रजा-विषयक सूचना ही सदा मिली। इसलिए मैंने नियम बनाया है कि मेरे खाते समय, अन्तःपुर में विहार करते समय, शयन गृह में लेटते समय, पाखाने में रहने पर, सवारी करने पर या उद्यान में होने पर—सब स्थानोंपर सदा ही प्रतिवेदक प्रजा का सुख-दुःख और उनकी आवश्यकताओं का समाचार मुझे तत्काल देते रहें। मैं सर्वत्र प्रजा का काम करूँगा। मुझे प्रजा का काम अधिक से अधिक परिश्रम से करने पर भी कभी सन्तोष नहीं होता। सभी लोगों का कल्याण करने से बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है। मैं यह पराक्रम इसलिये करता हूँ कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है, उससे मुक्त हो जाऊँ। यहाँ कुछ लोगों को सुखी बना दूं तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग प्राप्त कराऊँ। मुझे तो सभी लोगों का हित करना है। वह तभी हो सकता है, जब मैं अधिकाधिक श्रम से काम करूँ।

अशोक सभी धर्मों की उन्नति चाहता था। वह आध्यात्मिक वृत्ति से उच्च-कोटि के महात्माओं का दर्शन करता था और प्रजा को धर्म की शिक्षा देता था। उसने समझ लिया था कि पाप ही एकमात्र विपत्ति है। प्रजा को इसी विपत्ति से छुटकारा प्राप्त होना चाहिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक में अचूक दूरदर्शिता और आत्मविश्वास था। उसमें अविश्रान्त प्रयास करते रहने की अपरिमित क्षमता थी। अशोक के विषय में एच० जी० वेल्स ने लिखा है—असंख्य महाराजाओं की राजश्री, शोभा, प्रशान्ति और राजकीय गरिमा, अवश्यमेव इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इन सबके मध्य अशोक का नाम अपनी अद्वितीय प्रभा से चमक रहा है। वाल्गा से लेकर जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन और तिब्बत ने उसकी महिमा की परम्परा को सुरक्षित रखा है। भारत ने यद्यपि अशोक के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रायः परित्याग कर दिया है, फिर भी इस देश में अशोक की तेजस्विता का आलोक विराजमान है।[१] वेल्स ने विश्व के छः महान् सम्राटों में अशोक की गणना की है। सम्राट् की उपाधि देवानां प्रिय तथा प्रियदर्शी थी।

दूसरी शती ईसवी पूर्व में कलिंग का राजा खारवेल था। वह उच्चकोटि का विजेता और प्रजापालक सम्राट् था। उसने कुमारावस्था में गणित, लेख, रूप (मुद्रा-शास्त्र), व्यवहार (कानून) तथा संगीत और शिल्पादि विद्याओं का अध्ययन किया था। राजा होने के पहले दस वर्ष तक उसने युवराज पद पर काम किया था। राजा प्रजा का अनुरंजन करने के लिये प्रयत्नशील था। वह प्रजा का प्रिय बनना चाहता था। उदार तो वह था ही। वह सभी धर्मों का आदर करता था। विजेता होने पर भी उसे अपने शासन-काल की शान्ति और समृद्धि पर अतिशय गर्व था।[२] उसी युग के आन्ध्र-राजाओं की भी धार्मिक सहिष्णुता की प्रशस्ति तत्कालीन शिलालेखों में मिलती है। खारवेल की उपाधियाँ ऐर (संभवतः आर्य) महाराज, महामेघवाहन और कलिंगाधिपति हैं।[३]

पहली शती ईसवी के बौद्ध सम्राट् कनिष्क का अपने राज्य के विभिन्न भागों में प्रचलित विविध धर्मों के प्रति आद भाव था, यद्यपि उसने अपने धर्म का प्रसार करने में अतिशय योग दिया। उसके राज्य में ग्रीक, सुमेरी, पारसी, हिन्दू आदि देव-

---

१. Cultural Heritage of India. P. 127

२. खारवेल के हाथी-गुम्फा लेख से।

३. कलिंग के परवर्ती राजाओं ने भी अपने नाम को ऐसी ही उपाधियों से अलंकृत किया। एपिग्राफिया इण्डिका १३ वाँ भाग, पृ० १६० ।

ताओं की समान रूप से प्रतिष्ठा थी।[1] उसकी राजसभा में पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, चरक, नागार्जुन, संघरक्ष, माठर आदि धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य और कला के तत्कालीन सर्वोच्च आचार्यों को आश्रय मिला था। कनिष्क महान् विजेता था। भारत के बाहर जो विजय उसने प्राप्त की, उससे उसकी अलौकिक वीरता सर्वोपरि प्रतिष्ठित है।

दूसरी शती ईसवी के सुराष्ट्र प्रदेश के राजा रुद्रदामन् ने प्रतिज्ञा की थी कि यद्ध-भूमि को छोड़कर अन्यत्र पुरुष-वध नहीं करूँगा। उसने अनेक पदच्युत राजाओं को प्रतिष्ठित कर दिया था। उसने व्याकरण, अर्थशास्त्र, गान्धर्व विद्या, न्याय आदि विषयों का अध्ययन और अभ्यास किया था। साथ ही युद्ध-विद्या में वह कुशल था। प्रजा-पालन में वह सदैव न्यायोचित व्यवहार करता था। शक राजा चक्रवर्ती, अधिराज, राजाधिराज, देवपुत्र आदि उपाधियों से अलंकृत थे। दक्षिण भारत के राजाओं की उपाधियाँ क्षेमराज, धर्ममहाराजाधिराज, धर्मयुवमहाराज आदि उनके धर्मरक्षक होने का संकेत करती हैं। समुद्रगुप्त की उपाधियाँ अप्रतिरथ, अप्रतिवार्य वीर्य, कृतान्त-परशु, सर्वराजोच्छेता, व्याघ्रपराक्रम, अश्वमेध-पराक्रम, पराक्रमांक आदि उसके व्यक्तित्व का निदर्शन करती हैं। विक्रमादित्य की उपाधियाँ श्रीविक्रम, सिंहविक्रम, अजितविक्रम, विक्रमांक, विक्रमादित्य, परमभागवत आदि उसके व्यक्तित्व का परिचय देती हैं। इस युग के राजाओं के अन्य विशेषण अचिन्त्य पुरुष, धनदवरुणेन्द्रान्तकसम, लोकधामदेव, परमदैवत आदि रहे हैं। सम्राट् की अन्य उपाधियाँ परवर्ती युग में भी परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि प्रचलित रहीं। कुछ चक्रवर्ती राजाओं ने सम्राट्, एकाधिराज, राजाधिराज, परम दैवत आदि उपाधियों से अपने नाम को अलंकृत किया।

परवर्ती युग में समुद्रगुप्त अशोक की भाँति ही महान् सम्राट् हुआ। समुद्रगुप्त की बहुविध प्रतिभा का परिचय उसके प्रयाग के स्तम्भ लेख से मिलता है। वह काव्य, संगीत आदि विद्याओं का मर्मज्ञ था। उसकी काव्यकृतियों का तत्कालीन रसिक समाज में समादर था। समुद्रगुप्त ने अपने पराक्रम से महान् युद्धों में विजय पाई। उसके द्वारा वैदिक यज्ञों को पुनः गरिमा प्रदान की गई। प्रजापालन में वह अशोक की भाँति ही सदा तत्पर रहता था। समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर अंकित उसकी प्रतिकृति से उसके व्यक्तित्व का आभास मिलता है।

---

१. J. R. A. S. 1912. P. 1003, 1004.

२. रुद्रदामन् का शिलालेख।

समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सम्राट् हुआ। वह अपने पिता से भी बढ़कर पराक्रमी था। वह केवल उच्चकोटि का विजेता ही नहीं था, अपितु राष्ट्र को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टि से सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने वाला सफल नायक भी था। उसी के अद्भुत पराक्रम का फल था कि गुप्तयुग भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा में तत्कालीन कला-विज्ञान तथा धर्म और दर्शन के सर्वश्रेष्ठ आचार्यों को नवरत्न रूप में आश्रय मिला था। भारत के ऐतिहासिक राजाओं में से विक्रमादित्य का नाम हमारे देश में आज भी सर्वोपरि सम्मान के साथ लिया जाता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य में उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। वह स्वयं वैष्णव था, पर उसका प्रधान सेनापति आम्रकर्दव बौद्ध था और उसके अन्य मन्त्री शैव थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मुद्राओं पर अंकित उसकी प्रतिकृतियों से उसके भव्य और पराक्रमी व्यक्तित्व का ज्ञान होता है। कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के जीवन का अधिकांश भाग परदेशी आक्रमणकारियों से युद्ध करते-करते ही बीता। कितना अदम्य उत्साह था इन वीरों में, जिसका प्रदर्शन इन्होंने मातृभूमि की रक्षा करते समय किया है। पाँचवी शती के उत्तरार्ध का इतिहास गुप्तवंशी वीर राजाओं के पराक्रम की अमर कहानी है।

रघुवंश, अभिज्ञान शाकुन्तल आदि काव्यों में राजा के जिस भव्य व्यक्तित्व की कल्पना की गई है, उसका आधार सम्भवतः गुप्तवंशी महाराजाओं का उदात्त चरित्र ही था। इस कल्पना के आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उन राजाओं में प्रजा-पालन की वृत्ति सर्वोपरि थी और उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के अभ्युदय के लिये समर्पण कर दिया था।[१]

छठीं शती में मन्दसौर के राजा यशोधर्मा ने गुप्तवंशी राजाओं की भाँति उच्च पराक्रम से आक्रमणकारी हूणों के साथ युद्ध किया और उन्हें मार भगाया। वह महाशक्तिशाली राजा था। इतिहासकारों ने उसे देशोद्धारक की उपाधि से अलंकृत किया है।[२]

सातवीं शती का राजा हर्ष स्वयं उच्चकोटि का कवि, नाटककार और साथ ही विद्वानों का आश्रयदाता था। उसमें भारत के विभिन्न भागों को जीतकर संगठित करने की योग्यता थी। ह्वेनसांग ने हर्ष के शासन-प्रबन्ध की प्रशंसा की

---

१. देखिए रघुवंश १.५–८, १२–३०, ५.१–३१; अभिज्ञानशा० अंक १ के श्लोक ११, १३; अंक ५ के श्लोक ७, ८, १० तथा अंक ६ का श्लोक २३ आदि।

२. मन्दसौर का शिलालेख।

है।[1] अशोक की भाँति ही हर्ष में धार्मिक सहिष्णुता तथा विश्व-कल्याण की भावना उच्चकोटि की थी। वह देवताओं तथा श्रमण-ब्राह्मणों का आदर करता था। हर्ष में राज्य की लिप्सा नहीं थी। उसे थानेश्वर और कन्नौज का शासनभार लेते समय कभी अभिमान नहीं हुआ, अपितु संकोच हुआ। ह्वेनसांग ने सातवीं शती के अन्य भारतीय राजाओं के व्यक्तित्व का भी निरूपण किया है। उसने लिखा है कि मालवा का राजा परोपकार, धार्मिकता तथा पशुओं के प्रति दया-प्रदर्शन करने के लिये विख्यात है।

आठवीं शती में कन्नौज में यशोवर्मा सम्राट् हुआ। वह अपने युग के राजाओं में सर्वाधिक शक्तिशाली था। उसने चीन से भारत का राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजदूत भेजे। उसने पूर्व बंगाल तक विजय प्राप्त की और संभवतः अधिकांश भारत पर दिग्विजय के लिये भ्रमण किया। कश्मीर के राजा ललितादित्य के साथ मिलकर उसने भारत की ओर चढ़ते हुये तिब्बत-वासियों को रोका। यशोवर्मा मित्र राष्ट्रों का संघटन आयोजित करके विरोधी आक्रमणकारियों को विफल बनाने में सफल हुआ था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा को भवभूति और वाक्पतिराज आदि कवियों ने अलंकृत किया था।

इस युग में काश्मीर में अच्छे-बुरे अनेक राजा हुये।[2] इनमें से आठवीं शती के

---

१. ह्वेनसांग के वक्तव्य का आख्यान वाटर्स ने इस प्रकार किया है।—

He was just in his administration and punctilious in the discharge of his duties. He forgot sleep and food in his devotion to good works. Vol. I. P. 343

२. कल्हण ने कुछ राजाओं के व्यक्तित्व के विपरीत होने का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जैसे हाथी नहा कर पहले स्वच्छ होता है, फिर धूलिधूसरित हो जाता है, वैसी ही गति इन राजाओं की है। यथा

चित्रं द्विपाः पूतमूर्तयः कीर्तिनिर्झरैः।
भवन्ति व्यसनासक्तिपांशुस्नानमलीमसाः॥ राजतरंगिणी ५.१६३

ऐसे विकृत राजाओं में जयापीड और शंकर वर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शराब के नशे में ललितादित्य जैसे अच्छे राजा ने प्रवरपुर में आग लगवा दी। जलती आग देखकर वह नीरो की भाँति हँसता रहा। राजत० ४.३१०–३१३। अपने पिता की नगरी में आग लगाने वाले कलश का वृत्त कल्हण ने दिया है। राजा कलश की कुवृत्ति से खिन्न होकर उसके पिता ने संन्यास ले लिया था। आग देख कर कलश अपने प्रासाद की चोटी पर नाचने लगा। राजत० ७.४१२।

पूर्वार्ध में चन्द्रापीड का सुयश चीन तक प्रख्यात था। वह अपनी धार्मिकता और न्यायप्रियता के लिये प्रसिद्ध था। एक बार चन्द्रापीड के नवकर्मिकों ने मन्दिर का निर्माण कराना प्रारम्भ किया। चुने हुये स्थान पर किसी दीन चर्मकार की झोपड़ी थी। उसने झोपड़ी का स्थान देना न स्वीकार किया। राजा ने आदेश दिया कि मन्दिर अन्यत्र बनाया जाय। फिर वह दीन राजा के पास आया और उसने निवेदन किया—मेरे जन्म के समय से ही यह झोपड़ी मेरी माँ की भाँति सुख-दुःख में मेरे साथ रही है। मैं इसे आज गिराई जाती हुई नहीं देख सकता। फिर भी मैं इसे आप के लिये दे सकता हूँ, यदि आप स्वयं मेरे घर पर आयें और झोपड़ी के लिये प्रार्थना करें। राजा ने ऐसा ही किया और उसके घर जाकर झोपड़ी मोल ले ली। इस राजा के विषय में अनेक ऐसी उदात्त घटनायें वर्णित हैं।

चन्द्रापीड़ के पश्चात् उसका भाई तारापीड़ राजा हुआ। उसने केवल चार वर्ष राज्य किया, पर इतने में ही प्रजा को पीडित करने वाले निर्दयता के असंख्य कामों के द्वारा उसने अपने लिये नरक की सीढ़ी बना ली। तारापीड के पश्चात् ललितादित्य मुक्तापीड राजा हुआ। ललितादित्य बड़ा ही ऐश्वर्यकामी राजा था। चीन के राजा के साथ उसने यशोवर्मा की भाँति राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने कश्मीर के उत्तर तथा उत्तर पश्चिम की पहाड़ी जातियों को तथा तिब्बत-वासियों को पराजित किया। प्रारम्भ में वह यशोवर्मा का सहयोगी था, पर अन्त में उससे भी लड़ाई की और पराजित किया। इस प्रकार कन्नौज पर उसका अधि-कार हो गया। फिर तो उसने मगध, गौड, कामरूप, कलिंग, मालवा, गुजरात आदि देशों को और सिन्ध के अरबों को जीता। दक्षिण भारत में वह चालुक्य-वंशी राजाओं से भी लड़ा। निस्सन्देह वह उच्चकोटि का पराक्रमी विजेता था।

ललितादित्य का ध्यान कश्मीर के सांस्कृतिक अभ्युदय की ओर भी था। उसने विशेष रूप से राजधानी में अनेक सुन्दर भवन, मन्दिर, विहार और देवमूर्तियों का निर्माण कराया। उसका बनवाया हुआ मार्तण्ड-मन्दिर अब भी कश्मीर के सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं के अवशेषों में गिना जाता है। ललितादित्य की निर्दयता के कुछ काम उसके नाम पर कलंक बने। उसने बंगाल के राजा को सुरक्षा का वचन देकर कश्मीर बुलवाया और मार्ग में हत्यारों से उसे मरवा डाला। परवर्ती युग में कश्मीर के उत्पल वंशी राजा अवन्ति वर्मा की धार्मिक सहिष्णुता उच्चकोटि की थी। कश्मीर का राजा हर्ष अतीव उपवन प्रेमी था।[1]

---

१. तदीये नन्दनवने द्रुमेभ्यो नो व्यधुः स्थितिम्।
त्यागिना निर्जितास्तेन केवलं कल्पपादपाः॥ राजत० ७.९१९॥

कश्मीर का राजा उच्चल प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक प्रजा की दशा प्रत्यक्ष देखने के लिये घूमा करता था। वेश बदल कर घोड़े पर घूमते हुए वह देखता था कि प्रजा का कल्याण कैसे करें। दोषी राजकर्मचारियों को पकड़कर वह उन्हें तत्काल पदच्युत कर देता था।[1] कश्मीर के राजा तुज्जीन ने अकाल पड़ने पर

सपत्नीको निजैः कोशैः संचयैर्मन्त्रिणामपि।
क्रीतान्नः स दिवारात्रं प्राणिनः समजीवयत्॥ राजत० २.२२८॥

कल्हण ने शंकर वर्मा के व्यक्तित्व के विकास की कथा बतलाई है। उसका पिता उसको ग्रीष्म में गर्म या शीत में ऊनी कपड़े न देकर पैदल ही नंगे पैर चलाता था। वह आखेट करते समय काँटे से पैर छिद जाने पर रोता था तो उसका पिता कहता था कि मेरे राजकुमार को ज्ञात हो जाना चाहिए कि सेवकों को सेवा करने में कितना श्रम पड़ता है।[2]

कश्मीर के राजा जयापीड़ ने क्षीर स्वामी से व्याकरण पढ़ा। उसने विद्वानों के सम्पर्क में उन्नति की। वह किसी राजा से स्पर्धा न कर विद्वानों से स्पर्धा करता था। वह राजा से बढ़कर पण्डित उपाधि को चाहता था।[3] राजा जयसिंह विद्वानों का समादर करता था और उनके शास्त्रार्थ के प्रति अभिरुचि-परायण था।[4]

कश्मीर के दुष्ट राजाओं में उन्मत्त अवन्ति तथा हर्ष के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्मत्त अवन्ति ने अपने पिता को कई दिनों तक भूखा रखा। फिर सिपाहियों ने उसके सिर के केश पकड़कर सड़क पर घसीटा और उसे नंगा करके अंग-प्रत्यंग में इतना मारा कि वह मर गया। पिता के मारे जाने के दृश्य को देखकर अवन्ति प्रमुदित होता रहा। किसी पराक्रमी वीर ने जब शव को कटार भौंक दी तो राजा यह देखकर बहुत देर तक हँसता रहा। वह गर्भवती स्त्रियों का पेट चिरवाकर देखता था कि बच्चा कहाँ कैसे हैं। श्रमिकों की सहनशीलता का निरीक्षण करने के लिये वह उनकी बाँह कटवाता था।[5] हर्ष सामन्तों को पकड़वाकर उनके सिर कटवाता था और उनका मुण्डमाल या तोरण बनवाकर सन्तुष्ट होता था।

---

१. राजत० ८.४६–५५।
२. राजत० ५.१९५–२००।
३. राजत० ४.४८८–४९०।
४. राजत० ८.२३९७–२३९९।
५. राजत० ५.४२५–४४०।

कुछ राजा व्यापारियों से सुन्दरियों को उपायन-रूप में ग्रहण करते थे। उनके अन्तःपुर में सैकड़ों स्त्रियां भोग-विलास के लिए होती थीं।[1]

आठवीं शती के आरम्भिक युग से भारत के पश्चिमोत्तर मार्ग से आक्रमण करने वाले मुसलमानों का सामना करने वाले राजाओं का इतिहास विशेष महत्त्व-पूर्ण है। सर्वप्रथम सिन्ध का राजा दाहर इराक के शासक हज्जाज का कोपभाजन बना। हज्जाज के द्वारा भेजी सेनायें दो बार परास्त हुईं। देवाल के युद्ध में दाहर का पुत्र जयसिंह सेनापति था। उसने हज्जाज के सेनापति बुदैल को परास्त किया। मुसलमानों के तीसरे आक्रमण में राओर दुर्ग के पास दाहर स्वयं लड़ा, पर विजय-श्री के हाथ आते-आते भाग्य ने पलटा खाया। उसने युद्धभूमि में लड़ते-लड़ते वीरगति पाई। उसके मर जाने पर रानी ने स्वयं बची-खुची सेना के साथ दुर्ग की सुरक्षा का भार अपने हाथों में लिया। विजयी मुसलमानों ने कुछ समय के पश्चात् वहमानाबाद और अलोर (राजधानी) पर आक्रमण किया। जयसिंह ने घेरा डालने वाले मुसलमानों के विरोध में वहमानाबाद में छः मास नित्य लड़ाई की पर कुछ विश्वासघाती नागरिकों की सहायता से मुसलमानों की जीत हुई। इस युग में भारतीय राजाओं में राष्ट्र की रक्षा करने के लिए परदेशी आक्रमण-कारियों के विरोध में संगठन कर लेने की बुद्धि नहीं थी।

परवर्ती युग में कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजाओं में भोज और उसके पुत्र महेन्द्रपाल उच्चकोटि के शासक थे। भोज उस युग के भारत का सर्वश्रेष्ठ विजेता था। उसने उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर साम्राज्य की स्थापना की। दसवीं शती के अन्तिम भाग में भोज की मृत्यु होने पर महेन्द्रपाल शासक हुआ। महेन्द्रपाल भी अपने पिता के समान विजेता था। वह विद्याव्यसनी था। उसकी राजसभा को महाकवि राजशेखर अलंकृत करता था।

दसवीं शती में बुन्देलखण्ड में चन्देल-वंशी प्रसिद्ध राजा हुये। इस वंश में क्रमशः यशोवर्मा, धंग और गण्ड महान् विजेता हुये। धंग और गण्ड ने विदेशी आक्रमणकारियों का सामना किया। गंड ने तो १०१८ ई० में महमूद की प्रभुता को निर्विरोध स्वीकार कर लेने वाले प्रतिहार राजा राज्यपाल को दंड देने के लिए कन्नौज पर आक्रमण करके उसका वध किया। इस वंश के राजाओं की देव-प्रतिष्ठा की कलात्मक प्रवृत्तियाँ प्रशंसनीय हैं।

इसी युग में मालवा में राज्य करने वाले परमारवंश में वाक्पति, भोज आदि उच्चकोटि के राजा हुये। वाक्पति और भोज दोनों ही महान् विजेता और विद्या-

---

१. राजत० ५.५२१

विलासी थे। वाक्पति की राजसभा में धनिक, धनंजय, हलायुध तथा पद्मगुप्त आदि साहित्यकारों को आश्रय मिला। उसने अनेक मन्दिरों और तडागों का निर्माण कराया। भोज की सैनिक और राजनीतिक प्रतिभा का प्रभाव तत्कालीन भारत के अधिकांश भागों पर पड़ा। उसका सारा जीवन युद्ध करते ही बीता। फिर भी उसने आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तुशास्त्र, अलंकार, कोश और कला आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने धारा में महाविद्यालय की स्थापना की। उसने अनेक शैव मन्दिरों का निर्माण कराया और धारा नगरी के समीप मनोरम तडाग बनवाया।

गुजरात में चालुक्य (सोलंकी) राजवंश में जयसिंह सिद्धराज (१०९३-११४३) और कुमारपाल (११४३-११७२) प्रसिद्ध राजा हुये। जयसिंह ने कवियों और विद्वानों को आश्रय देकर उनका उत्साह बढ़ाया, धार्मिक सहिष्णुता बढ़ाने के लिये विविध मतावलम्बियों के विवादों का प्रबन्ध किया, ज्योतिष, न्याय और पुराण के अध्ययन के लिये संस्थाओं की स्थापना की और अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। कुमारपाल ने राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान की ओर ध्यान दिया। कहा जाता है कि उसने सोमनाथ के मन्दिर का निर्माण कराया।उसने अपने राज्य में पशु-हिंसा तथा जुये का निषेध कर दिया।

बारहवीं शती में भारत पर विदेशी आक्रमणों की भरमार रही। इस स्थिति में राष्ट्र की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व जिन राजाओं ने लिया, उनमें गहरवार वंश के गोविन्द चन्द्र, विजय चन्द्र और जयचन्द्र तथा चौहान वंश के पृथ्वीराज को सुयश मिला। चौहान वंश का महाराज विग्रहराज महान् विजेता तथा उच्चकोटि का कवि और नाटककार था।

उपर्युक्त ऐतिहासिक राजाओं का प्रभुत्व प्रायः उत्तर भारत पर रहा। दक्षिण भारत में इस बीच उच्चकोटि के राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ। चालुक्यवंशीय पुलकेशी (६०९-६४२ ई) ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व पाया। उसने ईरान के राजा खुसरु द्वितीय के साथ राजदूत और उपहारों का आदान-प्रदान किया। इस वंश में विक्रमादित्य, विनयादित्य और विजयादित्य महान् योद्धा और विजेता थे। चालुक्य-वंशीय राजाओं ने ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होते हुये भी अपने राज्य में जैन धर्म के प्रसार में योग दिया। उनकी ओर से जैनाचार्यों को दान और सम्मान मिला। उन्होंने देवताओं की प्रतिष्ठा के लिए मन्दिरों का निर्माण कराया।

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूटवंशी ध्रुवनिरूपम, गोविन्द, कृष्ण आदि महान् विजेता हुये। कृष्ण ने सिंहल के राजा से अपनी अधीनता स्वीकार कराई। इस वंश के शासनकाल में ब्राह्मण और जैन धर्मों की समान रूप से उन्नति होती रही।

नवीं शती में राष्ट्रकूट-वंशी महाराज अमोघवर्ष उच्चकोटि का साहित्यकार था। उसने कनारी भाषा में कविराज-मार्ग-नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी राजसभा में अनेक जैन और हिन्दू साहित्यकारों को आश्रय मिला था। वह स्वयं हिन्दू और जैन देवताओं की आराधना करता था। एक बार महामारी से प्रजा के पीड़ित होने पर उसने अपनी अंगुली काटकर देवी को बलि दी। उसे आशा थी कि इस प्रकार महामारी शान्त होगी।

काञ्ची के पल्लववंशीय राजा सिंहविष्णु ने लंका के राजा को पराजित किया। पल्लव-राजवंश की सबसे महत्त्वपूर्ण देन सांस्कृतिक अभ्युत्थान है। साहित्य, शिल्प और धर्म के क्षेत्र में उस समय अपूर्व प्रगति हुई। राजाओं ने तत्कालीन कलाओं की प्रगति में सदा योग दिया। इस दिशा में द्राविड वास्तु शिल्प के प्रवर्तक नरसिंह वर्मा द्वितीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[1] ईसवी शती के आरम्भिक युग में महाराज करिकाल केवल उच्चकोटि का विजेता ही नहीं था, अपितु महान् प्रजापालक भी था। उसने कावेरी नदी की धारा बाँधकर बड़ी नहरें निकालीं, जिससे उस प्रदेश में सिंचाई की सुव्यवस्था हो गई। व्यापार की उन्नति के लिए उसने कावेरी नदी के मुहाने पर पुहार नौस्थान को सुव्यवस्थित कराया। वह स्वयं न्याय-परायण तथा धर्म और साहित्य का उन्नायक था।

दक्षिण भारत के चोलवंश में राजराज प्रथम (९८५ ई०) महान् विजयी और प्रतिभाशाली सम्राट् हुआ। उसने उत्तरीय लंका तथा अरब सागर के द्वीपों में अपनी विजय-पताका फहराई। उसका बनवाया हुआ तंजोर में राजराजेश्वर का मन्दिर अभी वर्तमान है। इसकी भित्तियों पर राजा की विजयों का वर्णन उत्कीर्ण है। वह शैव था, पर कट्टर नहीं था। उसने विष्णु के भी अनेक मन्दिर बनवाये और बौद्ध विहारों के लिए दान दिए। राजराज के पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने पूरे लंका को अपने राज्य में मिला लिया। उसने अपनी नौ-सेना से मलय-प्रदेश के राजा संग्राम-विजयोत्तुङ्ग वर्मा को पराजित किया।

भारतीय राजाओं में से कुछ ऐसे भी हुये हैं, जिन्होंने अपने अन्तःपुर में अधिकाधिक संख्या में सुन्दरियों को भरने की सतत चेष्टा की। उनकी संख्या बढ़ाना भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में राजाओं के गौरव का द्योतक रहा है। इस परम्परा का भयावह दुष्परिणाम हुए बिना न रहा। वासना में परिलिप्त राजा का राजकर्म में शिथिल रहना स्वाभाविक है। राजकोश का अतिशय धन वासनाओं की पूर्ति में बहता ही था। राजा के सिंहासन के लिए अनेक षड्यन्त्र चलते थे, जिनमें उसकी

---

१. नरसिंह वर्मा ने कांची में राजसिंहेश्वर का मन्दिर बनवाया था।

रानियाँ और राजकुमार भाग लेते थे। किसी भी राष्ट्र को दुर्बल करने के लिए उपर्युक्त रोगों में से एक भी पर्याप्त सशक्त था।[1]

प्राचीन काल का परिश्रमपूर्ण राजपद किसी दृष्टि से बहुत स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता था। राजपद के उत्तरदायित्व कठोर और संकटापन्न थे। राजा को स्वयं बहुत अधिक काम करना पड़ता था। उसका जीवन किसी तपस्वी से अधिक सुखी नहीं था। युद्ध-भूमि में उसे स्वयं जाकर लड़ना पड़ता था। उसे न्याय करने के लिए न्यायालय में माथापच्ची करनी पड़ती थी। नित्य की प्रजा की छोटी-मोटी समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहना पड़ता था। ऐसा करते रहने पर भी उसे सदा सशंक रहकर अपने चारों ओर वातावरण में शत्रु देखने का अभ्यास करना चाहिए था। मन्त्री, रानी, पुत्र, भाई आदि किसी के द्वारा भी राजा की मृत्यु के लिए उपाय का अभिवर्धन किया जाना कोई दूर की बात नहीं थी। प्रजा का विद्रोह प्राचीनकाल में कम सुना जाता है, पर यदि कोई राजा निकम्मा हुआ तो उसे प्रजा और पड़ोसी राजाओं के आतंक से राजपद सँभालना कण्टक-रहित नहीं रहता था। विलासी राजाओं की प्रशंसा कवियों ने भले की हो, पर इतिहासकार उनकी विलासिता के निन्दक रहे हैं।

मन्त्रि-परिषद् और प्रजा-सभा

वैदिक काल में सभा और समिति नामक दो संस्थायें राजनीतिक जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं। उस समय प्रायः प्रत्येक गाँव या नगर के पुरुष और स्त्रियाँ सार्वजनिक सभा-भवन में एकत्र होकर सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व के विषयों पर अपना मत प्रकट करते थे। सभा का रूप आजकल की ग्राम-पंचायत के समान प्रतीत होता है। सभाओं का निर्णय राजा को निर्देश देने के लिए होता था। कभी-कभी राजा भी सभा का सदस्य होता था। उच्चकोटि की सभाओं के सभासद् स्वभावतः ऐश्वर्यशाली और उदार व्यक्तित्व के पुरुष होते थे।

समिति का राजा से अधिक निकट सम्बन्ध होता था। उपनिषद्काल में

---

१. कीथ ने भारतीय राजाओं के आदर्शच्युत होने की अतिरंजना करते हुए लिखा है :—

The spirit of As'oka has entirely disappeared from the royal families of India and the courts demanded amusement with refinement, just as they sought for elegance in art. Sanskrit Drama P. 284-285.

समिति का प्रधान राजा होता था। समिति में उच्चकोटि के वक्ता तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में तर्कपूर्ण और ओजस्वी भाषण देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा को समिति का मत अवश्यमेव ग्रहण करना पड़ता था। समिति के विरोध में राजा का राजपद पर टिकना असंभव था। समितियाँ शासन सम्बन्धी नियमों की व्यवस्था भी करती थीं।[१] विवादग्रस्त विषयों पर सर्वसम्मति से उनका निर्णय अपेक्षित होता था।[२]

वैदिक काल के पश्चात् भारत में गणराज्यों की प्रतिष्ठा हुई। प्रायः सभी गणराज्यों में शासन से सम्बद्ध समितियाँ होती थीं, जिनके सदस्य समाज के उच्च-वर्गीय लोग होते थे। कुछ समितियों के सदस्यों की उपाधि राजा थी। इस प्रकार की उच्च समितियाँ गणराज्यों की राजधानियों में होती थीं। वैदिक पद्धति की छोटी समितियाँ भी गाँवों की पंचायतों के समान कार्य करती थीं। पंचायतों की बैठक संथागार में होती थी। राजधानी की उच्च समितियों के सदस्य सहस्रों तक होते थे। सम्भवतः छोटे-बड़े सभी राजवंशी भूमिधर इन संस्थाओं के सदस्य थे। गणराज्यों की केन्द्रीय समितियों को अधिकार था कि अपने राज्य का शासन-विधान बनायें और उसको कार्यान्वित करें। भारत के विभिन्न भागों में ऐसे गणराज्य ई० पू० छठी शती से लेकर चौथी शती ई० तक प्रतिष्ठित रहे।

प्रजा की उपर्युक्त सभा और समितियाँ सम्भवतः नियत समय पर मिलती थीं और उनका कार्यक्षेत्र भी नियमित था। एक अन्य प्रकार की सारी प्रजा की सभा आकस्मिक राजनीतिक परिस्थितियों में बिना बुलाये हुये ही अपना मत व्यक्त करने के लिए आ जुटती थी। ऐसी प्रजा की सभाओं का जातक-साहित्य तथा रामायण और महाभारत में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। उन सभाओं का स्वरूप सार्वजनिक होता था।[३] राम के राज्याभिषेक का अनुमति प्राप्त करने के लिए राजा दशरथ ने सर्वपरिषद् बनाई थी। इस परिषद् में नृप (राजा)

---

१. The business of the council was general deliberation of the policy of all kinds, legislation so far as the Vedic Indian cared to legislate and judicial work. Vedic Index. Vol. II. P. 431.

२. ऋग्वेद १०.१९१।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए बेणीप्रसाद की—The State in Ancient India P. 88.

ब्राह्मण, जन-मुख्य तथा पौरजानपद सम्मिलित थे। परिषद् के मत का सर्वाधिक महत्त्व था।[१]

वैदिक काल में राजाओं के पार्श्ववर्ती श्रेष्ठ जनों की उपाधि रत्नी थी। संभव है, परवर्ती युग के राजसभा के नवरत्नों का पूर्वरूप रत्नी हो। रत्नियों में से कुछ तो अवश्य ही राजकीय मन्त्रणा के लिए उपयोगी होते थे। ऐसे रत्नी पुरोहित, सेनानी (सेनापति), भागधुक् (कर-संचायक) तथा संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) आदि थे।

रत्नी-संस्था का मन्त्रणा से सम्बद्ध भाग परवर्ती युग में मन्त्रि-मण्डल के रूप में विकसित हुआ। जातक-साहित्य के अनुसार पुरोहित राजा का अर्थ-धर्मानुशासक होता था। वह संभवतः मंत्रि-मण्डल में प्रधान होता था।

जातक-युग में अमात्य-संस्था का विकास हुआ। अमात्य की उपाधि संभवतः राष्ट्र के सभी कुलीन लोगों को मिल जाती थी। तभी तो उनकी संख्या ६०,००० तक पहुँच सकती थी। अमात्य राजकीय समस्याओं को सुलझाने के लिए समुचित सुझाव देते थे और राजकीय योगक्षेम के लिए उपयोगी उपायों को कार्यरूप में परिणत करने में निष्णात होते थे। समय-समय पर वे राजा से गुप्त मन्त्रणा करते थे। सेनापति, भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष), रज्जुक (भूमि-मापक) आदि अमात्य होते थे। राजनीति के निर्धारण करने वाले मन्त्रियों में पुरोहित का सर्वोच्च महत्व माना जा सकता है। उसका काम था राजा को सत्पथ पर लगाना और असत् से निवारण करना।[२]

महाभारत के अनुसार राजा के ३७ अमात्य होने चाहिए। इनमें से वेदवित्, प्रगल्भ, स्नातक तथा पवित्र चार ब्राह्मण, बलवान् और शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, समृद्धिशाली २१ वैश्य, विनीत और पवित्र तीन शूद्र तथा सर्वगुण सम्पन्न एक सूत होते थे। इन सब की अवस्था ५० वर्ष से अधिक होनी चाहिए थी और वे सभी निर्भीक होकर मत देने वाले, असूया रहित, श्रुति और स्मृति से समायुक्त, विनीत समदर्शी, वस्तु-स्थिति का विवेचन करने में समर्थ, निर्लोभ और सभी व्यसनों से

---

१. अयोध्याकाण्ड २.१, १५। इस प्रकरण में आये हुए राजाओं की एक उपाधि लोक-सम्मत है।

२. महाभारत में भी भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है :—

य एव तु संतो रक्षेत् असतश्च निवर्तयेत्।
स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः॥ शान्ति ७३.१

रहित होने चाहिए।[1] इनमें गिने-चुने मन्त्री ही एक समय मन्त्रणा के लिए चुने जाते थे। राजा ८, ५ या ३ मन्त्रियों को साथ लेकर मन्त्रणा करता था।[2] राज्य के संवर्धन के लिए मन्त्रियों की मन्त्रणा का अतिशय महत्त्व था।[3] मन्त्रणा-विधि इस प्रकार थी—राजा तीन मन्त्रियों के विमर्शों को सुनता था और उनको समझकर उन तीन मन्त्रियों के मत को तथा अपने मत को विद्वान् गुरु ब्राह्मण के समक्ष कहता था। वह गुरु सभी मतों का सम्यक् विवेचन करके जो सिद्धान्त एकमत से निर्णय करता था, उस मन्त्र-मार्ग पर निष्काम भाव से राजा आचरण करता था।[4]

रामायण के अनुसार लंका की सभा में सभी राक्षस आमन्त्रित किये जाते थे। वे सभी यथायोग्य आसन पर बैठते थे। मन्त्री भी इकट्ठे होते थे। राजा स्वयं सभापति का आसन ग्रहण करता था। मन्त्रणा का यह आयोजन राम के लंका पर आक्रमण करने के पूर्व हुआ था।[5]

रामायण में मन्त्रि-मंडल के कार्य-कलाप का स्पष्ट विवेचन मिलता है। इसके अनुसार राजा के आठ मन्त्री होते थे। मंत्री का पद वंशानुक्रमिक था। मन्त्रियों में पुरोहित का पद सर्वोच्च था। साधारण परिस्थितियों में मन्त्री अपने विशिष्ट विभाग की देखभाल करते थे, पर विशेष परिस्थितियों में वे शासन के क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकार ग्रहण कर सकते थे। मन्त्री विचारशील उपदेशक, योग्य शासक, राजभक्त, राज्य की रक्षा करने में तत्पर और प्रजा के हितैषी थे। दशरथ की अनुपस्थिति में मन्त्रियों ने भरत को बुलाया, उसे राजा बनने के लिये कहा और उसके अस्वीकार करने पर भरत के साथ राम के पास जाकर परामर्श किया।

सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्धु प्रदेश में पत्तल नामक नगर के दो राजा थे। ग्रीक लेखकों ने इस नगर के शासन के सम्बन्ध में लिखा है कि इसका शासन स्पार्टा की भाँति होता था। उन राजाओं को परामर्श देने के लिये मुख्य लोगों की एक संस्था थी।[6]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ८६.७–११। अमात्यों के साधारण गुणों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए वही ८४ वाँ अध्याय।

२. वही ८६, १०; ८४.४९ और ८४.४४।

३. मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते॥ शान्ति ८४.४५॥

४. वही ८४.५०–५२।

५. युद्धकाण्ड ११ वें सर्ग से।

६. Cambridge Hist. Vol. I. P. 378.

अर्थशास्त्र में कहा गया है—'मन्त्रपूर्वाः सर्वारम्भाः' अर्थात् कोई भी राजकीय कर्म करने के पहले राजा को मन्त्रणा कर लेनी चाहिये। मन्त्रणा के लिये आवश्यक था कि वह इस विधि से की जाय कि सर्वथा गुप्त रहे। इसके लिये जो उपाय किये जाते थे, उनका परिचय इस धारणा से मिलता है कि शुक, सारिका और श्वानों से मन्त्र-भेद हो जाता है। दूत, अमात्य और स्वामी के इंगित और आकार से मन्त्र-भेद होता है। जो मन्त्र-भेद करता था, उसको प्राण-दण्ड दिया जाता था। मन्त्र-रक्षा के लिये मन्त्रणा में भाग लेने वाले लोगों की सुरक्षा का तथा उनको प्रमाद, प्रमत्तता, सुप्त-प्रलाप, काम-वासना आदि व्यसनों से बचाये रखने का आयोजन राजा की ओर से किया जाता था। मन्त्रियों का तिरस्कार तो किया ही नहीं जाता था, क्योंकि भय था कि वे कहीं मन्त्र-भेद न कर दें।

कौटिल्य ने बताया है कि राजा तीन या चार मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे। कठिन विषयों में एक मंत्री कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दे सकता था। एक मन्त्री अपनी अद्वितीयता से निरंकुश हो जाता है। दो मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे यदि मिल गये या झगड़ पड़े तो ठीक निर्णय नहीं हो पाता। चार से अधिक मंत्रियों के साथ मन्त्रणा होने पर कठिनाई से ही निर्णय हो पाता है। देश, काल, कार्य आदि के अनुकूल एक या दो मन्त्रियों के साथ या अकेले ही निर्णय लिया जा सकता है।

अर्थशास्त्र के अनुसार मंत्रणा के ५ अंग हैं—काम के आरम्भ करने का उपाय, पुरुष और साधन का आयोजन, देश-काल का निश्चय, विपत्तियों से बचाव और कार्य की सिद्धि। राजा का कर्त्तव्य था कि वह मन्त्रियों का मत और तदनुकूल उनकी युक्तियों को सुने और कभी मन्त्रणा में अधिक समय न लगाये।

मन्त्रि-परिषद् में सदस्यों की जिस संख्या का सुझाव विभिन्न आचार्यों ने दिया है, उसका आकलन अर्थशास्त्र में मिलता है। इसके अनुसार मनु के अनुयायी १२, बृहस्पति के अनुयायी १६ और उशना के अनुयायी २० मन्त्रियों की परिषद् बनाने का मत प्रवर्तित करते हैं। कौटिल्य का मत है कि यथासामर्थ्य मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या हो सकती है।

गिने-चुने अमात्यों की मन्त्रि-परिषद् बनती थी। अमात्यों की योग्यता की परिपक्वता का प्रमाण मिल जाने पर ही संभवतः उन्हें मन्त्रिपरिषद् में लिया जाता था।[1] मन्त्रिपरिषद् के सदस्य मन्त्रियों के अतिरिक्त लोग होते थे। मन्त्रियों का

---

१. अर्थशास्त्र १.८ अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः तथा १.१५ में मन्त्रिपरिषद् द्वादशामात्यान् कुर्वीत आदि।

वेतन ४८,००० पण वार्षिक था। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का वार्षिक वेतन १२,००० पण था।

मन्त्रियों को राजा और उसके शत्रुओं के सम्बन्ध में विचार करना पड़ता था। वे नये कार्यों का आरम्भ करते थे, आरम्भ हुये कार्यों को पूर्ण करते थे, सम्पन्न कार्यों को सँवारते थे और राजकीय आज्ञाओं को पूरा कराते थे। समीपस्थ मन्त्रियों से राजा साक्षात् बातचीत करके इनका मत जान लेता था, पर दूरस्थ मन्त्रियों से पत्र भेजकर मत जानने की रीति थी। कभी-कभी मन्त्रणा के कार्य में मत-गणना का अवसर उपस्थित हो जाता था। बहुसंख्यक मत राजा के लिये मान्य होता था।

अर्थशास्त्र में मन्त्रियों की उपयोगिता के विषय में विवेचन मिलता है। राजा स्वयं उन सभी कार्यों को नहीं कर सकता, जिन्हें उसे करना चाहिये। कार्य अनेक होते हैं और अनेक स्थानों पर होते हैं। ऐसी स्थिति में राजा अमात्यों को उन सभी कार्यों के सम्पादन के लिये नियुक्त कर देता था।

अर्थशास्त्र के अनुसार अमात्यों के समकक्ष पुरोहित का पद था। पुरोहित को उच्च कुल में उत्पन्न, शीलवान्, सांगोपाङ्ग वेदज्ञ और दैव, निमित्त, दण्डनीति आदि विषयों का पण्डित होना चाहिए था। वह दैवी और मानुषी आपत्तियों को अथर्ववेद के मन्त्रों के द्वारा उपाय करके दूर करता था। पुरोहित का पद अतिशय ऊँचा था। राजा पुरोहित का अनुवर्तन वैसे ही करता था, जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का अथवा भृत्य स्वामी का। कौटिल्य ने निर्देश किया है :—

ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम्॥

(पुरोहित क्षत्र को समिद्ध करता है, मन्त्रियों की मन्त्रणा से क्षत्र विवेकपूर्ण होता है और शास्त्र के अनुसार क्षत्र का प्रतीक शस्त्र का प्रयोग होता है। इन गुणों से सम्पन्न क्षत्र अजित का भी जय करता है)।

अशोक के शासन-काल में मंत्रि-मण्डल जैसी संस्था का नाम परिषद् था। सम्राट की परिषद् के अतिरिक्त प्रान्तीय राज्यपालों की परिषदें भी होती थीं। परिषद् के सदस्य सम्भवतः राजकीय उच्च अधिकारी होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् की बैठकों में प्रत्येक सदस्य अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करता था, चाहे उसका मत सम्राट् या किसी अन्य सदस्य के विचार के विरुद्ध ही क्यों न हो। सम्राट् को तत्काल ही परिषद् के अभिनव निर्णयों की सूचना दी जाती

थी। परिषदें 'युत' नाम के कर्मचारियों को धर्म की वृद्धि करने की दिशा में सहयोग देती थीं।[1] मन्त्रि-परिषद् का राजा के ऊपर समुचित नियन्त्रण था।

परवर्ती युग के महाराज पुष्यमित्र की सभा का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। संभव है, यह सभा मन्त्रि-परिषद् के समकक्ष हो। कालिदास ने तत्कालीन मन्त्रि-परिषद् का उल्लेख मालविकाग्निमित्र नाटक में किया है।

मन्त्रियों के उल्लेख परवर्तीयुग के शिलालेख में मिलते हैं। गिरिनगर के महाराज रुद्रदामन् के शिलालेख के अनुसार दूसरी शती ई० पू० के मध्य भाग में मंत्री (सचिव) दो प्रकार के थे—कर्मसचिव और मति सचिव।[2] इनमें से मतिसचिव मन्त्रणा के लिए तथा कर्मसचिव राजकीय विधानों के अनुसार कार्य-सम्पादन करने के लिए होते थे। राजा सचिवों के विरोध करने पर भी प्रजा के हित की योजनायें कार्यान्वित करा सकता था।

गुप्तकालीन राजाओं के मन्त्रियों में से प्रधान मंत्री, सन्धि-विग्रहिक (युद्ध और सन्धि सम्बन्धी) तथा अक्षपटलाधिकृत (राजकीय लेख-पत्रों का संग्राहक) के पद सर्वोच्च होते थे। सान्धि-विग्रहिक राजा के साथ युद्धभूमि में भी जाता था। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस युग में मन्त्रि-परिषद् होती थी कि नहीं। बसाढ़ की मुद्रा से ज्ञात होता है कि स्थानीय परिषदें होती थीं। गुप्तकालीन मन्त्री प्रायः उच्चकोटि के सेनापति होते थे। कुछ मन्त्री उच्च कोटि के साहित्यकार थे। अनेक मन्त्री आनुवंशिक रूप से नियुक्त थे।

आठवीं शती में रचित ग्रन्थ शुक्रनीति से तत्कालीन और पूर्वयुगीन मन्त्रि-संस्था का परिचय मिलता है। इसके अनुसार 'मन्त्री के लिए साधारणतः दो दर्शक (सहायक) होते थे। दर्शक उन्नति करने पर स्वयं मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता था। मन्त्रियों के विभाग आपस में परिवर्तित होते रहते थे। मन्त्री अपने विभाग के निर्णयों को लिखता था और लेख के अन्त में अपनी स्वीकृति सूचित करता था। इसके पश्चात् वह लेख राजा की स्वीकृति के लिए मुद्रित करके भेजा जाता था। अन्त में आदेश प्रकाशित किया जाता था, जिससे वह निर्णय कार्यान्वित हो सके। शुक्र-नीति में मन्त्रि-परिषद् के लिये १० मन्त्रियों की गणना की गई है—पुरोहित, प्रति-निधि (उपराज), प्रधान मंत्री, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत। इनमें से प्रतिनिधि राजा की अनुपस्थिति में उसके स्थान पर काम करता

---

१. अशोक के शिलालेख ६ और ३।

२. अमरकोश में उल्लिखित धीसचिव और कर्मसचिव पदों से ज्ञात होता है कि मन्त्रियों का इन दो कोटियों में विभाजन गुप्तकाल में भी सम्भवतः प्रचलित था।

था। सचिव युद्धमन्त्री था। मन्त्री परराष्ट्र-मंत्री होता था। प्राड्विवाक न्यायविभाग का अधिकारी था और न्यायाधीश होता था। पंडित नामक मंत्री राष्ट्र को सदाचार-पथ पर प्रगतिशील बनाने के लिये योजनायें बनाकर उन्हें कार्यान्वित करता था और वर्तमान परिस्थितियों में लोक-विरुद्ध धर्म की प्राचीन परिपाटियों के परिवर्तन के लिये राजा का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करता था। सुमन्त्र कोषाध्यक्ष होता था अमात्य राजकीय आय का मन्त्री था। उपर्युक्त मन्त्रियों का स्थान राज-नीतिक विन्यास में प्रायः सदा ही रहा है। परवर्ती युग के साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इनके समकक्ष मन्त्रियों के पदों के उल्लेख मिलते हैं।

नवीं शती के कश्मीर के इतिहास में अवन्ति वर्मा के मन्त्री सूर की योग्यता और कार्य-क्षमता सुप्रतिष्ठित हैं। वह स्वयं उच्चकोटि का न्याय-परायण और प्रतिभाशाली शासक था। विद्वानों को उसने आदरपूर्वक आश्रय देकर राजसभा को अलंकृत किया और उनको ऐश्वर्य तथा सम्मान से विभूषित किया। उसने नगर बसाये, मन्दिर बनवाये और विहारों को दान दिया। कल्हण ने राजा और मन्त्री की प्रशस्ति करते हुए कहा है—ऐसे राजा और मंत्री का अनुपम युग्म न तो देखा गया और न सुना गया। इनके पारस्परिक सम्बन्ध में द्वेष और मनोमालिन्य को स्थान ही न मिल सका। दसवीं शती में कश्मीर में कुछ अयोग्य मंत्रियों का प्रभुत्व बढ़ा, जिन्होंने बारंबार अनेक राजाओं को पदच्युत किया और कुछ राजाओं के प्राण ही ले लिये। ऐसे सभी मंत्रियों को राजकुमार अभिमन्यु की माता दिद्दा ने सकुटुम्ब मरवा डाला और इस प्रकार अपनी शक्ति को संवर्धित किया। कश्मीर में मंत्रियों की उपाधि राजाणक थी।[1]

जैसा राजा, वैसा मंत्री, तथापि मन्त्री उच्च कुलोत्पन्न योग्य व्यक्ति थे।[2] कुछ मंत्री सर्वगुण-सम्पन्न होते थे। वे युद्ध-भूमि में शस्त्रास्त्र धारण करने में उतने ही निष्णात होते थे, जितना शास्त्रीय मतों को प्रस्तुत करके राजा को सत्पथ दिखाने में।[3] कुछ राजाओं का अपने मन्त्रियों के साथ अतिशय घनिष्ठ सम्बन्ध

---

१. राजतरंगिणी ६.११७; ५.१२७।

२. कश्मीर के राजा उन्मत्तावन्ति के मन्त्रियों में से कुछ गायक थे। महा-राज चक्रवर्धन ने अपनी प्रेयसी के भाई-बन्धु डोमों को मन्त्री बनाया था। पर ऐसे अयोग्य राजा और मन्त्री अनेक नहीं थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री शाब नीतिज्ञ और कवि था। राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण तृतीय का मन्त्री नारायण राजनीतिशास्त्र में अतिशय प्रवीण था।

३. महाराज चन्द्रगुप्त का मन्त्री हरिषेण महासेनापति था। गंगवंश के

रहा। ऐसे मन्त्रियों ने अपने प्राणों का बलिदान तक करते हुए अपने स्वामी राजा की रक्षा की है।[१] राजाओं की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाने वाले मन्त्रियों का भी अभाव नहीं रहा। दुर्बल राजाओं को पदच्युत करके मन्त्री स्वयं राजा बन जाते थे। साधारण परिस्थितियों में मन्त्रियों का अधिकार पर्याप्त होता था और राष्ट्र के संवर्धन में योग्य मन्त्रियों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

शासन-तन्त्र

तत्कालीन साहित्य के अभाव में सिन्धु-सभ्यता के युग में प्रचलित शासन-तन्त्र की कल्पना-मात्र हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय शासन-तन्त्र सांग्रामिक नहीं था। शासन के द्वारा सभ्यता-निर्माण के लिए अपेक्षित वातावरण प्रस्तुत किया गया था, जिसमें विविध प्रकार के व्यवसाय, व्यापार, उद्योग-धंधों, कला-कौशल और धर्म का अभ्युदय हो सका था। नगर की रक्षा के लिए शासन की ओर से नगर-रक्षक नियुक्त थे। नगर-पालिका का प्रबन्ध अतीव उत्तम था। सामाजिक उपयोगिता के लिए बनवाई हुई सड़कें अच्छी स्थिति में थीं। उनकी स्वच्छता की व्यवस्था की गई थी और रात्रि के समय सड़कों पर प्रकाश किया जाता था। नागरिकों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए राजकीय पदाधिकारी नियुक्त थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि शासन-तन्त्र प्रजातन्त्रात्मक था।

सिन्धु-सभ्यता के शासन-तन्त्र की भांति ही वैदिक काल की आर्येतर जातियों में प्रचलित शासन-तन्त्र प्रायः अज्ञात सा ही है। इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्येतर जातियों के जो राज्य भारत के विभिन्न भागों में विस्तृत थे, उनकी सुनिश्चित शासन-प्रणाली थी। आर्येतर राजाओं की महती सेना और विशाल दुर्गों का उल्लेख और संक्षिप्त परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। महाभारत और रामायण आदि के प्रमाणों के अनुसार अनेक आर्येतर राज्यों में मन्त्रिमण्डल थे और मंत्रियों के मतानुसार ही शासन होता था।

राजा मारसिंह का मन्त्री चामुण्डाराय गोनूर-युद्ध में विजयी हुआ था। यादव वंशी राजा कृष्ण का मन्त्री नागरस उच्चकोटि का विद्वान् और विजेता था।

१. राष्ट्रकूट वंशी राजा कृष्ण तृतीय का सान्धि-विग्रहिक मन्त्री नारायण दाहिने हाथ की भाँति था। परबल नामक पथरी का राजा अपने मन्त्री की सिर से वन्दना करता था। E. I. भाग ९, पृष्ठ २५४। यादववंशी राजा कृष्ण का प्रधान मन्त्री तो उसके लिए जीभ या दाहिना हाथ ही था।

वैदिक शासन-तन्त्र का प्रधान उद्देश्य 'ऋत' की प्रतिष्ठा करना था।[1] राजा धृतव्रत होकर प्रजा के बीच रहकर उन पर शासन करता था।[2] ऋत के अनुसार प्रजा का एक दूसरे के साथ सत् का व्यवहार होना चाहिए था। धोखा-धड़ी आदि मानव की कुवृत्तियों का उन्मूलन किया जाता था। मानव कैसा व्यवहार कर रहा है—इसका ज्ञान राजा को अपने दूतों से मिल सकता था।[3] दूत प्रजा की सम्पत्ति की देख-भाल करते थे और दूषित मनोवृत्ति वाले लोगों को ढूंढ़ निकालते थे।[4] वेदकालीन भारत का आरम्भिक संयोजन जन से होता था। तत्कालीन आर्य जनता जनों में विभक्त थी। ऐसे जनों के नाम पुरु, तुर्वश, यदु, अनु, द्रुह्यु, भरत, मत्स्य, क्रिवि, तृत्सु, गन्धार, उशीनर आदि मिलते हैं।[5] जन के अन्तर्गत विश् और विश् के अन्तर्गत ग्राम होते थे। प्रत्येक ग्राम में अनेक कुटुम्ब होते थे। ग्राम, विश् और जन में से प्रत्येक के अध्यक्ष होते थे। ग्राम के अध्यक्ष का नाम ग्रामणी था। यह पद किसी न किसी रूप में आज तक चला आ रहा है। आधुनिक मुखिया वैदिक काल के ग्रामणी के समकक्ष है, यद्यपि ग्रामणी के अधिकार वैदिक युग में अधिक थे। ग्रामणी ग्राम-सेना का नायक होता था। ग्राम की सुरक्षा और अभ्युदय के लिये वह प्रयत्नशील रहता था। शासन-प्रबन्ध में राजा के पुरोहित का हाथ रहता था। राजाओं के पास सेना होती थी। सेना का उपयोग विजय करने में होता था। साथ ही प्रजा के बीच शांति की व्यवस्था के लिए सैनिक नियुक्त होते थे। प्रजा पर जहाँ-कहीं किसी प्रकार की विपत्ति पड़ती थी कि राजा और उसकी सेना सहायता के लिए प्रस्तुत हो जाती थी। दावपा नामक कर्मचारी राजा को वन की आग का समाचार देने के लिए नियुक्त थे।[6]

परवर्ती युग के शासन के विविध विभागों के उल्लेख मिलते हैं। जातक-कथाओं के अनुसार राजा की सहायता के लिये उपराज होता था। वह सम्भवतः राजा के द्वारा निर्दिष्ट कामों को सम्पादित करता था और अपने कार्य-क्षेत्र में राजा

---

१. ऋग्वेद १.१५२.१; ५.४४.२; ७.६०.१३।

२. वही १.२५.१०।

३. ऋग्वेद १.२५.१३।

४. ऋग्वेद ७.६१.३; ८.५.३९।

५. आर्यों के जनों की भाँति आर्येतर जातियों के भी वर्ग थे, जिनमें से कुछ के नाम शिम्यु, कीकट, अज, शिग्रु आदि मिलते हैं। इनमें से शासन की दृष्टि से प्रत्येक की स्वतन्त्र सत्ता थी।

६. वाजसनेयि संहिता ३०.१६ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.११.१।

के प्रति उत्तरदायी था। राजकीय शासन के विविध विभागों के सर्वोच्च पदाधिकारी होते थे। सेनापति सेना के अतिरिक्त न्याय का काम भी करते थे। न्याय के लिए सेनापति के अतिरिक्त विनिश्चयामात्य नियुक्त होता था। भाण्डागारिक कोशाध्यक्ष होता था। रज्जुक या रज्जुगाहक भूमि की माप करता था। द्रोणमापक कर-रूप में प्राप्त अन्न को तौलता था।[1] राजधानी की सुरक्षा के लिए प्राकार होता था। प्राकार के द्वार को रात्रि के समय दौवारिक बन्द किया करता था। राजभवन का द्वारपाल भी दौवारिक नामक पदाधिकारी होता था। राजधानी में रात्रि के समय नगरगुत्तिक का राज्य होता था। वह चोरों और डाकुओं को पकड़वा कर उनकी इहलोक-लीला समाप्त कर देता था। चोर-घातक भी नगर गुत्तिक की भाँति चोरों के भय से नगर को मुक्त करने के लिए था। नगर में शांति स्थापित करने के लिए अधिक संख्या में राजपुरुष नियुक्त होते थे। राजपुरुष को सहयोग देते हुए नगरवासी कभी-कभी नगर की शान्ति-भंग करने वालों को राज-दंड दिलाने में प्रयत्नशील होते थे। राज्य के किसी भाग में हिंस्र पशुओं के द्वारा उपद्रव होने पर राजा स्वयं अपने वीर धनुर्धरों को उस हिंस्र पशु को मारने के लिए भेजता था। इस प्रकार वनमार्गों में हिंसक पशुओं से प्रजा की रक्षा की जाती थी।[2]

जातक-युग में राज्य का विभाजन प्रान्तों में हुआ था। प्रान्तों का शासन राजकुमारों के हाथ में था। प्रान्तों में अनेक गाँव होते थे। आजकल की ही भाँति गाँव छोटे और बड़े होते थे। छोटे गाँवों की समस्यायें छोटी होती थीं। बड़े गाँवों का शासन-सूत्र गाम-भोजकों के हाथ में होता था। उनका पद ऊँचा होता था। छोटे-मोटे अपराधों के लिए दंड देना, मादक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखना, पशु-वध पर आवश्यक रोक लगाना आदि ग्राम-भोजक के काम थे। अकाल पड़ने पर गाम-भोजक लोगों को ऋण-रूप में अन्न की सहायता देता था। गाम-भोजक राजा के प्रति उत्तरदायी होता था। यदि वह अपने अनुचित व्यवहार के कारण स्वयं गाँव की शान्ति-भंग का कारण बन जाता था तो उसे राजदंड का भागी बनना पड़ता था।[3] अयोग्य गाम-भोजकों को हटाकर उनके स्थान पर सुयोग्य गाम-भोजक नियुक्त कर दिये जाते थे। गाँव का सुधार करने की दिशा में गाम-भोजक का समुचित हाथ होता था। वह स्वयं ग्राम-सुधार की

---

१. उपराज, रज्जुक, द्रोण आदि का कार्य-विवरण कुरुधम्म जातक २७६ से।
२. भीमसेन जातक ८०।
३. कुलावक जातक ३१।

योजनायें बनाकर उन्हें कार्यान्वित कर सकता था, पर कभी-कभी प्रतिक्रियावादी लोग ग्राम-भोजकों की अच्छी योजनाओं को भी नहीं चलने देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गामभोजक गाँव के प्रधान और शक्तिशाली पुरुषों की सहायता प्राप्त करके ही सफल हो सकता था। अनुचित व्यवहार करने वाले ग्राम-भोजकों को जनता तत्काल समुचित दण्ड देती थी। लोगों का विश्वास था कि यदि गाम-भोजक स्वयं सदाचारी न हो तो वह गाँव में सदाचार की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता।

ग्रामीण शासन की दृष्टि से वे गाँव सर्वोत्तम थे, जिनके निवासी वास्तव में गाँव को आदर्श बनाने के लिए सचेष्ट होते थे। जातक-साहित्य में कुछ ऐसे गाँवों के उल्लेख मिलते हैं, जहाँ ग्रामवासी नित्य प्रातःकाल उठकर गाँव की स्वच्छता, सड़कों का संस्कार, जलाशय तथा सभाभवन का निर्माण आदि सार्वजनिक उपयोगिता के काम अपने आप किया करते थे। स्त्रियाँ भी इन कामों में हाथ बटाती थीं।[1]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार गाँवों के साथ नगरों की स्थानीय शासन-व्यवस्था का आरम्भ हुआ था। नगर के पदाधिकारी की अध्यक्षता नगर के चारों ओर एक योजन दूर की परिधि तक थी और गाँव के मुखिया का शासन-क्षेत्र गाँव के चारों ओर एक कोस की परिधि तक था। इस क्षेत्र के भीतर शांति और सुव्यवस्था आदि का सारा उत्तरदायित्व इन्हीं पदाधिकारियों के ऊपर था। यदि शासन-परिधि के भीतर कहीं चोरी हो जाती और वे पदाधिकारी टोह न लगा पाते तो चोरी गई वस्तु उन्हीं को देनी पड़ती थी।

महाभारत के अनुसार शासन-प्रबंध में राजा की सहायता के लिए अनेक पदाधिकारी नियुक्त होते थे। राज्य का विभाजन शासन की सुविधा के लिए प्रांतों में हुआ था। प्रांतों में अनेक ग्राम और नगर होते थे। शासन के लिए राजा नगरों के प्रति अधिक सचेष्ट होता था। व्यवस्था की दृष्टि से नगरों का शासन सफल था। गाँवों और नगरों का शासन एक दूसरे से अनुबद्ध था। गाँवों के सुशासित

---

१. महाअस्सारोह जातक २। कुलावक जातक ३१ के अनुसार ग्राम-कृत्य के अन्तर्गत स्थानों को रमणीय बनाना, मण्डप, शाला आदि का निर्माण करना, सड़कों से पत्थरों को हटाना, गाड़ी की धुरी में लगने वाले वृक्षों को काटना, ऊँच-नीच को समतल करना, सेतु बनाना, जलाशय खोदना, सदाव्रत चलाना, उपवन लगवाना आदि थे। इनके द्वारा सार्वजनिक अभ्युदय का आयोजन होता था। इन कामों को मचल ग्राम के ३० स्वयंसेवक अपना कर्तव्य समझ कर करते थे। धार्मिक भावना के अनुसार इन कर्मों से देवलोक में मरणोत्तर-वास होता है।

होने पर नगरों के सुरक्षित होने की सम्भावना मानी जाती थी। समग्र प्रांत एक गाँव की भाँति शासन-सूत्र में सुश्लिष्ट होता था। राजकीय सेना सर्वत्र चोरों का पीछा करके गाँव और नगरों की उनसे रक्षा करती थी।[१]

राष्ट्रीय शासन का आरम्भ गाँव से होता था। क्रमशः एक, दस, बीस, सौ और सहस्र गाँवों का शासन करने के लिए अधिपति नामक पदाधिकारी होते थे, जो परस्पर पूर्वापर विधि से उत्तरदायी होते थे। गाँव के लोग अपने गाँव के अधिपति से 'ग्राम-दोषों' को बतलाते थे। ग्रामाधिपति उन्हें दशप से, दशप विंशतिप से और विंशतिप शतप से निवेदन करता था। इन सब के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए एक सचिव होता था। उपर्युक्त पदाधिकारियों के कार्य दो प्रकार के थे--ग्राम-कृत्य और संग्राम-कृत्य। ग्राम-कृत्य के अन्तर्गत गाँव के अभ्युदय की योजनायें स्वच्छता, सड़क बनाना, जलाशय और सभाभवन के निर्माण आदि थीं। संग्राम-कृत्य सुरक्षा के लिए युद्ध का समारम्भ था। नगर का शासन करने के लिए सर्वार्थ-चिंतक नामक पदाधिकारी होता था। सर्वार्थ-चिंतक नगर की उन्नति के लिए सभी प्रकार के आयोजन करता था।[२] जनपद में प्रजा का क्षेम करने के लिए पाँच शूर और प्राज्ञ पदाधिकारी क्रमशः पाँच प्रकार के अधिकार क्षेत्र में नियोजित होते थे।[३] राजा के द्वारा राजभवन, दुर्ग, सीमा, नगर के उपवन, पुर के उद्यान, सभी नगरों और पुरों में रक्षक सेना की टुकड़ी रखी जाती थी। वह अपने छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों, अपने सम्बन्धियों, मित्रों और कुटुम्बियों की सूचना रखने के लिए प्रणिधि (गुप्तचरों) को नियुक्त करता था। गुप्तचर पुर, जनपद तथा सामन्त राजाओं का परिचय राजा को देते थे। वे आपण, विहार, समाज, आराम, उद्यान, विद्वानों की परिषद् भिक्षुओं के बीच सभा, आवसथ आदि प्रायः सभी स्थानों में चक्कर करते रहते थे।[४]

राजा का कर्तव्य था कि वह उत्तम, मध्यम और अधम व्यक्तियों को उनके व्यक्तित्व के अनुरूप राजकीय कामों में नियुक्त करे। लोभी, चोर, वैरी या अनुभवहीन व्यक्ति किसी पद पर प्रतिष्ठित नहीं किये जा सकते थे। राष्ट्र को दुष्प्रवृत्ति-परायण लोगों के द्वारा सम्भावित पीड़ा से बचाना राजा का धर्म था, चाहे वे

---

१. सभापर्व ५वें अध्याय से

२. शान्तिपर्व ८८.३-१०। ग्रामकृत्य की रूपरेखा के लिए देखिए—महाअस्सारोह जातक ३०२ तथा कुलावक जातक ३१।

३. सभापर्व ५.७० कच्चिच्छुचिकृतः प्रज्ञाः आदि।

४. शान्ति ६९.६-१३।

राजकुमार ही क्यों न हों।[1] योग्य और राजभक्त कर्मचारियों को पहले से ही उनका दोष बिना जाने हुये उनको पदच्युत नहीं किया जाता था।[2]

मौर्यकालीन शासन-तन्त्र का विशद परिचय अर्थशास्त्र तथा ग्रीक लेखकों के विवरणों से प्राप्त होता है। इसके अनुसार राजा का कर्तव्य था कि प्रजा को अपने वर्णाश्रम-धर्म से विचलित न होने दे, क्योंकि धर्म के अनुकूल आचरण करते हुए मानव इस लोक और परलोक में सुखी रहता है।[3] इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए दंडनीति साधन है। यथायोग्य दंड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से समायुक्त करता है।[4] दंडनीति का परिचालन करने के लिए राजा गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) को नियुक्त करता था। विविध प्रयोजनों और परिस्थितियों के लिये गुप्तचरों की पाँच संस्थायें थीं। छात्ररूप में 'कापटिक' राजा या मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता था और दूसरों के अकुशल (बुराइयों) की सूचना देता था। वैरागी रूप में उदास्थित के अधीन अनेक साधुओं को राजकीय आय सम्बन्धी अपराधों का पता लगाने के लिए नियुक्त किया जाता था। कृषकरूप में गृहपतिक, वणिक् रूप में वैदेहक और जटाधारी रूप में तापस अपने वेषोचित कार्य को प्रत्यक्ष रूप से अपनाये हुए गुप्त रूप से राजा का काम करते थे। गुप्तचरों का पारस्परिक संघटन होता था। तापस गुप्तचर के शिष्य बनने वालों में वैदेहक भी होते थे। वे 'तापस' की अद्भुत सिद्धियों के प्रचारक बन जाते थे। ऐसे तापसों को अनायास ही गुप्त समाचारों की प्राप्ति हो जाती थी। गुप्तचर राजकर्मचारियों के चरित्र का परिचय प्राप्त करते थे।[5]

राजा के गप्तचर सभी समीपवर्ती शत्रु, मित्र और उदासीन राजाओं तथा उनके अठारह राजकीय विभागों की सूचना प्रा त करते थे। उनके अन्तःपुर में कुबड़े, वामन, नपुंसक आदि गुप्तचर का काम करते थे। वणिक् वर्ग के गुप्तचर दुर्गों में, सिद्धतापस वर्ग के गुप्तचर दुर्गों के उपप्रदेश में, कृषक और वैरागी वर्ग के गुप्तचर गाँवों में, व्रजवासी गुप्तचर राष्ट्र की सीमाओं पर तथा वनचर, श्रमण और आटविक नामक गुप्तचर शत्रु की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में समाचार देने के लिए

---

१. सभापर्व ५.६५–६७।

२. वही ५.६३।

३. तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥ अर्थशास्त्र १.३ से॥

४. अर्थशास्त्र १.४ से।

५. अर्थशास्त्र १.११ से।

नियुक्त होते थे। विदेशी गुप्तचरों को ढूंढ़ निकालना गुप्तचरों का ही उत्तरदायित्व था।[1]

अपने राज्य की प्रजा में राजभक्ति संचार करने के लिए 'सत्री' नामक गुप्तचर स्थान-स्थान पर राजा के पक्ष में वाद-विवाद करते हुये राजा के गुण-अवगुण का परिचय देते थे और अन्त में सिद्ध करते थे कि राजा प्रजापालक है। प्रजा के बीच जो लोग राजा से असन्तुष्ट होते थे, उनको सन्तुष्ट करने का प्रयास किया जाता था, अन्यथा उनको शक्तिहीन और असफल बनाने की चेष्टा की जाती थी।[2]

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को स्वयं शासन के काम के लिए समय देना चाहिए। कौटिल्य ने दिन और रात्रि में से प्रत्येक के आठ भाग करके राजा के लिए दिन के प्रथम भाग में रक्षकों को काम पर लगाना तथा आय-व्यय सुनना, द्वितीय भाग में पुर और जनपद के लोगों के कामों को देखना, चौथे भाग में अध्यक्षों की नियुक्ति पर विचार करना, पाँचवें में मन्त्री-परिषद् से पत्र-व्यवहार करना तथा गुप्तचरों के द्वारा लाये हुए संवाद को सुनना, सातवें भाग में हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना का निरीक्षण करना तथा आठवें भाग में सेनापति के साथ युद्ध-सम्बन्धी बातें करना आदि कामों का परिगणन किया है। इसी प्रकार उसे रात्रि के पहले और सातवें भाग में गप्तचरों की बातें सुनना तथा उनको काम पर लगाना तथा छठें भाग में दिन के कामों का विचार करना चाहिए था। राजसभा में राजा को प्रजा के काम के लिए तत्पर रहना चाहिए था। उसे निवेदकों को प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए था और न अपना काम किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से करना चाहिए था। दीन-दुःखियों और असहाय व्यक्तियों के काम को तो वह किसी दूसरे के ऊपर कभी न छोड़े। सदैव कर्मण्य रहना, अपने कामों को सफलता पूर्वक सम्पादित करना और सबको समान समझना क्रमशः उसके सर्वोच्च धार्मिक कर्तव्य माने गये।[3]

घने बसे हुए प्रदेश के लोगों को अथवा विदेशी लोगों को अपने देश में बुलाकर किसी उजड़े हुए गाँव में या नए प्रदेश में बसाने का प्रयत्न राजा की ओर से होता था। गाँवों की सीमायें निर्धारित होती थीं। राजा आठ सौ गाँवों के केन्द्र में

---

१. अर्थशास्त्र १.१२

२. वही १.१३

३. राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्।
दक्षिणावृत्ति-साम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्। अर्थ० १.१६ से।

स्थानीय (नगर, जिसमें थाना हो), चार सौ गाँवों के केन्द्र में द्रोणमुख, दो सौ गाँवों के बीच में खार्वटिक और दस गाँवों के केन्द्र में संग्रहण बसाता था। राष्ट्र की सीमा पर दुर्ग बनाये जाते थे। यहीं से अन्तपाल नामक पदाधिकारी राष्ट्र में आने वाले लोगों की देख-भाल करता था। राष्ट्र की वन-भूमि की रक्षा का भार वागुरिक (व्याध), शबर, पुलिन्द, चांडाल आदि वनवासी लोगों पर था।

मुद्राध्यक्ष की मुद्रा पाकर ही कोई व्यक्ति विदेश जा सकता था या विदेशी राष्ट्र में प्रवेश कर सकता था। विवीताध्यक्ष मुद्राओं का निरीक्षण करता था। भयानक भूभागों में विवीत की स्थापना की जाती थी। विवीताध्यक्ष चोर तथा भयानक जन्तुओं के भय से वन-प्रदेश को सुरक्षित बनाता था और जल-रहित प्रदेश में जलाशय, आश्रय-स्थान, कुयें तथा फल-फूल की वाटिकायें बनवाता था। वनों में शिकारी और कुत्तावाल भ्रमण करते थे और डाकुओं एवं शत्रुओं को देखते ही शंख-दुन्दुभि का निनाद करके या शीघ्रगामी वाहन द्वारा सूचना देते थे। राजा के गृह-कपोतों द्वारा मुद्रा भेजकर या आग के धुयें से शत्रुओं के आक्रमण की सूचना दी जाती थी। विवीताध्यक्ष अच्छी लकड़ी तथा हाथी के वन की रक्षा करते थे, सड़कों का नवीकरण करते थे, चोरों को पकड़ते थे और व्यापारियों के सार्थ को सुरक्षित रूप से अभीष्ट स्थान तक पहुँचाने का प्रबन्ध करते थे।[१]

नगर को अग्नि के प्रकोप से बचाने के लिए नियम बना था कि ग्रीष्म ऋतु में दिन के पहले और अन्तिम पहर को छोड़कर कभी आग न जलाई जाय। भोजन घर के बाहर ही पकाया जा सकता था। प्रत्येक नगरवासी के लिये आवश्यक था कि वह पाँच घड़े, कुण्ड, नाद, सीढ़ी, परशु, सूप, अंकुश, लग्गी तथा मशक रखे। ग्रीष्म में तृण और चटाई आदि की छाजन हटा ली जाती थीं। अग्नि से जीविका चलाने वाले सभी लोग नगर में एक स्थान पर बसाये जाते थे। प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक था कि वह रात्रि के समय अपने घर के द्वार पर उपस्थित रहे। सड़कों के किनारे और चत्वरों पर तथा राजकीय भवनों के सामने सहस्रों घड़े पंक्तिबद्ध रखे जाते थे। जो लोग आग बझाने की प्रक्रिया में भाग नहीं लेते थे, वे दंडनीय माने जाते थे। जो लोग जान-बूझकर घर में आग लगाते थे, वे अग्नि में झोंक दिये जाते थे।[२]

नागरक नामक कर्मचारी का कर्त्तव्य था कि वह नित्य राजा को नगर की गड़बड़ियों की सूचना दे। उसे नित्य उदक-स्थान, राजमार्ग, गढ़मार्ग, दुर्ग, दुर्ग की

---

१. अर्थ० २.२९ से

२. अर्थशास्त्र २.३६।

रक्षा-भित्ति और नगर की रक्षा के अन्य साधनों का निरीक्षण करना चाहिए था। चोरी गई हुई या भूल से छूटी हुई वस्तुओं का वह संग्रह करता था।[१]

गाँवों में सार्वजनिक अभ्युदय की योजनाओं को सुसम्पादित करने के लिये राजकीय नियम बने हुये थे। ग्रामीण जीवन में सहकारिता को उल्लासित करने के लिये राजा सचेष्ट रहता था। वह ऐसे लोगों को लाभ पहुँचाता था, जो सारे राष्ट्र के हित के लिये मार्ग में शालायें बनवाते थे, गाँव को सुशोभित करते थे अथवा उनकी रक्षा करते थे।[२]

तीन अमात्य या प्रदेष्टा कंटक शोधन के लिए नियुक्त होते थे। कंटक-शोधन के द्वारा प्रजापीडकों—रजक, स्वर्णकार, वैद्य, नट, व्यापारी तथा राजकर्मचारियों की दुष्प्रवृत्ति से प्रजा की रक्षा की जाती थी।[३] प्रजा-पीडकों की कार्य-प्रणाली को विस्तृत नियमों के द्वारा सुनियन्त्रित किया गया था, जिससे वे अपने मनमाने व्यवहार से जनता में लूट या अन्य प्रकार की गड़बड़ी करने में समर्थ न हों। सब के लिये ठीक काम करने पर पारिश्रमिक नियत था, पर काम बिगाड़ने पर उचित दंड का विधान था।[४]

राष्ट्र पर पड़ने वाली महाविपत्तियों से प्रजा की रक्षा करने के लिये राजा सन्नद्ध रहता था। ऐसी दैवी विपत्तियाँ आठ प्रकार की थीं—अग्नि से प्रदाह, बाढ़, महामारी, अकाल, चूहों का उत्पात, चीतों का आक्रमण, साँपों का आक्रमण और नर-पिशाचों का उपद्रव। बाढ़ से बचने में प्रमाद करने वाले दंडनीय थे। महामारी से प्रजा को बचाने के लिये वैद्य नियुक्त होते थे। पशुओं को महामारी से बचाने के लिए नीराजना की जाती थी। अकाल में राजा किसानों को बीज और भोजन प्रदान करता था। वह अपनी निजी सम्पत्ति तथा धनिकों की सम्पत्ति भी प्रजा को विभक्त कर दे देता था। अन्य राजाओं से सहायता लेकर भी वह इस विषम परिस्थिति में प्रजा-पालन करता था। अकाल-पीड़ित प्रजा के साथ अन्य देशों में चला जाना भी राजा के लिये एक उपाय था। नदी या समुद्र के तट पर पहुँच कर प्रजा का पेट भरने के लिए मछली मरवाने का प्रबंध राजा कर देता

---

१. अर्थशास्त्र २-३६।

२. राजा देशहितान्सेतून्कुर्वतां पथि संक्रमात्।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत्॥ अर्थशास्त्र ३.१० से।

३. एवं चोरानचोराख्यान्वणिक्कारुकुशीलवान्।
भिक्षुकान्कुहकांश्चान्यान्वारयेद्देशपीडनात्॥ अर्थशास्त्र ४.१ से।

४. अर्थशास्त्र ४.१ से।

था। चूहे, साँप, चीते आदि को पकड़ने या नष्ट करने के लिये समुचित उपाय किये जाते थे। जो लोग इस प्रकार की राष्ट्रीय विपत्तियों को दूर करने में विशेष दक्ष होते थे, उन्हें र.जा सम्मानित करके अपने राज्य में रखता था।[1]

हत्या के अपराध की पूरी खोज करके मरने का कारण, मारने वाले का परिचय एवं मारने की विधि समझने की चेष्टा की जाती थी। नागरिकों को आत्म-हत्या से विरक्त करने के लिये नियम बनाया गया था, जिनके अनुसार आत्मघाती के शव को चांडाल रस्सी से बाँधकर सड़क पर घसीटते थे। ऐसे मृतकों का अन्त्येष्टि संस्कार करने वाले भी अपराधी माने जाते थे। यदि आत्मघाती का कोई सम्बन्धी अन्त्येष्टि कर ही देता था तो उसको मरने के पश्चात् चांडाल से घसिटवाया जाता था अथवा उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था।[2]

प्रजा के भोजन की शुद्धि रखने के सम्बन्ध में समुचित विधान बने हुये थे। जो लोग दूसरों को अभक्ष्य-भक्षण कराते थे, वे तो राजदंड के भागी थे ही, पर जो स्वेच्छा से अभक्ष्य-भक्षण करते थे, वे भी दंडनीय थे। कुछ राजकीय नियमों के द्वारा समाज-सौष्ठव की व्यवस्था की गई थी, जैसे आधी रात के पश्चात् अपने घर की छत पर चढ़ने पर पूर्वसाहस-दण्ड दिया जाता था।[3]

परवर्तीयुग में अर्थशास्त्र राजनीतिक-पथ-प्रदर्शन के लिये आदर्श रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[4] चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक की शासन-पद्धति की रूप-रेखा प्रायः अर्थशास्त्र के अनुकूल प्रतीत होती है।

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबंध का विवरण मेगस्थनीज ने प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है कि शासन के राजकर्मचारी तीन प्रकार के थे—नगर के शासक, जनपद के शासक और सेना-सम्बन्धी पदाधिकारी। नगर का शासन करने के लिए छः समितियाँ थीं। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य थे। पहली समिति शिल्प-कलाओं, उद्योग-धन्धों और शिल्पकारों की देख-भाल करती थी। इस समिति के द्वारा शिल्पकारों का पारिश्रमिक नियत किया जाता था। समिति के सदस्य देखते थे कि राजकीय उद्योग-गृह में उत्तम द्रव्यों से अच्छी से अच्छी वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। शिल्पकारों की सुविधा का वे विशेष ध्यान रखते थे।

---

१. अर्थशास्त्र ४.३ से।

२. अर्थ० ४.७ से।

३. वही ४.१३ से।

४. परवर्ती युग के अनेक राजनीति-ग्रन्थों में कौटिल्य की सारगर्भित राज-नीति का अनुसरण किया गया है।

दूसरी समिति विदेशी लोगों की देख-माल करती थी। उनके लिये यथायोग्य रहने के लिए स्थान, सेवक तथा चिकित्सा करने के लिये वैद्य का प्रबन्ध कर दिया जाता था। विदेशियों के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में सूचना देने के लिये लोग नियुक्त होते थे। यदि कोई विदेशी मर जाता था तो उसका अन्त्येष्टि-संस्कार भी समिति की ओर से कर दिया जाता था और उसकी सारी सम्पत्ति का प्रबन्ध स्वयं अपने हाथों में लेकर समिति उसकी आय, उत्तराधिकारियों के पास भेज देती थी। तीसरी समिति नागरिकों की जन-संख्या जानने के लिये लोगों के जन्म-मरण का लेखा बनवाती थी। चौथी समिति व्यापार की व्यवस्था करती थी। समिति के सदस्य व्यापारीय वस्तुओं का भाव निर्णय करते थे और माप-तोल को परिशुद्ध रखने के लिये समुचित प्रबन्ध करते थे। पाँचवीं समिति शिल्पगृह में बनी हुई वस्तुओं को सुरक्षित और शुद्ध रूप में रखने का प्रबंध करती थी और उन्हें बेचने की व्यवस्था करती थी। छठी समिति बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य का १/१० राजकर के रूप में संगृहीत करती थी। सम्मिलित रूप से समितियों के सभी सदस्य सार्वजनिक हित के लिये सामाजिक भवनों का नवीकरण, मन्दिर-घाटों की देखभाल आदि करते थे।

स्ट्राबों के अनुसार जनपदीय शासन के अध्यक्षों का नाम मजिस्ट्रेट था। वह लिखता है कि 'कुछ अध्यक्ष आपण की, दूसरे नगर की तथा अन्य सेना की देख-भाल करते हैं। कुछ अध्यक्ष नदियों का निरीक्षण करते हैं, भू-भागों को नापते हैं और उन सेतुबद्ध जलाशयों का निरीक्षण करते हैं, जिनसे नहरें निकाल कर सिंचाई की जाती है। वे प्रयत्न करते हैं कि लोगों को आवश्यकतानुसार जल मिलता रहे। वे जनपद के उद्योग-धन्धों—लकड़ी काटने, बढ़ई के काम, धातु के काम और खनिज पदार्थों के निकालने का पर्यवेक्षण करते हैं।' मजिस्ट्रेट सड़कों की देख-माल और नवीकरण कराते थे और सड़क पर प्रत्येक मील की दूरी पर पत्थर लगाकर शाखा-मार्गों का विवरण तथा दूरी का निर्देश उत्कीर्ण करा देते थे।

चन्द्रगुप्त का राष्ट्र अनेक प्रान्तों में विभक्त था, जिनके शासन का उत्तरदायित्व राजा के द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि पर था। सुराष्ट्र प्रान्त का तत्कालीन राज-प्रतिनिधि वैश्य पुण्यगुप्त था और उसकी राजकीय उपाधि राष्ट्रिय थी। वन-प्रदेशों को हिंसक पशुओं और पक्षियों से विहीन बनाने के लिये ग्वाले और व्याध नियुक्त थे।

मौर्यवंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् अशोक बौद्ध मतानुयायी था। उसके उदात्त व्यक्तित्व का प्रतिमास तत्कालीन धर्मशासन में मिलता है।[1] अशोक के पूर्व किसी

---

१. अशोक ने स्वयं अपने शासन के लिए धर्मानुशिष्टि शब्द का प्रयोग किया है। गिरिनार, कालसी आदि का चतुर्थ लेख।

ऐतिहासिक भारतीय सम्राट् के शासन का प्रामाणिक सर्वाङ्गीण परिचय नहीं मिलता है। अशोक के पूर्ववर्ती राजा धर्म की रक्षा करने के लिए प्रायः विधर्मियों को दंडमात्र देने का आयोजन करते थे, पर अशोक ने धर्म-प्रचार करने के लिये राजकर्मचारी—धर्ममहामात्र, धर्मयुत, स्त्री-महामात्र, व्रजभूमिक आदि को नियुक्त किया।[1] उसके युत, राजुक, प्रादेशिक आदि कर्मचारी प्रति पाँचवे वर्ष पर्यटन करते हुए प्रजा के बीच धर्मोपदेश करते थे कि माता-पिता की सेवा करना, दान देना, प्राणियों की हिंसा न करना, स्वल्प व्यय और संग्रह करना कर्त्तव्य है।

अपने शासन से अशोक प्रजा को कर्मण्य बनाना चाहता था। बड़े और छोटे सभी उद्योग करें, यह वाक्य उसके लेखों में अनेक स्थानों पर मिलते हैं।[2] उसके धर्मशासन के अनुसार माता-पिता की शुश्रूषा करना, मन में सभी प्राणियों के प्रति गौरव-भाव रखना, आचार्य की सेवा करना तथा जाति और कुल के लोगों के प्रति सद्व्यवहार करना कर्तव्य हैं। यह सनातन पद्धति दीर्घायु के लिए होती हैं। बौद्ध-भिक्षुओं के बीच सद्धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए उसने भिक्षुओं के बारंबार पढ़ने योग्य पाठों की ओर उनका ध्यान भाब्रू के शिलालेख द्वारा आकर्षित किया है। अशोक ने कुधर्म पर रोक लगाई और नियम बनाया कि किसी प्राणी को मार कर होम न किया जाय। वह प्रजा के समक्ष अपना आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहता था। उसने स्वयं अपने मांसाहार पर प्रतिबन्ध लगा कर शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया—मेरे रसोई-घर के लिए अब केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं। भविष्य में उनका वध भी नहीं होगा।[3]

न केवल सार्वजनिक सुविधाओं के लिए, अपितु पशु-पक्षियों की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए अशोक ने अपने साम्राज्य में तथा उपवर्ती राष्ट्रों में मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा की प्रतिष्ठा की। उसने मनुष्यों और पशुओं के योग्य

---

१. धर्ममहामात्र नामक पदाधिकारी वैदिक धर्मावलम्बी राजाओं के पुरोहितों के समकक्ष माने जा सकते हैं। अशोक के द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्र धर्म की रक्षा और वृद्धि करते थे और यवन, कम्बोज, राष्ट्रिक, गान्धार तथा पश्चिमी सीमान्त की जातियों में धर्म का प्रचार करते थे। वे समाज में पारस्परिक सद्व्यवहार तथा सार्वजनीन हित की अभिवृद्धि करते थे और दुःखियों का दुःख दूर करते थे। सभी धर्मों की उन्नति करना धर्ममहामात्र, स्त्री-महामात्र, व्रजभूमिक तथा अन्य राजकर्मचारियों का प्रधान कर्तव्य था। गिरिनार, कालसी आदि के १२वें शिलालेख से।

२. ब्रह्मगिरि का लेख द्वितीय।

३. गिरिनार, कालसी आदि के प्रथम शिलालेख से।

औषधियों, मूलों और फलों का आरोपण करवाया तथा मार्गों में वृक्ष लगवाये और सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाये।[१]

अशोक की शासन-पद्धति में धर्म-विभाग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा धर्म का प्रचार करने के लिए धर्मोत्सव किये जाते थे। धर्मोत्सव की शोभा-यात्रा में हाथी चलते थे, स्थान-स्थान पर अग्नि-स्कन्ध प्रज्वलित होता था, दिव्य रूप दिखाये जाते थे और धर्मघोष होता था।[२] अशोक स्वयं धर्म विभाग का अध्यक्ष था। 'पुरुष' नामक राजकर्मचारी प्रजा में धर्म का प्रचार करते थे। राजुक अपने क्षेत्र में धर्माध्यक्ष थे। वे धर्मयुत नामक राजकर्मचारियों से प्रजा को धर्मोपदेश करवाते थे।[३] धर्ममहामात्रों का संबन्ध गृहस्थ और संन्यासी दोनों से था। वे सभी सम्प्रदायों का निरीक्षण करते थे।[४] धर्मविभाग के अध्यक्ष के नाते अशोक ने पाटलिपुत्र तथा प्रान्तीय संघों में फूट डालने वालों को संघ से बहिष्कृत करने का विधान बनाया।[५]

अशोक ने प्रजा का समाचार जानने के लिए प्रतिवेदक नामक गुप्तचरों को नियुक्त किया था। प्रतिवेदक अशोक से सभी स्थानों पर और किसी भी बेला में मिल सकते थे, चाहे वह किसी भी काम में क्यों न लगा हो।[६]

अशोक के मन्त्रियों की परिषद् थी। परिषद् के सदस्य अशोक की आज्ञाओं तक पर विचार करने के अधिकारी थे और उसकी आज्ञाओं को अस्वीकार कर सकते थे।[७]

अशोक का साम्राज्य चार प्रदेशों में बँटा हुआ था—उज्जयिनी, तक्षशिला, तोसली और सुवर्णगिरि। प्रदेशों का शासन सम्राट् के प्रतिनिधि बन कर राजकुमार करते थे। राजकुमार के अधीन महामात्र शासन-सूत्र सँभालते थे।[८] सीमान्त प्रदेशों में (अन्त-) महामात्र नियुक्त होते थे।[९] कुछ महामात्र नगर का शासन करते थे। उनकी उपाधि नगर-व्यवहारक थी। राजुक नामक पदाधिकारी महामात्रों के

---

१. गिरिनार, कालसी आदि के द्वितीय शिलालेख से।
२. गिरिनार, कालसी आदि के चतुर्थ लेख से।
३. टोपरा के सप्तम स्तम्भ-लेख से।
४. दिल्ली-टोपरा के सप्तम स्तम्भ-लेख से।
५. कौशाम्बी और सांची के स्तम्भ-लेखों से।
६-७. गिरिनार, कालसी आदि के छठे लेख से।
८. कलिंग के प्रथम तथा द्वितीय लेख से।
९. प्रयाग के स्तम्भ-लेख से।

नीचे नियुक्त होते थे। राजुकों के अधिकार-क्षेत्र में लाखों मनुष्य होते थे। वे प्रजा का सुख-दु:ख जानने का प्रयत्न करते थे और धर्मयुत नामक राजकर्मचारियों से अवसर के योग्य धर्मोपदेश करवाते थे। पुरुष नामक कर्मचारी राजुकों को कर्त्तव्य पथ का ज्ञान कराते थे।[1] अन्य राजकर्मचारी लिपिकर, दूत, आयुक्त तथा कारनक थे।[2]

शासन-क्षेत्र में अशोक ने बौद्ध धर्म की मध्यमा प्रतिपदा को प्रतिष्ठित किया। वह चाहता था कि राजकर्मचारी प्रजा के साथ मृदु व्यवहार करें। उसने नियम बनाया था कि राजकर्मचारियों में ईर्ष्या, अकर्मण्यता, आलस्य, निष्ठुरता, त्वरा आदि दुर्गुण न हों। वे प्रजा से व्यवहार करते समय श्रम और धैर्य का परिचय दें। नगर-निवासियों को अकारण कारावास या क्लेश तो होना ही नहीं चाहिए था। वह राजकर्मचारियों का निरीक्षण करने के लिए प्रति पाँचवें वर्ष कोमल, मधुर और स्निग्ध प्रवृत्ति वाले निरीक्षकों को भेजता था।[3] अशोक ऐसे शासन के द्वारा प्रजा के पिता की भाँति विश्वासपात्र बनना चाहता था।

शकयुगीन शासन-पद्धति की दो बड़ी विशेषतायें द्वैराज्य और यौवराज्य विधियाँ रही हैं। उत्तर और पश्चिम भारत के द्वैराज्य में राजा तथा उसका कोई सम्बन्धी—भाई, लड़का, भतीजा आदि दोनों ही समान अधिकार से शासन करते थे। यौवराज्य-विधि में युवराज राजा का प्रतिनिधि बन कर शासन करता था। उस युग में राजधानी का पर्याय अधिष्ठान था। तत्कालीन नगरों का शासन निगम-सभाओं और नगराक्षदर्श के द्वारा होता था।

शकयुगीन राजकर्मचारियों में सर्वोच्च स्थान कर्मसचिवों का था। कर्मसचिवों में से प्रान्ताधिपति तथा विविध विभागों के अध्यक्ष चुने जाते थे। शकों का साम्राज्य छोटे और बड़े प्रान्तों में विभक्त था, जिनके सर्वोच्च शासक क्रमश: महाक्षत्रप और क्षत्रप होते थे। समग्र भारत में उस समय प्रान्तों का विभाजन राष्ट्र, आहार, जनपद, देश अथवा विषय आदि आधुनिक जिले के समकक्ष भूभागों में हुआ था। राष्ट्र का सर्वोच्च पदाधिकारी राष्ट्रपति (राष्ट्रिक) या अमात्य होते थे। सुदूर दक्षिण में आहार का सर्वोच्च पदाधिकारी व्यापृत होता था। सीमान्त जनपदों में कभी-कभी सुरक्षा की दृष्टि से महासेनापति या महादण्डनायक नियुक्त किए जाते थे। देश का सर्वोच्च नायक देशाधिकृत या देशमुख होता था। विषय प्राय:

---

१. प्रयाग के चौथे स्तम्भ-लेख से।

२. *Chaudhary :* Political, History etc. P. 316.

३. कलिंग के प्रथम लेख से।

आधुनिक तहसीलों के समकक्ष होते थे। विषय का सर्वोच्च अधिकारी विषयपति होता था।

शकयुगीन शासन का प्रारम्भ ग्राम या ग्रामाहार और निगमों से होता था। प्रत्येक बड़े गाँव में ग्रामणी, ग्रामिक, ग्राम-भोजक या ग्राम-महत्तरक के अधीन अनेक ग्रामेयिक आयुत्त नियुक्त होते थे। दक्षिण भारत में गाँव का सर्वोच्च पदाधिकारी मुलुड होता था। निगम का सर्वोच्च अधिकारी गृहपति होता था। गाँव और नगरों के अभ्युदय की योजनाओं का प्रादुर्भाव गोष्ठी, निकाय, परिषद् या संघ आदि संस्थाओं से होता था। इन संस्थाओं के सदस्य योग्यतम व्यक्ति होते थे। कुछ गोष्ठियों के अध्यक्ष स्वयं राजा होते थे। गुप्तचरों की नियुक्ति इस युग में प्रायः पूर्ववत् होती रही।[1]

गुप्तयुगीन शासन-पद्धति के अनुसार राजधानी में केन्द्रीय राजकीय कार्यालय था। कार्यालय का प्रधान सर्वाध्यक्ष था। सर्वाध्यक्ष राजकीय शासन-आदेश को प्रान्तों और जिलों के प्रधान राजकर्मचारियों के पास दूतों के माध्यम से भेजता था।

गुप्तकालीन देश (प्रान्त) के शासन का सर्वोच्च अधिकारी गोप्ता होता था। भुक्तियों का शासन उपरिक या उपरिक महाराज करते थे। विषय (जिलों) के शासक विषयपति थे, जिनके अन्य नाम कुमारामात्य तथा आयुक्तक मिलते हैं। विषयपतियों का सम्बन्ध सीधे सम्राट् से अथवा निकटवर्ती प्रान्ताधिपतियों से होता था। शासन-कार्य में प्रान्त और विषय के सर्वोच्च अधिकारियों की सहायता दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दंडपाशिक, नगर-श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम-कुलिक, प्रथम-कायस्थ, पुस्तपाल आदि करते थे।[2] गाँवों का शासन ग्रामिक, महत्तर और भोजक करते थे। विषय-महत्तरों की परिषद् का प्रथम परिचय गुप्तकाल से मिलता है। इसके सदस्यों की संख्या आवश्यकतानुसार २० तक पहुँचती थी। सदस्य प्रायः

---

१. शकयुगीन शासन-पद्धति के लिए देखिए *Chaudhary :* Political History etc., Pp. 520-526.

२. दाण्डिक दण्ड देने वाला पदाधिकारी था। चौरोद्धरणिक चोरों के भय से प्रजा को मुक्त करता था। दण्डपाशिक दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देने की व्यवस्था करते थे। नगर-श्रेष्ठी नगर का सबसे अधिक समृद्धिशाली और राजभक्त व्यक्ति होता था। सार्थवाह व्यापार करने वाले संघ का संचालक था। प्रथम कुलिक शिल्पकारों का नेता था। प्रथम कायस्थ प्रधान लेखक होता था। पुस्तपाल शासन सम्बन्धी लेखों का संग्रह करता था। पुस्तपाल की सहायता विषय के विभिन्न भागों में नियुक्त अनेक अक्षपटलिक करते थे।

विषय के गण्यमान व्यक्ति होते थे। यह परिषद् शासन के कामों में विषयपति की सहायता करती थी और विषय के अभ्युदय-सम्बन्धी योजनाओं को प्रस्तुत करना, उसके सम्बन्ध में निर्णय लेना तथा उन्हें कार्यान्वित कराना संभवतः परिषद् के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे।[१]

ग्रामशासन के अन्तर्गत गाँवों की सभी व्यक्तिगत और सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुयें—घर, खेत, सड़कें, मन्दिर, कुएँ, वनभूमि आदि थीं। सीमाकार सभी क्षेत्रों की माप करता था। गाँव का मुखिया—ग्रामेयक या ग्रामाध्यक्ष स्थानीय शासन में अग्रणी था। पल्लवों के राज्य में वल्लभ और गोवल्लभ उसके अधीन कर्मचारी थे। पल्लव और वाकाटक शासन-पद्धति के अनुसार ग्राम-महत्तरों की परिषद् मुखिया की सहायता के लिए होती थी। गुप्तराज्य के मध्यप्रदेश में पंच मंडली तथा विहार में ग्राम-जनपद नाम की संस्थायें शासन कार्य में मुखिया की सहायता करती थीं। उपर्युक्त परिषदें गाँव की सुरक्षा, न्याय, सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं का निर्माण, अनाथों का संरक्षण आदि का प्रबन्ध करती थीं। जनपदों की अपनी निजी मुद्रायें होती थीं।

नगर का शासन पुरपाल नामक उच्च पदाधिकारी करते थे। नगरों में भी सम्भवतः नगर-महत्तरों की परिषद् स्थानीय समस्याओं का समाधान करने के लिए होती थीं।[२]

गुप्तकालीन शासन का आदर्श सातवीं शती में हर्ष की शासन-पद्धति में प्रायः पूर्ववत् प्रतिष्ठित मिलता है। शासन के पदाधिकारियों की उपाधियाँ पहले जैसी रहीं। हर्ष स्वयं प्रजा के सम्पर्क में आ कर उनके लिए आवश्यक उद्योग करता था। वह वर्षा के चार मास छोड़ कर प्रायः सदा देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करता था। बाण ने हर्ष के किसी गाँव के निकट पहुँचने का वर्णन प्रस्तुत करते हुए उसके प्रजा से मिलने का निदर्शन किया है—हर्ष का स्वागत करने के लिए आये हुए जन-समूह में अग्रणी ग्राम-महत्तर थे। वे गाँव के शासन का काम करते थे। गाँव के आग्रहारिक और उनके आगे वृद्ध महत्तर जलपूर्ण कलश तथा टोकरियों में

---

१. इस संस्था का प्रचलन परवर्ती युग में भी रहा, जैसा आन्ध्र देश के छठी शती के विष्णुकुण्डी-लेख तथा नवीं शती के गुजरात के राष्ट्रकूट लेख से ज्ञात होता है। देखिए आन्ध्र रिसर्च सोसाइटी का जर्नल, भाग ६, पृ० १७ तथा एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ५५।

२. A New History of the Indian People. Vol. VI, Pp. 275-290.

दही, गुड़, पुष्प आदि का उपहार लेकर हर्ष का दर्शन करने तथा कृषि की रक्षा की प्रार्थना करने के लिए आ रहे थे। ह्वेनसांग के अनुसार राजा के द्वारा प्रजा सम्बन्धी लेख बनाये जाते थे और उनको सुरक्षित विधि से रखा जाता था। उन लेखों में प्रजा के सुख-दुःख और उन्नति-अवनति का पूरा विवरण रहता था।[१]

परवर्ती युग के शासन में नगरों और ग्रामों की शासन-व्यवस्था विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। इस युग में नगर और ग्राम के शासन का अधिक विकास दक्षिण भारत में दिखाई पड़ता है। पुर का सर्वोच्च अधिकारी पुरपाल होता था। शासन कार्य में उसकी सहायता करने के लिए नागरिकों का प्रतिनिधित्व करने वाली परिषद् होती थी।[२] राजपूताने में इस नगर-समिति का निर्माण करने के लिए नगर के आठ भाग किए गये थे और प्रत्येक भाग से दो प्रतिनिधि बनाये गये थे। कुछ नगर समितियों के द्वारा कार्यकारिणी नामक उपसमिति बनाई जाती थी। कार्यकारिणी के सदस्यों की उपाधि 'वार' थी। इस संस्था का विशेष प्रचलन राजपूताना, मध्य भारत, गुजरात, कर्नाटक, कोंकण आदि प्रदेशों में था। नगर समितियों का कार्य-क्षेत्र प्रायः नगर की सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी आयोजनों तक सीमित था। इसके लिए वे कर संचय करती थीं। नगर-समिति के कार्यालय में संस्था के सब पत्र संगृहीत होते थे। कार्यालय का प्रधान कर्मचारी करणिक होता था।

परवर्ती युग में भी गाँव के शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी मुखिया होता था।[३] गाँव में छः शासन-सम्बन्धी कर्मचारी थे—साहसाधिपति, ग्राम-नेता, भागहार, लेखक, शुल्कग्राह और प्रतिहार। साहसाधिपति न्याय का काम करते हुए गाँव में अपराधों को रोकने की चेष्टा करता था। ग्राम-नेता गाँव में रहने वालों को चोर, डाकुओं तथा राजकीय कर्मचारियों के अत्याचारों से बचाने का प्रयत्न करता था। भागहार गाँव में लगे हुए वृक्षों का पोषण करता था और नये वृक्ष लगवाता था। लेखक उच्चकोटि का गणक होता था और अनेक भाषाओं के ज्ञान से गाँव वालों को लाभ पहुँचाता था। प्रतिहार भीमकाय और शस्त्रधर होने पर भी विनयी होता था और ग्राम-वासियों को समादर के साथ सम्बोधित करता था।

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १५४ से।

२. उत्कीर्ण लेखों में ऐसी समिति का नाम गोष्ठी, पंचकुल और चौकड़ि आदि मिलते हैं।

३. मुखिया का नाम महाराष्ट्र में ग्रामकूट या पट्टकील, कर्नाटक में गावुन्द और उत्तर प्रदेश में महत्तर या महत्तम थे।

शुल्कग्राह विक्रेताओं से इस प्रकार कर लेता था कि उनके मूलधन में सदैव वृद्धि रहे।[1]

कश्मीर में राजाओं के गाँवों की अभिवृद्धि में पर्याप्त रुचि लेने का वर्णन मिलता है। बारहवीं शताब्दी में जयसिंह ने गाँवों में सामग्री दी। बड़े आपरणों की व्यवस्था की। निर्दोष पारिषद्य का आयोजन किया। इस प्रकार गाँव मनोरम हो गये।[2]

दक्षिण भारत की ग्राम-सभाओं में कहीं-कहीं प्रायः गाँव के सभी लोग एकत्र होते थे। कुछ गाँवों में ग्राम-सभा के सदस्यों की संख्या २०० से १००० तक पहुँचती थी।[3] ऐसी बड़ी संस्था की कार्यकारिणी समिति होना स्वाभाविक ही था। गुजरात और दक्षिण भारत में ऐसी समिति का नाम महत्तराधिकारी या अधिकारि-महत्तर मिलता है। राजपूताने में कार्यकारिणी समिति का नाम पंचकुल था और इसका अध्यक्ष महन्त कहा जाता था। तामिल प्रदेश के उत्कीर्ण लेखों के अनुसार चोलों के शासन काल (६००–९०० ई०) में अग्रहार कोटि के ग्राम में ग्रामसभा होती थी। साधारण गाँवों की सभा का नाम उर था। ग्रामसभा कार्यकारिणी का चुनाव करती थी। मेरूर ग्राम की कार्यकारिणी के नियमों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—ग्रामसभा ने पाँच उपसमितियों का निर्वाचन किया था। इन उपसमितियों के सदस्यों को वेतन नहीं मिलता था। सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करता था। एक बार उपसमिति का सदस्य रह लेने पर सदस्य पुनः तीन वर्ष तक किसी उपसमिति का सदस्य नहीं हो सकता था। यदि कोई गड़बड़ी करता तो अवधि पूरी होने के पहले ही सदस्यता से अलग कर दिया जाता था। सदस्यता के लिए सच्चरित्र होना आवश्यक था। दुराचारी या संस्थाओं का धन खाने वाले व्यक्ति न तो स्वयं ही उपसमितियों के सदस्य हो सकते थे और न उनके कोई सम्बन्धी ही सदस्य हो सकते थे। सदस्य कम से कम ३५ वर्ष की या अधिक से अधिक ७० वर्ष की अवस्था के होने चाहिए थे। सम्पत्तिहीन व्यक्ति या राजकर्मचारी उपसमितियों के सदस्य नहीं हो सकते थे। ग्राम-सभायें अपना विधान आवश्यकतानुसार संशोधित करती

---

१. शुक्रनीतिसार २.१७०–१७५। *Beni Prasad* : The State in Ancient India, P. 500

२. स एव ग्रामान् सामग्री-महापणसमर्पणैः।
निर्दोष-पारिषद्यादि-हृद्यान् निश्चोद्य धीर्व्यधात॥ राजत० ८.३३१९॥

३. ग्राम-सभा के सदस्यों के नाम महत्तर, महत्तम, महाजन तथा पेरुमक्काल आदि मिलते हैं। इनका अर्थ है बड़े आदमी।

रहती थीं। उपर्युक्त विधान से उस प्रदेश की सभी ग्राम-सभाओं की रूप-रेखा का परिचय मिल सकता है।

सदस्यों का चुनाव निष्काम विधि से होता था। ग्राम के प्रत्येक पूर्वनिर्धारित भाग से जिन प्रस्तावित व्यक्तियों के नाम आते थे, उनको अलग-अलग पत्रकों पर लिख कर प्रत्येक भाग के नामों को अलग-अलग रख दिया जाता था। कोई बालक प्रत्येक समूह में से एक-एक पत्रक उठा लेता था। जिनके नामों के पत्र निकलते थे, वे व्यक्ति प्रतिनिधि माने जाते थे। उत्तर मैसूर की ग्राम-सभा में ३० सदस्य थे। इनमें से पाँच-पाँच को भिन्न-भिन्न उपसमितियों में नियुक्त करके छः उपसमितियाँ बनाई जाती थीं। पहली उपसमिति गाँव के उपवनों का संरक्षण और संवर्धन करती थी। दूसरी जलाशय और सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करती थी। तीसरी अपराध और कलह का निवारण करती थी। चौथी व्यवसायी लोगों के स्वर्ण की परख कर के मूल्य निर्धारित करती थी। पाँचवीं उपसमिति का नाम पंचवार था। संभवतः वह विविध कार्यों का सम्पादन करती थी। छठी उपसमिति 'सांवत्सरीय' थी। वह वर्ष के अन्त में सभी समितियों के कार्यों का निरीक्षण करती थी। कुछ गाँवों में भूमि-माप-समिति और देवालय-समितियों के होने के उल्लेख मिलते हैं।

कर्नाटक प्रदेश में ग्राम-सभा की उपसमितियाँ नहीं होती थीं, अपितु उसके सदस्य तीन या पाँच सदस्यों की कार्यकारिणी का चुनाव करके उसी पर गाँव की पाठशालाओं, जलाशयों, धर्मशालाओं आदि के निर्माण और प्रबन्ध का उत्तर-दायित्व रख छोड़ते थे।

उत्तर भारत में ग्राम-सभा का विस्तार दक्षिण भारत की भाँति नहीं हुआ था। गाँव का शासन करने के लिए केवल पाँच सदस्यों की एक समिति होती थी। इसका नाम गुप्तयुग में पंचमण्डली और परवर्ती युगी में पंचकुली मिलता है।

ग्राम-सभा के कार्य-क्षेत्र की परिधि सुविस्तृत रही है। यह संस्था ग्राम के प्रतिनिधि रूप में राजा या राजप्रतिनिधियों से समय-समय पर सन्धान करके ग्रामोपयोगी योजनाओं को पूरा करने में राजकीय सहायता प्राप्त करती थी। यदि गाँव को विषम परिस्थितियों में राजकीय अनुग्रह की आवश्यकता होती तो वह सभा के माध्यम से प्राप्त हो सकता था। सभा गाँव की सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करती थी। ग्राम-सभा के पास कुछ स्थायी कोश होता था। ग्रामीण झगड़ों का निपटारा सभाओं के द्वारा होता था। गाँव के लोग भी सभा के कोश में धन रखते थे। कोश का संवर्धन करने के लिए उसका कुछ भाग ऋण-रूप में गाँवके लोगों को दिया जाता था। अकाल पड़ने पर सार्वजनिक सम्पत्ति को बन्धक रख

कर जो धन प्राप्त होता था, उसे ग्राम-सभा अकाल पीड़ितों के प्राणरक्षार्थ उधार देती थी। देवालयों की भूमि उपयुक्त उद्देश्य से बन्धक रखी जा सकती थी।

सड़कों का नवीकरण करना, कृषि के लिए ऊसर और जंगल प्रदेश को ठीक करना, सिंचाई के लिए नाले और सरोवर बनवाना, धर्मशाला और कुयें बनवाना आदि ग्राम-सभा के कुछ काम हैं, जिनसे उनकी गतिविधि का परिचय मिलता है। ग्राम-सभाओं की ओर से प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए छात्र-वृत्तियाँ दी जाती थीं।

ग्राम-सभाओं का उस सुदूर प्राचीन काल में अतिशय महत्त्व था। प्राचीन काल की राजनीतिक परिस्थितियों की कल्पना कीजिए—आने-जाने के साधनों की प्रचुरता नहीं थी। राजा और उसके कर्मचारी इच्छा होने पर भी गाँवों की समस्याओं पर यथासमय अभीष्ट ध्यान नहीं दे सकते थे। दूरस्थ शासन-संस्थाओं से पत्रव्यवहार यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। ऐसी स्थिति में ग्राम-सभाओं के द्वारा शासन करने की विधि का प्रादुर्भाव स्वाभाविक था। ग्राम सभाओं के कार्य-क्षेत्र का वह अंग अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसके द्वारा वे उन सभी कामों को करती थीं, जो राजनीति की परिधि में साधारणतः नहीं आते थे। अकाल पीड़ितों को मरने न देना, दीन-अनाथ और दुर्बलों को भोजन-वस्त्र देना, शिक्षण और धर्म-सम्बन्धी संस्थायें चलाना, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण और उनका संचालन आदि ऐसे काम हैं, जिनके बल पर ग्राम-सभायें यशस्विनी बन कर भारतीय इतिहास में अमर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकीं।[1]

राजकीय आय

प्राचीन काल के राजाओं ने अपनी आय के लिए कृषि, पशु-पालन आदि कामों को अपनाया था। आय के इन साधनों का सर्वाङ्गीण स्वरूप अर्थशास्त्र में मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा की गायों, घोड़ों तथा अन्य पशुओं की अभिवृद्धि के लिए अध्यक्ष नियुक्त होते थे। संभव है, राजकीय आय का उपर्युक्त साधन राजत्व के आदिम-काल से ही चलता आ रहा हो।

ऋग्वैदिक काल में 'बलि' रूप में प्रजा से राजा की आय होती थी। तत्कालीन साहित्य में प्रजा की एक उपाधि 'बलिहृत्' मिलती है।[2] समग्र वैदिक

---

१. ग्राम शासन और सभाओं का विस्तृत विवरण देखिए, अल्टेकर: प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० १६८–१८४।

२. ऋग्वेद ७.६.५।

युग में तथा परवर्ती सूत्र, स्मृति, रामायण एवं पुराण काल में प्रजा से राजा के बलि पाने का प्रचलन मिलता है।[१] ऋग्वेद के अनुसार बलि संभवत: सर्वसाधारण से ली जाती थी और लोग इसे स्वेच्छा से राजा के सम्मानार्थ देते थे।[२] इसके अतिरिक्त आधुनिक आय-कर की भाँति समृद्धशाली लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। इसी कर को दृष्टिपथ में रखते हुए इस वेद में कहा गया है—धनी लोगों को राजा वैसे ही खाता है, जैसे अग्नि वन को।[३]

वेद-कालीन राजकीय 'रत्नी-मंडल' में संग्रहीता और 'भागधुक्' नामक पदाधिकारी होते थे। भागधुक् नाम से प्रकट होता है कि वह प्रजा की उत्पादित की हुई वस्तुओं में से राजा का भाग लेता होगा। अथर्ववेद में एक स्थान पर राजा के द्वारा गाँव के अश्वों और गौओं में से भाग लेने की कामना की गई है।[४] संग्रहीता संभवत: सभी प्रकार की राजकीय आय को संगृहीत करने वाला पदाधिकारी था।

अथर्ववेद में राजा को सिंह का प्रतीक मानकर उसे सभी विशों का अद्[५] कहा गया है। इस प्रकरण में विश् का अर्थ प्रजा या अर्थोत्पादक समाज कुछ भी लें, तात्पर्य यही निकलता है कि प्रजा से मनमाना धनसंग्रह करने की रीति कहीं-कहीं अवश्य ही थी। अन्यत्र भी राजा को 'विशामत्ता' उपाधि दी गई है।[६] वेद-कालीन राजाओं को पररराष्ट्रों की विजय करने पर शत्रु-राजा का सर्वस्व अपहरण कर लेने के अवसर प्राप्त हुआ करते थे। इस प्रकार पशु-समूह और दास-दासी आदि प्राय: मिल जाते थे। इनके अतिरिक्त पराजित राजाओं से 'खण्डनी' के नाम पर धन लिया जाता था।[७]

---

१. तै० ब्रा० २.७.१८.३ के अनुसार प्रजा राजा के समीप बलि ले जाती थी। ऐतरेय ब्रा० ३५.३ में वैश्य की एक उपाधि बलिकृत् मिलती है। खेतों की उपज का $^1/_6$ भाग प्रजा के देने के लिए होता था। मनु० ७.८०, रामायण अरण्यकाण्ड ६.११, वि० ध० सू० ३.२२, मत्स्य पु० २१५.५७।

२. ऋ० ५.१.१० के अनुसार बलि देवताओं के लिए दी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा को देवताओं का प्रतीक मान कर प्रजा उसे भी बलि देती थी। ऋ० १०.१७३.६ के अनुसार इन्द्र प्रजा को राजा के लिए बलिहृत् बनाता है।

३. ऋ० १.६५.४।

४. अथर्व० ४.२२.२।

५. सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा।

६. ऐतरेय ब्रा० ७.२९।

७. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १८८।

महाभारत के अनुसार विश्वसनीय और राजभक्त कर्मचारी आय-व्यय लेखन के लिए नियुक्त होते थे। इनकी उपाधि गणक और लेखक थी। वे प्रतिदिन पूर्वाह्न में अपना काम पूरा कर डालते थे।[१] राजा के लिए कृषि-कर्म, गोपालन तथा शिल्प आदि व्यवसायों का आयोजन होता था।[२] शुल्कोपजीवी नामक कर्मचारी बनियों से शुल्क वसूल करते थे।[३] आकर (खान), लवण (नमक), शुल्क-तर (नदी पार कराना) आदि के आय-व्यय शोधन के लिए अमात्य नियुक्त थे।[४] उपर्युक्त व्यवसाय राजा के निजी होते थे।

महाभारत के अनुसार राजा की आय के साधन उपज का छठाँ भाग बलि-रूप में तथा अपराधियों से प्राप्त हुआ धन दण्डरूप में थे। राजा इस धनागम को शास्त्रानुसार अपना वेतन मानता था।[५]

राजकीय आय के संरक्षण के लिए कोश और कोष्ठागार नामक दो संस्थायें होती थीं। कोश में स्वर्णिम मुद्रायें तथा रत्नादि रखे जाते थे और कोष्ठागार में अन्न, वस्त्रादि का संग्रह किया जाता था। राजाओं का कर्तव्य था कि कोश और कोष्ठागार को सदैव धन-धान्य से भरपूर रखें।[६] तत्कालीन राजनीति के अनुसार कोश और कोष्ठागार के भरने के लिए न तो साधुतापूर्ण व्यवहार की आवश्यकता है और न नृशंस बनने की। मध्यम मार्ग से कोश-संग्रह करना चाहिये। सम्भवतः कर-संग्रह करने में आवश्यकता पड़ने पर कड़ाई का व्यवहार होता था। साधारण दृष्टि से संगृहीत धन या तो राजा की सेना के लिए अथवा धार्मिक कृत्यों के लिए माना जाता था। जो धार्मिक कृत्य नहीं करते, उनका धन राजा ले सकता था।[७]

महाभारतीय धारणा के अनुसार कोश की राज-संस्थापिका शक्ति की सुप्रतिष्ठा हो चुकी थी। दुर्बल के पास कोश नहीं हो सकता, कोश के बिना बल नहीं हो सकता और बिना बल के राज्य ही सम्भव नहीं है। लोग कोश-रहित राजा की अवज्ञा करते हैं। राजलक्ष्मी से ही राजा सत्कार पाता है। वह राजा की सभी

---

१. सभा प० ५.६२।
२. वही ५.१०६, १०७।
३. वही ५.१०३।
४. शान्तिपर्व० ६९.२८।
५. वही ७२.१०।
६. वही ११९.१७।
७. वही १३४.४—७।

बुराइयों को छिपा देती है।[१] सम्राटों को दिग्विजय करते समय तथा राजसूय-यज्ञ के अवसर पर अतुलित धन उपहार-रूप में मिलता था। इसका नाम प्रीत्यर्थ बलि था।[२] पराजित राजाओं का सर्वस्व अपहरण किया जा सकता था। युद्धादि आपत्तिमयी परिस्थितियों में राजा प्रजा से यथेष्ट धन बलात् संग्रह कर सकता था।[३] राजा यज्ञ के लिए धन सभी प्रकार के उपायों से ले सकता था।[४]

जातकों के अनुसार राजकीय आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। संभवतः राजकम्मिकों ने भूमि की माप कर डाली थी और कर नियत कर दिया था। उत्पन्न की हुई वस्तुओं में से जो कुछ मिलता था, उसका नाम रज्जोभाग (राजभाग) था। कर संग्रह करने में कभी-कभी कठोरता का व्यवहार करना पड़ता था। बलिपटिगाहक (बलिप्रतिग्राहक), निग्गाहक (निग्राहक), बलिसाधक आदि कर ग्रहण करने वाले राजकर्मचारी थे, जो गाम-भोजकों की सहायता से अपना काम करते थे। कहीं-कहीं इन राजकर्मचारियों का आतंक गाँवों पर उसी प्रकार होता था, जैसा अंग्रेजी-राज्य में पुलिस का। लोग सूर्योदय के समय ही घर छोड़कर निकल भागते थे और फिर सूर्यास्त होने पर ही लौटते थे। उत्तराधिकार-रहित लोगों की सम्पत्ति राजा की हो जाती थी। ऐसे लोगों की सम्पत्ति को सेना अपने अधिकार में करके राजकोश में पहुँचाती थी। संन्यास लेने वाले कुटुम्ब की सम्पत्ति राजा ले लेता था। वाद प्रस्तुत करने वाले आवेदक राजा को उपहार देते थे। राजा के उत्तराधिकारी के जन्म के समय प्रजा से उसे भेंट मिलती थी।[५]

मौर्यकाल में गाँवों से भाग और बलि-रूप में राजा की आय होती थी। भाग भूमि की उपज का प्रायः १/६ होता था और कभी-कभी यह भाग बढ़कर उपज का १/४ या घट कर १/८ तक होता था। बलि एक अन्य प्रकार का कर ह ता था, जो संभवतः आजकल की लगान की भाँति था। भूमिकर संग्रह करने वाले राज-कर्मचारियों की अध्यक्षता में सिंचाई की व्यवस्था होती थी। राजा को अन्य प्रकार की आय उपहार रूप में अथवा व्यापारियों और पशुपालकों से होती थी। पशुपालकों से पशु प्राप्त होते थे। नगरों से आय का प्रधान साधन जन्म और मरण

---

१. शान्तिप० १२८. ४९, १३१.४,७; १३२.४

२. सभापर्व अध्याय ४७ तथा ४८ से

३. शान्तिप० १३८.३७–३८; १३०.५

४. वही १३८.४४

५. The State in Ancient India, Pp. 146-149 के आधार पर।

सम्बन्धी कर थे। नगर के बड़े बाजारों से विक्रय-शुल्क पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता था।[1]

ग्रीक लेखकों के अनुसार वस्तुओं के विक्रय-मूल्य का दशमांश राजा को शुल्क रूप में देना पड़ता था। जो विक्रेता इस कर से बचने की चेष्टा करते थे, उन्हें मृत्य दण्ड-दिया जाता था। विक्रेताओं को राज्य की ओर से लाइसेन्स लेना पड़ता था। प्रत्येक प्रकार की वस्तु बेचने के लिए अलग-अलग शुल्क देना पड़ता था। राजा के केश-स्नान के दिन लोग सर्वोत्तम वस्तुयें उपहार रूप में भेंट करते थे। राजा को प्रदर्शनी के लिए हंस, बत्तख, मुर्गी, कबूतर, चीता, तेंदुआ, वानर आदि प्रजा से उपहार रूप में प्राप्त होते थे।[2] मेगस्थनीज के अनुसार कृषि, पशु आदि की उन्नति सम्बन्धी योजनायें प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति तथा प्रजा का कल्याण करने वाले लोग सभी प्रकार के करों से मुक्त थे।[3]

शकयुगीन राजकीय कोश के पदाधिकारियों के नाम गंजवर, कोष्ठागारिक तथा भाण्डागारिक मिलते हैं। राजकीय कोश की प्रधान आय बलि, शुल्क और भाग से हो जाती थी। इस प्रकार राजकोश में स्वर्ण, रजत, वज्र, वैदूर्य आदि संचित हो जाते थे। कुछ राज्यों में प्रजा को इनके अतिरिक्त कर—विष्टि और प्रणय देना पड़ता था। इनमें से विष्टि श्रम के रूप में तथा प्रणय प्रेमोपहार था।[4]

गुप्तयुग में प्रमाता नामक राजकर्मचारी खेतों की माप करते थे और सीमा-प्रदाता उनकी सीमायें नियत करते थे। भूमि कर सम्बन्धी वादों का निर्णय न्याय-करणिक किया करते थे। उपरिक नामक पदाधिकारी 'उपरिकर' संग्रह करता था और ध्रुवाधिकरण राष्ट्र का भूमिकर सम्बन्धी सर्वोच्च पदाधिकारी था। उत्खेतयिता भी भूमिकर से सम्बद्ध पदाधिकारी होता था। अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक और करणिक नाम पदाधिकारी भूमिकर-सम्बन्धी लेखों का निर्माण और संग्रह करते थे। शौल्किक नामक पदाधिकारी शुल्क तथा गौल्मिक वन से होने वाली आय के अध्यक्ष होते थे। राजकीय आय सम्बन्धी सर्वोच्च पदाधिकारी भाण्डागाराधिकृत् होते थे। न्याय-व्यवस्था तथा सामन्तों के उपहार आदि से भी राजा की अच्छी आय पूर्ववत् होती रही।[5]

---

१. Political History of Ancient India, P. 294.

२. **स्ट्राबो, मैक्रिण्डल :** India as described in Classical Literature के पृ० ७५, १४३, १४५ पर। ३. स्ट्राबो १५.१.३९–४१।

४. Political History of Ancient India, P. 522.

५. **बेणी प्रसाद:** State in Ancient India के पृ० २९९–३०३

वाकाटक राजाओं की आय के कुछ साधन प्रभावती गुप्त के उत्कीर्ण लेख में इस प्रकार मिलते हैं—घास के मैदान, चर्म, कोयला, खान, मद्य, गूढ़निधि, निक्षेप, दुग्ध, पुष्प तथा पशु।

सातवीं शतीं की राजकीय आय का ऐतिहासिक परिचय हर्ष-कालीन व्यवस्था से लगता है। ह्वेनसांग के अनुसार कर बहुत अधिक नहीं थे। ह्वेनसांग के इस मत से हम संभवत: इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि उस समय चीन में भारत से अधिक कर लिया जाता था। भूमि की उपज का $\frac{1}{6}$ कर-रूप में लिया जाता था। मधुवन के ताम्रलेख के अनुसार बेची हुई वस्तुओं पर उनके मूल्य के अनुपात में कर लिया जाता था। व्यापारियों को सड़क पर तथा नदियों के घाटों पर अनेक शुल्क देने पड़ते थे। सामन्त लोग भी महाराज हर्ष को उपहारस्वरूप बहुमूल्य वस्तुयें देते थे। महाराज से मिलने के लिए जो कोई आता था, वही कुछ न कुछ दे ही जाता था। गाँवों से होकर जब महाराज की सवारी निकलती थी तो गाँव वाले अपनी भेंट प्रस्तुत करते थे। राजकीय करों का संग्रह करने वाले पदाधिकारी प्रजा के साथ कभी-कभी कठोरता का व्यवहार करते थे। इस सम्बन्ध में राजा तक प्रजा की पुकार पहुँचती थी।[१] बेगारी (विष्टि) की प्रथा इस समय नहीं थी।[२]

भूमि की योग्यतानुसार अधिक या कम कर लगाने की योजना प्राय: सदा रही है। चोलवंशी राजा कुलोत्तुंग ने इस दृष्टि से आठ कोटियों में भूमि का वर्गीकरण किया था। अच्छी भूमि पर उपज का $\frac{1}{3}$ तथा मध्यम भूमि पर $\frac{1}{5}$ भाग कर-रूप में चोल राजा ग्रहण करते थे।[३] यदि कोई भूमिकर समय पर नहीं दे पाता था तो दो या तीन वर्षों तक कर न मिलने पर वह भूमि राजा की ओर से दूसरों को बेच दी जाती थी। उचित समय बीत जाने पर कर देने वाले को वृद्धि के साथ कर देना पड़ता था।[४] वीर राजेन्द्र ने चालुक्य राजाओं से युद्ध करने के लिए धन संग्रह करने के निमित्त कर लगाया था।[५]

यादव राजाओं ने दक्षिण भारत के अपने राज्य में दूकानों पर कर लगाया

---

१. **बेणीप्रसाद** : State in Aucient India पृ० ३६८–३६९ से।

२. **वाटर्स** : **ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७६।**

३. Inscriptions from Madras Presidency भाग १, पृ० १२९–१३०

४. Inscriptions from Madras Presidency भाग २, पृ० १२४५।

५. South Indian Inscriptions १९२० का ५२०वाँ लेख।

था। पाण्ड्य राज्य में प्रति दूकान छः पण प्रतिवर्ष तथा गुर्जर-प्रतिहार राज्य में दो विंशोपक प्रतिमास कर-रूप में देना पड़ता था।[1]

तेरहवीं शती के वीरपाण्ड्य के राज्य में पशु-कर मुद्राओं में लिया जाता था। प्रतिपशु नियत धन प्रतिवर्ष लेने का विधान था। कुछ अन्य राज्यों में भी संभवतः यह विधान रहा हो।

कुछ राजाओं के धन-संग्रह करने की विधियाँ निराली रही हैं। अनेक दुराचारी राजाओं ने मन्दिरों, मठों और विहारों की सम्पत्ति लूट कर अपनी आधिभौतिक लिप्साओं की पूर्ति की है। ऐसे राजाओं में कश्मीर के राजा शंकर वर्मा, ललितादित्य और हर्ष के नाम उल्लेखनीय हैं। शंकर वर्मा ने ६४ मन्दिरों को एक साथ ही लूटा था। ललितादित्य ने भूतेश के देवालय से एक करोड़ की सम्पत्ति प्राप्त की थी। ग्यारहवीं शती के राजा हर्ष ने मन्दिरों की मूर्त्तियों को जलाकर अपनी आय संवर्धित की थी। प्रजा पर अन्धाधुन्ध कर लगाने वालों में हर्ष का नाम अद्वितीय ही है।

धार्मिक कर लगाने वाले कश्मीरी राजाओं की पापमयी वासनाओं का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी में किया है। एक राजा ने गया में पितृश्राद्ध करने वालों पर कर लगाया था।[2] विक्रमादित्य नामक एक राजा ने उपनयन, विवाह और वैदिक यज्ञों पर कर लगाया था।[3] बारहवीं शताब्दी में अण्हिलवाड़ के राजा सिद्धराज ने महती आय के लिए सोमनाथ के तीर्थयात्रियों पर कर लगाया था।[4]

राजकीय व्यय

राजकीय व्यय सदा ही प्रधान रूप से राज्य की प्रतिष्ठा के लिये होता रहा है। संभव है, आजकल की भाँति ही राजकीय आय का अधिकांश सेना और युद्ध सम्बन्धी आयोजनों में व्यय होता था। इसके अतिरिक्त व्यय का दूसरा शाश्वत माध्यम शासन सम्बन्धी पदाधिकारियों का वेतन है। वैदिक काल में राजा के मन्त्री की भाँति उसके रत्नी होते थे। उन रत्नियों में से कई तो राजकीय कुटुम्ब के सदस्य थे। शेष सदस्यों के भरण-पोषण के लिये राजकीय धन का उपयोग अवश्य

---

१. इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १२, पृ० १२७ तथा एपिग्राफिया इण्डिका भाग ३, सं० ३६।

२. राजतरंगिणी ७.१००८।

३. Epigraphia Indica Vol XX P. 64.

४. Bombay Gazetteer Vol. I. P. 172.

ही होता होगा। राजकोश का एक पर्याप्त अंश राजा और उसके परिवार के ऊपर व्यय होता था। वैदिक काल में न्यायालय और गुप्तचर-संस्था का विकास हो चुका था। इन पर राजकोश से समुचित व्यय होता होगा। विद्वान् ऋषियों को राजा की ओर से धन देने का प्रचलन था।[१]

सार्वजनिक अभ्युदय की योजनाओं के उल्लेख वैदिक साहित्य में प्रायः मिलते हैं। राजा का कर्तव्य था कि वह प्रजा का संरक्षण तथा भरण-पोषण करे। इस कर्तव्य का पालन करने में पर्याप्त धन कोश से लगता होगा।

राष्ट्र में शान्ति और समृद्धि के लिये राजा की ओर से कर्मचारी नियुक्त होते थे, जो तत्सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करते थे। इसी प्रयोजन के लिये राजा बहुविध यज्ञों का सम्पादन करता था। यज्ञों में असंख्य धन का व्यय होता था।

वैदिक काल के पश्चात् अनेक साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि कुछ विशेष कोटियों के लोगों का भरण-पोषण राजा की ओर से होता था। ऐसे लोगों में उच्चकोटि के विद्वान्, ऋषि-मुनि, साधु-सन्त तथा दीन-दुःखी, अनाथ और भिखमंगे आदि होते थे। जातक काल से लेकर परवर्ती युग में प्रायः सदा ही राजाओं की ओर से सदाव्रत और दानशालाओं की संस्थायें चलती रही हैं।[२]

महाभारत में राजकीय व्यय के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त मिलते हैं, जिनके अनुसार राजकीय आय-व्यय का नित्य परिगणन होता था। नियम था कि राजकीय व्यय आय की चौथाई, तिहाई या अधिक से अधिक आधे से अधिक न हो।[३] राजा की ओर से किसानों को ऋण दिया जाता था।[४] सेना को अग्रतः वेतन देना सर्वोत्तम विधान माना जाता था।[५]

महाभारत में समाज की सुश्लिष्टता के लिये राजा का कर्तव्य निर्धारित किया गया है कि वह धनी लोगों के पास से व्यर्थ पड़े हुये धन को लेकर, जिन्हें आवश्य-

---

१. ऋग्वेद ५.३६.६ के अनुसार श्रुतरथ ने प्रभुवसु नामक ऋषि को दो घोड़े और तीन सौ गायें दी थीं।

२. महासीलव जातक ५१; महाभारत सभापर्व अध्याय ५ से; विराटपर्व ६५.१७; शान्तिपर्व ४२.११–१२; ८८.३५–३८; मनु० ९.२२; अर्थशास्त्र २.१।

३. सभापर्व अध्याय ६० से।

४. सभापर्व ५.६८।

५. वही ५.४८।

कता हो, उन्हें दे डाले। राजा के लिये कुत्सित प्रवृत्ति के लोगों से धन लेकर उसे भद्र पुरुषों को देना पुण्यावह माना गया।[1]

महाभारत के अनुसार राजा की ओर से राजमार्ग, प्रपा, विपण आदि का निर्माण होता था। राजा प्रजा के स्वास्थ्य सम्बन्धी आयोजनों के लिये औषधियों का संग्रह करवाता था और चतुर वैद्यों को नियुक्त करता था। प्रजा के मनोरंजन के लिये नट, नर्तक, मल्ल तथा मायावी लोग नियुक्त होते थे।[2] व्यापार के संवर्धन-सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करने में राजकोश से पर्याप्त व्यय होता था।[3]

अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय कार्यक्षेत्र की परिधि अतिशय विस्तृत थी। इनमें से अधिकतर कार्य ऐसे होते थे, जिनसे राजकोश की आय संवर्धित होती थी। इस समग्र कार्य-क्षेत्र की प्रतिष्ठा और संचालन में व्यय होना स्वाभाविक है। राजकीय शासन के तत्कालीन विभागों के नाम पहले ही लिखे जा चुके हैं। इनमें प्रायः सभी विभागों के उच्चतम पदाधिकारी अमात्य या महामात्र कोटि के होते थे तथा उनके नीचे असंख्य अन्य कर्मचारी होते थे। इन सबके वेतन या अन्य किसी रूप में पारिश्रमिक नियत थे।

कौटिल्य ने राजकीय व्यय के नीचे लिखे विभाग बताये हैं—देवताओं और पितरों की पूजा, दान, अन्तःपुर, पाकशाला, दूतप्रवर्तन, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह (कच्चे माल का गोदाम), कर्मान्त (कारखाने), विष्टि (बेगार), चतुरंगिणी सेना, गोपालन, प्रदर्शनी के पशु, मृग, पक्षी, हिंस्र जन्तुओं की व्यवस्था, लकड़ी तथा घास और उद्यान की व्यवस्था। अर्थशास्त्र के अनुसार राजकोश का बहुत अधिक धन सेना और युद्ध के लिये तथा गुप्तचर संस्था का संचालन करने में व्यय होता होगा। उजड़े या रिक्त पड़े हुये प्रदेशों को बसाने में राजा की विशेष अभिरुचि से प्रतीत होता है कि इस दिशा में पर्याप्त व्यय होता था।

अशोकयुगीन राजकीय व्यय द्वारा ब्राह्मण और श्रमण ऋषि-मुनियों का भरण-पोषण, सिंचाई, सड़क, नगर-रक्षा तथा औषधालयों का संचालन आदि सार्वजनिक

---

१. हरेद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न शोकं तद्विधं नृपः॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ शान्तिपर्व १३४.६.७॥

२. शान्तिपर्व ६९.५१, ५७–५८।

३. वही ८८, ३५–३८।

योजनाओं को कार्यान्वित किया गया था। अशोक का अत्यधिक व्यय प्रजा को धर्म-पथ पर अग्रसर कराने में लगता था। उसने धर्ममहामात्र नियुक्त किये थे, यथा प्रजा के धर्म-श्रवण का आयोजन किया और इसके लिये पुरुष नामक कर्मचारियों को नियुक्त किया। उसने धर्म-स्तम्भों का निर्माण किया। सड़कों पर पेड़ लगवाना, उद्यानों की प्रतिष्ठा करना, कुयें खुदवाना, सरायें बनवाना, पौंसले बैठाना, दान देना आदि अशोककालीन राजकीय व्यय के प्रमुख विभाग थे।[1]

शकयुगीन राजकोश के व्यय का प्रामाणिक परिचय रुद्रदामन् के शिलालेख से मिलता है। इसके अनुसार लोगों के पीने के लिये पानी का प्रबन्ध करने के लिये भी राजकोश से व्यय करने की रीति थी। सुदर्शन-झील का नवीकरण रुद्रदामन् को अपने निजी कोश से करना पड़ा। यह रुद्रदामन् का असाधारण उपक्रम था। साधारणतः राजकोश से ऐसी योजनाओं के लिये धन व्यय होता था। तत्कालीन कर्मान्तिक नामक राजकीय पदाधिकारी की नियुक्ति से ज्ञात होता है कि राजाओं के द्वारा रचनात्मक और निर्माणात्मक योजनाओं पर प्रचुर मात्रा में व्यय होता था। राजा के द्वारा नियुक्त औदयन्त्रिक विशेषतः जल-सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करते थे।[2]

खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख से प्रथम शताब्दी ई० पू० के राजकीय व्यय का परिचय मिलता है। इसके अनुसार राजधानी का नवीकरण कराने, युद्ध करने, नहर निकालने, प्रजा के मनोरंजन के लिये समाज, नृत्य, संगीत आदि का आयोजन तथा साधु-सन्तों को आश्रय देने के लिये गुफाओं का निर्माण करने, दान देने तथा मन्दिरों का निर्माण करने में खारवेल के राजकोश का अधिक भाग व्यय हुआ।

फाह्यान के कथनानुसार गुप्तवंशीय राजाओं का धन विद्वानों, ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और धार्मिक संस्थाओं को दान देने सत्र और दानशालाओं का प्रवर्तन करने तड़ाग का निर्माण कराने तथा मन्दिर और मूर्ति की प्रतिष्ठा करने में व्यय होता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भ-लेख के अनुसार दीन-हीन तथा असहाय लोगों की सहायता करने तथा कलाकारों को आश्रय देने में राजा प्रचुर धन व्यय करता होगा।[3] ईसवी शती के आरम्भ से प्रायः सदा ही कवियों और कलाकारों को आश्रय देने का श्रेय भारतीय राजाओं को रहा।

---

१. सप्तम स्तम्भ-लेख दिल्ली-टोपरा से।

२. लूडर के द्वारा संगृहीत उत्कीर्ण लेख १२७९ तथा ११८६।

३. कालिदास ने सम्भवतः उसी युग के राजकीय आय-व्यय को लक्ष्य करते हुए लिखा है:—

ह्वेनसांग के उल्लेखानुसार हर्ष अपने राज्य की आय अतिशय उदारता से व्यय करता था। राजकीय भूमि के चार भाग थे—एक भाग राज्य की ओर से की जाने वाली पूजा, उपासना तथा अन्य राजकीय कामों में व्यय की पूर्ति के लिये था। दूसरे भाग से बड़े-बड़े सार्वजनिक कर्मचारियों की धन-सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी की जाती थीं। तीसरा भाग उच्चकोटि के विद्वानों को पुरस्कार देने के निमित्त था। चौथे भाग से विविध धार्मिक सम्प्रदायों को दान दिया जाता था।[1]

हर्ष के व्यय के अन्य माध्यम थे—सभी बड़ी सड़कों पर औषधालय चलाना, यात्रियों तथा दीन-हीन व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र तथा औषधि का दान, विद्वानों की परिषद् में विजयी पण्डितों को पुरस्कार प्रदान करना, प्रयाग में प्रति छठें वर्ष धार्मिक महोत्सव में सर्वस्व दान देना आदि। शिक्षा-प्रसार में हर्ष के द्वारा अधिक धन व्यय होता था। उसने अपने राष्ट्र में असंख्य मन्दिरों और विहारों की प्रतिष्ठा की, और उनके चलाने के लिये धन दिया।

कश्मीर के राजाओं में आठवीं शती के ललितादित्य का वितस्ता नदी से नहर निकलवा कर सिंचाई की सुव्यवस्था करना राजकीय कोश के व्यय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योजना थी। परवर्ती युग में भी दक्षिण और उत्तर भारत के असंख्य राजाओं ने जलाशय और नहरों के द्वारा सिंचाई की सुव्यवस्था करने पर पर्याप्त व्यय किया।

स्मृतिकार शुक्र ने राजकीय आय के विविध कार्यों में व्यय सम्बन्धी प्रतिशत की चर्चा की है, जो नीचे प्रस्तुत की जाती है—सेना ५०%दान-धर्म, जनता, शासन, राजपरिवार व्यय में से प्रत्येक ८$\frac{१}{२}$%तथा स्थायी कोष में १६$\frac{२}{३}$%।

वैदेशिक नीति

भारतीय राजाओं की वैदेशिक नीति की दो परिधियाँ रही हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक परिधि के अन्तर्गत भारत की सीमा के भीतर के राज्य तथा बाह्य परिधि के भीतर भारत की सीमा के बाहर के राज्य आते हैं। सुदूर प्राचीन काल से इन दोनों परिधियों का समन्वय वैदेशिक नीति में रहा है।

वैदेशिक नीति का सर्वप्रथम परिचय तत्कालीन व्यापारिक सुविधाओं के

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ रघु० १.१८॥

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७६।

रूप में मिलता है, जो भारत में अथवा भारत के बाहर विदेशों में व्यापारियों को सर्वत्र मिला करती थीं। आज से लगभग ५००० वर्ष पहले भारत का व्यापारिक सम्बन्ध सुमेर, असीरिया, काल्डिया मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान, पामीर-प्रदेश, पूर्वी पाकिस्तान, तिब्बत, वर्मा आदि प्रदेशों से था। प्रायः उसी युग में सिन्धु प्रदेश का भारत के अन्य भागों—काठियावाड़, राजस्थान, दक्षिण भारत, काश्मीर आदि देशों से सम्बन्ध था। व्यापार के माध्यम पर आधारित इस वैदेशिक नीति की रूप-रेखा का इससे अधिक स्पष्ट रूप अभी नहीं मिला है।

भारतीय राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का एक माध्यम दिग्विजय रही है। वैदिक काल से लेकर सदा ही यदि कोई भारतीय राजा चक्रवर्ती या सम्राट् बनना चाहता था तो वह अपनी सेनाओं के साथ प्रायः समग्र भारत में परिभ्रमण करते हुये अहंमन्य राजाओं से युद्ध करता था अथवा विनीत राजाओं से कर-ग्रहण करके उन्हें छोड़ देता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिग्विजय के द्वारा जिन राजाओं को अधीनता स्वीकार कराई जाती थी, वे केवल स्वल्प काल के लिये ही किसी राजा का बनावटी सम्मान करते थे और अवसर पाकर स्वयं सशक्त होकर पहले के सम्राट् बने हुये महाराज से अथवा उस सम्राट् के पुत्र के महाराज होने पर उससे अधीनता का सम्बन्ध तोड़ देते थे और कभी-कभी तो स्वयं बदला लेने के लिये उसके विरुद्ध आक्रमण कर देते थे। इस प्रकार भारतीय राजाओं में प्रायः सदा ही पारस्परिक युद्ध का दूषित वातावरण रहा है। अपने राज्य के पार्श्ववर्ती चारों ओर के राजाओं को शत्रुवत् समझना शत्रुओं के शत्रुओं को मित्र समझना, शत्रु और मित्र राज्यों को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हुये अपने सम्बन्ध में उनकी नीति जानने के लिये गुप्तचरों को नियुक्त करना, शत्रु बने हुये राजाओं को साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से अपने लिये कम हानिकर बनाना आदि आयोजनों का आकलन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विस्तार पूर्वक किया है। उस समय मित्र राष्ट्रों का मण्डल बनाने का प्रचलन था।

वैदेशिक नीति में दूत-व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। कौटिल्य के अनुसार योग्यता के अनुसार तीन प्रकार के दूत होते थे। निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासन-हर। दूत परराष्ट्र में गौरवास्पद बनकर अपने राजा का सन्देश लेकर रहते थे। और वहाँ राजा से उत्तर-प्रत्युत्तर आदि कहने-सुनने के अधिकारी होते थे। वह परराष्ट्र के सभी प्रमुख अधिकारियों से मेल-जोल बढ़ाता था और वहाँ के युद्ध-स्थान, युद्ध-प्रतिग्रह तथा अपसार-भूमि की तुलना अपने राज्य की क्रमशः इन्हीं वस्तुओं से करता था। वह दुर्ग और राष्ट्र की लम्बाई-चौड़ाई, बहुमूल्य,

वस्तुओं के रखने के स्थान तथा उपक्रम करने योग्य स्थानों की परख कर लेता था।[१]

परराष्ट्र के राजा की आज्ञा लेकर दूत उसकी राजधानी में प्रवेश करता था और अपने राजा का सन्देश सुना देता था, चाहे उसे सुनाने में प्राणों पर ही क्यों न आ बीते। यदि सन्देश सुनकर राजा असन्तुष्ट हो तो उसे अपने दौत्य-पथ की विकट पद्धति का परिचय देकर स्वयं अवध्य बन जाने की युक्ति अपनानी चाहिए थी।[२]

यदि परराष्ट्र में दूत का अतिशय आदर होता तो वह फूल कर कुप्पा नहीं होता था। शत्रु की महती शक्ति से वह भीत नहीं होता था। वह स्त्रियों का संसर्ग या मदिरापान नहीं करता था। अकेले सोता था, क्योंकि सोये हुये या प्रमत्त व्यक्ति के भावों का ज्ञान दूसरों को हो सकता है।[३]

परराष्ट्र में स्वराष्ट्र के गुप्तचर पहले से ही काम करते रहते थे। वे यथाशक्ति दूत की सहायता करते थे, जिससे वह शत्रु-राजा के विरोधियों का पूरा परिचय पा सके और समझ सके कि आक्रमण के समय किन स्थितियों का अवलम्बन किया जा सकता है। वह अन्य साधनों के द्वारा भी युद्ध के समय काम में आने वाली बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता था। यदि परराष्ट्र का मन्त्री उसे रोक लेता तो वह उन सारी आवश्यक परिस्थितियों को जान लेने की चेष्टा करता था, जिनके कारण वह रोका जा रहा था। आवश्यकता पड़ने पर वह बिना आज्ञा लिये ही चल देता था।[४] प्रेषण (समाचार कह देना), सन्धि की प्रतिष्ठा का परिपालन, प्रताप (रण सम्बन्धी काल और स्थान की सूचना देना), मित्र-संग्रह, उपजाप (शत्रुपक्ष में फूट डालना), सुहृद्भेद (मित्रों को फोड़ना), गूढ़दण्डातिसारण (गूढ़ सेना को अपने पक्ष में लाना), बन्धुरत्नापहरण (राजा के बन्धुओं एवं रत्नों को चुरा लाना), चार ज्ञान (गुप्तचरों का परिचय); पराक्रम और समाधिमोक्ष (सन्धि तोड़ना)—ये दूत के काम थे।[५]

कौटिल्य ने राजाओं को दुर्बल बनाने के लिये अथवा स्वपक्ष में करने के लिये अनेक योजनायें प्रस्तुत की हैं, यथा धार्मिक राजा की जाति, कुल श्रुत और आचार की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न कर लेना चाहिये, अथवा उससे निवेदन करना चाहिये कि आपके पूर्वजों का हमारे साथ कितना अच्छा सम्बन्ध था। साम के द्वारा उत्साहहीन, युद्ध में थके हुये, उपाय रहित, क्षय-व्यय और प्रवास के कारण सन्तप्त राजा को, जो वास्तव में मैत्री चाहता हो और कल्याणमयी बुद्धिवाला हो,

---

१-५. अर्थशास्त्र १.१६ से।

अपनी ओर मिला लेना चाहिये। लोभी या क्षीण राजा को दान देकर अपनी ओर मिलाना चाहिये। यदि दो राजा एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हों तो उस अवसर पर उन दोनों में भेद डाल देना चाहिये। डरपोक राजाओं को डाँट-फटकार कर अपनी ओर कर लेना चाहिये। एक संघ या मण्डल के राजाओं को आपस में लड़ा देने की नीति भी कौटिल्य ने बतलाई है। शत्रु-राजा को अपने गुप्तचरों के द्वारा शस्त्र, अग्नि या विष-प्रयोग से मरवा देना भी अर्थशास्त्र के अनुसार उचित है। परराष्ट्र से व्यवहार करने में साम, दाम, भेद और दण्ड—चार उपायों को कौटिल्य ने क्रमशः एक, दो, तीन और चार गुण वाला माना है और इनका उपयोग क्रमशः करने की सीख दी है।[१] भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश का एक पर्वतीय राजा शशिगुप्त सिकन्दर के विरुद्ध बैक्ट्रिया के ईरानियों की सहायता करने के लिये गया था।[२]

ऐतिहासिक-यगीन परराष्ट्र-नीति का स्पष्ट परिचय मौर्यकाल से आरम्भ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस का युद्ध हुआ और युद्ध के अन्त में सन्धि हुई। इस सन्धि के परिणाम स्वरूप उन दो राजाओं में जो मैत्री-भाव उत्पन्न हुआ, उसकी आधार-शिला वैवाहिक थी। सेल्यूकस ने अपनी कन्या और राज्य का भाग चन्द्रगुप्त को दे डाला। चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी सेल्यूकस को दिये। इस प्रकार एक बड़ी शत्रुता का अन्त हुआ। सेल्यूकस के द्वारा भेजा हुआ दूत मेगस्थनीज मौर्य-राजसभा में रहा। मौर्यों ने विदेशियों की देख-रेख करने के काम में अतिशय उदारता का परिचय दिया है। राजा के द्वारा विदेशियों के लिये नियुक्त पदाधिकारियों को देखना पड़ता था कि किसी विदेशी को किसी प्रकार का कष्ट तो कोई नहीं पहुँचा रहा है। यदि कोई विदेशी रोगी होता तो उसकी चिकित्सा करने के लिये राजा के द्वारा वैद्य नियुक्त होता था। सब प्रकार से उसकी रक्षा की जाती थी। यदि कोई विदेशी मर जाता तो उसकी अन्त्येष्टि कर दी जाती थी तथा उसकी सम्पत्ति उसके सम्बन्धियों को दे दी जाती थी। विदेशियों से सम्बद्ध वादों का न्याय करने में न्यायाधीश बहुत सावधान रहते थे कि उनके प्रति कोई व्यक्ति किसी प्रकार का अत्याचार तो नहीं कर रहा है।[३] सीरिया के राजा ने बिन्दुसार की राजसभा के लिये डीमाकस नामक राजदूत भेजा था।[४] प्लीनी के लेखानुसार मिस्र के राजा

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, अर्थशास्त्र ९.६।

२. Cambridge History Vol. P. 1350.

३. मैक्रिण्डल, मेगस्थनीज तथा एरियन, पृ० ४२।

४. स्ट्राबो का लेख।

फिलाडेल्फस टालेमी द्वितीय (२८५ ई० पू०-२४७ ई० पू०) ने भारत में डायोनीसियस नामक दूत भेजा था। सीरिया के राजा अन्तिओकस का बिन्दुसार के साथ मैत्रीपूर्ण पत्र-व्यवहार होता था। बिन्दुसार को ग्रीक दार्शनिकों का अतिशय चाव था। एम्बोलस नामक ग्रीक दार्शनिक बिन्दुसार के लिये भेजा गया था।[१]

भारत की वैदेशिक नीति में विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का समारम्भ अशोक के समुदित व्यक्तित्व से आरम्भ होता है। उसने केवल अपनी ही अभिनव विजय पर रोक नहीं लगाई अपितु अपने पुत्र-पौत्रों को भी आदेश दिया कि वे नई विजय के चक्कर में न पड़ें। अशोक ने अपनी साम्राज्य-सीमा के पार्श्ववर्ती राजाओं को शत्रु न माना। वह उनके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार की पद्धति पर चला। ऐसी परिस्थिति में उसने चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी आदि दक्षिण-भारतीय प्रदेश तथा भारत के बाहर सीरिया के ग्रीक राजा अन्तिओकस, मिश्र के टालेमी द्वितीय फिलाडेल्फस, काइरीन के राजा मगज, मेसीडोनिया के राजा अन्तिगोनस गोनतस् तथा इपिरस के राजा सिकन्दर से सद्भावनाओं का सम्बन्ध प्रतिष्ठित किया। मैत्रीपूर्ण व्यवहार केवल तटस्थता की नीति नहीं थी, अपितु इसके द्वारा अशोक ने विदेशियों को प्रगति-पथ का सन्देश दिया और उनके राज्यों में भी सार्वजनिक अभ्युदय सम्बन्धी योजनाओं को प्रतिष्ठित किया। यही अशोक की धर्मविजय थी, जो पूर्ववर्ती राजाओं की दिग्विजय के समकक्ष पड़ती थी। अनेक विदेशी राज्यों में औषधालय और चिकित्सालय अशोक के संरक्षण में खोले गये। अनेक देशों में राजदूत अशोक का सन्देश लेकर पहुँचे।[२]

पाण्ड्य राजा ने २६ ई० पू० के लगभग रोम के सम्राट् आगस्टस के समीप अपना राजदूत भेजा था। फिर तो रोम के सम्राटों के पास भारत से सात सद्भावना-मण्डलों के जाने के उल्लेख मिलते हैं।[३] ई० शती के आरम्भ में वांग-मंग नामक चीन के राजा ने कांची के राजा के पास अपने देश की अनेक बहुमूल्य वस्तुओं को उपहार रूप में भेजा था। भारतीय राजा ने प्रत्युपहार में चीनी राजा की इच्छानुसार प्रत्युपहार में एक गेंडा भेज दिया।[४] दूसरी शती ईसवी में सिन्धु प्रदेश से चीन के राजा के लिये सामुद्रिक मार्ग से उपहार भेजा गया था।

---

१. *Ray Chaudhary* : Political History of India. P. 211

२. अशोक के शिलालेखों से।

३. *Majumdar* : An Advanced History of India. P. 212.

४. भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ० ९६।

परवर्ती युग में ग्रीक राजाओं के द्वारा दूत भेजने की प्रथा का प्रचलन मिलता है। तक्षशिला के ग्रीक राजा एण्टि अलकाइडस का दूत हेलिओडोरस मालवा की राजधानी विदिशा में शुंग-वंश के राजा भागभद्र की राजसभा में नियुक्त था। उसका निवास संभवतः बहुत समय के लिये हुआ होगा क्योंकि इस बीच वैष्णव धर्म के प्रति उसकी अभिरुचि जागरित हुई और उसने विदिशा में गरुडध्वज की स्थापना की, जो अब तक विराजमान है। परवर्ती शकयुगीन राजाओं के दूत नियुक्त करने का उल्लेख रुद्रदामन् के शिलालेख में मिलता है।

गुप्तयुग में वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा अनेक सबल राजाओं को मित्र बना लेने की नीति का विशेष प्रचलन मिलता है। लिच्छवि राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा गुप्त राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ाई। उन्होंने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये जिन-जिन राजाओं का सहयोग अपेक्षित समझा, उनसे यथासम्भव वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। समुद्रगुप्त को शक-कुशन तथा अन्य विदेशी राजाओं से कन्योपायन मिला। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नाग वंश की राजकुमारी से विवाह किया। इस विवाह से जो कन्या उत्पन्न हुई, उसका विवाह उसने विदर्भ के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से कर दिया। तत्कालीन भारत में गुजरात और सौराष्ट्र के शक-क्षत्रपों पर आक्रमण करने वाले गुप्तवंशी राजाओं के लिये वाकाटक राजाओं का सहयोग अपेक्षित था।

गुप्तयुगीन राजाओं के शासन में महासान्धि-विग्रहिक और सान्धि-विग्रहिक नामक सचिव का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनका कार्यक्षेत्र विदेशी राजाओं से युद्ध या सन्धि-सम्बन्धी था और वे युद्ध के समय विजेता के साथ भी जाते थे।[१] वैदेशिक राजदूतों का आना-जाना पूर्ववत् प्रचलित रहा। समुद्रगुप्त की राजसभा में सिंहल राजा के दूत आये थे।

सातवीं शती में चालुक्य वंशी राजा पुलकेशी की राजसभा में ईरान से राजदूत आये थे। ह्वेनसांग ने भारत और चीन को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में ला दिया। उसी के प्रभाव से हर्षवर्द्धन और चीन के महाराज तांग ने एक दूसरे के पास राजदूत भेजे।

आठवीं शती से आरंभ होने वाले पालवंशी राजाओं को तिब्बत में बौद्ध धर्म के सुधारने का श्रेय है। तिब्बत और पालवंश के राजाओं का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा।[२]

---

१. उदयगिरि में चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख।

२. *Majumdar :* An Advanced History of India P. 214

दूसरी शती ई० के लगभग से भारत के कुछ राजाओं ने भारत के बाहर विशेष रूप से पूर्वी द्वीप-समूह में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की। दूसरी शती से पांचवी शती तक मलय, कम्बोडिया, अन्नम्, सुमात्रा, जावा, बालि तथा बोर्नियो प्रदेशों में ऐसे उपनिवेश प्रतिष्ठित थे । इण्डोचाइना में चम्पा और कम्बुज नामक दो शक्तिशाली राज्य थे । चम्पा में आधुनिक अन्नम् भी सम्मिलित था। चम्पा में ग्यारहवीं शती से तेरहवीं शती तक जय परमेश्वर देव, ईश्वरमूर्त्ति, रुद्रवर्मा, हरिवर्मा, महाराजाधिराज श्री जय इन्द्रवर्मा, जयसिंह वर्मा आदि प्रमख राजा हुए। उन्होंने चीनी राजाओं के साथ दूत-सम्बन्ध रखा। कम्बुज का राज्य पहली या दूसरी शती में प्रतिष्ठित हुआ था। भारत से असंख्य विद्वान् ब्राह्मण और धर्म के आचार्य इस प्रदेश में जा बसे थे । यहाँ के राजाओं का चीन और भारत के साथ दूत सम्बन्ध था। जयवर्मा, यशोवर्मा, सूर्यवर्मा आदि कम्बुज राज्य के प्रसिद्ध शासक हुए। पन्द्रहवीं शती में उपर्युक्त दोनों राज्यों का अन्त हो गया।

मलय-प्रदेश में आठवीं शती में शैलेन्द्र-वंश का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। इसमें मलय के अतिरिक्त सुमात्रा, जावा, बालि और बोर्नियो भी सम्मिलित थे। भारत और चीन—दोनों देशों के राजाओं का शैलेन्द्रवंशी राजाओं के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध था। शैलेन्द्रवंशी राजा बालपुत्र देव ने बंगाल के राजा देवपाल के पास दूत भेजा था और प्रार्थना की थी कि मैंने नालन्दा में जो विहार बनवाया है, उसके लिये आप पाँच गाँव दे दें। शैलेन्द्र-वंश का अभ्युदय ग्यारहवीं शती तक रहा। ग्यारहवीं शती में भारत के चोलवंशी राजा राजेन्द्र प्रथम ने शैलेन्द्र-साम्राज्य का अधिकांश भाग जीत लिया किन्तु लगभग सौ वर्षों के पश्चात् शैलेन्द्रों ने पुनः अपना साम्राज्य पूर्ववत् बना लिया। शैलेन्द्रों ने लंका पर आक्रमण किया, जिसमें उनकी विनाशात्मक क्षति हुई। शैलेन्द्र-वंश के दुर्बल होने पर जावा के भारतीय उपनिवेश को आगे बढ़ने का अवसर मिला। तेरहवीं शती के अन्तिम भाग में महाराज विजय ने तिक्तबिल्व को राजधानी बनाकर वहाँ एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा की।[१]

भारत के कुछ राजाओं ने पश्चिमी एशिया की ओर प्रगति की थी। इनमें से गजसिंह का नाम सुप्रसिद्ध है। वह यदुवंश का राजा था। उसने अकेले ही शाह सिकन्दर रूमी तथा शाह ममरेज को हराया था। उसीके नाम पर परवर्ती युग में गजनी नामक नगर विख्यात हुआ।[२]

---

१. *Majumdar :* An Ancient India. p. 211-221.

2. James Tod: Annals and Antiquities of Rajasthan Vol. II. P. 222.

गणतन्त्र

भारतीय गणतन्त्र-राज्य-व्यवस्था का सर्वप्रथम प्रामाणिक परिचय महाभारत में मिलता है, जिसके अनुसार अन्धक-वृष्णियों का गण उस युग में विख्यात था। कृष्ण इस गण के प्रधान थे । ऐतिहासिक आधार पर इस गणतन्त्र-परम्परा को कम से कम ई० पू० ११०० वर्ष के लगभग माना जा सकता है। महाभारत के अनुसार इस गण के समकालीन अन्य गण भी थे । द्वारका के अन्धक-वृष्णि गण का उल्लेख पाणिनि ने किया है।[१] तदनुसार यह अनेक गणों का एक संघ था और प्रत्येक गण का अध्यक्ष राजन्य होता था। इनके अतिरिक्त यादव, कुरु और भोजों के गण का उल्लेख महाभारत में मिलता है।

पाणिनि ने ऐसे गणों का भी उल्लेख किया है, जो अपने आप में स्वतन्त्र थे, यथा क्षुद्रक, मालव[२], या यौधेय[३]। त्रिगर्त-षष्ठ छः गण-राज्यों का संघ था।

गणों की आन्तरिक व्यवस्था, शासन-पद्धति आदि बहुविधि वृत्त बौद्ध साहित्य से ज्ञात होते हैं। तदनुसार उस युग में दस प्रसिद्ध गण-राज्य थे, जिनके नाम और राजधानियाँ निम्नलिखित हैं[४] —

गण के नाम	राजधानी
१. शाक्य	कपिलवस्तु
२. बुलि	अल्लकप्प
३. भग्ग	सुंसुमार पर्वत
४. कोलिय	रामगाम
५. कालाम	केसपुत्त
६. मल्ल	कुसिनारा
७. मल्ल	पावा
८. मोरिय	पिप्फलिवन
९, विदेह	मिथिला
१०. लिच्छवि	वैशाली

१. पाणिनि ५.३.११४।

२. वही ४.२.४५।

३. वही ५.३.११७।

४. इन गणराज्यों में से कई गौतम बुद्ध को समादरपूर्वक प्रतिष्ठा प्रदान करते थे। गौतम राजकीय स्तर पर उन्हें परामर्श देते थे और उनके परिषद्-भवनों का उद्घाटन करते थे।

इनमें से भग्ग, बुलि, कोलिय और मोरिय छोटे जिलों के बराबर थे। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेहों के राज्य बड़े थे। गोरखपुर से दरभंगा तक और हिमालय से गंगा तक इनका विस्तार था। शाक्यों का राज्य गोरखपुर में था। इनके पूर्व में मल्ल-राज्य था। बुलि गणराज्य आधुनिक छपरा और मुजफ्फरपुर जिलों में था। कोलियों और शाक्यों के राज्य के बीच रोहिणी नदी थी। मोरियों का राज्य हिमालय प्रदेश में था। इन गणों के नाम जातियों के नाम पर हैं, जिससे तत्सम्बन्धी जातियों का शासन में प्रमुख होना स्पष्ट है। उनकी परिषदों के सदस्य साधारणतः उन्हीं जातियों से होते थे। इनको जातीय पंचायतों का प्राथमिक बृहद्रूप माना जा सकता है।

परवर्ती युग के कुछ गणराज्यों के नाम उनके द्वारा प्रचारित मुद्राओं से ज्ञात होते हैं। कुणिन्दों का गणराज्य सम्भवतः पाणिनि के द्वारा उल्लिखित त्रिगर्त का नामान्तर है, जो जालन्धर प्रदेश में दूसरी शताब्दी ई० तक चला। कुणिन्दों की असंख्य मुद्रायें मिली हैं।

जयपुर से आगरे के बीच में २०० ई० पू० से ४०० ई० तक अर्जुनायन-गण प्रतिष्ठित था। कुणिन्दों और अर्जुनायनों का यौधेय-गण से सहयोग था। अर्जुनायनों की १०० ई० पू० की मुद्रायें मिलती हैं।

यौधेय गण का राज्य सुविस्तृत था, जिसकी सीमा पर सम्भवतः आधुनिक सहारनपुर, भावलपुर, लुधियाना और दिल्ली रहे होंगे। यह तीन गणों में विभक्त था। यौधेयों का इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके भय से सिकन्दर के सैनिक भारत में बहुत आगे न बढ़े। परवर्ती युग में यौधेयों ने कुशन शासकों को हराया। गिरिनगर के शिलालेख में यौधेयों को 'पराक्रम' की विशेषता के द्वारा क्षत्रियों में सर्वोच्च' कहा गया है। यह गणतन्त्र लगभग ३५० ई० तक कम से कम चलता ही रहा।

मद्रों का गणराज्य पंजाब के केन्द्र भाग में था। इनकी राजधानी साकल में थी। इन्होंने सिकन्दर का सामना किया था। यह गणराज्य चौथी शताब्दी तक चला।

पंजाब में चेनाब और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश में मालव और क्षुद्रकों का प्रबल गणराज्य था। इन्होंने सिकन्दर के विरुद्ध लड़कर अपनी अप्रतिम वीरता का परिचय दिया था। इनकी क्षुद्रक-मालवी-सेना का उल्लेख पाणिनि ने किया है।[1] शनैः-शनैः इस सम्मिलित गण का अभियान अजमेर, चित्तौड़ आदि से होते हुए आधुनिक मालवा प्रदेश में हुआ। इनकी ताम्र-मुद्राओं पर 'मालवानां जयः'

---

१. पाणिनि ४.२.४५।

का उल्लेख उनकी विजयशीलता और पराक्रम का प्रमाण है। इसी गणतन्त्र के आस-पास चौथी शताब्दी ई० पू० में अगेसिनाई और शिवियों के गणराज्य थे, जिनके उल्लेख तत्कालीन ग्रीक विद्वानों ने किये हैं। परवर्ती युग में शिवियों का गणतन्त्र चित्तौड़ प्रदेश में आ बसा। इस समय की उनकी असंख्य मुद्रायें मिलती हैं।

सिकन्दर के समकालीन चौथी शताब्दी ई० पू० में पंजाब में अम्बष्ठों का शक्तिशाली गणराज्य था। इनकी विशाल सेना में ६०,००० पैदल, ६,००० अश्वारोही और ५०० रथ थे। फिर भी इन्होंने सिकन्दर से लड़ाई न करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में गणराज्यों की परम्परा अधिक विकसित थी। दक्षिण भारत के गणराज्यों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में अभी तक नहीं मिले हैं।

गणों में शासन की दृष्टि से एक जाति की सत्ता को सर्वोच्च मानकर उसे शासनाधिकार प्रधान रूप से प्राप्त होता था।

व्यवस्था और शासन पद्धति

महाभारत के अनुसार 'गणों को समृद्धि के लिए आन्तरिक मेल बनाये रखना चाहिए, अन्यथा उनकी हानि होती है। पारस्परिक वैमनस्य का मूलोच्छेद करना बड़ों का उत्तरदायित्व होना चाहिए। बाहरी शत्रुओं से गणों की उतनी हानि नहीं होती, जितनी आन्तरिक शत्रुओं से। लोग विद्वानों का आदर करें, कर्तव्य पालन करें, और प्रधानों पर विश्वास रखें। गण अपने कोश को भरपूर रखें, नीति-पथ पर चलें, उत्साहपूर्वक अपनी रक्षा करें, दूतों और चारों के द्वारा शत्रु का भेद लें और युद्ध में शत्रुओं का विनाश करने के लिए तत्पर रहें[१]।' उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि गणों के सदस्यों में सौहार्द की कमी होने से कभी-कभी उनका दौर्बल्य उनके विनाश का कारण हो जाता था।

कृष्ण वृष्णि-अन्धक आदि सभी गणों के मुख्य थे, यद्यपि प्रत्येक गण का ईश्वर अलग से था। भोज-गण का ईश्वर अक्रूर था।

शाक्यगण की राजधानी कपिलवस्तु में थी। इस गण का शासन ८०,००० कुटुम्बों के द्वारा संचालित था। संघ की परिषद् में ५०० सदस्य थे। इसकी बैठक संस्थागार में होती थी। इसमें शासन-विधान और न्याय दोनों का सर्वोच्च अधिकार निष्ठित था। परिषद् का अध्यक्ष राजा कहा जाता था। वही गणाध्यक्ष

---

१. शान्तिपर्व ८२ वाँ अध्याय।

होता था। शुद्धोदन और भद्दिय राजाओं के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। यद्ध के अवसर पर महत्त्वपूर्ण विषयों पर परिषद् का निर्णय सर्वोपरि होता था और उसे कार्यान्वित करना पड़ता था।

कोलियों के गणराज्य की पुलिस-व्यवस्था प्रसिद्ध थी। पुलिसों की एक विशेष वेश-भूषा और पगड़ी होती थी। वे निर्दयतापूर्वक व्यवहार करने के लिए प्रख्यात थे।

मल्लों की दो शाखायें थीं—पावा और कुशीनगर में। यह संघ-राज्य था। इनके राज्यों में धार्मिक स्फूर्ति थी। वे बौद्ध और जैन आचार्यों का सर्वोच्च समादर करते थे। मल्ल, लिच्छवि और विदेह गणों ने मगध और कोशल के राजाओं के आक्रमणों से बचने के लिए कभी-कभी संघ भी बनाये। परस्पर लड़ना-झगड़ना इन गणराज्यों के लिए साधारण बात थी।

लिच्छवि (वृजि) राज्य में वैशाली, कुंडपुर और वाणियगाम प्रधान नगर थे। इस राज्य में गौतम बुद्ध का विशेष सम्मान था और उन्हें बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए महादान और सर्वोच्च सुविधायें लिच्छवियों के नगरों में मिलीं। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल राजनीतिक प्रगति से सन्तुष्ट न रहकर ये राजा चारित्रिक निर्माण पर ध्यान देते थे, और महापुरुषों की सूझ-बूझ से लाभ उठाते थे।

गणों या संघों की सर्वोच्च शासन-समिति उनके केन्द्रस्थान पर होती थी। राज्य की शासन-सम्बन्धी नीति का निर्धारण और महत्त्वपूर्ण राजकर्मचारियों की नियुक्ति स्वभावतः उसी समिति के द्वारा होती थी। यदि हम मान लें कि इस शासन समिति की कार्य-विधि बौद्ध-संघ की कार्य-विधि के समान थी तो यह कहा जा सकता है कि बैठक के लिए निर्दिष्ट संख्या नियत होती थी, जिससे कार्य-संचालन हो सके। गणाध्यक्ष की अधीनता में सारा कार्य चलता था। विविध दलों के नेताओं का बोल-बाला था। प्रस्ताव रखे जाते, उन पर विवाद होता था और मत-भेद होने पर मत लिया जाता था।

गण-राज्यों में मन्त्रि-मंडल का विशेष प्रभाव था। शासन-समिति के सदस्यों की संख्या सहस्रों तक होती थी, किन्तु मन्त्रि-मंडल के सदस्य साधारणतः २० से कम होते थे। वैदेशिक विभाग का मन्त्री सबसे बढ़ कर माना जाता था। उसीके ऊपर गण का अस्तित्व विशेष रूप से अवलम्बित होता था। राजकीय आय-व्यय का अधिष्ठाता मन्त्री राष्ट्र की समृद्धि के साथ कोश की वृद्धि की योजनायें कार्यान्वित करता था। न्याय-मन्त्री राज्य में धार्मिक व्यवहार का आयोजन करता था। राज्य में शान्ति रखने के लिए अलग से मन्त्री नियुक्त होता था। वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) के लिए एक या अनेक मन्त्री होते थे। कुछ नगरों में

मन्त्रि-परिषदें होती थीं और गाँवों में पंचायतें होती थीं। यद्यपि राज्य की प्रधान केन्द्रीय समितियों में शासन-सूत्र किसी एक जाति के लोगों के हाथ में होता था, फिर भी नगर की परिषद् और ग्राम की पंचायत में एक जाति की प्रमुखता सम्भवतः नहीं थी। इनमें सभी वर्णों के लोग चुने जा सकते थे।

गणों की अध्यक्षता या मन्त्रि-मण्डल की सदस्यता योग्यता के उत्कर्ष से आनवंशिक हो जाती थी। फिर भी जहाँ-कहीं अयोग्य पुत्र हुआ, उसे आनुवंशिक अधिकार नहीं मिल पाता था। पदों की आनुवंशिक परम्परा गण-तंत्र संस्था के विघटन का कारण हुई, क्योंकि ऐसी स्थिति में गणराज्यों का साधारण राज्यों से कोई अन्तर नहीं रह जाता था।

अध्याय १४

सेना और युद्ध

आर्य संस्कृति की प्रथम झलक उनकी विजयशीलता में मिलती है, जिसका वर्णन ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में भरा पड़ा है। आर्यों का युद्ध आर्येतर लोगों से हुआ और वह सम्भवतः सैकड़ों वर्षों तक चलता रहा।[1] कालान्तर में आर्य और आर्येतर वर्ग ने एक-दूसरे को समझा और उनके संघर्ष की तीव्रता शनैः-शनैः क्षीण होती गई। उसी वैदिक काल से इन्द्रादि प्रमुख वीरों की चरित-गाथा भारत में वीर-रस का संचार करती रही है।

सिन्धु-सभ्यता का सैन्य

सिन्धु-सभ्यता के संरक्षक सैन्य-बल की कल्पना ही की जा सकती है। अवश्य ही एक बड़ी सेना होगी, जो राष्ट्र को आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षित रख सकी होगी। उस समय लोहे का ज्ञान नहीं था। अस्त्र-शस्त्र पीतल या उसके समान धातुओं से बनाये जाते थे। धनुष और बाण के अतिरिक्त भाले, तलवार और कटारों का प्रचलन था। प्रक्षेपिका से गोलाकार और अण्डाकार गोलियाँ फेंकी जाती थीं। युद्ध-भूमि में उपर्युक्त अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त गदा का उपयोग होता था। गदा के सिरे पर पत्थर का गोला सम्बद्ध रहता था।

प्रागैतिहासिक युग के धातुओं के बने हुए असंख्य अस्त्र-शस्त्र भारत के विभिन्न प्रान्तों में मिले हैं, जिनमें से कुछ की आकृति भाला और तलवार से मिलती है। अनेक अस्त्र-शस्त्र ऐसे भी मिले हैं, जिनके नाम आज ज्ञात नहीं हैं।

वैदिक सेना और युद्ध

वैदिककालीन देवसेना का नेता स्वयं इन्द्र था। आर्यों की सेना का नेता राजा

---

१. कुछ विद्वानों का मत है कि सिन्धु सभ्यता में जो आर्येतर थे, उन्हीं से इन्द्र की अध्यक्षता में आर्यों का युद्ध हुआ और इन्द्र ने उनकी नागरिक सभ्यता का विध्वंस कर दिया। वैदिक साहित्य में इस घटना के स्पष्ट या प्रामाणिक उल्लेख न मिलने से उपर्युक्त मत की मान्यता सन्दिग्ध है।

होता था। सेना में राज्य के सभी सशक्त लोग सम्मिलित हो सकते थे। पुरोहित सेना को प्रोत्साहित करता चलता था और यज्ञों, मन्त्रों और अभिचारों से अपने राजा की विजय प्राप्त करने का प्रयास करता था। राजा और प्रमुख सामन्त रथों पर बैठकर लड़ते थे। रथ पर सारथि के बायें योद्धा खड़ा रहता था। साधारण लोग पैदल लड़ते थे। युद्ध का प्रमुख अस्त्र बाण था। धनुष की रस्सी कान तक खींची जाती थी। इनके अतिरिक्त आयुध ऋष्टि, अंकुश, परशु, कृपाण और वज्र थे। लोहे और सोने के पत्तरों के बने वर्म (कवच) और शिरस्त्राण से लोग प्रायः पूरे शरीर को सुरक्षित बनाते थे। धनुष की रस्सी की रगड़ से बाँह को बचाने के लिए उस पर हस्तघ्न नामक चमड़ा लपेटा जाता था। बाण काण्ड-नड का बनाया जाता था और उसका सिरा सींग या धातु का होता था। विषाक्त बाण भी प्रयक्त होते थे। युद्ध के लिए नदियों का समीपवर्ती प्रदेश चुना जाता था।[1] पैदल सैनिकों का युद्ध मुष्टि-हत्या कहा जाता था। इसमें सम्भवतः मुष्टि-प्रहार की विशेषता होती थी।[2] ऋग्वेद में सेना में सहस्रों वीरों के होने का उल्लेख मिलता है। इन्द्र ने एक बार साठ सहस्र सैनिकों की सेना का उन्मूलन किया था।[3]

इन्द्र का वज्र सुविख्यात आयुध है। वज्र संभवतः कोई आग्नेय अस्त्र था।[4] शतघ्नी वज्र के समान थी, जो संभवतः एक प्रहार में सौ व्यक्तियों को मार सकती थी।[5] कुछ आग्नेय अस्त्रों में सीसे के गोलों का प्रयोग होता था।[6]

---

१. Cambridge Hist. of India. Vol. I. P. 18.

२. ऋग्वेद १.८.२; ६.२.२ में मुष्टिहा मुट्ठी से लड़ने वाले वीर का नाम है।

३. ऋग्वेद ६.२६.५–६।

४. प्रोफेसर विलसन की मान्यता है कि वज्र का संचालन बारूद के समान किसी द्रव्य से होता था। Amongst ordinary weapons one is named Vajra, the thunderbolt and the specification seems to devote the employment of some projectile, which could not have been in use except by the agency of some thing like gun-powder in its properties. Wilson's Essays भाग २, पृ० ३०३। डा० ओपर्ट ने नीति-प्रकाशिका की भूमिका में पृ० १०-१३ तक इसी प्रकार के प्रमाणों को लेकर सिद्ध किया है कि भारत में १३ वीं शती के पहले ही आग्नेय अस्त्रों और बारूद का ज्ञान था। वज्र की रचना त्वष्टा ने की थी।

५. तैत्तिरीय संहिता ५.७.६। ६. अथर्व० १.६४.४।

कुछ बाणों की नोक पर अग्नि उत्पन्न कराई जाती थी।[1] युद्ध में जो पत्थर फेंके जाते थे, उनका नाम अद्रि और अशनि था। ऋष्टि, शक्ति, रम्भिणी और शरु विविध प्रकार के भाले प्रयुक्त होते थे। तलवार दो प्रकार की होती थी—असि और कृति।

युद्ध के अवसर पर चारों का उपयोग होता था। प्रयाण-मार्ग तथा युद्ध-भूमि में दुन्दुभि का सिंहनाद होता था।[2] विजयी होने पर वीर गरजते थे।[3] युद्ध में विजयी होने पर शत्रु का जो धन उनको मिलता था, उसका नाम उदाज था।[4] विजयी सेना दुन्दुभि बजाती थी।[5] युद्ध में सफलता पाने के लिए विविध प्रकार के यज्ञ होते थे।

युद्ध-विज्ञान का वैदिक काल में अभ्युदय हो रहा था। चारों ओर से शत्रुओं का मार्ग रोक देना आवश्यक समझा जाता था।[6] जिन स्थानों पर शत्रुओं के जाने की सम्भावना होती थी, वहाँ जाल और पाश लगा दिये जाते थे, जिनमें शत्रु बँध जायें।[7] मायावी लोगों के साथ मायात्मक युद्ध होते थे।[8] युद्ध-कौशल का नाम आकूत था।[9]

देवासुर संग्राम के अतिरिक्त आर्यों और दासों के युद्ध वैदिक काल में हुए। इन युद्धों में प्रायः आर्य दासों के विरुद्ध लड़ते थे, पर कुछ युद्ध ऐसे भी हुए, जिनमें आर्यों के परस्पर युद्ध हुए या किसी आर्य राजा का विरोध आर्य और दासों ने किया।[10] ऋग्वेद में सुदास का दश राजाओं से तथा इन्द्र का वृत्र से युद्ध करने का लोकप्रिय प्रकरण अनेक स्थलों पर मिलता है। सुदास के पूर्वज दिवोदास को पणि, पारावत तथा वृसय नामक आर्येतर जातियों से लड़ना पड़ा था।

परवर्ती वैदिक काल में दिग्विजयों का समारम्भ हुआ। इस युग में सम्राट् की उपाधि पाने के लिए आवश्यक था कि चारों दिशाओं के सभी राजाओं को युद्ध

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण १.४.८।
२. अथर्व० ५.२०।
३. ऋग्वेद १.२३.११।
४. मैत्रायणी सं० १.१० १६; ४.३.१।
५. ऋ० १.२८.५।
६. अथर्व० ६.६७.१।
७. वही ६.१०३.८।
८. ऋग्वेद १.११.७।
९. अथर्व० ११.९.१,१३।
१०. ऋग्वेद ७.८३.१; ६.३३.३ तथा ४.३०. १८।

में परास्त किया जाय। इस पराक्रम में आर्य और आर्येतर सभी राजा सम्राटों की विजय-लिप्सा की परिधि में आ ही जाते थे।

वैदिक काल में छोटे-मोटे युद्ध गौओं को चुराने वाले शत्रु पर आक्रमण करने मात्र से आरम्भ हो जाते थे। ऐसे युद्धों का नाम गविष्टि था। गविष्टियाँ शत्रुओं की गायें छीनने के लिए भी होती थीं।[1] शत्रुओं का धन या प्रदेश पाने की लालसा से अनेक युद्ध होते थे। विजेताओं को ग्रामजित् और गोजित् की उपाधियाँ मिलती थीं। कुछ असुर ऋषियों की प्रगति में बाधक थे। देवता ऋषियों के पक्ष में थे और असुरों को परास्त करते थे।[2] जन-द्रोही तथा ब्रह्मद्वेषी लोगों को मिटाना युद्धवीरों का काम था।[3]

युद्धवीरों को उनके सहायक अच्छे भोजन और पान से आह्लादित करते थे।[4] कवियों के स्तोत्रों के द्वारा योद्धाओं को प्रोत्साहित करके उनकी शक्ति का संवर्धन किया जाता था।

युद्ध की विभीषिका त्रासमयी थी। शत्रु का प्राण ले लेना, उसके सिर का चूर्ण बना देना, अंगों को उच्छिन्न करना आदि व्यक्तिगत हानियाँ थीं।[5] इससे भी भयंकर था शत्रु के नगर को नष्ट कर देना।[6] इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है—जिस प्रकार अग्नि सूखे वन को जलाता है, वैसे ही भयंकर अशनि राक्षसों को जलाती है।[7] लड़ाई कई दिनों तक लगातार चलती थी।[8] कभी-कभी एक ही

---

१. ऋग्वेद ६.३५.२; १.३६.८; ५.३०.४; ६.१७.३; ६.२६.२। ऐसे युद्ध का पूरा वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है :—

अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः।
रुजदरुग्णं विवलस्य सानुं पणीर्वचोभिरभियोधदिन्द्रः ॥ऋ० ६.३९ २।

२. ऋग्वेद ५.२९.११।

३. वही ६.२२.८।

४. ऋग्वेद ५.२९.७ के अनुसार अग्नि ने इन्द्र को मांस-भोजन कराया। इन्द्र ने तीन पात्रों में सोमपान किया और फिर वृत्र की हत्या की थी। ऋ० ६.१७ ११ में भी इन्द्र के ऐसे ही भोजन-पान का वर्णन है।

५. शिर का चूर्ण बनाना ऋ० ६.१९.६ और शिर का मुरमुराना ऋ० ६.२६.३।

६. ऋ० ६.१८.८; ६.१९.७।

७. ऋ० ६.१८.१०।

८. ऋ० ६.२६.४ के अनुसार वृषभ ने शत्रुओंसे दस दिनों तक युद्ध किया था।

वीर अकेले सहस्रों सैनिकों से युद्ध करता था और अन्त में उनको जीवित नहीं छोड़ता था।[1] बढ़ई जिस प्रकार लकड़ी छेदता है, वैसे ही शत्रु का शरीर विदीर्ण किया जाता था।[2] युद्ध की इस दुष्प्रवृत्ति का परिचय कुछ विचारकों को था। एक ऋषि ने युद्ध के विषय में अपना स्पष्ट मत दिया है—युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता है।[3] आर्येतर जातियों की स्त्री-सेना भी होती थी।[4]

युद्ध की लोकप्रियता

युद्ध को लोकप्रिय बनाने वाली परिस्थितियाँ वैदिक काल में थीं। वह युग देवताओं का असुरों से तथा आर्यों का आर्येतर जातियों से संघर्ष का था। युद्ध-नेताओं का ऐसी स्थिति में सम्मान होना स्वाभाविक है। योद्धा-रूप में इन्द्र की स्तुति करने वाले ऋषियों की कविताओं के द्वारा युद्ध के प्रति लोकभावना प्रेरित की जा रही थी। वैदिक काल में ही स्वराट् होने के लिए आवश्यक था कि दिग्विजय के पश्चात् राजसूय यज्ञ करे। दिग्विजय के पश्चात् वाजपेय यज्ञ करने पर ही सम्राट् बनाया जा सकता था। स्वर्ग में इन्द्र बनने के लिए दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध-यज्ञ करना आवश्यक था।

युद्धाचार

युद्ध-सम्बन्धी सदाचार की प्रतिष्ठा वैदिक काल में मिलती है। अथर्ववेद के अनुसार मित्र और वरुण युद्ध में सत्यव्रत लोगों की रक्षा करते हैं। देवों ने असुरों पर विजय धर्म-युद्ध द्वारा पाई थी।

युद्धनीति का जो स्वरूप वैदिक काल से दृष्टिगोचर होता है, उससे प्रतीत होता है कि शत्रु को छलने की रीति अन्ततोगत्वा अपनाई जा सकती थी। भले ही अपवादस्वरूप क्यों न मान लें, पर विष्णु का वामन बनकर असुरों को ठगने और शक्तिहीन बनाने की योजना तत्कालीन प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराती है।

जातककालीन युद्ध

वैदिक काल में जिस एकाकी युद्धवीर के पराक्रम द्वारा महती सेना के ऊपर विजयश्री प्राप्त की जा सकती थी, उसके उच्च आदर्श को परवर्ती युग में अक्षुण्ण

---

१. ऋ० ६.२६.६।

२. वही ६.३२.४।

३. ऋ० ७.८३.२ यास्मिन्नाजा भवति किंच न प्रियम्।

४. ऋ० ५.३०.९।

रखा गया। एक ही घुड़सवार सात राजाओं के काशी पर आक्रमण करने पर उनके विरुद्ध युद्ध करते हुए विजयी होता है।[१] युद्ध-भूमि में राजा स्वयं लड़ते थे। राजा स्वयं कवच पहनकर मंगल-हस्ती के कन्धे पर बैठकर अंकुश से हाथी को नगर की ओर बढ़ाता था। नगर की ओर से तप्त गारा, गोलियाँ तथा अन्य प्रकार के अस्त्रशस्त्रों से शत्रु की प्रगति अवरुद्ध की जाती थी। हाथी-स्तम्भों को सूंड में लपेट कर तोड़ता था, तोरण को गिरा देता और नगर-द्वार को गिराकर आक्रमणकारी के नगर में प्रवेश करता था।[२]

सेना के सुखपूर्वक प्रयाण के लिये समुचित सुविधायें प्रस्तुत की जाती थीं। सेना-पथ में सैकड़ों गाँव बसाये जाते थे। उन गाँवों में भोजन, वस्त्र और अलंकार संचित किये जाते थे और हाथी, घोड़े और गाड़ियाँ इकट्ठी की जाती थीं। प्रयाण में नष्ट हुए गाड़ी और पशुओं को छोड़ कर नई गाड़ी या पशु ले लिए जाते थे।

युद्ध के कारण

अकारण ही किसी राजा का राज्य बाँट लेने के लिए शत्रु-राजा संघ बना कर आक्रमण कर सकते थे।[३] कुछ राजाओं को अकारण ही युद्ध की इच्छा उत्पन्न हो जाती थी। कलिंगराज ने अपने मन्त्रियों से पूछा—मैं युद्ध करना चाहता हूँ। कोई प्रतिपक्षी नहीं प्रतीत होता। क्या करूँ? मन्त्रियों ने उत्तर दिया अपनी कन्याओं को ग्राम, निगम और राजधानियों में रथ पर बैठाकर भ्रमण करायें। जो उन्हें अपने घर में रखना चाहे, उससे युद्ध कीजिए। ऐसा ही किया गया। अस्सक-राज से उसे युद्ध करने का अवसर मिला।[४] राजा को एकच्छत्र-पद प्राप्त कराने के लिए तथा स्वयं अद्वितीय बनने के लिए पुरोहित उसे अन्य सभी राजाओं को पकड़वाने के लिए प्रोत्साहित करते थे। राजा पुरोहित के आदेशानुसार बड़ी सेना के साथ राजाओं को पकड़ने के लिए प्रयाण कर देता था।[५] दूषित आचार वाले मंत्री जब किसी राजा के द्वारा निर्वासित कर दिये जाते थे तो किसी शत्रु-राजा को आक्रमण करने के लिए उद्यत करा लेते थे।[६]

---

१. भोजाजानीय जातक २३।
२. संगामावचर जातक
३. भोजाजानीय जातक २३, भीमसेन जातक ८०
४. चुल्लकालिंग जातक ३०१।
५. धोनसाख जातक ३५३।
६. धत जातक ३५५।

शत्रुओं से व्यवहार

शत्रु-राजाओं के पराजित होने पर भी उनके साथ सद्व्यवहार की रीति रही है। काशी के राजा ने आक्रमणकारी सात राजाओं के पकड़ लिए जाने पर उनसे शपथ ली कि हम पुनः विद्रोह नहीं करेंगे और फिर उन्हें छोड़ दिया गया।[1] इसके विपरीत कुछ दूषित मनोवृत्ति वाले राजाओं के प्रकरण भी मिलते हैं। कोसल के राजा ने काशी के राजा को मार डाला और साथ ही उसकी पटरानी को अपनी पटरानी बनाया।[2] युद्ध आरम्भ करने के पहले कुछ राजा पूछते थे कि तुम अपना राज्य दे रहे हो या युद्ध करोगे? विशेष परिस्थितियों में आक्रमणकारी कुछ दिनों के लिए आक्रमण स्थगित कर देता था।[3] कोसल के राजा दब्बसेन ने बनारस के राजा को पकड़कर सिर नीचे पैर ऊपर करके लटकवा दिया था।[4] पराजित राजा को जंजीर से बँधवाकर कारागार में डलवा देने की रीति भी रही है।[5]

युद्ध-विज्ञान

युद्ध-विज्ञान के अनुसार नगर का घेरा डाला जाता था। वाराणसी को जीतने के लिये नगर में आने वाले सभी मार्गों को रोकना और इस प्रकार नगर में लकड़ी, पानी और भोजन की कमी कर देना, नागरिकों को राजा से विद्रोह कर देने के लिए पर्याप्त था। उन्होंने राजा का सिर काट लिया।[6] कभी-कभी राजा अपनी वेशभूषा किसी दूसरे को पहनाकर उसे युद्ध करने के लिए भेज देता था और स्वयं गुप्त वेश में सैन्य-संचालन करता था।[7] युद्ध में नगर की रक्षा करने के लिए, नगर की परिभित्ति के द्वार पर, अट्टालिकाओं पर और नगर के द्वारों पर सेना रखी जाती थी। सेना में राजा के मंगल-हस्ती का अतिशय महत्त्व था। वह अकेले ही महती शत्रु-सेना को तितर-बितर करके आक्रमणकारी राजा को पकड़ सकता था।[8] मंगल-हस्ती को कवच पहनाया जाता था।[9]

---

१. भोजाजानीय जातक २३, महासीलव जातक ५१।
२. असातरूप जातक १००।
३. अलीनचित्त जातक १५६।
४. एकराज जातक ३०३।
५. घत जातक ३५५।
६. असात रूप जातक १००, अलीनचित्त जातक १५६।
७. सिरि जातक २८४।
८. अलीनचित्त जातक १५६।
९. संगामावचर जातक १८२।

सेना-विन्यास

केन्द्रीय सेना के अतिरिक्त सीमान्त प्रदेशों में सेना रहती थी। वह अपने प्रदेश के उपद्रवकारियों को युद्ध में परास्त करके उन्हें नष्ट कर देती थी। विशेष परिस्थितियों में केन्द्रीय सेना सीमान्त प्रदेशों में राजा की अध्यक्षता में विद्रोह शान्त करने के लिए जाती थी।[१] सेना चार प्रकार की होती थी—हस्ती, रथ, पदाति तथा अश्व। वनरक्षकों की अपनी निजी सेनाएं होती थीं। उनकी सेना में ५०० तक वीर होते थे। इनका काम था व्यापारियों को वन-प्रदेश से पार कराना। इस पराक्रम में उन्हें कभी-कभी डाकुओं की सेना से लड़ना पड़ता था।[२] युद्धवीरों की परीक्षा युद्ध करने के पहले होती थी। किसी मंत्री ने १००० महासैनिकों से कहा—यदि तुम अपने राजा के लिए प्राण दे सकते हो तो इस पर्वत पर से नीचे कूदो। वे जब गिरने को उद्यत होते तो उन्हें रोक देता।[३]

सेना के विजयी होने पर विजयोत्सव राजधानी में मनाया जाता था। लौट-कर आई हुई सेना राजधानी के बाहर जयस्कन्धावार में रुकती थी। इस बीच नगर में धूमधाम से उत्सव करने के लिए तैयारी होती थी। राजा नगर की प्रद-क्षिणा करता था।[४]

रामायणीय-युद्ध

रामायणीय और महाभारतीय सेना और युद्ध में भी एकाकी वीर की विशे-षता प्रत्यक्ष है। रामायण में राम और महाभारत में अर्जुन प्रायः अकेले ही वीरता का प्रदर्शन करके विजयश्री प्राप्त करते हैं। युद्धभूमि में लड़ते हुए वीरों की पार-स्परिक बातचीत होती थी। कभी-कभी यह बातचीत पूरे व्याख्यान के रूप में होती थी, जिसके द्वारा शत्रु-पक्ष की दुष्प्रवृत्तियों के कारण, उसके पराभव की दैवी योजना का आकलन किया जा सकता था।[५]

युद्ध के कारण

रामायण में जिन युद्धों का वर्णन है, वे प्रायः वेदकालीन वातावरण में सम्पन्न हुए थे। युद्ध के कारण प्रायः सांस्कृतिक विषमतायें हैं, जिनसे आर्य और आर्ये-

---

१. बन्धन जातक १२०।
२. खुरप्प जातक २६५।
३. चुल्लकालिंग जातक ३०१।
४. बन्धन जातक १२०।
५. अरण्यकाण्ड २९वें सर्ग से।

तर पक्षों का पारस्परिक मनोमालिन्य था। विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा करने के लिए राम को वन में ले गये। विश्वामित्र ने राक्षसों के उपद्रव की चर्चा राम से कर दी थी। उन्होंने राम से कहा—इस देश को पुनः निष्कण्टक बनाने के लिए दुष्ट-चारिणी ताड़का को मार डालो। राम ने भी उस देश को सुखी बनाने के लिए धनुष तान लिया।[1] राम के युद्ध प्रायः देवताओं और ऋषियों के विरोधी उन आर्येतर लोगों को मारने के लिए हुए, जो स्वतः राम से लड़ने के लिए आ भिड़ते थे।[2] अनेक युद्ध तो शूर्पणखा की नाक के कारण ही हुए। राम महर्षियों के द्वारा उपाय करके पापी राक्षसों को मारने के लिए दक्षिण लाये गये। सुग्रीव की सेना की सहायता प्राप्त करने के लिए बालि से जो युद्ध राम ने किया, वह निश्चय ही राज-नीतिक स्तर पर हुआ।[3] इस युद्ध में विजय प्राप्त करके राम ने सुग्रीव को राजपद पर प्रतिष्ठित किया और अन्ततोगत्वा लंका में रावण के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए वानरों की अपरिमित सेना राम को प्राप्त हुई।

रामायण में कुछ ऐसे आर्येतर उद्धत वीरों की लड़ाइयों की चर्चा है, जो अपनी वीरता के अभिमान से इधर-उधर अन्य वीरों को युद्ध के लिए ललकारते थे, जिससे उनको पछाड़ें। ऐसे वीरों में दुन्दुभि नामक असुर का नाम आता है। बहुत खोजने पर 'वालि' उसे शत्रुरूप में मिला। वालि ने द्वन्द्व-युद्ध में उसे मार डाला।[4]

---

१. बालकाण्ड सर्ग २४–२६ से।

२. राम ने राक्षसों से स्वयं कहा है :—

> युष्मान्पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् महाहवे।
> ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः॥अरण्य० २०.९॥

राम से खर ने कहा :—

> 'वसतो दंडकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः।
> किं नु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यामि राघव॥ अरण्य २९.६॥

३. रामायण में इस युद्ध के प्रसंग में कहा गया है कि राम और सुग्रीव अग्नि-साक्षिक मित्र बन गये। फिर 'उपकारफलं मित्रम्' सिद्धान्त के अनुसार 'अद्यैव न हनिष्यामि तव भार्यापहारिणम्' इस प्रकरण में प्रत्यक्षतः राजनीतिक स्तर की कोई चर्चा नहीं है। राम ने भाई की स्त्री को हरने वाले को मारना राजधर्म माना है।

४. किष्किन्धाकाण्ड ११ वें सर्ग से।

युद्ध के भेद

राम और ताड़का का युद्ध द्वन्द्व कोटि का था, यद्यपि राम के सहायक उनके भाई लक्ष्मण और आचार्य विश्वामित्र साथ थे। ताड़का राम की ओर दौड़ी। उसने धूल उड़ाकर सब को मोहित कर दिया और राम तथा लक्ष्मण पर शिला की वर्षा की। राम ने उसकी बाँहें काट लीं। जब वह गिर पड़ी तो लक्ष्मण ने उसके कान, नाक आदि काटी। राम ने उसके पुनः युद्ध करने पर उसे बाण से हृदय में मारा और वह मर गई।[1]

आर्येतर जातियों के द्वन्द्वयुद्ध में मुट्ठी, घुटना, पैर, शिला, वृक्ष आदि का उपयोग एक दूसरे को मारने के लिए होता था। शत्रु के गिर जाने पर उसे पीस देने का प्रयास किया जाता था और उसके मर जाने पर उसके शरीर को दूर फेंक दिया जाता था।[2]

युद्धारम्भ के अवसर पर आक्रमणकारी वीर सिंहनाद करते थे और नगर में प्रवेश करने के लिये प्राकार का अग्रभाग, तोरण, गोपुर आदि तोड़ने का प्रयत्न करते थे। नगर के बाहर की परिखा को पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि से भरने का प्रयत्न किया जाता था। नेता या अन्य प्रमुखों के नाम लेकर जय-जयकार के नारे लगाये जाते थे। नगर के द्वारों पर सेना भिड़ जाती थी। नगर-ग्रहण के लिए शत्रु-राजा अपनी सेना के प्रयाण का आदेश देता था। भेरी, चन्द्रपाण्डर, पुष्कर, शंख आदि सहस्रों बाजे बज उठते थे। फिर लड़ाई आरम्भ हो जाती थी।

महायुद्धों में भी द्वन्द्व-युद्ध का आयोजन होता था। राक्षस रथ पर बैठे हुए भी रथरहित शत्रुओं से लड़ते थे। द्वन्द्व-युद्ध में गदा, बाण, अश्वकर्ण (वृक्ष), पत्थर के हथियार, सप्तपर्ण, खड्ग, तोमर, शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता था। सैनिक हाथी, घोड़े और रथ पर आसीन होते थे।[3] रात्रि में अपवाद रूप से युद्ध होते थे। अन्धकार में मारो, काटो, क्यों भागते हो—आदि कोलाहल सुनाई पड़ता था। शब्दवेधी बाण चलते थे। रक्त की नदी बह चलती थी। इधर मरते हुए वीरों का कराहना, उधर शंख, वेणु, मृदंग, भेरी आदि वाद्यों का संगीत—दोनों मिश्रित हो जाते थे।[4] वीर नागपाश से बांध लिए जाते थे।

---

१. बालकाण्ड सर्ग २४-२६ से।

२. किष्किन्धाकाण्ड ११.४५।

३. युद्धकाण्ड ४३ वें सर्ग से।

४. वही ४४ वें सर्ग से।

घायल वीरों की चिकित्सा के लिये उचित औषधियाँ युद्ध-भूमि में प्राप्त की जाती थीं।[1]

रामायण युग में राक्षसों का कूट-युद्ध प्रचलित था। इस युद्ध में इन्द्रजित् अतिशय निष्णात था।[2] युद्ध-भूमि में शत्रु की सेना का परिचय देने वाले सहायक भी होते थे। राम-रावण के युद्ध में विभीषण ऐसे ही सहायकों में था। नेता प्रति-पक्षी की प्रशंसा में 'दो शब्द' कहने में नहीं चूकता था।[3]

अस्त्र-शस्त्र

उस युग में दिव्य अस्त्रों का प्रचलन था। दंडचक्र, धर्मचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्र अस्त्र, वज्र, त्रिशूल ब्रह्मशिरा,ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी और शिखरी गदायें, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, शुष्क और आर्द्र अशनि, पिनाक, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र वायव्य, हयशिरा, कौञ्च, शक्तिद्वय, कंकाल, मुसल, कपाल, कंकण, विद्याधरों, के महास्त्र—नन्दन असिरत्न; गन्धर्वों के अस्त्र—दयित और मानव प्रस्वापन, प्रशमन, सौर, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन; मादन, पैशाच अस्त्र दयित और मोहन आदि। इन नामों से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग में विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र थे। प्रत्येक जाति के कुछ विशिष्ट अस्त्र-शस्त्र भी थे। देव, विद्याधर, गन्धर्व, पिशाच आदि सबके विशिष्ट अस्त्रों की प्राप्ति विश्वामित्र के द्वारा राम को कराई गई। योद्धा प्रायः तत्कालीन भारत में प्रचलित सभी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग सीखते थे।[4] यातुधानों के अस्त्र-शस्त्र में चक्र, तोमर, शक्ति, परिघ, गदा, असि, मुद्गर, पट्टिश, शूल, प्रास, खड्ग, मुसल, वज्र, परश्वध आदि मुख्य थे।[5]

आर्येतर सेना

आर्येतर जातियों में यातुधानों की सेना युद्ध-भूमि में गम्भीर निर्ह्राद करती हुई, भयंकर कवच, आयुध और ध्वजा से सन्नद्ध होती थी। वीर सैनिक की भाँति गरजते थे, परस्पर गर्जन का प्रत्युत्तर देते थे, धनुष टंकारते थे एवं घोष करते हुए

---

१. युद्धकाण्ड ५०.२९–३१; ९२.२०–२६।
२. युद्धकाण्ड ५०.५३ तथा सर्ग ७३।
३. युद्धका० सर्ग ५९ से।
४. बालकाण्ड २७वें सर्ग से।
५. अरण्यकाण्ड सर्ग २४-२६ से।

दुन्दुभि बजाते थे। उनकी सेना में पैदल सैनिकों की संख्या की बहुलता थी। हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहनों का उपयोग होता था। जनस्थान में खर की सेना का सेनापति दूषण था। दूषण के अधीन १२ सेनाध्यक्ष थे।[1] राजा स्वयं सावधान होकर सेना का निरीक्षण करता था।[2] अपनी सेना के अतिरिक्त अन्य सहायक सेनायें प्राप्तव्य होती थीं यथा—मित्र-सेना, अटवी-सेना, मौल-सेना, भृत्य-सेना। युद्धभूमि में पकड़ी हुई शत्रु की सेना विजेता के अधीन होती थी।[3]

रावण की सेना में एक सेनापति तथा तीन अनीकपा थे। लंकापुरी के सारे निवासी सैनिक थे।[4]

युद्धाचार

रामायण के अनुसार सन्ध्या के आते ही युद्ध बन्द कर दिया जाता था। इस नियम का पालन जनस्थान के राक्षस भी करते थे।[5] कोई भी उत्कृष्ट वीर युद्ध-भूमि में अपनी प्रशंसा करने पर तुच्छ गिना जाता था।[6] मत्त, प्रमत्त, सुप्त एवं परित्यक्त व्यक्ति को मारने वाला 'भ्रूणहा' माना जाता था। इस नियम का पालन असुर समाज में भी होता था।[7] शरणागत की रक्षा की जाती थी। उसकी हत्या तो की ही नहीं जाती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार यदि कोई शरणागत की रक्षा नहीं करता तो वह अरक्षित व्यक्ति उसके सभी पुण्यों को लेकर चल देता है।[8] सत्य-वादी दूत या गुप्तचर शत्रु की सेना में जाने पर भी या अनुचित कार्य या बात कहने पर भी अवध्य थे।[9] युद्धारम्भ के पहले तक दूत द्वारा शत्रु के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा जा सकता था।[10]

---

१. अरण्यकाण्ड २४—२६ से।

२. युद्धका० ३.२०।

३. युद्धकाण्ड १७.२४।

४. वही १९.१०—१४।

५. अरण्यकाण्ड २९.२३।

६. वही २९.१७।

७. किष्किन्धा० ११.३६।

८. युद्धका० १८.२८—३१। रामायण में इस सिद्धान्त का आधार आतिथ्य-सम्बन्धी कथाएँ हैं। देखिए युद्धकाण्ड १८.२४—२६।

९. युद्धकाण्ड २०.१८ से।

१०. युद्धकाण्ड सर्ग ४१ से।

युद्ध-विज्ञान

रामायण-काल में युद्ध-विज्ञान अधिक विकसित रूप में मिलता है। शत्रु की सारी परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक समझा जाता था। शत्रु के नगर के दुर्ग, सेना का परिमाण, उसके सेनापति, राजा के मन्त्री, अस्त्र-शस्त्र, कार्य-सिद्धि के उपाय, द्वार की दुर्गमता, नगर की रक्षा का आयोजन, नगरवासियों के घर आदि के सम्बन्ध में प्रायः चारों या दूतों से अथवा शत्रु-पक्ष से फूटकर आये हुए लोगों से जान लिया जाता था।[1] युद्ध के पूर्व मन्त्रणा करने की आवश्यकता समझी जाती थी।[2] मन्त्रणा का प्रधान विषय होता था, पुर और सेना का हित। कभी-कभी ऐसी मन्त्रणाओं में केवल शत्रुपक्ष की दुर्बलता और आत्मपक्ष की सबलता की वर्णना होती थी। कुछ वक्ता तो आत्मप्रशंसा में कहते थे—आप सभी बैठे रहें, मैं अकेले ही सभी शत्रुओं को सेना सहित नष्ट किये देता हूँ।[3] कुछ मन्त्री वस्तुस्थिति का पर्यालोचन करने में यदि व्यावहारिक बुद्धि का परिचय देते हुए अपने पक्ष की दुर्बलता की ओर संकेत करते तो उन्मत राजा उन पर प्रसन्न नहीं होते थे।[4] शत्रु पक्ष से फूटकर आये हुए भेदिये का समादर होता था, पर उसे अपनाने के पहले भलीभाँति उसकी परीक्षा होती थी कि कहीं वह शत्रुओं के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि तो नहीं है।[5] ऐसे भेदिये विजय प्राप्त करने के लिए शत्रु-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण भेद और छिद्र की सूचना समय पड़ने पर देते थे।[6] शत्रु के द्वारा भेजे हुए भेदिये से अपनी रक्षा की जाती थी, क्योंकि वह अपने पक्ष में भेद डालने के लिए उपयुक्त होता था।[7] युद्ध के लिये मित्र की सेना, वन्य लोगों की सेना, मील-सेना और भृत्य-सेना सभी ग्रहणीय मानी जाती थीं। केवल शत्रु की सेना ही अग्रहणीय थी।[8]

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग ३, १९, २५, ३७ से।

२. 'मन्त्रमूलं हि विजयं प्राहुरार्यमनस्विनः।' युद्धकाण्ड ६.५।

३. वही सर्ग ५.७ से।

४. वही नवम सर्ग से।

५. एक बार निश्चित हो जाने पर कि भेदिया विश्वसनीय है, उसका भावी राजत्व के लिए राज्याभिषेक भी हो सकता था। युद्धकाण्ड १९.२५।

६. वही १७ वें सर्ग से।

७. सुग्रीव को किष्किन्धा लौट जाने के लिए सन्देश रावण ने अपने दूत द्वारा भेजा था। युद्धकाण्ड २०.११।

८. "मित्राटविबलं चैव मौलं भृत्यबलं तथा।
सर्वमेतद् बलं ग्राह्यं वर्जयित्वा द्विषद्बलम्॥ युद्ध १७.२४॥

चार या चारिक शत्रुपक्ष में आकर शत्रु के सम्बन्ध में पूरा परिचय प्राप्त करके अपने स्वामी को देते थे। यदि चारिक कहीं पकड़ जाते तो उनकी अच्छी दुर्गति होती थी। उसे लौटने नहीं दिया जाता था।[१]

कुछ विजेता चारों के प्रति भी अतिशय दया का व्यवहार करते थे। वे चारों से पूछते थे—क्या सारी सेना देख ली? क्या हम लोगों की भलीभाँति परीक्षा कर ली? अपने स्वामी के द्वारा आदिष्ट सभी काम तो कर लिया? यदि कुछ देखना शेष रह गया हो तो उसे फिर से देख लो। तुमको हमारे पक्ष का वीर ही सब कुछ दिखायेगा। पकड़े जाने से डरना मत। तुमको कोई नहीं मारेगा।[२]

युद्ध-शास्त्र की दृष्टि से सेना का संविभाजन होता था। सारी सेना मानव शरीर के रूप में अवस्थित की जाती थी। उसके मूर्धा, हृदय, दक्षिण-पार्श्व, वाम-पार्श्व, कुक्षि, जघन आदि प्रदेशों के लिये उच्चकोटि के महावीर सैनिक नियुक्त होते थे।[३]

कोई भी साहस का काम साधारणतः नेता से अनुमति लेकर ही किया जा सकता था।[४] नेता अपने सहायक राजाओं से सदैव सद्व्यवहार करता था और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता था कि मेरी दृष्टि में आप लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[५]

नगर-रक्षा

रामायण के अनुसार राजा के नगर की रचना दुर्ग-रूप में होती थी, जिससे युद्ध के समय शत्रुओं का नगर में प्रवेश न हो सके और इस प्रकार आत्मरक्षा की जाती थी। नगर में रथ, हाथी, घोड़े आदि की महती सेना रहती थी। नगर के द्वार अत्यन्त दृढ़ होते थे और उसे बन्द करने के लिये लोहे की दृढ़ अर्गला प्रयुक्त होती थी। चारों महाद्वारों पर बाण चलाने और शिलाखण्ड फेंकने के महायन्त्र होते थे। द्वारों पर लोहे की बनी बड़ी और भयंकर शतघ्नियां स्थापित रहती थीं। नगर की रक्षा के लिये दुर्भेद्य महाप्राकार होता था। इन्हीं साधनों से शत्रुओं का

---

१. युद्धकाण्ड २०. ३०–३५।
२. युद्धकाण्ड २५ वें सर्ग से।
३. वही २४ वें सर्ग से।
४. वही ४१. १–७।
५. वही ४१. ३–८।

नगर में प्रवेश रोका जाता था। नगर के चारों ओर परिखा (खाई) होती थी, जिसके गहरे जल में ग्राह रखे जाते थे। चारों द्वारों पर परिखा के ऊपर संक्रम (सेतु) बने होते थे। संक्रम पर अनेक यन्त्र लगे होते थे, जिससे शत्रु की सेना के आने के समय रक्षा की जाय। नगर के सभी द्वारों पर बड़ी सेना नियुक्त होती थी।[1] युद्ध के अवसर पर नगर की विशेष गुप्ति की जाती थी। नगर के प्रत्येक महाद्वार पर सेनापति नियुक्त किये जाते थे। इस प्रक्रिया का नाम पुर-विधान था।[2] आक्रमणकारी भी नगर के प्रत्येक द्वार पर अपनी सेना नियुक्त करता था। इनके अतिरिक्त सेना के द्वारा मध्यम गुल्म की स्थापना सेनापति की अध्यक्षता में की जाती थी।'[3]

प्रयाण

सेना के प्रयाण के लिए मुहूर्त का विचार किया जाता था। शुभ निमित्त और शकुन देखे जाते थे। मार्ग देखने के लिए कोई कुशल सेनापति सेना के आगे चल देता था। उसके साथ अन्य सैनिक रहते थे। सेनापति का कर्त्तव्य था कि वह सेना को भोजन, पान आदि की सुविधा वाले पथ से ले जाय। मार्ग में शत्रु के द्वारा नियुक्त पुरुष भोजन और पान की वस्तुओं को दूषित कर देते थे। इनसे सेना की रक्षा की जाती थी। कहीं-कहीं वनों में या गिरि-दुर्गों में शत्रुओं की सेना छिपी होती थी, जिसका ज्ञान सेनापति प्राप्त करता चलता था। सेना-सन्निवेश के समय अपनी सेना छोड़कर कोई कहीं नहीं जा सकता था। सन्निवेश होने पर कुछ वीर गुप्त भय को जानने के लिये निकल जाते थे।[4] सेनापति के द्वारा सेना-सन्निवेश सुखपूर्वक कराया जाता था। सेना के चारों ओर कुछ वीर परिभ्रमण करते हुए उसकी रक्षा करते थे।[5] सेना-सन्निवेश के समय यदि किसी प्रकार का भय प्रतीत होता था तो शीतल जल और भोजन का प्रबन्ध करके और सेना को विभक्त करने के पश्चात् उसका व्यूह बनाकर प्रस्थान किया जाता था।[6] मार्ग में पड़ने वाले नदीनालों पर सेतु बनाये जाते थे।

---

१. युद्धकाण्ड तीसरे सर्ग से।
२. वही ३६ वें सर्ग से।
३. युद्धकाण्ड ३७ वें सर्ग से।
४. वही चौथे सर्ग से।
५. वही सर्ग ५ से।
६. वही २३ वें सर्ग से।

महाभारतीय युद्ध

सैन्य-शिक्षण

वीर युद्ध-विद्या का अभ्यास वर्षों तक करते थे। दुर्योधन ने १३ वर्ष तक गदायुद्ध का अभ्यास किया था।[1] महाभारत के अनुसार भलीभाँति सिखाई हुई सेना उत्तम कार्य करती है और अशिक्षित सेना जड़ है।[2]

सैन्य-विन्यास

सेना के आठ अंग प्रतिष्ठित थे—रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, विष्टि (भार ढोने वाले), नाव, चार और देशिक (मार्गदर्शक)। ये अंग प्रत्यक्षतः शत्रु का सामना करने के लिए हैं। चूर्णयोग विष आदि गुप्त रूप से सहायक होते हैं।[3] महाभारतीय सेना के विभाग—पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीकिनी उत्तरोत्तर तिगुने होते थे। पंक्ति में एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल और तीन घोड़े होते थे। अनीकिनी से दस गुनी शक्ति अक्षौहिणी की होती थी। इस प्रकार अक्षौहिणी में २१८७० रथ, २१८७० हाथी, १,०९,३५० पैदल और ६५,६१० घोड़े होते थे।[4] सेना के तीन विभाग होते थे, सार, मध्य और फल्गु।[5] रथों में चार अश्व युक्त होते थे। रथ पर चार योद्धा सारथि को लेकर बैठते थे। रथ भलीभाँति सुरक्षित बने होते थे। हाथी पर आठ योद्धा सवार होते थे, जिनमें से दो अंकुश वाले, दो धनुर्धर, दो असिधारी, एक शक्तिधारी और एक पिनाक-धारी योद्धा होते थे। एक रथ के साथ दस हाथी, एक हाथी पर दस घोड़े और एक घोड़े पर दस पैदल सैनिक-रक्षा करने के लिए नियुक्त होते थे। सेना के प्रमुख वीर महारथी (अतिरथी), रथी, अर्धरथी, आदि कोटियों में विभक्त होते थे।[6] युद्ध में किसी सर्वसेनापति के मरने के पश्चात् अन्य सेनापति उसका स्थान ग्रहण करता था। प्रत्येक प्रमुख वीर की विशिष्ट ध्वजा होती थी। ध्वजाओं पर विशिष्ट

---

१. शल्यपर्व ३२.४–५।

२. सभापर्व १८.१६।

३. शान्तिपर्व ५९.४१–४२।

४. एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥आदिपर्व २.१५॥

५. उद्योगपर्व १५२.२।

६. उद्योगपर्व १६६.१४, १६७.८; १६९.९। अर्धरथी अभ्यास-रहित पर कुशल योद्धा होता था। उद्योगपर्व १६८.७।

आकृतियाँ बनी होती थीं। ध्वजायें स्वर्ण की बनी होती थीं, उसमें स्वर्ण की मालायें लगी होती थीं। अर्जुन की ध्वजा पर वानर बना था। उस वानर को पताकाओं से अलंकृत किया गया था। अन्य महारथियों की ध्वजाओं में सिंह, लांगूल, साँड़, मयूर, वराह, यूप, हाथी आदि की मूर्तियाँ बनी थीं।[1]

अस्त्र-शस्त्र सामग्री

कुछ शस्त्रों से अग्नि निकलती थी।[2] अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त रज्जु, पाश, तेल, गुड़, बालू, सर्पविष के घड़े, सर्जरस का चूर्ण, ढाल, लोहे के गोले, पत्थर के टुकड़े, मधुच्छिष्ट, सूप, टोकरी, हँसिया, बसूला, वृक्षादन (रूखानी या छेनी), कुठार, कुदाल, तेल, घी आदि युद्ध की आवश्यक सामग्रियाँ थीं।[3] पर्जन्यास्त्र को बाण से संयोजित करके पृथिवी को बींधने से वारिधारा निकलती थी।[4] ब्रह्मैषीक नामक शस्त्र से अग्नि निकलती थी, जो शत्रुओं को जला सकती थी। ऐसे शस्त्रों का प्रयोग वर्जित था।[5]

प्रयाण

सेना के प्रयाण के लिए चैत्र या मार्गशीर्ष के मास उत्तम माने जाते थे। उस समय अनाज पके होते हैं और जल रहता है। समय समशीतोष्ण होता है। जलवान्, तृणवान् और समतल मार्ग चुना जाता था। चारों के द्वारा मार्ग सुविदित कर लिया जाता था। सेना के साथ प्रमुख सेनानियों की स्त्रियाँ भी रहती थीं।[6] प्रयाण के पहले सेना का संविभाग होता था। पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना की प्रत्येक अक्षौहिणी के लिए युद्धकाल में एक सेनापति-पति था। इन सातों सेनापतियों में से कोई एक नेता या सर्वसेनापति होता था।[7] साधारणतः नेता

---

१. द्रोणपर्व ८० वें अध्याय से।

२. उद्योगपर्व १९४.१७।

३. उद्योगपर्व १५२.३–१०।

४. भीष्मपर्व ११६.२२–२३।

५. सौप्तिकपर्व १३.२०, १४.७–१०; १४.१६।

६. शान्तिपर्व १०१ वें अध्याय से।

७. सर्वसेनापति के लिए देखिए उद्योगपर्व १६१.१३। सर्वसेनापति के साथ सभी सेनापतियों के ऊपर भी एक अध्यक्ष सेनापति-पति के नाम से होता था। इस पद के ऊपर भी नेतृत्व करनेवाला एक अध्यक्ष होता था। महाभारत में धृष्टद्युम्न

का चुनाव युद्ध के मन्त्रि-मण्डल द्वारा किया जाता था। संविभाग के पश्चात् योग की प्रक्रिया में सेना अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि धारण करके युद्ध के लिए सन्नद्ध होती थी। योग के अवसर पर युद्ध के बाजे बज उठते थे और सभी सैनिक युद्ध-परायण हो जाते थे। कोलाहल होता था। सेना और उसके सेवकों के साथ शकट (गाड़ी), आपण (दुकानें), वेश (वेश्याओं का समूह), वाहन, कोश, यन्त्रायुध (यन्त्र के द्वारा संचालित हथियार) वैद्य, चिकित्सक आदि ले लिए जाते थे। युद्ध-भूमि में पहुँचकर युद्धवीर बैलों की भाँति नाद करते थे और शंख बजाते थे।[1]

सन्निवेश

युद्ध-भूमि के पार्श्ववर्ती प्रदेश में सेना का सन्निवेश होता था। सन्निवेश के लिए सम, स्निग्ध एवं चारा और इन्धन वाला स्थान चुना जाता था। श्मशान, देवस्थान, महर्षियों के आश्रम, तीर्थ आदि पुण्य स्थानों में सन्निवेश नहीं कराया जाता था। प्रत्येक राजा के लिए अलग-अलग सुरक्षित शिविर बनाये जाते थे। शिविरों में जल, चारा, तुष, अग्नि, लकड़ी, भोजन-सामग्री आदि रखी जाती थीं। असंख्य वेतन भोगी शिल्पी, और चिकित्सक, लोगों की सेवा करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। इन्हीं शिविरों में युद्ध की सामग्री ज्या, कवच, धनुष, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी, सर्जरस का चूर्ण आदि एकत्र किये जाते थे। सेना-शिविर ऐसे स्थानों पर बनाये जाते थे, जहाँ भोजन लाने वाले मार्ग बन्द न किये जा सकें। शिविरों पर पताकायें और ध्वजायें विराज-मान होती थीं। युद्ध की घोषणा उत्सव रूप में समादृत होती थी। उसे सुनते ही सभी सन्नद्ध होने लगते थे।[2]

सेना-सन्निवेश में शत्रु के चार घूमते-फिरते वहां के सेनानियों के इतिवृत्त का संकलन करके परपक्ष में पहुँचाया करते थे।[3]

युद्ध-भूमि में जाने के पहले प्रातःकाल सभी वीर स्नान करके पवित्र होकर माला और श्वेत वस्त्र धारण करते थे, ध्वजा ले लेते थे और स्वस्ति-वाचन-पूर्वक हवन करते थे। फिर सेनापति के पीछे चल देते थे।[4] सन्निवेश के शिविर इस

सर्वसेनापति, अर्जुन सेनापति-पति तथा कृष्ण अर्जुनके नेता थे। उद्योगपर्व १६१ वें अध्याय से।

१. उद्योगपर्व अध्याय १५१ से।

२. उद्योगपर्व अ० १५०।

३. वही १९५.२।

४. उद्योगपर्व १९६.३—५।

प्रकार बनाये जाते थे कि सारा सन्निवेश नगर प्रतीत होता था,[1] सन्निवेश में सेना के अतिरिक्त सूत, मागध, बन्दी, व्यापारी, गणिकायें, चार तथा दर्शक रहते थे।[2] सेना के सभी सैनिकों के लिए निवेश करने की सुचारु व्यवस्था होती थी।[3] सन्निवेश के शिविरों में सन्ध्या के समय तूर्य आदि मांगलिक बाजे, दुन्दुभि, शंख, आलम्बर, वीणा, शम्या आदि बजायें जाते थे। वहाँ मांगलिक संगीत होता था और प्रशंसात्मक स्तुति पढ़ी जाती थी।[4] सूत और मागध के अतिरिक्त नर्तकों का समूह मनोरंजन करने के लिए नियुक्त होता था।[5] शिविरों में स्त्रियाँ और वर्षवर अधिक संख्या में रहते थे।[6]

युद्ध के कारण

राजाओं के युद्ध साधारणतः राज्य की प्राप्ति और दिग्विजय के लिए होते थे। कौरवों और पाण्डवों का युद्ध राज्य-प्राप्ति के लिए था। पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ के पहले दिग्विजय किया। युद्ध के कारण की समीक्षा करते हुए महाभारत में कहा गया है कि राजा भूमि के लिए ही लड़ते हैं क्योंकि भूमि से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। सब कुछ नष्ट होने पर भूमि से पुनः मिल जाता है। भूमि ही सबकी प्रतिष्ठा है। भूमि ही सनातन है।[7]

कभी-कभी प्रजा भी सामूहिक रूप से संगठित होकर आत्मरक्षा करने के लिए दस्युओं से लड़ती थी। ऐसे दस्युओं से लड़ने के लिए राजा भी अपनी सेना के साथ जाता था।[8]

महाभारत के अनुसार युद्ध राजकन्याओं के लिए भी होते थे। स्वयंवर ऐसे युद्ध का अखाड़ा होता था। द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर निराश राजाओं ने कहा—यदि कन्या क्षत्रिय राजा को वरण नहीं करती तो आग में

---

१. उद्योगपर्व १९६.१२-१३।
२. वही १९६.१८–१९।
३. ते सेने शिविरं गत्वा न्यविशेतां विशाम्पते।
   यथाभागं यथान्यायं यथागुल्मं च सर्वशः ॥द्रोणपर्व १६.१॥
४. द्रोणपर्व ५०.१०–१२।
५. द्रोणपर्व ६१.७, १७।
६. शल्यपर्व ६१.५।
७. भीष्मपर्व ५.२०–२१।
८. शान्तिपर्व ७९.३४, ३६।

डाल दी जाय। उसका पिता ही दण्डनीय है। फिर वे द्रुपद को मारने दौड़े। इस अवसर पर अर्जुन और भीम ने युद्ध में अपना पराक्रम दिखाया। जयद्रथ, द्रौपदी का अपहरण करते समय, उसके पति पाण्डवों के द्वारा युद्ध में परास्त किया गया।

दिग्विजय का समारम्भ महाभारत में कोश-परिवर्धन के लिए हुआ। पाण्डवों ने सभी राजाओं से कर ग्रहण करने के लिए शुभ तिथि, शुभ मुहूर्त और शुभ नक्षत्र में प्रयाण किया।[1]

शिशुपाल कृष्ण की अग्रपूजा न सहन करने के कारण इतना उद्विग्न हुआ कि कृष्ण से लड़े बिना न रह सका।[2] राजा विराट पर त्रिगर्त-राज ने प्रतिवैर के सिद्धान्त पर आक्रमण किया। आशा थी कि युद्ध में विजयी होने पर विविध प्रकार के रत्न-धन, ग्राम, गायें, राष्ट्र आदि हाथ लगेंगे। बस, कौरव और त्रिगर्त के राजा सुशर्मा का एक संघ बना और योजना बनी कि पहले सुशर्मा चढ़ाई करेंगे, उसके दूसरे दिन हम कूच करेंगे और विराट की गायें छीन लेंगे।[3]

युद्धाचार

महाभारत के अनुसार स्त्री, वृद्ध और बालक को नहीं मारना चाहिए। मुख में तृण रखने वाले को भी न मारे।[4] भय से भागने वाले पर प्रहार नहीं करना चाहिए और न उसका अधिक पीछा करना चाहिए।[5] जिसने सन्नाह न किया हो, उससे लड़ाई नहीं की जाती थी।[6] व्यास के 'न प्रहर्तव्यंम्' आदि इसी नियम के अनुसार द्रोणाचार्य का वध अन्याय्य था।[7] विषदिग्ध बाण और कर्णी (अंकुश-युक्त बाण) का प्रयोग वर्जित था।[8] जिसके सन्तान न हो उसे न मारा जाय।[9] युद्ध में जीते हुए, यशोहीन, स्त्री के द्वारा रक्षित तथा पराक्रम-रहित शत्रु को नहीं

---

१. सभापर्व २३.३–४।
२. सभापर्व ४२.२–५।
३. विराटपर्व २९ वें अध्याय से।
४. शान्तिपर्व ९९ ४७।
५. वही १००.१४।
६. वही ९६. ७।
७. वही ९७. ९–१०।
८. वही ९६. ११।
९. वही ९६.१२।

मारना चाहिए था।[1] युद्ध में जो दर्शक होते थे, अवश्य ही उनकी रक्षा की जाती थी।[2] दिव्य अस्त्रों के द्वारा साधारण जनों को मारना अनुचित माना जाता था।[3] जो शत्रु आर्जव से (धर्म से) युद्ध करता हो, उसके साथ धर्मयुद्ध ही किया जा सकता था। मायावी के साथ ही माया-(कुटिल) युद्ध उचित माना गया था।[4] चाहे कितना भी परुष और कटु संवाद कहे, दूत पर क्रोध नहीं करना चाहिए था।[5]

महाभारत के दोनों पक्षों ने युद्ध के लिए तात्कालिक धर्म और समय का निर्णय किया। युद्धाचार की रूपरेखा इस प्रकार है—युद्ध के निवृत्त होने पर हम लोगों की पूर्ववत् पारस्परिक प्रीति रहे।[6] वाणी से युद्ध करने वाले से वाणी-मात्र से ही लड़ा जाय। सेना से बाहर निकल जाने पर किसी को न मारा जाय। योद्धा अपने समान सन्नद्ध योद्धा से ही लड़े, यथा रथी रथी से।[7] जो जिसके योग्य हो या जिसके साथ युद्ध करने की इच्छा हो, उसी पर पूर्वसूचना देकर प्रहार किया जाय। किसी एक व्यक्ति के साथ लड़ते हुए या शरण में आये हुए, युद्ध से विमुख, शस्त्र-रहित या कवचहीन व्यक्ति को कभी न मारा जाय। सूत, भारवाहक, शस्त्र ढोने वाले या भेरी-शंख बजाने वाले आदि न मारे जायें।[8] महाभारत में स्पष्ट कहा गया है—यतो धर्मस्ततो जयः।[9]

युद्ध की स्थिति में भी सूर्योदय के पहले सैनिक सन्ध्या कर लेते थे।[10] विजय के लिए सनातन सिद्धान्त नीचे लिखे श्लोक में दिया गया है—

---

१. आदिपर्व १७२.३६।

२. उद्योगपर्व १९६.८।

३. न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम्।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान्॥ उद्योगपर्व १९५.१५॥

४. उद्योगपर्व १९२. १० तथा शल्यपर्व ३१.७ में मायावी मायया वध्यः।

५. उद्योगपर्व अध्याय १५७–१६१।

६. यही कारण है कि दिन भर के युद्ध के पश्चात् सन्ध्या होते ही सेना-सन्निवेश में संगीत और वाद्य की स्वर-लहरी के साथ अनेक मनोरम क्रीड़ाएँ होने लगती थीं।

७. इस नियम का पालन साधारण परिस्थितियों में प्रायः सदा होता था, पर घनघोर युद्ध में योद्धा मानो उन्मत्त होकर इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं। भीष्म ११३.२–३।

८. भीष्मपर्व १.२७–३३।

९. वही २.१४।

१०. वही १९.३६।

न तथा बलवीर्याभ्यां विजयन्ते विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंसाभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च॥[1] भीष्म प० २१ज०॥

बड़े-बूढ़ों के विपक्ष में होने पर युद्धस्थल में उनकी अनुमति लेकर युद्ध करने का विधान था।[2] युद्ध-भूमि से भागना कायरता मानी जाती थी। लड़ते हुए मरना श्रेयस्कर था।[3] तत्कालीन धारणा के अनुसार इन्द्रादि देवता ऐसे पुरुष का अमंगल करते हैं, जो युद्ध में अपने सहायकों को छोड़कर घर लौट आता है।[4]

कुछ वीर प्रतिज्ञा करते थे कि मैं केवल सारथि रहूँगा, युद्ध में शस्त्र लेकर भाग नहीं लूंगा, अथवा मैं केवल एक वीर से युद्ध करूँगा, किसी अन्य को युद्ध में नहीं मारूँगा या मैं किसी विशेष व्यक्ति पर शस्त्र-प्रयोग नहीं करूँगा, वह मुझे मार ही क्यों न डाले या आज सन्ध्या तक मैं किसी विशेष वीर को मार डालूँगा नहीं तो स्वयं मर जाऊँगा। इन सभी प्रतिज्ञाओं का अक्षरशः पालन किया जाता था।

कुछ उच्च कोटि के पराक्रमी वीरों की युद्ध-सम्बन्धी अपनी निजी मर्यादायें थीं। भीष्म ने अपने लिए नीचे लिखे नियम बनाये थे—जिसने शस्त्र फेंक दिया हो, कवच और ध्वजा छोड़ दी हो, या भागता हो, डरा हो, शरण में आया हो, स्त्री हो या स्त्रीनामधारी हो, व्याकुल हो या इकलौता पुत्र हो या नीच हो, उसके साथ मैं युद्ध नहीं कर सकता। भीष्म अमांगलिक ध्वजा को देखकर भी युद्ध नहीं करते थे[5] भीष्म जैसे वीर प्रतिज्ञा करते थे कि मैं नित्य दस सहस्र वीरों को मारकर विश्राम करूँगा और वे ऐसा ही करते थे।[6]

युद्धस्थल में भीष्म जैसे वीरों के मरणासन्न होने पर सभी सुसंस्कृत योद्धा समादर-भावना प्रकट करने के लिए आते थे। उस अवसर पर सहस्रों कन्यायें चन्दन चूर्ण, लाजा, माला आदि भीष्म के ऊपर बिखेर रहीं थीं।[7]

जिन के अस्त्र-शस्त्र, बाण और कवच क्षीण हो चुके हों, जिनके सारथि और घोड़े श्रान्त हों, जो स्वयं अस्त्रों से घायल हो चुके हों, उन पर आक्रमण करने वालों

---

१. महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने देवासुर संग्राम के अवसर पर महेन्द्र आदि देवताओं को इस प्रकार उपदेश दिया था।

२. भीष्मपर्व ४१.३२–३५।

३. वही ५५.७९।

४. वही ७३.२८।

५. भीष्मपर्व १०३.७१–७४।

६. वही १०५.२४–२५।

७. वही ११६.३।

का उपहास होता था।[1] जो युद्ध न करता हो, जो शत्रु न हो, पराङ्मुख होकर भागता हो, शरण में आया हो, हाथ जोड़े हो या प्रमत्त हो, उसका वध नहीं करना चाहिए।[2] सोये हुए व्यक्ति को मारना अथवा विष से मारना अधर्म माना जाता था।[3] नाभि से नीचे धर्मयुद्ध में शस्त्र प्रहार करने का निषेध था, विशेषतः गदायुद्ध में।[4] सेवकों, बाहर गये हुए लोगों, द्वारपालों, श्रान्त, तृषित और प्रकीर्ण लोगों को मारना न्याय नहीं था।[5]

यदि युद्ध में किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार होता था तो तत्कालीन सभ्य समाज उस अशोभनीय कार्य के प्रति धिग्भावना प्रकट किए बिना नहीं रहता था।[6] बलराम ने भीम के द्वारा दुर्योधन के साथ अधार्मिक युद्ध करने पर अपना रोषपूर्ण विरोध प्रकट किया था और भीम को दंडित करने के लिए उद्यत हो गये।[7] ऐसे अधर्म-योद्धा को जिह्मयोधी की उपाधि प्राप्त हो जाती थी।[8]

युद्धाचार के अनसार विजित राजा को एक वर्ष तक बन्दी रखना चाहिए और इस बीच उसे विनयी बना देना चाहिए। इसके पश्चात् वह बन्दी विजेता के पुत्र के समकक्ष माना जाता था। युद्ध में विजयोपहार रूप में पाई हुई कन्या को एक वर्ष तक अपने घर रखकर पूछना चाहिए कि यदि तुम पिता के घर लौट जाना चाहती हो तो जाओ। इसी प्रकार परास्त राजा का धन लौटा देना चाहिए। राजा से केवल राजा को ही युद्ध करना चाहिए। यदि यद्ध होते समय दोनों सेनाओं के बीच में सन्धि कराने के लिए ब्राह्मण आ जाय तो युद्ध बन्द कर देना चाहिए। जो इन नियमों को नहीं मानते थे, उनको जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था।[9]

युद्ध में विपक्ष के लोगों को प्रणाम करने और कुशल पूछने की अद्‌भुत रीति

---

१. शल्यपर्व ६३.१२९।
२. कर्णपर्व ४९.२२।
३. शल्यपर्व ६३.२७।
४. वही ५९.५–६ अधोनाभ्या न हन्तव्यम्।
५. शान्तिपर्व १०१.२३–२६।
६. शल्यपर्व ६३.१२–१४।
७. वही ५९.५–१०।
८. वही ५९, २३।
९. शान्तिपर्व अध्याय ९७ से

थी, जिसमें आदरणीय व्यक्ति के चरणों तथा कानों के समीप क्रमशः दो बाण फेंके जाते थे।[1]

घायल शत्रु की चिकित्सा कराकर उसे अपने देश में भेज दिया जाता था।[2] विजयी राजा का कर्त्तव्य था कि विजित लोगों से सहानुभूति तथा प्रेमपूर्वक व्यवहार करे, युद्ध की भीषणता के प्रति शोक प्रकट करे और विजित देश की प्रजा को सान्त्वना देकर उनका विश्वास-पात्र बने।[3]

युद्ध-विज्ञान

महाभारत काल में युद्ध-विज्ञान का अधिक विकसित रूप मिलता है। इस विज्ञान के अन्तर्गत नीचे लिखे विषयों का समावेश होता था—साम, भेद, दान, दंड, उपेक्षा आदि उपाय, मन्त्रणा करने की रीति, हीन, मध्य तथा उत्तम विधि की तीन सन्धियाँ, युद्ध के लिए चार यात्रा-काल, धर्म अर्थ और असुर—तीन प्रकार की विजय, पंच वर्ग (अमात्य, राष्ट्र दुर्ग, बल और कोश) के लक्षण, प्रकाश और अप्रकाश या गुह्य विधि के दंड,[4] अरि, मित्र और उदासीन कोटि के राजा, मार्गगुण, भूमिगुण, आत्मरक्षण, सर्ग (रथादि निर्माण) का निरीक्षण, चारों प्रकार की सेनाओं का संरक्षण, व्यूहों की रचना, युद्ध-कौशल, उत्पात (उछलना), निपात (झुकना), सुयुद्ध (प्रहार करना), सुपलायित (युद्धस्थल से खिसकना), शस्त्रों, का पालन (उपयोगी शस्त्र रखना), उनका ज्ञान, सेना के व्यसनं (विपत्ति) बलहर्षण (सेना को प्रोत्साहित करना), आपत्ति की परख, सेना का परिज्ञान, आख्यात-विधान (दुन्दुभि-ध्वनि आदि के द्वारा कर्तव्य की सूचना), पताकाओं की पहिचान, मन्त्रणा करने की शिक्षा, विविध प्रकार के यन्त्र और उनकी प्रक्रियायें शत्रु-सेना को कुचलना, उसका विनाश, उसकी ध्वजाओं को तोड़ना, सेना के लिए कवच और वस्त्रादि का निर्माण आदि।[5]

पूर्ववर्ती युद्ध-विज्ञान के आचार्यों में महर्षि बृहस्पति का नाम समादर से लिया जाता है। इस आचार्य के अनुसार छोटी सेना को संहत-विधि से तथा बड़ी

---

१. विराटपर्व ४८.६–७।

२. शान्तिपर्व ९६.१३।

३. वही १०३.३४–३९।

४. चूर्ण या विष का प्रयोग।

५. शान्तिपर्व के ५८, ५९ वें अध्यायों से। इस सम्बन्ध में अन्य विवरण के लिए देखिए, शान्ति ६९.१४–२४।

सेना को विस्तार-विधि से लड़ाना चाहिए। यदि छोटी सेना को बड़ी सेना से लड़ना पड़े तो छोटी सेना को सूची-मुख व्यूह बनाकर लड़ाना चाहिए।[१] सुदूर प्राचीन काल से इन्द्र के नाम से प्रवर्तित 'अचल-वज्र' नामक व्यूह अर्जुन ने महाभारत में सर्वप्रथम बनाया था। यह सर्वतोमुख था। प्रधान वीरों की रक्षा करने के लिए असंख्य पैदल सैनिक रहते थे। उनके रथ पर अतिशय पराक्रमी वीर रक्षक बनकर बैठते थे।[२] कौरवों की सेना में एक लाख हाथियों पर सैनिक थे, प्रत्येक हाथी के लिए १०० रथों के सैनिक और प्रत्येक रथ के लिए १०० घोड़े वाले सैनिक थे। प्रत्येक अश्वारोही पर दस धनुर्धर, एक और धनुर्धर पर १०० ढाल वाले सैनिक रक्षक होते थे।[३] सन्ध्या के समय सेना को युद्ध से विरत करने की प्रक्रिया का नाम अवहार था। अवहार सर्वसेनापति की आज्ञा से होता था।[४] कभी-कभी असमय में भी युद्ध स्थगित कर दिया जाता था।[५]

गरुड-क्रौञ्च-व्यूह पक्षी के आकार के होते थे। इनके मुख, चक्षु, ग्रीवा, पीठ, पूंछ तथा पक्ष भाग पर प्रमुख वीर अवस्थित किये जाते थे।[६] मकर-व्यूह मकर की आकृति का होता था। इसके शिर, आंख, तुण्ड, ग्रीवा, पीठ, वामपार्श्व, दक्षिण पक्ष और पादपुच्छ पर पराक्रमी वीर नियुक्त होते थे।[७] मंडल नामक व्यूह वृत्ताकार होता था। यह सब ओर से चारों प्रकार की सेनाओं से सुरक्षित होता था।[८] शृङ्गाटक-व्यूह की रूप-रेखा, सम्भवतः ऐसे पर्वत के समान होती थी, जिनमें तीन चोटियाँ हों। इसके प्रत्येक भाग पर उच्चकोटि के सेनापति नियुक्त होते थे।[९] महाभारत में अन्य व्यूह सर्वतोभद्र,[१०] शकटव्यूह[११] क्रौचव्यूह[१२] चन्द्रव्यूह,[१३] चक्र-

---

१. भीष्मपर्व ९९.४–५।

२. भीष्मपर्व १९ वें अध्याय से।

३. वही २० वें अध्याय से।

४. वही ५१.४३।

५. अभिमन्यु के मारे जाने पर उस दिन के लिए युद्ध बन्द कर दिया गया। द्रोणपर्व ३२.२०।

६. भीष्मपर्व ७१.१५–२०, ६५.३–११।

७. वही ७१.६–१२।

८. वही ७७.११–१५।

९. वही ८३.१७–२२।

१०. वही ९५.२६।

११. द्रोणपर्व ६.१४–१५।

१२. भीष्मपर्व ४७.१।

१३. वही १७.१।

व्यूह[1] तथा कभी-कभी मिश्रव्यूह भी बनाये जाते थे। द्रोण ने शकट, पद्म और सूची-मुख व्यूहों का मिश्र बनाकर पद्म की कर्णिका में जयद्रथ को छिपाया था।[2] शत्रुपक्ष का व्यूह दूसरे पक्ष के व्यूह को ध्यान में रखकर बनाया जाता था।[3]

घायल वीरों में से कम से कम कुछ को यथाशीघ्र युद्धभूमि से हटाया जाता था।[4] युद्धभूमि में चिकित्सकों की संख्या कम नहीं रहती थी।[5] जिन योद्धाओं के रथ टूट जाते थे, उनके लिए अन्य रथ प्रस्तुत करने की व्यवस्था रहती थी। सेना को युद्धस्थल से हटाने के लिए शीघ्रगामी घोड़े वाले दूतों को नियुक्त किया जाता था। वे सेना के विभिन्न भागों में जाकर शीघ्र सूचना का प्रसार करते थे[6]।

प्रासंगिक योजनाएँ

सेनापति को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी नियुक्ति होने पर बाजे बज उठते थे। स्वस्ति वाचन होता था। सेनापति की प्रशंसा के गीत सूत-मानव आदि गाने लगते थे, ब्राह्मण जय-जयकार बोलते थे और मनोरम नृत्य का आयोजन किया जाता था।[7]

कभी-कभी किसी दुःसाध्य महान् पराक्रम को पूरा करने के लिए कुछ योद्धा अग्नि के सम्मुख शपथ लेकर प्रतिज्ञा करते थे। एक ऐसी प्रतिज्ञा अर्जुन को मारने के लिए असंख्य वीरों ने की थी, जो कभी पूरी न हुई।[8]

शत्रु के आक्रमण होने पर अथवा आक्रमण की आशंका होने पर आत्मरक्षा के लिए समुचित उपाय किये जाते थे। शान्तिपर्व में इन उपायों का परिगणन इस प्रकार मिलता है—राजा को दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए। मित्रों से सन्धि करना चाहिए। मार्गों से गाँवों को हटाया जा सकता है। मार्गों पर अहीरों के गाँव बसा देना चाहिए। गाँवों का आस-पास के नगरों में प्रवेश करा देना चाहिए। गुप्त

---

१. द्रोणपर्व ३२.१८।
२. वही ५३.२७।
३. भीष्मपर्व ७७.२१; ८३.१६ के अनुसार प्रतिव्यूह बनाया जाता था।
४. वही ११२.२५।
५. भीष्मपर्व ११५.५१।
६. भीष्मपर्व ११५.२६।
७. द्रोणपर्व ५.३९–४०।
८. द्रोणपर्व १६, २०–३५।

दुर्गों में भी लोगों को बसा देना चाहिए—विशेष रूप से धनिकों को और बलवान् लोगों को। शत्रु-राजा की खेतों में पड़ी हुई उपज में आग लगवा दे या अपनी सेना से उसका नाश करवा दे और उसके राज्य की नदियों के सेतुओं को तोड़वा दे। जलाशयों का जल बहवा दे और न बहने योग्य जल को दूषित कर दे। दुर्ग के चारों ओर के छोटे वृक्षों का उन्मूलन कर देना चाहिए। बढ़े हुए वृक्षों की शाखायें काट देना चाहिए। दुर्ग के प्राकार की भित्ति पर वीरों के रहने का स्थान बनवाना चाहिए। प्राकार की भित्ति में आकाश-जननी (दूरस्थ वस्तुओं के देखने के लिए छिद्र) होनी चाहिए। नगर-दुर्ग की परिखा को शूल और मगर-मच्छों से भर देना चाहिए। नगर के संकट-द्वार नागरिकों की रक्षा के लिए होते थे। उनकी रक्षा भी नगर के महाद्वारों की भाँति होनी चाहिए। महाद्वारों पर बड़े-बड़े यन्त्र स्थापित करने चाहिए और शतघ्नी को आरोपित करना चाहिए। दुर्ग के भीतर काठ लाकर रख लेना चाहिए, कुयें खोद लेना चाहिए और पहले के कुओं की स्वच्छता कर लेना चाहिए। घास-फूस के बने घर पर मिट्टी का लेप करा देना चाहिए। चैत्र में तृण को दूर कर देना चाहिए। नगर से भिक्षुक, गाड़ीवान, नपुंसक, उन्मत्त, संदिग्ध पुरुष और नट-नर्तकों को भगा देना चाहिए। सार्वजनिक स्थानों पर गुप्तचर नियुक्त कर देना चाहिए। राजमार्ग को विशाल बनवाकर प्रपा और विपण यथा-स्थान रखवाना चाहिए। युद्ध-सम्बन्धी सामग्रियों को इस प्रकार रखवाना चाहिए कि शत्रु को उनका परिचय न मिले। दुर्ग में अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त, खाने पीने की वस्तुएँ, औषधि, अंगार, कुश, मूँज, पलाश, कंडा, भूसा, इन्धन, विषैले बाण आदि का संचय करना चाहिए। सभी प्रकार की औषधियाँ, मूल-फल और चार प्रकार के वैद्य विशेष रूप से रखना चाहिए। नागरिकों का मनोरंजन विविध साधनों से करवाना चाहिए।[1]

विभिन्न प्रकार के युद्ध के लिए विभिन्न प्रकार की भूमि अच्छी समझी जाती थी। अश्व-सेना के लिए कीचड़, पानी और ढेले से रहित विस्तृत भूभाग होना चाहिए। रथ सेना के लिए कीचड़ और गड्ढों से रहित तथा हाथी-सेना के लिए छोटे वृक्ष और पानी वाली भूमि होनी चाहिए। अनेक दुर्गों वाली, बाँस, बेंत, पर्वत और वन वाली भूमि पैदल सेना के लिए सर्वोत्तम मानी जाती थी। सेना को दृढ़ बनाने के लिए उसमें पैदल सैनिक अधिक रखे जाते थे। जब पानी न बरसता हो तो रथ और अश्वों की सेना की उपयोगिता अधिक मानी जाती थी। वर्षा में पैदल और हाथी सेना की अतिशय उपयोगिता थी।

---

१. शान्तिपर्व ६९ वें अध्याय से।

युद्ध की लोकप्रियता

महाभारत-काल में युद्ध की लोकप्रियता संवर्धित हुई सी प्रतीत होती है। धर्म की दृष्टि से क्षत्रिय के लिए युद्ध में शरीर-त्याग श्रेष्ठ है।[१] फिर भी समाज में एक प्रतिष्ठित वर्ग था, जो मानता था कि विजय के लिए युद्ध करना निकृष्ट माध्यम है। विजय या तो उपाय से कर लेनी चाहिए अथवा शत्रुपक्ष में फूट डालकर विजयी होना चाहिए। यह मत संभवतः युद्ध के भीषण नरसंहार और सम्पत्ति-नाश को दृष्टि पथ में रखकर निर्णीत हुआ था।[२]

युद्ध के दोषों को भी लोग जानते थे। फिर भी मर जाने पर वीरों का स्वर्ग में संगम होने का जो धार्मिक विश्वास था, वह युद्ध को अप्रिय क्योंकर बनने देता?[३] क्षत्रिय का व्याधिमरण या शय्यामरण निन्दनीय था। क्षत्रिय का धर्म था युद्ध करना। युद्ध में मरने से स्वर्गलाभ निश्चित था।[४] युद्ध ही क्षत्रियों की जीविका थी।[५] सभी क्षत्रिय वीर कामना करते थे कि हमें संग्राम में अभिमुख मृत्यु प्राप्त हो।[६] तपस्वी जिन लोकों को अतिशय तप से पाता है, उसे क्षत्रिय युद्ध करते हुए पा लेता है।[७] युद्ध को स्वर्ग का खुला द्वार माना गया। समान क्षत्रिय शूरों से, शूरों का युद्ध अभीष्ट होता था। युद्ध में मरने से वीरलोक-प्राप्ति की सम्भावना थी।[८]

---

१. धृतराष्ट्र ने महाभारत आरम्भ होने के पहले युद्ध की सर्वोत्कृष्टता की चर्चा करते हुए कहा है :—

क्षत्रधर्मः किल रणे तनूत्यागो हि पूजितः ॥उद्योग० १५६.७॥

२. उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम्।
जघन्य एव विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ॥भीष्म पर्व ३.८१॥

३. उद्योगपर्व १५६.४

४. भीष्म ने कर्ण से कहा :—
अनुजानामि कर्ण त्वां युध्यस्व स्वर्गकाम्यया ॥भीष्मपर्व ११७.२९॥
धर्मो हि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥भीष्मपर्व ११७.३२॥

५. द्रोणपर्व ५०.६२॥

६. वही ५०.६५।

७. वही ५२.३२॥

८. भीष्मपर्व २४.३२,३७। यदि कहीं युद्ध में मरण सम्भव न हुआ तो रण के स्थान पर अरण्य में मरण ही क्षत्रिय के लिए श्रेयस्कर है। शल्यपर्व ५.३३।

९. वही ६०.५२–५४।

कवि लोगों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देवताओं और अप्सराओं के द्वारा युद्ध में मारे हुए महावीरों का महान् स्वागत देखा है और उसका मनोहर वर्णन किया है।[1]

युद्ध के प्रति तत्कालीन धारणा का परिचय धृतराष्ट्र के प्रति विदुर के इन उपदेशात्मक वाक्यों से लगता है—यम कायर और शर दोनों को खींचता है तो क्योंकर क्षत्रिय युद्ध न करें? न लड़ने वाला मरता है। लड़ने वाला जीता है। सभी समय पर मरते हैं। युद्ध में मरे हुए लोगों के प्रति शोक कैसा? शास्त्रीय प्रमाणानुसार उनकी तो परम गति होती है। युद्ध में मरने पर स्वर्ग या जीतने पर स्वर्ग मिलता है। युद्ध तो निष्फल है ही नहीं। वीर युद्ध में मरकर जैसा अच्छा स्वर्ग पाते हैं वैसा यज्ञ, तप या विद्या से नहीं मिलता। युद्ध भी तो यज्ञ ही है—वीरों की शरीराग्नि में शर की आहुति होती है।

युद्ध में यद्यपि प्राण जाने का संशय है तो भी उसे स्वीकार करते हुए शत्रुओं का विनाश करने के लिए सदैव समुद्यत रहना चाहिए—यह विदुलोपाख्यान से स्पष्ट है।

युद्ध-भूमि का दृश्य

युद्धभूमि में लड़ने के लिए प्रायः द्वन्द्व का आयोजन होता था।[2] सेना का व्यूह सर्वसेनापति के द्वारा बनाया जाता था।[3] देव गन्धर्व और मानुषों के व्यूह भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे।[4] लड़ते समय शत्रु के सर्वसंहार का दृश्य उपस्थित किया जाता था। रथ को रथ से टक्कर लगवाकर उन्हें चकनाचूर किया जाता था। हाथियों के युद्ध बड़े भयानक होते थे। वे एक-दूसरे को अपने दाँतों से चीर देते थे। अत्यन्त प्रखर गति से दौड़कर वे दूसरे हाथी को दाँतों से टक्कर मारते थे। हाथियों पर ऋष्टि, तोमर, बाण आदि का प्रहार किया जाता था और उनके शरीर घावों से विद्ध हो जाते थे। मर्मस्थल पर चोट लगने से हाथी चिंघाड़ते थे, इधर-उधर भागते थे और मर जाने पर धराशायी हो जाते थे।

गदा, मुसल आदि से आहत, तलवार से कटे हुए, हाथी के दाँत से विदारित या पैर से कुचले हुए धराशायी वीरों के समूह परस्पर आक्रोश करते थे। हाथी घोड़ों को और उनके सवारों को पैरों से कुचल डालते थे। हाथी के कुम्भस्थल पर तथा

---

१. शल्यपर्व ६०.५१–५४।

२. उद्योगपर्व १६१.५–९।

३. वही १६१.११।

४. वही १६२.१०।

पार्श्वभाग में प्रास और बाण से प्रहार करके उन्हें आतुर बनाया जाता था। कुछ हाथी तो सवारों सहित घोड़ों को दाँत पर उठाकर या रथ-समहों को कुचलते हुए या उन्हें लेकर दौड़ते थे। पैदल वीर ढाल और तलवार से मार काट करते थे। घोड़ों के पादाघात से बहुत से वीर घायल हो जाते थे। किसी की आँत बाहर निकली थी। किसी की जाँघ टूटी थी। कुछ वीरों की बाहें कट गई थीं। कई वीरों के पार्श्वभाग ही विदीर्ण हो गए थे। ऐसे लोग क्रन्दन कर रहे थे। कुछ घायल वीर जल माँगते थे।[१] वीरों की कटी हुई भुजायें आभूषणों के साथ उछलती, तड़फड़ाती, गिरती और उठती हुई दिखाई देती थीं। कई बाहें तो ऐसी चेष्टा करती थीं मानों पाँच मुख वाले साँप हों।[२]

हाथी बाण से आहत होने पर घबरा उठते थे। कभी-कभी हाथी पर बैठे हुए सभी सवार मार डाले जाते थे। तब तो हाथी उलटे घूम पड़ते थे और अपनी सेना के वीरों को कुचलते हुए भागने लगते थे।[३] स्वभावतः युद्ध के मैदान में बहुत अधिक धूल उड़ती थी। सूर्य मण्डल ढक जाता था।[४] कभी-कभी हर्षजनक संवाद पाने पर युद्धभूमि में शंख और भेरी आदि बज उठते थे।[५] भयंकर युद्ध होने पर पलायनवादियों की बड़ी संख्या युद्धस्थल से भागती दिखाई देती थी।[६] विपक्ष के वीरों का नाम लेकर आह्वान किया जाता था कि वे लड़ने के लिए प्रस्तुत हो जायें।[७]

युद्धभूमि में घनघोर मारकाट होने पर सारा दृश्य अत्यन्त भयानक और वीभत्स होता था।[८] टूटे हुए रथ, कटी हुई ध्वजायें, चामर, व्यजन, छत्र, हार, निष्क, केयूर, कुण्डल-सहित सिर, उष्णीष, पताकायें, अनुकर्ष (धुरी), योक्त्र, रश्मि आदि से परिव्याप्त युद्ध-भूमि वैसी ही लगती थी, जैसे वसन्त में फूलों के द्वारा वन-प्रदेश।[९] भूमि पर पड़े हुए करतल-त्राण, केयूर और चन्दन-चर्चित बाहुओं

---

१. युद्ध के इस वर्णन के लिए देखिए—भीष्मपर्व ४४ वाँ अध्याय।

२ कर्णपर्व ३६.२४–२५।

३. भीष्मपर्व ५०.७६।

४. भीष्मपर्व ५१.१९।

५. वही ५४.४३, ४४।

६. वही ५५.३९–४०, ४४–४५, ७९–८२।

७. वही ८३.२५।

८. गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरंगिणी।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला॥भीष्म ८९.२५॥

९. वही ८५.३३–३४, ९२.६१–७५।

से, हाथी की सूंड के समान जाँघों से, श्रेष्ठ चूड़ामणि तथा कुण्डल धारण किये हुए शिरों से सारा युद्ध-स्थल भरा हुआ था।[1]

महाभारत में वाग्युद्ध का अभाव नहीं रहा। अपने पक्ष के या विपक्ष के योद्धाओं से समय-समय पर अशोभनीय बातें कहने का जो प्रसंग आता है, वह उन महावीरों के मुख से समीचीन प्रतीत नहीं होता।[2] कभी-कभी कचाकचि, दन्तादन्ति, नखानखि, मुष्टा-मुष्टि और मल्ल-विधि के युद्ध होते थे।[3]

युद्ध में शत्रुओं के परास्त होने के पश्चात् शत्रु-शिविर में जाकर उनकी वस्तुओं को अपनाने की रीति का विरोध महाभारत में नहीं मिलता। शत्रुओं के कोश, रत्न, रजत, स्वर्ण, मणि, मोती, भूषण, कम्बल, मृगचर्म, दासी-दास आदि विजयी सेना को प्राप्त होते थे।[4]

युद्धभूमि विरागियों का प्रदेश है। मृतकों के शव की चिन्ता करने वालों की बातचीत कौन करे—अधमरा दुर्योधन भी अपने मरणासन्न शरीर को खाने के लिए आए हुए हिंस्र जन्तुओं को स्वयं हटा रहा था। दुर्योधन के पक्ष और विपक्ष के सहस्रों व्यक्तियों को यह ज्ञात भी था कि वह कहाँ गिर पड़ा है।[5] अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा दुर्योधन के मरने के थोड़ी देर पहले उसके पास आये थे। वे भी दुर्योधन के मरते ही वहाँ से उसके शव का आलिंगन करके चलते बने।[6]

युद्ध के समाप्त हो जाने पर युद्धस्थल का जो बीभत्स दृश्य होता था, उसका बिस्तृत विवरण महाभारत के स्त्रीपर्व में मिलता है। युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् ही मरे हुए लोगों के भाई-बन्धु शवों की चिन्ता करते थे।[7]

आश्चर्य होता है यह देखकर कि कोई वीर अगणित बाणों से बींधे जाने पर

---

१. भीष्मपर्व ११०.१३–१८।

२. कर्णपर्व अ० ३० में शल्य और कर्ण की बातचीत तथा अ० ३३ में कर्ण का युधिष्ठिर को उपदेश देना। कभी-कभी वीरों के माता-पिता आदि के दोषों की समालोचना की जाती थी। कर्णपर्व ५५–५६ अध्याय

३. कर्णपर्व ३३.६०।

४. शल्यपर्व ६१.३१–३४।

५. सौप्तिकपर्व ९.३–५, १६, १७; स्त्रीपर्व १७.१३–१५।

६. सौप्तिकपर्व ९.५६।

७. स्त्रीपर्व १६.१०–१४, १९; २०.५ के अनुसार उत्तरा युद्ध होने पर अभिमन्यु के शव के पास आई थी।

भी युद्ध करने से विमुख नहीं होता। यदि महाभारत के एक बाण से सुई चुभोने जैसा कष्ट होता हो, तब भी असंख्य बाणों से विद्ध योद्धा का युद्धपरायण रहना असंभव ही रहता।[1] निःसन्देह महाभारतीय युद्ध का सारा वर्णन तत्कालीन वीरों के अदम्य उत्साह से परिप्लावित है।

कौटुम्बिक युद्ध

महाभारत का युद्ध बहुत कुछ एक कौटुम्बिक व्यापार था। युद्धभूमि में दोनों पक्षों की सेनायें सन्नद्ध होकर लड़ने के लिए खड़ी हैं। उस समय युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ विपक्ष में जाकर भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि से युद्ध करने की अनुमति तथा अपने विजय के लिए आशीर्वाद माँगते हैं। कर्ण के विषय में प्रसिद्ध था कि वह तब तक नहीं लड़ेगा, जब तक भीष्म लड़ रहे हैं। कृष्ण ने इस अवसर पर कर्ण से कहा—'तब तक तुम आकर हमारी ही ओर से लड़ो। भीष्म के मर जाने के पश्चात् फिर दुर्योधन की ओर से लड़ना। 'सेनाओं के बीच में युधिष्ठिर ने तारस्वर से कहा—'शत्रु -पक्ष का कोई वीर यदि हमारी ओर से लड़ना चाहता हो तो उसे मैं अपनी सहायता करने के लिए अपना सकता हूँ।' इस प्रस्ताव का प्रभाव पड़ा। दुर्योधन का भाई युयुत्सु बोला—'मैं आपकी ओर से कौरवों से लड़ूंगा, यदि आप मुझे स्वीकार कर लें।' युयुत्सु ढोल बजाता हुआ पाण्डवों में आ मिला।[2] तभी तो इस युद्ध में पिता पुत्रों को, पुत्र पिता को और मित्र मित्र को मार रहे थे।[3]

इस कौटुम्बिक युद्ध में दिन भर भीष्म के प्रखर बाणों के प्रयोग से व्याकुल होकर विपक्ष के प्रमुख नेता रात्रि के समय उनके पास जाकर पूछने लगे—हम कैसे जीतेंगे? कैसे राज्य पायेंगे? आप स्वयं अपने वध का उपाय बतायें। भीष्म ने कहा—जब तक मैं जीवित हूँ, तुम जीत नहीं सकते। तुम्हारी सेना में शिखंडी है वह पहले स्त्री था। अब पुरुष है। उसे आगे करके लड़ो। शिखंडी पर मैं कभी प्रहार नहीं करूँगा। इसके पीछे से अर्जुन भी मेरे ऊपर प्रहार करे। बस अर्जुन मुझे मारने

---

१. कर्णपर्व ३४, ३५ अध्यायों में भीम और कर्ण के युद्ध का वर्णन। अन्यत्र कर्णपर्व ३९, २४–२६।

२. युयुत्सु महाभारत का विभीषण है। इन प्रकरणों के लिए देखिए भीष्म पर्व ४१.९०।

३. अथानाथ पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा।
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः॥भीष्मपर्व ५५.३७॥

में समर्थ होगा।[1] योद्धा युद्धभूमि में भी अपने विपक्षी से यथेष्ट बातचीत कर लेते थे।[2] युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी युधिष्ठिर ने कहा—मैं कुलक्षय से प्रसन्न नहीं हूँ।[3]

विजेता का स्वागत

विजयी राजा दूत भेजकर अपनी विजय का समाचार राजधानी में सुहृदों को देता था। दूत जय की घोषणा करते थे। समाचार पाकर कुमारियाँ और गणिकायें अलंकृत होकर, बाजे-गाजे के साथ राजा का स्वागत करने के लिए आती थीं।[4] सारी प्रजा एकत्र होकर सभाभवन में राजा का अभिनन्दन करती थी।[5] विजय का समाचार पहुँचाने वाले दूतों को वस्त्रादि दिये जाते थे। विजेता के सम्मान में राजमार्ग पताकाओं से अलंकृत किये जाते थे। सभी देवताओं की पूजा पुष्पोपहार से की जाती थी। कुमारों, प्रमुख वीरों और गणिकाओं को बाजे-गाजे के साथ भेजा जाता था कि वे आगे बढ़कर विजेता का नगर-प्रवेश करायें। घंटा-वान् पुरुष बड़े हाथी पर चढ़कर सभी शृंगाटकों (चौराहों) पर विजय की घोषणा करता था। विजेता की भगिनी अनेक कुमारियों के साथ शृंगार, वेश और आभरण से अलंकृत होकर विजेता को लाने के लिये जाती थी। सारे नागरिक हाथ में मांगलिक द्रव्य ले लेते थे। भेरी शंख और तुरी का निनाद होता था। नगर की स्त्रियाँ शुभ और बहुमूल्य वस्त्र पहन लेती थीं। सूत-मागधों के गान के साथ नान्दी, वाद्य, पणव-तूर्य आदि की वाद्यध्वनि नगर से बाहर निकलकर विजेता का स्वागत करती थी। स्वागत करने वाले विजेता को सुगन्ध और मालाओं से प्रसाधित करते थे।[6]

अर्थशास्त्रीय युद्ध

आचार्य कौटिल्य ने राजा के शत्रु और मित्र की परिभाषा इस प्रकार नियत की है—

---

१. भीष्मपर्व १०३ वें अध्याय से।

२. वही। भीष्म और शिखण्डी की बातचीत के लिए देखिए—भीष्मपर्व अध्याय १०५।

३. शल्यपर्व ५९.३१।

४. विराटपर्व ३२.४७–५०।

५. वही ६३.३–४।

६. विराटपर्व अध्याय ६३।

'तस्य समन्ततो मण्डलीभूता भूम्यन्तरा अरिप्रकृतिः।
तथैव भूम्येकान्तरा मित्रप्रकृतिः॥'[1]

अर्थात् किसी राजा के राज्य की सीमा पर बसे हुए चारों ओर के राजा शत्रु हैं। शत्रु-राजा के राज्य की सीमा पर बसे हुए राजा मित्र हैं। इस परिभाषा से शत्रु का साक्षात् भय प्रत्येक राजा को रहता होगा और इसका भयावह परिणाम था भयंकर युद्ध। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—शत्रु का समूल उच्छेदन करो। उसे बढ़ने मत दो। यह सारा वातावरण युद्धोत्पादक था। युद्ध की परम्परा टूटती ही नहीं थी। शत्रु को दुर्बल देखकर उसे आज युद्ध में परास्त करके उसका सर्वस्व छीनकर सन्धि कर ली। फिर शनैः शनैः वह परास्त शत्रु बलवान् होकर अपने विजेता को परास्त करने की योजना कार्यान्वित करता था। ऐसी युद्ध-परम्परा भारतीय इतिहास में सदैव दृष्टिगोचर होती है।

अस्त्र-शस्त्र सामग्री

युद्ध की सामग्री की देख-माल, संचय, नवीकरण आदि के लिए आयुधागाराध्यक्ष नियुक्त होता था। सभी युद्ध सम्बन्धी सामग्री को यथोचित स्थान में रखा जाता था, उनकी मलिनता हटाई जाती थी। उनका स्थान परिवर्तित किया जाता था और उनको धूप दिखाई जाती थी। उनके आकार-प्रकार और संख्या का आकलन किया जाता था। आयुधों का वर्गीकरण नीचे लिखी विधि से किया गया था:—

स्थिर यन्त्र—सर्वतोभद्र, जामदग्न्य, बहुमुखी, विश्वासघाती, संघाती, यानक, पर्जन्यक, अर्वबाहु, ऊर्ध्वबाहु।

चल यन्त्र—पांचालिक, देवदण्ड, सूकरिका, मुसल, यष्टि, हस्तिवारक तालवृन्त, मुद्गर, गदा, स्पृक्तला, कुद्दाल, अस्फाटिम, औदघाटिम, शतघ्नी, त्रिशूल, चक्र।

हलमुख—शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, वराहकर्ण, कणय, कर्पण, त्रासिक।

धनुष—ताल, चाप, दारू और शृंग से बने हुए क्रमशः कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण और धनुष।

बाण—वेणु, शर, शलाका, दण्डासन और नाराच। इनके सिरे लोहे, हड्डी या लकड़ी के बने होते थे।

खड्ग—निस्त्रिंश, मण्डलाग्र, असियष्टि।

क्षुरकल्प—परशु, कुठार, खनित्र, कुद्दाल, चक्र, काण्डच्छेदन।

---

1. अर्थशास्त्र ६.२।

आयुध—यन्त्र-पाषाण, गोष्पण-पाषाण, मुष्टि-पाषाण, रोचनी, दृषद्।

शस्त्रप्रहार से शरीर की रक्षा के लिये विभिन्न अंगों की गुप्ति विविध साधनों से होती थी। इनका वर्गीकरण इस प्रकार मिलता है:—

वर्म—लोहजालिका, पट्ट, कवच-सूत्रक—इनका निर्माण लोहे, चमड़े, खुर सींग या हाथी-दाँत से होता था।

आवरण—शिरस्त्राण, कण्ठत्राण, कूर्पास, कंचक, वारवाण, पट्ट, नागोदरिक, चर्म, हस्तिकर्ण, तालमूल, धमनिका, कवाट, किटिक, अप्रतिहत वलाहकान्त।[1]

ये तो सैनिकों के लिये हुए। हाथी, घोड़े और रथ के अलंकरण तथा सुरक्षा के लिये भी अनेक उपकरणों का उपयोग होता था।

आयुधाध्यक्ष उपर्युक्त युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं की माँग, पूर्ति, प्रयोग, क्षय-व्यय और हानि आदि का पूरा ज्ञान रखता था।

दुर्ग-विधान

युद्ध की आवश्यकता की दृष्टि से राज्य की सीमाओं पर दुर्ग बनवाने का प्रचलन था। इन्हीं दुर्गों में सेना रहती थी, जो आक्रमणकारी शत्रु को राज्य में प्रवेश करने से रोकती थी। दुर्ग कई प्रकार के होते थे।—औदक, पार्वत, धान्वन और वन्य। इन दुर्गों में पहुँचने के मार्ग क्रमशः जल, पर्वत, मरुभूमि या वन के कारण दुर्गम

---

१. उपर्युक्त आयुधों और आवरणों की रूपरेखा का पूरा परिचय दुर्लभ है। परवर्ती उल्लेखों के आधार पर उनमें से कुछ की विशेषताओं का सूक्ष्म परिचय नीचे दिया जाता है:—

सर्वतोभद्र—शकट होता था, जो परिभ्रमण करते हुए चारों दिशाओं में पत्थर फेंक सकता था। जामदग्न्य से तीर चलाये जाते थे। विश्वासघाती दुर्ग के द्वार पर परिखा के ऊपर लगाया हुआ लट्ठा होता था, जो परिखा के ऊपर से होकर आते हुए शत्रु पर गिर पड़ता था। पर्जन्यक आग बुझाने का जलयन्त्र होता था। आस्फाटिम चमड़े का थैला होता था। यह एक डण्डे से पीटे जाने पर घन-घोर ध्वनि उत्पन्न करता था। औधघाटिम से अट्टालिकाएँ गिराई जाती थीं। यन्त्र-पाषाण ऐसे पत्थर के टुकड़े होते थे, जो यन्त्रों के द्वारा फेंकने के लिए बनाये जाते थे। मुष्टि-पाषाण हाथ से फेंकने के लिए पत्थर के टुकड़े थे। लोहजालिक से सिर, बाहें तथा पैर आदि पूरे शरीर का आवरण हो जाता था। इन सबका परिचय पाने के लिए देखिए अर्थशास्त्र की टीका अध्याय २ में आयुधागाराध्यक्ष प्रकरण।

होते थे। औदक और पार्वत दुर्गों से जनपद की रक्षा होती थी, धान्वन और वन्य दुर्ग में आपत्ति पड़ने पर राजा आश्रय लेता था।

राज्य के केन्द्र-भाग में राजधानी दुर्ग-रूप में बनाई जाती थी। राजधानी को दुर्गम बनाने के लिये कई विधान किये जाते थे। राजधानी के लिये प्रायः वही स्थान चुना जाता था, जो प्राकृतिक विधि से नदी या पर्वतों द्वारा एक या अनेक ओर से दुर्गम हो। इसकी सुरक्षा के लिये तीन पक्की परिखायें बनती थीं, जो क्रमशः ५६, ४८ और ४० हाथ चौड़ी होती थीं और एक दूसरे से ४ हाथ की दूरी पर होती थीं। इनकी गहराई चौड़ाई की आधी या तीन चौथाई होती थी। इनके जल में मकर रखे जाते थे। पहली परिखा से १६ हाथ की दूरी पर प्राकार-भित्ति बनाई जाती थी, जो २४ हाथ ऊँची और ४८ हाथ चौड़ी होती थी। वप्र-भित्ति मिट्टी की बनाई जाती थी। इसको बनवाते समय हाथी से कुचलवाया जाता था और बन जाने पर कँटीली और विषैली झाड़ियाँ उस पर उगा दी जाती थीं। वप्र के ऊपर प्राकार ईंट से बनवाया जाता था। प्राकार की दीवालें एक दूसरे से १२ से २४ हाथ की दूरी पर होती थी। प्राकार-भित्ति पर अट्टालिकायें बनवाई जाती थीं। अट्टालिकाओं तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं। दो अट्टालिकाओं के बीच में १२० हाथ का अन्तर होता था। बाहर से वप्र या प्राकार तक आने के मार्ग में जानुभंजनी (घुटना-तोड़ खूंटे), त्रिशूल, टीले, कण्टकमालायें आदि अनेक बाधाएँ होती थीं। वप्र और प्राकार के आश्रय-स्थानों में बैठे हुए धनुर्धरों के लक्ष्य बनने का भय तो था ही।

वप्र में दुर्ग के लिये द्वार बनाया जाता था। दुर्ग में पाषाण, कुदाल, कुठारी, काण्ड, भुशुण्डी, मुद्गर, चक्र, यन्त्र, शतघ्नी, शूल, अग्नि-संयोग आदि युद्ध के लिये आवश्यक सामग्रियाँ रखी जाती थीं।[1]

दुर्ग के भीतर जो राजधानी का विन्यास होता था, उसमें विभिन्न उपयोगों के लिये बनाई हुई सड़कें, विभिन्न व्यवसायों के लोगों के आवास, राजकीय कार्यालय आदि की स्थिति वैज्ञानिक विधि से नियत होती थीं। नगर में घी, तेल, अन्न, नमक, औषध, शुष्क शाक, भूसा, सूखा मांस, तृण, काठ, लोहा, चमड़ा, कोयला, तांत, विष, विषाण, बाँस, बल्कल, शस्त्र, पत्थर का ढेर आदि वस्तुयें अनेक वर्षों की आवश्यकताओं के लिये संचित की जाती थीं। पुरानी वस्तुओं के स्थान पर नई वस्तुएँ लाकर रखी जाती थीं।[2]

---

१. अर्थशास्त्र के दुर्ग-विधान प्रकरण से।

२. वही—दुर्गनिवेश प्रकरण से।

सेना

अर्थशास्त्रीय युग में पूर्ववत् चतुरंगिणी सेना मिलती है। सेना को सतत अभ्यास के द्वारा सुशिक्षित और सन्नद्ध बनाये रखने के विधान बने थे। हाथी और घोड़ों की सेना के अतिरिक्त रथ-सेना का विशेष उपयोग रहा।

रथाध्यक्ष युद्धोपयोगी रथों का निर्माण कराता था। उसकी अध्यक्षता में रथ-सैनिकों को तीर चलाने, गदायुद्ध करने, आवरण धारण करने, रथ चलाने और रथ पर बैठे हुए युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। पत्त्यध्यक्ष पैदल सैनिकों की युद्धोपयोगी शिक्षा की व्यवस्था करता था। वह मौल (आनुवंशिक), भृत (वेतन-भोगी) और श्रेणी (संघ में सम्बद्ध) सेनाओं के तथा वनवासियों तथा शत्रु-मित्रों की सेना के बलाबल का ज्ञान रखता था। पत्त्यध्यक्ष निम्न स्थल में युद्ध करने की कला जानता था और साथ ही प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध, खाइयों में छिपकर किये जाने वाले युद्ध, आकाश-युद्ध (ऊँचाई से किया जाने वाला युद्ध) और दिन या रात्रि के युद्ध का पूर्ण पण्डित होता था। कौटिल्य ने खर और उष्ट्र सेना का उल्लेख किया है और बतलाया है कि जिस देश में जल की कमी हो, वहाँ उनकी सेना अधिक उपयोगी हो सकती है।[1]

मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी सेनाओं में से युद्ध के लिए मौल सेना राजा के लिए सबसे बढ़कर विश्वसनीय और उपयोगी होती थी। मौल सेना को राजा विनाश से बचाने की चेष्टा करता था और जब अन्य किसी प्रकार की सेना से विजय मिलना कठिन दिखाई देता था, तभी मौल-सेना का प्रयाण कराया जाता था।

सेना के सभी अंगों के लिए नियम था कि दस सैनिकों के ऊपर पदिक, १० पदिकों पर सेनापति और १० सेनापतियों पर नायक हो।[2]

सेना के साधारण गुणों का परिचय देते हुए कहा गया है कि सैनिकों को योद्धाओं के कुल का होना चाहिये। उन्हें नित्य वश में रहना चाहिये। उनके सेवक, पुत्र और स्त्रियाँ सन्तुष्ट होनी चाहिये। सैनिकों के प्रवासी होने पर भी उनके कुटुम्बियों का भरण-पोषण होना चाहिये। सैनिकों की गति सर्वत्र निर्बाध होनी चाहिये। उनको दुःखसह होना चाहिये। और अनेक युद्धों का अनुभवी होना चाहिये। सैनिकों को सभी प्रकार के युद्धों और अस्त्र-शस्त्र की विद्याओं का विशारद होना चाहिये। सैनिक को राजा की वृद्धि और क्षय में ही अपनी

---

१. अर्थशास्त्र ९.१।

२. वही १०.६।

पुरुषों के द्वारा सम्भव होते थे। ऐसे गूढ़ पुरुष, कारु, शिल्पी, पाषण्ड, कुशीलव, व्यापारी, कर्मकर, सर्पग्राह, हस्तिजीवी, अग्निजीवी आदि के वेश में शत्रु-राजा को दुर्बल करने में समर्थ होते थे। यदि कोई वश न चले तो राजा को साँप से कटवा दिया जाता था।[1]

स्कन्धावार

प्रयाण अथवा आक्रमण करती हुई सेना के ठहरने के लिए जो अस्थायी दुर्ग बनवाया जाता था, उसका नाम स्कन्धावार था। उस दुर्ग में वास्तु-शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार खाई, वप्र, साल, द्वार और अट्टालक होते थे। स्कन्धावार में राजधानी की भाँति सभी प्रकार के राजकीय पुरुषों के आवास के लिये यथाभाग स्थान बनाये जाते थे। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि के भवन, कोष्ठागार, महानस (रसोई-घर) कुप्य (कच्चे माल का गोदाम) आयुधागार, चतुरंगिणी सेना का स्थान, गुप्तचर, आरक्ष आदि के भवन थे। शत्रुओं के आक्रमण को वहाँ रोकने के लिए कूप, कूटावपात और कण्टक आदि स्थापित कर दिये जाते थे। अट्ठारह पहरेदार अपनी-अपनी पारी से रक्षा करते रहते थे। पहरेदारों को विवाद, द्यूत आदि व्यसनों में पड़ना निषिद्ध था। मुद्रा दिखाने पर स्कन्धावार में प्रवेश हो सकता था।[2]

प्रयाण

प्रयाण के पहले ही 'प्रशास्ता' अपने साथ बढ़ई और श्रमिकों को लेकर प्रयाण की सड़क पर चल देता था और यथास्थान कुएँ बनवा देता था। प्रयाण के पहले मार्ग के सभी गाँवों की सूची बना ली जाती थी और उसमें उल्लेख रहता था कि किस गाँव से कितनी घास, इन्धन, जल आदि मिल सकता है। प्रयाण का कार्यक्रम बनता था कि किस दिन कहाँ ठहरना है? आवश्यकता से दूनी भोजनादि सामग्री साथ रखी जाती थी। सेनापति सबसे पीछे चलता था और उसका सन्निवेश सबसे आगे होता था। सेना के सम्मुख नायक, बीच में अन्तःपुर की स्त्रियाँ और राजा, दोनों ओर घुड़सवार और अंगरक्षक आदि चलते थे। सेना पाँच मील से दस मील तक प्रतिदिन चलती थी। मार्ग में बाधा होने पर सामने मकरव्यूह, पीछे शकटव्यूह तथा दोनों ओर वज्रव्यूह बना लिये जाते थे। इसको परिवृत करने के लिए सर्वतोभद्र व्यूह बनाया जाता था। सँकरे मार्ग में सेना

---

१. अर्थशास्त्र १२.४ में विस्तुत विवरण देखिए।

२. वही १०.१ से।

सूचीमखव्यूह बनाकर चलती थी। मार्गों की बाधायें और रुकावटें दूर कर ली जाती थीं।[१]

प्रयाण-पथ में पड़ने वाले नदी-नालों को हाथी, स्तम्भ, बाँध, पुल, नाव काठ, वेणु-संघात, लौकी, चमड़े के थैले, डोंगी आदि से पार करने की रीति थी। यदि घाटों को शत्रु ने रोक दिया हो तो अन्यत्र अपने हाथी-घोड़ों की सहायता से पार करना चाहिए था।

मरुभूमि या सामग्री-हीन प्रदेशों में दुर्गम मार्गों पर सेना के प्रयाण करते हुये या शत्रु का आक्रमण हो जाने पर, यात्रा के पश्चात् श्रान्त, भूखी, प्यासी होने पर या रोग महामारी या अकाल से पीड़ित होने पर अपनी सेना की विशेष रूप से सुरक्षा की जाती थी। शत्रु-सेना के एकायन मार्ग पर चलते समय उसके लिये भोजन, घास, शय्या, झण्डे, आयुध आदि को देखकर सेना की शक्ति का ज्ञान किया जाता था। प्रयाण के अवसर पर अपनी सेना की शक्ति को गूढ़ रखा जाता था।

व्यूह-रचना

अर्थशास्त्र में दण्ड, भोग, मण्डल, असंहत आदि व्यूहों की चर्चा मिलती है। इनमें से दण्ड-व्यूह सेना को तिरछा खड़ा करके बनाया जाता था। दण्ड-व्यूह में सामने तथा पक्ष और कक्ष की शक्ति समान होती थी। भोग-व्यूह में सेना को पंक्तिशः खड़ा किया जाता था। सैनिक एक दूसरे के पीछे होते थे। मण्डल व्यूह में सेना का मुख चारों ओर रहता था। यह व्यूह वृत्ताकार होता था। असंहत व्यूह में सेना को टुकड़ियों में विभक्त कर दिया जाता था और प्रत्येक टुकड़ी स्वतंत्र रूप से पराक्रम करती थी। दण्ड-व्यूह के समान प्रदर-व्यूह भी होता था पर इसके कक्ष सामने निकले रहते थे। दृढक-व्यूह प्रदर की भाँति ही होता था, अन्तर केवल इतना ही था कि दृढ़क में पक्ष पीछे की ओर फैले होते थे। दृढ़क के पक्ष लम्बायमान कर देने पर असह्यव्यूह बन जाता था। प्रदर, दृढ़क, असह्य तथा श्येन व्यूहों को विपरीत ढंग से विन्यास कर देने पर क्रमशः चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ, और सुप्रतिष्ठ नामक व्यूह बनते थे। संजय-व्यूह में पक्ष चाप की भाँति घटित होता था। संजय का सामने का भाग लम्बायमान कर देने पर विजय-व्यूह बन जाता था। यदि पक्ष और कक्ष दण्डव्यूह के रूप में होते, तो स्थूलकर्ण-व्यूह बन जाता था। यदि सामने का भाग विजय से दूना दृढ़ बनाया जाता तो विशाल-विजय व्यूह बन जाता था। जिसके पक्ष सामने की ओर निकले होते, उसे चमूमुख-व्यूह कहा जाता

---

१. अर्थशास्त्र १०.२ से।

था। चमूमुख को विपरीत विधि से विन्यस्त करने पर झषास्य व्यूह बन जाता था। दण्ड-व्यूह में यदि एक अंग दूसरे के पीछे खड़ा होता तो सूची-व्यूह वन जाता था। यदि सूची-व्यूह की दो पंक्तियाँ साथ होतीं तो उसे वलय-व्यूह कहा जाता था और यदि चार साथ होतीं तो उसे दुर्जय-व्यूह कहा जाता था।[१]

भोग-व्यूह का पक्ष, और मध्य भाग यदि असमान विस्तार के होते तो सर्पसारी या गोमूत्रिका व्यूह बनता था। यदि उसकी दो पंक्तियाँ सामने होतीं और पक्ष दण्ड-व्यूह के रूप में होते तो उसे शकट-व्यूह कहा जाता था। यदि शकट-व्यूह में हाथी, घोड़े और रथ होते तो उसे वारिपतनक कहा जाता था।[२]

मण्डल-व्यूह में पक्ष, कक्ष और उरस्य (मध्य) का एकीभाव कर देने पर सर्वतोमुख व्यूह बन जाता था। इसका अन्य नाम सर्वतोभद्र था। असंहत व्यूह में पक्ष, कक्ष और उरस्य सभी एक दूसरे से असम्बद्ध होते थे। यदि पाँच सेनायें असंहत शैली में रहतीं तो उनका वज्र या गोध-व्यूह बन जाता था। चार असंहत सेनायें काकपदी या उद्यानक और तीन सेनायें अर्धचन्द्रिका बनाती थीं। अरिष्ट-व्यूह में रथ-सेना, हाथी-सेना और अश्व सेना क्रमशः उरस्य, पक्ष और पृष्ठ भाग बनाती थीं। अचल व्यूह में पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथी एक दूसरे के पीछे होते थे। हाथी, अश्व और रथ के एक दूसरे के पीछे होने पर अप्रतिहत व्यूह बनता था।[३]

युद्ध-विज्ञान

युद्ध-विज्ञान का आरम्भ अर्थशास्त्र के अनुसार राजा की वैदेशिक नीति के साथ होता है। विदेशी राजाओं के साथ छः प्रकार के सम्बन्ध संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय सम्भव हो सकते हैं। ये सभी सम्बन्ध किसी राजा की अपनी शक्ति पर अवलम्बित होते थे। यदि किसी राजा की किसी दूसरे राजा से शक्ति कम हुई तो सन्धि होती थी। यदि शक्ति अधिक हुई तो विग्रह (युद्ध) किया जा सकता था। युद्ध के लिए शत्रु के देश की ओर प्रस्थान करना यान है। यदि कोई राजा समझता था कि कोई शत्रु मुझे हानि नहीं पहुँचा सकता और न मैं ही इतना शक्तिशाली हूँ कि किसी को जीत सकूँ तो वह आसन-भाव से रहेगा। यदि आत्मरक्षा के लिए भी शक्ति न हो तो किसी शक्तिशाली राजा का आश्रय लेना संश्रय है। यदि कोई राजा दूसरे की सहायता लेकर शत्रु को जीतना चाहे तो वह एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करेगा। यह स्थिति द्वैधीभाव है।

१–३ अर्थशास्त्र १०.६ से।

मौल, भृत, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी सेनाओं को विभिन्न परिस्थितियों में युद्धभूमि में नियोजित किया जाता था।[1] किस प्रकार की सेना का कैसी सेना और अस्त्र-शस्त्रों से सामना किया जाय—इस विषय का विवेचन करते हुए कौटिल्य ने कहा है—हाथी सेना का सामना हाथी, यन्त्र, शकटगर्भ, कुन्त, प्रास, खर्वटक, वेणु, शल्य आदि से होना चाहिए। रथ और अश्व की सेना का सामना उपर्युक्त सेना के साथ पाषाण, लगुड, आवरण, अंकुश, कचग्रहणी आदि से करे। वर्म धारण करके लोग हाथी-सेना से लड़ें। घुड़सवार वर्म धारण करने वालों से लड़ें। कवचधारी रथी और आवरण पहनकर पैदल सैनिक चतुरंगिणी सेना से लड़ें।[2]

शत्रु की सेना के संहत (एकत्र संघटित) होने पर विजेता अपनी हाथी-सेना से उसे विघटित करवाता था। भागती हुई सेना को घोड़े और हाथियों से रौंदवाया जाता था। यदि सामने से आक्रमण करने में कठिनाई होती तो पीछे से आक्रमण किया जाता था। जिस-किसी प्रकार सफल आक्रमण का अवसर प्रतीत होता था, वैसे ही आक्रमण कर दिया जाता था।[3]

शत्रु-सेना को उसके विद्रोहियों, शत्रुओं या जंगली जातियों से भिड़ाकर उसके श्रान्त हो जाने पर अपनी अश्रान्त सेना से आक्रमण करा देने की रीति थी। अपनी सेना को दुर्बल दिखाकर शत्रु की असावधान सेना पर आक्रमण करना, छोटे-मोटे झगड़ों में शत्रु-सेना के प्रमुख वीरों को बाहर निकलवाकर उनको मार डालना, रात में छोटे-मोटे आक्रमण करके शत्रुओं को जगा रखकर दिन में उनके अर्धजाग्रत् होने पर आक्रमण कर देना, अपने हाथियों को रुई या चमड़े के वस्त्र से आच्छादित करके शत्रु से रात्रि में लड़ाई करना, धूप से सन्तप्त होने पर शत्रु सेना को मार डालना आदि कूटयुद्ध के अन्तर्गत आते थे ।[4]

सेना के केन्द्र-भाग में राजा अपने सम्बन्धी युद्धवीरों से परिवृत होता था। राजा के पास झण्डा या राजचिन्ह नहीं होता था। राजा की वेशभूषा में कोई अन्य पुरुष व्यह बनाने का कार्य करता रहता था। सेना का व्यूह इस प्रकार बनाना चाहिए था कि उसका मुख दक्षिण ओर न पड़े। सूर्य पीछे पड़े। वायु की दिशा अनुकूल हो। समभूमि पर दण्ड-मण्डल-व्यूह, विषम भूमि पर भोग-संहत-व्यूह, मिश्र भूमि पर विषम-व्यूह बनाना चाहिये।[5]

---

१. परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन अर्थशास्त्र ९.२ में देखिए।

२. अर्थशास्त्र ९.२ से।

३-५. वही १०.३ से।

कौटिल्य की दृष्टि में बलवान् और साथ ही अन्यायी राजा की अपेक्षा, दुर्बल पर न्यायी राजा अधिक दुर्जेय है, क्योंकि प्रजा अन्यायी का साथ नहीं देती, अपितु वह आक्रमणकारी का साथ देती है। कौटिल्य ने उन सभी राजकीय दुर्व्यवहारों का परिगणन किया है, जिनसे प्रजा का क्षय, लोभ और परिणामतः राजा के प्रति विराग उत्पन्न होता है। अपने राजा से विरक्त प्रजा राजा का शत्रु बनकर उसे स्वयं मार डालती है। विजयेच्छु राजा को समान शक्ति वालों या हीन-शक्ति वालों को लेकर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए। यदि कई राजा मिलकर विजय प्राप्त करें तो उस राजमण्डल का नेता विजय द्वारा प्राप्तव्य वस्तुओं को अपना साथ देने वाले राजाओं में उनकी इच्छानुसार बाँटकर उन्हें सन्तुष्ट करे। ऐसा राजा साथ देने वालों का प्रिय बना रहता है।[1]

सन्धि

मित्रों के साथ सन्धियाँ अनेक उद्देश्यों से की जाती थीं। मित्र से सन्धि करके उसके दल-बल के साथ शत्र पर आक्रमण करना साधारण उद्देश्य था। सन्धि के द्वारा प्राप्त राजा अपने मित्र के राष्ट्र में आन्तरिक विद्रोह की प्रवत्तियों को दबाता था, जंगली जातियों को दण्ड देता था और शत्रु-राजा को भी सन्धि करने के लिए बाध्य कर सकता था। ऐसी सन्धियाँ प्रस्तावित मित्र को प्रस्तावक की विजय में प्राप्तव्य धन का भाग देने के निर्णय से सम्बद्ध होती थीं। कुछ सन्धि के प्रस्तावक अपने भावी मित्र से प्रार्थना करते थे कि मैं आक्रमण करने जा रहा हूँ। इस बीच आप मूल और पार्ष्णि (राज्य का केन्द्र-भाग और पार्श्व भाग) या वन्य प्रदेश की सुरक्षा करें।[2]

कौटिल्य के अनुसार आक्रमण करने की इच्छा करने वाले शत्रु का सर्वनाश, चाहे जैसे हो, कर ही देना चाहिये। विष देना या उसके दुर्ग में आग लगवाना अथवा उसके ऊपर दूसरों से आक्रमण कराना साधारण सी बातें थीं। यदि ऐसा करने पर भी शत्रु आक्रमण से विरत नहीं होता तो धन, सेना आदि देकर उसका परितोष कर देना चाहिये। धन और सेना ऐसी देना चाहिए, जिससे शत्रु-पक्ष को विशेष लाभ न हो, अपितु हानि हो। निरंकुश हाथी-घोड़े दिये जा सकते थे। विष दिये हुए हाथी-घोड़े शत्रु के यहाँ कुछ दिनों में मर जाते थे।[3]

---

१. अर्थशास्त्र ७.५ से।

२. वही ७.७ से।

३. वही १२.१ से।

प्रोत्साहन

प्रकाश-युद्ध करने के पहले राजा अपनी सेना को एकत्र करके इस प्रकार भाषण दे—मैं आप लोगों की भाँति वेतन-भोगी हूँ। आप ही लोगों के साथ इस राज्य को भोगना है। मेरे कथनानुसार शत्रु का वध करना है। वेदों में लिखा है कि युद्ध-वीर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं, जो यजमान बड़े यज्ञों को सुसम्पादित करने पर प्राप्त करता है। धर्म-युद्ध में मृत्यु होने पर वीर वहीं पहुँचते हैं, जहाँ अनेक यज्ञ या तप करके ब्राह्मण जाते हैं। स्वामी का अन्न खाकर यदि सैनिक युद्ध-पराङ्मुख होता है तो वह नरक में गिरता है।[1]

सैनिकों के प्रोत्साहन के लिए दैवज्ञ कहते थे कि सेना का व्यूह अटूट है। हमने देवताओं का आवाहन किया है। हम सर्वज्ञ हैं। वे शत्रुओं को अपनी भविष्य-वाणी से हतोत्साह भी करते चलते थे।[2] सूत और मागध भी अपने पक्ष की प्रशंसा, शूरों की उच्च गति और भीरु की दुर्गति का वर्णन करते थे।

युद्धारम्भ के एक दिन पहले राजा उपवास करके अस्त्र-शस्त्र-पूर्ण रथ में शयन करता था और फिर वह अथर्ववेद के मन्त्रों से अग्नि में हवन करता था। राजा विजयी पुरुषों और मर कर स्वर्ग में जाने वालों के कल्याण के लिए आशीर्वाद-वाचन कराता था।[3]

सेनापति धन और मान से सेना को प्रसन्न करके उसके समक्ष इस प्रकार भाषण देता था—शत्रु-पक्ष के राजा को मारने वाले को एक लाख पण, सेनापति और राजकुमार को मारने वाले को ५०,००० पग, घुड़सवार वीर को मारने पर १,००० पण, पत्ति के मुख्य वीर को मारने पर १०० पण तथा किसी भी सैनिक का सिर काट लेने पर २० पण का पारितोषिक मिलेगा। इसके अतिरिक्त वेतन दूना कर दिया जायेगा। यह सूचना प्रत्येक १० वीरों के अधिपतियों को दे दी जाती थी।[4]

युद्ध

जब शत्रु-सेना दुर्बल हो, उसमें घोड़ों और हाथियों की संख्या स्वल्प हो, मन्त्री राजभक्त न हो तो अपनी सेना के सर्वोत्तम भाग से शत्रु पर चढ़ाई कर देना चाहिए। शत्रु-सेना के सामने कूच करना, उसके चारों ओर चक्कर मारना, उससे अलग हट जाना, पीछे हटना, शत्रु-सेना के सन्निवेश को उद्विग्न करना, अपनी सेना को एकत्र करना, सेना को गोमूत्रिका या मण्डल में खड़ा करना, पिछले भाग को अस-

---

१-४. अर्थशास्त्र १०.३ से।

म्बद्ध कर देना, सामने, पार्श्वभाग या पीछे से भागती हुई सेना का पीछा करना, अपनी विच्छिन्न सेना की रक्षा करना आदि अश्व-युद्ध के भेद थे। हस्ति-युद्ध भी प्रायः इसी प्रकार का था। सोती हुई सेना पर आक्रमण करना, शत्रु सेना का मर्दन करते हुए भगदड़ मचा देना आदि हाथियों के विशेष काम थे।

विजेता अपने स्कन्धावार दुर्ग को सर्वतः दृढ़ करके शत्रु के दुर्ग की परिखा के जल को दूषित कर देता था, या परिखा का जल बहा देता था। फिर सुरंग या लोहे के छड़ों से दुर्ग के वप्र और प्राकार पर आक्रमण करता था। यदि खाई अधिक चौड़ी होती तो उसे मिट्टी से भर दिया जाता था। दुर्ग की रक्षा करने वाले यदि बहुत लोग होते तो यन्त्र से उनको मारने का उपक्रम किया जाता था। घुड़सवार द्वार से होकर भीतर जाने का प्रयत्न करते थे।

दुर्ग में आग लगाने के लिए कौवा, तोता, मैना, उल्लू, या कबूतर आदि पक्षियों का उपयोग किया जाता था। उनकी पूँछ में अग्नियोग बाँध दिया जाता था। विपक्ष के गूढ़ पुरुष यदि दुर्ग में पालक होते तो वे नेवले, वानर, बिल्ली, कुत्ते आदि की पूंछ में अग्नियोग लगाकर दुर्ग में आग लगाने में सफल होते थे।[1] अग्नियोग से समायुक्त बाण भी काम में लाये जाते थे। कभी-कभी गूढ़ पुरुष बनावटी मुद्राओं की सहायता से प्रवेश कर विजय में सहायक होते थे। दुर्ग-विजय के लिए समीचीन पाँच उपाय कौटिल्य ने गिनाये हैं—उपजाप (शत्रु पक्ष में फूट पैदा करना), अपसर्प (गूढ़ पुरुषों का उपयोग), वामन (विपक्ष के लोगों को अपनी ओर मिलाना), पर्युपासन (घेरा डालना) और अवमर्द (आक्रमण)।[2]

युद्ध का उद्देश्य

शत्रु का नाश करना अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध का प्रथम उद्देश्य है। युद्ध करके शत्रु-राजा का अन्न, पशु और स्वर्ण पाने का लोभ रहता था। शत्रु के राज्य की प्रजा को अपने राज्य में लाकर बसाने की योजना युद्ध के द्वारा कार्यान्वित की जाती थी। युद्ध करके शत्रु-राजा के देश से अपने देश में आने वाली उन व्या-

---

१. अग्नियोग एक प्रकार का द्रव्य था, जिसमें आग लगा देने पर वह धीरे-धीरे बहुत देर तक सुलगती रहती थी। अन्त में इस अग्नियोग की अग्नि का स्वरूप सम्भवतः विकराल और प्रसारशील होता होगा। इसके निर्माण की विधि के लिए देखिए अर्थशास्त्र १३.४। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि अग्नियोगों में बारूद के समकक्ष द्रव्य होते थे।

२. अर्थशास्त्र १३.४ से।

पारिक वस्तुओं पर रोक लगाई जा सकती थी, जिनसे अपने देश की वस्तुओं के व्यापार को हानि पहुँचती थी। कुछ राजा शत्रु के देश से व्यापार की मूल्यवान् वस्तुयें अपने देश में लाते थे। यदि शत्रु के अनेक विरोधी होते जो शत्रु की विपत्ति का अवसर मात्र पाकर विद्रोह करने के लिए उद्यत होते तो राजा लड़ाई की घोषणा करके विद्रोहियों को उभाड़ने में सहायक होता था। अपनी शक्ति बढ़ जाने पर विपत्ति में पड़े हुए शक्तिहीन शत्रु पर आक्रमण कर देना तो साधारण-सी नीति थी। कई राजा मिल-जुलकर किसी राज्य पर आक्रमण करने के पहले विजय होने पर प्राप्तव्य लाभ में अपना भाग निर्णय कर लेते थे।[1] पराजित राजा कभी-कभी विजयी राजा को अपनी सेना भी हस्तान्तरित करने पर बाध्य होता था।[2] पृथिवी-जय ही अर्थशास्त्र में पराक्रमी विजेता का लक्ष्य बताया गया है।[3]

युद्धाचार

कौटिल्य के धर्मयुद्ध में युद्धाचार की प्रतिष्ठा थी, पर उसके कूट-युद्ध, और मन्त्र या तूष्णी युद्ध में 'येन केन प्रकारेण' शत्रु का सर्वनाश करना ही एकमात्र कर्त्तव्य माना जाता था। यदि कहीं प्रजा, शत्रु-राजा का विरोध करती तो आक्र-मणकारी प्रजा की अन्नराशि, पैदावार और व्यापारिक वस्तुओं को नष्ट कर सकता था। ऐसा होने पर प्रजा उस प्रदेश को छोड़कर भाग जाती थी। फिर भी युद्धाचार के नाम पर कुछ नियम कौटिल्य ने बनाये हैं, जिनके अनुसार यदि दुर्ग पर आग लगाये बिना विजय पाने की आशा हो तो उसमें आग लगाना उचित नहीं माना जाता था। इस विधान में युद्धाचार की छायामात्र ही दिखायी पड़ती है। कौटिल्य ने कहा है कि आग से जले दुर्ग को ग्रहण करने से लाभ ही क्या होगा? अर्थशास्त्र में दुर्ग-विजय के लिए अग्नि का प्रयोग न करने का दूसरा कारण बताया गया है कि देवता आग लगाने वालों से अप्रसन्न हो जाते हैं। दुर्ग-विजय हो जाने पर विजेता का कर्त्तव्य था कि परास्त राजा की सेना के पतित, पराङ्मुख, विपत्ति-ग्रस्त, घायल और युद्ध-विरत लोगों को अभय दान करे।[4]

विजयी का कर्तव्य

जीते हुए देश पर शासक बनने वाला नया राजा सुनीति का परिचय देता

---

१. अर्थशास्त्र ७.४ से।

२. वही १२.१।

३. वही १३.४।

४. वही १३.४ से।

था। वह पराजित राजा की दुर्नीति से अपने को दूर रखता था और उसमें जो गुण होते थे, उनको दूनी मात्रा में स्वयं दिखाता था। विविध आयोजनों से प्रजा को संतुष्ट रखना विजय का ध्येय होता था। युद्ध के समय जिस किसी व्यक्ति से, जो उसकी प्रतिज्ञा होती थी, उसे पूरी करता था। वह स्वयं प्रजा की वेशभूषा, भाषा, धर्म, उत्सव और आचार को अपना लेता था। वह प्रजा के सार्वजनिक कामों में उनके साथ होता था। विजयी राजा के सन्देश-वाहक प्रजा के नेताओं को बताया करते थे कि राजा सारी प्रजा के प्रति समादर भावना रखता है और प्रजा की उन्नति में अपनी उन्नति मानता है। वह परम धार्मिक बन जाता था। विजयी राजा विद्वानों, व्याख्यानदाताओं, धार्मिक लोगों और शूरों को भूमि, द्रव्य, दान आदि देता रहता था और दीन-दुखियों और रोगियों का दुःख दूर करने का प्रयास करता था। प्रजापीड़कों को विजेता सत्पथ पर लगा देता था या उन्हें राज्य से बाहर निकाल देता था। वह किसी प्रकार अधर्माचार को नहीं बढ़ने देता था।[1]

अर्थशास्त्र में युद्ध में अवसरवादिता का अतिशय महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कौटिल्य ने कहा है कि वह निरा मूर्ख है जो नक्षत्रों के शुभाशुभ के चक्कर में पड़ा रहता है। चाहे सैकड़ों प्रयत्न क्यों न करना पड़े, मानव को सफलता पाकर विश्राम करना है।[2]

सिकन्दर के युद्ध

सिकन्दर के भारत-आक्रमण में उसे अनेक युद्ध करने पड़े। इन युद्धों के वर्णनों से तत्कालीन भारतीय राजाओं की युद्धोपन्यासकारिणी प्रवृत्तियों का पूरा परिचय मिलता है। तक्षशिला के राजा के पुत्र आम्भि ने अपने पिता की अनुमति प्राप्त कर ली कि सिकन्दर का साथ देकर अपने शत्रु राजा पौरव (पोरस) का सर्वनाश कराया जाय। सिकन्दर जब बुखारा में था, तभी आम्भि ने अपने दूतों के द्वारा सम्पर्क स्थापित करके सूचित किया कि आपके सामने जो भारतीय राजा नहीं झुकता है, उसके विरुद्ध मैं आपके साथ लड़ने को प्रस्तुत हूँ। काबुल की घाटी में सिकन्दर के सामने अपने आप आत्म-समर्पण करने वालों में तक्षशिला का राजा था।

भारत के दुर्गम वन्य और पर्वतीय प्रदेशों में अनेक ऐसे राज्य थे, जहाँ की प्रजा किसी के अधीन नहीं होना चाहती थी और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण

---

१. अर्थशास्त्र १३.५ से।

२. वही ९.४ से।

करने की चेष्टा करने वालों से अपना प्राण हथेली पर रखकर लड़ने के लिए समुद्यत थी। ऐसी जातियों में से अश्वक सर्वप्रथम थे, जिन्होंने सिकन्दर के समक्ष अपनी वीरता का परिचय दिया। इनसे युद्ध करते समय सिकन्दर घायल हुआ और सारे अश्वक युद्ध करते हुए मारे गये। एक अन्य स्थान पर ४०,००० योद्धा बन्दी बनाये गये। किसी राजा की सहायता करने के लिए पंजाब से, जो सैनिक पहुंचे थे, उनके पराजय के पश्चात् बन्दी होने पर उनसे कहा गया कि तुम सिकन्दर की सेना में सम्मिलित हो जाओ। उन्होंने निर्णय किया कि किसी विदेशी के साथ मिल कर स्वदेश के लोगों पर आक्रमण करना अनुचित है। रात्रि के समय उन्होंने चुपके-चुपके वहाँ से भाग जाने का निश्चय किया। उनकी योजना सफल न हुई और अन्त में वे सभी प्रातःकाल होने के पहले ही मार डाले गये। पुष्करावती का राजा सिन्धु-तट पर आई हुई सिकन्दर की सेना की महिमा देखकर भी अपने को स्वतन्त्र रखने की चेष्टा करते हुए एक मास अपने दुर्ग में पड़ा रहा। यवनों ने उसको पराजित करके उसका राज्य किसी शत्रु-राजा को दे दिया। सिकन्दर तक्षशिला में पहुँचा और वहाँ के राजा की ओर से उसका सौहार्दमय स्वागत हुआ।

पौरव का राज्य झेलम और चेनाब के मध्यस्थ प्रदेश में था। उसके राज्य के पूर्व और पश्चिम में पड़ने वाले राज्यों से उसकी शत्रता थी। अभिसार का राजा सिकन्दर के विरुद्ध पौरव की सहायता करने के लिए उद्यत था। यह सहायता उसकी कूटनीति पर आधारित थी। उसने अपने भाई के द्वारा तक्षशिला में सिकन्दर से सम्पर्क स्थापित करके आत्म-समर्पण का सन्देश भेजा था। जब सिकन्दर के दूतों ने पौरव को तक्षशिला में उससे मिलने के लिए निमंत्रण दिया तो पौरव ने स्पष्ट कहा—मैं अपने राज्य की सीमा पर शस्त्रास्त्र धारण करके सिकन्दर से मिलूंगा। ई० पू० ३२६ में पौरव की सेना झेलम नदी के तट पर सम्भवतः झेलम नगर के समीप सिकन्दर से लड़ने के लिए आ जुटी। शीघ्र ही झेलम नदी के दाहिने और बायें तट पर सिकन्दर और पौरव की सेनाओं का सम्मर्द बन गया। झेलम पार करने की समस्या सिकन्दर के सामने थी। कई दिनों की सतर्क चेष्टा के पश्चात् शिविर-स्थल से लगभग २० मील की दूरी पर नदी के एक द्वीप में उगे हुए वन की आड़ लेकर सिकन्दर कुछ सिपाहियों के साथ नदी के बायें तट पर आ पहुँचा। यह स्थान पौरव के द्वारा सुरक्षित नहीं था। पौरव ने सिकन्दर के झेलम पार करने का समाचार सुनते ही २००० घुड़सवार और १२० रथों की सेना के साथ अपने पुत्र को भेजा। युद्ध हुआ, जिसमें राजकुमार की मृत्यु हुई। युद्ध-स्थल में १२० रथ कीचड़ में फंस गये और सिकन्दर के हाथ लगे।

पौरव ने अपनी सेना का व्यूह बनाया। सामने हाथी खड़े हुए। हाथियों की सेना के पीछे पैदल सिपाही खड़े थे, जिनकी पंक्ति हाथियों की पंक्ति से दायें और बायें दोनों ओर बढ़ी हुई थी। दोनों ओर घुड़सवारों की सेना थी और उनके सामने रथ की सेना थी। पूरी सेना के आगे कृष्ण या इन्द्र की मूर्ति ऊँची प्रतिष्ठित की गई थी।

मध्य-एशिया के १००० घुड़सवार धनुर्धरों ने सर्वप्रथम आक्रमण किया। घुड़सवारों का युद्ध दोनों ओर से महत्त्वपूर्ण था। भारतीय घुड़सवारों के तितर-बितर हो जाने पर पैदल सेना संभ्रम में पड़ी। भारतीय हाथियों से पौरव सेना को लाभ के स्थान पर हानि हुई। सिकन्दर की पैदल सेना ने भगदड़ मची हुई भारतीय सेना का निर्दयता से वध किया। पौरव अन्त तक लड़ता रहा, जब तक भारतीय सेना की ओर से कोई भी सैनिक युद्धभूमि में अपनी वीरता का प्रदर्शन करता रहा। निराश होने पर वह लौट पड़ा। सिकन्दर के सन्देश भेजने पर वह रुका और विजेता के पास पहुँचा। सिकन्दर उससे प्रेम से मिला। उसने पौरव को पदच्युत नहीं किया। पर उसे अपने राज्य को सिकन्दर के साम्राज्य का अंग स्वीकार करना पड़ा। उसने इस अवसर पर और भविष्य में भी पौरव के राज्य में अन्य राज्यों को जोड़ा। पौरव की समस्या का समाधान कर लेने पर सिकन्दर पूर्व की ओर आगे बढ़ा। उसे रावी नदी के पूर्व क्षत्रिय नामक जाति का सामना करना पड़ा। सिकन्दर अब अकेला नहीं था। जिन क्षत्रियों ने पौरव और अभिसार की सम्मिलित शक्ति के छक्के छुड़ाये थे, उसे एक बार सिकन्दर और पौरव की शक्ति से भिड़ना पड़ा। इस युद्ध में दुर्ग की रक्षा करने वाले १७,००० से अधिक सैनिक मारे गये और ७०,००० से अधिक बन्दी बने। पौरव को उसका राज्य मिल गया। सिकन्दर भारत में व्यास नदी तक बढ़ आया।

सिकन्दर और आगे बढ़ना चाहता था। उसकी सेना ने आगे बढ़ना अस्वीकार किया। बस, सिकन्दर को लौटना ही पड़ा। झेलम नदी से नावों में बैठकर वह सिन्ध नदी के संगम की ओर चला। चेनाब और रावी के बीच में प्रतिष्ठित स्वतन्त्र जातियों के एक संघ ने सिकन्दर का सामना किया। इस संघ का संचालक मालव-गण था। इनके किसी नगर पर आक्रमण करते हुए सिकन्दर बहुत अधिक घायल हुआ। उसकी सेना मालवों के भयंकर युद्ध से प्रायः हतोत्साह हो चुकी थी। चेनाब और सिन्ध के संगम से होकर सिन्धु के मुहाने तक पहुँचने के मार्ग में सिकन्दर को मूषिक से लड़ना पड़ा। मूषिक के एक पड़ोसी शत्रु शम्भु सिकन्दर से पहले से ही सन्धि करके किसी पर्वतीय प्रदेश का सत्रप बन चुका था। मूषिक अभी युद्ध के लिए प्रस्तुत भी न हो सका था, तभी सिकन्दर वहाँ आक्रमण करने के लिए पहुँच गया।

मूषिक को कहाँ आशा थी कि सिकन्दर इतना शीघ्र आ धमकेगा। इस प्रदेश में ब्राह्मण-धर्म का विशेष प्रभुत्व था। उन्होंने अपने शासकों की पराधीन होने की वृत्ति की निन्दा की। परिणामतः यवनों का विरोध करने के लिए नयी स्फूर्ति और उत्साह के साथ कुछ राजाओं ने सिकन्दर का विरोध किया। वे परास्त हुए। सिकन्दर जानता था कि इस विद्रोह की जड़ ब्राह्मणों के किसी नगर में है। उसने उस नगर पर आक्रमण करके उन सब को मार डाला और उनके शवों को सड़कों के किनारे चील और गिद्धों के खाने के लिए पेड़ों पर लटका दिया गया।

इन ब्राह्मणों की प्रशस्ति में ई० आर० बेवन का कहना है—

But the Europeans in this region had more implacable enemies than the native princes. The power behind the throne was the Brahman community, and here for the first time, we come upon an opposition inspired by the conception of a national religion, the only germ to be found in ancient times of the idea of nationality. It was the 'Philosophers' (i. e., the Brahmans) who denounced the princes, if they submitted to the foreigner, and goaded the free, tribes into revolt. A 'city of Brahmans' had to be stormed whilst the operations against Sambus were going on.[1]

मौर्यकालीन सेना और युद्ध

मौर्यकालीन सेना में हाथियों का महत्त्व था। उन हाथियों का उपयोग केवल भारत में ही नहीं; अपितु भारत से बाहर के देशों में भी विजयश्री हस्तगत करने के लिए हुआ।[२] चन्द्रगुप्त की सेना में ९,००० हाथी थे। उसने ५००

---

1. The Cambridge History of India. Vol. I, P. 378. सिकन्दर के युद्धों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए वही, पृ० ३४९–३७५।

२. चन्द्रगुप्त ने जो हाथी सेल्यूकस को उपहार-स्वरूप दिये थे, उनके विषय में प्रो० मैक्स डंकर ने कहा है—इन्हीं हाथियों ने आगे चल कर एण्टोगोनस के विरुद्ध फ्रांजिया में इस्पस स्थान पर सेल्यूकस को विजय प्राप्त कराई। Hindu Superiority, P. 297.

मेगस्थनीज ने हाथियों के विषय में लिखा है—They are of great moment in turning the scale of victory. Ancient India, P. 30.

हाथी सेल्यूकस को प्रदान किये थे। उसकी सेना में छः लाख सैनिक थे। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना का शासन करने के लिए छः समितियां थीं। प्रत्येक समिति में ५ सदस्य होते थे। पहली समिति नौ-सेना के अध्यक्ष के सहयोग में काम करती थी। दूसरी समिति बैलगाड़ियों के अध्यक्ष के साथ काम करती थी। बैलगाड़ियों में उन दिनों युद्ध के यन्त्र, सैनिकों का भोजन, पशु-भोजन और युद्ध की अन्य सामग्रियाँ जाती थीं। यही समिति सेना के लिए आवश्यक श्रमिकों और यन्त्र-परिचालकों का प्रबन्ध करती थी। घंटा बजते ही घसियारे घास लाने के लिए निकल पड़ते थे। फुर्ती से अच्छा काम करने वालों को पारितोषिक मिलता था। जो ठीक काम नहीं करते थे, उन्हें दण्ड दिया जाता था। तीसरी से छठीं तक समितियाँ क्रमशः पैदल, घुड़सवार, रथ-सेना और हाथी-सेना का प्रबन्ध करती थीं। सैन्य-संबंधी पशुओं और अस्त्र-शस्त्रादि के लिए समुचित आगार बने हुए थे। प्रयाण मार्ग में बैल रथ खींचते थे, जिससे युद्ध के लिए रथी-घोड़े सुरक्षित और सशक्त रह सकते थे। सारथि के अतिरिक्त रथ पर दो योद्धा बैठते थे। हाथी पर महावत के अतिरिक्त तीन सैनिक आसीन होते थे।

मौर्यकालीन सेना के अस्त्र-शस्त्रों के विषय में एरियन ने लिखा है—पैदल सैनिक लगभग साढ़े तीन हाथ ऊँचा धनुष लेकर चलते हैं। धनुष को भूमि पर आधारित करके बायें पैर से तानकर प्रत्यंचा को दूर तक पीछे खींचकर वे तीर चलाते हैं। उनके तीर लगभग तीन हाथ लम्बे होते हैं। किसी धनुर्धर के तीर को ढाल, वर्म, कवच आदि कोई भी साधन विफल नहीं बना सकते हैं। उन सैनिकों के बायें हाथ में बैल के चमड़े का फलक होता है। फलक की ऊँचाई सैनिक की ऊँचाई के बराबर होती है और चौड़ाई लगभग एक हाथ। कुछ पैदल सैनिक धनुष-बाण के स्थान पर भाले लेते हैं, पर सभी सैनिक अनिवार्य रूप से तलवार रखते हैं। तलवार का फल पर्याप्त मात्रा में चौड़ा होता है। उसकी लम्बाई तीन हाथ से अधिक नहीं होती है। द्वन्द्व-युद्ध में तलवार को दोनों हाथों से पकड़कर घोर प्रहार किया जाता है। घुड़सवारों के पास दो प्रास (बर्छी) होते हैं। वे भी अपना बचाव छोटे चर्मफलक से करते हैं। घोड़े की पीठ पर साज नहीं होता।[1] युद्ध में गिरे हुए महावत को हाथी पुनः पीठ पर बैठा लेते हैं और युद्ध-भूमि से दूर सुरक्षित स्थान पर उसको ले जाते हैं। यदि स्वामी आगे की दो टाँगों के बीच शरण लेता तो हाथी उसकी रक्षा करने के लिए स्वयं लड़ता है और उसका

---

१. Arrian : Ancient India, पृ० २२५-२२६

प्राण बचा लेता है।[१] मौर्य राजाओं की नौसेना का उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है।[२]

मेगस्थनीज के अनुसार अन्य देशों में युद्धकाल में सारा राष्ट्र विनष्टप्राय हो जाता था, पर भारत में युद्ध के समय भी कृषक निर्विघ्न रहकर खेती करते जाते थे। चाहे उनके आसपास ही युद्ध क्यों न चल रहा हो, उन्हें कोई भय नहीं रहता था। शत्रु की भूमि को जलाना अथवा वृक्षों को काटना निषिद्ध था।[३]

मौर्य-वंशी राजाओं ने युद्धनीति अपनाकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। चन्द्रगुप्त और अशोक दोनों का युद्ध-पराक्रम उच्च कोटि का था। तेरह वर्ष तक युद्ध करते हुए अशोक के हृदय में युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न हुई, जब उसने कलिंग के युद्ध में देखा कि डेढ़ लाख मनुष्य बन्दी बनाये गये और एक लाख मारे गये। उसे पश्चात्ताप हुआ। इस पश्चात्ताप का कारण अशोक के शब्दों में इस प्रकार है—जब किसी अविजित देश को विजित बनाया जाता है तो लोगों का वध, मरण और बन्दी बनाया जाना स्वभावतः होता ही है। ऐसे लोगों में ब्राह्मण श्रमण, गृहस्थ आदि होते हैं, जिनका अपने माता-पिता, गुरुओं, परिचित लोगों और दास-भृत्यों के प्रति सद्व्यवहार होता है। ऐसे लोग क्या दण्ड के पात्र हैं? युद्ध सार्वजनिक विपत्ति के रूप में भयंकर परिणाम उत्पन्न करता है।[४] यह विचारधारा भारतीय संस्कृति में अपूर्व ही है। युद्ध की प्रशंसा करने वाले महाग्रन्थों की भारत में कभी कमी नहीं रही, पर युद्ध के दोष-द्रष्टाओं का प्रायः अभाव रहा है। कम

---

१. Arrian: Ancient India, P. 91.

२. Navy was under a special officer called the Superintendent of Navigation. This official was in turn controlled by the Admiralty Department. **मेगस्थनीज के उपर्युक्त लेख को** Strabo **ने इस प्रकार व्यक्त किया है**—One division of the army is also with the chief Naval Superintendent, etc. *Ray Chaudhary :* Political History of Ancient India, P. 312.

मेगस्थनीज के लेखानुसार कलिंग देश की सेना में ६०,००० पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हाथी थे। उसी समय आन्ध्र देश के राजा की सेना में एक लाख पैदल, दो सहस्र घुड़सवार और एक सहस्र हाथी थे। *Ray Chaudhary :* Political History of Ancient India, P. 312.

३. Ancient India, Pp. 31-32.

४. **अशोक के १३वें शिलालेख से।**

से कम राजाओं की तो साधारणतः यही धारणा रही है कि राजत्व का प्रतीक युद्ध है। पारस्परिक युद्ध के बिना राजा और राज्य की कल्पना यदि भारत कर सका होता तो सम्भवतः इस देश के राजाओं का पारस्परिक वैमनस्य क्षीण होता और परिणामतः वे मिल-जुलकर समग्र भारत को विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभाव से बचाने में समर्थ होते। नित्य लड़ते-लड़ते भारतीय राजा सदैव दुर्बल रहे। यद्ध-विरत होने पर भी अशोक ने बड़ी सेना अवश्य रखी थी। परिणामतः किसी पराजित राजा ने कभी सैन्य-शक्ति विहीन मानकर उसके विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं किया।

खारवेल के युद्ध

पहली या दूसरी शती ईसवी पूर्व में कलिंग का सम्राट् खारवेल महान् विजेता हुआ। उसने एक शिलालेख में अपने पराक्रमों का वर्णन करते हुए युद्धों का उल्लेख किया है। राज्याभिषिक्त होने के दूसरे वर्ष (२७ ई० पू० में) उसने पश्चिम दिशा में विजय करने के लिए सेना भेजी। चौथे वर्ष में रठिक और भोजकों को परास्त किया। आठवें वर्ष में गया के निकट गोरथगिरि में विजय प्राप्त की और राजगृह के राजा को परास्त किया। दसवें और बारहवें वर्ष में उसने उत्तर-भारत पर पुनः आक्रमण किया। इस प्रकार मगध, अंग आदि देशों को जीतने के पश्चात् पुनः दक्षिण भारत पर तमिल प्रदेश तक उसने धावा किया। इस युद्ध-परम्परा से तत्कालीन भारत में कितनी विपत्ति पड़ी होगी—इसकी कल्पना कर लेना आजकल बहुत कठिन नहीं है। खारवेल की सेना में पूर्ववत् रथ, हाथी, घोड़े और पैदल चार सेना के अंग थे।

शकयुगीन सेना और युद्ध

शकयुगीन भारत में सेना के सर्वोच्च पदाधिकारियोंके नाम महासेनापति दंडनायक और महादंडनायक मिलते हैं। ये सम्भवतः अर्थशास्त्र के सेनापति और नायक के समकक्ष होंगे। इनके अधीन सेना-गोप, गौल्मिक (टुकड़ी के नायक) रक्षाधिकृत (सेना के रक्षक), अश्ववारक (घुड़सवार) और भृत-मनुष्य (वेतन-भोगी सैनिक आदि) पदाधिकारी थे।[1] इस युग की सेना और युद्ध की कलात्मक रूप-रेखा का परिचय साँची के बड़े स्तूप के दक्षिण द्वार के निम्नतम बड़ेर के भीतरी पटल पर अंकित है। इसमें कुशीनगर के मल्लों के विरुद्ध तत्कालीन सात राजाओं

१. *Ray Chaudhary* : Political Hist. of Ancient India, P. 521.

के आक्रमण का दृश्य दिखलाया गया है। गौतम बुद्ध के भस्मावशेष की प्राप्ति युद्ध का उद्देश्य था। दृश्य के मध्य भाग में नगर का उपरोध तथा दाहिनी और बाईं ओर विजयी राजाओं का रथ और हाथी पर बैठकर प्रस्थान करना दिखाया गया है। हाथियों के सिर पर भस्मावशेष रखा है। इस दृश्य में युद्ध का समारम्भ, नगर की रक्षा का प्रयास, अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग तथा हाथियों का नागरायण आदि प्रदर्शित हैं। उपर्युक्त युद्ध में भाग लेने वाली सेना का प्रयाण दृश्य इस स्तूप के पश्चिम द्वार के बीच वाले बड़ेर पर अंकित है।

गुप्तकालीन सेना और युद्ध

गुप्तकालीन सेना का सर्वोच्च अध्यक्ष राजा होता था। गुप्त साम्राज्य की सेना में राजा के अधीन अनेक महासेनापति होते थे और महासेनापति के नीचे महादंडनायक होते थे। सेना-निवेश के विभिन्न स्थानों पर सेना के रहने और खाने-पीने की व्यवस्था करने वाला पदाधिकारी नियुक्त रहता था। रथ-सेना का इस युग में प्रचलन नहीं रहा। केवल पैदल, घुड़सवार और हाथी-सेना ही होती थीं। घुड़सवार-सेना के लिए अश्वपति तथा महाश्वपति और हाथी-सेना के लिए पीलुपति और महापीलुपति पदाधिकारी होते थे। बंगाल के राजा के पास नौसेना भी थी।[1]

प्रयाग के समुद्रगुप्त के शिलालेख के अनुसार इस युग में परशु, शंकु, शर, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, वैतसिक आदि अस्त्र-शस्त्र युद्धोपयोगी थे। इस युग के कुछ अस्त्र-शस्त्रों के चित्र अजन्ता की सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं में मिलते हैं। सत्रहवीं गुफा में कुछ घुड़सवार सैनिक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर नाव में बैठकर नदी पार करते हुए दिखाये गये हैं।

उपर्युक्त युग के दिग्विजय-सम्बन्धी पराक्रम का काव्यात्मक परिचय कालिदास के रघु-दिग्विजय-प्रकरण में मिलता है। इसके अनुसार अपने राज्य और राजधानी को सुरक्षित बनाकर शरद् ऋतु में रघु ने दिग्विजय का समारम्भ किया। दिग्विजय के पहले घोड़ों की नीराजना-विधि सम्पादित की गई। इस विधि में अग्नि में भलीभाँति हवन किया गया। छः प्रकार की सेनायें लेकर विजेता ने प्रस्थान किया। पुर की वृद्धा स्त्रियों ने उसके ऊपर लावा बिखेर कर मंगलाचार किया। उसने दिग्विजय का आरम्भ पूर्व से किया।[2] पूर्व दिशा समुद्र तक पहुँचती थी। सेना के

---

१. रघुवंश ४.३६।

२. धार्मिक दृष्टिकोण से दिग्विजय का आरम्भ पूर्व से होना चाहिए था। लोगों का विश्वास था कि उत्तर का म्लेच्छों से संपर्क है। पश्चिम में सूर्य अस्त

प्रयाण के समय बहुत अधिक धूल उड़ती थी। दिग्विजय की प्रक्रिया में केवल कुछ ही राजा लड़ने के लिए समुद्यत होते थे, अन्यथा वे कर या उपहार देकर विजेता की अधीनता स्वीकार करके उससे छुटकारा लेते थे। बंगाल का राजा नौसेना लेकर विजेता के सामने लड़ने आया और परास्त हुआ। विजेता ने जय-स्तम्भ गाड़कर इस विजय का स्मारक बनाया, पर राजा को पदच्युत नहीं किया। उसने बहुत अधिक धन विजेता को दिया। नदी पार करने के लिए हाथियों का सेतु बना लिया जाता था। बंगाल से विजेता कलिंग में आया। वहां के राजा ने हस्ति-सैन्य से उसका सामना किया, पर अन्त में पराजित हुआ। सैनिकों ने वहाँ पान के पत्तों से आपान-भूमि की रचना करके नारिकेलासव का पान किया। धर्म-युद्ध करने वाले विजेता ने वहां भी राजा को पदच्युत नहीं किया। विजेता ने समुद्र-तट का मार्ग लेकर वहाँ से कावेरी नदी के संगम तक प्रस्थान किया और मलयाचल की उपत्यका में पहुँचा। युद्ध के बिना ही पाण्ड्य-देश के राजाओं ने विजेता की अधीनता स्वीकार की और उसे उत्तम मोती उपहार-स्वरूप समर्पित किये। मलय और दर्दुर-पर्वत पर सेना-सन्निवेश हुआ। वहाँ से विजेता पश्चिम देशों की ओर आया और राजाओं ने उसे कर दिया। इस प्रदेश से सिन्धु तट तक पहुँचने में बीच में पारसी राजाओं से मुठभेड़ हुई और पाश्चात्य घुड़सवारों के साथ घनघोर युद्ध हुआ। परास्त होने पर पारसी योद्धाओं ने अपना शिरस्त्राण रघु के चरणों में रख दिया। विजय पाने वाले सैनिकों ने विजय-श्रम को मधुपान से दूर किया। सिन्धु-नदी के तट पर हूण राजाओं से युद्ध करना पड़ा। हूण हारे और कम्बोज देश की सेना परास्त हुई। वहाँ से विजेता ने हिमालय की ओर प्रयाण किया। पर्वतीय राजाओं की सेनाओं से विजेता को घनघोर लड़ाई करनी पड़ी। वहाँ राजाओं ने हिमालय से निकलने वाले बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। अन्त में विजेता आसाम की ओर बढ़ा और वहाँ प्राग्ज्योतिष और कामरूप के राजाओं ने उसके समक्ष विनयावनत होकर हाथी और रत्न का उपहार दिया। विजेता फिर अपनी राजधानी में लौट आया और विश्वजित् यज्ञ करके सारी सम्पत्ति दान दे डाली। यज्ञ के अवसर पर अधीन राजा विजेता के साथ आये थे। वे यज्ञ समाप्त हो जाने पर अपनी राजधानियों को लौट गये।[1]

होता है। दक्षिण यम की दिशा है और उसमें राक्षस रहते हैं। पूर्व में सूर्य का उदय होता है। इन्द्र उसका अधिष्ठाता है। गंगा पूर्व में बहती है। इसीलिए पूर्व दिशा प्रशस्त है। कथासरित्सागर ३.४.५७–६०।

१. रघुवंश के चौथे सर्ग से।

हर्षयुगीन सेना और युद्ध

राजा अपनी सर्वोच्चता का परिचय देने मात्र के लिए भी नर-संहारकारी दिग्विजय का आयोजन करते थे। महाराज हर्ष ने घोषणा निकाली कि उदयाचल, सुवेल, अस्ताचल और गन्धमादन पर्वत तक के राजा कर दें या युद्ध के लिए तैयार हो जायें। यही दिग्विजय के विषय में शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण है। इनके अतिरिक्त इस युग में आनुषंगिक लाभ भी दिग्विजय में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उन्नतों को नीचा करना, नम्र को उन्नत बनाना, लम्पटों को निर्मूल करना, कण्टकों को उखाड़ना, राजकुमारों का अभिषेक करना, रत्न अर्जित करना, उपायन ग्रहण करना, देश-व्यवस्था के लिए आदेश देना, अपने चिह्न की स्थापना करना, कीर्तन करना, शासन लिखवाना, ब्राह्मणों की पूजा करना, मुनियों को प्रणाम करना, आश्रमों का पालन करना, प्रजा में अनुराग उत्पन्न करना, विक्रम का प्रकाश करना, प्रताप का आरोपण करना, यश कमाना, गुणों का विस्तार करना, सच्चरित को प्रख्यात करना आदि दिग्विजय के गौण रूप से प्रयोजन माने जाते थे।[१]

तत्कालीन धारणा के अनुसार किसी युवराज के राजा होते ही प्रतापारोपण का युग आरम्भ होता था। प्रतापारोपण का एकमात्र साधन था दिग्विजय। विधान था कि अपने पिता के जीते हुए देशों को नया राजा पुनः जीते। प्रतापारोपण से राजा सिद्धादेश हो सकता था।[२] दिग्विजय में विजेता को कहीं-कहीं ताम्बूल-करंकवाहिनी मिल जाती थी।[३]

दिग्विजय का समारम्भ उत्सवपूर्ण हुआ करता था। सेना के साथ भोगा-विलास की सभी सामग्रियाँ चलती थीं। कुलपुत्रों और सामन्तों के कुटुम्ब भी उनके साथ चलते थे।[४] हर्षचरित में दिये हुए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि हर्ष की सेन

---

१. कादम्बरी पृ० ११८–११९ से।

२. कादम्बरी, पृ० १०९।

३. युद्ध में विजेता को जो राजकन्या मिलती थी, उसका कभी-कभी पुत्री की भाँति पालन-पोषण होता था और उसे ताम्बूल-करंकवाहिनी का पद दे दिया जाता था। निश्चय ही यह पद राजघराने में बहुत ऊँचा था। करंकवाहिनी दिग्विजय में राजाओं के साथ-साथ हाथी पर बैठती थी। कादम्बरी, पृ० १०१–११२।

४. इसी युग के महाकवि माघ के अनुसार सेना के साथ राजदाराएँ, नायिकाएँ, वेश्याएँ, मदिराघट तथा बनियों की दूकानें होती थीं। सेना, मार्ग में सन्निवेश के समय पुष्पावचय, वन-विहार, जलक्रीड़ा, गोष्ठी, मधु-पान, प्रणयालाप, शृंगारिक विनोदों आदि के द्वारा मनोरंजन करती थी। देखिए शिशुपाल वध, सर्ग ५ से १०

के प्रबन्ध में सुव्यवस्था का अभाव था। भले ही गिने-चुने हुए उच्च अधिकारियों को अच्छा भोजन-वस्त्र आदि यथासमय मिल जाता हो, पर साधारण लोगों को खाने-पीने की अतिशय कठिनाइयाँ रहती थीं। ऐसे लोग कृषकों के खेतों में लूट मचाते चलते थे और गाँवों को अपनी लूटपाट से नष्ट कर देते थे। मार्ग में किसानों की कुटियाँ पड़ती थीं। उन्हें गिरा दिया जाता था। प्रजा ऐसे सैन्य-प्रयाण से पीड़ित होकर राजा की निन्दा करती थी। सेना में सैनिकों, सवारियों, स्त्रियों और परिचारकों के अतिरिक्त धूर्त, चोर और मनचले लोगों का जमघट भी रहता था।

हर्षकालीन सेना में हाथियों का अतिशय महत्त्व था। उनके शरीर को कवच से सुरक्षित किया जाता था और दाँतों में लोहे के प्रखर काँटे लगा दिये जाते थे। सेनापति हाथी पर बैठता था। उसके दोनों ओर एक-एक रक्षक सैनिक बैठते थे। पैदल सैनिक महान् योद्धा होते थे। उनके पास बड़ी ढाल और लम्बे भाले होते थे। पैदल सैनिक शत्रु सेना पर टूट पड़ते थे। पैदल सैनिकों को विभिन्न प्रकार के युद्धों में प्रवीणता प्राप्त कराने के लिए अनेक वर्षों तक अभ्यास कराया जाता था।[१]

हर्ष के सिंहासन पर बैठते समय उसकी सेना में ५००० हाथी, २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल थे। ह्वेनसाँग की यात्रा के समय तक घुड़सवारों की संख्या १,००,००० और हाथियों की संख्या ६०,००० तक पहुँच चुकी थी।[२] हर्ष के पास ऊँट-सेना भी थी।[३] तत्कालीन सेना में प्रयाण के समय रथ जाते थे, पर संभवतः रथों में बैठकर युद्ध करने का प्रचलन कम था। इस सेना से हर्ष ने लगभग छः वर्षों में समग्र उत्तर भारत पर विजय प्राप्त की।

काश्मीर-युद्ध

कल्हण ने राजतरंगिणी में दिग्विजय से लेकर छोटे युद्धों तक का वर्णन किया है। वहाँ के लोगों को युद्ध का चाव था। दिग्विजय को प्रजा के लिए स्पृहणीय

तक। नवीं शती में रचित जिनसेनाचार्य के महापुराण के अनुसार भी दिग्विजय की सेना के साथ अन्तःपुर की स्त्रियाँ और वेश्याएँ चलती थीं। २७.८७, ११८, ११९।

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७१ से।

२. वही, भाग १, पृ० ३४३।

३. माघ ने भी सेना के ऊँटों का उल्लेख शिशुपाल वध में किया है। शिशुपालवध ५.५।

माना गया था।[१] युद्ध में सेना के अतिरिक्त किसान और ब्राह्मण भी भाग लेते थे।[२] फिर भी ग्रामीण जनता युद्ध के भार से कराह उठती थी।[३] युद्ध में सफलता पाने के लिए पत्थर के टुकड़ों से लेकर यन्त्र तक को सहायता ली जाती थी।[४] धोखा-धड़ी का व्यापार युद्ध के अवसर पर अच्छा चलता था। सिकतासिन्धु के पार्श्ववर्ती राजा के एक सचिव ने अपनी नाक स्वयं काट डाली और ललितादित्य से कहा कि हमारे राजा ने आपके साथ सन्धि करने का हमारा प्रस्ताव सुन कर हमारी यह दुर्गति की है। वह ललितादित्य की सेना को मार्ग बिताते हुए ले जा रहा था। उसने अन्त में सेना को मरुभूमि में फँसा कर बताया कि स्वामी की भलाई करने के लिए हमने यह चाल चली थी।[५]

परवर्ती युग में भी पूर्ववत् युद्धों का आयोजन प्रायः होता रहा । इन युद्धों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—भारतीय राजाओं के पारस्परिक युद्ध, विदेशी राजाओं के भारत पर आक्रमण-सम्बन्धी युद्ध और भारतीय राजाओं का विदेशों को जीतने में युद्ध। इनमें से प्रथम वर्ग के युद्धों की संख्या अगणित रही है, जिनके परिणाम-स्वरूप भारत शताब्दियों तक जर्जर रहा है। इस कोटि के युद्धों का क्रम पड़ोसी राजाओं के बीच परम्परागत चलता रहता था। भारतीय राजाओं को मानो पड़ोसी राजाओं से लड़ने का जन्मसिद्ध अधिकार मिला था। आश्चर्य इस बात का है कि भारतीय धर्मशास्त्रों ने राजाओं की इस योधनशील प्रवृत्ति पर रोक नहीं लगाई। जैन राजा भी पारस्परिक युद्ध की हिंसा को हिंसा न मानकर प्रायः लड़ने-भिड़ने में ही राजत्व की सफलता मानते थे । पारस्परिक युद्धों की भीषणता का परिचय केवल इसी उदाहरण से मिल सकता है कि दसवीं शताब्दी में राजराज चोल ने ९ लाख सैनिकों की सेना लेकर चालुक्यवंशी राजा सत्याश्रय पर आक्रमण किया। इतनी बड़ी सेना विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध करने में कभी नहीं जुटी।[६]

विदेशी राजाओं के भारत पर आक्रमण करने की दृष्टि से यह युग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती युग में भी विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये और लूट-

---

१. राजत० ३.२८।
२. राजत० ८.२५१८।
३. राजत० ८.२५१३।
४. राजत० ८.२५३०; २५५८।
५. राजत० ४.२७७–२९३।
६. *Majumdar* : Ancient India, P. 394.

मार कर या तो चलते बने अथवा भारतीय रहन-सहन अपनाकर शासन करते हुए इस देश में मानो घुल-मिल गये। इन सभी प्रकार के आक्रमणकारियों का सामना आरम्भ में प्रायः पश्चिमोत्तर प्रदेश के राजाओं ने किया और यदि आक्रमणकारी सफल होकर आगे बढ़े तो प्रायः व्यक्तिशः ही राजाओं ने उनसे मोरचा लिया। भारत के सभी राजाओं ने विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध कभी अपना संघटन नहीं किया, अपितु कुछ राजाओं ने तो अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले विदेशी राजाओं की सहायता की। केवल अपवाद स्वरूप कुछ राजाओं के ऐसे प्रयत्न हुए, जिनके द्वारा उनकी संगठित शक्ति ने विदेशियों के छक्के छुड़ाये हों। उपर्युक्त परिस्थिति भारत की राजनीतिक प्रगति के लिए सर्वथा घातक सिद्ध हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय राजाओं ने वीरतापूर्वक विदेशियों का सामना किया पर विजयश्री प्रायः विदेशियों के हाथ रहती थी।

भारतीय राजाओं के पारस्परिक शात्रव के अतिरिक्त उनकी पराजय का एक और महत्त्वपूर्ण कारण था—भारत में युद्धविज्ञान का ह्रास। महाभारत और अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि उस युग में भारतीय युद्ध-कला अतिशय विकसित हो चुकी थी। परवर्ती युग में उस कला के विकास की कोई चर्चा नहीं मिलती, मानो वह लुप्त ही हो गई। भारतीय राजाओं और सैनिकों की विलासिता भी असीम थी। विजेता के जीवन में जिस दृढ़ संयम और चरित्र की आवश्यकता होती है, उसका भारतीय वीरों में प्रायः अभाव रहा।

इस्लामी आक्रमण

अरबों का भारत पर आक्रमण आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से होने लगा। लंका के राजा ने ७१२ ई० शती के लगभग ईराक की कुछ मुसलमान महिलाओं को उनके देश भेजा क्योंकि उनके संरक्षक, जो लंका में व्यापार करते थे, मर गये थे। उनकी नाव पर सिन्ध के समुद्रतट पर कुछ लुटेरों ने आक्रमण किया और उन महिलाओं को छीन लिया। ईराक के गवर्नर ने उनको मुक्त करने के लिए सिन्ध के राजा दाहर के पास सन्देश भेजा। दाहर ने उत्तर दिया कि मेरा कोई वश इन लुटेरों पर नहीं है। ईराक के गवर्नर ने इस आधार पर खलीफा से सिन्ध पर आक्रमण करने की अनुमति प्राप्त कर ली और ओबैदुल्लाह को आक्रमण करने के लिए भेजा। उसकी पराजय हुई और वह मारा गया। दूसरी बार बुदैल की अध्यक्षता में ईराक के गवंनर ने आक्रमण करवाया। बुदैल हारा और मारा गया। तीसरी बार मुहम्मद-इब्न कासिम सीरिया के ६००० सैनिकों के साथ पूरी तैयारी करके सिन्ध पर चढ़ आया। दाहर इस युद्ध-कुशल सेना को हराने में असमर्थ

रहा। बौद्ध मतानुयायियों ने विदेशियों का साथ दिया। कासिम ने देवाल, नेरुन और सिविस्तान, पर विजय प्राप्त कर ली। दाहर राओर के दुर्ग पर कासिम से लड़ाई करने लगा। दाहर को विजय-श्री मिलने ही वाली थी कि उसके हाथी को चोट लगी और वह युद्धभूमि से भाग चला। राजा का एक बार अदृश्य होना था कि उसकी सेना तितर-बितर हो गई। यद्यपि राजा कुछ देर में लौट आया पर उसकी सेना पुनः संघटित न हो सकी। दाहर वीरता से लड़ा और युद्धभूमि में मारा गया।

दाहर की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा रानी ने सेना का पुनः संघटन किया और दुर्ग के भीतर से लड़ने लगी। एक समय आया, जब भोजन-सामग्री समाप्त हो गई। दुर्ग की सभी स्त्रियों ने जौहर में अपने प्राण त्याग दिये और पुरुषों ने दुर्गद्वार खोलकर हाथ में तलवार लेकर शत्रुओं पर आक्रमण किया और युद्ध करते हुए सभी मर गये।

दाहर के पुत्र जयसिंह ने बहमनाबाद और आलोर के दुर्गों को सुसज्जित किया और वहाँ जाकर शत्रुओं को परास्त करने का प्रयत्न करने लगा। कासिम ने वहाँ भी आक्रमण किया। प्रतिदिन दुर्ग के बाहर निकलकर प्रातःकाल से लेकर सन्ध्या के समय तक भारतीय वीर युद्ध करते थे। इस प्रकार छः मास तक युद्ध हुआ। यहाँ भी कुछ नागरिकों ने आक्रमणकारियों को दुर्ग में पहुँचने का भेद सुझाया और अन्त में कासिम की विजय हुई। आलोर के दुर्ग का रक्षक दाहर का दूसरा पुत्र फोफी था। आलोर पर कासिम ने आक्रमण किया और नागरिकों के भेदिये बन जाने पर फोफी को पीछे हटना पड़ा। वहाँ से कासिम ने मुल्तान पर आक्रमण किया और दो मास तक नगर पर घेरा डाले रहा। अन्त में एक भेदिये के शत्रु से मिल जाने पर नगर को पानी मिलना ही बन्द हो गया। इस प्रकार मुल्तान कासिम के हाथ में आया। कुछ ही दिनों के पश्चात् कासिम को नये खलीफा के आदेशानुसार लौट जाना पड़ा।

यह मुसलमानों का भारत पर पहला सफल आक्रमण था। जिस प्रकार के युद्ध और जय-पराजय की गाथा इस आक्रमण में मिलती है, उसकी बहुत कुछ पुनरावृत्ति मुसलमानों के परवर्ती आक्रमणों में भी मिलती है। प्रारम्भ में जब कभी किसी महान् भारतीय विजेता से मुसलमान लड़े, उनकी हार हुई। आठवीं शती के पूर्वार्ध में अवन्ति के राजा प्रतिहारवंशी नागभट ने कच्छ, काठियावाड़, उत्तरी गुजरात और दक्षिणी राजपूताने को जीतने वाले मुसलमानों को पराजित किया। मुसलमानों को भारतीय सेना की वीरता का परिचय मिल चुका था। वे ऐसे समय की प्रतीक्षा करते थे, जब भारत में कोई महान् शक्ति उनका सामना करने के लिए नहीं रह जाती थी।

गजनी से सुबुक्तगीन ने ९९१ ई० में भारत पर आक्रमण करने का आयोजन किया। इस बार जयपाल ने भारत के राजाओं से निवेदन किया कि विदेशियों के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए संघ बनाया जाय। कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा को संघ का नेता बनाया गया। चाहमान और चन्देल राजा भी इस संघ में सम्मिलित हुए। अफगानिस्तान में कुर्रम नदी के तट पर इस संघ ने सुबुक्तगीन से मोर्चा लिया। घमासान युद्ध हुआ। भारतीय वीर अन्त तक लड़ते रहे पर पराजित हुए। सुबक्तगीन के पश्चात् उसका लड़का, महमूद गजनी का राजा हुआ।

महमूद ने अपने पराक्रम से सिन्ध से फारस तक साम्राज्य स्थापित किया था। अपने पिता की भाँति वह भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रस्तुत होकर दस सहस्र घुड़सवार सैनिकों के साथ चढ़ आया। महमूद की आक्रमणकारी नीति के दो प्रधान उद्देश्य थे––विजय द्वारा अधिकाधिक लूट करके गजनी को समृद्धिशाली बनाना और मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़-फोड़ कर भा तीय धर्म को आघात पहुँचाना। महमूद के आक्रमण करने पर सर्वप्रथम जयपाल ने उसका सामना किया। वह परास्त हुआ और कुछ दिनों तक महमूद के अधीन रहकर पराधीनता की लज्जास्पद अनुभूति को सहन करने में असमर्थ होकर स्वयं चिता बनाकर जल मरा। जयपाल के पश्चात् उसके पुत्र आनन्दपाल ने पश्चिमी और मध्यभारत के राजाओं का संघ बनाकर महमूद से मोर्चा लिया। इस पराक्रम में कन्नौज के राजा राज्यपाल और चन्देल राजा भी सम्मिलित हुए। भारत ने इस युद्ध का महत्त्व ठीक समझा था। अनेक प्रान्तों से अधिकाधिक सेना आकर विदेशी आक्रमणकारी को रोकने के लिए आगे बढ़ती गई। कुछ दूरस्थ भारतीय महिलाओं ने देश की रक्षा के लिए अपने हीरे-मोती को तथा सोने के आभरणों को गलाकर आवश्यक धन इकट्ठा किया और वहाँ भेजा। यह उनकी देशभक्ति का अप्रतिम प्रतीक है। संघ की सेना तत्कालीन महमूद के राज्य में पेशावर तक पहुँची। महमूद ने इस संघ की सम्मिलित शक्ति का निर्भय होकर सामना किया। प्रारम्भ में महमूद के तीन-चार सहस्र सैनिक मारे गये। फिर भी युद्धभूमि में उसकी सेना समुचित अनुशासन के साथ डटी रही। इधर भारतीय सेना में अनुशासन की कमी थी। दुर्भाग्यवश भारतीय सेना का सेनापति जिस हाथी पर बैठा था, वह डर कर भाग चला और भारतीय सेना में भगदड़ मची। महमूद विजयी हुआ। उसने तत्काल ही नगरकोट को लूटा और उसे ७ लाख स्वर्ण दीनार, ७०० मन सोने और चाँदी की पट्टिकायें, २०० मन शुद्ध सोने की ईंट, २००० मन चाँदी और २० मन हीरे, मोती और मणि लूट में मिले।

महमूद ने भारत पर १७ बार आक्रमण किया। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण कन्नौज और सोमनाथ पर हुआ। कन्नौज के राजा राज्यपाल ने अपने राज्य की सीमा पर महमूद को रोकने का प्रयास किया, पर असफल रहा। परिणामतः कन्नौज सदा के लिए श्रीहीन हो गया।

सोमनाथ चालुक्य वंश के राज्य में था। चालुक्यवंशी राजा दुर्लभराज का उस समय भारत के अनेक राजाओं से झगड़ा था, क्योंकि चाहमान कुमारी के स्वयंवर में जब उसे सफलता मिली, उसी समय असफल राजाओं से उसकी तनातनी हो गई और दुर्लभ को उनसे लड़ना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में चालुक्य-शक्ति अतिशय क्षीण हो चुकी थी। महमूद के सोमनाथ पर आक्रमण के समय भीमदेव राजा था। वह महमूद के आक्रमण का समाचार पाकर कच्छ प्रदेश में भाग गया। महमूद ने पहले अणहिल-पाटन पर विजय प्राप्त की और फिर सोमनाथ पहुँचा। मन्दिर के सरंक्षकों ने तीन दिन तक नगर को महमूद के आक्रमणों से सुरक्षित रखा। सोमनाथ की रक्षा करने में ५०,००० सैनिक मारे गये। महमूद ने अपनी मूर्तिभंजक उपाधि को सार्थक किया। सोमनाथ की लूट में महमूद को अतुलित धन मिला।

महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके वंशजों ने भारत पर आक्रमण करने की नीति पूर्ववत् रखी और ११वीं शती के मध्य काल तक उनके आक्रमण समय-समय पर होते रहे। इसी समय गजनी पर अलाउद्दीन का भयंकर आक्रमण हुआ। महमूद के राजवंश का अन्त हुआ। उसकी गजनी सात दिनों तक जलती रही। मुहम्मद गोरी ११७४ ई० में गजनी का शासक हुआ। उसने महमूद गजनवी की भाँति भारत पर आक्रमण करना पुनः प्रारम्भ किया, पर उसमें और महमूद में एक बड़ा अन्तर था। महमूद प्रधानतः लुटेरा था, पर मुहम्मद गोरी का प्रधान उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना था। उसने ११८६ ई० में पंजाब को महमूद के वंशज खुसरो से छीन लिया।

मुहम्मद पश्चिम भारत में मूलराज से हारा तो उसने पंजाब में अपना आक्रमण आरम्भ किया। इस प्रदेश में मुहम्मद का सबसे बड़ा शत्रु पृथ्वीराज था। तराई के युद्ध में पृथ्वीराज ने ११९१ ई० में मुहम्मद गोरी को पूर्णतः पराजित किया। पराजित गोरी हतोत्साह नहीं हुआ। उसने मध्य-एशिया से पर्वतीय सैनिकों की बड़ी सेना संगृहीत करके ११९२ ई० में पृथ्वीराज को पराजित किया। पृथ्वीराज की पराजय का कारण युद्ध-कौशल का सर्वथा अभाव था। फिर तो लगभग पूरे उत्तर भारत को इन विदेशियों की विजय-परिधि में आते देर न लगी।

उत्तर-भारतीय राजाओं की पराजय हुई और उनके राज्य मिट गये। तत्का-लीन भारत में विदेशी शासकों को हटाकर अपनी संस्कृति और धर्म के उन्नायक राजाओं की प्रतिष्ठा करने का जो उत्साह प्रजा में होना चाहिए था, उसका अभाव भारतीय इतिहास में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा का ध्यान ही इस दिशा में नहीं गया। वास्तव में राजा तो प्रजा के लिए होता है। एक राजा के मिटने पर अपने को स्वतन्त्र रखने के लिए दूसरे राजा की प्रतिष्ठा की योजना किसी भी सजीव राष्ट्र में स्वभावतः होनी चाहिए थी। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसका सारा दोष भारतीय साहित्य और तत्कालीन विचारकों के मत्थे मढ़ा जा सकता है। उनकी वाणी में जन-जागरण की प्रवृत्ति और शक्ति दोनों ही नहीं मिलती।

वैदेशिक विजय

भारतीय राजाओं का विदेशों को जीतने का प्रयत्न स्वल्प-मात्र ही रहा। भारत में ही परस्पर लड़ते रहने से राजाओं को अवकाश नहीं मिलता था और फिर भारत में किस बात की कमी थी कि इस देश की सीमा बनाने वाले पर्वतों या समुद्रों को पार करने का कष्ट किया जाता? सापेक्ष दृष्टि से सामुद्रिक प्रयाण सरल था। नावों से अरब सागर के द्वीप, लंका, बर्मा या पूर्वी द्वीप-समूह तक सरलता से सेना पहुँच सकती थी। बादामी के चालुक्य सम्राट मंगलेश ने रेवती-द्वीप को जीता था। पुलकेशी के वंशज विनयादित्य ने लंका को नौ-सेना से जीता था। चोलों ने नौ-सेना से लंका के अतिरिक्त अन्य देशों को भी जीता। परान्तक, सुन्दर चोल आदि राजाओं ने लंका पर आक्रमण किये। राजराज ने ९८५ ई० में लच्छद्वीप और मालद्वीप की विजय करने के लिए नौ-सेनायें भेजी थीं। राजराज के पुत्र राजेन्द्र की सेना पूर्वी द्वीप समूहों को जीतने के लिए भी गई थी और वहाँ सुमात्रा, मलय, बर्मा, स्याम की खाड़ी, निकोबार आदि प्रदेशों में राजेन्द्र ने विजय प्राप्त की। मलय अन्तरीप को पार करके राजेन्द्र की सेना ने शैलेन्द्र राजाओं के गढ़ कंडार को भी जीत लिया। इस प्रकार राजेन्द्र की विजय परिधि गंगा तट से लंका और जावा, सुमात्रा और मलय तक पहुँची। नौ-सेना की सर्वोच्च शक्ति का परिचय राजेन्द्र के पराक्रम से मिलता है। भारत में उच्च कोटि की अन्य नौ-सेनायें पाल, तामिल तथा शिलाहार राजाओं के पास थी। नौ-सेना की व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वल्प ज्ञान ही प्राप्त हो सका है।

युद्धप्रियता

तामिल साहित्य में युद्ध के लिए सैनिकों को प्रोत्साहित करने वाले ओजस्वी

उदाहरण और आदर्शों का बाहुल्य है। मातायें अपने पुत्रों को और स्त्रियाँ अपने पतियों को उपदेश देती थीं कि हमारे स्तन्य की सफलता और सौभाग्य का एकमात्र सूचक है तुम्हारा युद्ध में वीरता का प्रदर्शन । युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरगति पाना श्रेयस्कर है, पर युद्ध से पराङमुख होना उचित नहीं। जो वीर युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाता था और जिसके शौर्य से युद्ध में विजय प्राप्त होती थी, उसकी यशोगाथा को उनकी मातायें और स्त्रियाँ गाती थीं। किसी माता ने युद्ध में लड़ने वाले पुत्र के सम्बन्ध में कहा है कि यदि मैं सुनूंगी कि मेरा पुत्र डरकर युद्ध-भूमि से भाग आया है तो मैं अपने उन स्तनों को काट दूंगी, जिनसे उसको दूध पिलाकर शैशव में उसका पालन किया था। किसी दूसरी स्त्री ने कहा है—युद्ध भूमि में शिला की भाँति अचल हमारे पिता युद्ध करते हुए मारे गये, मेरे पति भी युद्ध करते हुए मरे, मेरे बड़े भाई ने शत्रु का सामना करते हुए प्राण-त्याग किया, मेरे पुत्र ने अपने पक्ष की सेना के तितर-बितर होने के समय भी निर्भीक होकर बाण का सन्धान किया और शत्रु-राजा को मार कर गिरा दिया। तामिल प्रदेश की रीति थी कि यदि कोई वीर घर पर मरने लगता तो उसे कुशासन पर लिटा कर तलवार से काट दिया जाता था। पुरोहित उस अवसर पर मन्त्रोच्चार करते रहते थे। लोगों का विश्वास था कि इस प्रकार की मृत्यु युद्ध में मरने के समान ही फल-प्रदायिनी है। युद्ध में मरने वाले वीरों के स्मारक बनाये जाते थे । इसके लिए उनकी मूर्ति बनाकर उनके नीचे उनकी चरितावली उत्कीर्ण की जाती थी। इस उत्कीर्ण लेख का नाम वीरक्कल था। उस पत्थर को पवित्र जल में धोकर धार्मिक विधि से मन्दिर में प्रतिष्ठित किया जाता था।

काव्यों में अनेक युद्धों के उदात्त वर्णन, वीर रस की सर्वोच्च प्रतिष्ठा, चित्रों और मूर्तियों में युद्धों के दृश्य, वीरों का सम्मान, वीरों की अमर कहानियों की समाज में प्रतिष्ठा आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि युद्ध को लोक-प्रिय बनाने के लिए समुचित वातावरण प्रस्तुत था।

युद्ध की लोक-प्रियता ही सिद्ध करती है कि युद्ध छिड़ने के लिए कोई बड़ा कारण होना आवश्यक नहीं था। तामिल प्रदेश में कावन्मरम् राजाओं के द्वारा सीमान्त पर विजय-वृक्ष लगाया जाता था। शत्रु-राजा यदि आकर उसे गिरा देता तो वह लड़ाई की सूचना मानी जाती थी। यदि शत्रु विजयी होता तो उस वृक्ष के तने का ढोल बनाकर अपनी विजय-घोषणा करता था। शत्रु को स्त्री मान कर उसकी मूर्ति बनवाकर मूर्ति के हाथ में दो गोले रख कर उसे द्वार पर लटका दिया जाता था। यदि कोई राजा इसको अशोभन मानकर रस्सी काट कर मूर्ति को गिरा देता था तो युद्ध आरम्भ हो जाता था।

अध्याय १५

न्याय-व्यवस्था

भारतीय न्याय-व्यवस्था का प्रथम परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक युग में सर्वोच्च न्याय-व्यवस्थापक या न्यायाधीश के रूप में वरुण प्रतिष्ठित हैं। वरुण दूरदर्शी हैं। उनकी सहस्र आँखें हैं। वे अपने प्रासाद में बैठे हुए सभी कर्मों का पर्यालोचन करते हैं। वरुण के चर उनके चारों ओर बैठते हैं। वे अखिल विश्व को देखते हैं। वरुण का प्रधान काम है प्रकृति के तत्त्वों का विधिवत् संचालन। वरुण धृतव्रत हैं। देव उनकी व्यवस्था को मानते हैं। वरुण सर्वत्र देखते हैं। चाहे कितना ही रहस्य क्यों न हो, वे मानव के सत् और असत् की परख करते हैं। कोई प्राणी उनके जाने बिना पलक भी नहीं मार सकता। वरुण की व्यवस्था को भंग करना पाप है। पापियों के प्रति वरुण की क्रोध-भावना है। पापियों को वरुण दण्ड देते हैं। वरुण पाश से पापियों को बन्धन में डालते हैं। जो मनस्ताप कर लेते हैं, उनके पाप को, वरुण क्षमादृष्टि से देखते हैं। जो भूल से पाप कर डालते हैं, उनको वरुण क्षमा करते हैं।

वरुण के उपर्युक्त वर्णन से तत्कालीन न्याय-प्रक्रिया के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि राजा स्वयं न्याय करता था। वह स्वयं ही देखा करता था कि राज्य में कौन दण्डनीय हैं। राजा के द्वारा नियुक्त चर विशेष रूप से प्रजा के कामों की पाप और पुण्यमयी प्रवृत्तियों को जानकर राजा को तत्संबंधी सूचना देते थे। सामाजिक व्यवस्था के लिये राजकीय नियम बने हुए थे। उन नियमों को तोड़ने पर दण्ड मिलता था। साधारण परिस्थितियों में अपराधियों के प्रति राजा क्रोध प्रकट करता था। उनको पाश से बाँधकर नियन्त्रित करना दण्ड का साधारण स्वरूप था। भूल से पाप करने वालों को अथवा अपराध के लिए मन में पछताने वालों को क्षमा कर देने की रीति थी।

तत्कालीन समाज में विविध प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड-व्यवस्था थी और साथ ही लोगों के परस्पर विवाद उपस्थित होने पर न्यायाधीश से न्याय प्राप्त करने की रीति प्रचलित रही। इन विधानों का स्वल्प-मात्र परिचय ही तत्कालीन साहित्य से प्राप्त होता है।

वैदिक काल में राजा के अतिरिक्त सभा भी न्याय करती थी।[1] संभव है, सभा के द्वारा नियुक्त उपसमिति न्याय-विभाग का काम विशेष रूप से करती हो। गाँवों में ग्राम्यवादी न्याय करते थे।[2] न्याय के लिए भूमि, खेल में धोखा-धड़ी, ऋण उगाहना, उत्तराधिकार, चोरी, आक्रमण और हत्या सम्बन्धी विषय आते थे। जुए में ऋणी होने पर दास बनने का दंड भोगना पड़ता था।[3]

न्याय की प्रक्रिया सरल थी। साक्षियों का महत्त्व कम था। शपथ लेकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने की रीति थी।[4] कभी-कभी नागरिक भी अपराधी को अपनी ओर से दंड दे सकते थे।[5] ऋण देने वाला ऋणी को द्रुपद नाम के खम्भे से बाँधकर उसे अथवा उसके सम्बन्धियों को शीघ्र ऋण चुकाने के लिए बाध्य कर सकता था। चोर भी बाँधे जाते थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार लोग हाथ पकड़कर चोर को न्यायाधीश के समीप लाते थे और कहते थे कि इसने चोरी की है। झटपट अग्नि को दहकाकर परशु को तपाया जाता था और अभियोगी को उसे हाथ में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था। यदि नहीं जलता था तो उसे छोड़ दिया जाता था।[6] लोगों की धारणा थी कि सत्यदेव ही उस व्यक्ति के सच्चे होने पर उसकी रक्षा करते हैं। हत्या के अभियोगों में १० गाय से १००० गाय और एक बैल का दंड हत्यारे को देना पड़ता था। इसका नाम वैरदेय था।[7] मध्यमशी संभवतः वादी और प्रतिवादी के बीच मध्यस्थता करता था।[8]

---

१. ऋग्वेद १०.७१.१०।

२. तैत्तिरीय संहिता ३.१३, काठक संहिता ११.४, मैत्रायणी संहिता २.२.१

३. ऋग्वेद १०.३४।

४. ऋग्वेद ७.१०४.१५ के अनुसार वसिष्ठ ने अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए कहा था कि यदि मैं यातुधान हूँ तो मर जाऊँ या जो मुझ पर दोष लगाता है, वही व्यर्थ दोष लगाने पर मर जाय।

५. तायु (चोर) को दण्ड क्या और कितना दिया जाय-यह निर्णय चौरकर्म की गम्भीरता पर अवलम्बित था। Vedic Index में तायु।

६. छान्दोग्य उ० ६.१६। अग्नि-परीक्षा का उल्लेख पंचविंश ब्राह्मण १४.४.६ में भी मिलता है।

७. वैदिक इण्डेक्स में वैर।

८. ऋग्वेद १०.९७.१२।

वैदिक कालीन न्याय-व्यवस्था कठोर कही जा सकती है। कौटुम्बिक परिधि से लेकर राजकीय परिधि तक सर्वत्र कठोर दंड का विधान था। ऋज्राश्व की आँखें उसके पिता ने केवल इसीलिए फोड़ दी थीं कि वह प्रजा की भेड़ों को मार डालता था। पुरोहित को मृत्यु-दंड दिया जाता था, यदि वह अपने राजा के प्रति विद्रोह करता था।[1] तैत्तिरीय संहिता में विविध अपराधों के लिए अलग-अलग दंडों का विधान मिलता है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अग्नि-परीक्षा आदि दिव्य उपायों से अपराधियों का परीक्षण होता था। अग्नि-परीक्षा से यदि सिद्ध होता था कि अभियुक्त ने चोरी की है तो उसे मार डाला जाता था।[3]

वैदिक धारणा के अनुसार दैवी विधान उन परिस्थितियों में न्याय का आयोजन करता है, जब साधारण विधि से अन्यायी को दंड देना कठिन या असम्भव हो। कुछ ऐसी परिस्थितियों का आकलन अथर्ववेद में इस प्रकार मिलता है—'इन्द्र उन सभी लोगों के हृदय में अग्निदाह उत्पन्न करता है, जो ब्राह्मण को मृदु मानकर उसे मार डालते हैं, जो देवताओं की निन्दा करते हैं अथवा अनुचित धन की कामना करते हैं। ऐसे व्यक्ति से पृथ्वी और आकाश घृणा करते हैं। एक सौ एक लोगों ने मिलकर किसी ब्राह्मण की सन्तान की हत्या कर डाली थी। पृथ्वी ने उन सबका बहिष्कार कर दिया। जो व्यक्ति ब्राह्मण की हिंसा करता है, वह पितृ-मार्ग से स्वर्ग नहीं पहुँच पाता। जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों की हिंसा होती है, उस राष्ट्र को विपत्तियाँ ग्रस लेती हैं। जो ब्राह्मण का धन छीनने की चेष्टा करता है, उससे वृक्ष कहते हैं—'मेरी छाया में मत आओ। सताये हुए ब्राह्मण के नेत्रों से जो जल गिरता है, उसे ही देवता तुम्हारे भाग में प्रदान करते हैं। तुम्हारे लिये जल नहीं बरसता।' समिति उसके अनुकूल नहीं रहती। उसके मित्र भी उसके वश में नहीं रहते। राजा और ब्राह्मण के बीच यदि न्याय करना होता तो उस युग में संभवतः कोई न्यायाधीश नहीं मिलता था। ऐसी स्थिति में राजा को दंड मिलेगा ही—यह उपर्युक्त दैवी विधान से ही सिद्ध हो सकता था। यदि न्याय का उद्देश्य देश में अनाचार की रोक-थाम करना है तो यह उद्देश्य उपर्युक्त विधानों से पूरा हो सकता था[4]

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८४।

२. तै० सं० २.६.११।

३. छान्दोग्य ६.१६।

४. अथर्ववेद ५.१८–१९ से।

वैदिक काल में कम से कम एक ऐसा प्रतिष्ठित वर्ग था, जो अपने मन में भी पाप को नहीं आने देना चाहता था। सोते हुए या जागते हुए किसी कारण वश यदि कोई दुष्कृत हो गया तो अग्नि देव से प्रार्थना की जाती थी कि पापमय संस्कार से मुक्त कर दे। मृषा आचरण से बचने की इच्छा इस वर्ग के मन में थी। जाने या अनजाने सभी पापों से छुटकारा पाने की उनकी हार्दिक कामना थी। लोग चाहते थे कि देवगण हमें पवित्र बनायें और पापी न रहने दें।[1] परवर्ती युग का अपराधी न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार करते हुए दिखाई देता है और अपने आप न्यायाधीश के समक्ष जाकर दंड की याचना करता है या धर्म-शास्त्रों में बतलाये हुए विधान के अनुसार अपने पाप या अपराध का प्रायश्चित्त कर डालता है। इन सभी प्रवृत्तियों का मूल वैदिक काल की यही उपर्युक्त विचार-धारा रही है कि मानव से पाप या अपराध यदि हो ही गये तो उनके प्रभाव को धो डालने के लिये राजदंड या प्रायश्चित्त आवश्यक हैं।

न्यायालय में सत्य की अतुलित महिमा रही होगी। वैदिक काल से सत्य के द्वारा मानव की शुद्धि का विधान रहा है। यदि कोई अपने अपराधों को स्वीकार कर लेता तो उसका पाप तत्कालीन धारणा के अनुसार मिटने सा लगता था।[2]

वेद-कालीन न्यायाधीश का नाम प्रश्नविवाक मिलता है। सम्भवतः सूत्र-युगीन प्राड्विवाक इसी के समकक्ष बना है। इन संस्थाओं से प्रकट होता है कि वैदिककाल में न्याय-व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से विकसित हो चली थी।[3]

महाभारतीय न्याय-व्यवस्था के अनुसार यदि ब्राह्मण के बताये पथ पर कोई नहीं चलता था, तो राजा उसे दंड देता था। इसके लिये उस योजना का सामंजस्य इस प्रकार प्रतीत होता है—दंडनीति चारों वर्णों को धर्म-पथ से च्युत न होने देने के लिये है। प्रजा के लिये धर्म-पथ का निदर्शन ब्राह्मणों को करना ही चाहिये था।

---

१. अथर्ववेद ६.११५।

२. शतपथ २.५.२.२०, वसिष्ठ २०.२९ के अनुसार कोई पाप स्वीकार किये जाने पर छोटा हो जाता है। मनु ने लिखा है कि स्वीकार कर लेने पर पापी पाप से मुक्त हो जाता है। यदि पापी का मन अपने आप उस पाप की निन्दा करता है, उसे मानसिक सन्ताप होने लगता है और वह पुनः वैसा पाप न करने की शपथ लेता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। मनुस्मृति ११.२२७–२३१।

३. प्रश्नविवाक के लिए देखिए—वाजसनेयि संहिता ३०.१०। प्राड्विवाक गौतम १३.२६.१७।

कहाँ प्रजा धर्म से च्युत हो रही है, यह ब्राह्मण ही बतला सकते थे और तभी राजा दंडनीति का प्रयोग कर सकता था।

तत्कालीन दंड का स्वरूप कोमल कहा जा सकता है। सिद्धान्ततः मृत्यु-दंड न देने की योजना थी क्योंकि भविष्य में अपराधी के सच्चरित्र और सुशील बनने की सम्भावना थी और किसी अपराधी से भी अच्छी सन्तति हो सकती थी। दंड चार प्रकार के थे—उद्वेजन (शारीरिक कष्ट), बन्धन, विरूपकरण और वध। यदि पापी किसी पुरोहित की शरण लेकर कहता—मैं पुनः पाप नहीं करूँगा तो उसे छुटकारा मिल जाता था। वानप्रस्थ और ब्राह्मण को भी अपराध करने पर राजदंड भोगना पड़ता था। प्रथम बार अपराधी को भले ही छुटकारा दे दिया जाता था, पर पुनः पुनः अपराध करने पर उसे घोर दण्ड दिया जाता था।[1]

महाभारत के अनुसार भारतीय दंड-व्यवस्था कालक्रम से कठोर होती गई। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि सर्वप्रथम अपराधी को धिक्कारना एक मात्र दंड था। फिर क्रमानुसार वाग्दंड, आदान-(आर्थिक) दंड, और वधदंड की व्यवस्था करनी पड़ी। राजा का कर्त्तव्य था कि वह स्वयं सुकृत करे, जिससे प्रजा भी उसका अनुवर्तन करते हुए सुकृत करे। जो स्वयं उचित न करके दूसरों को उचित करना सिखाता है, उसके ऊपर लोग हँसते हैं। ऐसी परिस्थिति में राजा के लिए नियम बनाया गया कि वह सर्वप्रथम अपना ही नियमन करे। अपने निकटतम बन्धुओं को भी राजा महान् दंड दे, यदि वे कभी अपराध करते हों। पाप करने वाले नीचों को यदि दण्ड नहीं मिलता तो पाप बढ़ता है और धर्म का ह्रास होता है।[2]

राजा का दंड-विधान सुनियन्त्रित था। यदि कोई राजा न्याय के क्षेत्र में स्वेच्छाचारिता से व्यवहार करता था, तो इस लोक में उसको अपयश और परलोक में नरक का भय होता था।[3] न्याय पद्धति में सबसे समान व्यवहार करने का नियम था।[4]

महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को न्याय के सम्बन्ध में इस प्रकार उपदेश दिया—कभी घूस लेकर अनुचित न्याय न करो, नहीं तो प्रजा तुम्हें छोड़ देगी। राजा को दीन-दुःखियों का ही पक्ष लेना चाहिये, उनके विरोधी धनिकों का नहीं।

---

१. शान्तिपर्व २५९ से।

२. वही २५९ से।

३. वही ८६.२३।

४. माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यःस्वधर्मेण तिष्ठति॥ शान्ति० १२१.५७॥

यदि अपराधी अपना अपराध नहीं स्वीकार करता तो साक्षियों की सहायता से न्याय करना चाहिए। अपराध के अनुकूल दंड देना चाहिए। धनिकों को अर्थदंड, निर्धन को कारागार और दुराचार करने वालों को प्रहार-दंड होना चाहिए। राजद्रोही, आग लगाने वाले, चोर और वर्णसंकरता करने वाले को मृत्यु-दंड देना चाहिए। मनमाने दंड देने से इस लोक में अपयश और परलोक में नरक मिलते हैं। अपराधी के स्थान पर किसी निरपराधी को दंड नहीं देना चाहिए।[1]

न्याय करने के लिए राजा ३७ अमात्यों में से कुछ को चुनकर नियुक्त करता था।[2] राजकुमार भी न्यायाधीश पद पर नियुक्त होता था। यह नियुक्ति धर्मासन की नियुक्ति कही जाती थी। धर्मासन को धर्म का मूल माना जाता था। तत्कालीन धार्मिक नियोजन के अनुसार यदि धर्मासन पर नियुक्त व्यक्ति उचित न्याय नहीं करता तो वह राजा के साथ नरक में जा गिरता है।[3]

राजा का कर्त्तव्य था कि चोरी गई हुई वस्तु को चोर से लेकर उसके स्वामी को दे डाले। यदि वह चोर का पता नहीं लगा पाता था तो स्वयं राजकोश से धन देकर चोरी की क्षति पूरी करता था। इस सम्बन्ध में देश के सभी राजकर्मचारियों को सतर्क रहना पड़ता था, क्योंकि कभी-कभी इनकी असावधानी सिद्ध होने पर उन्हें ही चोरी गई वस्तुओं का मूल्य चुकाना पड़ता था।

महाभारत-कालीन न्यायालय में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए मनोवैज्ञानिक योजना बनी थी। साक्षी के सच बोलने के लिए तत्कालीन धार्मिक नियोजन के अनुसार सबसे बड़ा कारण यही था कि साक्षी जानते हुए झूठ बोलने पर अपने सात पीढ़ी के पूर्वजों और अवरजों की हत्या करता है। यदि कोई साक्षी पूछने पर सत्य बात न कहे और चुप रहे तो उसे भी उपर्युक्त पाप लगता है।[4]

---

१. शान्तिपर्व ८६वें अध्याय से।

२. न्याय करने के लिए नियुक्ति पाने योग्य ३७ अमात्यों की गणना इस प्रकार की गई है—वेद जानने वाले, स्नातक और पवित्र चार ब्राह्मण, बली और शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धनी वैश्य २१, विनीत शूद्र तीन और आठ गुणों से युक्त एक पौराणिक। शान्तिपर्व ८६वें अध्याय से।

३. वही ८६वें अध्याय से।

४. पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानमानोऽप्यन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथापरान्॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानमानोऽपि न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः॥ आदिपर्व ७. ३–४॥

साक्षी की योग्यता की परख होती थी। सामुद्रिक, वणिक्, चोर, जुआरी, चिकित्सक, अरि, मित्र, कुशीलव आदि साक्षी नहीं बनाये जा सकते थे। तत्कालीन धार्मिक नियोजन के अनुसार असत्य निर्णय देने वाले को मानसिक कष्ट तो होता ही है, साथ ही शीघ्र उसे दुर्दिन का सामना करना पड़ता है। उस पर शत्रु राजा आक्रमण करता है। असत्य निर्णय से पूर्वजों का पतन होता है।

रामायण में महाभारत की भाँति न्याय के ऊँचे सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गई है। आलसी राजाओं को चेतावनी देने के लिए रामायण में राजा नृग की कथा प्रस्तुत की गई है, जिसके अनुसार न्याय के लिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर राजा के दर्शन न पाने वाले ब्राह्मणों के शाप देने से राजा को गिरगिट की योनि में गिरना पड़ा। इस प्रकरण के अनुसार राजा को अपने पुरोहित और मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन पौरकार्य करना ही चाहिए। साधारणत: स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से कार्यार्थी बनकर राजकीय न्यायालय में आ सकते थे।[1]

बौद्धकालीन न्याय-व्यवस्था का समुचित परिचय तत्कालीन साहित्य से मिलता है। गामणी-चण्डजातक के अनुसार कुछ जनपदों में राजा अकेले ही न्याय करते थे। न्याय-स्थान पर वादी-प्रतिवादी बिना रोक-टोक ही पहुँच सकते थे। वादी अपना वाद कहता था और प्रतिवादी उत्तर देता था। राजा स्वयं वादी और प्रतिवादी से अपने सन्देह मिटाने के लिए प्रश्न पूछता था। यदि वह झूठ बोलता तो केवल उसी की ही नहीं, प्रत्युत उसकी स्त्री की भी आँख निकालने के लिए राज-कर्मचारी को आदेश दिया जा सकता था। झूठ बोलने पर जीभ काटने का दंड दिया जा सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय करते समय दंड की व्यवस्था प्रत्युत्पन्न बुद्धि के अनुसार हो सकती थी। सदैव श्रुति और स्मृति का आधार लेना आवश्यक नहीं था। जनपद में राजा के अतिरिक्त गाँव के मुखिया न्याय करते थे। धर्मानुसार न्याय करने वाले मुखिया को लोग उपहार देते थे। ऐसे मुखिया धन और सुयश प्राप्त करते थे। जो मुखिया अधर्म से घूस लेकर अन्याय करते थे, वे धार्मिक नियोजन के अनुसार कष्ट में पड़ते थे। साथ ही उन्हें राज-दंड का भागी होना पड़ता था।[2]

न्याय की परिधि में लोगों को सच्चरित्र रखने की योजना भी आती थी। कुछ जनपदों में गृहस्थ स्त्रियाँ यदि अपने पति के अतिरिक्त किसी

---

१. उत्तरकाण्ड, सर्ग ५३ से।

२. गामणीचण्ड जातक २५७ के आधार पर।

व्यक्ति से प्रेम करती थीं तो राजा स्वयं उन्हें पकड़ मँगवाता था और घोर दंड देता था।[1]

अपराधी को राजा के पास चलने के लिए बाध्य करने की एक रीति थी—किसी कंकड़ को हाथ में लेकर कहना कि यह तुम्हारा राजदूत है। ऐसा कहने पर यदि अपराधी नहीं जाता तो राजा उसे दण्ड देता था।[2]

कभी-कभी आवेश-वश कुछ राजा वादी का अनुचित पक्ष लेने के कारण दूसरे पक्ष की बात सुने बिना ही उसके लिए कठोर दण्ड देने का आदेश दे देते थे। एक राजा ने पुरोहित के प्रति अपनी रानी के झूठे आरोपों को सत्य मानकर परिचारकों को आदेश दिया—पुरोहित की बाहें पीठ की ओर बाँधकर, वध्य पुरुष की भाँति उसे नगर से बाहर वध-स्थान पर ले जाकर उसका सिर काट दो। ऐसे अवसर पर वध-भेरी बजने लगती थी। ऐसी परिस्थिति में निर्दोष होने पर भी अपने को छुड़ा लेना कठिन होता था।[3]

कुछ राजाओं के पास न्यायामात्य होते थे, जो अनुचित न्याय करने पर राजा को उपदेश दे सकते थे। रथलट्ठिजातक के अनुसार पुरोहित के वादी होने पर आवेश में आकर राजा ने जब प्रतिवादी से कुछ पूछे बिना ही निर्णय सुना दिया कि उनका सर्वस्व हरण कर लिया जाय तो न्याय-मन्त्री ने इस प्रकार निवेदन किया—आपने प्रतिवादियों से कुछ पूछे बिना ही उनका सर्वस्व हरण कराया। कुछ वादी असत्य आरोप लगाते हैं। इसलिये दूसरे पक्ष से पूछे बिना निर्णय नहीं देना चाहिये। राज्य करने वाले को प्रतिपक्ष की बात सुनकर ही न्याय करना चाहिए। सुनकर न्याय करने वाले राजा का यश और कीर्ति बढ़ती हैं।[4] इस प्रकरण से यही सिद्ध होता है कि कम से कम राजा न्याय के क्षेत्र में कभी-कभी अदूरदर्शिता का परिचय देते थे, यद्यपि कहीं-कहीं न्यायामात्यों का अंकुश सम्भव था।

राजकीय वस्तुओं की चोरी करने वालों को पकड़कर प्रहरी उसे गाली देते थे, पीटते थे और बाँधकर राजा के सामने ले जाते थे। ऐसे व्यक्ति को राजाज्ञा से सूली पर चढ़ा दिया जाता था। सूली पर तत्काल मृत्यु का होना आवश्यक नहीं था। सूली पर लटकते हुए व्यक्ति की आँखें कौवे निकालते थे।[5]

गाँव के लोगों के अपराध की सूचना ग्रामभोजक नामक पदाधिकारी राजा

१-२. गामणीचण्ड जातक २५७ से।

३. बन्धन जातक १२० से।

४. रथलट्ठि जातक से।

५. पुप्फरत्त जातक १४७ से।

को देता था। ग्रामभोजक का आरोप राजा बिना सोचे-विचारे अथवा अभियुक्त से बिना कुछ सुने हुए भी प्रायः मान लेते थे। ग्रामभोजक के निवेदन करने पर राजा उसे आदेश देता था—ग्रामघातकों को पकड़ लाओ। ग्राम-घातक वे लोग थे, जो गाँवों में चोरी करते थे। चोरों को राजा हाथी के द्वारा रौंदवाकर मारने का आदेश देता था। कभी-कभी ग्रामभोजक झूठे आरोप लगाते थे और यदि उनके मिथ्यारोप का परिचय राजा को मिल जाता था तो मिथ्यारोपी-ग्रामभोजक का सर्वस्व प्रतिवादी को दिया जा सकता था और साथ ही उसे दास बना दिया जाता था। सबसे अच्छी बात थी कुछ प्रतिवादियों को उपहार देना, जिनके ऊपर मिथ्यारोप किया गया हो। राजा उन्हें हाथी और ग्राम आदि उपहार रूप में दे देता था।[1]

चोरी होने पर चोर को पकड़ने के लिये लोग दौड़ते थे। ऐसी स्थिति में यदि किसी व्यक्ति पर उसके चोर होने का सन्देह हो जाता तो उसे अपराध स्वीकार कराने के लिए पीटा जाता था। कभी-कभी मार से बचने के लिए लोग यों ही कह देते थे कि हमने चुराया है, यद्यपि वे निर्दोष होते थे। कुछ बुद्धिमान् अमात्य वस्तु-स्थिति का परिचय पाने के लिए युक्तिपूर्ण उपाय करते थे।[2] ऐसी बौद्धिक योजनाओं से अनिर्णयात्मक परिस्थितियों में न्याय करने की रीति प्रचलित थी।

राजा का वधिक काषाय वस्त्र पहनता था। वह लाल माला धारण करता था। उसके कंधे पर फरसा होता था। उसके पास हाथ-पाँव जकड़ने के लिये डण्डे रहते थे। वह राजाज्ञा का पालन करने में देर नहीं करता था और निर्देशानुसार मृत्यु-दण्ड में क्रमशः हाथ, पाँव और सिर काटकर अन्त में सिर की असिमाला बना सकता था।[3]

राजा के अतिरिक्त पुरोहित और सेनापति न्याय का काम करते थे। कुछ न्यायालयों में अनेक न्यायाधीश होते थे। पाँच न्यायाधीशों की एक न्याय-

---

१. कुलावक जातक।

२. महासार जातक ९२। इस जातक में महारानी के महाहार को चुराने वाले की सूचना इसी प्रकार मिली। ऐसी योजना महोसह जातक में भी मिलती है। इसमें एक शिशु को अपना कहने वाली दो स्त्रियों का विवाद निर्णय करने के लिए न्यायमन्त्री ने आदेश दिया—तुममें से एक सिर और दूसरी टाँग पकड़कर खींचें—शिशु के दो भाग हो जाने पर, जिसको जो मिलेगा, उसका वही होगा। जिस स्त्री ने नहीं खींचा उसे शिशु दे दिया गया।

३. चुल्लधम्मपाल जातक ३५८।

सभा का उल्लेख मिलता है। डाकुओं के हाथ -पैर काटकर उन्हें नदी में बहा दिया जाता था अथवा मार डाला जाता था। अनुचित न्याय करने वाले न्यायाधीशों को विशेष गड़बड़ी करने पर फाँसी का दण्ड मिलता था। बन्दी-जीवन कठोर था। बन्दियों को शारीरिक कष्ट दिया जाता था। शारीरिक दण्ड देने के लिए जो प्रतोद बनता था, उसमें काँटे लगे होते थे।[१] बौद्धकाल में व्यावहारिक महामात्य तथा विनिश्चयामात्य विशेष रूप से न्याय-व्यवस्था का काम करते थे।[२] गणराज्यों में सार्वजनिक दण्ड-विधान की योजना मिलती है। कुशीनगर के मल्लों ने नियम बनाया कि जो व्यक्ति गौतम बुद्ध से मिलने नहीं जायेगा, उसे ५०० मुद्राओं का दण्ड देना होगा। ऐसे नियमों की प्रतिष्ठा गण के प्रतिनिधि नागरिकों के द्वारा होती थी।[३] इस युग में क्रमशः उच्चतर न्यायालय भी थे, जिनके नाम इस प्रकार मिलते हैं— विनिश्चयामात्य का न्यायालय, व्यावहारिकों का न्यायालय, सूत्रधरों का न्यायालय, अष्टकुल का न्यायालय, सेनापति, उपराज और राजा का न्यायालय। इनकी कार्यविधि या पारस्परिक संयोजन का विशेष परिचय नहीं मिलता।[४]

मौर्यकालीन न्याय-व्यवस्था कठोर थी। राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी रहा। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि चोरी बहुत कम होती थी। दण्ड की कठोरता को देखकर ही संभवतः चोर किसी भले काम में लग गये हों। स्ट्राबो ने लिखा है कि 'झूठी साक्षी देने वालों के अंग-भंग की व्यवस्था थी। यदि कोई किसी का अंग-भंग करता तो दण्ड के रूप में उसका वही अंग-भंग किया जाता था और साथ ही उसका हाथ काट लिया जाता था। शिल्पी का हाथ काटने पर अथवा उसकी आँख फोड़ने पर फाँसी का दण्ड दिया जाता था। इस युग में जल-परीक्षा का प्रचलन भी था। जल-परीक्षा में जलाशय के उस भाग में अभियुक्त को ले जाते थे, जहाँ सभी साधारण लोगों के लिए घुटने तक जल होता था, पर अभियुक्त यदि अपराधी होता तो वह डूबने लगता था। इस प्रकार यदि कहीं अपराध सिद्ध हो जाता तो उसे वादी को सौंप दिया जाता था। जो दण्ड वह चाहता, उसे देता था। कोई भी अपराधी साधारणतः अपने अपराध जल-परीक्षा के भय से अस्वीकार नहीं करता था।[५]

---

१. *Beni Prasad :* The State in Ancient India, pp. 149–150.

२. **विनयपिटक ८.३.५; १.७३, ७४, २०७. २४० तथा** Kindred Sayings २.१७२।

३. **विनय १.२४७; महावग्ग ६.३६।**

४. The State in Ancient India, P. 160.

५. The State in Ancient India, pp. 187-188.

प्रजा को सच्चरित्र बनाने की दिशा में अशोक का विशेष प्रयास था। उसने अपने न्यायाधीशों को प्रजा को सत्पथ पर लाने का काम भी दिया था। धौली और जौगढ़ के शिलालेख के अनुसार उसने तोसली के व्यावहारिकों को इस प्रकार प्रवचन दिया—आप लोग अनेक सहस्र प्राणियों के ऊपर रखे गये हैं, जिससे मैं अच्छे लोगों का प्रेमपात्र बन जाऊं। सभी लोग मेरी प्रजा हैं। मैं सबके लिए सुख चाहता हूँ, पर आप लोग अभी इस मन्तव्य को भली भाँति नहीं समझते। इस नीति को आप समझें कि कोई एक व्यक्ति जब बन्धन में पड़ता है या क्लेश पाता है तो उसके साथ ही अनेक अन्य लोगों को भी दुःख मिलता है। आप लोगों को मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए। श्रमहीनता, निष्ठुरता, त्वरा, अकर्मण्यता और आलस्य के कारण ऐसा नहीं हो पाता। इनमें से कोई भी दुर्गुण आपके पास न फटकने पाये। आप उठें, चलें फिरें और लोगों से मिलकर कहें—आप राजा की आज्ञा क्या नहीं देखते हैं कि वे क्या चाहते हैं? मेरे कथनानुसार आपका आचरण महाफल देगा और इसके विपरीत आचरण से आप लोगों पर विपत्ति पड़ेगी। राजा का यह आदेश न्यायाधीशों को प्रतिमास कम से कम एक बार पढ़ना पड़ता था, जिससे बिना सोचे-समझे किसी नागरिक को बन्धन में न पड़ना पड़े और उसे कोई क्लेश न हो। राजा अपनी राजधानी से और प्रान्तीय शासक प्रान्तीय राजधानियों से ऐसे न्यायाधीशों को क्रमशः प्रति पाँचवें और तीसरे वर्ष नियुक्त करके भेजते थे, जो उपर्युक्त नियमों पर चलते हुए न्याय करते थे तथा न्यायाधीशों के कामों का निरीक्षण करते थे। न्याय करने के लिए कर्कश न होना, चण्ड न होना और कोमलता से व्यवहार करना अपेक्षित है।

अपने चौथे स्तम्भ-लेख के अनुसार अशोक ने राजुकों को लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त किया था। उन्हें आदेश दिया गया था कि 'आप लोग स्वस्थ और निर्भीक होकर अपना काम करें और जनपद के लोगों का हित और सुख करें। उन पर अनुग्रह करें।' राजुक धर्मयुत के द्वारा प्रजा के सुख-दुःख को जानते थे। अशोक ने अपने विषय में कहा है कि जैसे पिता धाई के हाथ में सन्तान को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही मैं भी राजुकों के हाथमें प्रजा को सौंप कर आशा करता हूँ कि वे प्रजा को सुख और हित प्रदान करेंगे। राजुक न्याय करते समय प्रयत्न करें कि उनके व्यवहार में समता हो और दण्ड देने में किसी प्रकार का पक्षपात न हो। जिनको वध-दण्ड दिया गया हो, उन्हें तीन दिन का अवसर दिया जाय, जिससे उनके सम्बन्धी उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर सकें या उसके परलोक को सुधारने के लिए दान और उपवास आदि करें।

अशोक-कालीन न्याय-व्यवस्था में अपराधी के प्रति सहानुभूति की झलक

मिलती है। अपराधी भी तो अशोक की प्रजा ही थे और प्रजा को अशोक सन्तान मानता था।[1] न्यायाधीशों में सच्चरित्रता की प्रतिष्ठा करना और समय-समय पर उन्हें लोकपालन सम्बन्धी उदात्त प्रवृत्तियों का स्मरण कराना बड़ी विशेषतायें थीं। स्वर्ग पाने के लिए भी न्यायाधीशों को अपने कर्त्तव्य का पालन सुचारुता से करना ही चाहिए था।

ग्रीक लेखकों के अनुसार विदेशियों का न्याय करने के लिए विशेष व्यवस्था थी। उनका न्याय अतिशय सावधानी से होता था। यदि कोई उनकी हानि करता तो उसके विरुद्ध शीघ्र कार्यवाही की जाती थी।[2]

कारागार के बन्दियों के साथ मानवता-पूर्ण व्यवहार की झलक मिलती है। अभिषेक के अवसर पर उनको बन्धन-विमुक्त करने के उल्लेख जातक साहित्य में मिलते हैं।[3] अशोक ने अपने अभिषेक के पश्चात् शासन काल के २६ वर्षों में २५ बार बन्दियों को बन्धन-विमुक्त किया था। संभवतः यह मुक्ति उसके राज्याभिषेक की वार्षिक तिथि के दिन होती थी।

गुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था में अधिक मृदुता दृष्टिगोचर होती है। कम से कम गुप्त राजाओं ने मृत्यु-दण्ड बन्द कर दिया था। उस समय शारीरिक दण्ड का प्रचलन भी नहीं था। अपराधियों को केवल आर्थिक दण्ड दिया जाता था। दण्ड की मात्रा अपराध की न्यूनता या महत्ता पर अवलम्बित होती थी। बारंबार राजद्रोह करने पर भी केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था।[4] नगरों के राजकीय न्यायालयों का नाम धर्मासनाधिकरण था। दाण्डिक, चौरोद्धरणिक और दण्डपाशिक न्याय-व्यवस्था से सम्बद्ध अधिकारी थे।

राजा के कुछ कर्मचारी, जो धर्माधिकार (न्याय) का काम करते थे, भ्रमण करते हुए देखते थे कि प्रजा का काम निर्विघ्न रूप से तो चल रहा है।[5] कालिदास के अनुसार राजा के लिए धर्म (न्याय) का काम नित्य कर्तव्य रूप में प्रतिष्ठित था।

---

१. जूनागढ़ का शिलालेख प्रथम, धौली का शिलालेख और दिल्ली-टोपरा का छठा शिलालेख उसकी इस धारणा के प्रमाण उसी के शब्दों में व्यक्त करते हैं।

२. *McCrindle :* Megasthenes & Arrian, P. 42.

३. The State in Ancient India, P. 134.

४. उपर्युक्त न्याय-व्यवस्था फाह्यान के लेखानुसार है।

५. अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अंक के अनुसार धर्माधिकार में नियुक्त व्यक्ति कम से कम अरण्यवासी मुनियों के समीप जाकर उनके निर्विघ्न कार्य की व्यवस्था करता था।

राजा धर्मासन पर बैठकर न्याय करता था। असाधारण परिस्थितियों में राजा को धर्मासन पर किसी भी समय आना पड़ता था।[१] न्याय करते समय कुछ धर्मस्थ (जज) भी राजा के साथ रहते थे।[२]

ह्वेनसाँग के अनुसार सातवीं शताब्दी में भारत में अपराधियों और राजद्रोहियों की संख्या स्वल्प थी। राजकीय नियमों के भंग होने पर अथवा राजद्रोह की परिस्थिति में पूरी छान-बीन की जाती थी। अभियुक्तों से अपराध को स्वीकार कराने में शारीरिक दण्ड का निषेध था। यदि अभियुक्त अपने को अपराधी नहीं स्वीकार करता था, तो उसकी दिव्य परीक्षायें होती थीं। साधारण प्रचलित दिव्य परीक्षायें चार प्रकार की थीं। जल-परीक्षा के लिए अपराधी को बोरे में बन्द किया जाता था और बोरे से एक बड़े पत्थर के बरतन को बाँधकर उसे गहरे पानी में फेंक दिया जाता था। यदि इस परिस्थिति में अभियुक्त डूब जाता था और पत्थर का बरतन ऊपर तैरता दिखाई देता था तो अभियुक्त को अपराधी माना जाता था। यदि कहीं वह व्यक्ति ऊपर तैरता दिखाई देता और पत्थर डूब जाता था तो वह निरपराध सिद्ध हो जाता था। अग्निपरीक्षा में लोहे की पटिया तपाई जाती थी और अभियुक्त को उस पर बैठाया जाता था। उस पर अभियुक्त पैर रखता था। उसे हाथ में लेता था और जीभ से चाटता था। यदि ऐसा करने में उसे कहीं कोई जलन नहीं होती तो उसे निरपराध माना जाता था, अन्यथा अपराध सिद्ध हो जाता था। दुर्बल और कातर लोगों के लिए इस परीक्षा में थोड़ी सुविधा मिल सकती थी। उनको किसी फूल की कली उस तपे लोहे की पटिया पर फेंकना पड़ता था। यदि कली विकसित होने लगती तो वह निरपराध माना जाता था और यदि कहीं कली जलने लगती तो अभियुक्त अपराधी सिद्ध होता था। विष-परीक्षा में मेढ़े की पिछली दाईं टाँग काटी जाती थी और उसे विषाक्त

---

१. इस राजकीय तत्परता की स्वाभाविकता को कालिदास ने इस प्रकार प्रमाणित किया है :—

"भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥

अभिज्ञान शा० पंचम अंक, चतुर्थ श्लोक

२. स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थितां स्वयम्।
ददर्श संशयच्छेदान्व्यवहारानतन्द्रितः॥रघुवंश १७.३९॥

कालिदास के अनुसार अकेले किया हुआ न्याय दोषपूर्ण होता है। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय। मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक से।

बनाकर अभियुक्त को खिलाया जाता था। यदि विष का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता था तो वह निरपराध माना जाता था, अन्यथा उसका अपराध सिद्ध होता था।[1] बाण ने भी उपर्युक्त दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख किया है।

तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था में अंग-भंग, निर्वासन आदि का प्रचलन था। बन्दियों को सद्व्यवहार के योग्य नहीं समझा जाता था। छोटे-मोटे अपराधों के लिए आर्थिक दण्ड दिये जाते थे। राजद्रोह के लिए साधारणतः निर्वासन का दण्ड दिया जाता था।[2]

उपर्युक्त युग की न्याय-व्यवस्था का स्वरूप मृच्छकटिक में मिलता है। इसके अनुसार न्याय की प्रक्रिया का नाम व्यवहार और न्यायालय का नाम व्यवहार-मंडप था। शोधनिक व्यवहार-मण्डप को झाड़पोंछ कर वहाँ आसन लगा देता था। न्यायाधीश की उपाधि अधिकरणिक या अधिकरण-भोजक थी। उसके साथ कायस्थ और श्रेष्ठी बैठते थे। कायस्थ का काम था व्यवहार की बातों का लेख बनाना। अधिकरणिक के आदेशानुसार शोधनिक बाहर निकल कर घोषणा करता था—कौन-कौन कार्यार्थी हैं? कार्यार्थी अपना व्यवहार या वाद अधिकरणिक के समक्ष कह देता था। प्रतिवादी कौन है—यह निर्णय होते ही तत्काल उसे बुला कर व्यवहार की सुनवाई होती थी। अर्थी और प्रत्यर्थी को प्रमाण देकर अपना पक्ष पुष्ट करना पड़ता था। सत्य की खोज के लिए, अधिकरणिक सभी साक्षियों अर्थी और प्रत्यर्थी आदि से प्रश्न पूछ कर स्पष्टीकरण करता चलता था। श्रेष्ठी तथा कायस्थ भी प्रश्न पूछ लेते थे। अर्थी और प्रत्यर्थी परस्पर प्रश्नोत्तर कर सकते थे। साधारणतः लोगों की धारणा थी कि व्यवहार की प्रक्रिया में कुछ भी गोपनीय नहीं है।

न्यायाधिकारी अत्यन्त सौम्यता पूर्वक प्रश्नोत्तर करते थे। वे अपराधी से भी कड़े शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। आदरणीय लोगों को अभियुक्त होने पर भी आसन दिया जाता था। किसी सच्चरित्र मनुष्य के अभियुक्त होने पर उसके पूर्वकालीन सदाचार का ध्यान रखा जाता था। घटनास्थल को देखकर छान-बीन करने के लिए न्यायालय की ओर से सवारी का प्रबन्ध रहता था। आवेश के क्षणों में न्यायालय में गाली-गलौज और मारपीट हो सकती थी। मारपीट करके भी

---

१. वाटर्स: ह्वेनसांग, प्रथम भाग, पृ० १७२। भारत में ऐसी अनेक दिव्य परीक्षाओं का प्रचलन प्रायः सदा ही रहा है। सूत्र और स्मृति साहित्य से प्रतीत होता है कि देश और काल के अन्तर से इनके स्वरूप में अन्तर था।

२. बील: ह्वेनसांग, भाग १, पृ० २२०–२२२।

सत्य का उद्घाटन कराया जाता था। मनुस्मृति का विधान मान्य था। इसके अनुसार ब्राह्मण को वध का दंड नहीं हो सकता था। वध आदि के दंडविधान में राजाज्ञा की सर्वोपरि मान्यता थी।

यदि किसी अभियुक्त का अपराध सिद्ध हो जाता तो वह तुरन्त रक्षकों के द्वारा पकड़ लिया जाता था। राजा ने चारुदत्त की फाँसी का आदेश इन शब्दों में दिया—चारुदत्त ने गहनों के लिये वसन्तसेना की हत्या की है। ये ही गहने उसके गले में लटकाये जायें। ढोल पीटा जाय और उसे आगे करके दक्षिणवर्ती श्मशान-भूमि पर फाँसी दे दी जाय। जो कोई ऐसा अपराध करेगा, उसे इसी प्रकार का दंड दिया जायेगा। इस नाटक में दिव्य परीक्षाओं— विष, सलिल, तुला और अग्नि का उल्लेख किया गया है, पर संभवतः प्रमाण न मिलने पर ही उनका उपयोग होता था।

सूत्र-स्मृति-व्यवस्था

भारतीय न्याय-व्यवस्था की रूप-रेखा का आकलन आठवीं शती ई० पू० से धर्मसूत्रों में तथा परवर्ती युग में स्मृतियों में मिलता है। इन ग्रन्थों में जो व्यवस्था मिलती है, वह आदर्श रूप में प्रतिष्ठित रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों के रचयिताओं ने प्रायः समसामयिक परिस्थितियों और न्याय की प्रक्रियाओं को दृष्टि-पथ में रखकर अपनी व्यवस्था प्रस्तुत की है। साधारणतः कोई भी सूत्र या स्मृति ग्रन्थ कभी भी भारत में सर्वत्र और सर्वदा एक मात्र प्रमाण नहीं माना गया, अपितु उनकी देशीय और कालगत सीमायें अवश्य रहीं। कम से कम अपनी रचना के समय उनकी प्रतिष्ठा उन्हीं देशों में मानी जा सकती है, जहाँ वे रची गईं। यदि उनकी प्रतिष्ठा विशेष बढ़ी तो परवर्त्ती युग में वे अन्यत्र भी सम्मानित हो गईं। प्राचीन स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे अधिक प्रतिष्ठित हुई। संभवतः मनुस्मृति में समय-समय पर उन विधानों का संग्रह किया जाता रहा, जो सभी युगों के श्रेष्ठ विचारकों की दृष्टि में अतिशय सम्माननीय थे। प्राचीन भारत के अधिकाधिक भागों में इसे प्रमाण माना गया और विदेशों में भी इसकी प्रामाणिकता मान कर इसके अनुरूप न्याय-विधान रचा गया।

न्याय की परिधि में आने वाले विवादों की संख्या शनैः शनैः बढ़ती गई है। विवादों के विषय का नाम व्यवहारपाद था। मनु के अनुसार अठारह व्यवहार-पाद निम्नलिखित हैं—ऋणादान, निक्षेप, अस्वामि-विक्रय, सम्भूय समुत्थान, दत्तस्यानपाकर्म, वेतनादान संविद्व्यतिक्रम, क्रय-विक्रयानुशय, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंधर्म, विभाग

और द्यूत-समाह्वय। अन्य स्मृतिकारों ने भी थोड़े हेर-फेरके साथ इन्हीं व्यवहार-पादों का उल्लेख किया है।

व्यवहार-पादों की परिधि से बाहर अनेक ऐसे विवाद हो सकते हैं, जिनके लिए न्यायालय की शरण लेनी पड़ती थी। ऐसे विवादों को प्रकीर्णक कोटि के अन्तर्गत रखा गया था।[1]

विवादों का वर्गीकरण एक अन्य विधि से किया गया है, जिसके अनुसार पहले उनके दो भेद हैं—धन से उत्पन्न होने वाले और हिंसा से उत्पन्न होने वाले। धन-सम्बन्धी विवाद १४ प्रकार के होते थे। इनमें से हिंसा का सम्बन्ध चार प्रकार के विवादों से है—वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस और स्त्रीसंग्रहण। धनमूलक और हिंसामूलक विवादों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के न्यायालय नहीं होते थे, यद्यपि उपर्युक्त दोनों प्रकार के विवादों की निर्णयात्मक प्रक्रियाओं में कुछ-कुछ भेद अवश्य था।

कुछ परिस्थितियों में राजा के द्वारा नियुक्त सूचक अपराधों की सूचना राजा को देते थे। इनको राजा की ओर से संभवतः वेतन मिलता था। अपराधों की सूचना देने वाले स्तोभक कोटि के सूचकों को राजा की ओर से पुरस्कार मिलता था।[2]

सूत्र और स्मृति साहित्य के अनुसार भी न्याय का प्रथम स्रोत राजा ही है। मनु के अनुसार राजा का कर्तव्य था कि वह नित्य सभा में न्याय करे। राजा के साथ न्याय में सहायता देने वाले ब्राह्मण और मन्त्री होते थे। राजा विनीत होकर न्याय करता था। उसके वेश और आभरण से उसकी विनय प्रकट होती थी। न्याय करते समय राजा खड़ा रहता था या बैठ जाता था। वह अपना दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठाये रहता था।[3] न्याय-सभा के सदस्यों में उपर्युक्त लोगों के अतिरिक्त प्राड्विवाक, पुरोहित तथा अन्य सभ्यों के होने के उल्लेख परवर्ती युग में मिलते हैं।[4] न्याय की प्रक्रिया को गुप्त रखना अनुचित माना जाता था। न्याय-

---

१. प्रकीर्णक में राजा की आज्ञा न मानना, नगरों का दान, राज्य की प्रकृति (मन्त्री आदि) का भेद, विभिन्न धर्मानुयायियों, संघ आदि के लोगों का अपनी संस्था के नियमों को न मानना, पिता-पुत्र-विवाद, प्रायश्चित्त न करना, दान का वचन देकर उसे पूरा न करना, साधुओं का कोप, वर्णसंकरता का दोष आदि आते थे। नारद, प्रकीर्णक १–४।

२. सूचक और स्तोभक का विवरण कात्यायन-स्मृति ३३–३४ में है।

३. मनुस्मृति ८.१–२।

४. कात्यायन-स्मृति ५५–५६।

सभा में नागरिकों का उपस्थित रहना संभवतः अपेक्षित था।[१] अपराध के वर्गीकरण और स्वरूप-निरूपण के पश्चात् दण्ड की व्यवस्था धर्मशास्त्रों के अनुरूप दी जाती थी, पर अनेक ऐसे अपराध होते थे, जिनकी चर्चा धर्मशास्त्रों में नहीं रहती थी। ऐसे अपराधों का दण्ड-निर्णय लोकाचार या देशाचार के अनुकूल होता था।[२]

यदि राजा परिस्थितिवश न्यायालय में स्वयं आने में असमर्थ होता तो वह एक विद्वान् ब्राह्मण को अपने स्थान पर नियुक्त कर देता था। वह तीन सभ्यों के साथ न्याय का काम करता था।[३] इन सभी लोगों के लिए भारतीय धर्मशास्त्र ने निष्पक्षता, सत्य, कार्यपरायणता, धर्मशास्त्र का ज्ञान, बुद्धिमत्ता, लोभहीनता आदि गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है। देशाचार न जानने वाले लोग सभ्य नहीं बनाये जा सकते थे।

बृहस्पति के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के होते थे—प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, मुद्रित और शासित। किसी गाँव या नगर में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित न्यायालय होते थे। अप्रतिष्ठित न्यायालय अनेक गाँवों में चलते-फिरते रहते थे। मुद्रित न्यायालयों में राजा के द्वारा नियुक्त न्यायाधीश होते थे और उन्हें राजमुद्रा का प्रयोग करने का अधिकार था। शासित न्यायालय में राजा स्वयं उपस्थित रहता था। इस प्रकार के न्यायालयों से सुविधापूर्वक न्याय पाना सम्भव हो सकता था।

न्यायालय माला, धूप और आसन से सुसज्जित होते थे। इनमें बीज़ और रत्न रखे होते थे और चित्र, मूर्ति आदि से उनका अलंकरण होता था। न्यायालय में अग्नि और जल भी रखे जाते थे।[४] न्याय-सभा के दस अंग होते थे—राजा प्रधान न्यायाध्यक्ष, सभ्य, स्मृति, गणक, लेखक, स्वर्ण, अग्नि, जल और स्वपुरुष। इनमें से न्यायाध्यक्ष निर्णय प्रस्तुत करता था और राजा दंड देता था। सभ्य वाद का परीक्षण करते थे। स्मृति में न्याय के नियम मिलते थे। स्वर्ण और अग्नि शपथ के लिए उपयोगी होते थे। प्यासे लोगों के लिए वहाँ पानी रखा रहता था। गणक न्याय सम्बन्धी वस्तुओं को गिनता था। लेखक न्याय-प्रक्रिया को लेखबद्ध

---

१. शुक्र स्मृति ४.५.६–७।

२. मनु स्मृति ८.३; शुक्र स्मृति ५.५.१०–११।

३. मनु स्मृति ८.९–१०। सभ्यों की संख्या बृहस्पति के अनुसार ७ या ५ भी हो सकती थी।

४. बृहस्पति स्मृति–चन्द्रिका २.१९।

करता था। स्वपुरुष सभ्य, प्रतिवादी, साक्षी आदि का आह्वान करता था और अर्थी तथा प्रत्यर्थी की रक्षा करता था।

उपर्युक्त न्यायालयों के अतिरिक्त कुछ राज-सम्मानित अन्य संस्थायें होती थीं, जिन्हें सीमित क्षेत्र में न्याय करने का अधिकार था। ऐसी संस्थाओं में कुल, श्रेणी, पूग और पण आदि थे। इनमें से कुल एक जाति या कुल के लोगों की पंचायत थी। श्रेणी एक व्यवसाय करने वालों का न्यायालय होता था। पूग और पण एक स्थान के सभी वर्ग के लोगों के लिए सार्वजनिक पंचायतें होती थीं। इन संस्थाओं को साहस-सम्बन्धी न्याय का अधिकार नहीं था। इनके द्वारा निर्णीत अर्थदण्ड और शारीरिक दंड को कार्यान्वित करने के पहले राजकीय समर्थन अपेक्षित था।[1]

साक्षी

प्राचीन युग में एक भी पवित्र और धार्मिक साक्षी साधारणतः पर्याप्त था।[2] न्यायालय में सम्भवतः उस युग में भी असत्य वक्तव्य देने वालों की कमी नहीं रही होगी। यही कारण है कि जिन लोगों की सत्यवादिता के सम्बन्ध में समाज को सन्देह नहीं होता था, उन्हीं को साक्षी बनने के योग्य माना जाता था। साक्षी के साधारण गुण उच्चकुल में उत्पन्न होना, स्वदेशी होना, पुत्रवान् गृहस्थ होना, धनी और विश्वासपात्र होना, धर्मज्ञ तथा सदाचारी होना और निर्लोभ होना आदि थे।[3]

समान वर्ण और लिंग के साक्षी साधारणतः ठीक माने जाते थे।[4] व्यावसायिकों के लिए साक्षी उनके संघ के प्रधान हो सकते थे। गौतम के अनुसार खेती करने वाले, व्यापारी, पशुपालक, ऋणदाता तथा शिल्पियों के वादों में उन्हीं के वर्ग

---

१. वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभौ स्मृतौ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि॥
राज्ञा ये विदिताः सम्यक्कुलश्रेणिगणादयः।
साहसन्यायवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्॥
बृहस्पति स्मृति-चन्द्रिका २.२०।

२. मनु ८.७७; याज्ञ० २.७२। व्यास ने इस सम्बन्ध में कहा है:—
शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक्।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहसेषु विशेषतः॥

३. गौतम १३.२; मनु० ८.६२–६३।

४. गौतम १३.४, मनु ८.६८।

के लोग साक्षी या मध्यस्थ बनाये जाते थे ।[१] कुछ कोटियों के व्यक्ति साक्षी बनने के योग्य नहीं माने जाते थे । मनु के अनुसार उनकी सूची इस प्रकार है—धन के लेन-देन के द्वारा सम्बद्ध, इष्ट-मित्र, सहायक, वैरी, दोषी, व्याधिग्रस्त, दूषित, राजा, कारुक, कुशीलव, श्रोत्रिय, लिंगस्थ, संघ से बाहर निकला हुआ, अध्ययन-रहित, दस्यु, वृद्ध, बुरा काम करने वाला, शिशु, हीन इन्द्रिय वाला, आर्त, मत्त, उन्मत्त, भख-प्यास से पीड़ित, श्रान्त, कामार्त, क्रुद्ध और तस्कर ।[२] धनमूलक वादों में साक्षी की परख विशेष रूप से होती थी । हिंसामूलक वादों में निषिद्ध कोटि के साक्षी भी स्वीकार किए जा सकते थे ।

मनु स्त्रियों को साक्षी मानने के विरुद्ध हैं । मनु के अनुसार अकेला ही निर्लोभ पुरुष साक्षी-रूप में पर्याप्त हैं, पर अनेक सच्चरित्र स्त्रियों को भी प्रामाणिक साक्षी नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि स्थिर नहीं होती है । मनु स्त्रियों को वहीं साक्षी बनने दे सकते हैं, जहाँ पुरुष-साक्षी अप्राप्य हों ।[३]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि साक्षी के वक्तव्य देने के पहले उसकी योग्यता सम्बन्धी समस्या विचारणीय हो सकती थी । यदि विरोधी पक्ष सिद्ध कर देता था कि साक्षी अयोग्य है तो उस साक्षी को हट जाना पड़ता था ।

सबके द्वारा स्वीकृत साक्षी को अपना वक्तव्य किसी पवित्र दिन, प्रातः काल, जलती हुई अग्नि के समक्ष, जल के निकट, राजा या न्यायाधीश की उपस्थिति में और सत्यासत्य का परिणाम सुन कर देना पड़ता था ।[४] साक्षी को सत्य-साक्ष्य देने के लिए देवता और ब्राह्मणों के निकट रखकर उसका वक्तव्य लेने का विधान भी था । उससे सत्य बोलने के लिए बहुविध शपथ ली जाती थी ।[५] शपथ में पहले तो सत्य बोलने की आवश्यकता का विधान होता था और फिर तत्सम्बन्धी परामर्श और प्रार्थनायें होती थीं । मनु के अनुसार न्यायाधीश का सभी साक्षियों के प्रति अनुयोग इन शब्दों में होता था—इस वाद के विषय में वादी और प्रतिवादी दोनों के पारस्परिक व्यवहार के विषय में आप लोग जो कुछ जानते हैं, उसे सच-सच बतला दें । इस प्रसंग में आप लोगों की साक्षिता है । साक्ष्य में सत्य बोलता हुआ साक्षी मरणोत्तर काल में सर्वोच्च लोकों को प्राप्त करता है और समाज में उत्तम यश पाता

---

१. गौतम ११.२१ ।

२. मनु० ८.६४–६७ ।

३. मनु० ८.७०, ७७ ।

४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.११.२९.७ ।

५. गौतम १३.१३ ।

है। सत्य वाणी ब्रह्म-पूजित होती है। असत्य साक्षी देने वाले को वरुण के पाशों से बँधना पड़ता है। सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है। सत्य से धर्म संवर्धित होता है। मनुष्यों का सर्वोत्तम साक्षी आत्मा है। उस आत्मा की उपेक्षा न करो। (असत्य बोल कर) पाप करते हुए मनुष्य समझता है कि कोई मुझे देख नहीं रहा है पर उसे देवता देखते ही हैं, द्यौ, भूमि, आपस्, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, रात्रि, सन्ध्या, धर्म आदि सभी लोगों की सब बातें जानते हैं। जो असत्य साक्ष्य देते हैं, उनको उन्हीं नरकों में जाना पड़ता है, जहाँ ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदि की हत्या करने वाले जाते हैं या मित्र-द्रोही या कृतघ्न जाते हैं। हे भद्र! जन्म के समय से ही तुमने जो कुछ पुण्य किया है, वह सारा कुत्तों का हो जायेगा, यदि तुम असत्य-भाषण करोगे। हे कल्याण! क्या तुम मानते हो कि मैं अकेला ही हूँ? ऐसा नहीं है। नित्य ही तुम्हारे हृदय को देखने वाला मुनि (परमात्मा) विराजमान है। तुम्हारे हृदय में यम विराजमान है। जो व्यक्ति असत्य साक्ष्य देता है, उसे नंगे, सिर के केश मुड़ाकर, भूखा और प्यासा होने पर और अन्धा होकर भिक्षा माँगने के लिए शत्रुकुल में जाना पड़ता है। उसे सिर नीचे किये हुए नरक में गिरना पड़ता है। जिस साक्षी के वक्तव्य देते समय उसकी अन्तरात्मा अप्रसन्न नहीं होती, उसे देवता श्रेष्ठ गिनते हैं। पशु, गौ, घोड़े और मनुष्यों के विषय में झूठ बोलने से क्रमशः पाँच, दस, सौ और सहस्र बन्धुओं की हत्या का पाप लगता है। तुमने असत्य साक्ष्य के दोषों को सुन लिया—अब तो ठीक-ठीक बोलो।[1]

इतना होने पर भी मनु को विश्वास नहीं था कि साक्षी सच बोलेगा ही। उन्होंने सुझाव दिया है कि साक्ष्य के सत्यासत्य का निर्णय करते समय साक्षी की वाणी, वर्ण, इंगित, आकार, चक्षु और चेष्टाओं से उसके आन्तरिक भाव को समझना चाहिए[2]। आन्तरिक भावों को समझने के लिए साक्षी के विचारों का परवर्ती युग में स्मृतिकारों ने भी अध्ययन किया है।[3] ऐसे असत्य वक्तव्य का प्रदर्शन करने वाले साक्षियों को कभी-कभी दंडित होना पड़ता था।

दिव्य परीक्षाएँ

वैदिक काल में अग्नि-परीक्षा के द्वारा अभियुक्त की शुद्धि का विधान मिलता

---

१. मनुस्मृति ८.७८–१०१।

२. मनुस्मृति ८.२५।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए—नारद० ४.१९३–१९६; याज्ञ० २.१३–१५।

है।[1] सूत्र-काल में दिव्य-परीक्षाओं का प्रचलन था। स्मृतियों में बहुविध दिव्य परीक्षाओं के प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं। सूत्रकाल में दिव्य परीक्षाओं का प्रचलन था।[2] मनु ने अग्नि और जल-परीक्षा, याज्ञवल्क्य और नारद ने तुला, अग्नि, जल, विष और कोष परीक्षा तथा बृहस्पति ने इसी प्रकार नव दिव्य-परीक्षाओं का आकलन किया है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः सरल परीक्षाओं का आविर्भाव होता रहा।

दिव्य परीक्षाओं का प्रयोग असाधारण रूप से ही होता था, जब अन्य प्रकार के प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय सुकर नहीं रहता था।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार तुला, अग्नि, विष और जल परीक्षायें कम-से-कम १००० पण से अधिक के वादों में, राजद्रोह या महापातकों में ही स्वीकरणीय हो सकती हैं।[5] दिव्य परीक्षाओं के द्वारा प्रतिवादी के विजयी होने पर वादी को दंड देना पड़ता था।

दुर्बल लोगों के लिए इनमें से सरल परीक्षाओं और बलवानों के लिए कठोर परीक्षाओं का विधान था। ब्राह्मण, बालक, स्त्री, अतिवृद्ध, अन्धे और रोगियों के लिए तुला-परीक्षा, क्षत्रियों के लिए अग्नि-परीक्षा, वैश्यों के लिए जल-परीक्षा और शूद्रों के लिए विष-परीक्षा का विधान था।[6] दिव्य परीक्षाओं के लिए देश, काल और पात्र की दृष्टि से अनेक विधान बनाये गये थे।

तुला-परीक्षा में दण्ड के सिरों से रस्सी या श्रृंखला से बँधे हुए पलड़े लटकते थे। एक पलड़े पर शोध्य को बैठाकर दूसरी ओर मिट्टी, कंकड़, पत्थर आदि रखकर तौला जाता था। फिर शोध्य को उतार दिया जाता था और उसके द्वारा तुला की इन शब्दों में प्रार्थना की जाती थी—'हे तुले! तुम सत्य की प्रतिष्ठा हो, देवताओं ने इसीलिए तुम्हारी रचना की है। सत्य की घोषणा करो। इस सन्देह से मुझे मुक्त करो। माँ! यदि मैं पापी हूँ तो मुझे नीचे ले जाओ। यदि मैं शुद्ध हूँ तो मुझे ऊपर ले जाओ। फिर वह दूसरी बार पलड़े पर रखा जाता था। पाँच पल

---

१. पंचविंश ब्राह्मण १४.६.६ वत्स का अग्नि-परीक्षा द्वारा ब्राह्मण होने का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् ६.१६.१ में चोर की शुद्धि का प्रमाण अग्नि-परीक्षा द्वारा होने का उल्लेख है।

२. आपस्तंब २.११.२९.६ तथा २.५.११.३।

३. मनु० ८.११४; याज्ञवल्क्य० २.९५; नारद० ५.२५२।

४. याज्ञ० २.२२, नारद० २.२९; ४.२३९।

५. याज्ञ० २.९५, ९९।

६. वही २.९८।

का समय दिया जाता था। उसका तोल एक बार और निष्पन्न होता था। यदि उसका तोल पहले के बराबर या अधिक होता था तो वह अपराधी माना जाता था। अन्यथा उसकी शुद्धि प्रमाणित हो जाती थी।

अग्नि-परीक्षा में अग्नि, वरुण, वायु आदि देवताओं के लिए १६ अंगुल व्यास के ९ वृत्त गोबर से बनाकर उस पर कुश बिछा देते थे। अभियुक्त इन्हीं पर पैर रखता था। फिर १०८ बार घी की आहुति दी जाती थी। एक लोहार आठ अंगुल लम्बा और ५० पल भारी लोहे को अग्नि में इतना तपाता था कि वह लाल हो जाय और उससे चिनगारी निकलने लगे। फिर अभियुक्त के हाथ पर अश्वत्थ के पत्ते रखे जाते थे। न्यायाधीश तपते लोहे को चिमटे से उठाकर शोध्य के हाथ पर रख देता था। उसे लेकर शोध्य पहले वृत्त से लेकर आठवें वृत्त तक मन्द गति से शान्तिपूर्वक चलता था और नवें वृत्त में उस लोहे को गिरा देता था। यदि उसका हाथ अक्षुण्ण रहता तो न्यायाधीश उसे निर्दोष प्रमाणित कर देता था। यदि कहीं आठवें वृत्त में पहुँचने के पहले लोहा गिर जाता था या कहीं सन्देह हो जाता था कि उससे जलन हुई कि नहीं तो उसकी पुनः परीक्षा होती थी।

जल-परीक्षा में न्यायाधीश के निर्देशानुसार एक तोरण किसी जलाशय के समीप बनाया जाता था। उस जलाशय में एक लट्ठा गाड़ दिया जाता था। लट्ठे के निकट कोई अभिजात और सच्चरित्र व्यक्ति खड़ा होता था। न्यायाधीश के पास धनुष और तीन बाण होते थे। वह वरुण, धनुष और तीरों की पूजा धूप, दीप, पुष्प, चन्दन लेप आदि से करता था। शोध्य भी लट्ठे के पास खड़े व्यक्ति के निकट स्थित होता था। तोरण से १५० हाथ दूर लक्ष्य बनाकर उसे कोई धनुर्धर उन तीन बाणों से क्रमशः बींधने का उपक्रम करता था। जहाँ दूसरा बाण गिरता था, वहीं एक व्यक्ति उसे लेकर बैठ जाता था। न्यायाधीश के समीप एक दूसरा व्यक्ति नियुक्त होता था। न्यायाधीश तीन बार ताली बजाता था। तीसरी ताली बजते ही शोध्य डुबकी लगाता था और लट्ठे के समीप खड़े व्यक्ति का घुटना पकड़कर पड़ा रहता था। न्यायाधीश के समीप बैठा हुआ व्यक्ति दूसरे तीर को लिए हुये उस व्यक्ति की ओर दौड़ता था और उसके वहाँ पहुँचते ही तीर लिया हुआ व्यक्ति न्यायाधीश के पास दौड़ आता था। वहाँ आने पर यदि शोध्य नहीं दिखाई देता था अथवा उसके सिर के केवल बाल दिखाई देते तो वह निर्दोष माना जाता था, पर यदि कहीं उसके कान या अन्य अंग भी दिखाई दे जाते तो वह अपराधी माना जाता था।

विष-परीक्षा में महेश्वर की पूजा करके उनके समक्ष रखे हुए विष को शोध्य खाता था। ऋतुओं के अनुसार विष की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती थी। विष की स्तुति इन शब्दों में शोध्य करता था—'हे विष ! आप ब्रह्मा के पुत्र हैं। आप

सत्य का उद्घाटन करने में सुप्रतिष्ठित हैं। मुझे इस अभियोग से बचाइये और मेरे सत्य के द्वारा अमृत बन जाइये।' वह विष खाकर बिना भोजन के ही छाया में पड़ा रहता था। दिन भर उसकी देखभाल होती थी। यदि उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था तो उसे निर्दोष प्रमाणित किया जाता था। यदि विष की मात्रा अधिक होती और ५०० बार ताली पीटने तक ही वह उसके प्रभाव से मुक्त रहता था तो उसे निर्दोष प्रमाणित करके उसका उपचार आरम्भ किया जाता था।

कोष-परीक्षा में शोध्य के आराध्य देव की मूर्ति को जल से अभिषिक्त किया जाता था और अभिषिक्त जल को शोध्य को पिलाकर १४ दिनों तक उसका परिणाम देखा जाता था कि उस पर कोई विपत्ति पड़ी कि नहीं। यदि उस पर कोई असाधारण विपत्ति पड़ती तो उसे अपराधी माना जाता था। अन्यथा वह निर्दोष प्रमाणित होता था।

तण्डुल-परीक्षा में शोध्य को सूर्य की मूर्ति के अभिषिक्त जल से धुला हुआ चावल खाना पड़ता था। वह चावल को तीन बार एक-एक मुट्ठी खाकर पिप्पल के पत्ते पर थूकता था। यदि उसके थूक में रक्त मिला होता तो उसे अपराधी माना जाता था। अन्यथा वह निर्दोष प्रमाणित होता था।

तप्तमाष-परीक्षा में चौड़े मुंह के बरतन में घी या तेल को इतना तपाया जाता था कि उसमें उबाल आने लगे। फिर उसमें सोने का एक माषक का टुकड़ा डाल दिया जाता था। शोध्य को अपनी तीन अँगुलियों से उसे निकालना पड़ता था। यदि उसकी अँगुलियों में जलन होती तो वह अपराधी घोषित किया जाता था। अन्यथा वह निर्दोष प्रमाणित होता था। इसी के समकक्ष तप्त माष की दूसरी विधि में गाय के घी को तपाया जाता था और उसमें एक अंगूठी डालकर घी से प्रार्थना की जाती थी—आप यज्ञ के पवित्रतम द्रव्य हैं। आप अमृत हैं। शोध्य को जलाइये, यदि वह पापी हो, अन्यथा हिम की शीतलता प्रदर्शित कीजिये। फिर शोध्य अंगूठी को निकालता था। यदि वह जल जाता था तो अपराधी, अन्यथा निर्दोष सिद्ध होता था।

फाल-परीक्षा में फाल को इतना तपाया जाता था कि वह लाल हो जाता था। फिर अपराधी को उसे अपनी जीभ से चाटना पड़ता था। जल जाने पर वह अपराधी और न जलने पर निर्दोष सिद्ध होता था।

धर्म-परीक्षा में धर्म और अधर्म की अलग-अलग दो मूर्तियाँ बनाई जाती थीं या अलग-अलग पत्रों पर इनके चित्र क्रमशः श्वेत और काले बनाये जाते थे। उनको गोबर के गोलों में रख दिया जाता था और उन गोलों को पुनः मिट्टी के कोरे घड़े में रखा जाता था। तब शोध्य कहता था—यदि मैं शुद्ध हूँ तो धर्म

मेरे हाथ लगे। वह उसमें से एक गोला निकालता था। धर्माधर्म के अनुसार उसके दोष और निर्दोष का प्रमाण माना जाता था।

दिव्य परीक्षाओं का सुदूर प्राचीन वैदिक काल से प्रायः आज तक भारत में उपयोग होता आ रहा है। इनमें से कठिन परीक्षायें भी कभी-कभी अपनाई जाती रही हैं, पर धर्म-परीक्षा तो आज भी प्रायः धर्मशास्त्र के आचार्यों के द्वारा सन्देहास्पद परिस्थितियों में पाप का निर्णय करने में ली जाती है।

दण्ड-विधान

आर्थिक दण्ड उच्चतर जातियों पर अधिकाधिक होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से शूद्र के लिए स्वल्पतम आर्थिक दण्ड हो सकता था। शूद्र से दूना वैश्य पर, वैश्य से दूना क्षत्रिय पर और क्षत्रिय से दूना ब्राह्मण पर दण्ड होता था। इस-बढ़ते हुए दण्ड का कारण तत्कालीन धारणा के अनुसार यह था कि ब्राह्मण आदि पाप की बुराइयों से अधिकाधिक अवगत होते हैं।[1]

ब्राह्मणों के अपराधी होने पर उन्हें शारीरिक दण्ड न देने का विधान प्रायः सदा ही सिद्धान्ततः सर्वमान्य रहा पर अनेक ब्राह्मणों को केवल शारीरिक दण्ड ही नहीं, अपितु मृत्यु-दण्ड दिया गया। गौतम के अनुसार ब्राह्मण को अपराध से विमुख करने के लिये उसके अपराधी होने पर राजा के द्वारा उसका सर्वस्व हरण किया जा सकता था। नगर में उसके चोर होने की घोषणा की जाती थी और उसके ललाट पर उसके अपराध के सूचक चिह्न को अंकित कर दिया जाता था।[2] हत्या, चोरी या किसी की भूमि पर बलात् अधिकार कर लेने पर ब्राह्मण-अभियुक्त को आजीवन कपड़े से अपने नेत्रों को आच्छादित रखने का दंड दिया जाता था। जिन अपराधों के लिए दूसरों को मृत्यु-दंड देने का विधान था, उनके लिए ब्राह्मण के शरीर पर तप्त लोहे से चिह्नित करने, पूरे सिर के मूँड़ने, निर्वासन करने आदि का दण्ड दिया जाता था या गदहे पर बैठाकर उसे घुमाया जाता था।[3]

खेतों के सीमा-सम्बन्धी विवादों की अधिकता होना स्वाभाविक है। राजकीय नियमानुसार सीमा-प्रदर्शक चिह्न प्रतिष्ठापित किये जाते थे। सीमा का

---

१. गौतम १२.१५–१६, मनु० ८.३३८–३३९। मनु के अनुसार राजा भी अपराधी होने पर दण्डनीय है। मनुस्मृति ८.३३६।

२. गौतम १२.४४।

३. वही १२.४३, मनु ८.३७९, याज्ञ० २.२७०।

ज्ञान दृश्य और अदृश्य दो प्रकार के चिह्नों से होता था, साथ ही साक्षियों का मत लिया जाता था।[१] गाँव के लोगों को सीमा-सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने के लिये उसी गाँव के ४, ८ या १० लोग नियुक्त किये जाते थे।[२] कभी-कभी राजा स्वयं दो गाँवों के सीमा-सम्बन्धी विवादों का अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करने के लिए आ पहुँचता था, यदि अन्य उपायों से कोई समीचीन निर्णय नहीं हो पाता था।[३]

नगर की सड़कों पर गाड़ी आदि खड़ा कर देने से चलने वालों का अवरोध नहीं होना चाहिए। राजमार्ग पर कोई वृक्ष आदि नहीं लगा सकता था। सड़क पर बाधा खड़ी करने वालों को अथवा सड़क को मलिन करने वालों को आर्थिक दंड देना पड़ता था। जो गुरु, आचार्य और राजा के लिए मार्ग नहीं छोड़ते थे, उन्हें भी दंड देना पड़ता था।[४] सार्वजनिक स्थानों में मलिनता फैलाने वालों को दण्डित किया जाता था।[५]

वाणी के द्वारा दूसरों को मानसिक कष्ट पहुँचाना वाक्पारुष्य तथा प्रहार द्वारा किसी के शरीर को आघात पहुँचाना दंडपारुष्य है। इन दोनों प्रकार के पारुष्यों के लिए दंड का विधान था। वाक्पारुष्य का अपराधी होने पर ऊँची जातियों को कम और नीच जातियों को अधिक दंड दिया जाता था।[६] अन्धे को अन्धा कहना या काने को समदर्शी कहना भी दंडनीय अपराध माना जाता था।[७] यदि कोई व्यक्ति कर्त्तव्य करने वाले राजा को गाली देता तो उसे दंड दिया जाता था अथवा उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाती थी।[८] परिहास में अथवा प्रमादवश भी यदि निन्दात्मक बातें कही जाती थीं तब भी दंड दिया ही जाता था, यद्यपि वह आधा होता था।[९]

दंडपारुष्य के अन्तर्गत पशु-पक्षियों को क्षति पहुँचाना भी सम्मिलित था।

---

१. मनुस्मृति ८.२५२–२५३।
२. वही ८.२५८; याज्ञ० २.१५२।
३. मनु० ८.२६५; याज्ञ० २.१५३।
४. मनु० ९.२८२; कात्यायन० ७५६।
५. मनु० ९.२८३; कात्यायन० ७५८–७५९।
६. मनु० ९.२६७–२६८।
७. वही ८.२७४।
८. नारद० १८.३०; याज्ञ० २.३०२।
९. कात्यायन० ७७५।

याज्ञवल्क्य ने तो वृक्ष, लता झाड़ियों तक को हानि पहुँचाने वाले को दंडपारुष्य के विधान के अनुसार दंडनीय माना है।[1]

प्राचीन भारत चोरों को दंडित करने में बहुत सतर्क था। दो प्रकार के चोर माने जाते थे—प्रकाश और अप्रकाश।[2] अप्रकाश चोरों को तो हम सभी आजकल भी पूर्ववत् जानते-पहचानते हैं, पर प्रकाश-चोर आजकल भलीभाँति नहीं पहचाने जा रहे हैं। मनु के शब्दों में प्रकाश चोर नाना प्रकार के व्यवसायों से अपनी जीविका चलाते हैं, पर अपने व्यवसायों में धोखा-धड़ी का व्यवहार करते हैं। वे प्रकाश (प्रत्यक्ष) ही दूसरों का धन हड़प लेते हैं। अप्रकाश चोर छिपे-छिपे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ ले भागते हैं। मनु ने प्रकाश-चोरों की सूची में उत्कोचक (घूस लेने वाले), उपधिक (डाँटकर छीनने वाले), वंचक, कितव (जुआरी), मंगला-देशवृत्त (दूसरों का मंगल बतलाकर जीविका प्राप्त करने वाले), आर्य-देश में अनार्य चिकित्सक, शिल्पी, धूर्त और वेश्याओं की गणना की है। राजा का कर्त्तव्य था कि गुप्तचरों द्वारा इन सब को ढूंढ़ निकलवाये। पहले के चोरों को भी नये चोरों को ढूंढ़ निकालने के लिये नियुक्त किया जाता था। मनु की दृष्टि में चोरों के लिये मृत्यु-दंड ही एकमात्र उपयुक्त दंड है। केवल चोर ही नहीं, अपितु उनको भोजन, पात्र, शरण आदि देने वाले भी राजा के द्वारा दंडनीय माने जाते थे। जो सामन्त चोरों की सहायता करते थे, उनको चोरों की भाँति दंड देने का विधान था। मनु ने चोरों को सहसा दंड देने की विधि का समर्थन नहीं किया है। पहले इस बात का पूरा प्रमाण मिलना ही चाहिए था कि अभियुक्त वास्तव में चोर है और तब तो बिना अधिक विचार किये हुए ही उसे मरवा देना चाहिये।[3] मनु के नियमों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चोरों को घोर दंड दिया जाता था और उनको ढूंढ़ निकालने तथा उनके सहायकों को प्राप्त करने की प्रणाली उत्तम थी।

उच्च कुल के पुरुषों और स्त्रियों का अपहरण करने वालों को प्राण-दंड दिया जाता था।[4] व्यास के अनुसार स्त्री को चुराने वाले को आग से तपाये हुए लोहे की शय्या पर जलाकर मार डालना चाहिए तथा पुरुष को चुराने वाले के हाथ-पैर काट देना चाहिए था। दूसरों को बन्दी बनाने वालों को अथवा हाथी-घोड़ा

---

१. मनु० ८.२९६–२९८; याज्ञ० २.२२७–२२९; कात्यायन० ७९३।
२. मनु० ९.२५६।
३. मनु० ९.२५६–२७२।
४. मनु० ८.३२३।

चुराने वालों को सूली पर चढ़ाने का नियम याज्ञवल्क्य ने बनाया है।[१] ग्रन्थिभेदक का अंगूठा काटने का विधान था।[२] चोर को उपर्युक्त दंड पाने के अतिरिक्त चोरी के धन को लौटाना पड़ता था।[३]

उच्च वर्ण के लोगों पर हीन वर्ण के लोगों की अपेक्षा चोरी के लिए अधिक आर्थिक दंड लगाया जाता था। जिस चोरी के लिए शूद्र-चोर पर वस्तु के मूल्य का ८ गुना दंड लगता था, उसके लिए वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चोर पर क्रमशः १६ गुना, ३२ गुना और ६४ गुना दंड लगता था।[४]

स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के लिए व्यभिचारियों को घोर दंड देने की आवश्यकता का अनुभव प्राचीन शास्त्रकारों ने किया था। ऐसे व्यभिचारियों को मृत्यु-दंड तक देने की व्यवस्था की गई है।[५] नगर से निर्वासन, सारी सम्पत्ति का अपहरण, ललाट पर व्यभिचार सूचक योनि-चिह्न का मुद्रण आदि अन्य दंड व्यभिचारियों को दिये जाते थे। उच्च वर्ण की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने वाले पुरुषों को मृत्यु-दंड तथा स्त्रियों को नाक-कान आदि काट लेने का दंड दिया जाता था। व्यभिचारिणी स्त्रियों को कुत्तों से नुचवाकर मार डालने का दंड पहले के स्मृति और सूत्रकारों ने निर्णीत किया है, पर परवर्ती युग में मृत्यु-दंड का निषेध मिलता है। यदि पुरुष अपनी ही जाति की अविवाहित कन्या से व्यभिचार करता तो उसे उस कन्या से विवाह कर लेने की परिस्थिति में दंडनीय नहीं माना जाता था।[६]

शास्त्रीय दण्ड-विधान के अतिरिक्त कुछ मनोरंजक दण्ड देने की रीति सदा प्रचलित रही है। कश्मीर के राजा उच्चल ने अपराधियों को चारणों जैसे कपड़े पहना कर भरी सड़क पर डोमों की भाँति दौड़ाने का नियम चलाया था। अपराधियों की दाढ़ी-मूंछ पर कपड़ा लपेट कर उनके सिर पर बहुत ऊँची टोपी और हाथ में शूल पकड़वा कर उन्हें दिखा कर सबको हँसाया जाता था। कुछ अपराधियों को भड़कदार कपड़े पहना कर उन्हें भड़ुओं के बीच नचाया जाता था।[७]

---

१. याज्ञ० २.२७३।

२. मनु० ९.२७७।

३. मनु० ८.३२०।

४. गौतम १२.१२–१४; मनुस्मृति ८.३३७–३३८।

५. कात्यायन० ८३०।

६. मनु० ८.३६६; याज्ञ० २.२८८।

७. राजत० ८.९५–९६।

कारागार

कारागार में स्त्री और पुरुष बन्दियों के लिये अलग-अलग स्थान होते थे। उनके कक्षों की भली-भाँति रक्षा की जाती थी।[1] कारागार से पूर्णिमा के दिन तथा राजा के जन्म-नक्षत्र के दिन बाल, वृद्ध, व्याधित और अनाथ बन्दी छोड़ दिये जाते थे। उदार लोग या बन्दियों से समय कर लेने वाले लोग दोष-निष्क्रय देकर उन्हें छुड़ा सकते थे। प्रतिदिन या प्रति पाँचवें दिन कारागार से बन्दियों के काम देखकर या उनके शारीरिक दंड दे दिये जाने पर या उनके लिए पर्याप्त निष्क्रय मिल जाने पर उन्हें मुक्त किया जाता था। नये देश के विजय के अवसर पर, युवराज का अभिषेक होने पर या राजकुमार के जन्म होने के समय बन्दियों को प्रायः छोड़ा जाता था।[2] प्रतिभू मिलने पर बन्दी कुछ दिनों के लिए कारागार से बाहर हो सकता था।[3]

---

१. अर्थशास्त्र २.५ से।

२. वही २.३६ से। स्कन्दपुराण के अनुसार यमद्वितीया के दिन बन्दी अपनी बहिन के घर जाकर भोजन कर सकते थे। वैष्णव खण्ड, कार्तिक माहात्म्य, अध्याय ११ से।

३. सौन्दरनन्द ११.६०।

अध्याय १६

औद्योगिक प्रवृत्तियाँ

प्राचीन भारत के लोग कर्मनिष्ठ थे। उनको चाव था कि जिस किसी व्यवसाय में वे लगे हों, उसे श्रम और सुरुचि से सम्पादित करें।

वैदिक काल से ही परिश्रमपूर्वक अर्जन करने की शिक्षा सदैव मिलती है। यथा

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥ ऋग्वेद ४.३३.११।

परिश्रमी को छोड़कर किसी अन्य की सहायता देवता नहीं करते।

भूत्यै जागरणम्। अभूत्यै स्वपनम्। यजुर्वेद ३०.१७॥

जागना वैभव के लिए है; सोना पतन के लिए।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद ४२.२॥

काम करते हुए ही सौ वर्ष जीने की कामना करे।

शतहस्त समाहर। अथर्ववेद ३.२४.५॥

सौ हाथों से कमाओ।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। ऐतरेय ब्रा० ७.१५॥

बिना काम करके थके हुए को श्री नहीं मिलती।

को मनुष्यस्य श्वो वेद। शतपथ ब्रा० २.१.३.९॥

मनुष्य का कल कौन जानता है?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में जनसंख्या कम थी और लोग यदि विशेष श्रम न भी करते तो उन्हें भोजन-वस्त्र की कमी नहीं पड़ती, पर ऊंची संस्कृति और सभ्यता का निर्माण करने के लिये जिस तत्परता और कर्मण्यता की आवश्यकता होती है, वह उन लोगों में अतिशय मात्रा में परिव्याप्त थी। सारे राष्ट्र में उस युग में अधिक से अधिक योग देकर सर्वोत्तम वस्तुओं को बनाने और उत्पन्न करने का समुचित वातावरण था।[1] ऐसी परिस्थिति में भारत आधिभौतिक दृष्टि से भी संसार के राष्ट्रों में अग्रणी बन सका था।

---

१. इस प्रसंग में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन को भारत ने श्रेष्ठ कर्म प्रायः कभी नहीं माना। महाभारत के अनुसार–

उद्योग-धन्धों में कृषि, पशुपालन, व्यापार और शिल्प सर्वप्रथम रहे हैं। कृषि और पशुपालन तो प्रायः सभी करते थे। वैश्य कृषि, पशुपालन और व्यापार में विशेष रुचि रखते थे। शिल्प का व्यवसाय प्रधान रूप से शूद्रों का रहा है। गौण रूप से वैश्य भी शिल्प के द्वारा जीविका प्राप्त करते आये हैं। इन व्यवसायों के अतिरिक्त ऐसे लोगों की संख्या भी कभी कम नहीं रही, जो अस्त्र-शस्त्र बनाते थे अथवा समुद्र और पृथ्वी के गर्भ से अनेक प्रकार के रत्न और धातुओं को निकालते थे। प्रायः क्षत्रिय योद्धा सैनिक थे।

निरामिष भोजन की ओर प्रवृत्त समाज ने सर्वप्रथम वन्य अन्नों का चुनाव किया। वैदिक काल तक वन्य अन्नों को खाने-पीने का प्रचलन मिलता है। विना जोते-बोये उपजे हुए वन्य अन्नों को लोग इकट्ठा कर लेते थे। ऐसे अन्न को वैदिक काल में अकृष्ट-पच्य कहा गया है।[1]

कृषि

भारत-भूमि कृषि के लिये उत्तम रही है। यहाँ की जलवायु कृषि की उन्नति में विशेष रूप से साधक हुई है। भूमि की उत्कृष्टता तथा जलवायु की अनुकूलता के कारण यह देश कृषिप्रधान होकर रहा। भूमि में थोड़ा श्रम करने पर भी भरपूर उपज होती है और वर्षा से प्रायः सिंचाई हो सकती है। सिंचाई के अन्य साधन भी साधारणतः सरलता से उपलब्ध होते हैं।

लोकप्रियता

सिन्धु-सभ्यता के युग में कृषि के प्रति लोगों का पर्याप्त मात्रा में चाव रहा होगा। वे अनेक प्रकार की पैदावारें उपजाते थे। गेहूँ, जौ और रुई की उनकी पैदावार उच्च कोटि की थी। उनकी सुरुचि का प्रमाण तत्कालीन बैलों की आकृतियों से लग सकता है, जो उनकी खेती के काम में आते थे। अवश्य ही उनके बैल अत्यन्त विशाल, स्वस्थ और परिपुष्ट रहे होंगे।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च। उद्योग पर्व ३५.६५॥

स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि बुद्धि का जंघा से समन्वय हो सका होता तो उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भारत और अधिक समुन्नत होता। इस दृष्टि से ऋषियों ने खेती का काम अपने योग्य न माना। ऋग्वेद १०.७१.९॥

१. वाजसनेयि संहिता १८.१४।

आर्य-सभ्यता कृषि-प्रधान थी।[1] संस्कृत में कृष्टि और चर्षणि प्रजा के नाम हैं।[2] पंचकृष्टि और चर्षणि बड़ी जातियों के लिये प्रयुक्त हुये हैं।[3]

आर्यों की धारणा थी कि मानवों का कल्याण करने के लिये देवताओं ने सर्वप्रथम खेती का काम करना आरम्भ किया था। वैदिक ऋषियों ने कृषि के प्रथम आचार्य अश्विद्वय की स्तुति इन शब्दों में की है—मनु की सहायता करने के लिये आपने स्वर्ग में हल के द्वारा सर्वप्रथम हल-कर्षण किया था। आपने मनुष्य के लिये हल से जौ बोकर अन्न उत्पन्न करके आर्य जाति के लिये विस्तीर्ण ज्योति प्रकाशित की।[4]

वैदिक आर्यों ने खेती से सम्बद्ध देवताओं की कल्पना की। उनमें से प्रमुख क्षेत्रपति, सीता, इन्द्र, पर्जन्य आदि हैं। खेती के काम को मंगलमय बनाने के लिये वे समय-समय पर इन देवताओं की स्तुतियों का गायन प्रमुदित होकर करते थे। ऐसे गीतों का स्वरूप इस प्रकार था—

हे क्षेत्रपते, गाय जिस प्रकार दूध देती है, उसी प्रकार तुम मधुस्रावी, पवित्र और घृत-तुल्य जल-दान करो। अमरता के स्वामी हम लोगों को सुखी करें। हमारे पौधे, आकाश, जल, अन्तरिक्ष तथा क्षेत्रपति—सभी हमारे लिये मधुर बनें।

---

१. आर्य शब्द ऋ धातु से निकला है। ऋ का अर्थ संस्कृत में जाना है। इसी ऋ धातु के समकक्ष ग्रीक का aroein लैटिन का arare, और ऐंग्लो-सैक्सन का erian है, जिनका अर्थ कृषि करना अथवा जोतना है। अंग्रेजी में car बाल) तथा arable (जोतने योग्य) शब्द इसी मौलिक धातु से निकले हैं। संस्कृत में आर्य शब्द का एक मौलिक अर्थ वैश्य है, जो प्रत्यक्ष ही इस शब्द के मौलिक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। इसी ऋ धातु से अर्य शब्द निकला है, जिसका अर्थ वैश्य है। देखिए—अमरकोश 'ऊरव्या ऊरुजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः'। यहाँ आर्य की प्रधान अभिव्यक्ति खेती करने वाला है।

२. कृष्टि और चर्षणि के प्रजा-अर्थ में उपयोग के लिए देखिए—ऋग्वेद १.५२.११; १.१००.१०; १.१६०.५; १.१८९.३; ३.४९.१; ४.२१.२ आदि अथर्ववेद १२.१.३, ४। चर्षणि के लिए देखिए—ऋग्वेद १.८६.५; ३.४३.२; ४.७.४ तथा ५.२३.१।

३. पंचकृष्टि के लिए ऋग्वेद— २.२.१०; ३.५३.१६; ४.३८.१०; १०.६०.४; पंचचर्षणि के लिये ऋग्वेद—५.८६.२; ७.१५.२; ९.१०१, ९।

४. ऋग्वेद ८.२२ ६ तथा १.११७.२१ और अथर्ववेद ८.१०.२४ में पृथीवैन्य को कृषि प्रारम्भ करने वाला बताया गया है।

हमारे बैल और किसान सुखी रहें, हल सुखपूर्वक जोतें। जोता कोमलता से बाँधा जाय और अंकुश का प्रयोग सुख से हो।

हे इन्द्र! जिस जल को तुमने आकाश में उत्पन्न किया है, उसी से इस पृथ्वी को सींचो।

हे सीते, तुम हमारे समक्ष रहो। सौभाग्यवती बनो। तुम्हारी वन्दना करते हैं, जिससे तुम हमारे लिये समृद्धिशालिनी और सुफल बनो।

इन्द्र, सीता का निग्रह करे, पूषा उसका नियमन करे, वह पयस्वती सीता हम लोगों के लिये उत्तरोत्तर फल प्रदायिनी हो।

उल्लासपूर्वक फाल भूमि को जोते। हलवाहा आनन्दपूर्वक बैलों के साथ चले। पर्जन्य भूमि को मधुर जल से सींचे। शुन और सीर नामक देवता हमें अभ्युदय प्रदान करें।[1]

कवि की उपर्युक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कृषि का सारा आयोजन मनोरम था और कृषि-कर्म को लोग दैवी विधान मानते थे। तत्कालीन समाज की इस मनोवृत्ति का परिचय एक गीत में मिलता है—

हे पृथिवि, मैं जो कुछ तुमसे खोद निकालता हूँ, वह शीघ्र ही पुनः तुझमें उत्पन्न हो जाय।[2] मैं तुम्हारे मर्मस्थल और हृदय को किसी प्रकार क्षति न पहुँचाऊँ। आर्यों ने पृथिवी को माता माना, पर्जन्य को पिता माना और गाया—जिस पृथिवी पर अन्न, व्रीहि, यव और पंच-कृष्टियाँ हैं, उसी भूमि को, जो पर्जन्य की पत्नी है, मैं नमस्कार करता हूँ।[3]

कृषि की लोकप्रियता के पीछे समाज की अन्न सम्बन्धी मान्यतायें थीं, जिनके अनुसार अन्नवान् और अन्नाद उच्च कोटि की प्रतिष्ठास्पद उपाधियाँ मानी गईं और नियम बना कि न तो अन्न की निन्दा करो और न परित्याग। अन्न का परिमाण अधिकाधिक बढ़ाओ। परिश्रमपूर्वक यह करना ही है।[4] अन्न को ब्रह्म माना गया।[5] अन्न को देवता मानकर लोग उसके संवर्धन की कामना करते थे—उन्नत हो जाओ, अपनी शक्ति से बहु हो जाओ। दिव्य अशनि तुम्हारा वध न करे, तुम आकाश की भाँति ऊँचे उठो, समुद्र के समान पूर्ण और अक्षय बनो। तुम्हारी

---

१. ऋग्वेद ४.५७ से।
२. अथर्ववेद १२.१.३५।
३. वही १२.१.४२।
४. छान्दोग्य उपनिषद् २.८.३ तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली ७–९।
५. 'स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते आदि छान्दोग्य उपनिषद् ७.९.२।

राशि अक्षय हो, तुम्हारी उपासना करने वाले अक्षय हों, तुमको खाने वाले अक्षय हों।[१]

महाभारत के अनुसार वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) का आश्रय लेने वाला राष्ट्र सुखी रहता है।[२] रामायण के अनुसार राष्ट्र की सम्पन्नता का परिचय जलाशय, भली-भाँति जोती हुई भूमि और अदेवमातृक जनपद से मिलता है।[३] धान्य और खान वाली भूमियों का विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि खानों से कोश-मात्र बढ़ता है पर धान्य से कोष्ठ और कोष्ठागार दोनों भरते हैं। धान्य आदि से दुर्ग आदि बनते हैं।[४] कृषि की तत्कालीन प्रतिष्ठा का प्रमाण अर्थशास्त्र में उल्लिखित नीचे लिखे अवतरण से मिलता है—सभी बीजों की पहली मुट्ठी को बोते समय, सुवर्ण और उदक उसके साथ मिला लेना चाहिए और मन्त्र पढ़ना चाहिये

प्रजापतये काश्यपाय देवाय च नमः सदा।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च॥[५]

कृषकों के पुण्यात्मक अभ्युदय की कल्पना कृषि को अतिशय लोकप्रिय बना चुकी थी। इस योजना के अनुसार जिस किसान के खेत से, जितने अन्न के कण प्राणी खाते हैं, उतने ही पापों से वह किसान मुक्त हो जाता है।[६]

ऐसी परिस्थिति में लम्बे-चौड़े खेतों का स्वामित्व महिमा का द्योतक बन कर रहा।[७] यह तभी सम्भव हो सकता था, जब लोग वनों को काट-पीट या जलाकर नये-नये खेत बनायें।

खेती की महिमा नित्य बढ़ती गई। किसी राष्ट्र की समृद्धि की परख करने के लिए कसौटी नियत की गई कि वहाँ कितना अन्न उत्पन्न होता है।[८] महाभारत

---

१. अथर्ववेद ६.१४२।

२. वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते॥ सभापर्व ५.६९। यही श्लोक रामायण अयोध्याकाण्ड १००.४७ में है।

३. अयोध्याकाण्ड १००.४३–४६।

४. अर्थशास्त्र अनवसित प्रकरण।

५. सीताध्यक्ष प्रकरण ३७।

६. वृहत्पाराशरी ३.१५३–१५७

७. छान्दोग्य उपनिषद् ७.२४.२। यही विचार कठोपनिषद् में १.२३ में प्रकट किया गया है।

८. अर्थवानयं देश उच्यते यस्मिन् गावो सस्यानि च वर्तन्ते—महाभाष्य।

में अनेक स्थलों पर अन्न की महिमा गाई गई। कृष्ण ने गीता में अन्न की महिमा का निरूपण करते हुए बताया है कि अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं।

सुरुचिपूर्ण नागरिकों के अन्तःपुर की वाटिकाओं में गृहस्वामिनियों के द्वारा शाक-भाजी तथा मसाले की खेती करने का प्रचलन रहा है। वात्स्यायन के अनुसार, यह खेती उनकी रसिकता का परिचायक हो सकती थी।

आयुर्वेद में कृषि को लोकप्रिय बनाने की योजना प्रस्तावित की गई है। इस के अनुसार मानव-जीवन में अन्न का अतिशय महत्त्व है। चरक के शब्दों में प्राणियों का प्राण अन्न है। सारा लोक अन्न की ओर दौड़ता है। शरीर का सौन्दर्य, प्रसन्नता, वाणी, जीवन, प्रतिभा, सुख, सन्तोष, पुष्टि, बल, मेधा आदि सब कुछ अन्न में ही प्रतिष्ठित हैं। मानव के सारे कार्य-व्यापार, चाहे वे लौकिक या पारलौकिक अभ्युदय के लिए हों अथवा मोक्ष या ब्रह्मचर्य के लिए हों—अन्न में ही प्रतिष्ठित हैं।[१]

यद्यपि धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कृषि करने का निषेध कहीं-कहीं मिलता है, फिर भी सभी वर्णों के लोग अधिकाधिक संख्या में सदा कृषि करते आये हैं। क्षत्रिय संघों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि कम्बोज, सुराष्ट्र तथा कुछ अन्य देशों की क्षत्रिय-श्रेणियाँ वार्ता और शस्त्र से जीविका प्राप्त करती हैं।[२]

उपर्युक्त परिस्थिति में कृषि के अभ्युदय के प्रति सारा राष्ट्र जागरूक हो सका था और महर्षियों के आश्रम तथा राजाओं के प्रासाद से लेकर छोटे लोगों की झोपड़ी तक भूमि शस्य-श्यामला बनकर गौरवान्वित हुई। तभी तो अशोक के शासन-काल में महेन्द्र और संघमित्रा की अध्यक्षता में जो बौद्ध-धर्म-प्रचार-मण्डल लंका गया था, उसने बौद्ध-संस्कृति के प्रचार के साथ ही साथ सिंचाई की एक योजना प्रस्तुत करके उस प्रदेश की ऊसर भूमि को कृषि से हरा-भरा कर दिया।[३]

कृषि-विज्ञान

खेतों की सिंचाई करने के लिए नहरें बनाना और कुओं से जल निकालकर उसे नालियों द्वारा खेतों तक पहुँचाने की प्रक्रिया सिन्धु-सभ्यता के युग से

---

१. चरक-संहिता सूत्रस्थान २७.३४४-३४५।

२. अर्थशास्त्र भेदपाद।

३. *Saunders* : A Pageant of India, P. 60.

मिलती है। इस समय सिन्धु नदी से नहरें निकालकर खेतों की सिंचाई होती थी।[१]

वैदिक काल में हल चलते थे। उन हलों की रूप-रेखा कुछ ऐसी होती थी कि उनमें २४ बैल तक जोते जाते थे।[२] खेतों में खाद डाली जाती थी। विशेष परिस्थितियों में घी और मधु का खाद-रूप में प्रयोग होता था।[३] सिंचाई के लिए नहरें निकाली जाती थीं, जिनका नाम खनित्रिम था। फसलें बोने, जोतने, काटने तथा मीड़ने की प्रक्रियायें वैज्ञानिक ढंग पर चल चुकी थीं।[४] दात्र या सृणि नामक हंसिये से काटकर पूले बनाये जाते थे। पूले का नाम पर्ष था। जिस स्थान पर पौधों को मींड़कर अन्न को अलग करते थे, उसका नाम खल था।[५] भूसे या डण्ठल से अन्न को वायु के वेग से, चालन से अथवा सूप से अलग करते थे।[६] इस काम को करने वाला धान्यहृत् कहलाता था।[७] अन्न को ऊर्दर नामक पात्र से नापते थे।[८] शस्य वर्ष में दो या तीन बार होता था।[९] इस प्रकार के उत्पादन की विशेषता वैज्ञानिक आधार पर ही सम्भव हो सकी थी।

---

१. *Piggott :* Pre-historic India, P. 70.

२. काठक संहिता १५.२, बारह बैल के हल—तै० सं० १.८.७.१; ५.२.५.२; काठक संहिता १५.२; मैत्रायणी संहिता २.६.२; छः बैल के हल अथर्ववेद ६.९१.१; ८.९.१६; तै० सं० ५.२.५.२ काठक संहिता १५.२; २०.३; शत० ७.२.२.६; आठ बैल के हल अथर्व० ६.९१.१।

३. अथर्व० ३.१७.९।

४. शतपथ ब्राह्मण १.६.१—३। बोने का उल्लेख ऋग्वेद १०.९४ में, मीड़ने का वहीं १०.४८ में और भूसा उड़ाने का वहीं १०.२७ में मिलता है। वाजसनेयि संहिता १२.६७—६९ में भी कुछ अन्य विधियों का उल्लेख है। ऋग्वेद ८.७८.१०; १०.१०१.४ तथा ८०.१३१।

५. ऋग्वेद १०.४८.७।

६. ऋग्वेद १०.७१.२; अथर्ववेद १२.३.१९।

७. ऋग्वेद १०.९४ ३।

८ ऋग्वेद २.१४.११।

९ तै० सं० ५.१७.३, तै० सं० ४.२ तथा ७.२.१० के अनुसार यव गर्मी में पकता था और शरद् में बोया जाता था। धान शरद् में पकता था और वर्षा में बोया जाता था तथा तिल, माष आदि जाड़े में पकते थे। तै० सं० ५.१.७.३ के अनुसार शस्य वर्ष में दो बार होते थे।

वैदिक आर्यों ने उपजाऊ और ऊसर भूमि की परख कर ली थी। उस समय उपजाऊ खेतों का नाम अप्नस्वती और खेती के अयोग्य भूमि का नाम आर्तना मिलता है।[1] खेती के लिये नहरों का पानी देने और खाद के प्रयोग करने से उनके लिये सम्भव हो सका था कि वे भूमि से अधिक से अधिक अन्न उपजा सकें।[2]

वैदिक युग में खेतों की माप होती थी।[3] खेतों पर लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व था। इससे प्रतीत होता है कि खेती की भूमि को उन लोगों ने कालान्तर में अपने प्रयोगों के द्वारा इतना उर्वरा कर लिया था कि वंश-परम्परा से वे उन खेतों पर अधिकार रख कर उन्हें अपनी जीविका का साधन बनाते थे।[4] ऐसी स्थिति में अच्छे खेतों के लिए युद्ध तक होते थे।[5] कोई मनुष्य साधारण परिस्थितियों में सरलता से अपने खेतों को छोड़ना या देना नहीं चाहता था।[6] फिर भी राजाओं के द्वारा गाँवों के दान महर्षियों के लिए होते थे।[7]

वैदिक काल में लोग शक के धूम का निरीक्षण करके भविष्य के जल, वायु तथा ताप का अनुमान कर लेते थे।[8] अर्थशास्त्र के अनुसार कृषि-विज्ञान की अच्छी उन्नति हो चुकी थी। कृषि-विज्ञान के अंग—कृषितन्त्र, गुल्म तथा वृक्षायुर्वेद थे। राजकीय कृषि के लिए सीताध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारी नियुक्त होते थे। वे कृषि-विज्ञान में निष्णात होते थे। उस समय का कृष्याचार्य विश्वासपूर्वक कह सकता था—'कृत्रिमा हि भूमिगुणाः' अर्थात् गुणहीन पृथ्वी को भी गुणवती बनाया जा सकता है।[9]

---

१ ऋग्वेद १.१२७.६।

२ ऋग्वेद ७.४९.२; अथर्ववेद १.६.४; १९.२.२ खाद के लिए देखिए अथर्ववेद ३.१४.३–४ तथा १९.३१.३।

३ ऋग्वेद १.११०.५।

४ ऋग्वेद ८.९१.५।

५ ऋग्वेद ४.३८.१; ६.२०.१; २.२१.१; तैत्तिरीय संहिता ३.२.८.५ काठक संहिता ५.२ मैत्रायणी संहिता ४.१२.३।

६ शतपथ ब्राह्मण १३.६.२.१८; १३.७.१३.१५।

७ छान्दोग्य उपनिषद् ४.२.४।

८ अथर्ववेद ६.१२८.१–४। ऐसे वैज्ञानिकों को शकधूम कहा जाता था।

९ अर्थशास्त्र के अनवसित सन्धि-प्रकरण से।

सिंचाई

पहले कहा जा चुका है कि सिन्धु-सभ्यता के युग में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के उपवर्ती प्रदेशों में कृषि होती थी। उसके लिये सिन्धु-नदी का जल सिंचाई के काम में आता था। लगभग उसी युग में बिलोचिस्तान प्रदेश में पत्थर के बने बाँधों के द्वारा नदियों का पानी रोककर सिंचाई करने की व्यवस्था थी। मश्काई घाटी में ३२ हाथ की दूरी पर दो बाँध मिले हैं। इनके द्वारा ऊपर के पर्वत से आता हुआ पानी अभीष्ट दिशा में बहाया जाकर इकट्ठा किया जाता था और समयानुसार उससे सिंचाई की जाती थी।[१] ऐसी व्यवस्था भारत के कुछ भागों में लगभग ५००० वर्ष पहले प्रचलित थी।

वैदिक साहित्य के अनुसार आर्य-कृषकों की सिंचाई प्रधानतः कुओं से प्रायः उसी प्रकार होती थी, जैसे आजकल होती है। तत्कालीन कुओं के नाम अवत और उत्स मिलते हैं। जल चक्र से निकाला जाता था। उस चक्र से वरत्रा सम्बद्ध होता था और वरत्रा से कोश लगा होता था। लकड़ी के कुण्ड से आहाव में जल ढाला जाता था। जल को सुर्मी या सुषिरा (नाली) से खेतों तक पहुँचाया जाता था।[२] कुल्या नहरों के समान थीं, जिससे बड़े ह्रद (जलाशयों) में पानी इकट्ठा किया जाता था।[३]

नहरें खोदने के उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं।[४] नहर को गाय रूपी नदी का वत्स माना गया है। परवर्ती युग में नहर बनाने का व्यवसाय चल पड़ा। नहर बनाने वाले को नेतृक कहते थे।[५]

रामायण और महाभारत के युग से सिंचाई के लिये जलाशयों का प्रचलन विशेष रूप से बढ़ा। इसके पहले के युग में प्रायः लोग नदियों के तट पर रहा करते

---

१. Pre-historic India, P. 69.

२ ऋग्वेद १०.१०.१७ में अंसत्र-कोश का प्रयोग सिंचाई के उपादान—कोश के अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद १०.१०१.७ तथा ८.७२.१० में अश्मचक्र का दूसरा नाम उच्चाचक्र मिलता है। वरत्रा का उल्लेख ऋग्वेद १०.१०१.६ में है। ऋग्वेद १०.१०२.११ में कुचक्रा भी सम्भवतः गड़ारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। आहाव के लिए ऋग्वेद १.१०१.६—७ तथा सुर्मी-सुषिरा के लिए ऋग्वेद ८.६९.१२ देखिए।

३ म्योर संस्कृत टेक्स्ट, पृ० ५.४६५—४६६। ऋग्वेद १०.४५.३।

४ अथर्ववेद ३.१३.१०.४३.७।

५ धम्मपद ६.५।

थे और उनकी सिंचाई के लिये नहरों का पानी पर्याप्त होता था, पर नदियों से दूर के प्रदेशों में जलाशय के जल से सिंचाई की सर्वोत्तम व्यवस्था हो सकती थी। जलाशय दो प्रकार के होते थे : प्राकृतिक नालों को बाँधकर अथवा भूमि को खोदकर बनाये हुये। महाभारत के अनुसार कृषि वर्षा के अधीन नहीं छोड़ी जानी चाहिये। यथास्थान बड़े-बड़े जलपूर्ण जलाशय सिंचाई के लिये होने चाहिये।[1] महाभारत-कालीन तड़ागों के चारों ओर वृक्ष आरोपित होते थे। कई तालाबों में केवल वर्षा में जल रहता था। बड़े तालाबों में वर्ष भर जल पूरा रहता था।[2]

सिंचाई के लिये कभी-कभी गाँव के सभी लोग सम्मिलित होकर बाँध बनवाते थे। पूरा गाँव उसमें धन लगाता था और प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक था कि वह स्वयं काम में जुटे। यदि कोई स्वयं नहीं जाता था तो उसे व्यय में तो भागी होना पड़ता था, पर लाभ में उसे कोई भाग नहीं मिलता था।[3] खेती के काम के लिये बीस हल से जोती जाने योग्य भूमि पर एक कुआँ बनाने का विधान था।[4] सिंचाई करने योग्य भूमि में अनेक जलाशय ऊपर-नीचे बने होते थे। ऊँचाई पर बने जलाशयों से नीचे के जलाशयों में पानी भरता रहता था।[5] सिंचाई के लिये जलाशयों का महत्त्व लोगों ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था। सेतुबन्ध (जलाशय) अन्न की उत्पत्ति के हेतु हैं, अच्छी वर्षा से जो खेती हो सकती है, वह नित्य ही सेतुबन्धों के द्वारा सम्भव है।[6] वायु की शक्ति से जल ऊपर खींचकर सिंचाई होने लगी थी।[7]

मौर्यकाल में राजा की ओर से सिंचाई का जो प्रबन्ध किया गया था, उसकी एक ऐतिहासिक झलक सुदर्शन झील के शिलालेख में मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में ३१० ई० पू० में आधुनिक जूनागढ़ प्रान्त के गिरिनगर में ऊर्जवत् पर्वत की घाटी को बाँधकर एक बड़ी झील बनाई गई। अशोक ने २६० ई० पू०

---

१ कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका।। सभापर्व ५.६७।।

२ अनुशासन ६४.६ ।।

३ अर्थशास्त्र जनपद-निवेश प्रकरण २५.२७।

४ वही दुर्ग-निवेश।

५ अर्थशास्त्र-वस्तु-विक्रय प्रकरण से।

६ सेतुबन्धः सस्यानां योनिः। नित्यानुषक्तो हि वर्षगुणलाभः सेतुवापेषु। अर्थशास्त्र हीनशक्तिपूरण-प्रकरण ३६।

७ अर्थशास्त्र वस्तु-विक्रय-प्रकरण।

में सिंचाई के लिये उससे अनेक नहरें निकलवाईं। यह बाँध १५० ई० में टूट गया। पश्चिमी भारत के राजा रुद्रदामन ने इसको फिर बनवाया। लगभग ३०० वर्षों के पश्चात् यह बाँध एक बार और टूटा और ४५६ ई० में स्कन्दगुप्त ने इसको बनवाया। इस प्रकार के बाँध बनवाने का काम तथा अन्य सिंचाई के प्रबन्ध प्रायः सभी राजाओं ने किये। ई० पू० दूसरी शताब्दी में खारवेल ने ३०० वर्ष पूर्व नन्दों के द्वारा बनवाई हुई नहर को अपनी राजधानी तक बढ़ाया।[1]

गुप्तकाल में राजा आदित्यसेन की स्त्री ने एक बड़ा जलाशय बनवाया। निर्जल प्रदेशों में विशेष लक्षणों के द्वारा भूगर्भ में जल की प्रणालियों का परिचय प्राप्त करके कुयें बनाने की रीति थी।[2]

कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के मंत्री ने बाढ़ आने पर झेलम के तट पर बाँध बनवाकर उससे नहरें निकलवाईं। उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि की जांच करवाई कि उसे कितने जल की आवश्यकता है और फिर उचित मात्रा में सिंचाई के लिए जल देकर खेती का ऐसा सुप्रबन्ध कराया कि चावल का मूल्य पहले से $\frac{1}{2}$ रह गया। कल्हण ने राजतरंगिणी में सूर्य की चतुरता का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने नदियों को इस प्रकार नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है।

दशवीं शती में परमारवंशी राजा वाक्यपति मुंज ने अनेक जलाशय खुदवाये। उनमें से मुंजसागर अब भी धारा नगरी के समीप उसकी कृति का स्मारक-स्वरूप विराजमान है। इसी वंश के राजा भोज ने ग्यारहवीं शती में भोपाल के समीप भोजपुर में एक बड़ी झील बनवाई, जो अपने युग में सर्वोत्तम गिनी गई। इसका विध्वंस शाहहुसेन ने १५वीं शती में कर दिया।

तामिल प्रदेश में नदियों का जल मुहाने के पास रोक कर उससे सिंचाई की जाती थी। सिंचाई के लिये करिकाल चोल ने १०० मील का बाँध कावेरी पर बनवाया और नहरें निकालीं। चोलों ने बहुत से कुयें और जलाशय भी बनवाये। इस वंश के राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी के समीप एक झील बनवाई, जो कोलरून और वेल्लार नदियों के जल से भरी जाती थी। झील के चारों ओर की भित्ति ४ मील लम्बी थी। इसमें पत्थर के बने हुए नाले और नालियाँ बनाई गई थीं। उनसे सिंचाई का पानी बाहर आता था। राजेन्द्र का बनवाया हुआ सिंचाई

---

१. खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेख में इस घटना का उल्लेख करते हुए कहा गया है—सितलतडाग पाडियो च बन्धापयति तथा पंचमे च दानि वसे नन्दराज तिवससत ओघाटितं तनसुलियवाटापणाडि नगरं पवेसयति ॥

२. बृहत्संहिता अध्याय ५४।

का जलाशय १६ मील लम्बा था। दक्षिण भारत के पल्लव राजाओं ने भी खेती के लिये सिंचाई का प्रबन्ध किया। उन्होंने अनेक झीलों और जलाशयों का निर्माण कराया।

शस्य

कृषि के प्रमुख शस्यों में से ईख, धान और कपास को भारत की निजी उपज कहा जा सकता है, क्योंकि इनके मूल वन्य रूप में इस देश में पाये जाते हैं। धान की खेती भारत से चीन ने सीखी है।[1] चीनी के लिए सारे संसार में व्याप्त शुगर शब्द संस्कृत के शर्करा से निकला है।[2] रूई के लिए भी विश्व की अनेक विभिन्न भाषाओं में पाये जाने वाले शब्द संस्कृत के कर्पास से निकले हैं।[3] संभव है, प्रागैतिहासिक युग में सिन्धु-सभ्यता के उद्भव से पहले ही भारत में धान, ईख और कपास की खेती वैज्ञानिक ढंग से होती रही हो। गेहूँ और जौ के पौधे वन्य रूप में भारत में नहीं मिलते। इनकी खेती संभवतः फारस से लेकर मिस्र तक के भूभाग में कहीं आरम्भ हुई और उन प्रदेशों से होकर जो लोग भारत आये, उन्होंने इस देश में गेहूँ और जौ की खेती आरम्भ की।

सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में जो कपड़ा मिला है, वह गास्सिपियम (Gossypium) पौधे का है। यही पौधा इस प्रदेश में अब भी होता है। सिन्धु-प्रदेश में रूई की कृषि तथा वस्त्र का व्यवसाय सदा अधिकाधिक मात्रा में होता रहा। मेसोपोटामिया देश के लोग व्यापार के माध्यम से सिन्धु-प्रदेश की रूई से इतने अधिक परिचित हो गये कि उन्होंने अपनी भाषा में सिन्धु को रूई का पर्याय मान लिया। ग्रीक भाषा में मेसोपोटामिया का सिन्धु (रूई) सबर सिण्डन रूप में प्रचलित हुआ।

---

१. लगभग २००० ई० पू० में भारत देश से चीन वालों ने धान की खेती करना सीखा। फारसी विरिंजि, अरबी अरुज्ज, ग्रीक ओरिज आदि शब्दों का मूल संभवतः संस्कृत व्रीहि है।

२. फ्रेंच सुक्र (Sucre), स्पेनी अजुकर, अरबी अस्सोखर, फारसी शकर आदि संस्कृत शर्करा के समकक्ष हैं। चीनी वाले अनेक पौधे वन्य रूप में भारत में मिलते हैं।

३. हेब्रु का कपस् तथा ग्रीक और लैटिन में कर्पसास या कर्बसास शब्द संस्कृत के कर्पास के समकक्ष पड़ते हैं। इसकी उपज ग्रीस में नहीं होती थी। हेरोडोटस ने इसे वृक्ष का ऊन कहा है। चीन में १३वीं शताब्दी ईसवी में इसकी खेती आरम्भ हुई।

ऋग्वेद में यव और धान इन्हीं दो अनाजों के उल्लेख मिलते हैं, पर यव और धान से यह नहीं निश्चित हो पाता कि वे कौन से अनाज थे अथवा वे आधुनिक जौ और धान के पूर्वज हैं। परवर्ती वैदिक साहित्य में अनेक अनाजों के नाम मिलते हैं—व्रीहि (चावल), यव (जौ), मूंग, माष, तिल, अण्ड, खल्व, गोधूम (गेहूँ), नीवार, प्रियंगु, मसूर तथा श्यामाक।[१] उस समय उपजने वाले उर्वारू तथा उर्वारूक ककड़ी थे।[२] अलाबु से पात्र बनाये जाते थे।[३] संभवतः इसकी खेती भी होती थी।

वैदिक काल से भारत में अनेक प्रकार के धानों की खेती होती रही है। इनके नाम व्रीहि, महाव्रीहि, तण्डुल, शारिशाका, आशु, प्लाशुक, नीवार, हायन आदि मिलते हैं।[४] परवर्ती वैदिक युग से ईख की खेती की चर्चा मिलती है।[५]

तेल के पौधों की खेती की वैदिक काल में प्रगति हुई। तिल की खेती प्रधान रूप से होती थी।[६] तिल के अतिरिक्त सरसों की खेती होती थी।[७] एरण्ड की खेती का उल्लेख मिलता है।[८]

सन के वन में उत्पन्न होने की चर्चा वैदिक साहित्य में मिलती है। संभवतः इसकी खेती उस युग में होती हो।[९]

महाभारत के अनुसार विशेष रूप से जिन अन्नों का उत्पादन किया जाता था,

---

१. वाजसनेयि संहिता १८.१२ अणु, प्रियंगु, श्यामाक और खल्व क्रमशः चीनक, कंगनी, साँवा और चना हैं। यज्ञ के द्वारा इन अन्नों को प्राप्त करने की कामना की जाती थी।

२. उर्वारु के लिए देखिए अथर्ववेद ६.१४.२ तथा उर्वारूक के लिए अथर्व० १४.१.१७, मैत्रायणी संहिता १.१० ४, तै० सं० १.८.६.२ तथा वाजसनेयि संहिता ३.६०।

३. अथर्ववेद ८.१०.२९; २०.१३२.१, २।

४. धान के विविध नामों के लिए देखिए अथर्व० ६.१४०.२; ८.७ २०। तण्डुल अथर्व १०.९.२६। आशु और महाव्रीहि तै० सं० १.८; १०.१। प्लाशुक शतपथ ५.३.३.२।

५. अथर्ववेद १.३४.५; १२.२.५४ मै० सं० ३.७.९ वाज सं० २५. १ तै० सं० ७.३.१६.१।

६. अथर्ववेद २.८.३; १२.२.५४; १८.३.६९; १८.४।

७. षड्विंश ब्राह्मण ५.२; छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.३।

८. शांखायन आरण्यक १२.८।

९. अथर्ववेद २.४.५ तथा शतपथ ३.२.१.११ और १.६.१.२४।

उनके नाम धान्य, यव, तिल, माष, कुलत्थ, सर्षप, चण, कलाय, मुद्ग, गोधूम, अतसी आदि मिलते हैं।[1]

व्यापारिक दृष्टि से पिप्पली की खेती बहुत महत्वपूर्ण थी। प्राचीन काल में संभवतः भारत में ही इसकी खेती होती थी और यहीं से यह दूसरे देशों को जाती थी।[2] दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर इसकी खेती विशेष रूप से होती थी और द्रविड़ व्यापारियों के द्वारा यह पश्चिमी देशों में भेजी जाती थी। प्लीनी ने लिखा है कि एक पौण्ड पिप्पली का मूल्य १५ दीनार तक लगता था। एलरिक ने जब रोम पर घेरा डाला तो उसे उठाने के लिए ३००० पौण्ड पिप्पली तथा स्वर्ण और रजत की मांग की थी।

विदेशों में व्यापार करने के लिए पिप्पली के अतिरिक्त अन्य भारतीय मसाले, जिनकी खेती की जाती थी, लवंग, इलायची, दालचीनी, कुष्ठ, शृंगिवेर (अदरक) और हरिद्रा (हल्दी) हैं। इन सबकी खपत ग्रीक लेखकों के अनुसार रोम के बाजारों में बड़े चाव से होती थीं।[3] केसर की खेती के लिए कश्मीर बहुत पुराने समय से प्रसिद्ध रहा है।[4]

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि भारत में ईसवी शती के पहले ही अनेकानेक अन्नों और मसालों की खेती होती थी।

उपवन

वन का संस्कृति-सम्पन्न रूप उपवन है।[5] आदिकाल से मानव अन्य पशु-पक्षियों की भाँति वन-वृक्षों के फल-फूल चाव से खाता आ रहा है। कालान्तर में पुष्पों की उपयोगिता जल, तेल, अंगराग, वस्त्र, चूर्ण, शय्या आदि को सुवासित करने में रही है। विविध प्रकार के अलंकार और विशेषतः मालायें पुष्पों

---

१ अनुशासन ११२.६२।

२ ऐंग्लोसैक्सन पिपर, लैटिन पिपेर, ग्रीक प्रेपेरी आदि संस्कृत पिप्पलि के अपभ्रंश हैं। अथर्व० ७.१०९.१ में पिप्पली का उल्लेख है। रामायण अरण्य ११.४९.३८ के अनुसार पिप्पली के वन भी होते थे।

३ प्लीनी १४.१४; १२.२५, २६।

४ सुश्रुत संहिता में इसका उल्लेख मिलता है। वाटर्स : ह्वेनसांग भाग १, पृ० २६३। राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर केसर और द्राक्षा का देश है।

५ अमरकोश के अनुसार—आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्। आराम उपवन है और उपवन कृत्रिम वन है। वनौषधिवर्ग २।

की बनाई जाती थीं। शाल और चन्दन आदि वृक्षों की पुष्पित और सुपल्लवित शाखायें बैठने के काम में आती थीं।[1] इनके अतिरिक्त इनकी छाल से वल्कल आदि अनेक प्रकार के वस्त्र, पुष्पों से रंग, निर्यास से लाक्षा आदि बनाई जाती थीं। कालान्तर में जिन वृक्षों को मानव ने अपने लिये अधिक उपयोगी समझा उसे अपने घर के समीप उपजाने का तथा उसकी समुचित सुरक्षा का प्रबन्ध किया। साथ ही अनुपयुक्त वृक्षों को लोग काट डालते थे। यही उपवन का समारम्भ है।

लोकप्रियता

वैदिक काल में लोग वृक्ष की पके फल वाली शाखा को इन्द्र की सूनृत वाणी के समान फलप्रदायिनी मानते थे।[2] वैदिक काल के अन्तिम युग में अरण्यों में बसने वाले मुनियों के आश्रम के समीप उपवन की प्राथमिक झलक मिलती है। उन मुनियों का भोजन प्रधान रूप से वनों और उपवनों के वृक्षों से प्राप्त होता था। वनीय उपवनों के उल्लेख रामायण, महाभारत तथा बौद्ध साहित्य में प्रायः मिलते हैं। उपवनों के वृक्षों की रूपरेखा वन के वृक्षों से भिन्न होती थी। उपवन के वृक्षों के पत्र स्निग्ध होते थे।[3] आश्रमवासियों का इन उपयोगी वृक्षों के प्रति सदा रक्षापूर्ण ध्यान रहता था।[4]

वन में या नगरों के समीप और आश्रमों के उपवर्ती प्रदेशों में उपवन बनाने का प्रचलन प्रायः प्राचीन युग में सदा ही रहा।[5] बौद्ध संस्कृति में विहार और आराम (उपवन) का इतना निकट सम्बन्ध था कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हो गये। गौतम बुद्ध को आरामों में रहना बहुत भाता था।

---

१ किष्किन्धाकाण्ड ५.१९–२१।

२ ऋग्वेद १.८८।

३ रामायण अरण्यकाण्ड ११.७८।

४ रामायण अयोध्याकाण्ड ९०.८ के अनुसार वसिष्ठ और भरत ने भरद्वाज से आश्रम के वृक्षों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। मुनि वन का पुत्रवत् पालन करते थे।

५ महाभारत आदिपर्व ६४वें अध्याय में कण्व के आश्रम, महावग्ग ६.१५ में पिलिन्द-वच्छ के गुहा-विहार, रघुवंश १.५१; १४.७८, अभिज्ञान-शाकुन्तल प्रथम अंक में, कादम्बरी में, उत्तररामचरित ३.२०, में आश्रमों के उपवर्ती उपवनों के उल्लेख हैं।

उपर्युक्त वनीय उपवनों के आदर्श को नागरिकों ने अपनाया। फिर तो प्रत्येक भवन, नगर और गाँव से सम्बद्ध उपवन होने लगे। उपवन नगर की समृद्धि के द्योतक माने गये।[1] उपवनों के बीच में जो घर बनाये जाते थे, उनका नाम आरामागार रखा गया।[2] तत्कालीन साहित्य के अनुसार अयोध्या, कपिल-वस्तु, उज्जयिनी, मथुरा आदि नगरों में सैकड़ों उद्यान थे।[3] समृद्ध नागरिक का लक्षण माना गया कि उसके उपभोग के लिए उपवन हो।[4]

उपवनों का उपयोग सुदूर प्राचीन काल से ही क्रीड़ा के लिये होता आ रहा है।[5] क्रीड़ा के उपवन सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाये जाते थे। उसमें पत्र-पुष्प और फल की छटा के साथ लतागृह, चित्रगृह, शैलगृह, क्रीडा-पर्वत, जल-क्रीड़ा की पुष्करिणी आदि की शोभनीय छटा होती थी।[6] ऐसे उपवनों में अनेक मांगलिक वृक्ष हुआ करते थे। अनेक उत्सवों पर वृक्षों की पूजा होती थी, विशेषतः वसन्तोत्सव के उन अवसरों पर प्रमद-वन में आम्रमंजरी, कुरवक-पुष्प-स्तबक' आदि की मनोहारिता पर प्रसन्नता प्रकट की जाती थी।[7] इन्हीं उद्यान-परम्पराओं में राज-दम्पती का विहार होता था।[8] प्रायः सभी बड़े घरों में मदन-वृक्ष होता था, जहाँ कामदेव की पूजा होती थी।[9] भवन-सहकार की शाखा पर शुक-पंजर लटकाये जाते थे।[10] विलासी

---

१ महावग्ग ८.१.१ के अनुसार वैशाली में ७७०७ आराम तथा पुष्करिणियाँ थीं।

२ रामायण सुन्दर ४१.१९।

३ अमरकोश वनौषधि वर्ग १—३ के अनुसार निष्कुट और गृहाराम घर के साथ लगे उपवन थे। राजा के अमात्य और गणिका के गेह के उपवन वृक्षवाटिका कहलाते थे। राजा के साधारण उपवनों के नाम आक्रीड और उद्यान थे। प्रमद-वन रानियों के लिए होता था। रामायण में आक्रीड का उल्लेख अयो० ५०.१५ में मिलता है।

४ अंगुत्तर १.१४५।

५ धम्मद्धज जातक २२०।

६ आचाराङ्ग १८.२.३।

७ विशेष विवरण के लिए देखिए अभिज्ञान-शाकुन्तल अंक ६.२, ३, ४ तथा रत्नावली अंक १.१८, १९, २२ आदि।

८ रघुवंश ६.३५।

९ कादम्बरी पृ० ५०।

१० वही, पृ० ९७।

लोगों को इस प्रकार घर तक में वृक्ष लगाने का चाव होता था।[१] राजभवन के उद्यानों में लतायें होती थीं और इन्हीं आत्म-संवर्धित लताओं के पहले-पहल कुसुम आने का समाचार देने पर रानी अशेषाभरण का दान करती थी।[२] निस्सन्देह राजभवन के वृक्ष राजकुल के सदस्यों की भाँति प्रतिष्ठित होते थे। इन वृक्षों पर राजकुल के सदस्यों का आत्मीयतापूर्ण स्नेह होता था।[३] नागरिक संस्कृति में वृक्षों और लताओं का धूमधाम से विवाह करने का प्रचलन था।[४]

कामसूत्र के अनुसार नागरिक की पत्नी, पौधों के बीज संग्रह करके, उनको कलात्मक ढंग से बोने तथा उनकी सिंचाई और संवर्धन की व्यवस्था करती थी। तत्कालीन संस्कृति में नागरिक के गृहस्थ-जीवन के आमोद-प्रमोद के लिये गृह-वाटिका का मनोरम वातावरण अतिशय महत्त्वपूर्ण था। उपवन के पुष्पों से प्रमोद के लिये जल-गृह का स्थण्डिल सजाया जाता था। इसी उद्यान के छाया-समन्वित स्थान में झूला डाला जाता था।

कालिदास के वृक्षों ने शकुन्तला के प्रस्थान के अवसर पर उसके लिये मांगलिक क्षौम,लाक्षारस आदि दिये और वन-देवियों ने अनेक आभरण दिये।[५] "वायु कदम्ब सर्ज, अर्जुन, केतकी आदि के वनों को हिलाता हुआ, उनके कुसुमों से अधिवासित होकर, 'चन्द्रमा और बादलों के सम्पर्क से शीतल होकर किस व्यक्ति को समुत्सुक नहीं कर देता और विकसित कोविदार किसके हृदय को विदारित नहीं करता, जब उसकी मनोरम शाखायें मन्द अनिल के वेग से आकुलित होती है और मत्त भौंरे उसके मधुरस का पान करते हैं? जिन उपवनों में से शेफालिका पुष्पों की मधुर गन्ध बिखरी

---

१ उत्तरमेघ १५.१८।

२ कादम्बरी, पृ० १८८, अभिज्ञान शा० ४.९।

३ हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास से। इस सम्बन्ध में देखिए अभिज्ञान शा० ४.१० अनुमतगमना शकुन्तला आदि।

४ देखिए कादम्बरी, पृ० ३१६। कादम्बरी जीवन-आशा छोड़ चुकी है। उसे अपने लगाये हुए वृक्षों की स्मृति हो आती है। वह अपनी सखी मदलेखा से कहती है—मेरे पुत्रक आम्र शिशु का, जो आँगन में है, माधवी लता के साथ मेरे ही समान ध्यान देते हुए विवाह कर देना। मेरे द्वारा लालित अशोक के पत्ते कर्णपूर बनाने के लिए भी न तोड़े जाएँ। मेरे द्वारा संवर्धित मालती के पुष्प देवार्चन के लिए भी न तोड़े जाएँ। मेरे लगाये हुए आम के पौधों का इस प्रकार संवर्धन किया जाय कि वे फल दें।

५ अभिज्ञान-शाकुन्तल अंक ४ में क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा आदि।

हुई है, जहाँ स्वस्थ बैठे हुये पक्षियों का समूह कूज रहा है और जहाँ मृगियों के नयनोत्पल की शोभा है, वे उपवन किसके मन को उत्कण्ठित नहीं कर देते ? नये लाल पत्तों के गुच्छों से झुके हुये आम के पेड़, जिनकी मनोरम शाखायें कुसुमित हैं, वायु के द्वारा प्रकम्पित होने पर अंगनाओं के मानस को पर्युत्सुक बना देते हैं। जड़ से ही मूंगों के समान लाल पल्लवों से समायुक्त और कुसुमित अशोंक के वृक्ष देखे जाने पर नवयुवतियों के हृदय को सशोक कर देते हैं। अतिमुक्तक लताओं को देखकर कामियों का मन सहसा समुत्सुक हो उठता है, जब उनके मनोरम पुष्पों को मत्त द्विरेफ पीते हैं और उनके नम्र और मृदु प्रवाल मन्द अनिल के द्वारा प्रकम्पित होते हैं। कुरवक वृक्ष की अभिनव मंजरी की शोभा स्त्रियों की मुख-शोभा से भी बढ़कर होती है। उन्हें देखकर सहृदय का चित्त सकाम हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव पलाश और कर्णवेर के पुष्पों का है। कुन्द के फूलों से चमकते हुये उपवन मुनियों तक के लिये मनोहर होते हैं। सभी को प्रसन्नता होती है, जब वे नाना मनोज्ञ कुसुम के वृक्षों से विभूषित और कोयल के निनाद से समायुक्त पर्वत-भूमि पर जा पहुँचते हैं।[1] भारवि के वृक्ष राम के लिये अपने पुष्पों और मीठे फलों से अर्घ्य देने वाले हैं। उनकी पत्नी सीता ने जिस कदम्ब के वृक्ष को परिवर्धित किया था, उस पर उनका पालित मोर अड्डा जमाये हुए था।[2] कवि-जगत् में केतकी के नुकीले बाण कामियों के हृदय में चुभते हैं, पलाश के पुष्प विरहियों के हृदय को विदीर्ण करते हैं। चम्पे की कलियाँ कामदेव को बलि देने की दीपिकायें प्रतीत होती हैं, पुष्पों का पराग वियोगियों को अन्धा कर देता है, आम्र-मंजरी पर बैठे हुये भ्रमरों का गुंजन मानो वृक्ष का सक्रोध हुंकार है और वायु के द्वारा हिलाई हुई कलियाँ विरही लोगों के हृदय में भय का संचार करती हैं। उपवन के कोकिल पथिकों को मानों शाप देते हैं—तुम नित्य अधिकाधिक कृश होते जाओ, मूर्च्छित बनो और तुमको ज्वर हो। चम्पा की कली वियोगियों के विनाश के लिये उदय हुआ धूमकेतु प्रतीत होती है। पृथिवी वृक्षों की माता है। वृक्ष सफल होने पर सिर नीचे झुकाकर पृथिवी को प्रणाम करते हैं। अशोक-वृक्ष लोगों के शोक को मिटा देता है।[3]

वृक्षों की रक्षा करो, उन्हें काटो मत, यदि यह सीख का य की रसात्मकता के साथ लेना चाहते हैं तो कवि कल्हण के पास जाइये। उनका कहना है—

---

१ ऋतुसंहार से। उपवन के वृक्षों और लताओं के सम्बन्ध में उपर्युक्त आशय के वर्णन के लिए देखिए शिशुपालवध सर्ग ६।

२ उत्तररामचरित, तृतीय अंक से।

३ नैषधीय चरित १.८३–१०४ से।

सप्रसूनफला वृक्षा गृहस्था इव पातिताः।
कुटुम्बैरिव रोलम्बैरवशोच्यन्त पदे पदे॥
राजत० ७.१२२४॥

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि उपवन की लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण था उसका मानव की चित्तवृत्तियों को प्रोत्फुल्ल करना। सुख में, दुःख में इन्हीं वृक्षों के बीच मानव ने समवेदना की प्रतीति की है।[1] लोगों ने वृक्षों और ऋतुओं के पत्र-पुष्प से अपने शरीर को अलंकृत किया है और इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत मनोज्ञ एवं शान्तिप्रद वातावरण में अपनी विनोदप्रिय वृत्तियों को प्रस्फुटित किया है। देवताओं की पूजा के लिये पुष्पों को सर्वोच्च साधन माना गया। यही कारण है कि प्राचीन भारत में वनों और उपवनों की अतिशय प्रचुरता रही और मनोयोग पूर्वक धनी-निर्धन सब ने उनका संवर्धन किया।

वृक्ष-विज्ञान

वृक्ष-विज्ञान का आरम्भ सुदूर प्राचीन काल से हुआ होगा, पर इसका सुव्यवस्थित रूप लगभग ६०० ई० पू० से मिलता है। दधिवाहन जातक के अनुसार उस समय घड़े के समान बड़े आम के फल होते थे। ऐसे आमों के बीज से जो पौधे निकलते थे, उन्हें दूध-पानी से सींचा जाता था। इनका संवर्धन इतनी शीघ्रता से हो जाता था कि वे तीसरे वर्ष ही फल देने लगते थे। इनके ऊपर सुगन्धित द्रव्यों के पंचांगुलि-चिह्न लगाये जाते थे और मालाओं के जाल से उनको आच्छादित किया जाता था। वृक्षों के निकट सुगन्धित तैल के दीप जलाये जाते थे। ऐसे वृक्षों को कपड़ों की दीवाल से घिरा रखा जाता था। उनके फल मधुर और सुनहरे रंग के होते थे।

उपर्युक्त जातक के अनुसार उद्यान को रमणीय बनाने के लिये अकाल पुष्प और फल का उत्पादन किया जा सकता था। लोगों को ज्ञात था कि नीम के वृक्ष तथा कड़वी लताओं के सम्पर्क में आने से वृक्षों के फल कटु हो जाते हैं। यदि ऐसे विकारों से फल कटु हो जाता था तो लोग उन बुरे वृक्षों और लताओं को निकालकर दूर कर देते थे। वृक्ष लगाने के विज्ञान में निष्णात लोगों का नाम आरामिक मिलता

---

१. अभिज्ञान-शाकुन्तल के छठें अंक में शकुन्तला के विरह में राजा प्रमदवन में मन बहला रहे थे। नैषध १.७४ के अनुसार नल मन बहलाने के लिए क्रीडा-वन में गये।

है। पिलिन्द-वच्छ के विहार के निकट उपवन लगाने के लिए ५०० आरामिक नियुक्त किये गये थे।[1]

पेड़-पौधे

उपवन के उद्योग के द्वारा फल, फूल और पत्र की प्राप्ति तो होती ही है, इनके अतिरिक्त वृक्षों की छाया और उनके द्वारा प्रस्तुत शान्ति और सौन्दर्य का वातावरण भी वृक्षारोपण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कुछ पेड़ केवल इसीलिए लगाये जाते थे कि उनके नीचे लोग शरण ले सकें। आश्रमों में ऐसे वृक्षों के नीचे बैठकर आचार्य और शिष्य अध्ययन-अध्यापन करते थे। कुछ वृक्ष धर्म की दृष्टि से पुण्यप्रद समझकर लगाये जाते थे।

वट के वृक्ष नगरों के प्रधान द्वारों पर लगाये जाते थे। इनके नीचे ५०० आदमी बैठकर भोजन और निवास कर सकते थे।[2] राजाओं के उद्यान के चारों ओर ऊँची सुन्दर भित्ति होती थी। उसमें द्वार और अट्टालिकायें बनती थीं। अनेक प्रकार के वृक्षों से उद्यान सजा होता था। उद्यान के बीच में जो पुष्करिणी होती थी, उसमें घाट होते थे और कमल के पुष्प विकसित होते थे। उद्यान और पुष्करिणी के योग्य आरामागार बनता था।[3] आम के वृक्ष लगाने का चाव था।[4]

उपनिषद्काल में सर्वप्रथम श्रेष्ठ फलद वृक्षों का उल्लेख मिलता है। इन वृक्षों में आम का नाम सर्वोपरि है।[5] रामायण-युग के उपवनों में फल और फूल के द्वारा नगर की शोभा बढ़ाने वाले वृक्ष होते थे। लंका के उपवर्ती प्रदेश में सरल, कर्णिकार, खर्जूर, प्रियाल, मुचुलिन्द, कुटज, केतक, प्रियंगु, नीप, सप्तच्छद, असन, कोविदार, करवीर आदि से सुशोभित आक्रीड और उद्यान थे। वहाँ सभी ऋतुओं में फल और फूल देने वाले वृक्ष थे। जलाशयों की शोभा पद्म और उत्पल से बढ़ रही थी।[6] इनके अतिरिक्त वहाँ वनों और उपवनों में चम्पक, अशोक, बकुल, शाल, ताल, तमाल, पनस, नागमाला, हिन्ताल, अर्जुन, नीप, तिलक, पाटल

१ महावग्ग ६.१५।

२ भरुजातक २१३।

३ धम्मद्धज जातक २२०।

४ दधिवाहन जातक ८६।

५ बृहदारण्यक ४.३.३६।

६ सुन्दरकाण्ड २.९—१४।

आदि के पुष्पों और फलों की शोभा दर्शनीय थी। वृक्षों पर लतायें चढ़ रही थीं।[1]

सुश्रुत-संहिता में तत्कालीन फलों के नाम—आमलक, दाडिम, बदर, कोल, (बेर), कर्कन्धू (बेर), सौवीर (बेर), सिंवीतिका, (सेम), कपित्थ, मातुलुंग (नीबू), आम्र, आम्रातक (आमरा), करमर्द (करौंदा), प्रियाल (चिरौंजी), लकुच (बड़हल), भव्य (कमरख), नीप (कदम्ब), इमली, नारंगी, जम्बीर, गूलर, जामुन, राजादन (खिरनी), बकुल (मौलश्री), फल्गु (अंजीर), परूषक (फालसा), बिल्व (बेल), ताल, नारिकेल (नारियल), पनस (कटहल) मोच, (केला), द्राक्षा (अंगूर), काश्मर्य (खुबानी), खर्जूर, वाताम (वादाम) अक्षोड (अखरोट), अभिषुक (काजू), निचुल (चिलगोजे), निकोच (पिस्ते), पूग (सुपारी), जातीकोश (जावित्री), जातीफल (जायफल), कंकोलक, लवंग आदि फलों के वृक्षों के नाम मिलते हैं। पुष्पों के लिये उद्यानों और पुष्करिणयों में नीचे लिखे पेड़ पौधे और लतायें होती थीं—कोविदार (कचनार), शाल्मलि (सेमर), अगस्त्य, असन, कुटज, कुमुद, कमल, कुवलय, उत्पल, सिंदुवार, मालती, मल्लिका, वकुल, नागकेसर, चम्पा आदि।[2]

गुप्तकाल के उद्यानों में असंख्य प्रकार के वृक्षों, पौधों और लताओं को स्थान मिला।[3] उपवन में सर्वप्रथम अरिष्ट, अशोक, पुन्नाग और शिरीष के वृक्ष तथा उनके साथ ही प्रियंगु की लता लगाई जाती थी। इन वृक्षों को मांगलिक रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इनके अतिरिक्त उपवन में पनस, अशोक, कदली, जम्बु, लकुच, दाडिम, द्राक्षा, बीजपूर, अतिमुक्तक आदि को स्थान मिला था। अनेक शैलियों से कलम करके इनको लगाया जाता था।[4]

कोङ्कण प्रदेश के लोगों को फल और फूलों का चाव था। लोग फल-फूल बेच कर अपनी जीविका चलाते थे। उत्सवों के समय के लिये लोग वहाँ फलों का घर भी बनाते थे।[5]

ह्वेनसाँग ने अपनी भारत-यात्रा के समय इस देश के उद्यानों का विवरण देते हुये लिखा है—विशाल देश में जैसे-जैसे प्राकृतिक दशा में परिवर्तन होता जाता

---

१ युद्धकाण्ड ३९. ३–५।

२ सुश्रुत-संहिता सूत्रस्थान फलवर्ग तथा पुष्प वर्ग से।

३ इनका विस्तृत वर्णन देखिए अमरकोश वनौषधि वर्ग।

४ बृहत्संहिता वृक्षायुर्वेद अध्याय।

५ बृहद्भाष्य १.८४१, १२३९।

है, विभिन्न प्रकार के फल-फूल, पौधे और लतायें दृष्टिगोचर होती हैं। आम, आँवला, महुआ, वेर, कैथा, तिन्दुक, उदुम्बर, केले, नारियल, कटहल आदि कुछ फल वाले वृक्षों के नाम हैं। सभी वृक्षों के नाम गिनाना तो असम्भव ही है। कश्मीर से लेकर चीन तक सेब, सतालू, बेर, खूबानी, तथा अंगूर आदि स्थान-स्थान पर लगे हुये हैं। अनार, नारंगी आदि के वृक्ष सभी देशों में उत्पन्न होते हैं।[1] वैशाली-प्रदेश में विशेष रूप से आम और केले के उपवन थे।[2] मथुरा में घरों के उपवर्ती उद्यानों में आम के पेड़ प्रायः थे। आम दो प्रकार के थे—छोटे और पकने पर पीले होने वाले तथा दूसरे बड़े और पकने पर भी हरे रहने वाले। संभवतः ये कलमी आम थे।[3]

परवर्ती युग में अरबी यात्रियों ने भारतीय उपवनों की अतिशय प्रशंसा की हैं। उनके वर्णन के अनुसार भारत में नारियल के फल अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न करके अरब देशों में भेजे जाते थे। सिन्धु-प्रदेश उस समय नीबू के लिए प्रसिद्ध था। आम की पैदावार भी इस प्रदेश में होती थी। अरब लेखक मसऊदी ने लिखा है—आम और नीबू भारत की प्रमुख वस्तुएँ हैं। ये फल दसवीं शताब्दी में भारत से अरब लाये गये थे। ये पहले उमान में और फिर वहाँ से इराक और शाम पहुँचे। वहाँ से वे शाम के समुद्र-तट के नगरों और मिश्र में घर-घर फैल गये।[4]

राजनीतिक-संरक्षण

उपवन लगाने का सबसे अधिक चाव राजाओं को था। राजाओं के लिये सम्भव था कि वे देश-विदेश से बीज और पौधे मँगवाकर उनको यथावश्यक व्यय-साध्य खाद आदि देकर संवर्धित करा सकें और उनके रोगों को कुशल चिकित्सकों से दूर करा सकें। उपवन में अतिशय धन व्यय करके उसकी शोभनीयता और मनोहारिता को द्विगुणित कर लेना प्रायः राजाओं के लिए सम्भव था। राज भवन से सम्बद्ध अनेक उपवन राजाओं, रानियों और राजकुमारों के लिये हुआ करते थे। राजाओं के लिए ही संभव था कि अठारह हाथ ऊँची, मनःशिला की दीवाल से घिरा, द्वार-अट्टालिका सहित और नाना प्रकार के वृक्षों से पूर्ण उपवन बनवा सकें और इसके केन्द्र में सौ तीर्थों वाली, सहस्र स्थानों पर मुड़ी, पाँच प्रकार

---

१ वाटर्स-ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७७-१७८।

२ वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग २, पृ० ६३।

३ वही, भाग १, पृ० ३०१।

४ अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ६२—६३ से।

के कमलों से ढकी पुष्करिणी का निर्माण कराते।[1] जिन देशों में जल नहीं होता था, वहाँ राजा की ओर से कूप, झील, उत्स आदि बनवाये जाते थे और उसी के साथ पुष्प और फलों के उपवन लगवाये जाते थे। कौटिल्य के अनुसार अकृष्या भूमि में राजाओं के द्वारा उपवन लगवाने का विधान था।[2]

ऐतिहासिक राजाओं में मेगस्थनीज के लेखानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के राज-भवन के समीप मनोरम उपवन था। इस उपवन में देश-विदेश से पौधे मँगाकर लगाये गये थे। वे वृक्ष सौन्दर्य-संवर्धन के लिए थे।[3] महाराज अशोक ने स्वयं अनेक उपवनों में और सड़कों के किनारे वट-वृक्ष तथा आम के झाड़ लगाये।[4] महाराज खारवेल ने भी असंख्य उद्यानों का प्रतिसंस्थापन किया था।[5] कालिदास और बाण ने तत्कालीन राजाओं के उपवनों का उल्लेख किया है।[6]

इस दिशा में सबसे अधिक महत्त्व उन राजकीय विधानों का है, जिनके द्वारा उपवन लगाने में लोगों को सुविधायें मिल सकी थीं। इनके अनुसार नगर के उप-वनों के पुष्प, फल और छाया देने वाले वनस्पतियों की टहनी काटने पर छः पण का दण्ड, छोटी डाल काटने पर १२ पण तथा बड़ी डाल काटने पर २४ पण दण्ड चुकाना पड़ता था। उनका तना काटने पर पूर्व-साहस-दण्ड तथा वृक्ष ही काट देने पर मध्यम-साहस का दण्ड होता था। झाड़ियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त अपराध होने पर आधा दण्ड चुकाना पड़ता था। तीर्थस्थान, तपोवन, श्मशान आदि के वृक्षों को तोड़ने या काटने पर उपर्युक्त दण्ड चुकाना पड़ता था। सीमा के वृक्ष, चैत्य-वृक्ष तथा राजभवन के वृक्षों को हानि पहुँचाने पर प्रत्येक दशा में दूना दण्ड चुकाना पड़ता था।[7] उपवन लगाने की इच्छा रखने वालों को राजा की ओर से भूमि और अन्य प्रकार की सहायता दी जाती थी।[8]

---

१. धम्मद्धज जातक २२०।

२. मुद्राध्यक्ष, विवीताध्यक्ष तथा भूमिच्छिद्रविधान प्रकरण से।

३. Ancient India as described by Megasthenes and Arrian P. 242-243.

४. सप्तम स्तम्भ लेख में मगेसुपि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगतानि होसन्ति पसुमुनिसानं अंबा वडिक्या लोपापिता।

५. हाथीगुम्फा शिलालेख—सवुयान—पटिसंथपनं च कारयति।

६. हर्षचरित, उच्छ्वास २।

७. अर्थशास्त्र दण्ड-पारुष्य-प्रकरण।

८. अर्थशास्त्र जनपद-निवेश में—पुण्यस्थानारामाणां च आदि।

राजधानी में राजा की आज्ञा से पुष्प-फल आदि की वाटिका लगवाने की सुविधा मिल सकती थी।[१] सीमा दिखलाने के लिए वट पीपल, किंशुक, शाल्मलि साल, ताल तथा दूध वाले अन्य पौधे लगाने का नियम था। मनु ने वृक्षों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाने वाले को उसी प्रकार दण्डनीय माना है, जैसे किसी प्राणी की हिंसा करने वाले को।[२]

धार्मिक नियोजन

श्रेष्ठ वृक्षों को नमस्कार करने की विधि राजाओं के लिए भी थी।[३] मनु ने हरे वृक्ष को इन्धन के लिये काटने वाले व्यक्ति के पाप को उपपातकों में परिगणित किया है।[४] वृक्षों के प्रति तत्कालीन समाज में जो आदर-भावना थी, उसका प्रमाण चरक के उल्लेख से मिलता है, जिसके अनुसार वृक्ष पर चढ़ना सदाचार के विरुद्ध माना गया।[५]

प्राय: सभी स्मृतियों में वृक्षों को हानि से बचाने के लिये जो योजना बनाई गई, वह आज तक किसी न किसी रूप में प्रभावशालिनी रही है। पाप-परिशोधन के लिये वृक्षों को सींचने या लगाने का विधान प्रायश्चित रूप में बना।[६] फल देने वाले वृक्ष को काटने पर एक दिन व्रत करना पड़ता था।[७] इस पाप के लिये घोर प्रायश्चित्त का विधान भी है, जिसके अनुसार वृक्ष काटने वाले को गोहत्या के लिये विहित प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[८]

पुष्पों के धार्मिक महत्त्व का विशद विवेचन किया गया। विभिन्न देवताओं को विभिन्न पुष्प विशेष प्रसन्न करते हैं और उनके प्रभाव से स्वर्ग, मुक्ति या परम-गति की प्राप्ति हो सकती है।[९]

---

१. अर्थशास्त्र दुर्गनिवेश प्रकरण।

२. मनुस्मृति ८.२८५।

३. सभापर्व ५.९०।

४. मनुस्मृति ११.६४।

५. सूत्रस्थान ८.२०।

६. शातातपस्मृति ३.१८ के अनुसार प्रतिमा तोड़ने वाले को तीन वर्ष तक प्रतिदिन पीपल सींचना पड़ता था। शातातप० २.३७ के अनुसार स्त्री-हन्ता को दस पीपल के पेड़ लगाने पड़ते थे।

७. शंखस्मृति १७.५४।

८. लिखितस्मृति ७७।

९. विशेष विवरण के लिए देखिए अग्निपुराण अध्याय २०२ तथा २४७।

पशु-पालन

प्राचीन भारत में पशु-पालन सरल काम था: इस देश में भूमि और जल-वायु की उत्कृष्टता के कारण घास सर्वत्र उगती है। जन-संख्या स्वल्प होने के कारण घासों के मैदान आज की अपेक्षा कम से कम सैकड़ों गुने अधिक थे। उन मैदानों में घास चरने वाले तथा पेड़-पौधों की पत्तियाँ खाने वाले पशु निर्द्वन्द्व होकर चर सकते थे। जलवायु भी प्राय: सभी ऋतुओं में इतनी क्षेम्य है कि वनों में चरते समय पशु वृक्षों के नीचे रात्रि बिता सकते हैं। पीने के लिए पानी प्राय: सर्वत्र प्राप्य है।

लोग पशुओं की उपयोगिता से कम परिचित नहीं थे। कुछ पशु हल और गाड़ियों में जोतने तथा पीठ पर सवारी करने या बोझा ढोने के काम आते थे। कुछ पशुओं का दूध पीने और मांस खाने के काम में आता था। प्राय: सभी पशुओं का चर्म वस्त्र, जूते, वाद्य, ढाल, रस्सी और पात्र बनाने में उपयोगी होता था। कुछ पशुओं के दाँत से अलंकार बनते थे। कुछ पशुओं के सींग तथा तन्तु आदि का अस्त्र-शस्त्र बनाने में उपयोग होता था। भेंड़ और बकरियों का ऊन वस्त्र बनाने के काम में आता था। युद्ध-भूमि में भी हाथी, घोड़े और ऊँट आदि पशुओं की महती उपयोगिता थी। पशुओं की उपयोगिता यज्ञादिक विधियों के सम्पादन में भी विशेष रूप से थी। उनके दूध, घी, मक्खन आदि का हवि-रूप में उपयोग होता था और पशुओं का चर्म यजमान के बैठने के काम में आता था। कुछ पशुओं की बलि द्वारा देवताओं और पितरों को परितृप्त किया जाता था। अतिथि-यज्ञ के अवसर पर मधुपर्क विधि में अतिथि के लिए गौ अर्पित होती थी। आरम्भिक युग में गाय को आधुनिक मुद्रा के रूप में क्रय-विक्रय का माध्यम माना गया था।

पशुओं के द्वारा मनोरंजन का दृश्य उपस्थित कराया जाता था। कुछ धातुओं के परिशोधन के लिए गाय और बकरी के दूध, गोरोचन, गाय के दाँत और सींग के चूर्ण आदि का उपयोग होता था।[1]

लोकप्रियता

उपर्युक्त परिस्थिति में पशुओं का अतिशय लोकप्रिय होना स्वाभाविक है। सिन्धु-सभ्यता के युग के बैलों तथा अन्य पशुओं की जो भव्य आकृतियाँ मिलती हैं, उनको देखने से प्रतीत होता है कि उस समय लोगों को पशु का चाव था। वैदिक काल में गौवों की सर्वाधिक लोकप्रियता बढ़ी। वैदिक पशु-पालकों की इस प्रवृत्ति

---

१. अर्थशास्त्र—आकराध्यक्ष-प्रकरण से।

का परिचय उनके गीतों में मिलता है—'गायें हमारे घर में आयें। हमारा मंगल करें। हमसे प्रसन्न हों। नाना रूप की गायें बछवे वाली होकर उषा-काल में इन्द्र के लिए दुग्ध प्रदान करें। गौयें हमारे समीप से नष्ट न हों। चोर हमारी गायों को न चुरायें। शत्रुओं के शस्त्र हमारी गायों पर न पड़ें। गायों के स्वामी-यजमान, जिन गायों से इन्द्र आदि देवताओं के लिये यज्ञ करते हैं, उन गौवों से वे कभी न बिछुड़ें। यज्ञपरायण मनुष्य की गायें निर्भय होकर विचरती हैं। गायें हमारे लिये सौभाग्य हैं। इन्द्र ने हमको गायें दी हैं। ये गायें ही इन्द्र हैं, जिनकी हम श्रद्धापूर्वक कामना करते हैं। हे गायो! तुम हमारा पोषण करो, हमारे क्षीण और श्रीहीन अंग को रमणीय बना दो। हे भद्र वाणी वाली गायो! तुम हमारे घर को भद्र बनाओ। गायो! तुम प्रजावती बनो, शोभन घास को खाओ—और अच्छे प्रपाण पर शुद्ध जल पियो।[1]

वैदिक-युगीन ऐश्वर्य के सर्वोच्च प्रतीकों में से गौओं का स्वामित्व प्रमुख रहा है। असंख्य लोग गौओं और अश्वों के द्वारा धनी बनने की कामना करते थे।[2] दुहने के लिए लोग गायों को अत्यन्त प्रेम और श्रद्धापूर्वक बुलाते थे।[3] वे कामना करते थे कि हमारी गायें भरपूर दूध देने वाली तथा शक्तिशालिनी हों। गायों से खाद्य प्राप्त करके हम प्रसन्न हों। वे चाहते थे कि घर में गौओं का आगमन हो और साथ ही स्वर्ण-राशि भी आ जाये।[4] गौओं की महिमा इतनी अधिक थी कि उनके लिए प्रायः युद्ध हुआ करते थे। लोग दूसरों की गायें चुराकर छिपा देते थे और उनके स्वामी उन्हें खोजने के लिए दल-बल के साथ निकलते थे। फिर गाय का ढूँढ़ना क्या था, लड़ाई करना।[5] गौओं के साथ ही घोड़ों को लोग मानते थे। घोड़ों को कभी-कभी मोती और सोने से सजाया जाता था।[6]

वैदिक काल के परवर्ती युग में गायों को ऐश्वर्यमयी बनाने की योजना दिखाई पड़ती है। उनके लिए बढ़िया-सा गोष्ठ तो बनता था साथ ही उनको समृद्धि और सुभूति से समायुक्त किया जाता था। लोग अभ्युदय की कामना करते थे। और चाहते थे कि गायें हमसे हिली-मिली रहें। गायों को सम्बोधित करके गोपति

---

१. ऋग्वेद ६.२८ से।

२. ऋग्वेद १.२९।

३. ऋग्वेद १.४१।

४. ऋग्वेद १.३०.१३, १७।

५. वही १.११.५।

६. वही १०.६८.११।

कहते थे—हे गायो ! स्वामी-रूप में हम तुम्हारे साथ सम्बद्ध रहें। यह गोष्ठ तुम्हारा पोषण करे। तुम्हारी संख्या बढ़ने पर हम लोग भी धन से समायुक्त होंगे और तुम्हारी सेवा करेंगे।[१]

गायों को लोग वैदिक युग में अपने इतना सन्निकट मानते थे कि उनके लिये भी स्थान का प्रबन्ध अपने घरों में ही करते थे।[२] दर्शपूर्णमास यज्ञ में यजमान कामना करता था कि पशु हमसे प्रसन्न रहें और यज्ञ द्वारा सन्तान और पशु के साथ हम पवित्र हो जायें। वही घर अच्छा माना जाता था, जो गौवों और घोड़ों से भरा हो, जहाँ दूध की सरिता प्रवाहित हो और अन्न-राशि भरपूर हो।[३]

गाय की उपर्युक्त लोकप्रियता का प्रधान कारण था, उसका जीविका प्रदान करने के लिये सर्वोच्च साधन होना। इस दिशा में अन्य पशुओं से गाय की कोई तुलना नहीं थी।[४] फिर भी घोड़े का स्वामी होने के कारण अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी।[५] अश्व उस युग का सबसे बढ़कर बलवान् शक्तिशाली, तेज़ दौड़ने वाला और प्रख्यात पशु था। वह सर्वोत्तम पशु माना जाता था। घोड़े का मूल्य १,००० गायों के बराबर था। घोड़ों को मोती से सजाया जाता था।

हाथी और घोड़े की पूरी सजावट होती थी। उपहार के योग्य हाथी और घोड़ों को कांचनमाला पहनाई जाती थी। हाथी और घोड़े राजाओं के योग्य उपहार माने जाते थे। हाथी के झूल भी उपहार के योग्य माने जाते थे।[६] नगरों की शोभा के लिए आवश्यक था कि वह हस्ती, रथ और अश्व से संकुल हो।[७] राष्ट्र की सम्पन्नता के लिए उसका पशुमान् होना आवश्यक था। राजा का धर्म था कि वह गोरक्षा से जीवित रहने वालों के प्रति स्नेह करे।[८]

उपनिषद् की कल्पना के अनुसार जिस प्रकार नक्षत्रों में ज्योति होती है, उसी प्रकार पशुओं में यश होता है।[९] इस युग में पशुमान् होना ऊँची उपाधि मानी

---

१. अथर्ववेद ३.१४।
२. अथर्ववेद ३.१२.३।
३. वही ३.१२.२।
४. शतपथ ६.५.२.१९।
५. वही ६.३.३.१३।
६. सभापर्व ४८.२०—३०।
७. रामायण अयोध्याकाण्ड १००.४०।
८. वही १०.४४—४७।
९. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली १०.३।

जाती थी।[1] पशुओं के द्वारा मनुष्य महान् होता है।[2] गौ, हाथी और अश्व को महिमा माना गया।[3]

वैदिक काल से ही हाथियों की प्रतिष्ठा भारत में प्रायः सर्वोच्च कही जा सकती है। हाथी को स्वर्ण के अलंकारों से परिवृत किया जाता था।[4] परवर्ती युग से हस्ति-मंगलोत्सव का आरम्भ हुआ। इस अवसर पर सौ हाथियों को सोने के गहनों और सोने की ध्वजाओं के साथ सुनहली जालों से ढककर खड़ा किया जाता था। उत्सव को सम्पादित करने वाले पुरोहित के लिए तीनों वेद तथा हस्तिसूत्र का ज्ञान रखना अपेक्षित था।[5] रामायण के अनुसार गौओं में स्वभावतः सम्पन्नता होती है।[6]

महाभारत के अनुसार राजाओं और राजकुमारों को अपने हाथों से पशुओं की सेवा करने का चाव था।[7] नकुल और सहदेव पशुपालन-विज्ञान में निष्णात थे।[8] राजा विराट से सहदेव की भेंट गोष्ठ में हुई। नकुल को घोड़ों की परिचर्या करना भाता था। वह उनकी चिकित्सा करता था और शिक्षा भी देता था। सहदेव गौओं को चराने, दुहने, गिनने आदि के कामों में निपुण था। उसको उपर्युक्त काम अत्यन्त प्रिय थे।[9]

अर्थशास्त्र की पशुपालन सम्बन्धी योजना से ज्ञात होता है कि राजा की ओर से गौ, भैंस, घोड़े, हाथी आदि पशु पाले जाते थे। इस ग्रन्थ में इन पशुओं की पालन-विधि, चिकित्सा, अलंकरण, नीराजना तथा शिक्षा आदि का जो विवरण मिलता है, उससे प्रतीत होता है कि पशुओं की उपयोगिता से उपकृत होकर लोग उनका सम्मान करते थे।[10] पशुओं से मानवों का सम्बन्ध निकटतर होता गया।

---

१. छान्दोग्य उ० २.६.२।

२. वही २.१७ २।

३. वही ७.२४.२।

४. ऐतरेय ब्राह्मण ८.२३.३।

५. सुसीम जातक १६३।

६. रामायण युद्धकाण्ड १६.९।

७. वनपर्व २२८.६; २२९.४–६।

८. वनपर्व ६८.२–६; विराटपर्व ३.३।

९. विराटपर्व अध्याय ३ से।

१०. उदाहरण के लिए देखिए—घोड़ी के बच्चा देने पर उसे तीन रात तक दो सेर घी पिलायें। दस दिनों तक सत्तू और तेल तथा अन्य औषधियाँ खिलायी

पशुओं के प्रति लोगों के वही भाव हो गये, जो परिवार के लोगों के साथ होते थे। गोवत्स के उत्पन्न होने पर उसकी माता के चाटने के पहले उसके ललाट का स्वामी के द्वारा चाटा जाना, पौष्टिक माना गया। गोवत्स के जन्म के अवसर पर वैदिक मन्त्रों के पाठ होते थे। गोशाला में नित्य सन्ध्या के समय गौओं को सुगन्धित द्रव्यों के गन्ध से आह्लादित किया जाता था।[1] गुप्तकालीन पशुपालन के प्रति लोगों की भावना का परिचय कालिदास के दिलीप के गोचारण-वर्णन से मिलता है। राजा स्वयं व्रत लेकर गो-सेवा कर सकता था। रानी गाय को गन्ध और माला से स्वयं सजाती थी। सन्ध्या के समय गाय के लौटने पर रानी हाथ में अक्षत लेकर उसकी प्रदक्षिणा करती थी और प्रणाम करती थी। रात्रि के समय उस गाय के निकट बलि और दीप रखे जाते थे। गाय के सो जाने पर राजा सोता था। एक दिन जब गाय को सिंह ने पकड़ लिया तो राजा गाय के स्थान पर अपना शरीर देकर उसकी रक्षा करने के लिये उद्यत हो गया था।[2] इस युग में राजकुमार स्वयं अपने हाथों से ही अपने घोड़े को घास डाल सकता था। यद्यपि परिचर पास ही होते थे। इस प्रकार अपने पशुओं के प्रति मित्र-भावना होती थी।[3]

पशुओं की लोकप्रियता का परिचय तत्कालीन उत्सवों से लगता है। ऐसे उत्सवों का आरम्भ सुदूर प्राचीन काल में हुआ होगा। कृष्ण ने गोवर्धन-पूजा का प्रवर्तन किया। यह पूजा शरद्ऋतु में होती थी। शरद् के पुष्पों से सजे हुए मस्तकों वाली गायें इधर-उधर पर्वत के चारों ओर विचरण करती थीं। साँड़ भी बादलों की भाँति गरजते हुए पर्वत की प्रदक्षिणा करते थे। यह गिरियज्ञ था।[4] कृष्ण के गोपाल और गोविन्द होने से भी गोपालन के प्रति लोगों की अभिरुचि बढ़ी।[5] विशेष उत्सवों के अवसर पर गाय, बैल और बच्छड़ों में हल्दी-तेल का लेप कर दिया जाता

जाएँ। दस दिनों के पश्चात् उसे पका भोजन दिया जाय। घोड़ों की सजावट सुरुचिपूर्ण नागरिकों की भाँति होती थी। उनको नहलाया जाता था। चन्दन से उनका शरीर चर्चित किया जाता था और दिन में दो बार उनको मालाएँ पहनाई जाती थीं।

१. गोभिल-गृह्यसूत्र ३.६.३.५।

२. रघुवंश द्वितीयसर्ग से।

३. कादम्बरी, पृष्ठ १००।

४. विष्णुपुराण ५.१० से। वाटर्स ने शरद् के उत्सव में केसर के पुष्पों की माला से बैलों के अलंकरण का उल्लेख किया है। ह्वेनसांग, भाग १, पृ० २६३।

५. विष्णुपुराण ५.१२.१२।

था। उनको अनेक रंगों से रंगकर मोर-पंख, पुष्पमाला, वस्त्र और सोने की मालाओं से सजाया जाता था।[१] दान देने के अवसर पर गौओं का सोने के आभूषणों से अलंकरण होता था।[२] गोक्रीडनक नामक उत्सव में गाय-भैंस आदि को सुसज्जित करके उनको अच्छा अन्न आदि का भोजन देकर इधर-उधर समारोह के साथ घुमाया जाता था।[३]

केवल भारतवासियों की दृष्टि में ही उच्चकोटि के पशु प्रिय नहीं थे, अपितु विदेशी शासकों ने भी भारतीय पशुओं की श्रेष्ठता से मुग्ध होकर उन्हें अपने देशों में भेजने का उपक्रम किया। सीमान्त प्रदेश में युद्ध करने पर सिकन्दर को लूट में जो पशु मिले, उनमें से सर्वोत्तम पशुओं को उसने मेसीडोनिया भेजने के लिए हाँकने वालों को नियुक्त किया।[४]

भारतीय काव्य द्वारा भी पशुओं की लोकप्रियता का पोषण हुआ है। गाय में मानवता का आरोपण करने के लिये उसको माता तथा उसके बछड़े को पुत्र माना गया।[५] कवियों ने गीतों की उपमा गाय के रंभाने से तथा गाने वाली अप्सराओं के समूह की उपमा गायों से दी।[६] बैल की प्रतिष्ठा तो कवि की दृष्टि में इतनी बढ़ी कि उसने कहा—अनड्वान् (बैल) ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और छः दिशाओं को धारण किया है और यह सारे भुवन में परिव्याप्त है।[७]

गौतम बुद्ध ने स्वयं कहा है—जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बन्धु-बान्धव हैं, वैसे ही ये गायें हमारे लिए परम मित्र हैं। वे न पैर से मारती हैं और न सींग से। वे भेड़ की भाँति सीधी और प्यारी हैं तथा घड़े भर दूध देती हैं।[८] महाकवि माघ ने गोदोहन का दृश्य इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—गोदोहन के

---

१. भागवत १०.५.७–८।

२. बृहदारण्यक उ० ३.१.१ में जनक का गोदान। भागवत १०.७.१६।

३. पुरुषार्थ-चिन्तामणि से।

४. Cambridge History of India, Part I, P. 353.

५. ऋग्वेद १० ११९.४।

६. वही १०.९५.६।

७. अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
अनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम्॥
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीः।
अनड्वान् विश्वं भुवनमाविवेश॥ अथर्ववेद ४.११॥

८. सुत्तनिपात में ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त।

समय गायों के बाँयें पाँव में बछड़े बाँधे गये हैं। गायें उनको आनन्द से चाट रही हैं। दूध दुहने वाला दोनों घुटनों से बरतन पकड़कर दुह रहा है। ग्वाला दूध दुहने के लिये पैर बाँधने की रस्सी हाथ में पकड़े आ गया है और 'हुं' शब्द करती हुई उत्तम गौ गोशाला के भीतर से मनोरम ढंग से बाहर आ रही है। उसका नन्हा बछड़ा भी शीघ्र ही उसके पास आ खड़ा होता है।[१] पशुपालन का सबसे अधिक मनोरम स्वरूप, जो कवियों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है, गोप-वधुओं का दही मथना है। मथने वाली स्त्रियों की अंग-भंगिमा, उनकी शोभा, मन्थन के समय का संगीत आदि कवियों के वर्ण्य विषय रहे हैं।[२]

घोड़ों की महती उपयोगिता से उनकी लोकप्रियता बढ़ती ही गई है। कश्मीर का राजा ललितादित्य हय-विद्या-विशारद था। वह अकेले ही घोड़ों को सुशिक्षित बनाने के लिए वन में चला जाता था।[३] घोड़ों की सुसंस्कृति उल्लेखनीय रही है। शत्रु-दल मन्त्री विजयमल्ल का पीछा कर रहा था। वितस्ता नदी में बाढ़ आई थी। प्राण-रक्षा के लिए वह घोड़े से उतर कर पत्नी के साथ तैर कर नदी पार कर गया। नदी में बाढ़ आई हुई थी। उसका घोड़ा पीछे-पीछे तैर कर आ पहुँचा और फिर अपने स्वामी को पीठ पर लेकर आगे बढ़ा।[४]

भारतीय हृदय पर कृष्ण के गोपालन-सम्बन्धी भागवत के वर्णनों की गहरी छाप पड़ी है। इसके अनुसार जब कृष्ण का वेणु-गीत आरम्भ होता था तो गायें अपने कर्णपुट से मानों अमृत पीती हुई उस संगीत को सुनती थीं। वे अपने दृष्टि-द्वार से कृष्ण को हृदय में स्थापित करके उनका आलिंगन करती थीं, और बछड़े अपने-आप दूध का पीना छोड़कर वेणु-गीत सुनते थे।[५] गायों के विपथ में होने पर कृष्ण नाम लेकर उनको पुकारते थे और गायें प्रसन्न होकर प्रतिनाद करती थीं।[६]

पालित पशु

सिन्धु-सभ्यता के युग से भारत में सदा गौ, भैंस, भेड़, बकरी, हाथी, सूअर, गदहे और ऊँट पाले गये हैं। इन पशुओं की अस्थियाँ तत्कालीन अवशेषों में प्राप्त

---

१. शिशुपालवध १२.४०–४१।
२ महापुराण २८.३२–३६।
३ राजतरंगिणी ४.२६५।
४ राजत० ७.९०९–९११।
५ भागवत १०.२१.१३।
६ वही १०.१९.६।

हुई हैं। वैदिक काल में आर्य गाय, बैल और घोड़ा विशेष रूप से पालते थे। इनकी संख्या समृद्धिशाली लोगों के पास हजारों और लाखों तक जा पहुँचती थी।[1]

ऊंट और गदहे बोझ ढोने के काम में आते थे। चार ऊँट गाड़ी में एक साथ जोते जाते थे।[2] गदहे भी गाड़ियों में जोते-जाते थे।[3] इनकी वेदकालीन उपाधि भारभारितमा (सबसे अधिक भार ढोने वाला पशु) आज भी चरितार्थ हो रही है।[4] उस युग में गदहा अपवित्र पशु नहीं माना जाता था। ब्राह्मण लोग भी गदहे पालते थे और उसका दान प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करते थे।[5] वैदिक युग के उच्च-कोटि के आचार्य अपने नाम गर्दभी-मुख और गर्दभीविपीत रखते थे।[6] गदहे से मिलते-जुलते खच्चर होते थे। इनको भी गाड़ियों में जोता जाता था।[7]

अजापाल बकरियों को चराते थे। परवर्ती युग में भी ब्राह्मण बकरे पालते थे। भेड़ पालने का काम स्वतन्त्र रूप से वैदिक काल में विकसित हुआ। भेड़ों का सुन्दर सा नाम ऊर्णावती मिलता है।[8] भेड़ पालने वालों का नाम अविपाल था। कुछ राजाओं के यहाँ भी भेड़ें पाली जाती थी। भेड़ें दान में भी दी जाती थीं।[9] इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण भी अपने मुख्य व्यवसायों के साथ भेड़ पालने का काम कर सकते थे। भेड़ों के ऊन से वस्त्र और सोमरस छानने की

---

१ ऋग्वेद में १.२९ ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि मुझे शुभ सहस्रों घोड़ों और गौओं से युक्त करो। ऐतरेय ब्राह्मण ८.४.२२-२३ के अनुसार १०,००० हाथी, २,००० गौओं के झुण्ड और ८८,००० घोड़ों का दान हो सकता था। ऋग्वेद के युग से भारतीय साहित्य में जहाँ-कहीं पशुओं के दान का प्रकरण आता है, प्रायः यही उल्लेख मिलता है कि सहस्रों, लाखों या अर्बुद पशु दान में दिये गये। ऋग्वेद ५.३०.१२–१५ में बभ्रु को ४,००० गायें दान में मिलीं।

२ ऋग्वेद ८.६.४८; अथर्व० २०.१२७.२।

३ ऐतरेय ब्रा० ४.९।

४ तै० ब्रा० ५.१.५.५।

५ ऋग्वेद ८.५६.३।

६ वंश-ब्राह्मण २.६; शतपथ-ब्राह्मण १४.६.१०.११।

७ तै० सं० ७.१.१.२.३; अथर्व० ४.४.८; ८.८.२२; ऐत० ब्रा० ३.४७; शत० १२.४.१.१० छान्दो० उ० ४.२.१।

८ ऋग्वेद ८.६७.३।

९ ऋग्वेद ८.५६.३।

छलनी बनती थी। भेड़ों के साथ ही बकरियाँ पाली जाती थीं। इनके अतिरिक्त लोग सूअर भी पालते थे।

रामायण के अनुसार राजा सहस्रों हाथी, घोड़े और गधे रखते थे। तभी तो केकय-प्रदेश के राजा ने भरत को १,४०० घोड़े, हाथी और खच्चर दिये। राजाओं के नागवन होते थे। वहीं से हाथी पकड़कर राजाओं की आवश्यकता के लिए आते थे। राजाओं के अतिरिक्त वनवासी आचार्य सहस्रों गायें रखते थे। अकेला सत्यकाम अपने आचार्य की ४०० गायें चराता रहा और उनकी संख्या शीघ्र ही बढ़कर १,००० हो गई थी।

युधिष्ठिर के पास १०० गायों के ३८ लाख समूह थे। कौरवों के पास शतशः सहस्रशः गायें थीं। परवर्ती युग में भी समृद्धिशाली लोग असंख्य गायें रखते थे। महाभारत के अनुसार राजा विराट के पास एक लाख पशु थे। राजा जनक ने एक सहस्र गायें विद्वान् ब्राह्मण को देने के लिए प्रस्तुत की थीं। ऐतिहासिक युग में हर्ष के अर्बुदशः गायें दान देने का उल्लेख बाण ने हर्षचरित के सप्तम उच्छ्-वास में किया है। नासिक के १७वें गुहालेख के अनुसार उषावदात ने तीन लाख गायें दान दीं।

अर्थशास्त्र के पशुपालन सम्बन्धी प्रकरण से ज्ञात होता है कि राजा के यहाँ गौ, भैंस, हाथी और घोड़े के अतिरिक्त बकरी, भेड़, गदहे, ऊँट और सूअरों का समूह रहता था।[१] राजकीय आवश्यकताओं के लिये उस समय सुप्रसिद्ध कम्बोज, सिन्धु, अरट्ट, और वनायु के घोड़े सर्वोत्तम, वाह्लीक, पापेय, सौवीर तथा तैल प्रदेश के घोड़े मध्यम और शेष घोड़े हीन कोटि के माने जाते थे। इन सभी कोटियों के घोड़े राजाओं के यहाँ पाले जाते थे।[२] महाभारत के अनुसार हिमालय-प्रदेश में तित्तिर, कुल्माष और मण्डूक जाति के घोड़े होते थे। इस युग में राजा असंख्य हाथी रखते थे और कई राजाओं ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर १,००० से लेकर १०,००० तक हाथी भेंट किये। अन्य राजाओं ने ४०० से लेकर २,००० तक घोड़े उपहार में दिये।[४]

प्राचीन काल में हाथी-घोड़ों का महत्त्व राजाओं की दृष्टि में विशेष रूप से युद्ध के लिए था। महाभारत के अनुसार किसी राजा के पास इनकी संख्या अरबों

---

१ अर्थशास्त्र—गो-अध्यक्ष तथा ओवाइय सुत्त ६

२ अर्थशास्त्र—अश्वाध्यक्ष प्रकरण।

३ सभापर्व २५.६।

४ सभापर्व ४८.२०–३२।

तक हो सकती थी।[1] इस दिशा में हाथियों की उपयोगिता इतनी बढ़ी कि भारतीय हाथी विदेशी राजाओं को उपहार में दिये गये और उन हाथियों ने अनेक युद्ध-स्थलों में अपनी वीरता का परिचय दिया।[2]

पालन-विधि

भारतीय पशुओं के भोजन अन्न, घास, वृक्षों के पत्ते और डाल आदि रहे हैं। प्राचीन काल में प्रायः सर्वत्र इनका बाहुल्य था। सुरक्षा की दृष्टि से अच्छे से अच्छे केवल कुछ ही घास के मैदान पशुओं को चराने के लिए पर्याप्त हो सकते थे। वैदिक काल में ऐसे मैदानों का नाम गव्यूति और गव्य था। गव्यूति साधारणतः समाज की सम्पत्ति होती थी, जहाँ पूरे गाँव के पशु गोप की देखभाल में चरा करते थे।[3] लोगों के पास गौओं के बड़े-बड़े झुण्ड होते थे। उनको पहचानने के लिये अनेक प्रकार के अंकों से गौओं को अंकित किया जाता था। ऐसी विधियों में से एक थी, पशुओं के कान पर चिह्न बनाना। चिह्नों वाली गौओं के नाम अष्टकर्णी, स्थूलकर्णी, दात्रकर्णी, कर्करिकर्णी, छिद्रकर्णी आदि मिलते हैं।[4] गायें चरने के लिए तीन बार छोड़ी जाती थीं—प्रातः, संगव और सांय।[5] उनको दुहने के भी तीन बार इन्हीं समयों पर निर्धारित थे।[6] दोपहर की धूप गायें संगविनी में बिताती थीं। संगविनी एक प्रकार की गोशाला थी, जहाँ गायें एकत्र होती थीं। प्रातःकाल से संगव-काल तक चरने की वेला को स्वसर कहा जाता था।[7] ऋग्वेद में गायों के पास के

---

१ युधिष्ठिर की सेना से हाथी-घोड़ों की कल्पना की जा सकती है :—

अयुत त्रीणि पद्मानि गजारोहाःससादिनः।
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा।। सभा ४८.३६।।

२. *H. G. Rawlinson :* Intercourse......India and Western World, P. 92.

३ गव्यूति—ऋग्वेद १.२५.११; ३.६२.१६; ५.६६.३; ७.७७.४; १०.१९.३ तथा गव्य—परवर्ती युग में ऐतरेय ब्राह्मण ४.२८।

४ ऋग्वेद १०.६२.७ में अष्टकर्णी—कान पर आठ अंक से चिह्नित। शेष के लिए देखिए मैत्रायणी संहिता ४.२.९। कर्करि वीणा का नाम था। दात्र हंसिया थी।

५ तैत्तिरीय ब्राह्मण १.४.९.२।

६ तै० सं० ७.५.३१।

७ ऋग्वेद २.२.२; २.३४.८।

मैदान में जाने का प्रायः वर्णन मिलता है।[१] बछड़े अलग चराये जाते थे। गौओं के झुण्ड में बलवान् वृष रखे जाते थे, जो उनका नेतृत्व करते थे और हिंस्र जन्तुओं से रक्षा भी।[२]

घोड़ों को घुड़साल में रखा जाता था। वहीं उनको भोजन दिया जाता था। दौड़ लेने के पश्चात् घोड़ों को नहलाया जाता था।[३] घोड़ों को बधिया रखने का प्रचलन था। भेड़ों को भी बधिया किया जाता था।[४] पशुओं के लिये अश्वत्थ वृक्ष के उष्ण रहने वाले घर बनाये जाते थे।[५]

परवर्ती वैदिक युग में गायों को स्वामी के घर से दूर ले जाकर चराने का प्रचलन विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। अकेले सत्यकाम ने अपने आचार्य की ४०० बूढ़ी गौओं को अनेक वर्षों तक आचार्य से अलग रहकर चराया। वह इतनी दूरी पर चला गया था कि तीन दिनों में वहाँ से आचार्य के घर लौटा। इस प्रकार आचार्य को कई वर्षों तक अपनी गौओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य को गौओं की संख्या-मात्र बढ़ाने से प्रयोजन था। बौद्ध साहित्य में भी इस विधि से पशु-पालन के उल्लेख मिलते हैं। गोपालक सेठों की गौओं को लेकर घने अरण्यों में चराने के लिये जा पहुँचते थे। वहाँ वे गोपल्लिक (मचान) बनाकर गौओं की रक्षा करते हुए रहते थे और समय-समय पर सेठ के लिए दूध-घी आदि पहुँचा देते थे।[६] थके हुए घोड़ों को अंगूर का रस पिलाया जाता था।[७] बौद्ध साहित्य के अनुसार प्रत्येक गाँव का अपना निजी घास का मैदान पशुओं के चरने के लिए होता था। पशु सबके अलग-अलग होते थे, पर उनके चरने के मैदान अलग-अलग व्यक्तिशः नहीं होते थे। उपज कट जाने के पश्चात् खेतों में भी पशु चरा करते थे। जब तक उपज पड़ी रहती थी, गोप की अध्यक्षता में सब पशु घास के मैदानों में चरने के लिये जाते थे। घास के मैदानों में कोई मनुष्य अपना निजी अधिकार नहीं कर सकता था।[८]

---

१ ऋग्वेद १.२५.१६ तथा १०.९७.८।

२ ऋग्वेद १.७.८।

३ ऋग्वेद २.१५.५; २४३।

४ अथर्व० ४.४.८।

५ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.८.१२.२ तथा ऋग्वेद १०.४.२।

६ विस्सास-भोजन जातक ९३।

७ बालोदक जातक १८३।

८. *Rhys Davids* : Buddhist India, P. 33 and 35.

महाभारत के अनुसार में घोष गोपों का समूह था, जो अपने पूरे कुटुम्ब के साथ गौएँ चराया करता था। संभवतः वनों, और घास के मैदानों में गोप अपने डेरे डाल कर कुछ दिनों के लिये वहाँ गाँव जैसा बसा लेते थे। राजा या राजकुमार या विश्वस्त पुरुष इन घोषों का निरीक्षण करने के लिए जाते थे, जब घोष रमणीय प्रदेश में अवस्थित होते थे। ऐसे अवसर पर राजकुमारों की अध्यक्षता में पशुओं का परिगणन और बछड़ों का अंकन होता था। तीन वर्ष के बछड़ों के लक्षण लिखे जाते थे।[1]

अर्थशास्त्र के अनुसार नथ पहने हुए बैलों को, जो दौड़ने में और बोझा ढोने में घोड़ों की तुलना करते थे, आधा भार यवस (हरी घास), एक भार तृण, एक तुला खली, दस आढ़क भूसी, पाँच पल नमक, नाक पर मलने के लिए एक कुडुम्ब तेल, एक प्रस्थ पान, एक तुला मांस, एक आढक दही, एक द्रोण जौ या पका माष, एक द्रोण दूध अथवा आधा आढक सुरा, एक प्रस्थ तेल या घी, और दस पल चीनी प्रतिदिन देने का नियम था। उपर्युक्त भोजन की तीन चौथाई खच्चर, गाय और गदहे के लिये तथा उसका दूना भैंसों और ऊँटों के लिये दिया जाता था। जब बैल काम करते हों या गाय दूध देती हों तो उन्हें श्रम करने के बदले या दूध देने के बदले उचित भोजन अधिक मात्रा में दिया जाता था। सभी पशुओं को पूरी घास और जल तो मिलना ही चाहिये था।[2]

घोड़ों का पालन-पोषण करने के लिए सूत्र-ग्राहक (साईस), अश्वबन्धक (घुड़साल में उनको बाँधने वाले), यावसिक (यवस का प्रबन्ध करने वाले), विधा-पाचक (घोड़ों के लिए भोजन पकाने वाले), स्थानपाल (घुड़साल की देखरेख करने वाले), केशकार (बालों को साफ करने वाले) और जाङ्गलीविद् (जड़ी-बूटी का ज्ञान रखने वाले) होते थे। घोड़ों को नित्य दो बार नहलाकर उनको गन्ध लगाई जाती थी और माला पहनाई जाती थी।[3]

हाथियों का अध्यक्ष हाथी के वनों की रक्षा करता था। वह हस्तिशाला के हाथियों के लिए भोजन की व्यवस्था करता था तथा उनकी शिक्षा, अलंकरण, चिकित्सा, युद्ध-भूमि की तैयारी और अन्य सेवकों के लिए प्रबन्ध करता था। दिन के पहले और आठवें भाग में हाथी को दो बार नहलाया जाता था। इनके पहिले हाथी के भोजन का समय होता था। दोपहर के पहले वे व्यायाम करते

---

१ वनपर्व अध्याय २२८.४; २२९.४–५।

२ अर्थशास्त्र : गो-अध्यक्ष प्रकरण से।

३ अर्थशास्त्र : अश्वाध्यक्ष प्रकरण से।

थे और दोपहर के पश्चात् जल पीते थे। रात्रि के दो भागों में हाथी सोते थे और रात्रि के तिहाई भाग में वे अर्धनिद्रित रहते थे।

सर्वोच्च कोटि के हाथियों के लिए नित्य एक द्रोण चावल का भात, आधा आढ़क तेल, तीन प्रस्थ घी, दस पल नमक, ५० पल मांस, एक आढ़क रस, दो आढक दही, दस पल क्षार (चीनी), एक आढक सुरा या इसका दूना दूध, भोजन के लिए; शरीर पर मलने के लिए एक प्रस्थ तेल, ⅛ प्रस्थ तेल सिर पर मलने के लिए तथा हस्तिशाला में प्रकाश करने के लिये; दो भार यवस, दो भार शष्प, दो भार सूखी घास तथा यथेच्छ पुआल दिया जाता था।[1]

धार्मिक-नियोजन

वैदिक काल से पशुओं के संरक्षण सम्बन्धी धार्मिक योजनायें मिलती हैं। वैदिक काल में पशुओं के रक्षक-देव के रूप में पूषा की प्रतिष्ठा हुई। लोगों की धारणा थी कि अप्रत्यक्ष रूप से पूषा गौओं और पशुओं की देख-भाल करता रहता है।[2] वह गायों का अनुसरण करता है तथा अश्वों की रक्षा करता है।[3] पूषा द्वारा इस प्रकार उपकृत होकर लोग उसके लिये स्तुतियाँ रचते थे।[4] पशुओं को सब प्रकार की विपत्तियों से बचाने का उत्तरदायित्व पूषा का ही माना जाता था।[5] पूषा की कृपा से गोधन की बहुलता होती है।[6] इसी युग से सदा अधिकाधिक पशुओं को दान में देने का प्रचलन मिलता है।[7]

वैदिक मन्त्रों के द्वारा गौओं को उत्कृष्ट बनाने का आयोजन किया जाता था।[8] यज्ञों में अनेक वैदिक देवताओं की स्तुति की जाती थी कि पशुओं को सुरक्षित रखते हुए गोशाला में पहुँचा दें।[9] मन्त्रों के द्वारा कामना की जाती थी कि

---

१ अर्थशास्त्र : हस्त्यध्यक्ष प्रकरण से।

२ ऋग्वेद ६.५३.९।

३. वही ६.५४.५।

४ वही ६.५४।

५ वही ६.५४,७, १०।

६ वही ६.५६.५।

७ ऋग्वेद ५.३०.१२–१५।

८ लोगों की कल्पना थी कि इन्द्र के हमारे ऊपर प्रसन्न होने पर हमारी गायें दूध वाली और पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न होंगी। ऋग्वेद १.२९.१३।

९ अथर्व० २.२६।

पशुओं की संख्या बढ़े। वे अभ्युदयशील और नीरोग हों और उनकी सन्तान सुख-पूर्वक उत्पन्न हों।[1] मन्त्रों के द्वारा घोड़ों को अधिक द्रुत बनाकर लोग घुड़-दौड़ की स्पर्धा में जीतने की कामना करते थे।[2] मन्त्र-बल से भेड़ों को हिंस्र पशुओं तथा डाकुओं से बचाया जा सकता था।[3] पशुओं के प्रति समादर की भावना का उद्रेक धार्मिक विधि से हुआ।[4] तत्कालीन धारणा थी कि धर्म का अभ्युदय उन्हीं घरों में होता है, जिनमें बहुत से पशु रहते हैं।[5]

महाभारत-काल से गौओं का धार्मिक महत्त्व अतिशय बढ़ा और गोधन को सर्वश्रेष्ठ धन के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। गाय के नाम का कीर्तन, श्रवण, गोदान, गोदर्शन आदि प्रशंसनीय कल्याणप्रद और पाप-नाशक हैं। गायें लक्ष्मी का मूल और देवताओं के लिये हवि देने वाली हैं। स्वाहा और वषट्कार नित्य गौओं में प्रतिष्ठित होते हैं। गायें यज्ञों के नेत्र तथा मुख हैं। वे दिव्य अमृत को उत्पन्न करती हैं और तेजस्विता तथा शरीर से अग्नि के समान हैं। जिस स्थान पर गौओं का समूह निर्भय होकर श्वास लेता है, वह प्रदेश सुशोभित होता है। वहां के सभी पाप दूर हो जाते हैं। गायें स्वर्ग की सीढ़ी हैं। स्वर्ग में उनकी पूजा होती है। वे कामनायें पूर्ण करती हैं। उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।[6]

गायों की पावक-शक्ति का परिचय भरत के नाट्यशास्त्र के उस विधान से मिलता है, जिसके द्वारा उन्होंने नियम बनाया है कि नाट्यगृह बनाकर सर्वप्रथम उसमें सात दिन तक गायें रखना चाहिए।[7]

गोपाल-वृन्द प्राचीन काल से इन्द्र-यज्ञ करता आ रहा था। इस यज्ञ के स्थान पर श्रीकृष्ण ने गिरियज्ञ और गोयज्ञ का प्रवर्तन किया। इस यज्ञ में मेध्य पशुओं की बलि देकर गोवर्धन पर्वत की पूजा की जाती थी। सभी घोषों से दूध एकत्र करके ब्राह्मणों और याचकों को भोजन कराया जाता था। गोवर्धन की पूजा, होम और

---

१ अथर्ववेद ३.१४; ६.५९।

२ वही ६.९२।

३ वही ४.३।

४ वरुण के यज्ञ में उसकी शक्ति और बल उसको छोड़कर पशुओं में प्रविष्ट हो गए। वरुण ने पुनः पशुओं से शक्ति और बल का संचय किया। इसीलिए पशुओं का आदर किया जाता है। शतपथ ५.४.३.२।

५ शतपथ ११.८.१.३।

६ महाभारत अनुशासन पर्व ५१.२६–३३।

७ नाट्यशास्त्र ३.१।

ब्राह्मण-भोजन समाप्त होने पर शरद्-ऋतु के पुष्पों से सजे हुए मस्तकों वाली गौएँ गोवर्धन की प्रदक्षिणा करती थीं।[१]

परवर्ती युग के धर्मशास्त्रों में गौ की पुण्य-प्रदायिनी शक्तियों का नवीन रूप मिलता है। गौ को किसी प्रकार सुख पहुँचाना, उनके शृंगोदक से स्नान करना आदि अतिशय पुण्य के साधन माने गये। तत्कालीन धारणा के अनुसार वेदांगों का उद्‌भव गौवों के मुख से हुआ है।[२] गौ के अंगों में ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, अग्नि आदि की अभिव्यक्ति मानी गई। इसी प्रकार वृषभ को भी ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

अन्य उद्योग

भारतीय उद्योग-धन्धों में सदा ही कृषि, पशुपालन और व्यापार प्रमुख रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय, भोजन और पेय बनाना, वस्त्र और अलंकार रचना, अस्त्रशस्त्र निर्माण करना, घर बनाना और उसके लिये आवश्यक उपादान की प्राप्ति करना, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और धातुओं के बरतन बनाना और मनोरंजन के लिए वस्तुओं का संयोजन करना आदि रहे हैं। संसार के सभी देशों में संस्कृति के आदिकाल से किसी न किसी रूप में इन उद्योगों की प्रतिष्ठा रही है। भारत में सिन्धु-सभ्यता के युग में सर्वप्रथम उपर्युक्त उद्योगों की स्पष्ट झलक मिलती है।

सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में कताई और बुनाई करने के मिट्टी के बने यन्त्र धनी और निर्धन सबके घरों में मिले हैं। उस समय रूई के सूक्ष्म कपड़ों को बनाने का प्रचलन था। कुछ वस्त्र वल्कल के रेशों से बनाये जाते थे। शरीर के विभिन्न अंगों के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की रचना होती थी। शिरोवस्त्र, पटका, संघाटी, शाल आदि वस्त्रों को रँगने का प्रचलन था।[३] ओढ़ने के लिए कम्बल बनते थे। सिन्धु-प्रदेश के लोगों को अलंकारों का अतिशय चाव था। अवश्य ही तत्कालीन समाज के लिए एक बड़ी जनसंख्या स्त्री और पुरुष के नखशिख-अलंकरण का आयोजन करती होगी। उस समय भारत के विभिन्न भागों में धातु, रत्न

---

१ भागवत १०.२५।

२ उपर्युक्त विवरण के लिए देखिए—बृहत्पाराशरी तृतीय अध्याय:

सुरभ्यो यस्य यस्याग्रे पृष्ठतो यस्य ताः स्थिताः।
वसन्ति हृदये नित्यं तासां मध्ये वसन्ति ये।
ते पुण्यपुरुषाः क्षोण्यां नाकेऽपि दुर्लभाश्च ये॥

३. Piggott, Pre-historic India, P. 174-175.

और हीरे निकालने का व्यवसाय चलता था। काठियावाड़ में शंख-कर्पर, सुलेमानी पत्थर, गोमेदक, अकीक एवं सिक्थ-स्फटिक निकालने का व्यवसाय होता था। राजस्थान में ताँबा और अजमेर में सीसा खानों से निकाले जाते थे। साथ ही यहाँ पर्वतीय प्रदेश से भाँति-भाँति के पत्थर शैल-खटी, रुधिर-प्रस्तर सूर्यकान्त, स्लेट आदि सिन्ध-प्रदेश में भेजे जाते थे। कश्मीर तथा हिमालय प्रदेश पर देवदारु की लकड़ी काटने का व्यवसाय चलता था। दक्षिण भारत में विविध प्रकार की मणियों और पत्थरों को लोग प्राप्त करके सिन्धु-प्रदेश के निवासियों के उपयोग के लिए भेजते थे।[1]

उस समय लड़कों के लिए मिट्टी के बने खिलौनों का निर्माण करना व्यवसाय रूप में प्रचलित था। खिलौने असंख्य प्रकार के छोटे-बड़े बनते थे। इनमें से कुछ अपनी विचित्र और मनोरम आकृति के लिए तथा अन्य मनोरम ध्वनि उत्पन्न करने के लिए होते थे। बैल, हाथी, मुर्गी और नाशपाती की आकृति की सीटियाँ, पिंजड़े में बन्द पक्षी, झुनझुने, बौने आदि खिलौनों के रूप में प्रचलित थे।

सिन्धु-सभ्यता के लोग धातु, मिट्टी और अलबास्टर के बरतन बनाते थे। पत्थर के बने हुए भी दो-चार बरतन मिले हैं। मिट्टी के बरतनों पर विविध प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। पत्थर की अपेक्षा मिट्टी के बरतन बना लेना अधिक सुविधाजनक था। पत्थर की छोटी पेटिकायें बनाई जाती थीं, जिनमें सौन्दर्य के लिए प्रसाधन-द्रव्य रखे जाते थे। भोजन पकाने की आवश्यकता के लिए, सिल-लोढ़े, चक्कल आदि पत्थर के बनते थे।

धातुओं के काम के कुछ विशेषज्ञ अस्त्र-शस्त्र तथा छुरी, चाकू आदि दैनिक उपयोगिता की वस्तुयें बनाने में लगे थे। भूमि को खोदने के लिए गैंती बनती थी, जिसमें बेंट लगाने के लिए छेद होता था। आरी पीतल की बनती थी। इस युग के बनाये हुए लोहारों के अन्य औजार छेनी, हंसिया आदि हैं।

हथियारों में तलवार, कुठार आदि बनाने का विशेष प्रचलन था। उपर्युक्त वस्तुओं के निर्माण के लिए ताँबें, काँसे आदि का उपयोग होता था।

मनोरंजन के लिए चौपड़, पाँसा और शतरंज आदि खेलों के लिए आवश्यक फलक, गोटियाँ और तख्तियाँ बनाई जाती थीं। हाथीदाँत के पाँसे बनाने का प्रचलन था। पाँसे मिट्टी, फियाँस और पत्थर के भी बनाये जाते थे। गोटियाँ संगमर्मर पत्थर की बनाई जाती थीं।

---

१ Piggott · Pre-historic India: पृ० १७४–१७५।

बढ़ई वाहन के लिये लकड़ी के रथ बनाते थे। विभिन्न आवश्यकताओं के लिए भाँति-भाँति की गाड़ियाँ और रथ अधिकाधिक संख्या में तैयार होते थे।

बढ़ई का हथियार परशु था, जिससे वह मनोरम तक्षण करता था और शय्यासन आदि घरेलू आवश्यकता की वस्तुयें बनाता था। कुर्सी के पैर सम्भवतः बैल के पैर की आकृति के बनाये जाते थे, जैसा एक मुद्रा पर अंकित किया गया है। बढ़ई लकड़ी की कंघी बनाते थे।

सिन्धु-सभ्यता के कुछ लोग चित्र, मूर्ति और वास्तु के निर्माण में संलग्न थे। इस युग में वास्तु के प्रति लोगों की अभिरुचि उच्चकोटि की थी। तत्कालीन भवनों के अवशेषों को देखकर कल्पना की जा सकती है कि ईंट बनाने के काम से आरम्भ करके भवनों को पूरा बना लेने पर उसके पलस्तर तथा अलंकरण करने के काम तक की विविध प्रक्रियाओं में कितने लोग व्यस्त रहे होंगे। ईंट पकाने के लिए, भवन बनाने के लिये तथा नगर की अन्य आवश्यकतायें पूरी करने के लिए बहुत से लोग जंगलों से लकड़ी काटकर नगर तक पहुँचाने में लगे होंगे।

भोजन की आवश्यकता के लिए कृषि के अतिरिक्त मृगया का प्रचलन उद्योग के रूप में रहा। भाले, बर्छी, गदा और बाण के द्वारा हरिण और बकरों की मृगया होती थी। गुलेल से गोलियाँ चलाकर पशु-पक्षियों को मारा जाता था। नदियों के तट के लोग मछलियों को आजकल की ही भाँति वंशी और काँटे से मारते थे। मृगया में जाल का भी उपयोग होता था।

वैदिक काल में पाँच प्रधान व्यवसाय थे—लकड़ी के काम, वस्त्र बनाना, धातु के काम, मिट्टी के बरतन बनाना और चमड़े के काम। लकड़ी का काम करने वाला तक्षन् या त्वष्ट्रा था।[1] तक्षन् वर्ग में से एक विशिष्ट वर्ग रथकारों का था, जो प्रधानतः रथ बनाने के काम में लगे हुए थे। प्राचीन काल में प्रायः सदा ही रथों और गाड़ियों का अतिशय प्रचलन था और इनके निर्माण में बहुसंख्यक लोग व्यस्त थे। बढ़ई जल-यात्रा के लिए नाव भी बनाते थे।

प्राचीन भारत में वस्त्र बनाने का व्यवसाय प्रधानतः स्त्रियों के हाथ में था। ऋग्वेद में रात्रि और उषा की उपमा दो नवयुवती बुनकर स्त्रियों से दी गई है।[2] ओतु और तन्तु क्रमशः ताने-बाने के नाम रहे हैं। तसर ढरकी का नाम था।[3] करघे

---

१ ऋग्वेद ९.११२.१।

२ ऋग्वेद २.३८; १.९२.३। अथर्ववेद १०.७.४२;

३ तसर के लिए ऋग्वेद १०.१३०.२।

को वेमन् कहा जाता था।[1] ताने के फैलाने के लिए मयूख नाम की खूंटी काम में आती थी। इसको कसा हुआ रखने के लिए सीसे का भार सिरे से लटका देते थे।[2] वस्त्र प्रायः ऊन का सूत कात कर बनाया जाता था। गान्धार, परुष्णी तथा सिन्ध-प्रदेश के ऊन सर्वोच्च कोटि के गिने जाते थे।[3] सन और अतसी के रेशों के भी वस्त्र बनाने का प्रचलन था। पेशस्कारी नामक स्त्रियाँ वस्त्रों पर कसीदे काढ़ती थीं।[4] पुरुष और स्त्री बुनकरों के नाम क्रमशः वाय और वायित्री थे।[5] स्त्रियाँ वस्त्रों को रंगने और धोने का काम करती थीं।

चर्म्मन कच्चे चमड़े को कमा कर संस्कृत बनाता था।[6] चमड़े से थैले और बरतन बनाये जाते थे, जिनमें खाने-पीने की वस्तुयें रखी जाती थी। चमड़े से प्रत्यञ्चा, रस्सी, वल्गा, कोड़ा आदि भी बनाये जाते थे। चमड़े के कामों को चर्मण्य कहते थे।[7] कुलाल मिट्टी के बरतन बनाता था। कुलाल का दूसरा नाम मृत्पच भी था।[8]

वैदिक काल में लोग सोने, चाँदी, ताँबे, लोहा (अयः, श्याम, कार्ष्णायस), सीसे और टिन (त्रपु) आदि धातुओं और रत्नों से परिचित थे।[9] इनको भूगर्भ से निकालने, निर्मल करने और इनसे विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने में बहुसंख्यक लोग लगे हुए थे। स्वर्णकार सोने और चाँदी के विविध प्रकार के आभरण बनाते थे। मणिकार मणियों के अलंकार बनाता था। व्रात्य वर्ग के लोगों को चाँदी के हार पहनने की अभिरुचि थी।[10]

ध्माता भूगर्भ से निकली हुई कच्ची धातु को गलाकर स्वच्छ करता था और उनसे विविध प्रकार की वस्तुयें बनाता था। अयस् नामक धातु से परशु आदि

---

१ वाज० सं० १९.८३ में वेमन।

२ Vedic Index ओतु।

३. ऋग्वेद १.१२६.६; १०.७५.८।

४ वाज० सं० ३०.९।

५ ऋ० १०.२६.६ तथा पंचविंश ब्रा० १.८.९।

६ ऋग्वेद ८.५५.३।

७. ऐतरेय ब्राह्मण ५.३२।

८. वाज० सं० १६.२७ तथा ३०.७।

९. वाज सं० १८.१३ में हिरण्य, अयः, स्याम, लोह, सीस और त्रपु का उल्लेख है।

१० पंचविंश ब्राह्मण १७.११४, वाजसनेयि सं० ३०.१७।

अस्त्र-शस्त्र तथा बरतन भी बनते थे, जिनमें सोमपात्र प्रमुख था।[1] लोह सम्भवतः ताँबा था।[2]

श्याम आधुनिक लोहा प्रतीत होता है, जिससे तलवार बनाई जाती थी।[3] त्रपु (टिन) और सीस का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[4] साहित्य के परवर्ती उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इनका उपयोग प्रायः सदा ही प्रचलित रहा।[5]

वैदिक काल के उद्योगों की एकत्र सूची वाजसनेयि संहिता में मिलती है। इसके अनुसार रथकार, तक्षा (बढ़ई), कुलाल, कर्मार (लोहा, चाँदी आदि का काम करने वाले), मणिकार, इषुकार (बाण बनाने वाले), धनुषकार (धनुष बनाने वाले), ज्याकार (धनुष की रस्सी बनाने वाले), रज्जुसर्ज (रस्सी बनाने वाले), मृगयु (शिकारी), श्वनी (कुत्ते पालने वाले), भिषक् (वैद्य), सुराकार, दार्वाहार (लकड़हारा), चर्मसन्धाता, चर्म्मन (चमार), धीवर, शौष्कल, (मछली पकड़ने वाले), केवट, गणक आदि पुरुष अपने-अपने व्यवसाय में लगे हुए थे। विदलकारी (बांस की टोकरी तथा चटाई बनाने वाली), कोशकारी (तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र के लिये कोश बनाने वाली), कण्टकीकारी (काँटे लगाकर चटाइयों में तह लगाने वाली), पेशस्कारी (वस्त्र पर शिल्प का काम करने वाली), रजयित्री (वस्त्र रंगने वाली), वासःपल्पूली (वस्त्र धोने वाली), आंजनीकारी (अंजन बनाने वाली), कोशककारी (तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र के लिये कोश बनाने वाली) आदि स्त्रियों के अपने-अपने अलग-अलग व्यवसाय थे।[6] तत्कालीन समाज में मनोरंजन करने वालों का व्यवसाय समुन्नत था। नृत्त, गीत, अभिनय, द्यूत, वीणा-वादन, तूणव बजाना, शंख बजाना आदि व्यवसाय रूप में प्रचलित थे।[7] ऋग्वेद में (कृशन) मोती के उल्लेख

---

१ ऋग्वेद ६.३.४; ४.२.१७; ९.१.२।

२ अथर्ववेद ११.३.१७।

३ तै० सं० ७.५.१ कात्या० सं० १८.१० वाज० सं० १८.१० अथर्ववेद ९.५.४; ११.३.७।

४ अथर्ववेद १२.३.१८ तथा १२.२.१ आदि।

५ त्रपु वाज० १८.१३; तै० सं० ४.७.५.२; काठक सं० १८.१० तथा सीस शतपथब्रा० १२.७.१.७; छान्दोग्य उप० ४.१७.७।

६ वाज० सं० ३० से।

७ वाज० सं० ३०.६; १९.२० से।

मिलते हैं। निश्चय ही उस समय कुछ लोग मोती निकालने के काम में लगे होंगे।[1]

वैदिक काल में यज्ञ-सम्पादन का काम व्यवसाय रूप में प्रचलित था। यज्ञ से सम्बद्ध ऋत्विक्, छन्दोग, सोमी, उद्गीथ, गायत्रिन्, अध्वर्यु, ब्रह्मा, गणक, नक्षत्र-दर्श आदि विशेषज्ञ प्रायः ब्राह्मण होते थे।

महाभारत काल में भूगर्भ की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु, रत्न, स्वर्ण और चाँदी रही हैं। राजाओं के कोश में इनका संचय होता था और उपहार रूप में अन्य राजाओं को दिया जाता था।[2] इस युग में कम्बोज-प्रदेश में बिलवासी जन्तुओं के ऊन के स्वर्णिम शिल्प-युक्त कम्बल वाले तथा बहुमूल्य मृगचर्म तैयार किये जाते थे।[3] भरुकच्छ देश मृगचर्म तैयार करने के लिये प्रसिद्ध था।[4] समुद्र-तट के निकटवर्ती प्रदेशों में मोती और स्वर्ण के भूगर्भ से निकालने का व्यवसाय था। प्राग्ज्योतिषपुर की हाथीदाँत की मूठ वाली तलवार प्रसिद्ध थी। तत्कालीन भारत में उपादान की दृष्टि से अनेक प्रकार के वस्त्र बनते थे। वे प्रमाण, रंग और स्पर्श की दृष्टि से मनोरम होते थे। वस्त्र ऊन, रंकु, रेशम और पट्ट-रोम के बने होते थे। इनका रूपरंग कमल की भाँति सुन्दर था। वस्त्र चिकने होते थे। सम्भवतः रूई के वस्त्र का विशेष आदर नहीं था।[5] कुछ आर्येतर जातियाँ विशेष प्रखर और बड़ी तलवारें बनाती थीं और उपहार में देने योग्य ऋष्टि, शक्ति तथा परशु का निर्माण करती थीं। रस और गन्ध बनाने में भी लोग कुशल थे। पूर्वी प्रदेशों में बहुमूल्य शयनासन, यान, मणि और स्वर्ण जटित हाथी के दाँत से बना कवच, विविध प्रकार के नाराच, अर्ध-नाराच आदि शस्त्र, स्वर्णजटित रथ आदि बनाने का उद्योग-धन्धा प्रसिद्ध था।[6] पर्वतीय प्रदेश के कुछ लोग मधु एकत्र करने का व्यवसाय करते थे।[7] वन-प्रदेशों से बहुमूल्य औषधियों का संचय किया जाता था। हिमालय ऐसी औषधियों के लिये प्रख्यात था।[8] व्याध वन के पशुओं का मांस प्राप्त करके नगर वासियों को देते

---

१ ऋग्वेद १.३५.४ तथा १०.६८.१।

२ महाभारत सभापर्व ४५.३२, ३३; ४६.२४, २५; ४७.१६।

३ वही ४७.३।

४ वही ४७.७।

५. सभाप० ४७.२३, २४।

६ वही ४७.२८, २९।

७ वही ४८.५।

८ सभाप० ४८.६।

थे।[1] किरात जाति के लोग चन्दन, अगरु, काष्ठ, कालीयक, चर्म, रत्न, सुवर्ण, गन्ध, मृग-पक्षी आदि पर्वत-प्रदेशों पर प्राप्त होने वाली वस्तुओं का संचय करते थे।[2] लकड़ी को जलाकर कोयला बनाने का काम चलता था। चोल और पाण्ड्य देश में मणि, और रत्न निकालने और सूक्ष्म वस्त्र बनाने का व्यवसाय होता था।[3] समुद्रतट के लोग रत्न निकालते थे, मणि और मोती-जटित कम्बल बनाते थे और सोने, चाँदी तथा विद्रुम का संग्रह करते थे।[4]

जातक साहित्य में तत्कालीन समाज के साधारण लोगों के व्यवसायों का परिचय मिलता है। उस समय लुब्धक और निषाद मृगया के द्वारा पशु-पक्षियों को पकड़कर या मारकर उन्हें बेचते थे। ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त थी। शिकारी डंडे, तीर, धनुष, जाल आदि लेकर वन, पर्वत और मैदानों में छिपकर विविध उपायों से पशु-पक्षियों का शिकार करते थे। मृगया में पशु का चर्म, मांस, दाँत, वसा आदि की प्राप्ति होती थी। हाथी के दाँत तथा अनेक जंगली पशुओं के चमड़े उस समय भी बहुमूल्य थे। चिड़ियाँ पालने के लिये भी पकड़ी जाती थीं। ऐसी चिड़ियों में शुक, मयूर, सारिका आदि थीं। पक्षियों को पकड़ने के लिए प्रायः जाल का प्रयोग होता था। मछलियाँ पकड़ने का व्यवसाय भी कुछ हीन जाति के लोग करते थे।

जातक युग में वस्त्र-व्यवसाय समुन्नत था। काशी के कौशेय-वस्त्र महार्घता के लिए प्रसिद्ध थे। गान्धार और कोडुम्बर प्रदेश में ऊन के अच्छे कपड़े विशेष रूप से बनते थे। विविध प्रदेशों की शयनासन तथा पहनने और ओढ़ने की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भाँति-भाँति के वस्त्र बनते थे।

वस्त्र-सम्बन्धी व्यवसाय प्रायः स्त्रियों के हाथ में थे। कपास धुनने के लिए स्त्रियों का धनुष प्रसिद्ध था। वस्त्रोद्योग के साथ ही वस्त्र का रंगना, उसका धोना और सीना आदि व्यवसाय प्रवर्तित थे।

भोजन की आवश्यकता के लिए समुद्र के जल को उबाल कर नमक बनाया जाता था। गुड़ बनाने के लिए ईख पेरने के यन्त्र चलते थे। तेल निकालने के लिए यन्त्र का प्रयोग होता था। विविध प्रकार की सुराओं और मद्यों को बनाने के लिए बड़ी कर्मशालाएं थीं।

---

१ शल्यप० २९.२३।

२ सभा ४८.८–११।

३ वही २७.२५, २६।

४ वही ५५.४।

जातक साहित्य में धातुओं के व्यवसाय की प्रगति के उल्लेख मिलते हैं। वहुमूल्य धातुओं, मणियों और मुक्ताओं से अलंकार बनाये जाते थे या शय्यासन और वस्त्रों को शोभनीय बनाया जाता था। आर्थिक नियोजन की दृष्टि से लोहार का काम विशेष उपयोगी होकर रहा। लोहार खेती के लिए आवश्यक हल, फावड़ा, हंसिया आदि बनाते थे। लोहे के स्तम्भ और शृंखलायें बनाई जाती थीं। लोहे, ताँबे, पीतल, काँसे आदि के बरतन दैनिक जीवन की आवश्यकता के लिए बनते थे। इस युग में लोहे को सुधार कर इस्पात बनाया जाता था और उससे कुल्हाड़ी, हथौड़ा, छेनी, छुरे आदि बनाये जाते थे। मृगया, युद्ध आदि की आवश्यकता के लिए धनुष, बाण आदि अस्त्र-शस्त्र, कवच एवं औषध बनाने का व्यवसाय समुन्नत था। कुछ लोहार शिल्प का काम करते थे। उनकी सूइयाँ अतिशय सूक्ष्म और प्रखर होती थीं। वे बाजों में प्रयुक्त होने वाले सूक्ष्म तार बनाते थे। लोहारों के पूरे गाँव बसे हुये थे।

नगरों में दन्तकार-वीथियाँ होती थीं, जिनमें लोग हाथी-दाँत के शिल्प का काम करते थे। हाथी-दाँत के अलंकार, मूर्तियाँ, तथा दर्पण की मूठ आदि बनाई जाती थीं और उससे रथों का अलंकरण भी होता था।

भवन-निर्माण का व्यवसाय जातक युग में कुछ आगे बढ़ा हुआ दिखाई देता है। भवनों के लिए ईंट, पत्थर, मिट्टी, चूना, गारा और लकड़ी आदि सामग्री प्रस्तुत करने में और उन्हें बनाने में बहुसंख्यक लोग संलग्न थे। भवनों को कलात्मक रूप दिया जाता था और उनका निर्माण वैज्ञानिक विधि से होने लगा था। सैकड़ों बढ़ई एक साथ ही जंगलों में जाकर विविध आकार-प्रकार के घरों के निर्माण के लिए उपयोगी लकड़ी काटते थे और उनको गढ़कर क्रमानुसार चिन्हित करके नाव पर लादकर नगरों में बेचते थे। कुछ बढ़ई शयनाशन, खिलौने, पेटी, नाव, रथ, गाड़ी और विविध प्रकार के यन्त्र बनाते थे।

बढ़इयों के व्यवसाय के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसायों के लिए वन-प्रदेश समुचित साधन प्रस्तुत करता था। रस्सी, चटाई, टोकरी, पंखा, पत्तों के छाते तथा वंशी आदि बाजे बनाने वाले वनों में जाकर नल, बाँस और ताड़ के पत्तों से विविध प्रकार की वस्तुएं बनाकर बेंचते थे। वनों से रंग बनाने के लिए लाख आदि सामग्री, विविध प्रकार की औषधियों के लिए कन्द, मूल, फल और पत्ते आदि मिलते थे। वहीं विविध प्रकार के चर्म मिलते थे, जिनसे चमड़े के काम करने वाले जूते, ढाल, थैले, पट्टियाँ आदि बनाते थे। इस प्रकार वन-भूमि व्यावसायिक क्षेत्र बनती जा रही थी। कुम्हार मिट्टी से मनोरम और सचित्र पात्र बनाते थे।

सुगन्धित द्रव्यों से भोग-विलास की सामग्रियाँ बनाई जाती थीं। लोग पुष्पा-वचय करके उन्हें मालाकार को देते थे और वह पुष्पों से विविध प्रकार की मालायें बनाता था। फूलों से गन्ध-द्रव्य बनाने का प्रचलन था और तैलों को सुवासित किया जाता था। काशिकचन्दन लोकप्रिय था। सुगन्ध वाले द्रव्यों से चूर्ण और तेल बनाये जाते थे। प्रियंगु के पुष्पों से सर्वोत्तम गन्ध-द्रव्य बनता था। अनेक गन्ध द्रव्यों के मिश्रण से सर्व-संहारक नामक सुगन्धि तैयार की जाती थी। अगुरु और तगर से वस्त्रादि को सुगन्धित किया जाता था।[1]

जैन-साहित्य में तत्कालीन उपर्युक्त व्यवसायों के उल्लेख मिलते हैं। वन के पशु और पक्षियों की तथा जलचरों की मृगया होती थी। मृग-लुब्धक वन के पशुओं की मृगया करके उन्हें बेचकर जीविका चलाते थे। शौनिक नामक आखेटक कुत्तों की सहायता से मृगया करते थे। जाल से शिकार पकड़ने वाले शिकारी वागुरिक कहे जाते थे। पशुओं की मृगया के लिये कूट-जाल का उपयोग होता था। आखेटक हाथियों को भी पकड़ लेते थे। पुलिन्द हाथियों को मारकर उनका दांत बेचते थे। पक्षियों का शिकार धनुर्बाण के अतिरिक्त जाल तथा बाज की सहायता से होता था। कुछ शिकारी विशेष प्रकार के लेपों से पक्षियों को फंसाते थे। अण्डों को इकट्ठा करने वाले लोग हाथ में फावड़ा, बाँस, टोकरी आदि लेकर कौवे, उल्लू, कबूतर, टिटिहरी, सारस, मुर्गी आदि के घोंसलों की टोह में चक्कर करते थे। अण्डों को कड़ाही में भूनकर बेचा जाता था। लोग मोर, कोयल, तीतर, शुक, सारिका, आदि पक्षियों को पालते थे। मछुये नदियों में नावों पर बैठकर मनों मछली मारते थे और उन्हें सुखाकर या पकाकर बेचते थे। कछुओं के बेचने का व्यवसाय चलता था।

इस युग में कोलिय वस्त्र बनाते थे। विविध प्रकार के सूती, ऊनी, रेशमी और तिनके तथा छाल आदि के वस्त्र बनते थे। वस्त्रों के रँगने वाले, छींट बनाने वाले तथा सीने वाले लोगों का व्यवसाय बढ़ा-चढ़ा था। ऐसा प्रतीत होता है कि रूई से अधिकाधिक वस्त्र बनाये जाते थे।

वस्त्रों के धोने का काम धोबी करता था। वे वस्त्र धोने में सज्जी और क्षार का उपयोग करते थे। आजकल की ही भाँति भीगे वस्त्र पर सज्जी लगाकर बरतन में रखकर आग पर गरमाया जाता था और फिर स्वच्छ पानी से धो दिया जाता था। धोबी वस्त्रों को रंगने का काम भी करते थे। इस प्रकार उनका रजक

---

१ जातकोल्लिखित व्यवसायों के सविस्तर विवरण के लिए देखिए—*Ratilal Mehta* : Pre-Buddhist India, P. 194-209.

नाम सार्थक होता था। विभिन्न ऋतुओं में अपनी रुचि के अनुकूल लोग वस्त्र रँगवाते थे।

धातुओं और रत्नों को निकालने, उन्हें स्वच्छ करने तथा उनसे विविध प्रकार के अलंकार या उपयोगी वस्तुओं को बनाने के अनेक व्यवसायों के उल्लेख जैन-साहित्य में मिलते हैं। धातुओं के अतिरिक्त लवण, ऊष (रेह), हरिताल, मनः-शिला, हिंगूलक, अंजन आदि वस्तुएँ भूगर्भ से निकाली जाती थीं। लोहे, टिन ताँबे, जस्ते और सीसे आदि धातुओं से घरेलू आवश्यकताओं की अनेक वस्तुओं का निर्माण होता था। धनी लोगों के बरतन सोने और चाँदी के बनाये जाते थे और रत्न-जटित होते थे। लोहे से खेती और युद्ध के उपकरण बनाये जाते थे। स्वर्ण-कार और मणिकार नये-नये प्रकार के अलंकारों का निर्माण करते थे। कांस्यकार और कर्मार के काम सस्ती धातुओं के व्यवसायों तक सीमित थे। हाथीदाँत की मूर्तियाँ और अलंकार तथा अन्य जन्तुओं की हड्डी, सींग तथा शंख और कौड़ियों के आभरण बनाने का व्यवसाय शिल्पकारों के हाथ में था। कुम्भकार मिट्टी के बरतन बनाते थे। उस युग में धातु की कमी के कारण मिट्टी के बने हुए बरतनों की माँग बहुत अधिक थी। पोलासपुर के सद्दालपुत्त नामक कुम्भकार के पास अकेले ही ५०० मिट्टी के बरतनों के ५०० आपण थे, जिनके लिए उसकी अध्यक्षता में विविध प्रकार के पात्र बनाये जाते थे।[१]

अर्थशास्त्र में तत्कालीन भारतीय उद्योग-धन्धों का विशद वर्णन मिलता है। इसके अनुसार ताम्रपर्णी नदी, पाण्ड्यकवाट पर्वत, पाशनदी, चूर्ण नदी, महेन्द्र पर्वत, हिमालय पर्वत आदि के निकट रहने वाले कुछ लोग मोती निकालने का व्यवसाय करते थे। इनके अतिरिक्त कुछ झीलों में मोती मिलते थे। मणियाँ वेदोत्कट, मणिमन्त, कूट, मूलेय पर्वतों पर तथा विदर्भ, कोसल, काश्मक (काशी के आस-पास) तथा कलिंग-प्रदेश में मिलती थीं। मणि की प्राप्ति खान तथा नदी के प्रवाह से होती थी। अर्थशास्त्र के युग में चन्दन और अगरु की लकड़ी संचय करने का व्यवसाय समुन्नत था। चन्दन के वृक्ष १६ प्रकार के तथा अगरु के वृक्ष तीन प्रकार के होते थे और विभिन्न प्रान्तों में मिलते थे। तैलपर्णिक की लकड़ी, आसाम के कामरूप प्रान्त में होती थी। अन्य सुगन्धित द्रव्य— भद्रश्रीय, पारलौहित्यक, अन्तरवत्य आदि के संचय करने का व्यवसाय कामरूप प्रान्त में होता था। पर्वतीय प्रदेशों और वनों के लोग वन्य जन्तुओं के चर्म

---

१ **उपर्युक्त जैन-साहित्यिक व्यवसायों के लिए देखिए :—**
J. C. Jain : Life in Ancient India, P. 9-110.

का संचय करते थे। हिमालय पर्वत पर विविध प्रकार के बहुमूल्य मृगचर्म मिलते थे।

कम्बल बनाने का व्यवसाय प्रायः पर्वतीय प्रदेशों में होता था। कम्बल, आकार-प्रकार, रंग और उपादान की दृष्टि से अनेक प्रकार के बनाये जाते थे, यथा— कम्बल, कौचपक, कुलमितिका, सौमितिका, तुरगास्तरण, वर्णक, तलिच्छक, वारवाण, परिस्तोम, समन्तभद्रक, अपसारक, भिंगसी, सम्पुटिका चतुरश्रिका, लम्बरा, कटवानक, प्रावारक और सत्तलिका। विभिन्न प्रान्तों में बने हुए कम्बलों के नाम उन देशों के नामों के अनुसार पड़ते थे, यथा वंग देश का वांगक, पाण्ड्य देश का पौण्ड्रक और सुवर्णकुड्य देश का सौवर्णकुड्यक। नागवृक्ष, लिकुच, बकुल तथा वट की छाल से भी वस्त्र बनाये जाते थे। इनके बनाने का व्यवसाय मगध और पांड्य देश में प्रचलित था। कपास का वस्त्र बनाने का सर्वोत्तम व्यवसाय मदुरा, अपरान्त (कोकंण), कलिंग, काशी, बंगाल, वत्स तथा माहिष्मती देश में था।[१]

अर्थशास्त्र के युग में हीरा, मणि, स्वर्ण, शिलाजीत, चाँदी, सीसा, लोहा, टिन आदि को खानों से निकालकर परिशोधित किया जाता था। समुद्र से मोती, शंख और प्रवाल निकाले जाते थे।[२] स्वर्ण प्राप्त करने का व्यवसाय जम्बू नदी के तट पर, शतकुम्भ पर्वत पर, वेणु पर्वत पर तथा हाटक प्रदेश में होता था।[३] खान से चाँदी निकालने का व्यवसाय तुत्थ पर्वत, गौडदेश, कम्बु पर्वत और चक्रवाल पर्वत पर होता था।[४]

अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे छोटे-मोटे धन्धों का विवरण मिलता है, जिसमें गाँव से लेकर नगरों तक के श्रमिक वर्ग का अधिकांश भाग लगा हुआ था। ऐसे काम प्रायः धान आदि कूटना, दाल आदि दलना, सत्तू बनाना, शुक्त (सिरका आदि) बनाना, पिष्ट (गेहूँ आदि पीसना), तैल-पीडन (तिल आदि पेर कर तेल आदि निकालना), मिट्टी के बरतन बनाना और ईख के रस से गुड़ आदि बनाना रहे हैं।[५] वनों में काम करने वाले वहाँ से विविध प्रकार की लकड़ी, बाँस, बेंत, लतायें, वस्त्र बनाने के लिए वल्कल, रस्सी बनाने के लिए मूँज, बल्वज आदि, लिखने के लिए ताल और भूर्ज-पत्र तथा किंशुक, कुसुम्भ और कुंकुम के पुष्प संग्रह करके

---

१ अर्थशास्त्र-रत्नपरीक्षा प्रकरण।

२ वही आकराध्यक्ष प्रकरण।

३ वही सुवर्णाध्यक्ष प्रकरण।

४ अर्थशास्त्र सुवर्णाध्यक्ष प्रकरण।

५ अर्थशास्त्र कोष्ठागाराध्यक्ष प्रकरण।

नगरों और गांवों में लाते थे। इनके अतिरिक्त वनों में औषधि के लिए जड़ी-बूटियाँ, वस्त्रादि के लिए चर्म आदि संग्रह करने का व्यवसाय चलता था।[1]

राजधानी में युद्धोपयोगी वस्तुओं के बनाने का व्यवसाय महत्त्वपूर्ण था। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, यन्त्र, कवच, हाथी, घोड़े और रथ के लिए अलंकार, अंकुश आदि बनाने में बहुत से लोग संलग्न थे।[2] राजधानी में राजा की ओर से सूत्राध्यक्ष नियुक्त होता था, जो सूत, और सूत से बनने वाली वस्तुओं—वस्त्र, चर्म, रस्सी आदि को कुशल पुरुषों के द्वारा बनवाने के व्यवसाय की देखभाल करता था। विधवा, अंगहीन स्त्रियाँ, कन्यायें, संन्यासिनी, राजदंड चुकाने में असमर्थ स्त्रियाँ, वेश्याओं की मातायें, वृद्ध राजदासियाँ तथा मन्दिरों में न जाने वाली देव-दासियाँ ऊन, वल्कल, कपास, तूल, सन और क्षौम कातती थीं। काम की योग्यता के अनुसार उनको वेतन दिया जाता था और उत्साहित करने के लिए प्रसाधन की सामग्री उपहार रूप में दी जाती थी। सूत्राध्यक्ष क्षौम, दुकूल, क्रिमितान रांकव, कार्पास आदि विविध प्रकार के वस्त्र तथा बिछौने और ओढ़ने के लिए दरी और कम्बल आदि बनवाता था।[3] ऊन, सूत, बाँस, चर्म के काम करने वाले तथा कवच, शस्त्र और झूल आदि बनाने वाले राजधानी में रहते थे।[4]

सुराध्यक्ष राजधानी में बहुविध सुरायें बनवाता था। भोजन और पान के प्रकरण से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र के युग में असंख्य प्रकार की बढ़िया और घटिया सुरायें बनती थीं।[5]

नगरों और गाँवों में कुछ लोग मनोरंजन सम्बन्धी व्यवसाय करते थे। ऐसे लोगों की गणना इस प्रकार मिलती है—गणिका, नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, प्लवक, सौभिक, चारण आदि।[6] इनके लिए वाद्यादि बनाने वालों की संख्या अत्यधिक थी। यथा कुलालों में दार्दुरिक, मार्दङ्गिक, पाणविक आदि विशेषज्ञ थे, जो क्रमशः दर्दुर, मृदंग और पणव के बाजों का मिट्टी का भाग बनाते थे।[7]

---

१ अर्थशास्त्र कुप्याध्यक्ष-प्रकरण।

२ अर्थशास्त्र-आयुधागाराध्यक्ष-प्रकरण।

३ वही सूत्राध्यक्ष-प्रकरण ।

४ वही दुर्गनिवेश-प्रकरण।

५ सुराध्यक्ष।

६ अर्थशास्त्र गणिकाध्यक्ष-प्रकरण।

७ महाभाष्य ४.४.५६।

गुप्तकालीन उद्योग-धन्धों की रूप-रेखा का परिचय अमरकोश के उल्लेखों से मिलता है। इस ग्रन्थ के मनुष्यवर्ग से प्रतीत होता कि शरीर को मनोरम बनाने के लिए विविध प्रकार के मण्डन, प्रसाधन और अलंकरण की सामग्रियों को तैयार करने के लिए अनेक व्यवसाय चलते थे, जिनमें बहुत बड़ी जन-संख्या संलग्न थी।[1] अलंकरण की बहुलता का परिचय तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों से भी लगता है। उस युग में त्वक् (छाल), फल (कपास आदि), कृमि (रेशम) तथा रोम— ये चार वस्त्र की योनि माने गये थे। इनके नाम क्रमशः बाल्क (क्षौमादि), कार्पास, कौशेय, तथा रांङ्कव थे। निचोल, चोल, वितान, दूष्य, तिरस्करिणी आदि वस्त्रों को सीकर बनाया जाता था। शरीर को सुगन्धित, सचित्र, चिकना और कोमल बनाने के लिए विविध प्रकार के कुंकुम, लाक्षा, चन्दन, अगुरु, राल, धूप, सरलद्रव, कस्तूरी, कंकोल, लवंग, कपूर, तैलपर्णिक, जातीफल आदि का संचय करने का व्यवसाय होता था। इन्हीं द्रव्यों से विलेपन, चूर्ण, वासित आदि बनाने का उद्योग चलता था।[2] इनके अतिरिक्त विभिन्न धातुओं और रत्नों तथा पुष्पों के अलंकार बनाने का शिल्प चलता था। नागरिकों की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शय्या, मंच, आसन, उपधान आदि बनाये जाते थे। प्रसाधन की सामग्री रखने के लिए समुद्गक, पान खाने वालों के लिए पतद्ग्रह, केश-प्रसाधन के लिए कंकतिका (कंघी), हवा करने के लिए पंखे तथा शृंगार करने के लिए दर्पण बनाने के काम विशेष रूप से नगरों में चलते थे।[3]

अमरकोश में कारु-कर्म और शिल्प का व्यवसाय शूद्र-वर्ग में मिलता है। इस कोटि में मालाकार, कुम्भकार, लेपक, तन्तुवाय (बुनकर), तुन्नवाय (दर्जी) चित्रकर (रंगने वाला), शस्त्रमार्ज (शस्त्रों को निर्मल करने वाला), चर्मकार, लोहकार, स्वर्णकार, शांखिक (शंख की वस्तुएं बनाने वाला), ताम्रकुट्टक (तँबेरा) बढ़ई, नाई, धोबी, कलाल, ऐन्द्रजालिक, नट, चारण, मार्दङ्गिक, वैणविक, वैणिक, शाकुनिक (चिड़ीमार), जालिक, भृतक (कर्मकर), भारवाह (बोझ ढोने वाले), लुब्धक आदि के धन्धे रहे हैं। इनके अतिरिक्त रस्सी बनाना, सूत कातना, पुतली बनाना, पेटी बनाना, बाजे बनाना, अस्त्र-शस्त्र बनाना, प्रतिमा बनाना

---

१ अमरकोश मनुष्यवर्ग १३१—१३६।

२ इनके निर्माण-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के लिए देखिए गुप्तयुगीन ग्रन्थ— बृहत्संहिता गन्ध-प्रकरण। इसमें अंजन, सुगन्धित तैल, गन्ध, चूर्ण, पटवास, विलेपन आदि बनाने की युक्तियाँ दी गई हैं।

३ अमरकोश मनुष्य-वर्ग १३७—१४०।

आदि उद्योग शूद्रों के हाथ में थे। सुरा बनाने और जुआ आदि खेलाने की व्यवस्था करने का काम व्यवसाय-रूप में शूद्र ही करते थे।

सातवीं शताब्दी में मथुरा उच्चकोटि के वस्त्र-व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध थी।[१] सिन्धु प्रदेश में रंग-विरंगे नमक और सोना-चाँदी निकालने का व्यवसाय होता था।[२] मलकट देश में सामुद्रिक मोतियों का संग्रह किया जाता था।[३] उस समय सारे भारत में सोना, चाँदी, काँसा, जस्ता और स्फटिक भरपूर थे।[४] प्राग्ज्योतिष (आसाम) में छाते, अलंकार, शंख-सीप आदि के बने पान-पात्र तथा स्वर्णजटित चर्म की बनी वस्तुयें बनाने का व्यवसाय समुन्नत था। इस देश में जातीपट्टिका (पेटी) कोमल बनती थी, सचित्र और मृदु धोतियाँ बनती थीं, पिंगल वर्ण के बेंत के आसन बनते थे और पूगफल, अगुरु, चन्दन, कपूर, लवंग, जातीफल, चामर, कस्तरी-कोश, कक्कोल-पल्लव आदि को संग्रह करने का उद्योग पर्वत-प्रदेश में होता था। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र पशु-पक्षी—चमरी, कुरंगक, शुक, सारिका चकोर आदि वनों से पकड़े जाते थे।[५]

ह्वेनसाँग ने तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों में खानों से धातुओं के निकालने के व्यवसाय का वर्णन किया है। इसके अनुसार उद्यान-प्रदेश में सोना और लोहा निकालने का व्यवसाय होता था।[६] राजपुर के समीप व्यास और सिन्ध के अन्तर्वेद में सोना, चाँदी, कसकुट, ताँबा, लोहा, आदि निकाले जाते थे।[७] कुलुतो (आधुनिक कुल्लू) प्रदेश में सोना, चाँदी, ताँबा और स्फटिक-ताल निकलते थे।[८] सतलज के तट पर सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं के निकालने का व्यवसाय होता था। मथुरा के आस-पास सोना निकाला जाता था।[९] ह्वेनसांग ने भड़ौच के निवासियों को समुद्र के जल से नमक बनाते देखा था।[१०]

---

१ वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग २, पृ० ३१०।

२ वही, पृ० २५२।

३ वही, पृ० २२८।

४ वही, भाग १, पृ० १७८।

५ हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास से।

६ वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० २२५।

७ वही, पृ० २८७।

८ वही, पृ० २९८।

९ वही, पृ० २९९–३००।

१० वही, भाग २, पृ० २९८।

परवर्ती युग में सिन्ध-प्रदेश में सूक्ष्म वस्त्र, बिछावन, औषध आदि बनाने के धन्धों की प्रगति के उल्लेख मिलते हैं। खम्भात-प्रदेश में उत्तम जूते बनते थे तथा मोर और हाथी पकड़कर विदेशों में भेजे जाते थे। भारतीय वस्त्र-व्यवसाय की उच्चता का परिचय आठवीं शताब्दी के लेखक सुलेमान ने इन शब्दों में दिया है— 'यहाँ जैसे कपड़े बुने जाते हैं, वैसे और कहीं नहीं बुने जाते। वस्त्र इतने सूक्ष्म होते हैं कि पूरा थान एक अंगूठी में आ जाता है। ये कपड़े सूती होते हैं और हमने इन्हें स्वयं देखा है।' भारत में हाथी-दाँत और गैंडे का सींग संग्रह करने का व्यवसाय चलता रहा। विदेशों में इनकी माँग थी। कन्याकुमारी में ऊदबत्ती बनाने का तथा कश्मीर में हीरा संग्रह करने का काम विशेष रूप से प्रचलित था।[१]

तेरहवीं शताब्दी के भारतीय व्यवसायों का परिचय मार्कोपोलो के यात्रा-विवरण में मिलता है। इसके अनुसार कारोमण्डल-प्रदेश के तट पर मोती निकालने का व्यवसाय अच्छा चलता था। यहाँ अच्छे और बड़े मोती पाये जाते थे। मोती निकालने का काम अप्रैल से मई तक चलता था। उस प्रदेश का राजा स्वयं बड़े मोतियों को अतिशय चाव से खरीदता था। धनी लोगों के लिए मसहरी वाली वेंत की चारपाई बनाई जाती थी, जिससे सोने वालों को मच्छर न काट सकें।[२]

दक्षिण भारत में मेतोपल्ली प्रदेश में कुछ लोग हीरे ढूँढ़ने का काम करते थे। जाड़े में जब घनघोर वर्षा होती थी तो पहाड़ों से सोते बह निकलते थे। उन्हीं की तली में ढूँढ़ने से बहुत से हीरे मिल जाते थे। ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ों पर ढूंढ़ने से भी हीरे मिलते थे। इस प्रदेश में सूक्ष्म मलमल बुनी जाती थीं। लोग भेड़ों का ऊन संग्रह करने का व्यवसाय करते थे।[३]

मलाबार-प्रदेश में रूई अधिकता से होती थी। रूई के वस्त्र बनाए जाते थे और उससे गद्दे, तोसक और तकिया भरने का व्यवसाय होता था। मलाबार में चटाई बनाने का व्यवसाय समुन्नत था। अच्छी चटाइयाँ बनाई जाती थीं। उनपर पशु-पक्षियों के चित्र खींचे जाते थे।[४] मार्कोपोलो के समय में सोमनाथ के समीपवर्ती प्रदेश में शिल्प का काम समुन्नत होता था।[५]

---

१ देखिए अरब-भारत-सम्बन्ध, पृ० ६५–६७।

२ मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण, पृ० १५७–१६३।

३ वही, पृ० १६३–१६९।

४ मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण, पृ० १७२–१७३।

५ मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण, पृ० १७५।

औद्योगिक उत्कर्ष

भारतीय उद्योग-धन्धों के द्वारा निर्मित वस्तुओं की चारुता की ख्याति विदेशों में पहुँची। व्यापार के माध्यम से वे वस्तुएं विदेशों में जाने लगीं।[१] अनेक वस्तुओं के निर्माण में भारत सारे विश्व में अग्रगण्य रहा है। ऐसे उद्योग-धन्धों में शीशे के काम उल्लेखनीय हैं।[२]

परवर्ती युग में भारतीय रहन-सहन की उच्चता और अन्य देशों के साथ व्यापारिक समुन्नति को देखने से प्रतीत होता है कि उपरिलिखित उद्योग-धन्धों की दिशा में इस देश की प्रगति सदैव अक्षुण्ण बनी रही। उस युग में भारत ने शनैः-शनैः भोग-विलास और प्रसाधन की वस्तुओं के निर्माण में सर्वोच्च योग्यता प्राप्त कर ली थी और इन वस्तुओं के लिए तत्कालीन अखिल विश्व भारतीय व्यापार पर अवलम्बित रहने लगा था। ऐसी परिस्थिति भारतीय उद्योग-धन्धों के संवर्धन के लिए अत्यन्त अनुकल सिद्ध हुई। इसके साथ ही भारत में भी रहन-सहन की दृष्टि से गुप्त-वंशी राजाओं का शासन-काल स्वर्ण-युग रहा है। इस युग में भारत आधिभौतिक अभ्युदय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा। आज भी उस समय के व्यावसायिकों की बनाई हुई असंख्य वस्तुओं के प्रतिरूप सांची के स्तूपों, अजन्ता, की सचित्र गुफाओं तथा गुप्तकालीन मन्दिरों और विहारों में मिलते हैं। अनेक शिलाओं और गुहाओं की दीवालों पर तत्कालीन व्यावसायिक संघों के अभ्युदय

---

१. Chamber's Encyclopeadia P. 543 के अनुसार—"In manufactures the Hindus attained to a marvellous perfection at a very early period and the courts of Imperial Rome glittered with gold and silver brocades of Delhi. The muslin of Dacca were famous ages ago throughout the civilised world."

The skill of the Indians in the production of delicate woven fabrics, in the mixing colours, the working of metals and precious stones, the preparation of essences and in all manners of technical arts, has from early times enjoyed a world-wide celebrity. *Weber* : Indian Literature, P. 275.

२. "The use of glass for windows (in India) is a proof of civilisation that neither Greek nor Roman refinement presents. Mill's India, Vol. II, P. 46.

प्लीनी के अनुसार—The best glass ever made was Indian glass.

की अमर प्रतिष्ठा के लेख मिलते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र तथा कालिदास की रचनाओं में तत्कालीन व्यावसायिक समृद्धि के उल्लेख भरे पड़े हैं। तत्कालीन चित्रों, मूर्तियों और वस्तुओं की अधिकता देखने पर निश्चित प्रतीत होता है कि उस समय इनका निर्माण व्यावसायिक ढंग से होने लगा था।

औद्योगिक संघ

औद्योगिक क्षेत्र में प्राचीन काल की परिस्थितियाँ संघ बनाने के लिये विशेष रूप से अनुकूल थीं। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए उन दिनों कुटुम्ब, गाँव तथा गण के रूप में संघों की स्थापना करना आवश्यक हो जाता था। इन्हीं संघों से उद्योग-धन्धों के संवर्धन के लिए समुचित सुरक्षा और सुविधायें मिल सकती थीं। मृगया, खेती और पशुपालन के कामों में पूरे गाँव के लोगों में थोड़ी या अधिक मात्रा में संघभाव स्वभावतः अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के आदिकाल से ही किसी न किसी रूप में संघ बनाने की रीति रही है।

प्राचीन काल का शासन राजधानी के बाहर के उद्योग-धन्धों के संवर्धन के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होने पर भी उनकी स्वल्प सहायता ही कर पाता था, क्योंकि उस समय गमनागमन के साधन स्वल्प थे और राजधानी तक अपनी आवश्यकताओं के सन्देश पहुँचा देने में अत्यधिक समय लगता था।

प्रस्तर-युग के आदिवासियों के गण का परिचय उनके औजारों के कारखानों से मिलता है।[1] परवर्ती युग में सिन्धु-सभ्यता के लोगों के द्वारा निर्मित वस्तुओं के देखने से प्रतीत होता है कि उनकी समरूपता नियत करने वाली कोई गण-संस्था होगी, जो सरकार की अध्यक्षता में काम करती होगी।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की अनेक आर्येतर जातियाँ अपना जत्था बना कर रहती थीं। प्रत्येक जत्थे का अपना एक व्यवसाय होता था। उस पूरे जत्थे में पंचायती पद्धति से शासन-व्यवस्था चलती थी। जब कभी विजेता ऐसे जत्थों पर

---

१. ऐसी कर्मशालाओं का विवरण : Imperial Gazetteer, Pt. II, Pp. 93-94.

२. Within the area already described, the uniform products of Harappa civilisation can be traced with the monotonous regularity of a highly organised community. S. Piggott: Pre-historic India, P. 238.

अपनी सत्ता स्थापित कर लेते, तब भी उन जत्थों के व्यवसाय और शासन-विधान पूर्ववत् चलते रहे। संस्कृत साहित्य में ऐसे औद्योगिक जत्थों के नाम संघ, पूग, श्रेणी, निगम, गण आदि मिलते हैं। कालान्तर में इन्हीं की अलग-अलग जातियाँ बन गईं, जो आज तक प्रचलित हैं। आज भी उनकी व्यवस्था पंचायती है।

आरम्भिक वैदिक काल से ही गण-संस्था का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में गण के पति गणपति का उल्लेख मिलता है।[१] उपनिषद् साहित्य में वैश्यों के गण की चर्चा मिलती है।[२] वैश्य-समाज में उस समय गण बना लेने का प्रचलन विशेष रूप से था। वैदिक काल में श्रेष्ठी (सेठ) लोग संभवतः गणों के प्रधान होते थे।[३]

वैदिक काल में जातियों की जो व्यवस्था बनी, उसका स्वरूप परवर्ती युग में बहुत कुछ गण-संस्था से मिलता-जुलता कहा जा सकता है। प्रत्येक जाति का अपना कोई न कोई निजी व्यवसाय था और उसी व्यवसाय के नाते उस जाति के सभी लोग आरम्भ में सम्बद्ध हुए थे। प्रत्येक जाति की एक परिषद् बनती थी, जो उस जाति में शांति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा करने के लिए नियम बनाती थी।[४] निश्चय ही आर्थिक दृष्टि से जाति के अभ्युदय के लिए बनाई हुई योजनाओं का अतिशय महत्त्व ऐसी परिषदों के समक्ष था। उस युग में प्रत्येक व्यवसाय के लिए स्थान-स्थान पर ऐसी परिषदें बन गई होंगी।

वैदिक काल के पश्चात् जातक युग में प्रायः दो प्रकार के संघों (सेणियों) के उल्लेख मिलते हैं—व्यापारिक तथा शिल्पिक संघों की स्थापना जेट्ठक (प्रमुख) की अध्यक्षता में होती थी। जेट्ठक की योग्यता नेतृत्व के लिये अतिशय महत्त्वपूर्ण होती थी और व्यापारिक संघों को नित्य की आने वाली संशयास्पद परिस्थितियों में उसकी चतुरता और वैज्ञानिक सुझावों से लाभ होता था। शिल्पिक संघ तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्यों की अध्यक्षता में अपने-अपने शिल्प की व्यक्तिगत विशेषताओं की परम्पराओं को स्थायी निधि के रूप में अक्षुण्ण रखते हुए चलते थे। कलाकारों की शिष्य-मण्डली साधारणतः उसके संघ में सम्मिलित हो जाती थी।

---

१. ऋग्वेद २.२३.१ के अनुसार ब्रह्मणस्पति अपने गण का नेता है। मरुतों का भी गण है। ऋग्वेद ५.५२.१ तथा ५.६०.८। गण और व्रातों के नेताओं के उल्लेख ऋग्वेद १०.३४ में भी मिलते हैं।

२. बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१२

३. ऐतरेय ब्राह्मण ३.३०.३ कौषीतकि ब्रा० २८.६

४. गौतम धर्मसूत्र ११.२०–२१

शिल्पिकों के व्यवसायानुसार १८ प्रकार के प्रख्यात संघ होते थे।[1] उस युग में डाकुओं के संघ भी थे। ऐसे एक जेट्ठक के नेतृत्व में ५०० डाकू अपना व्यवसाय करते थे।[2] साझे में काम करने वालों को बराबर मूलधन लगाना पड़ता था और ऐसी परिस्थिति में उनको लाभ को समान बांट लेने का नियम था। यदि कोई बेईमानी करके अधिक लाभ चाहता था तो उसे रोकने का उपाय किया जाता था।[3]

संघों के जेट्ठकों की राजसभा तक अच्छी पहुँच थी। कुछ जेट्ठकों को राजसम्मान मिला था। वे राजाओं के मन्त्री तक होते थे। सूचीजातक में उल्लिखित जेट्ठक को राजवल्लभ की उपाधि मिली थी।[4]

संघ अपनी उन्नति के लिए योजनायें बनाकर उन्हें कार्यान्वित करने तथा आन्तरिक झगड़ों और विवादों को दूर करके शान्तिमयी सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा करने के लिए स्वतन्त्र थे। संघ की अपरिमित शक्ति हो सकती थी। संघ की एकता उसके अभ्युदय-पथ पर आने वाली रुकावटों को दूर करने में सहायक होती थी।

संघों के संचालन-सम्बन्धी विधानों के उल्लेख सूत्र-युग से मिलते हैं। गौतम, के अनुसार कृषक, व्यापारी, पशुपालक, ऋणदाता और अन्य उद्योग-धन्धों में लगे हुए लोग अपने संघ का संचालन करने के लिए नियम बनाते थे और उनके विवादों का निर्णय करते समय राजा उनके वर्ग में प्रचलित नियमों के अनुसार निर्णय करता था।[5] संघों के उपरिलिखित विधान केवल शासन-सबन्धी ही नहीं थे, अपितु संघ के सांस्कृतिक विकास की दिशा का दिग्दर्शन भी इनके द्वारा हो सकता था। संघ के किसी सदस्य की स्त्री को भिक्षुणी बनाने के पहले संघ की आज्ञा लेना आवश्यक था।[6] इस युग में संघ, गण, पूग और सेणी (श्रेणी) को अपने सदस्यों पर कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हो चुके थे, जो साधारणतः प्रजा पर राजा का होता है।

रामायण और महाभारत में संघों के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता

---

१ सूची जातक ३८७ में कम्मार जेट्ठक श्रेष्ठ आचार्य था। कुल्मास जातक ४१५ में मालाकार-जेट्ठक, समुद्दवाणिज जातक ४६६ में वड्ढकि-जेट्ठक तथा जरुदपान जातक २५६ में सत्थवाह-जेट्ठक के उल्लेख मिलते हैं।

२ सतपत्त जातक २७९।

३ कूटवाणिज जातक ।

४ उरग जातक १५४ के अनुसार जेट्ठक महामात्र था।

५ गौतम-धर्मसूत्र ११.२१।

६ सुत्त-विभंग से।

है कि उनके नाम निगम, गण और श्रेणी आदि प्रचलित थे।[1] ऐसी संस्थाओं की शक्ति संवर्धित हो रही थी और राजाओं की ओर से उनको ऊँची प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। श्रेणी के मुख्य को राजा के प्रत्येक उत्सव में स्थान मिलता था।[2] उन संघों को अपनी रक्षा करने के लिये निजी शक्ति बढ़ाने का चाव सा था। धन का बल उन्हें था ही। शीघ्र ही उन्होंने सेना का संगठन भी आरम्भ कर दिया।[3] उनके सैन्य-संगठन और समृद्धि को देखकर उनके राजत्व की कल्पना हो सकती है। यही कारण है कि सम्राट् अपनी दिग्विजय के समय श्रेणियों पर भी आक्रमण करते थे और उनको जीतकर उनसे भरपूर धन लेते थे।

रामायण में केवटों के एक संघ का वर्णन मिलता है। इस गण का नेता राजा गुह वीर था और उसकी सबसे प्रमुख विशेषता थी—ज्ञाति-गण से घिरे रहना। उसका व्यक्तित्व ज्ञाति-गण से असन्निहित नहीं था।[4] प्रायः सभी युवक-केवट सैनिक थे। इस प्रकार ५०० नावों पर ५०,००० सन्नद्ध सैनिक थे।

महाभारत में श्रेणी की सेना के उल्लेख मिलते हैं।[5] शत्रु-राजा को दुर्बल बनाने के लिये उसके राज्य की श्रेणियों के प्रधान पुरुषों को फोड़कर अपनी ओर मिला लेने की रीति थी।[6] श्रेणी के नियमों के विरुद्ध आचरण करना पाप माना गया।[7] कृष्ण और कंस के मल्लयुद्ध में श्रेणी और गण के लिए अलग-अलग मंच बने हुए थे।[8]

अर्थशास्त्र के अनुसार गणना-विभाग का अध्यक्ष संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र और संस्थान का लेखा रखता था। संघों का धन कुछ उच्चकोटि के विश्वास-पात्र नागरिकों के पास जमा होता था और आवश्यकता पड़ने पर उसे लिया जाता था।[9] राजधानी में श्रेणियों के टोले में 'श्रेणी'-बद्ध व्यावसायिकों के लिये विशेष

---

१ अयोध्याकाण्ड १४.२६, ७९, ८१, ८३, ८९।

२ लंकाकाण्ड सर्ग १२९।

३ आश्रमवासिक पर्व ११वें अध्याय से।

४ अयोध्याकाण्ड ८३.२०; ८४.१५; ८६.७; ८९.८–९; ५०.३३–३४, ५१.६।

५ आश्रमवासिकपर्व १२.८।

६ शान्तिपर्व ५९.४९।

७ वही ३७.१४।

८ हरिवंश ८६.५.५।

९ कारुक-रक्षण-प्रकरण।

रूप से स्थान नियत था।[१] कारु और शिल्पियों के गण से राजा को अच्छी आय होती थी।[२]

अर्थशास्त्र में संघ बनाकर काम करने वाले श्रमिकों का नाम संघभृत मिलता है। उनके वेतन और काम करते समय आवश्यक सुविधाओं के लिए राजकीय नियम बने हुए थे। संघ के श्रमिकों को काम करने के लिए नियत की हुई अवधि से आगे सात दिन अतिरिक्त मिलते थे। वे काम को अधूरा छोड़कर अन्यत्र काम करने नहीं जा सकते थे। संघों को जो पारिश्रमिक मिलता था, वह या तो सभी श्रमिक बराबर बाँट लेते थे अथवा पूर्व-निश्चित भाग लेते थे। संघ का कोई श्रमिक साधारण परिस्थितियों में संघ छोड़कर अलग नहीं हो सकता था। जो श्रमिक असावधानी से या आलसी बन कर जी चुराता था, उसे पहली बार तो चेतावनी के रूप में नया काम देकर उसके लिए उचित पारिश्रमिक दिया जाता था, पर यदि वह दूसरी बार भी इसी प्रकार गड़बड़ी करता तो उसे संघ से निकाल दिया जाता था। यज्ञ के पुरोहितों के संघ में ऊपर जैसा अनुशासन था। यदि यज्ञ कराते हुए संघ का कोई पुरोहित मर जाता तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी दक्षिणा का $\frac{१}{५}$ मिलता था। किसी अयोग्य पुरोहित को यजमान निकाल सकता था, पर अकारण निकालने पर उसे राजदण्ड का भागी बनना पड़ता था।[३]

व्यावसायिक संघों की शक्ति अर्थशास्त्र के युग में अतिशय बढ़ चुकी थी। राजाओं ने उनके सम्बन्ध में नीति का निर्धारण किया था, जिसके अनुसार संघ के नेताओं को दूसरों की हानि करने से रोकने की योजना बनाई गई थी। ऐसे नेताओं के क्रोध से राज्य को हानि होने की संभावना रही होगी।[४] श्रेणी और गण वीर योद्धाओं के लिए प्रख्यात थे। राजा उनका उपचय करता था।[५]

तत्कालीन युद्ध में श्रेणी-बल युद्ध के लिए राजाओं के द्वारा नियुक्त किया जाता था। यह सेना शत्रु-राजा के विरोध में आक्रमण करती थी और स्वदेश की रक्षा करती थी। श्रेणी बल कुटिल युद्ध के लिए विशेष रूप से उपयोगी होता था।

---

१ अर्थशास्त्र का दुर्ग-निवेश-प्रकरण।

२ वही समाहर्ता-प्रकरण।

३ अर्थशास्त्र--सम्भूय-समुत्थान-प्रकरण।

४ श्रेणी के मनुष्यों के कोप से महादोष होता है—अर्थशास्त्र--अनवसित-सन्धि-प्रकरण।

५ अर्थशास्त्र—हीन शक्ति-पूरण-प्रकरण।

श्रेणी बल जनपद का होता था और राजा की विजय को अपनी समझता था।[1] श्रेणी के प्रधान पुरुष को राजा की ओर से ८००० मुद्रायें प्रतिवर्ष दी जाती थीं।[2]

कुछ व्यावसायिक श्रेणियाँ भ्रमणशील भी थीं। राजा उनके लिए भूभाग चुनकर देता था। ऐसी श्रेणियाँ इतनी शक्तिशालिनी होती थीं कि आक्रमणकारी शत्रु-राजाओं को पछाड़ सकती थीं।[3] क्षत्रिय जाति के लोगों की श्रेणियाँ वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) के साथ ही शस्त्र के द्वारा आजीविका प्राप्त करती थीं।[4]

जैन साहित्य में स्वर्णकार, चित्रकार तथा रजकों के संघों के उल्लेख मिलते हैं। अन्य व्यावसायिक संघ कुम्हार, पटेल, सूपकार, गन्धिक, नाई, माली, काछी, चमार, तेली, गंछिय (गमछे बनाने वाले), छिम्पाय (छींट बनाने वाले), कँसेरे, दर्जी, भील, धीवर आदि के थे। राजा की न्याय-विधि में संघों की इच्छा के अनुसार परिवर्तन हो सकता था। व्यापारिक संघों का नेता कुशल और शस्त्रधर शासक होता था। उसकी नियुक्ति राजा की ओर से होती थी। संघ के प्रमुख व्यक्ति की उपाधि सेठ थी।[5]

ईसवी शती के आरम्भिक युग के लगभग श्रेणी के स्वतन्त्र रीति-रिवाजों का मान बढ़ता हुआ दिखाई देता है। राजा न्याय करते समय श्रेणी के नियमों को दृष्टि पथ में रखकर निर्णय देता था।[6] संघ की सुव्यवस्था के लिए नियम बना था कि यदि कोई व्यक्ति संघ के लिए कुछ काम करने की प्रतिज्ञा करता है और उसे निभाता नहीं है तो उसे राजा की ओर से देश से निकल जाने का दंड दिया जाय।[7] यह परिस्थिति व्यावसायिक संघों के अभ्युदय के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई। संघों में लोगों ने धन संग्रह करना आरम्भ किया, जिससे बिना किसी झंझट के ऊँची धन-वृद्धि हो सके। अनेक धार्मिक संस्थाओं को वृद्धि से चलाने के लिए संघों के पास जो धन सग्रह किया गया था, उनके बहुशः उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में मिलते हैं।[8]

---

१ अर्थशास्त्र, बलोपादान-काल-प्रकरण।

२ वही भृत्याभरणीय प्रकरण।

३ अर्थशास्त्र—दण्डोपनायिवृत्त-प्रकरण।

४ अर्थशास्त्र का भेदोपाय-प्रकरण।

५. *Jain* : Life in Ancient India, P. 109-110.

६ मनु ८.४१।

७ वही ८.२१९।

८ नासिक गुफा के १२० ई० शती के लेख के अनुसार ३००० कार्षापणों

कुशन युग के कुछ व्यावसायिक संघों के उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में मिले हैं। इसके अनुसार लोहारों और गन्धिकों के असंख्य संघ उस समय बने हुए थे।[१] व्यापारिक संघों के नेताओं की उपाधि सार्थवाह प्रचलित थी।[२] लेखों में संघ के नाम, श्रेणी और उनके प्रधान की श्रेष्ठी उपाधि मिलती है। मथुरा के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि धार्मिक तथा पुण्यात्मक कामों को सदा प्रचलित रखने के लिए अपने दान को लोग संघों में संगृहीत कर देते थे।[३] उस धन की वृद्धि से, जो इन संघों से सुव्यवस्थित विधि से प्राप्त हो सकती थी, ऐसे पुण्यात्मक अनुष्ठानों को चिरस्थायी बनाने का संकल्प प्रतीत होता है।

परवर्ती युग के साहित्यिक उल्लेखों में तत्कालीन संघ-संचालन-प्रणाली का कुछ-कुछ परिचय मिलता है। संघ का एक प्रधान होता था और उसके दो, तीन या पाँच सहायक होते थे, जिन्हें कार्यचिन्तक कहा जाता था। कार्यचिन्तकों का व्यक्तित्व उदात्त होता था। इन्हीं पदाधिकारियों का संघ पर शासन होता था। वे संघ से किसी व्यक्ति का निर्वासन तक कर सकते थे।[४] राजा साधारणतः संघ के निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करता था। फिर भी यदि संघ के अधिकारी न्याय के नाम पर अन्धाधुन्धी करते तो राजा उसका नियन्त्रण करता था।[५] आवश्यक विषयों पर चर्चा करने के लिए संघ के सदस्य सभा-भवन में एकत्र होते थे। संघ के विधान को राजा की ओर से स्वीकृति मिलती थी। इस युग के संघ की जो

का दान गोवर्धन के संघों के उसवदात ने बौद्ध भिक्षुओं के व्यय के लिए दिया था। इनमें २००० कार्षापण १२% प्रतिवर्ष वृद्धि पर तथा १००० कार्षापण ९% प्रतिवर्ष वृद्धि पर दो जुलाहों के संघों को दिये गये थे। देखिए Epigraphia Indica Vol. VIII, पृ० ८२-८६। अन्य ऐसे लेखों के लिए देखिए, वही पृ० ८८।

१ लोहकार के लिए E. I. II. XVIII. P. 203; गन्धिक के लिए वही I. VII. P. 385; II. XVI. 203.

२ E. II. XXIX. P. 395.

३ E. I. XVI. 10. P. 61. के अनुसार मथुरा में क न स रुक्माण नामक विदेशी ने सवित्तकर तथा राक की श्रेणियों में ५०० पुराण संग्रह किया, जिससे प्रति मास की वृद्धि से १०० ब्राह्मणों को पुण्यशाला में भोजन दिया जाता रहे तथा वहीं पर दीन-दुःखियों को दान दिया जाय।

४ बृहस्पति १७.९, १०, १७।

५. S. B. E. Vol. XXXIII, P. 349.

रूप-रेखा मिलती है, उससे ज्ञात होता है कि वह कुछ-कुछ महाकुटुम्ब की भाँति था, जिसके पास सभी सदस्यों के हित के लिए चलाचल सम्पत्ति तथा व्यवसाय आदि होते थे। संघ के प्रधान आदि अधिकारी आवश्यकता पड़ने पर ऋण ले सकते थे। संघ दान करता था। कोई भी सदस्य इच्छानुसार संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता था।

गुप्तयुग में लाट प्रदेश से आकर दशपुर में बसे हुए जुलाहों के एक संघ ने मन्दसौर में सूर्य का भव्य मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर उस समय के सर्वश्रेष्ठ वास्तुओं में था। मन्दसौर के शिलालेख के तत्संबन्धी वर्णन से ज्ञात होता है कि इसके बनवाने में अत्यधिक धन लगा होगा। इस मन्दिर के निर्माण से संघों के धार्मिक उत्साह की अभिव्यक्ति होती है।[१] इस संघ का प्रमुख व्यवसाय वस्त्र बनाने का था, पर इसके सदस्यों में से अनेक धनुर्धर, ज्योतिषी तथा धर्म और दर्शन के आचार्य भी थे।

संघों के कुछ न्यायालय सम्भवतः साधारण प्रजा के विवादों का निर्णय करते थे।[२] संघ के पदाधिकारियों की स्वेच्छाचारिता नहीं चल सकती थी। संघ को अधिकार होता था कि वे सर्वोच्च पदाधिकारियों को दंड दे सकें। जहाँ कोई पदाधिकारी ऐसे काम करने लगता, जिससे संघ की प्रगति में बाधा पड़ती तो संघ के सदस्य उसको निकाल सकते थे। कभी-कभी राजा को संघ के ऐसे झगड़ों में हस्तक्षेप करना पड़ता था। बृहस्पति ने इस सम्बन्ध में राजा के कर्त्तव्यों का नीचे लिखे श्लोक में निर्देश किया है:—

मुख्यैः सह समूहानां विसंवादो यदा भवेत्।
तदा विचारयेद्राजा स्वधर्मे स्थापयेच्च तान्॥

तत्कालीन संघों को राजा यद्यपि उन्नति-पथ पर बढ़ाने के लिए समुचित प्रयत्न करता था पर सदैव ध्यान रखता था कि कोई संघ व्यवसाय-पथ से विमुख होकर कहीं अपनी हानि न कर बैठे। ऐसी परिस्थिति में राजा को अधिकार दिया गया कि वह संघ की गति-विधि का पूरा परिचय प्राप्त करता रहे और देखे कि संघ के लोग ऐसा काम नहीं करते, जिससे राजा या प्रजा का विरोध हो अथवा कई संघ मिलकर शस्त्र-धारण करके आपस में ही नहीं लड़ने लगें।[३]

---

१. *Fleet :* Gupta Inscriptions, No. 18.

२ **बृहस्पति १.२८.३०।**

३ **नारद स्मृति १०. ४, ५, ७।**

स्कन्दगुप्त के इन्दौर के ताम्र-पट्ट लेख से ज्ञात होता है कि तेलियों के एक संघ में जमा किये हुए धन के सूद से सूर्य-मन्दिर से सम्बद्ध दीप को नित्य जलाने के लिए तेल मिला करता था। इस लेख में दान की धारा की चिरकालीन स्थिति को व्यक्त करने के लिये कहा गया है कि जब तक सूर्य और चन्द्र हैं, तब तक उपर्युक्त दान दिया जाय, चाहे संघ कहीं भी क्यों न घूमता रहे।[१]

गुप्तकालीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय शिल्पियों के संघ नगर-निर्माण का काम करते थे।[२] ये स्थपतियों के संघ रहे होंगे। एक जाति के कारु और शिल्पियों का मिलजुल कर श्रेणी बनाने के विधान का उल्लेख अमर-कोश में मिलता है। श्रेणी के प्रधान को कुलक और कुलश्रेष्ठी कहते थे।[३]

सातवीं शती में व्यावसायिक श्रेणियों का उल्लेख बाण के हर्षचरित में मिलता है। इसके अनुसार राज्यश्री के विवाह के अवसर पर बढ़ई, चितेरों आदि की श्रेणियाँ आवश्यक वस्तुओं को बनाने के लिए नियुक्त की गई थीं। तत्कालीन शिलालेखों और ताम्र-पत्रों में श्रेणियों के द्वारा मन्दिर आदि सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं के बनवाने के उल्लेख मिलते हैं।[४]

राजा विक्रमादित्य के लक्ष्मणेश्वर के ७२५ ई० शती के उत्कीर्ण शिलालेख में कसेरों के संघ का विवरण मिलता है। पोरिगर नगर के लोगों को जो कर देना पड़ता था, उसे वे उसी संघ में संगृहीत कर देते थे।[५] इसी नगर के ७९३ ई० शती के दूसरे शिलालेख में जुलाहों के संघ का उल्लेख मिलता है।[६]

नवीं शती के ग्वालियर के बैलभट्ट-स्वामी-मन्दिर के उत्कीर्ण लेख के अनुसार इस नगर के शासन का उत्तरदायित्व श्रेष्ठी और सार्थवाहों की प्रतिनिधि संस्था पर था।[७] इस नगर में तेली, मालिक आदि के संघ थे। लोगों ने संघों में धन संगृहीत किया था, जिसकी वृद्धि से पूजा आदि की व्यवस्था होती थी। तेली-संघ तेल और मालिक-संघ मालायें वृद्धि के विनिमय में देता था। प्रत्येक संघ का संचालन करने वाले ऊँचे अधिकारियों की संख्या और नाम का निर्देश उपर्युक्त लेख में मिलता

---

१. *Fleet :* Gupta Inscriptions, No. 16.

२ रघुवंश १६.३८।

३ शूद्रवर्ग ५।

४. E. I. IX. No. 25.

५. E. I. XIV. P. 188.

६. E. I. VI. P. 166.

७. E. I. I. P. 159-160.

है। इसी युग के पहोअ के उत्कीर्ण लेख के अनुसार घोड़े का व्यापार करने वालों का एक संघ बना हुआ था, जिसमें अनेक प्रदेशों के व्यापारी सम्मिलित थे। इस संघ ने प्रत्येक बिके हुए घोड़े के मूल्य पर दशांश कर लगाया था। इस आय से दूर-दूर के मन्दिरों को आर्थिक सहायता दी जाती थी।[१]

दसवीं शती के हर्ष के शिलालेख में उत्तर भारत के घोड़े के व्यापारियों के अन्य संघों का विवरण मिलता है।[२] इसी शती के सियदोनी के उत्कीर्ण लेख में तमोली, तेली, कलार आदि के संघों के द्वारा दिये हुए दानों का उल्लेख है।[३] दसवीं शती के लक्ष्मणराज के करितलई शिलालेख में वागुलिकों (शिकारियों) के संघ का तथा विजयसेन के देवपाड़ा लेख में शिल्पियों के संघ का विवरण मिलता है।[४] दक्षिण भारत के ९०२-९०३ ई० शती के मुलगुण्ड के उत्कीर्ण लेख में ३६० गाँवों में विस्तृत संघों के चार प्रधानों के द्वारा दान देने की चर्चा की गई है। इस लेख से किसी एक संघ के विशाल प्रदेशों में शाखा-प्रशाखा के रूप में फैल जाने की सूचना मिलती है।[५] राजाधिराज देव के लेख से ज्ञात होता है कि एक बार राची तथा निकटवर्ती प्रदेश के तेलियों ने निश्चय किया कि तिरुक्कच्चूर के तेली वहाँ के मन्दिर में पूजा तथा दीप जलाने के लिए दान दें। यह निर्णय जाति-धर्म के नाम से हुआ।[६]

विक्रमादित्य के समय में १११० ई० शती के उत्कीर्ण लेख के अनुसार अनेक संघों ने मिलकर हर नगर के देवता कम्मटेश्वर की पूजा की सामग्रियों का प्रबन्ध करने के लिए दान दिया था। दान करने वाले सदस्यों की संख्या १२० थी। शिल्पी-संघ ने चौथाई स्वर्णभार दिया और कँसेरों ने प्रतिमा निर्माण करने के लिए आवश्यक चूना दिया। बढ़ई, लोहार तथा सोनारों ने प्रत्येक भवन के लिए एक अड़ दिया।[७]

दक्षिण भारत के अनेक शिलालेखों में व्यापारियों के संघों की चर्चा मिलती है। विक्रमादित्य षष्ठ तथा तैलप द्वितीय के निर्गुण्डी शिलालेख के अनुसार ५०५

---

१. Pahoa Inscription. E. 1, I. P. 184.

२. E. 1. II. P. 116. **और आगे।**

३. E. 1. I. P. 167. **और आगे।**

४. E. 1. .I1 P. 174 **और आगे तथा** I. P. 311. **और आगे।**

५. E. 1. XIII, P. 193.

६. E. 1. Vol. XIII, P. 193.

७. E. 1. XII, P. 333.

व्यापारियों ने मिलकर धार्मिक आयोजनों के लिए दान दिया था।[१] येवूर के १०७७ ई० शती के शिलालेख के अनुसार शिवपुर के व्यापारियों के संघ में २५% वृद्धि पर नित्य होम का अनुष्ठान चलाने के लिए धन संगृहीत किया गया था।[२] बारहवीं शती के विशाल व्यापारी संघ के द्वारा दिये हुए दानों की चर्चा दक्षिण भारत के अनेक शिलालेखों में मिलती है। इसकी शाखा-प्रशाखा प्रायः पूरे दक्षिण भारत में फैली हुई थी। इसके सदस्यों की संख्या ५०० थी।[३]

दक्षिण भारत में बणञ्य वर्ग के व्यापारियों का संघ बारहवीं शती में अतिशय शक्तिशाली था। इसके सदस्य तलवार के बल पर अपनी सुरक्षा करने के लिए उद्यत रहते थे। इनकी वीरता के प्रमाण तथा धार्मिक कृत्यों के विवरण तत्कालीन अनेक शिलालेखों में मिलते हैं।[४]

---

१. E. I. XIII. P. 18.

२. E. .I XII. P. 273.

३. Govt. Epigraphist Report, 1916. P. 121

४. E. I. IV. P. 216; VII. P. 197 आदि।

अध्याय १७

व्यापार

मानव के लिये उपयोगी ऐसी सभी वस्तुओं का व्यापार होता आ रहा है, जिनकी प्राप्ति के लिए अथवा बनाने में किसी प्रकार का श्रम अपेक्षित रहा है। इस प्रकार व्यापारिक वस्तुओं की परिधि अतिशय विशाल कही जा सकती है। प्रारम्भ में अस्त्र-शस्त्रों, खाद्य-पदार्थों, पात्रों तथा वस्त्रों का व्यापार सभ्यता के प्रथम सोपान पर चढ़ने वालों के बीच प्रतिष्ठित हुआ। तत्कालीन अस्त्र--शस्त्रों की संख्या स्वल्प थी----इने-गिने हथियार पत्थर, लकड़ी अथवा हड्डी से बनाये जाते थे।[1] उस समय मृगया किये हुए पशु-पक्षियों का मांस, फल, कन्द आदि खाद्य-पदार्थ थे। वस्त्रों के प्रकार भी दो-चार ही थे और ऐसे वस्त्र पशु के चर्म, वल्कल, पत्र या घास से बना लिये जाते थे। मिट्टी के पात्र उसी युग से अनेक प्रकार के बनते रहे हैं। लगभग ५००० वर्ष पहले के उर-सभ्यता के अवशेषों में 'चन्द्र' के मन्दिर में सागौन की लकड़ी मिली है, जो दक्षिण भारत से वहाँ पहुँचाई गई थी।[2] इसी युग में मिस्र के साथ भारत का कपड़े का व्यवसाय होता था। वहाँ के कई मृत-शरीरों के लिये जो वस्त्र ममी बनाने के लिए उपयोग में लाया गया था, वह भारत का ही था। मिस्र के अतिरिक्त भारत का सागौन की लकड़ी, वस्त्र, हाथी-दाँत, मणि तथा पशु-पक्षियों का व्यापार अन्य देशों के साथ होता था।

आज से ५००० वर्ष पहले सिन्धु-सभ्यता के युग में सिन्धु-प्रदेश से सारे भारत का प्रादेशिक और वैदेशिक व्यापार होता था। उस सभ्यता के अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि उसकी अनेक वस्तुयें देश-विदेशों से आती थीं। संभवतः बिलो-

---

१ प्राचीन और नवीन प्रस्तर युग की अनेक कर्मशालायें मिली हैं, जहाँ कुछ लोग सहस्रों की संख्या में पत्थर के अस्त्र-शस्त्र बनाते थे। अवश्य ही उन अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार होता होगा। Imperial Gazetteer Pt. II. P. 95-96.

२. देखिए Hibbert Lectures, 877 में Dr. Sayce का मत। इसके अनुसार उस समय भारत का असीरिया से व्यापार होता था, जब काल्डिया के उर प्रदेश में उर-बगज का राज्य था।

चिस्तान से शिलाजतु (राल), सेलखड़ी तथा मासाचूर्ण आते थे। अफगानिस्तान से चाँदी तथा ईरान से सीसा, टिन, चाँदी और सोना और अफगानिस्तान या फारस से नीलमणि तथा वैदूर्यमणि आते थे। फारस की खाड़ी के द्वीपों तथा हरमुज के समीपवर्ती प्रदेश से विश्चूर्णितित लाल-रंगाई के लिए मिलते थे।

सिन्धु प्रदेश को उस समय काठियावाड़ प्रान्त से शंख-कर्पर, सुलेमानी पत्थर, गोमेदक, सिक्थ स्फटिक, प्रसाधन-कर्म एवं जड़ने के लिए तथा गुरिया बनाने के लिए मंगाये जाते थे। कराची अथवा पश्चिमी समुद्री तट से बहुविध मछलियाँ खाने के लिए आती थीं।

राजस्थान से ताँबा और अजमेर से सीसा आता था। इनके अतिरिक्त इस प्रदेश से सिक्थ-स्फटिक, सूर्यकान्तमणि, रुधिर प्रस्तर, स्लेट तथा अन्य पत्थर गुरिया बनाने के लिए सिन्धु-प्रदेश में मंगाये जाते थे। दक्षिण भारत के नीलगिरि प्रदेश से अथवा कश्मीर से बिल्लौर और दहस्फसैकिज आते थे। कश्मीर तथा हिमालय के अन्य प्रदेशों से देवदारु, शिलाजीत और हरिणों के सींग आते थे। पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान, तिब्बत या बर्मा से हरितमणि आती थी।[१] सुमेर प्रदेश में अन्य वस्तुओं के साथ भारतीय रूई का निर्यात होता था।[२]

उपर्युक्त सिन्धु-सभ्यता के युग में रहन-सहन का स्तर ऊँचा था। लोगों के भोजन-पान, वस्त्र-विन्यास, अलंकार और गृह-विन्यास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए असंख्य सामग्रियों की आवश्यकता पड़ती थी। इन वस्तुओं के उत्पादन और व्यापार का आयोजन ऊँचे स्तर पर होता था। यह व्यावसायिक उन्नति आर्येतर जातियों की थी।

वैदिक आर्यों की रहन-सहन पर्याप्त ऊँची थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों और व्यवसायों को उनके विभिन्न वर्गों में अलग-अलग प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। कृषक, बढ़ई, पशुपालक, कुम्हार, लोहार, सोनार, मणिकार, जुलाहे, चमार आदि विभिन्न व्यवसायों के द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन करते थे, वे व्यापार के माध्यम से समाज में सभी लोगों के बीच वितरित हो सकती थीं। उस समय

---

१. *S. Piggott :* Prehistoric India, P. 174-175.

२. The seals suggest that Harappa merchants established in Sumerian cities and engaged in a trade which may well have included cotton goods. How long this trade-relationship continued is a little uncertain, but it seems likely to have ceased soon after 2000 B. C. Ibid P. 208.

आर्येतर जातियों में पणि तथा आर्यों में वणिक् विशेष रूप से व्यापार के काम में लगे हुए थे।[१] व्यापार की प्रारम्भिक परिधि गाँव या आस-पास के गाँवों तक सीमित मानी जा सकती है पर कुछ व्यापारी दूर-दूर के देशों तक नावों और गाड़ियों के द्वारा अपनी वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। ग्रामीण व्यापारों में प्रायः क्रेता की ओर से गाय लेकर विक्रेता अपनी वस्तु दे देता था। गाय को इस प्रकार मुद्रा के समान प्रचलन प्राप्त था। ऋग्वेद में दस धेनुओं से इन्द्र (की मूर्ति) के क्रय-विक्रय का प्रसंग आया है।[२] सोम के क्रय करने में गाय के सोलहवें भाग से लेकर पूरी गाय को मूल्य रूप में प्रदान करने का प्रसंग मिलता है।[३] अथर्ववेद में दूर्श, पवस्त, अजिन आदि के बेचने की चर्चा मिलती है।[४] उस समय सिन्धु-प्रदेश से घोड़े और नमक व्यापार के माध्यम द्वारा अनेक प्रान्तों में पहुँचते थे।[५] इस युग में भारत और अरब का व्यापार चलता था, जिनमें प्रमुख वस्तुयें कड़ा लोहा तेजपात, मसाला, सुगन्धित द्रव्य, रत्न आदि थे।[६]

परवर्ती युग में होमर ने भारतीय कस्तीर तथा हाथीदाँत का उल्लेख किया है।[७] ईसा पूर्व सातवीं शती में भारत से व्यापार के माध्यम से बीज और पौधों का निर्यात होता था।[८] ई० पू० छठी शताब्दी के उर के 'चन्द्र' मन्दिर में तथा नेकुकेउनेजर के प्रासाद में भारतीय सागौन की लकड़ी लगी थी।[९] इस युग में पशु

---

१. ऋग्वेद वणिक् के लिए १.११२.११ तथा ५.४५.६ वाजसनेयि संहिता ३०.१७ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.१४.१। पणि के लिए ऋग्वेद १.३३.३; १०.६०.६।

२. ऋग्वेद ४.२४.१०।

३. शतपथ ३.३.३.१–७।

४. अथर्व ४.७.६।

५. घोड़े के लिए देखिए शतपथ ब्राह्मण ११.५.५.१२; बृहदारण्यक उप० ६.२.१३ तथा नमक के लिए देखिए वही, २.४.१२।

६. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ६१–६२।

७. ग्रीक भाषा में टिन के लिए कस्तीर से निकला हुआ Kassiteros शब्द मिलता है। अंग्रेजी का Ivory शब्द संस्कृत इभ से निकला है।

८. अक्कड के राजा असुर बेनी पाल (६६८ ई० पू०—६२६ ई० पू०) ने भारत से 'ऊन के पौधे' मँगवाये थे। सम्भवतः सेमर के वृक्ष और कपास के बीज व्यापार में वहाँ पहुँचे हों।

९. *Rawlinson :* Intercourse between India and the Western World. P. 3 Rawlinson: Intercourse etc., P. 2-3.

तथा मानवों तक का व्यापार के माध्यम द्वारा निर्यात होता था।[1] भारतीय पक्षियों में मयूर का विदेश में सौन्दर्य के कारण अच्छा व्यापार चल सका था, पर कौए तक का मुंह-मांगा मूल्य देकर क्रय करने वालों का अभाव नहीं था।[2]

अन्तर्देशीय व्यापार की कुछ वस्तुएँ इस युग में रेशमी, सूती और ऊनी कपड़े, विभिन्न प्रकार की मदिरायें, बहुमूल्य धातु और मणियाँ, अस्त्र-शस्त्र, लवण, केशर, तगर, गुग्गुल, लाक्षा, रोचना, मंजिष्ठा, नील आदि थीं।[3] विदेशों में भेजी जाने वाली वस्तुओं में मुख्यतः रेशमी कपड़े, मलमल, सूक्ष्म कपड़े, हथियार, कवच, चित्र-कढ़े कपड़े, कम्बल, सुगन्ध, औषधियाँ, हाथीदाँत तथा उससे बने हुए शिल्प, अलंकार, हीरे-मोती आदि थे।[4] इनके अतिरिक्त खाने-पीने की अन्य वस्तुएँ—शाक, मांस, अण्डे, मिठाइयाँ आदि भी बिकती थीं। शाक, मांस आदि के बाजार नगरों के द्वार से बाहर होते थे।

तत्कालीन जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि व्यापार की वस्तुओं को चार वर्गों में बाँटा गया था—गणिमा, धरिमा, मेय तथा परिच्छेद्य। गिनी जाने वाली वस्तुएँ गणिमा, तौली जाने वाली धरिमा, नापी जाने वाली मेय तथा टुकड़े की जाने वाली परिच्छेद्य वर्ग में आती थीं। इस युग में सोना और हाथीदाँत उत्तरापथ से दक्षिणापथ में विक्रय के लिए जाते थे। मथुरा और विदिशा वस्त्र-व्यापार के केन्द्र थे। गौड़ देश में रेशमी वस्त्र बनता था। पूर्वी देशों का वस्त्र

---

१. टालमी फिलाडेल्फस को भारतीय कुत्तों और गायों के साथ-साथ इस देश की नारियों के प्रदर्शन के द्वारा अपना गौरव बढ़ाने का चाव था। उस समय मसाले ऊँटों पर लदकर विदेशों में जाते थे। Intercourse etc. पृ० ९३–९४।

२. बावेरू जातक ३३९।

३ पाणिनि के सूत्रों से। ४.४.५२ में लावणिक, ४.४.५३ में किसरिक तथा ४.४.५४ में शालालुक आदि पण्य रखने वालों के नाम मिलते हैं। किसर और शलालुक गन्ध द्रव्य हैं। प्रायः इन्हीं वस्तुओं के विक्रय का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है। Cambridge Hist. of India Vol. I. P. 215.

४. *Rhys Davids :* Buddhist India, P. 61. इस सम्बन्ध में देखिये *Max Duncken :* History of Antiquity, Vol. IV *Manning :* Ancient and Mediaeval India Vol. II, P. 349. In the tenth century B.C. Solomon of Israel and Hiram of Tyre sent ships to India whence they carried away ivory, silver, precious stones, etc. which they purchased from the tribes of Ophir (सुपारा)।

लाट प्रान्त में अधिक मूल्य पर बिकता था। ताम्रलिप्ति, मलय, काक, तोसलि, सिन्धु, दक्षिणापथ तथा चीन विविध प्रकार के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। नेपाल का कम्बल अच्छा होता था। महाराष्ट्र में ऊनी कम्बलों की माँग थी।[१]

कालिय द्वीप से घोड़े तथा सोने, चाँदी और रत्नों को व्यापारी अन्य देशों में ले जाते थे। कम्बोज और उत्तरापथ के घोड़े प्रसिद्ध थे। पुण्ड्र देश की कृष्णा गायें विख्यात थीं। अन्य विक्रेय सामग्रियाँ—वीणा, वल्लकी, भामरी आदि बाजे, लकड़ी और मिट्टी के खिलौने, गुड़ियाँ, मालायें, तमालपत्र, तगर, एला आदि सुगन्धित द्रव्य चीनी, गुड़, खाँड़, मत्स्यण्डिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर आदि मीठी वस्तुएँ थीं।[२]

भारतीय रेशम की फारस में बहुत खपत थी। इसका मूल्य रोम में बहुत लगता था और इसके बदले बराबर मात्रा में सोना मिलता था।[३] भारत की भोग-विलास की वस्तुओं को रोम की स्त्रियाँ अतिशय चाव से खरीदती थीं।[४]

---

१. *Jain :* Life in Ancient India, Pp. 114-115.

२. वही, पृ० ११५–११६।

३. Indian shipping, P. 83 **इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार** It so allured the Roman ladies that it sold for its weight in gold. Vol. XI, P. 459.

४ **प्लीनी ने** Natural History **नामक ग्रन्थ में लिखा है**—There was no year in which India did not drain the Roman Empire of a hundred million Sesterces (£ 10,00,000)...so dearly do we pay for our luxury and our women. The annual drainage of gold from Rome was estimated at 500 steria, equal to about Rs. 40,00,000. Ency. Britta. Vol. XI. P. 460. **कर्नल टाड के अनुसार**—We are assured on undisputed authority that the Romans remitted annually to India as a sum equivalent to £ 40,00,000 to pay for their investments of Ptolemies. One hundred and twentyfive sails of Indian shipping were one time lying in the ports whence Egypt, Syria and Rome itself were supplied with the products of India. Tod's Western India P. 221. **सिलप्पदिकारं के अनुसार मुजिरिस में यवनों की सुन्दर नौकाएँ सोने से भरी आती थीं और भारतीय मसाले लेकर अपने देश लौटती थीं। पृष्ठ ११०**

पेरिप्लस के अनुसार चीनी रेशम का व्यापार भारतीय व्यापारियों के हाथों में था। भारत के कोंकण प्रदेश से या भड़ौंच से अनेक वस्तुएँ जंजीवार के टापू में जाती थीं।[१] सिन्धु नदी के तट पर स्थित बारबरिकोन नौस्थान से रेशम विदेशों में भेजा जाता था। रेशम के वस्त्र मुजिरिस, नेलिकिण्डा तथा मलाबार प्रदेशों में जाते थे।[२] चीन का रेशम दक्षिण भारत में कावेरी पट्टन भी पहुँचता था।[३] रोम के व्यापारी चीनी रेशमी वस्त्र को ताम्रलिप्ति, खंभात की खाड़ी तथा त्रावनकोर के नौ स्थानों से क्रय कर लेते थे।[४]

कलिंग देश का बना कपड़ा तामिल प्रदेश तक बिकता था।[५] दक्षिण भारत के पाण्ड्य आदि अनेक प्रदेशों में मलमल बनती थी तथा विदेशों में जाती थी। भारतीय मलमल अन्य साधारण कपड़ों के साथ अफ्रीका भेजी जाती थी।[६] अफ्रीका के अतिरिक्त इन कपड़ों का अरब, मिस्र और सोकोत्रा में निर्यात होता था।[७] ढाका की मलमल उसी युग से प्रायः सदा विदेशों में प्रसिद्ध रही।

ई० पू० २५ में राजा सातवाहन ने भरुकच्छ (भड़ौंच) के नौकाश्रय से शेर, कछुए तथा बाज सम्राट् आगस्टस के पास भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशों में इनकी माँग रही होगी और ऐसे पशु-पक्षियों का व्यापार के माध्यम द्वारा निर्यात भी होता होगा। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की भोग-विलास, कला और श्रृंगार की सामग्री रोम जाती थी।[८]

कला की वस्तुओं में इस युग की बनी हुई हाथीदाँत की एक स्त्री की मूर्ति

---

१. Moreover, indigenous products such as corn, rice, butter oil of sesamum, coarse and fine cotton goods and cane-honey (sugar) are regularly exported from the interior of Ariaka (**कोंकण**) and from Barygaza to the opposite coast, *Periplus.* P. 8.

२. **वार्मिङ्गटन** : Commerce between the Roman Empire and India, P. 212.

३. **वही, पृ० १७६।**

४. Periplus, P. 172.

५ **तामिल में कलिंग का अर्थ सूक्ष्म वस्त्र है।**

६. Periplus, Pp. 72, 73, 179-181.

७ **वही, पृ० ४२।**

८ Beginnings of South Indian History, Pp. 134-135

पाम्पियाई की खुदाई में मिली है।[1] इसी युग में चीन के राजा वाँग-मंग ने कांची प्रदेश के राजा के पास अनेक बहुमूल्य वस्तुओं को उपहार रूप में भेजा। भारतीय राजा ने भी प्रत्युपहार-स्वरूप चीन के राजा की इच्छानुसार एक गैंडा चीन भेजा।

भारतीय पशु-पक्षियों के लिये विदेशों में अत्यधिक माँग थी। इनके चित्र विदेशों में समादर के साथ प्रदर्शन की वस्तु होते थे। प्रथम शती ईसवी में एशिया माइनर में चांदी की एक छिपली भारत से भेजी गई थी। इसमें लक्ष्मी का स्वरूप अंकित है। इसमें लक्ष्मी के चारों ओर पशु-पक्षियों की निराली शोभा दृष्टिगोचर होती है। पशु-पक्षियों में सिंह, तेंदुआ, कुत्ते, शुक, चकोर आदि प्रमुख हैं।[2] निःसंदेह उस प्रदेश में सजीव पशु-पक्षियों को लोग व्यापार के माध्यम से मँगाते थे। भारतीय लंगूर स्त्रियों के मनोरंजन के लिये विदेशों में मंगाये जाते थे।[3]

टेसिटस के अनुसार भारतीय शुकों की माँग पश्चिमी देशों में विशेष रूप से थी। अन्य पक्षी तीतर, गरुड़, बाज, चकोर आदि उन प्रदेशों में भेजे जाते थे। पशु-पक्षियों से इतना प्रेम इन देशों में था कि रत्नों के अलंकार इन्हीं के आकार का बनाकर पहनने का प्रचलन था।

पशु-पक्षियों के अतिरिक्त लकड़ी, मसाले, वस्त्र, फल-फूल, अन्न और खनिज पदार्थ विदेशों में भेजे जाते थे।[4] इनके स्थान पर विदेशों से भारत में मुद्रायें दास-

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए —
Annual Bibliography of Indian Archaeology, Vol. XIII. Pp. 1-5.

२. यह छिपली एशिया माइनर में लम्प्सकस में मिली। आजकल यह इस्ताम्बूल के संग्रहालय में प्रदर्शन की वस्तु है। इसमें लक्ष्मी का रूप यूनानी शैली पर अंकित है, पर वेश और अलंकार भारतीय ढंग के हैं। विशेष विवरण के लिए देखिए, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा लिखित वर्णन—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०००, पृ० ३९—४२।

३. भारतीय कपि शब्द मिस्र में कफु और हिब्रू भाषा में कोफ रूप में वर्तमान है। इससे सिद्ध होता है कि भारतीय कपि इन देशों में स्वरूपतः और नामतः पहुँच सका था।

४. शीशम, चन्दन, आदि लकड़ी, काली मिर्च, लवंग, कपूर आदि मसाले, ऊनी, सूती तथा रेशमी वस्त्र, केले, नीबू, सन्तरे, आड़ू, चकोतरा, खीरा, ककड़ी, नारियल, प्याज, खुरम्बर, बैंगन आदि फल और मूल, गुलाब और कमल के फूल, चावल, बाजरा और गेहूँ आदि अन्न, हीरे, पन्ने, नीलम, लाल और चमकीले पत्थर,

दासियाँ, पशु, वनस्पतियाँ तथा मदिरा आदि आती थी।[1] सिक्के के अतिरिक्त सोने-चाँदी, राँगा, ताँबा, टिन, गन्धक आदि विदेशों से भारत में आता था। चाँदी और शीशे के बने पात्रों का आयात दक्षिण-पूर्वी योरप से होता था। चीन से रेशमी वस्त्र भारत आता था।[2]

गुप्तकाल में भी प्रायः उपर्युक्त वस्तुओं का आयात-निर्यात होता रहा। इस युग में एशिया के पूर्वी-द्वीप-समूह से भारत का व्यापार विशेष रूप से बढ़ा। इन द्वीपों से भारत में मोती, सोना, चाँदी, टिन, हाथी-दाँत, गैंड़े, बड़े हाथी, सुपारी, चमड़ा, चमड़े की ढाल, मोम, कपूर, अभ्रक, सींग, चन्दन, वस्त्र, चावल, इलायची, दरी, काली मिर्च, अन्य मसाले और गन्धक आते थे। व्यापार के माध्यम से इन द्वीपों से दास भी भारत भेजे जाते थे।

परवर्ती युग में सातवीं शती से लेकर लगभग ७०० वर्षों तक पश्चिमी देशों के साथ भारतीय व्यापार प्रायः अरबों के माध्यम से चलता रहा। सातवीं शती में अरब वाले भारत से मोती, जवाहिर और सुगन्धित द्रव्य व्यापार के माध्यम से प्राप्त करते थे।[3] नवीं शती में पश्चिमी देशों में भारत से मोती, अम्बर, जवाहिर, सोना, हाथी दाँत, आबनूस, बेंत, जद, कपूर, लवंग, जायफल, बक्कम, चन्दन,

---

चाँदी के बरतन, खिलौने तथा भोग-विलास की वस्तुओं में सुगन्धित तेल की विशेष माँग थी। विशेष विवरण के लिए देखिए—भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ० ९९–१००।

१. रोम के अनेक सम्राटों की असंख्य मुद्रायें प्रायः दक्षिण भारत में मिली हैं। कुछ चाँदी की विदेशी मुद्रायें भी मिली हैं। विदेशी दास-दासियों को अंग-रक्षक बना कर अधिक सुरक्षा रखी जा सकती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रासाद में यवनानी स्त्रियाँ पहरे पर रहती थीं। रोम, अरब, तातार और बलख के घोड़े भारत में आते थे। यूनानी प्रदेश की मदिरा भारत के भोग-विलासी लोगों को अतिशय प्रिय थी। विशेष विवरण के लिए देखिए—भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ० १००–१०१। भारतीय राजाओं के लिए ग्रीस के व्यापारी असंख्य वेश्याएँ लाकर उन्हें बेचते थे। राजाओं का उनके लिए बड़ा चाव था। *Keith :* Sanskrit Drama P. 62.

२. भारतीय व्यापार का इतिहास पृ० १०२।

३. हजरत उमर से किसी अरबी यात्री ने ६३५ ई० में बतलाया था कि भारत का समुद्र मोती है, पर्वत लाल है और वृक्ष इत्र हैं। अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ५४।

सुगन्धित द्रव्य, शुक, मोर, कस्तूरी और जुबाद-मुश्क-विलाई सुगन्धित लकड़ियाँ, चन्दन, कबाबचीनी, नारियल और सन के कपड़े, रूई के मखमली कपड़े, सीसा, कालीमिर्च आदि जाती थीं। इनमें से गुजरात सीसे तथा दक्षिण भारत बक्कम के निर्यात के लिए प्रसिद्ध थे। सिन्ध से कुट, बाँस और बेंत बाहर जाते थे।[1] दसवीं शती के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ के जूतों की विदेशों में बहुत माँग थी।[2] बम्बई के थाना नौकाश्रय से अच्छे कपड़े विदेशों में जाते थे।[3] ट्रावनकोर से मिट्टी के बरतन विदेशों में जाते थे। इन बतरनों का नाम ग़ज़ायर था और इनको चीनी मिट्टी का बना कहा जाता था। विदेशों में भेजी जाने वाली लकड़ियों में सागौन, बक्कम, बत और नेजे तथा मसालों में रेवन्द चीनी और तेजपत्ता आदि ट्रावनकोर से बाहर जाते थे। इनके अतिरिक्त इस प्रदेश से ऊद, कपूर और लोबान बाहर जाते थे। भारत से विष भी विदेशों में भेजा जाता था।[4] अरब सागर के भारतीय द्वीपों में अनेक सुगन्ध के मसाले—कपूर, आम, लौंग, जायफल, कबाबचीनी, जावित्री, बड़ी इलायची आदि होते थे।[5]

जिन भारतीय वस्तुओं का अरब में निर्यात होता था, उनके नाम अरबी में भारतीय नामों के अनुसार मिलते हैं। यथा—

संस्कृत	अरबी	संस्कृत	अरबी
ऐला	हेल	भिल्लातक	बलादर
कर्पूर	काफूर	(गन्ध) मूषक	मश्क
गोपदल	फोफल	विभीतक	बलीलह
चन्दन	सन्दल		
जातिफल	जायफल	हरीतकी	हलीलज
ताम्बूल	ताम्बोल	त्रिफला	इत्रीफल
नीलोत्पल	नीलोफर	पिप्पली	फिलफिल

अरब में भारत की पहुँची हुई अनेक वस्तुओं के साथ हिन्दी विशेषण लगता

---

१. अबूजैद सैराफी, पृ० १३५, पेरिस संस्करण १८११ तथा इब्न खुर्दाजबा का लिखा किताबुल मसालिक वल् ममालिक, पृ० ७१, लीडन संस्करण।

२. मुरूजुज़ ज़हब; मसऊदी, प्रथम भाग, पृ० ३५३, पेरिस संस्करण।

३. अबुल फिदा कृत तकमीमुल्, बुल्दान, पृ० ३०९।

४. आसारुल् विलाद, कजवीनी, पृ० ७०, गुइटिंजन १८४८ का संस्करण।

५. मुरूजुज़ज़हब, अध्याय १६।

था, यथा—ऊदहिन्दी, किस्तहिन्दी, साजज हिन्दी, करतुम हिन्दी तथा तमर हिन्दी। अरब में भारतीय तलवारों का नाम हिन्दी, हिन्दवानी और मुहन्नद मिलते हैं। ऊद का अरबी नाम मन्दल भी था, क्योंकि वह कारोमण्डल प्रदेश से वहाँ जाता था। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के कपड़े, रंग और फल अरब देशों में जाते थे। फलों में मोचा (केला), नारियल, आम और नीबू सुप्रसिद्ध थे। इनके अरबी नाम मोज़, नारजील, अम्बज और लेमूं मिलते हैं।[1] नारियल की लकड़ी की नाव, उसकी रस्सी से मस्तूल का बन्धन तथा पाल आदि बना दिये जाते थे। ऐसी नावों में नारियल भरकर उमान पहुँचाया जाता था। उमान में नारियल के व्यापार से अतिशय लाभ होता था।[2] सिन्ध-प्रदेश से कपड़ा नारियल, हाथी, हाथीदाँत, औषधियाँ तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुयें बाहर भेजी जाती थीं। विदेशों में सिन्धी ऊँटों की अतिशय प्रतिष्ठा थी और दो कूबड़ वाले सिन्धी ऊँट विदेशो में राजाओं की सवारी के काम में आते थे। खम्भात के जूते मंसूरा पहुँचते थे और वहाँ से विदेशों में भेजे जाते थे।[3] भारतीय मोरों की जाति इराक में संवर्धित की गई। फिर भी उनमें मौलिक देश का सौन्दर्य न होने से भारतीय मोरों की वहाँ खपत होती रही।[4]

अरबी व्यापारी भारतीय वस्तुओं को पश्चिमी देशों के अतिरिक्त पूर्वी देशों में ले जाते थे। गैंडे का सींग अरबों के द्वारा चीन पहुँचाया जाता था। सींगों पर चित्र बनाये जाते थे अथवा उनके चर्म से बहुमूल्य पेटियाँ बनाई जाती थीं। गन्धबिलाव (कस्तूरीमृग) का गन्ध पश्चिम में मोरक्को तक पहुँचता था। उस समय काले नमक का भी निर्यात होता था।[5]

भारतीय सुपारी की दसवीं शती में यमन, हज्जाज और मक्के में बहुत माँग थी। अरब में कन्याकुमारी की ऊद का नाम ऊदकुमारी रखा गया था।

दसवीं शती में अरब व्यापारियों के माध्यम से भारत में मिश्र से पन्ने की अंगूठी आती थी। मूंगे तथा अलंकार के अन्य पत्थर भी मंगाये जाते थे। मिश्र की

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ५८-६०।

२. अबूज़ैद, पृ० १३१।

३. असह तुत्तका सीमफी मारफतिलअ कालीम; बुशारी मुकद्दसी, पृ० ४७४-४८२, लीडन का संस्करण।

४. मुरूजुल ज़हब, भाग २, पृ० ४३८, लीडन संस्करण।

५. अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० ६६ से।

६. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ६७।

सुरा का भारतवासियों को चाव था। रोम से रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवारें भारत आती थीं। ईरान का गुलाब-जल भारत में बिकता था। बसरा के नौकाश्रय से खजूर सिन्ध के नौका-स्थान देवल में आती थी। अरबी घोड़ों का चाव कारोमण्डल प्रदेश में विशेष रूप से था।[1]

यात्रा के साधन

भारतीय व्यापार सुदूर प्रागैतिहासिक काल से जल और स्थल के मार्गों द्वारा होता आया है। जलमार्ग के माध्यम नदियाँ और समुद्र रहे हैं। स्थल मार्ग के लिये अरण्य, पर्वत-श्रेणियाँ तथा मरुभूमि के भागों से होते हुए व्यापार की सड़कें बनी हुई थीं। ऐसी सड़कों का सर्वप्रथम स्पष्ट परिचय सिन्धु-सभ्यता के युग से मिलता है।

स्थल-मार्ग

सिन्धु-सभ्यता का व्यापारिक सम्बन्ध बिलोचिस्तान, अफ़गानिस्तान, ईरान आदि देशों से पश्चिम में, दक्षिण भारत और काठियावाड़ से दक्षिण में, राजस्थान से पूर्व में और, कश्मीर तथा हिमालय प्रदेश से उत्तर में था। इनके अतिरिक्त संभवत: पामीर-प्रदेश, पूर्वी तुर्किस्तान, तिब्बत तथा वर्मा से भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। इन देशों से व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना करने के लिये असंख्य सड़कें दूर-दूर तक जाती रही होंगी और स्थान-स्थान पर ठहरने के लिए सराय आदि की उचित व्यवस्था होगी। सिन्धु-प्रदेश के अमिलानो स्थान पर ऐसी ही सराय थी। व्यापारिक वस्तुओं को ढोने के लिये ऊँट और गदहों का उपयोग होता था। पर्वतीय प्रदेश पर व्यापार करने के लिए संभवत: बकरियों का भी उपयोग होता होगा।[2] तत्कालीन नगरों के अनेक भवन प्रत्यक्ष रूप से आपण प्रतीत होते हैं।

सिन्धु-सभ्यता का प्रादेशिक व्यापार बैलगाड़ियों के द्वारा भी चलता था। बैलगाड़ियों का आकार-प्रकार बहुत कुछ आजकल जैसा ही मिलता है। बैलगाड़ियों के चलने से जो लीकें बनती थीं, उनका दर्शन हड़प्पा की खुदाइयों में हो सका है।[3] नगर में व्यापार की सुव्यवस्था के लिये चौड़ी सड़कें उपयोगी थीं।

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध पृ० ६८।

२. *Piggott* : Prehistoric India, Pp. 174-177.

३. वही, पृ० १७६।

वैदिक काल में अनस् नामक बैलगाड़ी व्यापार के लिये होती थी। गाड़ी खींचने वाले बैलों को अनड्वान् कहा जाता था। गायें भी गाड़ी खींचने के लिये जोती जाती थीं।[1] ऊँट और गदहे बोझ ढोने के काम में आते थे। चार ऊँटों को भी एक साथ गाड़ी में जोता जाता था।[2] अनेक प्रकार की सड़कें और मार्ग—प्रपथ, महापथ, पथ, वर्त्म आदि क्रमशः व्यापार के लिये गाड़ियों और पशुओं के चलने के उपयोग में आते थे।[3]

महाभारत के अनुसार सार्थ में हाथी घोड़े, रथ, प्यादे और ऊँट होते थे।[4] व्यापारियों का नेता सार्थवाह होता था।[5] तत्कालीन बौद्ध-साहित्य के अनुसार व्यापार के लिये श्रावस्ती से राजगृह तथा प्रतिष्ठान, बनारस से उज्जियिनी तथा विदेह से गन्धार तक स्थल-मार्ग के व्यापारी आते-जाते थे।[6] व्यापारियों की बैल-गाड़ियों की संख्या ५०० से १००० तक हो सकती थी। उनको कभी-कभी ६० योजन लम्बी मरुभूमि से होकर जाना पड़ता था। ऐसे प्रदेश को पार करने के लिये लकड़ी, पानी, तिल, चावल आदि पाथेय लेकर सार्थ चलता था। यात्रा केवल रात्रि के समय होती थी, प्रातःकाल के समय वितान-मण्डप में गाड़ियाँ खड़ी कर दी जाती थीं। दिन छाया में बैठकर बिताया जाता था। ऐसे मार्ग में स्थल-नियामक मार्ग का प्रदर्शन करता था। दिशाओं का ज्ञान वह ताराओं को देखकर करता था। कभी-कभी ऐसे निर्जल प्रदेश में सार्थ के लोगों को कुएँ तक खोदने पड़ जाते थे।[7]

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—वैदिक इण्डेक्स। अन्यत्र ऋग्वेद १०.५९.१० तथा अथर्ववेद ४.११ आदि।

२. ऋग्वेद ८.६.४८ अथर्व २०.१२७.२।

३. काठक संहिता ३७.१४; ऐतरेय ब्राह्मण ४.१७.८; अथर्ववेद १२.१.४७

४. वनपर्व ६१.१०६; ६२.९।

५. वही ६१.१२४।

६. चुल्लवग्ग ६.४; गुत्तिल जातक २४३; गन्धार जातक। श्रावस्ती से राजगृह के मार्ग में सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, हस्तिग्राम, भण्डग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा पड़ते थे। श्रावस्ती से प्रतिष्ठान के बीच साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी और माहिष्मती आदि नगर पड़ते थे।

७. वण्णुपथ जातक २। उवासगदसाओ के प्रथम अध्याय में आनन्द के दूर देशों से व्यापार के लिए ५०० तथा निकटवर्ती देशों से व्यापार के लिए ५०० गाड़ियों के होने का उल्लेख है।

व्यापारियों को धन लेकर वन पार कराने के लिए वन-रक्षक होता था। वन-रक्षक की अध्यक्षता में कभी-कभी ५०० पुरुष काम करते थे। व्यापार के मार्गों की देख-भाल करने के लिए राजा की ओर से स्थल-पथ-कर्मिक नामक कर्मचारी नियुक्त होता था। उनको पहले से ज्ञात रहता था कि किस दिशा से कैसी व्यापारिक वस्तु आ रही है।[1]

साधारण व्यापारी सदा की भाँति बौद्ध-युग में भी पीठ पर व्यापार की वस्तुएँ लादकर गाँव और नगरों में द्वार-द्वार जाकर बेचते हुए दिखाई पड़ते होंगे। ऐसे व्यापारी हीरे-मोती आदि बेचते थे।[2]

परवर्ती जैन साहित्य में तीन, चार और उनसे अधिक सड़कों के संगम को त्रिक, चतुष्क, और चच्चर कहते हैं।[3] गाड़ियों पर सामान ले जाने वाला सार्थ भण्डी, ऊँट, खच्चर तथा बैल की पीठ पर बोझ ढोने वाला सार्थ बहिलग और अपने आप सामान का बोझ ढोने वाला सार्थ भारवाहक कहा जाता था।[4] पालकी, घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल आदि की सवारी सार्थ के रोगी घायल, लड़कों और बूढ़े लोगों के लिये होती थी।[5] अच्छे सार्थ अपने साथ खाद्य और पेय की आवश्यकताओं के लिए भरपूर मिठाइयाँ, गेहूँ, तिल, गुड़, घी आदि लेकर चलते थे।[6] बैल-गाड़ियों में भली भाँति सजे हुए बैल जोते जाते थे। बैलों के सींग चोखे होते थे। उनके गले में घंटियाँ बजती थीं और स्वर्णिम रस्सियों से उनको अलंकृत किया जाता था। उनके सिर पर नील कमल खोंसे जाते थे।[7]

सार्थ विभिन्न राज्यों से होते हुए अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचता था। वे राजाओं के लिए उपहार देते चलते थे। राजा उनको कर से मुक्त कर देते थे और आवास के लिए समुचित व्यवस्था कर देते थे।[8]

अर्थशास्त्र के अनुसार एक खुर (घोड़े, खच्चर, गदहे आदि), पशु (बैल, भैंसे आदि), क्षुद्र पशु (भेड़, बकरी आदि) भारवाहकों के नाम मिलते हैं। कन्धे

---

१. चुल्लसेट्ठिजातक ४।
२. सेरिवाणिजातक ३।
३. रायपसेणिय १०।
४. बृहद्भाष्य १. ३०६६ तथा आगे।
५. वही १. ३०७१।
६. वही १. ३०७२।
७. णायाधम्मकहाओ परिच्छेद ३।
८. वही, परिच्छेद ८।

पर व्यापार की वस्तुओं को ढोने वालों को अंसभार कहा जाता था।[१] स्थल-मार्ग को व्यापार के लिये जल-मार्ग से अच्छा माना जाता था। यद्यपि जलमार्ग से थोड़े व्यय और श्रम से अधिक वस्तुयें इधर-उधर आ जा सकती थीं, फिर भी जल-मार्ग में जो रुकावटें आती थीं और भय उपस्थित होते थे, उनसे बचना सुकर नहीं था। स्थल-पथ में सुविधा की दृष्टि से हिमालय की ओर जाने वाले मार्ग अच्छे माने जाते थे, पर वहाँ से केवल घोड़े, अजिन, कम्बल आदि व्यापार के लिये मिल सकते थे। दक्षिण भारत की ओर जाने से शंख, हीरा, रत्न, मुक्ता और सोना व्यापार के लिये प्राप्त हो सकते थे। अतः दक्षिण जाना लाभ की दृष्टि से अच्छा था। दक्षिण भारत में व्यापार के वे मार्ग अच्छे माने गये, जिनके निकट खानें हों, बहुमूल्य वस्तुएं प्राप्तव्य हों और आने-जाने के लिए थोड़े व्यय वाले मार्ग हों। व्यापारिक मार्ग कई प्रकार के थे, यथा गाड़ी वाले, पैदल चलने के लिये, ऊँट और गदहे के मार्ग और कन्धे पर वस्तुएँ लेकर जाने के मार्ग। इनकी उत्तमता क्रमशः घटती हुई मानी जाती थी।[२]

मौर्य काल में भारतीय व्यापार की आन्तरिक प्रगति की दृष्टि से पटना से सिन्ध (पाकिस्तान) की सड़क सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही। इस सड़क पर प्रमुख नगर नीचे लिखे थे।—

पटना से बनारस १३५ मील
बनारस से कौशाम्बी १०० मील
कौशाम्बी से भारहुत ८० मील
भारहुत से बेसनगर (विदिशा) १८५ मील
विदिशा से उज्जैन १२० मील
उज्जैन से भड़ौंच २०० मील
उज्जैन से हैदराबाद (सिन्ध) ५००

इस युग की एक दूसरी सड़क पाटलिपुत्र से मथुरा और सिन्ध-प्रदेश तक जाती थी। इन सड़कों का सम्बन्ध वहाँ से काबुल और बैक्ट्रियाना की ओर जाने वाली सड़कों से था।[३]

मौर्य काल के पश्चात् ईसवी शती के आरम्भिक युग तक भारत का पश्चिमी देशों से व्यापार स्थल-मार्ग से बन्द-सा हो गया, क्योंकि भारत के बाहर जिन-जिन

---

१. अर्थशास्त्र-शुल्काध्यक्ष प्रकरण से।
२. अर्थशास्त्र—कर्मसन्धि प्रकरण से।
३. Cambridge History, Vol. I, Pp. 517

देशों से होकर यह मार्ग जाता था, उनकी राजनीतिक परिस्थिति शान्तिमय नहीं रह गई थी। फिर भी जल-मार्ग से मेसोपोटामिया (बेबीलौन) और मिस्र (सिकन्दरिया) से व्यापार होता रहा।[१]

ईसवी शती के आरम्भिक युग में भारत का एशिया के पश्चिमी देशों से तथा चीन से स्थल-मार्गों से पुनः व्यापार चलने लगा। व्यापारी स्थल-मार्ग से खैबर दर्रे से होकर बैक्ट्रियाना पहुँचते थे और यहाँ से आगे चलकर आक्सस नदी के किनारे-किनारे खीव पहुँचते थे। यही मार्ग कास्पियन तक जाता था और वहाँ से काले सागर तक के लिए सड़क मिलती थी। काले सागर से भूमध्यसागर स्थल-मार्ग द्वारा सम्बद्ध था।[२] खैबर के दर्रे से आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर मुड़कर चीन देश में स्थल-मार्ग से पहुँचने की सड़क मिलती थी। यह मार्ग मध्य एशिया में खोतान नगर से होकर यारकन्द, काशगर आदि नगरों से होकर जाता था।[३] एक दूसरा स्थल-मार्ग पूर्वी भारत से हिन्दचीन होकर चीन जाने के लिये था।

गुप्त काल में राजाओं ने व्यापार की सुविधा के लिए मार्गों की व्यवस्था में पर्याप्त सुधार किया और परिणाम-स्वरूप जल और स्थल के मार्गों पर नदी, वन और पर्वतों पर व्यापारी निर्द्वन्द्व होकर आ जा सकते थे।[४] नदियों को पार करने के लिए नावों के सेतु बनाये जाते थे।[५]

भारतीय आन्तरिक व्यापार के लिए स्थल-मार्ग की सुविधायें परवर्ती युग में भी मिलती हैं। चीन के अनेक यात्री भारत आये और उन्होंने प्रायः स्थलमार्ग से पूरे भारत का भ्रमण किया। ऐसे यात्रियों में गुप्तयुग के फाह्यान तथा हर्षवर्धन के समकालीन ह्वेनसांग के नाम प्रख्यात हैं। यात्रियों के आने-जाने के लिए जो मार्ग खुले थे, वे व्यापारियों के लिए भी उपयुक्त होते थे।

परवर्ती युग में अरब, रूस और खुरासान देशों के व्यापारी योरप, पश्चिमी एशिया, भारत और चीन आदि देशों में स्थल-मार्ग से आते-जाते रहे।

---

१. Cambridge History, Vol. I, PP. 516–517

२. रालिसन : Intercourse etc. Pp. 96-99.

३. J.R.A.S. 1941 pp. 299—316

४. रघुवंश १७.६४।

५. कल्हण के अनुसार प्रवरसेन ने सर्वप्रथम नौकाओं का सेतु वितस्ता पर बनवाया। तभी से ऐसे सेतु का प्रचलन हुआ। राज० ३.३५४।

जलमार्ग

व्यापार के लिए जल-मार्ग स्थल-मार्ग की अपेक्षा अल्प व्यय-साध्य होता है। प्राचीन काल के प्रमुख नगर प्राय: नदियों के तट पर अथवा समुद्र के किनारे थे। ऐसी परिस्थिति नाविक व्यापारियों के लिए समीचीन रही।

वैदेशिक व्यापार के लिए भी जल-मार्ग का अतिशय महत्त्व रहा है। प्रागैतिहासिक काल से नौकाओं में बैठकर व्यापारी अपनी वस्तुओं के साथ जाने-अनजाने द्वीपों और महाद्वीपों में जाते रहे हैं। प्राचीन और नवीन प्रस्तर-युग से नदियों के पार करने के साधनों को मानव ने अवश्य बनाया होगा और व्यापार के लिए उन साधनों का प्रयोग सम्भवत: होता होगा।

सिन्धु-सभ्यता के युग में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों नगर जिस नदी के तट पर थे, वह व्यापारियों की नावों के लिये उपयुक्त रही है। तत्कालीन निवासी नाव बनाने और चलाने के विज्ञान में निष्णात थे।[1]

वैदिक काल में लोग बड़ी नावों से परिचित थे। उनकी नौकाओं में १०० तक अरित्र होते थे।[2] इस युग के व्यापारी अपनी बड़ी नौकाओं से द्वीप-द्वीपान्तरों में जाकर अधिकाधिक धन व्यापार के माध्यम से प्राप्त करते थे।[3]

---

१. While river traffic must have been considerable, there is no direct evidence of the use of boats, and only two representations exist. One is a rough drawing scrached on a sherd of pottery, but one can recognise the high prow and stern a mast and furled sail and a strong man with a long steering oar. *Piggott* : Pre-historic India, P. 176.

मैके के अनुसार इस सभ्यता के लोगों का सुमेर और एलम आदि प्रदेशों से सम्बन्ध सामुद्रिक मार्गों के द्वारा हुआ था—The Vedic Age. Vol. I. P. 179.

२. ऋग्वेद १.११६.५ तथा वाजसनेयि संहिता २१.७।

३. ऋग्वेद १.५६.२; ४.५५.६। अनेक पाश्चात्य विद्वानों की धारणा रही है कि भारतवासी वैदिक युग में सामुद्रिक यात्रा नहीं करते थे, पर उनको भी अन्त में कहना पड़ा :— It is not easy to refuse to recognise the existence of large vessels with many oars used for sea-voyage. Vedic Index. में नौ।

ऋग्वेद १.४८.३ में धनाभिलाषी लोगों के धन के लिए सामुद्रिक यात्रा

नावों में अनेक दिनों की आवश्यकता के लिये सामग्री रख ली जाती थी।[1]

वैदिक युग से लेकर सदा ही परवर्ती युग में समुद्र की नौ-यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। सामुद्रिक यात्राओं के लिए उस प्राचीन युग में उतनी सुविधायें न थीं, जैसी आजकल हैं। नौकास्थान निश्चित नहीं थे। समुद्र में चलते हुए दिशा और अवस्थिति का ज्ञान नहीं रहता था। जाते हुए जहाँ-कहीं कोई द्वीप मिल जाता, वहीं नाव रोककर यथासाध्य सामग्री प्राप्त कर ली जाती थी। वहीं से आगामी यात्रा के लिए सूचनायें मिल सकती थीं। परवर्ती युग में शनैः शनैः अनुभव के आधार पर नावों की गतिविधि का आकलन किया जाने लगा और साधारण परिस्थितियों में नाविकों को ज्ञात रहने लगा कि किस द्वीप से कितने दिनों में किस दिशा में चलते हुए नाव कहाँ पर पहुँचने वाली है।

परवर्ती युग में बौद्ध-साहित्य के अनुसार व्यापारी विशेष लम्बी सामुद्रिक यात्रायें करते थे। ऐसी यात्रायें कभी-कभी छः मास की दीर्घ अवधि तक की होती थीं।[2] नौकाओं पर चलने वाले मल्लाह स्थल की दिशा जानने के लिए दिशा-काक रखते थे। बावेरु जातक के अनुसार एक दिशा-काक बेबीलौन में ५००कार्षापण पर बिका था।[3] जातक साहित्य में भारत की बड़ी नदियों में चलने वाली व्यापारिक नावों का उल्लेख मिलता है। नदियों के द्वारा प्रायः सभी बड़े नगर सम्बद्ध थे और वे नगर तत्कालीन उच्चकोटि के व्यापारिक केन्द्र थे। इनमें से काशी

करने का उल्लेख है। समुद्र से धन पाने की चर्चा ऋग्वेद ७.६.७ में मिलती है। ऋग्वेद ७.८८.३-४ के अनुसार वसिष्ठ ने सामुद्रिक यात्रा की थी। लोगों ने समुद्र में आने-जाने के लिए मार्गों की खोज की थी, जिनसे वे किसी अभीष्ट स्थान पर शीघ्र पहुँच सकते थे। ऋ० १.२५.७।

१. ऐतरेय ब्राह्मण ६.२१ के अनुसार समुद्र पार करने की इच्छा रखने वाले लोग जिस प्रकार सामग्री भरी नाव में बैठकर पार जाते हैं, उसी प्रकार सत्र-सम्पादन करने वाले त्रिष्टुभ् मन्त्र का उपयोग करते हैं।

२. दीघनिकाय १.२२२। समुद्रयात्रा के अन्य उल्लेखों और वर्णनों के लिए देखिए—बलाहस्स जातक १९६; महाजातक ५३९ के अनुसार व्यापारी सुवर्ण भूमि जाते थे। बावेरु जातक ३३९ में सामुद्रिक मार्ग के द्वारा बेबीलौन जाने का वर्णन है।

३. बावेरु जातक ३३९।

सबसे बढ़कर प्रख्यात थी। काशी से समुद्र-यात्रा के लिये नाव छूटती थीं।[1] नदियों के प्रवाह में भवन-निर्माण के लिये बनाई हुई लकड़ियाँ बहा दी जाती थीं और अभीष्ट स्थान पर उनको पकड़ लिया जाता था। इस प्रकार प्रयास के बिना ही व्यापार की वस्तुएँ व्यापारिक नगरों में पहुँचाई जाती थीं। नदियों से होकर जो नावें चलती थीं, उन पर नगर के लिए आवश्यक वस्तुयें वहाँ पहुँचाई जाती थीं। ऐसी नदियों में गंगा सुप्रसिद्ध थी। नदी के तट पर नाव के ठहरने के लिय नगर के समीप पत्तन होते थे। पत्तन की देखभाल के लिये राजा की ओर से जल-पथ-कर्मिक नियुक्त होता था। जल-पथ-कर्मिक को नावों के आने-जाने की सूचना रहती थी।[2] इस युग की नौकायें बड़ी होती थीं। समुद्रवाणिज जातक के अनुसार १००० बढ़ई एक ही नौका में यात्रा कर सकते थे। नौकाओं में तीन कूपक (मस्तूल) लगाये जाते थे। साथ ही इनमें लंगर, जोते आदि होते थे।[3] संख जातक के अनुसार ८०० हाथ लम्बी कुछ नौकायें होती थीं। उपर्युक्त विवरण में अतिशयोक्ति मान लेने पर भी इतना निश्चय प्रतीत होता है कि समुद्र में यात्रा करने के लिये बड़ी नावें अवश्य ही बनती थीं।[4] गंगा में बड़ी नावें समुद्र तक जाती थीं। इस युग में गम्भीर, भरुकच्छ, रोरुक, सुप्पारक, कावेरीपत्तन, आदि प्रमुख सामुद्रिक नौस्थान थे। काशी से नावें समुद्र यात्रा के लिये नियामक के नेतृत्व में चलती थीं। तारों का ज्ञान रखने वाले पण्डित रात्रि के समय दिशाओं का परिचय कराते थे।

अर्थशास्त्र में जल-मार्ग को व्यापार के लिये यद्यपि स्थल-मार्ग से अच्छा नहीं माना गया, फिर भी नदी और समुद्रों से व्यापार करने का प्रचलन रहा; क्योंकि

---

१. Cambridge Hist. Vol. I, P. 213.

२. चुल्लसेट्ठि जातक ४ तथा महाजनक जातक ५३९।

३. सीलनिसंस जातक १९०।

४. रालिसन ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—

Evidently from early days the Indian seamen built ships larger than those usually employed even at a much later date in the Mediterranean. Intercourse etc. P. 4.

सम्भवतः छठी शती ई० पू० में बंगाल के राजा विजय ने लंका पर चढ़ाई की। उन्होंने जिस नाव का उपयोग किया था, उसमें ७०० से अधिक लोग बैठ सकते थे और साथ ही उनकी आवश्यक वस्तुएं रखी जा सकती थीं। महावंश अध्याय ६ से।

ये मार्ग व्यापार के लिये स्वल्प व्यय-साध्य थे। समुद्र के तटीय मार्ग तथा नदियाँ व्यापार के लिये उत्तम पथ माने गये। समुद्र के तट पर असंख्य पण्यपत्तन (बाजार) मिल सकते थे।[१]

जैन साहित्य में भी व्यापारियों की समुद्र-यात्रा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। समुद्र में चलने वाली नाव का नाम प्रवहण था और कभी-कभी उसे लगातार छः मास तक चलते रहने पर ही अभीष्ट स्थल मिलता था।[२] चम्पा से समुद्र-यात्रा के लिये नाव छूटती थी। प्रारम्भ में देवताओं के लिये पुष्पोपहार अर्पित किया जाता था, सामुद्रिक पवन की पूजा होती थी, मस्तल पर श्वेत ध्वजा फहराई जाती थीं, शुभ शकुन का दर्शन किया जाता था और यात्रा-पत्र (राजवर-शासन) लेकर व्यापारी बाजे-गाजे के तुमुल निनाद के बीच चल पड़ते थे।[३] वायु के वेग से नाव की गति बढ़ जाती थी। नाव में नौकादण्ड, वलयवाह, वातवसन, लांगल आदि लगे होते थे। उसके संचालकों में नियामक सर्वोच्च व्यक्ति होता था। नियामक के अतिरिक्त खेने वाले (कुच्छिधारय), कर्णधार आदि होते थे।[४]

पहली शती ई० पू० में स्ट्राबो ने लिखा है कि मिस्र और भारत में सीधे व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना हो चुकी है। उसको सूचना मिली थी कि २५ ई० पू० के १२० व्यापारिक नाव मिस्र से भारत के लिए लाल सागर के नौकास्थान म्योज होरमोज से चले थे।[५] कुछ ग्रीक व्यापारी नाव पर पूरे दक्षिण भारत का चक्कर लगाते हुए गंगा के मुहाने तक पहुँचते थे।[६] नावें समुद्र के तटीय भाग अरब, फारस, मक्रान आदि से होती हुई भारत आती थीं। पहली शती ई० में हिप्पालस नामक नाविक ने पूरे अरब सागर को मानसून की सहायता से पार करते हुए सीधे भारत पहुँचने का मार्ग निकाला।[७] इधर भारतीय नाविक अपनी नावों पर माल लाद कर अरब जा पहुँचते थे।[८]

---

१. अर्थशास्त्र में कर्मसन्धि प्रकरण से।

२. उत्तराध्ययन की टीका १८

३. णायाधम्मकहा ९ से।

४. वही ८ से। अवदान शतक ३६ तथा ८१ के अनुसार आहार, नाविक, कैवर्त तथा कर्णधार नाव चलाने के कर्मचारी थे।

५. स्ट्राबो II C. 118.

६. वही XV C. 686

७. *Schoff* : पेरिप्लस, पृ० ८।

८. स्ट्राबो II C. 118.

उपर्युक्त व्यापार में डाके पड़ते थे। प्रारम्भ में इस सामुद्रिक व्यापार की सुरक्षा के लिए व्यापारियों की नावों पर कुशल धनुर्धर जाते थे, पर आगे चलकर डाकुओं का सामना शतघ्नी, गोले और बारूद से होने लगा।[1] इस युग में भारत में कावेरीपत्तन तत्कालीन विश्व के महत्त्वपूर्ण सामुद्रिक व्यापारिक केन्द्रों में से था। इस नौस्थान पर ग्रीस से लेकर चीन तक के सभी देशों के व्यापारी आते थे।[2] भारतीय व्यापारी इस युग में नावों से बंगाल, तक्कोल, चीन, सौवीर, सूरत, सिकन्दरिया, कारोमण्डल आदि प्रदेशों में जाकर धन उपार्जित करते थे।[3]

भारतीय नाविकों की चरित-गाथा के कुछ कथानक विदेशी साहित्य में प्रतिष्ठा पा चुके हैं। टेसिटस नामक रोम के इतिहासकार ने लिखा है कि एक भारतीय नाविक की नौका इंगलैण्ड के आगे उत्तर सागर तक जा पहुँची थी। एक अन्य भारतीय व्यापारी यवनों को अपनी नौका पर बैठाकर भारत लाया था। मिस्र के एक प्राचीन लेख में किसी भारतीय नाविक का नाम सोफन इण्डोस मिलता है।[4]

चौथी शती में फाह्यान नामक चीनी यात्री भारत से चीन लौटते समय व्यापारी नाव से गया। नावों में कभी-कभी छेद हो जाने की आशंका रहती थी। बड़ी नाव के साथ कुछ छोटी नावें सम्बद्ध रहती थीं, जिनका उपयोग ऐसी दुर्घटनाओं के समय हो सकता था। इस युग की भारतीय नावें अजन्ता के चित्रों में तथा बोरोबुदुर मन्दिर की मूर्तियों में अमर प्रतिष्ठा पा सकी हैं। व्यापार के लिये इस युग में ताम्रलिप्ति का नौकास्थान पूर्व में, कुदूर तथा घंटशाल के नौकास्थान दक्षिण की नदियों के तट पर, कावेरीपट्टन (पूहर) और तोदैं सुदूर दक्षिण में, कोरकैं तथा सलिपुर पाण्ड्य देश में, मुजरिस (क्रांगनूर) मलाबार तट पर, कल्याण, चौल, भड़ौच तथा खम्भात के नौकास्थान पश्चिमी तट पर तथा देवल और सोरठ सिन्धु-प्रदेश में थे। प्रायः सभी नौकास्थानों पर बड़े बाजार होते थे, जहाँ विदेशों से आया हुआ माल थोड़े समय में स्थानीय दूकानदारों के द्वारा खरीद लिया जाता था। उन बाजारों से नाविक व्यापारी अन्य देशों में ले जाने के लिए

---

१. *Dr. W. Vincent :* The Commerce and Navigation of the Ancients. Book IV, Pp. 457, 478, 479.

२. Cambridge History of India, Vol. I. P. 212-213.

३. मिलिन्दपञ्हो ३५९।

४. रालिन्सन : Intercourse etc. Pp. 96-99.

सामग्री खरीद लेते थे। नौकास्थानों पर व्यापारियों के सुरक्षित रूप से ठहरने की व्यवस्था राजा की ओर से की जाती थी।[1]

सातवीं शती के पूर्वी व्यापारिक मार्ग का परिचय ह्वेनसांग और इत्सिंग के वर्णन से मिलता है। इसके अनुसार जल-मार्ग उन विभिन्न बन्दरगाहों से होकर, जाता था, जो गुजरात, मलाबार, ताम्रपर्णी (लंका), चोलदेश, द्रविड़ देश, आन्ध्र, कलिंग, तथा समतट के तटों पर स्थित थे। सबसे अधिक चालू मार्ग वह था, जो (बंगाल में स्थित) ताम्रलिप्ति से बंगाल की खाड़ी में होकर जाता था और सुमात्रा द्वीप के क-चा नामक बन्दरगाह का स्पर्श करता था। वहाँ से वह सुमात्रा के उत्तरी तट से होता हुआ मलय उपद्वीप के बन्दरगाह का स्पर्श कर के जलडमरूमध्य को पार करता हुआ सुमात्रा की राजधानी 'श्रीभोग' तक पहुँचता था। इस स्थान से यह मार्ग चीन की खाड़ी के ठीक बीच से होता हुआ और कम्बोडिया प्रायद्वीप के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ अन्त में चीन के बन्दरगाह क्वांग-फू (आधुनिक कुंगतुंग) पहुँचता था। चीनी यात्री इत्सिंग ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया था।[2] चीन जाने वाले जलयान इतने बड़े होते थे कि उनमें केवल जलयान से सम्बद्ध एक सहस्र आदमी होते थे। इनमें से छः सौ जलयान चलाने वाले तथा ४०० धनुर्धर या भाला चलाने वाले सैनिक होते थे। प्रत्येक बड़े जलयान के साथ तीन छोटी नावें दुर्घटनाओं से बचाने के लिए सम्बद्ध होती थीं।[3]

सातवीं शती के पश्चात् लगभग ६०० वर्षों तक भारत के वैदेशिक व्यापार में ईरान और अरब के व्यापारियों का प्रमख हाथ दिखाई पड़ता है। इन दोनों देशों के नाविक व्यापारी समुद्र-तटों से होते हुए बंगाल, आसाम, पूर्वी द्वीप-समूह और चीन तक पहुँचते थे और लौटते हुए भारतीय वस्तुओं को योरप के देशों तक पहुँचाने के माध्यम बनते थे। इस मार्ग के अतिरिक्त अरब के बन्दरगाहों से नावें सीधे भारतीय तट तक आती थीं। भारत के समुद्र-तट से नावों पर जो वस्तुयें लाई जाती थीं, वे यमन के बन्दरगाह पर उतार ली जाती थीं और वहाँ से स्थल-मार्ग के द्वारा वे शाम, मिस्र तथा योरपीय देशों में पहुँचाई जाती थीं।[4] उपर्युक्त देशों की वस्तुयें इसी पद्धति से भारत भी पहुँचती थीं।

---

१. भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ० १२४।

२. चटर्जी : हर्षवर्धन, पृ० २०४।

३. इब्नबतूता का यात्रा-विवरण, दूसरा खण्ड, कालीकट-प्रकरण।

४. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ३८-३९।

सातवीं शती से फारस की खाड़ी में इराक प्रदेश में बसरे के समीप नौकाश्रय उबला भारतीय व्यापार का एक केन्द्र था। उस समय उबला भारत का एक टुकड़ा ही समझा जाता था। चीन और भारत को आने-जाने वाली नावें यहाँ ठहरती थीं। नवीं शती तक यह नौकाश्रय अभ्युदयशील रहा। नवीं शती से फारस की खाड़ी में सैराफ नामक नौकाश्रय का अभ्युदय हुआ। भारत और चीन के लिये आने-जाने वाली नावें सैराफ से होकर निकलती थीं। लगभग ४०० वर्षों तक सैराफ का नौकाश्रय अतिशय अभ्युदयशील रहा। इसके पश्चात् उमान के समीप फारस की खाड़ी में कैश द्वीप में स्थित कैश नामक नौकाश्रय के बन जाने पर इसकी महत्ता क्षीण हो गई। उमान के शासक ने इस नौकाश्रय को नित्य संवर्धित किया। राजा की निजी व्यापारिक नावें थीं। याकूत नामक इतिहासकार ने तेरहवीं शती में कैश का वर्णन करते हुए लिखा है—यह छोटा-सा द्वीप भारतीय व्यापार के कारण बहुत सुन्दर और हरा-भरा हो गया है। भारत के सभी जलयान यहीं ठहरते हैं। भारत के राजाओं में इस छोटे से द्वीप के अरब हाकिम की मान-मर्यादा बहुत अधिक है। कैश भारतीय व्यापार की मण्डी बन चुका था। भारत की सभी अच्छी वस्तुयें व्यापार के लिये यहाँ लाई जाती थीं।[1] आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक के भारतीय नौकाश्रयों के नाम अरबी ग्रन्थों में इस प्रकार मिलते हैं—सिन्ध में देवल, गुजरात में थाना, खम्भात, सोपारा और जैमूर तथा मद्रास में कोलममली, मलाबार और कन्या-कुमारी।

दसवीं शती में जलयानों के आने-जाने की सुविधाओं का परिचय अरबी ग्रन्थों से मिलता है। पहले बसरे और उमान से सब वस्तुयें सैराफ में आ जाती थीं और वहाँ जलयानों में लादी जाती थीं। वहीं से पीने के लिये मीठा पानी भी ले लिया जाता था। सैराफ से चलकर जलयान मस्कत में रुकते थे और पीने के लिये पानी लेकर भारत की ओर चल देते थे। एक मास तक चलने के बाद जलयान कोलममली पहुँचते थे। फिर वहाँ से चीन की ओर जाने वाले जलयान आगे की यात्रा आरम्भ करते थें। कोलममली में जलयान बनाने और उनके नवीकरण के लिये कर्मशालायें थीं। वहाँ मीठा जल यात्रा की आवश्यकता के लिये मिलता था।

भारत की ओर से आने वाले जलयान उमान पहुँचते थे और वहाँ से अदन, जद्दा और जार (शाम का समुद्र-तट पर) होकर लाल सागर में पहुँचते थे। इस प्रकार लाल सागर के सिरे तक व्यापारिक वस्तुयें पहुँच जाती थीं। जद्दा में मिस्र देश जाने वाले जलयान मिलते थे, जो सैराफ के नाविकों की सामग्री अपने देश में

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ४२-४६।

ले जाते थे। सैराफ के व्यापारी विशेष लाभ के लिये भारत और चीन के समुद्रों में व्यापार करना चाहते थे। दसवीं शती में जद्दा में भारत, जंजीबार, हब्श और फारस आदि देशों की व्यापारिक वस्तुयें मिलती थीं।[1]

अरबी साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि व्यापार के लिये जो नावें बनती थीं, वे बहुत बड़ी होती थीं और उनमें दीर्घकालीन आवास के लिये यथोचित सुविधायें प्रस्तुत की जाती थीं। जलयानों में दो खण्ड होते थे और अलग-अलग कक्ष बने होते थे। पीने के पानी और भोजन के लिए घर अलग से होते थे। यात्रियों के रहने के लिये तथा व्यापारिक सामग्री रखने के लिए अलग-अलग स्थान बने होते थे। जलयान में काम करने वाले खलासी, मल्लाह और रक्षक या तीर चलाने वाले सिपाही आदि की संख्या एक सहस्र होती थी। इनके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में यात्री होते थे।[2]

ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में रचे हुए राजा भोज के युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि सैकड़ों प्रकार की नावें बनाई जाती थीं। इनके बनाने की शैली वैज्ञानिक थी और बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि किस प्रयोजन के लिये नाव बनाई जा रही है। इस ग्रन्थ के अनुसार आकार-प्रकार की दृष्टि से नाव दो प्रकार की होती थी—दीर्घा और उन्नता। इनमें से दीर्घा के दस भेद होते थे—दीर्घिका, तरणी, लोला, गत्वरा, गामिनी, तुरी, जंघाला, प्लाविनी, धारिणी तथा वेगिनी। उन्नता भी पाँच प्रकार की होती थीं—ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, सुवर्णमुखी, गर्भिणी तथा मन्थरा। उपर्युक्त कोटि की नावें समुद्र में चलाने के लिये होती थीं। नदियों और झीलों में चलने वाली नावों की कोटि सामान्य थी और उनके भी क्षुद्रा, भीमा, मध्यमा आदि अनेक भेद प्रमुख थे। नावों को अलंकृत करने के लिए सोना, चाँदी, ताँबा आदि बहुमूल्य धातुओं का उपयोग होता था।

मुद्रा

व्यापार में क्रय-विक्रय के लिये मुद्रा का माध्यम अधिक सुविधा प्रस्तुत करता है। मुद्रा के लिए किसी ऐसी वस्तु का होना आवश्यक रहा है, जो सबके लिये उपयोगी हो, चल हो, भारी न हो और अधिकाधिक समय तक जिसमें क्षीणता के लक्षण न आते हों। अवश्य ही पशु, भोजन और वस्त्र की वस्तुओं में उपर्युक्त गुण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं और संस्कृति के आदिकाल से ही क्रय-विक्रय के

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ४७-४८।

२. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ७२-७३।

लिये ऐसी वस्तुएँ माध्यम रहीं। आज भी मुद्रा के पश्चात् ये वस्तुयें क्रय-विक्रय के लिये सर्वोच्च माध्यम हैं। फिर भी क्षीणता के दोष से ये भी मुक्त नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में क्रय-विक्रय का दूसरा उपयुक्त माध्यम अलंकार के लिये उपयोगी धातु और रत्न आदि हुए हैं, जिनमें मुद्रा के लिये आवश्यक प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। प्रारम्भिक युग से लेकर आज तक धातु और रत्न की मुद्राओं का उपयोग अलंकार के साथ-साथ व्यापार के लिये होता रहा है।

वैदिक काल में आरम्भिक युग तक गायों का मुद्रा-रूप में प्रचलन रहा है। उस समय लोग सहस्रों की संख्या में गायें रखते थे और इनकी उपयोगिता से तत्कालीन समाज-विशेष प्रभावित था। वैदिक युग में आगे चलकर स्वर्ण-मुद्राओं के प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं। तत्कालीन स्वर्ण-मुद्रायें तीन प्रकार की थीं— निष्क, कृष्णल और शतमान। इनके अतिरिक्त हिरण्य या हिरण्यानि स्वर्ण के टुकड़े थे, जो संभवतः मुद्राओं की भाँति उपयोग में आते थे। उपर्युक्त मुद्राओं में से निष्क वैदिक और परवर्ती संस्कृत साहित्य के अनुसार अलंकार के लिये भी प्रयुक्त होता था। निश्चय ही यह मुद्रा सुघटित और देखने में सुन्दर बनती होगी। कृष्णल वैदिक काल के एक निश्चित तोल के बराबर स्वर्ण होता था और शतमान कृष्णल का सौ गुना तोल में होता था।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में निष्क के हार तथा कात्यायन श्रौत-सूत्र में शतमान के उल्लेख मिलते हैं।

---

1. A gold currency was evidently beginning to be known in so far as definite weights of gold are mentioned : thus a weight अष्टाप्रूड occurs in the Samhitas (तै० सं० III.4,1.4; काठक सं० XI.I; XIII. 10) and the golden शतमान weight of a hundred कृष्णल is found in the same texts शतपथ ५.५.५.१६; १२.७.२.१३, तै० सं० २.३.११.५ काठक संहिता ८.५ In several passages, moreover, हिरण्य or हिरण्यानि may mean pieces of gold. तै० ब्रा० १.४.७.४ शतपथ १२.७.१.७ वैदिक इण्डेक्स में हिरण्य।

वैदिक इण्डेक्स vol. I. P. 455 के अनुसार Rg. I. 126.2 में १०० निष्कों का दान निष्क का मुद्रा होना प्रकट करता है।

We hear in the Brāhmaṇas of the Satamāna a piece of gold in weight equivalent to a hundred Kṛṣṇalas and such pieces of gold were clealry more or less equivalent to currency and must have been used freely, by the merchants. The Niṣka, originially

पाणिनि के सूत्रों में कंस, शतमान, कार्षापण, पण, पाद, माष, निष्क आदि मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं।[1] उस युग में विस्त और हिरण्य भी सम्भवतः मुद्रायें थीं।[2] पाणिनि के अनुसार मुद्राओं पर लेख और आकृतियाँ आहत की जाती थीं।[3] उन्हें रूप्य कहा जाता था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार निष्क, सुवर्ण, हिरण्य, धरण कार्षापण, पण, कंस, पाद, माषक काकणिका और रूपी आदि मुद्राओं का प्रचलन था। इनमें से कुछ के आधे और चौथाई मोल की मुद्राओं का प्रचलन भी था। मुद्राओं का मूल्य उनकी धातु के मूल्य के समान था। फिर भी उनमें से कुछ मुद्रायें आहत होकर रूपवती बन जाती थीं। संभव है, रूपी नामक मुद्रा विशेष रूप से रूपवती बनकर मनोरम दिखाई देती थी। काकिणी (कौड़ी) सबसे छोटी मुद्रा थी।[4]

जैन साहित्य के अनुसार सुवर्ण, सोने की सबसे बड़ी मुद्रा थी और इसका छोटा भाग सुवर्ण-माषक था। सुप्रसिद्ध मुद्रा काहावण (कार्षापण) थी। इनके अतिरिक्त माष, अर्धमाष और रूपक मुद्रायें थीं। बृहत्कल्प-भाष्य के अनसार कौड़ी, (कुवड्डग) सबसे छोटी मुद्रा थी। काकिणी नामक ताँबे की मुद्रा धातुओं की मुद्राओं में सबसे छोटी गिनी जाती थी। दक्षिण भारत में इसका विशेष प्रचलन था। भिल्लमाल प्रदेश में चाँदी की मुद्रा द्रम्म प्रचलित थी। पूर्वी देशों में दीनार या केवडिक नामक स्वर्ण-मुद्रा चलती थी। विभिन्न प्रदेशों की मुद्राओं का अनुपात नियत था। द्वीपों में प्रचलित दो सामरक उत्तर भारत के एक रूपक के बराबर थे और उत्तर भारत की दो मुद्रायें पाटलिपुत्र की किसी एक मुद्रा के बराबर होती

---

a gold ornament, was also at this time a unit of value; and the cow as a unit was probably in course of supersession. Cambridge Hist. of Indian, Vol. I. P. 137.

१. कंसाट्टिठन् : शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्; विभाषाकार्षापण-सहस्राभ्याम्; पणपादमाषशताद्यत्; शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्।

२. सूत्र ५.१.३१; ६.२.५५ तथा ५.२.६५।

३. पाणिनि ने ५.२.१२० अष्टाध्यायी में आहत मुद्रा का उल्लेख किया है। वृत्ति है—आहतं रूपमस्यास्तीति, अर्थात् रूप्य वह है, जिस पर आहत किया हुआ रूप हो। पातिमोक्ख ५.१८ तथा ५.१९ के अनुसार कार्षापणादि मुद्राएँ आहत होती थीं।

४. सिगाल जातक ११३।

थी। दक्षिण के दो रुपये कांची के एक नेलअ के समान और कांची के दो रुपये पाटलिपुत्र के एक रुपये के समान थे।[१]

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा की ओर से लक्षणाध्यक्ष नामक कर्मचारी मुद्राओं का निर्माण कराने के लिए नियुक्त होता था। उस समय चाँदी की मद्राओं के नाम रूप्य या रूप था। इनमें चार भाग ताँबा, एक भाग तीक्ष्ण त्रपु, सीस या अंजन तथा ११ भाग चाँदी होती थी। इसका नाम पण था। आधा पण, चौथाई पण तथा $\frac{1}{8}$ पण की मुद्रायें बनती थीं। ताँबे की बनी मुद्राओं का नाम ताम्र-रूप था। इसकी बड़ी मुद्रा का नाम रूपक था और $\frac{1}{2}$ माषक, $\frac{1}{4}$ माषक, काकिणी, अर्धकाकिणी आदि मुद्रायें बनती थीं। कूट मुद्रायें बनाने वालों को प्रवासित कर दिया जाता था।[२]

मनु ने उपर्युक्त कई मुद्राओं के परिमाण का परिचय दिया है।[३] इसके अनुसार—

३ राजसर्षप	१ गौरसर्षप
६ सर्षप	१ यव
३ यव	१ कृष्णल
५ कृष्णल	१ माष
१६ माष	१ सुवर्ण
४ सुवर्ण	१ पल
१० पल	१ धरण
१० धरण	१ शतमान
२ कृष्णल	१ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	१ पुराण
४ सुवर्ण	१ निष्क

गुप्तकालीन मुद्रायें अधिकाधिक संख्या में मिलती रही हैं। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्राओं का प्रचलन समुद्रगुप्त के शासनकाल से आरम्भ होता है। समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर गरुडध्वज, धनुर्धर, परशु, व्याघ्र-संहार, वीणावादक और

---

१. *Jain :* Life in Ancient India, P. 120.

२. अर्थशास्त्र २.१२तथा ४.४ से।

३. मनुस्मृति ८.१३१-१३७। मनु के अनुसार मुद्राएँ ताँबे, चाँदी और सोने की होती थीं। इनका प्रमाण नियत करने के लिए मनु ने त्रसरेणु से आरम्भ किया है और आठ त्रसरेणु भी एक लिक्षा और तीन लिक्षाओं का एक राजसर्षप माना है।

अश्वमेध के दृश्यों का अंकन है। समुद्रगुप्त की मुद्रायें बहुत कुछ कुशन-राजाओं के द्वारा चलाई हुईं मुद्राओं के अनुरूप हैं। इन मुद्राओं से समुद्रगुप्त की विजयिनी शक्ति और कलात्मक तथा धार्मिक अभिरुचि का परिचय मिलता है। इनमें एक ओर समुद्रगुप्त की मूर्ति के चारों ओर उसकी विभूति के परिचायक लेख मिलते हैं। इन मुद्राओं पर दूसरी ओर लक्ष्मी, मकरारूढ गंगा, महारानी आदि का अंकन है।[1]

समुद्रगुप्त के पश्चात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पिता की ही भाँति विविध प्रकार की मुद्रायें चलाईं, जिनमें से धनुर्धर, छत्र, सिंह-संहार, आसन, अश्वारोहण आदि अंकन वाली मुद्रायें प्रसिद्ध हैं।[2] विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त ने पूर्वजों की भाँति धनुर्धर, सिंह-संहार, व्याघ्र-संहार, और अश्वमेध के दृश्यों वाली मुद्रायें चलाईं। इनके अतिरिक्त उसने असिधारी, अश्वारोही, गजारोही, गरुड़, प्रताप आदि के अंकन वाली कई मुद्राओं का प्रचलन किया। गुप्तयुग के अन्तिम शक्तिशाली राजा स्कन्दगुप्त की चलाई हुई तीन प्रकार की स्वर्ण मुद्रायें धनर्धर, लक्ष्मी तथा महाराज के अंकन वाली हैं। स्कन्दगुप्त की मयूरांकित राजत मुद्रायें मध्यप्रान्त में प्रचलित थीं। इस वंश के अन्तिम युग के राजाओं—पुरुगुप्त और नरसिंह गुप्त के द्वारा प्रचलित स्वर्ण-मुद्रायें अधिक संख्या में नहीं मिलती हैं। इनकी मुद्रायें भी पूर्ववत् आकार-प्रकार की ही थीं। परवर्ती युग के पूर्वी भारत के गुप्त उपाधिधारी अनेक राजाओं की बहुत सी मुद्रायें मिलती हैं।

गुप्तकालीन मुद्रायें प्रायः सोने-चाँदी और ताँबे की बनती थीं। ताँबे की मुद्रा का नाम पण और सोने-चाँदी की मुद्रा का नाम कार्षापण और कार्षिक था। उस समय आहत मुद्राओं का रूप्य नाम प्रचलित था।[3]

---

१. समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर पराक्रम, अप्रतिरथ, कृतान्त परशु, सर्वराजोच्छेता, व्याघ्रपराक्रम, अश्वमेधपराक्रम आदि लेख मिलते हैं।
H. *C. Ray Chaudhary* : Political History of Ancient India, P. 551.

२. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मुद्राओं पर उसकी उपाधियाँ—श्री विक्रम, विक्रमादित्य, रूपकृती, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र नरेन्द्रसिंह, सिंहचन्द्र, अजितविक्रम, परमभागवत, विक्रमांक, महाराज चन्द्र आदि मिलती हैं। चन्द्रगुप्त की मुद्राएँ स्वर्ण ताम्र और रजत की मिलती हैं। वही, पृ० ५५७।

३. देखिए अमरकोश—कार्षापणः कार्षिकः स्यात् कार्षिके ताम्रिके पणः। तथा—रूप्यं तद्वृयमाहतम्॥ द्वितीय काण्ड, वैश्य वर्ग।

ह्वेनसाँग के अनुसार सातवीं शती में मोती, मणि, हीरे तथा सोने-चाँदी की मुद्रायें और कौड़ियाँ व्यापार के माध्यम-स्वरूप प्रचलित थीं। हर्ष की कुछ सोने और चाँदी की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। इनकी बनावट बहुत कुछ गुप्तयुगीन मुद्राओं के समान है। चाँदी की मुद्राओं पर शलदत्त लिखा है और उनके एक ओर बड़ा सिर तथा दूसरी ओर मयूर अंकित है। स्वर्ण-मुद्रा पर अश्वारोही की प्रतिकृति है और उस पर हर्षदेव उत्कीर्ण है। दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी देवी की मूर्ति है।

परिगणन, माप और तौल

व्यापार में वस्तुओं को गिनने, नापने और तोलने की आवश्यकता पड़ती है। इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संस्कृति के आदि काल से किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत गिनना, नापना और तौलना प्रचलित रहा होगा। सिन्धु-सभ्यता का युग आते-आते गणित विज्ञान की अच्छी उन्नति मिलती है। भारत अति प्राचीन युग से गणित-विज्ञान में अग्रगण्य रहा है।

सिन्धु-सभ्यता के युग के असंख्य बटखरे मिले हैं, जो तौलने के लिए उपयोग में आते थे। इन सभी बटखरों में समानुपात दृष्टिगोचर होता है, जिसके अनुसार १, २, ८⁄३, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४० का क्रमिक विन्यास था। यही विन्यास उस संस्कृति में आदि से अन्त तक मिलता है। बटखरे १६ के क्रम से चलते थे। छोटे बटखरे योगानुसार और बड़े दशमलवानुसार बने थे। विभाजन के लिये तिहाई होती थी। तोल की इकाई १३.६४ ग्राम थी। बटखरे साधारणतः घनाकार बनते थे। कुछ बटखरे गोल या अन्य आकारों के भी मिलते हैं। एक बटखरे का तोल २५ पौण्ड है, जो सिरे पर त्रिकोण है। इसके सिरे के दो छेदों से होकर सम्भवतः एक रस्सी जाती होगी, जिसे पकड़ कर उठाया जाता था। साधारणतः बटखरे पत्थर के बनाये जाते थे। पूरे साम्राज्य में बटखरों में किसी प्रकार का न्यूनाधिक तोल न होना, तत्कालीन व्यापार की प्रक्रियाओं में सच्चाई की प्रतिष्ठा का द्योतक है। छोटे बटखरे रत्न और मणियों के तोलने के उपयोग में आते थे। गुरिया बनाने वालों के आपणों में बटखरे अधिक संख्या में मिले हैं। बटखरों पर कोई चिह्न या लेख नहीं मिलता।

सिन्धु-सभ्यता के युग में नापने के लिए हाथ की इकाई मानी जाती थी। हाथ में २०·६२ इंच माने जाते थे। लगभग फुट की नाप का एक मापदण्ड था, जिसमें १३·२ इंच होते थे। इसके दस विभाजन होते थे और प्रत्येक में १.३२ इंच रहते थे। १३·२ इंच के फुट का प्रचलन केवल भारत में ही नहीं था, अपितु समग्र पश्चिमी एशिया और रोम साम्राज्य में इसका प्रचलन था। मध्यकालीन

इंगलैण्ड के भवनों के निर्माण में ऐसे ही फुट को मापदण्ड के रूप में व्यवहार में लाया गया है। इसी प्रकार २०·६२ इंच का हाथ भी तत्कालीन संस्कृति में योरप और एशिया में अपनाया गया था।[1]

वैदिक काल में माप-तोल के उल्लेख मिलते हैं। तुला पर कुछ वस्तुओं को तौला जाता था।[2] इसके साथ ही लकड़ी के बने हुए बरतनों से अन्न के परिमाण का ज्ञान कर लिया जाता था। ऐसे पात्रों का परिमाण नियत होता था। तौलने के बटखरे की इकाई कृष्णल होती थी, जिसका परिमाण गुंजा के बीज के समान होता था। माष नामक तोल ४ कृष्णल के समान होता था।[3]

अर्थशास्त्र में तत्कालीन माप-तोल का पूरा विवरण मिलता है। इसके अनुसार—

१० माष के बीज या ५ गुंजा के बीज=१ सुवर्ण माष
१६ सुवर्ण माष=१ सुवर्ण या कर्ष
४ कर्ष=१ पल
८८ गौर सर्षप=१ रूप्य माषक
२० शैव्य बीज या १६ रूप्य माष=१ धरण
२० चावल=१ वज्रधरण (हीरा तौलने के लिए)

तोल के लिए आधे माष, १ माष, २ माष, ४ माष, ८ माष, १ सुवर्ण, २ सुवर्ण, ४ सुवर्ण, ८ सुवर्ण, १० सुवर्ण, २० सुवर्ण, ३० सुवर्ण, ४० सुवर्ण तथा १०० सुवर्णों के बाट बनते थे। इसी प्रकार धरण के क्रमिक गुणोत्तर द्वारा विभिन्न बाट बनते थे। प्रतिमान (बाट) लोहे अथवा मगध और मेकल में प्राप्त पत्थर के अथवा ऐसे द्रव्यों के बनाये जाते थे, जो भीगने से अथवा शीतोष्ण होने पर घटते-बढ़ते नहीं थे।

तुला के विषय में नियम बने हुए थे। तुला-दण्ड की लम्बाई ६, १४, २२, ३०, ३८, ४६, ५४, ६२, ७० या ७८ अंगुल होती थी। इनका क्रमशः तोल १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० पल होता था। ऐसे तुला-दण्ड के दोनों सिरों से पलड़े लटकते थे।

विशेष प्रचलित तुला का दण्ड ७२ अंगुल लम्बा तथा तोल में ५३ पल होता था। इस दण्ड के एक छोर पर ५ पल तोल का पलड़ा लगाया जाता था। दूसरा

---

१. पिगट : प्रीहिस्टारिक इण्डिया, पृ० १८१-१८२।

२. वाजसनेयि संहिता ३०.१७।

३. तैत्ति० सं० २.३.२.१ तथा Vedic Index भाग १, पृ० १८५।

क्रमशः १, १२, १५, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० पल जहाँ लटकाने से मध्यम बिन्दु पर उठाने पर तुला-दण्ड का समकरण हो, वहाँ-वहाँ चिह्न बना देते थे। ऐसी तुला का नाम समवृत्त था। इसी प्रकार की कुछ अन्य विशेषताओं से परिलक्षित तुलायें परिमाणी, व्यावहारिका, भाजिनी, अन्तःपुरभाजिनी आदि बनती थीं। लकड़ी तौलने की तुला का दण्ड आठ हाथ लम्बा होता था। यह मोर के पैर के समान लगे हुए तो स्तम्भों पर खड़ी होती थी। इस पर भी तोल के परिचायक चिह्न लगे होते थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार तोल के कुछ अन्य परिमाण नीचे लिखे थे :—

२०० पल	=१ द्रोण
१ आढ़क	=१/४ द्रोण
१ प्रस्थ	=१/४ आढ़क
१ कुडुम्ब	=१/४ प्रस्थ
१६ द्रोण	=१ खारी
२० द्रोण	=१ कुम्भ
१० कुम्भ	=१ वह

अन्नादि नापने के लिए सूखी और सार लकड़ी का जो पात्र बनाया जाता था, उसके शिखा-भाग में पूरे मान का चौथाई आता था। कुछ पात्र ऐसे बनते थे, जिनसे नापने के लिए अन्न उपरितल पर भी समतल ही रहता था। द्रव पदार्थ का उपरिभाग समतल होता था। ऐसे पात्र, सुरा, पुष्प, फल, तुष, अंगार और चना नापने के लिए होते थे। पात्रों का नीचे लिखे क्रम से निर्धारित मूल्य होता था—

१ द्रोण का पात्र=१ १/४ पण

१ आढक=३/४ पण

१ प्रस्थ का पात्र=६ माष

१ कुडुम्ब=१ माष

द्रव पदार्थों के उपर्युक्त मान वाले पात्रों का मूल्य क्रमशः दूना लगता था। सभी बटखरों का मूल्य २० पण और तुला का मूल्य ६ २/३ पण था। मान और प्रतिमान का प्रातिवेधनिक (मुद्रण) कराने का शुल्क ४ माष था। अप्रतिविद्ध मान-प्रतिमान का उपयोग करने वाले पर २७ १/४ पण दण्ड लगता था।

विक्रय करते समय क्रेता को घी का १/३२ या १/६४ भाग अधिक तप्तव्याजी के रूप में देना पड़ता था। अन्य द्रव पदार्थों को विक्रय करते समय १/५० भाग अधिक दिया जाता था। कुम्भ का १/२, १/४, १/८ भाग नापने के लिए मान-पात्र बनाये जाते थे। घी

के लिये ८४ कुडुम्ब का १ वारक होता था। कुडुम्ब का चौथाई परिमाण घटिका कहा जाता था। लकड़ी, रस्सी, भूमि आदि नापने के लिए नीचे लिखे मान प्रयुक्त होते थे :—

८ यव=१ अंगुल

४ अंगुल=१ धनुर्ग्रह

२ धनुर्ग्रह=धनुर्मुष्टि

३ धनुर्ग्रह=१ वितस्ति या छाया पुरुष

२ वितस्ति=१ अरत्नि या प्राजापत्य हस्त

४ अरत्नि=१ दण्ड

जैन साहित्य में पाँच प्रकार के माप-तोल आदि का उल्लेख मिलता है—मान, उन्मान, अवमान, गणिम और प्रतिमान।

मान दो प्रकार का होता था—(१) अन्न नापने के लिए तथा (२) द्रव पदार्थ नापने के लिए। अन्न नापने के लिए असति, प्रसृति, सेतिका, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण और कुम्भ का प्रयोग होता था। द्रव को नापने के लिए माणिका का उपयोग होता था। अगरु और तगर को नापने के लिए उन्मान—कर्ष, पल, तुला और भार काम में आता था। कुयें, घर, लकड़ी, चटाई, कपड़े और खाई आदि के नापने के लिए अवमान—हस्त, दण्ड, धनुष्क, युग, नालिका, अक्ष और मुसल प्रयुक्त होते थे। गणिम में गिनना पड़ता था। प्रतिमान में गुंजा, काकिणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक और सुवर्ण आदि बाट काम में आते थे। इनके द्वारा धातु, रत्न और प्रवाल तौले जाते थे।[१]

गुप्तकाल में यौतव, द्रुबय और पाय्य वस्तुओं के परिमाण के अर्थ में प्रयुक्त होते थे। मान का ज्ञान तुला, अंगुलि और प्रस्थ से होता था। तौल के लिए ५ गुंजाओं का सबसे छोटा बाट माषक बनता था। १६ माषक का अक्ष या कर्ष होता था और ४ कर्ष का पल होता था। सौ पल की तुला और २० तुलाओं का भार होता था। दस भार का आचित होता था, जो लगभग एक बैलगाड़ी के लिए पर्याप्त भार होता था। इनके अतिरिक्त आढक, द्रोण, खारी, वाह, निकुंचक, कुडव और प्रस्थ विविध प्रकार के परिमाणों के द्योतक थे।[२]

अलबेरूनी ने तत्कालीन भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित माप और तौल का वैज्ञानिक पर्यालोचन करते हुए लिखा है—'तोल का मान कोई नैसर्गिक मान

---

१. *Jain* : Life in Ancient India, P. 121.

२. अमरकोष से।

नहीं; वरं सर्वसम्मति से माना हुआ रूढ़ आदर्श है। इसीलिए इसका व्यावहारिक और कल्पित दोनों प्रकार का विभाग हो सकता है। एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों में और एक ही देश में भिन्न-भिन्न कालों में इसके उपभाग या अपूर्णांश भिन्न-भिन्न होते हैं। तुला का वर्णन करते हुए अलबेरूनी ने लिखा है कि इसमें बाट हिलते नहीं हैं। मान-दण्ड विशेष चिन्हों और रेखाओं पर आगे-पीछे चलते हैं। पहली रेखायें एक से पाँच तक तौल-भार के मानों की हैं। उनके आगे की १० तक, फिर उनके आगे की रेखायें १०, २०, ३० इत्यादि दशमांशों की हैं।[१]

धार्मिक-नियोजन

व्यापार में लाभ और हानि दोनों की समान रूप से सम्भावना रहती है। यह व्यवसाय प्रायशः संकटापन्न है। ऐसी परिस्थिति व्यापारियों को दैवी शक्तियों की अपेक्षा करने वाला बना देती है। वे दैवी शक्तियों की उपासना करके कामना करते थे कि हमें व्यापार में सफलता मिले और हमारे मार्ग से कठिनाइयाँ दूर हो जायं। देवताओं की उपासना के साथ सच्चरित्रता का निकट सम्बन्ध होता है। व्यापारियों ने सच्चरित्रता को अपनाया, जिससे उनमें देवताओं के सन्निकट रहने की योग्यता आ जाय। उपर्युक्त प्रवृत्तियों की रूप-रेखा वैदिक साहित्य में मिलती है।[२]

धर्मशास्त्रकारों ने व्यापारियों को सच्चरित्र बनाये रखने की योजना बनाई। वसिष्ठ ने लिखा है कि ब्रह्म-हत्या करने वाला भी उतना बड़ा पापी नहीं है, जितना कम मूल्य की वस्तु को अधिक मूल्य पर बेचने वाला।[३]

पण्य-सिद्धि नामक कर्मकाण्ड के द्वारा व्यापार की वस्तु का कुछ भाग इसलिए हवन कर दिया जाता था कि व्यापार में भरपूर धन की प्राप्ति हो।[४]

व्यापारियों का साहस

निःसन्देह प्राचीन युग में व्यापार का काम अतिशय कठिन था। व्यापार के क्षेत्र में सफल होने के लिए व्यापारी को कर्मण्य, बुद्धिमान् और कुशल होना ही चाहिये था, पर इन गुणों के अतिरिक्त उसे असंख्य प्रकार के संकटों का सामना

---

१. अलबेरूनी का भारत, परिच्छेद १५ से।
२. उदाहरण के लिए देखिए अथर्ववेद ३.१५।
३. वसिष्ठ २.४२
४. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १.१५.१।

करने के लिए निर्भीक होना चाहिए था और उसे प्राणों का मोह होना ही नहीं चाहिए था।

वैदिक कल्पना के अनुसार इन्द्र वणिक् हैं। यह कल्पना सिद्ध करती है कि वणिक् को इन्द्र के गुणों से समायुक्त होना चाहिये। इन्द्र के समान ही पराक्रमी होकर व्यापारी दूर देशों में जाने पर आवश्यकता पड़ने पर लुटेरों और हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा कर सकता था। वह अग्नि की प्रार्थना करते हुए कामना करता था कि आप मुझमें तेजस्विता की प्रतिष्ठा करें। वह अग्नि देव के सन्निकट रहने के लिये उत्सुक था।[1]

जिन स्थल-मार्गों से सार्थ चलता था, उन पर वनों के बीच हाथी, भैंसे, चीते, रीछ आदि मिलते थे। कभी-कभी ऐसे ही वनों में अर्धरात्र के समय सार्थ को निवास करना पड़ता था और उन पर वन-गजों के भीषण आक्रमण होते थे और सार्थ के अनेक वीरों के प्राणों पर आ बीतती थी। कभी-कभी तो सारा सार्थ नष्ट हो जाता था।[2] मरुभूमि के मार्गों पर जल और भोजन की कठिनाई आ पड़ती थी और सार्थ को जल पाने के लिए कुआँ खोदना पड़ता था। यदि कुयें में जल मिल जाता तो कुशल था, अन्यथा सभी को प्यासे मरना पड़ता था।[3] सबसे बड़ी कठिनाई समुद्र के पार जाने वाले सार्थ के समक्ष थी। यदि समुद्र में चलते-चलते नाव कहीं रुक जाती तो शलाका के द्वारा वह अशुभ व्यक्ति चुना जाता, जिसके कारण यह बाधा उपस्थित होती थी। फिर तो अशुभ व्यक्ति को लोग नाव से बाहर फेंक कर ही आगे बढ़ते थे।[4] जल या स्थल मार्ग से चलते हुए पथ-भ्रान्त हो जाना साधारण सी बात थी।

जैन साहित्य में व्यापारियों के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन मिलता है। मार्ग में कहीं घनघोर वर्षा हो जाती, लुटेरों से मुठभेड़ होती, ठगों के चक्कर में पड़ना होता, राजकीय बाधा उपस्थित होती, वन में दावाग्नि से घिरना होता, बाँस का जंगल सामने आ जाता, पिशाचों से सामना करना पड़ता, खाई पार करना

---

१. अथर्ववेद ३.१५।

२. महाभारत वनपर्व ६२.१२२ तथा ६२.४–१५।

३. वण्णुपथ जातक २।

४. लोसक जातक ४१। जातक साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यापारियों की कठिनाइयों का वर्णन है—यथा सीलनिसंस जातक १९०; बलाहस्स जातक १९६; धम्मद्धज जातक ३८४, सुप्पारक जातक ४६३ तथा समुद्द-वाणिज जातक ४६६।

पड़ता, जंगलीं पशुओं से मुठभेड़ होती, पानी और भोजन की कमी पड़ती अथवा विषैले पेड़ों का सम्पर्क हो जाता था।[१]

परवर्ती बौद्ध साहित्य में सामुद्रिक यात्राओं की विपत्तियों के कारण तिमि, तिमिंगिल, ऊर्मि, कूर्म, स्थलोत्सीदन-भय, जलसंसीदन-भय, जल में छिपे हुये पर्वतों के टक्कर, तूफान आदि हैं।[२]

व्यापार के मार्ग में उपर्युक्त कठिनाइयों का सामना केवल वे ही थोड़े लोग कर सकते होंगे, जिनमें धन के अर्जन करने के लिये अदम्य उत्साह हो। इन कठिनाइयों को पहले से समझ लेना और उनसे बचना केवल कुशल व्यापारियों के लिये सम्भव रहा होगा। व्यापारी वर्ग के नेता इस काम में निष्णात होते थे। ऐसे लोग कभी विपत्तिग्रस्त होते तो नई परिस्थिति में प्रत्युत्पन्न बुद्धि द्वारा भाँति-भाँति के उपायों और साधनों से अपनी सुरक्षा करते थे। व्यापारी समुद्र-यात्रा करते हुए प्रायः अज्ञात देशों में जा पहुँचते थे। वहाँ की भाषा, रहन-सहन आदि से अपरिचित होते हुए भी अपना काम चला लेने में व्यापारी वर्ग कुशल होता था। इन्हीं परिस्थितियों को समझते हुये मनु ने विधान बनाया है कि व्यापार करने वालों को नीचे लिखे विषयों का ज्ञान होना चाहिये—व्यापारिक वस्तुओं की अच्छाई-बुराई, देशों की अच्छाई-बुराई, विक्रेय वस्तुओं में हानि-लाभ, विविध भाषायें, वस्तुओं को रखने के स्थान और क्रय-विक्रय।[३]

चौथी शती के व्यापारियों के साहस का परिचय फाह्यान के भारत से चीन लौटने की यात्रा के विवरण से हो सकता है। फाह्यान लंका से किसी व्यापारिक नाव पर चढ़ा। नाव के चलने के चौथे दिन जो अन्धड़ आया, वह १३ दिन रहा। नाव में छेद हो गया, और पानी भरने लगा। उस बड़ी नाव से सम्बद्ध छोटी नाव पर व्यापारी जाना चाहते थे। छोटी नाव को बहुत से लोगों के चढ़ने के भय से रस्सी काट कर छोड़ दिया गया। व्यापारी बहुत घबड़ाये। तब तो उनके प्राण पर बीतने लगी। नाव में पानी भरने के भय से लोग भारी-भारी सामान उठाकर समुद्र में फेंकने लगे। अन्त में नाव एक द्वीप के तट पर लगी। नाव के छेद का निरीक्षण करके उसे भरा गया और फिर आगे की यात्रा आरम्भ हुई। सामुद्रिक डाकुओं का भय था। समद्र के अतिशय विस्तार में दिशाओं का ज्ञान नहीं था। सूर्य, चन्द्र और तारों से दिशाओं का ज्ञान होता था। अन्धड़ आने

१. *Jain* : Life in Ancient India, P. 116.

२. दिव्यावदान में धर्मरुच्यवदान।

३. मनुस्मृति ९.३३१–३३२।

पर जिधर वह ले जाय, उधर जाना पड़ता था। मार्ग निश्चित नहीं था। अँधेरी रात में केवल ऊँची लहरें दृष्टिगोचर होती थीं। वे परस्पर लड़ती थीं और कहीं-कहीं अग्नि की ज्वाला दिखाई देती थी। व्यापारी संशक थे। उन्हें ज्ञात नहीं था कि कहाँ जा रहे हैं। समुद्र अतिशय गहरा था, लंगर डालने और ठहरने का स्थान नहीं था। आकाश खुल गया तो पूर्व-पश्चिम सूझने लगा। ठीक पथ पर चलने के लिये कभी-कभी लौटना पड़ता था। कहीं यदि जल में अन्तर्हित चट्टान से टक्कर पड़ती तो बचने का कोई उपाय नहीं था। तीन मास यात्रा करने पर वह नाव जावा पहुँची। जावा से किसी दूसरी व्यापारिक नाव पर बैठकर फाह्यान चीन की ओर चला। इस नाव पर चलते-चलते एक मास बीत गया तो एक दिन रात के समय काली आँधी आई। पानी बरसने लगा और व्यापारी व्याकुल हो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल लोगों ने निर्णय किया कि फाह्यान के कारण रात की आँधी आई थी और निश्चय किया गया कि उसे किसी द्वीप के तट पर छोड़ दिया जाय। किसी प्रकार फाह्यान को इस विपित्ति से मुक्ति मिली। सत्तर दिन बीत जाने पर नाव पर भोजन और पेय का प्रायः अभाव सा हो गया, क्योंकि सामग्री केवल ५० दिन के लिये ली गई थी। पथ-प्रदर्शक स्वयं पथ-भ्रान्त थे। समुद्र के जल में भोजन पकता था। अच्छा जल बाँटने पर प्रति व्यक्ति दो पाइंट मिला। वह भी शीघ्र समाप्त हो गया। बारह दिन और बीतने पर नाव चांगकाँग प्रदेश के तट पर पहुँची। ऐसी अनेक विपत्तिमय यात्राओं के विवरण भारतीय साहित्य में भरे पड़े हैं।

अध्याय १८

भोजन और पान

भोज्य पदार्थों का विश्लेषण और वर्गीकरण करने से प्रतीत होता है कि सुदूर प्राचीन काल से भोज्य वस्तुयें निम्न प्रकार की रही हैं :—

वनस्पति वर्ग से प्राप्य—अन्न, फल, फूल, नाल, पत्र, शाक, तेल, गुड़, शक्कर, मिसरी और मसाले।

प्राणिवर्ग से प्राप्य—मांस, दूध, घी वसा, अण्डा और मधु।

भूगर्भ तथा जल से प्राप्य—लवण।

इन्हीं वस्तुओं से पाँच प्रकार के आहार बनते थे—भोज्य, भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय।[1] संस्कृति के विकास के साथ इनकी विविधता निष्पन्न होती रही है।

उपर्युक्त वस्तुओं में से प्रत्येक मनुष्य अपने लिए स्वाद और स्वास्थ्य की दृष्टि से यथासंभव अधिकाधिक वस्तुओं को चुन लेता था। स्वाद और स्वास्थ्य के अतिरिक्त भोजन का चुनाव अपनी सात्त्विकता की अभिवृद्धि के लिए एवं धार्मिक दृष्टि से किया जाता था। स्वाद के लिए मनुष्य अपने आप खाद्य वस्तुओं का चुनाव करता था पर यह चुनाव साधारणतः उन्हीं वस्तुओं में से किया जाता था, जो आयुर्वेद की दृष्टि से स्वास्थ्यवर्धक सिद्ध हो चुकी थीं। सात्त्विक और धार्मिक खाद्य की परिभाषा शास्त्रीय वचनों के अनुसार हुई है।[2]

---

१. भोज्य भात, दाल, शाक आदि हैं। भक्ष्य खण्डखाद्यादि हैं। लेह्य चटनी है। पेय पीने की वस्तुएँ हैं। कामसूत्र १.३.१६ की व्याख्या से। चोष्य चूसने की वस्तुएँ हैं। ये सभी रसायन रूप में षड्रस भोजन हैं। महाभारत आदिपर्व १६५.११।

२. भारत की शाश्वत धारणा रही है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका शरीर और विचार आदि प्रवृत्तियां होती हैं। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य Complete Works of विवेकानन्द Vol. iv, Pp. 1-2

छान्दोग्य उपनिषद् ७.२६.२ के अनुसार 'आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि, सत्त्व-शुद्धि से ध्रुव स्मृति और ध्रुव स्मृति से मोक्ष मिल जाता है।' गीता १७.८–१० के अनुसार रसीले, स्निग्ध, स्थिर और मनोरम आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते

सामिष और निरामिष भोजन

ऊपर जितने वर्गों के भोजन का विवेचन किया गया है, उनमें से प्राणिवर्ग से प्राप्तव्य मांस, वसा और अण्डे को आधुनिक दृष्टि से आमिष भोजन तथा शेष को निरामिष कहा जा सकता है।[1] आमिष भोजन को निरामिष भोजन के साथ मिश्रित करके या स्वतन्त्र रूप से खाने का प्रचलन सदा रहा है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्वास्थ्य की दृष्टि से आमिष-भोजन की प्रशंसा की गई है।[2] वैदिक और पौराणिक युगों में यज्ञों के अवसर पर देवताओं को समर्पित किए हुए मांस-भोजन को खाने की रीति थी।[3]

मांस-त्याग

मांस-भोजन क्यों छोड़ा जाय—इसका समाधान वैदिक काल से दिखाई पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो जिसको इस लोक में खाता है, वही उसको

हैं। इनसे आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है कटु, चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे और दाहकारक भोजन राजसी वृत्ति के मनुष्य को प्रिय होते हैं। इनसे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। बासी, नीरस, दुर्गन्ध, जूठा और अपवित्र भोजन राजसी मनुष्य को प्रिय है। खाद्य और अखाद्य वस्तुओं का निर्णय प्रायः धर्मशास्त्रों में मिलता है। भारत को छोड़कर अन्य देशों के धर्मों में खाद्याखाद्य की समस्या पर विवेचन करने की रीति प्रायः नहीं रही है।

१. साधारणतः आमिष भोजन से मांस भोजन का ही तात्पर्य है, पर निरामिष भोजन में वसा और अण्डे नहीं आते। इसी दृष्टिकोण से आमिष भोजन में वसा और अण्डे को लिया जा सकता है। विपाकसूत्र १—३ के अनुसार जंगली चिड़ियों के अण्डे भून कर खाने का प्रचलन था।

२. चरक सूत्र स्थान २७.३०७—३१०।

३. ऋग्वेद १.१६२; ८.४३.११; १०.२७.२; १०.८६.१४।
अथर्ववेद १२.४; ५.१८; ३.२१.६।
शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.२१, ऐतरेय ब्रा० ६.८।
बृहदारण्यक उ० ६.४.१८, आप० ध० सूत्र २.७.१६.२५।
आश्व० गृ० सू० १.२४.२२—२६।
ऋग्वेद १.१६२.२१ के अनुसार धारणा थी कि यज्ञ में हत घोड़ा मरता नहीं, अपितु सदेह स्वर्ग जा पहुँचता है।

परलोक में खायेगा। यज्ञ के लिए दीक्षित पुरुष मांस न खाये। तपस्वी को मांस नहीं खाना चाहिए।[१] यज्ञायज्ञीय साम सूक्त जानने वाला जीवन भर या कम से कम एक वर्ष मांस न खाय।[२] मांस सुरा के समान है। आचार्य उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन की अवधि तक मांस-भोजन न करें।[३] इन निषेधों से इतना प्रत्यक्ष है कि वैदिक समाज में एक वर्ग ऐसा अवश्य था, जो मांस-भोजन को आध्यात्मिक अभ्युदय के प्रतिकूल और अपावन मानता था।

उपनिषद् काल से पशुओं की बलि देकर सम्पादित किये जाने वाले यज्ञों का महत्त्व घटने-सा लगा और वेदों में बताये हुए यज्ञों के द्वारा प्राप्य स्वर्ग के स्थान पर तप और तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति को लभ्य माना गया। तप जीवन की शुद्धि है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में तप को प्राधानता दी गई। वानप्रस्थ और संन्यास के मुनिवर्ग ने प्रायः मांस-भोजन का सर्वथा परित्याग किया। मांस-भोजन की सात्त्विक दृष्टि से हीनता सिद्ध हुई। मुनियों की संख्या उपनिषद् काल से लेकर प्राचीन काल में प्रायः सदा बहुत अधिक रही। मांस के परित्याग का जो आदर्श मुनि-वर्ग में प्रतिष्ठित हुआ, उसका सारे समाज पर प्रभाव पड़ कर रहा।[४]

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में अहिंसा का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया। अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए। प्राणियों का वध किये बिना मांस मिलना असंभव है। ऐसी परिस्थिति में इन दोनों संस्कृतियों के अनुयायी गृहस्थों का मांस खाना बन्द सा होने लगा। अहिंसा के साथ जिस दया-भाव की प्रतिष्ठा की गई, उसका प्रतिपालन तभी हो सकता था, जब मांस-भोजन का सर्वथा त्याग किया जाता। धीरे-धीरे जैन और बौद्ध भिक्षुओं की समझ में यह बात आ गई कि यदि अहिंसा के व्रत को अपनाना है तो मांस-भोजन नहीं करना चाहिए। जैन संस्कृति में आगे चल कर पूर्णरूप से गृहस्थों

---

१. शतपथ १२.९.१.१; ११.६.१.३; १४.१.१.२९।

२. छान्दोग्य २.१९.२। कौषीतकि ब्राह्मण ११.१३ के अनुसार यज्ञ में जिन पशुओं का मांस खाया जाता है, वे परलोक में यजमान का मांस खाते हैं।

३. आप० ध० सूत्र २.२.५.१५।

४. तपोमय जीवन के उच्चादर्शों को आरम्भ में यथाशक्य मुनियों के गृहस्थ-जीवन से समन्वित किया गया, जैसे उपवास, तीर्थाटन आदि से और फिर सभी गृहस्थों के लिए भी उन्हें नियत कर दिया गया।

और मुनियों के लिए मांस-भोजन को सर्वथा त्याज्य बताया गया। बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा में मांस-भोजन का निषेध किया गया।[1]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध मत के भिक्षुओं के लिए मांस-भोजन की ग्राह्यता का विरोध आरम्भ हुआ। यह विरोध सक्रिय था और इसका नेता देवदत्त था, जो स्वयं पहले बुद्ध का अनुयायी था। देवदत्त ने एक बार बौद्ध संघ के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि बौद्ध भिक्षु मछली के मांस-भोजन से विरत हो जायं तो मैं और मेरे अनुयायी संघ में सम्मिलित हो जायं। इस घटना से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज का एक वर्ग मांस-भोजन और साधुजीवन के सामंजस्य को समझने में असमर्थ था।

मांस के लिए पशु-वध पर रोक राजकीय नियमों के द्वारा भी लगाई गई। गौतम के जीवनकाल में ही कुछ दिन ऐसे नियत किये गये, जब कोई किसी पशु का वध मांस के लिए नहीं कर सकता था।[2] अशोक ने मांस-भोजन पर प्रतिबन्ध लगाकर स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया। जहाँ उसके सूप के लिए सहस्रों पशुओं का नित्य वध होता था, उसने नियम बनाया कि केवल दो मोर और एक हरिण के मांस से काम चलाया जाय। हरिण-वध किसी-किसी दिन हो सकता था। उसने प्रजा को सूचित किया कि इन पशुओं का भी वध भविष्य में बन्द हो जायेगा।[3] अशोक की दयाभावना के पात्र मनुष्यों के साथ ही साथ पशु भी हुए। उसने जहाँ मनुष्यों के लिए औषधालय खोले, वहीं पशुओं के लिए भी खोले। अशोक ने राजपथ पर वृक्ष लगवाये और कुएँ खुदवाये, जो पशुओं और मनुष्यों के लिए समान रूप से थे। वह ऐसे स्थलों पर पशुओं का नाम व्यंजना से समझने के लिए नहीं छोड़ देता था, अपितु स्पष्ट शब्दों में कहकर दया के क्षेत्र में मनुष्य और पशु को एक कोटि में लाया।[4] अशोक ने प्रजा को समझाया कि प्राणियों को न मारना साधु पथ है।[5] उसने प्रजा को प्राणि-

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, पृ०, ५७।

२. चुल्लवग्ग ७.३.१५।

३. अशोक का प्रथम शिलालेख। कश्मीर के राजा मेघवाहन और अवन्तिवर्मा के शासन काल में सभी प्राणियों की हिंसा बन्द थी। राजतरंगिणी ५.६४। महापद्मसरोवर के तीर पर मत्स्य तथा पक्षियों की हिंसा का निषेध था। राजत० ५.११९।

४. अशोक का द्वितीय शिलालेख, मगेसु लुखानि लोपितानि उडुपानानि खानापितानि पटिभोगाये सुमानुसानं।

५. अशोक का तृतीय शिलालेख।

वध से विरत करने के लिए बहुविध प्रयत्न किये और इस दिशा में उसे सफलता भी मिली।[1] एक दिन ऐसा आया, जब उसने अनेक पशु-पक्षियों और मछलियों का वध अपने राज्य में सर्वथा बन्द करा दिया और नियम बनाया कि कम से कम किसी जीव को दूसरे जीव का मांस नहीं खिलाया जाय। वर्ष के अनेक पवित्र दिनों के लिए भी नियम बनाया कि मछलियां न तो पकड़ी जायं और न बेंची जायं। उन दिनों जलाशयों और वनों में प्राणिवध सर्वथा बन्द रहता था।'[2]

मांस-भोजन के सम्बन्ध में महाभारत और मनुस्मृति में पक्ष और विपक्ष-दोनों प्रकार के मत प्रायः मिलते हैं। मांस भक्षण का विरोध उसकी असात्त्विकता के आधार पर किया गया और उसका गुण-गान स्वाद और स्वास्थ्य-संवर्धन की दृष्टि से निरूपित किया गया। स्वास्थ्य की दृष्टि से इसे विविध प्रकार के अपूप (पूए), शाक, षाडव तथा अनेक प्रकार के रस-योगों से बढ़कर लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।[3] फिर भी अहिंसा की दृष्टि से मांस-त्याग को परम धर्म बतलाया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक अभ्युदय, पर-लोक और सात्त्विकता की तनिक भी चिन्ता होती थी, उसके लिए महाभारत में पूरा प्रयत्न किया गया कि वह मांस-भक्षण से विरत हो जाय। इस प्रयत्न की दिशा है—पशुओं का मांस अपने पुत्र के मांस के समान ही है, यह समझना निरी भूल है कि मैं स्वयं तो मार ही नहीं रहा हूँ, केवल मांस खाता भर हूँ, मुझे पाप लगने का कोई कारण नहीं। वास्तव में अपने आप मरे हुए या किसी अन्य व्यक्ति के मारे हुए प्राणी का मांस खाने वाला उसके वध करने वाले के समान ही है। मांस क्रय करने वाला धन से, खाने वाला अपने उपभोग से और घातक वध और बन्धन से उस प्राणी का वध करते हैं। प्राणियों को अपना जीवन सबसे बढ़कर प्रिय है। ऐसी परिस्थिति में सभी प्राणियों के प्रति दया करना चाहिए। अहिंसक सभी प्राणियों का पिता और माता है।'[4]

---

१. अशोक का चतुर्थ शिलालेख; देखिए अर्थशास्त्र सूनाध्यक्ष प्रकरण।

२. स्तम्भलेख ५।

३. अनुशासन पर्व ११७.२–८। बौद्ध धर्म में मांस-भक्षण को इसी परिस्थिति में मान्यता मिली थी।

४. महाभारत अनुशासन० अध्याय ११४—तथा ११७ से।

इसी प्रकार की उक्ति भागवत पुराण में इन शब्दों में मिलती है :—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥७.१४-९॥

महाभारत का उपर्युक्त तर्क मानव की सद्भावनों को जागरित करने के लिए था। इसके द्वारा प्राणियों के प्रति आत्मीयता का विकास हो सका होगा। इन तर्कों के अतिरिक्त धार्मिक दृष्टि से मांस-भक्षण का अत्यन्त भयावह परिणाम दिखाया गया और अहिंसा तथा मांस-परित्याग को इस लोक और परलोक में सर्वोच्च अभ्युदय का कारण बताया गया। मांस-विरति के लाभों की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई, वह अत्यन्त आकर्षक है। अहिंसा और मांस-विरति का धार्मिक विवेचन इस प्रकार है—

अहिंसक का रूप सुन्दर हो जाता है, अंग पूर्ण और निर्दोष होते हैं, और आयु, बुद्धि, सत्त्व और स्मरण-शक्ति बढ़ती है। सौ वर्षों तक प्रतिमास अश्वमेध करने वाले के समान पुण्यशाली मधु और मांस का न खाने वाला होता है। जो मांस नहीं खाता या पशुओं की किसी प्रकार की हानि नहीं करता, वह सभी प्राणियों का मित्र और विश्वास-पात्र बन जाता है। उसकी किसी प्रकार की हानि प्राणि-वर्ग नहीं कर सकता। सज्जनों के बीच ऐसे पुरुष का सम्मान होता है। जो अपना मांस अन्य प्राणियों के मांस से बढ़ाना चाहता है, वह निश्चय ही विनाश के पथ पर है। कोई व्यक्ति मधु-मांस न खाकर मानो यज्ञ ही करता रहता है। सदा दान ही देता रहता है, और तपस्वी रहता है। मांस का परित्याग सुख, धर्म और स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ आयतन है। मांस न खाने वाला सर्वत्र निर्भय रहता है। वह कभी उद्विग्न नहीं होता। मांस खाने से आय क्षीण होती है। जो दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाता है, वह जहाँ-कहीं भी अगले जन्म में उत्पन्न होता है, वहीं उद्विग्न रहता है। मांस न खाने से धन, आयु, यश आदि बढ़ते हैं और स्वर्ग में स्थान मिलता है। यज्ञ के बहाने भी मांस खाने वाला नरक में स्थान पाता है। प्राचीन काल में यज्ञ के समय भी अन्न के पशु बना कर उन्हीं की बलि चढ़ाने की परम्परा रही है। मांस न खाने से तपस्या का फल मिलता है। जो चार वर्ष तक मांस नहीं खाता, उसे कीर्ति, आयु, यश और बल—चार मंगलों की प्राप्ति होती है। यदि एक मास भी बिना मांस खाये रह जाय तो मानव सभी दुःखों से छुटकारा पाकर स्वस्थ बना रहता है। मास या पक्ष भर भी मांस न खाये तो ब्रह्मलोक में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है। जो मनुष्य जीवन भर मांस नहीं खाता, वह स्वर्ग में विपुल स्थान पाता है। इसके विपरीत मांस-भक्षक की भयावह दुर्गति कुंभीपाक नरक में होती है। मांस-भक्षक जिस प्राणी का मांस खाता है, उसी का मांस वह प्राणी

(मृग, ऊँट, गदहा, बन्दर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी—इन सबको अपने पुत्र के समान समझो, पुत्र कैसे इन सबसे भिन्न है ?)

अगले जीवन में खायेगा। अहिंसा सबसे बढ़कर धर्म, दम, दान, तप, यज्ञ, फल, मित्र और सुख है।"[1]

मांस के परित्याग और अहिंसा के सिद्धान्त के इस प्रकार स्पष्टीकरण होने के पश्चात् भी यदि मांस भोजन भारत से कमी न जा सका तो उसके लिए सर्व प्रथम कारण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का ही हीला रहा है। वेदों की धारणायें आप्त वचन मानकर सदा प्रतिष्ठित रही हैं। वैदिक वचनों के अनुसार याज्ञिक कर्मकाण्ड में मांस और बलि प्रायः अपेक्षित रहे हैं। याज्ञिक हिंसाओं का स्पष्ट विरोध उपनिषद्, महाभारत और मनुस्मृति आदि किसी ग्रन्थ में नहीं हुआ।[2] पौराणिक युग में भी वैदिक परम्परा के अन्ध-भक्त लोगों में यज्ञ-सम्बन्धी मांस-भोजन पर रोक पूर्ण रूप से नहीं लग पाई।[3] फिर भी कुछ पुराणों में मांस-भोजन का घोर विरोध किया गया। इस विरोध की रूप-रेखा बहुत कुछ महाभारत के समान ही है।

---

१. महाभारत अनुशासनपर्व के अध्याय ११४–११७ से।

उपर्युक्त उच्च सिद्धान्तों के होते हुए भी महाभारत-काल में मांस-भोजन लोकप्रिय प्रतीत होता है। वनपर्व ४७.४ के अनुसार पाण्डवों ने हरिण का आखेट करके उसके मांस से ब्राह्मणों का आतिथ्य किया। सभापर्व ४.१-२ के अनुसार मयसभा के उद्घाटन के अवसर पर १०,००० ब्राह्मणों को जो भोजन दिया गया, उसमें सूअर और हरिण का मांस भी सम्भवतः था। रामायण अयो० ९१.६३-७३ के अनुसार भी भोजन में मांस की विशेषता है।

२. सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा होनी चाहिए केवल तीर्थ (यज्ञ) को छोड़कर छान्दोग्य उपनिषद् ८.१५.१। महाभारत अनुशासन० ११६.५६-५७ में भी यज्ञ द्वारा प्रोक्षित मांस को खाद्य स्वीकार किया गया है। फिर भी इस विशाल ग्रन्थ में याज्ञिक हिंसा का विरोध भी मिलता है। आश्वमेधिक अ० ९४ में। मनु ५.२२.२७, ४२ ने ब्राह्मणों के लिए भी पशु-पक्षियों को वध करने की छूट दी है, यदि वध यज्ञ-सम्पादन करने के लिए हो, यद्यपि मनु ५.५३ मांस-भोजन के पक्ष में नहीं हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है—प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस नहीं उत्पन्न होता। प्राणिवध करने से स्वर्ग नहीं मिलता। अतः मांस खाना छोड़ देना चाहिए। स्मृति ५.४८-५१, परन्तु देवताओं और पितरों को अर्पित करके मांस खाया जा सकता है। वही ५.५२।

३. विष्णु-पुराण ३.१६, वायु-पुराण अध्याय ८३ तथा अग्निपुराण १६.३०-३२ में श्राद्ध के अवसर पर पितरों की तृप्ति के लिए ब्राह्मणों को मांस-भोजन देने का विधान इसी बात का द्योतक है।

इसके अनुसार जो लोग मांस नहीं खाते, वे स्वर्ग में स्थान पाते हैं। मांस न खाने से जो पुण्य होता है, वह एक सहस्र गायों के दान के समान है। सभी तीर्थों में जाने और सभी यज्ञों के सम्पादन करने से जो पुण्य होता है, वह सारा का सारा मांस न खाने वाले को अनायास मिल जाता है।'[1]

भागवत पुराण में मांस-भोजन से विरत करने की योजना अत्यन्त सफल कही जा सकती है।[2] लोकप्रियता की दृष्टि से यह पुराण सर्वोत्तम रहा है और इसकी साहित्यिक विशेषतायें इतनी उदात्त रही हैं, कि यह ग्रन्थ न केवल साधारण जनता के बीच ही प्रतिष्ठित हुआ, अपितु विद्वानों में भी इसकी अप्रतिम प्रतिष्ठा हुई। सारे भारत में और विशेषतः वैष्णव मतानुयायियों में मांस-परित्याग का सारा श्रेय इसी ग्रन्थ को दिया जा सकता है। भागवत में निश्चयात्मक भाषा में कहा गया—धर्म जानने वाला व्यक्ति न तो स्वयं मांस खाये और न श्राद्ध में पितरों को समर्पित करे। पशु के मांस से उतनी तृप्ति नहीं होती, जितनी मुनियों के भोजन से। सद्धर्म की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए मन, वाणी और कर्म से किसी भी प्राणी को दुःख न देना परम धर्म है। सबसे बड़ा यज्ञ है ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम की अग्नि में अपने कर्मों का होम कर देना। जब यज्ञ में द्रव्य का होम किया जाता है तो उसे देखकर सभी प्राणी डरने लगते हैं कि निर्दय व्यक्ति कहीं हमारा वध कर दें। भागवत में आदेश दिया गया है कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का सम्पादन मुनिजनोचित अन्नों से ही करे।[2] जो लोग वैदिक हिंसा को उचित समझते हैं, उनके लिए भागवत श्रुतियों का वास्तविक अर्थ समझने की सीख देती है, 'वैदिक साहित्य में भी मांस-मद्य से निवृत्ति करा देना ही अभीष्ट अर्थ है। यज्ञ में पशुओं के आलभन का अर्थ उनकी हिंसा नहीं है।'[3]

स्कन्दपुराण में आयुर्वेद के इस मत का खण्डन किया गया है कि मांस खाने वाले लोग विशेष पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। इसे मांस-लोभियों और दुष्ट पापात्माओं का मत कहा गया है। इसके अनुसार मांस न तो आयु बढ़ाने का साधन है और न इससे स्वास्थ्य या बल बढ़ता है। मांस खाने वाले रोगी, दुर्बल और स्वल्पायु देखे जाते हैं तथा जो मांस नहीं खाते, वे भी पृथ्वी पर नीरोग, दीर्घायु और हृष्ट-पुष्ट अंगों वाले होते हैं। मांस की उत्पत्ति घास, काठ या पत्थर से नहीं होती।

---

१. ब्रह्मपुराण २१६.६३, ६५–६६।

२. भागवत सप्तम स्कन्ध १५.७–११।

३. वही, एकादश स्कन्ध ५.११।

किसी जीव की हिंसा करने पर ही मांस मिलता है। अतः उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।[1]

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस युग में मांस-भोजन समादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। महाकवि बाण ने समाज की इसी परिवर्तित मनोवृत्ति का निदर्शन करते हुए कहा है—मधु-मांस आदि का आहार सज्जन पुरुषों के द्वारा निन्दित है।[2]

सात्त्विक वृत्ति वाले तथा अध्यात्मवादी गृहस्थों की मांस के प्रति धारणा अवश्य ही परिवर्तित हो गई। फिर भी भोजन में रसास्वाद को सर्वप्रथम ढूंढ़ने वाले नागरिकों को मांस-युक्त तेमन के रस से कभी विरति नहीं हुई।[3]

भोज्य पदार्थ

सिन्धु-सभ्यता के युग में जो खाद्य अन्न उत्पन्न किये जाते थे, उनमें से प्रमुख जौ, गेहूँ, चावल, तिल, मटर आदि हैं। उस समय के भोज्य पदार्थ इन्हीं वस्तुओं के बनते होंगे। उस समय दूध देने वाले पशुओं को अधिक संख्या में लोग पालते थे। दूध तथा उसकी बनी वस्तुयें भोजन में सम्मिलित रही होंगी।

ऋग्वेद के समय से लोग बल, वीर्य और सात्त्विक वृत्तियों का संवर्धन करने वाले भोज्य पदार्थों से परिचित रहे हैं।[4] इस दृष्टि से उनका क्षीरपाक-ओदन सर्वोत्तम भोजन कहा जा सकता है।[5] उनका ओदन (भात) अनेक प्रकार की वस्तुओं को मिश्रित करके पकाया जाता था, जिसके नाम परवर्ती वैदिक साहित्य में क्षीरौदन, दध्योदन, मुग्दौदन, तिलौदन, मांसौदन और घृतौदन आदि थे। पाँच

---

१. स्कन्द-पुराण नागर खण्ड २९.२२५–२३७।

२. आहारः साधुजननिन्दितः मधुमांसादिः। कादम्बरी, पृ० ३२

३. नैषधीय चरित १६.८६, ८१, ८० आदि। ये उल्लेख प्राचीन संस्कृति के अन्तिम युग के कहे जा सकते हैं।

४. ऋग्वेद १.५.९ में भोजन के सात्त्विक गुणों का विवेचन करते हुए कहा गया है—यस्मिन् विश्वानि पौंस्या—जिसमें वीर बनाने के लिए सभी गुण वर्तमान हैं। १.४३.७ में महान् और यथेष्ट बल से युक्त अन्न की कामना की गई है। १.४६.६ में अन्धकार को दूर करने वाले ज्योतिपूर्ण अन्न की कल्पना मिलती है।

५. ऋग्वेद ८.७७.१०। यह आजकल की दूध में चावल को पकाकर बनाई हुई खीर है। इस भोजन की प्रशंसा इसी प्रकरण में अन्यत्र देखिए।

वस्तुओं के मिश्रण से पंचौदन बनता था।[1] उनके भोजन में दही और घी को स्थान मिला था।[2] दूध से बने हुए अन्य भोज्य नवनीत, मस्तु और आमिक्षा था।[3] आर्यों का मुख्य भोजन करम्भ, अपूप, पुरोडाश, धाना (चबैना) था।[4] सक्तू (सत्तू) ऋग्वेद के युग से संभवतः साधारण लोगों का भोजन सदा ही रहा है।[5] यह विभिन्न वस्तुओं के सम्मिश्रण से बनाया जाता था। एक प्रकार के सत्तू में गवीधुक घास का मिश्रण होता था। गवीधुक का उपयोग यवागू बनाने में होता था।[6] कृसर नामक भोज्य चावल और तिल से बनता था।[7] चावल को भूनकर परिवाप नामक खाद्य बनाया जाता था।[8] वाजिन आजकल के रायते की भाँति होता था। इसको बनाने के लिये तप्त दूध को दही या मट्ठे में डाला जाता था।[9] पयस्या भी इसी प्रकार की वस्तु होती थी।[10] कमल का मूल शालूक भोज्य

---

१. देखिए Vedic Index. बृहदारण्यक उपनिषद् ६.४ के अनुसार इस प्रकार के भोजन करने वाले माता-पिता को विविध गुण-स्वभाव वाली सन्तति की सम्भावना थी।

२. ऋग्वेद ८.२.९।

३. शतपथ १.८.१.७, वही ३.१.३.७।

मस्तु (जमे दही का पानी) सुश्रुत-संहिता सूत्रस्थान दधि वर्ग ४५.१७ कफ और वायु का नाश करता है। यह आह्लाद देने वाला, तृप्तिकर्ता होता है, मल का भेद करता है और भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है।

४. ऋग्वेद ४.२४.५; ३.५२.१-८। करम्भ यव, उपवाक और तिर्य आदि अन्नों में से किसी एक के छिलके निकाल कर, थोड़ा भून और गूँथकर बनाया जाता था। वाजसनेयि संहिता १९.२२ तथा अथर्ववेद ४.७.३। पुरोडाश रोटी थी, जो घी के साथ खाई जाती थी। तै० ब्रा० ३.७.५। धाना अनाज को भून कर बनाया जाता था। ऋग्वेद ४.२४.७। अपूप पूआ है।

५. शतपथ १२.९.१.५; पंचतंत्र अपरीक्षितकारक स्वभावकृपण-ब्राह्मण कथा; नैषधीय-चरित २.८५।

६. शतपथ ९.१.१.८; तै० सं० ५.४.३.२।

७. षड्विंश ब्राह्मण ५.२।

८. तैत्तिरीय सं० ३.१.१०.१।

९. तैत्तिरीय संहिता १.६.३,१०; वा० सं० १९.२१.२३ तथा शत० २.४.४.२१।

१०. तै० सं० २.३.१३.२।

था।[1] शफक भी संभवतः कोई जल से उत्पन्न पौधा या फल था, जो खाया जाता था।[2]

फलों में गूलर की मधुरता की प्रशंसा की गई है। संभवतः यह फल लोगों को उदुम्बर-वनों से मिलता था।[3] आण्डिक नामक पौधे के पत्ते या फल अण्डाकार होते थे, जो खाये जाते थे।[4]

विभिन्न पशुओं के मांस पकाकर लोग खाते थे। मांस से यूषन् (जूस) भी बनाया जाता था।[5]

भोज्य पदार्थ विविध प्रकार के होते थे। शतपथ ब्राह्मण में १७ प्रकार के भोज्य पदार्थों की कल्पना मिलती है, जो किसी मनुष्य को एक समय खाने के लिए दिये जा सकते थे।[6] गाय के दूध-मात्र से दस प्रकार की वस्तुयें भोजन के लिये प्रस्तुत की जा सकती थीं।[7]

भोजन को स्वादिष्ठ बनाने के लिये नमक का प्रयोग करना संभवतः वैदिक काल से आरम्भ हुआ। आरम्भिक युग में नमक की कमी के कारण इसका भाव कभी-कभी सोने से भी अधिक महंगा रहा है।[8]

जातक युग में यवागू और भात निरामिष-भोजन साधारण जनता के लिये थे। मांस-भोजन की अतिशय लोक-प्रियता थी। सूल पर पकाया हुआ मांस और भुनी हुई गोह का मांस लोग बहुत चाहते थे। इनके साथ दही खाया जाता था।[9] निरामिष भोजन तिल, मूंग और चावल का बनता था।[10] गोह के मांस को घी, दही तथा अन्य रसायनों के साथ पकाया जाता था। भोजन को स्वादिष्ट बनाने के

१. अथर्ववेद ४.३४.५।

२. अथर्व० ४.३४.५।

३. ऐतरेय ब्रा० ७.१५; पंचविंश ब्रा० १६.६.४।

४. अथर्व० ४.३४.५; ५.१७.१६।

५. ऋग्वेद १.१६२.१३; तैत्तिरीय संहिता ६.३.११.१.४।

६. शतपथ ब्रा० ५.२.२.३; वही ८.४.४.७।

७. शतपथ ३.३.३.२।

८. नमक का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद ७.७६.१ में इसका सर्वप्रथम उल्लेख है। उपनिषदों में नमक की प्रायः चर्चा की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् ४.१७.७ के अनुसार नमक स्वर्ण से भी अधिक मँहगा था

९. सस जातक ३१६।

१०. वही।

लिये तेल, नमक और पिप्पली को मिश्रित किया जाता था।[1] शालि का भात और मांस की गणना सर्वोच्च भोजन में थी।[2] हंस, मोर और क्रौञ्च पक्षियों का मांस लोग चाव से खाते थे।[3] पुराने चावल का भात धनिकों के योग्य समझा जाता था।[4] राजाओं के भोजन में विविधता होती थी। उनका भोजन सात प्रकार का हो सकता था।[5]

बौद्ध साहित्य में क्षीरौदन की बड़ी प्रशंसा मिलती है। गौतम बुद्ध ने इसके गुणों का आकलन करते हुए बताया है कि इससे जीवन बढ़ता है, रंग निखरता है और आनन्द मिलता है। भूख-प्यास आदि मिटाने के अतिरिक्त इस भोजन में सबसे बड़ा गुण है बुद्धि-संवर्धन का। इससे शरीर के तीन विकार—वात, कफ और पित्त का शमन होता है। पाचन शक्ति बढ़ जाती है और शरीर सबल होता है।

महाभारत-कालमें स्वाद की दृष्टि से निरामिष भोजन में अपूप विविध प्रकार की शाक, मिठाइयाँ, षाडव, रसयोग आदि माने जा सकते हैं।[6] भोजन की सामग्री में मूल, फल, सूअर और हरिण का मांस, दूध और घी में पकी हुई मधु मिश्रित खीर, कृसर (तिलौदन), जीवन्ती का शाक आदि थे। इनका वर्गीकरण भक्ष्य, हविष्य, चोष्य, पेय, खाद्य आदि कोटियों में होता था।[7] कुछ भोज्य पदार्थ आटा, ईख, शाक या दूध को सड़ाकर बनाये जाते थे। सत्तू, जौ की खीलें, दही मिश्रित सत्तू; खीर, खिचड़ी, मालपुए, मोदक, पूरिक, शष्कुली, मृद्वीका आदि अन्य प्रकार की भोज्य सामग्रियाँ थीं।[8]

रामायण के अनुसार ईख, मधु, लावा, उष्ण भात, मीठा अन्न (पोलाव), सूप, दही, खाण्डव और गुड़ की बनी वस्तुयें एक साथ भोजन के लिये दी जाती थीं।

---

१. गोध जातक ३२५; गोह का मांस रामायण काल में भी स्वाद की दृष्टि से बहुत अच्छा मान कर खाया जाता था; अरण्य काण्ड ३.४७.२३। चरक ने बिल में रहने वाले प्राणधारियों में गोह के मांस को आयुर्वेद की दृष्टि से सर्वोत्तम बताया है। सूत्रस्थान २५.३०।

२. केसव जातक ३४६।

३. पुण्णनदीजातक २१४।

४. भोजाजानीय जातक।

५. दूत जातक २६०।

६. अनुशासन पर्व ११७.२।

७. सभा पर्व ४.२–३।

८. शान्ति पर्व ३७.२५–२६;

भोजन के साथ पायस और पेय प्रस्तुत किये जाते थे।[1] दही की बनी हुई वस्तुयें— अनेक प्रकार के मट्ठे और रायता आदि सुगन्धित और ताजे भोजन के साथ दिये जाते थे। दूध और चीनी की प्रचुर मात्रा उपलब्ध थी। भोजन के वर्ण और गंध की प्रशंसा की गई है।[2]

इस युग के पूर्ण भोजन में षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) होते थे। सारा भोजन पाँच प्रकार का होता था—रस, अन्न, पान, लेह्य (चाटने के लिये) और चोष्य (चूसने के लिये)। भक्ष्य और भोज्य कोटि के भोजन का उल्लेख मिलता है।[3] वैदिककालीन कृसर (खिचड़ी) इस युग में भी देवताओं को समर्पित करके खाने योग्य भोजन माना जाता था।[4]

उपर्युक्त भोजन विशेष रूप से आर्यों का था। अनार्यों में राक्षस-जाति संस्कृति की दृष्टि से उच्चता प्राप्त कर चुकी थी। राक्षसों के भोजन में विविध प्रकार के मांस की बनी हुई वस्तुयें, मिठाइयाँ, नमकीन, खट्टे पदार्थ, फल आदि होते थे। भोजन-शाला का नाम पान-भूमि था। इस नाम से प्रतीत होता है कि उस युग में खाने की वस्तुओं से अधिक रुचि पीने की वस्तुओं के प्रति थी। भोजन-सामग्री की विविधता और पकाने का विस्तृत परिचय अर्थ शास्त्र के कोशागाराध्यक्ष प्रकरण में मिलता है। पतंजलि ने महाभाष्य में ओदन, यवक, सक्तु, उदमन्थ, पिष्टक, पिण्डी, अपूप, शष्कुली मोदक, कृसरधाना, वटक, कुल्माष, चूर्ण, पलल, आदि भोज्यों का उल्लेख किया है।[5]

---

१. पायस इस युग का सर्वश्रेष्ठ, पवित्र, लोकप्रिय भोजन कहा जा सकता है। इसके उल्लेख रामायण के बालकाण्ड १६.१९, अयोध्याकाण्ड ९१.६९, अरण्य का० ५६.२४ में मिलते हैं। अन्य भोज्यों के लिए बाल० ५१.१-५।

२. अयोध्याका० ९१.६७—७३।

३. अयोध्या० ९१.२० तथा ५०.३९। भक्ष्य कठोर वस्तुएं हैं, जिन्हें चबाकर खाया जाता है।

४. अयोध्या० ७५.३०।

५. यवक जौ का भात है। उदमन्थ वह सक्तु है, जो पानी से खाया जाय। पिष्टक आजकल की पिट्ठी के समकक्ष है। पिण्डी एक प्रकार का लड्डू था। शष्कुली मीठी कचौड़ी थी। कृसर आजकल की खिचड़ी के समान थी। धाना आजकल के भुने चबैने के समान होता था। वटक बड़ा है। कुल्माष पानी में उबाला हुआ मूंग है। पलल आजकल के तिलकुट के समकक्ष है। विशेष विवरण के लिए देखिए पतंजलि-कालीन भारत, पृ० २०५—२१६।

पाक-विधि

प्राचीन पाकविधि को किसी प्रकार सरल नहीं कहा जा सकता। पाकविधि की कल्पना नीचे के विवेचन से ही सकती है—चावल धोकर या कुछ परिस्थितियों में बिना धोये हुए ही पकाया जाता था। उससे मांड़ निकालना वैकल्पिक था। साधारणतः चावल अकेले ही पकाया जाता था, पर उसे मांस, शाक, वसा, तैल, घी, मज्जा या फलों के साथ भी लोग पकाते थे। स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसा पाक बलकारक माना जाता था। उड़द, तिल, दूध, मूंग आदि के साथ भी भात पकाया जाता था।[1]

कुल्माष नामक भोजन बनाने के लिए जौ के आटे को गूंथ कर उसे उबलते पानी में थोड़ी देर तक स्विन्न कराया जाता था। उसे निकाल कर रोटी या पूड़े की भाँति पकाया जाता था। मूंग, उड़द, गेहूँ आदि को उबालकर स्विन्न करके खाने की वस्तुयें बनाई जाती थीं।[2]

जूस बनाने के लिए अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। रसायनों से रहित जूस का नाम अकृतयूष था। जिस वस्तु का जूस बनाना होता था, उसे थोड़ा भूनकर, उसका १८ या १४ गुना जल डालकर पकाया जाता था। जल के आधा रह जाने पर उसे उतार लिया जाता था। यदि सूप बनाना होता था तो केवल चौथाई जल रहने दिया जाता था। अनार का दाना आदि डालकर खट्टा सूप बनता था। वह अम्ल कहा जाता था। जो सूप खट्टा नहीं होता था, वह अनम्ल कहा जाता था। जूस केवल द्रव ही द्रव होता था और सूप में दाल के दाने होते थे। मांस का रस निकालने के लिए दो प्रस्थ जल में १२ पल मांस डाला जाता था। ऐसा रस सांस्कारिक (घना) कहा जाता था। यदि केवल ६ पल मांस डाला जाता था तो वह तनु (पतला) रस कहा जाता था।[3]

शष्कुली आजकल की कचौरी की भाँति होती थी। मधु-क्रोडा की आकृति पिण्ड के समान होती थी। इसके भीतर मधुर वस्तुएँ भरी जाती थीं। चावल के आटे से पूप (पूआ) तथा पूपलिका (टिकरी) बनाई जाती थीं। दूध तथा ईख के रस से भी पुये बनाये जाते थे। वेशवार नामक मिठाई मांस से बनाई जाती थी। मांस से हड्डी निकाल कर उसे पानी में उबाला जाता था, फिर शिला पर पीसकर उसमें पिप्पली, काली मिर्च, गुड़, और घी मिलाकर पकाया जाता था।

---

१. चरक सूत्रस्थान २७.२५२–२५५।

२. वही २७.२५६।

३. वही २७.२५७–२६४।

फल, मांस, वसा, शाक, पलल और मधुमिश्रित भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से बलकारक, भारी और शरीर संवर्धक सिद्ध हो चुके थे। भोज्य वस्तुओं के साथ साधारणतः गुड़, तिल, दूध, मधु और शक्कर स्वाद की दृष्टि से मिलाकर खाये जाते थे। यह मिश्रण स्वास्थ्य की दृष्टि से पुष्टिकारक माना जाता था।

गेहूँ के आटे में घी मिलाकर या उसे घी में पकाकर कई प्रकार की भोज्य सामग्री बनाई जाती थी। विभिन्न देशों में रोटी पकाने की विविध रीतियाँ प्रचलित थीं। रोटी को सेंकने के लिए कुकूल (गड्ढे में तुषाग्नि) खर्पर (खपड़ा), भ्राष्ट्र (भाँड़), कन्द (तन्दूर) या अंगारे उपयोग में आते थे। इन विधियों से बनी हुई रोटियाँ उत्तरोत्तर सुपच मानी जाती थीं। जौ से चिउडा बनाया जाता था और भून कर या बिना भुना हुआ ही खाया जाता था। कई द्रव्यों को मिलाकर, पकाकर और आग में भूनकर विमर्दक बनाया जाता था।[1]

दही से रसाला बनाया जाता था। दही प्रायः गुड़ के साथ मिलाकर खाया जाता था। भोज्य में दाख, खजूर, कोल, बेर, मधु तथा गुड़-शक्कर आदि मिलाये जाते थे। इनमें सोंठ तथा खट्टी वस्तुओं को भी मिलाया जाता था। कच्चे आम को भूनकर उसमें चीनी, तेल, सोंठ आदि डालकर रागषाडव बनाया जाता था। एक दूसरे प्रकार का रागषाडव कच्चे आम के छिलके को उतार कर उसके दो-तीन टुकड़े करके, उन्हें भून कर चीनी के पाक में बनाया जाता था और मिर्च, इलायची आदि से सुवासित किया जाता था। इसको स्निग्ध मिट्टी के चिकने बरतन में रखा जाता था।[2]

आम और आँवले से चटनियाँ बनाई जाती थीं। विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के सम्मिश्रण से इसमें विविध रसों का स्वाद लाया जाता था। भोजन के साथ सिरका भी रखा जाता था।[3]

आहार बनाने के लिए तेलों में से तिल का तेल सर्वोत्तम माना जाता था। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह तेल सभी रोगों को नष्ट करने वाला है। भोज्य वस्तुओं को बनाने में घी, सरसों, चिरौंजी, अलसी, कुसुम्भ, मज्जा, वसा, सोंठ, गीली पिप्पली, कालीमिर्च, हींग, नमक (सेंधा, सौंचल, काला, सामुद्रिक आदि) काम में आते थे। काला जीरा, सोया, मेथी, अजवाइन, धनिया आदि का रसायन

---

१. चरकसूत्रस्थान २७.२६५–२७२।
२. वही २७.२७३–२७७।
३. वही २७.२७८, २७९।

की भाँति उपयोग होता था।[1] रसोई-घर को सुरक्षित और मनोरम रखने का विधान था।[2]

फल-भोजन

भारतीय भोजन में आरम्भिक युग से ही फलों को स्थान मिला है।[3] भारतीय जलवायु सुस्वादु और मीठे फल उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध रही है।[4] कुछ फल वन से प्राप्त होते थे। अच्छे फलों के लिये वैज्ञानिक ढंग से उपवन लगाये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जो फल किसी प्रान्त विशेष में नहीं उत्पन्न होते थे, वे अन्य प्रदेशों से व्यापार के माध्यम से मँगाये जाते थे। भोजन के लिए उपयुक्त फलों में आम, दाडिम (अनार), बदर, (बेर), सिंवीतिका (सेब), कपित्थ (कैथ), मातुलिंग (नीबू), पियाल (चिरौंजी), लकुच (बड़हल), पनस (कटहल), कदम्ब, इमली, नारंगी, गूलर, जामुन, राजादन (खिरनी), ताल, नारियल, केला, काश्मर्य (खुबानी), खजूर, बादाम, अक्षोड (अखरोट), अभिषुक (काजू), निचुल (चिलगोजे), निकोच, (पिस्ता) लवली, जायफल, लवंग आदि सुप्रसिद्ध रहे हैं।[5]

जो लोग मांसाहार नहीं करते थे, उनके लिए शाकाहार का अतिशय महत्त्व रहा होगा। प्राचीन नियमानुसार लताओं के फलों की गणना शाक के साथ होती

---

१. चरक सूत्रस्थान २७.२९५–३०२।

२. महानसं च सुगुप्तं स्याद्दर्शनीयं च। कामसूत्र १८।

३. सिन्धु सभ्यता के युग में खाये जाने वाले फलों में से कुछ के चिह्न अब भी प्राप्त होते हैं। उस समय के खजूर के बीज मिले हैं।

४. Ancient India के पृष्ठ ५२–५३ पर मेगस्थनीज का लेख है—वर्ष में दो बार फल और अन्न की उपज होती है। वृक्षों से अत्यधिक फल पैदा होते हैं। फलों की पैदावार के लिए अन्य उल्लेख धम्मद्धज जातक, दधि-वाहन जातक १८६; अशोक का सातवाँ स्तम्भ लेख, खारवेल का शिलालेख आदि देखिए। अम्ब जातक २४ के अनुसार तपस्वी आम, जामुन, कटहल आदि खाते थे। पतंजलि ने दाड़िम, द्राक्षा, बिम्बा, मृद्वीका, बदर और कुवली फलों के खाने का उल्लेख किया है।

५. सुश्रुत-संहिता अध्याय ४६ फल-वर्ग। भारत में इन फलों की पैदावार के सम्बन्ध में ह्वेनसांग का भारत वर्णन देखिए—वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७७।

थी। शाकों में लताओं तथा छोटे पौधों के पत्र और डण्ठल भी आते हैं। शाकों की परिधि में प्याज, लशुन, मूली आदि मूल भी आ सकते हैं। इन मूलों का आजकल की तरकारी में उपयोग होता है। इस प्रकार शाकों के अन्तर्गत जो फल आते हैं, उनमें से कुछ तो कच्चे खाये जाते हैं और अन्य फल साधारण भोजन के साथ तेमन या जूस आदि बनाने के काम आते हैं। ऐसे भोज्य शाकों का परिगणन साधारणतः सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में उनके गुण-दोष विवेचन के प्रकरण में किया गया है।[१]

भोजन के साथ मिठाइयों का सामंजस्य सदा रहा है। भारतीय मिठाइयों में लड्डू, शिखरिणी, मोदक, मत्स्यण्डिका आदि के नाम तत्कालीन साहित्य में प्रायः मिलते हैं।

भोजन का विज्ञान प्राचीन समाज में अतिशय प्रतिष्ठित था। अनेक राज-कुमार और कुमारियाँ भोजन-कला में अतिनिष्णात हो चुकी हैं।[२] राजाओं की पाकशाला में अगणित सेवक होते थे और उनमें से कोई एक व्यक्ति सर्वोच्च पदाधिकारी होता था।

साधारणतः नागरिकों का भोजन प्रतिदिन तीन बार होता था। प्रातःकाल का प्रातराश लघु भोजन होता था। दोपहर के समय पूरा भोजन किया जाता था। फिर रात्रि के समय पहले पहर में तीसरा भोजन होता था।[३] जैन संस्कृति में रात्रि-भोजन का परित्याग करने का नियम बना। आयुर्वेद की दृष्टि से भी अपनी पाचन-शक्ति को ठीक रखने के लिए एक बार भोजन करना उचित माना गया था। मनु की दृष्टि में भी एक बार भोजन करना अच्छा ही है।[४] संभव है, स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोग नित्य एकाहार करते हों, पर नागरिक के लिए एकाहार अपवाद स्वरूप रहा होगा।

---

१. उदाहरण के लिए देखिए सुश्रुत-संहिता, सूत्रस्थान अध्याय ४६ शाक-वर्ग।

२. महाभारत के अनुसार नल भोजन-कला में सुनिपुण था। वनपर्व ६४.३। वह मृष्ठकर्ता था। वनपर्व ६८.६।

३. शतपथ ब्रा० २.४.२.६ के अनुसार सायं प्रातः दो बार भोजन करना चाहिए। इससे पूर्ण आयु प्राप्त होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.४.९ के अनुसार दिन में दो बार खाना चाहिए।

४. चरक-संहिता सूत्रस्थान २५.३९; मनुस्मृति ४.६२।

भोजन-विधि

भोजन की सारी प्रक्रिया में स्वच्छता का होना आवश्यक था। भोजन पकाने और परोसने वाले मन और शरीर से शुद्ध होने चाहिये। भोजन पकाने के पात्र निर्मल होने चाहिए। जिन पात्रों में भोजन किया जाता था, उनमें किसी प्रकार की मलिनता नहीं होनी चाहिए। खाने वाले के लिये भी नियम था कि शुद्ध और शान्त मन तथा शरीर से भोजन करना चाहिये। यदि किसी अन्य पुरुष का भोजन करना हो तो दाता के शुद्ध और सात्त्विक व्यक्तित्व को परख लेने पर ही उसका भोजन किया जा सकता था।[१]

सिन्धु-सभ्यता के युग की भोजन-विधि का कुछ-कुछ परिचय वहाँ पर प्राप्त पात्रों से लगता है। उस युग के उनके प्याले, थालियाँ और चम्मच प्राप्त हुए हैं। प्यालों में लोग संभवतः दाल, शाक और फल आदि रखते हों। उनके वर्तुलाकार छेद वाले पात्र संभवतः हाथ धुलाने के लिये होते थे। भोजन के लिये ताँबे और पीतल के बरतनों का भी उपयोग होता था।

वैदिक काल में लोग स्थिरता-पूर्वक बैठकर भोजन करते थे।[२] उस समय भोजन करने वाला अपने से एक हाथ की दूरी पर भोजन रख कर खाता था।[३] भोजन आरम्भ करने के पहले और भोजन कर लेने के पश्चात् दो बार आचमन करने की रीति थी।[४]

---

१. ह्वेनसांग ने भारतवासियों की स्वच्छता का निदर्शन करते हुए कहा है—वे अपने आप स्वच्छ हैं, किसी प्रकार के दबाव से नहीं। प्रत्येक भोजन के पहले वे स्नान करते हैं। भोजन का अवशेष किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता। भोजन-पात्र कई लोगों के उपयोग में नहीं आते। मिट्टी या लकड़ी के बरतन एक बार उपयोग में लाये जाने पर फेंक दिये जाते हैं। धातुओं के बरतन माँजे जाते हैं। भोजन के पश्चात् लोग दातून करते हैं और पुनः अपनी शुद्धि करते हैं। आचमन करने के पहले वे किसी को छूते नहीं। ह्वेनसांग : वाटर्स, भाग १, पृ० १५२।

२. ऋग्वेद ६.३०.३।

३. शतपथ ब्राह्मण १०.२.२.७।

४. छान्दोग्य उप० ५.२.२ तथा बृहदारण्यक उप० ६.१.१४। प्रातःकालीन भोजन के चारों ओर जल छिड़क कर कहा जाता था—मैं सत्य को ऋत से नहला रहा हूँ। इसी प्रकार सायंकालीन भोजन के समय जल छिड़ककर कहा जाता था—ऋत को सत्य से नहला रहा हूँ। 'ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामि। सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामि। तै० ब्रा० २.१.११।

उपर्युक्त भोजन-विधि साधारण नागरिकों के लिये रही। उच्चकोटि के नागरिकों तथा समृद्धिशाली राजाओं की भोजन-विधि का असाधारण होना स्वाभाविक है। उनके भोजन के स्वर्ण-पात्र लाखों रुपयों के बने हो सकते थे। कुछ राजाओं का भोजन विधान देखने के लिये प्रजा उत्सुक रहती थी। लोगों की कल्पना थी कि इसे देखने से पुण्य मिलता है। एक राजा ने अपनी प्रजा की सुविधा के लिये राजद्वार पर रत्न-मण्डप बनवाया था। भोजन के समय इस मण्डप को अलंकृत करवाकर स्वर्णमय छत्र के नीचे राज-सिंहासन पर बैठकर क्षत्रिय-कन्याओं से घिर कर वह एक लाख की सोने की थाली में सात प्रकार का भोजन करता था।[1] उच्चवर्ग की भोजन-विधि का उल्लेख तत्कालीन महाकाव्यों में मिलता है।[2] महाकवि श्रीहर्ष ने राजकीय भोजन का वर्णन करते हुए सात रसों का उपसंहार किया है—

न षड्विधः षिङ्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भवः।
अपारशृंगारमयः समुन्मिषन् भृशं रसस्तोषमधत्त सप्तमः॥

(रसिक समाज की तृप्ति भोजन के छः रसों से उतनी नहीं हुई, जितनी तत्कालीन स्त्री-संघ के विलास से हुई। रमणी-वृन्द का शृंगारमय उच्च विलास भोजन का सातवाँ रस प्रस्तुत करता था।)

सहभोज

वैदिककालीन समाज में सहभोज की रूपरेखा का परिचय देवताओं के यज्ञों में एकत्र होकर हवि ग्रहण करने की रीति से लगता है। देवताओं का आवाहन करने के लिये अग्नि दूत का काम करता है। संभवतः इसी विधि से तत्कालीन समाज में सहभोज चलता होगा। दूत सभी अभीष्ट व्यक्तियों को नियत समय पर आने के लिये कहता होगा और सभी लोग अपने-अपने आसनों पर बैठकर यथाभाग भोजन करते होंगे। वैदिक कल्पना के अनुसार सहभोजन एवं सहपान से मैत्री-भाव की प्रतिष्ठा होती है।[3]

धनी लोगों और राजाओं के यहाँ तो नित्य ही ब्राह्मणों का सहभोज होता

---

१. कूत जातक २६०।
२. उदाहरण के लिए देखिए नैषधीयचरित १६.६८-१०८।
३. अथर्व वेद ३.३०.१६।

रहता था।[1] सहभोज के अवसर प्रायः आया करते थे। आचार्यों के आश्रम में, राजाओं की सेना में तथा तीर्थों में प्रायः सहभोज होते थे। इनके अतिरिक्त धार्मिक कृत्यों और उत्सवों में सहभोज होता था। ऐसे अवसर श्राद्ध, विवाह, यज्ञ आदि के समय उपस्थित होते थे। इन सभी प्रकार के सहभोजों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये अनुशासन की आवश्यकता होती थी। साथ ही कुछ सहभोजों के लिये नियम बने हुए थे कि किस योग्यता के लोग उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। सहभोज के लिये खाने वालों की पंक्तियाँ बैठती थीं। किसी पंक्ति में सर्वप्रथम आसन सर्वोच्च व्यक्तियों को दिया जाता था। जब तक कोई विशेष रूप से आग्रह नहीं करता था, पहले आसन पर कोई नहीं बैठता था। पहले आसन पर बैठने वाला व्यक्ति सबके भोजन आरम्भ कर लेने पर स्वयं खाना आरम्भ करता था।[2] नियम था कि जब सभी लोग भोजन कर लें, तब साथ उठें। यदि कोई व्यक्ति अन्य लोगों के खाते हुए ही आचमन कर लेता था या उठ जाता था तो अन्य लोग भी भोजन करना बन्द कर देते थे। 'पंक्ति में कोई योग्य व्यक्ति अयोग्य लोगों के साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकता था।[3] इस दृष्टि से पंक्ति-पावन और पंक्तिदूषक लोगों की पहचान के लिये नियम बनाये गये थे।[4] प्रायः आदर्श-चरित के महानुभावों को पंक्ति-पावन की सूची में रखा गया और कुकर्मी तथा पूर्व जन्म के पाप के कारण इस जन्म में घृणास्पद फल भोगने वालों को पंक्ति-दूषक कहा गया है।'[5]

महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर ब्राह्मणों का जो सहभोज होता था, उसमें 'दीयतां दीयताम् भुज्यतां भुज्यताम्' का कोलाहल सुनाई पड़ता था। इस कोलाहल से इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि ऐसे अवसरों पर खाने

---

१. महाभारत वनपर्व २२२.४० के अनुसार युधिष्ठिर के घर में नित्य ८००० ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता था।

२. शंख की उक्ति अपरार्क के द्वारा पृ० १५० पर उद्धृत।

३. आ० ध० सू० १.५.१७.२।

४. जो लोग किसी पंक्ति में बैठते ही सारी पंक्ति को पवित्र कर देते हैं, वे पंक्तिपावन हैं। उनके विपरीत वे पंक्तिदूषक हैं, जो सारी मण्डली को दूषित कर देते हैं। मनुस्मृति ३.१८३।

५. आ० ध० सू० २.७.१७.२१, मनुस्मृति ३.१८४–१८६, मनु० ३.१८३ के अनुसार पंक्तिपावन के बैठने से पंक्तिदूषकों वाली पंक्ति पवित्र हो जाती है।

वाले और खिलाने वाले प्रसन्न मन से सहभोज का आनन्द लेते थे।[1] पतंजलि के अनुसार पंक्ति के लोगों का एक साथ भोजन करना समाश है।[2]

बौद्ध संघ में आदर्श भोजन-विधि विकसित की गई थी। तदनुसार सभी वस्तुओं की आनुपातिक मात्रा का ध्यान रखते हुए सावधानी से भोजन करना चाहिये, किसी आग्रह से नहीं। किसी भोजन को छिपाकर नहीं रखना चाहिये और न अपने लिये कोई विशेष वस्तु मांगना चाहिये। दूसरों के पात्रों की ओर सतृष्ण नेत्रों से नहीं देखना चाहिये। छोटे-छोटे ग्रास बनाकर भोजन करना चाहिये। जब ग्रास मुंह के पास आ जाय, तभी मुंह खोलना चाहिये। मुंह में ग्रास डालते समय हाथ को मुंह में नहीं डाल देना चाहिये। मुंह में ग्रास रखकर बात करने, मुंह में ग्रास फेंकने, ग्रास को थोड़ा-थोड़ा करके खाने, हाथ हिलाने, जीभ निकालने, खाते हुए सी-सी करने, अंगुली चाटने, पात्र चाटने, हाथ चाटने आदि पर रोक लगाई गई थी। पानी के पात्रों को जूठे हाथों से नहीं छुआ जा सकता था। जब तक सभी भिक्षु नहीं खा लेते थे, जेठा भिक्षु आचमन के लिये जल नहीं लेता था। बरतन धोने का जूठा पानी भोजन में नहीं फेंका जाता था। लौटती बार छोटे भिक्षु आगे और बड़े पीछे चलते थे।[3]

बौद्ध भिक्षुओं के सहभोज का वर्णन इत्सिंग ने किया है—वे हाथ-पाँव धोकर चौकियों पर अलग-अलग बैठते थे। चौकी एक वर्गफुट लम्बी-चौड़ी होती थी और इसकी ऊंचाई ७ इंच होती थी। और एक-एक हाथ की दूरी पर रखी जाती थीं। छोटे भिक्षुओं के लिये पटरियाँ बैठने के काम में आती थीं। चौकी पर बैठ कर पाँव भूमि पर रखा जाता था। सर्वप्रथम सबके सामने भोजन के पात्र रख दिये जाते थे और उनको वहाँ भी धोया जाता था। भोजन सबको समान रूप से परोसा जाता था। भोजन परोसने वाला अतिथियों के सामने खड़े होकर आदरपूर्वक उनको प्रणाम करता था और हाथ में भोजन-पात्र, मीठी रोटियाँ और फल लेकर लगभग ९ इंच की ऊँचाई से परोसता था। भोजन के पश्चात् अतिथिपति अतिथियों को दातुनें और शुद्ध जल देता था। अन्त में प्रत्येक अतिथि एक-एक उपदेशात्मक गाथा पढ़ता था।

राजाओं के सहभोज के लिए 'भोजन-भूमि' होती थी। भोजन-भूमि की सजावट नाट्यशाला की भाँति होती थी। इसमें वस्त्र फैलाये गये होते थे। तिरस्करिणी

---

१. सभापर्व ३०.५०।

२. महाभाष्य १.१.७२।

३. चुल्लवग्ग ८.४ से।

लगाते थे और असंख्य पात्र रखे जाते थे।[1] भोजन-भूमि को गाय के गोबर से लीपकर उस पर हरे पत्ते बिछा दिये जाते थे, फिर बैठने के लिए चौकियाँ रखी जाती थीं।

बरातों में जो सहभोज होते थे, उनमें मनोरंजन का पुट अधिक होता था। राजाओं की बरातों में परिहास के लिए सुन्दर नवयुवतियों को भी नियुक्त किया जाता था। स्वाभाविक ही था कि यह परिहास शृंगारात्मक वार्तालाप और छेड़-छाड़ से समन्वित होता था। अपने करतबों के द्वारा बरातियों से उलटे-पुलटे काम कराकर उन्हें मूर्ख बनाया जाता था। उनकी मूढ़ता सबकी हँसी का कारण बन जाती थी। कुछ स्त्रियाँ भोजन करने वालों के ऊपर पंखों से हवा करती थीं।[2]

धूम्रपान

भोजन के पश्चात् उच्चवर्ग के लोग धूम्रपान करते थे और ताम्बूल खाते थे। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि भारत में धूम्रपान का प्रचलन सर्वप्रथम कब आरम्भ हुआ, पर ईसवी शती के आरम्भिक युग से ही धूम्रपान का उल्लेख भारतीय साहित्य में प्रायः मिलता है।

साधारणतः धूम्रपान मुख से किया जाता था। मुख से धूम खींच कर मुख से ही उसे बाहर निकालने की विधि थी। सिर, नाक या आँख के कुछ रोगों को दूर करने के लिए नाक से धूम्रपान किया जाता था और मुख से धूम को बाहर निकाला जाता था। मुख से धूम्र पीकर उसे नाक से बाहर निकालने की रीति हानिकर मानी गई थी। धूम्रपान में सब मिलाकर नव फूंक तीन बार में थोड़ी-थोड़ी देर ठहर कर लिए जाते थे। एक बार में तीन कस लिए जा सकते थे।[3]

ताम्बूल

भोजन के पश्चात् धूम्रवर्तिका पी कर कुल्ला करके पान खाने की रीति थी। आयुर्वेद की दृष्टि से मुख को शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए जायफल, कस्तूरी,

---

१. कथासरित्सागर १५.२.१३२।

२. नैषधीय चरित १६.४८–१०८। भारतीय संस्कृति की इस अन्तिम झलक में विलासिता की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है।

३. धूम्रपान सम्बन्धी विवरण के लिए देखिए चरकसंहिता ५.१७–५२। सुश्रुत और वाग्भट संहिताओं में धूम्रपान का वर्णन मिलता है।

सुपारी, लवंग, शीतल चीनी, पान का पत्ता, कपूर और छोटी इलाइची उपयोगी हैं—इनसे मुख की शुद्धि और सुगन्धि के साथ ही कान्ति और सौन्दर्य का संवर्धन होता है, जबड़े पुष्ट हो जाते हैं और दांत, स्वर तथा जीभ की भी शुद्धि होती है। पान खाने वाले के मुंह से लार नहीं टपकती, उसका हृदय प्रसन्न रहता है एवं गले के रोग दूर हो जाते हैं। पान खाने के लिए समय नियत किया गया था—जागने के समय, भोजन कर लेने पर, स्नान के पश्चात् और वमन करने के अनन्तर। रक्त और पित्त के विकार वाले, क्षत-क्षीण, प्यासे, मूर्च्छा-युक्त, रूखे, दुर्बल और सूखे मुखवाले व्यक्तियों के लिए पान का सेवन निषिद्ध था।[१]

पान की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा राजसभाओं में हुई। राजकुमारों को पान अर्पित करने के लिए ताम्बूल-करंक-वाहिनी नियुक्त होती थी। यह पद उच्च कुल की कन्याओं को दिया जाता था। पान का वीटक (बीड़ा) रखने के लिए जो पेटिका बनाई जाती थी, उसका नाम करंक था। करंक सोने-चाँदी के बनाये जाते थे और इसमें मणि भी जड़ी जाती थी। पान खाकर थूकने के लिए मणि-जटित-पतद्‌ग्रह (पीकदान) होता था[२]। बरातों में परिहास के लिए पान के बीड़े में अनेक प्रकार की अनजानी या भयोत्पादक वस्तुओं को रखकर खाने वालों को विस्मित किया जाता था।[३]

पान

जीवन के लिए भोजन की भाँति पेय भी आवश्यक है। पेयों में सर्वप्रथम स्थान जल का है।[४] सृष्टि के आदि काल से प्रायः सभी जीवधारियों के लिए जल पीने की आवश्यकता रही है। अन्य पेयों में दूध, मधु, फलों और पौधों का रस साधारणतः सदा ही प्रचलित रहा है और ये प्रायः सभी वर्ग के लोगों को मिल

---

१. सुश्रुत २४.१९–२०।

२. नैषधीयचरित १६.२७।

३. नैषधीयचरित १६.१०९ के अनुसार नल के विवाह के अवसर पर बरातियों को बीड़े में रसायनों का बना हुआ बिच्छू रख दिया गया था। उसको खाते ही डर कर बरातियों ने थूक दिया। सभी हँसने लगे।

४. जीवन-संरक्षण की दिशा में जल की इसी महिमा को दृष्टि-पथ में रखते हुए संभवतः उसका एक पर्याय जीवन माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद ६.७.१ में आपोमयः प्राणः में इसी तत्त्व की पुष्टि की गई है।

सकते थे। इनके अतिरिक्त सोम, मदिरा आदि असाधारण पेय कहे जा सकते हैं। इनका प्रचार कुछ विशेष युगों और वर्गों में ही हो सकता था।

जल

जल को सुगन्धित करके पीने का प्रचलन रहा है। नागकेसर, चम्पक, कमल, पाटल आदि के पुष्पों से जल को सुगन्धित करके सोने, चाँदी, ताँबे, मणिमय या मृण्मय पात्रों में पीने का विधान था।[1] जल को ठण्डा करने के लिये प्रवातस्थापन (वायु में रख देना), उदक-प्रक्षेपण (दो पात्रों में फेर-फार करना), यष्टिका-भ्रामण (लकड़ी से मथना), व्यंजन (पंखे से वायु देना), वस्त्रोद्धरण (भीगे कपड़े में लपेटना), बालुका-प्रक्षेपण (बालू में गाड़ देना), शिक्यावलम्बन (छींके पर रखना) आदि विधियाँ थीं।[2]

दुग्ध

जल के पश्चात् दूध लोकप्रियता की दृष्टि से श्रेष्ठ पेय है। सिन्धु-सभ्यता के युग में दूध देने वाले पशु अधिक संख्या में पाले जाते थे। प्रायः सदा ही राजा से लेकर शूद्र तक सभी वर्गों के लोग दूध देने वाले पशु—विशेषतः गायें रखते आये हैं। राजाओं और ऋषियों के पास तो इनकी संख्या कभी सहस्रों और लाखों तक जा पहुँचती थी। वैदिक ऋषियों ने प्रिय पेय के रूप में दूध की अतिशय प्रशंसा की है।[3] उन्होंने समझ लिया था कि दूध से प्राणियों की रक्षा होती है। वही उनका जीवन है।[4] दूध प्राण है।[5] धारोष्ण दूध पिया जाता था। कभी-कभी पीने के पहिले उसे उबालने की रीति भी थी।[6] दूध को मीठा बनाने के लिये उसमें मधु

---

१. सुश्रुत सूत्रस्थान ४५.१५।

२. सुश्रुत ४५.२१। शतपथब्राह्मण के अनुसार पानी को ठण्डा करने के लिए निनाह्य में रखते थे। यह सम्भवतः भूमि में गड़ा बरतन या कुण्ड था। शतपथ ३.९.२.८।

३. प्रियं दुग्धं न काम्यम्। ऋग्वेद ५.१९.४। अमृतं क्षीर-भोजनम्। पंचतंत्र १.१३९।

४. शतपथ २.५.१.१५, चरक-संहिता २५.३९ के अनुसार जीवन प्रदान करने वाली वस्तुओं में दूध सर्वोत्तम है।

५. शतपथ ब्रा० ९.२.३.३१।

६. अथर्ववेद ७.७३.१।

और शक्कर आदि वस्तुयें मिलाई जाती थीं। दूध में घी मिलाकर पीने की भी विधि थी।[1]

सोम

सोम आर्य जाति का प्राचीन पेय रहा है। वह पेय सोमयज्ञ में प्रायः देवताओं को समर्पित करके पिया जाता था। इसको बनाने में सर्वप्रथम आवश्यकता सोम नामक लता की पड़ती थी।[2] इस पौधे की टहनियाँ अरुण या हरी होती थीं।[3] इसकी टहनी का नाम अंशु[4] और पूरे पौधे का नाम अन्धस् था।[5] पौधे में पर्वन् होते थे।[6] यह लता पर्वतों पर उत्पन्न होती थी। मूजवन्त पर्वत सोम के लिए प्रसिद्ध रहा है।[7] पर्वतीय लोग इसको बेचने के लिए आर्यों के पास लाते थे।

सोम-वल्ली को कूटने के लिए ऊखल और मूसल अथवा पीसने के लिये लोढे सिलबट्टे या लकड़ी की पटरी का उपयोग होता था। कूटने के पत्थर का नाम ग्रावा या अद्रि था। कूटते समय घम-घम की ध्वनि होती थी। कूट लेने के पश्चात् लकड़ी के पात्र में पवित्र (ऊन) से रस को अंगुलियों से निचोड़ कर छाना जाता था। अधिक रस निकालने के लिए सोमवल्ली को कुछ समय के लिये पानी में डुबो दिया जाता था। इस प्रक्रिया का नाम आप्यायन था।[8]

सोमरस हरि, बभ्रु (भूरा) या अरुण लाल होता था।[9] इसमें दूध, दही, यव (सत्तू) आदि मिलाये जाते थे। इसी मिश्रण की प्रधानता के कारण इसे त्र्याशिर भी कहा जाता था।[10] इसकी गन्ध मनोरम होती थी।[11] वैदिक ऋषियों ने

---

१. तित्थ जातक।

२. आजकल सोम लता को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में जो अनुसन्धान है, उसमें एकमत नहीं हो सका है।

३. ऋग्वेद १०.९४.३; ९.९२.१।

४. ऋग्वेद १.१६८.३; ३.४८.२।

५. वही १.२८.७; ३.४८.१; ४.१६.१।

६. ऋग्वेद १.९.१।

७. ऋग्वेद १.९३.६; ३.४८.२; ५.३६.२।

८. ऋग्वेद १.८३.६; १.१३०.२; ९.७४.९; १.२८.१–९।

९. ऋग्वेद ९.३३.२; ९.३.९; ९.४०.२।

१०. ऋग्वेद ५.२६.५।

११. वही ९.९७.१९।

इसके रूप, श्री, रस, प्रयस् (स्वाद), नभस् (सुवास) की प्रशंसा की है।[1] इसके स्वाद में मिठास की प्रधानता होती थी।[2] यह मन से पाप को दूर करता है, असत्य का नाश करके सत्य का संवर्धन करता है।[3] ऋग्वेद के अनुसार सोम स्वास्थ्य-वर्धक पेय था। यह सभी रोगों को दूर करने में समर्थ था। इसके पीने से वक्तृताशक्ति बढ़ती थी। अमरत्व या कम से कम दीर्घ जीवन प्राप्त होता था।[4] वैदिक युग के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् और विद्वान् मनीषी सोमपान करते थे। सोम का तात्कालिक प्रभाव यही पड़ता था कि उससे सद्विचारों का उत्थान होता था। सोमपान करने से धन अर्जन करने की योग्यता भी बढ़ती थी और आध्यात्मिक प्रकाश प्रकट होता था। सोम पीने वाले यशस्वी होते थे। पीने वाले को सोम उद्दीपित कर देता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सोमपान से मद भी होता था। इस मद में लोग अपनी दरिद्रता को भूलकर अपने को धनी समझते थे। सोम शरीर की रक्षा करता था। तत्कालीन ऋषियों की धारणा थी कि सोम का प्रभाव शरीर के विभिन्न अंगों पर पड़ता है और वह मानव का कल्याण करता है। सोम से जो मद होता था, वह कर्त्तव्य पथ से च्युत नहीं करता था, अपितु उसे पी लेने पर मानव में अभिनव चेतना का स्फुरण होता था और वह धार्मिक कृत्यों में अतिशय अभिरुचि के साथ तल्लीन हो जाता था।[5] हाँ, अधिक सोम पीने से विषूचिका रोग की संभावना अवश्य थी।[6] सोम दिन में प्रायः तीन बार प्रातः, दोपहर और संध्या के समय नबा कर विभिन्न देवताओं को समर्पित करके पिया जाता था।

सोम और सुरा में अन्तर था। इस अन्तर का विशद विवेचन वैदिक साहित्य में इन शब्दों में मिलता है—सोम सत्य, अभ्युदय और प्रकाश है तथा सुरा असत्य, पतन और अन्धकार है।[7] सत् और असत् में से सोम सत् की प्रतिष्ठा करता है और

---

१. अथर्ववेद ९.२५.४; ऋग्वेद ४.४१.८; ३.४८.१; ३.३०.१; ९.८३.५।

२. ऋग्वेद १.४७.१ के अनुसार सोम मधुमत्तम है। शतपथ ब्रा० १२.८.२.१५ के अनुसार सोम मधु के समान है।

३. Vedic Mythology, पृ० १०९।

४. ऋग्वेद १०.७१.१०।

५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए ऋग्वेद ८.४८।

६. वाजसनेयिसंहिता १९.१०, मैत्रायणी संहिता ३.११.७, काठक संहिता ३७.१८।

७. शतपथ ब्रा० ५.१.५.२८।

असत् को गिरा देता है।[1] चेतना का संवर्धन करने वाला सोम सुरा कैसे हो सकता था?[2]

धीरे-धीरे वैदिक काल में ही आर्यों को सोम दुर्लभ सा होता गया, जब वे पर्वतीय प्रदेश से दक्षिण की ओर बढ़ते गये। ऐसी परिस्थिति में सोम के स्थान पर कुछ अन्य लतायें चुनी गईं, पर उनमें सोम की उत्कृष्टता का अभाव सा ही रहा।[3] वैदिक काल में ही सोम का पेय रूप में प्रचार मिटने सा लगा। वैदिक काल के पश्चात् सोमपान का उल्लेख साहित्य में मिलता अवश्य है, पर समकालीन पेय के रूप में नहीं, अपितु प्राचीन पेय के रूप में।[4]

परवर्त्ती आयुर्वेद के ग्रन्थों में सोम के रस को औषधि रूप में ग्रहण करने का विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन-शक्ति को संवर्धन करने वाली २४ लताओं को सोम नाम दे दिया गया। इन सभी का उपयोग कायाकल्प करने में हो सकता था।[5]

सुरा

वैदिक युग में आरम्भिक काल से लोग सुरा के गुणों और अवगुणों से परिचित थे। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर सुरा की प्रशंसा मिलती है, पर अन्यत्र इसकी भरपूर निन्दा की गई है। मांस और जुआ के समकक्ष ही इसे बुरा माना गया है।[6] यह साधारण नागरिकों का पेय था।[7] मनोरंजन के लिये जो सभायें जुटती थीं, उनमें सुरापान करने वाले लोग लड़-झगड़ पड़ते थे।[8] अधिक

---

१. ऋग्वेद ७.१०४.१२।

२. ऋग्वेद १.५.७।

३. शतपथ ब्रा० ४.५.१०.४; १४.१.२.१२ तथा काठक संहिता २४.३ ऐतरेय ब्राह्मण ७.३४।

४. देखिए कादम्बरी के आरम्भिक श्लोकों में ११ वाँ।

५. सुश्रुतसंहिता चिकित्सित-स्थान अध्याय २९ में सोम का विस्तृत विवरण देखिए।

६. अथर्ववेद ६.७०.१, ऋग्वेद ७.८६.६; अथर्ववेद १४.१.३५–३६; १५.९.१–२।

७. तैत्तिरीय संहिता १.३.३.२।

८. ऋग्वेद ८.२.१२; ८.२१.१४; काठक संहिता १४.६; शतपथ १.६.३.४, मैत्रायणी संहिता २.४.२।

सुरापान करने वाले लोग सुराम रोग से पीड़ित होते थे।[1] सुरापान से पाप की ओर प्रवृत्ति होती थी।[2]

परवर्ती साहित्य में बहुविध सुराओं के भेद-प्रभेद मिलते हैं।[3] साधारणतः सभी ऐसे लोग सुरापान करते थे, जिनको आध्यात्मिक अभ्युदय के प्रति विशेष अभिरुचि नहीं होती थी। रामायण युग में आर्य और अनार्य सभी वर्गों के लोगों के सुरा पीने के उल्लेख मिलते हैं।[4] अनेक प्रकार के फल-फूल, अन्न, रसायन, पत्ते, बीज, गुड़, छाल, गन्ध आदि से बहुविध सुराओं के बनाने का विवरण अर्थशास्त्र के सुराध्याय में है। चरक की दृष्टि में सुरापान संयम के साथ करना चाहिये। अधिक पीने से बुद्धि, धैर्य तथा स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती हैं।[5] सुश्रुत ने अनेक प्रकार की मदिराओं का गुण-दोष विवेचन करने के पश्चात् अन्त में निर्णय किया है कि वही मदिरा पीना चाहिए, जो सुगन्धित, पुरानी और सरस हो, जिससे मन उद्दीपित हो जाय, कफ और वात के विकार दूर हो जायं तथा जिससे सुरुचि और प्रसन्नता उत्पन्न हो। सुश्रुत की दृष्टि में जिस प्रकृति का जो व्यक्ति होता है, उसी के अनुरूप मद उसमें उत्पन्न होता है। सात्त्विक वृत्ति के मनुष्य में मदिरा पीने से पवित्रता, उदारता, हर्ष, गीत, अध्ययन, सौभाग्य और उत्साह की प्रवृत्ति होती है, पर नीच लोगों में मदिरा के कारण अपवित्रता, निद्रा, असत्य आदि का प्रादुर्भाव होता है।[6]

रामायण में सुरा को ऊँची प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इसका प्रमाण समुद्र-मन्थन प्रकरण में मिलता है, जिसके अनुसार वरुण की पुत्री वारुणी (सुरा) को अदिति के पुत्र आदित्यों (देवताओं) ने अपनाया था। कवि ने इस प्रकरण में सुरा के लिये अनिन्दित विशेषण का प्रयोग किया है।[7]

---

१. ऋग्वेद १०.१३१.५।

२. ऋग्वेद ७.८६.६।

३. मैरेय, आसव, शर्करासव, माध्वीका, पुष्पासव तथा फलासव रामा० ५.११.५–३६। सुरा, वारुणी, सौवीरक आदि सुरा के भेदों के लिए देखिए रामायण १.५३.२; २.९१.१५; ६.१२.४०; ३.४८.४५।

४. रामायण ४.३०.७९; ४.३३.७; ४.३७.७ के अनुसार वानर तथा ५.५.१७; ५.१०.३५; ५.१७.१६; ६.१२.४० के अनुसार राक्षस सुरापान करते थे।

५. चरक सूत्रस्थान २७.३१५।

६. सुश्रुतसंहिता मद्यवर्ग ४५.३२.३६–३८।

७. रामायण बालकाण्ड ४५.३६–३८ में वाल्मीकि ने सुरा ग्रहण करने के

परवर्ती साहित्य में उच्चवर्ग के नागरिकों में सुरापान का प्रायः सदा ही प्रचलन रहा। ह्वेनसांग ने लिखा है कि अंगूर और ईख की मदिरा क्षत्रिय पीते थे, वैश्य चुआई हुई सुरा पीते थे, बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण गन्ने और अंगूर का रस पीते थे।[१] तत्कालीन काव्यों में नागरिकों के मद्यपान के उल्लेख मिलते हैं।[२] भोग-विलासी प्रकृति के नागरिकों की दृष्टि में सुरा का ऊंचा स्थान था।

पानभूमि

समृद्धिशाली लोग अपने सहचरों के साथ पान-भूमि या आपानक में एकत्र होकर विविध प्रकार के मनोरंजन करते हुए सुरापान करते थे। पान-भूमि सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाई जाती थी।[३] इसमें पान के अतिरिक्त अनेक प्रकार की स्वादिष्ट वस्तुएँ मिठाइयाँ, फल, लेह्य, भक्ष्य और मांस खाने के लिए रखी जाती थीं। किसी-किसी पान-भूमि में स्वर्णमय आसन होते थे, पीने के लिए बहुमूल्य पात्र और स्वर्ण-रजत के सुराघट होते थे।[४] राजाओं की पानभूमि में नृत्य, संगीत और वाद्य से मनोरंजन करने के लिए स्त्रियाँ नियुक्त होती थीं। पान के पश्चात् वहीं सो जाने के लिए भी प्रबन्ध होता था। सोने की थालियों में भोजन करने का भी प्रबन्ध था। धरातल पर पुष्प बिखरे होते थे। अनेक प्रकार की सुरायें रखी होती थीं जो वासचूर्ण से सुगन्धित होती थीं। सुरा पीने के पात्र स्फटिक पत्थर के बने होते थे।[५]

कारण आदित्यों को सुर और न ग्रहण करने के कारण दैत्यों को असुर बतलाया है। यह कल्पना निराधार प्रतीत होती है, क्योंकि अनेक देवताओं के लिए ऋग्वेद में असुर विशेषण मिलता है, जिनमें से इन्द्र, वरुण आदि प्रमुख हैं।

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १७८।

२. रघुवंश ४.४२, कुमारसंभव ६.४२; शिशुपालवध १०.१–३१। कर्पूरमंजरी ४.४ के अनुसार ग्रीष्म में शीतल सुरा पी जाती थी। कथासरित्सागर ४.१.६–१०, नैषधीयचरित १६.९८ आदि।

३. रामायण २.११४.१५। पान-भूमि गन्ध, माला, जल आदि वस्तुओं से प्रत्येक ऋतु में मनोरम बनाई जाती थी। राजा की ओर से गुप्तचर नियुक्त होते थे, जो अपने देश और बाहर के आए हुए पुरुषों के द्वारा पी हुई सुरा का निरीक्षण करते थे। विदेशी लोगों पर गुप्तचरों की आँख रहती थी। गुप्तचर देखते थे कि सुरापान करने के कारण प्रमत्त लोगों के अलंकार, वस्त्र या धन को कोई चुरा न ले। अर्थशास्त्र सुराध्यक्ष प्रकरण।

४. रामायण ६.१.२२–२४। ५. रामायण ५.११.४–२८।

उत्सवों के अवसर पर पान-भूमि विशेष रूप से सजाई जाती थी। विविध रत्नों से जटित चषक कमल के विकसित पुष्प की भाँति दिखाई पड़ते थे। पान-भूमि में रंग-विरंग के फूल बिखेरे जाते थे। अनेक युवतियाँ मदिरा भरे कलश ली हुई खड़ी रहती थीं। स्त्री और पुरुष सभी एक साथ ही सामूहिक मदपान करते थे।[1] राजाओं के लिए विशेष प्रकार की मधुशालायें बनाई जाती थीं।[2]

प्रयाण करते समय सैनिक जहाँ बैठ गये, वहीं पान-भूमि हो जाती थी। फिर भी पान-भूमि नाम देने के लिए कुछ न कुछ आयोजन होता ही था। यदि कुछ न मिला तो पान के पत्ते ही बिछा लिये जाते थे।[3] समापानक में मिल-जुल कर सुरा पी जाती थी। नायिका के साथ नित्य पीना सरक था।[4]

सुरा-त्याग

सुरा को वैदिक काल से ही ऋषियों ने कभी आदर का स्थान नहीं दिया, क्योंकि इसके पीने से मानव की असत्प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है।[5] उपनिषद् युग में किसी राजा के लिए गौरव की बात थी कि उसके राज्य में एक भी सुरापायी न था।[6] सुरापान पाँच महापातकों में गिना गया है।[7] मनु ने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य किसी के लिए भी सुरापान उचित नहीं माना।

महाभारत और रामायण के अनुसार सुरा का सिद्धान्त रूप में निषेध किया गया, यद्यपि स्थान-स्थान पर सुरा पीने वालों का उल्लेख मिलता है। मधु, मांस और मद्य का परित्याग करने वाला सभी कठिनाइयों को पार कर जाता है।[8] यदि

---

१. कथासरित्सागर १५.२.१२४–१२६।

२. वही ४.१.६–१०।

३. रघुवंश ४.४२।

४. कामशास्त्र १.४.३७।

५. ऋग्वेद ७.८६.६ के अनुसार सुरा के कारण लोग पाप करते हैं। शतपथ ब्रा० ५.१.५.२८ के अनुसार सुरा असत्, अन्धकार और कार्पण्य है। काठक संहिता ११.१२ के अनुसार प्रमाद पाप है, जो सुरापान के कारण होता है। इसे पीने से कुटुम्ब के लोगों में आपस में झगड़ा होता है।

६. छान्दोग्य ५.११.५।

७. छान्दोग्य ५.१०.९; आ० ध० सू० १.७.२१.८; मनु ११.९४, वसिष्ठ धर्म० सू० १.२०; विष्णु ध० सूत्र ३५.१।

८. शान्ति १११.२९।

औषधि रूप में अथवा भूल से भी मद्य पी लिया तो पुनः उपनयन करना पड़ता था।[१] रामायण के अनुसार धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिए सुरापान हानिकर है। सुरापान करने से धर्म, अर्थ और काम सभी नष्ट हो जाते हैं।[२] जो ब्राह्मण सुरापायी होते थे, उन्हें सड़कों पर लोग धिक्कारते चलते थे।[३]

भारतीय कथा-साहित्य में सुरापान करने वालों के पापों और दुर्गति का वर्णन मिलता है। बनारस का राजा मद्य पीकर प्रतिदिन मांस खाया करता था। संयोगवश एक दिन मांस नहीं मिला। सुरापान से प्रमत्त होने के कारण उसने अपनी गोद में खेलते हुए पुत्र की गर्दन मरोड़ दी और उसी का पका मांस खाया।[४] किसी सेठ का पुत्र पीकर नृत्य, गीत आदि में मस्त होकर शीघ्र ही ४० करोड़ की सम्पत्ति का उपभोग करके चीथड़ा पहनने लगा। उसने सभी इच्छायें पूरी करने वाला घड़ा भी प्रमाद वश तोड़ दिया।[५] इन्द्र ने स्वयं आकाश में प्रकट होकर श्रावस्ती के सुरापायी राजा के समक्ष सुरापान के दोषों का सांगोपांग वर्णन किया।[६] मद्य पीने वाली स्त्री ने मद्य खरीदने के लिए किसी बालक के आभूषण लेने की इच्छा से उसे मार कर जमीन में गाड़ दिया।[७]

अन्य पेय

उपर्युक्त पेय साधारणतः बहुप्रचलित थे। इनके अतिरिक्त समय-समय पर अन्य पेयों का प्रचलन रहा है। वैदिक काल से कीलाल नामक मादक पेय का उल्लेख मिलता है। उस समय दूध और मठे को मिलाकर पयस्या नामक पेय बनाया जाता था।[८] सुदूर प्राचीन काल से मधु (शहद) भारतवासियों का प्रिय पेय रहा है।[९] वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वास्थ्य-संवर्धक पेय माना गया और संभवतः अतिथियों को सर्वप्रथम यह अर्पित किया जाता था। आगे चल कर जैन और बौद्ध

---

१. शान्तिपर्व ३५.२०।

२. रामायण किष्किन्धाकाण्ड ४.३३.४६।

३ अयोध्याकाण्ड १२.७९।

४. धम्मज जातक २२०।

५ भद्रघट जातक २९१।

६. कुम्भ जातक ५१२।

७ महापुराण ४६.२८२।

८. वैदिक इण्डेक्स तथा तैत्तिरीय संहिता २.३.१३.२।

९. मधुमाधवी का पान वन-विहार के समय होता था। आदि प० ७६.३।

संस्कृतियों में मधु को त्याज्य बतलाया गया। वैदिक संस्कृति में इसके सम्बन्ध में द्विविध मत मिलते हैं। कुछ आचार्यों का निश्चित मत रहा है कि मधु का परित्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। संभवतः मधु निकालने में असंख्य मक्खियों की हत्या होती थी और इसी विचार से इसके परित्याग का विधान बनाया गया।

परवर्ती काल में अनेक प्रकार के पेय रसों का उल्लेख मिलता है। शक्कर को घोलकर रस बनाया जाता था। साथ ही ईख को पेर कर उससे रस निकाला जाता था।[1] गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को आठ प्रकार के रस पीने की अनुमति दी है—आम, जामुन, केला, मधु, अंगूर, कमलिनी की जड़, परूस तथा मोच के रस। गौतम के अनुसार सभी फलों के रस पिये जा सकते थे, पर अन्न से बनाये रस पेय नहीं थे। पत्तियों का रस भी पेय था, पर डाक की पत्ती का रस गौतम ने अपेय बताया है। सभी पुष्पों के रस पिये जा सकते थे पर महुये के फूल का रस त्याज्य बताया गया।[2] नारियल का पानी समुद्रतट वासियों का प्रिय पेय रहा है।

चाय का प्रचलन भारत में कम से कम सातवीं शती से माना जा सकता है। इसका उल्लेख इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा-वर्णन में किया है।[3]

परवर्ती युग में नागरकों के उपभोग के लिए विविध प्रकार के पेय विभिन्न ऋतुओं की प्रकृति के अनुकूल निर्धारित किये गये। यथा—

सहकाररसार्चिता रसाला जलभक्तं फलपानकानि मन्थाः।
मृगलावरसाः सृतं च दुग्धं स्मरसंजीवनमौषधं निदाघे॥

भोजन और पानी के अतिरिक्त नित्य प्रयोग के लिए सूंघने की सामग्रियाँ भी होती थीं। इनका नाम घ्रेय था।[4]

काव्यमीमांसा १८ वें अध्याय से।

---

१. रामा० अयोध्याकाण्ड ९१.१५; ४६.२८२, महावग्ग ६.२७।
२. महावग्ग ६.३५.६।
३. तकाकुसु का अनुवाद पृ० ९० तथा १३५।
४. सभापर्व ५.५६।

अध्याय १९

सौन्दर्य-प्रसाधन

सामाजिक जीवन में शरीर को रमणीय बनाने की प्रक्रिया सदा से विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। इस उद्देश्य से शरीर की बाह्यतः स्वच्छता करना, उस पर लेप या चूर्ण लगाना, केश सँवारना, अलंकार धारण करना आदि सुसंस्कृत नागरिक के कार्य रहे हैं। सुदूर प्राचीन काल से भारत इस प्रवृत्ति में अग्रणी रहा है।[1] शरीर को सजाने की अभिरुचि स्त्रियों में वैदिक काल से रही है।

शरीर को स्वाभाविक रूप से सुन्दर बनाने के लिए व्यायाम की महती उपयोगिता है। प्राचीन युग में व्यायाम की पद्धतियों का विशेष प्रचलन था।

सौन्दर्य-साधन नित्य की प्रक्रिया थी और इसका आरम्भ प्रतिदिन उठने के साथ होता था। सर्वप्रथम काम था मुख-शुद्धि। यह दन्तधावन से आरम्भ होती थी। दाँतों को दृढ़ बनाने वाली दातुन का वैज्ञानिक दृष्टि से चुनाव किया गया था।[2] दातुन के अग्रभाग को तेल या मधु से भिगो कर सेंधा नमक, त्रिकटु, त्रिफला और तेजोवती के चूर्ण से दांत को स्वच्छ किया जाता था।[3]

---

१. सौन्दर्य-साधन की लोकप्रियता का एक प्रमाण नीचे लिखे श्लोकों से लग सकता है :—

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान्।
नामृष्टो न लिप्तांगो नासुगन्धश्च विद्यते॥
नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनंगदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्॥

ऐसे अयोध्या के नागरिक थे। बालकाण्ड ५.१०–११।

ऋग्वेद १.८५.१ में शरीर को अति सजाने वाले मरुतों की उपमा स्त्रियों से दी गई है।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए चरक सूत्रस्थान ५.७०–७१।

३. सुश्रुत चिकित्सितस्थान २४.६।

परवर्ती युग में उच्च वर्ग के लोगों के लिए विशेष प्रकार की दातुन बनाने का विधान मिलता है। गाय के मूत्र में हर्रे (हरीतकि) का चूर्ण मिलाया जाता था और उसमें एक सप्ताह दातुन रखी रहती थी। एक सप्ताह के पश्चात् इलायची दालचीनी, तेजपात, अंजन, मधु और मरिच से सुवासित जल में कुछ देर के लिए रखी जाती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार विधि-पूर्वक बनी दातुन का प्रयोग करने से शरीर का रंग सुन्दर हो जाता है, मुख की कान्ति बढ़ जाती है, मुख सुगन्धित हो जाता है और वाणी मधुर हो जाती है।[1]

केश-कर्तन

पुरुष के लिए दाढ़ी-मूंछ और केश पूर्ण रूप से मुण्डन करने या कतरवा देने या स्वतंत्र रूप से बढ़ने देने की छूट रही है। केश-विन्यास के सम्बन्ध में ये बातें उल्लेखनीय हैं—

१. स्त्रियाँ भी सिर के बाल कटा सकती थीं।

२. पुरुष की दाढ़ी-मूंछ और सिर के बाल स्वतन्त्र रूप से बढ़ सकते थे।

३. वे यदि चाहते तो यथेच्छ फैशन के अनुरूप इनकी काट-छाँट कर सकते थे।

४. यदि कोई पुरुष चाहता तो केश, दाढ़ी-मूंछ आदि सब को साथ कटा सकता था।

५. दाढ़ी अनेक रंगों में रँगी जाती थी।[2]

स्नान

स्नान के पहले अंगमर्दन की प्रक्रिया होती थी। व्यायाम के पश्चात् भी अंगमर्दन कराना आवश्यक था।[3] सिर में तेल लगाया जाता था। विभिन्न अंगों में विविध प्रकार के तेलों का संवाहन होता था। अंग-मर्दन के लिए तेल खाये हुए चर्म का आसन प्रयुक्त होता था। इसी पर नागरक बैठ जाता था। अंगमर्दन में हथेली और पैर के तलवों का प्रयोग होता था। अंगों को चटकाया जाता था, मोड़ा जाता था और मींजा जाता था। कुछ लोग इस काम में विशेष रूप से निष्णात होते थे, जो अंगमर्दन करते समय थकते नहीं थे। इस प्रकार हड्डी, चमड़ी, मांस

---

१. बृहत्संहिता ७७.३१–३४।

२. *Arrian :* Ancient India, P. 225.

३. पाद से मर्दन करना उत्सादन है। हाथ से केश का मर्दन अभ्यंग है। शेष अंगों का मर्दन संवाहन है।

तथा केश का विकास होता था और थकावट मिट जाती थी।[1] स्नान के पहले कभी-कभी उद्वर्तन (उबटन) लगाया जाता था।[2]

नागरिक स्नान के लिए नदियों या जलाशयों तक जा सकते थे, पर साधारण परिस्थितियों में उनका स्नान घर पर होता था।[3] सिन्धु-सभ्यता के युग से ही प्रायः सभी नागरिकों के घर में स्नानागार और कुयें रहे हैं। सार्वजनिक स्नान के लिए बड़े-बड़े जलाशय बनते आये हैं। नगरों की स्थिति प्रायः नदियों और झीलों के तट पर रही है।

स्नानागार

स्नानागार में सुगन्धित जल कलशों और द्रोणियों में भरा रखा रहता था। स्फटिक की बनी हुई चौकी वहाँ होती थी। पहले नागरक द्रोणी में उतर जाता था। वहाँ युवतियाँ सुगन्धित आमलक सिर पर लगाती थीं। अन्य युवतियाँ जल-कलश लेकर खड़ी रहती थीं। द्रोणी से निकलकर नागरक स्नान की चौकी पर आ बैठता था। युवतियाँ विविध प्रकार के जलों से क्रमशः स्नान कराना आरम्भ करती थीं। किसी जल में चन्दन का रस मिश्रित होता था और किसी में कुंकुम मिला रहता था।[4] शरीर का रंग अतिशय सुन्दर बनाने के लिए फेनक का उपयोग होता था।[5]

---

१. कल्पसूत्र के जिनचरित से।

२. सुश्रुत संहिता चिकित्सितस्थान २४.४९ के अनुसार उद्वर्तन से वायु और कफ दूर होता है, मेद की कमी होती है, अंग स्थिर होते हैं और त्वचा खिल उठती है।

३. नदियों के स्नान के लिए देखिए रघुवंश ६.५४–७२, किरातार्जुनीय ८.२७। झील के लिए शिशुपालवध ८.१४, २२। जलाशय के लिए सुदर्शनचरित ७.१६।

४. देखिए महासीलव जातक ५१; कादम्बरी, पृ० १५–१६।

५. फेनक वे द्रव्य हैं, जिनको पानी के साथ रगड़ने पर वैसे ही फेन उत्पन्न होता है, जैसे साबुन। फेनक लगाने की प्रक्रिया का नाम उत्सादन था। उत्सादन विशेषतः स्त्रियों के शरीर की कान्ति बढ़ाने के लिए होता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार फेनक के उपयोग से मानसिक उल्लास, सौभाग्य और स्फूर्ति आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है। सुश्रुत चिकित्सितस्थान २४.५०–५३। कामसूत्र के अनुसार प्रति तीसरे दिन फेनक का उपयोग होना चाहिए।

स्नानागार मनोरम होता था। इसमें बहुत सी खिड़कियाँ होती थीं। खिड़कियों में रत्न जड़े होते थे। इसका धरातल मणियों और मोतियों से जड़ा होता था। स्नान की विधि क्रीडामय होती थी।[1]

महाभारत में युधिष्ठिर के स्नान का वर्णन इस प्रकार मिलता है—राजा के स्नान-गृह में १०८ युवक स्वयं स्नान कर लेने के पश्चात् शुक्ल वस्त्र धारण करके उपस्थित थे। उनके पास स्वर्ण कलशों में जल रखा था। स्नान-गृह में भद्रासन पर राजा लघु वस्त्र धारण करके बैठ गया। अभिमन्त्रित जल से राजा को स्नान कराया गया। सुशिक्षित बलवान् लोगों ने कषाय से उत्सादन किया और सुगन्धित जल से उसे नहलाया। राजहंस के समान श्वेत उष्णीष उसे पहनाया गया और जल सुखाने के लिए केश को शिथिल बाँध दिया गया। चन्दन से उसके शरीर पर लेप किया गया।[2]

मोहेंजोदड़ों के प्रायः सभी घरों में कुयें बने थे। सार्वजनिक उपयोग के लिये घरों के बाहर कुयें थे। बड़े-बड़े घरों में एक या दो स्नानागार बने हुए मिलते हैं। किसी-किसी घर में ऊपरी छत पर भी स्नानागार मिलते हैं। इस नगर में विशेष अवसरों पर सार्वजनिक स्नान के लिए बड़े स्नानागार बने हुए थे। इनमें से एक ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा है। इसकी भित्तियाँ सुदृढ़ और मोटी हैं और भीतर जाने के लिए छः द्वार बने हैं। इसके चारों ओर कोठरियाँ और ओसारे बने हुए हैं। स्नानागारों से पानी बहाने के लिए मिट्टी के नल लगे हुए हैं। बड़े स्नानागार में भीतर जाने के लिए घाट बने हैं। इसमें पास के तीन कुओं से जल भरा जाता था। कूओं से स्नान करने की साधारणतः वही बिधि उस युग में थी, जो आजकल प्रचलित है, अर्थात् घड़े से पानी सिर पर उड़ेलना। शरीर का मैल छुड़ाने के लिए झाँवा जैसी किसी वस्तु का लोग प्रयोग करते थे। स्नानागारों में ऐसा झाँवा उत्खनन में मिला है।[3]

बौद्ध संस्कृति में जन्ताघर का स्नान सुप्रसिद्ध है। जन्ताघर विशेष प्रकार का स्नानागार था, जहाँ पर्याप्त मात्रा में आग जलाकर जल को उष्ण किया जाता था और साथ ही पूरे कमरे को उष्ण किया जाता था। जन्ताघर में इस कक्ष के अतिरिक्त तीन और कक्ष होते थे—ठंडा होने का कमरा, विशाल कक्ष और सामने का कक्ष।

---

१. कल्पसूत्र जिनचरित से।

२. द्रोणप० ५८.८–११।

३. सुश्रुत चिकित्सितस्थान २४.५४ के अनुसार ईंट से रगड़ने पर त्वचा की अग्नि उत्तेजित होती है और खाज तथा कोढ़ नष्ट होते हैं।

स्नानागार में चूर्ण, मिट्टी और स्नान करने के पात्र रखे होते थे। स्नानागार में प्रवेश करने पर सबसे पहले मुंह पर मिट्टी पोती जाती थी। फिर आसन पर बैठ कर संवाहन कराया जाता था। अन्त में पानी में प्रवेश करके स्नान किया जाता था।[१] जन्ताघर ऊँचे चबूतरों पर बनते थे। उन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं। जन्ताघर में धूम्रनेत्र (चिमनी), द्वार और एक ओर आग जलाने के स्थान होते थे। आग धधकती रहती थी। स्नानागार से पानी बहा ले जाने के लिए नाली बनी हुई थी। चारों ओर लकड़ी, ईंट या पत्थर की भित्ति से वह घिरा होता था स्नानागार के सामने के कमरे में जल रखा रहता था।[२] यह संभवतः असाधारण स्नान के लिए प्रबन्ध था, जो रोगियों के लिये या जाड़े के दिनों में विशेष उपयोगी होता था।

साधारण स्नान के लिये आराम के द्वार पर पोखरा होता था। इसके चारों ओर भित्ति होती थी, जिससे नहाने वालों को और कोई न देख सके। इसका धरातल ईंट, पत्थर या लकड़ी से बना होता था। समय-समय पर इसका पानी निकाल दिया जाता था और फिर नया पानी भरा जाता था। बड़े-बड़े जलाशय नहाने के लिये होते थे।[३] स्नान कर लेने के पश्चात् तौलिये से शरीर पोंछा जाता था।[४]

अजन्ता के एक चित्र में स्नानागार में सिद्धार्थ के नहलाने का दृश्य चित्रित किया गया है। कुमार स्नान के लिये स्फटिक की चौकी पर बैठे हैं और दो मनुष्य उनके ऊपर पानी डाल रहे हैं। एक ओर से एक मनुष्य जल-कलश सिर पर रखकर नहला रहा है। कुछ स्त्रियाँ प्रसाधन-सामग्री ली हुई उस ओर आ रही हैं।

आकल्प

स्नान के पश्चात् शरीर के प्रसाधन की प्रक्रिया आरम्भ होती थी। प्रसाधन दो प्रकार का होता था—पहला शरीर का अनुलेपन, चित्रण, वासयोग और तिलक

---

१. चुल्लवग्ग ८.८ से।

२. चुल्लवग्ग ५.१४ से।

३. चुल्लवग्ग ५.१७।

४. वही ५.१७.१। कल्पसूत्र के जिनचरित में रोंयेदार, सुगन्धित तथा रंगीन तौलिये से शरीर सुखाने का उल्लेख है। चरक सूत्रस्थान ५.९० के अनुसार स्नान के पश्चात् शरीर को रगड़ कर कपड़े से पोंछना दुर्गन्ध, भारीपन, तन्द्रा, कण्डू, अरुचि तथा पसीने से उत्पन्न हुई मलिनता को दूर करता है।

लगाना तथा दूसरा अलंकार धारण करना। प्रसाधन की इन सभी प्रकार की वस्तुओं का उपयोग सुदूर प्राचीनकाल से होता आ रहा है।[1]

अनुलेपन

ऋग्वेद में इन्द्र के हिरण्यमय होने का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि प्रसाधनों के द्वारा उस समय स्वर्णिम बन जाने का प्रचलन था।[2] वैदिक काल में यज्ञों में यजमान नवनीत से सारे शरीर का अनुलेपन करता था। अथर्ववेद के अनुसार वर और वधू दोनों विवाह के अवसर पर आँखों में अंजन लगाते थे।[3] तत्कालीन धारणा के अनुसार मित्र वर की आँखों में अंजन लगाकर उसका प्रसाधन करते थे।[4] वैदिक अंजन सुगन्धित लेप होता था, जो नेत्रों के अतिरिक्त शरीर पर लगाया जाता था।[5] मित्र और वरुण जो अंजन लाते हैं, वह उपभोग के लिये होता है।[6] वैज्ञानिक दृष्टि से अंजन की अतिशय उपयोगिता बताई गई है। नेत्र-ज्योति की रक्षा के लिये नित्य सौवीर नामक अंजन लगाना चाहिये। आँख से दूषित जल निकालने के लिये पाँचवें या आठवें दिन रात्रि के समय समंजन का प्रयोग करना चाहिये। अंजन से आँखें सुन्दर और सूक्ष्मदर्शी हो जाती हैं। उनका वर्ण मनोरम हो जाता है और पलकें घनी हो जाती हैं।[7]

वैदिक काल में अंजन बनाने का व्यवसाय साधारणतः स्त्रियों के हाथ में था।[8] सुगन्धित द्रव्यों को पीसकर चूर्ण बनाने की रीति प्रचलित थी। ऐसी सुगन्धित वस्तुओं से प्राचीन युग में उत्पन्न, तगर, उशीर और सहा को एक साथ कूटकर चूर्ण बनाने की रीति का उल्लेख मिलता है। इनके पीसने में विशेषता होती थी। पीसकर अच्छा अंगराग बना देना कला थी।[9]

---

१. आयुर्वेद के अनुसार चन्दन, केसर, आदि सुगन्धित द्रव्यों के अनुलेपन तथा पुष्पमाला-धारण से वृषता, सुगन्धि, आयु, सौन्दर्य, पुष्टि तथा बल की वृद्धि होती है, मन प्रसन्न रहता है तथा दैन्य दूर होता है। चरक सूत्रस्थान ५.९३।

२. ऋग्वेद १.१३३.८; कर्पूरमं० २.१५; भागवत १०.४२.५।

३. अथर्ववेद १४.२.३१।

४. वही ७.३०.१।

५. अथर्ववेद १९.४५, कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद् १.४।

६. अथर्ववेद १९.४४.१०।

७. चरक सूत्रस्थान ५.१२–१६।

८. वाजस० सं० ३०.१४।

९. सूत्र कृ० १.४.२.८; विष्णु पु० ५.२०.५।

प्रसाधन के लिये चूर्ण वैदिक युग से प्रयुक्त होता आ रहा है। इस के द्वारा शरीर का अलंकरण होता था।[१] स्नान करके शरीर को लेप द्वारा सुगन्धित करने की रीति इस युग में थी।[२]

बौद्धकालीन संस्कृति में संघ के सभी लोगों के लिए नेत्र की सुरक्षा के लिए कालांजन, रसाजंन, स्रोतोजंन, गेरुक तथा कपल्ल कोटि के द्रव्यों का उपयोग निर्धारित किया गया।[३] अंजनों को सुगंधित बनाने के लिए उनमें चन्दन, तगर, कृष्णानुसारि, कालीय, भद्र मुक्तक आदि द्रव्य मिलाये जाते थे। उस समय नागरिकों के अंजन में भी संभवतः इन्हीं वस्तुओं का मिश्रण होता होगा।[४] अंजन को रखने के लिए नागरिक स्वर्ण और रजत की डिबिया रखते थे। शलाका सोने-चाँदी की बनती थी। उसे रखने के लिए कोश होता था।[५] नागरिकों में उस युग में विलेपन लगाने का साधारण प्रचलन था।[६]

रामायण में अंगराग तथा महाभारत में नागरिकों के चूर्ण और अनुलेपन लगाने के प्रायः उल्लेख मिलते हैं। चन्दन का कल्क समुद्‌गक में रखा जाता था। विविध प्रकार के अनुलेपों में आंजनी (अंजन) भी थी।[७] राम शुचि-सुगन्ध-चन्दन से अनुलिप्त होते थे। राम के श्याम वर्ण पर यह अनुलेप फबता था। महाभारत में भी अंगराग और चन्दन के लेप लगाने का इसी प्रकार उल्लेख है।[८] राजाओं के

---

१. कौषीतकि ब्रा० उपनिषद् १.४।

२. काकजातक १४० के अनुसार राजा का पुरोहित नगर के बाहर नदी में स्नान करके सुगन्धित लेप करके माला आदि धारण करता था।' भागवत १०.४२.५ के अनुसार विभिन्न वर्णों के लोग विभिन्न वर्ण के अंगराग लगाते थे। कर्पूरमंजरी २.१२ के अनुसार शरीर कुंकुम से स्वर्ण की भाँति चमकने लगता था। नाटक के अभिनय में अंगरचना विधान में शरीर को पाण्डु, पद्म, पीत आदि अनेक रंगों में रँगते थे। नाट्यशास्त्र २१.७४–७८।

३. महावग्ग ६.११ से। कपल्ल दीप-शिखा से उत्पन्न काजल था। गेरुक स्वर्ण-गैरिक है। स्रोतोऽञ्जन नदियों के सोतों से निकलता था।

४. महावग्ग ५.११ से।

५. वही ५.१२ से।

६. खुद्दक पाठ से २। भिक्षुओं के लिए विलेपन का निषेध था।

७. अयोध्या काण्ड ९२.७४-७७

८. आदिपर्व १२४.१७ के अनुसार द्रोणाचार्य शुक्ल अनुलेपन लगाते थे।

लिए नहलाने, संवाहन करने, माला बनाने आदि का काम दासियाँ या शिल्पी करते थे।[1]

गुप्तयुग में प्रसाधनों की विविधता अनुपम रही है। ऋतुओं के अनुकूल प्रसाधन होते थे। राजकुल में प्रसाधक नियुक्त थे।[2]

चन्दन का लेप शिशिर-ऋतु को छोड़कर वर्ष भर होता था। चन्दन को विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल बनाने के लिए उसमें विभिन्न वस्तुएँ मिलाई जाती थीं। वर्षा-ऋतु में चन्दन में विशेष रूप से कालागुरु मिलाया जाता था।[3] नीप का पराग भी अंगराग बन जाता था।[4]

हेमन्त में स्त्रियाँ कपोलों पर पत्रलेखा चित्रित करती थीं।[5] पत्रलेखा-चित्रण सभी प्रसन्न स्त्रियों का नित्य का प्रतिकर्म था। वसन्त में सित चन्दन का लेप किया जाता था। स्त्रियाँ चन्दन के साथ प्रियंगु, कालीयक, कुंकुम और कस्तूरी मिलाकर स्तन पर लेप करती थीं। कस्तूरी, कपूर और केसर से सुगन्धित चन्दन से सारे अंगों का अनुलेपन होता था।[6] विशेष रूप से छाती का अनुलेपन होता था।[7] स्त्रियाँ छाती पर लाल चन्दन लगाती थीं। हरिचन्दन का अंगराग बहुत मनोरम होता था। यह सारे शरीर पर लगाया जाता था।[8]

अनुलेपन भाँति-भाँति के चन्दनों से बनाये जाते थे। विविध प्रकार के चन्दनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग और गन्ध होती थीं। अर्थशास्त्र में इसका निरूपण

---

१. अर्थशास्त्र आत्मरक्षा प्रकरण से।

२. जिस प्रकार राजकुलों की स्त्रियों का भृंगार करने के लिए सैरन्ध्री होती थी, उसी प्रकार राजाओं का भृंगार करने के लिए प्रसाधक होते थे। वे राजाओं के केश को धूपित करते थे। राजा के सिर में मोती की माला पहनाते थे, उसमें फूल गूंथते थे और सब के ऊपर पद्मराग-मणि बाँध देते थे। चन्दन और कस्तूरी से बने अंगराग लगा कर उस पर गोरोचन से चित्र बना देते थे। रघुवंश १७.२२–२४।

३. ऋतुसंहार २.२२।

४. रघुवंश १९.३७।

५. ऋतुसंहार ४.५।

६. ऋतुसंहार ६.७, १४।

७. कादम्बरी, पृ० १६। चन्दन के रस से सारा शरीर धवलित किया जाता था। कादम्बरी पृ० २०६।

८. रघुवंश ६.६०।

करते हुए कहा गया है—चन्दन १६ प्रदेशों में उत्पन्न होता है। इनके नौ रंग होते हैं और इनमें छः गन्ध होती हैं। गोशीर्षक चन्दन काला और लाल होता है। इसमें मछली की गन्ध होती है। हरिचन्दन शुक के रंग का होता है। इसमें आम की गन्ध आती है। ग्रामेरुक चन्दन लाल या लाल-काला होता है। इसी प्रकार दैवसभेय, जावक, जोङ्गक, तौरूप, मालेयक, कुचन्दन, कालपर्वतक, कोशकार पर्वतक, शीतोदक, नागपर्वतक, शाकल आदि विभिन्न रंगों और गंधों के चन्दन हैं।[१]

शरीर के विभिन्न अंगों को प्रसाधित करने के लिये अलग-अलग रचनायें और द्रव्य नियत थे। ऐसे अंगों में कपोल, अधर, नख और पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अधर साधारणतः ताम्बूल से लाल हो सकता था। फिर भी उतने से ही सन्तोष न करके उसके लिये अलग से रंगने का आयोजन मिलता है। अधर को यावक (लाख) से लाल रँगा जाता था।[२] कपोल पर पत्रलेखा (पत्रों की अनुकृति) चित्रित होती थी और तिलक बनाये जाते थे।[३] मुख को पाण्डु बनाने के लिये उस पर लोध्र का पराग छिड़का जाता था। कुंकुम रेणु से कपोल रंजित होता था। मुखवास के द्वारा मुंह को सुगन्धिमय बनाया जाता था, जिससे मनोरम श्वास निकले।[४]

नख को रंगने के लिये भी वर्णक का उपयोग होता था। नख काटने की रीति सुदूर प्राचीन काल से सदा रही है।[५] बाहु को अगरु और चन्दन के लेप से रूषित किया जाता था।[६]

पद को लाक्षारस (महावर) से रंगा जाता था।[७] पैर पर लाख के गाढे रंग से पल्लव की आकृति बनाई जाती थी।[८] अंगूठे पर तिलक बनाया जाता था।

---

१. अर्थशास्त्र अध्यक्ष-प्रचार ११ वें अध्याय से।

२. शिशुपालवध ८.५५; ९.४६ में आलक्तक रस।

३. तिलकः पत्ररेखा च भवेद् गण्डविभूषणम्। नाट्यशास्त्र २१.२७; शिशुपालवध ८.५६। विलासी पुरुषों को भी इस कला में निष्णात देखा जा सकता है। सौन्दरनन्द-महाकाव्य का नायक नन्द स्वयं इस कला में निपुण था। पत्रवल्ली के द्वारा केसर से कपोल पर चित्र बनाये जाते थे। हरविजय २५.२१।

४. उत्तरमेघ २, शिशुपाल ९.४६; ७.६३, ९.५२।

५. चुल्लवग्ग ५.२७.२।

६. महा० सभा प० १९.२६

७ ऋतुसंहार १.५।

८. कादम्बरी पृ० ११ तथा आचाराङ्ग २.१३.३।

आलक्तक का राग नाना भक्तियों (रेखाचित्रों) की रचना करते हुए लगाया जाता था। अशोक के पल्लव की आकृति पद पर बनाई जाती थी।"[1]

छाती पर विशेष रूप से लेप होता था। चन्दन का लेप करके उस पर केशर छिड़की जाती थी। ललाट पर भौंहों के ऊपर पुष्पों के गुच्छों के चित्र बनाये जाते थे।[2] दाँतों को भी लाल या काला रंगा जाता था।[3] नाट्यशास्त्र के अनुसार दाँतों को रंगने के लिये अनेक राग हैं। वे मुक्ता के रंग के बनाये जाते थे या पद्म पत्र के समान लाल बनाये जाते थे।[4] कस्तूरी और केसर का स्तनों पर लेप होता था। वे नील लोहित होते थे।[5]

विवाह के अवसर पर विशेष रूप से प्रसाधन होता था। श्वेत अंगराग से सारे शरीर का अनुलेपन होता था। मस्तक पर हरिताल का तिलक लगता था। यह तो पुरुषों का श्रृंगार हुआ। कुमारियों को श्वेत अंगराग लगाया जाता था। गोरोचन से विभिन्न अंगों पर चित्र बनाये जाते थे। कपोल पर गोरोचन लगाया जाता था और उस पर लोध्र छिड़क दिया जाता था। होठों पर मोम लगाकर उसके ऊपर लाल रँग लगाया जाता था। चरणों को रंगा जाता था। आँखों में अंजन लगाया जाता था। कुमारियों का तिलक हरिताल और मन:शिला से होता था।[6]

स्नान के पश्चात् सरस सुगन्धित गोशीर्ष और चन्दन से सारे शरीर पर लेप होता था।[7]

गुप्तकाल में प्रसाधन के लिये सहस्रों प्रकार के गन्ध बनाये जाते थे। इनकी विविधता अनेक प्रकार के द्रव्यों की मात्रा घटाने-बढ़ाने से संभव होती थी।[8]

---

१. नाट्यशास्त्र २१.४०—४१।

२. नाट्यशास्त्र २१.२४।

३ वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १: पृ० १५१।

४. नेत्रयोरञ्जनं कार्यमधरस्य च रंजनम्।
दन्तानां विविधारा गाश्चतुर्णां शुक्लता यथा॥ नाट्यशास्त्र २१.२८

५. नैषधीयचरित १८.१०१

६. कुमारसम्भव सर्ग७.६-२४,३२-३६। चित्र बनाने से विशेष शोभा होती थी। काले मनुष्य के शरीर पर चित्रण वैसे ही फबते थे, जैसे नीले आकाश में इन्द्रधनुष। चित्रण की ऐसी रेखाओं का नाम भक्तिच्छेद था। विष्णुपु० ५.२०.८।

७ कल्पसूत्र जिनचरित से।

८. ऐसी गन्धों के विस्तृत परिचय के लिए देखिए वराहमिहिर की बृहत्संहिता अध्याय ७७।

दसवीं शती में मुंह को खरिया जैसे श्वेत द्रव्यों से रंगकर उस पर कपोल-कज्जल लगाया जाता था, जिससे वह सकलङ्क चन्द्रमा की पूर्ण तुलना करे।[1] केवल युवक ही प्रसाधनों के प्रति अभिरुचि नहीं रखते थे, अपितु बालक भी धातु-रसों से भाँति-भाँति के चित्र शरीर पर चित्रित करते थे।[2]

राजकुलों में सैरन्ध्री नाम की दासी महारानी के लिये चन्दन या अंगराग आदि बनाने के लिये नियुक्त होती थी। महाभारत के अनुसार द्रौपदी स्वयं महाराज विराट की रानी सुदेष्णा के लिये सैरन्ध्री बनकर काम करती रही। विष्णु-पुराण और भागवत के अनुसार कुब्जा कंस की सैरन्ध्री थी। प्रसाधक राजा के लिए होता था। इनके अतिरिक्त दाँत और नख के रंगने में विशेषता प्राप्त करने वाले दन्तलेखक और नखलेखक कहे जाते थे।[3]

केश-प्रसाधन

स्नान के पश्चात् केश को सुखाकर उसे सुगन्धित किया जाता था। साधारणतः सभी नागरिक स्त्री और पुरुष सिर पर बड़े केश रखते थे। सिन्धु-सभ्यता के युग से ही सौन्दर्य-संवर्धन के लिए केश-प्रसाधन का प्रचलन था। उस समय बाल पीछे की ओर जूड़े या चोटी के रूप में गूंथे जाते थे। बालों को बाँधने के लिये १६ इंच लम्बा और आध इंच चौड़ा नारा लगाया जाता था। सोने के बने हुए कुछ नारे यहाँ मिले हैं। साधारण लोगों के नारे सूत के बनते होंगे। कंघियों का प्रयोग केश की सफाई और सजावट के लिये होता था। केश के बीच से माँग निकालने का प्रचलन तभी से प्रायः सदा रहा है। इस प्रकार के प्रसाधन के लिये केश में तेल लगाना आवश्यक ही है। संभव है, वे लोग तेल के द्वारा केश को सुगन्धित करते हों।

वैदिक काल में लोगों को केश-प्रसाधन के सम्बन्ध में अभिरुचि रही होगी।[4]

---

१. कर्पूरमंजरी ३.३३।

२. भागवत १०.१४.४७।

३. महाभाष्य ६.३.७३।

४. अथर्ववेद ६.१३६, १३७ आदि में केश की अतिशय बढ़वारी के लिए नागरिकों की कामनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वे विविध शैलियों से सजावट करने के लिए केश कटवाते थे। अथर्व० ८.२.१७ शतपथ ५.५.३.१। कुछ लोग लम्बे बाल रखने के विरोधी थे। सम्भवतः वे अपने केश को समय-समय पर मुड़ा देते थे। ऐसे लोगों का मत था कि लम्बे केश नपुंसकत्व के द्योतक हैं। शतपथ ५.१.२.१४।

उस समय साही के काँटे से सीमन्त बनाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] कंघी का प्रयोग केश की सजावट के लिये होता था। वैदिक साहित्य में कंघी के लिये कंकत शब्द मिलता है। स्त्री और पुरुष दोनों केश को गूंथ कर ओपश (चोटी) बना लेते थे। कुछ लोग बनावटी ओपश लगा लेते थे। चौड़ी चोटियों को पृथुष्टुका और शिथिल चोटियों को विषितष्टुका कहा जाता था।[2] सिर पर जूड़ा बनाने की रीति थी। पुरुष और स्त्री सिर के विभिन्न भागों में कपर्द बनाते थे।[3]

भारत विशाल देश है। इसके विभिन्न भागों में केश-विन्यास की विविधता रही है। साथ ही समाज के विभिन्न वर्गों में अलग-अलग विधि-से केश विन्यास होता आ रहा है। इस विषय की चर्चा करते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है— 'अवन्ति की स्त्रियों के केश में अलक और कुन्तल की विशेषता होती है। गौड़ देश की स्त्रियाँ अलक, शिखा, पाश और वेणियाँ बनाती हैं। आभीर वर्ग की स्त्रियाँ दो वेणियाँ बनाती हैं। इनके केश-शिखण्डक क्रमशः ऊँचे रहते हैं। प्रोषितपतिका स्त्रियाँ केवल एक वेणी बनाती हैं।[4]" कबरी सिर के पीछे और चूड़ा सिर के ऊपर होता था।[5]

वैदिक काल में वप्ता (नापित) केश-कर्तन के द्वारा प्रसाधन करने के लिए नियुक्त होता था। राजकुलों के लिए नाई नियुक्त होते थे, जो राजाओं, रानियों, राजकुमारों तथा राजकुमारियों के बाल काटते थे और उनके केश सुधारते थे।[6] यदि कहीं केशों में से कुछ श्वेत हो जाते थे तो उनको यत्नपूर्वक काला किया जाता था या उखड़वा ही दिया जाता था।[7] दाढ़ी को काँट-छाँटकर नाई

---

१. काठक संहिता २३.१, तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.६.६ शतपथ २.६.४.५

२. वैदिक इण्डेक्स में 'ओपश'।

३. वसिष्ठ-कुल के लोग सिर के दक्षिण भाग में कपर्द धारण करते थे। ऋग्वेद ८.३३.१। स्त्रियाँ सिर पर चार कपर्द बना कर चतुष्कपर्दा बन जाती थीं। ऋग्वेद १०.११४.३। केश रचना की रूपरेखा का विशेष-परिचय प्राचीन मूर्तियों और चित्रों को देखने से ही सम्भव है।

४. ना० शा० २१.६५–७०, ७२।

५. महाभाष्य २.१.१।

६. सिगाल जातक १५२ की वर्तमान कथा से। स्त्रियों के नाई से बाल कटवाने का उल्लेख सूयगंडग १.४.२.५ में है।

७. अम्ब जातक ३४४। बृहत्संहिता ७७.१ में भी बालों को काला करने की आवश्यकता बताई गई है।

पुनः पुनः उसे सुन्दर बनाते रहते थे। कुछ स्त्रियां आगे के बालों को घुंघराले बनवाती थीं। उनको प्रागुल्फा कहा जाता था।[१]

केश को स्नान के पश्चात् सुखा कर उसे धूप जला कर उसके धुयें से धूपित करके सुगन्धित बनाने की रीति पुरुष और स्त्री दोनों के लिए समान रूप से प्रचलित थी।[२] यदि किसी के केश श्वेत होने लगते थे तो वह उन्हें जिन द्रव्यों से काला करता था, उनके प्रभाव से बालों में यदि कहीं दुर्गन्ध उत्पन्न होती तो उसे सुगन्धित तैल, गन्ध और धूप से सुवासित करना पड़ता था।[३] चित्रमाल्यानुकीर्ण केश-पाश खुलने पर मयूर के रुचिर कलाप की भाँति दिखाई पड़ता था।[४]

कुछ छैल-छबीले युवक क्षण-क्षण में चित्र-विचित्र केशविन्यास करते रहते थे। यथा—

क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूटको मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडा . . . आदि

इसमें केशविन्यास के विविध रूपों का उल्लेख है।[५]

केश विन्यास के प्रति भारतीय नारियों की अभिरुचि सदैव बढ़ती हुई प्रतीत होती है। इसका परिचय तत्कालीन मर्त्तियों और चित्रों में प्रदर्शित केश-रचना से भली-भाँति हो सकता है। केश को ऋतुओं के अनुकूल विविध ढंगों से बाँधा जाता था। जैसे वर्षा में उनके केश नितम्ब-प्रदेश तक लटकते ही छोड़े जाने में सुविधा थी।[६] केश-विन्यास के प्रति नागरिकों की अभिरुचि का परिचय अमरकोश के नीचे लिखे विवरण से लगता है—चिकुर, कुन्तल, बाल, कच, केश और शिरोरुह पर्यायवाची हैं। इनके कलाप को कैशिक और केश्य कहते हैं। अलक- और चूर्ण-कुन्तल सँवारे बाल के नाम हैं। ललाट पर आये हुए बाल भ्रमरक हैं। काकपक्ष और शिखण्डक किसी एक ओर लटकाये हुए सुसज्जित केश-कलाप हैं। कबरी केश को बांध कर बनाई जाती है। धम्मिल में रत्न गुंथे होते हैं। वेणी और

---

१. महाभा० १.२.९ तथा ४.१.६।

२. रघुवंश १६.५०।

३. बृहत्संहिता ७७.४। आगे चलकर इस ग्रन्थ में विविध प्रकार के सुगन्धित तेल, धूप, गन्धादि बनाने की विधियाँ दी गई हैं। बृहत्सं० ७७.१७ के अनुसार १७४२० प्रकार की गन्ध १६ द्रव्यों के मेल से बन जाती हैं।

४. रघुवंश ९.६७।

५. मृच्छक० २.९।

६. ऋतुसंहार २.१८।

प्रवेणी गूंथ कर बनाई जाती हैं, तथा शीर्षण्य और शिरस्य विशद कच को कहते हैं।[1]

प्रसाधन के काम में नागरिक-दम्पती का मनोविनोद होता था। प्रसाधन करती हुई नायिका के समक्ष नायक दर्पण धारण करता था या उसके कपोल पर चित्र बनाता था।[2]

ऋतुओं के अनुसार नागरकों की नायिकाओं के प्रसाधन का कलात्मक विधान था। यथा—

मुक्तालताश्चन्दनपंकदिग्धा मृणालहारानुसृता जलार्द्राः।
स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकानां ग्रीष्मेऽपि सोयं शिशिरावतारः॥
काव्य मीमांसा १८ वें अध्याय से।

अलंकरण

सिन्धु सभ्यता के युग से ही स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अलंकार के प्रति अभिरुचि रखते आये हैं। शरीर का प्रत्येक अंग, जहाँ किसी विधि से अलंकार लटक सकते हों तथा जहाँ से अलंकार देखे जा सकते हों, किसी न किसी प्रकार अलंकृत होकर रहा। कभी-कभी तो अलंकार पहनने मात्र के लिए नाक या कान में छेद तक कर लिया गया।

अलंकार प्रायः बहुमूल्य होते थे। साधारणतः तीन उद्देश्यों से अलंकार धारण किये जाते थे—शरीर को अधिक सुन्दर बनाने के लिए, दूसरों को प्रभावित करने के लिए कि पहनने वाले का वैभव कितना अधिक है तथा अपने को अधिक सौभाग्यशाली बनाने के लिए। इनमें सर्वप्रथम सौन्दर्य का ही स्थान था।[3] जहाँ तक अलंकार के द्वारा सौन्दर्य-साधन की समस्या है, वह सरल अलंकारों से ही सम्भव है, यदि वे सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाये गये हों और उनको कलात्मक ढंग से धारण किया गया हो। इसके लिए पुष्पों के बने हुए अलंकारों का सर्वाधिक महत्त्व है। इनमें नित्य अभिनव शृंगार और अलंकार के साथ मनोरम गन्ध

---

१. अमरकोश मनुष्य-वर्ग।

२. प्रतिमा नाटक का प्रथम अंक तथा सौन्दरनन्द में नन्द के द्वारा सुन्दरी का प्रसाधन द्रष्टव्य हैं।

३. अमरकोश मनुष्य-वर्ग के अनुसार अलंकृत होने पर मनुष्य विभ्राज्, भ्राजिष्णु और रोचिष्णु होता है।

की विशेषता होती है। सबको पुष्प अनायास सुलभ हो सकते थे।[1] अलंकारों के प्रति यदि शरीर को सजाने के लिए अभिरुचि हुई तो दीन-हीन होने पर भी कोई व्यक्ति मिट्टी का ही अलंकार पहन सकता था। सस्ते अलंकार के साधनों में पुष्प और मिट्टी के अतिरिक्त घोघों की गणना की जा सकती है। वैभव सम्बन्धी उच्चता का प्रदर्शन करने के लिए बहुमूल्य रत्नों और धातुओं के अलंकार धारण करने का प्रचलन रहा है। भारत अनेक प्रकार के रत्नों और बहुमूल्य धातुओं, सोने और चाँदी के लिए सदा प्रसिद्ध रहा है। विभिन्न प्रदेशों में इनके असंख्य उद्‌भव रहे हैं। सौभाग्य के लिए अलंकार पहनने की रीति का उल्लेख वैदिक साहित्य से मिलता है—जो पुरुष स्वर्ण का उपभोग करता है, वह स्वस्थ रहता है और वृद्धावस्था के कारण ही मरता है।[3] गजमुक्ता धारण करने से पुत्र की प्राप्ति होती है, विजय मिलती है और पहनने वाला स्वस्थ और पवित्र रहता है।[4]

पहनने की दृष्टि से भारतीय अलंकार चार कोटियों में विभक्त हैं—आवेध्य बन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोपक। जो शरीर के किसी अंग-मात्र से लटके हों पर अन्य अंगों का स्पर्श न करते हों, साधारणतः शरीर के किसी अंग को छेद कर लटकाये गये हों, वे आवेध्य हैं, जैसे कुण्डल और श्रवण-भूषण। जो किसी अंग में बाँधे और कसे जाते हैं, वे बन्धनीय हैं, जैसे श्रोणिसूत्र, अंगद, मुक्ता आदि। प्रक्षेप्य क़ोटि के अलंकारों में चलते-फिरते प्रक्षेप होता है। आरोप्य अलंकार वे हैं, जो प्रायः गले में या शरीर के किसी और अंग में लटकाये जाते हैं, जैसे हार

---

१. कुमार ३.५३। बौद्ध साहित्य में अलंकार बनाने के लिए रसिक लोग फूलों के पौधों का संवर्धन करते थे, चुनते थे, उनके गुच्छे, माला, मंजरिका, विधुनिका, अवतंसक आदि बना और बनवाकर दूसरों को उपहार रूप में भेजते थे। चुल्लवग्ग १.१३.२।

२. भागवत १०.१२.४।

३. अथर्ववेद १९.२६.१।

४. बृहत्संहिता ८१.२२।

कल्हण के अनुसार—

वज्राद्वज्रकृतं भयं विरमति श्रीः पद्मरागाद् भवेत्।
नानाकारमपि प्रशाम्यति विषं गारुत्मताश्मनः॥
एकैकं क्रियते प्रभावनियमात् कर्मेऽति रत्नैः परम्॥

राजत० ४.३३१।

आदि।[1] बनावटी अलंकारों की कमी न थी। कृत्रिम मणि और स्वर्ण के आभरण बनते थे।[2] तभी तो मनु ने गहने बनाने वाले को प्रकाश-वंचक की उपाधि दी है।[3] अलंकार बनाने वालों की चौर्य-वृत्ति की सैकड़ों विधियों का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है।[4]

शिरोभूषण

वैदिक काल में सिर के बालों के गुच्छों को कसने के लिए कुरीर नामक अलंकार पहना जाता था। स्त्रियाँ केश में फूल लगाती थीं। कुम्ब (कुम्भ) नामक अलंकार सिर पर धारण किया जाता था।[5] इसी युग से राजाओं के लिए सिर पर स्वर्ण-मुकुट धारण करने का प्रचलन रहा। महाभारतकालीन राजाओं के सिर पर जिन मुकुटों का वर्णन मिलता है, उसमें स्वर्ण और रत्न जड़े रहते थे। मुकुटों के शिखर पर मणि होती थी।[6] गुप्तकाल में सिर के अलंकारों के नाम चूडामणि, मुक्तगुण और किरीट मिलते हैं।[7] राजाओं के सिर पर उष्णीष (पगड़ी), उसके ऊपर किरीट तथा सबसे ऊपर शेखर धारण करने की रीति थी।[8] स्त्रियाँ ललाट के ऊपर सीमन्त के आरम्भ स्थान पर एक मणि पहनती थीं। इसका नाम चूड़ामणि था और यह सीमन्त-चुम्बी होता था।[9] उनकी मौलि मुक्ता-गुणोन्नद्ध होती थी और ऊपर पद्मराग मणि बाँधी जाती थी।[10] स्त्रियाँ अपनी वेणियों में स्वर्ण-माला गूँथती थीं। अलकों में मुक्ताजाल गूंथने का प्रचलन था।[11]

---

१ ना० शा० २१.१२–१४।

२ कथासरित्सागर ५.१.१७९।

३ मनुस्मृति ९.२५।

४. अर्थशास्त्र अध्यक्ष प्रचार १४ वाँ प्रकरण।

५. अथर्व ६.१३८.३।

६. इसका नाम मुकुटोत्पल या मुकुटमणि है।

७. नाट्यशास्त्र २१.१६, २२ के अनुसार पुरुषों के लिए चूड़ामणि और मुकुट सिर के अलंकार थे। स्त्रियों के केश-विन्यास के अनुसार शिखापाश, शिखाजाल, पिण्डपात्र आदि रूपों में होते थे। इनके अलंकार चूडामणि, मकरिका, मुक्ताजाल और गवाक्ष होते थे।

८. कादम्बरी, पृ० २२९। रघु० १२.१०२ के अनुसार मूर्धा में मणिबन्ध होता था।

९. कादम्बरी, पृ० १८८।

१०. रघुवंश १७.२३।

११ पूर्वमेघ ६७।

स्त्रियाँ सीमन्त में शशिकला नामक मुक्तामय अलंकार पहनती थीं। ललाट पर चटुला-तिलक होता था।[१]

धातुओं के अतिरिक्त प्रकृति की अन्य मनोरम वस्तुओं से सिर का शृंगार होता था। कृष्ण के सिर पर मोर-पंख की छटा विराजती थी।[२] जहाँ धनी लोग स्वर्ण-तन्तु से अपने केश-पाश को बांधते थे, वहाँ ग्वाले वन की लताओं से जटाजूट बाँध लेते थे।[३]

सिर में पुष्प को अलंकार रूप में धारण करने तथा धातुओं के अलंकारों की भाँति पुष्पों के बने अलंकार पहनने की रीति रसिक नागरिकों और वन्य जीवन बिताने वाले लोगों में समान रूप से रही है।[४]

पुष्पालंकार

राजाओं का मुकुट तक मालती-कुसुम का बन सकता था।[५] राजा की मौलि में पुष्पों की माला गूंथी जाती थी।[६] स्त्रियाँ अलक में बालमुकुन्द, चूडापक्ष में नवकुरवक और सीमन्त में नीप के पुष्प संजोती थीं।[७] यह तो वर्षा ऋतु के पुष्पों का शृंगार है। वे वर्षा में नई केसर, केतकी और कदम्ब के नये फूलों की मालाएँ गूंथ कर सिर पर धारण करती थीं।[८] पुरुष अपनी प्रेयसियों के सिर की शोभा के लिए मालती, यूथिका की कलियों और वकुल पुष्प की माला बनाते थे।[९] वसन्त में स्त्रियों का सिर चम्पक से सुवासित होता था। उनके अलकों में अशोक और नवमल्लिका के पुष्प सुशोभित होते थे।[१०] केश-पाश में नवकुरवक-पुष्प भरे होते थे।[११] वर्षा में पुष्पों से सिर के लिए अवतंस (आभरण) बनाया जाता था।[१२] शरद् ऋतु में विकुंचित केशों में स्त्रियाँ नवमालती कुसुम भरकर रखती थीं।[१३]

---

१. हरविजय २३.३६, ४०।

२. भागवत १०.१४.४७।

३. रघुवंश २.९ तथा महापुराण २८.३१।

४. चुल्लवग्ग ३.१३ में पुष्प का अवतंसक।

५. कादम्बरी, पृ० ९।

६. रघुवंश १७.२३; १६.५० में धूप से सुगन्धित करके मल्लिका गूंथने का उल्लेख है।

७. उत्तरमेघ २।

८. ऋतु स० २.२१।

९. ऋतुसंहार २.२५।

१०. कुमारसंभव ३.६२; ऋतुसंहार ६.३, ६।

११. ऋतु सं० ६.३३। १२ वही २.२२। १३. वही ३.१९।

हेमन्त में रात्रि के समय भी सिर पर पुष्पों की माला धारण की जाती थी, जिससे सोते समय उनकी सुगन्ध का आनन्द लिया जा सके।[1] शिशिर में केशों के बीच कुसुम निवेशित किया जाता था।[2] पुरुष सिर पर पुष्पों की माला धारण करते थे।[3] ललाट के दोनों ओर लटकती हुई कुटिल अलकों की माला दसवीं शती में बनाई जाती थी और चिकुर-भार में कुसुम-राशि बाँधी जाती थी।[4]

अमरकोश में विविध प्रकार की मालाओं के नाम मिलते हैं। इनके अनुसार केश के मध्य की माला गर्भक, शिखा-पर्यन्त लटकने वाली माला प्रभ्रष्टक, सिर पर सामने की ओर पहनी हुई माला ललामक, कण्ठ से सीधे नीचे लटकने वाली प्रालम्ब, छाती पर तिरछी पड़ी हुई माला वैकक्षिक तथा शिखा में गुंथी हुई माला आपीड और शेखर कहलाती थीं।

नागरक विशेषकच्छेद्य विधि से पत्रों का ललाट-तिलक बनाते थे।[5]

सिन्धु सभ्यता के युग से कानों में अलंकार धारण करने की रीति रही है। सम्भवतः उस समय लोग कानों में कनफूल और कुण्डल पहनते थे। वैदिक साहित्य में कान में पहनने के लिए कर्ण-शोभन नामक अलंकार का उल्लेख मिलता है।[6] व्रात्यवर्ग के लोग कान में प्रवर्त्त पहनते थे।[7] राजाओं के कर्णशोभन में रत्न लगे होते थे।

कर्णालंकार

परवर्ती युग में कानों में कुण्डल पहनने का प्रचलन सदा रहा है।[8] कुण्डल स्वर्ण और रजत के बनते थे। उनमें रत्न लगाये जाते थे।[9] चलते समय कुण्डल

---

१. ऋतुसंहार ४.१६।

२. वही ५.८।

३. शिशुपाल वध ८.५७।

४. कर्पूरमंजरी २.२१।

५. कामसूत्र की टीका १.३.१६।

६. ऋग्वेद ८.७८.३।

७. अथर्ववेद १५.२.२५।

८. महाभारत आदि ३.११८, सभापर्व १९.२४, रामायण किष्किन्धाका० ६.२२, मनुस्मृति ४.३५ में गृहस्थ के लिए कुण्डल और आश्वलायन गृह्यसूत्र में स्नातक के कुण्डल पहनने का उल्लेख। मृच्छकटिक १.२४ नाट्यशास्त्र २१.१६, ऋतुसंहार २.२०, कर्पूरमंजरी २.१८।

९. ऋतुसंहार २.२० में मणिकुण्डल, ३.१९ में कांचनकुण्डल, शिशु० २.५ कर्पूर मंजरी २.१८ तथा नाट्यशास्त्र २१.२६।

हिलते रहते थे और कपोल पर उनसे संघर्षण होता था।[१] कुण्डल के अतिरिक्त कान के अन्य अलंकारों के नाम कर्णिका, कर्णवलय, पत्र-कर्णिका, कर्णमुद्रा, कर्णोत्पल, कर्णपूर आदि नाट्यशास्त्र में मिलते है।[२] प्रायः इन्हीं आमूषणों के नाम गुप्तकाल में भी मिलते हैं। बाण ने इनके अतिरिक्त कर्णपाश नामक अलंकार की चर्चा की है। यह हेमतालीपट्ट से बनता था और सम्भवतः कर्णोत्पल के नीचे होता था। कान में मरकत-मणि के जो कुण्डल पहने जाते थे, उनमें लगे हुए सोने के पत्ते हिलते थे।[३] कुछ मणि-कुण्डलों में मकर की आकृति बनी रहती थी।[४] वन के लोग कान में मणि-कर्णिका पहनते थे।[५] दन्तपत्र नामक आभरण कान में अवसक्त होता था।[६]

पत्र-पुष्पालंकार

कान के अलंकार पत्रों और पुष्पों से प्रायः बनाये जाते थे। ग्रीष्म में कान पर शिरीष के पुष्प रखे जाते थे।[७] वर्षा ऋतु में ककुभ की मंजरी से कान के लिए अवतंस बनाया जाता था।[८] शरद् में कानों में नीलोत्पल सुशोभित होता था।[९] वसन्त में कनेर का फूल खोंसा जाता था।[१०] कर्णपूर के लिए अनेक प्रकार के पत्र और पुष्प उपयोगी होते थे। कुमुद के दल से कर्णपूर बनते थे।[११] मल्लिका-मंजरी का कर्णपूर बनाने के लिए उसे पहले लवली के फल के द्रव में भिगोया जाता था।[१२] चन्दन और तमाल के पल्लव कान में खोंसे जाते थे। अशोक के पल्लव का भी कर्ण-पूर बनाया जाता

---

१. मृच्छकटिक १.२४।

२. नाट्यशास्त्र २१.२५–२६।

३. कादम्बरी पृ० १८८, शिशु० ३.५।

४. कादम्बरी, पृ० १०१।

५. कादम्बरी, पृ० ११।

६. काद० २०६। दन्तपत्रिका हाथी-दाँत की बनती थी। शिशु० १.६०। धनियों के हाथी-दाँत के कुण्डल का उल्लेख एरियन ने किया है। Ancient India P. 225

७ रघुवंश १६.४८।

८. ऋतुसं० २.२१।

९. वही ३.१९ तथा शिशुपाल ८.५४; ७.५९; हरविजय १.१६; १७.६३।

१०. ऋतुसं० ६.६।

११. कुमारसं० ३.६२; कादम्बरी, पृ० २०६।

१२. कादम्बरी २१६।

था।[1] लवली की पत्तियाँ कर्णमूल में खोंसी जाती थीं।[2] गाँव की स्त्रियाँ धान के बालों से शरद् ऋतु में अवतंस बना लेती थीं।[3]

अलंकारों के लिए शरीर का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग गला है। गले में छोटे-बड़े बीसों हार एक साथ पहने जा सकते हैं। ऐसे हार गले में एक इंच से लेकर तीन फुट तक लटक सकते हैं।[4] हारों के अतिरिक्त गले से चिपके हुए भी बहुविध अलंकार धारण किये जा सकते हैं।

हार

वैदिक काल में स्वर्ण और बहुमूल्य रत्नों के हार पहनने का प्रचलन मिलता है। उस समय के हार छाती पर लटकते थे। उनके नाम रुक्म, निष्क और सृङ्का मिलते हैं। मणियों का हार पहनने वाला व्यक्ति मणिग्रीव कहा जाता था।[5] निष्क पहनने वाला निष्ककण्ठ या निष्कग्रीव कहा जाता था।[6] कुछ स्वर्ण हारों में कमल के आकार के सौ लोलक होते थे। लोलकों में रत्न जड़े होते थे।[7]

प्राचीन काल में मोती अधिकता से पाये जाते थे। मोती के विविध प्रकार के हार बनाने का प्रचलन उस समय था। हारों में सहस्रों मोती गुंथे होते थे। बड़े और छोटे मोती के गूंथने के क्रम से शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरल-प्रतिबन्धक कोटि की यष्टियाँ होती थीं। उस समय हारों में १००८, ५०४, १००, ६४, ५४, ३२, २७, २४, २० और १० लड़ियाँ होती थीं। इनके नाम क्रमशः इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, देवच्छन्द, अर्धहार, रश्मि-कलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्धगुच्छ, माणवक और अर्धमाणवक थे।[8] यष्टियों की अन्य कोटियाँ शुद्ध यष्टि, रत्नावली, अपवर्तक, सोपानक, मणिसोपानक आदि थीं। केवल मोती ही मोती सूत्र में एक लड़ी में गुंथे हों तो वह शुद्ध है। यदि शुद्ध हार में बीच में मणि गुंथी हो तो वह यष्टि है। स्वर्ण-जटित मणियाँ हों तो यष्टि रत्नावली बन जाती है। स्वर्ण-जटित मणियों के बीच-बीच में मोती पिरोये हों तो वह अपवर्तक-यष्टि है।

---

१. कादम्बरी पृ० ३४, २७४।
२. उत्तररामचरित ३.१५।
३. महापुराण १६.४५-६६।
४. बृहत्संहिता ८१.३२।
५. ऋग्वेद १.१२२.१४ तथा ५.५४.११।
६. ऋग्वेद ५.१९.३, अथर्ववेद ५.१७.१४ ऐतरेय ब्राह्मण ८.२२।
७. आश्व० श्रौ० सू० ९.९.५। ८. अर्थशास्त्र अ० ११ से

यदि स्वर्ण-सूत्र में मोती पिरोये हों तो वह सोपानक-यष्टि है। इसीके बीच-बीच में मणि हो तो वह मणि-सोपानक है।

उपर्युक्त अलंकार परवर्ती युग में सनातन से बन गये। नवीं शती के रचित ग्रन्थ महापुराण में इन अलंकारों के उल्लेख मिलते हैं और साथ ही उनकी रूप-रेखा के सम्बन्ध में अधिक विवरण दिये गये हैं। इनके अनुसार यष्टि नामक अलंकार के पाँच प्रकार हैं—शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरल-प्रबन्ध। उपर्युक्त यष्टियों के बीच में यदि एक मणि लगी होती तो वे मणिमध्या होतीं, अन्यथा शुद्धा कही जाती थीं। मणिमध्या यष्टि के अन्य पर्याय सूत्र तथा एकावली थे। सुवर्णजटित अनेक मणियों से युक्त होने पर मणिमध्या का नाम रत्नावली हो जाता था। किसी नियत प्रमाण वाले स्वर्ण, मणि, माणिक्य और मोती के द्वारा बीच में कुछ अन्तर देकर गूंथी हुई यष्टि अपवर्तिका है। शीर्षक-यष्टि के बीच में एक स्थूल मोती होता था। बीच में क्रमशः बड़े तीन या पाँच मोती होने पर क्रमशः उपशीर्षक और प्रकाण्डक यष्टियाँ बनती थीं। जिस यष्टिका का बीच वाला मोती सबसे बड़ा हो और दोनों ओर क्रमशः घटते हुये मोती हों वह अवघाटक है। तरल प्रतिबन्ध के सभी मोती समान होते हैं। एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका कोटि की यष्टियों में से प्रत्येक शीर्षक, उपशीर्षक आदि कोटियों में विभक्त होती है। उपर्युक्त सभी अलंकारों में केवल एक लड़ी होती थी। हार में अनेक लड़ें होती थीं। यष्टियों का कलाप हार कहा जाता था।[1]

महापुराण से छन्दादि हारों के नाम तथा लड़ियों की संख्या अर्थशास्त्र से कुछ-कुछ भिन्न मिलती है, पर नाम प्रायः वे ही हैं।[2] इन हारों के मध्य में यदि मणि पिरोई हो तो उनके नाम के साथ माणव जुट जाता था, जैसे इन्द्रच्छन्द माणव। शीर्षक, उपशीर्षक आदि जिन विधियों से इन हारों की लड़ियाँ गुंथी होती थीं, उन्हीं हार के नाम के साथ शीर्षक, उपशीर्षक आदि शब्द जुट जाते हैं।[3]

भरत ने जिन हारों का परिचय दिया है, वे प्रायः उपर्युक्त कोटियों में समन्वित हो जाते हैं। भरत के अनुसार कुछ हार कण्ठ की शोभा के लिये हैं, जिनको कंठ-विभूषण कहा जाता था। ऐसे हार मुक्तावली, व्यालपंक्ति, मंजरी, रत्नमालिका, द्विसर, त्रिसर, चतुस्सर, शंखलिका और हर्षक थे। वक्ष-स्थल की शोभा के लिये

---

१. महापुराण १६.४६–५४।

२. महापुराण ५५–६१।

३. महापुराण १६.६१–६६।

त्रिसर और हार थे। अत्यधिक लम्बे पूरे शरीर की शोभा बढ़ाने वाले हारों को देह-भूषण कहा जाता था। कटि-प्रदेश की शोभा बढ़ाने वाले हार तरल और सूत्रक थे। स्तन-विभूषण कोटि का हार मणिजाल से विशेष रूप से समायुक्त होता था। भरत के अनुसार मुक्ताहार में ३२, ६४ और १०८ यष्टियाँ होती थीं।[1] हार में लड़ियों की संख्या के लिये कोई अनिवार्य नियम नहीं था।

ऋतुसंहार के ग्रीष्म-वर्णन में हार का जो महत्त्व दिखाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि हार से शरीर में शीतलता का संचार होता था।[2] गुप्तकाल में निष्क, मुक्तावली, ताराहार, हार, हार-शेखर और हारयष्टि विविध प्रकार के हारों के नाम और पर्याय थे। तारों की भाँति चमकते हुए छः मासे की मणियों के हार पहनने का उल्लेख दशवीं शती में मिलता है।[3]

कल्पसूत्र के जिनचरित में सिद्धार्थ के हार, अर्धहार, त्रिसरक, प्रालम्ब आदि गले के आभूषण पहनने का उल्लेख है। वे गले से लटकाये जाते थे। ग्रैवेयक नामक आभूषण गले में बाँधा जाता था और चिपका रहता था।[4]

ऊपर जिन अलंकारों का वर्णन किया जा चुका है, वे प्रायः स्वर्ण, मुक्ता मणि, रत्न आदि से बनते थे। इन बहुमूल्य आभूषणों को संभवतः बहुत थोड़े ही धनी लोग पहन पाते होंगे। सौन्दर्य की दृष्टि से फूलों के बने हारों का वैदिक काल से महत्त्व रहा है। वैदिक साहित्य में स्रक् का प्रायः उल्लेख मिलता है।[5] स्रक् की रचना फूलों से होती थी। अश्विद्वय कमल के फूल की माला धारण करते थे।[6] महाभारत में स्त्रियों के पुष्प-माला पहनने का उल्लेख है। वन में रहते हुए सीता कमल की शुभा माला पहनती थी।[7] वसन्त में स्त्रियों के हार मनोहर कुसुमों से बनते थे।[8] इस ऋतु में महुये के फूल की सुगन्धित माला पहनने का प्रचलन

माला

---

१. भरत के नाट्यशास्त्र से २१.१७–३८।

२. ऋतुसंहार १.२८ के अनुसार ग्रीष्म में हार सेव्य है।

३. कर्पूरमंजरी २.१७।

४. *Woolner :* Introduction to Prakrit से पाठ २१ तथा साहित्यदर्पण परिच्छेद ३.३७।

५. ऋ० वे० ४.३८.६; ५.५३.४।

६. वही १०.१८४.३, अथर्ववेद ५ २५.३।

७. अरण्य का० ४६.१६।

८. ऋतुसंहार ६.३।

था।[1] तपस्वियों के लिये कमल के बीज की माला ही पर्याप्त थी।[2] दीन-हीन लोग गुंजाफल का हार पहनते थे।[3] पुष्प की विशेष प्रकार की मालाओं से पहनने वालों के उच्चपद का परिचय मिल सकता है। हर्ष सित कुसुम की जो मुण्डमाला धारण करता था, वह चन्द्रकला के समान थी। उससे हर्ष के परमेश्वर-पद की अभिव्यक्ति होती थी।[4] जैन साहित्य के अनुसार हार बनाने के अन्य उपादान घास, बेंत मयूर-पिच्छ, सींग, सीप, हड्डी, लकड़ी, पत्ते, फल, बीज आदि रहे हैं। हार की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि लोग केवल पशुओं को ही नहीं, अपितु घरों के द्वार को भी मालाओं से सजाते थे।[5]

वैदिक युग में स्त्री-पुरुष दोनों ही खादि नामक कंकण पहनते थे।[6] स्वर्ण के बने हुए खादि का उल्लेख परवर्ती साहित्य में मिलता है।[7] रामायण और महाभारत में बाहों में अलंकार अंगद, केयूर और वलय के पहनने का उल्लेख हैं।[8] उस समय अंगुलियों में अंगूठियाँ भी पहनी जाती थीं।[9] परवर्ती युग में अलंकार की दृष्टि से बाँह के विभाग किये गये—बाहुमूल, बाहुनाली, मणिबन्ध, अंगुली। बाहुमूल में केयूर और अंगद, बाहुनाली में वर्जुर या खर्जुर और स्वेच्छितीक, कटक, कलशाखा, हस्तपत्र और सुपूरक, मणिबन्ध में रुचक और उच्चितक तथा अंगुलियों में मुद्रा एवं अंगुलीय धारण किये जाते थे।[10] केयूरों में मणियाँ जड़ी जाती थीं।[11] हाथों में वलय या कटक पहने जाते थे। वलय में लाल रत्न या मणियाँ जड़ी होती थीं।[12]

बाहु-भूषण

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७.३१।

२. कुमारसंभव ३.६५।

३. महापुराण २८.३९।

४. हर्षचरित पृ० १५१।

५. Jain : Life in Ancient India, पृ० १०४ से।

६. ऋग्वेद १.१६८.३।

७. हिरण्य-खादि के लिए देखिए शांखायन श्रौतसूत्र ३.५.१२।

८. किष्किन्धा-काण्ड ६.३२२; अयोध्या० ३२.५।

९. सुन्दरकाण्ड ३६.२। अँगूठी पहनना सम्भवतः पुरुष के लिए आवश्यक रहा होगा। तभी तो राम ने बनवास के समय में भी उसका परित्याग नहीं किया।

१०. नाट्यशास्त्र २१.३४–३५, १९।

११. शिशुपालवध २.६।

१२. शिशु० ३.७, अयोध्या० ३२.५। अजन्ता के चित्रों में जो वलय दिखाये गये हैं, उनमें रत्न जड़े हैं।

शंखक नामक वलय विश्रृंखल हो सकते थे। हाथ के चंचल होने पर वलयों से स्वन (ध्वनि) उत्पन्न होता था।[1] वलय बहुत ढीला पहना जाता था। वह कभी-कभी स्त्रियों के हाथ से गिर जाता था।[2] वलयावलि प्रकोष्ठ प्रदेश पर धारण की जाती थी।[3] पुरुषों के वलय अनेक प्रकार के रत्न, मणि और स्वर्ण से बनते थे। इसका सौन्दर्य अतिशय मनोरम होता था।[4]

स्वर्ण के अतिरिक्त पद्मनाल के वलय होते थे।[5] हाथ में लीला-कमल धारण करने की रीति थी।[6]

छाता

पुरुषों और स्त्रियों के हाथ में छाता लेने का प्रचलन सदा रहा है।[7] धूप से रक्षा के लिये तो छाता होता ही था, पर वह शरीर का सौन्दर्य बढ़ाने का भी साधन माना जाता था। साधारण लोग पत्तों के छाते ही से काम चला लेते थे।[8] सभ्य पुरुष के लिये हाथ में छाता और छड़ी रखना आवश्यक माना गया।[9] आरियन ने लिखा है कि सभी प्रतिष्ठित नागरिक धूप से बचने के लिये छाता लगाते हैं।[10]

समाज के विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न प्रकार के छत्र होना स्वाभाविक है। राजाओं का छत्र हंस, कुक्कुट, मोर, सारस आदि के पंखों का बनता था और सब ओर से शुक्ल नये दुकूल से आच्छादित होता था। इसमें यत्र-तत्र मोती उपचित होते थे और मोती की मालायें किनारे से लटकती थीं। छत्र का मूल-भाग स्फटिक मणि का बना होता था। छाते का दण्ड एक बेंत का बना होता था। इसमें नवपर्व होते थे और दण्ड स्वर्णपत्र से आच्छादित होता था। छाते का विस्तार दण्ड का आधा होता था। इसकी बनावट मनोरम होती थी

---

१. शिशुपालवध ७.३०,४५।

२. वही ८.३४।

३. कर्पूरमंजरी २.१६।

४. कल्पसूत्र में जिन चरित से।

५. नाट्यशास्त्र २१.१७–१९, २१.३४, शिशु० ८.४४।

६. उत्तरमेघ २।

७. स्त्रियों के छाता लगाने के उल्लेख सूत्रकृतांग १.४.२.९,१५; शिशुपालवध ८.५।

८. बहुवत्त जातक।

९. चरक सूत्र स्थान ८.१९।

१०. Life in Ancient India P. 225

और उच्च कोटि के रत्न इसमें जड़े होते थे। छाते में पुष्प-मालायें लटकाई जाती थीं।[1]

युवराज, राजपत्नी, सेनापति और दण्डनायक के छाते ऊपर जैसे ही बनते थे, पर छोटे होते थे। राज्य के अन्य पदाधिकारियों के छाते मोर-पंख के बनते थे। इसमें रत्न की मालायें लटकती थीं। इसका सिरा प्रसाद-पट्ट से आवृत होता था।[2]

छाता केवल धूप से ही रक्षा करने के लिये नहीं होता था। वह शीत और वर्षा से भी रक्षा करता था। अन्य लोगों के छाते चौकोर होते थे। ब्राह्मणों के छाते वृत्ताकार होते थे। उनके दण्ड समवृत्त होते थे।[3]

कटि-भूषण

कटि-प्रदेश का अलंकार—करधनी सिन्धु सभ्यता के युग से ही रहा है। उस समय की करधनी में रत्न गुंथे हुए मिलते हैं। तभी से विविध प्रकार की करधनियों का प्रायः सदा ही प्रचलन रहा है। रामायण-के अनुसार कांची कटि-प्रदेश से नीचे तक लटकती रहती थी।[4] कांची से रुनझुन की ध्वनि शरीर की गति के साथ होती थी। इसमें किंकणियाँ लगी होती थीं।[5] कांची में मुक्तायें भी पिरोयी रहती थीं। कटि-प्रदेश के अन्य आभरण कुलक, मेखला, रशना और कलाप विविध प्रकार की करधनियाँ थीं। कांची में केवल एक लड़ी होती थी, मेखला में ८, रशना में १६ और कलाप में २५ लड़ियाँ होती थीं।[6] पुरुष कटिप्रदेश की शोभा बढ़ाने के लिए कटिसूत्रक धारण करते थे।[7] इसका नाम सारसन भी था। सारसन से मोती की माला अंगूठों तक लटकती थी।[8]

कटि-प्रदेश के अलंकारों में किंकिणियों के अतिरिक्त ताराओं के आकार

---

१. कल्पसूत्र में जिन-चरित से।

२. बृहत्संहिता ७३.१–३।

३. बृ० सं० ७३.४–५।

४. किष्किन्धा ३३.३८ में प्रलम्बकांचीगुणहेमसूत्रा।

५. रामा० किष्कि० ३३.२५, ऋतुसंहार ३.२६, शिशुपालवध ९.७४।

६. नाट्यशास्त्र २१.३६–३७। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी नाम बहुत कुछ पर्यायवाची हो गये और यष्टियों की संख्या अनियमित रही।

७. कल्पसूत्र के जिनचरित से। Introduction to Prakrit में उद्धृत।

८. शिशुपालवध ३.१०।

की मणियाँ पिरोई जाती थीं।[1] गुप्तकाल में स्त्रियों के कटि-प्रदेश के अलंकारों के नाम मेखला, हेममेखला, कांची, रशना-कलाप, कनक, कांची, मणिमेखला, हेम-रशना आदि मिलते हैं।[2] प्रायः ये ही नाम या इनके पर्याय परवर्ती युग में करधनी के लिए मिलते हैं।[3] करधनी पुष्प की भी बनती थी। कालिदास ने केसर के पुष्प की दाम-कांची का उल्लेख किया है।[4]

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही पैरों में अलंकार का भार प्रायः सदा रहा है। उस समय पैर में पायजेब और झँवर से मिलते-जुलते अलंकार पहने जाते थे। कुछ लोग नीचे से लेकर घुटने तक अलंकार पहनते थे। नूपुर भी पहने जाते थे। वैदिक काल में पैर में खादि नामक अलंकार पहना जाता था।[5] रामायण में नूपुर से कूजन होने का उल्लेख है। इस अलंकार का प्रचलन उस समय आर्य और आर्येतर दोनों वर्गों में था।[6]

पादालंकार

परवर्ती युग में नूपुर, किंकिणीक, रत्नजालक, संघोषकटक आदि विविध प्रकार के अलंकार थे, जो गुल्फ के ऊपर पहने जाते थे। गुल्फ के नीचे पैर पर पादपत्र होता था। अंगुलियों में अँगूठियाँ पहनी जाती थीं। अँगूठे में तिलक नाम का गहना पहना जाता था।[7] उपर्युक्त सभी गहनों में रमणीयता की दृष्टि से नूपुर का सर्वाधिक महत्त्व था। नूपुर का उपयोग नृत्य करते समय पद की नर्तन-गति द्वारा अभीष्ट मात्रा में विविध प्रकार के अनुनाद निकालने में होता था।[8] इसकी मनोरम

---

१. मृच्छकटिक १.२७।

२. ऋतुसंहार १.४; १.६; २.२०; ३.३; ३.२६; ६.४; ६.२६।

३. शिशुपालवध में रशना-कलाप ९.४५ में, मेखला-कलाप ८.४५ में, स्वर्ण-मेखला ६.१४ में कांची ७.१७ में।

४ कुमार सं० ३.५५ तथा हरविजय १७.२५, ९८।

५: ऋग्वेद ५.५४.११।

६: रामायण किष्किन्धा-काण्ड ३३.२५; ६.२२।

७. नाट्यशास्त्र २१.३९–४० इस प्रकरण में पादयोः के स्थान पर जंघयोः पाठ पादपत्र नामक आभूषण के सम्बन्ध में मिलता है। यदि जंघयोः पाठ को मान्यता दी जाय तो पादपत्र जाँघ का अलंकार हुआ। जाँघ में साधारणतः कोई अलंकार धारण करने का प्रचलन नहीं था। अजन्ता की दूसरी गुफा में मायादेवी के चित्रण में जाँघ पर मणियों का बना एक अलंकार मिलता है। अँगूठे में मंजीरकनामक गहना भी पहना जाता था। हरविजय १५.५।

८. शिशुपालवध ७.१८।

ध्वनि का विचार करके इसका नाम कलनूपुर रखा गया।[1] पाद में हंस के समान मनोरम ध्वनि करने वाला अलंकार हंसक या पादकटक होता था।[2] हर्ष के समकालीन सामन्त पादबन्ध धारण करते थे। इस अलंकार में रत्न जड़े होते थे।[3]

पैर की सुरक्षा और शोभा के लिए जूता पहनने का प्रचलन वैदिक काल से लेकर सदा ही रहा है।[4] परवर्ती युग में चिरस्थायिता और सुन्दरता की दृष्टि से बीसों प्रकार के जूते बनने लगे। जूते रंग-विरंग के—लाल, पीले, नीले, भूरे, काले आदि होते थे। कुछ जूतों के केवल किनारे लाल-पीले आदि होते थे। बनावट की दृष्टि से खल्लकबद्ध, पालिगुण्ठिम, पुटबद्ध, तूलपूण्णिक, तित्तिरपत्तिक, मेण्डविषाणबद्धिक, अजविषाणबद्धिक, विच्छिकालिक, मोर-पंखपरिसिब्बित, चित्रा आदि कोटियों के जूते होते थे।[5] जूतों के नाम से उनकी रूपरेखा और उपादान के सम्बन्ध में जो कल्पना हो सकती है, उसके अनुसार खल्लकबद्ध का तला विशेषरूप से आच्छादित होता था। पुटबद्ध से जानु तक पैर ढकता था। पालिगुण्ठिम फीते से बाँधा जाता था और केवल पैर को ढकता था। तूलपूण्णिक में रूई भरी जाती थी। तित्तिरपत्तिक तीतर के डैने के आकार का बनता था। मेण्डविषाणबद्धिक में भेड़े का सींग और अजविषाणबद्धिक में बकरे का सींग लगा दिया जाता था। विच्छिकालिक को बिच्छू के आकार की रचनाओं से अलंकृत किया जाता था। मोर-पंख-परिसिब्बित में मोर के पंख सीये जाते थे। चित्रा जूते की विशेषता थी अनेक रंगों में रंजित होना। जूते के बनाने में सिंह, चीते, व्याघ्र, हरिण, उदविलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लू के चर्म का उपयोग किनारों को सजाने के लिए होता था।[6] जूतों पर सोनें, चाँदी, मोती, हीरे, लाल आदि विविध धातुओं रत्नों और, मणियों से शिल्प का काम होता था।[7] तृण, मूंज, बज, कमल आदि घासों से, हिन्ताल के पत्तों से और ऊनी वस्त्रों से पादुकाएँ बनाई जाती थीं।[8] रामायण के अनुसार राम ने भरत को पादुकाएँ दी थीं।

जूता

---

१. ऋतुसंहार ३.२०।
२. शिशु० ७.२३।
३. हर्षचरित से।
४. तैत्तिरीय संहिता ५.४.४.४ तथा ५.६.६.१; शतपथ ५.४.३.१९।
५. महावग्ग ५.२.१–३।
६. महावग्ग ५.२.४।
७. वही ५.८.३।
८. वही ५.८.१

वह स्वर्ण से भूषित और भलीभाँति अलंकृत थीं।[1] स्त्रियाँ समय-समय पर खड़ाऊँ तथा जूते दोनों पहनती थीं।[2] एरियन ने लिखा है कि भारत के निवासी श्वेत चर्म के जूते पहनते हैं। इनकी सजावट बहुत अधिक होती है। तले रंग-विरंग के होते हैं। मुख्य तला बहुत मोटा होता है, जिससे पहनने वाला कुछ ऊँचा जँचे।[3] गुप्तकाल में लोग जूते पहन कर बाहर निकलते थे। इस युग में गाय, भैंस, बकरे, भेड़ तथा वन्य पशुओं के चर्म से रंग-विरंग के जूते बनते थे। तत्कालीन जूतों के नाम सकल-कृत्स्न, प्रमाणकृत्स्न, खल्लक, खपुसा, कोशक, जंघ, अर्धजंघ, पुटक, वर्णकृत्स्न आदि थे।[4] भारतीय जलवायु और भूमि की बनावट साधारणत: ऐसी है कि जूते के बिना काम चल सकता है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि लोग साधारणत: नंगे पैर चलते हैं। जूते का प्रचलन कम है।[5]

दिन के विविध भागों में विभिन्न प्रकार की वेश-भषा होती थी। यथा—

अभिनवकुशसूचिस्पर्धिकर्णे शिरीषं
मरुबकपरिवारं पाटलादाम कण्ठे।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणां
दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेशश्चकार॥

काव्यमीमांसा १८ वें अध्याय से।

इसमें राजशेखर ने सन्ध्याकालीन वेशभूषा की विशेषता बताई है।

सुसंस्कृत नागरिकों की सभ्यता का परिचय उनकी पूरी वेश-भूषा से मिलता है, पर अधिकांश जनता सभ्यता के सभी आडम्बरों को अपनाने में सदा असमर्थ रही है।[6]

१: अयोध्या ११२.२१, २९। २: सूयगडंग १.४.२.९।

३: Life in Ancient India as described by Megasthenes and Arrian, पृ० २२५।

४. बृहद्भाष्य ४.३८२४–३८७३

५. ह्वेनसांग : वाटर्स, भाग १, पृ० १५१ से।

६. ह्वेनसांग ने भारतवासियों की रहन-सहन की इस विविधता और विषमता का परिचय इन शब्दों में दिया है—The kshatriyas and Brahmins are clean-handed and unostentatious, pure and simple in life and very frugal. The dress and ornaments of the kings and grandees are very extra-ordinary. Garlands and tiaras with precious

स्वास्थ्य-साधन

स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने शरीर के सभी अंगों से पर्याप्त मात्रा में काम ले। जिन अंगों से काम नहीं लिया जाता, वे ढीले पड़ जाते हैं। यदि पर्याप्त मात्रा में शारीरिक श्रम नहीं किया जाय तो शरीर निकम्मा हो जाता है और सभी इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। ऐसी परिस्थिति में व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है। आजकल की ही भाँति प्राचीन समाज में भी कुछ लोग तो ऐसे थे, जिन्हें अपनी जीविका के लिए नित्य इतना काम करना पड़ता था कि उन्हें व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। ऐसे लोगों में कृषक, पशुपालक या शिल्पी आदि होते थे। अपनी जीविका के लिए इनसे ऊपर समाज में एक दूसरा वर्ग था, जिसे शारीरिक श्रम करना आवश्यक नहीं था। यह साधारणतः सम्पन्न वर्ग था, जिसके लिए सभी काम उनके सेवक कर देते थे। ऐसे लोगों को स्वस्थ रखने के लिए व्यापक का विधान बना।

व्यायाम

स्वास्थ्य के अतिरिक्त शरीर को सुन्दर और कर्मण्य बनाने के लिए भी व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है। क्षात्र-धर्म अपनाने वालों का अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करने में तथा युद्ध-विद्या के सीखने में पूरा व्यायाम हो जाता था। वैज्ञानिक दृष्टि से व्यायाम के द्वारा शरीर का मांस स्थिर हो जाता है और कुरूप मानव का शरीर भी सुदर्शन बनता है।[1]

संस्कृति के आदि काल से किसी न किसी रूप में लोग सदैव व्यायाम करते आये हैं। सिन्धु-सभ्यता के युग के लोगों के व्यायाम करने की पद्धति का परिचय हड़प्पा में मिली हुई एक आकृति से मिला है, जिसमें कोई व्यक्ति व्यायाम करता हुआ दिखाया गया है। वह व्यक्ति नंगा होकर अपने दोनों हाथ पीछे की ओर फेंके हुए है।[2] मेगस्थनीज़ ने लिखा है—भारतीय व्यायाम से शरीर में रगड़ और घर्षण होता है। यह कई प्रकार से सम्भव होता है।

---

stones are their head adornments, and their bodies are adorned with rings, bracelers and necklaces. Wealthy mercantile people have only bracelets. Most of the people go barefoot and shoes are rare. Watters : Vol. I, P. 151.

१. सुश्रुत चिकित्सित स्थान २४ वें अध्याय से। वय, रूप और गुण से हीन व्यक्ति भी व्यायाम से सुदर्शन हो जाता है।

२. Excavations at Harappa, P. 295.

शरीर के चर्म पर कोविदार की चिकनी लकड़ी के बने वेलन को घुमाया जाता है।[1]

व्यायाम के द्वारा शरीर की जो रूपरेखा बन जाती थी, उसका वर्णन महाभारत के इस श्लोक में है:—

> **पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ।**
> **ऊरूपरिघसंकाशौ संहतं चाप्युरो महत्॥ आदि प० १४०.९॥**

(बाँहें सुवृत्त, हाथी की सूड़ की भाँति, जाँघ परिघ जैसी और छाती संहत) इस युग में राजकुमार नित्य व्यायाम करते थे।[2]

उपर्युक्त दृष्टि से व्यायाम की परिभाषा नियत हुई। शरीर की वह चेष्टा जो मन को अभीष्ट होती हुई स्थिरता, दृढ़ता तथा बल का संवर्धन करती है, वही व्यायाम है।[3] दूसरे शब्दों में शरीर को थका देने वाला कर्म व्यायाम कहा गया है।[4]

व्यायाम करने के लिए प्रातःकाल सर्वोत्तम माना जाता था। स्नान के पहले और लगभग दोपहर के समय भी कुछ लोग व्यायाम करते थे। व्यायाम में उछलना, कूदना, मल्ल-युद्ध, दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध तथा आयुध-युद्ध आदि समन्वित थे।[5]

राजाओं के व्यायाम के लिए विशेष स्थान होता था, जिसे व्यायाम-भूमि कहा जाता था। व्यायाम में अनेक उपकरणों का उपयोग होता था, जो प्रयोग में आने के पश्चात् कहीं अन्यत्र रख दिये जाते थे। अनेक समवयस्क लोग साथ ही व्यायाम करते थे। व्यायाम करते हुए उनके कपोल, वक्षःस्थल, ललाट आदि पर पसीने की बूंदें झलकती थीं।[6]

राजकीय योजना

कुछ राजा प्रजा के प्रसाधन और वस्त्रादि के अलंकरण का ध्यान रखते थे। कश्मीर के राजा हर्ष ने परिचारिकाओं की वेश-भूषा इस प्रकार निर्धारित की थी —

---

१. Ancient India, P. 69.
२. सभापर्व ५२.३३।
३. चरक सूत्रस्थान ७.३०।
४. सुश्रुत चिकित्सितस्थान २४.३५।
५. कल्पसूत्र १ महावीरचरित।
६. कादम्बरी, पृ० १५।

स्वर्ण-केतक-पत्रांग-जूटलम्बोर्जित-स्रजः।
चटुला तिलकाश्लिष्टविलोलतिलकांकुरा॥
अपांग श्रोत्रयोर्बद्ध-सन्धयोऽञ्जनरेखया।
निर्नीरंगिक-केशान्तबद्धहेमोपवीतकाः॥
अधराम्बरपुच्छान्तैर्लम्बैश्चुम्बितभूतलाः।
पुच्छावितार्धदोर्लेखकंचुकांकपयोधराः॥

राजत० ७.९२८–९३०।

सम्भवतः ऐसा ही प्रसाधन तत्कालीन शालीन स्त्रियों का भी हो।

अध्याय २०

वस्त्र और परिधान

संस्कृति की प्रगति के साथ ही वस्त्र-विन्यास का महत्त्व शरीर को सजाने की दिशा में विशेष रूप से दिखलाई देता है। वस्त्र-विन्यास के द्वारा सुन्दर बन जाने की कला को मानव ने सुदूर प्राचीन काल से अपनाया। इस दिशा में वस्त्रों का महत्त्व अलंकारों के समकक्ष है। सुन्दरता की दृष्टि से रंग-विरंगे, चित्रित, स्वर्ण-रत्न-जटित, भलीभाँति कटे-छँटे और सिले, विविध प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों की विशेषता रही है। ऐसे वस्त्र मानव की अपनी वैभव-सम्पन्नता और सुरुचि का अन्य नागरिकों के मन पर प्रभाव डालने के माध्यम रहे हैं।

भारत में जलवायु सापेक्ष दृष्टि से कठोर नहीं रही है। ऐसी परिस्थिति में कभी प्रकृति की ओर से अधिकाधिक वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं रही। जहाँ तक शरीर को सजाने का सम्बन्ध है, प्राचीन काल में आभूषणों के प्रति इतनी अधिक सुरुचि थी कि उन्हीं से शरीर का आधा से अधिक भाग ढक जाता था और फिर इन आभूषणों को यदि वस्त्र से ढक दिया तो उनसे लाभ ही क्या होता? प्रत्यक्ष है कि ऐसी परिस्थिति में वस्त्रों को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था। फिर भी यदि किसी ने चाहा तो अनेक प्रकार के सुरुचिपूर्ण वस्त्र-विन्यास के प्रायः सभी उपादान उसे कभी दुर्लभ नहीं रहे।

ऋतुओं के अनुकूल वस्त्र-विन्यास की रीति सम्भवतः सुदूर प्राचीनकाल से ही रही होगी। बौद्ध संघ में बरसात के लिए विशेष प्रकार की लुंगी पहनने का प्रचलन था। हेमन्त ऋतु में दूकूल की साड़ी और सूक्ष्म अंशुक का स्तन-पट स्त्रियाँ नहीं धारण करती थीं।[1] शिशिर में भारी-भरकम वस्त्र धारण किये जाते थे।[2] शिशिर का मनोज्ञ कूर्पासक स्तन पर कसा होता था। इस ऋतु में कौशेयक विशेष अभिरुचि से पहना जाता था।[3] दिन और रात के लिए भी अलग-अलग वस्त्र होते

---

१. ऋतुसंहार ४.३।

२. वही ५.२।

३. ऋतुसंहार ५.८।

थे।[1] वसन्त में कुसुम्भी रंग से स्त्रियों की साड़ी की तथा कुंकुम से स्तनांशुक की रँगाई होती थी।[2] स्त्रियाँ इस ऋतु में भारी वस्त्र उतार कर सूक्ष्म और लाक्षारस से रँगे और कालागुरु से धूपित वस्त्र पहनती थीं।[3] नहाने के लिए भी विशेष प्रकार के वस्त्रों की उपयोगिता की ओर लोगों का ध्यान गया था। बौद्ध संघ में भिक्षुणियों के स्नान के लिए स्नान-वस्त्र विशेष प्रकार का होता था।[4] दसवीं शती के धनी लोगों में ग्रीष्म ऋतु में शरीर पर आर्द्र वस्त्र धारण करने की रीति रही है।[5]

दसवीं शती में पूर्वी भारत, पंचाल, अवन्ती और दक्षिणी भारत की वेश-भूषा का नाम क्रमशः औड्रमागधी, पांचालमध्यमा, आवन्ती तथा दक्षिणात्या था। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषतायें थीं।[6]

सिन्धु सभ्यता के युग के चित्रों और मूर्तियों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय वस्त्र पहनने की शैली उच्चकोटि की थी। वस्त्र को सुरुचिपूर्ण ढंग से पहनने का महत्त्व वैदिक काल से प्रायः सदा ही मिलता है।

अभिरुचि

कपड़े सीने का प्रचलन अधिक नहीं था। ऐसी परिस्थिति में सौचिक के हाथ में किसी के शरीर को सजाने की जो कला होती है, उसके अभाव की पूर्ति भी स्वयं वस्त्र पहनने-पहनाने वालों को ही करनी पड़ती थी। जो कपड़े भलीभाँति पहने जाते थे, उन्हें सुवसन कहा जाता था।[7] सुवसन के द्वारा व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक बन जाता था और ऐसे व्यक्ति के लिए विशेषण था सुवासस्।[8] नेत्रों को सुन्दर लगने वाले वस्त्र विन्यास का एक विशेषण सुरभि था।[9] कुरूप लोग भी जब सज-धज कर वस्त्र पहन लेते थे तो उनकी शोभा मनोहर बन जाती थी।

नये वस्त्र का पहनना अभ्युदय का परिचायक माना जाता था। नये वस्त्र

---

१. ऋतुसंहार ५.१४।
२. वही ६.५।
३. वही ६.१५।
४. महावग्ग ८.१५.१५।
५. कर्पूरमंजरी ४.६; ४.४।
६. काव्यमीमांसा तृतीय अध्याय।
७. ऋग्वेद ९.९७.५०।
८. ऋग्वेद १.१२४.७।
९. ऋग्वेद ६.२९.३।

पहनने के समय अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि पहनने वाला स्वर्णाभ (सोने की भाँति चमकने वाला), सततयुवा, वृद्धावस्था में ही मरने वाला और वीर पुत्रों वाला हो जाय।[१]

धोती पहनने की शैली कलात्मक होती थी। उसके विन्यास से हाथी की सूंड, मछली के जाल, चार कोण, ताल-वृन्त, शतवल्लिका आदि की रूप-रेखा बनाई जाती थी।[२] शरीर के रंग से मेल खाते हुए वस्त्र और आभूषण पहनने का चाव था।[३]

निर्मल वस्त्र पहनने की विशेष रुचि थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार निर्मल वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य, यश और आयु बढ़ती है, दरिद्रता दूर होती है, मन प्रसन्न रहता है, शोभा और लक्ष्मी बढ़ती है तथा परिषदों में बैठने की योग्यता आती है। फटे वस्त्र नहीं पहनने चाहिये, वस्त्र विन्यास के द्वारा मनुष्य का सौजन्य झलकना चाहिए।[४] एरियन ने भारतवासियों के श्वेत चमचमाते हुए वस्त्र की प्रशंसा की है और लिखा है कि यह भारतीय रुई की विशेषता है अथवा संभवतः भारतवासियों के अश्वेत शरीर पर उनके वस्त्र विशेष रूप से श्वेत न होने पर भी अत्यधिक फबते हैं।[५]

विविध अवसरों के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्र होते थे। यज्ञ के अवसर पर पुरोहित और यजमान के विशिष्ट प्रकार के वस्त्र पहनने का उल्लेख वैदिक साहित्य में प्रायः मिलता है। संग्राम में जाने वाले सैनिकों की वेश-भूषा का विशेष प्रकार का होना स्वाभाविक है।[६] अमात्य, कंचुकी, सेठ और पुरोहित सिर पर वेष्टन, बन्ध-पट्ट और प्रतिशीर्ष धारण करते थे।[७] आगे चल कर पहनावे की दृष्टि से चार प्रकार के वस्त्र नियत हुए—नित्य निवसन, निमज्जनिक

---

१. अथर्ववेद १९.२४.८।

२. चुल्लवग्ग ५.२९.४।

३. महापरिनिब्बान सुत्त २.१८ के अनुसार काले नागरिक काला वस्त्र और आभूषण, गोरे नागरिक श्वेत वस्त्र और आभूषण तथा गेहुँये रंग के नागरिक लाल वस्त्र और आभूषण पहन कर गौतम से मिलने निकले।

४. चरकसूत्र० ५.९२; ८.१८–१९।

५. Ancient India, as Described by Megasthenes and Arrian P. 224.

६. नाट्यशास्त्र २१.१२६।

७. वही २१.१३९।

(स्नान के पश्चात्), क्षणोत्सविक (उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए) तथा राजद्वारिक।[1]

वस्त्र-विन्यास के प्रति अभिरुचि का प्रमाण तत्कालीन पहिनावे की उन शैलियों से लगता है, जो केवल सौन्दर्य-साधन के लिए होती हैं। उनके कुछ पहिनावे तो ऐसे होते थे, जिनके द्वारा सुसज्जित होने पर लोगों का मूर्ति की भाँति स्थिर रहना आवश्यक हो जाता था, अन्यथा वस्त्र उस स्थिति में ठहर ही नहीं सकता था। ऐसी परिस्थिति में निश्चित प्रतीत होता है कि इस कोटि के वस्त्र-विन्यास पहनने वालों की महिमा प्रदर्शन के उपकरण बन चुके थे। उदाहरण के लिए मथुरा की एक पुरुष-मूर्ति का दुपट्टा बायें कन्धे से पीठ पर कर्णगत होते हुए, दाहिने घुटने को प्रच्छादित करके, जाँघों पर कर्णगत होते हुए, कटि पर रखे हुए बायें हाथ की कलाई के ऊपर से होकर, बाई जाँघ के समानान्तर एक हाथ नीचे तक लटकता है। उसका दूसरा छोर बायें कन्धे से नीचे और सामने की ओर से बाई काँख के नीचे से बाई जाँघ के समानान्तर एक हाथ नीचे लटकता है। इस मूर्ति की धोती में कटिबन्ध का एक छोर घुटनों के बीच से दो फुट नीचे तक लटकता है। यह सारी सजावट व्यक्तित्व की उच्चता की अभिव्यक्ति के लिये होती थी, पर कभी-कभी ही इस प्रकार के ठाट-बाट चलते होंगे, क्योंकि उनको धारण करके उसी शैली में अधिक देर तक रख लेना शरीर की स्तब्धता के बिना नहीं हो सकता था और यह शरीर के लिये कठिन व्यायाम ही होता था।

जो वस्त्र कभी आवश्यकता की दृष्टि से पहने जाते थे, उनको लोग इस प्रकार पहनने लगे कि वे केवल सजावट मात्र के लिये हो गये। कटिबन्ध धोती को कसने के लिये पहिले थे, पर आगे चलकर वह इतना ढीला पहना जाने लगा कि कटि-प्रदेश से लेकर जाँघों के बीच तक लटकता था। कटिबन्ध का कटि-प्रदेश से कुछ मूर्त्तियों में कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। साड़ी भीकभी-कभी कटि-प्रदेश के एक८ फुट नीचे से ही आरम्भ होती थी।

विदेशी पहनावे, जो प्राय: अधिक ठंडे प्रदेशों की जलवायु के अनुकल बनाये गये थे, धीरे-धीरे भारत में नागरिकों के द्वारा अपनाये गये। विदेशी पहनावों में टोपी, कंचुक, पायजामा, सलवार आदि से शरीर अधिक स्फूर्तिशाली दिखाई पड़ सकता है। इसी विचार से लोगों ने उन्हें अपनाया। ऐसे वस्त्र शक और कुशन राजाओं तथा उनके कर्मचारियों के माध्यम से गन्धार से लेकर मथुरा प्रदेश तक ईसवी की आरम्भिक शतियों में समृद्धिशाली वर्ग में प्रचलित रहे।

---

१. बृहत्कल्प सू० भा० १.६४४।

प्रत्येक वर्ग के लिए एक विशेष प्रकार के वस्त्र-विन्यास की योजना कुछ-कुछ वैदिक काल से मिलती है। इस योजना का प्रस्फुटित रूप सैनिकों की वेष-भूषा में मिलता है। सभी सैनिक एक ही प्रकार के पहिनावे से सुसज्जित होते थे।[1] प्रायः प्रत्येक व्यवसाय के लिए अथवा कार्य-प्रणाली की सुकरता के लिये विशेष प्रकार के वस्त्र अधिक सुविधाजनक होते हैं। अजन्ता और बाघ के चित्रों से तथा गुप्तकालीन सिक्कों से ज्ञात होता है कि उस समय मृगयु, योद्धा, राजदूत, कंचुकी, हाथीवान, बहेलिया, सामन्त, राजा, वीणावादक और राजकर्मचारी आदि में से प्रत्येक के वस्त्र की अपनी विशेषतायें होती थीं।

सिन्धु-सभ्यता के युग से वस्त्रों के चित्रण का प्रचलन प्रायः सदा ही मिलता है। उस समय धनी लोगों के उत्तरीय पर फूल-पत्तों के चित्र बने होते थे। योगी की मूर्ति में उसके उत्तरीय पर तीन पत्तियों के चित्र बने दिखाये गये हैं। कपड़े रंगने की रीति चल चुकी थी। कपड़ों को रंगने के लिये संभवतः भूमि में गड़ी हुई नादों का उपयोग होता था। उस युग की ऐसी अनेक नादें मिलती हैं।

सजावट

वस्त्रों पर अलंकरण के द्वारा वैदिक काल में पहनने वाले की विशेषताओं का परिचय देने का प्रयास किया जाता था। राजसूय-यज्ञ के लिये दीक्षित राजा तार्प्य नामक वस्त्र पहनता था। उस पर याज्ञिक वस्तुओं की आकृति होती थी।[2] प्रायः सभी कपड़ों पर शिल्प का काम होता था। इस काम का नाम पेशः था। सुनहले शिल्प और चित्रण के कारण अत्क और द्रापि नामक वस्त्र चमकता था।[3] रजयित्री वस्त्रों को रंगने वाली स्त्री होती थीं।[4] ऊन को पहले रंगकर उसके बुनने की प्रक्रिया आरम्भ होती थी।[5]

वस्त्रों को रंगने की रीति बौद्ध युग में इतनी प्रचलित थी कि संघ के लिए नियम बना कि वस्त्र रंगकर पहने जा सकते हैं। ऐसे रंग वनस्पतियों के जड़, तने, छाल, पत्तों, पुष्पों और फलों से बनाये जाते थे। रंगने के लिये बड़े-बड़े पात्र काम में लाये जाते थे। रंग को पहले उबाला जाता था, जिससे उसमें किसी प्रकार की दुर्गन्ध न रह जाय। रंग को रखने के लिये घड़े होते थे।[6] हाथी-दाँत की भाँति

---

१. हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास पृष्ठ १६१।

२. ऋग्वेद २.३.६; ४.३६.७; ७.३४.११ वाजसनेयिसंहिता ३०.९।

३. ऋग्वेद १.१२२.२; ५.५५.६; १.१६६.१०; १.२५.१३।

४. वाजसनेयिसंहिता ३०.१२।

५. शतपथ ५.३.५.२१।

६. महावग्ग ८.१०।

पीलापन लिये हुए वस्त्र पहनने की अभिरुचि गृहस्थों में थी।[१] गृहस्थ नीले, पीले, भूरे, काले और कोकटी रंग के कपड़े पहनते थे। उनके वस्त्रों पर पुष्प और नाग-फण बने होते थे। उनके वस्त्रों से मनोरम अंचल सम्बद्ध होते थे।[२] कम्बल नामक वस्त्र विशेष रूप से चित्रित होते थे।[३] केसर-पुष्प में रंगा हुआ वस्त्र कार्तिक महोत्सव में फैशन रहा।[४] वस्त्रों को धोने के लिये धोबी का व्यवसाय सुदूर प्राचीन काल से ही रहा है। रेह लगाकर मलिन वस्त्र को पानी में उबाला जाता था और उसे स्वच्छ जल से धो दिया जाता था।[५] मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतवासियों के वस्त्र पर सुनहला शिल्प रहता है और उसमें बहुमूल्य मणियाँ जड़ी रहती हैं। वे सूक्ष्म मलमल के पुष्परचित वस्त्र पहनते हैं।[६]

वस्त्रों को रंगकर उनका अपने शरीर के रंग से मेल मिला देना कला थी, जो सुसंस्कृत नागरिकों को अच्छी लगती थी। स्त्री और पुरुष दोनों ऐसे रंगीन वस्त्र पहनने के प्रति विशेष अभिरुचि रखते थे।[७]

महोत्सव के अवसरों पर वस्त्रों की विशेष रूप से सजावट होती थी। ऐसे अवसरों के लिये धनी और निर्धन सभी दम्पति अपने वस्त्रों को धुलवाकर उसमें इस्तिरी कराते थे और चुनकर रखते थे।[८]

वस्त्रों की सजावट के लिये उनको धोकर रंगा जाता था, फिर झाड़ने, रगड़ने और स्वच्छ करने की प्रक्रियायें होती थीं। अन्त में वस्त्र का सुगन्धीकरण होता था।[९] वस्त्रों को स्वच्छ करने के लिये ठंडे और उष्ण दोनों प्रकार के जलों का उपयोग होता था।[१०] कपड़ों को शुद्ध करने के लिए उन्हें वायु और धूप में रखकर सुखाया जाता था।[११]

---

१. महावग्ग ८.११।

२. महावग्ग ८.२९ से।

३. रामायण अयोध्या ७०.१९।

४. पुप्फरत्त जातक १४७।

५. णायधम्म कहा ३.६०।

६. Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian P. 69.

७. सिरिकालकण्णि जातक ३८२।

८. पुप्फरत्त जातक १४७ से।

९. आचारांग २.५.१.३ तथा २.५.१.११ से।

१०. वही २.५.१.१२। ११. वही २.५.१.२०।

चर्म के बने वस्त्रों को न तो धोने की विशेष आवश्यकता होती थी और न रँगने या चित्रित करने की। प्रकृति स्वयं प्रायः सभी चर्मों के रोयें और ऊन पर मनोरम चित्रकारी और सजावट कर देती है। सूती, रेशमी और क्षौम वस्त्रों को भी प्रकृति का दिया हुआ नैसर्गिक रंग कुछ कम मनोरम नहीं होता।

वस्त्रों के सम्बन्ध में नियम था कि कौन कैसा वस्त्र पहने। राजाओं के वस्त्र चित्रित होते थे। कंचुकी, अमात्य, सेठ, पुरोहित, बनिये, शास्त्रविद् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के वस्त्र शुद्ध (चित्ररहित) होते थे। वल्कल और चर्म का वस्त्र तपस्वियों के लिये होता था। अन्तःपुर में काम करने वाले सभी लोगों के वस्त्र कषाय वर्ण के होते थे।[1] रानी कषाय-रक्त वस्त्र धारण करती थी।[2] अभिजात कन्यायें वीर-बहूटी के समान लाल अंशुक से अवगुंठन करती थीं।[3]

ब्राह्मणों के लिये नीले वस्त्र का निषेध था। साधारणतः श्वेत वस्त्र की सात्त्विकता से प्रभावित होकर जनता उसे सबसे अधिक चाहती थी।[4] वस्त्रों की मनोहारिता को बढ़ाने के लिये उन्हें सुगन्धित करने की प्रक्रिया का अतिशय विकास गुप्तकाल से हुआ। अनेक द्रव्यों के योग से सुगन्धित बनाने वाले उपादानों को बनाया जाता था। वसन्त ऋतु में लाक्षारस से रंजित किये हुए वस्त्रों को सुगन्धित कालागुरु से धूपित करके रसिक लोग पहिनते थे।[5] कपूर के पत्तों को वस्त्र पर मसल कर उसके रस से उन्हें सुगन्धित करने की रीति का प्रचलन कुछ प्रदेशों में था।[6] वस्त्रों को सुगन्धित करने के लिये जो रसायन अनेक द्रव्यों को मिलाकर बनाया जाता था, उसका नाम पुटवास था।[7] वस्त्र को धोकर घृष्ट और मृष्ट करके उसे संप्रधूमित किया जाता था।[8] रँगे वस्त्रों को धारण करने की योजना मनःस्थिति और अवसरों के अनुकूल प्रचलित रही है। तरुण अर्क के समान रंग वाला वस्त्र शृंगारमयी मनोवृत्तियों के लिये अनुकूल था।[9]

---

१. नाट्यशास्त्र २१.११७–१२४।
२. कादम्बरी, पृ० ९३।
३. वही पृ० १००।
४. अत्रिस्मृति २४३; वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १४८।
५. ऋतुसंहार ६.१५, मयूहक जातक ३९० की वर्तमान कथा।
६. कादम्बरी, पृ० २१६।
७. बृहत्संहिता पृ० ६०६।
८. बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य ३.३००१।
९. कुमारसंभव ३.५४।

वस्त्रों को रत्नों से अलंकृत करने का विधान था। स्त्रियों के उत्तरीय में रत्न गूंथे जाते थे।[1] सैनिकों के वारबाण नामक पहनावे में चमकते हुये मोतियों के स्तबक पिरोये जाते थे।[2]

गुप्तयुग में वस्त्रों को चित्रण द्वारा सजाने की कला का विकास हुआ। धनी लोगों के दुकूल फेन के समान धवलित होते थे। उनके अंचल पर गोरोचन से हंस-मिथुन बनाये जाते थे।[3] किसी-किसी के वस्त्र पर सैकड़ों फूल और पक्षी चित्रित होते थे।[4] हंस-दुकूल पर सैकड़ों हंस चित्रित होते थे।

अजन्ता और बाघ के गुप्तकालीन चित्रों से ज्ञात होता है कि लोगों के वस्त्रों, पर अनेक मनोरम वस्तुओं के चित्र बनते थे। ऐसी आकर्षक वस्तुओं में पक्षी, पुष्प, पत्र, तारे, वृषभ आदि हैं।

श्वेत धोतियों के किनारे लाल, नीले, या पीले रँगों में रंगे जाते थे। स्त्रियों की साड़ी पर एक इंच तक चौड़ी धारियाँ किसी रंग में रंगी हुई या चित्रों और ज्यामिति की आकृतियों से सुसज्जित होती थीं।

वस्त्रों की बुनावट को एक के नीचे दूसरे रंग रखकर मनोरम बनाया जाता था। कौशेय वस्त्रों के लिये इस प्रकार का वर्ण-संयोजन अतिशय लोकप्रिय था।[5]

सिर के वस्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग में सिर पर अनेक प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। स्त्री और पुरुष दोनों के सिर पर पंखे के आकार का शिरोवस्त्र सम्बद्ध होता था। इसमें मणियों के कुछ अलंकार लगाये जाते थे। शिरोवस्त्र सिर के मध्यभाग से अथवा पीछे की ओर लटकती हुई चोटी के उपरिभाग पर नारे से बाँध कर खड़ा किया जाता था। कुछ पुरुष टोपियाँ पहनते थे। टोपी पहनने वाली स्त्रियों की संख्या कम थी। स्त्रियों की टोपी ढीली-ढाली थी। कुछ लोग सिर पर पगड़ी

---

१. रघुवंश १६.४३।

२. हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास, पृ० १६१, तारमुक्तास्तवकस्तवरकवारवाणैः आदि।

३. रघु० १७.२५, कादम्बरी, पृ० ९, हर्षचरित १५१।

४. बहुविध-कुसुम-शकुनिशत-शोभितातपवन आदि, हर्षचरित, पृ० ९६।

५. दशपुर के बुनकरों के सं० ५२८ के शिलालेख में :—

स्पर्शवता वर्णान्तर-विभाग-चित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैः सकलमिदं क्षितितलमलङ्कृतं पट्टवस्त्रेण॥

बाँधते थे। सिर पर घोंघी जैसा कपड़ा सारे शरीर का आवरण करने के लिये विशेष परिस्थितियों में लटकाया जाता था।

सिर के लिये वेदकालीन पगड़ी का नाम उष्णीष था। वाजपेय और राजसूय यज्ञों के अवसरों पर राजा अपने पद के द्योतक उष्णीष धारणा करते थे। उष्णीष के दोनों छोरों को पीछे की ओर बाँध कर आगे की ओर लाया जाता था और वहीं वे खोंसे जाते थे। आर्येतर जन समुदायों में भी उष्णीष पहनने का प्रचलन था। स्त्री और पुरुष दोनों उष्णीष पहनते थे।[१]

बौद्धकालीन गृहस्थ पगड़ी पहनते थे।[३] ई० पू० द्वितीय शती में शुंगकाल में पगड़ी बांधने की अनेक शैलियाँ रही हैं। इनमें से परवर्तीयुग की कुछ शैलियों का परिचय तत्कालीन मूर्तियों से मिलता है। पगड़ी बांधने का वस्त्र चित्रित और अलंकृत होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पगड़ी के विभिन्न भागों की रचना के लिए वे लोग विविध प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करते थे। साधारणतः पगड़ी का छोर शेष भाग से भिन्न प्रकार का होता था। पगड़ी के वस्त्रों पर लतायें पुष्प, पत्तियाँ आदि बनी होती थीं। पगड़ी साधारणतः गौरवशालिनी दिखाई देती होगी। उसकी विशालता और ऊँचाई, जटाजूट आच्छादित करने के कारण और बढ़ जाती थी। पगड़ी के द्वारा विविध प्रकार की आकृतियाँ बनायी जाती थीं। ऐसी आकृतियों में गोलक की प्रमुखता रही है। गोलक सिर के किसी एक या अनेक भाग में हो सकते थे। वे सामने खड़े व्यक्ति को सरलता से दिखाई दे सकते थे। कुछ गोलक छोटे होते थे, पर कुछ पगड़ियों के गोलक का व्यास तीन-चार इंच से कम नहीं रहता था। पगड़ी में स्तूप, वृत्त, तोरण, पुष्प और पत्र आदि की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। कुछ पगड़ियों से एक या दोनों कान ढक जाते थे।

ललाट का अधिकांश भाग भी पगड़ी में तिरोहित हो जाता था। कुछ पगड़ियाँ तो भौहों तक का स्पर्श करती थीं। कुछ पगड़ियों से ऊपर की ओर पंखे जैसा एक छोर गोलाई में खड़ा रहता था। प्रायः पगड़ियों में झालर होती थी।[४]

---

१. शतपथ ५.३.५.२३; मैत्रायणी संहिता ४.४.३।

२. ऐतरेय ब्रा० ६.१, शतपथ ३.३.२.३; ४.५.२.७; १४.२.१.८। इन्द्राणी का उष्णीष पहनना, काठक संहिता १३.१०।

३. महावग्ग ८.२९।

४. पगड़ियों की उपर्युक्त रूप-रेखा के लिए भरहुत, अमरावती आदि की ई० पू० पहली और दूसरी शती की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

उपर्युक्त युग में पगड़ी साधारणतः पुरुष पहनते थे। स्त्रियों का पगड़ी पहनना अपवाद-स्वरूप था। स्त्रियाँ सिर पर ओढ़नी या रूमाल धारण करती थीं। ओढ़नी शिल्प-कर्म से अलंकृत होती थी। उस पर पुष्प और लतायें काढ़ी जाती थीं।

ई० पू० प्रथम शती की मूर्तियों में सिर के वस्त्रों की रूपरेखा प्रायः पूर्ववत् है, पर उनको धारण करने की शैलियों में नवीन विशेषतायें दृष्टि-गोचर होती हैं। पगड़ी में नये प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाने लगीं। इन आकृ-तियों में शिवलिंग, शंख, मृदंग और फूल प्रमुख हैं। गोलकों की संख्यायें कुछ पगड़ियों में तीन तक हैं। सांची की कुछ मूर्त्तियों में सिर पर टोपियाँ दिखाई गई हैं। कुछ टोपियाँ घण्टिकाओं की भाँति सिर पर रखी हुई प्रतीत होती हैं। कम ऊँची, गोल तथा मणि-जटित कुछ टोपियाँ सिर पर कसी हुई दिखाई गई हैं। कुछ टोपियों में आधुनिक तुर्की टोपी की भाँति पीछे की ओर शिखा लटकती हुई दिखाई गई है टोपियाँ शिल्प के काम—पत्र, पुष्प और लता की आकृतियों द्वारा सजाई जाती थीं। कुछ स्त्रियाँ भी पुरुष की भाँति विविध प्रकार की अलंकृत पगड़ियों से सिर को सजाती थीं।

स्त्रियाँ सिर पर विविध प्रकार की ओढ़नी धारण करती थीं। ओढ़नी पीछे की ओर पीठ पर लगभग एक फुट तक लटकती थी। ओढ़नी को ऐंठे हुये वस्त्र से दो या चार बार वलयित करके कुछ स्त्रियाँ उसे स्थिर कर लेती थीं। ओढ़नी के द्वारा सिर पर कुछ स्त्रियाँ घंटे या पंखे की आकृति रचती थीं।

परवर्ती युग की गन्धार की मूर्त्तियों में पगड़ी के साथ शीर्षपट्ट सम्बद्ध है। शीर्षपट्ट पर अनेक प्रकार के कथानकों का चित्रण होता था। कुछ शीर्षपट्टों पर महापुरुषों की आकृतियाँ काढ़ी जाती थीं। मथुरा की मूर्त्तियां में समृद्ध नागरिकों की पगड़ियों पर स्वर्णिम शीर्षपट्ट की शोभा दिखाई पड़ती है। विदेशी पहनावों में मथुरा और गन्धार की कुछ मूर्त्तियों पर सिर पर टोपी दृष्टिगोचर होती है।

मथुरा की मूर्त्तियों में टोपी सिर पर नीचे से ऊपर तक गोल और नुकीली उठती दिखाई गई है। टोपी की ऊँचाई एक फुट से कम नहीं रही होगी। टोपी पर शिल्प-कर्म होता था और चित्र काढ़े जाते थे। एक टोपी पर चन्द्रमा की आकृति काढ़ी गई है। कुछ टोपियाँ पगड़ी की आकृति की बनी होती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि टोपी और पगड़ी की बनावट की दृष्टि से यह एकता का युग आरम्भ हुआ था। दक्षिण भारत की मूर्त्तियों में पगड़ी बाँधने की अनेक मनोरम विधियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ लोग टोपियाँ पहनते थे। टोपियाँ कई प्रकार की होती

थीं और उन पर पत्र, पुष्प तथा अन्य सुन्दर आकृतियाँ चित्रित या शिल्पित होती थीं। कुछ टोपियाँ हैट के समान दिखाई पड़ती हैं। कुछ स्त्रियाँ सिर पर पगड़ी धारण करती थीं। उनकी पगड़ी में अलंकृत शीर्षपट्ट होता था। कुछ स्त्रियाँ मुकुट धारण करती थीं। मुकुट अनेक प्रकार के चित्रों और रत्नों से सजाया जाता था।

गुप्तकाल में धवल दुकूल-पल्लव से उष्णीष-ग्रन्थि की रचना होती थी।[1] उत्तरीय का उष्णीष बना लिया जाता था।[2] सैनिक कुंकुम-वर्ण के उत्तरीय से अपना सिर ढक लेते थे।[3]

अजन्ता और बाघ के चित्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस युग में राजा सिर पर रत्नजटित और सुचित्रित मुकुट या पगड़ी अथवा टोपी धारण करते थे। कुछ स्त्रियाँ सिर पर मुकुट, टोपी या पगड़ी धारण करती थीं।

कन्धे के वस्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग से कन्धे के आधार से चादर धारण करने का प्रचलन दिखाई देता है। चादर लगभग ४ फुट चौड़ी होती थी और इससे छाती का अधिकांश और पीठ ढक जाती थीं। इसका एक छोर दाहिने हाथ के नीचे से होकर बायें कन्धे के ऊपर लटकता था। दाहिना हाथ और कन्धा इस चादर से आच्छादित नहीं होता था। चादर पूरी चौड़ाई में ओढ़ी जाती थी। कुछ लोग गले से दुपट्टा भी लटकाते थे।

साधारणतः दो वस्त्र उत्तरीय और अन्तरीय या अधोवास पहनने का भारत में सदा से प्रचलन रहा है। इन दोनों को उपसंव्यान कहा जाता था।[4]

कन्धे से सम्बद्ध वस्त्र अनेक थे, पर वे सभी समय-समय पर धारण किये जाते थे। राजाओं के लिये अधिवास (साधारण वस्त्र) से शरीर का उपरिभाग आच्छादित होता था। शरीर के उपरिभाग के लिये विशेष वस्त्र—अत्क, प्रतिधि द्रापि, पर्याणहन और उपवसन आदि होते थे। अत्क और द्रापि अधिवास के नीचे पहने जाते थे। अत्क शेरवानी के समान तंग और लम्बा होता था। इससे

---

१. कादम्बरी, पृ० १७०।

२. हर्षचरित, पृ० ४९ प्रथम उच्छ्वास उत्तरीयकृतशिरोवेष्टनेन।

३. हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास, पृ० १६१।

४. महाभाष्य १.१.३७।

सारा शरीर आच्छादित हो जाता था।[१] द्रापि भी अत्क के समान ही होती थी, पर लम्बाई में सम्भवतः कुछ छोटी होती थी।[२]

उपनह्न और पर्याणह्न शरीर में बाँधे जाते थे। ये दोनों वस्त्र बगलबन्दियों की भाँति होते थे। इनमें पर्याणह्न बड़ा और उपनह्न छोटा होता था। मृगचर्म या वस्त्र को यज्ञोपवीत की भांति धारण करके लोग यज्ञ और अध्ययन आदि पवित्र कर्म करते थे। परवर्ती युग के दुपट्टे का यह पूर्वरूप था। परवर्ती युग में स्त्री और पुरुष दोनों के कंचुक पहनने का प्रचलन विशेष रूप से हुआ।[३] उपवास ओढ़नी के समान होता था। यह सूक्ष्म वस्त्र का बना होता था और वायु के झोंको से उड़ सकता था।[४] प्रतिधि वक्षःस्थल को आच्छादित करने के लिये होता था।[५] एरियन ने लिखा है कि नागरिक अपने दुपट्टे को दोनों कन्धों पर डालते हैं और उसके एक छोर से सिर पर पगड़ी बाँधते हैं।[६]

दुपट्टा धारण करने की विविध रीतियाँ प्रचलित रही हैं। वह बायें या दाहिनें अथवा दोनों कन्धों से होकर जा सकता था या एक कन्धे और एक बाँह या कन्धे पर न जाकर दोनों बाहों से होकर जाता था। इसका पाश आगे या पीछे एक फुट से लेकर तीन फुट तक लटकाये जाते थे। इसके छोर पार्श्व के समानान्तर घुटने तक लटकाये जा सकते थे, जिनमें से एक छोर आगे और दूसरा पीछे की ओर रखा जाता था या दोनों छोरों को छाती के निचले भाग पर लाकर बाँध दिया जाता था।

दुपट्टा धारण करने की बहुप्रचलित विधि वही रही है, जो वैदिक काल में यज्ञ के अवसर पर थी। बायें कन्धे के ऊपर से होते हुये दाहिने हाथ के नीचे दुपट्टा जाता था।[७] सौन्दर्य-संवर्धन की दृष्टि से अन्य रीतियों से दुपट्टा वैदिक काल में भी

---

१. ऋग्वेद २.३५.१४; ५.७४.५; ६.२९.३।

२. वही १.१६६.१०, अथर्ववेद १३.३.१।

३. भिक्खुनी-पातिमोक्ख ४.४०.९६।

४. ऋग्वेद १०.१०२.२।

५. अथर्ववेद १४.१.७।

६. Ancient India, P. 224.

७. यह यज्ञोपवीत विधि है। यदि दाहिने कन्धे के ऊपर और बायें हाथ के नीचे से दुपट्टा जाता था तो उसे प्राचीनावीत-शैली कहते थे। संवीत-शैली में दुपट्टा दोनों कन्धों के ऊपर होकर जाता था और माला की भाँति पहना जाता था; तैत्तिरीय आरण्यक २.१।

धारण किया जाता होगा। भरहुत, अमरावती और सांची की मूर्तियों में अनेक विधि दुपट्टा धारण करने की रीतियों का परिचय मिलता है। दुपट्टे के मध्य भाग का पाश बनता था और इसके दोनों छोर प्रायः लटकते रहते थे अथवा कभी-कभी बांध दिये जाते थे।[१]

इस युग की मूर्तियों में से कुछ कोट पहनी हुई दिखाई गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोट का पहनना केवल अपवाद-स्वरूप प्रचलित हो सका था। कोट पहनने वालों में राजाओं के अनुचरों का स्थान प्रथम था। उस समय के कोटों में वन्ध होते थे। कोट की बाँह और छोरों पर पट्टी लगाकर अलंकरण किया जाता था। कोट पूरे और आधे बाँह के भी होते थे, पर उनकी लम्बाई पर्याप्त होती थी और घुटने तक पहुँचती थी।[२]

सातवाहनयुगीय शुंग-युग के पश्चात् सातवाहन युग की वेशभूषा में दुपट्टा धारण करने की कुछ नई शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों कन्धों से होता हुआ दुपट्टा दोनों भुजाओं को वलयित करके लटकता था अथवा दुपट्टे का मध्य भाग पीठ पर फैला दिया जाता था और उसके छोरों को काँखों से होते हुये कन्धों पर लाकर पीछे लटका दिया जाता था या सारे शरीर को आच्छादित करते हुये दुपट्टा बायें कन्धे पर रखा जाता था।

ई० पू० प्रथम शती की मूर्तियों में कंचुक धारण करने का प्रचलन पूर्ववत् मिलता है। कंचुक पूरी बाँह का होता था और नीचे घुटने तक लटकता था। यह साधारणतः राजकीय कर्मचारियों का पहनावा था। परवर्ती युग में गन्धार और मथुरा की मूर्तियों में विशाल कंचुक-धारिणी मूर्त्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मथुरा की मूर्तियों के कंचुक एड़ी के तीन इंच ऊपर तक आता है और कुछ घुटने तक ही। परवर्ती युग में मूर्तियों में दुपट्टे की भाँति चादर धारण करने का विशेष प्रचलन दिखाई पड़ता है। चादर के छोर दुपट्टे की भाँति लटकते थे और मध्य भाग की सिलवटों को प्रस्तारित करके उससे शरीर के कुछ अंगों को आच्छादित किया जाता था। चादर के मध्य भाग से भी दुपट्टे की भाँति ही पाश बनता था। इससे पूरी छाती तक ढकी जा सकती थी।

शकों के कंचुक की बनावट बहुत कुछ आधुनिक लम्बे पारसी कोट की भाँति होती थी। इसका गला वृत्ताकार या V आकृति का बनता था। सामने की ओर दोनों किनारों पर ऊपर से लेकर नीचे तक चार अंगुल की अलंकृत और पुष्पादिक चित्रों वाली पट्टी लगी होती थी। कुछ स्त्रियाँ भी कंचुक धारण करती थीं।

१—२. साँची, अमरावती और भरहुत की मूर्तियों के आधार पर।

उपर्युक्त युग में दक्षिण भारत में दुपट्टे धारण करने की रीति उतनी नहीं प्रचलित थी, जितनी उत्तर भारत में। दुपट्टा धारण करने की साधारण शैली प्रायः उत्तर भारत जैसी ही थी। नगर के निम्न वर्ग के नागरिक कंचुक पहनते थे। कंचुक घुटने के कुछ नीचे तक लटकता था। कंचुक की बाँह पूरी या आधी सुविधानुसार रखी जाती थी।

गुप्तयुग में स्त्रियाँ कन्धे से लेकर कटि-प्रदेश तक के भाग को आच्छादित करने के लिए सिले वस्त्र का उपयोग करती थीं। जिसका नाम चोल और कूर्पासक मिलता है। यह छाती पर कस कर पहना जाता था।[1] स्तनों को ढकने के लिए एक और वस्त्र पहना जाता था, जिसका नाम स्तनांशुक था[2] स्तन पर वे ऋतुओं के अनुकल मोटे और पतले वस्त्र पहनती थीं।[3] स्नान के समय कुसुम्भी रंग का स्तन से चिपका हुआ विशेष वस्त्र पहना जाता था।[4]

गुप्तयुगीन

उत्तरीय अंशुक का बनता था। यह वायु के वेग से तरंगित होता था। इसका रंग फेन के समान श्वेत होता था। इसको इस प्रकार धारण किया जाता था कि केयूर के किनारे से सम्बद्ध रहे।[5] उत्तरीय से स्त्रियों का स्तन ढका रहता था।[6] दसवीं शती में पूरे शरीर के आच्छादन के लिए दो पटांशुक होते थे। इनका रंग राजशुक के पिच्छ के समान नील होता था। अंशुक का पहिनावा वायु के वेग से तरंगित होने पर वैसा ही प्रतीत होता था, जैसा केले का पत्ता।[7] कन्धे से प्रपदीन नामक वस्त्र पैर तक लटकता था।[8] यह एक विशेष प्रकार का कंचुक था।

सैनिक कंचुक के ऊपर चीन-चोलक और वारबाण नामक वस्त्र धारण करते थे। कुछ सैनिक कूर्पासक धारण करते थे। उनके शरीर शुक-पिच्छ के समान आच्छादनक (चादर) से आच्छादित होते थे।[9]

---

१. ऋतुसंहार ५.८। मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तना। अमरकोश मनुष्यवर्ग ११८
२. महापुराण ८.८।
३. ऋतुसंहार ४.३।
४. शिशुपालवध ८.३०।
५. कादम्बरी, पृ० १६९–१७०।
६. वही, पृ० २१९; शिशु० ७.३४।
७. कर्पूरमंजरी २.१४।
८. अमरकोश १३१२।
९. हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास पृ० १६१।

गुप्तकालीन सिक्कों एवं अजन्ता और बाघ के चित्रों से ज्ञात होता है कि उस युग में लोग कोट, कूर्पासक, वैकक्ष्य, और कंचुक (आधी और पूरी बाहों के) पहनते थे। सभी वस्त्रों के ऊपर से दुपट्टा लटकता था। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ पूरी या आधी बाँह तक का कंचुक, या कूर्पासक पहनती थीं। कुछ स्त्रियाँ पूरी बाँह का घुटने तक लटकता कुर्त्ता पहनती थीं। अभिजात कुल की कुछ स्त्रियाँ स्तन से घुटने तक आच्छादित करने वाली चोली पहनती थीं। चोली को पीछे से या आगे से दोनों ओर बाँधा जाता था। नर्तकियाँ विविध प्रकार के कंचुक और कूर्पासक धारण करती थीं।

कटि-प्रदेश के वस्त्र

कटि पर सिन्धु-सभ्यता के युग में कुछ लोग दोनों पैरों को ढकने वाला धोती जैसा वस्त्र पहनते थे, कुछ लोग कौपीन धारण करते थे। कटि-प्रदेश पर कोई वस्त्र न पहनने वालों की संख्या उस युग में सम्भवतः कुछ कम न थी। स्त्रियाँ १½ फट चौड़ी साड़ी कमर से लपेट लेती थीं। करधनी से साड़ी बाँधी जाती थी।

वैदिक काल में कटि प्रदेश में नीवि पहनी जाती थी। इसकी चौड़ाई अधिक से अधिक एक फुट रही होगी। पुरुष और स्त्री दोनों इसे पहनते थे, पर विशेष रूप से स्त्रियाँ धारण करती थीं।[1] नीवि से सम्बद्ध दो अन्य वस्त्र प्रघात और वातपान थे। ये दोनों ही नीवि का अलंकार करते थे।[2] नीवि के ऊपर वासः (धोती या साड़ी) पहना जाता था। वासः प्राचीन काल में सर्वाधिक प्रचलित वस्त्र था। चाहे कोई अन्य वस्त्र पहने या न पहने पर वासः का पहनना अनिवार्य था। यज्ञ के अवसर पर तार्प्य नामक वासः पहना जाता था।[3]

यज्ञ के अवसर पर यजमान की स्त्री कटि-प्रदेश में धोती के ऊपर कुश का बना हुआ चण्डातक लपेटती थी।[4] चण्डातक लगभग एक फुट चौड़ाई का छोटा वस्त्र होता था।

मल्लयुद्ध करने वाले वीर कक्ष प्रदेश में कोई दृढ़ वस्त्र धारण करते थे, जो आजकल के लँगोट या जाँघिये का पूर्वरूप कहा जा सकता है।[5]

---

१. अथर्व ८.२.१६; ८.६.२० तथा १४.२.५०।
२. तैत्तिरीय संहिता १.८.१.१ तथा ६.१.१।
३. शतपथ ५.३.५.२०।
४. शतपथ ५.२.१.८। चण्डातक का कुश सम्भवतः रेशम होता था।
५. सभापर्व २२.२।

बौद्धकालीन गृहस्थ जैकेट पहनते थे।[1] शुङ्ग-युग में ईसवी पूर्व द्वितीय शती में धोती को कस कर बाँधने के लिये विविध प्रकार की कपड़े या अन्य उपादानों से बनी हुई पेटियाँ पहनी जाती थीं। इसमें कई लड़ें होती थीं। धनी गृहस्थों की पेटियों से गुलिकायें लटकती थीं। इनकी बनावट कलात्मक होती थी और कलाबुक (साँप के सिर की भाँति) या मुरज आदि की प्रकट होती थीं। कुछ लोग पेटी के सिरों को बाँधते थे, पर उनके सिरों में हड्डी या धातुओं के बने काँटों को लगाकर फँसाने की रीति भी थी।[2] स्त्रियों की धोती का एक नाम सट्ट-साटक मिलता है।[3] धोती का वर्णन एरियन ने भी किया है। एरियन के अनुसार रूई की बनी धोती कमर में लिपटी रहती थी और वहाँ से घुटने के नीचे एक फुट तक लटकती थी।[4]

महाभाष्य के अनुसार अन्तरीयक नामक परिधान आजकल की लंगी की भाँति होता था। यथा—

नाभौ धृतं च यद्वस्त्रमाच्छादयति जानुनी।
अन्तरीयं प्रशस्तं तदच्छिन्नमुभयान्तयोः॥

उस समय की साड़ी (शाटक) आप्रपदीन होती थी और पाँव तक लटकती थी। कुमारियों की साड़ी का नाम अधरोरुक था।[5]

कटि प्रदेश के वस्त्रों का परिचय परवर्ती युग की मूर्तियों से मिलना आरम्भ होता है। धोती स्त्रियों और पुरुषों के लिए साधारण वस्त्र रही। इसको कटि-प्रदेश में दृढ़ता पूर्वक स्थिर करने के लिये कपड़े की पट्टी बनाकर बाँधा जाता था। पट्टी की लम्बाई प्रायः इतना ही रखी जाती थी कि कटि को कस लेने के पश्चात् इसका थोड़ा-सा भाग बच रहता था, पर कुछ लोगों की पट्टियाँ सौन्दर्य-संवर्धन का साधन बनती हुई दिखाई गई हैं। इसके लिये पट्टी के छोर सामने की ओर घुटने तक लटकते हुए छोड़े जाते थे। पट्टियों पर पुरुष या मनोरम चित्रों का अलंकरण होता था। कुछ लोगों की धोतियाँ एड़ी तक लटकती थीं पर

---

१. महावग्ग ८.२९।

२. चुल्लवग्ग ५.२९।

३. हारित जातक ४३१।

४. Ancient India as described by Megasthenes and Arrian P. 224.

५. महाभाष्य १.५.२८; १.२.४५।

प्रायः घुटने के आसपास तक पहुँचने वाली धोतियों का साधारण प्रचलन था। पुरुष धोती के एक छोर को पीछे खोंस लेते थे और दूसरे छोर को कटि-प्रदेश में लपेट लेते थे। नाभिप्रदेश के कुछ नीचे से पट्टी में चुना हुआ एक छोर खोंसा जाता था। पटका अलंकृत वस्त्र था, जो पैरों तक लटकता था। पटके की बनावट में नागरिक अपनी अभिरुचि का विशेष परिचय देते थे। कुछ पटके तरङ्गमयी शैली से लहराते थे और कुछ में मणियाँ जड़ी होती थीं।[1]

ईसवी पूर्व प्रथम शती की धोती में पुछल्ला और पटका खोंसने का प्रचलन रहा। कुछ विशेष अवसरों पर लम्बी धोती पहनी जाती थी और उसका आधा भाग कटि-प्रदेश पर लपेट लिया जाता था तथा शेष आधा भाग बाईं भुजा के ऊपर से होते हुए नीचे लटकता था। स्त्रियों की साड़ी के पहिनावे में एक भाग कटि से लपेट लिया जाता था और दूसरा भाग चुनकर सामने की ओर नाभि के नीचे खोंस लिया जाता था। इस दूसरे भाग का लटकता हुआ छोर पीछे की ओर पुछल्ले के रूप में खोंसा जाता था। विदेशी पहिनावों में गन्धार की मूर्तियों में पायजामा कटिवस्त्र है।

परवर्ती युग में गन्धार-प्रदेश की मूर्तियों में श्रमिक वर्ग केवल धोती पहने हुये दिखाये गये हैं। किसान लोग केवल कौपीन से भी काम चला लेते थे। मल्ल-युद्ध करने वाले लँगोटा पहनते थे। इस युग से स्त्री और पुरुषों के कटि-प्रदेश के पहनावों में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। कुछ स्त्रियों की साड़ियाँ पहनने की विधि पुरुषों की धोती के समान थी, पर ऐसी भी स्त्रियाँ थीं, जिनकी साड़ी का हनावा आजकल के पहनावे से बहुत कुछ मिलता-जुलता था—साड़ी का लगभग आधा भाग कटिप्रदेश में लपेट कर शेष आधे को छाती पर कर्णगत ले जाकर कन्धे के ऊपर से पीठ पर लटका दिया जाता था। स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति लम्बे और छोटे कोट भी पहनती थीं। कोटों की बाहें पूरी, आधी वा तिहाई होती थीं। तत्कालीन मथुरा की मूर्तियों से ज्ञात होता है कि साड़ी पहनने की विधि बहुत कुछ गन्धार जैसी थी, पर कटिबन्ध और पटके धारण करने की अनेक नई रीतियों का प्रलचन हो चुका था। मथुरा की एक मूर्ति में एक स्त्री लहँगा जैसा वस्त्र पहने हुये दिखाई गई है। लहँगे में सामने की ओर बीच में बेल-बूटे के शिल्प वाली पट्टी है।

---

१. इस प्रकार के कटिवस्त्रों के लिए परखम, वेसनगर और दीदारगंज की यक्ष-मूर्तियाँ एवं अमरावती-भरहुत और सांची की स्तूप-मूर्तियां दर्शनीय हैं।

उपर्युक्त युग में दक्षिण भारत में धोती पहनने की विधि प्रायः ऊपर जैसी ही रही। धोती कटिप्रदेश से लगभग २½ फुट तक नीचे लटकती थी। कुछ लोग केवल घुटने तक लटकने वाली धोती पहनते थे और कुछ लोग कटि में लपेटने के पश्चात् बचे हुये भाग को चुन कर नाभि के नीचे खोंस लेते थे और इसके निचले छोर को पीछे खोंस लेते थे। धोती के कटि में लपेटे हुये भाग के छोर को पुछल्ला बनाकर खोंसने की रीति भी थी। विदेशी सभ्यता में रँगे लोग चूड़ीदार पायजामा पहनते थे। शारीरिक श्रम करने वाले लोग जाँघिये से काम चलाते थे। यह सस्ता पड़ता था और साथ ही शरीर की स्फूर्ति भी इससे बढ़ जाती थी।

स्त्रियाँ साड़ी के शेष भाग को कन्धे के ऊपर से ले जाकर उसके अंचल से स्तन को ढकती रही हैं। स्तन का आवरण लज्जाशीलता के अन्तर्गत रहा है।[1] स्तन को ढकने के लिए आवरण अलङ्कारों के द्वारा सज्जित हो सकता था।[2] विविध प्रकार के हार कम से कम समृद्धिशाली वर्ग की स्त्रियों के संबंध में इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त रहे हैं।

धोतियाँ नीचे ढीली पहनी जाती थीं। कटि पर धनी लोग अपनी धोतियों को स्वर्ण-शृंखला की लड़ियों से कसकर बाँधते थे। यह इतनी ढीली-ढाली पहनी जाती थी कि कक्षबन्ध को छोड़कर सर्वत्र फरफराती रहती थी।[3] धोती का एक कोना नाभि के कुछ नीचे खोंसा जाता था, इससे इस पहिनावे में कमनीयता आ जाती थी। जिस मेखला से धोती बाँधी जाती थी, उसी के सहारे धोती का प्रान्त भाग लकटता था। धोती के संवलन (संकोच) के कारण जाँघ का कुछ भाग दिखलाई पड़ता था। धोती का वर्ण हारीत पक्षी के समान हरा होता था। और वह रमणीय होती थी।[4] सैनिकों की जाँघों के लिये चित्र-विचित्र वस्त्र बनाये जाते थे।[5] स्त्रियाँ और दूत चण्डातक नामक वस्त्र कटि प्रदेश में लपेटते थे। यह वस्त्र जाँघमात्र को ढकता था। चाण्डाल-स्त्री का शरीर गुल्फ

---

१. भागवत ४.२५.२४ कादम्बरी पृ० १९०।

२. कादम्बरी, पृ० २१९।

३. वही, पृ० १७९।

४. हर्षचरित प्रथम उच्छ्वास—पुरस्तादीषदधोनाभिनिहितैककोणकमनीयेन पृष्ठतः कक्ष्याधिकक्षिप्तपल्लवेनोभयतः संवलनप्रकटितोरुत्रिभावेन हारीतहरिता-निविडनिपीडितेन धरवाससा विभज्यमान आदि।

५. हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास पृष्ठ १६१।

तक लटकते हुए नीले कंचुक से अवच्छन्न हो सकता था। उसका अवगुण्ठन रक्त अंशुक से होता था।[1]

अजन्ता और बाघ के अनेक चित्रों में राजाओं का कटि-वस्त्र चूड़ीदार पायजामा या धोती या जाँघिया है। उच्च संस्कृति की स्त्रियाँ और रानियाँ एड़ी तक पहुँचती साड़ी या घँघरी पहनती थीं। कुछ स्त्रियाँ लहँगा और चण्डातक भी पहनती थीं। नर्तकियाँ उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त पायजामा पहनती थीं। अमरकोश के अनुसार उच्च कुल की स्त्रियाँ चण्डातक (लहँगा) पहनती थीं। उनका आप्रपदीन नामक वस्त्र पैर तक लटकता था।[2]

साड़ी पहनने की दो विधियाँ सकच्छ और विकच्छ ईसवी शती के पहले से प्रायः सदा रही हैं। सकच्छ विधि में पीछे कच्छ (पुछल्ला) बाँधा जाता था और विकच्छ विधि में पुछल्ला नहीं रखा जाता था। सकच्छ रीति का दर्शन मध्यभारत में सांची की मूर्तियों में तथा पंजाब और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों की मूर्तियों में होता है। महाराष्ट्र प्रदेश में सकच्छ विधि का सर्वप्रथम प्रचलन आठवीं शती के लगभग हुआ।

दसवीं शती में बङ्गाल की स्त्रियाँ साड़ी के एक छोर से सिर ढकती थीं। उनका बाहुमूल नहीं आच्छादित होता था। उत्तर प्रदेश की स्त्रियों की साड़ी नीचे गुल्फ तक लटकती थी। केरल की स्त्रियों की साड़ी का बन्धन काँख में ह.ता था।[3]

ओढ़ने के वस्त्र

ओढ़ने के वस्त्र साधारणतः जाड़े की ऋतु में प्रयुक्त होते थे। इन वस्त्रों को तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों में स्थान प्रायः नहीं ही मिला है। इसका एक मात्र कारण यही रहा है कि ओढ़ने के वस्त्रों से केवल शरीर के अंगों का सौष्ठव ही नहीं अदृश्य हो जाता है, अपितु सभी प्रसाधन, अलंकार और अन्य वस्त्र-विन्यासों का भी लोप हो जाता है।

ओढ़ने के वस्त्र बहुमूल्य रहे हैं और उनके अनेक भेद-प्रभेद मिलते हैं। देश-विदेश से ऊन मँगा कर कम्बल बनाया जाता था, अथवा बने-बनाये देश-विदेश से कम्बल व्यापार के माध्यम से प्राप्त किये जाते थे। उपहार में कम्बल

---

१. कादम्बरी, पृ० १०।
२. अमरकोश। मनुष्य वर्ग ११९
३. काव्यमीमांसा।

प्रदान करना उनके बहुमूल्य होने का प्रमाण है।[1]

वैदिक काल से ऊनी कम्बलों के उल्लेख मिलते हैं। दूर्श, पाण्डव आदि विविध प्रकार के कम्बल होते थे।

अमरकोश के अनुसार नीशार नामक प्रावरण ठंडी वायु से रक्षा करने के लिए ओढ़ा जाता था।[2] रल्लक और कम्बल ओढ़ने के वस्त्र थे।[3]

---

१. महाभारत सभापर्व के अनुसार दिग्विजय करते समय पाण्डवों को विभिन्न प्रदेशों के राजाओं से विविध प्रकार के कम्बल उपहार में मिले थे। सभापर्व २७.२६ २८,५३। रामायण अयोध्या २.७६.२० के अनुसार भरत को उनके मामा ने कम्बल का उपहार दिया।

२. अमरकोश में नीशारः स्यात्प्रावरणे हिमानिलनिवारणे।

३. अमरकोश में मनुष्यवर्ग ११६।

अध्याय २१

वसति-विन्यास

प्रागैतिहासिक स्थिति

मानव की बुद्धि और सौन्दर्य-साधना की उत्कृष्टता के कारण गृह-निर्माण के विज्ञान में सतत प्रगति हुई है। नित्य नये उपादानों के योग से गृह-रचना तथा घर को अधिक से अधिक सुन्दर और सुविधाजनक बनाने की वैज्ञानिक और कलात्मक प्रक्रिया नित्य विकसित होती रहीं। निःसन्देह आरम्भ में मानव वृक्षों के पत्तों और टहनियों से अपना घर बना लेता था। वह किसी पर्वतीय गुफा को स्वच्छ करके उसमें रहने लगता था या किसी प्राकृतिक गुफा को काट-छाँट कर अपने योग्य बना लेता था या भूमि को खोद कर अथवा मिट्टी के लोंदे रख कर घर बना लेता था। प्रगति-पथ पर चलने वाले मानव ने नागरिक सभ्यता का निर्माण किया। परिणामतः सिन्धु-प्रदेश में मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा जैसे नगरों में अभ्रङ्कष प्रासादों का उदय हुआ।

वस्त्र-विन्यास की भाँति गृह-विन्यास के द्वारा मानव अपनी रसिक भावनाओं का और साथ ही अपने ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन करता आ रहा है। जहाँ समृद्धिशाली लोगों के घर ऊँचे, रत्नजटित, अलंकृत और सुचित्रित रहे हैं, उन्हीं स्थानों में निर्धन और श्रमिकवर्ग का घर उनकी परिस्थितियों का परिचायक स्वरूप खड़ा हुआ।

सिन्धु-घाटी-वसति

सिन्धु-सभ्यता के गृह-विन्यास का परिचय प्रधानतः दो नगरों—मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से होता है। उस युग के असंख्य गाँव सुदूर प्रदेशों तक बिखरे थे। उन गाँवों के लोगों का गृह-विन्यास बहुत कुछ नगरों के आदर्श पर होता था। इनमें घर प्रायः मिट्टी की कच्ची ईंटों से बनते थे।

सिन्धु-घाटी के नगरों की स्थिति नदियों के तट पर है। नगर की बाढ़ और शत्रुओं से रक्षा करने के लिये ऊँची दीवाल बनी थी। यह दीवाल नीचे ४० फुट और ऊपर ३५ फुट चौड़ी थी। नगर सड़कों से कई भागों में विभक्त थे। उनमें

सड़कों से होकर धूप और वायु का स्वास्थ्यप्रद संचार संभव था। सड़कों को काटती हुई गलियाँ बनी हुई थीं। कुछ घर दो-तले बने थे। कुछ घरों में ऊपर छत थी। प्राय: घरों के द्वार गलियों की ओर थे। द्वार के समीप ही द्वारपाल के बैठने का स्थान था। दीवालें पक्की ईंटों की बनी हुई थीं पर उसके ऊपर मिट्टी की परत जमाकर लेवरने का काम होता था। प्रत्येक बड़े घर में आंगन था। आँगन के प्राय: चारों ओर या तीन या दो ओर छोटे-बड़े अनेक कक्ष बनते थे। कक्षों में से एक स्नानागार होता था। स्नानागार का धरातल ईंट का पक्का बना होता था और उससे होकर एक नालिका गली के नीचे से बहने वाली बड़ी नाली से जा मिलती थी। नाली की स्वच्छता के लिये बीच-बीच में छेद बने थे। घरों के बाहर दीवाल से सटकर बने हुए कूड़ेखाने में घर का कचरा गिराया जाता था। खिड़की लगाने की विधि लोगों को ज्ञात थी, पर खिड़की नीचे के तले में प्राय: नहीं लगाई जाती थी।

नगर के एक भाग में मजदूरों की वसति थी। इनमें घरों की लम्बाई २० फुट और चौड़ाई १२ फुट थी और प्रत्येक में दो कमरे बने हुए थे, जिनमें से एक कमरा दूसरे का दूना होता था। नगर में कुछ सार्वजनिक उपयोग के लिये भवन बने थे, जो संभवत: शिक्षा, शासन या धार्मिक सभाओं और पूजा के लिये रहे होंगे।

उपर्युक्त नगर-निर्माण की वैज्ञानिकता को देखकर यह अवश्यम्भावी प्रतीत होता है कि नगर का विन्यास किसी समिति की अध्यक्षता में ही होता होगा। उस समय उच्च कोटि के स्थपति और इंजिनियर अवश्य ही रहे होंगे। नगर की सफाई का प्रबन्ध नगरपालिका करती होगी।

वैदिक वसति

भारतीय रहन-सहन की परम्परा से सिन्धु सभ्यता की शृङ्खला क्रमबद्ध रही है, यद्यपि इस शृंखला का सुव्यक्त रूप आगे चलकर नहीं मिलता। संभव है, पुरातत्त्व की गहरी छान-बीन और प्राचीन स्थानों का उत्खनन होने पर ज्ञात हो सके कि उस सभ्यता का किन प्रदेशों और युगों में किस दिशा में विकास हुआ। सिन्धु घाटी के गृह-विन्यास के पश्चात् वैदिक गृह-विन्यास आता है। वैदिक इतिहास में प्रधानत: आर्यों का और गौण रूप से आर्येतर जातियों का परिचय है। आर्यों की नागरिकता कम से कम गृह-विन्यास की दृष्टि से उतनी ऊंची नहीं कही जा सकती, जितनी सिन्धु सभ्यता की। फिर भी उस युग में आर्येतर जातियों के गृह-विन्यास का जो वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय भारत में गृह-विन्यास उच्चकोटि का था।

आर्यों की रहन-सहन वैदिक युग के प्रारम्भ में प्रधानतः ग्रामीण थी। उनके गाँवों के आसपास पशुओं के लिये चरने के मैदान और पानी पीने के लिये सरितायें होती थीं। आर्यों के कृषक-जीवन के लिये उपयोगी जो घर होते थे, उनमें पशुओं के रहने के लिये कमरे तथा उनके भोजन को सुरक्षित रखने के लिये स्थान होता था।[1] आर्यों के घर के विशेषण तथा उनके पर्यायवाची नामों से ज्ञात होता है कि उनके घरों में दृढ़ता और स्थिरता थी।[2] उनके घर सुखप्रद थे और घर में रहने का विचार मात्र आह्लादजनक था।[3] घर के बाहर वृक्षों को वे शरण (घर) मानते थे।[4]

वैदिक काल आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का युग था। उस युग में घरों को सुरक्षित बनाने की विशेष आवश्यकता थी। उनकी स्थिति, दीवालों की मोटाई तथा वसति का प्रवेश-द्वार ऐसा होना चाहिये था कि अचानक आक्रमण करके शत्रु लूट-पाट न कर सके। बड़े लोगों के घर के चारों ओर तथा नगरों के चारों ओर ऊँची भित्तियाँ बनती थीं। ऐसी भित्ति का नाम वप्र था।[5] आर्यों के घर के चारों ओर बाड़ लगी होती थी, जैसा आयतन नाम से प्रकट होता है।[6] घर के द्वार विशाल और महिमशाली होते थे, जैसा दुरोण नाम से प्रकट होता है।[7]

आर्यों के घर प्रायः लकड़ी के होते थे। उनकी छत फूस और पत्तों की बनाई जाती थी। ऋग्वैदिक युग से ही कुछ प्रतिष्ठित लोगों के घर अतिशय विशाल बनते थे। मित्र और वरुण के भवन में सहस्र स्तम्भ और सहस्र द्वार होने की कल्पना है।[8]

---

१. पस्त्या नामक घर घोड़ों के लिए होता था ऋग्वेद ९.९७.१८ तथा ९.८६.४१ तथा अथर्व० ६.७७.१ तथा १९.५५.१।

२. क्षितिषु ध्रुवासु, ऋग्वेद १.७३.४ से घर की ध्रुवता सिद्ध होती थी। अथर्व० ६.३२.३ में घर का प्रतिष्ठा नाम उनकी स्थिरता द्योतित करता है।

३. ऋग्वेद १.५१.१५; ७.८२.१ में घर का शर्म (सुखप्रद स्थान) पर्याय है। ऋग्वेद १.११६.२५ में घर पहुँच जाने की कल्पना अतिशय सुखप्रद मानी गई है।

४. ऋ० ७.९५.५।

५. अथर्ववेद ७.७१.१। नगरों का आरम्भ ब्राह्मण-युग से विशेष रूप से हुआ। छोटे नगरों का नाम पुर था। राजधानी प्रायः नगरों में होती थी।

६. छान्दोग्य ७.२४.२।

७. ऋग्वेद ३.१.१८; ४.१३.१।

८. ऋग्वेद ७.८८.५; २.४१.५।

राजाओं और धनिकों के घरों को हर्म्य कहते थे।[1] परवर्ती युग में यम के हर्म्य की कल्पना की गई है।[2] दास आर्येतर जाति के लोग थे। इनके विशाल गृहों के नाम दुर्ग थे। दासों के नेता शम्बर के पास १०० दुर्ग थे। ऐसे ही दुर्ग पिप्रु चुमुरि, धुनि आदि नेताओं के पास भी थे।[3]

लोगों को घर बनाने का चाव था। घरों के द्वार चमकीले बनाये जाते थे। द्वार-स्तम्भ इतने मनोरम और दृढ़ होते थे कि कवि उसकी प्रशंसा करते थे।[4] वास्तु-पति त्वष्टा की कल्पना उस समय हो चुकी थी।[5] त्वष्टा बढ़ई के कर्म का अधिष्ठाता है।

परवर्ती युग में लोग कामना करते थे कि हम इस घर में १०० वर्ष तक रहें। इससे प्रतीत होता है कि साधारण लोगों के घर भी अतिशय दृढ़ होते थे। फिर भी कुछ घर उच्चकोटि के लोगों के अवश्य ही ऐसे थे, जिनके सम्बन्ध में कहा गया है—

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ ऋ० ६.४६.९

(हे इन्द्र हमें ऐसा घर दो, जो त्रिधातु (ईंट, पत्थर, लकड़ी) का बना हो, त्रिवरूथ (शीत, ताप और वर्षा से रक्षा करने वाला) हो और कल्याणप्रद हो)।

अथर्ववेद के एक कवि ने अपने घर की चर्चा इन शब्दों में की है—मैंने यहाँ पर एक ध्रुव शाला का निर्माण कराया है। इसकी नींव दृढ़ है। इसमें मैं सभी वीरों के साथ कुशलतापूर्वक रहूँगा। हे शाला, यहाँ पर दृढ़तापूर्वक खड़ी रहो। तुझ में घोड़े, गौयें आदि समृद्धियाँ भरपूर रहें। घी, दूध की कभी कमी न हो। तुम सुख के स्वरूप हो। तुम पोषक हो, तुम्हारा आच्छादन बृहत् है। तुझ में पवित्र धान्य भरपूर है। तुम्हारे समीप बछवे, कुटुम्ब के शिशु, और दूध देने वाली गाय सन्ध्या के समय आ जायँ। तुम शरण हो, तुम देवी हो। देवताओं ने सर्वप्रथम तुम्हारा निर्माण किया था। तुम्हारा परिधान तृण का है। हम लोगों पर प्रसन्न रहो। हम

---

१. ऋग्वेद ७.५६.१६।

२. अथर्व० १८.४.५५।

३. ऋग्वेद १.५१.५; ६.२०.७; ६.१८.८; १.१३०.७; २.१९.६, २.१४.६; २.२४.२।

४. ऋग्वेद १.१३.६; १.५१.१४।

५. वही ५.४१.८।

लोगों को वीर पुत्र और धन से समायुक्त करो। तुम शत्रुओं को दूर भगाओ। जो कोई आदरपूर्वक तुम्हारी शरण लें, उन्हें किसी प्रकार की हानि न हो। मैं अग्नि के साथ इस नयी शाला के कक्षों में प्रवेश कर रहा हूँ।[1]

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि कौटुम्बिक जीवन में घर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। एक ही घर में मनुष्य के सभी प्रकार के धन, अन्न, पशु आदि रखे जाते थे। घर को लोग दिव्य विभूतियों से सम्पन्न मानकर उसका आदर करते थे और उसे अपने अभ्युदय के लिये आवश्यक मानते थे।

उपनिषद्कालीन गृह-विन्यास में भवन की परिधि में सर्वप्रथम वृक्ष आते थे। वृक्षों के पश्चात् संस्थान (भवन) आरम्भ होता था। इसी भवन का एक भाग अपराजित आयतन होता, जो संभवतः अधिक से अधिक दृढ़ भाग था। आयतन के मुख द्वार पर द्वार-गोप रहते थे। इस द्वार से प्रवेश करने पर विभु नामक महाकक्ष मिलता था। इस कक्ष में आसन्दी, पर्यङ्क आदि बैठने और सोने के सामान होते थे।[2]

रामायणीय वसति

रामायण, महाभारत और बौद्ध साहित्य से परवर्ती गृह-विन्यास का पूर्ण परिचय मिलता है। रामायण में आर्य और आर्येतर दोनों के भवनों का विशद वर्णन है। आर्यों के गृह-विन्यास का परिचय सर्वप्रथम अयोध्या-वर्णन के प्रकरण में है। यह नगरी आराम और उद्यान से सम्पन्न थी।[3] अयोध्या नगरी दस योजन लम्बी और दो योजन चौड़ी थी। महापथों से नगरी सुविभक्त थी। राजमार्गों पर पुष्प अवकीर्ण होते थे और पानी छिड़का जाता था। नगरी के कपाट और तोरण विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। ऊँचे अट्टालक और ध्वजायें थीं। नगर में आम तथा अन्य वृक्षों के उपवन थे। उसमें दुर्ग और परिखायें थीं। नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वहाँ हाट लगते थे। धनिकों के प्रासाद रत्नजटित थे। उसमें कूटागार और विमान गृह बने हुए थे।[4]

राम का वेश्म महाकपाट से पिहित होता था। सैकड़ों वितर्दियाँ उसकी शोभा

---

१. अथर्ववेद ३.१२ से।

२. कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनि० १.५।

३. अयोध्याकाण्ड ५१.२३।

४. बालकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग। कूटागार छत पर बने कमरे उल्लिखित हैं। सात तले घर विमान कहे जाते थे।

बढ़ा रही थीं। वहाँ स्वर्ण-प्रतिमायें और मणि तथा विद्रुम-जटित तोरण थे। भवन शरद् के बादल के समान श्वेत था और चमक रहा था। इसका अलंकरण, मणियों और मालाओं से किया गया था। मुक्तामणियाँ उसमें बिखरी पड़ी थीं और उसे चन्दन और अगुरु से विभूषित किया गया था। पूरे महल से वैसे ही सुगन्ध निकल रही थी, जैसे मलयपर्वत के शिखर से। उस भवन में सारस और मयूरों का नाद हो रहा था। अनेक प्रकार के अन्य पक्षी वहाँ विराज रहे थे। विभिन्न प्रकार के मृग वहाँ थे। उस भवन में अनेक कक्षायें थीं। भवन का शृङ्ग अत्यन्त उच्च था। उसके द्वार पर राम का विशाल हाथी था। वहीं रथ, अश्व आदि भी थे।[1] चतुःशाल हाथी और घोड़ों के घर, हर्म्य, प्रासाद, राजवेश्म आदि विविध प्रकार के घर थे।[2]

वानर-वसति

किष्किन्धा में आर्येतर जाति के लोगों की वसति थी। उसमें रम्य गुहाओं के घर बने हुए थे। कुछ गुहायें रत्नजटित थीं। उस नगर में कानन पुष्पित थे। विविध प्रकार के हर्म्य, प्रासाद आदि गृह बने थे। प्रासादों के नाम विन्ध्य, मेरु आदि पर्वतों के नाम पर पड़े थे। वे कई तले बने थे। समीप ही गिरि-नदियाँ बह रही थीं। सुग्रीव के घर पाण्डुर रंगे हुए थे, वे गन्ध और माल्य से युक्त थे। वे घर चारों ओर पाण्डुर शैल से घिरे हुए थे। यथेष्ट फल देने वाले वृक्षों की वाटिका घर के समीप थी। उनके पुष्प और छाया मनोरम थी। तोरण स्वर्ण का बना हुआ था।

राक्षस-वसति

राक्षस-वर्ग के आर्येतर लोगों की वसति लंका में थी। लंका नगरी त्रिकूट पर्वत के तट पर स्थित थी। लंका के उपस्थ में सरल, कर्णिकार, खर्जूर, प्रियाल, मुचुलिन्द, कुटज, केतक, प्रियंगु, नीप, सप्तच्छद, आसन, कोविदार आदि के वृक्षों के पुष्पों की समृद्धि मनोरम थी। वृक्षों पर पक्षी कलकल निनाद करते थे। उनकी चोटी वायु-वेग से नर्तन करती थी। नगर की शोभा के लिये वापी, आक्रीड और जलाशयों की प्रतिष्ठा स्थान-स्थान पर की गई थी। नगर की परिखा में पद्म और उत्पल खिल रहे थे। स्वर्णिम प्राकार से नगर आवृत था। पर्वतों के समान ऊँचे घर

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग १५ से।

२. वही ९१.३२–३३।

शरद् के बादलों की भाँति श्वेत थे। इधर-उधर ऊँची प्रतोलियाँ (सड़कें) थीं। सड़कों का रंग पाण्डुर था। नगर में सैकड़ों अट्टालक, पताकायें और ध्वजायें विराजती थीं। स्वर्णिम तोरणों पर दिव्य लतायें फैली हुई थीं। नगर को शत्रुओं के लिए दुर्धर्ष बनाया गया था।[1]

लंका में स्वर्णिम स्तम्भों की शोभा मनोरम थी। स्वर्णिम जालों से लंका गन्धर्वों के नगर के समान दिखाई पड़ती थी। भवन सात या आठ तलों तक ऊँचे उठे थे।[2]

वाल्मीकि ने लंकापुरी के पुनः वर्णन में उसके रम्य कानन और जल की प्रचुरता का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। कविवर को नगर के सागरानिलसेवित होने की विशिष्टता प्रतीत हुई थी। उसके जालों में किंकिणियाँ लगी हुई थीं। नगर के द्वार स्वर्ण से, वेदिकायें वैदूर्यमणि कुट्टिम-मणि, स्फटिक और मुक्ताओं से और सोपान वैदूर्य से बने हुए थे। मोर और हंसों का घोष वहाँ सुनाई पड़ता था। नगर में गोष्ठागार और यन्त्रागार प्रमुख स्थान थे। कुछ घर श्वेत बादलों के समान थे। कुछ गृह चित्रित थे। गृह-विन्यास पद्म, स्वस्तिक आदि विधानों के अनुसार थे। भवनों की आकृतियाँ विविध प्रकार की थीं। रावण का घर पर्वत के शिखर पर बना हुआ था। इसके चारों ओर जो परिखा थी, उसमें पुण्डरीक (कमल) विकसित हो रहे थे। घर के द्वार को विविध प्रकार के मत्त मृग और पक्षियों से रुचिर बनाया गया था।[3] रावण के घर के प्राकार का वर्ण सूर्य के समान भास्वर था। उसके चित्रों में नाना प्रकार के रूप मुद्रित थे। तोरण स्वर्ण विभूषित थे और कक्ष्यायें चित्र-विचित्र थीं। रावण के घर में लता-गृह, चित्रशाला क्रीडा-गृह, दारुपर्वत, कालगृह, दिवा-गृह आदि बने हुये थे। खिड़की में जो जाल लगाये गये थे, उनमें वैदूर्य और सुवर्ण व्यासक्त थे। रंग जाने के कारण तथा अनेक चित्रों से घर की शोभा वैसी ही होती थी, जैसे आकाश तारों और चन्द्रमा के कारण सुशोभित होता है।[4] रावण के घर की लम्बाई और चौड़ाई एक योजन और आधा योजन थी। उसमें अनेक प्रासाद थे। उसके भवन के स्तम्भ ईहामृग से समायुक्त, सुवर्ण के

---

१. सुन्दरकाण्ड सर्ग २ से। वाल्मीकि ने नगरी के लिए दुरासद और दुराधर्ष विशेषणों का प्रयोग २.३४ तथा ४५ में किया है। नगरी का एक और उल्लेखनीय विशेषण प्रविभक्त-महापथ है।

२. सुन्दर० २.४८–५०।

३. वही सर्ग ३ से।

४. वही सर्ग ६।

बने हुए थे। मेरुपर्वत की भाँति ऊँचे कूटागार थे। कूटागार शिखर वाले घर थे, जो शुभ माने जाते थे और सर्वतः समलंकृत होते थे। सीढ़ियाँ स्वर्ण की बनी हुई थीं। इन्द्रनीलमणि आदि की बनी हुई वेदिकायें रुचिर थीं। जंगले और खिड़कियाँ स्वर्ण और स्फटिक की बनी हुई थीं। भवनों के तल विद्रुम, मणियों और मुक्ताओं को जड़कर बनाये गये थे। रावण की एक महाकान्ता नाम की शाला अतिशय मनोरम थी। उसमें जो स्तम्भ लगे हुए थे, वे पंख के समान बने थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वर्ग की ओर उड़ती-सी जा रही है। उस शाला में मत्त विहंगों का संगीत सुनाई पड़ता था और वह दिव्य गन्धों से सुवासित की गई थी। अगरु के धूप से उसे धूमित किया गया था। वह शाला विमल थी और हंस के समान पाण्डुर थी।[1]

उपर्युक्त युग में वनवासी मुनियों के लिये पर्णशाला पर्याप्त थी। पर्णशालायें लकड़ी और घास-फूस या पत्तों से बना ली जाती थीं।[2]

महाभारतीय वसति

महाभारतीय घरों की उपयोगिता और शोभा उपवर्ती दीर्घिकाओं और वृक्षों से होती थी। भवनों की मनोहारिता का परिचय महाभारत के इस वर्णन से मिलता है—वे कैलास शिखर के समान ऊँचे मनोज्ञ और बहुमूल्य द्रव्यों से भूषित थे। वे चारों ओर से ऊँचे श्वेत प्राकार से आवृत थे। उनके जाल (जंगले) स्वर्ण-मय थे। तल मणियों से जटित था। सीढ़ियाँ सरलता से चढ़ने योग्य थीं। उन्हें स्रक् और दाम अलंकृत करते थे। अगरु की उत्तम गन्ध से वे सुगन्धित थे। उनका रंग हंस और चन्द्रमा के समान था। वे हिमालय के शिखर के समान दिखाई पड़ते थे और अनेक धातुओं से रचे गये थे। उनके द्वार सम थे।[3] दीपवृक्षों के द्वारा नगर-प्रदेश में रात्रि के समय प्रकाश की व्यवस्था की जाती थी।[4] मनोरंजन के लिए घरों के पास निष्कुटक नामक उपवन बनाये जाते थे।[5]

---

१. सुन्दर काण्ड ९ से। अश्वघोष के महाकाव्यों में लोहे और सोने के स्तम्भों वाले घरों का उल्लेख मिलता है। बुद्धचरित १४.१२, सौन्दरनन्द १.१९ तथा १४.१५।

२. अयोध्याकाण्ड ५६.१९।

३. सभापर्व ३१. २०.२३।

४. आदिपर्व २११.३।

५. आदिपर्व २१०.१६।

इसी युग की बनी हुई राजगृह के समीप की चहार-दीवारी है, जिसके भग्नावशेष आज भी प्रत्यक्ष हैं। ये दीवारें राजगृह और गिरिव्रज नामक नगरों की रक्षा करने के लिये बनी थीं। इनकी परिधियाँ क्रमशः साढ़े चार मील और तीन मील हैं।

बौद्ध साहित्य में इस युग के अनेक प्रकार के भवनों के नाम मिलते हैं—विहार, अड्ढयोग, आदि।[1] कुछ घरों को श्वेत, काला या लाल रंगा जाता था। वे माला और लता से अलंकृत थे। घर ऊँचे चय पर बनाये जाते थे। चय पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनती थीं। सीढ़ियाँ ईंट, पत्थर या लकड़ी की होती थीं।

दीघ निकाय के अनुसार कुशावती की आदर्श नगरी में दिन-रात हस्ति-शब्द, अश्व-शब्द, रथ-शब्द, भेरी-मृदंग-वीणा-गीत-शंख-ताल आदि का वादन और खाने-पीने का कोलाहल नित्य हुआ करते थे।[2]

विभिन्न ऋतुओं में सुविधा की दृष्टि से अनेक प्रकार के घर होते थे। जाड़े के दिनों में भूमिगृह की उपयोगिता प्रसिद्ध थी।[3] कुछ लोगों के पास वर्षा, गर्मी और जाड़े के लिये तीन भवन हुआ करते थे।[4] घरों की शुद्धि तथा अलंकरण के लिये उसे झाड़-पोंछकर गोबर से लीपा जाता था। उसके ऊपर सुगन्धित लेप करके फूल बिखेरे जाते थे। पुष्प मालायें टाँग दी जाती थीं। धूप दिया जाता था। नई मालायें बाँधी जाती थीं।[5]

महाभाष्य के अनुसार नग+र अर्थात् वृक्षों से सुशोभित नगर होता है। नगरकार नगर की व्यवस्था करने में दक्ष होता था। नगरों में प्रासाद होते थे, जो अनेक तले थे। नगरों के चार द्वार होते थे।[6] धनिकों के घर को हर्म्य कहा जाता

---

१. महावग्ग ८.७।

२. महापरिनिब्बान २.३।

३. चरक सूत्रस्थान ६.१३। भूगृह का प्रचलन सदा रहा है। कथासरित् सागर १०.८.१२९–१३४।

४. महापणाद जातक। ऋतु के अनुसार प्रवेश-परिवर्तन की रीति वैदिक काल में कहीं-कहीं थी। काणे के अनुसार—The Taittirīya Brāhmaṇa says that the kuru Pāñcālas go east in the winter and west·ward in the last month of summer. Hist. of Dharmasāsātra Vol. II. Pt. 1. page 13.

५. तेलपत्त जातक ९६।

६. महाभाष्य १.१.३९; ५.२.१०७; १.१.१५१; ४.३.१३४।

था। उनमें स्नानागार थे, जिन्हें प्रस्न कहा जाता था। वस्त्र टांगने के लिए शंकु बने थे। भवनों में दीपालय बने हुए थे।

मौर्यकालीन वसति

उपर्युक्त युग के भवनों के साहित्यिक परिचय का ऐतिहासिक प्रमाण तत्कालीन विदेशी लेखकों के भारत-वर्णन में प्रचुर मात्रा में मिलता है। इलियन ने चन्द्रगुप्त के भवन का वर्णन करते हुए लिखा है—

In the Indian royal palace, there are other wonders besides. In the parks tame peacocks are kept, and pheasants, which have been domesticated; there are shady groves and pasture ground planted with trees and branches of trees, which the art of the woodsman has deftly interwoven; while some trees are native to the soil, others are brought from other parts, and with their beauty enhance the charm of the landscape. Parrots are natives of the country and keep hovering about the king wheeling round him. Within the palace grounds are artificial ponds in which they keep fish of enormous size but quite tame.[1]

हम ऊपर देख चुके हैं कि यह युग बड़े नगरों का था। बड़े नगरों की संख्या और उनमें गृह-विन्यास के सम्बन्ध में एरियन ने लिखा है—

It would not be possible to record with accuracy the number of the cities on account of their multiplicity. Those which are situated near the rivers or the sea are built of wood, for if they are built of brick they could not long endure on account of the rain and because the rivers overflowing, their banks fill the plains with water. But those which have been founded on commanding places, lofty and raised above the adjacent country, are built of brick and mortar.[2]

---

१. Mc' Crindle Ancient India as described in Classical Literature P. 141-42. ऐसी व्यवस्था के लिए देखिए कामसूत्र १.४.४।

२. *Megasthenes and Arrian* Ancient India, P. 209.

मेगस्थनीज ने तत्कालीन नगरों में से पटना का संक्षिप्त विवरण देते हुए कहा है—इसकी लम्बाई ९.२ मील और चौड़ाई १.७ मील है। इसके चारों ओर एक परिखा बनी है, जिसकी चौड़ाई ४०० हाथ और गहराई तीस हाथ है। इसके प्राकार में ५७० शिखर और ६४ द्वार हैं।[1] इसी युग के बने हुए अशोक के भवन को लगभग ८०० वर्षों के पश्चात् फाह्यान ने देखा था। फाह्यान ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—अशोक के राजभवन और सभाभवन असुरों के बनाये हुए हैं। पत्थर चुनकर भित्ति और द्वार बनाये गये हैं। सुन्दर खोदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। ये अब तक वैसे ही हैं। अशोक के इन भवनों के सम्बन्ध में डा० स्पूनर ने लिखा है—यह भली भाँति सुरक्षित है। इसके लकड़ी के लट्ठे आज भी वैसे ही चिकने और पूर्ण हैं, जैसे अशोक के समय में, जब वे लगाये गये थे। इसके बनाने की विधि ऐसी वैज्ञानिक है कि हम आज भी इससे अच्छा वास्तु बनाने की कल्पना नहीं कर सकते हैं। यह अपने युग के वास्तु का आदर्श है।[2]

इस युग के भवन-निर्माण सम्बन्धी प्रगति का परिचय अर्थशास्त्र के निशान्त-प्रणिधि प्रकरण से लगता है। राजा का अन्तःपुर बनाने के लिये सर्वप्रथम प्रशस्तभूमि का चुनाव होता है। इसका उत्तरदायित्व भवन-निर्माण के आचार्य 'वास्तुक' पर होता था। अन्तःपुर के चारों ओर प्राकार और परिखा होती थी। कई द्वार होते थे और अनेक कक्ष बनते थे। सर्वप्रथम कोशगृह बनता था। उसके बीच में वासगृह बनाया जाता था। वासगृह बनाने के लिये चारों ओर पहले गूढ़भित्ति-संचार नामक मोहन-गृह बनाया जाता था। इसके नाम मोहनगृह से प्रतीत होता है कि अनजाने व्यक्ति इसमें प्रवेश करते समय पथ-भ्रान्त हो सकते थे। अन्तःपुर का भूमिगृह छिपने के लिये होता था। इसका द्वार काठ, चैत्य, देवमन्दिर आदि से छिपा रहता था। राजप्रासाद में आने-जाने के लिये अनेक सुरंगें होती थीं। इसकी दीवालें और सीढ़ियाँ गूढ़ रूप से बनाई जाती थीं। ऐसे द्वार पोले स्तम्भों से होकर बनने चाहिये। किसी ऐसे यन्त्र के आधार पर राजभवन बनना चाहिये कि यदि चाहे तो मिनटों में गिराया जा सके। राजभवन में पीछे की ओर रनवास, प्रसूतिगृह, रोगियों के गृह आदि बनवाये जाते थे। बाहर की ओर कन्या और कुमारों के घर होते थे। वहाँ वृक्ष लगाये जाते थे और जलाशय होते थे।

---

१. Ancient India etc. P. 210.

२. अशोक के इस भवन को खोद निकाला गया है। इस खुदाई का श्रेय डा० स्पूनर को है।

राजभवन को दैवी आपद् या शत्रुओं के भय से सुरक्षित रखने के लिये विविध प्रकार के उपाय किये जाते थे, जिससे उनपर आग और विष का प्रभाव न पड़े।[1] राजभवन में बिल्ली, मोर, न्यौला आदि पालतू जानवर सर्प को खा जाने के लिये रखे जाते थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार नगर में स्वच्छता की सुन्दर व्यवस्था थी। गलियों में कूड़ा करकट डालने वालों को तथा कीचड़ करने वालों को दण्ड दिया जाता था। राजमार्ग पर मल-मूत्रोत्सर्ग करने वालों को दण्ड दिया जाता था। नगर से शव को बाहर निकालने के लिये पथ और द्वार निर्धारित थे। शव को श्मशान से अन्यत्र रखने और जलाने पर दण्ड दिया जाता था।

कल्याण-कृत्य (उत्सवों) में पानी बहने की नालियाँ, कूड़ाखाना आदि बनवाये जाते थे। प्रत्येक मकान से ढाल की ओर बहती हुई नाली बनती थी, जिससे होकर घर का गन्दा पानी बड़ी नालियों में जा पहुँचता था या घर से बहुत दूर पहुँच जाता था। प्रत्येक घर के साथ एक अवस्कर(घूरा)तथा उदपान (कुंआ) होता था।

नगरों को बसाने के लिये राजा की ओर से कोई नगर-योजना-समिति या नगर-योजना के अधिकारी नियुक्त होते थे। इनका काम था राजा के भवन का निर्माण और साथ ही राजधानी में विभिन्न जातियों और व्यवसाय के लोगों को यथास्थान बसने के लिये भूमि देना। सम्भवतः इन्हीं लोगों को नगर में उपवन बनाने की आज्ञा देने का अधिकार था।

अर्थशास्त्र के जनपद-निवेश के अनुसार गाँव एवं नये नगरों को बसाने की योजना राजा की ओर से होती थी। गाँव में शूद्र और किसानों का बाहुल्य होना चाहिये था। गाँवों में १०० से लेकर ५०० तक घर बसाये जाते थे। एक गाँव से दूसरे गाँव की दूरी एक कोस से दो कोस तक रखी जाती थी। इस सम्बन्ध में ध्यान रखा जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर एक गाँव दूसरे गाँव की रक्षा कर सके। आठ सौ गाँवों के बीच 'स्थानीय', चार सौ गाँवों के बीच 'द्रोणमुख', दो सौ गाँवों के बीच में 'खार्वटिक' और दश गाँवों के बीच में 'संग्रहण' नामक नगर होते थे।

---

१. अर्थशास्त्र के अनुसार बिजली से जले हुए वृक्ष की राख में मिट्टी मिला कर उसे धतूरे के पानी में घोलकर लीप देने से अग्नि उस भवन को नहीं जला सकता था। जीवन्ती, श्वेता, मुष्कक, पुष्प वन्दाक अथवा अभिरक्षीव के वृक्ष पर उत्पन्न पीपल के प्रतान से रक्षित घर में सर्प या अन्य विषों का प्रयोग सफल नहीं होता।

राजा का कर्त्तव्य था कि राष्ट्र में अनेक 'स्थानीय' कोटि के नगरों की प्रतिष्ठा करे।[1]

मनु ने भी राजकीय गृह की रूप-रेखा प्रायः अर्थशास्त्र के समान प्रस्तुत की है।[2] राजा का घर दुर्ग के मध्य में होता था। वह सुरक्षित, सभी ऋतुओं के लिए सुविधाजनक, शुभ्र, जल और वृक्ष से समन्वित होता था।

गुप्तयुगीन वसति

गुप्तकाल में ग्रीष्म ऋतु की गर्मी से बचने के लिए धनी लोगों के धारागृह का वर्णन मिलता है। धारागृह में विशेष प्रकार की बनी शिलायें यन्त्र के द्वारा संचारित शीतल जल से परिषिक्त होती थीं। वे चन्दन-रस से धुली होती थीं। धारागृह का दूसरा नाम जल-यन्त्र-मन्दिर था। यह विविध रंगों से मनोरम रँगा होता था।[3] ग्रीष्म के आतप से बचने के लिए जलमण्डप जलाशय के तट पर बनाये जाते थे। वहाँ सदा जलासार के सिंचन से सूर्य की किरणों का सन्ताप निवारित होता था। उस मण्डप के चारों ओर कुल्या होती थी। मण्डप के भीतर लटकाये हुए जलजम्बू के पत्तों के कारण अन्धकार रहता था। सभी स्तम्भों पर कुसुम और पल्लव-युक्त लतायें फैली होती थीं। हरिचन्दन के अतिशय लेप से मण्डप आर्द्र रहता था। तल पर काली कमलिनी के पत्ते बिछे होते थे और सुगन्धिमय सरस विकसित कमल के पुष्पों की राशि तथा मृणाल बिखरे होते थे। वहाँ असमय ही वर्षा ऋतु का आगमन प्रतीत होता था, जब इधर-उधर शैवाल की मंजरियों से जल टपकता था। महाकवि बाण के शब्दों में जलमण्डप ग्रीष्म ऋतु का पराजय करने वाला, शीत का उद्भव, मेघों का सन्निवेश, सूर्य की किरणों का तिरस्कार करने वाला जलाशय का हृदय, हिमालय का भाई, जाड़े का स्वरूप, रात्रि का आवास और दिन का शत्रु प्रतीत होता था। स्नान करने के पश्चात् लोग जलमण्डप में चले जाते थे और ग्रीष्म कालीन सारा दिन बिताते थे।[4] कालिदास ने जल-मध्यवर्ती घर का नाम गूढ़-मोहन-गृह बतलाया है।[5] वह गृह दीर्घिका के जल में गूढ़ होता था। इसी का नाम समुद्र-गृह भी था।[6]

---

१. अर्थशास्त्र दुर्ग-विधान-प्रकरण—जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत्।

२. मनुस्मृति ७.७५–७६। ३. ऋतुसंहार १.२

४. कादम्बरी, पृ० २८३। ५. रघुवंश १९.९।

६. समुद्र-गृह का उल्लेख कामसूत्र में इन शब्दों में मिलता है—समुद्र-गृह-

गुप्तयुग के गृहविन्यास की विलासितापूर्ण रूप-रेखा का परिचय कालिदास की रचनाओं में मिलता है। अयोध्या के घरों में क्रीडामयूर यष्टि-निवास पर रहते थे। दीवालों पर चित्र बने हुये थे। उनमें से एक में दिखाया गया था कि पद्मवन में हाथी प्रवेश कर चुके हैं। अन्यत्र हथिनियाँ हाथियों को मृणाल दे रही हैं। गृह स्तम्भों पर रमणियों की आकृतियाँ बनी हुई थीं। नगर की उद्यान-लताओं की शाखाओं को खींचकर विलासिनी स्त्रियाँ पुष्पावचय करती थीं। रात्रि के समय भवनों के गवाक्ष दीप-प्रभा से जगमगाते थे। इन्हीं गवाक्षों से धूम निकल कर बाहर जाता था।[1]

अलकापुरी के भवनों की शोभा बढ़ाने वाली वहाँ की ललित वनितायें, चित्र और तल में जड़ी हुई मणियाँ थीं। उनके शिखर अभ्रंकष थे। वहाँ के अनेक वृक्षों में नित्य पुष्प लगे रहते थे, जिन पर भौरों का गुंजन होता था। जलाशयों में कमल को चारों ओर से हंस की पाँति घेरे रहती थी। नित्य चमकते हुये कलाप वाले मयूर 'केका' गान करते थे। भवन सित मणियों से बने हुए थे। उनपर रात्रि के समय तारे पुष्प की भाँति प्रतिफलित होते थे। विमान-भवनों में आलेख्य का सौन्दर्य विशेष रूप से चमत्कारपूर्ण होता था। नगर का उपवन कामिजनों के विहार के लिये था। यक्ष के घर का तोरण इन्द्रधनुष के समान था और इतना ऊँचा था कि दूर से ही दिखाई पड़ता था। यक्ष की स्त्री ने अपने हाथों से वहाँ एक मन्दार वृक्ष का पौधा आरोपित किया था। उस वृक्ष के फूल के गुच्छे हाथ से पकड़े जा सकते थे। इस घर की एक झील थी। झील की सीढ़ियाँ मरकत शिलाओं से आबद्ध थीं। झील की शोभा कमल और हंसों से अतिशय बढ़ रही थी। झील के तट पर एक कृत्रिम क्रीडाशैल था, जिसका शिखर पेशल इन्द्रनील-मणियों से बनाया गया था। इस क्रीड़ा शैल के चारों ओर स्वर्णिम कदली वृक्ष लगे हुए थे। उस पर्वत पर कुरबक वृक्षों के बीच माधवी-मण्डप के समीप अशोक और मौलिश्री के वृक्ष थे। इन्हीं वृक्षों पर क्रीड़ामयूर के बैठने के लिए स्फटिक मणि की वासयष्टि थी, जिस पर वह वलय की ध्वनि के ताल की गति से नर्तन करता था। यक्ष-भवन के द्वार पर शंख और पद्म के चित्र बने हुए

प्रासादान् गूढभित्तिसंचारान् आदि। इससे ज्ञात होता है कि समुद्रगृह बहुत बड़े-बड़े होते थे। इसके अतिरिक्त स्वप्नवासवदत्ता के पाँचवें अंक में तथा विष्णुस्मृति ५.११७ में समुद्र-गृह का उल्लेख मिलता है। संभवतः ऐसे ही समुद्र-गृह का अवशेष खजुराहो में मिलता है।

१. रघुवंश १६.९४–१२०।

थे।[1] घर के सौभाग्य के द्योतक उसके द्वार पर प्रतिष्ठित जलपूर्ण कलश और स्तम्भ पर लगाई हुई सौभाग्य-पताकायें होती थीं।[2] कलशों की स्थापना तोरण-स्तम्भ के पास ही दोनों ओर की वेदिकाओं पर होती थी। आम्र-पल्लवों से कलश का मुंह आच्छादित होता था।

घरों में आँगन होते थे। आँगन के चारों ओर अलिन्द (बरामदे) और उनके पीछे कमरे बने होते थे। ऐसे घरों को अन्तःचतुःशाल कहा जाता था।[3] घर के विभिन्न वर्गों और कामों के लिए कमरे बँटे रहते थे। प्रत्येक घर में शय्यागृह का सर्वाधिक महत्त्व सजावट की दृष्टि से होता था। नवयुवक नागरिकों के लिए शय्यागृह अन्य गुरुजनों के गृह से अलग होता था।[4] शयनगृह का एक विशेषण था रचित-कुसुम-गन्धि।[5] परवर्ती युग में भी शयनागार के कालागुरुद्दाम-धूप-धूमाधिवासित होने का उल्लेख मिलता है। उस शयन-गृह में मणि-प्रदीप से प्रकाश

---

१. उत्तरमेघ १–२० से।

२. कादम्बरी, पृ० ९६। मृच्छकटिक चतुर्थ अंक से।

३. आभ्यन्तर चतुःशाल अन्तःपुर के लिए होता था। भास के चारुदत्त के प्रथम अंक में। बृहत्संहिता में अनेकत्र तथा मत्स्यपुराण के २५४ वें अध्याय से २५६ वें अध्याय तक गृह-निर्माण सम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। इसके अनुसार भवन चतुःशाल, त्रिशाल, द्विशाल तथा एकशाल होते थे। इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद होते थे, जैसे चतुःशाल के भेद सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त वर्धमान, स्वस्तिक और रुचक हैं। इस प्रसंग में बताया गया है कि किस योग्यता के व्यक्ति के लिए कैसा घर बनवाना शुभ और उचित है। राजा से लेकर चाण्डाल तक के घरों का निर्देश मिलता है।

४. ऋतुसंहार २.२२।

५. ऋतु सं० ३.२३। उपर्युक्त विवरण का सामंजस्य वात्स्यायन के नीचे लिखे सूत्र में है—वेश्म च शुचि सुसंमृष्टस्थानं विरचितविविधकुसुमं संश्लक्ष्ण-भूमितलं हृद्यदर्शनम् आदि। भूमौ पतद्ग्रहः, नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं वर्तिका समुद्गको यः कश्चित् पुस्तकः आकर्षकफलकं, द्यूतफलकं च। तस्य बहिः क्रीडाशकुनिपिंजराणि। एकान्ते च तर्कुतक्षणस्थानमन्यासां च क्रीडानाम्। स्वास्तीर्णाप्रेङ्खादोला वृक्षवाटिकायां सप्रच्छाया स्थण्डिलपीठिका च सुकुसुमेति भवन-विन्यासः। १.८.५। बाह्ये च वासगृहे सुश्लक्ष्णम्, उभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात् प्रतिशय्यिका च। तस्य शिरोभागे कूर्चस्थानम्, वेदिका च। १.४.५–७।

होता था। उनमें मुक्ता-जाल लटकते थे। उस गृह में कुन्द, इन्दीवर और मन्दार की तीव्र महक फैली रहती थी। भित्तियों पर भाँति-भाँति के चित्र बनते थे[1]।

सातवीं शती के नगर-विन्यास का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है। इसके अनुसार नगर के प्राकार बहुत ऊँचे और चौड़े थे, पर सड़कें संकीर्ण और टेढ़ी-मेढ़ी थीं। हीन व्यवसाय के लोगों के घर विशेष लक्षणों से परिलक्षित होते थे। नगर की दीवाल तो ईंट की बनती थी, पर घरों की दीवालें बाँस या लकड़ी की बनाई जाती थीं। छाजन लकड़ी और खपरैल से होती थी। दीवाल पर चूना पोता जाता था। घरों की ऊँचाई अतिशय विशाल होती थी। कुछ घरों की दीवालें ईंट की बनती थीं पर छाजन तृण और पत्तों से की जाती थी। घर के तल को गाय के गोबर से लीपा जाता था और विभिन्न ऋतुओं में विविध प्रकार के पुष्प तल पर बिखेरे जाते थे। गृहस्थों के घर बाहर से साधारण और भीतर वैभव-सम्पन्न और सुरुचिपूर्ण प्रतीत होते थे। द्वार प्रायः पूर्व दिशा की ओर होते थे।[2] ह्वेनसांग ने हर्ष की राजधानी कन्नौज का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह नगर पाँच मील लम्बा और एक मील चौड़ा था। यह गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित था। नगर भलीभाँति सुरक्षित था और इसमें सर्वत्र ऊँचे भवन थे। मनोरम उपवनों और निर्मल जल वाले जलाशयों की संख्या विपुल थी। विविध देशों से अद्भुत वस्तुओं को लाकर नगर में रखा गया था।

मानसार

परवर्ती युग के 'मानसार' नामक वास्तुशास्त्र में नगर, ग्राम और गृह-विन्यास सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इसके अनुसार गाँव के चारों ओर लकड़ी या पत्थर की दीवाल होनी चाहिये। दीवाल में चार प्रमुख द्वार होने चाहिये। द्वारों को चौड़ी सड़कों से मिलाना चाहिये। वसति के समीप ही जलाशय होना चाहिये। गाँव की नालियाँ ढाल की ओर होनी चाहिये। योग्यतानुसार गाँव में घर बनाने के लिये स्थान मिलना चाहिये। मानसार के अनुसार कई प्रकार के नगर हो सकते थे—राजधानी, नगर, नगरी, खेट, खर्वाट, कुब्जक, पट्टन आदि। क्षेत्रफल की दृष्टि से ४० प्रकार के नगर और गाँव हो सकते थे। नगर के चारों ओर खाई की व्यवस्था दी गई है। साथ ही गोचर प्रदेश, आपण, विपणि, धर्मशाला, आदि की अवस्थिति के लिये नियम मिलते हैं।[3]

---

१. महापुराण ९.२१–२४।

२. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १४७।

३. मानसार अध्याय ९–१० से।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय गृह-विन्यास जीवन में स्वास्थ्य की सिद्धि के लिये विशेष अनुकूल था। वात्स्यायन के शब्दों में उदार गृह-विन्यास से, बहुमूल्य सामान रखने से तथा भृत्यों से गृह-परिच्छद की उज्ज्वलता होती थी।[१]

नववसति

भारतीय संस्कृति के इतिहास का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि इस देश की प्रजा नित्य नये प्रदेशों में जाकर बसती गई। जहाँ लोगों ने देखा कि जनसंख्या की अधिकता के कारण अथवा राजा की दुर्नीति, अकाल या अवर्षण से विपत्ति आनेवाली है कि वे अपने पुराने घर और गाँव छोड़कर नई वसति की खोज में चल देते थे। इस विचारधारा का प्रतीक कच्छप-जातक की नीचे लिखी गाथा है—

गामे वा यदि वा रञ्ञे सुखं यत्राधिगच्छति।
तं जनित्तं भवित्तं च पुरिसस्स पजानतो।
यम्हि जीवे तम्हि गच्छे न निकेतहतो सिया॥

(ग्राम या अरण्य में जहाँ सुख मिलता है, उसी को विज्ञानी जन्मभूमि और पालन का स्थान समझे। जहाँ जीवन की सम्भावना हो, वहीं जाकर रहे। घर में रहते हुये मरना ठीक नहीं।)

अर्थशास्त्र में नई वसतियों के राजा द्वारा बसाने की सुविचारित योजनायें मिलती हैं।

शयनासन

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोगों ने सोने और बैठने के लिये अवश्य ही अनेक प्रकार की चारपाइयों, विस्तरों, कुर्सियों और चौकियों को अपनाया होगा। इनका स्वरूप क्या था—यह पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता क्योंकि खुदाई करने पर जो उस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उनमें ऐसी वस्तुओं का अभाव सा है। अवश्य ही वे लकड़ी, बेंत या वस्त्र की बनती थीं और कालान्तर में जीर्ण-शीर्ण हो गईं। उस युग की कुर्सियों की रूप-रेखा की कल्पना तत्कालीन मिट्टी की बनी हुई दो

१. कामशास्त्र, पृ० ३४१ चौखम्भा प्रकाशन, गृहस्योदारस्य करणं महार्हभाण्डैः परिचारकैश्च गृहपरिच्छदस्योज्ज्वलता। सूत्र २६।

कुर्सियों से होती है, जो शिशुओं के खेल के लिये बनाई गई थीं। एक मुद्रा पर कोई व्यक्ति एक कुर्सी पर बैठे हुये दिखाया गया है। इस कुर्सी के पैर बैल के समान हैं। उस समय संभवतः तिपाइयाँ और चौकियाँ भी बनती थीं।

वैदिक काल में विशेष प्रकार की घास या उससे बने आसनों का उपयोग बैठने के लिये होता था। कम से कम देवताओं को बैठने के लिये यज्ञ की वेदिका के चारों ओर कुश फैला दिया जाता था। इस आसन का नाम 'बर्हि' था।[1] प्रस्तर नामक आसन इसी प्रकार दर्भ (कुश) का बनता था।[2] उस युग में कूर्च नामक आसन चटाई के समान होता था और सरलता से गोलिआया जा सकता था।[3] यज्ञ के लिये घास का गद्देदार आसन बनता था, जिसका नाम वृषी था।[4] विभिन्न उपादानों से बनी हुई चटाइयाँ—कशिपु, नड्वला और कट थीं।[5] इनके लिये नड नामक घास, बेंत, काश आदि का उपयोग होता था। कशिपु नामक चटाई में स्वर्ण का काम होता था और ऐसी चटाई को हिरण्यकशिपु कहा जाता था। सदः नामक आसन पर बैठकर सदस्य याज्ञिक क्रियाकलापों का अवलोकन करता था।[6]

लकड़ी के बने हुए आसनों में सर्वप्रथम पीठ आता है।[7] संभवतः पीठ एक आदमी के बैठने के लिए होता था। तल्प और प्रोष्ठ अनेक आदमियों के एक साथ बैठने या सोने के लिए थे। तल्प समृद्धिशाली लोगों का आसन था। इसमें सोने का अलंकरण होता था और दम्पती के सोने के लिए उपयुक्त होता था। यह

---

१. कठक संहिता १०.१०, तैत्तिरीय संहिता २.२.८.२।

२. ऋग्वेद १०.१४.४; अथर्ववेद २.६।

३. तैत्तिरीय संहिता ७.५.८.५, शतपथ० ११.५.३.४, ७ ऐतरेय आरण्यक ५.१.४। बृह० उपनिषद् ४.२.१, के अनुसार कूर्च राजाओं के योग्य आसन था, जिसपर राजा जनक बैठते थे। शतपथ ब्रा० १३.४.३.१ के अनुसार सोने के बने कूर्च पर अभिषेक के अवसर पर राजा बैठता था।

४. ऐतरेय आरण्यक १.२.४; ५.१.३; कात्यायन श्रौत सूत्र १३.३.१।

५. अथर्ववेद ६.१३८.५ में कशिपु, वाजसनेयि सं० ३०.१६ में तथा तैत्तिरीय ब्रा० ३.४.१२.१ में नड्वला तथा तैत्तिरीय सं० ५.३.१२.२ में कट का उल्लेख है।

६. शतपथ ब्रा० १०.४.२.१९।

७. देखिए पीठसर्पी वाजसनेयि सं० ३०.२१, तैत्तिरीय ब्रा० ४.३.१७.१।

बहुत कुछ चौकी के समान था, जिसमें चार पाँव और चार पाटियाँ होती थीं। प्रोष्ठ छोटी चौकी होता था। वह्य आधुनिक स्टूल की भाँति हल्का होता था।[1] तल्प, वह्य और आसन्दी समृद्धिशाली दम्पतियों के विश्रामागार को अलंकृत करते थे। आसन्दी गद्दीदार मंच थी। इसका विशेष प्रचलन व्रात्य वर्ग में था। इसके ऊपर आस्तरण रखकर ढका जाता था। तकिया का नाम 'उपवर्हण' था। आसाद बिछाकर आसन्दी पर बैठा जाता था और फिर उपश्रय का सहारा लिया जाता था।[2] आसन्दी पर जो आस्तरण बिछाया जाता था, उसका नाम उपप्रधान तथा इस पर विछाई जानेवाली चादर का नाम उपवासन था। आसन्दी के आदर्श पर पर्यङ्क (पलंग), सिंहासन आदि बनते थे।[3] आस्तरण के समान उपस्तरण तथा उपवर्हण के समान सिर के नीचे रखी जाने वाली तकिया उच्छीर्षक होती थी।[4] पर्यङ्क के लिए उपस्तरण और उपवर्हण होते थे। इसकी ऊँचाई इतनी अधिक होती थी कि इसके ऊपर चढ़ना पड़ता था।[5] परवर्ती युग में छोटे आकार की आसन्दी बनने लगी। ऐसी आसन्दी केवल एक हाथ लम्बी एक हाथ चौड़ी और आधे हाथ ऊँची होती थी। राजा के अभिषेक के लिए जो आसन्दी होती थी, वह इसी प्रकार की होती थी। इसके ऊपर व्याघ्र-चर्म का आस्तरण होता था। यह चमड़े या वेंत से बुनी हुई होती थी।[6]

रामायण के अनुसार, अभिषेक के अवसर पर भलीभाँति अलंकृत 'भद्रपीठ' आसन होता था। यह उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी का बनता था। इसके अतिरिक्त, सिंहासन होता था।[7] इस युग में राजाओं के लिए स्वर्णिम 'पर्यङ्क' आसन था। इसके ऊपर उत्तरच्छद नामक आच्छादन-वस्त्र होता था।[8] सोने का घर शीतल,

---

१. तैत्तिरीय ब्रा० १.२.६.५, अथर्ववेद १४.१.६०।

२. अथर्ववेद १४.२.६५; १५.३.२, तैत्तिरीय सं० ७.५.८.५, वाजसनेयि सं० ८.५६.१९.१६ आदि। विशेष विवरण के लिए देखिए कौषीतकि ब्रा० उप० १.५ तथा जैमिनीय ब्राह्मण १.३९७। आसन्दी के चार पांव, दो सिरे और दो पाटियां होती थीं।

३. ऐतरेय ब्राह्मण ८.५, ६, १२।

४. कौषीतकि उपनिषद् १.५।

५. वही १.५।

६. ऐतरेय ब्राह्मण ८.५.६, अथर्ववेद १५.३।

७. अयोध्या का० १५.४। १४.३४,३९।

८. वही १५.८।

सुगन्धित एवं पुष्पयुक्त होता था।[१] आर्येतर सभ्यता में राजभवन की कक्षायें यान और आसन से समावृत होती थीं। इनमें स्वर्ण और रजत के पर्यंक तथा अनेक अन्य प्रकार के श्रेष्ठ आसन होते थे। इन सभी पर बहुमूल्य आस्तरण होते थे।[२] सोने के शयन और आसन का उपयोग लंका के राक्षस भी करते थे।[३] इस प्रदेश में राजभवन का तल बड़ी दरी से आच्छादित होता था। दरी पर पृथिवी का चित्र बनता था। अन्य कई प्रकार के आस्तरणों से सारा तल ढका रहता था।[४] रावण के शयनासन स्फटिकमणि के बने हुये थे और रत्न से विभूषित थे। कुछ आसनों को हाथीदाँत, स्वर्ण और वैदूर्यमणियों से अलंकृत किया गया था। इन सभी पर बहुमूल्य आस्तरण लगाए गये थे।[५] वनों में विचरण करते हुए पथिकों के द्वारा भूतल पर तृण बिछाकर सुखमयी शय्या बना लेने का प्रचलन था।[६]

महाभाष्य के अनुसार मंचा या मंचक छोटी खाटें थीं, जिन पर बच्चे सोते थे। खट्वा, शय्या या पर्यङ्क बड़ों के सोने के लिए होता था। भूमि पर घास-फूस बिछा कर सोने वाले सदैव बहुसंख्यक रहे हैं।[७] बैठने के लिये द्विपदिका और त्रिपदिकायें होतीं थी। आसन्दी आराम-कुर्सी की भाँति होती थी।[८]

प्रमुख शयनासनों के नाम बौद्ध साहित्य में इस प्रकार मिलते हैं—आसन्दी, पल्लंक, पट्टिका, पटलिका, चित्रक, तूलिका (रुई भरी रजाई), विकटिका (रुई के आस्तरण, जिन पर सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र कढ़े हों), उद्दलोमी (आस्तरण, जिसके दोनों ओर रोयें हों), एकान्त लोमी (जिसके एक ओर रोयें हों), कट्टिस (रत्नजटित आस्तरण), कुत्तक (ऊनी आस्तरण, जिस पर १६ नर्तकियाँ नाच सकें), हत्थत्थर (हाथी की पीठ का आस्तरण), अस्सत्थर (घोड़े की पीठ का आस्तरण), वन्य पशु (सिंह, व्याघ्र आदि) के चर्म, सौत्तरच्छद, सेतवितान आदि थे।[९] इनके अतिरिक्त चिलिमिका भवन के तल की शोभा के लिए बिछाई

---

१. अयोध्या काण्ड ८८.६,७।
२. किष्किन्धाकाण्ड ३३.२०,२१।
३. सुन्दरकाण्ड ६.४१।
४. सुन्दरकाण्ड ९.२५–२७।
५. सुन्दरकाण्ड १,२।
६. अयोध्याकाण्ड ५१.२, १०।
७. महाभा० ४.१.४८; ३.३.९९; ३.२.११०।
८. महाभाष्य १.१.५७; ८.२.१०।
९. महावग्ग ५.१०.३, तेविज्जसुत्त तथा चुल्लवग्ग ६.४१.१।

जाती थी। इससे तल की सुरक्षा होती थी।[1] इस युग में मच्छरों से बचने के लिए मशक-कुटिका (मच्छरदानी) का उपयोग होता था।[2]

साधारण लोग सोने के लिए मिढि बना लेते थे। मिढि दीवाल से लगी चौकी होती थी। इसी पर चटाई बिछा ली जाती थी। विश्राम के लिए विदल-मंचक नामक शय्या होती थी। वह संभवत: बेंत से बुनी जाती थी। बुनाई और बनावट की दृष्टि से इस युग में अनेक प्रकार की चारपाइयों और कुर्सियों का उपयोग होता था। मसारक, बुन्दिका-बद्ध, कुलीर-पादक, आहच्चपादक—इन चार प्रकार के सोने और बैठने के उपादानों का उपयोग होता था। आसन्दी अनेक प्रकार की बनने लगी थीं। इसके नाम बनावट और बुनाई की विविधता की दृष्टि से ये मिलते हैं—आसन्दिक, उच्चक, सत्तंग, उच्चक-सत्तंग, भद्दपीठ, पीठिका, एडकपादकपीठ, आमल-कवण्टिकपीठ, कोच्छ। फलक भी बैठने के काम में आता था।[3] चारपाइयाँ रस्सी से बुनी जाती थीं। बुनने के पहले सिरे और पाटी की लकड़ियों में छोटे-छोटे छेद कर लिए जाते थे। तकिया सोते समय लगाई जाती थी। इनकी लम्बाई तीन फुट से एक फुट तक होती थी।[4] गद्दीवाली कुर्सियों और शयनों का गृहस्थों में प्रचलन था।[5]

राजाओं के उपयोग के लिए जो भद्रासन बनता था, वह असंख्य रत्नों और मणियों से जटित होने के कारण महिमशाली होता था। इस पर आस्तरण बिछाया जाता था और मसूरक (तकिया) रखी जाती थी। सबके ऊपर श्वेत वस्त्र फैलाया जाता था। वह वस्त्र छूने में अत्यन्त कोमल और सुखमय होता था।[6] संभवत: ऐसे भद्रासन का मूर्त रूप मथुरा में प्राप्त शक राजा की मूर्ति में मिलता है। भद्रासन लगभग डेढ़ फुट ऊँचा है। इसके पायों में सिंह की प्रतिकृति अंकित है। इस पर बैठकर नीचे पादपीठ पर पैर रखा गया है।[7]

गुप्तयुग में बेंत के आसन की सर्वोत्कृष्ट महिमा थी।[8] ऐसे आसनों को आधु-

---

१. चुल्लवग्ग ६.२.६।

२. महावग्ग ५.१३.३।

३. चुल्लवग्ग ६.२.३, ४।

४. चुल्लवग्ग ६.२.६।

५. वही ६.८.१।

६. Introduction to Prakrit में उद्धृत जिनचरित से।

७. आरकियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट १९११–१२, पृ० १२४, प्लेट ५४.४–६।

८. कुमारसम्भव ६.५३।

निक कुर्सी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। मणियों का उपयोग शयनासन बनाने में होता रहा। राजाओं की पर्यङ्किका चन्द्रकान्त मणि की बनती थी। पादपीठ स्फटिक का बनता था।[१] अजन्ता के चित्रों के अनुसार वैभवशालिनी स्त्रियाँ भी छोटी चौकी पर बैठती थीं। चौकियों के पाये खरादे हुये लकड़ी के प्रतीत होते हैं। चौकी एक हाथ लम्बी अण्डाकार है। इस पर गद्दा और चित्रमय आस्तरण है। पीठ का सहारा देने के लिये प्रायः गोल उपश्रय है, जो संभवतः दीवाल के अवलम्ब से टिका है।[२] समुद्रगुप्त की लक्ष्मी-अंकित एक मुद्रा पर लक्ष्मी को लगभग डेढ़ हाथ लम्बे और आधे हाथ चौड़े आयाताकार लकड़ी की चौकी पर बैठे हुये दिखाया गया है। इस चौकी के चार खरादे हुये पाये आधे हाथ ऊँचे हैं। पैर रखने के लिये पाद-पीठ बना है। एक मुद्रा पर समुद्रगुप्त चौकी पर बैठे हुये दिखाये गये हैं। इसकी लम्बाई लगभग तीन फुट और चौड़ाई एक फुट होगी। इसके एक सिरे पर पीठ का सहारा देने के लिये गद्देदार उपश्रय बनाया गया है।[३] एक अन्य मुद्रा पर लक्ष्मी तल पर बिछाये हुये आसन पर बैठी हुई दिखाई गई हैं। इस आसन पर कमल का पुष्प चित्रित है।[४] अजन्ता की १७वीं गुफा में जो चौकी चित्रित की गई है, उसके पाये घंटाकार खरादे हुये हैं। इन चौकियों की रूप-रेखा प्रायः वैसी है, जैसी आज-कल की नहाने-धोने की छोटी चौकियों की होती है। सत्रहवीं गुफा में एक और प्रकार की चौकी चित्रित की गई है, जिसका पाँव खरादा हुआ नहीं है, पर चौकोर है और नीचे की ओर थोड़ा मुड़ा हुआ है। इस पर बैठकर पाँव नीचे की ओर लटकाया जाता था। इसकी ऊँचाई लगभग एक फुट है।

वात्स्यायन के अनुसार वासगृह में जो शयनीय होता था, वह चिकना अच्छी तकिया वाला और बीच में विनत होता था। उसके सिरे पर कूर्च-स्थान रहता था। उस गृह में शयनीय के अतिरिक्त भूमि पर आस्तरण फैला होता था।

ह्वेनसांग ने तत्कालीन आसनों का वर्णन करते हुये बतलाया है कि सभी लोग बुनी हुई चारपाइयों का प्रयोग करते थे। बड़े लोगों के आसनों में विभिन्न प्रकार के अलङ्करण विशेष रूप से होते थे। राजा का आसन बहुत लम्बा चौड़ा और ऊँचा था और इसमें छोटे मोती जड़े हुये थे। सिंहासन सूक्ष्म वस्त्र से आच्छादित था और उस पर चढ़ने के लिये रत्नजटित पादपीठ होता था। आसन के लिए

---

१. कादम्बरी, पृ० ५।

२. प्रथम गुफा में एक भित्ति-चित्र, जो सातवीं शती का है।

३. समुद्रगुप्त का वीणावादक सिक्का एलन, प्लेट ३.१।

४. दोनों सिक्कों के लिए देखिए एलेन प्लेट १.१–९ तथा ७.१।

विभिन्न प्रकार के चौखटे लोग अपनी रुचि से बनवा लेते थे और उनमें बहुमूल्य रत्नों को जड़वा लेते थे।[1] हर्ष के भद्रासन नामक सिंहासन पर व्याघ्रचर्म वितत होता था।[2] संभव है मंच, पर्यङ्क और शय्या आदि आरम्भ में विभिन्न प्रकार के शयन रहे हों, पर आगे चलकर ये सभी खट्वा (खटिया) के पर्याय बन गये।[3]

साधारण गृहस्थों की शय्या प्रायः सदा ही लकड़ी की बनती आई है। धार्मिक दृष्टि से विधान बना कि अस्फुटित शय्या पर ही लेटना चाहिये। शय्या का विशाल होना आवश्यक माना गया। टूटी-फूटी, गन्दी या विषम शय्या पर सोना धर्म की दृष्टि से अनुचित माना गया।[4] शय्या में जीव का न होना तथा उस पर विस्तर लगाना आवश्यक गुण माने गये है।[4] तल्प (शय्या) पर जो प्रच्छद (चादर) बिछाया जाता था, वह गंगा के बालू के समान चमकता था, और दुकूल का बना होता था। तल्प मृदु और मनोहर होता था।[5]

उपर्युक्त सारा सम्भार नागरक जीवन की सर्वोच्च विलासिता को व्यक्त करता है। राजशेखर ने इसी की पुष्टि करते हुए लिखा है—

येषां मध्ये मन्दिरं तल्पसम्पत् पार्श्वे दारा स्फारतारुण्यतारा।
लीला-वह्निर्निह्नुतोद्दामधूमस्ते हेमन्ते ग्रीष्मशेषं विदन्ति॥

काव्यमीमांसा १८ वें अध्याय से।

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १४७–१४८।

२. हर्षचरित सप्तम उच्छ्‌वास, पृ० १५१।

३. अमरकोश मनुष्य-वर्ग १३८।

४. विष्णुपुराण ३.११.१०९,११०।

५. महापुराण ९.२४।

अध्याय २२

यात्रा-पथ

स्थलयात्रा

स्थल-मार्ग की यात्रा करने के लिए पशुओं की पीठ पर चढ़ने अथवा उन्हें जोत कर गाड़ी बना लेने का प्रचलन पशुपालन के साथ ही साथ आरम्भ हुआ होगा। ऐसे पशुओं की भारत में कमी नहीं रही, जो उपर्युक्त कामों के लिए उपयोगी होते। सिन्धु-सभ्यता के युग से हाथी, ऊँट, बैल खच्चर, भैंसा आदि पशुओं का लोग पालन करते आये हैं। इनमें से हाथी की पीठ पर सवारी होती थी और अन्य पशुओं को गाड़ी में जोता जाता था अथवा उनकी पीठ पर सवारी होती थी। इस युग में व्यापार के लिए लोग लम्बी यात्रायें करते थे। यात्राओं के लिए लदुये ऊँट और गधे बहुत उपयोगी होते थे। बैल-गाड़ियों का प्रायः उपयोग होता था। उस युग की बैलगाड़ियाँ प्रायः वैसी होती थीं, जैसी आजकल पाई जाती हैं। आजकल जैसा ही उनके पहियों का अन्तर साढ़े तीन फुट था। संभवतः गाड़ियाँ व्यापार के लिए अधिक उपयोगी होती थीं। आधुनिक इक्के की भाँति उस युग का ऊपर से छाजन वाला कोई वाहन अवश्य लोगों की सवारी के काम आता होगा। इक्के की छाजन चार दण्डों पर अवलम्बित होती थी। सामने की ओर सारथि बैठता था। ऐसे वाहनों में संभवतः बैल जोते जाते थे। कुछ रथों के आकार पशुओं और पक्षियों की भाँति होते थे। रथों में दो और गाड़ियों में चार तक पहिये लगते थे। कुछ रथ पेटी की भाँति बनते थे।

वैदिक यान

वैदिक आर्यों के रथ यात्रा के प्रधान साधन थे। उनके रथों में प्रायः दो घोड़े जोते जाते थे। रथ के घोड़ों की विशेषताओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे काम्य (सुन्दर), धृष्णु (तेजस्वी), शोण (लाल) और नृवाहस (पुरुष-वाहक) होते हैं।[१] उनके रथ सुखतम होते थे।[२] अश्विद्वय के रथ में तीन पहिये होते थे

---

१. ऋग्वेद १.६.२।

२. वही १.१३.४।

और ऊपर तीन खम्भे लगते थे। वह तीन स्थानों पर बँधा होता था। इस रथ में गधे जोते जाते थे। कुछ रथ स्वर्ण के आभूषणों से अलंकृत होते थे।[1] संभवत: कुछ रथों में सात या दस पहिये लगते थे।[2] घोड़ों की संख्या भी अधिक होती थी। कुछ रथों में चार घोड़े जोते जाते थे।[3] कुछ गाड़ियों में चार ऊँट भी जोते जाते थे।[4]

वैदिक जीवन में रथों का अतिशय महत्त्व था। उस समय रथ की दृढ़ता और उपयोगिता बढ़ाने की कामना से मन्त्रों की रचना की गई। हव्य द्वारा रथ-यज्ञ सम्पादित किये जाते थे। रथ भली-भाँति सुसज्जित होते थे। उनके ऊपर गोचर्म का आच्छादन लगाया जाता था। ऐसे उच्च कोटि के रथ युद्धभूमि में काम आते थे और कवियों ने कल्पना की कि उनकी गति जल के वेग के समान होती है।[5] उस समय रथों के चलने योग्य सड़कों को वर्त्मन् या परिरथ्या और पैदल चलने के मार्ग को पथिन् कहा जाता था।[6] वैदिक काल में हाथी, ऊँट, गधे आदि की पीठ पर सवारी होती थी। हाथी को लोग स्वर्ण के आभूषणों से अलंकृत करके उसकी पीठ पर सवारी करते थे।[7]

रामायणीय यान

परवर्ती युग के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आर्येतर जातियों में किसी बलवान् मनुष्य की पीठ पर बैठकर इधर-उधर जाने का प्रचलन था। हनुमान ने राम और लक्ष्मण को पीठ पर लेकर उन्हें सुग्रीव के पास पहुँचाया था।[8] रामायण के अनुसार राजाओं के रथ सूर्य के समान चमकते थे और स्वर्ण से विभूषित होते थे।[9]

---

१. ऋग्वेद १.३४ से।

२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २५२।

३. ऋग्वेद १.१२६.४।

४. ऋग्वेद ८.६.४८; अथर्ववेद २०.१२७.२।

५. ऋग्वेद ६.४७.२६–२८; साथ ही नदी की उपमा रथ के घोड़ों की चाल से दी जाती थी, वही ७.९५.१।

६. अथर्ववेद १२.१.४७; ८.८.२२।

७. ऋग्वेद १.६४.७; ४.१६.१४, ऐतरेय ब्राह्मण ८.२३.३।

८. रामायण किष्किन्धा का० ४.३४।

९. अयोध्या का० ४०.१३–१६। आश्रमवासिक पर्व ३०.३ में रथ जलती अग्नि के समान बताये गये हैं।

इस युग में रथ और स्यन्दन के अतिरिक्त ऊटों के रथ, गधे, हाथी और घोड़े यात्रा के लिये आयोजित होते थे।[१] भरत जब राम से मिलने के लिए जा रहे थे तो उनके प्रयाण में ९,००० हाथी, ६०,००० रथ और १,००,००० घोड़े थे।[२] इस युग में यान संभवतः स्त्रियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी सवारी थी।[३]

आर्येतर जातियों में राक्षसों के पास महारथ थे। साथ ही उनके यान, घोड़े, हाथी आदि भी अनेक प्रकार के थे।[४] इनके अतिरिक्त स्वर्णमयी वाहिनी होती थीं। विविध आकार की शिविकायें भी थीं।[५] शिविकाओं को लोग कन्धे पर ढोते थे[६] यान, अश्व, कांचन रथ, गजेन्द्र, उष्ट्र तथा शिविकाओं का यात्रा के साधनरूप में उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। शिविकायें प्रधानतः स्त्रियों के लिए होती थीं।[७] संभवतः शिविका का पर्याय नरवाही यान था। इसके साथ सेना चलती थी, जब कोई राजकुमारी कहीं आती-जाती थी, तो साथ ही अन्न, पान और परिच्छद (वस्त्र) भरपूर ले लिया जाता था।[८] पैदल चलने वालों को रात्रि के समय मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए नेता उल्मुक लेकर चलता था। सभी लोग उसके पीछे-पीछे हो लेते थे।[९]

महाभारत के अनुसार रथों की यात्रा दूर-दूर तक की होने लगी थी। अयोध्या से विदर्भ तक रथ की यात्रा स्वयं नल ने कराई थी।[१०] रथ में चार घोड़े जोते जाते थे।[११] रथों में हाथी भी जोते जाते थे।[१२]

---

१. अयोध्या का० ८२.३२।

२. वही ८३.३–५।

३. वही ८३.६।

४. सुन्दरकाण्ड ४.२७; ६.७।

५. सुन्दर का० ६.३४–३६।

६. युद्धकाण्ड ११४.१५।

७. आश्रमवासिक पर्व ३०.१२।

८. वनपर्व ६६.२०,२१।

९. आदिपर्व १५८.३। कभी शत्रुओं से आक्रान्त होने पर वह उल्मुक चारों ओर घुमाया जाता था और ढाल सरीखा उपयोगी बन जाता था। वही १५८.२३।

१०. वनपर्व ७०।

११. वही ६९.१७।

१२. सभापर्व ४८.२९।

गाड़ियों में बैल या गाय दोनों जोतने का प्रचलन वैदिक काल से रहा है। कभी-कभी दो बैल और एक गाय या दो गाय या एक बैल जोते जा सकते थे। फिर भी गाड़ियों में गाय जोतने की विधि अच्छी नहीं समझी जाती थी। गौतम बुद्ध ने अनुयायियों को आदेश दिया कि तुम लोग गाड़ी पर मत चढ़ो। रोगी होने पर यदि कभी चढ़ो भी तो वह ऐसी गाड़ी होनी चाहिए, जिसे केवल बैल खींचते हैं या जो हाथ से खींची जाती हो।[1]

राजाओं के शिविका और रथ आदि पर चढ़ते समय सहायता करने के लिये गणिकायें नियुक्त होती थीं। इनको एक सहस्र पण तक वेतन मिलता था।[2]

अर्थशास्त्र के अनुसार घोड़ों को विभिन्न प्रकार की चालें चलने की शिक्षा दी जाती थी। तात्कालिक अनुमान से उस समय के श्रेष्ठ घोड़े रथों में जोते जाने पर १२ योजन (लगभग १०० मील) दौड़ सकते थे।[3] रथ कई प्रकार के होते थे। यथा—देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिक, पारियाणिक, पुराभियानिक तथा वैनयिक। दस पुरुषों के बैठने योग्य १२ हाथ लम्बा रथ होना चाहिए। इससे एक-एक हाथ कम करते जाने से सात प्रकार के रथ बन जाते थे। देवरथ देवताओं के काम में आता था। पुष्परथ विवाह आदि के प्रयोजन के लिए उपयोगी होता था। सांग्रा-मिक रथ युद्धोपयोगी होता था। पारियाणिक साधारण यात्रा के लिए होता था। पुराभियानिक से शत्रुओं के नगर पर आक्रमण किया जाता था। घोड़ों को शिक्षा देने के लिए वैनयिक रथ होता था।[4]

महाभाष्य के अनुसार शकट और शकटी आज कल की बैलगाड़ी की भाँति थीं। कुछ शकटों में आठ बैल एक साथ जोते जाते थे। उस समय रथ का अर्थ समझा जाता था—रमन्तेऽस्मिन् अर्थात् जिसमें आनन्दपूर्वक यात्रा होती हो। कुछ रथ वस्त्राच्छादित होते थे और अन्य कम्बल या चर्म से छादित होते थे। कुछ रथों में अश्वों के स्थान पर ऊँट, गदहे या बैल भी जोते जाते थे।[5]

रथ के चलते समय स्निग्ध-गम्भीर निर्घोष होता था। घोड़ों के दौड़ते समय उनकी टाप से धूल उड़ा करती थी। रथ में कई घोड़े जोते जाते थे। वे इतने ऊँचे होते थे कि स्त्रियों को उनसे उतारना पड़ता था। उनमें उतरने के लिए

---

१. महावग्ग ५.१०.२।

२. अर्थशास्त्र गणिकाध्यक्ष प्रकरण से।

३. वही अश्वाध्यक्ष प्रकरण ३५–४५।

४. रथाध्यक्ष प्रकरण।

५. महाभाष्य १.२.२४; ८.१.३०; ६.३.४६; १.४.२४; ४.२.१०

कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में पुरुषों का सहारा लेकर ही स्त्रियाँ उतर सकती थीं।[१] रथ बहुत शीघ्र गति से चलते थे।

मृच्छकटिक के अनुसार समृद्ध गाँवों तक पहुँचने के लिए रथ्या होती थी। प्रवहण नागरिकों के लिए होते थे, जिन पर बैठ कर वे नगर में इधर-उधर आते जाते थे। प्रवहण में दो बैल जुतते थे। ग्रामीण लोगों के लिए ग्राम-शकट होते थे। गोष्ठी-यान और वधू-संयान विभिन्न प्रयोजनों के लिए होते थे।[२]

रथ, हाथी, ऊँट, घोड़े तथा गदहे परवर्ती युग में भी सवारी के काम में आते रहे। स्त्रियाँ भी हाथी, घोड़ों और गदहों की पीठ पर सवारी करती थीं।[३] तत्कालीन चित्रों, मूर्तियों तथा साहित्यिक उल्लेखों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि सवारियों पर बैठने के लिए सुखद आसन का प्रबन्ध था।[४] रथों पर ऊँची ध्वजायें होती थीं।[५] हाथी और घोड़े अलंकृत किये जाते थे।[६] रथों के साथ उनकी टूट-फूट की मरम्मत करने वाले शिल्पी चला करते थे।[७] हाथियों के ऊपर से दोनों ओर घण्टे लटकते रहते थे।[८]

रथ, हाथी, घोड़े आदि चलाने की विद्या की राजकुमार तथा अन्य उच्च कुल के नागरिक शिक्षा लेते थे। श्रीकृष्ण का रथवाहक होना सुप्रसिद्ध है।

ग्यारहवीं शती की यात्रा के साधनों का परिचय अलबेरूनी के नीचे लिखे लेख से लगता है—कश्मीरी लोग पयादे हैं। उनके पास न कोई सवारी का जानवर है

---

१. रघुवंश सर्ग १ से।

२. मृच्छकटिक छठें अंक से।

३. शिशुपालवध सर्ग ५.७, १८। स्त्रियों को घोड़े से उतारने का काम अन्तःपुर के नौकर करते थे। अन्तःपुर की रमणियाँ घोड़ों पर चलती थीं। शिशु० ५.१८ तथा १२.२०।

४. उदाहरण के लिए देखिए—रुहक जातक १९१; शिशुपालवध ५.७; १२.९; १२.६। कौशाम्बी में प्राप्त वासवदत्ता का अपहरण-दृश्य-सम्बन्धी मृण्मूर्ति, अजन्ता का सिंहल-युद्ध-सम्बन्धी चित्र।

५. शिशुपालवध ५.२०।

६. शिशुपालवध ५.२१ में हाथी के गले में मोती के हार और ५.५८ में घोड़ों की गर्दन में किंकिणिका का उल्लेख। ऊँटों के गले में भी आभूषण होता था। उसमें क्षुद्र घण्टियाँ होती थीं। शिशुपालवध १२.१८।

७. शिशुपाल १२.२५।

८. शिशुपालवध १२.२६।

और न कोई हाथी। उनमें से जो धनी हैं, वे कत्त नामक पालकियों पर चढ़ते हैं, जिनको लोग कन्धों पर उठाते हैं।[१]

जल-यात्रा

सिन्धु सभ्यता के दो नगर मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा नदी के द्वारा सम्बद्ध थे। इन दोनों नगरों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत अधिक था। इस सम्बन्ध का आयोजन नदी में चलने वाली नावों के द्वारा संभव हो सका होगा। तत्कालीन मुद्राओं पर नावों की आकृतियाँ मिलती हैं।[२] वैदिक काल में बहुत बड़ी नावें बनने लगी थीं। कुछ नावों में १०० अरित्र तक लगाये जाते थे।[३]

रामायण-युग में नाव वाहन-संयुक्त, कर्ण-ग्राहवती, शुभ (सुन्दर), सुप्रतार (शीघ्र तैरने वाली), दृढ़ और रुचिर होती थी। ऐसी नावें सागर-गामिनी होती थीं। नाव के घाट बने हुये थे, जिन्हें तीर्थ कहा जाता था।[४] नाव को चलाने के लिए अनेक नाविक होते थे। कर्णधार उसकी दिशा ठीक करता रहता था। प्रयाग के निकट गंगा के एक घाट पर ५०० नावें थीं।[५] कुछ नावें स्वस्तिक शैली पर बनाई गई थीं और कुछ महाघण्टाधरा थीं। उन पर पताकायें फहराती थीं। सबसे अच्छी नाव पाण्डु कम्बल से संवृत थी। इस पर नन्दिघोष होता था। इन नावों पर रथ घोड़े आदि सभी गंगा नदी पार कर सकते थे। कुछ लोग प्लव, कुम्भ, घट आदि से नदी पार कर लेते थे।[६]

नाव के मार्गों की देख-भाल करने के लिए राजा की ओर से नावाध्यक्ष नियुक्त होता था। वह समुद्र, नदी, झील आदि के जलमार्गों का निरीक्षण करता था। राजा की नावें भी यात्रियों की सहायता के लिए प्रस्तुत होती थीं। नावाध्यक्ष उन नावों की भली-भाँति रक्षा करता था, जो तूफान में पथ-भ्रान्त होकर उसके क्षेत्र में आ जाती थीं। वह चोर-डाकुओं की नावों को नष्ट कर देता था। बड़ी नावों पर शासक, नियामक, दात्र, रश्मिग्राहक और उत्सेचक—पाँच अधिकारी

---

१. अलबेरूनी का भारत—१८ वें परिच्छेद से।

२. *Piggott* : Prehistoric India, P. 153, 176.

३. ऋग्वेद १.११६.५ तथा ६.१८.१३ में है।

४. रामायण अयोध्या काण्ड ५२.६–७।

५. वही ८४.८।

६. वही ८९.१०–१८। नदी पार करने के यही साधन महावग्ग ६.१८.१३ में मिलते है।

होते थे। ऐसी नावें महानदियों में चलती थीं, जिनमें साल भर भरपूर जल रहता था। नावाध्यक्ष की स्वीकृति से छोटी नदियों में छोटी नावें चला करती थीं। नावों पर चढ़ाकर ऊँट, भैंस, छोटी-बड़ी गाड़ियाँ आदि पार हो सकती थीं। यदि नावों पर यथोचित कर्मचारियों के न होने से अथवा उनके जीर्ण-शीर्ण होने के कारण किसी यात्री की हानि होती तो नावाध्यक्ष उसकी पूर्त्ति करता था।[1]

राजा की ओर से नाव-भाड़े का नियन्त्रण होता था। नावों पर गाड़ियाँ और उनका पूरा सामान भी पार हो सकता था। भाड़ा नदी-प्रदेश और समय की दृष्टि से भी निर्धारित होता था। समुद्र-यात्रा के लिए भाड़े का कोई नियंत्रण नहीं था। दो मास से अधिक की गर्भिणी स्त्री, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण आदि से भाड़ा नहीं लिया जाता था। यदि मल्लाहों की भूल या असावधानी से कोई वस्तु नष्ट हो जाती तो सभी मल्लाह मिलकर उस वस्तु का मूल्य स्वामी को दे डालते थे[2]।

महाभाष्य के अनुसार अनेक प्रकार के जलयान थे। नौका उनका साधारण नाम था। राज-नौ राजाओं के उपयोग में आता था। भस्मा मसक था, जो तैरने के काम आता था। इनके अतिरिक्त उत्संग, पिटक, उत्पद आदि विविध प्रकार की छोटी-बड़ी नावें थीं। घटिक से पार करने वालों को और बैल की पूँछ पकड़ कर पार करने वालों को गौपुच्छिक कहा जाता था।[3]

परवर्ती युग में पुण्य के लिए राजाओं के द्वारा घाटों पर नावें रखवाने के उल्लेख मिलते हैं। उषवदात के द्वारा इबा, पारादा, दमणा, तापी, करवेणा तथा दाहनुका नदियों पर निःशुल्क नाव यात्रियों को पार कराने के लिए रखने के उल्लेख मिलते हैं।[4]

बड़ी नावों के साथ समुद्र में कभी-कभी छोटी नावें भी सम्बद्ध होती थीं। ऐसा इसलिए किया जाता था कि यदि कहीं बड़ी नाव को किसी प्रकार हानि हो तो छोटी नाव का उपयोग किया जा सके। लंका से चीन की यात्रा करते हुये फाह्यान जिस नाव पर सवार हुआ, उस पर २०० से अधिक आदमी और व्यापार की सामग्री थी। वे ९० दिनों तक यात्रा करने पर जावा द्वीप पहुँचे। इन यात्राओं

---

१. अर्थशास्त्र नावाध्यक्ष प्रकरण से।

२. मनुस्मृति ८.४०४–४०९।

३. महाभाष्य ५.४.९९; ४.४.५, ६।

४. नासिक गुहालेख १७ वाँ।

में प्राण का अतिशय संशय रहता था। फाह्यान ने अपने संकटों का विवरण इस प्रकार किया है—'दुर्भाग्यवश तीन दिन चलने पर तूफान का सामना करना पड़ा। नाव में छेद हो जाने से जल भरने लगा। लोग छोटी नाव में जाकर भरने लगे। उन लोगों ने छोटी नाव को बांधने वाली रस्सी को शीघ्र ही काट कर अलग कर लिया कि कहीं अधिक लोगों के भर जाने से छोटी नाव भी न डूब जाय। सब यात्री घबड़ा गये। उससे सामान बाहर फेंका जाने लगा। मैं डरा कि कहीं मेरी वह पोटली न फेंक दी जाय, जिसमें धार्मिक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बँधी हैं। हृदय में अवलोकितेश्वर का ध्यान किया। हान देश के भिक्षु-संघ को प्राण अर्पित किया कि मैंने धर्म की खोज में विदेश की यात्रा की है। मुझे अपना तेज और प्रताप देकर लौटा कर स्थान पर पहुँचाओ'। फाह्यान ने सामुद्रिक यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन करते हुये लिखा है—'समुद्र में अनेक डाकू रहते हैं। उनसे यदि सामना पड़ा तो कोई बचाव नहीं। यह समुद्र अतिविस्तृत है। दिशाओं का ज्ञान नहीं। सूर्य, चन्द्र और तारों को देखकर ठीक मार्ग पर चलते हैं। तूफान जिधर चाहता है, ले जाता है। रात के अंधेरे में केवल ऊँची लहरें परस्पर टकराती दिखाई पड़ती हैं। समुद्र में अग्नि की ज्वालाओं का आभास मिलता है। अनेक छोटे-बड़े जन्तु निकलते हैं। लोग नहीं जानते कि कहाँ जा रहे हैं—गहरा समुद्र और कहीं ओर-छोर नहीं। लंगर डालने और ठहराने का ठौर नहीं। आकाश खुल गया तो पूर्व-पश्चिम सूझने लगा। फिर लौट कर ठीक मार्ग पर चलना पड़ता था। कहीं गुप्त चट्टान मिली तो कोई बचाव नहीं।' लंका से जावा जाने में उसे ९० दिन लगे। इतनी कठिनाइयाँ होते हुये भी उस युग में लोगों का भारत से चीन आना-जाना लगा रहता था।

भोज के ग्रन्थ युक्ति-कल्पतरु के अनुसार सर्वमन्दिर, मध्यमन्दिर तथा अग्र मन्दिर नामक नावें सर्वोच्च कोटि की कही जा सकती हैं। सर्वमन्दिर में चारों ओर कमरे बने हुये थे। इसमें कोश, पशु, तथा अन्तःपुर की स्त्रियाँ आ जा सकती थीं। यह पूरा प्रासाद ही था। मध्य-मन्दिर में रहने के कक्ष केन्द्र में थे। यह क्रीडा-नौका थी और प्रायः वर्षा-ऋतु में काम आती थी। अग्रमन्दिर में आगे की ओर रहने के कमरे बनते थे। वे दूर-दूर तक भयंकर समुद्रों में यात्रा करने के लिए होते थे। युक्ति कल्पतरु में २७ प्रकार की नावों का वर्णन है। इनमें से सबसे बड़ी २७६ × ३६ × २७ घनफुट की होती थी। इसका भार कम से कम २७,००० टन होगा।[1]

---

1 युक्ति कल्पतरु, पृ० २२०।

आकाश-यात्रा

आकाश-मार्ग से विमान द्वारा विचरण करने का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख रामायण में मिलता है। रावण के प्रासाद में रथ और यानों के साथ विमान भी थे।[१] रावण के भवन में जो विमान रखे हुए थे, उनमें पुष्पक सर्वश्रेष्ठ था। यह विमान बहुत बड़ा था और मणियों और रत्नों से चित्रित था। इसकी खिड़कियाँ स्वर्णमयी थीं। वह स्वयं विश्वकर्मा का बनाया हुआ था। वह वायु के समान शीघ्रगामी था और उसको कोई जीत नहीं सकता था। उसका शिखर विचित्र था और शरद-ऋतु के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल था।[२]

पुष्पक-विमान कांचन के चित्रों से सजाया गया था। उसमें वैदूर्य-मणि से वेदिकायें बनाई गई थीं। पताकाओं और ध्वजाओं से उसका अलंकरण हुआ था। उसकी जाली में किंकिणियाँ थीं और गवाक्षों में मुक्ता मणियाँ। उसमें घण्टे लगे हुये थे, जिनसे मधुर निनाद होता था। उसमें मणियों से बने श्रेष्ठ आसन थे। वह पुष्पों से भूषित था। वह विमान लंका से अयोध्या एक दिन में जा सकता था।[३] इसमें असंख्य लोगों के बैठने के लिए स्थान था।[४] विमान महानाद करता हुआ आकाश में उड़ता था।[५]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कम से कम लंका में रावण के राज्य में विमान थे, जो अकाश-मार्ग से उड़ सकते थे। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि लंका की आर्येतर जाति एक समय विमान-विज्ञान में निष्णात थी। उस युग में भारत में विमान का प्रचलन संभवतः नहीं था। रामायण की राम-रावण सम्बन्धी कथा प्रागैतिहासिक युग की है और कम से कम आज से ५००० वर्ष पूर्व की है। देवताओंके विमानके उल्लेख रामायण-युगसे प्रायः भारतीय साहित्य में मिलते हैं।

युद्ध के लिये विमानों का उपयोग होता था। शाल्व के सौभ नामक विमान द्वारा द्वारिका पर आक्रमण करने का वर्णन मिलता है। शाल्व दानवों का राजा था। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि आर्येतर जातियों में दानवों के पास महाभारत युग में विमान थे।[६]

---

१. सुन्दर का० ४.२७। रामायण युद्ध काण्ड १२२.३६; १२३.२१ मोर जातक १५९,।

२. सुन्दरकाण्ड ८.१–६।

३. रामायण युद्धकाण्ड १२१ वें सर्ग से।

४. वही सर्ग १२४–१२५ से।

५. वही १२३.१।

६ वनपर्व १६.३।

संभवतः आर्यों ने आर्येतर जातियों से विमान-विज्ञान सीखा। भरद्वाज ने विमान-विज्ञान पर एक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसका नाम वैमानिक शास्त्र है। इस शास्त्र के आधार पर एक विमान १८९० ई० में बनाकर बम्बई में उड़ाया गया था और बम्बई-आर्ट्स-सोसाइटी की प्रदर्शनी में इसका सार्वजनिक प्रदर्शन भी हुआ था। वैमानिक शास्त्र में अनेक प्रकार के विमानों के बनाने की विधियाँ दी हुई हैं, जिनमें से पुष्पक और मरुत्सखा सुप्रसिद्ध है।[1]

यात्रा-व्यवस्था

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही गाड़ियों और रथों के लिये लम्बी-चौड़ी सड़कें बनती आ रही हैं। उस समय हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के नगरों में सीधी और चौड़ी सड़कें थीं। संभवतः व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाने वाली सड़कों और नदियों पर छोटे-मोटे सेतु आदि का लोगों ने निर्माण किया था।[2] वैदिक काल में पथ, महापथ आदि सड़कों के नाम तथा अध्वन् पतले मार्गों के नाम मिलते हैं। प्रपथ बहुत चौड़ी सड़क का नाम था।[3] दो गाँवों को मिलाने वाली सड़कों का नाम महापथ था।[4] उस समय प्रायः गाँव एक दूसरे से सड़कों द्वारा सम्बद्ध थे।[5] चाहे जैसा भी मार्ग हो, उसे निर्बाध बनाने का प्रयत्न किया जाता था। परिपन्थी (मार्ग में यात्रियों के लूटने वाले) लोगों को भगाने की व्यवस्था की गई थी। मार्ग को सुन्दर और सुखमय बनाने का काम पूषा

---

१. वैमानिक शास्त्र के अनुसार विमान बनाने का श्रेय आधुनिक युग में श्री शिवकरबापूजी तालपदे को है। तालपदे बम्बई-स्कूल आफ आर्ट्स में शिक्षक थे। इनके बनाये हुए मरुत्सखा को श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने भी देखा था। वह १८९५ ई० में बम्बई की चौपाटी पर उड़ाया गया और १५०० फुट उड़कर वह नीचे उतरा। इस अवसर पर बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ भी वहाँ उपस्थित थे। तालपदे की मृत्यु १९१७ ई० में हुई। विमान बनाने के विज्ञान का परिचय समरांगण-सूत्र में मिलता है। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित हुआ है।

२. वैदिक काल से सेतु शब्द मिलता है। ऋग्वेद ९.४१.२; तै० सं० ३.२.२.१, ऐतरेय ब्रा० ३.३५; शतपथ ब्रा० १३.२.१०.१, छान्दोग्य उप० ८.४.१.२। रामायण में समुद्र पर सेतु बनाने का उल्लेख है।

३. काठक-संहिता ३७.१४।

४. ऐतरेयब्रा० ४.१७.८।

५. छान्दोग्य उपनिषद् ८.६.२।

नामक देवता का था।[1] आग लगाकर वन के वृक्षों को जला दिया जाता था और इस प्रकार वनों के बीच से मार्ग बन जाता था। ऐसी परिस्थिति में अग्नि का नाम पथिकृत् पड़ा। अथर्ववेद के अनुसार चौड़ी सड़कों पर गाड़ियाँ चलती थीं। ऐसी सड़कों के दोनों ओर पेड़ लगे हुये थे। सड़कें अनेक गाँवों और नगरों से होकर जाती थीं। सड़कों पर स्थान-स्थान पर स्तम्भ बने हुये थे। सड़कों पर तीर्थ (जलाशय) होते थे और उनमें जल का उत्तम प्रबन्ध होता था।[2] लम्बी यात्रा करने वाले लोग रथों के लिये सड़कों पर नये घोड़े और बैल पा सकते थे।[3]

वैदिक सभ्यता में प्रपथ नामक बड़ी सड़कों पर विश्रामागार बनाने के उल्लेख मिलते हैं। इनमें खादि (भोजन) मिल सकता था।[4] वैदिक-कालीन आवसथ भी संभवतः यात्रा करने वाले अतिथियों के लिये विश्रामागार थे।[5]

रामायण-युग में नगरों में चत्वर और महापथों की विशेषता होती थी। ऐसी सड़कों पर रथ, अश्व और गजों की भीड़-भाड़ रहती होगी।[6] जनपद की उच्चता के लिये उसमें प्रपा और तटाक की शोभा अपेक्षित थी।[7] उत्सवों में सड़कों पर प्रकाश करने के लिए दीप-वृक्ष बनाये जाते थे।[8]

प्राचीन भारत में यात्रियों के ठहरने के लिये धर्मशालाओं की उतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी आजकल है। साधारणतः यात्री अतिथि बनकर किसी नागरिक के घर पर भोजन और आवास सम्बन्धी सुविधायें पा सकते थे। अनेक स्थानों पर फिर भी धर्मावसथ बने हुये थे। इनमें पथिक ठहर सकते थे। कारुशिल्पी अपने कार्यालय में यात्री-शिल्पियों को तथा व्यापारी, व्यापारियों को ठहरा लेते थे। यात्रियों को ठहरने के लिये स्थान, पानशाला, भोजनालय तथा वेश्यालय में भी मिल सकता था। नागरिकों को अपने घर पर आये हुये अतिथियों की सूचना नगर के अधिकारी को देनी पड़ती थी।[9] जल और स्थल के मार्गों को राजा स्वयं बनवाता

---

१. ऋग्वेद १.४२.१; १,३।
२. अथर्ववेद १४.१.६३ तथा १४.२.६–९.१२।
३. ऐतरेय ब्राह्मण ४.२७ से।
४. ऋग्वेद १.१६६.९।
५. अथर्ववेद ९.६.५।
६. अयोध्या का० ५१.२१,२२।
७. अयोध्याकाण्ड १००.४३।
८. वही ६.१८।
९. अर्थशास्त्र नागरिक प्रकरण।

था।[1] सड़कों को नष्ट करने वालों या उन पर रोक लगाने वालों को दण्ड देने का विधान था।[2]

अशोक ने यात्रियों की सुविधा के लिये सड़कों पर वटवृक्ष और आम के उपवन लगवाये, आठ-आठ कोस पर कुयें खुदवाये, विश्रामागार बनवाये और स्थान-स्थान पर उसने आपान (पौंसलों) की स्थापना की।[3] अशोक के आदर्श को कुछ परवर्ती राजाओं ने अपनाया। नासिक गुहालेख के अनुसार उषवदात ने भरुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, सोपारग आदि स्थानों में यात्रियों के लिये चतुःशाल, आवसथ प्रतिश्रय, आराम, तडाग और उदपान बनवाये थे। प्रपा और धर्मशालायें भी उसने बनवाईं।[4]

प्रधान सड़कें, जो राजमार्ग होती थीं या महत्त्वपूर्ण नगरों से होती हुई पूरे राष्ट्र में आती जाती थीं, ३२ हाथ चौड़ी होती थीं। सेतुवन-मार्ग सोलह हाथ, हस्तिक्षेत्र में जाने का मार्ग आठ हाथ, रथ का मार्ग पाँच हाथ तथा मनुष्यों के चलने के मार्ग दो हाथ चौड़े बनाये जाते थे।[5] वितीताध्यक्ष प्रकरण के अनुसार मुद्राध्यक्ष नामक पदाधिकारी से यात्री मुद्रा लेकर देश में सर्वत्र भ्रमण कर सकते थे। विवीताध्यक्ष मुद्राओं को देखता था। भयप्रद स्थानों में विवीत (चौकी) की स्थापना की जाती थी। अरण्यों में चोर, हिंसक जन्तु आदि को पकड़ लिया जाता था। जल-रहित प्रदेशों में कूप, सेतु तथा उपवन लगाये जाते थे। आखेटक कुत्ते लेकर वनों में घूमा करते थे। यदि कहीं चोर या शत्रु दिखाई देते तो वे ऊँचे वृक्ष या पर्वतों पर चढ़कर शंख या दुन्दुभि इतने जोर से बजाते थे कि सबको ज्ञात हो जाय कि विपत्ति किस ओर है।[6]

पौराणिक संस्कृति में यात्रियों को सब प्रकार की सुविधायें प्रस्तुत करना परम पुण्य का साधन माना गया। सड़क के किनारे उपवन लगाना, पोखरे बनवाना तथा मण्डप निर्माण करना—सभी यात्रियों के सुख के लिये ही थे। धार्मिक दृष्टि

---

१. वारिस्थल-पथ-पण्य-पत्तनानि च निवेशयेत्। अर्थशास्त्र जनपदनिवेश प्रकरण १.२१।

२. वही ३.१०। मार्ग आवश्यकता के अनुसार अनेक प्रकार के थे। उनको रोकने वालों को विभिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

३. सप्तम स्तम्भ लेख।

४. नासिक-गुहालेख १७

५. अर्थशास्त्र दुर्गनिवेश प्रकरण।

६. वही मुद्राध्यक्ष और विवीताध्यक्ष प्रकरण से।

से इन कामों की अतिशय प्रतिष्ठा हुई।[१] निःसन्देह ब्राह्मण-यात्रियों की सुविधा के लिये विशेष प्रयत्न करने की सीख दी गई है। महाभाष्य के अनुसार निषद्या में यात्री ठहरते थे। वह धर्मशाला थी।[२]

सड़कों पर चलने वालों को रथ और गाड़ियों से किसी प्रकार की हानि न हो, इसके लिए समुचित नियम बने हुए थे। यदि यान हाँकने की त्रुटि के कारण वह विपथ हो और दुर्घटना हो जाय तो यान का स्वामी दण्डनीय होता था। यदि वाहक अयोग्य होता तो दुर्घटना होने पर सभी सवारों को भी दण्ड मिलता था। मार्ग अवरुद्ध होने पर यदि वाहक रथ न रोके और प्राणिहिंसा हो जाय तो बिना सोचे-समझे ही वाहक पर दण्ड लगा देने का विधान था। विभिन्न जीवधारियों के मारने पर विविध कोटि के दण्ड लगाए जाते थे।[३]

यात्रा का व्यापार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। यों तो व्यापार के लिए लोग दूर-दूर तक यात्रा करते थे, पर अन्य कामों से भी यात्री जब कभी दूर देशों में जाते थे, तो वे प्रायः व्यापारियों का साथ ढूंढ़ लेते थे। ऐसे व्यापारियों की नावों पर यात्रा करना सस्ता पड़ता था तथा अन्य सुविधायें भी प्राप्त हो जाती थीं। पैदल यात्रा करने वाले लोग भी व्यापारियों के साथ चल देते थे। व्यापारी प्रायः अपनी व्यापारिक वस्तुओं को गाड़ी पर या भारवाही पशुओं की पीठ पर लाद लेते थे और स्वयं पैदल चलते थे। उन्हीं के साथ यात्री भी हो लेते थे।

विदेशी लेखक एरियन ने लिखा है कि ऊँट, घोड़े और गधे साधारण लोगों की सवारी हैं। धनी लोग हाथियों पर चलते हैं। हाथी के साथ ऐश्वर्य प्रस्फुटित होता है। इसके नीचे चार घोड़ों का रथ, ऊँट आदि हैं। एक घोड़े का रथ कोई महत्त्व नहीं रखता।[४]

---

१. स्कन्द-पुराण वैष्णव खण्ड वैशाखमास माहात्म्य, अध्याय २ से।

२. महाभाष्य ३.३.९९।

३. मनुस्मृति ८.२९०–२९७।

४. M. *crindle :* Megasthene and Arrian, Ancient India, P. 226-227.

अध्याय २३

मनोरंजन

प्राचीन भारत में लोगों का जीवन आजकल से अधिक सुखी था। उनको जीवन-संग्राम में हम लोगों की भाँति अधिक व्यस्त नहीं रहना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में लोगों ने समय-समय पर आनन्द की सृष्टि के लिये मनोविनोद के रूप में कलाओं का विकास किया था। यों तो दैनिक जीवन में मनोविनोद को स्थान मिला ही था, किन्तु उसका विशद रूप पारिवारिक उत्सवों—संस्कार या अभिषेक आदि के अवसर पर दिखाई पड़ता था।[१] भारतीय प्रकृति ने भी मनोविनोद के अभ्युदय में सहयोग दिया है। वह सभी वस्तुओं में अपनी नित्य नूतन सुषमा के द्वारा मानव-हृदय को प्रफुल्ल और उल्लसित करके आनन्द मनाने के लिये प्रेरित करती है। नागरिक संस्कृति का सर्वोच्च विलास मनोविनोद में व्यक्त होता था।

प्रकृति के अन्य प्राणधारियों की अपेक्षा मानव अधिक विनोद-प्रिय है। यद्यपि संस्कृति की प्रगति के साथ ही मनोविनोद के लिये नित्य नये साधनों का उदय हुआ है, फिर भी इतना निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में मनोविनोद की मात्रा आधुनिक युग से अधिक थी। कारण प्रत्यक्ष है—मनोविनोद के लिये जिन परिस्थितियों का होना आवश्यक है, वे प्राचीन युग में आज की अपेक्षा अतिशय मात्रा में वर्त्तमान थीं। नागरिकों की निश्चिन्त मनोवृत्ति, समृद्धिशालिता तथा प्रकृति की रमणीयता आदि मनोविनोद की अभिवृद्धि के लिये अपेक्षित है। प्राचीन काल में इनका बाहुल्य और आजकल अभाव-सा दिखाई देता है। समाज का मनोविनोद करने के लिये राजा, समृद्धिशाली नागरक तथा कथावाचक आचार्य अपनी ओर से नित्य नई योजनायें बनाकर उन्हें कार्यान्वित करने में अपने जीवन की सफलता मानते थे।[२] लोगों ने अपने धन के सदुपयोग

---

१. विवाह और तीर्थयात्रा भी महोत्सव हैं। राजत० ८.२३८७।

२. उदाहरण के लिए देखिए गान्धर्ववेद के विज्ञाता महाराज खारवेल का शिलालेख। इसके अनुसार उसने अपने शासन के प्रथम वर्ष में ३५००० मुद्राओं

की दिशा में सार्वजनिक मनोविनोद के साधनों को प्रस्तुत करना पुण्य और यश का काम माना।

भारतीय धर्म में कुछ मनोविनोदों की ऊँची प्रतिष्ठा है। स्वयं शिव गणेश और कृष्ण आदि देवता और सरस्वती तथा पार्वती आदि देवियाँ नृत्य-संगीत आदि मनोविनोदात्मक कलाओं के उन्नायक हैं। उत्तमोत्तम लोगों की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए उनमें नृत्य-गीतादि के नित्य समारम्भ की चर्चा मिलती है।[1] नाटक के द्वारा बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार का आयोजन होता था।[2]

प्राचीन काल के नागरक व्यक्तित्व के विकास के लिये अभिनय, नृत्य, संगीत, काव्य आदि कलाओं का ज्ञान और अभ्यास आवश्यक मानते थे। कुछ लोग तो वंशानुक्रम से मनोविनोद सम्बन्धी कलाओं और विद्याओं को सीखते थे। ऐसे वर्गों में गन्धर्व, किन्नर, सूत, चारण, मागध, नट, वेण, मैत्रेयक, मल्ल, झल्ल, गणिका आदि सुप्रसिद्ध रहे हैं।[3] कापालिक धर्म के अनुयायी इन्द्रजाल द्वारा मनोरंजन करते थे। सभी धार्मिक अनुष्ठानों में नृत्यादि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

वैदिक काल से ही उपर्युक्त मनोरंजनों के अतिरिक्त जलक्रीड़ा, काव्यमय-विनोद, (नाटक, कथा-कहानी और कविता-पाठ आदि) मृगया, कन्दुक-क्रीड़ा, इन्द्रजाल, द्यूतक्रीडा आदि का प्रचार हुआ। इन सभी मनोविनोदों में नाटकों को सभ्य-समाज ने सर्व-प्रथम स्थान दिया है।

भारतीय क्रीडायें चार प्रकार की गिनी जाती थीं। व्यायाम आदि के द्वारा शरीरजा चेष्टा होती थी। कन्दुक आदि साधनों से उपकरण-क्रीड़ा होती थी।

के द्वारा प्रजा का अनुरंजन किया तथा तीसरे वर्ष में मल्लयुद्ध, नृत्य, गीत, वाद्य, उत्सव, समाज आदि के द्वारा सार्वजनिक मनोरंजन प्रस्तुत करता रहा। अर्थशास्त्र में भी राजा की ओर से मनोरंजन प्रस्तुत करने की योजना का उल्लेख मिलता है। महाभारत में सदा उत्सव मनाना राष्ट्र की उन्नति का सूचक है। आदि प० १०२-१३।

१. सभापर्व ८.३५। कुछ उत्सवों के सम्पादन से राष्ट्रों में विजय-श्री और अभ्युदय की सम्भावना मानी जाती थी। आदिपर्व ५७.२४।

२. *Keith* Sanskrit Drama, P. 44.

३. महाभारत सभा० ४.५.७, ३१,३२ मनुस्मृति १०.२२, ४९। नट जाति आर्येतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय की प्रणाली आर्येतर जातियों में आर्यों की अपेक्षा कम-से-कम प्रारम्भिक युग में अधिक विकसित थी। ऐसी परिस्थिति में भारतीय नाट्य-कला के विकास में आर्येतर नटवर्ग का विशेष योग माना जा सकता है।

सूक्तियों का सुनना वाणी-क्रीड़ा थी। द्यूत को व्यसन कहा जाता।[1] नागरकों के मनोविनोद का नित्य-क्रम था—भोजन के पश्चात् शुकसारिका को पढ़ाना, लावक-कुक्कुट-मेषादि का युद्ध देखना, गोष्ठी-विहार, प्रदोष के समय संगीत और अभिसारिका का स्वागत। इनके अतिरिक्त नैमित्तिक मनोविनोद होते थे।[2]

नाट्याभिनय

नाट्याभिनय में प्रायः सभी मनोविनोदों का अन्तर्भाव हो जाता है। आरम्भिक युग में इसका विकास किस रूप में हुआ—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वैदिक काल से इसके विकास की कुछ-कुछ रूप-रेखा मिलने लगती है। वैदिक साहित्य में विष्णु के यज्ञ-रूप में वामन का अभिनय करने का उल्लेख मिलता है।[3] राजसूय यज्ञ में गविष्टि का अभिनय किया जाता था, जिसमें राजा अपने किसी सम्बन्धी या अन्य राजा पर आक्रमण करता था। महाव्रत-विधान में आर्य सम्राट् का शूद्र-सेना पर आक्रमण करने का अभिनय किया जाता था। इन उल्लेखों के आधार पर केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनय कला की वैदिक काल में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी और मनोविनोद के क्षेत्र में भी उसका उपयोग सफलता से हो सकता था। सम्भव है, उस युग में 'शैलूष' मनोविनोदात्मक अभिनयों में भाग लेने वाले पात्र रहे हों।[4]

नाटक का प्रदर्शन वैदिक काल के यज्ञों में प्रकट हुआ। यज्ञ की सारी क्रिया, जिसमें संगीत, भावप्रदर्शन और व्यंग्यात्मक नाट्य की प्रचुरता होती थी, नाटक का प्रथम रूप है। सोमयज्ञ के अवसर पर सोम को क्रय करने के लिये पाँच बार मोलचाल का संवाद रूप में अभिनय किया जाता था।

नाटक का वैदिक रूप सरल था। जनता में इसी सरल रूप का विकास हुआ। नागरिकों के मनोविनोद के लिये नाटक का विकास समृद्धिशाली लोगों के संरक्षण में हुआ। राजा अथवा धनी लोग मिलकर नाट्य मन्दिर या रंगशालायें बनवाते थे, जिनपर मनोरम चित्रकारी होती थी। नाट्य मन्दिर बहुत विशाल हुआ करते थे, जिनमें अभिनय करने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती थी।

ईसवी शती के लगभग ६०० वर्ष पूर्व मनोविनोद के लिये नर्तकों के साथ नटों का मेल हो चुका था। अभिनय-प्रधान नाटक-कोटि के काव्य का उल्लेख

---

१. पद्मपुराण २४.६७–६९।

२. कामसूत्र १.४.२१,

३. शतपथ ब्राह्मण १.२.५।

४. वाज सं० ३०६ तै० ब्रा० ३.४.२.१।

रामायण और महाभारत में मिलता है। जातक-साहित्य में नाटक के अभिनय का वर्णन है।[1] पाणिनि ने कंसवधादि नाटक और नटसूत्र का उल्लेख किया है।

चौथी शती ईसवी पूर्व में कुशीलवों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। इनका साधारणतः संघ हुआ करता था, जो प्रजा के रंजन-हेतु अभिनय आदि का आयोजन किया करते थे। कुशीलवों के द्वारा आयोजित राजविहार में राजा का और देश-विहार में प्रजा का अनुरंजन होता था। अर्थशास्त्र में मनोरंजन प्रस्तुत करने वालों में से—नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, चारण आदि प्रधान थे। इनमें से नट की स्वतंत्र गणना है। नटों की पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध राजा की ओर से होता था। रंगोपजीविनी कुमारियों को नाट्य की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। स्त्रियाँ रंग-मंच पर आकर अभिनय करती थीं।[2]

अभिनय की धार्मिक उपयोगिता का आकलन भरहुत और साँची के स्तूपों की परिभित्ति पर अंकित बोधिसत्त्व सम्बन्धी कथानकों से होता है। पत्थर पर टंकन करने वाले कलाकारों ने अपनी सजीव मूर्त्तिकला के द्वारा सजीव पात्रों की भाँति हाव-भावात्मक आंगिक और सात्त्विक अभिनय को अमरत्व प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। ये अभिनयात्मक अंकन ई० पू० दूसरी शती के हैं।

ईसवी शती के आरम्भ में अभिनय को शास्त्रीय आधार 'नाट्य-शस्त्र' ग्रंथ के प्रणेता भरत मुनि ने दिया। नाट्यशास्त्र को सार्ववर्णिक वेद कहा गया है। इसके प्रथम प्रवक्ता स्वयं ब्रह्मा हैं। नाट्य-वेद के लिये ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया गया है। सर्वप्रथम नाटक का प्रयोग इन्द्र-महोत्सव के अवसर पर ब्रह्मा की आज्ञानुसार भरत के निर्देशन में हुआ। भरत के नाट्यशास्त्र में अनेक प्रयोजनों का उल्लेख है।[3] कालिदास के अनुसार नाटक का प्रयोजन है—

"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"

अभिनय के आरम्भ के पूर्व रंग की पूजा यज्ञ के रूप में होती थी। नाट्य-मंडप का निर्माण पूर्ण शास्त्रीय ढंग से होता था। इसके प्रत्येक भाग से तत्कालीन कलाओं की अभिव्यक्ति होती थी। नाट्यमंडप का निर्माण वैचित्र्यपूर्ण था। रंगपीठ, नेपथ्य-गृह आदि का विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र में मिलता है।[4]

---

१. Pre-Buddhist India, P. 315.

२. अर्थशास्त्र कारुक, गणिकाध्यक्ष, सन्धि-कर्म तथा सन्धि-मोक्ष प्रकरण से।

३. नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय।

४. वही द्वितीय अध्याय।

नाट्य का अभिनय चार प्रकार का होता था—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।[1] आंगिक अभिनय में शरीर के प्रत्येक अंग की अनेकानेक गतियों और स्थितियों की विशेषताओं का परिकल्पन है। ये अभिनय पाद, कटि, हस्त और शिर की गतियों से प्रकट किये जाते हैं। नाट्य शास्त्र में अकेले नेत्र की ३६ गतिविधियां परिगणित हैं। इसी प्रकार अन्य अवयवों के अभिनयों का विश्लेषण अतिसूक्ष्मता से किया गया है।

वाचिक अभिनय का सम्बन्ध स्वर और व्यंजन से होता है। भरत ने वागभिनय को नाट्यरूपी पुरुष का शरीर माना है। वागभिनय को सफल बनाने के लिये आंगिक अभिनय एवं नेपथ्य विधानादि हैं। वागभिनय में विराम का महत्त्व, मधुर स्वर-लहरी और कोमल पद-शय्या अपेक्षित हैं। भरत ने नाट्य की दृष्टि से समीचीन काव्य-बन्ध का निरूपण इस प्रकार किया है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं बुद्धिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

वाक्यों का जो पाठ व्याकरण और छन्दःशास्त्र की दृष्टि से शुद्ध देशानकल भाषा में किया जाता है, वह वागभिनय होता है। सुसंस्कृत पात्र संस्कृत में अभिनय करते थे। नाटक के अभिनय में अतिशय हृद्य, मधुर तथा हितोपदेश से युक्त वाक्य का प्रयोग करने का नियम था।[2] वाचिक अभिनय में आरोहण एवं अवरोहण का ध्यान रखना पड़ता था।

आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध अभिनेता के निजी व्यक्तित्व से होता है। इनके अतिरिक्त जिन वस्तुओं को प्रस्तुत करके अभिनय सम्पन्न किया जाता है, उन्हें आहार्य कोटि में रखा जाता है। इसमें अभिनेताओं की वेश-भूषा, नाट्य-कथा के अमानवीय पात्रों की प्रतिमायें तथा दृश्यों का समावेश होता है। आहार्य के द्वारा अनायास ही दर्शकों को पात्रों की परिस्थितियों तथा भावी घटनाओं की सूचना मिल जाती है।

आहार्य के लिये चार प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, यथा पुस्त—जैसे वस्त्र, चर्म, पत्थर आदि की बनी प्रतिमायें, अलंकार—जैसे हाटक,

---

१. विस्तृत विवरण के लिए नाट्यशास्त्र अष्टम अध्याय।

२. नाट्यशास्त्र २२.२८९।

केयूर, नूपुर आदि, अंग रचना—जैसे चन्दन, लेप आदि तथा संजीव—जैसे यंत्र के द्वारा चलती फिरती प्रतिमायें। इन सभी प्रकार की वस्तुओं का सदुपयोग देश काल, जाति, आयु आदि के अनुसार होता था।

सात्त्विक अभिनय के द्वारा रसों और भावों का प्रदर्शन होता है। नाटक में सात्त्विक अभिनय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। अभिनय की सर्वोच्च सफलता दर्शकों को रस में तन्मय कर देने में है। चारों प्रकार के अभिनय दर्शकों के मनोविनोद के लिए ही प्रधान रूप से रहे हैं। सात्त्विक अभिनयों के द्वारा मन को आकर्षित किया जाता है तथा रस की निष्पत्ति होती है।

नाट्य के अभिनय के लिये पात्रों का चुनाव होता था। विविध कोटि के अनुकार्य (देव, दानव ,मानव आदि) का रूप लेने के लिये विभिन्न योग्यता के पात्रों को प्रशस्त माना गया है। देव की भूमिका में वर्तमान होने के लिये पात्रों के अंग प्रत्यंग मनोरम, शारीरिक आभा, स्वर-माधुर्य आदि का होना अपेक्षित है। पात्र का योग्यतानुसार चुनाव किया जाता था, अर्थात् जिसकी जिसमें क्षमता रहती थी, उसे वही कार्य प्रदान किया जाता था। अनुकार्यों के अनुरूप अभिनय, स्वर, संवाद आदि का समुचित सन्निवेश रहा करता था। कभी-कभी स्त्रियाँ पुरुष की भूमिका में अभिनय करती थीं।[1] पुरुष तो स्त्री-भूमिका प्रायः अपनाते थे।[2]

नाट्याभिनय के लिए समय निर्धारित था। प्रदोष एवं प्रभात वेला सर्वोत्तम मानी गई थीं। मध्याह्न, अर्धरात्र आदि की वेला में नाटक का अभिनय निषिद्ध था। असाधारण परिस्थितियों में समय का विचार न रखते हुये कभी भी अभिनय किया जा सकता था, जब आश्रय-दाता नाट्य-दर्शन की इच्छा प्रकट करे। अभिनय के लिये कुछ प्रदर्शन विशेषतः निषिद्ध थे—जैसे आलिंगन, जलक्रीडा, लज्जास्पद घटनायें आदि।

राजाओं के यहाँ प्रायः अभिनय किया जाता था। इसके अतिरिक्त विद्वानों की परिषद् भी वसन्तोत्सव आदि के अवसर पर महाकवियों के नाटकों का रस लेती थी। अभिनय के द्वारा विद्वानों को परितोष होना ही चाहिये—यह अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना से प्रतीत होता है। अभिनय की शिक्षा का सुचारु प्रबन्ध था। विवाह आदि के उत्सव पर नाटक का अभिनय करने की प्रथा थी। शास्त्रीय कल्पना के अनुसार शिव ने ताण्डव तथा पार्वती ने लास्य प्रदान करके नाटक के

---

१. उदाहरण के लिए देखिए प्रियदर्शिका।

२. महाभाष्य के अनुसार ऐसे लोगों का नाम भ्रूकुस था।

Keith : Sanskrit Drama, p. 36.

महत्त्व को बढ़ाया है। यदि किसी प्रकार के अभिनय से प्रजा पर कोई बुरा प्रभाव दिखाई देता तो वह निषिद्ध कर दिया जाता था।

नाटक का धार्मिक दृष्टि से सुप्रतिष्ठित होना इसके विकास का महत्त्वपूर्ण कारण है। भरत के अनुसार नाटक है—

मांगल्यं ललितैश्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम्।
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम्॥

देवता आदि गन्ध, माल्य आदि पूज्य सामग्रियों से उतना प्रसन्न नहीं होते जितना नाट्य और नृत्य से। जो नाट्य को सावधानी से सुनता है, जो प्रयोग करता है, या जो देखता है, वह उस गति को प्राप्त करता है, जो वेद के विद्वानों को यज्ञ करने वालों को और दाताओं को मिलती है।[1] परवर्ती युग में देवालयों में नट-मण्डप बनने लगा। उनके प्रांगण में नाटकों के अभिनय सम्पन्न होते थे।

नृत्य

प्राचीनतम नृत्य की स्पष्ट रूप-रेखा का परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त नर्तकियों की मूर्तियों से मिलता है। उनके शरीर परिधान रहित तथा अलंकृत हैं। सम्भवतः नर्तन करते समय शरीर की सभी अंग-भंगियों का प्रदर्शन करने में वस्त्र को अवरोधक मानकर उसका परित्याग ही कर दिया जाता था।[2] इनके अतिरिक्त नर्तकों की भी दो मूर्तियां तथा मुद्राओं पर अंकन मिले हैं। तत्कालीन नृत्य में हाव-भाव की अभिव्यक्ति की जाती थी और अंगों का विक्षेप ताल और

---

१. नाट्यशास्त्र ३६.७४–७५।

२. नर्तकियों के कम से कम वस्त्र पहनने का प्रचलन प्रायः सदा ही रहा, जिससे उनके सर्वाङ्ग-सौष्ठव की अभिव्यक्ति हो सके। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में कालिदास के शब्दों में 'सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।' फिर भी कुछ नर्तकियाँ तो अधिक से अधिक वस्त्र धारण करके ही रंगमंच पर आती थीं। अजन्ता के चित्रों में नर्तक और नर्तकियों का वस्त्र-विन्यास देखने से ज्ञात होता है कि वे साधारण लोगों से बहुत अधिक वस्त्र पहनती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक नृत्यों में नर्तकों का भलीभाँति परिधान धारण करना आवश्यक था। रायपसेणिय में सूर्याभदेव की आज्ञानुसार भगवान् महावीर के समक्ष नर्तक-नर्तकियों ने ३२ प्रकार के नृत्य प्रस्तुत किये। वे उत्तरीय, परिकर, मनोरम अधोवस्त्र आदि पहनी हुई थीं।

लय का आश्रय लेकर किया जाता था, जैसा उनके पद की स्थिति से स्पष्ट है। एक ताबीज के अंकन से ज्ञात होता है कि नृत्य के साथ-साथ बाजे भी बजाए जाते थे। उस समय अनेक लोगों का सामूहिक नृत्य भी होता था।

ऋग्वेद में पुरुष और स्त्री दोनों के नृत्य करने के उल्लेख मिलते हैं। नर्तकियाँ (नृतु) मनोरम वस्त्रों के द्वारा अपने शरीर को सजाकर उषा की भाँति प्रकट होती थीं। नृत्य के समय उनके वक्ष-स्थल अनावृत होते थे। उषा की उपमा नृतु से दी गई है। इससे सिद्ध होता है कि समाज में नृत्य की अच्छी प्रतिष्ठा थी।[1] नृत्य के साथ आघाटि (झाल) नामक वाद्य की संगति होती थी।[2] कुछ यज्ञों के अवसर पर वंश-नर्ती नृत्य का आयोजन होता था। इस में नर्तक बाँस का सहारा लेकर नाचता था।[3]

वैदिक काल के पश्चात् नृत्य-कला की अधिक उन्नति हुई। ई० पू० छठी शती के जातक साहित्य में विविध प्रकार के नृत्यों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। राजा से लेकर प्रजा के साधारण लोग तक प्रायः सभी नृत्य का आनन्द लेते थे। नृत्य आदि के प्रति कुछ लोगों की अभिरुचि इतनी हो जाती थी कि वे अपना सब काम छोड़कर इन्हीं के द्वारा मनोविनोद में सारा समय लगाते थे। उस समय वंश-धोपन नामक नृत्य बाँस के सहारे होता था। वीणा और वेणु आदि वाद्यों की संगति में हाथ-पैर आदि अंगों का विक्षेप करते हुए भी नृत्य होते थे। लोगों को मयूरों का नृत्य देखने का चाव था। कुछ लोग अपने संकेतों से मयूरों को नचाते थे।[4] सामूहिक नृत्य का प्रचलन भी था। पंचगरुक जातक के अनुसार बोधि-सत्त्व के राज्याभिषेक के अवसर पर १६००० नर्तकियों ने नृत्य किया।[5]

महाभारत और रामायण के अनुसार भारतीय समाज के प्रायः सभी वर्गों में नृत्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। राज-भवन में नृत्य-कला को सम्मान का स्थान मिला था। राजकुमार अर्जुन ने नृत्य की शिक्षा गन्धर्वों से ली थी और उन्होंने महाराज विराट के कुटुम्ब में नृत्याचार्य नियुक्त होकर राजकुमारी उत्तरा के

---

१. ऋग्वेद १.९२.४।

२. वही १०.१४६.२ तथा अथर्व ४.३७.५।

३. वाजसनेयि संहिता ३०.२१, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.१७.१, शतपथ ब्राह्मण १३.६.२.२०।

४. Pre-Buddhist India, P. 315.

५. पंचगरुक जातक १३२ तथा बन्धन जातक १२० के अनुसार राजा के मनोरंजन के लिए नर्तकियों की बड़ी संख्या रहती थी।

साथ उसकी सखियों तथा परिचारिकाओं को नृत्य, गीत और वाद्य की शिक्षा दी।[1] राजा कुशनाभ की सौ कन्यायें गायन, नृत्य और वादन के द्वारा आमोद-प्रमोद करती थीं।[2] उस युग में कठपुतली का नाच भी होता था।[3]

राम के राज्याभिषेक के अवसर पर तालावचर (नर्तक) तथा गणिकायें राजभवन की दूसरी कक्षा में उपस्थित थीं।[4] संभवतः नृत्य के लिए वेश्यायें भी बुलाई गई थीं।[5] यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों का मनोरंजन गन्धर्वों के नृत्य और गायन द्वारा होता था।[6] वन में गाय चराने वाले गोप तथा गोपियाँ भी नाचने गाने और बाजा बजाने में निपुण होती थी।[7] इस युग में सार्वजनिक मनोविनोद के लिए नृत्य की अतिशय प्रतिष्ठा थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर नर्तकों का समुदाय लोगों का मनोरंजन करता था।[8] युधिष्ठिर की एक लाख दासियाँ थीं, जो नृत्य और गायन में कुशल थीं। वे स्नातक, अमात्य और राजा की सेवा करने के लिए नियुक्त थीं।[9] दशरथ के यज्ञ के लिए भी नर्तकों को नियुक्त किया गया था।[10] इस प्रकार धार्मिक क्रिया-कलापों के साथ नृत्यादि कलाओं का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित होने लगा। राम की अयोध्या, बालि की किष्किन्धा तथा रावण की लंका—तीनों नगरियों में नागरिकों तथा राजाओं के मनोरंजन के लिए नृत्य का नित्य आयोजन होता था। पहली शती ईसवी के महाकाव्य बुद्धचरित के अनुसार राजभवन में राजकुमार के मनोविनोद के लिए नर्तकियाँ रखी गई थीं।[11] सार्वजनिक मनोरंजन के लिए बौद्ध साहित्य में नृत्य और संगीत का आयोजन

---

१. विराट पर्व अध्याय १०। राजप्रासाद के एक भाग में नर्तनागार था। विराटपर्व २१.१६, २५, २६।

२. रामायण बा० ३२.१३।

३. यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ।। वन प० ३१.२२

४. रामायण अयोध्या ३.१७।

५. वही १४.४०।

६. महाभारत आश्वमे० ९०.३९।

७. वनपर्व २२९.८।

८. सभा पर्व ३०.४८।

९. सभा पर्व ५४.१४।

१०. रामायण बालकाण्ड १३.७।

११. बुद्धचरित २.३०।

प्रकृति की रमणीयता के बीच होने लगा। राजगृह के निकटवर्ती पर्वत के ऊपर सार्वजनिक उत्सव में नृत्य, संगीत और वाद्य प्रस्तुत किये गये थे।[१] गणिकायें, नृत्य, संगीत तथा वीणादि बजाने में निपुण होती थीं। उनसे मनोरंजन की आशा रखने वाले लोग एक रात के लिए १०० कार्षापण शुल्क देते थे।[२] रसिक युवक मनोरंजन के लिए स्वयं नृत्य, गीत और वाद्य प्रस्तुत करते थे और नर्तकियों के नृत्य का आयोजन करते थे। नर्तकियों के नृत्य के लिए वस्त्र बिछाकर रंग बना लिया जाता था।[३]

जैन साहित्य में भी लोगों की नृत्य के प्रति अतिशय अभिरुचि का आकलन किया गया है। रायपसेणिय में बत्तीस प्रकार की नृत्य और नाट्य सम्बन्धी कोटियों का वर्णन है। इनमें से प्रमुख कोटियाँ मंगल-चिह्न (स्वस्तिक, श्रीवत्स, कलश, मत्स्यादि), प्राकृतिक विलास (पुष्पावली, पद्मपत्र, सागर-तरंग, वसन्तलता-आदि), पशु-पक्षी (ईहामृग, वृषभ, किन्नर, कुंजर), हार (चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हंसावली एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली आदि), उदय (सूर्योदय, चन्द्रोदय), गमन (सूर्यगमन, चन्द्रगमन,), ग्रहण (चन्द्र-ग्रहण, सूर्यग्रहण), मण्डल (चन्द्र, सूर्य, नाग, यक्ष आदि), चाल (वृषभ, सिंह, अश्व, गज आदि), प्रविभक्ति (सागर, नागर, अशोक-पल्लव, आम्रपल्लव आदि), अक्षर-रचना (क से म तक), से सम्बन्धित तथा द्रुत, विलम्बित आदि हैं।[४] नृत्याभिनय में प्रायः धार्मिक चरितों का प्रदर्शन होता था।

जैन साहित्य में गणिकाओं के नृत्य, गीत आदि के द्वारा नागरिकों के मनो-रंजन का उल्लेख मिलता है। चम्पा की गणिका नृत्य और संगीत में अतिशय निपुण थी। वह कई सहस्र गणिकाओं में प्रधान थी। समाज में गणिकाओं को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था। विशेषतः राजाओं का आश्रय पाने वाली गणिकायें सर्वोच्च गिनी जाती थी। प्रत्येक राजधानी में एक प्रमुख गणिका होती थी, जिसे राजधानी का अलंकार माना जाता था। बाँस के सिरे पर लकड़ी लगाकर उस पर ढाल और तलवार लेकर नाचने का प्रचलन था।[५] नर्तक और नर्तकियाँ भलीभाँति वस्त्र से सुसज्जित होती थीं। उनके वस्त्र प्रायः चित्रित होते थे। अलंकारों से विभू-

---

१. चुल्लवग्ग ५.२.६।
२. चुल्लवग्ग ८.१.३।
३. चुल्लवग्ग १.१३.२।
४. इनमें से कुछ नृत्यों का वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है।
५. *Jain* : Life in Ancient India, Pp. 163-166, 241.

षित होकर नर्तक रंग पर आते थे। वे ललाट पर तिलक लगाते थे। कुछ नर्तक कंचुक पहनते थे।

पहली शती ई० पूर्व में बने हुए सांची-स्तूप के उत्तर द्वार के स्तम्भ के ऊपरी भाग के भीतरी पट पर नृत्य और संगीत का अंकन किया गया है। दूसरी शती ईसवी के बने हुये अमरावती के स्तूप पर गौतम बुद्ध के 'नागावतार' के उत्सव और संगीत का दृश्य अंकित किया गया है।

राजाओं की ओर से नियुक्त की हुई गणिकाओं का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। राजा की ओर से गणिकाओं की नृत्य की शिक्षा के लिये प्रबन्ध किया गया था।[1]

ग्रीक इतिहासकार एरियन ने हाथियों के नृत्य का आँखों देखा वर्णन किया है। इसके अनुसार हाथी के आगे के दोनों पैरों में तथा सूँड में झालें बाँध दी जाती थीं। वह झालों को ताल की संगति में बजाता था। अन्य नाचने वाले हाथी वृत्त में चारों ओर झाल की वाद्य-संगति में पैरों से थिरक कर नाचते थे।[2]

मधुर और उद्धत की दृष्टि से नृत्य और नृत्त के दो और भेद होते हैं, जिनके नाम क्रमशः लास्य और उद्धत हैं। नृत्य और नृत्त दोनों मधुर या सुकुमार होने पर लास्य तथा उद्धत होने पर ताण्डव कहे जाते हैं।[3] अवान्तर पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत करते हुये नृत्य तथा शोभा उत्पन्न करते हुये नृत्त नाटक में उपयोगी होते हैं।[4] स्वतंत्र रूप से नृत्त का प्रयोग विवाह, प्रसव, प्रमोद, अभ्युदय आदि के अवसर पर मांगल्य के लिये होता है।[5] नृत्य करते हुये अंगों की विशेष मुद्राओं से पदार्थों के अभिनय का एक उदाहरण नाटयशास्त्र में इस प्रकार है—

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्रीप्रयोजितौ।
उत्तानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः॥
स्वस्तिकविच्युतिकरणाद् दिशो घनाः खं वनं समुद्राश्च।
ऋतवो मही तथान्यद् विस्तीर्णं चाभिनेयं स्यात्॥९.१३२-१३३

---

१. गणिकाध्यक्ष प्रकरण से।

२. Ancient India as Described by Megasthenes & Arrian P. 221.

३. ताण्डव और लास्य के प्रथम प्रवर्तक क्रमशः शिव और पार्वती माने गये हैं। शिव के उद्धत नृत्य को देखकर पार्वती हर्षोत्फुल्ल होकर नारी-सुलभ सुकुमार नृत्य करने लगी थीं।

४. दशरूपक १.१०।

५. नाट्यशास्त्र ४.२७०।

हस्त और पाद के विभिन्न भागों की एक साथ ही विविध गतियों और मुद्राओं के द्वारा जो शारीरिक चेष्टायें प्रस्तुत की जाती हैं, उन्हें करण कहते हैं। ये करण नृत्त में प्रधान होते हैं। करण १०८ प्रकार के होते हैं। नृत्त में विभिन्न करणों के दो से लेकर नव तक के वर्गों को एक साथ प्रस्तुत करने की शैली है। दो, तीन, चार, पाँच करणों के द्वारा क्रमशः नृत्तमातृका, कलापक, मण्डक तथा संघातक कोटि के नृत्त होते हैं। जब एक क्रम में छः से लेकर नव तक करण प्रस्तुत किये जाते हैं तो अंगहार कोटि का नृत्त होता है। अंगहार-नृत्त के साथ रेचक की संगति होती है। रेचक चार प्रकार के होते हैं—पादरेचक, कटिरेचक, कररेचक तथा कण्ठरेचक। इनमें क्रमशः पाद, कटि, कर तथा कण्ठ का चलाना, मोड़ना, उलटना, स्खलित करना, सिकोड़ना, फेंकना आदि प्रक्रियायें होती हैं। शिव के ताण्डव नृत्त में रेचक और अंगहारों का उद्धत स्वरूप होता है और पार्वती के लास्य नृत्त में उनका मधुर और सुकुमार स्वरूप।[1]

शिव के नृत्त के तीन अवसर प्रसिद्ध हैं—दक्ष के यज्ञ के विनाश कर लेने पर सन्ध्या के समय, कैलाश पर्वत पर नित्य सन्ध्या के समय तथा आधी रात के समय श्मशान में। शिव के ताण्डव को देखने के लिये देव, दानव, गन्धर्व आदि अनेक कोटि के दर्शक-समूह पहुँचे थे। प्रत्येक दर्शक-वर्ग के योग्य उनके समक्ष शिव का नृत्त हुआ था। उन्हीं दर्शक-पिण्डों की अभिव्यक्ति करते हुये उन-उन नृत्यों के नाम हुये। यथा इन्द्र के समक्ष प्रस्तुत किये हुये ताण्डव का नाम ऐरावती तथा ब्रह्मा के समक्ष का ताण्डव पद्मपिण्डी नाम से प्रख्यात हुये। ताण्डव नामक उद्धत नृत्त देव-स्तुति का आश्रय लेकर नाचा जाता है। सुकुमार नृत्त शृंगार रस से सम्बद्ध होता है। अर्धाङ्ग-नृत्य में एक ही हाथ, एक ही पाँव, एक ही आँख और एक ही दाढ़, नाचती, चलती और कूदती हैं। शेष अंग निश्चल रहते हैं।[2]

नृत्य के अभिनय का वर्णन नाटकों में मिलता है। मालविकाग्नि-मित्र नाटक के अनुसार मालविका ने नृत्य के द्वारा एक चतुष्पदी का अभिनय किया था। नृत्य के द्वारा चतुष्पदी के अर्थ की अभिव्यक्ति हुई थी।[3] रत्नावली नाटिका में

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए नाट्यशास्त्र अध्याय ४.१३–२६५ तथा अंगहार-विनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम्। वही ८.१५।

२. सुरुचि जातक ४८९।

३. चतुष्पदी प्राकृत भाषा में नीचे लिखी है :—

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं

अम्हो अपङ्गओ मे परिप्फुरइ किं वामओ

श्रृंगार-विषयक द्विपदी गीत के अभिनय का नृत्य करने वाली चेटियों का वर्णन मिलता है।[1] कालिदास ने नृत्य के द्वारा आंगिक, सात्त्विक और वाचिक विषयों का अभिनय प्रस्तुत करने का उल्लेख किया है।[2] नत्य के स्वरूप को अजन्ता के गुहा-चित्रों में अमर प्रतिष्ठा मिली है। पहली गुहा में अनेक वंशी बजाने वाली कुमारियों के बीच एक नर्तकी भावपूर्ण नृत्य कर रही है। भूमरा के मन्दिर में एक नर्तक की मूर्ति में तत्कालीन नृत्य की एक झलक मिल सकती है।

दशकुमारचरित में दण्डी ने कुशीलव नामक नर्तकों के द्वारा नृत्य और गीत के अतिरिक्त करणों के प्रदर्शन का वर्णन किया है। इन करणों के अन्तर्गत हस्त-चंक्रमण, ऊर्ध्वपाद, आलात, पादपीड, वृश्चिक-लंघन, मकर-लंघन, मत्स्योद्वर्तन, श्येनपात, उत्क्रोशपात आदि शारीरिक व्यायाम नृत्तरूप में आते थे।

शिव के ताण्डव-नृत्य के तक्षण एलूरा, ऐलिफैण्टा आदि के अनेक मन्दिरों में मिलते हैं। गुप्तकाल में भूमरा के प्रधान शिवमन्दिर के द्वार पर वामनों के वाद्य की संगति में नृत्त के दृश्य उत्कीर्ण किये गये। अजन्ता की सत्रहवीं गुफा में भेरी के निनाद की संगति में किसी नागरिक के मनोरंजन के लिये हाथ में झाल ली हुई कुमारियों के नृत्य का चित्रण मिलता है। बाघ की गुफा में भी नर्तकियों के समूह का नृत्य दिखाया गया है। वे नृत्य की संगति का प्रदर्शन करते समय काष्ठदण्डों को लड़ा रही हैं। बादामी और सित्तनवासल की गुफाओं में नत्य के चित्र हैं। प्रायः सभी अवस्थाओं और वर्गों के स्त्री-पुरुष उत्सव के अवसर पर नाचने लगते थे।[3]

देवताओं को नृत्य के द्वारा सन्तुष्ट करने का आयोजन दशकुमार-चरित में मिलता है। इसके अनुसार विन्ध्यवासिनी देवी प्रतिमास की कृत्तिका-नक्षत्र में किसी कुमारी के कन्दुक-नृत्य के द्वारा प्रसन्न होकर उसके लिये योग्य वर की प्राप्ति करा सकती थीं। इसमें कन्दुक को कामदेव की भाँति ग्रहण करके भूमि पर गिराया जाता था। हथेली से मार कर तथा हस्तपृष्ठ से ऊपर उड़ाकर गिरते समय आकाश

एसो सो चिरट्ठिदो कहं उण उवणइदव्वो
णहमं पराहीणं तुई परिगणअ सतिण्हं ॥

१. रत्नावली १.१२ के आगे।

२. रघुवंश १९.३६।

३. हर्षचरित के चौथे उच्छ्वास में हर्ष के जन्मोत्सव के वर्णन से—प्रनृत्तसकलकटकलोका नृत्यन्ति राजकुलमागच्छन्ति समन्तात्सामन्तान्तःपुरसहस्राण्यवृश्यन्त तथा ननृतुर्वृद्धधात्र्यः आदि इसके प्रमाण हैं।

में ही उसे पकड़ लिया जाता था। पहले धीरे-धीरे फिर शीघ्रता से हथेली से मारते हुये उसकी गति के साथ कुमारी स्वयं नाचती थी। यदि गेंद नीचे ही रहने लगता तो सबल प्रहार से ऊपर उठाया जाता था, फिर उसकी गति मन्द की जाती थी। क्रम से एक बार बायें फिर दायें हाथ से मार कर चिड़िये की भाँति उसे उड़ाया जाता था। अत्यधिक ऊँचाई पर गेंद के उड़ जाने पर उसके गिरने पर मारकर दशपद का चंक्रमण किया जाता था। सभी दिशाओं में गेंद का चक्कर कराया जाता था। गेंद की क्रीड़ा में विविध प्रकार के करण, मण्डल, भ्रमण, पंच विन्दुप्रसरण, गोमूत्रिका-प्रचार आदि नृत्त की प्रक्रियाओं में भूषण-मणि आदि के रणित के साथ ही पादचार होता था। गेंद को मारते समय भुजलता आकंचित, प्रसृत तथा वेल्लित होती थी, हाथ और पैर बारंवार फेंके जाते थे तथा शरीर के अन्य अंगों में मनोरम भङ्गिमा दृष्टिगोचर होती थी। कन्दुक-नृत्त रंगपीठ में सम्पादित होता था।[1]

नर्तकियों की वेष-भषा मनोरम बनाई जाती थी। उनकी भौहों पर फल की माला होती थी। कानों से छोटी माला लटकती थी और ललाट पर चन्दन का तिलक होता था। कटि-प्रदेश तक गले की लम्बी माला लटकती थी। उनके सारे शरीर पर कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का चूर्ण छिड़का रहता था।[2]

नवीं शती की नाटिका कर्पूरमंजरी में वट-सावित्री महोत्सव के अवसर पर अनेक प्रकार के नृत्यों का वर्णन मिलता है। इसमें ३२ नर्तकियों का चर्चरी (समूह) एक संगति में राजभवन के आँगन में नृत्य करता था। नर्तकियाँ चित्र-विचित्र बन्धों में परिभ्रमण करती थीं। उनके पद ताल के अनुकूल चलते थे। यह दण्डरास था। कुछ अन्य स्त्रियाँ दो पंक्तियों में क्रमशः एक दूसरे के सामने लय और ताल के अनुसार नृत्त करती थीं। उन सब के कन्धे, सिर, बाहु और हाथ एक समान अवस्थित होते थे। कुछ स्त्रियाँ पुलिन्द के रूप में अभिनय करती थीं। वे मयूर-पिच्छ धारण कर लेती थीं, शरीर को काजल पोत कर काला कर लेती थीं तथा तीन तीर और लम्बा धनुष लेकर मानो शिकार करने चल देती थीं। अन्य स्त्रियाँ श्मशानाभिनय करने के लिये हाथ में महामांस का बलि लेकर हुंकार और फेत्कार का रौद्र शब्द करती हुई निशाचरियों का वेष बना लेती थीं। कई स्त्रियाँ हुड़के और मर्दल की भयंकर ध्वनि करती हुई दोनों भुजाओं को चलाती हुई चल्लि नामक नृत्त करती थीं। कुछ स्त्रियाँ किंकिणी से झण्झण ध्वनि करती हुई गीत गाती थीं

---

१. दशकुमार चरित के षष्ठोच्छ्वास के प्रारम्भिक भाग से।

२. हर्षचरित में तृतीय उच्छ्वास से।

और ताल देती थीं। वे योगिनी की भाँति लयनर्तन की लीला करती थीं और उच्च स्वर से नूपुर बजाती थीं।[१]

ग्यारहवीं शती के कथा-सरित्सागर के अनुसार नर्तकियों को सामन्तों का आश्रय मिला था। सामन्तों के मनोरंजन के लिये झुण्ड की झुण्ड नर्तकियाँ रखी जाती थीं। सामन्तों की स्त्रियाँ उत्सवों के अवसर पर नर्तकियों को आगे लेकर चलती थीं।[२] तत्कालीन युवती-नर्तकियों की वेष-भूषा में पुष्प के अलंकारों की प्रधानता होती थी।[२] पुष्प के अलंकार ढीले-ढाले पहने जाते थे। नाचते समय उनके हाथ वैसे ही चंचल होते थे, जैसे वायु के झोंके से पल्लव हिलते हैं। राजकन्याओं को नाट्याचार्य नाचने की शिक्षा देते थे। वे राजभवन के रङ्गमण्डप में नृत्य का सार्वजनिक प्रदर्शन करती थीं।[३] कश्मीर के देवमन्दिर के नाट्य-मण्डपों में नर्तकियां नृत्य करती थीं। कुछ राजाओं के यहाँ नर्तकियों का संग्रह होता था। कश्मीर का राजा हर्ष स्वयं नर्तकियों को नृत्य की शिक्षा देता था।[४] मन्दिरों में नृत्य करने के लिए देवदासियां रखी जाती थीं।[५] राजकुमारियों के विवाह की योग्यता की परख उनके रूप के साथ उनके नत्य की परीक्षा द्वारा होती थी।[६]

पौराणिक विचार-धारा के अनुसार नत्य देवताओं की आराधना के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। इस विचार-धारा से नृत्य को समाज में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी है और सभी वर्ग के लोगों ने इसे निःसंकोच भाव से अपनाया है। पद्मपुराण में ब्रह्मा की आराधना के लिए नत्य, वाद्य और संगीत आदि को साधन माना गया है।[७] स्कन्दपुराण के अनुसार यात्रा-महोत्सव के समय महात्मा लोग भी सिद्धेश्वर देवालय में भक्तिपूर्वक नृत्य करते थे।[८] विष्णु और भागवत पुराणों में कृष्ण के नृत्यों का सांगोपांग वर्णन है। कृष्ण के कालियदमन नृत्य और महारास नृत्य की परवर्ती युग में अतिशय लोकप्रियता रही है। कालियदमन नृत्य ताण्डव-कोटि में आता है। इसमें कृष्ण का नर्तन कालियनाग के भिन्न-भिन्न फणों पर कूदकर हुआ था। साथ ही इसमें भ्रान्ति, रेचक तथा दण्डपात की प्रक्रियायें थीं।

---

१. कर्पूरमंजरी ४.१०–१८।

२. कथासरित्सागर ४.३.८२–८५।

३. कथासरित्सागर १२.४.७३–७८।

४. राजतरंगिणी ७.८५८; ७.६०६; ७.११४०।

५. राजत० ४.२७०। ६. कथास० ९.५.९२

७. सृष्टिखण्ड में पुष्करतीर्थमहिमा प्रकरण से।

८. स्कन्द पुराण के नागरखण्ड में सिद्धेश्वरलिंग प्रकरण से।

कहते हैं, कालिय के १०१ फण थे और जो फण नाग उठाता था, उसी को कृष्ण रौंदते थे।[१]

कृष्ण ने रास-मण्डल बनाकर रास-नृत्य किया था। कृष्ण नायक थे और गोपिकायें नायिका बनीं। कृष्ण रासोचित गीत गाते थे। गीत शरच्चन्द्र, कौमुदी तथा कुमुदवन सम्बन्धी थे। गोपियाँ नाचती थीं। भागवत के महारास में कृष्ण अपनी योग-माया से अनेक होकर प्रत्येक गोपी के साथ हो लिये। देवता अपनी स्त्रियों के साथ उसे देखने आये। गोपियों के वलय, नूपुर और किंकिणी नृत्य करते समय मधुर ध्वनि करती थीं। नृत्य करते समय गोपियाँ पादन्यास, भुजविधुनन, भ्रूविलास आदि करती थीं। उनकी कटि तो मानो लपती हुई टूट ही जाती थी, कुच-पट हट जाता था, कपोल पर कुण्डल नाचता था। उस समय अनेक कृष्ण मानो मेघचक्र थे, जिनके बीच गाने वाली गोपिकायें बिजली की भाँति थीं। महारास में नृत्य के अतिरिक्त शृंगारात्मक क्रीडाओं का बाहुल्य होता था। नायिकायें नायक को आलिंगन, चुम्बन आदि विहारों से प्रसन्न करती थीं। नृत्य के पश्चात् कृष्ण गोपियों के साथ जलक्रीड़ा करने चले गये।[२] भागवत में बालनृत्य की मनोरम रूप-रेखा मिलती है। कृष्ण नाचते थे और अन्य गोप गाते बजाते थे या ताल देते थे। गोप-बालों के नाचते समय कृष्ण भी गाते थे और ताल देते थे।[३]

जैन पुराणों में भी नृत्य की ऊँची प्रतिष्ठा मिलती है। इनके अनुसार स्वयं इन्द्र नाट्य और नृत्य के प्रवर्तक हैं और नाचने में आनन्द लेते हैं। उनको महानट की उपाधि दी गई है। नाट्य का आरम्भ करने के पहले इन्द्र ताण्डव-नत्य करते हैं। इन्द्र के इस ताण्डव का विन्यास भरत के नाट्य-शास्त्र के अनरूप ही है। इन्द्र के नर्तन की रूप-रेखा बहुत कुछ कृष्ण के रास के समान प्रतीत होती है। कृष्ण की गोपियों के समान ही इन्द्र के लिए अप्सरायें थीं, जो उनके साथ ही नाचती थीं। इन्द्र के ताण्डव के साथ अप्सराओं के ताण्डव, लास्य तथा अभिनयात्मक नृत्य समन्वित थे। इस युग में सूचीनाट्य (सुई की नोक पर किया जाने वाला नृत्य) वंशयष्टी-नाट्य (बाँस पर चढ़कर उसके सिरे पर नाभि रखकर नाचना) आदि का प्रचलन था।[४] महोत्सव के अवसर पर सारे पुरवासी नाचने लगते थे।[५]

---

१. विष्णुपु० ५.७, भागवत १०.१६।

२. विष्णुपु० ५.१३ तथा भागवत १०.३३।

३. भागवत १०.१८ से।

४. महापुराण १४.९७–१६० से।

५. वही १४ ९२।

संगीत

संगीत प्रकृति में सर्वत्र विद्यमान है।[1] पशु-पक्षी, वृक्ष और लता भी संगीत उत्पन्न करते हैं। मानव का भी अपना निजी स्वाभाविक संगीत सृष्टि के आदिकाल से रहा है, पर वह मानवेतर संगीत को संगृहीत करके उसे सँवार कर अपने उपयोग में लाते हुए अपनी संस्कृति का परिचय देता है।[2] संगीत के सात स्वर सा, रे, ग, म, प, ध, नि का प्रादुर्भाव क्रमशः मयूर, गौ, भेड़, क्रौञ्च, कोकिल, अश्व तथा हाथी की बोली से हुआ है।[3] स्वरों की भाँति राग भी प्राकृतिक वातावरण से सम्बद्ध है। छः राग क्रमशः छः ऋतुओं और दिन के क्रमशः छः भागों के प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करते हैं। भैरव राग प्रातःकालीन छटा को मानस-पटल पर स्फुटित करता है तथा पक्षियों के कलरव, गन्ध, माधुर्य और नवता का संचार करता है। कौशिक राग मानसिक प्रोत्साहन की सृष्टि करता है। हिन्दोल वसन्त की मधुरिमा और नवता को श्रोता के चित्त पर विभावित करता है। यह मधु के समान मधुर तथा कुसुमराशि की भाँति सुगन्धित है। दीपक में ग्रीष्म का ताप होता है। इसके द्वारा दीप जलाये जा सकते थे। दीप जलाने वाले के शरीर में ज्वाला परिव्याप्त हो जाती थी। श्रीराग ढलते हुए दिन की अभिव्यक्ति करता है। इसके द्वारा श्रोता के मनमें शान्ति और अनुराग की भावना और सन्ध्याकालीन आकाश का वातावरण उत्पन्न किया जाता है। मेघराग वर्षा ऋतु और बादलों के आगमन की अभिव्यक्ति करता है। कहते हैं, अवर्षण-काल में मेघराग गाकर गायक बादल बुलाकर वर्षा कराते थे।

संगीत की लोकप्रियता का प्रथम परिचय ऋग्वेद से मिलता है। ऋग्वेद में गायत्री और प्रगाथ छन्दों में जिन सूक्तों की रचना हुई है, वे विशेष रूप से गाने के लिए ही थे।[4] वैदिक-कालीन यज्ञों के अवसर पर सामवेद के श्लोकों का 'उद्गाता'

---

१. शास्त्रानुसार अपने विस्तृत अर्थ में संगीत गीत, वाद्य और नर्तन तीनों है। दामोदर के अनुसार 'गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।'

२. नागरिकों ने पक्षियों के संगीत को सदा अपनाया है। अयोध्या के राजभवन में मयूर, हंस, क्रौञ्च और शुक का संगीत आयोजित किया गया था। अयोध्या का० १०.१२; १५.३५।

३. षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्।
अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्।
पुष्प-साधारणे काले कोकिलो रौति पंचमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुंजरः॥

४. गायत्री और प्रगाथ दोनों गै (गाना) धातु से निकले हैं।

नामक पुरोहित गायन करता था। सामवेद के 'आर्चिक' भाग में उद्गाता बनने वाले विद्यार्थियों के लिए साम (राग) सीखने के लिए ऋक् (श्लोक) दिये गये हैं। मन्त्रों को सीख लेने पर यज्ञ-सम्पादन के समय संगीत के विद्यार्थी उत्तरार्चिक भाग के सूक्तों को रटने का अभ्यास करते थे। आर्चिक की ऋचाओं को एक या अनेक रागों में गाया जा सकता था। सामवेद में गायन की पंक्तियों के स्वर की अभिव्यक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, अंकों द्वारा की जाती थी। गाते समय उद्गाता हाथ और अंगुलियों की गति द्वारा स्वरों की अभिव्यक्ति करता था।[1] तत्कालीन धारणा के अनुसार कुछ रागों का गान यदि गाँवों में किया जाय तो सुनने वालों की हानि होने की सम्भावना थी। उन्हें वन में गाया जाता था। इस प्रकार ग्राम-गेयगान तथा अरण्य-गेयगान—दो प्रकार की रागों की कोटियाँ बनीं। गायकों को पारितोषिक देने का प्रचलन था।[2]

ब्राह्मण साहित्य में उपर्युक्त गेय गाथायें मिलती हैं।[3] इन गाथाओं का संकलन तत्कालीन समाज में गाये जाने वाले गीतों से हुआ था। गाथा का धात्वर्थ गीत है। अश्वमेध के अवसर पर एक वर्ष तक प्रतिदिन यजमान राजा की चरित-सम्बन्धी गाथायें गायी जाती थीं। गाथाओं के गान की संगति वीणावादन से होती

---

१. सामवेद के स्वरों के नाम क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, मन्द्र और अन्त्य मिलते हैं। इनमें से क्रुष्ट देवताओं के, प्रथम मनुष्यों के, द्वितीय गन्धर्व और अप्सराओं के, तृतीय पशुओं के, चतुर्थ पितरों और अण्डजों के, पंचम असुर और राक्षसों के और अन्त्य औषधियों और शेष जगत् के द्वारा प्रयुक्त माने गये हैं। सामविधान ब्राह्मण १.१.८। ये नारदीय शिक्षा के अनुसार उपर्युक्त षड्जादि स्वरों के क्रमशः पर्याय हैं। वीणा की ध्वनि की संगति में अथवा हाथ की अंगुलियों की गति के साथ सामगायन हो सकता था। गायक पलहथी लगाकर बैठ जाता था और अपने हाथ घुटनों पर रख देता था। वह अंगूठे के सिरे से अन्य अंगुलियों के पर्वों का स्पर्श करते हुए स्वरों का संकेत करता था। क्रुष्ट अंगूठे के सिरे से, प्रथम अंगूठे के मध्य भाग से और द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम क्रमशः तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों के मध्य पर्व के स्पर्श से द्योतित होते थे। अन्तिम स्वर की अभिव्यक्ति मुट्ठी बाँध लेने पर अनामिका के अग्रभाग के द्वारा छुये जाते हुए स्थान से होती थी।

२. आर्येतर बल्बूथ ने गायकों को मुंहमाँगा पारितोषिक दिया। ऋग्वेद १.१६१.१३।

३. गाथाओं के उदाहरण के लिए देखिए ऐतरेय ब्रा० ७.१३–१८।

थी। गाथाओं के रचयिता ब्राह्मण और क्षत्रिय कवि होते थे। ब्राह्मण उदारता-सम्बन्धी और क्षत्रिय वीरता-सम्बन्धी गाथाओं का गान करते थे।[1] परवर्ती युग में सीमन्तोन्नयन संस्कार के अवसर पर भी किसी राजा या ब्राह्मणों के राजा सोम की प्रशंसा में वीणा की संगति में गायन करने का प्रचलन रहा है। वैदिक काल में गाथा-नाराशंसी कोटि की रचनाओं का पर्याप्त साहित्य था, जो इतिहास और पुराण के समकक्ष पड़ता था। इस साहित्य का उल्लेख-मात्र ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।[2] गाथा-नाराशंसी कोटि की रचनायें ऋग्वेद की दान-स्तुतियों की परम्परा में आती हैं। इन्हीं गाथा-नाराशंसी कोटि की रचनाओं का विकास होकर रामायण और महाभारत जैसी कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ है।

भारत की आर्येतर जातियों में संगीत, नृत्य आदि के प्रति अतिशय अभिरुचि थी। ऐसी जातियों में किन्नर और गन्धर्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाभारत के अनुसार अर्जुन ने चित्रसेन नामक गन्धर्व से संगीत, नृत्य आदि की शिक्षा ग्रहण की थी।[3] आगे चलकर अर्जुन राजा विराट की संगीतशाला का प्रधान आचार्य नियुक्त हुआ और राजकुमारी तथा दासियों को नृत्य और संगीत की शिक्षा देने लगा। रामायण में भी संगीत-शिक्षण के उल्लेख हैं।[4] रामायण के अनुसार वाल्मीकि ने राम के दो पुत्रों—लव और कुश को रामचरित-गायन में निष्णात बना दिया था। इस गायन की विशेषतायें थीं—तन्त्री (वीणा) के लय से समायुक्त होना, त्रिस्थान (कण्ठ, उर तथा शिर) से निकलना, संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी लक्षणों से युक्त होना और ताल-समन्वित होना। गायन के द्वारा रामचरित प्रत्यक्ष-सा कर दिया जाता था। इस युग में वैदिककालीन प्रणाली का प्रचलन था, जिसमें यजमान के चरित और उदारता सम्बन्धी संगीत का वीणा की संगति में गायन किया जाता था। राम के यज्ञ के अवसर पर उनके दो पुत्रों ने स्वयं यह काम किया। महर्षि वाल्मीकि ने कुश और लव को आज्ञा दी—सावधान होकर प्रसन्नतापूर्वक पूरी रामायण ही गाओ। गान को मधुर बनाने के लिए मुनि ने कुश और लव को कुछ मीठे फल देकर कहा कि इन्हीं फलों को खा-खा कर गाना। इनके

---

१. शतपथ १३.१.५.६, आप० श्रौ० सू० २०.६.१३–१६।

२. उदाहरण के लिए देखिए शतपथ ब्रा० ११.५.६.८।

३. वनपर्व ४५.६-११। संगीत, नृत्य, आदि का एक पर्याय गान्धर्व है। इससे सिद्ध होता है कि गन्धर्व जाति के लोग इन कलाओं में विशेष निपुण होते थे।

४. अयोध्याका० २.३४।

प्रभाव से तुम श्रान्त नहीं होगे और राग की त्रुटि न होगी। मधुर वाणी से दिन भर में २० सर्ग गाये जा सकते थे। यह गायन वीणा की संगति में होता था और गाने के पहले वीणा की मूर्च्छना मधुर कर ली जाती थी। गायन में लय की प्रतिष्ठा रहती थी। गीत के अन्य प्रमाणों का ध्यान गायन के समय रखा जाता था।[१] लंका के भवनों में भी तीन स्थानों से निकले हुए स्वर से अलंकृत संगीत होता था।[२] संगीत का उपयोग मृगया करने में भी होता था। आखेटक अपने गीत से मृग को निस्तब्ध करके उसे पकड़ लेता था।[३] सोने के पहले राजकुमारों के मनोरंजन के लिए स्त्रियां संगीत प्रस्तुत करती थीं।[४] राजाओं के मनोरंजन के लिए उनकी स्तुति का गान और पाठ किया जाता था। मधुर कण्ठ वाले गायक गीत गाते थे, जिनमें राजा के वंश की विरुदावली का व्याख्यान होता था।[५]

रामायण और महाभारत की भाँति जातक-साहित्य में जनता की संगीत के प्रति अतिशय अभिरुचि के उल्लेख मिलते हैं। राजा और प्रजा सभी संगीत का आनन्द लेते थे। राजाओं के मनोरंजन के लिए गन्धर्व नियुक्त होते थे। साधारण लोग स्वयं गाते थे और दूसरों के द्वारा प्रस्तुत संगीत सुनते थे। देशी संगीत की प्रचुरता थी। लकड़हारिनों के द्वारा वन में संगीत प्रसारित करने का उल्लेख मिलता है। एक कुमारी के मनोविनोद का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'उसने सभी प्रकार के पुष्पों को चुनकर मालायें बनाई और वह मंजरी से अलंकृत आम्र-वृक्ष की शाखा पर जा विराजी। वृक्ष के नीचे एक नदी बहती थी। वहीं वह मधुर स्वर से गा-गाकर क्रीडा करती थी और जल की धारा में पुष्पों को बिखेरती थी।' उस समय के प्रमुख संगीताचार्य गुत्तिल, मुसिल और सग्ग आदि थे, जिनके पास विद्यार्थी दूर-दूर से आते थे। आचार्यों की परस्पर स्पर्धा में उनके सर्वश्रेष्ठ गीतों को सुनने का अवसर नागरिकों को कभी-कभी मिलता रहता था। संगीत की संगति वीणा-वाद्य के साथ आयोजित होती थी। दोनों के स्वरों का सामंजस्य सर्वोच्च संगीत की सृष्टि करता था।[६]

यों तो स्वरों की प्रतिष्ठा बहुत पहले हो चुकी थी, पर मानव की मनो-

---

१. उत्तरकाण्ड ७१.१३–१९, ९३.६–१५।

२. सुन्दरका० ४.१०।

३. अयोध्याका० १२.७८।

४. सभापर्व ५२.३६।

५. द्रोण प० ५८.२–४।

६. Pre-Buddhist India, P. 313.

वृत्तियों पर इनमें से प्रत्येक का जो प्रभाव पड़ता है, उसका वैज्ञानिक विवेचन सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। इसके अनुसार हास्य और श्रृंगार में मध्यम और पंचम स्वर, वीर, रौद्र और अद्‌भुत में षड्ज और ऋषभ, करुण में गान्धार और निषाद तथा भयानक और बीभत्स में धैवत स्वर का संयोजन विशेष प्रभावोत्पादक माना गया।[1] परवर्ती युग में इसी के आधार पर रागों का रसों से सम्बन्ध स्थापित किया गया। प्रत्येक राग में जिस स्वर की प्रधानता होती है, उसी स्वर को वादी मानकर उसके द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जाती है।[2]

भरत के नाट्यशास्त्र में गन्धर्व (संगीत) विद्या के तीन भेद बताये गये हैं —स्वरात्मक, तालात्मक तथा लयात्मक। इस ग्रन्थ में ग्रामों, मूर्च्छनाओं, स्थानों, साधारण वृत्तियों, वर्णों, अलंकारों, धातुओं, श्रुतियों और जातियों का महत्त्व बतलाया गया है। गन्धर्वशास्त्र की पदात्मक विधि का सम्बन्ध व्याकरण और छन्दःशास्त्र से है। सातों स्वरों की श्रुति के योग से चार स्वरविधान होते हैं—वादी, संवादी, अनुवादी तथा विवादी। वादी पूर्वगत स्वर का अंश होता है। नवें और तेरहवें स्वर परस्पर श्रुत्यन्तर में एक दूसरे के संवादी होते हैं, यथा षड्ज और पंचम, ऋषभ और धैवत आदि षड्ज ग्राम में। बीस का अन्तर होने पर स्वर विवादी होते हैं, यथा ऋषभ और गान्धार तथा धैवत और निषाद। वादी, संवादी और विवादी के अतिरिक्त शेष स्वर अनवादी होते हैं, यथा षड्ज के अनुवादी ऋषभ, गान्धार, धैवत और निषाद हैं। भरत ने दो प्रकार के ग्राम माने हैं। षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम। इनके आधार पर २२ श्रुतियाँ हैं, जो षड्ज ग्राम में ऋ३, ग२, म४, प४, ध३, नि२, ष४ होती हैं। मध्यम ग्राम में पंचम को श्रुत्युपकृष्ट बनाना चाहिये। पंचम श्रुति के उत्कर्ष और अपकर्ष की मात्रा में जो अन्तर होता है, वह श्रुति है।

उपर्युक्त ग्रामों की १४ मूर्च्छनायें होती हैं—षड्ज ग्राम में सात और मध्यम ग्राम में सात।[3] इन्हीं मूर्च्छनाओं पर आश्रित ८४ प्रकार के तान होते हैं। षट् स्वर के ४९ तथा पंच स्वर के ३५। तान-क्रिया दो प्रकार की होती है—प्रवेश और निग्रह। तीन स्थान—उर, कण्ठ और शिर स्वरोत्पत्ति के लिये होते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र १७.९९–१०० तथा २९.१२–१३।

२. रागोत्पादनशक्तेर्वदनं तद्योगतो वादी संगीतदर्पण १.६८।
वादी स यः प्रयोगे बहुलो राजा रागविबोध १.३७।

३. क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।
सत्पंचक-स्वरास्तासां षाडवौडविता स्मृताः ॥भरत २८.३४॥

स्वर-सम्बन्धी दो साधारण होते हैं—स्वर-साधारण और जाति-साधारण। जब एक के पश्चात् दूसरा स्वर आता है तो जिस स्थान पर उनकी सन्धि होती है, वह साधारण है। स्वर-साधारण ग्रामों की दष्टि से दो प्रकार के होते हैं—षड्ज साधारण तथा मध्यम साधारण। ये क्रमशः षड्ज ग्राम तथा मध्यम ग्राम में होते हैं। जाति-साधारण सात स्वरों के समूहों का पारस्परिक अन्तर होता है। संगीत-विज्ञान के अनुसार १८ जातियाँ स्वरों के समूह की दृष्टि से बनी हैं। जाति के दशविध लक्षण ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडवित की दृष्टि से नियत किये गये हैं। संगीत में चार वर्ण—आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी स्वरों के क्रमशः चढ़ाव, उतार, स्थिरता तथा संचार को व्यक्त करने के लिये नियत थे।

भरत के नाट्यशास्त्र में जो उपर्युक्त संगीत-विधान मिलता है, उससे सिद्ध होता है कि ईसवी शती के आरम्भ-काल तक भारतीय संगीत की परम्परा पर्याप्त मात्रा में वैज्ञानिक दृष्टि से भी विकसित हो चुकी थी। संगीत-शास्त्र का परवर्ती युग में विकास हुआ। वायुपुराण में भरत के दो ग्रामों के स्थान पर तीन ग्रामों की प्रतिष्ठा मिलती है। यह तीसरा ग्राम गान्धार नामक है, जिसका परवर्ती युग में सदा प्रचलन रहा है। ग्रामों के तीन होने पर तत्संबन्धी मूर्च्छनायें भी १४ के स्थान पर २१ हो गईं। गीति के अलंकारों की संख्या भी बढ़ती गई और ३०० तक जा पहुँची।[1]

स्वरों की कल्पना के आधार पर रागों की भित्ति बनाई गई। रामायण के अनसार गायन में राग की प्रतिष्ठा मिलती है। भरत ने राग की उत्पत्ति का निर्देश तो किया है, पर उनका विशेष परिचय नहीं दिया है।[2] परवर्ती युग में वायुपुराण में भी रागों का उल्लेख मिलता है।[3] कालिदास ने राग का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है।[4] संभवतः इसी समय से संगीत-शास्त्र में रागों का अलग से अध्ययन

---

१. वायुपुराण अध्याय ८६ तथा ८७।

२. नाट्यशास्त्र में २८.७६ में 'रागश्च यस्मिन् वसति' में राग का अंश से सम्बन्ध बताया है। २८.३८ में जातिरागं श्रुतिं चैव नयन्ते त्वन्तरस्वराः में भी राग का उल्लेख है। वायुपुराण के ८७वें अध्याय में अलंकारों को यथास्थान संनिविष्ट करके राग-प्रदर्शन करने की सीख दी गई है।

३. वायुपुराण अध्याय ८५।

४. अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में 'रागनिविष्टचित्तवृत्ति' तथा गीत-राग पदों का प्रयोग हुआ है। पंचम अंक में 'रागपरिवाहिनी गीति' का उल्लेख है।

आरम्भ हुआ और उन्हें इस प्रकार अधिक महत्त्व दिया गया है।[1] वीणा-युक्त संगीत उपवीण और वीणा-रहित संगीत अपवीण कहे जाते थे।[2]

असंख्य स्वर-योजनाओं में से कुछ को विशेष प्रभावोत्पादक मानकर उन्हें राग, रागिणी आदि संज्ञायें दी गईं और उन्हीं का अभ्यास विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ।[3] चार प्रकार के संगीत की उद्भावना हुई—स्वरग, पदग, लयग, तथा चेतोऽवधानग।[4]

गुप्तयुग में संगीत का विशेष महत्त्व परिलक्षित होता है। राजाओं की संगीत-शाला में नृत्य, नाट्यादि के अभिनय की शिक्षा का प्रबन्ध राजा की ओर से होता था। रानियाँ भी संगीत सीखती थीं। अपने नाटकों में कालिदास ने प्रेक्षकों के सर्वोच्च मनोरंजन के लिये रंग-मंच पर स्त्रियों के द्वारा गीत प्रस्तुत करने का आयोजन भी किया है।[5] अभिज्ञान-शाकुन्तल में नाट्यारंभ के पहले नटी प्रेक्षकों के श्रुति-प्रमोद के लिए गीत गाती है, जिसको सुनकर रागमयी भावना से दर्शकों की चित्तवृत्ति इतनी तन्मय होती है कि वे सभी के सभी चित्र-लिखित से प्रतीत होते हैं। लोगों का ध्यान केन्द्रित करने के लिये संगीत सर्वाधिक सफल माध्यम था। इस नाटक के पाँचवें अंक में कवि ने रानी हंसपदिका के द्वारा गाई हुई गीति को प्रस्तुत किया है। राजा ने इसे राग-परिवाहिनी कह कर प्रशंसा की है। मालविकाग्निमित्र नाटक का आरम्भ ही संगीत-शाला में नियुक्त संगीत के आचार्यों की स्पर्धा से होता है। कालिदास ने ग्रीष्म की प्रखरता को सहनीय बनाने के लिये संगीत को उत्तम साधन माना है।[6] भूमरा के शिव-मन्दिर में तत्कालीन गायकों

---

१. रागों का यह विवेचन मतंग-लिखित बृहद्देशी नामक ग्रन्थ में मिलता है। मतंग का प्रादुर्भाव चौथी-पाँचवीं शती में माना जा सकता है।

२. महाभाष्य ६.२.१८७।

३. 'रजकः स्वरसन्दर्भः स रागः कथितः बुधैः।'
योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।'
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥ संगीत दर्पण २.१॥
ये राग की इसी विशेषता को प्रकट करते हैं।

४. कामसूत्र १.३.१६ की व्याख्या।

५. भरत ने पुरुषों को पाठ्य के लिए तथा स्त्रियों को गीत के लिए सर्वोत्तम पात्र बतलाया है।

६. कालिदास के शब्दों में :—

व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥ ऋतुसंहार १.२८॥

की मूर्तियों से गाते समय की उनकी शारीरिक भाव-भंगिमा का परिचय मिलता है। भारतीय संगीत परवर्ती यग में भी सदैव लोकप्रिय रहा।

अनेक विदेशी लेखकों ने भारतीय संगीत के विदेशों में अपनाये जाने का सोदाहरण उल्लेख किया है।[1] विदेशी संगीत के मर्मज्ञ भी भारत में विदेशों से बुलाये जाते थे।[2] पेरिप्लस के अनुसार भड़ौच के राजा के लिये जो सुन्दर यवनी स्त्रियाँ उपहार में भेजी गई थीं, वे संगीत के सब बाजे-गाजे साथ लेकर चली थीं। संगीत राजाओं के भी गौरव का कारण था।[3]

वाद्य

नत्य और संगीत दोनों की संगति वाद्य से होती है।[4] संगीत में जो ध्वनियाँ मुख से निकलती हैं, उन्हीं के अनुरूप ध्वनियाँ वाद्य द्वारा संगीत के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। कुछ वाद्य संगीत और नृत्य में ताल का समर्थन करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। वाद्य की यह उपयोगिता नृत्य और संगीत के आदिम युग से ही रही है।

सिन्धु-सभ्यता के युग से ढोल, वीणा और कांस्यताल कोटि के बाजों का प्रचलन रहा है। इस कोटि के बाजों की प्रतिकृतियाँ तत्कालीन ताबीजों और मुद्राओं पर अंकित मिलती हैं। हड़प्पा में प्राप्त एक ताबीज में बाघ के सम्मुख ढोल पीटने का दृश्य अंकित है। इससे ज्ञात होता है कि वन्य पशुओं को डराकर उनकी मृगया करने के लिए कुछ बाजों का उपयोग होता होगा। एक मुद्रा पर काँख में ढोल रखे हुये स्त्री दिखाई गई है। अनमानतः स्त्रियाँ भी इन वाद्यों का उपयोग करती थीं।

वैदिक काल में वीणा सबसे अधिक लोकप्रिय और मनोरम वाद्य था। वीणा

---

१. In music, the Hindus have exerted an immense influence on the West, perhaps through Greece, and also on Asia, where the Indian quarter tones and subtle harmonies can be found everywhere, as they may be found in Spain and other countries, whither the Arabs carried them.

A Pageant of India, P. 126.

२. Intercourse Between India and the Western World, P. 117.

३. प्रतिज्ञायौगन्धरायण अंक २।

४. वेद में नृत्य, गीत और वादित्र शिल्प हैं। कौषी० ब्रा० २९.५।

के लिये प्रारम्भ में वाण शब्द का प्रयोग होता था। वाण का अर्थ था वाद्य।[१] परवर्ती वैदिक काल में वाण शततन्तु (सौ तार) वाली वीणा के अर्थ में मिलता है।[२] ऋग्वेद के अनुसार इससे सात धातु (स्वर) निकलते थे।[३] इन धातुओं का नाम उस युग में वाणी भी मिलता है।[४]

फूंक कर बजाये जाने वाले बाजों में शंख वैदिक काल से ही प्रमुख रहा है। शंख बजाना व्यवसाय रूप में भी प्रचलित था।[५] फूंक कर बजाये जाने वाले अन्य वाद्य वेण, नाड़ी और तूणव थे।[६]

ऋग्वेद के अनुसार 'आघाटि' नृत्य की संगति में बाजाया जाता था।[७] दुन्दुभि प्रायः युद्ध में बजाई जाती थी।[८] इसके द्वारा विजय की सूचना दी जाती थी। भूमि-दुन्दुभि बनाने का प्रचलन था। इसके लिये भूमि में गढ़ा खोद कर उसे चमड़े से आच्छादित करते थे।[९] इसका उपयोग 'महाव्रत' विधान में होता था। ऋग्वेद में कुछ अन्य वाद्यों के नाम बकुर, गर्गर, गोघ, पिंग आदि मिलते हैं।[१०] बकुर को शंख की भाँति बजाकर दस्युओं को डराया जाता था।

महाभारतीय वाद्य

पणव, मृदंग, दुन्दुभि, क्रकच, महानक, भेरी, झर्झर आदि बाजे युद्ध के समय

---

१. ऋग्वेद १.८५.१०; ८.२०.८; ९.९७.८; १०.३२.४ तथा अथर्ववेद १०.२.१७।

२. तै० सं० ७.५.९.२, काठक सं० ३४.५, पंचविंश ब्रा० ५.६.१२, ऐतरेय आरण्यक ५.१.४।

३. ऋग्वेद १०.३२.४।

४. वही १.१६४.२४ तथा ३.१.६।

५. वाजसनेयि सं० ३०.१९। बृहदारण्यक उप० २.४.९; ४.५.१०।

६. नाड़ी के लिए ऋग्वेद १०.१३५.७, तूणव के लिए तै० सं० ६.१.४.१ काठक सं० २३.४, पंचविंश ब्राह्मण ६.५.१३, वेणु के लिए ऋग्वेद ८.५५.३ तै० सं० ५.१.१४ तथा अथर्ववेद १.२८.३।

७. ऋग्वेद १०.१४६.२ तथा अथर्ववेद ४.३७.४।

८. ऋग्वेद १.२८.५। दुन्दुभि का विस्तृत वर्णन अथर्ववेद ५.२०–२१ में है

९. अथर्ववेद ५.२०.६, तैत्तिरीय संहिता ७.५.९.३, काठकसंहिता ३४.५, पंचविंश ब्राह्मण ५.५.१९, ऐतरेय आरण्यक ५.१.५।

१०. बकुर के लिए ऋग्वेद १.११७.२१। गोघ के लिए वही ८.६९.९।

बजाये जाते थे।[1] युधिष्ठिर की ध्वजा के समीप दो बड़े मदंग, नन्द और उपनन्दक लगे हुये थे, जो यन्त्र के द्वारा अपने आप बज रहे थे। उनकी ध्वनि मधुर और हर्ष-वर्धक थी। पूजा के निमित्त वीणा का उपयोग होता था।

महाभारत में भेरी, पणव, आनक, क्रकच, पुष्कर तथा पटह विभिन्न प्रकार के ढोलों के उल्लेख मिलते हैं। उनका उपयोग युद्ध-भूमि में होता था।[2] भेरी और तूर्य के बजते ही सेनायें शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो जाती थीं।[3] युद्ध के समय मृदंग बजाये जाते थे।[4] गोविषाणिक, गोमुख तथा तूर्य आदि युद्ध के अन्य वाद्य थे, जिनका उपयोग आधुनिक बिगुल की भाँति होता था। विजय प्राप्त होने पर कई मास तक भेरियाँ बजाई जाती थीं।[5]

युद्धवीर अपने सैनिकों का उत्साह-संवर्धन करने के लिये तथा शत्रुओं के हृदय में भय का संचार करने के लिये उच्च स्वर से शंख बजाते थे। विशिष्ट योद्धाओं के अपने निजी शंख और उन्हें बजाने की शैली होती थी। कृष्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर आदि के शंखों के नाम क्रमशः पांचजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्त विजय आदि थे।[6] शंख और मृदंग की ध्वनि से सेनायें वैसे ही काँपने लगती थीं, जैसे वायु से वन के वृक्ष।[7] प्रतिदिन युद्ध के समाप्त होने पर सैनिकों के मनोरंजन के लिये शिविर में मंगल-स्वर से तूर्य बजते थे। दुन्दुभि और शंख आडम्बर के साथ बजते थे। शम्याताल के अनुकूल वीणा बजती थी।[8] वाद्यों का उपयोग प्रातः-काल राजाओं को जगाने के लिये भी होता था। मृदंग, झर्झर, भेरी, पणवानक, गोमुख, आडम्बर, शंख और दुन्दुभियाँ बजाई जाती थीं। मेघ के समान इनका निर्घोष होता था।[9] इस युग में वादकों को भलीभाँति शिक्षा देकर कुशल बनाया

---

१. द्रोणपर्व ३८.३१।

२. भेरी, पणव, आनक और गोमुख के लिए देखिए भगवद्गीता १.१३, दुन्दुभि, क्रकच, शंख, गोविषाण, भेरी, मृदंग, पणव और पुष्कर के लिए भीष्मपर्व ९५.४१।

३. द्रोणपर्व १.१९।

४. सभापर्व २४.५।

५. सभापर्व १९.१५।

६. भगवद्गीता १.१५–१६।

७. भीष्मपर्व ९५.५२।

८. द्रोणपर्व ५०.११, १२।

९. द्रोणपर्व ५८.४, ६।

जाता था।[1] 'समाज' नामक सावजनिक उत्सवों के अवसर पर विविध प्रकार के बाजे बजाये जाते थे।[2] आतोद्य चार प्रकार के होते थे—तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर।[3]

रामायण के अनुसार वादित्रों के संघ थे। राम के अभिषेक के अवसर पर वह संघ वाद्य प्रस्तुत करने के लिए राजधानी में उपस्थित हुआ था।[4] ऐसे अवसर पर सभी वाद्य एकत्र किये जाते थे।[5] रामायणीय युग में रावण की सभी स्त्रियाँ नृत्त और वादित्र में कुशल थीं। उनके वाद्यों में सर्वप्रथम वीणा थी। अन्य वाद्य पटह, मड्डुक, वंश, विपंची, मृदंग, पणव, डिण्डिम, आलम्बर आदि थे, जिनको बजाती हुई स्त्रियों ने रावण के लिए विनोद प्रस्तुत किया था और उन्हें ली हुई अन्त में सो गई थीं।[6] लंका में रात के समय तूर्य बज रहे थे। रावण के भवन में भेरी, मृदंग और शंख का नाद हुआ करता था।[7] अयोध्या में कैकेयी के भवन में बाजों की ध्वनि से मनोरम निनाद होता था।[8] मुरज और पणव से सर्वाधिक ध्वनि उत्पन्न होती थी।[9]

जातक साहित्य में नागरिक पुरुषों और स्त्रियों का प्रमख वाद्य वीणा है। इसे नत्य और संगीत की संगति में अथवा स्वतन्त्र रूप से बजाया जाता था। साधारणतः वीणा सात तारों की होती थी और बजाते समय इसके तारों को खींच कर उत्तम मूर्च्छना या मध्यम मूर्च्छना का स्वर उत्पन्न कराया जाता था अथवा शिथिल रख कर बजाया जाता था। हाथियों को वश में लाने के लिए हत्थिकन्ता वीणा पर केवल तीन तारों को बजाया जाता था। वीणा गोद में रखकर नखों से बजाई जाती थी। इसके अतिरिक्त अन्य प्रचलित वाद्य, तूर्य, पाणिस्सर, सम्मा-ताल, कुम्भत्थूण आदि थे। भेरी, मूतिंगा, मुरज, आलम्बर, आनक, आदि विविध

---

१. द्रोणपर्व ५८.५।

२. आदिपर्व १२४.१६।

३. ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम्।
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च॥

४. अयोध्याकाण्ड १४.४०।

५. वही १५.१३।

६. सुन्दरकाण्ड १०.३२–४५।

७. सुन्दरकाण्ड ६.१२।

८. अयोध्याकाण्ड १०.१३।

९. अयोध्याकाण्ड ३९.४१।

प्रकार के ढोल थे। शंख, पणव-देण्डिमा, वेणु, खरमुख, गोधापरिवादेन्तिका, कुटुम्ब-तिण्डिमा आदि फूंक कर बजाये जाते थे।[1] वीणा-वादन सीखने के लिए कलाकार उज्जयिनी से काशी तक आते थे। उत्सव के अवसर पर वीणावादक पारिश्रमिक देकर नियुक्त किये जाते थे। वीणावादक राजा के द्वारा भी नियुक्त होते थे। कभी-कभी वीणावादकों की स्पर्धा होने पर वे सार्वजनिक वाद्य करके अपनी विशेषता जनमत के आधार पर सिद्ध कराते थे। राजाओं के मनोरंजन के लिये वीणावादन रंगमंच पर होता था।[2]

पाणिनि के युग में उपर्युक्त वाद्यों में से कुछ को बजाने का काम व्यवसाय-रूप में चलता था। मड्डुक और झर्झर आदि बाजों के बजाने वालों को क्रमशः माड्डुक और झार्झर कहते हैं।[3] यह व्यवसाय शिल्प के अन्तर्गत आता था। पतंजलि के अनुसार पाणिघ ताली बजाकर और ताडघ ताल देकर संगीत के सहायक होते थे।[4]

दूसरी शती के वाद्य और नर्तन का एक दृश्य अमरावती के स्तूप की परि-भित्ति पर अंकित है। इस दृश्य में गौतम 'नाग' रूप में स्वर्ग से उतर रहे हैं। इस अवसर पर महोत्सव मनाया जा रहा है। इसमें नर्तकों और वादकों का समूह भावपूर्ण अभिनय में संलग्न है। नर्तकों की संख्या लगभग दस है। वीणा और वंशी का वाद्य नृत्य की संगति के लिए प्रयुक्त किया गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के ३४वें अध्याय में नाट्य, नृत्य और संगीत आदि की संगति में बजने वाले विविध वाद्यों के नाम, गुण और वादन-विज्ञान तथा उनके पारस्परिक साहचर्य का परिचय दिया है। भरत के अनसार नाट्य के अभिनय में सभी वाद्यों का आयोजन हो सकता है। रस और भाव के प्रयोग को दृष्टि में रखकर इनका विनियोग होना चाहिए। इनके अतिरिक्त उत्सव, प्रयाण, राज-कीय मंगल, कल्याण के अवसर, विवाह, संग्राम आदि कार्यों में सभी बाजे बजाये जाने चाहिए। भरत के बताये हुए वाद्यों में मृदंग, वीणा, पणव, दर्दुर, पुष्कर,

---

१. Pre-Buddhist India, p. 314-316 से। जैन साहित्य में भी असंख्य वाद्यों के नाम मिलते हैं। अकेले रायपसेणिय सू० ६४ में ६० वाद्यों के नाम गिनाये गये हैं।

२. गुत्तिल जातक २४३ से।

३. अष्टाध्यायी ४.४.५५, ५६।

४. महाभाष्य ३.२.५५।

५. बुद्धचरित सर्ग ५ से।

दुन्दुभि, मुरज, झल्लरी, पटह, विपंची, कच्छपी, घोषक, शंख, भेरी, झञ्झा, डिण्डिम गोमुखी, वंश आदि प्रमुख हैं।

प्रथम शती ईसवी में प्रचलित वाद्यों के नाम अश्वघोष के बुद्धचरित में मिलते हैं। अश्वघोष ने लिखा है कि स्त्रियाँ तूर्य, स्वर्णपत्रचित्रित वीणा, वेणु, मृदंग, परिवादिनी, पणव आदि वाद्यों से सिद्धार्थ का मनोरंजन करती थीं।[1]

उपर्युक्त वाद्यों में से अनेक के चित्र तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों में अमर प्रतिष्ठा पा सके हैं। साँची के स्तूप की परिभित्तियों और द्वार-स्तम्भों पर अनेक वाद्यों के अंकन मिलते हैं। स्तप के उत्तर द्वार के दोनों ओर के स्तम्भों के उपरितम भाग पर तत्कालीन वाद्यों का अंकन है। इसके एक दृश्य में ढोल पीटते हुए घोषणा करने का अंकन है। पूर्वी द्वार की निचली पटिया पर सामने की ओर वादकों का समूह अंकित किया गया है, जो सम्भवतः बोधिवृक्ष देखते समय अशोक के साथ थे। वात्स्यायन ने उदकवाद्य का उल्लेख किया है।[2]

गुप्तयुग के वाद्यों का परिचय तत्कालीन साहित्य, मुद्राओं, मन्दिर-भित्तियों के दृश्यों और अजन्ता के चित्रों से मिलता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर तूर्यवाद्य और गणिकाओं का नृत्य होता था।[3] राजा भी वल्लकी नामक वीणा बजाते थे।[4] राजाओं के मनोविनोद के लिए स्त्रियाँ वीणा और वेणु बजाती थीं।[5] विरह में भी वीणा साथिन बन जाती थी।[6] उस युग के अन्य प्रचलित वाद्य, मृदंग पुष्कर, मुरज, दुन्दुभि, जलज (शंख) और घंटा आदि थे।[7] राजाओं की संगीत-शालाओं में वाद्य की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। प्राचीन काल के कुछ वाद्यों के नाम अमरकोश में मिलते हैं।[8]

गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त स्वयं उच्चकोटि का वीणावादक था। उसकी मुद्राओं में से एक 'वीणावादक' अंकन वाली है, जिसमें वह भद्रासन पर बैठकर वीणावादन करता हुआ दिखाया गया है। उसकी वीणा धनुषाकार है और उसमें

१. बुद्धचरित सर्ग ५ से   २. कामसूत्र १.३.१६

३. रघुवंश ३.१९   ४. रघुवंश ८.४१।

५. वही १९.३५।

६. उत्तरमेघ ३६।

७. रघुवंश १३.४०; १९.१४; १०.७६; ७.६३; ७.४१; कुमारसम्भव ६.४०।

८. प्रथम काण्ड नाट्यवर्ग। इनमें से विशेष उल्लेखनीय यशःपटहढक्का, डमरू, मर्दल आदि हैं।

तीन तार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। समुद्रगुप्त को अपने वीणावादन पर अतिशय गर्व था और उसने अपनी प्रयाग-प्रशस्ति में इसका विशेष रूप से उल्लेख कराया है। इस उल्लेख से समाज में वाद्य-कला की उच्च प्रतिष्ठा सिद्ध होती है।

गुप्तयुग में पाँचवीं शती के भूमरा के शिवमन्दिर की भित्तियों पर तीन प्रकार के ढोल अंकित हैं। बजाने वाला दोनों सिरों से सम्बद्ध रस्सी के सहारे ढोल को गले से लटका लेता था। अन्य बाजे झाल, शंख, काहल और शृंग आदि भित्तियों पर अंकित मिलते हैं। कुछ बाजे शहनाई और हुरके की भाँति दिखाई देते हैं। वादकों के वेश-विन्यास, तत्परायणता, शारीरिक भाव-भंगिमा तथा वादन-शैली का परिचय तत्सम्बन्धी मूर्तियों से लगता है।

अजन्ता की पहली गुफा में नृत्य का जो दृश्य दिखलाया गया है, उसमें नृत्य की संगति वंशी, वीणा, मृदंग, ढोल आदि वाद्यों से हो रही है। सत्रहवीं गुफा में वंशी-वादन का दृश्य चित्रित है।

सातवीं शती की वाद्य-प्रियता का उल्लेख महाकवि बाण ने किया है। उस समय शंख, दुन्दुभि, तूर्य, वेणु, वीणा, झल्लरिका, ताल काहल आदि प्रमुख वाद्य थे। राजा के स्नान के लिये जाने के अवसर पर अनेक वाद्य बजाये जाते थे। ह्वेन-सांग ने स्नान के समय के वाद्यों का उल्लेख किया है।[1] पल्लव राजाओं के काल में कटुमुखवादित्र और समुद्र-घोष युद्ध के बाजे थे।

पुराणों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये नृत्य और गीत के साथ वाद्य का आयोजन करने के उल्लेख मिलते हैं। जिस प्रकार सरस्वती ने वीणा की प्रतिष्ठा की है, वैसे ही वंशी को लोकप्रिय बनाने का सर्वाधिक श्रेय भागवत के कृष्ण को है। इस ग्रन्थ में बालकों की वाद्य-प्रियता का उल्लेख मिलता है। वे पेड़ के पत्तों से भी मनोरम वाद्य बनाकर मनोरंजन कर ही लेते थे।[2] महापुराण के अनुसार मरु-देवी को प्रसन्न करने के लिए देवियों के द्वारा वीणा, मृदंग, शंख, पणव, तूर्य आदि बाजे नृत्य और संगीत की संगति करने के लिये बजाये जाते थे।[3] अलबेरूनी ने पशु-पक्षियों की मृगया करने के लिये शिकारियों के द्वारा वाद्य-प्रयोग करने का उल्लेख किया है। उसने बतलाया है कि पशु-पक्षियों को शनैः शनैः और अविरत रूप से एक ही स्वर का अभ्यासी बनाकर उन्हें निश्चेष्ट बनाया जा सकता है।[4]

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० १५२।

२. भागवत १०.१४.४७।

३. महापुराण १२.१९९–२०९।

४. अलबेरूनी का भारत, भाग १, पृ० १२०–१२१।

नागरकों, नायकों और नायिकाओं की साधना के सर्वोत्तम विषय नृत्य, वाद्य और संगीत रहे हैं।

ग्वालियर में मवाया के मन्दिर के द्वारोपरि-पट्टिका पर वाद्य की संगति में नृत्य के दृश्य का अंकन है। इसमें तत्कालीन सरोद, टिमकी, तबला, स्वर-मण्डल आदि वाद्यों की रूप-रेखा तथा बजाने की शैली का परिचय मिलता है। नर्तन और वादन का कार्यक्रम स्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

सुदूर प्राचीन काल से वाद्य-यन्त्र चार प्रकार के रहे हैं—तत (तंत्री वाले), आनद्ध (चमड़े से आच्छादित), सुषिर (छेद वाले), और घन (धातु के ठोस)। तन्त्री कोटि के सभी वाद्य वीणा के अन्तर्गत आते हैं। परवर्ती युग में संगीत-दामोदर के अनुसार २९ प्रकार की वीणाओं के उल्लेख मिलते हैं। आनद्ध वाद्यों में मृदंग सर्वोच्च है। छेद वाले वाद्यों में वीणा और वेणु सुप्रसिद्ध रहे हैं। ये लकड़ी, चन्दन, हाथीदाँत, सोने-चाँदी, स्फटिक आदि से बनाये जाते थे। घनवाद्यों का प्रतिनिधि घंटा है। इस कोटि के अन्य वाद्य करताल, कांस्य-घन, जयघंटा, घर्घर, मंजीर, झंझताल आदि हैं।

कथा

प्राचीन काल में लोगों की बातचीत में कथा का अंश इतना अधिक रहता था कि कालान्तर में कथा का एक विशिष्ट अर्थ ही हो गया, यद्यपि उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के भाषणों का समावेश होना चाहिये था।[1] सुदूर प्राचीन काल से पूर्वजों और महापुरुषों की उदात्त चरित-सम्बन्धी गाथा को लोक-संग्रह के लिये कथा-रूप में संगृहीत करने का सफल प्रयास किया गया है। ज्यों ही कोई चरित-गाथा कथा का स्वरूप धारण कर लेती थी, वह प्रासंगिक रूप से मनोविनोद का साधन बन जाती थी, पर प्रधान रूप से वह उदारचेता मनीषियों के चरित का आदर्श समाज में प्रतिष्ठित करती थी। मनोविनोद के रूप में कथासरिता युगान्तरों तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमयी रह सकती थी।

कथा का सर्वप्रथम स्वरूप ऋग्वेद में मिलता है। वृत्त की दृष्टि से कथाओं के तीन विभाग कर सकते हैं—संघर्षात्मक, उपकारात्मक तथा यज्ञात्मक। वैदिक काल संघर्ष का युग था। देवासुर संग्राम में दोनों पक्षों के वीर युद्ध-भूमि में पराक्रम

---

१. इस बात की पुष्टि कथा नाम से ही होती है। कथा संस्कृत के 'कथ्' धातु से बनी है। धात्वर्थ के अनुसार जो कुछ कहा जाय, वही कथा है। विशिष्ट अर्थ कथा-कहानी है।

दिखाते थे। जय-पराजय-दोनों हाथ लगती थीं। उन वीरों के पराक्रम का ऋग्वेद के मंत्रों में कहीं-कहीं संक्षिप्त उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथा-रूप में पराक्रमों का सविस्तार आख्यान रहा होगा। ऐसे पराक्रमों में इन्द्र का वृत्र-वध सुप्रसिद्ध है। उपकारात्मक कथाओं का बीज-मात्र ऋग्वेद के मंत्रों में मिलता है। उपकारशील देवताओं में अश्विद्वय अग्रसर रहे हैं। जहाँ-कहीं कोई मानव विपत्ति में पड़ा कि अश्विद्वय वहीं पहुँचकर उनकी सहायता करते हैं। वे रोगियों का रोग दूर करते हैं, अन्धों को आँख देते हैं और लंगड़े-लूलों को संचरणशील बना देते हैं। ऐसे देवताओं से उपकृत होकर वैदिक-कालीन जनता ने अवश्य ही लम्बे-चौड़े आख्यानों में उनकी कथायें बनाई और कही-सुनी होंगी। यज्ञात्मक गाथाओं का सम्बन्ध यज्ञ की विधियों की तद्रूपता से है। यज्ञ-सम्बन्धी क्रिया-कलापों को सुबोध बनाने के लिये उनसे सम्बद्ध अनेक कथायें गढ़ी गईं। उपर्युक्त तीनों कोटि की कथाओं का महासागर ही रहा होगा। इनमें से केवल कुछ ही कथायें ब्राह्मण-साहित्य में संकलित की जा सकीं।

काव्यात्मक कथा की रसमयी विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए महाकवि बाण ने इसकी उपमा अभिनव वधू से दी है। कवि ने कथा और वधू में जिन समान धर्मों की परख की है, उनका परिगणन इस प्रकार है—स्फुरणशील कला, मधुर वार्तालाप तथा विलास की कोमलता, हृदय में कौतुक पूर्ण राग उत्पन्न करना, सोने के समय रस प्रदान करना आदि। बाण के अनुसार उज्ज्वल दीपक के समान नये पदों और अर्थों के सामंजस्य से कथायें सब के मन को हर लेती हैं, जैसे घनी गूंथी हुई जाति-पुष्पों वाली बड़ी माला चम्पक की कलियों से सब का मन मोह लेती है।[1] बाण ने कथा की ऊँची प्रतिष्ठा सिद्ध करते हुए लिखा है—रानी के लिए भी कथा-वृत्तान्त जानना, पुण्य कथायें कहना, इतिहास बाँचना आदि उच्च गुण हैं।[2] सम्राट् भी दिग्विजय करते समय अमात्यों और राजाओं के द्वारा सुनाई हुई कथाओं से मनोविनोद करते थे।[3]

---

१ स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥
हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैः नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयोः महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥
कादम्बरी आरम्भ के श्लोक ८–९।

२. कादम्बरी, पृ० ९३।

३. वही, पृ० ११८।

राजसभाओं में कथायें कहना विज्ञान-रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। भित्तियों के गर्भगृह में गोपित लोग अद्भुत कथा आदि का कौतुक करते थे।[1] जीवन की विविध परिस्थितियों में कथा के द्वारा मनोविनोद सम्भव रहा है। कथा कहने वाले श्रोता की कठिन समस्याओं का समाधान कभी-कभी कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करते थे। इतना तो निश्चित ही था कि कथा सुनते समय वियोगी भी विरह-दुःख को विस्मृत कर जाता था।[2] मुनि अतिथियों का मनोरंजन करने के लिये कथायें कहते थे।[3] राजाओं के साथ कथा कहने वालों का समूह चला करता था।[4] राजभवन में महारानी का मनोविनोद करने के लिए कथा कहने वाली परिव्राजिकायें नियुक्त होती थीं।[5]

प्राचीन समाज में कथा कहने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा ऊंची रही होगी। कथा कहने वाले की योग्यता का निर्धारण करते हुए महापुराण में बतलाया गया है कि उसे सदाचारी, स्थिरबुद्धि, जितेन्द्रिय, सुन्दर तथा स्पष्ट, मधुर और प्रिय-भाषी होना चाहिये। वही व्यक्ति कथा कहने के लिये नियुक्त किया जाना चाहिए, जो महर्षियों के ज्ञान-सागर में अपनी प्रवृत्तियों को धोकर पवित्र हो चुका हो, जिसकी वाणी उज्ज्वल हो, जो स्वयं श्रीमान्, सभाविजयी, वाग्मी और प्रतिभाशाली हो और उचित व्यवस्था करके प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर सके। कथा कहने वाला दयालु, वत्सल, धीमान्, दूसरे का संकेत समझने वाला, अध्ययन-शील, धीर-वीर, सभी विद्याओं में पारंगत, व्याख्यान-दाता, नाना-भाषा-विशारद और नाना-शास्त्र-कलाविद् होना चाहिए। कथा कहते समय अंगुली चटखाना, भौंहे नचाना, आक्षेप करना, हँसना आदि निषिद्ध थे और नियम था कि वह मानव के लिये हित, मित, धर्म्य एवं यशस्कर बातें ही कहे।[6]

कथा के विषयों की सदैव विविधता रही है, यथा तिरश्चीन कथा के अन्तर्गत

---

१. नैषधीयचरित १८.१३।

२. महाराज सहस्रानीक अपनी पत्नी के वियोग में सन्तप्त था। उसने कहा :-
कथामाख्याहि मे काञ्चिद् हृदयस्य विनोदिनीम्।
मृगावतीमुखाम्भोज — दर्शनोत्सवकाङ्क्षिणः॥
कथासरित्सागर २.३.३॥

३. रामायण उत्तरकाण्ड ७१.५।

४. वही अयोध्याकाण्ड ८३.७।

५. मालविकाग्निमित्र में चतुर्थ अङ्क के श्लोक २ के आगे।

६. महापुराण १.११८–१३६ से।

राजा, चोर, मन्त्री, सेना, भय, युद्ध, अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, माला, गन्ध, जाति, रथ, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, शूर, पनघट, भूत-प्रेत, संसार की विचित्र कथायें और सामुद्रिक घटनायें परिगणित हैं।[१]

राज-सभा और ब्रह्म-सभा

राजसभा में मनोविनोद की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की जाती थी। वैदिक काल में अश्वमेघ और दशरात्र के अवसर पर जो विज्ञानात्मक शास्त्रार्थ होता था, उसका नाम ब्रह्मोद्य था। इसमें सफलता पाने वालों को कवि या विप्र की उपाधि मिलती थी।[२] जातक साहित्य में कवियों के द्वारा गाथायें सुनाकर राजा के मनोरंजन का उल्लेख मिलता है। राजा की ओर से उन्हें उचित उपहार मिलता था। राजा स्वयं भी कवि होते थे।[३]

परवर्ती युग में राज-सभा के मनोविनोद के लिये काव्य-गायन का उल्लेख मिलता है। राम की राज-सभा में कुश और लव ने रामचरित-गायन किया था।[४] काव्य-पाठ परम्परा में आगे चलकर कवियों के द्वारा राज-सभा का मनोरंजन आता है। प्रत्येक राजा के द्वारा कुछ कवि नियुक्त होते थे, जिन्हें राजकवि की उपाधि दी गई थी। वे राजा के लिये प्रशंसात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण श्लोक बना कर सुनाते थे और उचित पारितोषिक पाते थे। कभी-कभी किसी राजा के दो राजकवियों में स्पर्धा बढ़ जाती थी और राज-सभा में श्लोकों के माध्यम से वे अपनी-अपनी उत्कृष्टता का प्रदर्शन करते थे। कुछ उच्च कवि तो दिग्विजय करने के लिए निकल पड़ते थे और राजकवियों से होड़ लगाते हुए विभिन्न राज्यों में भ्रमण करते थे। ऐसे अवसरों पर राजा की अध्यक्षता में कवि सम्मेलन की योजना होती थी, जिसमें नगर के प्रतिष्ठित लोग भी सम्मिलित होते थे। कवियों के द्वारा काव्य-पाठ स्पर्धापूर्वक होता था। राजा विजयी कवि का अतिशय सम्मान करता था। वह स्वयं उसका रथ खींच कर कुछ दूर तक चला देता था। इस सम्मान का नाम ब्रह्मरथयान था। इस प्रकार की सभाओं को ब्रह्मसभा कहते थे। ऐसी ब्रह्मसभायें प्रायः महानगरों में होती थीं। राजशेखर ने लिखा है—

---

१. दीघनिकाय १.१।

२. तैत्तिरीय संहिता २.५.९.१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.५.३.१; शतपथ १.४.२.७ तथा ३.५.३.१२।

३. Pre-Buddhist India, P. 116.

४. रामायण बालकाण्ड ४.३५।

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्।
तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च॥
श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इह कालिदास-मेण्ठौ, अत्रामररूपसूरभारवयः हरिचन्द्र-चन्द्रगुप्तौ परीक्षिता
विह विशालायाम्। काव्यमीमांसा अध्याय दशम अध्याय से॥

कभी-कभी राजा विजयी कवि के ललाट पर विजय-सूचक स्वर्ण-पट्ट बाँध देता था। यह सम्मान पट्ट-बन्ध था। राजसभा में नित्य नये कवि आते रहते थे और अपनी वैचित्र्य पूर्ण उक्तियों से भरी कविता का रसास्वादन कराते थे।

राजसभा में जुआ, अष्टपद (शतरंज या चतुरंग), परिवादिनी-वाद्य, राजा का चित्र बनाना, काव्यालाप, परिहास, विन्दुमती की रचना पहेली पर विचार करना, राजा द्वारा रचित श्लोकों का रस लेना, कवि के गुणों की आलोचना करना, शरीर पर चन्दन, केसर, कस्तूरी आदि से चित्र बनाना, वेश्याओं से बातचीत करना तथा वैतालिकों से गीत सुनना आदि सामन्तों के मनोविनोद के साधन थे।[1]

राजकुल में मनोविनोद के लिये वानर, कुब्ज, किरात, नपुंसक, वधिर, वामन, मूक आदि रखे जाते थे। वहाँ भेड़ा, मुर्गा, कुरर, कपिंजल, लावक, वर्तिका आदि की लड़ाई चलती रहती थी। हारीत और कोकिल का मधुर कूजन तथा तोता-मैना का आलाप होता था। सिंह भी पिंजर में पकड़ कर रखे जाते थे, जो कभी-कभी गर्जन करते थे। हरिण, मयूर, सारस आदि अपनी विचित्र गतिविधि से मनोरंजन करने के लिये पाले जाते थे।[2] ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष की राजधानी कन्नौज में विभिन्न देशों से अद्भुत वस्तुयें लाकर संगृहीत की गई थीं।[3]

राजभवन की परिधि के भीतर महाभारत के अनुसार द्यूत-गृह, संगीत-शाला, वन्य पशुओं से लड़ने के अखाड़े तथा मल्ल-युद्ध के अखाड़े होते थे।

क्लितार्कस ने लिखा है कि राजकीय उत्सवों के अवसर पर हाथियों को स्वर्ण और रजत के अलंकारों से सजाया जाता था। रथ, गाड़ी आदि सज्जित होते थे, सेना भी सज-धज कर पंक्तिशः खड़ी होती थी। रत्न-जटित स्वर्ण और रजत के यान प्रदर्शन के लिये प्रस्तुत किये जाते थे। अनेक प्रकार के पशुओं के साथ चीते और सिंहों को देखने के लिये बाहर निकाला जाता था। साथ ही

---

१. कादम्बरी, पृ० ८८।

२. वही, पृ० ८९। राजाओं के द्वारा मृग, पशु पक्षी, व्याल आदि रखने का उल्लेख अर्थशास्त्र २.१५ में मिलता है।

३. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० ३४०।

गाड़ियों पर बड़े-बड़े पेड़ और उनपर बैठे हुए सुन्दर पक्षी दिखाये जाते थे।[१] पशु-पक्षियों की प्रदर्शनी सजते साधारणतः देर नहीं लगती थी। तत्कालीन रीति के अनुसार राजा से भेंट करते समय चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों का उपहार प्रस्तुत किया जाता था। उन उपहारों में हंस, बत्तख, कबूतर और हिरण या गैंडे हो सकते थे।[२] वार्षिक उत्सव के अवसर पर भेड़ों, साँड़ों, गैंडों और हाथियों के जोड़े लड़ाये गये थे।[३] दो बैलों के बीच एक घोड़ा जोतकर रथों को दौड़ाने की प्रतियोगिता होती थी। राजा और सामन्त आदि ऐसे अवसरों पर ऊँचे दाँव लगाते थे। दर्शक भी छोटे-मोटे दाँव लगाते थे।[४] जातक साहित्य में राजा के पशु-पक्षी पालने तथा उपहार रूप में प्रस्तुत करने वालों को धन देने का उल्लेख मिलता है।[५]

राजसभा के मनोविनोद के लिये अस्त्र-शस्त्र-कौशल का प्रदर्शन कभी-कभी होता था। इस प्रदर्शन का नाम समाज था। इसे देखने के लिये लाखों की भीड़ इकट्ठी होती थी। शिल्पी शास्त्रानुसार रंगभूमि में प्रेक्षागार बनाते थे। रंगभूमि में सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रखे जाते थे। सब के बैठने के लिये समुचित प्रबन्ध होता था। उस प्रदर्शन को देखने के लिये राजकुल की स्त्रियाँ और चारों वर्णों के लोग आते थे। इस अवसर पर धनुर्धर घोड़े की पीठ पर बैठे हुए अपने लक्ष्यों को बाण से बींधते थे। अद्भुत कामों को देखकर लोग साधु-साधु कहते थे। खड्ग और ढाल लेकर वीर तलवार का हाथ दिखाते थे। इस काम में लाघव सौष्ठव, शोभा, स्थिरता, मुट्ठी का दृढ़ होना आदि दिखाया जाता था। मत्त हाथी की भाँति वीर गदायुद्ध का प्रदर्शन करते थे। दर्शक लोग अपने-अपने प्रिय योद्धा की प्रशंसा करते थे। कभी-कभी दर्शकों में ही अपने-अपने वीरों को लेकर लड़ जाने की संभावना रहती थी। ऐसी रंगभूमि सामान्य होती थी और साधारण परिस्थितियों में कोई भी वीर वहाँ अपना पराक्रम दिखा सकता था।[६]

---

१. *Clitarch Frag* 17 Strabo XV C. 718.

२. Aelian, Nat. Anim. XIII 25। हर्षचरित, पृ० २१३–२१५।

३. वही XV. 15

४. वही XV. 24

५. Pre-Buddhist India, P. 117.

६. महाभारत आदिपर्व अध्याय १२४, १२५। जातक साहित्य में जोतिपाल के धनुर्विद्या सम्बन्धी आश्चर्यजनक कार्य दिखलाने का उल्लेख मिलता है। Pre-Buddhist India, P. 115-116

राजसभाओं में कभी-कभी प्रधान रूप से साहित्यिक मनोविनोद के लिये काव्य-गोष्ठी होती थी, जिनमें काव्य के अनेक मर्मज्ञ एक साथ भाग लेते थे। उन गोष्ठियों में पहेलियाँ, एकालापक, क्रिया-गोपित, गूढ़क्रिय, स्पष्टान्धक, समानोपम, गूढ़-चतुर्थक, निरौष्ठ्य विन्दुमान्, विन्दुच्युतक, मात्राच्युतक प्रश्नोत्तर, व्यंजनच्युतक, अक्षरच्युतक प्रश्नोत्तर, द्वयक्षरच्युतक प्रश्नोत्तर, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, एकाक्षर-पाद, सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, अर्धभ्रमक, चक्रबन्ध, प्रतिलोमयमक, प्रतिलोमानुलोमपाद, समुद्गयमक, द्वयक्षर, गतप्रत्यागत, अतालव्य, अर्थत्रयवाची, गोमूत्रिका आदि कोटि के श्लोक पढ़े जाते थे।[1]

कल्हण ने कश्मीर के राजा हर्ष की राजसभा का प्रत्यक्ष वर्णन किया है—

वितानैः सपयोदेव साग्निवप्रैव दीपकैः।
रुक्मदण्डैः सशम्पेव सधूमेवासिमण्डलैः॥
साप्सरा इव कान्ताभिः नक्षत्रेव मन्त्रिभिः।
सर्षिसंघेव विबुधैः सगन्धर्वेव गायनैः।
नित्यसंकेत-वसतिर्धनदस्य यमस्य च।
एकं विहरणारण्यं दानस्य च भयस्य च॥
क्षपास्थानस्थितिस्तस्य राज्ञः शक्राधिकश्रियः।
कस्य वाचस्पतेर्वाचा वक्तुं कार्त्स्न्येन शक्यते॥
विद्वद्गोष्ठी गीतनृत्तप्रस्तावेन क्षपा ययुः।
कथान्ते शुश्रुवे तत्र पर्णचर्वणजः परम्।
कान्ताधम्मिल्लशेफालीत्रुटिजन्मा च मर्मरः॥
राजत० ७.९४४–९४९॥

राजसभाओं में विदूषक का सदा उच्च स्थान रहा है। संस्कृत और प्राकृत के नाटक-साहित्य से ज्ञात होता है कि विदूषक अपनी परिहासात्मक वाणी और कामों से प्रधान रूप से राजा का मनोरंजन करता था। राजा के मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के उपादान और साधन प्रस्तुत करने में विदूषक का प्रधान हाथ रहता था।

समाज और गोष्ठी

राजसभाओं के मनोरंजन के लिये जो आयोजन राजधानी में होता था,

---

१. उदाहरण के लिए शिशु० सर्ग १९ तथा महापुराण १२.२२०–२५०।

प्रायः वैसे ही मनोरंजन राजधानी के अतिरिक्त अन्य नगरों में नागरिकों के मनोविनोद के लिए आयोजित किये जाते थे। वैदिक साहित्य में कुछ ऐसी मण्डलियों के उल्लेख मिलते हैं, जहाँ नागरिक नियत तिथियों पर एकत्र होकर गपशप किया करते थे।[१] यहीं पर एक ओर जुआ खेलने का प्रबन्ध रहता था। वैदिक काल में सार्वजनिक उत्सव का एक अन्य स्वरूप तत्कालीन 'समन' में मिलता है। 'समन' में स्त्री और पुरुष समान रूप से आनन्दोल्लास के लिये सम्मिलित होते थे। कवि नई रचना से सुयश प्राप्त करने के लिए भाग लेते थे। धनुर्धरों को वहाँ अद्भुत कला-प्रदर्शन करने पर पारितोषिक पाने की आशा होती थी। घुड़दौड़ और रथ-धावन होता था। कम से कम २४ घंटे तक इस प्रतियोगिता का कार्यक्रम चलता रहता था।[२]

जातक-साहित्य में समाज का प्रायः उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार सार्वजनिक मनोरंजन के लिये नृत्य, गीत, आख्यान, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, मेष-युद्ध, दण्ड-युद्ध, मल्ल-युद्ध आदि का प्रदर्शन होता था। इसे देखने के लिये विदेश गये हुए अपने सम्बन्धियों को लोग बुला लेते थे। प्रायः समाज का आयोजन राजांगण में होता था और इसकी घोषणा ढोल पीटकर कर दी जाती थी। राज-द्वार पर एक मण्डप बनाया जाता था, जिसमें पर्यङ्क पर राजा अपने परिजनों और सभासदों और नागरिकों के साथ बैठता था। लोगों के बैठने के लिए वृत्ताकार घेरे में मंचों की अनेक पंक्तियाँ बनाई जाती थीं। कभी-कभी समाज प्रकृति की रमणीयता के बीच पर्वतों के ऊपर आयोजित होते थे।[३] जहाँ समाज जुटता था, उस स्थान को समज्या कहा जाता था।[४]

महाभारत में वारणावत नगर के समाजोत्सव का वर्णन मिलता है। वह समाज रमणीयतम था। समाजोत्सव को देखने के लिये परिजनों के साथ राजकुमार भी गये। उसमें गायकों और ब्राह्मणों को उपहार मिला। समाज का

---

१. The community had periodic assemblies in what appears to have been a regular club-house or meeting-hall, from which women were excluded and in which not only the business of the clan was discussed, but ordinary farmers' gossip was retailed *Piggott* : Prehistoric India, P. 270.

२. Vedic Index में 'समन' पिशेल का मत।

३. Pre-Buddhist India, P. 355-356.

४. समजन्ति तस्यां समज्या। महाभाष्य ३.३.९९।

उत्सव कई दिनों तक होने वाला था।[1] रामायण में अयोध्या नगरी की सुश्रीकता के लिये समाजोत्सव का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है।[2] रामायण के अनुसार समाज में नाट्य और नृत्य विशेष रूप से आयोजित होते थे।[3]

अशोक ने तत्कालीन समाजों की कुछ बुराइयों पर प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा की। उसके मतानुसार प्रतीत होता है कि कुछ समाज अच्छे हैं, परन्तु साधारणतः धर्म की दृष्टि से हीन होने के कारण समाज त्याज्य हैं। सम्भव है, समाज के उत्सव में भाग लेने वाली भीड़ आमोद-प्रमोद से प्रमत्त होकर शालीनता का ध्यान न रख पाती हो और कुछ ऐसे काम कर बैठती हो, जो अशोक की दृष्टि में उसकी प्रजा के लिये शोभनीय न हों।[4]

वात्स्यायन के कामसूत्र में सरस्वती के मन्दिर में प्रत्येक पक्ष में एक बार होने वाले नागरिकों के समाज का विवरण मिलता है। उस उत्सव में नृत्य, गायन, संगीत आदि कलाओं का प्रदर्शन करने के लिए दूर-दूर से कलाकार आते थे और अपनी सर्वोच्च विशेषता के लिये पारितोषिक प्राप्त करते थे। ऐसे समाज का आयोजन नगर के सभी लोगों की ओर से होता था।[5]

समाज की प्रथा पौराणिक युग में भी पूर्ववत् रही। विष्णु-पुराण के अनुसार कंस ने समाजोत्सव का आयोजन करके उसमें कृष्ण और बलराम को आमन्त्रित किया था।[6] इसमें धनुर्मह और मल्लयुद्ध विशेष कार्यक्रम थे।[7]

समाज का स्वरूप, जो ऊपर लिखा गया है, प्रायः सार्वजनिक था। इसी से मिलती-जुलती पर मर्यादित लोगों के लिए गोष्ठी होती थी। गोष्ठी का पूर्वरूप वैदिक-कालीन चरवाहों का गोष्ठ (गायों के ठहरने के स्थान)-सम्बन्धी मनोरंजन प्रतीत होता है। वैदिक काल के पश्चात् जातक साहित्य में नित्य के गोट्ठ

---

१. महाभारत आदिपर्व अध्याय १३१ से।

२. अयोध्या० ५१.२३।

३. अयोध्या० ६७.१५।

४. अशोक के चतुर्दश शिलालेख में समाज का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में ब्यूलर, स्मिथ, मजूमदार, भण्डारकर आदि विद्वान् इतिहासज्ञों के विविध मतों के लिए देखिए—Indian Antiquary 1913 पृ० २५५, वही १९१८, पृ० २२१, वही १९१९, पृ० २३५ तथा J. R. A. S. 1914 पृ० ३९२।

५. कामसूत्र पृ० ५०, ५१।

६. विष्णुपुराण ५.२०.६८।

७. विष्णुपुराण ५.१५.१५।

(गोष्ठ) का उल्लेख मिलता है, जहाँ लोग इकट्ठे होकर कथावार्ता आदि के द्वारा मनोरंजन करते थे।[1] ललितगोष्ठी सम्भवतः उच्चतर कोटि की प्रमोद-सभा होती थी।[2]

परवर्ती युग में गोष्ठी नागरिकों या गणिकाओं के घर पर प्रायः एक व्यक्ति या किसी एक वर्ग के अनुरंजन के लिए होने लगी। ऐसी गोष्ठियों में दो-चार कला-विशेषज्ञ किसी ऐश्वर्यशाली व्यक्ति के आश्रय में आ जुटते थे। गोष्ठी में साधारणतः नृत्य, नाट्य, वाद्य, संगीत, काव्य, कथा आदि ललित कलाओं को स्थान मिलता था और इसमें उपस्थिति भी रसिक और सुरुचिपूर्ण नागरिकों की ही होती थी। विषयों की प्रधानता की दृष्टि से गोष्ठियों के नाम काव्य-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी, कथा-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, प्रेक्षण-गोष्ठी आदि पड़ते थे।

गोष्ठियों में परवर्ती युग में अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं का प्रचलन बढ़ा। काव्य-समस्या-पूरण का सामान्य प्रचलन था। इसका एक रूप अक्षर-मुष्टिका था। इसमें कुछ अक्षरों को छोड़ दिया जाता था। पाठक उन अक्षरों को पूरा करते थे। जैसे मेवृमि आदि से मेष, वृष, मिथुन। मानसी में केवल स्वर लिख देने पर उसमें व्यंजन की पूर्ति करनी पड़ती थी। अनेक प्रकार की पहेलियों का भी प्रचलन था, जिनसे काव्यात्मक अभ्यास स्फुरित होता था।

विहार

प्रकृति में जो कुछ मनोरम है, उसका अधिकांश नगर के बाहर होता है। यदि नागरक को अपने जीवन की आनन्द-वृत्तियों को बहुमुखी करना था तो उसे नगर के बाहर निकल कर प्रकृति के उत्संग में क्रीड़ा करनी चाहिए थी। ऐसे मनोरम स्थानों की गणना की गई है। यथा वन, शैल-शृंग, देवतायतन, वन-दुर्ग, जलाशय, नदी, द्वीप, सिकता, सागर-प्रदेश, वन-निर्झर आदि।[3] विहारस्थली कैसी होनी चाहिए—जहाँ पक्षि-संघ, विचित्र फल-पुष्प, वनराजि, पद्माकर, प्रसन्न सलिल वाले ह्रद, दिव्य गन्धवह तथा पुण्य मारुत की रमणीयता हो।[4]

---

१. Pre-Buddhist India, P. 356.

२. अन्तगडदसाओ १.१६.७७–८०।

३. महाभारत आदिपर्व १४३.२०–२६, १७३.८; ७६.१–३; २१०. ८–१२।

४. आदिपर्व २३वें अध्याय से।

वन-विहार

जातक-युग में उद्यान की पुष्करिणी विशेष आरोचक होती थी। उसी के तट पर राजा का मनोरंजन करने के लिये नृत्य और संगीत का आयोजन होता था।[1] जातक-साहित्य में उद्यान-क्रीड़ा का जो उल्लेख मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि नागरिक के लिये पिंजरे में बन्द कुक्कुट की भाँति नित्य घर में रहना अखरता था। वह अपनी प्रेयसी के साथ खाना-पीना आदि लेकर, सज-धज कर गाड़ी में बैठकर उद्यान चला जाता था और वहीं विलासमयी लीलाओं में दिन बिताता था।[2] राजा भी अपने अनुयायियों के साथ उद्यान में बिहार करते थे।[3]

महाभारत के अनुसार राजकुमार वन-विहार के लिये जाते थे। इसके साथ कभी उनकी घोष-यात्रा भी हो जाती थी। राजा के पशुओं को वन में चराने वाले ग्वालों के चलते-फिरते गाँवों का नाम घोष था। राजा या राजकुमार इनकी देख-भाल करने के लिये कभी-कभी उन गाँवों में जाकर रहते थे और इनकी अध्यक्षता में पशुओं की गिनती तथा अंकन आदि होता था। ऐसे समय मृगया खेलने का अवसर भी मिल जाता था। वन-विहार के लिये राजकुमारों के साथ सहस्रों स्त्रियाँ, सपत्नीक नागरिक, वेश्यायें, वन्दी, हाथी, घोड़े, रथ तथा गाड़ियाँ आदि जाती थीं। वन में किसी रमणीय स्थान पर नया नगर ही बस जाता था।[4] सभी सैनिक और पुरजनवासी यथेच्छ क्रीड़ाओं के द्वारा मनोरंजन करते थे। नृत्य और वाद्य में कुशल गोप और सुसज्जित गोपकन्यायें अपनी-अपनी कलाओं के द्वारा राज-कुमार का मनोविनोद करती थीं। कभी-कभी राजकुमार आखेट करते थे। रम-णीय वन और उपवन की शोभा उनके मन को प्रसन्न करती थी। जलाशय के तट पर आक्रीडावसथ बनाये जाते थे।[5] रामायण के अनुसार वन-विहार में लुकाछिपी का खेल होता था। किसी वृक्ष की ओट में खड़े होकर प्रियतम को चक्कर में डालकर उस पर हँसने की क्रीड़ा राम और सीता के लिये भी मनोरंजक थी।[6] लंका के रमणीय वनों में अनेक रम्य आक्रीड़ बने हुये थे।[7] लंका में समुद्र के तीर पर भ्रमर

---

१. विकण्णक जातक २३३।
२. कणवेर जातक ३१८।
३. महासार जातक ९२।
४. वनपर्व अध्याय २२७ से।
५. वनपर्व २२८ से।
६. अरण्य० ६१.४।
७. सुन्दर० २.१२।

के गुंजन से समायुक्त पुष्पित वृक्षों वाले वनों में अपनी प्रेयसी के साथ विहार करने का प्रचलन था।[1] जनपद में कुमारियों की क्रीड़ा के लिये उद्यान नियत थे, जहाँ वे सुसज्जित होकर सन्ध्या के समय खेलने के लिये जाती थीं।[2] अयोध्या के उद्यानों में रसिक नर-नारी नित्य वन-विहार के लिये जा पहुँचते थे और सन्ध्या के समय धूमधाम से लौटते थे।[3]

चौथी शती ईसवी पूर्व के उल्लेखों के अनुसार राजाओं के विहार के लिये प्रमद-वन बने हुये थे।[4] साधारण लोगों के मनोरंजन के लिये वन-क्रीड़ा होती थी।[5] अशोक के शिलालेखों में विहार-यात्रा का उल्लेख मिलता है। वह वन-विहार के समकक्ष थी। विहार-यात्रा में प्रधान रूप से मृगया के द्वारा मनोरंजन होता था।[6]

पहली शती ईसवी के वन-विहार का स्वरूप अश्वघोष ने बुद्धचरित में चित्रित किया है। वसन्त-ऋतु में वन-भूमि मृदुशाद्वलमयी थी। कोकिल वृक्षों पर निनाद कर रहे थे। पुष्करिणियों में कमल खिले हुये थे। नगर का वह वन स्त्रियों को अतिशय प्रिय था। इसके सौरभ का वर्णन सुनकर सिद्धार्थ ने वन-विहार के लिये वैसे ही उत्सुकता प्रकट की, जैसे बँधा हुआ हाथी बाहर जाने के लिये व्याकुल रहता है। सिद्धार्थ की विहार-यात्रा के लिये राजमार्ग सजाया गया। मार्ग में उज्जवल पुष्प-राशि विकीर्ण थी। मालायें लटक रही थी। पताकायें फहरा रही थीं। उस वन में वाराङ्गनागण पहले से ही विराजमान थीं। सिद्धार्थ के उपवन में पहुँचते ही स्त्रियों के द्वारा उनका स्वागत आरम्भ हुआ। उन स्त्रियों से घिरे हुये कुमार वन में घूमने लगे। फिर तो वाराङ्गनाओं की शृंगारत्मक क्रीड़ायें आरम्भ हुईं। सिद्धार्थ से आशा की जाती थी कि वह उनके प्रति दाक्षिण्य दिखलाते। सन्ध्या के समय सिद्धार्थ घर लौट आये।[7]

---

१. सुन्दर० २०.३६।

२. अयोध्या० ६७.१७।

३. अयोध्या० ७१.२२–२६।

४. अर्थशास्त्र १२.५ से।

५. अर्थशास्त्र ५.२ कोशाभिसंहरण प्रकरण से।

६. अतिक्रान्तमन्तरं देवानां प्रियाः विहारयात्रां नाम निरक्रमिषुः। इह मृगया अन्यानि च ईदृशानि अभिरामाणि अभूवन्। अष्टम शिलालेख से। इसी लेख के अनुसार अशोक ने विहार-यात्रा के स्थान पर धर्मयात्रा की प्रतिष्ठा की।

७. बुद्धचरित सर्ग ४।

कामसूत्र के अनुसार गणिकाओं या अपनी प्रियतमाओं को साथ लेकर नागरिक दिन भर के लिये किसी वन या उद्यान में चले जाते थे । वन-विहार में मनोरंजन के लिये पशु-पक्षियों की लड़ाई, हिंदोल-लीला, समस्या-पूर्ति, कथापाठ आदि का आयोजन होता था।[1]

माघ के वर्णन से प्रतीत होता है कि सातवीं शती के आसपास वन-विहार का स्वरूप अतिविकसित था। 'युवति-युत यादवों की विहार-यात्रा है। सारी क्रीड़ा नायक और नायिकाओं के प्राकृतिक वातावरण में उद्दीपित प्रेम से सम्बद्ध है। नायक और नायिकाओं का बृहत् समूह साथ चल रहा है और साथ ही चलती हैं उनकी प्रेम-लीलायें। नायक और नायिकाओं के प्रेम को उकसाने वाली सखियाँ भी अपने व्यापार में निरत हैं। वन में पहुँचने पर पुष्पावचय और पल्लव-चयन आदि को निमित्त बनाकर नायिकाओं ने अपने हाव-भाव से तथा सौन्दर्य-प्रदर्शन से अपने प्रेमियों के हृदयों में अनुरागमयी प्रवृत्तियों को जागरित किया है। पत्तों पर नखों से प्रेम-पत्र लिखा जाता है। नायक अपनी नायिकाओं को माला पहनाकर और कान में पुष्प खोंस कर प्रसन्न करते हैं। पुष्पों से प्रहार करने की क्रीड़ा मनोरंजक है।' वन-विहार का सारा आयोजन श्रमपूर्ण होता था। स्त्रियाँ पसीने से लथपथ हो जाती थीं। ऐसी परिस्थिति में जल-विहार का आयोजन होता था।[2]

परवर्ती युग में वन-विहार के उल्लेख पूर्ववत् मिलते हैं।[3] वन-विहार केवल सुखी लोगों के मनोरंजन के लिये ही नहीं रहा, अपितु विरही लोगों के मन-बहलाव के लिये भी वन की चारुता हो सकती थी।[4]

जल-विहार

भारत में प्रायः सभी ऋतुओं में जल का तापमान इतना ऊँचा रहता है कि लोग साधारण जल से स्नान कर सकते हैं। जल की भी प्रायः सभी प्रदेशों में अधिकता रही है। वैज्ञानिकों का मत है कि प्राचीन काल में आज की अपेक्षा अधिक जल बरसता था और परिणामतः नदी, नद, सरिताओं, झीलों और पोखरों की संख्या उस समय अधिक रही होगी। ऐसी परिस्थिति जल-विहार के लिये अतिशय अनुकूल थी।

---

१. कामसूत्र पृ० ५३।
२. शिशुपालवध सर्ग ७ से।
३. कथासरित्सागर ७.१.५, ६ तथा १२.७.१५२।
४. नैषधीयचरित १.५५–१०४।

भारतीय जलवायु में स्नान की प्रक्रिया स्वभावतः रुचिकर रही है। इसके साथ विनोद का सामंजस्य कब हुआ—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभव है, जल में पहुँचते ही मानव में आरम्भिक युग से क्रीडा करने की सहज प्रवृत्ति जागरित हुई हो।[१] सिन्धु-सभ्यता के युग में नागरिकों के सार्वजनिक स्नान के लिये बड़े जलाशय बने हुये थे। उनके नगरों के समीप नदियों की चौड़ी धारायें थीं। संभव है, इन स्नानागारों और नदियों के जल में उस समय लोग जल-विहार करते हों, पर उनकी क्रीड़ा का क्या स्वरूप था—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वेद-कालीन पुरूरवा और उर्वशी की कथा से ज्ञात होता है कि उर्वशी अपनी सखियों के साथ किसी जलाशय में जलक्रीड़ा कर रही थी, जब वियोगी पुरूरवा उसे ढूँढ़ते हुये पहुँचे। उर्वशी अप्सरा थी। परवर्ती वेद में भी गन्धर्वों और अप्सराओं के प्रायः जलक्रीड़ा करने के उल्लेख मिलते हैं।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि गन्धर्व-जाति के लोगों की जलक्रीड़ा के प्रति सुदूर प्राचीनकाल से ही अतिशय अभिरुचि रही है।

वेद-कालीन जल-क्रीड़ा का एक दूसरा रूप तत्कालीन नौकाओं में बैठकर लहरों पर झूलना था। लोग नदियों और समुद्रों की लहरों पर आन्दोलन करने वाली नावों पर झूला झूलने का सा आनन्द पाते थे। ऐसी नावों को लोग प्रेङ्ख कहते थे।[३]

वैदिक काल के पश्चात् जल-विहार के प्रति अभिरुचि बढ़ी। राजाओं के उद्यान में मंगल-पुष्करिणी होती थी। राजा पहले अपने अनुयायियों के साथ उद्यान में वन-विहार करने के पश्चात् अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ जल-विहार करते थे। स्त्रियाँ अपने शिथिल अलंकारों को उतार कर जल में प्रवेश करती थीं।[४] नवदम्पति जल-विहार करने के लिये प्रसाधन तथा खाने-पीने की सामग्री लेकर नदी के तट पर जाते थे और नौका में बैठकर तथा पानी में तैरते हुये मनोरंजन करते थे। अधिक देर तक जल-क्रीड़ा करने के लिये दूध में कोई औषधि मिलाकर पीने का प्रचलन था। उस औषधि के द्वारा दिन भर जल-क्रीड़ा करते रहने पर भी ठंडक नहीं लगती

---

१. मानव के सन्निकट स्वभाव वाले प्राणी वानर हैं। वे जलक्रीड़ा करने में सहज रूप से प्रवृत्त होते हैं। वानरों के झुण्ड का घण्टों उछलने, कूदने आदि का दृश्य साधारणतः कहीं भी देखा जा सकता है।

२. ऋग्वेद १०.९५।

३. ऋग्वेद ७.८८.३।

४. महासार जातक ९२।

थी।[1] राजा महानदियों में जाल की टोकरी फेंक कर क्रीड़ा करते थे।[2] महाभारत के अनुसार दुर्योधन ने पाण्डवों के जल-विहार के लिये उपयोगी वस्त्र और कम्बल के बड़े विचित्र घर बनवाये। इनका नाम विहारावसथ था। उन घरों में सभी आवश्यक वस्तुयें संचित की गई थीं। वहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य, लेह्य आदि प्रत्यग्र बनाकर संचित किया गया था। कौरवों और पाण्डवों ने मिल-जुलकर साथ जल-क्रीड़ा की।[3] अभिनव दम्पति के वन-विहार और जल-विहार का प्रचलन था।[4]

गुप्तकालीन राजकीय जल-विहार का विस्तृत वर्णन कालिदास के रघुवंश में मिलता है। इसके अनुसार 'ग्रीष्म ऋतु में राजा कुश को सरयू के जल में अपनी पत्नियों के साथ विहार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। नदी के जल में राजहंस प्रमत्त होकर तैर रहे थे। तट पर पुष्पान्वित लता की छटा थी। शीघ्र ही नदी के जल को हिंस्र जन्तुओं से रहित कर दिया गया और अन्य आवश्यक उपादान तट पर प्रस्तुत किये गये। अलंकार-विभूषित रानियाँ सीढ़ियों से उतरती हुई नदी के जल में प्रविष्ट हुईं। प्रारंभ में राजा नदी की तत्कालीन परिवर्धित शोभा और उन रानियों के विहार-सम्बन्धी विभ्रम-विलास को नाव पर चढ़कर देखते रहे। वे एक-दूसरे पर जल छिड़कने लगीं। स्त्रियाँ जल पीटती थीं, गाती थीं और गीत की संगति में जल को मृदंगवत् बजाती थीं। ऐसे अवसर पर मयूर केका-ध्वनि उत्पन्न करते हुये नृत्य करने के लिये उद्यत दिखाई पड़ते थे। कुछ स्त्रियाँ तैरती थीं। जल के कारण प्रसाधन च्युत होने पर स्त्रियों का नैसर्गिक रूप निखर आता था। इस अवसर पर कुश नाव से उतर कर उन्हीं रमणियों के साथ जल-विहार करने लगे। स्त्रियाँ स्वर्ण के शृंगों से राजा के ऊपर रंग-विरंगे जल की धारायें फेंकतीं थी।[5] नदियों के अतिरिक्त भवन-दीर्घिकाओं में गूढ़ मोहन-गृह बने हुये थे, जिनका उपयोग जल-विहार के अवसर पर होता था।[6]

जल-विहार में सामूहिक रूप से भाग लेने वाले नायक और नायिकाओं को अभिनव शैली के प्रेमालिंगन आदि के लिये अवसर मिलते थे। दम्पति और नायक-

---

१. कलण्डुक जातक १२७।

२. दधिवाहन जातक १८६।

३. आदिपर्व ११९वें अध्याय से।

४. आदिपर्व ४०.१०।

५. रघुवंश १६.५४–७०।

६. वही १९.९।

नायिकाओं के विविध प्रकार के परिहास के लिये जल-विहार अपूर्व अवसर प्रदान करता था।[1] हेमचन्द्र ने कुमारपाल-चरित में एक ऐसे जल-विहार का वर्णन प्रस्तुत किया है, जिसमें अनेक राजा तथा राजधानी के बड़े-छोटे सभी लोगों का सार्वजनिक जल-विहार आयोजित हुआ था। हेमचन्द्र ने इस जल-विहार को उत्सव माना है।[2]

परवर्ती साहित्य से ज्ञात होता है कि जल-विहार का प्रचलन प्राय: सदा ही रहा है।[3] ह्वेनसांग ने वन-विहार तथा जल-विहार के लिये उपयुक्त सिंहपुर के समीपस्थ किसी स्थान का वर्णन करते हुये लिखा है—यहाँ पर छोटे और बड़े दस से अधिक जलाशयों के द्वारा प्राकृतिक सौरभ का दृश्य निर्मित था। इनके किनारों पर लगे हुये पत्थर पर विविध प्रकार के प्राणधारियों की मूर्तियों का तक्षण किया गया था। जलाशयों का जल एक बड़ी नदी से आता था। जलाशयों के तल पर चार रंग के कमल विकसित थे। सभी प्रकार के सफल वृक्षों की हरियाली चारों ओर दृष्टिगोचर होती थी। यही हरी छबि कासारों के रुचिर जल से विच्छुरित होकर सारे वातावरण को स्वभावत: मनोज्ञ बना रही थी। यह स्थान अवश्य ही विहार-स्थल था।[4] द्वारका के निकट समुद्र में राज-परिवार के साथ नागरिकों का नावों पर खाते-पीते, नाचते-गाते महान् उत्सव होता था।[5]

मृगया

वैदिक काल में अनेक आर्येतर जातियाँ मृगया के द्वारा भी जीविका उपार्जित करती थीं। इनमें से मार्गार वन्य पशुओं की मृगया करता था और कैवर्त, पौञ्जिष्ठ, दाश, मैनाल आदि मछली पकड़ते थे। मछलियाँ बडिश (वंशी) से पकड़ी जाती थीं। बैन्द, कैवर्त और मैनाल जाल से मछलियाँ पकड़ते थे। धैवर तालाब में जाल लगा कर तथा आन्द बाँध बनाकर मछली मारते थे। पर्णक विषाक्त पत्ते पानी पर डालकर मछली मारते थे।[6] पशु-पक्षियों की मृगया करने के लिये बाण के अति-

---

१. किरातार्जुनीय सर्ग ८ से, शिशुपालवध सर्ग ८ से।

२. कुमारपाल चरित ४.६३.।

३. देखिये सुदंसणचरिउ सन्धि ७, णायकुमारचरिउ सन्धि ३ तथा नैषधीयचरित १.१०७–११८।

४. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० २५०।

५. हरिवंश में समुद्र-मह।

६. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.१२.१ पर सायण की व्याख्या।

रिक्त जाल का उपयोग होता था। जाल के नाम पाश, निधा, मुक्षीजा आदि मिलते हैं।[1] पक्षी पकड़ने वाले का नाम निधापति था।[2] मृगया करने के लिये जाल को कीलों से फैलाया जाता था। मृगों को पकड़ने के लिये खाईं काम में लाई जाती थी।[3] खाईं का नाम ऋश्य था।[4] सूअर को पकड़ने के लिये कुत्तों को ललकारा जाता था।[5] रस्सी या पाश से भैंसों को पकड़ा जाता था।[6] सिंह को खाईं में गिराकर मार डाला जाता था।[7] सिंहों को शिकारी घेर कर भी मार डालते थे।[8]

रामायण और महाभारत में अनेक स्थानों पर राजकुमारों की मृगया का वर्णन मिलता है।[9] रामायण के अनुसार मृगया उस समय अत्यन्त लोकप्रिय थी। महाराज दशरथ के शब्दों में—

निघ्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु।
नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यं संस्मरिष्यति ॥[10]

(वन में राम मृग और हाथियों को मारते हुये, वन का मधु पीते हुये और विविध नदियों को देखते हुये राज्य का स्मरण तक नहीं करेंगे।)

दशरथ स्वयं आखेटक थे। उन्हें शब्दवेधी बाण का अभ्यास था। एक बार वर्षा-ऋतु में व्यायाम की इच्छा से धनुष लेकर रथ पर कवच धारण करके वे सरयू के तट पर मृगया के लिये गये। दशरथ का विचार था कि रात के समय भैंसे, हाथी या अन्य वन्य पशु पानी पीने के लिये तट पर पहुँचेंगे और उनके जल पीने के शब्द पर लक्ष्य भेद करूँगा। उन्होंने मारा एक ऋषिकुमार को।[11] पाण्डु ने भी मृगया करते

---

१. ऋग्वेद २.४२.२; ३.४५.१; ९.८३.४; १०.७३.११ तथा अथर्ववेद १०.१.३०।

२. ऋ० ९.८३.४।

३. अथर्ववेद ८.८.५।

४. ऋ० १०.३९.७।

५. ऋ० १०.८६.४।

६. वही १०.५१.६।

७. ऋ० १०.२८.१०।

८. वही ५.१५.३।

९. महाभारत आदिपर्व ११०.५; वनपर्व २२८.५।

१०. अयोध्या० ३६.६।

११. अयोध्याकाण्ड ६३.२०—२२।

समय किन्दम नामक मुनि की हत्या की थी।[1] संभव है, परवर्ती युग में ये प्रकरण मृगया की लोकप्रियता कम करने के कारण हुए हों। महाभारत के अनुसार केवल राजाओं को ही नहीं, अपितु यज्ञ की दीक्षा लिए हुये ऋषियों को भी खुले हाथ पशुओं की मृगया करने की शास्त्रीय छूट है।[2] सम्भवतः मृगया के लिए उपयोग में आने के लिए ही राजाओं के द्वारा कुत्ते पाले जाते थे। राजाओं के अन्तःपुर में भी कुत्ते रखे जाते थे। राजाओं के कुत्ते अतिशय संवृद्ध, व्याघ्र के समान बली, दंष्ट्रायुक्त और बड़े शरीर वाले होते थे।[3]

ग्रीक लेखकों के अनुसार भारतीय राजा का मृगया करना सार्वजनिक दृश्य होता था। मृगया के समय राजा के साथ समाज-यात्रा होती थी। साधारण लोगों को सड़क से हटा दिया जाता था। राजा अपनी स्त्रियों से घिर कर मृगया के लिये बाहर निकलता था। घोड़े, रथ और हाथी पर राजा को घेर कर सशस्त्र स्त्रियाँ चलती थीं। उनके चारों ओर वृत्ताकार रक्षक सैनिक होते थे। आगे-आगे ढोल और घंटा बजता चलता था। राजा बाड़े से घिरे हुये मंच से अथवा हाथी की पीठ से मृगया करता था।[4]

रघुवंश में तत्कालीन राजकीय मृगया का वर्णन दशरथ की मृगया के माध्यम से मिलता है। राजा ने मृगवन में जाने के लिए उपयुक्त वेष धारण किया। उनके कण्ठ से धनुष लटक रहा था, वनमाला से मौलि की गाँठ बाँधी गई थी। राजा ने पत्तों के समान हरा कवच धारण किया था। मृगवन में पहले से ही कुत्ते और जाल आदि का प्रयोग करने वाले लोग पहुँच चुके थे। वन को अग्नि तथा दस्यु-भय से रहित बनाया गया था। वहाँ की भूमि घोड़ों के दौड़ने योग्य स्थिर थी। उसमें अनेक छोटे-बड़े जलाशय थे और मृग, पक्षी और नीलगाय आदि रहते थे। वन में हरिण, हरिणियों और मृगशावकों का झुण्ड, जो कृष्णसार के नेतृत्व में चलता था, अत्यन्त मनोरम था। ज्योंही राजा ने उसका पीछा किया कि चारों ओर मृग बिखर गये और कहीं-कहीं खड़े होकर चंचल नेत्रों से उसी की ओर देखने लगे।[5]

कालिदास ने मृगया का मानो आँखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है। इसके

---

१. महाभारत आदि १०९.२६।
२. आदिपर्व १०९.१२–१४।
३. अयोध्याकाण्ड ७०.२०।
४. Life in Ancient India मेगस्थनीज का लेख, पृ० ७१।
५. रघुवंश ९.५०–६०।

अनुसार ग्रीष्म में दिन की दोपहरी में भी यह मृग, यह वराह, यह शार्दूल आदि कोलाहल करते हुए वन में मारे-मारे घूमना पड़ता है। सड़े-सड़े पत्तों के कारण कषाय पहाड़ी नदियों का जल पीना पड़ता है; वह भी जब कभी मिल जाय। शूल पर पकाया हुआ मांस ही भोजन होता था। घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ने से सारे शरीर में कण्डा लग जाता था। रात में भी नींद नहीं आती थी। प्रातःकाल होते ही चिड़ीमार वन-ग्रहण का शोर मचाते थे। इस मृगया में राजा के साथ उसके सैनिक, विदूषक, सेना, दौवारिक, परिजन आदि जाते थे।[१]

सातवीं शती की मृगया का वर्णन बाण के हर्षचरित तथा कादम्बरी में मिलता है। हर्ष राजकुमार होने पर स्वयं एक बार हिमालय के घने जंगलों में मृगया के लिए गया था। वन में केसरी, शरभ, शार्दूल, वराह आदि वन्य पशु थे। वह कुछ दिनों तक वन में रहकर धनुर्बाण से ही सभी हिंस्र पशुओं को मार सका था।[२] कादम्बरी के अनुसार राजकुमार सूर्योदय के पहले ही कवच पहनकर घोड़े पर हाथी, घोड़े और पैदल सेना के साथ मृगया के लिये निकल पड़ते थे। उसके साथ गधों के बराबर बड़े कुत्ते होते थे। वे स्वर्ण की जंजीर में बँधे होते थे। कुत्तों के रक्षक बूढ़े व्याघ्र के चर्म के समान चितकबरे कंचुक पहने होते थे। उनके सिर पर रंग-विरंगे कपड़े की पगड़ी होती थी। उनकी दाढ़ी बढ़ी होती थी, जिससे उनके मुख और गहन हो जाते थे। वे सदा कोलाहल करते हुये राजकुमार तथा अन्य आखेटकों का उत्साह बढ़ाते थे। प्रत्यंचा को कान तक खींचकर छोड़े हुये बाणों से असंख्य सूअर, सिंह, शरभ, चमर तथा हरिण मारे जाते थे। स्फूर्ति से दौड़कर भी कई वन्य पशुओं को पकड़ा जाता था। मृगयु राजकुमार नये पल्लवों का छाता बनाकर धूप का निवारण करता था।[३]

भारतीय साहित्य में मृगया का गुण-दोष विवेचन प्रायः मिलता है। सर्वोपरि दोष का निदर्शन दशरथ और पाण्डु की मृगया के वर्णन में मिलता है। उन्होंने मुनिकुमारों की अनजाने हत्या कर दी थी। अर्थशास्त्र में कौटिल्य का मत है कि 'मृगया में व्यायाम होता है। श्लेष्म, पित्त, मेद और स्वेद का नाश होता है। चलते हुए तथा स्थिर प्राणी को लक्ष्य बनाने का अभ्यास होता है और क्रुद्ध पशुओं के आकार का ज्ञान तथा सहसा पैदल चलने का अभ्यास होता है। इसी प्रकरण में पिशुन का मत दिया गया है कि मृगया में डाकू, शत्रु, हिंस्र जन्तु, दावाग्नि, प्रस्खलन,

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल द्वितीय अंक से।

२. हर्षचरित पंचम उच्छ्वास से।

३. कादम्बरी, पृ० ८९ से।

दिशाभ्रम, भूख-प्यास आदि के कारण प्राण जाने तक का भय रहता है।[१] चाणक्य-के अनुसार तो मृगयाशील राजा के धर्म और अर्थ नष्ट हो जाते हैं।[२] कालिदास ने मृगया के दोषों का परिचय तो दिया है, पर स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि दुष्यन्त को मृगया से लाभ ही हुआ है। कालिदास ने मृगया के गणों का आकलन कौटिल्य की भाँति ही किया है।[३] दण्डी ने मृगया की अतिशय प्रशंसा की है। उसके अनुसार मृगया के समान कोई अन्य व्यायाम लाभप्रद नहीं है। इसमें पैरों का अच्छा व्यायाम होता है। पाचन-शक्ति बढ़ जाती है, जिसका स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। शरीर की मुटाई घट जाती है और स्फूर्ति आ जाती है। शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, भूख और प्यास सहने की क्षमता प्राप्त होती है। अकाल के समय बहुत से पशु-पक्षियों के मांस से भोजन की कमी पूरी पड़ती है। वन्य-पशुओं के संहार से मार्ग सुरक्षित हो जाता है। जंगली जातियों से मेल-मिलाप के द्वारा विश्वास बढ़ता है और बल बढ़ने से शत्रु की सेना पर धाक जमती है।

वैदिक धार्मिक विधान प्रत्यक्ष ही मृगया के पक्ष में है। जैन और बौद्ध धर्मों में मृगया को हेय ठहराया गया है। फिर भी जीव-हिंसा का विरोध ज्यों-ज्यों होने लगा, मृगया के प्रति लोगों की धारणा बदलती गई। भागवत के अनुसार मृगया क्षत्रियोचित धर्म है, पर इसमें जो पशु-हिंसा होती है, उसके लिए प्रायश्चित करके ही पाप से छुटकारा हो सकता है।[४] परवर्ती युग में भी मृगया के गुणों और दोषों का विवेचन होता रहा। सोमदेव ने कहा है कि यदि राजकुमार को अपना पराक्रम दिखाना हो तो अटवी में मृगया करनी चाहिये। आखेट में मृगया से व्यायाम होता है। यदि राजा ऐसे व्यायाम नहीं करता तो वह युद्धभूमि में पराक्रम नहीं दिखा सकता। जंगली पशुओं को मारने में क्या नीति है, वह सोमदेव के शब्दों में सुनिये—दुष्ट मृग चाहते हैं कि सारी पृथ्वी शून्य हो जाय। अतएव राजा उन्हें अवश्य मारे। फिर भी राजा को मृगया का अतिसेवन नहीं करना चाहिए।[५] अन्यत्र सोमदेव ने मृगया की निन्दा की है और मत दिया है कि मृगया राजाओं का प्रमाद है। कई राजा मृगया में पशुवत् मारे गये। मृगया राक्षसी की भाँति घोर नाद करने वाली, कच्चे मांस खाने वाली, रूखी, धुंये के समान खड़े बाल

---

१. अधिकरण ८ में पुरुष-व्यसन प्रकरण से।

२. चाणक्यसूत्र १.७१।

३. अभिज्ञान० २.५।

४. भागवत १०.५१.६३।

५. कथासरित्सागर ६.१.१४७–१४८।

वाली तथा दाँत के रूप में मालावाली है। ऐसी राक्षसी मृगया कैसे कल्याण कर सकती है।[1]

धार्मिक विधान के अनुसार मृगया सम्बन्धी कुछ नियम भी बनाये गये। जो सोया हो, मैथुन में आसक्त हो, बच्चे को दूध पिला रही हो या स्वयं दूध पीता हो, उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए।

द्यूत-क्रीड़ा

द्यूत-क्रीडा का चाव सिन्धु-सभ्यता के युग से ही दिखाई पड़ता है। तत्कालीन पासे की गोटियों पर १, २, ३, ४, आदि संख्यायें अंकित मिलती हैं। पासे मिट्टी, पत्थर और हाथी दाँत के बनते थे। प्राय. पासे लकड़ी के पटरों पर खेले जाते थे, पर घरों के आँगन में भी चौकोर ईंटों को जोड़कर इस खेल के लिए व्यवस्था कर ली जाती थी।

वैदिक काल में सभा-भवन गाँव या नगर के लोगों के इकट्ठा होने का स्थान था। वहाँ सभी नागरिक गाँव की समस्याओं पर विचार करते थे, पर ऐसी समस्यायें अधिक नहीं थीं। लोगों को सामूहिक रूप से इकट्ठे होने पर मनोरंजन का ध्यान स्वाभाविक है। सभा-भवन के मनोरंजनों में द्यूत-क्रीडा का स्थान सर्वोपरि था।[2] उस युग में सभा-भवन के प्रधान जुआरी को सभा-स्थाणु की उपाधि मिली थी। वैदिक काल में विभीतक नामक विशाल वृक्ष के फलों से पासे बनाये जाते थे। कुछ द्यूत-व्यसनी जुये के चक्कर में अपना सर्वस्व खो बैठते थे। ऋग्वेद में जुये की निन्दा की गई है, यद्यपि जुआरी के अतिशय आह्लाद का चित्रण भी किया गया है।[3] जुआरी का हृदय जुये के विवाद-मात्र से अथवा पासे फेंकने की ध्वनि सुनकर काँप उठता है। वह अपने ऊपर अधिकार खो बैठता है और जुआ खेलकर अपना सब कुछ गँवा देता है। सारा समाज उससे घृणा करने लगता है। कोई उससे सहानुभूति नहीं रखता। पत्नी भी उसे घर से निकाल देती है। उसके माँ-बाप और भाई कहते हैं कि उसे बाँधकर ले जा सकते हो। अन्त में उपदेश दिया गया है—जुआ मत खेलो। अपनी खेती सँभालो। अपने धन से सन्तुष्ट रहो। उसी को अधिक समझो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। जुये का खेल

---

१. कथासरित्सागर ४.१.२८–३०।

२. ऋग्वेद १०.३४.६; वाजस० सं० ३०.१८ तथा अथर्ववेद ५.३१.६।

३. ऋग्वेद के कवि भी द्यूत के द्वारा मनोरंजन करते थे। वे द्यूत खेलते समय धोखाधड़ी से भी काम लेते थे। ऋग्वेद ५.८५.८।

इतना निन्दित होने पर भी सदा अतिशय लोकप्रिय रहा है। वैदिक काल से ही कभी-कभी तो जुआरी का पूरा कुटुम्ब ही जुए के कारण दास बन जाता था।[1]

परवर्ती युग में द्यूत-क्रीडा के लिए समृद्धिशाली लोग चाँदी के फलक तथा सोने के पासे का उपयोग करते थे।[2] राजा और पुरोहित की द्यूत-क्रीड़ा में भी संगति होती थी। उस समय द्यूत-गीत भी बने थे, जिन्हें जुआरी पासे फेंकते समय गाते थे। द्यूत के साथ धूर्तता का अभिन्न सम्बन्ध है। कुछ भले लोग अवश्य ही द्यूत-क्रीड़ा के द्वारा मनोरंजन करते थे, पर धूर्त तो इसी के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे और द्यूत को व्यवसाय बना लेते थे। ऐसे धूर्त अपनी हार होते देखकर धाँधली करने लगते थे। एक धूर्त जुआरी तो पासे को ही घोंट जाता था, जब वह देखता था कि मेरी हार हो रही है। इस धूर्तता को रोकने के लिए कभी-कभी विषलिप्त पासे फेंक कर भी उपाय करना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में धूर्त के प्राणों पर आ बनती थी।[3]

महाभारत-युग में द्यूत-क्रीड़ा का प्रभाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। कौरव और पाण्डवों के जुआ खेलने के लिए जो विशिष्ट सभागृह बनाया गया, उसमें सहस्र स्तम्भ थे, सौ द्वार थे तथा स्वर्ण और मणियों से वह सचित्र था। वह एक कोश लम्बा-चौड़ा था। सभागृह में बहुमूल्य शय्यासन का प्रबन्ध किया गया था। इस सभागृह में सभी पाण्डव कौरवों से खेलने वाले थे। दाँव पर सब कुछ रखा जा सकता था। युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित द्रौपदी को भी हार गये।[4] इस युग में अक्ष-विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी।[5]

अमरकोश के शूद्र-वर्ग में द्यूत का समावेश मदिरा-प्रकरण से अनुबद्ध मिलता है। प्रत्यक्ष है कि द्यूत का शूद्रों में विशेष प्रचलन था और इसके साथ मदिरा-पान आनुषङ्गिक था। इस ग्रन्थ में जुआरी के पर्याय धूर्त और कितव मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि द्यूत-क्रीडा में धोखा-धड़ी का व्यवहार अतिशय प्रचलित था और साथ ही व्यावसायिक रूप से खेलने वालों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं थी।

द्यूतकला का परवर्ती युग में विकास हुआ। सातवीं शताब्दी में २५ प्रकार की द्यूत-सम्बन्धी कलायें विकसित हो चुकी थीं। साथ ही कूटकर्म के व्यवहार भी नये-

---

१. ऋग्वेद १०.३४।
२. अण्डभूत जातक ६२।
३. लित्त जातक।
४. सभा० अध्याय ५२—५८ से।
५. वनपर्व ६३.२०।

नये चल चुके थे । जुआ-घरों में झगड़ा-झंझट, डाँट-फटकार और मारपीट होती रहती थी। जुआरियों की बातचीत भी उन्हीं के योग्य होती थी। निःसन्देह, ऐसे वातावरण में जुआरियों की तृप्ति होती थी, उनका मन रम जाता था। जुआ-घर में द्यूताध्यक्ष की अनुमति से ही किसी नये जुआरी को खेलने का अवसर मिलता था। जुए में जीते हुये धन का लगभग आधा सभिक और सभ्यों को देना पड़ता था।[1] इस युग में स्त्री और पुरुष सभी सामूहिक रूप से एकत्र होकर जुआ खेलते थे। दम्पति का जुआ खेलना भी प्रचलित ही रहा।[2] द्यूत-गृहों में कुछ सिद्धहस्त जुआरी रहते थे और मनोरंजन के लिए मनचले नागरिक वहाँ जाकर प्रायः लुटते थे ।

दसवीं शताब्दी के लगभग जुआ और जुआरियों की सर्वाधिक अधोगति दिखलाई पड़ती है। द्यूतगृह-देवी का नाम था द्यूतकार-महाठिण्ठा। पासे उसके नेत्र हैं और उन्हीं नेत्रों से वह जुआरियों को विपत्तिमें पड़ा हुआ देखनेकी कामना करती है। कुबेर का भी सर्वस्व हर लेने के लिए वह उद्यत रहती है। लोग सब कुछ हार जाने पर और धन माँगते हुये पीटे भी जाते हैं । कभी-कभी नंगे ही वे भगा दिये जाते हैं ।[3] जुये में हारा हुआ व्यक्ति यदि दाँव का धन नहीं दे पाता था तो उसे अन्य विजयी जुआरी बाँध कर पीटते थे । कभी-कभी तो ऐसी परिस्थिति में वह मरणासन्न हो जाता था। ऐसे जुआरियों को अन्य जुआरी कभी-कभी सुनसान कुओं में फेंक देते थे या दुर्गन्ध-धूम में बैठा कर उन्हें दण्ड दिया जाता था।[4] निःसन्देह मानव-चरित्र का अधःपतन करने के लिए द्यूत से बढ़कर अन्य माध्यम उस दुर्गत समाज ने नहीं ढूँढ़ा था। सोमदेव ने इसी परिस्थिति का परिलक्षण करते हुये लिखा है—

द्यूततान्तस्य किं नाम कितवस्य हि दुष्करम् ॥
कथासरित्सागर ५.१.६५॥

जुआरियों को जुआरिओं से अद्भुत सहानुभूति रही है। कहते हैं, मालव के राजा श्रीसेन ने जुआरियों के लिए महामठ बनवा दिया था। वहाँ जुआरियों को अभीष्ट भोजन दिया जाता था। बात यह थी कि वह राजा अपनी बालावस्था में जुये के चक्कर में एक बार विपत्ति में पड़ चुका था।[5]

---

१. दशकुमारचरित अपहारवर्मा-वृत्तान्त से।
२. Life in the Gupta Age, P. 155-156.
३. कथासरित्सागर १२.२५.१५–३० से।
४. कथासरित्सागर १८.२.३४–३६, महापुराण ४६.२७९।
५. कथासरित्सागर १२.६.१८९, १९०।

कवि-वाणी कभी-कभी द्यूत की प्रशंसा में प्रवृत्त हुई है। शूद्रक ने लिखा है—द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।[1] दण्डी ने इसके गुणों का पूरा अनुसन्धान करके दिखलाया है कि जुआ से उदारता बढ़ती है, क्योंकि तृण की भाँति अपना कोष दाँव पर रखते हिचक नहीं होती। हार-जीत के क्रम से मनुष्य को सुख और दुःख में सम रहने का अभ्यास पड़ जाता है। मनुष्य का साहस बढ़ जाता है और यही सारे पुरुषार्थ की जड़ है। इसके द्वारा बुद्धि की प्रखरता, ध्यान की एकाग्रता, निश्चय की दृढ़ता, आत्म-विश्वास और उदार वृत्ति की अनायास वृद्धि होती है।

इन्द्रजाल

मनोरंजन के लिये अलौकिक साधनों से अलौकिक सिद्धियों का प्रदर्शन इन्द्रजाल है। प्रारम्भ में इन्द्रजाल शब्द का उपयोग इन्द्र के जाल (माया) के अर्थ में हुआ।[2] इन्द्र देवसेना का नेता था। वह असुरों को जब साधारण अस्त्र-शस्त्रों से पराजित न कर सका तो संभवतः उसने कुछ अलौकिक और अद्‌भुत प्रयोगों के द्वारा ही विजय प्राप्त की थी। ऐसे प्रयोगों को इन्द्रजाल कहा गया। वैदिक युग के आरम्भिक काल से मन्त्र, स्तुति और यज्ञ-बल से ऋषियों के द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की रीति रही है। अथर्ववेद में अथर्वन् और अङ्गिरस्—दो प्रकार के इन्द्रजाल के प्रतीक हैं। अथर्वन् के द्वारा रोगों का निदान मन्त्रों के द्वारा हो सकता था। यह कल्याणों की सिद्धि के लिये था। अङ्गिरस् के द्वारा शत्रुओं को मन्त्रों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से बाधा पहुँचाई जाती थी। मन्त्रों और तान्त्रिक विधानों के द्वारा सम्भव होता था कि कोई स्त्री अपने पति के ईर्ष्या-भाव को दूर कर दे। कोई नायक अपनी नायिका से निर्द्वन्द्व मिलने के लिये उसके घर के सभी कुटुम्बियों को सुला दे। नायक और नायिका में एक दूसरे की इच्छा के विरुद्ध प्रेम उत्पन्न कर दे और नायक या नायिका की मूर्ति बनाकर उसके हृदय को बाण से बींधते हुये मन्त्र पढ़ कर अपने प्रति उसकी शृंगारात्मक भावनायें जागरित कर दे।[3] शतपथ ब्राह्मण में असुरविद्या (माया) का नाम मिलता है। यह इन्द्रजाल है और यज्ञ के अवसर पर निष्पन्न होता था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि देवता और असुर दोनों इस कला में निपुण थे। परवर्ती युग के उल्लेख के अनुसार इन्द्र ऐन्द्रजालिक था और

---

१. जुआ पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है।

२. अथर्ववेद ८.८.८।

३ अथर्ववेद ४.५; ३.२५; ६.१३०, १३८ आदि।

४. शत० १३.४.३.११।

शम्बर प्रथम प्रसिद्ध मायिक था।[1] वैदिक साहित्य में अश्विद्वय आदि अनेक देवताओं के अलौकिक चरित के असंख्य उल्लेख मिलते हैं, जो इन्द्रजाल के अन्तर्गत आते हैं।

बौद्ध साहित्य में मेण्डक परिवार की कथा मिलती है। इस परिवार के गृहपति से लेकर दास तक सभी मदारी थे। गृहपति रिक्त अन्नागार को आकाश से अन्न बरसाकर भर देता था। गृहपत्नी सभी प्रकार के भोजन अभीष्ट मात्रा में देकर भी भोजन-शाला को भरा-पूरा पाती थी। वधू भृत्यों को भरपूर छः मास के लिये चावल देकर भी अपनी टोकरी भरी पाती थी। दास हल चलाता था तो एक फाल से सात सीतायें बनती जाती थीं। मगध के राजा श्रेणिक बिम्बिसार ने अपने मन्त्री से इस इन्द्रजाल का परीक्षण कराया तो इसे सत्य पाया।[2] नट के अंग-अंग काटकर फिर जोड़ देना और पानी छिड़ककर पुनर्जीवित कर देना, चिता जलाकर अनेक जीवित नटों का प्रवेश करना, आग बुझ जाने पर उस पर पानी छिड़कना और सभी लोगों का पुनर्जीवित होना आदि इन्द्रजाल के द्वारा सम्भव थे।[3]

तप के द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। ऐसी सिद्धियों का सांगोपाङ्ग वर्णन रामायण में भरद्वाज के द्वारा भरत के स्वागत में तथा महाभारत में वसिष्ठ के द्वारा विश्वामित्र के स्वागत में मिलता है। रामायण और महाभारत के युद्ध-प्रकरण में कुछ अलौकिक या दिव्य अस्त्र-शस्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। इनकी सिद्धि भी तप, तन्त्र, मन्त्र और देवताओं के वरदान के द्वारा होती थी।[4] रावण ने माया के द्वारा सिंह, व्याघ्र, गृध्र, कुत्ते, मुर्गे आदि के समान मुँह वाले बाण बना दिये थे।

अर्थशास्त्र के औपनिषदिक प्रकरण में औषधियों और मन्त्रों के द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के वर्णन मिलते हैं।[5] इसके अनुसार औषधियों के प्रयोग से पखवारे या एक मास तक निराहार रहना, शरीर का रंग बदलना, शरीर को अग्नि में डालना पर दग्ध न होना, अग्नि पर चलना, धूम और अग्नि-राशि को खा लेना, दिन में ५० योजन (४००मील) चलना, पानी पर आग जलाना आदि सम्भव होते

---

१. रत्नावली ४.७।

२. महावग्ग ६.३४।

३. सुरुचि जातक ४८९।

४. विश्वामित्र ने राम को दिव्य अस्त्र प्रदान किये थे, बालकाण्ड २७.४–२०। लंका-युद्ध में इन्द्रजित् ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। युद्धकाण्ड ७३.६६। रावण के रौद्र चाप को राम ने रुद्रमन्त्र से रोक दिया था।

५. अर्थशास्त्र के इन प्रयोगों के पूर्ण विवरण के लिए देखिए—१४वें अधिकार में प्रलम्भन तथा भैषज्य मन्त्र प्रयोग प्रकरण।

हैं। इसी प्रकार के प्रयोगों से नेत्रों में विशेष अंजन लगाकर दिन की भाँति रात्रि में देखने की शक्ति तथा अपने शरीर को अदृश्य बनाने की योग्यता प्राप्त हो सकती थी। पशु-पक्षियों को भो अदृश्य बनाया जा सकता था। विशेष प्रकार की गोलियों के प्रक्षेप-मात्र से किसी स्थान के सभी प्राणी सुलाये जा सकते थे। विशेष प्रकार की शर्करा-वटिका से द्वार को मारने पर वह अपने आप खुलती थी, बैलगाड़ी पर बैठकर उसे उठाया जा सकता था। मन्त्र के पढ़ने मात्र से द्वार खुल सकते थे और सभी लोग बलात् सुलाये जा सकते थे। धनुष तथा युद्ध के अन्य यंत्रों की रस्सी अपने आप टूट सकती थी, यदि विशेष योग से बनाई हुई रस्सी को उसके सम्मुख तोड़ दिया जाय। शत्रु की मूर्ति पर प्रयोग करके उसे अन्धा बनाया जा सकता था। हाथ में मुद्रा लेकर जिस फल की इच्छा की जाती थी, वह आ सकता था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार इन्द्रजाल के नीचे लिखे रूप प्रचलित थे—

मन्त्र-बल से जीभ बाँधना, ठुड्डी को बाँध देना, किसी के हाथ को उलट देना, किसी के कान को बहरा बना देना, दर्पण पर देवता बुला कर प्रश्न पूछना, कुमारी देव-वाहिनी के शरीर पर देवता बुलाकर अपने अभीष्ट प्रश्न पूछना, मुंह से अग्नि निकालना आदि। इनके अतिरिक्त गान्धारी विद्या से बौद्ध भिक्षु एक से अनेक और अनेक से एक हो जाते थे। चिन्तामणि विद्या के द्वारा दूसरों की बात जान लेते थे।[1] बौद्ध भिक्षु ऋद्धि के द्वारा ऐसा करते थे।

किसी वस्तु के टुकडे-टुकड़े करके फिर उसे पूरा दिखाना अथवा उसे जलाकर फिर पूर्ववत् अदग्ध दिखाने का अभ्यास प्रदर्शित किया जाता था। जहाँ कोई वस्तु न हो, वहाँ किसी वस्तु को दिखा देने का अपूर्व कौशल था।[2]

जैन-साहित्य में विविध प्रकार के इन्द्रजाल, माया, अभिचार, मंत्र-योग और वशीकरण के द्वारा अलौकिक सिद्धियों की चर्चा मिलती है। जैन-मतावलम्बी साधुओं में से अनेक इन प्रयोगों में कुशल होते थे और समय-समय पर इनके उपयोग से समाज का लाभ तथा अपना प्रयोजन सिद्ध करते थे। कोई भी रूप धारण कर लेना, आकाशचारी होना, जल पर चलना आदि साधारण सिद्धियाँ थीं। जोणि-पाहुड नामक ग्रन्थों में ऐसी ही अलौकिक सिद्धियों की साधना-विधि दी गई है।[3]

---

१. दीर्घ निकाय १.१ महासील तथा १.११ केवट्टसुत्त

२. कामसूत्र की टीका १.३.१६ पर।

३. विस्तृत विवरण तथा निर्देशन के लिए देखिए *Jain* : Life in Ancient India, P. 226-234.

सूत्रकृतांग में इन्द्रजाल के द्वारा मनोरंजन करते हुए अपनी जीविका कमाने वाले मदारियों के उल्लेख मिलते हैं। उनके प्रदर्शन की रूप-रेखा इस प्रकार थी—पुच्छल तारे गिराना, चन्द्र-सूर्य आदि के मार्ग दिखाना, प्रदाह, मृगचक्र, कौए उड़ाना, धूल उड़ाना, रक्त की वृष्टि करना, मन्त्र के द्वारा दण्ड देने के लिए डण्डा चलाना, किसी व्यक्ति को सुला देना, द्वार खोल देना, किसी को गिरा देना, उठा देना, जँभाई लिवाना, अचल कर देना, चिपका देना, रोगी बना देना, स्वस्थ बना देना, चला देना, अन्तर्धान कर देना आदि। उस समय शाबर, चाण्डाल, द्रविड़, कलिंग, गौड, गान्धार आदि विविध इन्द्रजालों का प्रचलन देश-भेद के अनुरूप था।[1]

परवर्ती युग में तन्त्र की सहायता से कापालिकों के द्वारा इन्द्रजाल-प्रदर्शन के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे तान्त्रिक ग्रन्थ दत्तात्रेय-तन्त्र, इन्द्रजाल-तन्त्र-संग्रह आदि अब भी मिलते हैं। तान्त्रिक प्रयोगों का उपयोग मनोरंजन की दिशा में राज-भवन से लेकर गाँव की कुटिया तक में रहने वाले लोगों के लिये होने लगा था। राजाओं के विवाह रचने में तन्त्राचार्यों के इन्द्रजाल की सहायता प्रायः अभीष्ट होती थी।[2]

सातवीं शताब्दी के ऐन्द्रजालिक पृथ्वी पर चन्द्र, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि, मध्याह्न में सायंकाल, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता तथा सिद्ध-चारण-असुर आदि के सामूहिक नृत्य दिखला सकते थे। सबसे अधिक आश्चर्य तो इन्द्रजाल के द्वारा अन्तःपुर की अग्निदाह का दृश्य दिखलाने में था। इसमें तो वास्तविक अग्निदाह के समान सब कुछ जलता हुआ प्रतीत होता था।[3]

दो पंक्तियों में खड़े लोगों को एक ही वस्तु के दो रूप दिखाने का अभ्यास ऐन्द्रजालिकों को था। यथा, एक पंक्ति के मनुष्य किसी वस्तु को माला देखें तो दूसरी पंक्ति के लोग उसी को सर्प देखें।[4]

दसवीं शताब्दी के साहित्य में स्त्रियों के टोना-टापर का प्रायः उल्लेख मिलता है। वे योगिनी बन कर डाकिनी-मन्त्र सिद्ध करती थीं और वायु में उड़ सकती थीं या अदृश्य हो सकती थीं। वे किसी पुरुष को मंत्र द्वारा ऊँट, बैल या बन्दर बना सकती थीं, या स्वयं घोड़ी बन सकती थीं।[5] योग विद्या के द्वारा बड़ी-बड़ी भित्तियों को तोड़ना, कड़ी बेड़ियों को काटना, देखते ही देखते आँखों के सामने से ओझल हो जाना आदि

---

१. सूयगडंग २.२.२७।

२. रत्नावली, कर्पूरमंजरी एवं दशकुमार-चरित में अवन्तिसुन्दरी-प्रकरण।

३. रत्नावली अंक ४ से।

४. शिशुपाल-वध १६.६४।

५. कथासरित्सागर ७.३.१५३, १६६, १७०।

काम सिद्ध हो सकते थे।[1] संभवतः इस युग में मेस्मरिज्म का प्रचलन हो चुका था। इब्तनदीम ने लिखा है—भारतवासी, तवहहुम की विद्या के बड़े जानकार होते हैं और इस विद्या पर उनकी पुस्तकें हैं, जिनमें से कुछ का अरबी में अनुवाद हुआ है। तवहहुम अरबी भाषा में उस विद्या का नाम है, जिसके द्वारा अपने मन में किसी प्रकार का विचार रखकर (दूसरे को) उसी के अनुसार विश्वास दिलाया जाय और अनुकूल कार्य हो।[2]

कल्हण ने एक द्राविड़ मान्त्रिक की चर्चा की है, जिसने मन्त्र-बल के द्वारा एक सरोवर को सुखा दिया और उसमें मनुष्य के समान मुख वाले साँप दिखाये।[3]

इन्द्रजाल-विद्या के कोविद विविध देशों में राजा का मनोरंजन करते हुए भ्रमण करते थे। वे रस, भाव, रीति तथा व्यवहार में चतुर होते थे। महाराज और अन्तःपुर उसे उत्सुकता से बुलाते थे। वे ब्राह्मण होते थे। वे राजा को आशीर्वाद देते थे। इन्द्रजाल प्रदर्शन के अवसर पर ढोल बजाये जाते थे। गायकी गाती थीं। वे विषैले और विशाल साँपों को प्रगट करते थे, जो विष वमन करते हुए तथा मणि को बाहर फेंक कर प्रकाश करते हुए इधर-उधर विचरण करने लगते थे। गृध्र आते थे और साँपों को लेकर उड़ जाते थे। वे नरसिंह के द्वारा हिरण्यकशिपु के हृदय-विदारण का दृश्य दिखा सकते थे। नायक-नायिका का सम्मिलन कराने में वे विशेष उपयोगी होते थे।[4]

मल्लयुद्ध

सिन्धु-सभ्यता के युग में मनोरंजन के लिए पशुओं के साथ युद्ध करने की रीति थी। इस युग की दो मुद्राओं पर पहलवान चीता जैसे वन्य पशुओं से भिड़े हुए तथा अन्त में उनको पछाड़ते हुए दिखाये गये हैं। उनके हाथों में कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं दिखाई पड़ते।

महाभारतीय मल्ल-युद्ध का सांगोपाङ्ग विवरण भीम और जरासन्ध के प्रकरण में मिलता है। इसके अनुसार युद्ध आरम्भ करने के पहले किसी सम्मान-नीय व्यक्ति के द्वारा योद्धा स्वस्तिवाचन कराते थे। वीर प्रसन्न होकर भिड़ जाते थे। बाहु ही उनके शस्त्र होते थे।[5] प्रारम्भ में कर-ग्रहण तथा पादाभिवन्दन

---

१. कथासरित्सागर २.४.४२।

२. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० १३३ से।

३. राजतरंगिणी ४.५९८।

४. दशकुमारचरित पंचम उच्छास, अवन्तिसुन्दरी-परिणय-प्रकरण।

आदि कार्य-क्रम धार्मिक चारुता और मैत्री के प्रतीक थे। फिर युद्ध आरम्भ होता था। कक्ष से कक्ष टकराते थे, आस्फोट होता था। बाहों से कन्धों पर बार-बार प्रहार किया जाता था। अंगों से अंग गुंथ जाते थे और संघर्ष होता था। चित्रहस्त और कक्ष-बन्ध प्रतिद्वन्द्वी को अशस्त्र करने के लिए दाँव थे। शरीर के प्रायः सभी अंग मल्ल-युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी को गिराने में प्रयुक्त होते। आघात-प्रत्याघात के द्वारा अधिकाधिक घन ध्वनि होती थी। मल्ल गरजते थे। मल्ल-युद्ध देखने के लिए सभी जातियों के स्त्री-पुरुष और बाल-वृद्ध इकट्ठे होते थे। कभी-कभी मल्ल-युद्ध कई दिनों तक चला करता था।[१]

महाभारत-काल में ब्रह्ममहोत्सव में असंख्य मल्ल जनपदों से राजधानी में आ पहुँचते थे। मल्ल महाकाय, महावीर्य तथा सिंह के समान स्कन्ध, कटि और ग्रीवा वाले होते थे। महारंग में मल्लों के युद्ध होते थे। वे रंगशाला में लंगोटा बाँधते थे। वीरों के मल्ल-युद्ध देखकर सभी दर्शकों को पूर्ण सन्तोष हो जाता था। कुछ मल्ल तो प्रतिद्वन्द्वी को हाथों से ऊपर उठाकर स्वयं चक्कर करने लगते थे और गिराकर धरातल पर रगड़ा देते थे। विजयी मल्लों को उपहारस्वरूप धन मिलता था। जब किसी श्रेष्ठ मल्ल से भिड़ने वाला कोई मनुष्य नहीं मिलता था तो उसे व्याघ्र, सिंह और हाथी आदि से लड़ाया जाता था। रानियों के देखने के लिए अन्तःपुर में ही मल्लों को सिंहों से लड़ाने का प्रचलन था।[२] महाभारत में छोटी-छोटी बातों पर भी द्वन्द्व-युद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं। इनमें लोगों का मनोरंजन होता था।[३] जातक साहित्य में भी उपर्युक्त कोटि के मल्ल-युद्ध का सांगोपाङ्ग वर्णन मिलता है।[४] कुछ वीर धन पाने के लिए जनपदों में हाथी और चीतों से लड़ते थे।[५]

जैन साहित्य के अनुसार मल्ल-युद्ध धनी लोगों का प्रिय मनोरंजन था। राजाओं के द्वारा कुछ मल्ल नियुक्त होते थे। वे विजयी मल्लों को पारितोषिक देते थे। प्रतिवर्ष युद्ध-मह में महाभारत के ब्रह्मोत्सव के समान मल्लों को अपनी योग्यता

---

१. सभापर्व २१वें अध्याय से।

२. महाभारत विराटपर्व अध्याय १२ से।

३. आदिपर्व १२६.३०।

४. Pre-Buddhist India, P. 356.

५. ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्मानो हस्तिनं व्यालं वा प्रतियोधयेयुः ते तीक्ष्णाः। अर्थशास्त्र १.१२ से। हिंस्र पशुओं से किसी योद्धा का जो युद्ध होता था, उसका नाम स्पश था।

का परिचय देने का अवसर मिलता था। कुछ मल्ल तो देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए राजमल्लों से युद्ध करते थे। यह उनका दिग्विजय कहा जा सकता है।[१] उज्जयिनी के मल्ल दिग्विजय करते हुए कौशाम्बी तक पहुँचते थे। कुछ मल्ल १००० प्रतिद्वन्द्वियों से एक साथ लड़ सकते थे। उनका नाम सहस्र-मल्ल था।[१] परवर्ती साहित्य में देवयात्रा के अवसर पर दूर-दूर से आये हुए मल्लों के समागम तथा उनके बाहु-युद्ध के उल्लेख मिलते हैं।[२]

पुराण-युगीन मल्ल-युद्ध का वर्णन विष्णु-पुराण तथा भागवत में मिलता है। इसके अनुसार दर्शकों के लिए मंच बनते थे। राजाओं के लिए अलग से राजमंच होते थे। अन्तःपुर की महिलाओं तथा वारांगनाओं के लिए विशेष मंच होते थे। कभी-कभी मल्ल-युद्ध के लिए दो जोड़ एक साथ ही छूटते थे। मल्ल-युद्ध के समय तूर्य का वाद्य बजता था। मल्ल-युद्ध में कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वी की मृत्यु तक भी हो जाती थी। मल्ल-युद्ध के अवसर पर हाथी आदि पशुओं से भी लड़ने का प्रचलन था।[३] भागवत में मल्ल-युद्ध का मनोरंजनात्मक रूप मल्ल-क्रीड़ा-महोत्सव में मिलता है। इस अवसर पर रंग को सजाया जाता था तथा तूर्य और भेरी वादन होता था।[४] वन में गोप नित्य प्रमुदित होकर मल्ल-युद्ध से क्रीड़ा करते आये हैं।[५]

पशुओं के साथ मल्लों के युद्ध का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कभी-कभी पशुओं का पशुओं के साथ मल्ल-युद्ध होता था। ऐसे युद्धों में कभी-कभी पशुओं के स्वामी या अन्य लोग दाँव रखते थे। इस प्रकार के युद्ध जुये के सदृश ही थे।[६] सिन्धु-सभ्यता के लोगों को पशु-पक्षियों को लड़ाने का चाव था। उस समय की मुद्राओं और चित्रों में लड़ते हुए पशु-पक्षियों की भावभंगिमा को अमरता प्रदान की गई है।

जातक युग में भेड़ों और हाथी आदि के परस्पर युद्ध के द्वारा मनोरंजन का प्रचलन था।[७] परवर्ती बौद्ध साहित्य में मनोरंजन के लिये हाथी, घोड़ों, भैंसों,

---

१. *Jain* : Life in Ancient India, P. 240.

२. कथासरित्सागर ५.२.१२१।

३. विष्णुपु० ५.२० से।

४. भागवत १०.४४ से।

५. भागवत १०.४३.३४।

६. प्राणिद्यूतं समाह्वयः अमरकोश।

७. Pre-Buddhist India, P. 356.

साँड़ों, बकरों, भेड़ों, मुर्गों और लाव पक्षी आदि के लड़ाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] जैन साहित्य में मुर्गों और मयूरों की लड़ाई पर सहस्रों मुद्राओं के दाँव रखने का प्रचलन मिलता है। इन पक्षियों का युद्ध देखने के लिये बड़ी भीड़ इकट्ठी होती थी। चम्पा में मोर की लड़ाई में उनके स्वामी को सहस्रों मुद्राओं की आय हुई थी। पशुओं के युद्ध के उल्लेख भी अनेक स्थानों पर मिलते हैं।[2]

चन्द्रगुप्त मौर्य को पशुओं का युद्ध देखने का बड़ा चाव था। वार्षिकोत्सव के अवसर पर उसके देखने के लिये भेंड़ें, साँड़, गैंडे तथा हाथियों के युद्ध का प्रदर्शन प्रस्तुत किया गया। इन युद्धों में लोग बड़े-बड़े दाँव रखते थे। राजा और उसके सरदार समाह्वय में भाग लेते थे।

छठी और सातवीं शताब्दी में ताम्रचूड़-युद्ध का सोत्साह प्रदर्शन होता था। लड़ने वाले कुक्कुटों की दो जातियाँ नारिकेल तथा बलाका थीं। कुक्कुटों के युद्ध में घोर कोलाहल होता था। पक्षी चोंच, सिर और पंखों से लड़ते थे।

प्रघन (दंगल) में मल्लों को पर्याप्त आय होती थी।[3]

वसन्तोत्सव

विभिन्न ऋतुओं की अपनी निजी सुश्रीकता होती है, जिसका प्रतिबिम्ब मानव की प्रवृत्ति और प्रकृति की सृष्टि पर परिलक्षित होता है। नये ऋतु का आरम्भ सर्वत्र नवीनता का संचार करता है। वर्षा के पश्चात् शरद् का आगमन और हेमन्त के पश्चात् वसन्त का नवावतार अतिशय मनोरम होते हैं। वसन्त और शरद् का सुस्वागत नैसर्गिक मानसोल्लास का परिचायक है और सम्भवतः संस्कृति के आदि काल से ही समाज ने किसी न किसी रूप में इनके स्वागत में उत्सव का आयोजन किया होगा।

वैदिक काल में ऋतुओं से सम्बद्ध यज्ञ होते थे, जिन्हें चातुर्मास्य कहा जाता था। इनका आयोजन वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के नवावतार का द्योतक होता था।[4] ऐसे यज्ञों का प्रचलन परवर्ती युग में भी रहा। श्रौत और गृह्यसूत्रों में इनकी विस्तृत व्याख्या मिलती है।

---

१. तेविज्ज सुत्त S. B. E. Vol. XI P. 192; दीघनिकाय १. १.।

२. *Jain :* Life in Ancient India, P. 240.

३. राजतरंगिणी ८. १७०।

४. वाजसनेयि-संहिता तीसरे अध्याय तथा कौषीतकि ब्राह्मण के प्रथम छः अध्यायों में चातुर्मास्य तथा दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का वर्णन मिलता है।

मानव की प्रवृत्तियों को काव्य की परिधि में गुम्फित करने वाले आदिकवि वाल्मीकि ने वसन्त की प्राकृतिक रमणीयता का निदर्शन किया है कि वह काम-मयी वासनाओं को उद्दीपित करती हैं। इस ऋतु में पति-पत्नी की सहचारिता को कवि ने जीवित रहने का प्रयोजन माना है। अन्यथा वसन्ताग्नि से वियोगियों के जल जाने का भय है।[१] कवि ने वन की वायु, जल, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि सब में वह वासन्तिक तरङ्ग देखी है, जो इसे परवर्ती युग में मदनोत्सव की पृष्ठभूमि आकलित करा सकी।

वसन्त-ऋतु के उपर्युक्त प्राकृतिक वातावरण में शृंगारात्मक वासनाओं से सम्बद्ध प्रायः सभी मनोरंजनों को स्थान मिलना स्वाभाविक है। वन-विहार, जल-क्रीड़ा, नृत्य, संगीत आदि का सर्वोत्तम आयोजन इसी ऋतु में मिलता था। संस्कृत के नाटकों की प्रस्तावना देखने से प्रतीत होता है कि वसन्त नाट्याभिनय के लिये अपनाया गया है।[२] वसन्तोत्सव के विधानों में कामार्चन का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। साधारणतः स्त्रियाँ आम्रमंजरी को तोड़ कर धनुर्धर कामदेव के लिये समर्पित कर देती थीं। यह उत्सव दो-चार क्षणों में समाप्त हो जाता था।[३] इस ऋतु में स्त्रियाँ अपने प्रियतम के साथ ऋतूत्सव मनाते हुए दोला झूलती थीं।[४] राजाओं के अन्तःपुर की रमणियों का कामार्चन धूमधाम से मनाया जाता था। राजधानी के नागरिकों के काम-महोत्सव को देखने के लिए राजा प्रासाद के शिखर पर विराज-मान होता था। नागरिकों का सामूहिक चर्चरी-संगीत होता था। इस संगीत की संगति मृदंग-वाद्य से होती थी। राजा स्वयं वसन्तोत्सव के योग्य वेश धारण करता था। सड़कों पर नर-नारी वासन्तिक सौरभ में उन्मत्त होकर नृत्य और संगीत का आनन्द लेते थे। पुटवास चूर्ण उड़ाये जाने से सभी दिशायें पीली पड़ जाती थीं। वारांगनायें इस अवसर पर सार्वजनिक मनोविनोद का साधन बन जाती थीं, जब वे सरस नागरिकों की पिचकारी के जल का लक्ष्य बनती थीं। राजा का विदूषक भी अन्तःपुर की चेटियों के साथ नाचने-गाने में संलग्न हो जाता था।[५]

---

१. किष्किन्धा का० १-१०; १.३०–३१।

२. मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना देखिए—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति

३. अभिज्ञानशाकुन्तल के छठे अंक से।

४. रघुवंश ९.५६।

५. रत्नावली के प्रथम अंक से।

महारानी स्वयं भगवान् कुसुमायुध की पूजा करती थीं। इसके लिये मकरन्दोद्यान में रक्ताशोक के नीचे कामदेव के चित्र की संस्थापना की जाती थी। इस अवसर पर पूजा के उपकरण कुसुम, कुंकुम, चन्दन तथा वस्त्र होते थे। कुमारी कन्यायें कामार्चन करते हुए कहती थीं—'भगवन् कुसुमायुध नमस्ते। मेरे लिए शुभदर्शन बनो, मेरे लिए अमोघ-दर्शन बनो।' विवाहिता स्त्रियाँ काम की पूजा कर लेने के पश्चात् अपने पति की पूजा करती थीं। अन्त में कोई ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करता था और उसे विलेपन, कुसुम तथा आभरण दान में मिलते थे।[1]

वसन्तोत्सव में परिहास-पूर्ण आयोजन होते थे। बाण ने एक ऐसे आयोजन का वर्णन कादम्बरी में किया है, जिसके अनुसार एक बूढ़े मूर्ख धार्मिक का विवाह किसी बुढ़िया से टूटी खटिया पर करा दिया जाता है।[2]

काम-महोत्सव के सार्वजनिक रूप का वर्णन मालती-माधव में मिलता है। इसके अनुसार मदनोद्यान में कामदेव का मन्दिर महोत्सव का प्रधान केन्द्र होता था। यहीं नगर के सभी नर-नारी एकत्र होकर कामदेव की पूजा करते थे। इस अवसर पर पुष्पावचय, मालागुम्फन, नृत्य-संगीत आदि के द्वारा मनोविनोद होता था। सभी लोग पुटवास बिखेरते थे। उच्च कुल की कुमारी कन्यायें भी कामदेव की पूजा करने के लिये आती थीं। यह उत्सव दिन भर चलता था।

पौराणिक युग में मदनोत्सव को धार्मिक स्वरूप मिला। इसके अनुसार चैत्रशुक्ल द्वादशी के दिन संयतेन्द्रिय होकर केले के पत्ते में काम का तथा शर्करा में रति का आवाहन करके इनको मांगलिक द्रव्य से पूर्ण कलश के ऊपर स्थापित किया जाता था। कलश की पूजा की जाती थी और अन्त में नृत्य तथा गायन का प्रबन्ध होता था। साधारणतः विष्णु और कामदेव की कथा कही-सुनी जाती थी। दूसरे दिन प्रातःकाल कामना की जाती थी—'विश्व के समस्त प्राणियों के मन में आनन्दस्वरूप होकर विराजमान कामरूपी जनार्दन हमारे अनुष्ठान से प्रसन्न हों।' धार्मिक विचार-धारा के अनुसार मदन-द्वादशी का व्रत रखने वाला पापों से मुक्त होकर विष्णुमय हो जाता है तथा श्रेष्ठ पुत्र पाता है।[3] फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन जो अग्नि का प्रदाह होता है, वह कुछ पुराणों के मतानुसार कामदेव का दाह है।[4] चैत्र महोत्सव सार्वजनिक आनन्द के लिए होता था।[5]

---

१ रत्नावली के प्रथम अंक से।

२ कादम्बरी, पृ० २२७।

३ मत्स्यपुराण अध्याय ७ से।

४ नारदपुराण पूर्णिमाव्रत-प्रकरण से। ५ राजतरंगिणी ७.१२८।

कौमुदी-महोत्सव

कौमुदी-महोत्सव भी वसन्तोत्सव के समान ऋतु का राष्ट्रीय उत्सव था और सुदूर प्राचीनकाल से भारतीय समाज में प्रचलित रहा है।[१] जातक काल में इस उत्सव के लिये सारे नगर को सजाया जाता था और धनी एवं निर्धन सभी समान रूप से इसमें भाग लेते थे। प्रायः पति और पत्नी सर्वोत्तम वस्त्र और प्रसाधन से, अलंकृत होकर गले से लग कर कौमुदी का आनन्द लेते हुए विचरण करते थे।[२] वट्टक जातक की वर्तमान कथा में कौमुदी-महोत्सव का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार राजधानी में कार्त्तिक महोत्सव सप्ताह भर चलता था। ऐश्वर्यशाली व्यक्ति रमणी-विहीन होने पर वेश्याओं को किराये पर पत्नी की भाँति रख लेते थे। कौमुदी-महोत्सव में राजा सज-धज कर नगर-यात्रा में निकलता था। कार्त्तिक की पूर्णिमा की भाँति आश्विन की पूर्णिमा की रात्रि में भी सार्वजनिक उत्सव होता था। जैन-साहित्य के अनुसार कार्त्तिक मास की पूर्णिमा की रात्रि में सन्ध्या होते ही दम्पती घर से निकल पड़ते थे और रात भर कौमुदी-महोत्सव का आनन्द लेते थे।[३] पौराणिक युग में आश्विन की पूर्णिमा के दिन लक्ष्मी की पूजा का धार्मिक विधान मिलता है। इसमें दिन भर संयत रहने के पश्चात् नागरिक सन्ध्या के समय चन्द्रोदय होने पर सोने, चाँदी अथवा मिट्टी के बने एक सौ दीपक जलाता था तथा घृत और शर्करा समायुक्त खीर को चाँदनी में अनेक पात्रों में रखकर प्रहर भर प्रतीक्षा करता था। अन्त में उसी खीर से लक्ष्मी की पूजा होती थी। इस अवसर पर मांगलिक संगीत का आयोजन होता था। लोगों का विश्वास था कि उस रात्रि को लक्ष्मी निशीथ में विचरण करती हुई देखती है कि कौन हमारी पूजा कर रहा है और उसे ऐश्वर्य प्रदान करती हैं।[४] रामायण के अनुसार आश्विन की पूर्णिमा के दिन इन्द्र-महोत्सव का समारम्भ होता था।[५] प्रायः सभी पूर्णिमायें प्राकृतिक रमणीयता की अतिशयता का द्योतक होने के कारण सदा ही मनोरंजन प्रस्तुत करती आ रही हैं।[६]

---

१. महाभारत आदिपर्व २११.१–१५ के अनुसार वृष्णि और अन्धकों का रैवतक पर्वत पर ऐसा ही उत्सव हुआ था।

२. पुप्फरत्तजातक १४६।

३. *Jain*: Life in Ancient India, P. 238.

४. नारदपुराण में पूर्णिमाव्रत विभाग से।

५. सुन्दरकाण्ड १६.३६।

६. रघुवंश ११.८२।

नागरिकों के कौमुदी-महोत्सव यात्रा की रूप-रेखा मुद्राराक्षस के अनुसार कुछ इस प्रकार की सदा रही होगी—

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यः,
नालंकुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रपातैः।
अन्योऽन्यं स्पर्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशंकाः।
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौर मुख्याः ॥३.१०॥

यज्ञोत्सव एवं देवोत्सव

देवताओं की पूजा का प्रचलन भारत में सुदूर प्राचीन काल से रहा है। सिन्धु-सभ्यता के युग में मातृदेवी तथा शिव की पूजा के अनेक प्रतीक मिलते हैं। तत्कालीन धार्मिक विधियों में नृत्य और वाद्य को स्थान मिला था। वैदिक काल में देवताओं के संवर्धन और सन्तोष के लिये यज्ञ का प्रचलन हुआ। यज्ञ के अवसर पर अनेक प्रकार के ऐसे आयोजन होते थे, जो प्रमुख रूप से मनोरंजन के लिये अपनाये गये होंगे। रथ-धावन का मनोविनोद वाजपेय-यज्ञ के अवसर पर होता था। इस यज्ञ में यजमान का रथ दौड़ाना और रथ-धावन की प्रतियोगिता में सर्वप्रथम होना प्रमुख विधि थी।[1] अश्वमेध के अवसर पर ब्रह्मोद्य सुनाने वाले गायक कवियों में प्रतियोगिता होती थी।[2] यज्ञों में कथायें भी सुनाई जाती थीं। शुनः शेप की कथा को राजसूय-यज्ञ में स्थान मिलता था। पूरे वर्ष तक नित्य सुनाई जाने वाली कथा-माला का नाम परिप्लव था।[3] यज्ञों में पुरोहितों के गाथा-गायन की संगति वीणा-वाद्य से होती थी। यजमान राजा युद्ध का अभिनय भी करते थे। द्यूत की प्रतियोगिता में यजमान को हारना पड़ता था।[4] परवर्ती युग में रामायण और महाभारत आदि के उल्लेखानुसार यज्ञ के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिए कथा, नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन विशेष रूप से होने लगा था।[5]

ऋग्वेद के उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि संगीतमयी स्तुतियों से देवता प्रसन्न होते थे। संभव है, उपर्युक्त मनोरंजन का आयोजन प्रारम्भ में यज्ञ में भाग लेने वालों के विनोद के लिए रहा हो, पर कालान्तर में वह यज्ञ का

---

१. Vedic Index में वाजपेय।
२. वही अश्वमेध।
३. वही परिप्लव।
४. वही अक्ष।
५. भागवत १०.७५.१०, १४, १५।

आवश्यक अंग बन गया और लोगों की धारणा हो गई कि जिस प्रकार मानव का विनोद नृत्य, संगीत, वाद्य आदि से होता है, उसी प्रकार देवताओं के विनोद के लिये भी इनका आयोजन होना ही चाहिए। यही धारणा आगे चलकर धार्मिक क्षेत्र में नृत्य, संगीत आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का कारण बनी। देवताओं की आराधना का एक रूप ही था नाट्याभिनय, जिसका स्थान देवालय था।

परवर्ती युग में देवताओं से सम्बद्ध उत्सवों का एक नया स्वरूप मिलता है, जिसमें यज्ञ का स्थान पूजा ने लिया और मनोविनोद को प्रधानता प्राप्त हुई। ऐसे उत्सवों में इन्द्र-महोत्सव की सर्वाधिक प्रतिष्ठा रही। महाभारत का इन्द्र-महोत्सव राजा उपरिचर के द्वारा प्रवर्तित हुआ। इसमें एक यष्टि भूमि में गाड़ी जाती थी, जिसे इन्द्र की यष्टि कहा जाता था और उसे वस्त्र, गन्ध, माला और अलंकारों से सजाया जाता था। उसी यष्टि के समीप हंस-रूप में भगवान् इन्द्र की पूजा होती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार जिस राज्य में इस पूजा का समारम्भ होता था वहाँ श्री और विजय का विलास सम्भव था। वह जनपद अभ्युदयशील एवं प्रमुदित रहता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार इन्द्र-महोत्सव का आयोजन करने वाले लोग स्वयं पूज्य बन जाते हैं।[1] रामायण के अनुसार इन्द्र का झंडा गाड़कर कई दिन तक उत्सव होता था। वह झंडा आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन गिरा दिया जाता था।[2]

जैन साहित्य के अनुसार इन्द्र की ध्वजा बड़ी धूम-धाम के साथ खड़ी की जाती थी। झंडे की श्वेत पताकायें घंटियों, मनोरम मालाओं, हार, रत्नावली तथा पुष्प-भार से अलंकृत होती थीं। इसके पश्चात् विविध मनोरंजन—नर्तकियों का नृत्य, लोक-नृत्य, काव्य-गायन, अद्‌भुत व्यायाम, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन होता था और ताम्बूल वितरण होता था। कपूर और केसर मिश्रित जल छिड़का जाता था। इस प्रकार का उत्सव सात दिन चलता था। पूर्णिमा के दिन राजा यथाविधि ध्वजा की पूजा करता था। नगर की कुमारी कन्यायें एकत्र बलि, पुष्प और धूपपात्र हाथ में लेकर सामूहिक रूप से इन्द्र से अपने सौभाग्य के लिये प्रार्थना करती थीं।[3]

---

१. आदिपर्व ६३.१७–२६। परवर्ती युग में नाट्याभिनय के आरम्भ में इन्द्र-दण्ड जर्जर का नमस्कार उपर्युक्त विधान के अनुरूप है।

२. किष्किन्धा काण्ड १६.३७।

३. *Jain* : Life in Ancient India, P. 216-217.

पौराणिक युग में शरद् ऋतु में पुर और ग्रामों में इन्द्र-महोत्सव होता था।[1] श्रीकृष्ण ने मथुराप्रदेश के गोपों में इन्द्र-महोत्सव के स्थान पर गोवर्धन पूजा की प्रतिष्ठा की, जिसका प्रचार आज भी है।[2] इन्द्र के उत्सव के समान कुछ अन्य देवताओं के उत्सव होते थे, जिनमें से स्कन्दोत्सव, नागोत्सव, मुकुन्दोत्सव आदि प्रमुख हैं। कुछ देवताओं के उत्सवों में देवमूर्ति को रथ में प्रतिष्ठित करके रथ-यात्रा का आयोजन किया जाता था।[3]

अशोक ने जिस धर्म-यात्रा का प्रवर्तन किया, संभवत: उसी का विकसित रूप परवर्ती युग की रथ-यात्रायें हैं।[4] पांचवीं शती ईसवी में फाह्यान ने पाटलिपुत्र की तत्कालीन रथ-यात्रा का वर्णन किया है। रथ-यात्रा के लिये चार पहिये के बीस बड़े रथ बनाये जाते थे, जो २० हाथ ऊँचे स्तूप के आकार के होते थे। ऊपर से श्वेत और चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता था। पूरा रथ विविध रंगों में रंगा जाता था। इस रथ में स्वर्ण, रजत और मणि-निर्मित देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती थीं। ध्वजा रेशम की बनाई जाती थी। चारों कोनों में कलंगी खोंसी जाती थी। रथ के केन्द्र भाग में बुद्ध की मूर्त्ति होती थी और चारों ओर बोधिसत्त्व बनाये जाते थे। रथ-यात्रा के दिन भिक्षुओं और गृहस्थों का समुदाय इकट्ठा होता था। संगीत और वाद्य का आयोजन होता था। बुद्ध की पूजा पुष्प और गन्ध से होती थी। रथ नगर की सड़कों पर परिभ्रमण करते थे। समृद्धिशाली लोग नगर में, सदाव्रत और औषधालय स्थापित करते थे। देश के निर्धन, अपांग, अनाथ, विधवा, नि:सन्तान, लूले, लंगड़े और रोगी लोगों को सब प्रकार की सहायता मिलती थी और वैद्य रोगों की चिकित्सा करते थे।[5]

---

१. भागवत १०.२०.४८।

२. वही १०.२४।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए। *Jain :* Life in Ancient India, P. 217-223.

४. अशोक ने अपने आठवें शिलालेख में लिखवाया है—सुदूर प्राचीन काल से राजा विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। विहार-यात्रा में मृगया तथा इस प्रकार के अन्य मनोविनोद होते थे। अभिषेक के दश वर्ष के पश्चात् अशोक को जो संबोधि प्राप्त हुई, उसी के अनुसार यह धर्म-यात्रा है। धर्म-यात्रा में श्रमण-ब्राह्मणों का दर्शन, दान, वृद्धों का दर्शन, जनपद के लोगों से मिलना, उन्हें उपदेश देना, धर्म-विषयक विचारणा आदि होते हैं। राजा इसमें बारंबार आनन्द लेते हैं।

५. फाहियान के यात्रा-वर्णन से।

कश्मीर में इन्द्र-द्वादशी का महोत्सव होता था। इन्द्रध्वज-महोत्सव भाद्र-शुक्ल द्वादशी के दिन सम्पन्न होता था।[1]

पार्वणोत्सव

प्राचीन भारत में अनेक उत्सवों का सम्बन्ध अभ्युदयात्मक तिथियों से था। आश्विन या कार्तिक के प्रथम दिन यक्ष-रात्रि का उत्सव होता था। इसमें यक्ष भी अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं—ऐसी धारणा थी। इसमें लोग जुआ खेलते थे। आजकल की दीवाली उसके समकक्ष है। आश्विन की पूर्णिमा के दिन कौमुदी-जागर में दोला और द्यूत का समारम्भ प्रधान था।

कुछ पार्वण उत्सव किन्हीं देश-विशेष में सीमित से थे। सहकारभंजिका नामक उत्सव मगध में विशेष प्रचलित था। इसमें सहकार के फलों को तोड़ा जाता था। किसान लोग अभ्यूषखादिका में चना-जौ आदि का होला खाने का आयोजन करते हैं। जलाशयों के निकटवर्ती लोग विसखादिका के उत्सव में मृणाल का रसास्वादन करते थे। नवपत्रिका में प्रथम वर्षा से उत्पन्न नवपत्रवती वनस्थली में क्रीडायें की जाती थीं। प्रायः मध्यप्रदेश के आटविकों के बीच उदकपूर्णा क्ष्वेडिका सम्पन्न होती थी। यही श्रृंगक्रीडा आजकल की होली के समकक्ष है। मिथिला में पांचालानुपान नामक पुत्तलिका क्रीडा होती थी। विदर्भ में शाल्मलि-वृक्ष के नीचे बैठकर लोग उसके फूलों से विविध आभरण बनाकर क्रीडा करते थे। पश्चिमी देशों में वैशाख शुक्ल-चतुर्थी के दिन सुगन्धित यव-चूर्ण एक दूसरे पर फेंक कर नायक क्रीडा करते थे। श्रावणशुक्ल तृतीया के दिन हिन्दोल-क्रीडा होती थी। मदनोत्सव में कामदेव की प्रतिमा की पूजा की जाती थी। अन्य क्रीडायें दमन-भंजिका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, चूतलतिका इक्षु-भंजिका, नव-पत्रिका कदम्ब-युद्ध आदि होते थे। इनमें से मदनोसत्व चैत्र शुक्ल-चतुर्दशी के दिन, दमनकावतंसन चैत्र शुक्ल-द्वादशी के दिन तथा अशोकोत्तंसिका चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन सम्पन्न होती थीं। नवपत्रिका में वृक्षों का पांचालानुपान में पुतलियों का विवाह किया जाता था। अशोकोत्तंसिका में अशोक के पुष्प से शिरोभूषण बनाये जाते थे। चूत-लतिका में आम के पल्लवों से अलंकार बनाये जाते थे। इक्षु-भंजिका में गड़ेरी के गहने बना दिये जाते थे।[2]

दीपावली के पश्चात् प्रतिपदा को राजाओं की अध्यक्षता में यष्टिकाकर्षण महो-

---

१. राजतरंगिणी ८.४९५।

२. कामसूत्र १.४.४२ पर टीका।

त्सव होता था। इसमें एक ओर सभी राजकुमार और दूसरी छोर पर अन्य बालक मिलकर रस्सा खींचते थे। पीछे एक रेखा खींच दी जाती थी, जहाँ पहुँचने पर हार-जीत का निर्णय होता था।[1]

बालक्रीडा

सिन्धु-सभ्यता के युग में बालकों के मनोविनोद के लिये बने हुए विविध प्रकार के असंख्य खिलौने मिट्टी के बने हुए मिलते हैं। ऐसे खिलौनों में चल-सिर वाला बैल है, जिसका सिर रस्सी की गति के अनुकूल हिलता है। मिट्टी का बना बन्दर रस्सी के सहारे नीचे खिसकता है और रस्सी को कस देते ही स्थित लटका रहता है। उस समय मिट्टी की बनी बैल-गाड़ियाँ बच्चों को मनोरंजन प्रस्तुत करती थीं। मिट्टी की सीटी बनती थी। सीटी का आकार मुर्गी या अन्य पक्षियों के समान होता था। उचित ढंग से फूंकने पर सीटियों से विभिन्न प्रकार की मधुर ध्वनि निकलती है। चिड़ियों की मूर्त्तियों की टाँगें लकड़ी की बनाई जाती थीं। कुछ चिड़ियों की चोंचें खुली हुई हैं और वे पिजड़ों में बन्द हैं। सम्भवत: वे गाती हुई दिखाई गई हैं। एक पिंजड़े में बुलबुल-पक्षी मिला है। पिंजड़ों की आकृति ओखल या नाशपाती के समान है। हाथी की मूर्ति को दबाने से विचित्र शब्द होता है। एक पशु की मूर्त्ति के सींग और सिर तो पशुवत् हैं पर पूंछ चिड़िया के समान है। इसके दोनों ओर छेद बने हुए हैं। यह लकड़ी या रस्सी के सहारे झुलाया जाता था। बच्चों के झुनझुनों में एक से तीन तक दाने पड़ते थे। मनुष्यों और बौनों की मूर्त्तियाँ भी मनोरंजन का साधन बनती थीं। जिन पशु-पक्षियों से बच्चों का मनोविनोद होता था और परिणामत: जिनके चित्र और मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें से मुख्य गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, तोते, भालू, बिल्ली, मोर, नेवले, बतख, उल्लू इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी खिलौने मिले हैं, जिनके प्रतिरूप आधुनिक युग में प्रचलित नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में इनको कोई नाम नहीं दिया जा सका है। खिलौनों की अतिशय लोकप्रियता का परिचय उनकी संख्या से मिलता है। अवश्य ही कुछ व्यावसायिक लोग उत्तम कोटि के खिलौने बनाते थे, पर बच्चे स्वयं भी अपने लिये साधारण कोटि के खिलौने बनाकर उन्हें आग में पका लेते थे।

जातक-साहित्य के अनुसार बालक धूलि के पर्वत बनाते थे। कन्यायें चालन से बालू चालती थीं। बालक बछड़ों की पीठ पर चढ़ते थे। वे गाँव के द्वार के

---

१. स्कन्दपुराण कार्तिक माहात्म्य १०.६४-६९।

निकट के वट-वृक्ष की छाया में बैठकर खेला करते थे।[१] वाराणसी के बच्चों का मनोविनोद कभी-कभी एक कुबड़ा करता था। वह कंकड़ फेंकने की कला में चतुर था। वाराणसी-द्वार के वट-वृक्ष के नीचे बैठकर वह कौड़ी फेंककर पत्तों को छेदता था और इस प्रकार हाथी-घोड़े आदि की आकृति बनाता था।[२] राजकुमारों के मनोविनोद के लिए पशु-पक्षी पालने के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे पशुपक्षियों में शुक और वानरों का परिगणन किया गया है।[३]

महाभारत के अनुसार पक्षियों को सूत्र से बाँध कर उड़ाना बालकों की क्रीड़ा के लिए होता होगा।[४] बालक तृण का सर्प बनाकर एक दूसरे को डराते थे।[५] खेलने के लिए बौने के आकार के खिलौने बनाने का उल्लेख मिलता है।[६] पहली शती ईसवी के कवि अश्वघोष ने लिखा है कि गौतम बुद्ध को शैशवावस्था में खेलने के लिए सोने के बने हुए हाथी, मृग, घोड़े, बछड़े जुते रथ तथा सोने-चाँदी की बनी हुई रंग-विरंगी पुतलियाँ दी गईं।[७]

चौथी शती के शिशुओं के मनोविनोद का परिचय कालिदास की रचनाओं से मिलता है। इसके अनुसार नदी-तट की कन्याओं का एक खेल था बालू में मणि को छिपा कर उसे ढूंढ़ना।[८]

अभिज्ञानशाकुन्तल में कुमार भरत के सिंहशावक से क्रीडा करने का वर्णन मिलता है। वह सिंह-शावक के दाँत गिनता था। यह मनोरंजन ऋषिकुमारों तक ही सीमित होगा। इसी नाटक के अनुसार भरत मिट्टी के बने मयूर से खेलता था। मिट्टी के मयूर अनेक रंगों में रंगे होते थे। कन्यायें बालू की वेदिकाओं से, कन्दुक से और पुतलियों से खेलती थीं।[९] बाल-मनोरंजन की गाड़ियों में बैल, बकरे अथवा

---

१. Pre-Buddhist India, P. 266.

२. सालित्त जातक १०७।

३. कालबाहुक जातक ३२९।

४. विराटपर्व १२.४।

५. आदिपर्व ११.२।

६. केलिसील जातक की वर्तमान कथा।

७. बुद्धचरित २.२२।

८. उत्तरमेघ ६।

९. कुमारसंभव १.२९।

हरिण जुते होते थे।[1] मनु ने काठ के हाथी और चर्म के बने मृग का उल्लेख किया है।[2] सम्भवतः ये दोनों बाल-क्रीडा के लिए रहे हों।

भागवत में गोपाल कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के प्रसंग में बहुविधि बाल-क्रीडा का चित्रण मिलता है। बालक मनोरम वनों में विशेष लीलाओं का आयोंजन करते थे। इसके लिए वे वेणु, वंशी आदि बाजे ले जाते थे। वे स्वरुचि से नये-नये पत्तों, मोरपंख के गुच्छों, पुष्पमालाओं और गेरू आदि रंगों से शरीर को अलंकृत कर लेते थे। फिर तो वहाँ पर नृत्य, गीत और युद्ध का समारम्भ होता था। स्वयं कृष्ण भी नाचते थे। उनके नृत्य की संगति गीत, वाद्य, वेणु और शृंग-ध्वनि तथा हथेली के ताल से होती थी। कुछ बालक साथ ही प्रशंसा करते जाते थे। कृष्ण और बलराम की क्रीडाओं में भ्रामण (घुमरी-परेता), लंघन, क्षेप (ढेला फेंकना), आस्फोटन (ताल ठोकना), विकर्षण (रस्सी खींचना) आदि प्रमुख थे। बालक एक दूसरे के ऊपर बेल, कुम्भ तथा आमलक फेंकने की क्रीडा करते थे, आंखमिचौनी खेलते थे या पशु-पक्षी की भाँति चलते-फिरते थे। उनका मेढकों की भाँति उचकना, उपहास करना, झूला झूलना और राजा की चेष्टाओं का अनुकरण करना आदि विनोद के अन्य साधन थे। बालकों के मनोरंजन के स्थानों में प्रकृति की अतिशय रमणीयता होती थी। वे नदी, पर्वत और वन-कुंजों में खेला करते थे। कुछ क्रीड़ाओं में बालक दो समूहों में विभक्त होकर वाह्यवाहक खेलते थे। इसमें विजयी वर्ग के बालकों को पराजित वर्ग के बालक पीठ पर ढोकर निर्दिष्ट स्थान तक ले जाते थे।[3] गोपाल-बालकों की वन-क्रीडा का सरस स्वरूप भागवत में कई स्थानों पर मिलता है। कोई बालक वन में किसी दूसरे बालक का छीका आदि चुरा लेता था और ज्ञात होने पर किसी अन्य बालक को दे देता था। इस प्रकार वह वस्तु तीसरे, चौथे और पाँचवें बालक के हाथ पहुँचती थी। इस प्रक्रिया में सभी हँसते थे और अन्त में वह वस्तु लौटा दी जाती थी। कृष्ण के कहीं दूर दिखाई देने पर अहमहमिकया सभी बालक उन्हें सर्वप्रथम छूने के लिए दौड़ते थे। भौंरों के साथ गुनगुनाना तथा कोकिल के स्वर में स्वर मिला कर कू-कू करना उनके मनोरंजन के लिए होते थे। उड़ते हुए पक्षियों की छाया के साथ दौड़ना, हंसों की गति में गति मिलाकर चलना, बगुले के समान बैठना, मोर के साथ नाचना, पेड़ पर चढ़ते हुये वानरों की पूंछ पकड़ कर खींचना,

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक S. B. E. पृ० ७४।

२. मनुस्मृति २.१५७।

३. भागवत १०.१८ से।

उनके साथ एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चढ़ना, पानी में मेढकों के साथ छपकते हुये तैरना, अपनी परछाई पर विहंसना, प्रतिध्वनि की हंसी उड़ाना आदि बहुरूपिणी क्रीडायें प्रचलित थीं।[१]

बालकों का जीवन आरम्भ से अतिशय मनोरम होता है। नन्हें बच्चों के पैर में बंधे हुए घुंघरू की ध्वनि से उनका मनोरंजन होता है। ढेलवाँस से वे फेंकने का आनन्द लेते हैं। गाय-बैल की मूर्तियों में रस पाते हैं। वे स्वयं ही साँड-बन कर हुँकड़ते हुए परस्पर लड़ जाते हैं या पशु-पक्षियों की बोली बोलते हैं।[२] बड़ों-बूढ़ों का अभिनय करते हुए बालक सेतुबन्ध की रचना करते हैं।[३] कन्याओं की क्रीडायें प्रायः बालकों से भिन्न रहीं हैं। कन्दुक क्रीडा कन्याओं के लिये विशेष रूप से रही है। जातक-साहित्य के अनुसार गेंद सुचित्रित होते थे।[४] कन्याओं की कुछ क्रीडाओं का वर्णन कामसूत्र में मिलता है। कन्याओं को माला, मिट्टी और लकड़ी के छोटे घर आदि बनाने में गुड़ियों के साथ खेलने में तथा मिट्टी को ही चावल-दाल आदि मानकर भोजन पकाने में अतिशय आनन्द मिलता था। उनकी हार-जीत की अन्य क्रीडायें जुआ या पत्तों से होती थीं या वे मुष्टिद्यूत खेलतीं थीं। हाथ की मध्य अंगुली का पकड़ लेना या छः कंकडों से खेलना आदि भी प्रचलित था। कन्यायें सामूहिक रूप से शारीरिक व्यायाम के लिए क्ष्वेडितक खेलती थीं, जिनमें आँखमिचौली, एक दूसरे के पसारे हुए हाथ को पकड़ कर चक्कर काटते हुए दौड़ना आदि होता था।[५] कालिदास ने कन्याओं के प्रायः गेंद खेलने का उल्लेख किया है।[६]

परवर्ती युग के लेखक बाण ने राजकुल की कन्याओं के कन्दुक और पंचालिका (गुड़िया) से खेलने का उल्लेख किया है।[७] कुमारियों की कन्दुक-क्रीडा का सांगोपांग वर्णन दण्डी ने किया है। कन्दुकावती विन्ध्यवासिनी देवी की आराधना कन्दुक विहार से करती थी। यह दृश्य सार्वजनिक मनोरंजन के लिए होता था।

---

१. भागवत १०.१.२; १०.१५.१०–१७ से।
२. वही १०.११.३९–४०।
३. वही १०.११.५९।
४. Pre-Buddhist India, P. 354.
५. विशेष विवरण के लिए देखिए वात्स्यायन का कामसूत्र।
६. मालविकाग्निमित्र चतुर्थ अंक में।
७. कादम्बरी, पृ० ८९ से।

कन्दुक विहार के साथ नृत्य करते हुए शरीर के सभी अंगों का व्यायाम हो जाता था।[1] कुमारियों की नृत्यमयी कन्दुक-क्रीडा का उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है।[2]

विविध मनोरंजन

ऊपर जिन मनोरंजनों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अन्य मनोरंजन समय-समय पर मनोविनोद के लिए अपनाये गये हैं। इनमें से कुछ युग-विशेष में तथा शेष देश-विशेष में अधिक प्रचलित रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये विविध मनोरंजन की कोटि में आने वाले मनोविनोद भी प्रायः सदा ही थोड़े-बहुत प्रचलन में रहे हैं।

वैदिक काल से घुड़दौड़ (आजि) लोकप्रिय मनोरंजन रहा है। घुड़दौड़ के मार्ग का नाम काष्ठा या आजि था। काष्मं वह स्थान था, जहाँ तक दौड़कर घोड़े लौट पड़ते थे। दौड़ का मार्ग अर्ध-वृत्ताकार होता था। आजि चौड़ी होती थी और इसकी लम्बाई और चौड़ाई का परिमाण नियत होता था। जीतने वाले घुड़सवारों को पारितोषिक मिलता था। आजि का आयोजन करने वाला व्यक्ति आजिपति कहा जाता था। घुड़दौड़ के घोड़ों का विशेष नाम वाजी या अत्य था। राजसूय यज्ञ में भी घुड़दौड़ होती थीं।[3] घुड़दौड़ के समकक्ष रथ-धावन का मनोविनोद रूप में वैदिक काल में प्रचलन था। वाजपेय यज्ञ के अवसर पर रथ-धावन की प्रतियोगिता में यजमान को सर्वप्रथम होना पड़ता था।[4]

वैदिक काल से धनी-निर्धन सबके मनोरंजन के लिए झूला झूलना मनोरंजन का साधन रहा है। वैदिक साहित्य में झूले का नाम प्रेङ्खा मिलता है। प्रेङ्खा का आयोजन महाव्रत-विधान में होता था।[5] जातक साहित्य के अनुसार राजा भी झूला झूलकर मन बहलाते थे। जातक-काल में 'सुरानक्षत्र' उत्सव होता था। इस उत्सव के लिए विशेष मण्डप बनाये जाते थे। उस दिन लोग छककर सुरा

---

१. दशकुमारचरित षष्ठोच्छ्वास से।

२. भागवत ३.२०.३५–३६।

३. वैदिक इण्डेक्स में आजि प्रकरण से। तै० सं० १.८.१५ काठक १५.८।

४. वही वाजपेय-प्रकरण से।

५. वही महाव्रत-प्रकरण से।

पीते थे।[१] बौद्धसाहित्य में तत्कालीन प्रचलित अनेक क्रीडाओं का परिगणन मिलता है। इनके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलते। क्रीडाओं की बहुरूपता का परिचय उनके नाम-मात्र से होता है। पुष्पावचय करके उनके विविध प्रकार के अलंकार बनाना, उनको कुमारियों के पास भेजना, आठ या दस गोटों से खेलना, रेखायें खींचकर उनपर कूदना, किसी राशि में रखी हुई वस्तुओं में से एक वस्तु को इस प्रकार उठा लेना कि शेष वस्तु न हिले, बनावटी हल से जोतने में प्रतियोगिता करना, लुढ़कन, कृत्रिम वायु-चक्की बनाना, माप की कल्पना करना, रथ-धावन, शर-सन्धान की प्रतियोगिता, मर्मरोत्पल को अँगुली से मारकर लक्ष्य तक पहुँचाना, दूसरों के विचार समझना, दूसरों के कामों का अभिनय करना, हाथी और घोड़े की सवारी करना, गाड़ी हाँकना, तलवार चलाना, चलते हुए घोड़े और रथ या हाथी के सामने इधर से उधर दौड़कर निकल जाना, क्रोध का अभिनय करना, हाथ पीसना, मुक्का मारना आदि विनयपिटक में कुछ बिगड़े हुये भिक्षुओं के मनोविनोद गिनाये गये हैं।[२] इन्हीं का उल्लेख तेविज्ज सुत्त में भी मिलता है।

नगर में उत्सव घोषित होने पर सँपेरे तमाशा दिखाने के लिए नगर में जा पहुँचते थे। सँपेरे बानर भी साथ रखते थे।[३] वे साँप का खेल करते हुए, उसे पूँछ से पकड़ते, गरदन पर डालते तथा गले में लपेटते थे।[४] लंघनट जाति के नट शक्तियों को लाँघने का तमाशा दिखाते थे।[५] मंगलोत्सव का आयोजन राजाओं के द्वारा सार्वजनिक प्रमोद के रूप में होता था। प्रजा राजधानी में एकत्र होती थी। राजा की ओर से लोगों को भोजन-वस्त्र, अलंकार आदि मिलते थे।[६]

वानरों का अभिनय, उनका उछलना-कूदना आदि सदा ही लोगों के मनोरंजन के लिए रहा है।[७] उनके समान ही छलांग मारने वाले और दौड़ने वाले लोग मनोरंजन प्रस्तुत करते थे।[८] हस्ति-मंगलोत्सव का आयोजन राजा करते

---

१ Pre-Buddhist India, P. 354.

२ चुल्लवग्ग १.१३.१–२।

३. सालक जातक २४९।

४. सीलवीमंस जातक ८६।

५. दुब्बच जातक ११६।

६. सुरुचि जातक ४८९।

७. कोमायपुत्त जातक २९९।

८. भद्रघट जातक २९१।

थे। सौ हाथियों को सोने के गहनों एवं सोने की ध्वजाओं के साथ सुनहली जालों से ढककर राजाङ्गण में खड़ा किया जाता था। वेदज्ञ ब्राह्मण हस्ति-मंगल करता था।[1] असाधारण लोगों के मनोरंजन असाधारण रहे हैं। एक राजा को बूढ़ों का दर्शन खलता था। वह बूढ़े मनुष्य और पशुओं को देखते ही उनसे क्रीडा करने के लिए उत्सुक होकर उनका पीछा करता था और पुरानी गाड़ी देखकर उसे तुड़वा देता था। यदि किसी वृद्ध का नाम और गाँव जान लेता तो वह उसे तंग करता था और अपने मनोरंजन का साधन बनाता था।[2]

प्राचीन भारतीय मनोरंजन में गणिकाओं को प्रमुख स्थान मिला था। वैदिक काल के पश्चात् कभी-कभी राजाओं के द्वारा राजधानी में राजगणिकायें नियुक्त करने का प्रचलन रहा है। गणिकाओं से राजकोश के लिए आय होती थी। कौटिल्य ने राजकीय शासन के कर्मचारियों में गणिकाध्यक्ष का पद बतलाया है। आठ वर्ष की अवस्था से गणिकाओं को राजा के मनोरंजन के लिए संगीत-गायन करना पड़ता था। अर्थशास्त्र में अन्य मनोरंजन प्रस्तुत करने वाले नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (वाणी द्वारा मनोरंजन करने वाले), कुशीलव (नकल उतारने वाले), प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले), सौभिक (मदारी) चारण आदि हैं।[3] सार्वजनिक मनोरंजन के लिए क्रीडा-गृह बने हुए थे। क्रीडा-गृह आधुनिक क्लबों के समान होंगे।[4] अर्थशास्त्र में कुटिल नीति के द्वारा धन-संग्रह करने के लिए राजा के द्वारा मनोरंजन प्रस्तुत करने का आयोजन होता था। रात्रि के समय कोई मूर्त्ति प्रतिष्ठित करके या अपशकुन की घोषणा करके वह यात्रा और समाज नामक उत्सव करता था या किसी उपवन के वृक्ष में अकाल पुष्पोद्गम होने पर देवताओं के प्रभाव का विज्ञापन करके उसका प्रदर्शन करता था। किसी वृक्ष के कोटर में किसी पुरुष को बैठाकर भूतों जैसा शब्द कराया जाता था। वह सुरंग से सम्बद्ध कुयें में कई सिरवाले नाग का प्रदर्शन कराता था। नाग को मूर्छित करके उसका प्रदर्शन कराना भी मनोरंजन के लिए होता था।[5] इस युग में शिल्प के प्रदर्शन द्वारा भी मनोरंजन होता था। ऐसी प्रदर्शनी में माला, वस्त्र से बनी गुड़िया, वस्त्र, लकड़ी की बनी वस्तुयें, पुस्तकर्म (लिखावट),

---

१. सुसीम जातक।
२. केलिसील जातक २०२।
३. अर्थशास्त्र के गणिकाध्यक्ष तथा कोशाभिसंहरण-प्रकरण से।
४. वही ११.१ से।
५. अर्थशास्त्र कोशाभिसंहरण-प्रकरण से।

चित्रकर्म, मणिकर्म, हाथी-दाँत के काम, पत्रच्छेद्य-कर्म (पत्ते छेदना) आदि होते थे ।[१]

असंख्य मनोरंजनों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। इनमें से कई के नाम मात्र ही ज्ञात हैं। दीघनिकाय में घड़े पर तबला बजाना, लोहे की गोली का खेल, बांसका खेल, घोपन, अष्टपद, दशपद, आकाश, परिहर-पथ, सन्निक, खलिक, घटिक शलाक-हस्त, पंगचिर, बंकक, मोक्खचिक, चिलिंगुलिक, पत्ताल्हक, पहेली, बूढ़े की नकल करना आदि मनोरंजन के साधन हैं।[२] वीटा-क्रीडा आधुनिक हाकी की भाँति खेली जाती थी।[३]

गुप्तकाल में दोलोत्सव का विशेष प्रचलन प्रतीत होता है। स्त्रियाँ अपने प्रियतम के साथ घर में और बाहर भी दोले में झूलने का आनन्द लेती थीं।[४] समृद्धिशाली लोगों की शय्या दोला के समान लटकाई जाती थी और रस्सी से उसे डुलाया जाता था।[५] स्त्रियाँ सारिका से वार्तालाप करके तथा मोरों को नचा-कर अपना मनोरंजन करती थीं।[६] मृच्छकटिक में शुक के पढ़ने, मदनसारिका के कुरकुराने, लावकों के लड़ाने और पिंजरे में रखे हुए कपोतों के इधर-उधर उड़ाने का उल्लेख मिलता है।[७]

सातवीं शती की रचनाओं में तत्कालीन मनोरंजनों की विविधता का परिचय मिलता है। इसके अनुसार अन्तःपुर के मनोरंजन में पशु-पक्षियों को प्रतिष्ठा मिली थी। शुक और सारिका पंजर में रखे जाते थे । उनका विवाह करा दिया जाता था। नकुलिका को राजकन्याओं की गोद में सोने का सौभाग्य प्राप्त होता था। अन्तःपुर में मृगशावक रखे जाते थे । क्रीडा-पर्वत पर चकोर-दम्पती को आश्रय मिलता था। हंस सदैव सुन्दरियों का अनुगमन करते देखे जाते थे । वन-मानुषियाँ और लंगूर की पत्नी भी राजकुल में मनोरंजन के लिए रखी जाती थीं।[८] मनोरंजन के लिए कलहंस, मयूर, चक्रवाक, कोकिल, हारीत, चकोर आदि पाले

---

१. आचारांग २.१२।
२. दीघनिकाय १.१।
३. महाभारत आदिपर्व १२२.१२।
४. रघुवंश १९.४४, मालविकाग्निमित्र तीसरा अंक।
५. रघुवंश १९.४४; ९.४६।
६. उत्तरमेघ १९ तथा २५।
७. मृच्छकटिक चौथा अंक।
८. कादम्बरी, पृ० ३१६।

जाते थे।[1] बाण ने राजकुल के अन्य मनोरंजक लोगों और पशु-पक्षियों का नाम दिया है—कुब्ज, किरात, नपुंसक, वधिर, मूक, मेष, कुक्कुट, कुरर, कपिंजल, लावक, वर्तिका, सिंह आदि।[2]

सदा ही कुछ विषम प्रकृति के लोग समाज के मनोरंजन के साधन बनते रहे हैं। बाण ने 'जरद्द्रविड-धार्मिक' में एक ऐसे महापुरुष को निगृहीत किया है। 'बूढ़े धार्मिक का शरीर दग्ध स्थाणु की भाँति था। उसके शरीर पर जो नसें उभड़ आई थीं, उनको देखने से झरोखे का दृश्य सामने आ जाता था। नसें जले पेड़ पर चढ़ी हुई गोधा (गोह), गालिका (छिपकली) आदि की भाँति दिखाई देती थीं। उसके शरीर पर यत्र-तत्र फोड़े के गड्ढे थे, जो मानो दुर्भाग्य के अड्डे थे। अम्बिका के पैर पर गिरते-गिरते सिर पर गोला उभड़ आया था। कभी उसने किसी कुवैद्य से सिद्धांजन प्राप्त किया और उसे लगाते-लगाते अपनी एक आँख फोड़ ही डाली थी। फिर भी दूसरी आँख में अंजन लगाने का चाव मिटा नहीं था। उसमें तीन बार अंजन लगता था, यहाँ तक कि अंजन-शलाका पतली पड़ गई थी। आगे की ओर निकले हुये दाँतों को वह छोटा करने के लिये नित्य तितलौकी का रस लगाता था। उसने हाथ की नसों को सी डाला था और परिणामतः अंगुलियाँ छोटी हो गई थीं। अतिवृद्ध होने पर भी वह दुर्गा की पूजा करता था, जिससे प्रसन्न होकर दुर्गा उसे दक्षिण भारत का सम्राट् बन जाने का वर दे दे। किसी श्रमण ने बतलाया था कि तिलक लगाने से वैभव प्राप्त होते हैं। बस, नित्य ही तिलक लगाने लगा था। अलक्तक रंग से लिखित पत्रों वाली इन्द्र-जाल तथा तन्त्र-मंत्र की एक पुस्तिका उसके पास थी। उसे हीन धातुओं को सोना बनाने की विधि ज्ञात कर लेने का चाव था और दक्ष की कन्याओं का पति बनने की इच्छा थी। उसने अन्तर्धान कराने वाले अनेक मंत्रों का संग्रह कर लिया था। पिशाच-गृहीत लोगों के चपेटे खाते-खाते उसके कान चिपटे हो गये थे। उसके अलाबुवीणा-वादन से उद्विग्न हुये पथिक वहाँ से दूर चल देते थे। फिर भी दिन भर मच्छर की भाँति भनभनाते हुये, सिर को थोड़ा हिलाते हुये वह सदैव कुछ न कुछ गाया ही करता था। अपनी देशी भाषा के कुछ स्तोत्रों को उसने कण्ठ कर लिया था और उनको गाते हुये नृत्य किया करता था। संन्यासिनियों के ऊपर वह चूर्ण छिड़का करता था, जिससे वे उसके सौन्दर्य पर मोहित हो जायँ। कभी-कभी तो वह चण्डी के ऊपर भी मुँह बनाकर हँसता था और कभी-कभी उसे यात्रियों से लड़ना पड़ता था। ऐसी ही किसी लड़ाई में उसकी

---

१. कादम्बरी, पृ० १८८।

२. वही पृ० ८९।

पीठ टूट गई। एक बार कुछ लड़कों ने उसे चिढ़ाया तो उसने झट पीछा किया और मार्ग में एक पत्थर पर गिर पड़ा। परिणामतः उसकी ग्रीवा टूट चुकी थी। एक बार एक अन्य धार्मिक व्यक्ति वहाँ पहुँचा। लोगों ने उस नये व्यक्ति का आदर किया। बस, इसी पर उसने फांसी लगा ली। वह लँगड़ा, बहरा, रात्र्यन्ध आदि तो था ही, फिर भी भोजन की मात्रा कम न थी। फल वाले पेड़ों पर चढ़ने पर उसकी वानरों से लड़ाई हो जाती थी, फिर तो वानरों के नखों से उसका शरीर नोचा जाता था। पुष्पावचय करते समय उसे भौंरे काटते थे। रात्रि में सोते समय साँपों ने उसे सहस्रों बार काटा था। बेल के फल तो सैकड़ों बार उसके सिर पर गिरकर उसे फोड़ने का यत्न कर चुके थे। कभी-कभी रीछों से भी उसे भिड़ना पड़ता था। रीछ उसका कपोल जर्जरित करके ही छोड़ते थे। होली के समय किसी बुढ़िया को टूटी खाट पर बिठाकर उससे धार्मिक विवाह का स्वांग करके लोग मनोरंजन करते थे। वह अकारण ही लोगों को बुरा-भला कहने लगता था और परिणामतः उसे पिटना पड़ता था।[1] बाण ने जरद्द्रविड धार्मिक का चित्रण करते हुये उन सभी लक्षणों को संगृहीत करने का सफल प्रयास किया है, जिसके द्वारा मनचले लोगों का सृष्टि के आदिकाल से ही मनोरंजन होता चला आ रहा है।

परवर्ती युग में अश्वक्रीडा का उल्लेख मिलता है। घोड़ों की पीठ पर बैठकर विविध प्रकार की कलायें दिखलाई जाती थीं। इस क्रीडा की आसक्ति विपत्तिमयी मानी जाती थी। सोमदेव ने 'वाक्यामृत' में लिखा है—अश्व-क्रीडा की अतिशयता अंग-भंग कराकर ही छोड़ती है।[2] घोड़े से सम्बद्ध वाजिवाह्यालि विनोद था। यह पोलो के समान खेला जाता था।[3] कुछ लोग ऊँचे बांसों पर या कसी रस्सियों पर चढ़कर गोलियों से खेलते थे।[4] शतरंज और चौसर के खेल भारत से फारस होते हुये अरब तथा योरपीय देशों में पहुँचे। इन दोनों खेलों में दार्शनिक तथा गणित सम्बन्धी तथ्यों का आकलन संभवतः परवर्ती युग में किया गया है।[5] इस

---

१. कादम्बरी, पृ० २२६–२२८ से।

२. अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभंङ्गमनापाद्य न तिष्ठति। प्रकीर्णक समुद्देश से।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए सोमेश्वर-रचित मानसोल्लास भाग २।

४. अलबेरूनी का भारत सत्रहवें परिच्छेद से।

५. इन खेलों के दर्शन और गणित सम्बन्धी तत्त्वों के परिशीलन के लिए देखिए अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० १४९–१५०। सौन्दरनन्द १.३२ में शतरंज का नाम अष्टापद है।

युग में कठपुतलियों का सूत्रयन्त्र द्वारा नाच और तत्सम्बन्धी कथाओं का प्रचलन बढ़ा।[1] इसके लिए लकड़ी की स्त्री और यान्त्रिक मृग बनाये जाते थे।[2]

मानसोल्लास के वाजिबाह्याली-विनोद-प्रकरण से चालुक्य राजाओं के शासन-काल में बारहवीं शताब्दी में 'पोलो' जैसे खेल का परिचय मिलता है। यह घोड़े की पीठ पर बैठकर दण्ड और कन्दुक से खेला जाता था।

---

१. महापुराण १४.१५० तथा नैषधीयचरित १८.१३।
२. भागवत ६.१२.२०।

अध्याय २४

शिल्प-कला

शिल्प का सर्वप्रथम रूप प्राकृतिक सृष्टि है। पत्रों और पुष्पों में, तितली के पंखों में और सीपों में प्रकृति ने जो रंग और रेखाकृति का विन्यास यथाप्रमाण-विधि से किया है, वह वास्तव में चित्र-विचित्र है। संसार में जो कुछ मूर्त रूप में है, वह मूर्ति-कला का अनुपम आदर्श प्रस्तुत करता है। नदी के प्रवाह में यात्रा करने वाले पत्थर के टुकड़े छेनी के आघात लगे बिना मूर्त रूप धारण कर लेते हैं। आकाश में उड़ने वाले बादल जब वायु की गति से हाथी, सिंह आदि बना दिये जाते हैं तो वे किसका मन नहीं मोह लेते ?[1] प्राकृतिक स्वभाव में वास्तु शिल्प भी सुविकसित है। कीड़े-मकोड़े और पक्षियों के घर प्रायः कलापूर्ण दिखाई देते हैं। पर्वत की स्वाभाविक गुफाओं में कहीं-कहीं अच्छे घर प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत मिलते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मानव अपने पूर्वज वानरों की आनुवंशिक परम्परा में स्वभावतः घर बनाने वाला प्राणी नहीं है। यह मत यदि सत्य भी हो तो इतना तो वस्तुतः प्रत्यक्ष है कि अनुकरण की कला में मानव वानरों से अधिक सिद्धहस्त है। उसने प्रकृति द्वारा नियोजित अथवा अन्य प्राणधारियों द्वारा निर्मित सभी चित्र, मूर्ति और वास्तु-शिल्पों को अपना लिया। यही नहीं, मनुष्य की प्रकृति से होड़ है आगे बढ़ जाने की।

प्रागैतिहासिक शिल्प

संस्कृति के आदिकाल से मानव ने शिल्पों की रचना की है, पर उसकी क्या शैली थी—आज यह अंशतः ही जाना जा सकता है। उसके आरम्भ के बनाये हुए चित्र, मूर्तियाँ और गृह मिट गये, जैसे बालू पर पड़े पदचिह्न मिट जाते हैं।

---

१. द्विपद्वीपिक्रव्यादुरगतुरगादिभ्रमकृतः।
यदास्यां भिद्यन्ते दिवि किल त एवाम्बुदलवाः ॥
राजत० ७.७९२ ॥

इतना ही कहा जा सकता है कि संसृति की सनातन परम्परा में आज के शिल्प में वह आदिकालीन शिल्प अन्तर्हित है।

प्रागैतिहासिक शिल्प का सर्वप्रथम दर्शन आज से लगभग ५००० वर्ष पहले के सिन्धुसभ्यता-युगीन चित्रों, मूर्तियों और वास्तुओं में होता है। सिन्धु-सभ्यता का विकास और प्रसार किस दिशा में हुआ—यह ज्ञात न होने से उस शिल्प का क्रमिक इतिहास लुप्तप्राय है।

शिल्पों की एक अन्य परम्परा वैदिक युग के आरम्भ से मिलती है। ऋग्वेद में उषा के विषय में कहा गया है कि वह सुशिल्पा है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार शिल्प-सम्बन्धी सूक्त थे, जिनका पाठ किया जाता था। देवताओं के शिल्प हैं। उन्हीं के अनुकरण पर मानवलोक के शिल्प हैं, जैसे सुनहले हाथी के झूल या खच्चर वाले रथ।[2] वैदिक युग में शिल्प की परिधि अतिशय व्यापक हो चली थी। शिल्प के अन्तर्गत नृत्य, गीत और वादित गिनाये जा सकते थे।[3] फिर भी शिल्पों में प्रधानतः गणना चित्र, मूर्ति और वास्तु की है। इनका महत्व मानव-संस्कृति के अभ्युदय की दृष्टि से सविशेष है।

शिल्पों की लोकप्रियता

शिल्पों का जो परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उससे प्रतीत होगा कि शिल्प को सदा ही समाज के समृद्धिशाली लोगों में स्वभावतः प्रतिष्ठा मिली है। समाज में कोई पुरुष अपनी शिल्प-सम्बन्धी अधिकाधिक वस्तुओं की उत्कृष्टता के बल पर ऊँचा गिना जा सकता था। नागरिकों में शिल्प का विशेष मान था। शिल्प

---

१. ऋग्वेद १०.७०.६।

२. ऐ० ब्रा० ६.५.१ में शिल्पानि शंसन्ति। देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते।

३. कौषीतकि ब्रा० २९.५। पाणिनि ३.२.५५ और ६.२.६२ के अनुसार शिल्पों की संख्या सहस्रों हो सकती है। जैसा विष्णु-पुराण १.१५.१२० में कहा गया है—विश्वकर्मा ने सहस्रों शिल्पों का प्रवर्तन किया। यही विश्वकर्मा प्रथम शिल्पाचार्य हैं। शिल्पों की अपरिमेय संख्या की कल्पना के लिए देखिए ललित-विस्तर का शिल्पसन्दर्शन-परिवर्त। इसके अनुसार लिपि-मुद्रा-गणना-धनुर्वेद-जवित-प्लवित-तरण-इष्वस्त्र-व्यायाम-मर्मवेधित्व-शब्दवेधित्व-अक्षक्रीडा-काव्यकरण-चित्र-रूपकर्म-अग्निकर्म-वाद्य-नृत्य-वाद्य-माल्यग्रथन-संवाहित-इतिहास-वेद आदि सभी शिल्प हैं।

की कृतियों का निपुण आलोचक होना आपाततः उच्च संस्कृति का लक्षण सिद्ध होता है। यही कारण है कि राजकुमार और राजकुमारी के व्यक्तित्व के विकास के लिए शिल्प और कला के अभ्यास को आवश्यक माना गया। शिल्प की यह प्रतिष्ठा राजसभा से विच्छुरित होकर समाज के सभी गण्यमान्य लोगों तक पहुँची।

भारतीय शिल्पों की विदेशों में अतिशय प्रतिष्ठा थी। भारत की बनी हुई असंख्य वस्तुयें विदेशों में सामुद्रिक यात्रा करके पहुँचती थी। इस प्रकार भारत अपनी कला की अभिरुचि के कारण विदेशों से स्वर्णादि खींच सकता था। यह तो निःसन्देह ही है कि इन शिल्प की वस्तुओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार हुआ। भारत के प्रत्येक कला-केन्द्र से देश के दूरस्थ भागों में भी मूर्ति आदि ले जाई जाती थीं।[1]

चित्रकला

मानव-कृत चित्रों के दो रूप मिलते हैं—पहला, वनवासियों के द्वारा प्राकृतिक गुफाओं की भित्तियों पर प्रायः प्राकृतिक उपादानों से बनाये हुएऔर दूसरा, शिल्प के पण्डितों के द्वारा नागरिकों के लिए बनाये हुए। वनवासियों के चित्र कब बने—इसकी गणना आजकल के इतिहासविदों की बुद्धि से परे हैं। अतः उन्हें प्रागैतिहासिक नाम दे दिया गया है। वनवासियों को प्रकृति की रमणीय गोद में बैठकर अपने सामने प्रकृति की सौन्दर्यशालिनी छवि को देखने का अवसर नित्य ही मिलता रहा। निश्चय ही उनको प्रकृति कला की ओर विशेष प्रवृत्त करती रही। प्रकृति के निकट होने के कारण उसका अन्तःरहस्य उनके लिए सुबोध था। उन वनवासियों ने जो चित्र बनाये हैं, उनमें वन्य सौष्ठव और आर्जव का अभिनिवेश होना स्वाभाविक ही है। उन वनवासियों ने करोड़ों भित्तियों पर अपने विनोद और कला के संस्कार के लिए चित्र बनाये, जिनमें से अब इने-गिने ही नगरवासियों की आलोचना-परिधि में आने के योग्य रह गये हैं।

वन्यचित्र

वन्यचित्रों के चार केन्द्र वर्तमान हैं—(१) मिर्जापुर जनपद में सोन ोणी,

---

१. यथा मगध कला-केन्द्र से एक मूर्ति कश्मीर में हाथी की पीठ पर लाद कर पहुँचाई गई। राजत० ४.२५९। इस प्रकार देश की कलात्मक एकता प्रस्फुटित हो सकती थी।

(२) मानिकपुर बाँदा जनपद, (३) रायगढ़ जनपद में सिंघनपुर पर्वत में और काबरा पर्वत में, (४) महादेव पर्वत में होशङ्गाबाद और पंचमढ़ी जनपद में।

मिर्जापुर के चित्रों में हाथी, पक्षी आदि का पकड़ना चित्रित किया गया है। कहीं-कहीं हर्षोल्लासमय नृत्य का प्रदर्शन है। इन चित्रों में जंगली पशुओं का चित्रण मनोरम है। भलदरिया-गुहा में मृगया का चित्रण है। एक सूअर को बाण लगा है। वह श्रान्त है। सारा दृश्य करुण है। साथ ही पक्षियों का जल-संचरण दिखाया गया है। विजयगढ़ की गुफा में बाघ और सिंह का चित्र वर्तमान है।

बाँदा जनपद में सरहत की गुफा में तीन घुड़सवारों का तीन घोड़ों के साथ चित्रण है। मालवा-गुहा में गाड़ी पर बैठा हुआ कोई पुरुष दिखाया गया है। उसी गाड़ी पर दो पुरुष और हैं, जो क्रमशः हाथ में धनुर्बाण और लाठी लिए हुए हैं। करिया-कुण्ड की गुहा में हरिणों की मृगया चित्रित की गई है।

सिंघनपुर की गुफाओं में मृगया के दृश्य और मकर, कंगारू, हरिण, छिपकली आदि के चित्र मिलते हैं। चित्रों में मानवों की आकृतियाँ लाठी की भाँति बनाई गई हैं।

पंचमढ़ी के समीप ५० गुफाओं में चित्र मिलते हैं। इनमें मृगया, मधु-संचय, युद्ध, पशुचारण, पर्णकुटी तथा उसके निवासी के दृश्य चित्रों में प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं-कहीं उनमें हाथी, चीते, रीछ, सूअर, हरिण और मकरों के भी चित्र मिलते हैं। कहीं-कहीं पर पाले हुए पशु—बैल, बकरी, कुक्कुर आदि के चित्र हैं। अपर डोरोथी नामक गुहा में वानर का वंशीवादन दृश्य मनोरम है।

वन्य चित्रों के लिए गेरु और कोयले का उपयोग प्रायः किया गया है।

नागर चित्र

नागर चित्रों का सर्वप्रथम परिचय सिन्धुसभ्यता-युगीन मिलता है। इस युग में चित्रकला का जो विकसित रूप मिलता है, उससे स्पष्ट व्यक्त है कि उसके पीछे दीर्घकालीन परम्परागत चित्रण के अनवरत अभ्यास और साधना अवश्यमेव रहे हैं। उस समय कला का स्तर प्रायः सार्वजनिक प्रतीत होता है। नागरिकों की साधारणतः नित्य उपयोग में आने वाली वस्तुओं—वस्त्र, पात्रादि पर चित्रण के प्रति अभिरुचि थी।

सिन्धु-युगीन चित्रों के दो भेद किये जा सकते हैं—ज्यामिति-चित्रात्मक, प्राकृतिक-दृश्यात्मक। पहले में रेखाचित्रों का बाहुल्य है। दूसरे में पत्र-पुष्पों के बीच मयूरादि पक्षी, पशु, मछली, कछुए आदि चित्रित हैं। चित्रित जीवधारियों की संचरणशील अवस्था प्रायः दिखाई गई है। उनसे किसी न किसी भाव की अभि-

व्यक्ति होती है। चन्हुदड़ो के एक पात्र की पीली भूमिका पर कृष्ण, श्वेत और रक्त वर्ण के पशु-पक्षियों के चित्र मिलते हैं।

सिन्धु-सभ्यता की लिपि चित्रमय है। यह चित्र-लिपि लोगों को साधारणतः चित्रकला-प्रवण बना देती होगी।

वैदिक संस्कृति के लोगों में चित्रकला की बहुविध प्रणालियाँ प्रचलित रही होंगी। उनमें से कुछ का परिचय-मात्र तत्कालीन साहित्य में मिलता है। उस समय राजसूय यज्ञ करने वाले राजा के तार्प्य नामक वस्त्र पर यज्ञ-रूपों का चित्रण होता था। वह अवश्य ही उच्च कोटि की कला से समन्वित रहा होगा।[१] गायों के कानों पर ताँबे के स्वधिति नामक छुरी से बहुविध चिह्न बनाये जाते थे। इन चिह्न में प्रमुख कर्करि (बाजा), दात्र (हँसिया), स्थूण (खूंटा) आदि हैं।[२] कुछ लोगों का मत है कि चमड़े पर भी चित्र बनाने की विधि प्रचलित थी।[३] शतपथ ब्राह्मण में अश्वपद के परिलेख का वर्णन मिलता है।[४]

नेवासा के उत्खनन में १३०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक की मिली हुई वस्तुओं में मिट्टी के पात्रों पर कुछ पशुओं की आकृतियों का चित्रण मिलता है। एक पात्र के टुकड़े पर एक हरिण का अग्रभाग और दूसरे का पश्च भाग मिलते हैं। एक दूसरे टुकड़े पर काली मसि से चलते हुए मग का चित्रण है। एक अन्य टुकड़े पर एक कुत्ते का पश्चभाग मिलता है, जिसमें उसकी टेढ़ी पूँछ भी दिखाई गई है।[५]

सिन्धुसभ्यता-युगीन मृण्मय पात्रों पर चित्र बनाने की परम्परा का पुनः उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। व्यावसायिक दृष्टि से चित्रकला उपयोजित हुई। इतना तो निश्चित है कि प्रकृति की असंख्य रमणीय वस्तुओं को चित्रकारों ने अपनी तूलिका और वर्णिका से लावण्यमयी अभिव्यक्ति प्रदान करके मानव के दृष्टि-पथ को सतत रमणीय बनाने का प्रयास किया। चित्रकला के महाविन्यास की कल्पना विकसित हो चुकी थी। तभी तो किसी सुरङ्ग में इन्द्र का वैभव, सुमेरु,

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५.३.५.२०।

२. अथर्ववेद ६.१४१.२; १२.४.६; मैत्रायणी संहिता ४.२.९। देखिए वैदिक इन्डेक्स में अष्टकर्णी।

३. ऋग्वेद १.१४५.५ के 'त्वच्युपमस्यां निधायि' में चमड़े पर अग्नि का चित्र प्रस्तुत करने का उल्लेख सम्भवतः हो।

४. अन्हावार्यं पचने वाश्वस्य वा पदं परिलिख्य आदि शतपथ १३.४.३।

५. पूना के डेक्कन कालेज के संग्रहालय से। नेवासा अहमदाबाद के समीप है।

समुद्र, महाद्वीप, हिमालय, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, भुवन आदि चित्रण के विषय हो सकते थे ।[1] मालाओं में भी चित्र निवेशित किये जाते थे ।[2] उत्तरीय पर पुष्पों के चित्र बनाये जाते थे और घर की भित्तियों पर नरनारियों के मनोरम चित्र रचे जाते थे ।[3]

१५० ई० शती पूर्व के लगभग कंस-वध और बलिबन्ध आदि साङ्गोपाङ्ग चित्रों का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।[4] नाट्यगृहों में राजाओं के आश्रय में चित्र बनाये जाते थे । राजप्रासादों में राजाओं और रानियों के चित्र बनाये जाते थे ।

अजन्ता चित्र

ईसवी शती के आरम्भिक युग से भारतीय चित्रकला की ऐतिहासिक प्रत्यक्ष परम्परा का पुनः आविर्भाव होता है। इसका सर्वप्रथम दर्शन अजन्ता के गुफा-चित्रों में होता है। अजन्ता की नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्र ई० पू० पहली से दूसरी ईसवी शती तक बनाये गये थे । दसवीं गुफा के स्तम्भों का चित्रण ३५० ई० के लगभग हुआ। सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं का चित्रण ५०० ई० के लगभग हुआ। पहली और दूसरी गुफाओं का चित्रण सातवीं शती का है।

अजन्ता प्रदेश सहस्रों वर्षों तक बौद्ध संस्कृति का उच्च केन्द्र रहा होगा। प्रकृति की रमणीयता के बीच संस्कृति के अभ्युदय की योजना भारतीय इतिहास में नई नहीं है। निःसन्देह दर्शन के सर्वोच्च आचार्यों के लिए चित्र, मूर्ति और वास्तु की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रही है, पर साधारण विद्यार्थियों और गृहस्थों को शिक्षा देने के लिए चित्रों और मूर्तियों का माध्यम अपनाना समीचीन समझा गया है। सम्भवतः अजन्ता के उपप्रदेश में कोई नगर रहा हो, क्योंकि उस युग में विहार नगरों से न तो दूर और न निकट बनवाये जाते थे । आजकल इन गुफाओं से निकटतम बड़ा गाँव छः मील दूर अजन्ता है।

अजन्ता की गुफाओं के परवर्ती प्राकृतिक दृश्य अतिशय मनोरम हैं। यों तो

---

१. उम्मग जातक।

२. कुस जातक।

३. महावग्ग ५.१०.३; ८.२९, चुल्लवग्ग ६.३.२।

४. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २८।

पूरे दक्षिण भारत में ऊँचे-नीचे पहाड़ों की बहुलता है, पर पर्वतों की ऐसी रमणीयता सर्वत्र नहीं मिलती। इन गुफाओं की समीपवर्ती पर्वत श्रेणियों का कलात्मक नियोजन, उनकी विपुलता और स्वागतकारिणी व्यञ्जना आकर्षक हैं। आजकल अजन्ता से होकर गुफाओं तक पहुँचने के लिए सड़क है। अजन्ता से बाहर निकलते ही भव्य पर्वत-मालायें आरम्भ होती हैं। इन्हीं के बीच चक्करदार सड़कें बनी हैं। सड़क के एक ओर ऊँचा पर्वत और दूसरी ओर सैकड़ों फुट गहरी घाटी हैं। इन दोनों की चित्र-विचित्र हरीतिमा विविध प्रकार के छोटे-बड़े वृक्षों द्वारा प्रस्तुत की गई है। इन्हीं शोभाओं के बीच मानव-नेत्र परितृप्त रहते हैं कि सहसा गुहाओं के निकट पहुँचने पर ही उनका प्रथम दर्शन होता है। गुहाओं का बाह्य स्वरूप प्रायः उतना ही सरल है, जितना भीतर से भव्य है। सर्वत्र प्रकृति की नीरवता और निःस्तब्धता शान्ति का सन्देश देती है।

प्राकृतिक दृश्य

गुहाओं का अन्त या आरम्भ एक झरने से होता है। झरने का जल नदी के प्रवाह-रूप में आगे बढ़ता है। वह नदी अपने कलकल से मानो महात्मा गौतम बुद्ध का अभिनन्दन करती हुई बाईं ओर गुहाओं वाले पर्वतपाद का प्रक्षालन करती है। नदी की दाहिनी ओर सन्निकट ही गुहाओं वाले पर्वत के प्रायः समानान्तर ही एक उच्चतर पर्वतमाला खड़ी है, जो अनारुह्य सी प्रतीत होती है। इसी प्राकृतिक समृद्धि के बीच गौतम के निर्वाण के लगभग ४०० वर्ष पश्चात् से विहार और चैत्यों का २९ गुफाओं के रूप में निर्माण आरम्भ हुआ। यह निर्माण-कार्य लगभग १०० वर्षों तक चलता रहा। विहार और चैत्य शैक्षणिक और धार्मिक संस्थायें हैं।

गुहा-विहारों में पत्थर काटकर कोठरियाँ बनाई गई हैं, जिनमें प्रायः प्रत्येक में एक विद्यार्थी रह सकता था। छतों को सहारा देने के लिए दीवालों के अतिरिक्त स्तम्भ हैं। स्तम्भों से घिरा हुआ एक बड़ा कक्ष होता है और स्तम्भों से लेकर दीवालों तक ओसारा-सा बनता है। मुखद्वार के ठीक सामने की भित्ति में गौतम बुद्ध की मूर्त्ति बनी है।

बाह्य निरूपण

चैत्य विहार से छोटे हैं। चैत्य का हाल नाल के आकार का है। मुखद्वार के ठीक सामने की ओर दूसरे सिरे पर स्तूप होता है, हाल के चारों ओर निर्मित स्तम्भों और दीवालों के बीच जो ओसारा होता है उससे होकर स्तूप के चारों ओर परिक्रमा का मार्ग होता है। वर्तमान ाओं में पाँच चैत्य और शेष विहार हैं।

इन चैत्यों और विहारों में दीवालों पर, छतों पर और स्तम्भों पर एक इंच भी ऐसा स्थान न था, जो चित्रण के योग्य न माना गया हो। चित्रण-विषयों की कल्पना उस युग के महाकाव्यों के वर्ण्य विषयों से लग सकती हैं। नायक गौतम बुद्ध हैं। उनका जीवन-चरित चित्रण का सर्वोच्च विषय है। द्वितीय स्थान बुद्ध के बोधिसत्त्व-सम्बन्धी पूर्व जन्म की कथाओं के चित्रण को मिला है। आनुषङ्गिक रूप से तत्कालीन जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के चित्र भी मिलते हैं। चित्रों के साथ उनकी पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त कराने वाली परिस्थितियाँ निरूपित की गई हैं।[1]

वर्ण्य विषय

अजन्ता की गुफाओं में से केवल पहली, दूसरी, सोलहवीं और सत्रहवीं में ही चित्र पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित हैं। इन चित्रों के परिचय से प्रायः पूरे चित्रण का आभास हो सकता है। चित्रों का दर्शन बायें से आरम्भ करने का विधान है। उसी क्रम में उनका वर्णन नीचे प्रस्तुत है।

प्रवेश करते ही शिवि जातक का चित्रण पहली गुफा में मिलता है।[2] भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस कहानी का अनुपम स्थान है। श्येन के भय से एक कबूतर उड़ता हुआ शिवि राजा की शरण लेता है। श्येन उसे भोज्य-रूप में मांगता है। राजा कबूतर को एक तुला पर रखकर उसके बराबर अपने शरीर से मांस काटकर दे रहा है। इस प्रकार कबूतर की प्राण-रक्षा होती है।

दूसरे चित्र में किसी राजा को उसका भाई मार डालता है। उसकी पत्नी गर्भवती है और भाग कर अपना प्राण बचाती है। उसका लड़का बड़ा होने पर सब कुछ जानकर एक बार व्यापारिक पोत पर समुद्र-यात्रा करता है। उसका जलयान भग्न होता है और वह देवी की सहायता से अपने पिता के राज्य में जा पहुँचता है। वहाँ राजा के कठिन प्रश्नों का उत्तर देने पर उसकी कन्या के साथ परिणय करता है। अन्त में सपत्नीक परिव्रज्या लेता है। यह महाजनक जातक की कथा है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण चित्र संखपाल जातक का है। काशी के राजा के पुत्र दुर्योधन का जब राज्याभिषेक हुआ तो पिता प्रव्रज्या लेकर संखपाल झील के किनारे आश्रम में रहने लगा। वहीं संखपाल नामक नाग राजा से वह धर्मोपदेश ग्रहण करता था। दुर्योधन ने नागराज की विभूति देखी तो स्वयं पुनर्जन्म में

---

१. गुफा नं० ९, १०, १९, २६ और २९ चैत्य हैं।

२. इसका निर्माण छठीं शती के अन्तिम भाग में हुआ था।

संखपाल नाग बना। शनैः शनैः उसे विराग हुआ। एक बार लोककल्याण के लिए वह अपने शरीर का बलिदान करने का अवसर ढूंढ़ रहा था कि उसे शिकारियों ने मार कर खाने की युक्ति निकाली। मिथिला के भूमिधर अलार ने उसकी रक्षा की। नागराज उसे अपने लोक में ले गया और एक वर्ष तक उसका सर्वोच्च आतिथ्य किया। अलार उसके पश्चात् स्वयं प्रव्रजित हुआ। उसने काशिराज को धर्मोपदेश दिया।

चौथा दृश्य चम्पेय्य जातक का है। चम्पानदी में चम्पेयय नामक नाग रहता था। इस नदी के दाहिने-बायें मगध और अंग के राजा परस्पर युद्ध करते थे। मगध का राजा हार कर भागा तो चम्पा नदी को वहीं पार करने लगा, जहाँ चम्पेय्य अपनी परिषद् के साथ विहार करता था। नागराज ने उसका आतिथ्य किया मगधराज ने नागराज की सहायता से अंगराज को पराजित किया। मगधराज विविध उपायन लेकर प्रतिवर्ष बोधिसत्त्व नागराज को भेंट करने के लिए जाता था। उसे नागराज की विभूति के प्रति स्पृहा हुई और वह पुनर्जन्म में स्वयं नाग हुआ। वहां उसे विरति हुई तो वह एक सँपेरे की झोली में जा पहुँचा। काशिराज ने उसे देखा और क्रय कर लिया।

चौथा दृश्य क्षान्तिवाद जातक का है। बोधिसत्व ब्राह्मण गृहस्थ हैं। गृहपति होते ही घर की सारी सम्पत्ति योग्य पात्रों को दान देकर प्रव्रजित हुए। एक बार काशिराज के उपवन में ठहरे। वहीं सुरापायी राजा नर्तकियों के साथ विहार करके सो गया। नर्तकियाँ राजा को सोया देखकर बोधिसत्त्व का उपदेश सुनने आईं। जगने पर राजा तलवार लेकर बोधिसत्त्व से पूछने लगा कि कहो, क्या उपदेश दे रहे थे। बोधिसत्त्व ने कहा कि क्षमा की शिक्षा दे रहा था। बोधि-सत्त्व को फिर तो हाथ-पाँव आदि काटते हुए, और कोड़ों से पीटते हुए प्राणदण्ड देने का आदेश राजा ने दिया। राजा ने उसे लात लगाई और ज्योंही चलने लगा कि पृथ्वी फटी और वह उसी में धँस गया।

पहली गुफा में गौतम बुद्ध के जीवन-चरित सम्बन्धी मार-विजय का अनुपम चित्रण है। दूसरी गुफा का प्रथम चित्र हंस जातक का है। इसके अनुसार बोधिसत्त्व ९०,००० हंसों के नायक हैं।[१] वे स्वर्णहंस हैं। एक बार काशिराज की महिषी ने स्वर्ण-हंस का उपदेश स्वप्न में सुना तो उसे प्राप्त करने की इच्छा से सभी सरोवरों में खोज करने पर वे पकड़े गये। उनके व्यक्तित्व से राजा प्रभावित हुआ। उसने पक्षिराज का आतिथ्य किया और उसका धर्मोपदेश सुना।

दूसरा रुरु जातक का चित्र सुप्रसिद्ध है। इसमें एक व्यापारी के पुत्र के निर्धन

---

१. उस गुफा का निर्माण छठीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ।

होने पर गंगा में कूद पड़ने से कथा आरम्भ होती है। वह वहीं डूबने लगा तो स्वर्ण-मृग के रूप में बोधिसत्त्व ने उसे बचा लिया। फिर भी उस व्यापारी ने स्वर्ण-मृग को धोखा दिया और काशिराज को स्वर्ण-मृग का परिचय देकर उसे पकड़वाने का कारण बना। काशिराज ने उसका उपदेश सुना और रानी को सुनाया। अन्त में उस मृग की इच्छानुसार सभी पशु-पक्षियों को काशिराज्य में अभय होने का वरदान राजा ने दिया।

तीसरे दृश्य में विधुर पण्डित की कथा चित्रित है। इन्द्रप्रस्थ के राजा के मन्त्री विधुर पण्डित बोधिसत्त्व हैं। पण्डित से उपदेश सुनने के लिए जम्बूद्वीप के राजा आते थे। एक बार चार राजाओं में परस्पर विवाद अपनी श्रेष्ठता के विषय में हुआ। निर्णय पण्डित पर छोड़ा गया। निर्णय सन्तोषजनक हुआ। इसमें से एक नागराज भी था। नागराज की पत्नी उनका उपदेश सुनना चाहती थी। पुन्नक यक्ष ने इन्द्रप्रस्थ के राजा के साथ द्यूत में विधुर पण्डित को जीत कर उन्हें नागपत्नी के पास पहुँचा दिया।

दूसरी गुहा में गौतम बुद्ध के जीवन-चरित के कुछ प्रमुख दृश्य चित्रित हैं। प्रारम्भ में विश्वन्तर के बोधिसत्त्व होने के पश्चात् उनका अपने पुण्य के प्रभाव से तुषित स्वर्ग में श्वेतकेतु नामक देवता होने का चित्रण है। उन्होंने मानवता का कल्याण करने के लिए अवतार लेने का निश्चय किया। दूसरे दृश्य में माया देवी स्वप्न देखती हैं कि मेरे गर्भ में नाग का प्रवेश हुआ। राजपुरोहितों ने निर्णय दिया कि ३२ लक्षणों से सम्पन्न बालक जन्म लेगा, जो चक्रवर्ती सम्राट् होगा या भिक्षु-सम्राट् बनेगा। तीसरे दृश्य में लुम्बिनी वन में उनके जन्म का दृश्य है। ब्रह्मा और इन्द्र चित्र में उनका स्वागत करते हैं। चौथे दृश्य में वे सात पद चलते हैं। इन्द्र छत्र धारण करके उनकी रक्षा करता है। पूर्व की ओर जाकर वे कहते हैं—मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा, दक्षिण में कहते हैं—मैं सभी प्राणियों में अग्रणी बनूँगा। पश्चिम में कहते हैं—यह मेरा अन्तिम जन्म है और उत्तर में कहते हैं—मैं भवार्णव पार करूँगा। इसके पश्चात् के जीवन-चरित के दृश्य सोलहवीं, पहली और सत्रहवीं गुफाओं में मिलते हैं। इस गुहा में दिव्यावदान की पूर्ण नामक भिक्षु से सम्बद्ध कथा मिलती है, जिसके अनुसार भविल के डूबते हुए पोत की रक्षा पूर्ण के आने से होती है। वहीं लकड़ियों से एक चैत्य बनाने की योजना पूर्ण के निर्देशानुसार होने लगती है। फिर योगबल से बुद्ध और संघ वहीं प्रकट होते हैं।

सोलहवीं गुफा में सुतसोम जातक की कथा चित्रित है।[1] इसके अनुसार इन्द्र-

---

१. इस गुफा का निर्माण लगभग ५०० ई० में हुआ।

प्रस्थ की महारानी के गर्भ में बोधिसत्त्व के आने का चित्रण है। बड़े होने पर वे राजा हुए। एक बार उनको पहले का अपना सहपाठी चुरा ले गया। वह मनुष्याद बन गया था। बोधिसत्त्व ने उससे छुट्टी ली कि मुझे एक ब्राह्मण का उपदेश सुनना है। उसे सुन कर, दान दे कर शीघ्र ही लौट आऊँगा। जब वे प्रतिज्ञानुसार लौट आये तो मनुष्याद बहुत प्रभावित हुआ। बोधिसत्त्व के उपदेशानुसार सदाचारी बनकर उसने अभ्युदय प्राप्त किया। यह कथा सत्रहवीं गुफा में भी चित्रित है।

गौतम बुद्ध के जीवन-चरित सम्बन्धी दृश्यों में से सर्वप्रथम यहाँ पर असित ऋषि का उनकी जन्मपत्री देखना है। उन्होंने घोषणा की कि बालक बुद्ध बनेगा। दूसरे दृश्य में गौतम पाठशाला में पढ़ते हुए अपने ज्ञान की असीम निधि का परिचय अपने गुरु विश्वमित्र को देते हैं। तीसरे दृश्य में गौतम पिता के साथ हल-प्रतियोगिता देखने गये हैं। वहाँ बैल, हलवाहा आदि की दुःखमयी स्थिति और पक्षियों के द्वारा कीड़ों का खाया जाना देखकर वे उद्विग्न हो उठते हैं और जम्बू-वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते हैं। चौथे दृश्य में शुद्धोदन गौतम को भोग-विलासिता में फँसाने के लिए राजप्रासाद के भीतर मानो बन्दी बनाकर राग-रंग में लगने की सुविधायें प्रदान करते हैं। छन्दक सारथि उन्हें चार बार बाहरी दृश्य दिखाने ले जाता है। प्रति बार उनकी विरागमयी प्रवृत्ति बढ़ती है। गौतम प्रव्रज्या लेते हैं।

सोलहवीं गुफा में गौतम के राजगृह जाने का चित्रण है। वहाँ का राजा बिम्बिसार उन्हें अपना आधा राज्य देकर भी भिक्षुपथ से विरत करना चाहता है। अन्त में राजा उनसे प्रतिज्ञा लेता है कि बुद्ध होने पर सर्वप्रथम हमें निर्वाण का उपदेश दें। अगले दृश्य में बोधिवृक्ष के नीचे गौतम तपस्या के पश्चात् क्षीण होकर बैठे हैं। तभी सुजाता उनको भोजन देने आती है। परवर्ती दृश्य में गौतम की सात सप्ताहों की समाधि का दृश्य है। वे निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। उनको समाधि के पश्चात् भोजन की आवश्यकता थी। उसे त्रपुस और भल्लिक सार्थवाहों ने पूरी की।

अगले दृश्य में सौन्दरनन्द-महाकाव्य की कथा चित्रित है। बुद्ध ने अपने भाई नन्द को विराग-भाव स्वभावतः न होते हुए भी प्रव्रजित कराया था और अन्त में उसे ज्ञानचक्षु प्रदान करके संसार की अवास्तविकता का दर्शन कराया था। एक बार नन्द चुपके से भागकर पुनः राजधानी लौट रहा था। मार्ग में बुद्ध आगे खड़े मिले। वह कहाँ छिपता? गौतम की आँखों के लिए क्या अदृश्य था? फिर नन्द को विहार में लौटना पड़ा।

सत्रहवीं गुफा में छद्दन्त जातक की प्रसिद्ध कथा चित्रित है।[1] इसके अनुसार छद्दन्त रूप में बोधिसत्त्व हाथियों के नेता हुए। बोधिसत्त्व की दो पत्नियाँ थीं। उनमें से एक किसी कारण क्रोधित हो कर बनारस के राजा की पत्नी होने की कामना से मरी और उनकी पत्नी हो गई। उसने पूर्व जन्म के प्रतिशोध की भावना के कारण शिकारियों को बोधिसत्त्व को मारकर उसका दाँत काट कर लाने की आज्ञा दी। हाथी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शिकारियों ने उसका वध तो नहीं किया, केवल उसके दाँत काट कर रानी के सामने ला रखा। वह उसे देखते ही मूर्च्छित हो गई। अन्त में हाथी उसे उपदेश देता हुआ दिखाया गया है। महाकपि जातक का चित्रण दूसरा दृश्य है। इसमें बोधिसत्त्व का निदर्शन एक वानर-संघ के नायक के रूप में है। एक राजा आम्रफल की रक्षा के लिए वानरों को मरवाना चाहता था। उसी समय बोधिसत्त्व ने अपने शरीर से नदी के ऊपर एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक एक सेतु की रचना करके सभी वानरों की रक्षा की। संघ में देवदत्त एक बिगड़ैल वानर था। वह दुर्भाव से बोधिसत्त्व के ऊपर धमाक से कूदा और बोधिसत्त्व की रीढ़ टूट गई। राजा ने यह सब देखा तो वह बोधिसत्त्व की वृत्ति से अतिशय प्रभावित हुआ। उसने बोधिसत्त्व का उपचार कराया, सेवा की ओर उसके उपदेश सुने। बोधिसत्त्व को तो मरना था ही।

इसके आगे विश्वन्तर जातक का दृश्य है। शिवि का पौत्र विश्वन्तर अतिशय वदान्य था। जन्मते ही उसने दान दिया। आठ वर्ष का होने पर तो शरीर के अंगों का दान देने के लिए भी प्रस्तुत हो गया था। उसने वह हाथी भी दान दे डाला, जो राज्य में अवर्षण में जल बरसाता था। बस, प्रजा उसके प्राण की प्यासी हो गई। राजा ने उसे निर्वासित कर दिया। उसकी स्त्री और बच्चे साथ थे। रथदान कर देने पर वह पैदल ही पत्नी, पुत्र और कन्या के साथ निकल पड़ा। जूजक ब्राह्मण ने पुत्र और कन्या का दान भी करा लिया। वह ब्राह्मण दिन में बच्चों को चलाता था। और रात में उन्हें पेड़ से बाँधकर उसी पेड़ पर चढ़कर सो जाता था। देवता माता-पिता के रूप में आकर उन बच्चों को खिलाते-पिलाते थे। इन्द्र ने उसकी स्त्री का दान भी करा लिया। अन्त में विश्वन्तर की परीक्षा पूरी हुई। उसके पिता ने उसे राजधानी में सपत्नीक बुला कर राजा बना दिया।

महाकपि जातक में किसी ब्राह्मण के हल जोतने वाले बैलों के वन में भटक जाने पर उसे खोजते समय ब्राह्मण के मार्गभ्रष्ट होने पर कई दिन निराहार रहने का चित्रण है। एक दिन फल-प्राप्ति के लिए पेड़ पर चढ़ा और वहाँ से गहरे खड्ड

---

१. इस गुफा का निर्माण लगभग ५०० ई० में हुआ।

में गिरा। बोधिसत्त्व वानर थे। उन्होंने उसे बचाया। वह नीच ब्राह्मण बोधिसत्त्व की खोपड़ी फोड़ने के लिए ही उद्यत हो गया, जब वे सोये थे। बोधिसत्त्व ने फिर भी अपने को बचा लिया और निर्विकार भाव से उसे गाँव जाने का मार्ग बता दिया।

सरभ जातक के दृश्यचित्र में बोधिसत्त्व मृग थे और उनके पीछे शिकारियों की सेना काशिराज के नेतृत्व में पड़ी। राजा ने उन्हें घिरवाकर उन पर तीर मारा, पर बोधिसत्त्व भूमि पर गिरा हुआ-सा बन कर लोगों के अनवधान होने पर भाग निकले। अकेले राजा उनके पीछे पड़ा। मार्ग में एक खड्ड में राजा गिर पड़ा, और पानी में डूबने लगा। बोधिसत्त्व ने उसे बचाया, राजधानी लौट जाने का मार्ग बताया और राजा को सदाचार का उपदेश दिया।

मातृपोषक जातक के दृश्यचित्र के अनुसार हिमालय प्रदेश में बोधिसत्त्व हाथी थे। उनकी माँ अन्धी थी। वे माँ को लेकर एक अन्य पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने भटकते हुए एक वनवासी को पीठ पर लादकर वन के बाहर निकाला। वह वनवासी बनारस के राजा के पास गया और उसने इस श्रेष्ठ हाथी का स्थान बता दिया। शिकारियों के द्वारा पकड़े जाने पर वह राजा के पास आया। उसने कुछ खाया नहीं और राजा से अपनी माँ की बात कही। राजा ने उसे छोड़ दिया। उसने बोधिसत्त्व की स्मृति में पत्थर का हाथी बनवा कर उसकी पूजा की। उसके नाम पर राज्य हस्तिमहोत्सव मनाता था।

मत्स्य जातक के दृश्य में बोधिसत्त्व मछली थे। अवर्षण के कारण सभी जलचर अशरण हुए। उन्होंने अपने पुण्य के प्रभाव से वर्षा के देव को प्रसन्न कर पर्याप्त जलवर्षण कराया।

श्याम जातक के दृश्य में बोधिसत्त्व अन्धे चाण्डाल दम्पती के पोषक पुत्र हुए। एक दिन बनारस के राजा ने जल का घड़ा सरोवर में भरते समय उसे हरिण समझ कर मार डाला। वस्तुस्थिति का ज्ञान होने पर राजा ने उसके माता-पिता की सेवा का व्रत लिया। उसी समय देवताओं की कृपा से श्याम जी उठा और उसके माता-पिता को आँखें भी मिलीं।

महिष जातक के दृश्य में बोधिसत्त्व महिष थे। उनमें अप्रतिम बल था, पर साथ ही असीम क्षमा थी। एक वानर ने जब अनेक बार उसके ऊपर दूषण किया तो क्षमा के कारण उन्होंने कुछ नहीं किया। एक दूसरा महिष एक दिन बोधिसत्त्व के स्थान पर वानर को खड़ा मिला। वानर ने वही किया जो प्रतिदिन करता था। उस दिन तो सेर को सवा सेर मिला। वानर की जान गई।

शिवि जातक के दृश्य में शिवि अन्धे ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को आँख दे रहे

हैं। इन्द्र ने आँखें तो ले लीं, पर फिर उनसे अधिक अच्छी आँखें दे कर राजा को परीक्षा में सफल घोषित किया।

सत्रहवीं गुफा में गौतम का परिषद् के समक्ष सारिपुत्र से प्रश्न पूछ कर उसके उत्तरों के द्वारा उसकी प्रतिभा और बुद्धिमत्ता की सर्वोपरि प्रतिष्ठा करा देना प्रथम दृश्य है। दूसरा है देवदत्त का गौतम की हत्या करने के लिए नाडागिरि हाथी को लगाना। सर्वविदित है कि हाथी गौतम का शिष्य बन गया। अन्तिम दृश्य है सिंहल-अवदान का, जिसमें सिंहल के पराक्रमों और भाग्योदय का सजीव चित्रण किया गया है। इस गुफा में राहुल की माता के द्वारा अपने पुत्र को गौतम बुद्ध को समर्पित करने का मार्मिक दृश्य चित्रित है।

अजन्ता के चित्रों में मानव-कल्पना के द्वारा यथासम्भव ग्राह्य सभी रमणीय वस्तुओं का निदर्शन किया गया है, चाहे ऐसी वस्तुयें धर्म की परिधि से दूर ही क्यों न पड़ती हों। इन चित्रों में इस प्रकार सार्वजनीनता और सार्वदेशिकता प्रत्यक्ष ही हैं। अजन्ता के चित्रों की घटना-स्थली विविध प्रकार की रही है। नगर के राजप्रासाद से लेकर गाँवों की कुटिया, अरण्यों की गहन गरिमा से लेकर मरुभूमि की शून्यता, सागर और महानद, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, उपवन, वन-लता, आम्रमंजरी आदि सभी घटना-स्थली के प्राङ्गण में सन्निविष्ट हैं।

चित्र-वैशिष्ट्य

अजन्ता के चित्रों के द्वारा महामानव गौतम बुद्ध के जीवन-चरित का मानो एक महाकाव्य ही निरूपित किया गया है। जिस प्रकार गुप्तयुगीन महाकाव्यों में चरितनायक के जीवन-चरित का सूत्र लेकर विश्व की चारुतम विभूतियों को उससे उपनिबद्ध करके मानवता को रसोद्बोध के साथ ही सत्पथ का प्रदर्शन किया गया है, उसी प्रकार उन चित्रों में चरित-नायक गौतम बुद्ध के जीवन-चरित के साथ आनुषङ्गिक विधि से मानवता का इतिहास अनुबद्ध है।

अजन्ता के कलाकार तत्कालीन मानव जीवन और भारतीय प्रकृति के सफल अध्येता रहे हैं। उन्होंने जीवन-दर्शन के बल पर ही चित्रों को कला के उच्च तत्त्वों से अनुप्राणित करके मानव जीवन के सन्निकट ला दिया है। तूलिका की सन्तुलित गति से मनोरम रमणी के अंग-विन्यासों का भावपूर्ण निदर्शन और बाहुओं की लोच अथवा भौंहों की विशिष्ट रेखाओं के द्वारा निगूढ़ रसों और भावों की अभिव्यक्ति करने में कलाकारों को अद्भुत सफलता मिली है। आंगिक मुद्राओं के द्वारा जो भाव-प्रवणता नाट्यशास्त्र में निरुपित की गई है, उसका प्रत्यक्षीकरण इन चित्रों के माध्यम से सम्भव होता है। पुरुष और नारी के चित्रण में पादभाग को बहुत कम महत्त्व दिया गया है। स्त्रियों के कटिप्रदेश और स्तन को बहुत

समुन्नत दिखाया गया है। नारियों के अगणित भावपूर्ण आंगिक विन्यासों का चित्रण किया गया है। उनके शरीर को कहीं-कहीं वस्त्ररहित अथवा नाममात्र के लिए वस्त्र से आच्छादित दिखा कर आंगिक सौन्दर्य की प्राकृतिक चारुता और सौष्ठव की कल्पना कराने का प्रयास किया गया है।[१] कहीं-कहीं वस्त्रों की सजावट का चित्रण मनोरम शैली में किया गया है।

प्राय: सभी गुफाओं में चित्रण सजीव है। प्राणियों की सक्रिय और सचेष्ट मुद्रायें व्यक्त की गई हैं। वर्णों और उपवर्णों के हल्के और गहरे प्रयोग के द्वारा समष्टिगत वातावरण की अभिव्यक्ति की गई है और साथ ही व्यक्तिगत मनोभावों का निदर्शन किया गया है। प्राय: सभी रसों का चित्रण हुआ है। विभाव, अनुभाव और संचारीभावों को चित्रों में सन्निविष्ट किया गया है। कई दृश्य अनेक गुफाओं में समान रूप से चित्रित किये गये हैं। इससे उनकी लोकप्रियता सिद्ध होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता के कलाकारों को दिव्य गुण प्राप्त थे। गुफाओं के घोर अन्धकार में छतों के अन्तस्तल पर चित्रण करने में जिस मनोयोग और योग की आवश्यकता पड़ी होगी, उसकी कल्पना कर लेना सहज नहीं है। अन्यत्र कला के चमत्कार भी दिखाये गये हैं—जैसे छब्बीसवीं गुफा में मुख के एक चित्र को इस प्रकार बनाया गया है कि वह पूरा का पूरा दाहिने और बायें से एक समान ही दिखाई देता है। एक चित्र में चार हरिणों के धड़ों के लिए एक ही शिर पूर्ण रूप से सुश्लिष्ट है। केश-विन्यास के चित्रण में कलाकारों ने अद्‌भुत धैर्य और सूक्ष्म निदर्शन का परिचय दिया है। उस युग में सैकड़ों प्रकार से केश सँवारे जाते थे। उनका यथातथ्य चित्रण देखा जा सकता है।

बाघ की गुफाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि उनका काल-निर्णय निश्चयात्मक नहीं है। गुफाओं की निर्माण-कला, शैली की दृष्टि से, गुप्तकाल से भी पहले

---

१. भारतीय कलाओं में अश्लीलता की परिधि कहाँ से मानी जाती थी, यह विचारणीय विषय है। चाहे मूर्तियाँ हों या चित्र—कहीं-कहीं अर्धनग्न रूप का प्रदर्शन किया गया है। प्राचीन काल में प्राय: सर्वत्र नारी के सर्वाङ्गीण सौन्दर्य का अभिधान काव्य और कला की परिधि में समीचीन माना गया है। ऋग्वेद में ही उषा के विषय में कहा गया है कि वह भद्रयोषा की भाँति अपने रूप को प्रदर्शित करती है। जिस प्रकार यौवनोपेत रमणी पति के समीप शोभा पाती है, वैसे ही उषा सूर्य के समीप सुशोभित है। ऋग्वेद ५.८०.६। वास्तव में अश्लीलता की मर्यादा समय समय पर बदलती रही है।

की प्रतीत होती है। यत्र-तत्र गौतम बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्त्तियाँ अतिशय मनोरम बनी हैं। बाघ की चित्र-शैली में बेल-बूटे और अलंकरणों का बाहुल्य है। इन्हीं के बीच कहीं-कहीं पशु-पक्षियों और पुरुषों को विचरण करते हुए देखा जा सकता है। प्रधान चित्रावली सामने की चौथी गुफा के अलिन्द में सुरक्षित है। यहाँ की चित्रकला में स्थानीय दृश्यों को प्रायः अमरता प्रदान की गई है। इन चित्रों में आदिवासियों की मुखाकृतियाँ आज के वहाँ के आदिवासियों से स्पष्ट मिलती है।

बाघ की गुफायें मध्यप्रदेश में बाघ नदी के समीप पहाड़ी में बनाई गई हैं। उस सुदूर प्राचीन काल में २० से अधिक गुफायें रही होंगी। यहाँ का पर्वत कच्चा है, जो समय की गति का अनुसरण करते हुए, गुफाओं को धूलि में मिलाता आ रहा है। परिणामतः आज केवल १० गुफायें हैं। इनमें से कुछ गुफायें अतिशय विशाल हैं। कुछ गुफाओं में चैत्य और विहार का सम्मिश्रण प्राचीनता की ओर संकेत करता है। गुफाओं में भारी-भरकम स्तम्भ उनकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं।

तीसरी गुफा में चामरधारिणी का चित्र अतीव सुन्दर है। उसके सुकोमल अंग-विन्यास और भावभंगिमाओं के द्वारा तत्कालीन कला का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस चित्र में ऐन्द्रियक विलासिता की संयमपूर्ण झलक का निदर्शन है। चौथी गुफा में बोधिसत्त्व के चित्र हैं। चित्रों में बोधिसत्त्वों के लौकिक वैभव की झलक अनोखी है। इस गुफा में हल्लीसक के दृश्य में एक पुरुष के चारों ओर सात और छः के समूह में बँटी हुई १३ कुमारियों का नृत्य चित्रित किया गया है। प्रथम समूह की सात नर्तकियों में से एक ढोलक बजा रही है, तीन गायिकायें दोनों हाथों में काष्ठदण्ड का वाद्य प्रस्तुत कर रही हैं और शेष तीन मंजरियाँ बजा रही हैं। इनमें से प्रथम समूह के द्वारा प्रस्तुत नृत्य केवल आनन्दात्मक प्रतीत होता है, पर द्वितीय समूह के नृत्य के द्वारा मानव की उदात्त भावनाओं का निदर्शन कराया गया है। इनके केश-विन्यास के चित्रण में केशपाश को बाँधने की पुष्पमाला, वेणी में संयोजित कमल का पुष्प, वेणी-सूत्र में जटित रत्न आदि का निदर्शन कलाकार के हस्तलाघव का परिचय देते हैं। उपर्युक्त दृश्य का आधार सम्भवतः किसी राज-सभा के नाट्य-सम्बन्धी मनोरंजन का है। समीपवर्ती दृश्य में राजा तथा सामन्तों और अश्वारोहियों के चित्रण द्वारा हल्लीसक के दर्शकों की कल्पना की जा सकती है। परिचित्रण में पुष्प, पक्षी और पशुओं को दिखाया गया है।[1]

---

१. मण्डलेन च यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीसकं तु तत्।
नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥ कामसूत्र २.१०.२५।

बाघ की गुफाओं में अन्यत्र १७ घोड़ों की पाँच पंक्तियों तथा हाथियों की राजकीय शोभा-यात्रा का चित्रण है। इन चित्रों में घोड़ों और हाथियों की सजीवता, गतिशीलता और स्वाभाविकता अनुपम हैं।

अजन्ता की भाँति बाघ में भी गफाओं की भित्तियों, स्तम्भों और छतों के अन्तस्तल पर चित्रण किया गया है।

अन्य चित्रावलियाँ

बम्बई प्रदेश में अइहोल के पास बादामी के पर्वतों में चार गुफायें हैं। इन गुफाओं में उच्च कोटि के चित्र मिलते हैं। तीसरी गुफा में शिव और पार्वती का परिणय-दृश्य चित्रित है। इस चित्र में आकृतियों की सुकुमारता देखते ही बनती है। राजकीय नृत्य, सिंहासन पर बैठे राजा-रानी, परिचारिका आदि, झरोखे से प्राकृतिक दृश्य देखने वाली तीन स्त्रियाँ और एक शिशु आदि का चित्रण सफल है। सबसे बढ़कर भावपूर्ण है वियोगिनी का स्तम्भावलम्बन। वह आकाश की ओर देखती हुई मानो भाग्य से निवेदन कर रही है।

बादामी

मद्रास में तंजौर के समीप सित्तनवासन की गुहाओं का निर्माण सातवीं शती के पूर्वार्ध में पल्लव राजाओं ने करवाया। सित्तनवासल की गुहाओं में नृत्य का चित्रण विशेष सफल है। नर्तकियों की आकृतियों से भाव आदि का स्पष्ट आभास मिलता है। छत के अन्तःपटल पर सरोवर में कमल की लताओं का प्रसार चित्रित किया गया है। इनके बीच जल-जन्तु, हाथी, भैंसे, हंस, सारस आदि पक्षी चित्रित हैं। अन्यत्र यहीं पर उच्च परिवार के दम्पति का चित्रण है। गुफाओं में कहीं-कहीं जैन संस्कृति से सम्बद्ध चित्रावलियाँ है।

सित्तनवासल

एलोरा का प्राचीन नाम वेरूल रहा है। यह अजंता से ५० मील की दूरी पर अवस्थित है। यहाँ पर वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों संस्कृतियों का महान् शिक्षण-केन्द्र आठवीं शती के आसपास से विकसित हुआ था। तीनों संस्कृतियों से सम्बद्ध गुहायें मिलती हैं। गुहाओं के कैलास, लंकेश्वर, इन्द्रसभा और गणेश नामक प्रख्यात मन्दिरों में चित्र मिलते हैं। गरुड़ पर आसीन विष्णु और लक्ष्मी का चित्र विशेष रमणीय है। कहीं-कहीं कमल-वनों का चित्रण मिलता है, जिनमें हाथी, मछली, फूल तथा अप्सराओं के चित्र बने हुए हैं। आकाश में बादलों के बीच उड़ने वाली देवियों का चित्र अनोखा ही है। चित्रों में कला का सौष्ठव अजन्ता से हीन कोटि का है।

एलौरा

तंजौर के बृहदीश्वर मन्दिर में चोल राजाओं द्वारा बनवाये हुए ग्यारहवीं

बृहदीश्वर शती के अनेक चित्र मिलते हैं। इनका निर्माण श्रीराजराज ने करवाया था।

बारहवीं शती के झाँसी जिले के मदनपुर मन्दिर के अन्तःपटल पर सुन्दर चित्र बने हुए मिलते हैं।

लघु चित्रावलियाँ

दसवीं शती से बारहवीं शती तक बंगाल में पालवंशी राजाओं के आश्रय में लघु-चित्रशैली का विकास हुआ। गुजरात में ग्यारहवीं शती से सोलहवीं शती तक पश्चिमी चित्र-शैली विकसित हुई। बंगाल और गुजरात की उपर्युक्त शैलियों के चित्रण हस्तलिखित पोथियों के पृष्ठों पर मिलते हैं। इनमें से सर्वोत्तम चित्र बौद्ध दर्शन के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता पर बने मिलते हैं। इसकी प्राचीनतम चित्रित प्रतियाँ महेन्द्रपाल (८९४ ई०) तथा रामपालदेव (१०९३ ई०) के शासन-काल की हैं। इन पुस्तकों पर बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं का चित्रण मिलता है।

गुजरात-चित्रशैली का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इस शैली के प्रारम्भिक चित्र ताड़पत्रों पर और अन्तिम युगीन चित्र कागज पर मिलते हैं। चित्रों की पृष्ठ-भूमि आरम्भिक युग में ईंट के समान लाल रंग की बनाई जाती थी। अन्तिम-युगीन चित्रों की पृष्ठभूमि नीली या स्वर्णिम है। चित्रों में अंकित आकृतियों में कोणविशिष्ट मुख, नुकीली नाक और उभड़ती हुई आँखें दर्शनीय हैं। इनमें प्रासं-गिक विषयों के विन्यास और अलंकरणों की अधिकता है। चित्रों के प्रभव तीन हैं—जैन अंग-साहित्य, वैष्णव साहित्य और भौमिक दृश्य। वैष्णव साहित्य में गीतगोविन्द, भागवत तथा कृष्ण-लीला के दृश्य प्रधान हैं। लौकिक चित्रों में वसन्त-विलास की शोभा अनुपम है। वसन्त-विलास के ७९ लघु चित्र कुण्डलित चित्रपट पर मिलते हैं। इनके माध्यम से वसन्त की चारुता और सुषमा का प्रकृति पर प्रभाव दिखलाया गया है।

चित्रण-प्रक्रिया

सिन्धु-सभ्यता के युग में प्रधानतः मिट्टी के बरतनों पर अनायास प्राप्तव्य रंगों से, ताड़पत्र या बाल की बनी कूचियों के द्वारा चित्रण किया जाता था। प्रागै-तिहासिक गुफा-चित्रों के निर्माण में रंगों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कुछ विधियाँ और प्रक्रियायें अवश्य रही होंगी।

उपादान की दृष्टि से गुप्तकालीन चित्रकला महत्त्वपूर्ण है। विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में स्तम्भ, भित्ति या छत के अन्तःपटल को यथासम्भव समतल करने के लिए वज्रलेप लगाने का विधान है। वज्रलेप के बनाने में पत्थर का चूर्ण, मिट्टी गोबर, भूसा, तिनका, सीरा आदि का मिश्रण होता था। इसको तल पर लगाकर कर्णिका से बराबर किया जाता था। सूखने के पहले इस पर चूना पोत दिया जाता था। अन्त में चित्रण के पहले उस तल पर रंग चढ़ाया जाता था।

तल पर पहले धातुराग से चित्र की साधारण रेखायें खींच ली जाती थीं। इसके पश्चात् चित्रण की प्रायः वही प्रक्रिया चलती थी, जो आजकल प्रचलित है। रंगने के लिए धातुराग, कुंकुम या सिन्दूर, हरिताल, नील, राजावर्त, कज्जल, खड़िया, गैरिक आदि काम में लाये जाते थे। रंगों के पारस्परिक मिश्रण से नये रंग बना लिए जाते थे। इस प्रक्रिया को वर्ण-संकर कहा जाता था। शंख के चूर्ण से श्वेत, दरद से शोण और आलक्तक से लाल रंग बनाये जाते थे।

गुप्तकाल में पत्थर, भित्ति, मिट्टी के बर्त्तन, फलक, वस्त्र, हाथीदाँत और शरीर पर चित्र बनाये जाते थे। इनमें से प्रायः प्रत्येक के लिए विभिन्न प्रकार के रंगों का प्रयोग किया जाता था। हाथी के शरीर पर आजकल की भाँति सिन्दूर से ध्वज, शंख आदि के चित्र बनाये जाते थे। शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों से चित्र बनाने की रीति थी। कपोल पर पत्रलेखा चित्रित करने के पहले चन्दन या शुक्लागरु का लेप किया जाता था। फिर उस पर गोरोचन या धातुराग लगाया जाता था। चित्रण के पहले वस्त्र को धोकर माँड़ से घोटा जाता था। वस्त्रों पर चित्र गोरोचन से बनाये जाते थे।

चित्रकार की तूलिका में बछड़े के कान के पास के रोयें या गिलहरी की पूंछ के रोयें लगाये जाते थे। रेखायें खींचने के लिए तिन्दुक का उपयोग होता था। तिन्दुक ताँबे के पतले तार से बनाया जाता था।

सुदूर प्राचीन काल से चित्रकला-सम्बन्धी प्रकरण शिल्पशास्त्रों में मिलता है। इसके अनुसार चित्र के छः अंग हैं—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजन, सादृश्य और वर्णिकाभंग।[1] रूपभेद है निरूपणीय वस्तु का सर्वाङ्गीण पर्यवेक्षण, प्रमाण के द्वारा आकार-प्रकार का ज्ञान होता है। भाव में निरूपणीय वस्तु के द्वारा प्रकटित रस-सामग्री होती है। लावण्य-योजन के द्वारा चित्र में कलात्मक चारुता

---

१. रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यवर्णिकाभंगः षडेते चित्रमङ्गकम्॥
कामसूत्र की यशोधर लिखित टीका से।

की अभिव्यक्ति की जाती है। सादृश्य समानता है। वर्णिकाभंग रंग भरने की कला है।

चित्रलक्षण नामक संग्रह में चित्र की विशुद्धि-सम्बन्धी नियमों का विस्तार-पूर्वक आकलन किया गया है। इसमें देवताओं और मानवों की आकृतियों के चित्र-प्रमाण के नियम बतलाये गये हैं और चित्रण-सम्बन्धी सूक्ष्मता की विशेषताओं का निदर्शन किया गया है। इसके अनुसार देवताओं और राजाओं के सिर के बाल घुंघराले होने चाहिए। नारी-चित्रों में लावण्य-संयोजन के लिए उनकी आकृतियों को नवयौवन-सम्पन्न शरीर की भाव-भंगिमाओं के द्वारा सुघटित करने का नियम बताया गया है।[1]

परवर्ती युग में चित्र के दो भेद—आर्द्र और शुष्क मिलते हैं। आर्द्र चित्र चन्दन आदि द्रव पदार्थों से बनाये जाते थे। शुष्क चित्र कृत्रिम या अकृत्रिम रंगों से भूतल पर, जल पर या आकाश में बनाये जाते थे।[2]

विदेशों में प्रसार

बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय चित्रकला विदेशों में फैली। लंका, स्याम, ब्रह्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान, चीन आदि देशों में जो प्राचीन या आधुनिक चित्रकला है, उस पर भारतीय कला की छाप परम्परागत वर्त्तमान है। चित्रों के माध्यम से धर्म की शिक्षा देने का प्रचलन उन देशों में विशेष रूप से चला, जहाँ की भाषा प्रचारक लोग भलीभाँति नहीं जानते थे। चीन में ईसवी शती के आर-म्भिक युग से लेकर सातवीं शती तक असंख्य चित्र यात्रियों के द्वारा भारत से लाये गये। जापान के होरिउजी मन्दिर के कुछ चित्र अजन्ता के अनुरूप हैं। पूर्वी तुर्कि-स्तान के खोतान प्रदेश में भारतीय चित्रकला का विशेष रूप से प्रसार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चित्रकारों ने वहाँ जाकर चित्रों की रचना की है।

चित्रों की लोकोपयोगिता

वन्य-चित्रों और नागर-चित्रों से प्रायः सदा ही लोगों के घर—कुटी से लेकर प्रासाद तक अलंकृत होते आये हैं। वन्य-चित्रों से वनवासी आखेटकों का उत्साह बढ़ता था। चित्रों की एक महती उपयोगिता रही है—अपने शरीर को रँगना

---

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रसूत्र अध्याय ३६–४२।

२. रविषेण का पद्मपुराण २४. ३६–३७।

या चित्रित करना। प्रत्यक्ष रूप से रस-निष्पत्ति कराना चित्रकला की निजी विशेषता है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में वस्त्रों और पात्रों पर चित्र बनाकर उन्हें मनोरम रूप दिया जाता था। कुछ बरतनों पर विविध रंगों का ओप होता था। इन पर वृत्त या त्रिभुज का रेखांकन होता था। कुछ बरतनों पर बेल-बूटे बनाये जाते थे। चित्रित पात्र श्मशान में शव के साथ रखे जाते थे। चित्रकला का उपयोग सिन्धु-सभ्यता के युग में चित्रमयी लिपि के माध्यम से भी हुआ।

वैदिक युग में धार्मिक विधानों के साथ चित्रकला का सामंजस्य होने में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। याज्ञिक वस्त्रों पर यज्ञ-रूपों का काढ़ना इस दृष्टि से यज्ञ का आवश्यक अंग था।[1] व्यावहारिक क्षेत्र में उस युग में गौओं को चिह्नित करने के लिए उनके कानों पर विविध प्रकार के चित्र बनाये जाते थे।

महाभारत के अनुसार ध्वजाओं की पताकायें इन्द्रधनुष के समान रंगी जाती थीं।[2] बड़ी सभाओं में लोगों को बैठाने के लिए ज्यामिति का सहारा लिया जाता था। साथ ही पशुओं की आकृति अंकित करके तदनुसार लोगों के बैठने के लिए स्थान नियत किये जाते थे। द्रौपदी के स्वयंवर में शिशुमार की आकृति के अनुसार लोग बैठाये गये थे।[3]

बौद्ध साहित्य के अनुसार चित्रों की सार्वजनिक उपयोगिता प्रकाम रूप से थी। कुम्भकारों के बरतनों पर चित्र बनाये जाते थे। माली मालाओं में चित्र निवेशित करते थे। बँसफोड़ा पंखों पर चित्र बनाते थे।[4] राजाओं के रथ सुचित्रित हुआ करते थे।[5] मनोरंजन के लिए चित्र बनाने का प्रचलन विशेष रूप से था।[6] वस्त्रों पर पुष्प, नागफण और पशुओं के चित्र बनाये जाते थे। ऊनी चादर पर पुष्प बनाये जाते थे। भिक्षु कमण्डलु के पेंदे रंग लेते थे। घर की दीवालों पर लोग नर-नारी के मनोरम चित्र बनाते थे। विहारों की दीवालों पर भिक्षु माला, लता आदि के चित्र बनाते थे।[7] राजकीय मनोरंजन के लिए चित्रागार होता था।

---

१. शतपथ ब्रा० ५.३.५.२०।
२. महा० द्रोणपर्व ८०.७।
३. महा० आदि० १७६.१५–१६।
४. कुसजातक ५३१।
५. धम्मपद जरावग्ग ६।
६. चुल्लवग्ग १.१३.२।
७. महावग्ग ५.१०.३; ८.२९ तथा ५.९, चुल्लवग्ग ६.३.२।

चित्रण से नागरकों की शृंगारमयी लीलाओं का उद्दीपन होता था। वे पत्र-छेद्य की क्रिया में अपने अभिप्राय के सूचक मिथुन का चित्र बनाकर नायिकाओं को दिखा कर उनका मनोरंजन करते थे।[1]

अजन्ता की चित्रकला का अभ्युदय महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था। चित्राचार्यों का प्रथम उद्देश्य था मानवता में सत्प्रवृत्तियों को जगा देना और गौतम बुद्ध, उनके धर्म और संघ के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कराना। इन सभी प्रयोजनों की एक साथ सिद्धि चित्राचार्यों की तूलिका के सहारे कर लेने का आयोजन प्रशस्त था।[2] गुप्तकाल में राजा के दुकूल पर हंस का चित्र बनता था।[3] वस्त्रों पर गोरोचन से हंस के चित्र बनाये जाते थे।[4] राजप्रासादों में राजकुटुम्ब का चित्र बनता था। नायक और नायिका का एक दूसरे का चित्र खींच कर मनोविनोद करना या उनकी संगति की अनुभूति करना साधारण रीति थी। जब भिक्षुओं के आवास तक को इतना चित्रित किया जाता था तो समृद्धिशाली गृहस्थों के घरों के विशेष चित्रित होने की कल्पना अनायास होती है।

सातवीं शती में धार्मिक विधानों के सम्पादन में चित्रण की अपेक्षा रहती थी। पुत्र-जन्म के अवसर पर धनी-मानी लोगों के घर में षष्ठी देवी का चित्र बनाया जाता था और हरिद्रा की पिट्ठी से चित्र बनाये जाते थे।[5] यमपट्टचित्र के माध्यम से इहलौकिक और पारलौकिक नश्वरता के सम्बन्ध में भाषण देने का प्रचलन था। धर्म-प्रचार के लिए चित्रों का बहुविध उपयोग होता था। जहाँ प्रचारक की भाषा जनता नहीं समझती थी, वहाँ चित्रों की अभिव्यक्ति ही भावों की व्याख्या करने में समर्थ होती थी।[6] बौद्ध-चित्रकला-अभ्युत्थान में चित्रों की इस उपयोगिता का विशेष योग रहा है।

सातवीं शती में वस्त्रों को रँगकर, उन पर चित्र छापकर तथा बेल-बूटे

---

१. कामसूत्र ३.४.४।

२. इन चित्रों में यदि कहीं शृंगार का प्रवेश हुआ है तो उसके समाधान के लिए अश्वघोष का नीचे लिखा श्लोक विचारणीय है—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः।
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।।

३. रघुवंश १७.२५।

४. विक्रमोर्वशीय १.४२ श्लोक के पहले।

५. कादम्बरी, पृ० ७१।

६. *Percy Brown* : Indian Painting, P. 26.

बनाकर अलंकृत करने का प्रचलन बढ़ा। शरीर को चित्रों से अलंकृत करने की रीति भी अधिक प्रचलित हुई। कपोलों पर कुंकुम-पत्रलता और स्तनों पर कालागरु से पत्रों और पुष्पों की आकृति बनाई जाती थी। मणिमय पुत्तलियों के स्तन पर कुंकुम-रस से फूल-पत्ते बनाये जाते थे।[१]

कादम्बरी के अनुसार राजप्रासाद की भित्तियों पर चित्रों का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनके माध्यम से अखिल विश्व के रूप का ज्ञान हो सके।[२] राज्यश्री के विवाह के अवसर पर अनेक चित्रकार मांगलिक दृश्यों का चित्रण करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। मिट्टी के कच्चे बरतनों पर पत्र तथा लता का चित्रांकन उस अवसर पर किया गया था।

राजाओं के अपने चित्रप्रासाद हुआ करते थे। उनमें देश-विदेश के चित्रकार अपनी अनुपम कृतियों को अमर स्वरूप देने की चेष्टा करते थे।[३] राजा और रानियों की आकृतियाँ चित्रपट पर बनाई जाती थीं। नायक और नायिकाओं के चित्र उनके विवाह-प्रकरण में उपयोगी होने की दृष्टि से रचे जाते थे।[४] राजकीय लीलागृह में सुश्रीक नायक और नायिकाओं के चित्र भित्तियों पर बनते थे।[५] रमणियों के अंगों पर चित्र बनाये जाते थे। नायक और नायिका एक दूसरे की प्रीति के लिए परस्पर चित्रण करते थे।[६]

पौराणिक उल्लेखों के अनुसार चक्रवर्ती सम्राटों के अभिषेक के अवसर पर उनके बैठने के लिए सिंहासन पर जो व्याघ्रचर्म बिछाया जाता था, उस पर द्वीपों के साथ पृथ्वी का चित्रण होता था।[७] ज्योतिष आदि कई विद्याओं के शिक्षण में चित्रों का उपयोग होता था।[८]

चित्र-शैलियाँ

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि भारत में सुदूर प्राचीन काल से ही

---

१. कादम्बरी, पृ० ७०–७१।

२. कादम्बरी, पृ० ५१।

३. कथासरित्सागर ९.५.३७–४६।

४. कथासरित्सागर ९.५.७९।

५. नैषधीय-चरित १.३८।

६. वही ६.६९; ६.७४।

७. पद्मपुराण पातालखण्ड चौथा अध्याय।

८. सूर्यसिद्धान्त का परिलेखाधिकार।

चित्रों की बहुविध उपयोगिता प्रतिष्ठित रही है। उपयोगिता के विविध क्षेत्रों में विभिन्न चित्र-शैलियों का विकास हुआ। इन शैलियों का वैशिष्टय प्रायोगिक माना जा सकता है और इनके भेदक प्रयोजन के अतिरिक्त उपादान भी हैं।

व्यावसायिक शैली सबसे अधिक प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत मिट्टी और धातुओं के बरतनों पर बने चित्र, वस्त्रों पर बने चित्र, मालाओं में निवेशित चित्र तथा पंखे आदि पर रँगे चित्र आते हैं। ऐसे चित्रों की संख्या तो अधिक रही, पर उनमें कला की दृष्टि से प्रतिभापूर्ण नवोन्मेष का अभाव-सा कहा जा सकता है। इसके दो प्रधान कारण थे—प्रथम तत्सम्बन्धी चित्रकारों का हीन कोटि का होना और द्वितीय इन चित्रों का स्वल्पकालीन होना। ऐसी स्थिति में यह शैली बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रही है।

दूसरी शैली भित्ति-चित्रों की है। इस शैली के चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके चिरकालीन होने की सम्भावना रही है। भित्ति-शैली को तत्कालीन राजाओं का संवर्धनात्मक आश्रय मिला। यही कारण है कि सर्वोच्च चित्राचार्यों की कलायें इस के माध्यम से प्रस्फुटित हुई हैं। इस शैली के संवर्धन में बौद्ध भिक्षुओं को विशेष श्रेय दिया जा सकता है। वे उच्चकोटि के चित्राचार्य थे क्योंकि उनकी दार्शनिक भावनायें सविशेष समुन्नत थीं और उन्होंने एकाग्र चिन्तन तथा अभिनिवेश के साथ चित्रांकन के क्षेत्र में प्रवेश किया था। तीसरी शैली ज्यामिति-चित्रों की है। यह सभी शैली के चित्रों में मूल रूप से अवश्यमेव वर्त्तमान रहती है। स्वतन्त्र रूप से मांगलिक रूपों के निर्माण में अथवा सुन्दर आकृतियों के बनाने में इसका प्रयोग होता आ रहा है।

चौथी शैली प्रसाधन-चित्रों की है। शरीर के विविध अंगों पर विशेषतः ललाट और कपोलों पर सुगन्धित, शीतल और मनोरम लेपों से जो चित्र बनाये जाते थे, उनकी नित्य नूतनता और रसात्मकता स्वभावसिद्ध ही हैं। प्रायः सुसंस्कृत नागरक इस शैली के चित्रण में निष्णात होते थे।

पाँचवीं शैली थी पटों और फलकों पर बने हुए चित्रों की। इसके प्रणेता, जहाँ तक नायक और नायिकाओं के परस्पर चित्रण का सम्बन्ध है, सुसंस्कृत नागरक रहे हैं। राजाओं और उनकी प्रेयसियों के ऐसे चित्रण में व्यापृत होने के बहुशः उल्लेख मिलते हैं।

अन्तिम शैली टंकन-सबन्धी है। इसका उपयोग धातुओं के फलकों पर, पत्थर या काठ पर टंकन या तत्क्षण के द्वारा चित्र-रूप बनाने में होता था। पत्थर की मूर्तियों का निर्माण करने में पहले टंकन-बिधि से मूर्ति का प्रथम विन्यास चित्र-रूप में किया जाता था। ऐसे कुछ चित्र अजन्ता की गुफाओं में अब भी वर्त्तमान हैं।

कुछ कारणों से इन चित्रों के आधार पर मूर्ति बनाने का काम सम्पन्न न हो सका और तत्संबन्धी रेखा-चित्र इस शैली के प्रतिनिधि-रूप विराजमान हैं।

धार्मिक चित्रों की शैली सनातन कही जा सकती है। इनमें देवी-देवताओं के चित्र तथा मांगलिक चित्र आते हैं।

तिब्बत के सत्रहवीं शती के इतिहासकार तारानाथ ने बौद्ध कला की तीन शैलियों का उल्लेख किया है—देवशैली, यक्षशैली और नागशैली। देवशैली मगध में छठीं शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक प्रचलित रही। इसके पश्चात् यक्षशैली का प्रवर्तन हुआ। नागशैली नागार्जुन के समय में प्रचलित थी। नागजाति कला के क्षेत्र में प्रवीण थी। यह शैली तीसरी शती ई० से चली। तीसरी शती से इसका ह्रास हुआ, पर पाँचवीं शती से मध्य देश, पश्चिम देश और पूर्व देश में क्रमशः इनका विकास हुआ।[1]

मूर्तिकला

अनादि काल से कलाकार असंख्य उपादानों से अपनी भावनाओं को मूर्त-रूप देते आये हैं। कृत्रिम रूप की रचना करना मानवोचित स्वभाव-सा है। कला की पृष्ठभूमि प्रायः व्यंग्यात्मक होती है। वृक्ष की एक टहनी को वृक्ष मान लेना, पत्ते का बैल बनाकर आनन्द मनाना, पत्र की नाव बनाकर उसे पानी में बहाकर ताली पीटना आदि आज भी बालकों के नित्य के खेल हैं। यही व्यंग्य आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं के उच्च स्तर का आश्रय लेकर मन्दिर और मूर्ति को पूज्यता प्रदान करने तथा उसमें देवताओं की प्रतिष्ठा करने का प्रधान कारण होता है। आज भी सहस्रों वर्ष पुरानी कला का मानो परिचय देने के लिए ही असंख्य मूर्तियाँ रह गई हैं, पर उनसे कई गुनी अधिक मूर्तियाँ बनीं और नष्ट हो गईं। मूर्तियों के स्थायित्व के लिए उनके उपादान की दृढ़ता आवश्यक रही है। धातु और पत्थर तथा मिट्टी की पकाई हुई मूर्तियाँ सहस्रों वर्षों तक रह सकी हैं, पर वस्त्र, बाल, चर्म, कच्ची मिट्टी, पुट्ठे, काठ, पत्र आदि की बनाई हुई मूर्तियाँ अधिक दिनों तक नहीं टिक सकीं।

मूर्तियाँ भी संस्कृति के आदिकाल से बनीं। पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों को बनाने वाले प्रस्तर-युग के आदिवासी इन अस्त्र-शस्त्रों को रूप देते हुए मूर्ति ही बना रहे थे। अस्त्र-शस्त्रों को रूप देने के साथ ही मूर्तिकला का जन्म हुआ। ऐसे अस्त्र-शस्त्र हजारों वर्ष पहले के प्रस्तर-युग से मिलते हैं।

---

१. इन शैलियों की कल्पना देश-भेद के अनुसार है।

प्रागैतिहासिक कला

मूर्तियों के निर्माण का ऐतिहासिक परिचय नहीं मिलता। कहीं-कहीं कुछ प्राचीन युग की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। उनके सम्बन्ध में पुरातत्त्वविदों का मत है कि उनके निर्माण की तिथि अनिश्चित है। भैंस, भेड़, बकरी, चीता, शेर आदि की धातु की बनी प्रतिमायें दक्षिण भारत में कोयम्बटूर तथा तिन्नेवल्ली जिलों में मिली हैं। इनका निर्माण द्राविड़ सभ्यता के लोगों ने किया।[1] गुङ्गेरिया में अनेक पशुओं की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि ये बहुत पुरानी हैं।[2]

भारतीय मूर्तियों का सर्वप्रथम प्रत्यक्ष परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों के माध्यम से मिलता है। उस युग में अनेक शैलियों और उपादानों से मूर्तियों का निर्माण होता था। इनमें से बहुप्रचलित विधियाँ थीं—(१) पत्थर का तक्षण करके, (२) धातुओं को ढालकर, (३) ठप्पा लगाकर, (४) हाथ से मिट्टी की मूर्ति बना कर उसे पका कर। तत्कालीन कलाकारों को इन सभी शैलियों में अद्भुत कौशल प्राप्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्तिकला की साधना शैशवकाल से ही होती थी और बालक मिट्टी के खिलौनों के निर्माण से मूर्तिकला सीखने का समारम्भ करते थे। ऐसे खिलौनों की संख्या अगणित ही है।

सिन्धु-सभ्यता की मूर्तिकला बलशालिनी थी तथा उसकी वृत्ति यथार्थवादिता की ओर थी, आदर्शवादिता और व्यंजना की ओर नहीं। मोहेंजोदड़ों में प्राप्त खड़िया-पत्थर की बनी योगी की मूर्ति कला की दृष्टि से अद्वितीय मानी जा सकती है। इसका सौष्ठव प्रत्यक्ष ही प्रमाणित करता है कि सैकड़ों वर्षों की कला-साधना आचार्य-परम्परा से प्रस्फुटित होती हुई इस उच्चता को प्राप्त कर सकी होगी। ध्यानावस्थित योगी के आंगिक विन्यास, उसके वस्त्र, अलंकरण आदि का यथार्थ निदर्शन किया गया है। मूर्ति में धातुओं के जड़ाव का काम भी किया गया है। इस मूर्ति के वस्त्र-भाग पर तिनपतिया का तक्षण लाल रंग से पूरित किया गया है।

---

१. Archaeological Survey of India Report 1902-3 p. 111-140.

२. डा० स्मिथ ने १९०५ में इण्डियन एण्टिक्वेरी में इन मूर्तियों के विषय में लिखा—

The Irish celts many of which are identical with those of Gungeria specimens are assigned to period 2000 B. C.

सिन्धु-सभ्यता की मूर्तियों में हड़प्पा में प्राप्त लाल पत्थर की बनी हुई पुरुष की मूर्ति का धड़-भाग सर्वोत्तम है। इसमें मानव की स्वाभाविक आकृति का तक्षण अपूर्व कुशलता से किया गया है। भूरे पत्थर की बनी हुई नर्तकी की वहीं पर प्राप्त मूर्ति का सिर धातु की बनी खूंटियों से सम्बद्ध है। इसके लिए हाथ, पैर आदि पत्थर के टुकड़ों से अलग-अलग बनाकर जोड़े गये हैं।[1] मोहेंजोदड़ो में मिली हुई काँसे की नर्तकी की मूर्ति के आंगिक विन्यासों का भव्य तक्षण किया गया है। इस मूर्ति में नृत्य के हाव-भाव का प्रदर्शन किया गया है। इनके अतिरिक्त मिट्टी की बनी हुई नर्तकियों की अनेक मूर्तियां मिलती है।

वैदिक मूर्तिकला

भारतीय शिल्प और कलाओं की व्यंजनात्मक शैली की रूप-रेखा वैदिक साहित्य की कल्पनाओं के द्वारा बहुत कुछ नियत हुई है। ऋग्वेद में अग्नि की सौ या सहस्र आँखों की और पुरुष (विश्वरूप) के सहस्र सिर, आँख और पादों की कल्पना की गई है। उपनिषदों में यथार्थता से ऊपर उठकर व्यंजना के सहारे विश्व की सभी वस्तुओं का निरूपण किया गया है। यही व्यंजनात्मक प्रणाली शिल्प और कला के क्षेत्र में आगे चल कर प्रस्फुटित हुई है। पाश्चात्य कलाओं में यथार्थ या प्रकृति का अनुकरण-मात्र पर्याप्त समझा गया, किन्तु भारतीय कलाओं के पीछे इस देश के निवासियों को पौराणिक, धार्मिक और दार्शनिक कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के सामने यथार्थ के अवलम्बन-मात्र से कल्पित रूपों की सृष्टि की गई है। इस प्रकार विष्णु और शिव की चार बाँहों की कल्पना हुई अथवा देवमन्दिर का शिखर अनन्त आकाश की ओर संकेत करता हुआ दिखाया गया।

---

१. इस मूर्ति के निर्माण की शैली कुशन-युगीन मूर्तिकला से इतनी मिलती-जुलती है कि इसके निर्माण-काल के सम्बन्ध में कुछ पुरातत्त्वविदों को भ्रम-सा हो जाता है। वे इसे परवर्ती-युगीन मानते हैं। उनका मत सर्वथा निराधार है, क्योंकि परवर्ती-युगीन मूर्तियों में कहीं भी जड़ाव की वह शैली प्रचलित नहीं है। ऐसा जड़ाव उस युग की मूर्तियों की एक विशेषता रही है। इस सम्बन्ध में पिगट का मत है:—The sum of evidence, therefore, suggests that naturalistic human sculpture which even foreshadows later Indian artistic mode was produced in the Harappa civilisation and was already essentially Indian, *Prehistoric India*, *p*. 187.

वेदकालीन मूर्तियों के प्रायः साहित्यिक उल्लेख मिलते हैं। उस समय पलाश के पत्तों के ३६० डण्ठलों से जो मानवाकृति बनाई जाती थी, उसके प्रत्येक अंग की रचना के लिए डण्ठलों की संख्या नियत थी।[1] अग्निवेदिका के निर्माण में स्वर्ण-पत्र पर स्वर्ण की बनी हुई प्रजापति की पुरुषाकार मूर्ति रखी जाती थी।[2] कृत्या की पुरुषाकार यन्त्रात्मक मूर्ति बनाने का प्रचलन था।[3] ब्राह्मण साहित्य और श्रौत सूत्रों के अनुसार देवी-देवताओं, मानव, पशु-पक्षी आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।[4] इसके लिए मिट्टी, सोना या अन्न उपादान-रूप में प्रयुक्त होते थे।

महाभारत में मूर्ति-निर्माण के उल्लेख मूल कथावस्तु से सम्बद्ध हैं। यथा, द्रोणाचार्य का लौह शूकर बनवाकर अर्जुन आदि विद्यार्थियों की परीक्षा लेना, अर्जुन-द्रौपदी-स्वयंवर में कृत्रिम मत्स्य-सन्धान आदि प्रकरण कथांश के निदर्शक होने के कारण मूर्तिकला के प्राचीनतर समारंभ को प्रमाणित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि महाभारतीय युद्ध ऐतिहासिक है तो उपर्युक्त मूर्तिकला उसी ऐतिहासिक युग से सम्बद्ध है और यह महाभारतीय मूर्तिकला १००० ई० पू० से बहुत पहले की है—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

लौरियानन्दन गढ़ की श्मशान-भूमि में स्वर्ण-पत्र पर अंकित जो देवी की मूर्ति मिली है, वह सम्भवतः वेदकालीन है और उसके द्वारा पृथ्वी-माता का अंकन किया गया है। ऐसी ही मूर्ति पिपरावा के स्तूप में मिली है। इस स्तूप की रचना चौथी ई० शती पूर्व में हुई थी। यह मूर्ति स्वर्णपत्र की है। यहाँ पर पांच हंसों का तक्षण मिला है, जिसमें हंस कमल-नाल लिये हुए हैं। इसके द्वारा गौतमबुद्ध के प्रथम पाँच शिष्यों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की सम्भावना है। वे बुद्ध के सन्देश को दूर देशों में पहुँचा रहे हैं।

---

१. 'तेषां पुरुषरूपकमिव कृत्वा' आदि, ऐतरेय ब्राह्मण ७.२.२।

२. अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिं सोऽग्नि स यजमानं स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्नि पुरुषो भवति। पुरुषो हि प्रजापतिः। शतपथ ७.४.१.१५।

३. अथर्ववेद में अभिचार प्रकरण में ऐसी मूर्तियों के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं। कृत्या के रूप के वर्णन के लिए देखिए अथर्व० १०.१।

४. तिस्रो देवीः हिरण्ययीः भारतीर्बृहतीर्महीः। तैत्तिरीय ब्रा० २.६.१७। कात्यायन श्रौतसूत्र १६.१.३२। मानव की स्वर्ण-मूर्ति का उल्लेख दीघनिकाय २.५ जनवसभासुत्त में है।

मौर्यकालीन मूर्तिकला

सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक मौर्यकालीन मूर्तियों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। मौर्यकालीन मूर्तिकला का सर्वोच्च आदर्श अशोक के बनवाये हुए स्तम्भों के सिरों पर प्रतिष्ठापित पशुओं की मूर्तियों में मिलता है। इनमें से सारनाथ का स्तम्भ कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। यह स्तम्भ ऊपर की मूर्तियों के सहित आरम्भ में लगभग ५० फुट ऊंचा था। इसका निर्माण काशी से २० मील दक्षिण में स्थित चुनार में प्राप्त केवल एक शिला-खण्ड से हुआ था।[१] इसका सिंह की मूर्तियों वाला शिरोभाग ७ फुट ऊंचा है। इसके ऊपर २ फुट ९ इंच व्यास के पत्थर का एक धर्मचक्र प्रतिष्ठापित था।[२] सिंह की मूर्तियों के मण्डलाकार आसन के मध्यभाग पर चारों दिशाओं में संचरणशील सिंह, हाथी, वृषभ और अश्व की मूर्तियाँ क्रमशः उत्कीर्ण हैं।[३] प्रत्येक मूर्ति के साथ एक-एक धर्म-चक्र भी बना है। इस आसन का आधारभूत पत्थर पट पड़े हुए विकसित कमल के रूप में उत्कीर्ण किया गया है।

उपर्युक्त स्तम्भ की मूर्तियों को विश्व की कलाकृतियों में ऊँचा स्थान मिला है। इनके विषय में सर जान मार्शल ने लिखा है—'मूर्तियों की ओजस्विता और स्वाभाविकता अद्भुत है। इनकी निर्माण-शैली से उस ऋजुता और व्यंजना का परिचय मिलता है, जो सर्वोत्तम शिल्प-कला की कुंजी है। भारत ने इनसे अच्छी मूर्तियों का निर्माण नहीं किया। उपर्युक्त आदर्श पर बने हुए अशोक के स्तम्भ सारनाथ के अतिरिक्त दिल्ली, प्रयाग, विहार में चम्पारन जनपद के रामपुरवा गाँव, लौरियानन्दन गढ़, साँची आदि स्थानों में अब तक विद्यमान हैं। इन्हीं स्तम्भों पर अशोक के अमर सन्देश उत्कीर्ण हैं।

स्तम्भों के शिरोभाग की पशु-मूर्तियों में रामपुरवा का साँड़ कला की दृष्टि

---

१. सारनाथ में अशोक ने सभी स्तम्भ बनवाकर उन्हें देश के विविध भागों में स्थापित करवाया। इन स्तम्भों का ओप अद्वितीय ही है, जिसके कारण आज भी उनमें चमक है।

२. धर्मचक्र की इस सर्वोपरि प्रतिष्ठा से ध्वनित होता है कि धर्म का स्थान लौकिक शक्ति और ऐश्वर्य से ऊपर है। सिंह लौकिक विभूतियों का मूर्तिमान् प्रतीक है।

३. सिंहों के नीचे बने हुए पशुओं के सम्बन्ध में प्रतीकात्मक व्याख्यायें मिलती हैं। यथा सिंह स्वयं बुद्ध हैं। हाथी माया है। अश्व महाभिनिष्क्रमण द्योतित करता है। और वृषभ धर्म का प्रतीक है।

से अतीव सफल कृति है और सिन्धु-सभ्यतायुगीन कला की स्मृति दिलाता है। अशोक के युग की बनी हुई धौली की चट्टान को काटकर बनाई हुई हाथी के अग्र-भाग की मूर्ति में उस पशु की सजीवता, महिमा और मन्द्रता का प्रत्यक्ष निदर्शन किया गया है।

मौर्यकालीन मानव-मूर्तियों का प्रथम परिचय यक्ष और यक्षिणियों की विविध स्थानों में प्राप्त मूर्तियों से मिलता है। यक्षों की पूजा भारत के आर्येतर समाज में सुदूर प्राचीन काल से चली आ रही है। पौराणिक युग में धार्मिक विधानों के माध्यम से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिन्दू-समाज में इसका प्रचलन हुआ।[1]

मौर्यकाल की मथुरा के समीप परखम में मणिभद्र यक्ष की एक तथा पटना के समीप दो मूर्तियाँ मिली हैं। उसी युग की बनी हुई यक्षिणी की एक उत्तम मूर्ति दीदारगंज में मिली है। ग्वालियर में भी मणिभद्र यक्ष की एक मूर्ति मिली है। इन सभी यक्ष-मूर्तियों की विशालता अद्भुत है। इनकी निर्माण-शैली में भावनिरूपण का अभाव-सा है। केवल भारी-भरकम आकार-प्रकार से यक्षों की उच्चता और समृद्धिशालिता की अभिव्यक्ति की गई है। यक्षों के पहनावे और अलंकरण का तक्षण सफलतापूर्वक किया गया है। परवर्तीयुगीन भारतीय शैली के अनरूप बनी हुई गौतम बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियों की कलाशैली उपर्युक्त यक्ष-शैली से मिलती-जुलती है। उड़ीसा में धौली में एक चट्टान को काट कर पूर्णाकार हाथी की मूर्ति बनाई गई है। वहीं पर अशोक का धर्मलेख भी है।

शुङ्गकालीन मूर्तिकला

मौर्ययुग के पश्चात् भरहुत और साँची-स्तूपों के प्राकार या वेदिकायें तथा तोरण परवर्ती युग में द्वितीय ई० शती पूर्व में बने। वेदिकाओं और तोरणों पर छोटी-बड़ी असंख्य मूर्तियाँ चित्रशैली पर बनाई गई हैं। वेदिकाओं के निर्माण के लिए लम्बरूप स्तम्भों और अनुप्रस्थ सूचियों का प्रयोग हुआ है। तोरणों और प्राकारों पर तत्कालीन सामाजिक जीवन—विविध मनोरंजन, समाज, उत्सव, राजसभा, नगर, वन, ग्राम, हास्य आदि का स्वाभाविक एवं सांगोपांग निदर्शन तक्षण के माध्यम से किया गया है। स्थान-स्थान पर गौतम के जीवन-चरित, जातक-कथाओं, बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण घटनाओं और मानुषी बुद्धों का मूर्त स्वरूप मिलता है। साथ ही छद्दन्त जातक, महाकपि जातक, विश्वन्तर जातक, श्याम जातक आदि का तक्षण है।[2]

---

१. भागवत २.४.२९।

२. इन जातकों की कथाओं के लिए देखिये, पृष्ठ ९९१–९९२

गौतम बुद्ध के जीवनचरित-सम्बन्धी तक्षणों में उनका जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण दिखाये गये हैं। अन्य दृश्य हैं माया का स्वप्न, चार-विहार-यात्रायें, महाभिनिष्क्रमण, सुजाता का क्षीरौदन-दान, स्वस्तिक का कुश-प्रदान, मार से युद्ध, चंक्रमण, रत्न-गृह-निवास, न्यग्रोघाराम में शाक्यों को उपदेश, कपिलवस्तु-गमन, उरुवेला में नदी पर चलना, जेतवन-विहार, श्रावस्ती में आम्रवन में उपदेश, वानर के द्वारा मधु-दान, इन्द्राभिगमन, राजगृह के राजा का बुद्ध से मिलना। बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में (१) कुशीनगर का घेरा और भस्मावशेष का विभाजन (२) रामग्राम में स्तूप की अस्थि को विभाजन करने के लिए प्राप्त करने में अशोक की असफलता, (३) अशोक का बोधिवृक्ष-दर्शन हैं। मानुषी बुद्धों के दृश्य में गौतम के ठीक पहले के छः बुद्धों का दर्शन होता है। कहीं-कहीं सातों बुद्ध एक साथ दिखाये गये हैं। इनको स्तूपों या वृक्षों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

इन दृश्यों को देखने से प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन से जातक कथाओं का सामञ्जस्य और सामरस्य था। अलंकरण के लिए पशु-पक्षी, देवी-देवता, यक्ष, नाग और वृक्ष-लतादि की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। हास्य-रस की भरहुत की एक कथा के तक्षण-दृश्य में हाथी के द्वारा किसी मनुष्य के दाँत को सँड़से से उखाड़ने का उपक्रम दिखलाया गया है। यहीं पर अन्यत्र किसी ऋषि के वटवृक्ष की छाया में अध्यापन का दृश्य उत्कीर्ण है। पालथी लगाये हुए महर्षि ब्रह्मचारियों से सस्वर वेदपाठ करा रहे हैं। स्वरों का संकेत अंगुलियों की गति से किया जा रहा है। कलाकार ने ब्रह्मचारियों और आचार्य की जटाओं, मुख-मुद्रा और वेश-विन्यास का वास्तविक दर्शन कराने की सफल चेष्टा की है। इस तक्षण के नीचे लेख है—'दीघतपसि सिसे अनुसासति' अर्थात् दीर्घकाल तक तप कर लेने वाले महर्षि शिष्यों को पढ़ा रहे हैं। भरहुत में प्राप्त एक वृत्ताकार मण्डल पर तिमिंगिल जातक की कथा मिलती है। इसके एक ओर एक बड़ी मछली, एक नाव और तीन मनुष्य बने हैं। उसीके आगे वह नाव मछली के मुँह में दिखाई गई है।

साँची, भरहुत और बोधगया के प्राचीनतम मूर्ति-पटलों में गौतम बुद्ध के जीवन-चरित सम्बन्धी घटनाओं को अंकित करते समय बुद्ध का स्थान रिक्त रखा गया है।[1] जन्म के दृश्य में बुद्ध की माँ का तक्षण तो है, किन्तु शिशु का तक्षण नहीं

---

१. यह मूर्तिकला हीनयान सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। हीनयान गौतम की मूर्ति-पूजा के पक्ष में नहीं था। ईसवी शती के प्रारम्भिक युग से महायान-मतानुसार गौतम की मूर्ति-पूजा का विशेष प्रचलन हुआ।

किया गया है। माँ कमल पर बैठी है, दो हाथी स्तम्भ-रूप में खड़े होकर अपनी सूंड़ ऊपर की ओर उठाकार तोरण बना रहे हैं। घर छोड़ने के दृश्य में छत्र के नीचे घोड़ा खड़ा है, देवता उसके चरणों को सहारा दे रहे हैं, पर सवार गौतम की मूर्ति नहीं है। वन में पहुँचने पर जब गौतम अपने घोड़े और सेवक से विदा ले रहे हैं, उस समय घोड़ा और सेवक उनके चरणों में प्रणाम करते हुए दिखाये गये हैं। धर्मचक्र-प्रवर्तन के दृश्य में गौतम की अभिव्यक्ति रिक्त आसन और धर्मचक्र से की गई है। इन सभी दृश्यों में गौतम का स्वरूपतः अभाव होने पर भी व्यंजना के द्वारा उनके अलौकिक व्यक्तित्व से सारे वातावरण को परिव्याप्त दिखाया गया है। गौतम की उपस्थिति की व्यंजना बोधिवृक्ष, वज्रासन, छत्र, धर्मचक्र, स्तूप आदि से की गई है।

परवर्तीयुगीन मूर्तिकला की दृष्टि से देवी, श्रीलक्ष्मी, गजलक्ष्मी और मातृ-देवी की मूर्तियों का इस युग का तक्षण विशेष महत्त्वपूर्ण है।

पूना के समीप भाजा की विहार-गुफा के द्वार-प्रकोष्ठ पर सम्भवतः दूसरी शती ई० पू० की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसका आदर्श प्रायः भरहुत का कलाकेन्द्र है। ये मूर्तियाँ द्वार के दोनों ओर हैं। इनमें चार अश्वों के रथ पर सूर्य और हाथी पर इन्द्र यात्रा करते हुए दिखाये गये हैं। सूर्य के साथ दो परिचर और कुछ अश्ववार हैं। इन्द्र के पीछे ध्वजधारी पुरुष बैठा है। ऐरावत की ऊंची उठी सूंड़ में उखाड़ा हुआ वृक्ष है। मूर्तियों की कला से औदार्य और विशालता का आभास प्रत्यक्ष होता है।

सातवाहन मूर्तिकला

कृष्णा नदी के उपवर्ती प्रदेश में अमरावती, जगय्यपेत तथा नागार्जुनिकोण्ड के स्तूप साँची, भरहुत आदि स्तूपों के पश्चात् बने। इन सबको अमरावती कलाकेन्द्र के अन्तर्गत रखा गया है। पहली शती ई० पू० में अमरावती के प्रस्तर-फलकों पर पूर्ववर्ती युग से अधिक सौष्ठवपूर्ण और भावाभिव्यक्तिमयी भव्य मूर्तियों का तक्षण किया गया है। अमरावती की तत्कालीन कला वास्तव में सुविकसित है। पौधों और विशेष रूप से कमल के पुष्पों का तक्षण विशेष मनोरम है। कहीं-कहीं इनके बीच गौतम की मूर्ति भी उत्कीर्ण है, पर प्रायः गौतम पूर्ववत् प्रतीकों से व्यक्त किये गये हैं। नागार्जुनिकोण्ड के स्तूप के समीप ही प्राप्त एक प्रस्तर-फलक पर गौतम के जन्म का दृश्य उत्कीर्ण मिलता है। इसमें देवताओं के द्वारा पकड़े हुए एक वस्त्र-खण्ड पर गौतम के प्रथम सात पद-चिह्न अंकित

हैं।[1] अमरावती कलाकेन्द्र की मूर्तियों से परवर्तीयुगीन बौद्ध मूर्तियों के निर्माण की सूचना मिलती है।

अमरावती कलाकेन्द्र में उत्कीर्ण विषयों की विविधता साँची और भरहुत के प्रायः समान ही है, जिनमें तत्कालीन लोगों की रहन-सहन—गृह तथा वस्त्र-विन्यास, प्रसाधन, अलंकार, अस्त्र-शस्त्र, मनोरञ्जन, नृत्य, सङ्गीत आदि का सुरुचिपूर्ण निदर्शन मिलता है। इनमें राजकीय ऐश्वर्य और भोगविलास के दृश्यों को विशेष रूप से प्रमुख स्थान दिया गया है। नागार्जुनिकोण्ड में गौतम के प्रासाद-परित्याग का दृश्य उस युग की अपूर्व और अनुपम कृति है। ऐसे ही उच्चकोटि के उत्कीर्ण दृश्य मारविजय तथा आनन्द को साथ लेकर गौतम के उड़कर हिमालय जाने के विषय में है। उपर्युक्त दृश्यों का निर्माण १०० ई० शती के लगभग हुआ। जगय्यपेत की मूर्तियों की तनिमा और भावाभिव्यंजन दर्शनीय हैं।

सुदूर दक्षिण में अर्काट जनपद के गुडिमल्लम् में प्राप्त शिवलिंग प्रायः इसी युग का है। इस में किसी यक्ष के कन्धों पर पैर रखे शिव खड़े हैं और शिव के सिर के ऊपर लगभग दो फुट ऊँचा लिंग निर्मित है। मूर्तिकला की वैषयिक दृष्टि से अभी तक यह मूर्ति अपूर्व है।

सातवाहन-कला का प्रभाव अजन्ता की चित्रकला तथा गुप्तकालीन कला-शैलियों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सातवीं शती में बने हुए महाबलिपुरम् के गुहा-मन्दिर के तक्षण में अमरावती कलाकेन्द्र की स्पष्ट झलक मिलती है। विदिशा (भिलसा) के समीपवर्ती वेसनगर के गरुड़ध्वज का स्तम्भ इसी युग की कलात्मक प्रवृत्तियों का स्मारक है। इस स्तम्भ के उत्कीर्ण लेख के अनुसार वासुदेव (कृष्ण) को यह स्तम्भ तक्षशिला-निवासी हेलिओदोर नामक ग्रीक के द्वारा समर्पित किया गया था। प्रथम शती ई० पू० में निर्मित उत्तर प्रदेश में भिटा में प्राप्त पंचमुख शिवलिंग में अभय मुद्रा व्यक्त की गई है।

कुशनयुगीन मूर्तिकला

मौर्यों की शक्ति क्षीण होने के पश्चात् अनेक वार बहुविध विदेशी—ग्रीक, शक, पह्लव और कुशन-जातीय राजा और प्रजा भारत में आईं। उनमें से कई जातियों की अपनी विशिष्ट शिल्प-रीतियाँ थीं और उनका प्रभाव कुछ-कुछ भारतीय मूर्तिशैली के कतिपय पक्षों पर पड़ा भी, किन्तु भारत की सनातन मूर्तिकला इन

---

१. शिशु का सात पद चलना गौतम बुद्ध की भावी विश्वात्मक मैत्री का परिचायक 'सतां साप्तपदं मैत्रम्' है।

प्रभावों से विलक्ष नहीं हुई। भारतीय मूर्तिकला का प्रमुख केन्द्र मथुरा उस युग से लेकर मध्य युग तक प्रायः समस्त भारत में और विदेशों में भी अपनी कलात्मक रश्मियों को विच्छुरित करती रही। उस प्राचीन युग में देश-विदेश के विविध भागों में पहुँचाने वाले मार्गों की सम्मिलन-भूमि मथुरा थी। ईसवी शती के पहले इस प्रदेश में जो मूर्तिकला विकसित हुई, वह बहुत कुछ साँची और भरहुत के अनुरूप थी।

मथुरा-कलाकेन्द्र में भारत की बहुविध साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का निदर्शन कराने वाली देवी-देवताओं की रूप-रेखा का सर्वप्रथम स्पष्ट दर्शन होता है।

मथुरा

प्राथमिक मूर्तियों में से सबसे अधिक महत्त्व है गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं का।[1] गौतम की प्रतिमा से भव्य शान्ति झलकती है। परिधानों में बाह्य आडम्बर का अभाव है।

मथुरा-कलाकेन्द्र की निर्मित मूर्तियाँ कौशाम्बी, सारनाथ और श्रावस्ती में पाई गई हैं। इनकी प्रतिष्ठा कनिष्क के शासनकाल के दूसरे और तीसरे वर्ष में हुई। इन मूर्तियों में गौतम बुद्ध खड़े दिखाये गये हैं। उनका दाहिना हाथ कटि पर अवलम्बित है और बायाँ कन्धे तक अभय-मुद्रा में उठा है। पादासन पर दोनों पैरों के बीच में सिंह की मूर्ति है, जो उनके शाक्यसिंहत्व को प्रकट करती है। गौतम का सिर मुण्डित है और उनके ललाट पर ऊर्णा नहीं है। शरीर के ऊपरी भाग को उत्तरीय-विधि से चादर के द्वारा आच्छादित किया गया है। अधोवास कटि पर मेखला की गाँठ से निबद्ध है। इन मूर्तियों में गौतम का धर्मविजयी स्वरूप अभीष्ट है। कुछ मूर्तियों में सिर के पीछे प्रभा-मण्डल का द्योतक चक्र-फलक है। कुछ मूर्तियों में उष्णीष, ऊर्णा, कर्णपाश, जालांगुलिहस्त, चक्र आदि का विशेष तक्षण है। काटरा-बोधिसत्व की मूर्ति पदमासन लगाई हुई ध्यानावस्थित है। इसमें शरीर के छोटे-बड़े सभी अंगों का सानुपातिक विन्यास अतीव मनोरम है। तक्षण में सूक्ष्मता का वैशिष्ट्य स्पष्ट है, किन्तु साथ ही मूर्ति से बलशालिता और पराक्रम की अभिव्यक्ति होती है। इसमें प्रभामण्डल के चातुर्दिश गणों का तक्षण मिलता है। कला के माध्यम से पत्थर की कोमलता को अभिव्यक्ति का साधन बना देना यहीं से आरम्भ होता है।

मथुरा-कलाकेन्द्र की कुछ मूर्तियाँ तत्कालीन राजाओं की भी हैं। इनमें से कनिष्क, वेमकडफिसीज और चष्टन की मूर्तियां प्रसिद्ध हैं। इन मूर्तियों की कला

---

१. ये प्रतिमाएँ प्राग्वर्णित यक्ष-मूर्तियों की विशुद्ध भारतीय कला-शैली का अनुवर्तन करती हैं।

कुछ अपने ढंग की अनोखी हैं। सम्भवतः इनके तक्षण में कुशन-जातीय विदेशी कला का प्रभाव हो।

जैन मन्दिरों में उस युग में अयगपट्टों पर अर्हंतों का तक्षण करके रखने का प्रचलन था। कंकालि में प्राप्त अयगपट्ट आयताकार है। इसके केन्द्र भाग में जिन वृत्ताकार परिधि में पद्मासन लगाये हुए ध्यानावस्थित हैं। पट्ट का शेष भाग हाथी, चक्र, पत्र, पुष्प एवं ज्यामिति के बहुविध सानुपातिक आकृतियों के तक्षण से भरा है। अलंकरण और मांगलिक लक्षणों के अध्ययन के लिए इस फलक की विशेष उपयोगिता है। इसकी शैली साँची के अनुरूप है।

मथुरा में यक्षिणियों और अप्सराओं की मूर्तियों से उनकी संस्कृति के अनुरूप ही कामुकता और विलासिता की शृंगारमयी अभिव्यक्ति कराने वाले कलाकारों की भी उस युग में कमी नहीं थी। शारीरिक सौन्दर्य और भावभंगियों का निदर्शन कराने के लिए उन कलाकारों की प्रतिभा को यह अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ दिखाई पड़ता है। उनके सामने रमणी का वही रूप है, जो तत्कालीन बुद्ध-चरित या सौन्दरनन्द महाकाव्यों में दिखाया गया है।[1] दक्षिण भारत के वेंगी कलाकेन्द्र में भी यही शृंगारमयी प्रवृत्ति अतिशय मात्रा में वर्त्तमान है।

मथुरा कलाकेन्द्र में विदेशियों की कला की छाया कहीं-कहीं पड़ी है। उस समय विदेशी कला का प्रमुख केन्द्र गान्धार था।

गान्धार-प्रदेश मूलतः भारतीय सभ्यता का सुदूर प्राचीन काल से एक प्रसिद्ध विदेशी केन्द्र रहा। वहीं से होकर पाश्चात्य संस्कृति भारत में आती थी और भारतीय संस्कृति बाहर जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीक राजाओं के अधीन होने पर वहाँ ग्रीक संस्कृति का प्रभाव पड़ा और उसका चमत्कार शक और कुशन राजाओं के लिए रमणीय प्रतीत हुआ। इस प्रकार उस युग में जो मूर्तिकला वहाँ विकसित हुई, उसमें वर्ण्य विषय तो भारतीय रहा, पर शैली और अलंकरण भारतीय के साथ ही ग्रीक, ईरानी और शक रहे। इस कला-केन्द्र का विशेष प्रभाव अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में ईसवी शती के आरम्भिक युग में कनिष्क के समय से लगभग ६०० वर्षों तक बना रहा। गान्धार कलाकेन्द्र की मूर्तियाँ अफगानिस्तान में जलालाबाद, हड्डा और बामियान से, युसुफजाई प्रदेश में उद्यान, तक्षशिला आदि से और स्वात और काबुल नदी के संगमीय प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। उनका संग्रहालय लाहौर में है।

गान्धार

---

१. देखिए मारविजय-प्रकरण और सिद्धार्थ-वनविहार-प्रकरण।

गान्धार कला-केन्द्र में गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ प्रारम्भ में ग्रीक मूर्तिकारों द्वारा बनाई गईं। प्रस्तर-फलकों पर गौतम बुद्ध और बोधिसत्त्व के जीवन-चरित भी उत्कीर्ण हैं। उन कलाकारों ने मूर्तियों में बुद्ध को मूंछ और विदेशी पहनावे से अलंकृत किया है। इन मूर्तियों में शारीरिक सौष्ठव का विन्यास विशेष है, पर आध्यात्मिक भावपक्ष की सापेक्षतः न्यूनता है। यह शैली मूलतः यथार्थ की ओर प्रवृत्त होती है और चर्मचक्षुओं के लिए सौन्दर्य प्रस्तुत करती है। भारतीय शैली की मूर्तियों का शिल्प भावुक आलोचक की प्रतिभा के नित्य अभिनव उन्मेष का विषय है।

लाहौर संग्रहालय में छद्दन्त जातक, दीपंकर जातक आदि की कथाओं का मूर्त रूप देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त गौतम के जीवन-चरित के प्रायः सभी प्रमुख दृश्य—तुषितलोक में बोधिसत्त्व, मायादेवी का स्वप्न, जन्म, कन्थक का जन्म, असित ऋषि का आगमन, उपनयन, प्रथम ध्यान, नारी-विलास, कपिल-वस्तु का त्याग, कन्थक की बिदाई, तप, बोधिवृक्ष का समाश्रय, मार-विजय, धर्म-चक्रप्रवर्तन, इन्द्र-दर्शन, महापरिनिर्वाण आदि विद्यमान हैं।

अमरावती-कलाकेन्द्र में आन्ध्रवंशीय शासन के उपर्युक्त युग में मूर्तियों का निर्माण पूर्ववत् चलता रहा। इस केन्द्र के कई स्थानों पर पहले से भी अधिक अभिनिवेश के साथ मूर्ति बनाने का कार्य चलता रहा। कला की विशेषता की दृष्टि से अमरावती, नागार्जुनिकोण्ड, अल्लुरु, गुमदिदुरूं और गोलि अधिक प्रमुख हैं।

अमरावती

मूर्तियों में मानव की आनन्दोल्लासपूर्ण कर्मण्य प्रवृत्तियों का प्रदर्शन विशेष रूप से किया गया है। प्राकृतिक दृश्यों—पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों और लताओं का तक्षण कहीं-कहीं ही मिलता है, वह भी अधिकरण रूप में। वर्ण्य विषयों में आराधना-पूजा आदि से लेकर राजसभा और युद्ध तक दिखलाये गये हैं। शिलापट्टों पर उत्कीर्ण मूर्तियों के आंगिक विन्यास से कोमलता का आभास मिलता है। प्रायः मूर्तियों से उनके कार्य-व्यापार के अनुरूप सरस भावाभिव्यंजन सम्भव होता है। इस प्रकार वेंगी-प्रदेश में सजीव मूर्त जगत् का प्रतीक वर्त्तमान है। मूर्तियों में गरिमा का दर्शन कहीं-कहीं ही है, प्रायः सर्वत्र तनिमा है और तनिमा कार्य-परायणता का द्योतक है। नारियों का सौन्दर्य अतीव मनोरम है। इसे दृष्टि में रखकर कुमारस्वामी ने अमरावती की मूर्तियों के विषय में कहा है—The most voluptuous and the most delicate flower of Indian sculpture.[१]

---

१. History of Indian and Indonesian Art, P. 71.

वास्तव में भारतीय मूर्तिकला का एक अभिनव प्रगतिशील पादन्यास इस केन्द्र में दृष्टिगोचर होता है।

गौतम बुद्ध की कुछ मूर्तियाँ पूर्णाकार खड़ी और पद्मासन लगाई हुई मिलती हैं। इनकी शैली मथुरा के बुद्ध और बोधिसत्त्वों के अनुरूप है।

मथुरा के कलाकेन्द्र में आङ्गिक विन्यास में जो चिपटापन था, उसके स्थान पर अङ्गों की गोल और लचीली कमनीयता का तक्षण सारनाथ में होने लगा था। सारनाथ में हाथ-पैर का तक्षण पूर्णाकार किया जाने लगा था। वस्त्र-विन्यास की दृष्टि से सारनाथ आधुनिकता की ओर प्रवृत्त दिखाई देता है, जिसमें परि-धान के कसे होने के कारण आङ्गिक सौष्ठव प्रत्यक्ष रहता है। वस्त्रों की परख उनके छोरों से सम्भव होती है, जो कन्धा, छाती या घुटनेसे नीचे लटकते थे।

सारनाथ

सारनाथ में गौतम की मूर्ति त्रिचीवर धारण की हुई है। इस प्रदेश में बोधि-सत्त्वों की मूर्त्तियों की लोकप्रियता विशेष रूप से थी। बोधिसत्त्वों के परिधान और अलंकरण गृहस्थों की भाँति हैं और बुद्ध चीवरधारी हैं। जातक की कथाओं के तक्षण में 'क्षान्तिवाद' जातक सुप्रसिद्ध हैं। गौतम बुद्ध के जीवन-चरित के आठ प्रमुख वृत्तान्तों का तक्षण इस कलाकेन्द्र की विशेषता है।[1] गुप्त-युग में सारनाथ मूर्तिकला का सर्वोच्च केन्द्र बना।

गुप्तयुगीन कला

मूर्तिकला के सौन्दर्य-सर्जन के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कराने की प्रक्रिया का समारम्भ गुप्त-युग से होता है। मूर्ति की नवनवोन्मेषपूर्ण व्यंजनामयी आकृतियों से आध्यात्मिक अनुभूति का सामरस्य मानकर कलाकारोंने लावण्य-संयोजन के लिए तनुता, सूक्ष्मता और मधुरता को अपनी कृतियों में प्रायः सन्निविष्ट किया है। इन कृतियों को वास्तव में रमणीय और सरस कहा जा सकता

---

१. आठ प्रमुख वृत्तान्त हैं—(१) जन्म, (२) मार का प्रलोभन, (३) धर्म-चक्रप्रवर्तन, (४) महापरिनिर्वाण, (५) माया को धर्मोपदेश देने के लिए स्वर्ग से अवतरण, (६) पारिलेय्यक वन में वानर का गौतम को पारणा कराना, (७) नालागिरि हाथी का विनयन और (८) एक ही समय में गौतम का अनेक स्थानों में धर्मोपदेश करना।

है। जहाँ कुशन-युगीन मूर्तियाँ प्रायः विशालता और स्थूलता से प्रभाव डालती हैं, वहाँ गुप्तकालीन मूर्तियाँ तत्कालीन काव्य की भाँति अपनी प्रसादपूर्ण सुसंयत शैली से आकर्षित करती हैं। इस युग में मूर्तिकला आराध्य देवों—बुद्ध, शिव और विष्णु के व्यक्तित्वों के अनुरूप प्रमाणित होकर रहीं। गुप्तकाल में उत्तर भारत में सारनाथ और मथुरा सर्वोच्च कलाकेन्द्र थे।

भारत में कलात्मक क्षेत्र में पूर्ण जीवन का द्योतक यौवन प्रतिष्ठित रहा है, जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य का द्योतक वसन्त का सौरभ है। उस यौवन की उद्दाम तरङ्गों को परिधान की गूढ़ता के माध्यम से न छिपाकर उसे अन्तर्दृश्य अंशुक के बीच प्रत्यक्ष रखा गया है। सात्त्विक भावानुभावों की चरम अनुभूति और दर्शन के लिए इस प्रकार की अनावरण के भीतर आवरण की रीति गुप्त-कला की विशेषता रही है।

प्रकृति में जो कुछ उपयोगी है, उसे वैज्ञानिकों ने भले ही पूरा का पूरा आज तक न प्राप्त किया हो, किन्तु प्रकृति में जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है, उसकी परख करने में गुप्तकालीन कलाकारों को पूरी सफलता मिली है। उस प्राकृतिक रमणीयता का निक्षेप मानो प्रकृति के ही हाथों से मानवीय रूप में कलाकारों के द्वारा हुआ है। यदि लता में कोमलता, लोच और समाश्रणयता का गुण है तो भुजलता की भी प्रतिकृति में इन गुणों का अन्तर्भाव है। कमल का वैशद्य मुखाकृति में वर्त्तमान है। ये ही तत्त्व कालिदास की उपमाओं के द्वारा काव्य-क्षेत्र में अवतरित होकर व्यंजना का चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

भावानुभाव आदि की व्यंजना कराने वाले आङ्गिक विन्यास के लिए प्रयुक्त विविध आसनों और मुद्राओं का स्वरूप जानने के लिए भरत का नाट्यशास्त्र सदा उपयोगी रहा है। इस ग्रन्थ के शास्त्रीय विधानों का रूपात्मक विनिवेश गुप्तकालीन मूर्तियों में प्रत्यक्ष है। इसी से प्रभावित होकर फ्रांसीसी कलापारखी रेने ग्रोसेट ने लिखा है—Never, indeed, has the spiritual value of the hands—those flowers of the flesh, which hold in their chalice the whole of human tenderness and thought been comprehended with such mystical insight...When the Buddhist Mudras find interpreters worthy of them, they are, if we may be allowed to borrow the language of Ruskin, 'gestures of the soul' transposing moral beauty into its direct aesthetic equivalent.'[1]

---

१. *Rene Grousset* : Civilisations of the East, Vol, II, p. 146-147.

गुप्तकालीन मूर्तिकला का सर्वप्रथम वैशिष्ट्य मथुरामें दृष्टिगोचर होता है और इसका परिपाक सारनाथ में हुआ है। इस कला की प्रथम झलक बोधगया में प्राप्त बोधिसत्त्व की चौथी शती की मूर्ति में मिलती है। शैली और उपादान पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि इसका निर्माण मथुरा में हुआ था। इस मूर्ति का प्रभाव चर्म-चक्षुओं के माध्यम से उतना अधिक नहीं प्रतीत होता, जितना अन्तःकरण·वृत्ति से। इसके द्वारा ध्यानावस्थित मुद्रा का निरूपण किया गया है। इसके विषय में क्रम ऋषि का मत है—The Bodhisattva from Bodhagaya is the first image in India which by its form signifies what its name implies[1] शरीर के अंङ्गप्रत्यग उपर्युक्त आध्यात्मिक वृत्ति को ध्वनित करते हैं। इस प्रकार की आध्यात्मिक व्यंजना मथुरा में प्राप्त शिव की चौथी शती की मूर्त्ति के शिरोभाग से तथा अनुराधापुर में प्राप्त ध्यान-मुद्रा वाली बुद्ध की मूर्ति से भी ध्वनित होती है।[2]

मथुरा-सारनाथ

पाँचवी शती से सारनाथ कलाकेन्द्र के अनुविध जिन मूर्तियों का निर्माण हुआ है, उनमें उपर्युक्त अध्यात्मपरक प्रवृत्तियों को ध्वनित कराने की कला विशेष प्रगतिशील परिलक्षित होती है। इन सभी मूर्तियों में अन्तः और बाह्य एकरूपता का सफल प्रयास झलकता है। सारनाथ में दर्शनीय गौतम बुद्ध की धर्मचक्र-प्रवर्तन की मुद्रा वाली मूर्ति इस विशेषता का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करती है। इस मूर्ति में गौतम ध्यान लगाये हुए आसन पर बैठे हैं। उनके हाथ मानो अभय और शान्ति की व्यञ्जना करते हुए नाभिप्रदेश से ऊपर धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके पद वज्रपर्यङ्कासन-मुद्रा में हैं। आसन के नीचे पीठ-फलक पर धर्मचक्र के दोनों ओर पाँच शिष्यों और उनके साथ संभवतः दाता-दम्पती की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। शिरोभाग के पीछे प्रभामण्डल है, जिसके ऊपरी और नीचे के छोरों पर गुटिका-मालिका का किनारा देकर उन दोनों के बीच पत्राकृति खचित है।

पूर्ववर्ती कुशनयुगीन तथा गुप्तकालीन मूर्तिकला का अन्तर गौतम की मूर्तियों के आधार पर स्पष्टतः निरूपित किया जा सकता है। कुशनयुगीन मूर्तियों का प्रभामण्डल सादा होता था तथा उसके किनारे वक्र कटे होते थे। गुप्तकालीन प्रभामण्डल मनोरम तक्षणों से अलंकृत है। इन अलंकरणों में कमल की पत्र-लता की प्रमुखता है, जिनका प्रसार वृत्त-परिधि के भीतर किया गया है। गुटिका-मालिका

---

१. *Stella kramrisch :* Indian Sculpture, P. 61.

२. शिव की यह मूर्ति लन्दन के संग्रहालय में है। शिव की एक और ऐसी ही मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में है।

का वृत्ताकार किनारा भी एक विशेषता है। कुशनयुगीन मूर्तियों के पीछे मूर्तियाँ बनी हैं और गुप्तयुगीन मूर्ति के पीछे विस्तृत प्रस्तर-फलक है, जो व्याल-तोरणों से प्रतिष्ठित किया गया है। कुशनयुगीन मूर्ति में सुघटित शरीर, मुण्डित शिर, पृष्ठाधार, प्रस्तर पर बोधिवृक्ष, बायें कन्धे पर चुनन से अलंकृत वस्त्र आदि सविशेष हैं। गुप्तकालीन मूर्ति में बुद्ध के उदात्त व्यक्तित्व से प्रस्फुटित वातावरण में शरीर के अङ्गों में प्रशान्त लावण्य का संयोजन कलाकार की सर्वोच्च सफलता रही है। इस युग की मूर्तियों में आँखें अर्धमुद्रित हैं और हाथ उपदेशान्वित अभय-मुद्रा की अभिव्यक्ति करते हैं।

सारनाथ की मूर्तिकला का प्रभाव मध्यप्रदेश की कला पर विशेष रूप से पड़ा। सारनाथ की स्थानीय मूर्तिकला प्रायः बौद्ध मूर्तियों तक सीमित है, किन्तु अन्यत्र वैदिक संस्कृति की मूर्तिकला को प्रभावित करती है।

मध्यदेशीय

वाराणसी के भारत-कला-भवन में सुरक्षित कार्त्तिकेय की मूर्ति सारनाथ के समान ही पड़ती है। इस मूर्ति में स्थूलता तो कुछ-कुछ है, पर भावाभिव्यक्ति का संयोजन करने का प्रयास सफल प्रतीत होता है, यद्यपि मुखाकृति की बनावट कला के शैशव को इंगित करती है। मध्यप्रदेश में नागोद के समीप खोह में प्राप्त शिव की एकमुख-लिङ्ग मूर्ति वास्तव में विशेष भव्य प्रतीत होती है। इसमें शिव की प्रकाम शान्ति और विपुल ऐश्वर्य का निभृत सामञ्जस्य ध्वनित होता है। विदिशा (बेस) नगर में प्राप्त गंगा की मकर-वाहिनी मूर्ति में मकर दिव्य क्रीड़ा का साधन है। स्त्री-रूपिणी गङ्गा की पावन शक्ति और लोकोपकारिणी मुद्रा स्पष्ट है। प्रयाग के निकट गढ़वा में प्राप्त शिला-पट्टिका पर उत्कीर्ण मूर्तियों में सारनाथ की कला का परिपाक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनके द्वारा कई भागों में लोगों की कार्यपरायणता और तदनुरूप भावभङ्गिमा का अपूर्व सौष्ठव प्रदर्शित किया गया है। प्रयाग जिले के मनकूँवर स्थान पर प्राप्त बुद्ध की मूर्ति यद्यपि इसी युग में बनी थी, पर इसके मूर्तिकार कुशनयुगीन पद्धति पर ही चलते हुए स्थूलता को विशेष रूप से अपनाये हुए हैं, यद्यपि मूर्ति में बुद्ध की शान्तिमयी मुद्रा का अभिनिवेश वर्तमान है।

झाँसी जिले के देवगढ़ गाँव में बेतवा नदी के तट पर दशावतार मन्दिर की मूर्तियों में सारनाथ की कला का स्पन्दन उदग्र है। इसके चबूतरे की भित्ति पर रामकथा के दृश्य उकेरे गये हैं। मन्दिर की भित्ति के शिला-फलकों पर प्रायः पूर्णाकार मूर्तियों का निर्माण किया गया है। मन्दिर का द्वार-तोरण लता-पत्रादि से अलंकृत है, पार्श्वस्तम्भों पर प्रतिहारी प्रमथ-दम्पती और मंगल-कलश आदि आज भी उस युग की माङ्गलिक सौन्दर्यप्रियता की ओर संकेत करते हैं। पार्श्वस्तम्भों

पर गंगा-यमुना की मूर्तियों का अलंकरण इसी युग से विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठित हुआ। मन्दिर-भित्तियों के बाह्य तल पर नर-नारायण की तस्पस्या, विष्णु भगवान् के शेषशायी होने, विष्णु के गजेन्द्र-मोक्ष आदि के दृश्य अतीव मनोरम हैं। इनमें से नर-नारायण की मूर्तियों से वही आध्यात्मिक शान्ति और साम्यावस्था प्रकट होती है, जो सारनाथ में बुद्ध की मूर्ति में दिखाई पड़ती है। सारा वातावरण तपोमय पवित्रता से उदात्त बन गया है। स्वर्ग की ऐश्वर्यमयी विभूतियों को तपः के साथ संयोजित करने का प्रयास यहीं पर अनुपम रूप से सफल हुआ है। देवगढ़ का एक और उत्तम दृश्य है—कृष्ण-जन्म के समय माता देवकी का वसुदेव को शिशु-समर्पण करना। इन सभी मूर्तियों में आध्यात्मिकता के साथ ही आङ्गिक चारुता एवं भावाभिव्यक्ति उच्च कोटि की हैं।

तत्कालीन मालव-प्रदेश की कला का सर्वोच्च विकास विदिशा के निकटवर्ती उदयगिरि की वराह-गुफा के तक्षण में विद्यमान है। इस गुफा में तत्कालीन समस्त भारत की कला-निधि पुञ्जीभूत है, जैसा क्रमऋषि के वक्तव्य से स्पष्ट है—The Varaha relief, in its tough and slow plasticity heaving with the very breath of creative earth belongs to the same mentality which had been at work at Bhaja, and now marks the rock with the more differentiated impress of a later age. While currents from Sarnath etc. touched upon the sculpture of Central India, the connectedness with the tradition of the Dekkhan matters more at this phase.[1]

इस गुफा की मूर्तिकला त्रिभुवन-सम्बन्धी एक विराट् पावन पर्व को परिसीमित भित्ति की परिधि पर प्रत्यक्ष करने में पूर्ण सफल है। इसमें वराह का शरीर मानव जैसा और सिर शूकर जैसा है। वराह का वाम पाद शेषनाग के मण्डलों पर स्थित है। नाग के १३ फण हैं। वराह के आङ्गिक विन्यास के सौष्ठव से उनकी अनुपम स्फूर्ति और कर्मण्यता का आभास मिलता है। उनका बायाँ हाथ कटि-प्रदेश पर स्थित है और दाहिना घुटने पर। यह प्रत्यक्ष ही पराक्रम-मुद्रा है। अपनी दाहिनी दाढ़ से वे नारी-रूपिणी पृथ्वी को ऊपर उठाये हुए हैं। समुद्र की अभिव्यक्ति गुफा के भित्तितल पर तरङ्गित रेखाओं से की गई है। वराह की बाईं ओर अप्सरायें और दाहिनी ओर चार देव-श्रेणियाँ हैं। देवताओं में ब्रह्मा, शिव आदि प्रमुख हैं। असुर और ऋषि आदि इस प्रलय-दृश्य के दर्शक हैं। अन्यत्र

1. *Kramrisch :* Indian Sculpture, p. 68-69.

गंगा और यमुना के स्वर्ग से अवतरण करने का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है। स्वर्ग के ऊपरी भाग में उड़ते हुए देव तथा पाँच अप्सराओं का उत्कीर्णन है। बीच वाली अप्सरा नाच रही है और शेष मृदङ्ग, वंशी आदि बजा रही हैं। दोनों नारी-रूपिणी नदियाँ वराह भगवान् का अभिषेक करने के लिए जलकलश लिए हुई हैं। समुद्र के अधिष्ठाता देव स्वयं जलकलश लिये हुए घुटने तक जल में खड़े हैं।

उदयगिरि का यह दृश्य अतिशय उदात्त है। इसमें लोक-कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत चातुर्दिश वातावरण का दिग्दर्शन कराया गया है। सर्वत्र समरसता और सहानुभूति की अभिव्यक्ति होती है।

प्राच्यकला

प्राच्य मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व आसाम, बंगाल और बिहार में प्राप्त मूर्तियों से होता है। इस प्रदेश पर सारनाथ कलाकेन्द्र का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है, किन्तु सारनाथ की कला की उदात्तता के स्थान पर इस प्रदेश की कला में सरसता की विशेषता है। इसका कारण सम्भवतः पूर्वियों की भावुकता है। इस वैशिष्ट्य का सर्वप्रथम निदर्शन बिहार में चाँदीमऊ में प्राप्त स्तम्भ पर उकेरी मूर्तियों से होता है। इसी प्रदेश में भागलपुर के समीप सुलतानगंज में मिली बुद्ध की ५ हाथ ऊँची ताम्रमूर्ति अपनी कोटि की अनोखी है।[१] गौतम बुद्ध की निर्बाध शान्ति और उपदेशमयी अभिव्यक्ति विशेष रूप से प्रभावोत्पादक है। उनकी मुखाकृति की बनावट सारनाथ के समान ही है। इस मूर्ति के अंग-प्रत्यङ्ग से कोमलता और सौकुमार्य की अभिव्यक्ति होती है। बिहार में राजगृह के मनियार मठ की ईंट की भित्तियों पर चूर्णलेप की सामग्री से मनोरम नारीरूप का निर्माण किया गया है। बोगरा जिले के महास्थान में प्राप्त मंजुश्री की काँसे की मूर्ति में आंगिक सौकुमार्य के द्वारा कलाकार की भावप्रवणता का निदर्शन होता है। इस मूर्ति पर सोने का पानी चढ़ा था।[२] आसाम के दारंग जिले में दहपर्वतिया में मिले द्वारस्तम्भ पर गंगा और

---

१. इस प्रदेश की मूर्तियाँ प्रायः विशाल हैं। उनकी अधिक ऊँचाई सम्भवतः मूर्त व्यक्तित्व की ऊँचाई का परिचय देने के लिए थी। नालन्दा की मूर्तियाँ इस प्रवृत्ति का सविशेष परिचय देती हैं। ह्वेनसांग ने नालन्दा में गौतम बुद्ध की ८० फुट ऊँची मूर्ति देखी थी।

२. इस युग में धातुओं की ढलाई का काम अद्भुत ही था। कुतुबमीनार के समीप का लौहस्तम्भ इसी युग में ढाल कर बनाया गया था। योरपीय लेखकों के अनुसार भी उन्नीसवीं शती तक योरप की किसी कर्मशाला में इसे ढालने की कल्पना नहीं हो सकती थी।

यमुना की जो मूर्तियाँ हैं, उनमें रस और भावाभिनिवेश का मंजुल सामंजस्य परिलक्षित होता है।

दाक्षिणात्य कला

गुप्तयुगीन दाक्षिणात्य कला का स्पष्ट परिचय छठीं शती से मिलता है। बम्बई प्रदेश में पारेल में प्राप्त शिव-मूर्ति इस कला का सर्वोच्च कृतित्व व्यक्त करती है। एक विशाल शिवलिंग में नीचे से ऊपर तक सामने की ओर एक के ऊपर दूसरी और फिर तीसरी शिव की मूर्ति निर्मित की गई है। इन्हीं मूर्तियों से पार्श्व-भाग की ओर ४५° का कोण बनाती हुई दोनों ओर दो-दो शिव की मूर्तियाँ निकली हुई निर्मित की गई हैं। ऊपर की मूर्ति के अनेक हाथ हैं और शेष मूर्तियों में से प्रत्येक के दो ही दो हाथ हैं। सभी मूर्तियों में शिव की योगमुद्रा और प्राणायाम की अभिव्यक्ति होती है। इन सभी मूर्तियों से अलौकिक ओजस्विता, पराक्रम और शक्ति ध्वनित होती है। इन मूर्तियों में सारनाथ कलाकेन्द्र की आध्यात्मिक प्रवृत्ति की झलक मिलती है। यह मूर्ति अपने कोटि की निराली है।

बादामी की गुफाओं में पारेल के समान ही मूर्तिकला की एक अभिनव छटा दृष्टिगोचर होती है। तीसरी गुफा में विष्णु अनन्तशायी दिखलाये गये हैं। चौथी गुफा में विष्णु का त्रिविक्रम स्वरूप उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में विष्णु के पराक्रम के अनुरुप उनकी शक्तियों की प्रभावशीलता हाथ-पाँव आदि अङ्गों के विन्यास से प्रत्यक्ष होती है। सारनाथ की कला से यदि आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ ध्वनित होती हैं तो दाक्षिणात्य कला कर्मयोग-प्रवण है। यही दोनों शैलियों की प्रमुख विशेषता है।

अजन्ता, कार्ले, औरङ्गाबाद और कन्हेरी की मूर्तिकला में सारनाथ का प्रभाव धुंधला-सा ही दिखाई देता है। गुफाओं में गौतम बुद्ध या बोधिसत्त्वों की अगणित मूर्तियाँ बनी हैं। इन मूर्तियों में रसिकता या भावप्रवणता का अभाव सा है। उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा भी नहीं मिलती। उनकी विशालता और बलशालिता-मात्र दर्शनीय हैं, पर इन गुणों का प्रासङ्गिक उपयोग न होने से कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। अजन्ता में स्त्रियों की मूर्तियों का अभाव नहीं है। कुछ ऐसी मूर्तियाँ शृंगारात्मक हैं, जिनमें दम्पती के प्रेमविलास की क्रीड़ायें प्रदर्शित की गई हैं। पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। एक गुफा में मूर्ति बनाने की प्रारम्भिक प्रक्रिया दर्शनीय है। मूर्ति के तक्षण के पूर्व भित्ति पर पुरुष-रूप का रेखाङ्कन मिलता है।

गौतम बुद्ध के निर्वाण के महान् मूर्त-स्वरूप का दृश्य अजन्ता में अतिशय सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। कुछ स्तूपों पर गौतम बुद्ध की भव्य मूर्तियाँ मिलती हैं।

एहोले में चालुक्य राजाओं के आश्रय में छठीं और सातवीं शती में जो मन्दिर बने, उनमें देवी-देवताओं की मूर्तियों का बाहुल्य है। इनमें से शिला फलकों पर बनी हुई अनन्त विष्णु की मूर्ति प्रसिद्ध है। एहोले की मूर्तियों में आंगिक सौष्ठव, सन्तुलन और शान्तिमयी अभिव्यक्ति तो हैं, पर सारनाथ की आध्यात्मिकता नहीं है। एहोले की मूर्तियों में आंगिक लोच और आयाम की विशेषता है। यहीं से इन विशेषताओं का प्रसार परवर्ती आन्ध्र और पल्लव कला-केन्द्रों में हुआ।

अन्तिम-गुप्तकालीन मूर्तियाँ

गुप्तयुगीन कला का सर्वोच्च विकास छठीं शती तक हुआ। इसके पश्चात् आठवीं शती तक गुप्तकालीन आदर्शों पर मूर्तियों का निर्माण तो होता रहा, पर इन मूर्तियों में कलातत्त्व का नवोन्मेष प्रायः नहीं दिखाई देता। मूर्तियों से जीवन की क्रियात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इनका चातुर्दिश वातावरण कलात्मक स्पन्दन से विरहित प्रतीत होता है। गुप्तकालीन तनिमा और अध्यात्मपरता का लोप-सा होने लगा। राजकीय सत्ता का केन्द्रीय रूप विनष्ट होने के कारण इस शनैः शनैः युग में प्रादेशिक कलाकेन्द्रों की बाढ़-सी आन स्वाभाविक था। सौभाग्य से इस युग में भी दक्षिण भारत में मूर्तिकला के कुछ अनुपम आदर्श प्रतिष्ठित हुए।

इस प्रदेश में सारनाथ की कला का गुप्तयुग में विशेष प्रभाव पड़ा था। परवर्ती युग में वह प्रभाव शनैः शनैः लुप्त-सा होता हुआ प्रतीत होता है।

अन्तर्वेदि

सारनाथ की मूर्तियों में गुप्तयुगीन तनिमा का स्थान गरिमा ही ले रही थी। आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति भी मूर्तियों में प्रायः नहीं सी है। बुद्ध की मूर्तियों का प्रलम्बपादासन रूप इस युग की देन है। सातवीं शती की मथुरा में प्राप्त नारी की मूर्ति के नाभिप्रदेश से नीचे का भाग कला की दृष्टि से गुप्तकालीन प्रवृत्तियों का अच्छा आदर्श माना जा सकता है। देहरादून में यमुना-तट पर लाखामण्डल गाँव के समीप किसी राजकुमारी के बनवाये हुए मन्दिर की मूर्तियों में से कई शिव के ताण्डव-नृत्य का प्रदर्शन करती हैं। मूर्तियाँ प्रायः सुन्दर हैं।

प्राच्य प्रदेश में पूर्वयुगीन कला-प्रवृत्तियों की परम्परा अनुवर्तित रही। राजशाही जिले के पहाड़पुर के मन्दिर की भित्ति पर शृंगारात्मक दम्पती का प्रेमालाप,

प्राच्य प्रदेश

यमुना का अवतरण और धेनुकवध का तक्षण मनोरम विधि से हुआ है। शृंगारात्मक दम्पती का भावानुभावादि की अभिव्यक्ति में सरसता के साथ सौकुमार्य का संयोजन प्रत्यक्ष है। बलराम की मूर्ति में तनिमा का स्थान गरिमा ने ले लिया है। बिहार में

भागलपुर में प्राप्त द्वारस्तम्भ पर बनी हुई पक्षिसहित रमणी की मूर्ति में गुप्तकालीन कला का सामरस्य, इसमें आंगिक विन्यास का लावण्य और तारुण्य का भावोन्मेष अद्वितीय ही हैं।

उड़ीसा में परशुरामेश्वर मन्दिर के जगमोहन के बाड़-भाग में शिव, सूर्य, नृत्य-मुद्रा में अर्धनारीश्वर, शिव-पार्वती, हरिहर, यम, वरुण, गंगा-यमुना, मातृकायें तथा लकुलीश आदि हैं। प्रत्येक मातृका के आगे-पीछे चतुर्भुज वीरभद्र और गणेश हैं। वहीं स्वर्ण-जालेश्वर के मन्दिर के कान्ति-भाग में राम-सुग्रीव-मिलन, स्वर्ण-मृगवध, बालि-वध तथा किरातार्जुन-युद्ध का दृश्य है। वेताल-मन्दिर के गर्भगृह के चैत्य-वातायन पर सूर्य की कलापूर्ण और मनोरम मूर्ति है। साथ ही उषा और प्रत्युषा शर-सन्धान कर रही हैं। सामने अर्जुन सप्ताश्व-रथ संचालन कर रहे हैं। ऊपर के चैत्य वातायन में दशबाहु-नटराज की मूर्ति है। मन्दिर में शवारूढ़ चामुण्डा की भयंकर मूर्ति है। उसके दाहिने हाथ में उलूक और बायें में शृगाल है, गले में खोपड़ियों की माला है तथा निर्मांस शरीर की बुभुक्षित मुद्रा है।

उड़ीसा के शिशिरेश्वर के मन्दिर में जगमोहन की पश्चिम की भित्ति पर लकुलीश (शिव) की मूर्ति धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में मिलती है। इसके पादभाग में मृग और नाग बने हैं। इसमें लकुलीश प्रायः बुद्ध की प्रतिमूर्ति हैं। इसके जगमोहन के भूपृष्ठ पर दशबाहु वाली महिषासुर-मर्दिनी उकेरी गई हैं। मार्कण्डेयेश्वर के मन्दिर में आठ ग्रहों की मूर्तियाँ मिलती हैं। इसके चैत्य वातायन पर दशबाहु-नटराज की मूर्ति कलापूर्ण है।

मुक्तेश्वर के मन्दिर में नवग्रह की मूर्ति है। यहीं कार्तिकेय का वाहन मयूर और गणेश का वाहन मूषक प्रथम वार दिखलाये गये हैं।

चौदग्राम की पीतल की बनी शिव और पार्वती की मूर्ति, सुन्दरवन में प्राप्त शिव की काँसे की मूर्ति और उनके समकालीन पहाड़पुर की कुछ मूर्तियों में परवर्ती पाल-कलाकेन्द्र का मूल देखा जा सकता है। इनमें गुप्तयुगीन ध्यानमुद्रा के साथ स्थानीय कार्यपरायणता की प्रवृत्ति का निदर्शन स्पष्ट है।

इस युग में मध्यदेश में जबलपुर के निकट भेड़ाघाट में मातृका की मूर्तियाँ और साँची में बुद्ध और बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ प्रमुख हैं।

मध्यदेशीय

ग्वालियर संग्रहालय में रखी हुई नारी-मूर्ति का ऊर्ध्वकाय भाग कला की दृष्टि से गुप्तकालीन प्रवृत्तियों का अनुवर्तन करता हुआ प्रतीत होता है। इसमें आङ्गिक विन्यास का सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इनके निर्माण में मूर्तिकार सौन्दर्य और सरसता का पर्याप्त सृजन करने में सफल हुआ है।

राजस्थान और गुजरात की मूर्तिकला में भी उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ दर्शनीय हैं। चम्बा में कुछ धातु-निर्मित मूर्तियाँ इस युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें गौतम बुद्ध की काँसे की मूर्ति प्रमुख है।

इस युग की दक्षिण भारत की मूर्तिकला सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। दक्षिण भारत को पर्वत-गुहाओं के निर्माण के लिए श्रेष्ठ उपादान नैसर्गिक उपहार के रूप में प्राप्त हैं। इन्हीं पर्वतमालाओं ने अपनी गोद में वास्तु एवं मूर्तिकला का संवर्धन किया है। इनका प्राकृतिक वातावरण उदात्त है। इस परिस्थिति में मूर्तिकला का सौन्दर्य शतगुण निखर जाता है। इस मूर्तिकला के प्रधान केन्द्र वेरूल (एलौरा), औरङ्गाबाद और धारापुरी (एलिफेण्टा) हैं। इन केन्द्रों में जो मूर्तिकला विकसित हुई, उसका सर्वोच्च लक्षण कार्यपरायणता और पराक्रम का प्रदर्शन है। मूर्ति से बढ़कर मूर्ति के द्वारा व्यक्त अध्यवसाय या व्यापार अधिक मनोरम है। इस प्रकार की शैली को चरित्र-प्रधान कह सकते हैं।

दक्षिण भारतीय

वेरूल में प्रायः शैव कथाओं से सम्बद्ध मूर्तिकला सातवीं शती से विकसित की गई है। आठवीं शती में सुप्रसिद्ध कैलास-मन्दिर का निर्माण हुआ। कैलास शिव की वसति है। इस वसति में तीनों लोकों में जो कुछ शिव से सम्बद्ध है, वह मूर्ति के माध्यम से जुटाया गया है। मूर्तियाँ रामायण और महाभारत की कथाएँ कहती हैं। कृष्ण का गीतोपदेश दर्शनीय है। रावण का कैलास को उठाकर फेंक देने का पराक्रम अद्‌भुत शौर्य और ओजस्विता का दृश्य है। शिव के परिवार के सदस्यों के लिए रावण का अनुष्ठान कल्पनातीत था। उस आकस्मिक विपत्ति में पार्वती काँप उठी और शिव का अवलम्बन लेने लगी। एक दासी तो भागने ही लगी। फिर भी शिव प्रशान्त मुद्रा में हैं और इस विश्वात्मक पर्वतीय क्षोभ को एक पैर के इंगित मात्र से मिटा देते हैं। रावण का बीस बाँहों से पर्वत के उत्तोलन का पराक्रम वर्णनातीत है। योगबल से उसकी भुजाओं में सारी शक्ति समापन्न हो गई है।

बम्बई के निकट धारापुरी (एलिफेण्टा)[1] में आठवीं शती की मूर्तिकला की दिव्य चरितावली का निदर्शन मिलता है। यद्यपि मूर्तियों में विशालता और गौरव प्रत्यक्ष है, फिर भी उनमें बलशालिता, पराक्रम और ओजस्विता का अनुपम आदर्श समाहित है। उनसे शान्ति और औदात्त्य के साथ कार्यशीलता की विशद अभि-व्यक्ति होती है। इनमें तपः के द्वारा समुद्‌भूत असीम शक्तियों का संचयन प्रस्फु-

---

१. जिस द्वीप पर यह गुफा है, वहाँ एक पत्थर का हाथी था। उसे देखकर पोर्तगीज़ ने इसका नाम एलिफेण्टा रखा।

टित होता है। शिव की मूर्तियाँ अतिशय तेजस्वी हैं। प्रमुख मूर्तियाँ हैं—त्रिमूर्ति, ताण्डवनृत्य और पार्वती-परिणय। आध्यात्मिकता के साथ रसानुभूति का अद्वितीय सामञ्जस्य इन मूर्तियों में देखा जा सकता है। यहीं पर गुफाओं के निर्माण का सर्वोच्च आदर्श प्रतिष्ठित हुआ है।

तामिलनाद

सातवीं शती में काञ्ची के पल्लव राजाओं की कलाप्रियता सुप्रसिद्ध रही है। आन्ध्र प्रदेश की तत्कालीन वास्तु और मूर्ति की निधियाँ उनकी कलाप्रियता का प्रमाण देती हैं। महाराज महेन्द्रवर्मा की चेट्ठकारि (मन्दिर-निर्माता), चित्र-कारप्पुलि (कलाविदों में व्याघ्र) आदि उपाधियाँ उसकी कलात्मक प्रवृत्तियों का परिचय देती हैं। उसके पुत्र नरसिंहवर्मा महामल्ल के स्मारक-स्वरूप उसकी बनवाई हुई मामल्लपुर की मूर्तियाँ उस युग में सर्वोच्च प्रतिष्ठित थीं। परवर्ती युग की द्राविड़ मूर्तिकला की शैली के मूल में इन्हीं पल्लव राजाओं से सम्बद्ध कलाकृतियाँ हैं। पल्लवयुगीन कलाकृतियों पर पूर्ववर्ती युग के अमरावती कलाकेन्द्र की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

महाबलिपुर का सबसे अधिक प्रभावशाली तक्षण गंगावतरण के दृश्य से सम्बद्ध है।[1] लगभग १०० फुट लम्बे शिलापट्ट पर इस दृश्य का सम्पादन हुआ है। दृश्य में प्रायः समग्र विश्व सम्पुञ्जित देखा जा सकता है। इस महान् अभिव्यक्ति के लिए शिला का प्रत्येक भाग उपयोगी हुआ है। इसकी विशाल परिधि में प्राकृतिक उपादानों की रमणीयता के बीच स्वर्ग से लेकर मर्त्यलोक तक की असंख्य लौकिक और अलौकिक वस्तुओं को पूर्णाकार मूर्तियों के माध्यम से संगृहीत किया गया है। गङ्गा के तटीय दृश्य अतिशय मनोरम और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। हाथी, बिल्ली, मृग आदि की पशु-मूर्तियाँ तो सजीव-सी प्रतीत होती हैं। तपस्वी भगीरथ का शरीर सूख कर अत्यन्त क्षीण हो गया है। भगीरथ के साथ सहानुभूति में तप करते हुए देवता और पशु आदि दिखाये गये हैं। सारा वातावरण तपोमय है। यह दृश्य मानव को सहसा तपोमय जीवन के लिए उत्साहित कर देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मूर्त प्राङ्गण में समस्त भारत की पूर्ववर्ती कला की अनुभूतियों और प्रेरणाओं का समाहार हुआ है। सर्वत्र स्वाभाविकता विराजमान है।

नीलकण्ठ दीक्षित ने भगीरथ की तपस्या के विषय में कहा है—

---

१. कुछ विद्वान् इसे किरातार्जुनीय कथा का हिमालय पर अर्जुन की तपस्या -सम्बन्धी दृश्य मानते हैं।

तीरसीमनि स दक्षिण-सिन्धोराश्रमं कमपि संपरिकल्प्य
आरराध नियमैरतिमात्रैर्देवमम्बुजभवं नरदेव ।।
हेमकुम्भसलिलैरभिषिक्तो मौलिरस्य मुनिवेषधरस्य ।
वीचिकासु लवणासु पयोधेर्वीतिशंकमहनि त्रिरमज्जत ।।
गंगावतरण २.२१, २२।

महाबलिपुरम् में समुद्रतट को काटकर सात मन्दिरों का निर्माण किया गया है। इनमें से महिषमण्डप में शेषशायी विष्णु की मूर्ति है। पास ही महिषासुर से युद्ध करती हुई सिंहवाहिनी दुर्गा और उसकी सेना पराक्रमपूर्ण परिवेश में दिखलाई गई है। विपक्ष में पराजय-मुद्रा में दो सींगों वाला महिषासुर और उसकी सेना भागती हुई सी दर्शनीय है। कृष्ण-गुफा में कृष्ण का गोवर्धन-धारण तथा गोदोहन का दृश्य सफल है। गोदोहन में गाय बछड़े की पीठ चाट रही है। उसकी जीभ की गति की स्वाभाविकता व्यक्त की गई है। अन्यत्र एक वानर का परिवार दिखलाया गया है, जिसमें वानर अपनी पत्नी की जूँ निकाल रहा है और वह अपने दो शावकों को दूध पिला रही है। वराह-गुफा में वराहावतार विष्णु के द्वारा पृथ्वी-देवी के उद्धार का दृश्य दिखाया गया है। आठवीं शती की काञ्चीपुरम् के कैलाशनाथ मन्दिर की मूर्तियाँ महाबलिपुरम् के आदर्श पर बनी हैं।

अन्तिमयुगीन मूर्तिकला

मूर्तिकला की प्रगति आठवीं शती तक प्रतिष्ठित रही। इसके पश्चात् बारहवीं शती तक जो मूर्तियाँ बनीं, उनमें कलात्मक अभ्युदय का दर्शन नहीं होता, किन्तु उनका स्वरूप बाह्यतः प्रभावशाली प्रतीत होता है। इस युग में नये-नये विषयों को लेकर अभिनव सम्प्रदायों से सम्बद्ध छोटी-बड़ी मूर्तियों के संग्रह से मन्दिरों के अंग-प्रत्यंग को भर देने की रीति चली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में कला के प्रति लोगों में उत्साह था, किन्तु कलाकृति के लिए जिस रसात्मक वृत्ति या अध्यात्म-वृत्ति की अपेक्षा रहती है, उसका प्रायः अभाव था।

नवीं शती से मूर्तिकला के छः केन्द्र भारत के विविध भागों में मिलते हैं—उड़ीसा, बङ्गाल-बिहार, बुन्देलखण्ड, मालवा, गुजरात, राजस्थान तथा तामिलनाद।

उड़ीसा केन्द्र की उल्लेखनीय मूर्तियाँ भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर में, पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में तथा कोणार्क के सूर्यनारायण मन्दिर में मिलती हैं। लिंगराज

उड़ीसा-कला

मन्दिर का निर्माण १००० ई० शती के लगभग हुआ। मन्दिर की बाहरी भित्तियों पर विविध पशु-पक्षियों और मानवों की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। हाथी, घोड़े, हरिण, सिंह आदि की भव्य

मूर्तियाँ सजीव प्रतीत होती हैं। मूर्तियों की पार्श्वभूमि का अलंकरण लता-पत्रादि के तक्षण से किया गया है। प्रधान मन्दिर से संलग्न गौरी-विमान में पार्वती की मूर्ति विविध आभूषणों से अलंकृत है। अन्यत्र रामायण और महाभारत के दृश्य निर्मित हैं। पाण्डवों के स्वर्गारोहण का दृश्य मनोरम है।

भुवनेश्वर के राजरानी-मन्दिर के विमान में दिक्पालों की भव्य मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। दिक्पालों के प्रधान लक्षक चिह्न उनके साथ हैं। यथा इन्द्र का वज्र, अंकुश और ऐरावत, अग्नि का मेष, यम का दण्ड, पाश और महिष आदि। इसके जगमोहन (दर्शक-कक्ष) के स्तम्भों पर नागिनियों की मूर्तियाँ बनी हैं और तोरण-द्वारों पर द्वारपाल बनाये गये हैं। इस मन्दिर का लतादिक अलंकरण अतीव रमणीय है। मन्दिर के कोण-स्तम्भों पर पत्र-पुष्पों के बीच बैठे हुए शिव और पार्वती का तक्षण कलापूर्ण शैली का परिचायक है। राजरानी-मन्दिर की तीन रमणियों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से विशेष सफल हैं। एक रमणी दर्पण के सहारे केश-प्रसाधन-कर्म में संलग्न है। इस मूर्ति की पृष्ठभूमि में फलावनत वृक्ष पर वानर और शुक फल का आस्वादन करते हुए दिखाये गये हैं। दूसरी मूर्ति में माता और शिशु का स्वाभाविक प्रेम दिखाया गया है। मूर्ति का सौन्दर्य और वात्सल्यभाव का गाम्भीर्य अनुपम है। माता शिशु को हाथ से हिला-डुला रही है। तीसरी मूर्ति में रमणी अपने प्रियतम को पत्र लिखती हुई दिखाई गई है। इस रमणी का सारा आङ्गिक विन्यास और मुद्रायें भावपूर्ण हैं।

जगन्नाथ के मन्दिर में जगन्नाथ (कृष्ण), सुभद्रा और बलराम की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के विमान भाग में उपर्युक्त तीन देवों के अतिरिक्त राहु और हनुमान् आदि की मूर्तियाँ विशेष भव्य हैं। कृष्ण और राम से सम्बद्ध दृश्य—कालिय-दमन, गरुड़-वाहन, गोवर्धन-धारण, गोपाल-कृष्ण, राम-रावण-युद्ध आदि का निदर्शन मनोरम विधि से किया गया है। भित्तियों के आलों में वामन, वराह, नृसिंह आदि अवतारों की मूर्तियाँ हैं।

कोणार्क मन्दिर के गर्भगृह के निचले भाग में हाथी की छोटी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। मन्दिर के पीठ का सहारा लेने वाले पत्थरों को पंक्तिशः छोटी-छोटी हाथी की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। मन्दिर में अर्क (सूर्य) की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई है। मन्दिर के जगमोहन की चौखट पर लता-पत्रादि का तक्षण मनोरम है। मन्दिर २४ चक्रों के रथ पर बना है। चक्रों में सर्वत्र लतापत्रादि एवं मूर्तियों का अलंकरण मिलता है।

ब्रह्मेश्वर मन्दिर के जगमोहन भाग में पदाति, अश्वारोही और हस्त्यारोही सेना का प्रयाण उत्कीर्ण है। अन्यत्र उपदेश देते हुए ऋषि का दृश्य उत्कीर्ण है।

उड़ीसा के उपर्युक्त सभी मन्दिरों में असंख्य शृंगारित मूर्तियों का समावेश है। इनका प्रदर्शन वास्तव में अश्लील है। इनका सम्बन्ध प्रधानतः कामशास्त्र से है। कला की यह प्रवृत्ति तत्कालीन भारत में प्रायः सभी प्रदेशों में विद्यमान थी और रसाभिव्यक्ति का कोई भी क्षेत्र इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं बचा। कालिदास के रघुवंश से लेकर किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधीयचरित आदि महाकाव्य परम्परा में सर्वत्र इस शृंगारित प्रवृत्ति की अनर्गल धारा प्रवाहित हुई है।

शृंगाररस से सम्बद्ध मूर्तियाँ सम्भवतः व्यक्त करती हैं कि जब तक मनुष्य शृंगार-विलास में उलझा है, तब तक वह दिव्य दर्शन नहीं कर सकता। खजुराहो के मन्दिर की सीढ़ियों के दोनों ओर शिलापट्टिकाओं पर जो कामशास्त्रीय मूर्तियाँ हैं, उनसे यह स्पष्ट व्यक्त होता है। उन सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर ही मूर्ति की झलक मिल सकेगी। जहाँ पर कामशास्त्रीय मूर्तियाँ हैं, वहाँ खड़े होकर दिव्य मूर्तियाँ नहीं देखी जा सकतीं। पुरी में भी बाहरी दीवालों पर ऐसी मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

उस युग की खजुराहो के मन्दिरों में हिन्दू और जैन दोनों संस्कृतियों की मूर्तियाँ मिलती हैं। हिन्दू-मन्दिरों में वास्तु और मूर्तिकला की दृष्टि से कण्डरिया महादेव का मन्दिर सर्वश्रेष्ठ है। इस मन्दिर के गर्भगृह, अन्तराल, महामण्डप, मण्डप तथा अर्धमण्डप में प्रायः सर्वत्र बाहर और भीतर तक्षण का मनोरम शिल्प है। इस में कोई भी ऐसा मूर्तियों से रहित स्थान नहीं है, जहाँ छोटी से छोटी मूर्ति भी बनाने का अवकाश हो। कनिंघम की गणना के अनुसार इस मन्दिर में प्रायः दो से तीन फुट तक ऊँची मूर्तियों की संख्या ८७२ है। इससे छोटी मूर्तियाँ तो सहस्रों हैं। मन्दिर के प्रवेश-द्वार के तोरण पर देवी-देवताओं और गन्धर्व-किन्नरों का तक्षण किया गया है। गर्भ-गृह के प्रवेश-द्वार पर ध्यानावस्थित मुनियों और योगियों की प्रभावोत्पादक मूर्तियाँ बनाई गई हैं। पार्श्वस्तम्भों पर गंगा और यमुना नदियाँ नारी-रूप में अपने वाहन मकर और कच्छप के साथ विराजमान हैं। बाहरी भित्तियों पर नीचे की ओर दिक्पालों की मूर्तियाँ हैं। कुछ स्तम्भों के बड़े-बड़े आलों में त्रिदेवों तथा उनके अवतारों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। स्थान-स्थान पर अप्सराओं और किन्नरियों के नृत्य का मूर्त स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मण-मन्दिर के एक मनोरम दृश्य में आचार्य-कुल का तक्षण किया गया है, जिसमें गुरु के चारों ओर ब्रह्मचारी जिज्ञासु-मुद्रा में बैठे हैं। लक्ष्मण-मन्दिर में विष्णु की तीन मुख वाली चतुर्भुजी मूर्ति है। द्वार पर समुद्र-मन्थन का दृश्य दिखाया गया है। इसमें अन्य मूर्तियाँ लक्ष्मी, ब्रह्मा तथा नवग्रहों की हैं। इसके तोरण और शालभंजिकायें सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत हैं। मतङ्गेश्वर मन्दिर के समक्ष प्रतिष्ठित वराह भगवान् की मूर्ति भव्य

और विशाल है। वराह की दाढ़ पर पृथ्वी प्रतिष्ठित थी, जो अब गिर गई है।

एक ही मूर्ति के माध्यम से कालान्तर के दो भावों के प्रदर्शन की प्रणाली का प्रतिनिधित्व कण्डरिया महादेव के एक मिथुन के आलिंगन दृश्य से तथा अन्यत्र मल्ल-युद्ध के दो वीरों के तक्षण से हुआ है। यह विस्मयोत्पादक कला-वैचित्र्य खजुराहो की निजी विशेषता है।

आबू पर्वत पर विमलशाह और तेजपाल के बनवाये हुए क्रमशः ग्यारहवीं और और तेरहवीं शती के मन्दिरों में मूर्तिकला का भव्य आदर्श प्रस्तुत किया गया है। मन्दिर संगमर्मर पत्थर के बने हैं। संगमर्मर पत्थर रूप-विन्यास के लिए सर्वश्रेष्ठ माध्यम कहा जा सकता है। इसकी स्वाभाविक शुक्लता और निर्मलता स्वतः आध्यात्मिकता की ओर निर्देश करती है। मन्दिरों में आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा प्रधान रूप से की गई है। मन्दिर के प्रवेश-द्वार के समीप संगमर्मर के बने १० गजेन्द्र खड़े हैं। इन्हीं के बीच राजा भीमदेव के प्रमुख सेनापति की अश्वारोही मूर्ति प्रतिष्ठित है। अर्धमण्डप की छत पर कमल के लता-पत्र-पुष्प आदि का तक्षण है। छत पर भी अनेक उत्कृष्ट मानव-मूर्तियाँ मनोरम आङ्गिक विन्यास और भावों का प्रदर्शन करती हैं। स्तम्भों को नर-नारियों की मूर्ति से अलंकृत किया गया है। मण्डप के चारों ओर १२८ फुट लम्बा और ७५ फुट चौड़ा चौक है। इसकी ५२ कोठरियों में एक-एक जैन परमेष्ठी की मूर्ति रखी हुई है। आदिनाथ तथा अन्य-तीर्थङ्करों की मूर्तियों में शान्ति और विराग की अनुपम छटा विराजती है।

गुजरात-राजस्थान मण्डल में इस युग में बना हुआ सोमनाथ का मन्दिर है। शतियों तक यह ध्वंसावस्था में विरूप पड़ा रहा। इसकी मूर्तियों को तोड़-फोड़ डाला गया है, जिसके परिणामस्वरूप मूर्तिकला के कुछ अवशेष ही विद्यमान हैं। इनमें से रामायण के कुछ कथा-दृश्य अतीव मनोरम हैं।

दक्षिण भारत में इस युग में असंख्य मन्दिरों का निर्माण प्रायः तत्कालीन राजाओं के आश्रय में हुआ। इसमें से मैसूर के हलेबीड (दोर-समुद्र) का मन्दिर बारहवीं शती में बनाया गया था। मन्दिर के निचले भाग की ७१० फुट लम्बी एक पट्टी पर हाथियों की लगभग २००० मूर्तियाँ बनाई गई हैं। हाथियों का अलंकरण, साज और बैठे हुए सवारों का तक्षण किया गया है। इस पट्टी के ऊपर एक पट्टी पर सिंहों की मूर्तियों का तक्षण हुआ है। सिंहों की पट्टी के ऊपर पत्र-पुष्पों वाली लता का अलंकरण है। इसके ऊपर घुड़सवारों की लम्बी पट्टी है। फिर पत्र-पुष्पमयी लताओं की पट्टी है। इसके ऊपर ७०० फुट लम्बी पट्टी पर राम के द्वारा लंका-विजय का दृश्य दिखलाया गया है। सबसे ऊपर स्वर्ग के पशु-पक्षी तथा

मानवीय जीवन-सम्बन्धी कुछ दृश्यों का तक्षण है। ये सारे दृश्य पत्थर पर मानो महाकाव्य ही हैं।

श्रवणबेलगोला में तीर्थङ्कर महावीर की विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी काटकर बना दी गई है। मूर्ति ऐसी सुन्दर बनी है कि चाहे आप मीलों की दूरी से देखें या निकट होकर, उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाये गये हैं कि कहीं कोई त्रुटि दृष्टिगोचर न होगी। प्रत्येक अंग, पैर की अंगुलियों से लेकर नाक तक अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात से बना दीख पड़ता है।

हलेवीड के मन्दिरों में पुराणों की कथाओं को मूर्तियों के माध्यम से अंकित और प्रदर्शित किया गया है। मूर्तियां अत्यन्त सुन्दर और मधुर हैं। कुछ १०–१२ हाथ की ऊँचाई पर एक मूर्ति बनी है, जिसमें कोई फल या फूल दिखाया गया है और उस पर एक मधुमक्खी बैठी है, जिसके पाँव और पंख भी दिखाये गये हैं। उसी पत्थर पर, जिसको काट कर फल या फूल बनाया गया था, यह मधुमक्खी भी उसी प्रकार बनाई गई है—अलग से बनाकर वहाँ बैठाई नहीं गई है।

दक्षिण के मन्दिरों में पत्थरों की बनी शृंखलायें प्रायः देखने में आती हैं। एक ही पत्थर के लम्बे टुकड़े को काट कर एक दूसरे में गूँथी हुई कड़ियाँ बनाई गई हैं। यह काम बड़ा कठिन है। हलवीड में ऊँचाई पर बनी एक मूर्ति अनेक आभूषणों वाली है। सभी आभूषण एक ही पत्थर के हैं, जिसकी वह मूर्ति है। मूर्ति एक नक-बेसर पहने हुये है, जो खिसकाई जा सकती है। खिसकाने योग्य बाली भी नाक में बनी हुई है।[1]

दक्षिण भारत में चिदम्बरम् का मन्दिर कला के इतिहास में अनुपम माना जा सकता है। इस मन्दिर में चिदम्बर शिव की मूर्ति प्रतिष्ठित है। चिदम्बरम् में ऊँची भित्ति की परिधि में जलाशय के उत्तर में पार्वती-मन्दिर, दक्षिण में सहस्रस्तम्भ-मण्डप तथा पश्चिम में शिव-मन्दिर हैं। कहते हैं, चिदम्बरम् में नटराज शिव का प्रथम दर्शन हुआ था। इसी घटना के स्मारक स्वरूप शिव के भक्तों ने नटराज का मन्दिर बनवाया। स्वभावतः नृत्यमयी मूर्तियों की प्रचुरता ऐसे मन्दिर में होनी चाहिए। वास्तव में नृत्यशील मूर्तियों को देखते-देखते रसिक स्वयं ही अपने व्यक्तित्व को शिवनर्तन-लीला में विलीन कर देता है। नटराज के मन्दिर के चार गोपुरों (प्रवेश-द्वारों के शिखरों) तथा वहाँ से गर्भगृह तक आने वाली भित्तियों पर भरत के नाट्यशास्त्र के अनुरूप नृत्यों का अंकन प्रधान रूप से मिलता है।

---

१. राजेन्द्रप्रसाद : आत्मकथा, पृ० ५६६–५६७ से।

चिदम्बरम् के गोपुरम् की भित्तियों पर नाट्यशास्त्र के ताण्डव-लक्षण-प्रकरण के १०८ करण (हाथ और पैर के नृत्याभिनयात्मक विन्यास) एक दूसरे के ऊपर क्रमशः बनाये गये हैं। इनका तक्षण जिन शिला-पट्टों पर किया गया है, वे भित्ति से कुछ बाहर निकले हुए स्तम्भों की भाँति प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक गोपुर में १४ स्तम्भ हैं और इनमें प्रत्येक पर नृत्य-मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिए आठ आले विनियोजित हैं। नर्तकी के साथ ही उसके एक ओर एक वादक और दूसरी ओर एक ताल देने वाले की मूर्ति बनाई गई है। पूर्वी और पश्चिमी गोपुरों पर नृत्यों के रहस्य को बोधगम्य बनाने के लिए नाट्यशास्त्र के आनुषङ्गिक श्लोकों को उत्कीर्ण किया गया है। इन गोपुरों का निर्माण चोल और पल्लव राजाओं ने अपनी समृद्धि के दिनों में किया था।

मृण्मूर्तियाँ

मिट्टी की मूर्तियों के बनाने का प्रचलन संस्कृति के आदिकाल से ही माना जा सकता है। काठ, धातु या पत्थर को मूर्त रूप देने में जितना श्रम करना पड़ता है, उतना गीली मिट्टी को रूप देने में नहीं। धातु और पत्थर की प्राप्ति भी उतनी सरल नहीं रही है, जितनी मिट्टी की। मिट्टी की मूर्तियों में दोष यही है कि वे प्रायः स्थायी नहीं होतीं। यही कारण है कि आरम्भिक काल से ही बालकों ने मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने में रुचि ली है, पर सिद्धहस्त कलाकारों की इस दिशा में विशेष प्रवृत्ति नहीं रही।

सर्वप्रथम सिन्धु-सभ्यता के युग की असंख्य मृण्मय मूर्तियाँ मिलती हैं। उस युग की धातु और पत्थर की मूर्तिकला प्रकाम विकसित है, किन्तु मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने की कला पिछड़ी हुई प्रतीत होती है। सम्भवतः उस युग के कुशल कलाकार मिट्टी की मूर्तियाँ नहीं बनाते थे। केवल बालक खेलने के लिए या कुछ धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोग कर्मकाण्ड आदि के लिए उपयोग में आने वाली मूर्ति बनाते थे।

सिन्धु-युगीन

मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण करने के लिए गीली मिट्टी का एक पिण्ड लेकर उससे मध्य भाग की रचना कर ली जाती थी। फिर तो शेष बड़े अवयवों को प्रायः अलग से मिट्टी लेकर बना लिया जाता था और उस पिण्ड से चिपका दिया जाता था। छोटे अवयवों को रूप देने के लिए अंगुलियों से दबा कर ऊँचा-नीचा कर दिया जाता था। इस प्रकार नाक, आँख आदि बनती थीं। ओठ दिखाने के लिए मिट्टी की पतली परत मुख-विवर से चिपका दी जाती थी। मूर्तियों को परिधान और आभूषणों से सज्जित दिखाने की रीति थी। शिर के आभूषणों को दिखाने का

विशेष चाव कलाकारों में दिखाई देता है। साधारणतः मूर्तियाँ नग्न या अर्धनग्न हैं। कर्मनिष्ठ मुद्रा में दिखाई हुई कुछ मुद्रायें भावाभिव्यंजन करने में सफल हैं। ऐसी मूर्तियों में आटा गूंथती हुई स्त्री, शिशु को दूध पिलाती हुई स्त्री, घुटनों से चलता हुआ शिशु आदि प्रमुख हैं। हड़प्पा में पुरुषों की कुछ मृण्मयी मूर्तियाँ मिलती हैं। वे प्रायः बैठी हुई दिखाई गई हैं।

पशु-पक्षियों की मृण्मय मूर्तियों की बहुलता है। विविध प्रकार के बैल, वानर, मेष, बकरे, खड्गविषाण, हस्ती, महिष, शूकर आदि का प्राकृतिक स्वरूप पराक्रमपूर्ण दिखलाई पड़ता है। एक बैल आक्रमण करने के लिए उद्यत दिखाया गया है। वानर पेड़ पर चढ़ता हुआ रूपित है। उसके हाथ-पाँव शक्ति भर शाखा को पकड़े हुए हैं।

सिन्धु-सभ्यता में मिट्टी के खिलौनों का बाहुल्य था। सिर हिलाने वाले पशु या टेढ़े-मेढ़े छेदों से लगी छड़ी के सहारे उतरता हुआ वानर, चक्के पर चढ़े पशु, मिट्टी की गाड़ियाँ और सीटी—सभी बालकों के मनोरंजन के लिए थे। मिट्टी का एक वैसा ही पक्षिरथ भी मिला है, जैसा परवर्ती युग में गुप्तकाल में मिलता है। इस प्रकार कला के प्रति बालकों की रुचि जागरित की जाती थी।

मृण्मूर्तियाँ साधारणतः ठोस हैं। बड़ी मूर्तियाँ भीतर से पोली हैं। उनको पुआल के साँचे के ऊपर बनाया जाता था। पुआल पकाते समय जल जाता था। पकाने के पश्चात् मूर्तियों को अनेक रंगों से रँगा जाता था।

सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् की जो मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, उन्हें मौर्य-युग के पहले नहीं रखा गया है। वास्तव में मृण्मूतियों के निर्माण की एक सनातन शैली है, जिसमें परिवर्तन स्वल्पमात्र होता रहा है। सिन्धु-सभ्यता की मृण्मूर्ति की शैली मौर्ययुगीन शैली से प्रायः मिलती-जुलती है। मृण्मूर्तियों की दूसरी शैली विकासशील कही जा सकती है। इस प्रकार की शैली का परवर्ती युग में विकास परिलक्षित होता है। सनातन शैली का परिचय सिन्धु-सभ्यता की मृण्मूर्ति का वर्णन करते समय दिया जा चुका है। इस युग में भी मिट्टी की बनी हुई पशुओं की वाहन-मूर्तियों का विशेष प्रचलन था। शनैः शनैः इस प्रकार की मूर्तियों के लिए भी सांचा प्रयुक्त होने लगा। ऐसी मूर्तियां पंजाब में तक्षशिला, उत्तरप्रदेश में मथुरा, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, भिटा और राजघाट; मध्यभारत में पद्मावती; बिहार में पाटलिपुत्र, बक्सर तथा वैशाली और बंगाल में ताम्रलिप्ति, महास्थान तथा बनगढ़ में मिली हैं। इन सभी स्थानों की मृण्मयी-मूर्ति-कला को पटना, बक्सर और मथुरा के तीन केन्द्रों में विभक्त कर सकते हैं।

मौर्ययुगीन योगी की मूर्ति, जो भिखन-पहाड़ी में मिली थी, अपनी कोटि की अनोखी है। ऊर्ध्व शिर पर नाग की रचना होने से यह शिव की मूर्ति प्रतीत होती है। भिखन-पहाड़ी में प्राप्त युवती स्त्री की मूर्ति का शिरोभाग कला की दृष्टि से उच्च कोटि का है। गोरखपुर में प्राप्त पुरुष की मूर्ति के शिरोभाग में नासिका, नेत्र और ओठ आदि की बनावट सौष्ठवपूर्ण है, साथ ही मुखमुद्रा से नागरिक विलास की अभिव्यक्ति होती है। गोरखपुर के समीप प्राप्त नारी-मूर्ति के मध्य भाग से कलाकार की रसात्मक अभिव्यंजना ध्वनित होती है। अलंकारों और परिधानों से सजी होने पर भी मूर्ति के आंगिक लावण्य में किसी प्रकार की कमी नहीं है। शरीरावयवों से यौवन की प्रतिपत्ति झलकती है।

परवर्ती युग में मृण्मय मूर्तियों की शुङ्ग-काण्व-शैली दूसरी और पहली शती ई० पूर्व में विकसित हुई। इस युग का प्रतिनिधित्व कौशाम्बी में मिली नर्तकी की मूर्ति करती है। इसमें नर्तकी के अलंकरणों और परिधानों को प्रत्यक्ष-सा देखा जा सकता है। इसकी मुख-मुद्रा से हास्यपूर्ण विलास टपकता है। इसमें पाद-विन्यास नृत्य-मुद्रा में मोड़ा हुआ दिखाया गया है।

शुंगयुग में ताम्रलिप्ति पूर्ववत् मृण्मयी-मूर्तिकला का केन्द्र बना रहा। यहाँ पर इस युग की मृत्फलक पर बनाई हुई मृतालंकार और सुवसना बृहदाकार युवती की मूर्ति मिली है। प्राचीन युग के वस्त्र और अलंकारों की विविधता के अध्ययन के लिए इस मूर्ति का विशेष महत्त्व है। शिरोरचना की शोभा वैचित्र्यपूर्ण है। कांची-विभूषण और ऊरुपरिधान में अनेक मानव-मूर्तियों से लावण्य सम्पादित किया गया है।

मथुरा में प्राप्त शुंगयुग के पुरुष के शिरोभाग से प्रभावशालिता व्यक्त होती है। इसके निर्माण में कलाकार को सफलता मिली है। मूर्ति से व्यक्तित्व की गरिमा प्रकट होती है। अहिच्छत्रा में प्राप्त इस युग की मिथुन-मूर्ति के शारीरिक विन्यास में स्वाभाविक लावण्य है, साथ ही परिधान और अलंकारों की विशेषता है।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ कश्मीर में हारवान, पंजाब में साहरी बहलोल, तख्तेवाही तथा जमालगढ़ी, राजस्थान में हनुमानगढ़ और बीकानेर, सिन्ध में ब्राह्मणाबाद, और मीरपुर खास, मध्यप्रदेश में पवाया (पद्मावती), उत्तर प्रदेश में श्रावस्ती, कसिया, कौशाम्बी, भीतरगांव, भिटा, अहिच्छत्रा और राजघाट, बिहार में वैशाली (बसाढ़), बंगाल में महास्थान, ताम्रलिप्ति (तमलुक) और बनगढ़ आदि स्थानों पर मिली हैं। दक्षिण भारत में पत्थर की सुलभता होने से और मिट्टी के मूर्ति बनाने के लिए अनुपयोगी होने के कारण मृण्मूर्तियाँ प्रायः

स्वल्प ही बनी होंगी। उपर्युक्त प्रायः सभी स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त खपरों और ईंटों पर मृण्मूर्तियों को बनाने का प्रचलन रहा है। इनके अतिरिक्त मन्दिरों की भित्तियों पर मिट्टी की पकी हुई पट्टियों की मूर्तियां मिलती हैं। भीतरगाँव के मन्दिर की एक ऐसी ही पट्टी पर बनी हुई अनन्तशायी विष्णु की मूर्त्ति मिली है। इस मूर्ति के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृत्तिका को उपादान-रूप में ग्रहण कर लेने पर विष्णु की मूर्ति में दिव्यता के स्थान पर मर्त्य स्वरूप ध्वनित होता है। इसमें विष्णु और उनके चर भी कोरे मानव प्रतीत होते हैं। फिर भी मृण्मूर्ति-कला की दृष्टि से यह कृति अतीव सफल है। ऐसी पट्टिका-मूर्तियों में अन्यत्र पौराणिक और लौकिक कथायें और दृश्य, सुर-यक्ष आदि और लौकिक जीवन का निदर्शन मिलता है।

गुप्तयुग की स्वतन्त्र रूप से बनी हुई मूर्तियों का प्रायः शिरोभाग मिलता है। इनमें से राजघाट में प्राप्त पार्वती की मूर्ति के केशपाश का विरचन तत्कालीन कलाविलास का परिचायक है। विकच-कमल की परिधि के भीतर तारुण्यहारी दम्पती की प्रेमालाप में निमग्न मूर्ति के द्वारा उनकी नर्तनमयी भाव-भंगिमाओं का अद्वितीय निदर्शन महास्थान की कलाकृति को अनुपम बना देता है। इसमें सारा वातावरण रसानुभूति के सभी अंगों से परिव्याप्त है। राजघाट में प्राप्त मृण्मूर्तियों का उपयोग गृह-सज्जा के लिए होता था। वे सिरे के छेद से भित्तियों पर लटकाई जाती होंगी। इन मूर्तियों में साधारण लोगों की दैनिक-जीवन-प्रवृत्तियों का निदर्शन, मिलता है। पांचवीं शती की अहिच्छत्रा में प्राप्त पार्वती की शिरोमूर्ति की केश-रचना के निदर्शन और मुखाकृति के सौन्दर्य से कलाकार की प्रतिभा की पराकाष्ठा प्रतीत होती है। वहीं पर प्रायः समकालीन शिव की शिरोमूर्ति में नेत्र, नासिका और अधर आदि की बनावट से कला का उदात्त स्तर प्रतिष्ठित हुआ है।

गुप्तकाल के पश्चात् मृण्मूर्तिकला का विकास पूर्ववत् होता रहा। भारत और विदेशों में गुप्तकालीन शैली बहुत दिनों तक आदर्श रूप में प्रतिष्ठित रही। बंगाल में पहाड़पुर और महास्थान के मन्दिरों में तथा अन्यत्र भी मन्दिर-भित्तियों पर मूर्तियों की प्रचुरता रही है। यह क्रम अठारहवीं शती तक चलता रहा।

दन्तकार-कला

हाथीदांत की बनी वस्तुओं का प्रचलन सुदूर प्राचीन काल से रहा। सिन्धु-सभ्यता के युग में हाथीदांत का उपयोग होता था। कामसूत्र में हाथीदांत

के बने हुए खिलौने का उल्लेख किया गया है।[1] हाथीदाँत की पंचालिका (पुतली) का उल्लेख अमरकोश में मिलता है।[2] भवभूति के अनुसार तो :—

स्तन्यत्यागात्प्रभृति सुमुखी दन्तपंचालिकेव।
क्रीडायोगं तदनु विनयं प्रापिता वर्धिता च॥

इस कला का सर्वप्रथम विशद परिचय अफ़गानिस्तान के बेग्रम स्थान पर प्राप्त दन्तमूर्तियों से मिलता है। इनमें से एक पट्टी पर दो नर्तकियों की भावपूर्ण मुद्रा वाली मूर्तियों में आंगिक लावण्य और सुरूप विन्यास उच्चकोटि का है। इसी में ऊपर की ओर हाथियों का व्यवसायात्मक पादक्षेप और करोत्तोलन कलापूर्ण विधि से उकेरे गये हैं।

पाम्पिआई के ध्वंसावशेषों में भारतीय दन्तकार-कला का प्राचीनतम प्रतिनिधित्व करने वाली मूर्ति मिली है। यह मूर्ति ज्वालामुखी के विस्फोट में, जो एक बार पहली शती ई० में दबी तो १९०० वर्षों के पश्चात् टूटी-फूटी निकाली गई। पुनः सयोजन से जो मूर्ति बनी, वह नारी की अनावृत सुन्दरता को प्रत्यक्ष करती है। अलंकारों का प्रदर्शन आवश्यकता से अधिक है। इस दन्त पर दोनों ओर सैरन्ध्री रूप में दो कन्याओं को उकेरा गया है। इनके पास प्रसाधन-सामग्री दिखाई गई है। इस मूर्ति की रचना पहली शती ई० पू० में हुई होगी।

मुद्रा-कला

मुद्रा-कला का सर्वप्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के युग से मिलता है। उस समय मुद्राओं और पट्टियों पर प्रतिमा बनाने का विशेष प्रचलन था। मुद्रायें प्रायः वर्गाकार या वृत्ताकार परिधि के भीतर बनाई जाती थीं। प्रायः खरिया-पत्थर की बनी हुई इन पट्टियों पर पशुओं की प्रतिमायें—ऊँचे डील के बैल, भैंस, नीलगाय आदि परिपुष्ट स्वाभाविक स्वरूप में सुन्दर लगते हैं।

वैदिक संस्कृति की मुद्राओं का प्रत्यक्ष परिचय अभी तक नहीं मिला है। वैदिक युग में निष्क, कृष्णल, शतमान आदि की स्वर्णमुद्राओं पर आकृतियों के होने की कल्पना-मात्र हो सकती है। निष्क आदि का तो अलंकार रूप में उपयोग होता है। इनका समूर्त होना सम्भव प्रतीत होता है। अष्टाध्यायी के अनुसार रूप से बने

---

१. गजदन्तमयी दुहितृकावधू उपादान-रूप में दी जाती थी।
२. पंचालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता।

हुए शब्द रूपक, रूप्य आदि मुद्रा के लिए प्रयुक्त होते थे। रूप्य का तात्पर्य है, जिस पर रूप आहत किया गया है।[1]

अभी तक सबसे पुरानी मुद्रायें ग्रीक राजाओं की मिली हैं। इन मुद्राओं का अनुकरण शक और कुशन राजाओं ने किया। उस युग की मुद्राकला पर यूनानी प्रभाव स्वभावतः है।

सर्वप्रथम भारतीय कला की अभिव्यंजक मुद्रायें पंचाल के मित्र तथा दक्षिण भारत के सातवाहन राजाओं के द्वारा चलाई हुई मिलती हैं। इनमें कोई मूर्त-रूप नहीं मिलता है।

मूर्तरूप वाली सर्वप्रथम मुद्रायें गुप्त राजाओं की हैं। इन मुद्राओं पर प्रारम्भिक युग में यूनानी प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु शनैः शनैः विशुद्ध भारतीय कला के अनुरूप मुद्राओं को समूर्त बनाने का प्रयास पर्याप्त सफल हुआ। मुद्राओं की यह मूर्ति-कला पत्थर की बनी मूर्तियों के प्रायः समकक्ष पड़ती है।

विविध राजोचित पराक्रमपूर्ण, धार्मिक या मनोरंजक कार्य-व्यापार में लगे हुए राजा और रानी का रूप गुप्तकालीन मुद्राओं पर प्रायः मिलता है। कहीं-कहीं देवी-देवताओं की प्रतिकृति भी मिलती है। इन्हीं प्रतिकृतियों के साथ प्रासंगिक पशुओं की प्रतिकृतियाँ मनोरम विधि से बनी हुई हैं। पराक्रम-मुद्रा में घोड़े-हाथी की सवारी या आक्रान्त होने वाले सिंह या खड्गविषाण बनाये गये हैं। मनोरंजन-मुद्राओं में वीणा या मयूर द्रष्टव्य हैं। सिंह को आसन की भाँति प्रयुक्त करके भी दिखाया गया है। राजा और रानियों के परिधान और अलंकारों का निदर्शन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया है। इन मुद्राओं से गुप्तकालीन शय्या-आसन आदि का पर्याप्त परिचय मिलता है।

गुप्तकालीन मुद्राकला की उच्चता के सम्बन्ध में डा० अलतेकर का मत है—गुप्त-मुद्रायें अत्यन्त उच्च हस्तकौशल का प्रदर्शन करती हैं तथा बनावट और कला में उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिंहनिहन्ता प्रकार के एक वर्ग में राजा की पतली, किन्तु मांसल, स्नायुयुक्त देहयष्टि मनोहर दिखाई देती है। कदाचित् ही उसकी समानता कोई कलाकार कर सके। देवी या खड़ी रानी की आकृति कोमल, कान्त तथा आकर्षक है। कितनी कमनीयता से वह हाथ में नील-कमल धारण करती है या मुद्राओं को बिखेरती है या मोर को खिलाती है। उससे उस युग की सुसंस्कृत रुचि का परिचय मिलता है।

---

१. रूप्यं तद्द्वयमाहतम्। अमरकोश। अष्टाध्यायी ५.२.१२० के अनुसार रूपाहतप्रशंसयोर्यप् अर्थात् रूप्य मुद्राओं में रूप आहत विधि से बनाया जाता था।

देवी की त्रिभंगी-मुद्रा मनोरम है। समुद्रगुप्त के ऊंचे तथा भव्य शरीर का आभास उसके सिक्कों से भलीभाँति मिलता है। प्रथम चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त की राजरानी प्रकार की मुद्रायें, समुद्रगुप्त के वीणाधारी और अश्वमेध प्रकार के सिक्के, द्वितीय चन्द्रगुप्त के चक्रविक्रम और सिंहनिहन्ता मुद्राप्रकार तथा प्रथम कुमारगुप्त के अप्रतिघ खड्गनिहन्ता गजारोही और सिंहनिहन्ता प्रकार के सिक्के सभी निस्सन्देह मौलिक हैं। वे मुद्राकारों की कलापरायणता का पूर्ण परिचय देते हैं।[1]

मूर्तिशास्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग से मूर्तिकला का जो स्वरूप मिलता है, उससे निः-सन्देह प्रतीत होता है कि मूर्तिकला का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय स्वरूप पूर्ण विक-सित हो चुका था। मूर्तिकला का वह शास्त्र आर्येतर वर्णों द्वारा प्रवर्तित किया गया था। वह उन्हीं के माध्यम से वैदिक युग में भारत के विविध भागों में जीवित रहा। शनैः शनैः आर्य और आर्येतर का भेद मिट जाने पर आर्येतर और आर्य दोनों की मूर्तिकला का मिश्रण हुआ। आर्यों की मूर्तिकला के वैदिक युग में सुविकसित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्य मूर्ति बनाते थे—मिट्टी की और सोने की भी।

पुराणों के अनुसार शान्त विष्णु की मूर्ति हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण की हुई होती है। उसका सिर छत्राकार, शंख के समान कन्धे, मनोहर नेत्र, उठी हुई नासिका, कान शुक्ति के समान, हाथ और छाती विस्तृत, प्रशान्त तथा चढ़ाव-उतार वाले हों। विष्णु की प्रतिमा के ८, ४ या २ हाथ होते हैं। दो भुजाओं की प्रतिमा भवन में स्थापित की जाती है। अष्टभुजा की मूर्ति में दाहिने चार हाथों में खड्ग, गदा, बाण और कमल तथा बायें चार हाथों में धनुष, ढाल, शंख और चक्र होने चाहिए। चार भुजा की मूर्ति में दाहिने दो हाथों में गदा और पद्म और बायें के दो हाथों में शंख और चक्र होने चाहिए। दोनों पैरों के बीच में पृथ्वी की मूर्ति बननी चाहिए। वहीं गरुड़ की विनम्र मूर्ति होनी चाहिए। बायीं ओर हाथ में कमल धारण की हुई लक्ष्मी होनी चाहिए। प्रतिमा के दोनों ओर श्री और पुष्टि की मूर्ति होनी चाहिए। प्रतिमा के ऊपर विद्याधरों के साथ तोरण का निर्माण होना चाहिए। देवताओं की दुन्दुभि की मूर्ति होनी चाहिए। गन्धर्व-दम्पती भी बनानी चाहिए। पत्र-लता बनानी चाहिए, साथ ही सिंह और व्याघ्र भी। स्तुति करने वाले देवगण

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ११।

समक्ष हों, वहीं कल्पलता होनी चाहिए। स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, शीशा, पित्तल, कांस्य आदि धातुओं और काष्ठ की प्रतिमा उत्तम हैं। घर में अंगूठे की गाँठ से लेकर बित्ते भर की लम्बी मूर्ति प्रतिष्ठापित करने योग्य है, उससे बड़ी नहीं। बड़े घरों में अधिक से अधिक १६ अंगुल की मूर्ति रखी जा सकती है। प्रतिमा के मुख के मान को ९ भागों में विभाजित करके उसमें चार अंगुल में ग्रीवा, एक भाग में हृदय एवं नीचे नाभि हो। दो भागों में जंघों का विस्तार होना चाहिए। घुटने चार अंगुल में और जंघे दो भागों में हों। पैर चार अंगुल के और सिर १४ अंगुल का होना चाहिए। ललाट चार अंगुल चौड़ा, नासिका का विस्तार चार अगुल में, और दाढ़ी दो अंगुल में होने चाहिए। शिव की चतुर्भुज या अष्टभुज मूर्ति ज्ञानेश्वर कही जाती है। तीक्ष्ण दाँतों वाली उनकी मूर्ति भैरव है।[1]

मूर्तियों का शास्त्रीय दृष्टि से नामकरण किया गया था। काठ और पत्थर की मूर्तियाँ, जो तक्षण के द्वारा बनाई जाती थीं, क्षयज कही जाती थीं, क्योंकि इनमें मूल सामग्री के कुछ अंश का क्षय होता था। मिट्टी की मूर्ति बनाने में उपादान को ऊपर से जोड़ते हैं। अतः मृण्मय मूर्तियों को उपचेय कहा जाता था। ठप्पे मार कर जो प्रतिबिम्ब उतारा जाता था, उसे सक्रांत कहते थे, क्योंकि उसमें उपादान के ऊपर प्रतिबिम्ब की संक्रान्ति होती थी। पत्र, वस्त्र और सुवर्ण-पत्र पर जो मूर्त रूप दिया जाता था, उसे पत्रच्छेद्य कहा जाता था। यदि सूई के द्वारा यह प्रक्रिया की जाती थी तो उसे वुष्किम कहा जाता था। कैंची से काट कर अलग-अलग किये हुए अवयवों को जोड़ कर जो मूर्त-रूप बनाया जाता था, उसे छिन्न कहते थे। यदि अवयवों का सम्बन्ध नहीं किया जाता था तो उसे अच्छिन्न मूर्ति कहा जाता था।[2]

मूर्तियों की लोकोपयोगिता

मूर्तिकला की प्रगति पर मूर्तियों की लोकोपयोगिता का विशेष प्रभाव पड़ा है। लोकोपयोगिता से लोकप्रियता सम्भव होती है। मूर्तियों के धार्मिक और रसात्मक उपयोगों का सामंजस्य सिन्धु-सभ्यता के युग से ही विशेष प्रभावोत्पादक हुआ है। सिन्धु-सभ्यता के लोग मिट्टी की मूर्तियों को मन्दिरों में देवताओं को समर्पित करते थे। मिट्टी की मूर्तियाँ समाधि में रखी जाती थीं। कुछ मूर्तियों से बालक खेलते थे। सीटियों की भाँति उनका उपयोग होता था। उस समय के खिलौनों योगी की मूर्ति और नर्तकियों की मूर्ति का धर्म से विशेष सम्बन्ध प्रतीत

---

१. विस्तृत परिचय के लिए देखिए मत्स्यपुराण २५७–२५८ अध्याय।

२. रविषेण का पद्मपुराण २४.३८–४३।

होता है। मुद्राओं में अंकित दृश्यों से यह अनुमान लगाया गया है कि उस युग में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था।

वेदकालीन मूर्तियों के सर्वप्रथम उल्लेख यज्ञ-सम्बन्धी मिलते हैं। अग्नि-वेदिका के निर्माण में स्वर्णपत्र पर स्वर्ण की बनी हुई प्रजापति की पुरुषाकार मूर्ति रखी जाती थी।[1] प्रवासी के मर जाने पर पलाश के पत्तों से उसकी मानवाकृति बनाकर अग्निहोत्र-सम्बन्धी धार्मिक प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी।[2] अश्वमेध में अग्निचयन के लिए गरुड़ाकृति बनाई जाती थी। सोने या मिट्टी से मानव, अश्व, सांड़, भेड़ या बकरे के सिर की मूर्ति बनाकर अग्निचयन की वेदिका में लगाया जाता था।[3] कुछ याज्ञिक प्रक्रियाओं में यव से मेष की मूर्ति बनाई जाती थी।[4]

वैदिक युग में मूर्तियों का एक विशिष्ट उपयोग अभिचार-कृत्यों में था। अथर्व-वेद के अनुसार इस प्रकार के अभिचारों का विशेष प्रचलन था। प्रेम-पथ में सफ-लता प्राप्त करने के लिए नायक और नायिका एक दूसरे की मूर्ति बनाकर अभि-चार-मन्त्रों से उसे प्रभावित करते थे। कृत्या की पुरुषाकार मूर्ति घातक प्रयोगों के लिए बनाई जाती थी।[5]

महाभारत के अनुसार मूर्तियों की बहुविध उपयोगिता थी। राजाओं के लांगल-यज्ञ में स्वर्ण का हल बनाया जाता था।[6] अश्वमेध-यज्ञ में अग्नि-चयन के लिए गरुड़ाकृति बनाई जाती थी।[7] धनुर्धरों के अस्त्राभ्यास के लिए भी मूर्तियों का उपयोग होता था। धनुर्विद्या के सार्वजनिक अभ्यास का प्रदर्शन करते समय वृक्ष पर गीध की मूर्ति लटका कर उसके सिर के बेधने का उपक्रम किया जाता था, अथवा लोहे के बने भ्रमणशील शूकर को बाण मारना पड़ता था।[8] मूर्तियों का उपयोग स्वयंवर में वीरों की धनुर्विद्या की उत्कृष्टता का परिचय पाने के लिए

---

१. शतपथ ब्राह्मण ७.४.१.१५।

२. ऐतरेय ब्रा० ७.२.२।

३. कात्यायन श्रौतसूत्र १६.१.३२।

४. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८.५.३७।

५. यह मूर्ति स्त्री-रूप में वधू के समान होती थी। सम्भवतः सुन्दर होती होगी। उसके सिर, नाक, कान आदि होते थे। सम्भवतः स्वलंकृत होती थी। अथर्ववेद १०.१.१, २, २५।

६. वनपर्व २४२.२।

७. आश्व० प० ९१.३१।

८. आदिपर्व १२३.४६–४८।

होता था।[१] द्रौपदी के स्वयंवर में ऊँचाई पर लटकते हुए चक्कर करने वाले मत्स्य की आँख का लक्ष्य-भेदन करना था। युद्धवीरों की ध्वजाओं पर विविध पशु-पक्षियों और वृक्षों की मूर्तियाँ बनी होती थीं।[२] धनुष की पीठ पर हाथी, वीरबहूटी, सूर्य, शलभ आदि के प्रतिरूप उकेरे जाते थे।[३] आचार्य की सन्निधि का बोध कराने के लिए एकलव्य ने द्रोण की मृण्मय मूर्ति बनाई थी। शिल्प की सर्वोत्तम वस्तुयें विवाह के अवसर पर उपहार रूप में वर को दी जाती थीं।[४]

राजभवनों को सुन्दर मूर्तियों से सजाने का उल्लेख रामायण में मिलता है। इसमें वैदूर्य, चाँदी और मूंगों से बने पक्षियों का प्रमुख स्थान था। देवताओं और अन्य पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ भी वहाँ सुशोभित होती थीं।[५]

विवाह के योग्य वर-वधू को खोज निकालने के लिए मूर्तिकला का उपयोग जातकों के अनुसार होता था। आदर्श पत्नी की मूर्ति बनवाकर उसका देश-विदेशों में प्रदर्शन कराया जाता था।[६]

युद्धभूमि में महान् योद्धा-देवताओं की मूर्तियाँ सेना को प्रोत्साहित करने के लिए आगे-आगे चलती थी।[७]

अर्थशास्त्र के अनुसार नागादि की अनेक सिरों वाली मूर्तियाँ बनाकर उन्हें सुरंग में रखकर दर्शनार्थियों से राज-कर्मचारियों के द्वारा धन लेने की योजना चल सकती थी।[८]

पौराणिक युग में देवताओं, पशु-पक्षियों आदि अनेक चराचरों की मूर्तियों को दान-रूप में देने की पुण्यात्मक रीति मिलती है। अगहन की तृतीया तिथि को शिव तथा धर्मराज की स्वर्णमूर्ति को स्वर्णिम तथा रजत फलों की मूर्तियों के साथ दान देने का विधान था।[९] इस पुराण में दान के प्रकरण में आठों दिक्पालों की रजत-

---

१. आदिपर्व १२५.२३।

२. द्रोण प० अध्याय ८०, भीष्म प० ४४.४८; ४५.८; ५०.८९।

३. विराट पर्व ३८.२१–२७।

४. आदिपर्व १८६.७।

५. वा० रा० सुन्दरकाण्ड ७वाँ सर्ग।

६. उदय जातक ४५८, कुश जातक ५३१, दरीमुख जातक ३७८ तथा अस्सक जातक २०७।

७. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ३६६।

८. कोशाभिसंहरण प्रकरण।

९. मत्स्यपुराण ९६वाँ अध्याय।

मूर्ति, कामदेव की स्वर्ण-मूर्ति और हंस की स्वर्ण-मूर्ति की प्रतिष्ठा की रीति थी।[1] जलाशय की प्रतिष्ठा करते समय सोने के बने हुए कछुए, मकर, चाँदी की मछलियाँ, ताँबे के केकड़े और मेढक तथा लोहे के मकर बनवाने का प्रचलन था।[2]

शातातप स्मृति के अनुसार शर्करा, तिल तथा घृत की गायें बनाकर उन्हें दान देने की रीति थी।[3] मरते समय राजा सोने की बनी मानव की मूर्ति का दान करता था।[4]

गुप्तयुग में राजप्रासादों के स्तम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनती थीं। वे सम्भवतः स्त्री की भाँति दिखाई देती थीं। उनको स्तनोत्तरीय पहनाया जाता था।[5] राजाओं के द्वारा अपने पूर्वजों की मूर्तियाँ बनवाकर नगर के बाहर पितृभवन में रखने की रीति थी। राजप्रासादों में मूर्तिगृह होते थे। कहीं-कहीं मूर्तिगृहों में पथिकों के विश्राम की व्यवस्था होती थी।[6]

सातवीं शती में बाण ने राजकीय जलाशयों में स्वर्ण की बनी कमलिनी, कृत्रिम मकर, चलने वाले कृत्रिम हाथी आदि का उल्लेख किया है। उस समय कृत्रिम वृक्ष बनाने का प्रचलन था। भ्रमणशील यन्त्रमयी पत्रशकुन-श्रेणी बनाई जाती थी। कृत्रिम पक्षियों के फड़फड़ाते हुए पक्षों से जल की बूंदें बिखरती थीं।[7] बाण ने जिस यन्त्रचक्रवाक-मिथुन का उल्लेख किया है, वह कृत्रिम कमलिनी के बीच संचरणशील था।[8] राज्यश्री के विवाह के अवसर पर राजप्रासाद के मांगलिक अलंकरण के लिए साँचे में ढली मछली, कछुआ, मकर, नारियल, केला तथा तमाल के वृक्षों की मूर्तियाँ सुशोभित हो रही थीं।

परवर्ती युग में मूर्तियों के द्वारा समाज को देवताओं, वीरों और महर्षियों की चरितगाथा-सम्बन्धी ज्ञान कराने का महत्त्वपूर्ण आयोजन किया गया। अनेक मन्दिरों में लम्बी-चौड़ी शिलाओं पर रामायण तथा महाभारत की कथा, भगीरथ का तप, गौतम की जीवन-चर्या आदि देखने पर समाज को साधारण काव्यगत

---

१. मत्स्य० पु० ८३वाँ अध्याय।
२. पद्मपुराण सृष्टि ख० २४वाँ अध्याय।
३. शाता० २.३८–३९।
४. वही ३.३३।
५. रघुवंश १६.१७।
६. प्रतिमा नाटक तीसरे और चौथे अंक में।
७. कादम्बरी, पृ० २१६।
८. कादम्बरी, पृ० १८४।

कथाओं की अपेक्षा अधिक रस और शिक्षा मिलती थी।[1] तेरहवीं शती के चिदम्बरम् के शैव मन्दिर की नर्तन-सभा में भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार विविध नृत्यों से सम्बद्ध आंगिक विन्यासों और भाव-भंगिमाओं को मूर्तरूप देकर सम्भवतः नृत्यकला के क्रियात्मक शिक्षण का आयोजन किया गया है।

वास्तुकला

सिन्धु-सभ्यता के युग में ईंट को बनाने और पकाने में लोग कुशल थे। वे विविध प्रकार की जुड़ाई के लिए विविध आकार की ईंट बनाते थे। विविध द्रव्यों के मिश्रण से दृढ़ जुड़ाई के लिए वे उपयोगी वज्रलेप बनाते थे। वास्तु की स्थिरता के लिए बहुत गहराई तक खोदकर वे नींव भरते थे। उनके घर खुले हुए और स्वास्थ्यप्रद थे। उनमें द्वार और खिड़कियों से वायु और प्रकाश का प्रचुर प्रसार था। कई तलों वाले घर बनते थे। यह सब होने पर भी यही कहा जा सकता है कि उनके भवन-निर्माण से कला की अभिव्यक्ति नहीं होती, यद्यपि वे भारी-भरकम राजोचित प्रासाद तक बना सकते थे। उनकी दीवालें बाहर से सादी होती थीं। उनमें कहीं भी कला का दर्शन नहीं होता था।

सिन्धु-सभ्यता के वास्तुओं के अतिरिक्त प्राचीन भारत के उच्च कोटि के वास्तुओं के अवशेषों का प्रत्यक्ष दर्शन प्रायः ई० शती के प्रारम्भिक युग से ही सम्भव होता है। इन सहस्रों वर्षों के अन्तराल में अन्य कलाओं के साथ ही वास्तु-कला की प्रगति अभी तक साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर ही जानी जा सकी है।

वैदिक साहित्य के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि आर्यों को वास्तु-विन्यास में विशेष अभिरुचि नहीं थी। गृह-सम्बन्धी अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक छोटी-बड़ी शालाओं के घर आर्य लोग लकड़ी, पत्ते और मिट्टी आदि से बना लेते थे। आर्येतर संस्कृति के लोगों के घरों के बृहदाकार और पत्थर आदि से निर्मित होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन सब में कला की चारुता कहाँ तक

---

१. एलौरा के गुफा-मन्दिर, महाबलिपुरम् की शिलोत्कीर्ण मूर्तियाँ, अजन्ता के गुफा-विहार आदि इसके अनुपम उदाहरण आज भी विद्यमान हैं। छठी शताब्दी में नालन्दा के एक वैष्णव मन्दिर की अररी पर शकुन्तला नाटक के दो दृश्य उत्कीर्ण मिले हैं—(१) दुष्यन्त के द्वारा चित्रण, और (२) भरत का सिंह-शावक के दाँत गिनना। अन्यत्र मेघदूत की यक्षिणी मयूर को नर्तन सिखा रही है। वहीं कुमार-सम्भव के भी कुछ दृश्य हैं।

थी—अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। सम्भव है, वेद-कालीन वसतियों की खुदाई होने पर इस प्रकरण पर विशेष प्रकाश पड़े।

वैदिक वास्तु-शैली का महत्त्व कम से कम इस दृष्टि से तो है ही कि परवर्ती युग की वास्तु-कला के विकास पर उसका प्रभाव पड़ा है। रोलैण्ड ने इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—The chief importance of the Vedic period lies in the development of architecture as a science and the invention of types that survive in later Hindu and Buddhist architecture.[1]

महाभारत के अनुसार शिल्प-कला की तीन शैलियाँ प्रचलित थीं—दैव, आसुर और मानुष।[2] मयासुर ने युधिष्ठिर के लिए सभा-भवन का निर्माण किया था। उसके विशेषण हैं—भ्राजमान, नये मेघ के समान आकाश में व्याप्त, रत्न से बने हुए प्राकार और तोरण वाला, चित्रित आदि। इसके अन्तर्गत पुष्करिणी में इन्द्रनीलमणि के पत्तों वाली कमलिनी थी, जिसके मृणाल मणियों से बने थे। वह पुष्करिणी स्थल की भाँति दिखाई देती थी।[3] रामायण में लंका और अयोध्या के भवनों की उच्च प्रशंसा मिलती है।

मौर्ययुगीन अशोक-भवन की प्रशस्ति में डा० स्पूनर ने कहा है—'यह (अशोक का सभा-भवन) भली भाँति सुरक्षित है। इसके लकड़ी के लट्ठे आज भी वैसे ही चिकने और पूर्ण हैं, जैसे अशोक के समय में थे। इसके बनाने की विधि ऐसी वैज्ञानिक है कि हम आज भी इससे अच्छा वास्तु बनाने की कल्पना नहीं कर सकते। यह अपने युग के वास्तु का आदर्श है।' अशोक का यह भवन सात-आठ सौ वर्षों तक खड़ा रहा। फाह्यान ने इसकी कलात्मक प्रशस्ति करते हुए लिखा है—'नगर में महाराज अशोक के प्रासाद और सभाभवन हैं। सब असुरों के बनाये हैं। पत्थर चुनकर भित्ति और द्वार बनाये गये हैं। सुन्दर खुदाई और शिल्प है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक वैसे ही हैं।'

मौर्ययुग से ही प्राचीन भारत की वास्तु-कला के आदर्शों की प्राप्ति होने लगती है। इनमें से सर्वोच्च स्थान अशोक के बनाये हुए स्तम्भों, स्तूपों, और गुफाओं का है, जिनकी गणना सर्वप्रथम होती है।

---

१. *M. Rowland :* Art and Architecture, p. 23.

२. सभापर्व १.११। इसके अनुसार तीनों शैलियों के मिश्रण की सम्भावना थी।

३. सभा० तृतीय अध्याय।

स्तूप

पूर्वजों के स्मारकरूप में स्तूपों की रचना का प्रचलन सुदूर प्राचीन काल से रहा है। स्तूपों की रचना का सर्वप्रथम उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है।[१] बौद्ध धर्म के अनुसार स्तूपों से किसी महात्मा के निर्वाण या सम्यग्ज्ञान का स्मरण होता है। स्तूपों के देखने से व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणा मिलती है। आरम्भ में स्तूप गौतम बुद्ध से सम्बद्ध स्थानों पर बने। उनमें गौतम बुद्ध की अस्थि का अवशेष भी कहीं-कहीं था। इस अवशेष को भूमि में गाड़ कर उसके ऊपर आयत बनाया जाता था और आयत के ऊपर स्तूप रचा जाता था। परवर्ती युग में गौतम बुद्ध के मतानुयायियों के स्मारक स्तूप-रूप में निर्मित होने लगे थे।

सबसे पुराना स्तूप बस्ती जिले के पिपरावाँ गाँव में मिला है।[२] यह बड़ी ईटों का (१५"×१०"×३") का बना है। इसकी परिधि ११६ फुट और ऊँचाई २१ फुट है। इसके लेख के अनुसार इसमें बुद्ध के अवशेष मुद्रित थे। इसका निर्माण ई० शती से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हुआ था। जनश्रुति के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप बनवाये थे। इनमें से कम से कम एक सांची का स्तूप है।[३] इसके तोरण और वेदिका आदि की रचना ईसवी शती के १००-२०० वर्ष पहले हुई थी। इस स्तूप का व्यास ८१ हाथ और ऊँचाई ३६ हाथ है। इसके चारों ओर समानाकार २३ हाथ ऊँचे और १३ हाथ चौड़े चार महाद्वार बने हैं। इसका अण्डाकार स्तूप एक विस्तृत गोलाकार वेदिका पर प्रतिष्ठित है। अण्ड की जड़ से लेकर इस वेदिका के छोर तक प्रदक्षिणा-पथ है। स्तूप के चारों ओर पत्थर का प्राकार बनाया गया है। प्राकार में स्तम्भों का आधार लेकर आड़ी पिरोई हुई समानान्तर

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३.८.१.५ तथा १३.८.२.१–२। जैन संस्कृति में भी स्तूपों का निर्माण होता था। देखिए *V. A. Smith :* The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.

२. इनसे पहले की कुछ गुफाएँ हैं, जो स्तूप-रूप में निर्मित हैं। ये गुफाएँ केरल प्रदेश में मेम्नपुरम् में मिलती हैं। इनमें से एक केन्द्र में एक गोल पत्थर का स्तम्भ भी बना है। उपर्युक्त आदर्श पर बिहार में गया के निकट सुदामा-गुफा है। मालाबार में कन्ननोरे से १२ मील की दूरी पर एक गुफा है, जिसके ऊपरी विन्दु से चिमनी जैसा निकला हुआ भाग है, जो परवर्ती हर्मिका का पूर्व रूप हो सकता है।

३. अशोक का स्तूप ईंट का बना था। इसकी ऊँचाई वर्तमान स्तूप से आधी थी।

सूचियाँ लगाई गई हैं। महाद्वारों से सीढ़ी पर चढ़ कर कुछ ऊँचाई पर जाने पर एक और प्रदक्षिणा-पथ मिलता है, जिसे मेधि कहते हैं। अण्ड का शिखर वर्गाकार समतल है। इसी पर हर्मिका बनी हुई है। हर्मिका पत्थर के प्राकार से घिरी है। सबसे ऊपर दण्डमय छत्र है। तोरण और वेदिकाओं पर प्रायः सर्वत्र छोटी-बड़ी मूर्तियाँ हैं, जिनमें असंख्य वास्तविक और कल्पित प्राणियों की जीवन-गाथा सन्निहित है। उनमें से पशु, पक्षी, देव, यक्ष, गन्धर्व, मानव आदि प्रतिमूर्त होकर मानो सारे जगत् को गौतम के उदात्त व्यक्तित्व से प्रभावित व्यक्त करते हैं। ऊपर के छत्र से धर्म में सार्वजनीन साम्राज्य की ध्वनि स्पष्ट है। अशोक के धर्मराज्य की यही सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। सांची में १५०० वर्षों के वास्तु-कला के विकास की रूप-रेखा सन्निहित है।

सांची के तीसरे स्तूप में महामोग्गलान तथा सारिपुत्त के भस्मावशेष के जो पात्र मिले हैं, उनके ढकनों के भीतरी ओर उनके नाम म तथा सा लिखे हैं। यह लेख ब्राह्मी लिपि में है और पाँचवीं शताब्दी ई० पू० का है। मोग्गलान और सारिपुत्त गौतम के सर्वोच्च शिष्यों और सहायकों में से थे। विश्व की प्राप्य लिखाई में मसि की यह सर्वप्रथम कृति है।

सारनाथ का धर्मराजिक स्तूप सम्भवतः अशोक के द्वारा बनवाया गया था। छठीं शती से बारहवीं शती तक इस स्तूप को एक दूसरे के ऊपर क्रमशः छः वार आच्छादित किया गया। जयपुर के समीप वैराट में एक मौर्यकालीन भग्न स्तूप मिला है।

दूसरी शती ई० पू० में शुङ्गों के शासन-काल में भरहुत में एक स्तूप बना। इसकी रूप-रेखा बहुत कुछ साँची के स्तूप के समान है। इस स्तूप की कई वेदिकायें और एक महाद्वार कलकत्ता के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहाँ जातक कथाओं का तक्षण प्रभावोत्पादक विधि से किया गया है। इस स्तूप का व्यास ४४ हाथ था। इसके आधार-स्तर पर दीपस्थान बने थे। इसकी एक पट्टी पर कूटागार का तक्षण मिलता है, जो परवर्ती नागर-शैली के मन्दिर के शिखर का पूर्व स्वरूप है।

उत्तरी बिहार के नन्दनगढ़ का स्तूप पहली शती ई० पू० में बना था। इस स्तूप की निर्माण-शैली का सर्वोच्च विकास जावा में बोरोबुदुर के प्रसिद्ध स्तूप में दृष्टिगोचर होता है। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग हुई थी।

गन्तूर जनपद के अमरावती कलाकेन्द्र से सम्बद्ध अनेक स्तूपों की रचना पहली शती ई० पू० से तीसरी शती ई० तक कृष्णानदी के तट पर अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड और कृष्णा जिले में जगय्यपेट, घण्टशाला, गुडिवाडा, भट्टि-

प्रोलु में हुई। वे स्तूप कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी स्तूप साधारणतः ईंट के बने हैं। इनमें से अनेक के आधार-स्तर पर मर्मरोत्पल में उत्कीर्ण पट्टियों का अलंकरण है। अमरावती का स्तूप अलंकरण की कला की दृष्टि से सर्वोपरि है। इनमें से छोटे स्तूपों का व्यास २० हाथ तक है किन्तु बड़े स्तूपों का व्यास १६६ हाथ तक है। अमरावती के स्तूप का व्यास १०८ हाथ और इसकी वेदिकाओं तक का व्यास १२८ हाथ है। इसकी ऊँचाई लगभग ५५ हाथ रही होगी। द्वितीय शती के बने हुए नागार्जुनिकोण्ड के स्तूपों के व्यास १८ हाथ से ७० हाथ तक हैं।

राजाओं के आश्रय में स्तूपों के निर्माण की कला का विशेष अभ्युदय हुआ। पहली शती में कनिष्क ने तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक स्तूप बनवाये। ह्वेनसांग के अनुसार पुरुषपुर (पेशावर) में कनिष्क के द्वारा बनवाया हुआ स्तूप ४०० फुट ऊँचा था और इसकी परिधि १० ली अर्थात् २५०० हाथ थी। इसकी वेदिका १५० फुट ऊंची थी। यह पाँच तला बना था। सबसे ऊपर स्वर्ण-ताम्र के २५ चक्र थे। उनके पास ही मूर्तियों से अलंकृत एक तीन फुट ऊँचा और दूसरा पाँच फुट ऊँचा स्तूप था। वहीं दो मूर्तियाँ थीं, जिनमें से एक में बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे पालथी लगाकर बैठे हुए दिखाये गये थे।[1]

कनिष्क के समय से लेकर पाँचवीं शती ई० तक तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी भारत में अफगानिस्तान तक असंख्य स्तूप बने। इन स्तूपों की गान्धार-शैली स्पष्ट है। प्रसिद्ध स्तूप रावलपिण्डी जिले में तक्षशिला और माणिक्याला में, मर्दान के निकट तख्तेबाही, सहरी बहलोल और जमाल गढ़ी में और पेशावर जिले में चार सद्दा में मिलते हैं। स्तूपों के साथ महाविहारों का होना इस प्रदेश की विशेषता है। विहार सम्भवतः आराधकों की सुविधा के लिए होंगे। सभी स्तूप पत्थर के बने हुए हैं। इन पर बौद्ध संस्कृति से सम्बद्ध मूर्तियों की अधिकता है।

इसी प्रदेश में मूलतः अशोक का बनवाया हुआ एक धर्मराजिक स्तूप तक्षशिला से लगभग एक मील की दूरी पर मिला है। इसकी रूप-रेखा अर्धगोलाकार है। माणिक्याला का एक स्तूप भी ऐसा ही है। शेष सभी स्तूप ढोल के आकार के ऊँचे बने हुए हैं। इनका प्रदक्षिणा-पथ वर्गाकार चबूतरे पर होता था।

पाँचवीं-छठीं शती में बने हुए कतिपय स्तूप सिन्धुप्रदेश में मिलते हैं। इनका निर्माण गान्धार शैली पर हुआ है। इनको बनाने में मिट्टी की विविध प्रकार की ईंटों का उपयोग हुआ है। मीरपुर खास के स्तूप की मृण्मूर्तियाँ गुप्तकला के

---

१. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग १, पृ० २०४।

अनुरूप निर्मित हैं। इसके आधार-स्तर में तीन कोठरियाँ मिलती हैं, जिनमें गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ रखी हुई हैं।

सारनाथ, श्रावस्ती (सहेत-महेत) और कसिया में गुप्तकाल से लेकर बारहवीं शती तक स्तूप बनते रहे। इनमें क्रमशः उपरि-उपरि अनेक चबूतरों के निर्माण से अधिक ऊँचाई पर ढोलाकार स्तूप की प्रतिष्ठा मिलती है।

सारनाथ के धर्मराजिक (धमेख) स्तूप का वर्त्तमान रूप पाँचवीं शती से लेकर आगे बना हुआ मिलता है। इसका व्यास ६२ हाथ और ऊँचाई ९६ हाथ है। यह २४ हाथ ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसका चबूतरा पत्थर का बना है और ऊपर का ढोलाकार भाग मृण्मय ईंट का है।

पश्चिमी भारत में पहाड़ों को काटकर जो स्तूप बनाये गये, वे साधारणतः सभी ढोलाकार मिलते हैं। आरम्भिक स्तूपों की ऊँचाई कम है। शनैः शनैः ऊँचे स्तूपों का बनना आरम्भ हुआ।

गुहाएँ

ऐतिहासिक गुहाओं के निर्माण के प्रारम्भ का श्रेय अशोक को दिया जा सकता है। सर्वप्रथम प्राप्य गुहायें अशोक की बनवाई हुई हैं, जो बिहार में गया जिले के बराबर और नागार्जुनि पर्वतों में मिलती है। प्रायः इन सभी गुहाओं में अशोक और उसके पौत्र दशरथ के लेख मिलते हैं, जिनके अनुसार आजीविक सम्प्रदाय के ऋषि वहाँ रहते थे। इन गुफाओं में से सुदामा-गुहा और लोमश-ऋषि-गुहा का कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। सुदामा गुफा के सामने का कक्ष २२ हाथ लम्बा, १२ हाथ चौड़ा और ८ हाथ ऊंचा है। इसकी छत वृत्ताकार मण्डलित है। सामने के कमरे के पीछे १२ हाथ व्यास की गोलाकार शाला है। इसकी ऊँचाई ८ हाथ है। इसकी छत अर्धवृत्ताकार है। लोमश-ऋषि की गुहा में प्रवेश-द्वार पर तक्षण का अलंकरण है। इसमें प्रकाश के लिए पत्थरों को काट कर जाली बनाई गयी है। जाली के नीचे एक हाथी उकेरा हुआ है, जो स्तूप की अर्चना करने की मुद्रा में है।

दूसरी शती ई० पू० से भारत के विभिन्न पर्वतीय भागों में जो गुहाओं का बनना आरम्भ हुआ तो दसवीं शती तक हजारों गुहायें बनीं, जिनमें से लगभग १३०० अब भी वर्त्तमान हैं।[1] गुफाओं को कला के विकास की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती ई० तक, (२)

---

१. गुफाओं का सर्वोत्तम केन्द्र अजन्ता और एलौरा हैं।

पाँचवी शती से सातवीं शती तक और (३) सातवीं शती से दसवीं शती तक। इनमें से प्रथम युग कला के बीजारोपण का है, द्वितीय में कला का सर्वोच्च विकास है और तृतीय अविकल सातत्य का युग है। महाराष्ट्र प्रदेश गुफाओं की कला की दृष्टि से सर्वप्रथम और श्रेष्ठ है।

प्राथमिक गुफायें बौद्ध संस्कृति के अनुयायियों की पूजा और भिक्षुओं के आवास के लिए बनाई गईं। पूजा की गुफाओं का विकास चैत्य रूप में हुआ।[1] चैत्य में सर्वप्रथम संघ-सदन होता था, जिसमें उपासक या भिक्षु इकट्ठे होते थे। इस सदन के दूसरे छोर पर स्तूप होता था। स्तूप की परिक्रमा के लिए पथ बनता था। सदन की लम्बाई में दोनों ओर स्तम्भ-परम्परा होती थी। इस स्तम्भ-परम्परा से एक पार्श्वपथ होता था, जिससे होकर संघ-सदन के बाहर ही बाहर से चारों ओर घूमा जा सकता था। चैत्य का प्रवेश-द्वार महाविशाल और शिल्पकर्म से अलंकृत बनाया जाता था। द्वार के ऊपर बने हुए गवाक्षों से संघ-सदन में प्रकाम प्रकाश आने की व्यवस्था होती थी।

चैत्य

वास्तु-निर्माण-कला के विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय गुफायें भाजा की हैं। भाजा और कार्ले की गुफायें सन्निकट हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है बहुत अधिक ऊँचाई पर स्थित होना। इन गुफाओं तक पहुँचने के लिए पथिक श्रान्त हो जाते हैं। यहाँ विहार और चैत्य गुफा का अन्तर स्पष्ट है। विहार-गफायें निवास के लिए होती थीं और वे प्रायशः सरल, अनलंकृत, संकीर्ण और संन्यास-प्रवृत्ति की परिचायिका हैं। इसके विपरीत पूजा के स्थान चैत्य हैं। वे अतिशय समृद्ध, विशाल, समलंकृत और गार्हस्थ्योचित प्रतीत होते हैं। देवता या महा-पुरुषों से सम्बद्ध वास्तुओं का प्राचीनतम युग से ही कुछ ऐसा माहात्म्य दृष्टिगोचर होता है।

भाजा में एक गुफा-चैत्य सर्वोत्तम है। इसके दाहिने-बायें अनेक गुफा-विहार बने हुए हैं। एक गुफा-चैत्य में तो बीसों छोटे-छोटे स्तूप बने हैं, जिनमें से कई प्रायः एक दूसरे से सटे हुए हैं। इनमें से सबसे बड़ा लगभग १५ फुट ऊँचा है। छोटे स्तूप लगभग १० फुट ऊँचे हैं।

---

१. महाभारत के अनुसार हिन्दुओं के लिए वृक्ष चैत्य थे :—

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत्पर्णफलान्वितः।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः॥
आदिपर्व १३८.१२५।

वास्तु-कला की दृष्टि से भाजा के उपर्युक्त श्रेष्ठ चैत्यगुफा का अद्वितीय महत्त्व है। कार्ला, कन्हेरी और अजन्ता आदि की गुफाओं में इसकी कला और शैली का विकास दृष्टिगोचर होता है। गुफा के स्तम्भों पर दो-चार कमल या अन्य पुष्पों को उत्कीर्ण किया गया है। यहीं की एक अन्य गुफा की भित्ति पर चार अश्वों के द्वारा खींचे जाते हुए रथ के निर्माण में विशेष शोभा सम्पुटित की गई है। अश्वों की सबलता, तेजस्विता और जवनता का मनोरम सामंजस्य प्रदर्शित किया गया है। रथ में तीन सवार बैठे हैं। वहीं एक हाथी अपनी सूंड़ में वृक्ष-शाखा उठाये हुए उत्कीर्ण है। उसके ऊपर दम्पती आसीन हैं। इस चैत्य के ओसारे को ऊपर ही ऊपर अवलम्बन देने के लिए दो-ढाई फुट ऊँचे स्तूप और मानव मर्तियों का निर्माण हुआ है।

भाजा के सर्वोत्तम चैत्य का निर्माण लगभग २०० ई० पू० में हुआ। इसका संघ-सदन ३७ हाथ लम्बा, १८ हाथ चौड़ा और साढ़े बारह हाथ ऊँचा है। पार्श्व-मार्ग दो हाथ चौड़ा है।

कार्ला का गुफा-जगत् अनुपम शोभा से मन को हर लेता है और मानस-पटल पर तत्कालीन बौद्ध धर्म की कर्मण्यता का सर्वोपरि उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पर्वत-प्रस्थों पर अपनी कुटिया में सुदूर प्राचीन काल से साधु, सन्त रहते आये थे और अपनी संस्थाओं को चिरस्थायी वसति प्रदान करने के लिए गुफाओं के निर्माण के प्रति जब इनका ध्यान गया तो उन्होंने प्रस्तर पुंजों का अध्ययन करके यह जान लिया कि न केवल बाह्यतः वे आश्रय उदार हैं, अपितु उनके हृदयोद्देश में समुन्नत मानवों और उनके आदर्शों को वसति देने के लिए प्रकाम आयाम और विशदता है।

कई तले गुफा-विहारों को देखते हुए बढ़ते जाने पर कार्ला की महाचैत्य-गुफा दिखाई देती है। इसके महाद्वार के शिरोभाग को देखने के लिए अपने सिर को विशेष उचकाना पड़ता है। क्या ही भव्य द्वार है! द्वार-दर्शन मात्र से ही आन्तरिक गरिमा का आभास होने लगता है।

महाद्वार से आगे बढ़ते ही दाहिनी-बाईं ओर भित्ति से हस्ति-शावकों की मूर्तियाँ सामने की ओर निकली हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इन मूर्तियों में सजीवता है। इनके निर्माण में कलाकार को दिव्य सफलता मिली है। महाद्वार से आगे बढ़ने पर सामने की भित्ति पर दाता-दम्पती की अनेक मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। इन मूर्तियों में शृंगार-भाव प्रत्यक्ष है। नारी-सौन्दर्य का प्रतिमान सम्भवतः यहाँ भी यही रहा कि उसका नैसर्गिक अंग-विन्यास अनावृत रूप में प्रदर्शित किया जाय। नारी के वक्ष-स्थल और उरोजों की उच्चता से उद्दाम यौवन के झलकाने का उद्देश्य स्पष्ट

है। इन्हीं दम्पतियों के बीच एक स्थान पर गौतम-बुद्ध की मूर्ति है, जो कमलासन पर प्रतिष्ठित है। नीचे की ओर बोधि-वृक्ष बना है। वहीं दो हरिणों की मूर्तियाँ हैं, जिन्हें किसी कारणवश पूर्ण सौष्ठव नहीं प्रदान किया जा सका है।

महाद्वार के आगे लघुद्वार है। लघुद्वार से भीतर जाने पर दाहिने और बायें की ओर स्तम्भ पंक्तियां हैं। सभी स्तम्भों के सिरों पर सामने की ओर दो हाथी घुटने टेके हुए हैं। इन्हीं स्तम्भों में से कुछ के ऊपर हाथियों के पीछे अश्वारोहियों से युक्त घोड़े बने हुए हैं।

कार्ला का महाचैत्य पहली शताब्दी ई० पू० में बना। इसका संघ-सदन ८१ हाथ लम्बा, ३० हाथ चौड़ा और ३० हाथ ऊँचा है। इसका महाद्वार-कक्ष दो-तला बना है। संघ-सदन के दोनों ओर १५ स्तम्भ हैं।

उपर्युक्त प्रथम युग की गुफायें बेडसा, कन्हेरी, अजन्ता, नासिक आदि स्थानों में मिलती हैं। कन्हेरी की चैत्य-गुहा कार्ले की गुफा का सफल अनुकरण-मात्र है।[1]

उड़ीसा में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि और खण्डगिरि में जैन संस्कृति से सम्बद्ध गुफायें दूसरी शती ई० पू० से लेकर ई० शती के आरम्भ तक बनी थीं। यहाँ ३५ गुफाओं में से केवल १७ सुरक्षित बची हैं। इनमें से १६ उदयगिरि में हैं। चार गुफायें दो तल वाली हैं। जैन संस्कृति की अलंकरण-उपेक्षा इन गुफाओं में प्रत्यक्ष है। कहीं-कहीं स्तम्भों की संयोजनिकायें वृक्षों की शाखाओं की भाँति रूपित की गई हैं। कहीं-कहीं किन्नरों की सवारियाँ दिखाई गई हैं। अन्यत्र अर्धवृत्ताकार तोरणों के उच्च बिन्दुओं पर पशु-युगल पृष्ठसंयोजिनी मुद्रा में बैठे हैं। रानीगुम्फा की एक दो तल वाली गुफा का विस्तार उल्लेखनीय है।[2] इसमें एक खुले प्रांगण के तीन ओर कोठरियाँ और अलिन्द हैं। दूसरे तल की गुफा की भित्तियों पर तक्षण का अलंकरण अतिशय मनोरम है। इसकी नाटकीय दृश्यावली को देखने से कल्पना होती है कि इस गुफा का उपयोग धार्मिक अभिनय या उत्सवों के लिए होता होगा। वहीं पर गणेश-गुफा की हाथियों की मूर्तियाँ विशाल हैं। उकेरी हुई मूर्त्तियों का सौन्दर्य रमणीय है। हाथी-गुफा में खारवेल की विजय और पराक्रम का प्रसिद्ध शिलालेख उत्कीर्ण है।

---

१. युगानुरूप कला-विकास की दृष्टि से इन गुफाओं का काल-क्रम से विभाजन इस प्रकार है—भाजा, कोण्डाने, पीतलाखोरा, अजन्ता की दसवीं डबेसा, अजन्ता की नवीं नासिक, जुन्नार, कार्ला और कन्हेरी की गुफायें।

२. किंवदन्ती के अनुसार इस गुफा को राजा खारवेल ने अपनी पत्नी के लिए बनवाया था।

परवर्ती-युगीन गुफाओं का निर्माण पाँचवीं शती के अन्तिम भाग से सातवीं शती के मध्यकाल तक हुआ। इस कोटि की प्रथम चैत्य-गुफायें अजन्ता में उन्नीसवीं और छब्बीसवीं हैं। इन गुफाओं में बुद्ध की मूर्तियों और उनसे सम्बद्ध कथानकों के तक्षण की विशेषता है। प्रधान मूर्ति स्तूप के अभ्यन्तर में बनी हुई है। स्तूप भी विशेष ऊँचा बना है। इसकी हर्मिका और त्रि-छत्र आदि विस्तृत हैं। इसका सर्वोपरि कलश पटलचुम्बी है। छब्बीसवीं चैत्य-गुफा लगभग १०० वर्ष परवर्ती है। इसमें तक्षण की अतिशयता और अप्रासंगिक अलंकरणों का बाहुल्य है।

बौद्ध गुफाएँ

एलौरा की बौद्ध गुफायें ४५० ई० से ६४२ ई० तक बनीं। इनमें से प्रथम गुफा सबसे अधिक पुरानी है। द्वितीय गुफा में बुद्ध की सिंहासन पर बैठी मूर्ति है। तृतीय गुफा में बुद्ध कमल पर बैठे हैं। चतुर्थ गुफा में पद्मपाणि की मूर्ति है और गौतम बुद्ध बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे हैं। पंचम गुफा सबसे बड़ी है। यह ७८ हाथ लम्बी और ३९ हाथ चौड़ी है। यह बौद्ध विद्यालय था। षष्ठ गुफा की भित्ति पर बुद्ध की मूर्तियां पूजा करते हुए उपासकों के समक्ष हैं। पीछे की शाला में सरस्वती देवी की मूर्ति उत्कीर्ण है। अष्टम गुफा में गौतम सामने ही माता-पिता के साथ दिखाई देते हैं। नवम गुफा के हर्म्य-मुख पर मनोरम तक्षण है। दशम गुफा चैत्य है और विश्वकर्मा गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके हर्म्य-मुख और छत पर मनोरम तक्षण है। यह गुफा ५६ हाथ लम्बी और २२ हाथ चौड़ी है। इसके स्तूप में गौतम की महामूर्ति है। वास्तुकला की दृष्टि से इस गुफा के सामने का भाग अभिनव शैली व्यक्त करता है। इस युग की गुफाओं में बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा अभिनव विशेषता रही है। एकादश और द्वादश गुफायें तीन तली हैं। द्वादश गुफा के सामने प्रांगण से लेकर ७७ हाथ लम्बे और ३० हाथ चौड़े विहार में प्रवेश होता है। इसमें बुद्ध की विशाल मूर्ति और भित्ति पर ७ मानुष बुद्ध की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।

अन्तिम युगीन गुफाएँ

दसवीं शताब्दी तक एलौरा की शेष गुफाओं और एलिफैण्टा तथा महाबलिपुरम् की प्रमुख गुफाओं का निर्माण हुआ। इस युग में बनी हुई अन्य कई स्थानों पर भी हिन्दू, बौद्ध, और जैन गुफायें मिलती हैं।

एलौरा में सबसे अधिक प्रसिद्ध दशावतार का गुफा-मन्दिर है। इसका निर्माण सातवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हुआ था। यह दो तला बना है। इसके अन्तराल

भाग के वर्गाकार गर्भगृह में लिंग की प्रतिष्ठा की गई है। इसके पहले तल में सामने की ओर ६४ हाथ लम्बी और ३३ हाथ चौड़ी शाला है और दूसरे तल में ७० हाथ लम्बी और ६३ हाथ चौड़ी शाला है। शालाओं को स्तम्भाधारित किया गया है। शाला के भीतरी छोर पर दो स्तम्भों के आधार पर भीतरी ओसारा बना है, जिससे होकर गर्भगृह में जाने को मार्ग है। दूसरे तल पर शैव और वैष्णव कथानकों का तक्षण मिलता है।

एलौरा

एलौरा की चतुर्दश गुफा रावण की खाईं के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी दक्षिणी भित्ति पर महिषासुर-वध का दृश्य उत्कीर्ण है, साथ ही शिव और पार्वती चतुरंग खेलते हुए उत्कीर्ण हैं। वहीं शिव का ताण्डव नृत्य और रावण का कैलाशपर्वत को हिलाना दिखाया गया है। उत्तरी भित्ति पर वैष्णव दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। इस पर दुर्गा, लक्ष्मी, वराह, चतुर्मुख विष्णु, एवं लक्ष्मी के साथ बैठे विष्णु उत्कीर्ण हैं। गर्भभाग में दुर्गा की मूर्ति है। दक्षिण की ओर बाहर जाने के पथ पर चामुण्डा, इन्द्राणी आदि महादेवियां अपनी सवारियों के साथ उत्कीर्ण हैं। प्रत्येक के पास एक-एक शिशु है।

एलौरा में आठवीं शती में बनी डूमर-गुफा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी अभिनव शैली उस युग में अनुकरणीय मानी गई। एलिफैण्टा और जोगेश्वरी की गुफायें इसीके आदर्श पर बनी हैं। इन गुफा-मन्दिरों में तीन ओर द्वार की विशेषता है। ऐसी परिस्थिति में इनमें प्रकाश और वायु की शुद्धता सविशेष हैं। डूमर-गुफा की मुख्य शाला १०० हाथ लम्बी और ३४ हाथ चौड़ी है।

एलौरा के कैलास मन्दिर की रचना आठवीं शती के उत्तरार्ध में हुई थी। इसे राष्ट्रकूट राजाओं ने बनवाया था। पर्वत के गर्भ में कला का इतना महिम-शाली विलास अन्यत्र दर्शनीय नहीं है। जिस पर्वत में यह बना है, वह ६० हाथ से ७० हाथ तक ऊँचा है। उस पर्वत का विस्तार लगभग २३००० वर्ग हाथ है। एक बार मन्दिर के भीतर जाते ही यह प्रतीत नहीं होता कि मैं पर्वत के उदर में हूँ। जैसे ईंट या पत्थर के मन्दिर मैदानों में बनते हैं, वैसे ही यह भीतर जाने पर दिखाई पड़ता है। प्रधान मन्दिर १६ हाथ ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसकी लम्बाई लगभग ११० हाथ, चौड़ाई ७० हाथ और ऊँचाई ६३ हाथ है। यत्र-तत्र वन्य हाथी और सिंहों की पूर्णाकार मूर्तियाँ दर्शक को काल्पनिक शिवारण्य की प्रतीति कराती हैं। इसकी केन्द्रीय शाला ४५ हाथ लम्बी और ४१ हाथ चौड़ी है। यह चार कोनों पर खड़े चार-चार स्तम्भों पर समाधारित है। इसका नन्दीमण्डप

१४ हाथ वर्गाकार है और ३२ हाथ ऊँचा है। इसकी निर्माण-शैली पट्टडकल के समकालीन विरूपाक्ष-मन्दिर के अनुरूप है।

एलौरा में जैन-गुफाओं का निर्माण नवीं शती में हुआ। इनमें से इन्द्रसभा और जगन्नाथ-सभा सुप्रसिद्ध हैं। इनमें जैन तीर्थङ्करों की भव्य मूर्तियों का बाहुल्य है। हाथी और सिंह तो पर्वतीय वातावरण के अनुरूप बने ही हैं। इन्द्र-सभा नामक गुफा दो तली है। इसके ऊपरी तल पर २४ तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं। इन्द्र ऐरावत के साथ बने हैं। गुफा पर्वत के ऊपर ११ हाथ ऊँची पार्श्वनाथ की मूर्ति है।

बम्बई के समुद्र तट से ६ मील दूर समुद्र में एलिफैण्टा नामक द्वीप पर दो लम्बी पहाड़ियों के बीच मनोरम घाटी है। ऐसे प्राकृतिक दृश्य के बीच शैव सम्प्रदाय की धार्मिक प्रवृत्तियों का दर्शन उत्कीर्ण गुफाओं के माध्यम से होता है।

एलिफैण्टा में गणेश-गुफा प्रधान है। इसका निर्माण आठवीं शताब्दी में हुआ। इसके सामने का भाग अलिन्द है, जो २० हाथ लम्बा और ४ हाथ चौड़ा है। इस पर पहुँचने के लिए मार्ग-सोपान पर हाथी उत्कीर्ण हैं।

गणेश गुफा में अर्धनारीश्वर बाईं ओर तथा शिव एवं पार्वती दाहिनी ओर हैं। केन्द्र भाग में प्रसिद्ध तीन रूपों वाली शिव की मूर्ति है। यहाँ शिव-पार्वती-परिणय, भैरव, ताण्डव, आदि अन्य दृश्य उत्कीर्ण हैं।

बोरिवली स्टेशन से एक मील की दूरी पर स्थित गुफा-मन्दिरों का निर्माण आठवीं शताब्दी से हुआ। इनको ईसाइयों ने चर्च बना लिया है और यहाँ वे अनाथालय चलाते हैं। ये ब्राह्मण सम्प्रदाय के मन्दिर हैं। पश्चिम की ओर के मन्दिर को १६वीं शताब्दी में चर्च रूप दिया गया। इसकी मूर्तियों में से बहुत सी पलस्तर के भीतर छिपी पड़ी हैं।

सातवीं शती में पल्लव राजाओं ने पत्थर की चट्टानों को काट कर मण्डप और रथ बनाने की कला का विकास किया। मण्डप में एक शाला स्तम्भों पर आधारित होती थी। इस शाला के पीछे एक-दो पूजा की कोठरियाँ बना दी जाती थीं। महेन्द्रवर्मा प्रथम ने ऐसे १६ मण्डप गुन्तूर जनपद से लेकर त्रिचनापल्ली तक बनवाये। इस वंश के अन्य राजाओं ने मण्डप-कला का विकास किया। नरसिंह वर्मा ने मण्डपों के साथ महाबलिपुरम् में रथ बनाने का समारम्भ किया। रथ गुफा-मन्दिर की एक अभिनव शैली है। आठ रथों में से पाँच तो पाँच पाण्डवों के नाम पर मिलते हैं, और तीन इधर-उधर हैं। इनमें सबसे बड़ा धर्मराज रथ है। इसकी ऊँचाई २५ हाथ है। इसके प्रथम तल की मुख्य शाला १८ हाथ वर्गाकार

मण्डप-कला

है। इन रथों में चैत्य, विहार और कहीं-कहीं गोपुरम् की वास्तु-शैली का दर्शन होता है।

रथों की कला-शैली का केवल भारतीय वास्तु-विन्यास पर ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु पूर्वी द्वीप-समूह की मन्दिर-कला भी इससे अनुप्राणित हुई।

मन्दिर-कला

मन्दिरों का निर्माण देवायतन के रूप में वैदिक युग के पश्चात् होने लगा था। सबसे प्राचीन मन्दिरों के अवशेष सम्भवतः चौथी शती ई० पू० के बने हुए चित्तौड़-गढ़ के निकट मिलते हैं। इनमें संकर्षण (बलदेव) और वासुदेव (कृष्ण) की प्रतिष्ठा की गई थी। प्रायः समकालीन मन्दिर का अवशेष साँची में भी मिलता है।[1] इसके पूर्व और पश्चिम की ओर सीढ़ियाँ लगी हैं। परवर्ती नवीकरण के कारण इसके मूल रूप का निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। विदिशा के निकट वेसनगर के मन्दिर का अवशेष अतिशय भग्नावस्था में होने के कारण तत्कालीन वास्तु-शैली के परिचय की दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं है। बरेली के निकट रामनगर में शिव-मन्दिर के अवशेष मिलते हैं। इसका निर्माण ईसवी शती के आरम्भिक युग में हुआ। दूसरी शती ई० से भारशिव-वंशीय राजाओं के नागर-शैली के मन्दिरों का पूर्वरूप मिलने लगता है। इस युग के मन्दिरों के द्वार पर गंगा और यमुना नदियों का तक्षण मिलता है।

गुप्तकालीन

पुरातनतम पूर्णाकार मन्दिर साँची का सत्रहवाँ अवशेष है। इसका निर्माण गुप्तकाल में चौथी शती में हुआ। इसकी शैली गुहा-विहारों के अनुरूप प्रतीत होती है। इसमें सर्वप्रथम सामने की ओर चार स्तम्भ हैं। उनके शिरोभाग पर अनुषक्त पीठ वाले सिंह निर्मित हैं। इसमें सबसे भीतर मूर्ति का अधिकरण—गर्भगृह है और उसके सामने स्तम्भों वाला मण्डप है। यही मन्दिर का मूल रूप परवर्ती युग में प्रचलित रहा। आगे चलकर गर्भगृह की प्रदक्षिणा करने के लिए जो मार्ग बनता था, उसे भी मन्दिर का अंग मानकर उसके चारों ओर भित्ति बना कर आच्छादित कर दिया जाने लगा।[2]

गुप्तयुगीन मन्दिरों की छत प्रायः सपाट होती थी। उसके बाहर और भीतर कहीं-कहीं आनुषंगिक विषयों से सम्बद्ध मूर्तियों का तक्षण होता था। द्वार पर

---

१. देखिए साँची का अवशेष, न० ४०।

२. प्रदक्षिणा-पथ-वाले भाग को अर्धमण्डप कहते हैं।

अधिकाधिक मूर्तियाँ होती थीं। गंगा और यमुना की मूर्तियाँ द्वार-स्तम्भ पर होती थीं। साँची के मन्दिर के अतिरिक्त उस युग के प्राथमिक मन्दिर जबलपुर जिले के तिगवा स्थान में विष्णु का और बीना स्टेशन के पास एरन में वराह और विष्णु के हैं।

परवर्ती-युगीन प्रदक्षिणा-पथ वाले अजयगढ़ के समीप नचना में पार्वती का मन्दिर, नागोद के समीप भूमरा में शिव का मन्दिर, और एहोले में लाडखान का मन्दिर है। इनमें से एहोले के मन्दिर में दूसरा तल भी था।

सपाट छत के मन्दिरों के अतिरिक्त उत्तर भारतीय शैली के शिखरों वाले मन्दिरों का स्वरूप इस युग से मिलता है। झाँसी जिले के देवगढ़ गाँव का दशावतार मन्दिर और कानपुर जिले के भीतरगाँव का ईंट का बना मन्दिर शिखर के प्राचीनतम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। देवगढ़ का मन्दिर ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसके चारों ओर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इस चबूतरे के खड़े पत्थरों पर रामकथा के दृश्य मूर्तरूप में विद्यमान हैं।

भीतरगाँव का मन्दिर शंकु के आकार में ४६ हाथ ऊँचा है। इसके गर्भ-गृह और मण्डप वर्गाकार हैं और अन्तराल-पथ से सम्बद्ध हैं।[१] इसमें यत्र-तत्र सुन्दर मृण्मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। बोधगया का महाबोधि मन्दिर भी मूल रूप में प्राय: ऐसा ही बना था। चौथी शती में बने हुए छेजरला में कपोतेश्वर मन्दिर की छत कुब्जपृष्ठ या दीर्घ-गोलाकार है। यह बेसर शैली का मन्दिर है।

गुप्तयुग के अन्तिम भाग में दक्षिण भारत में चालुक्य राजाओं के आश्रय में अभिनव मन्दिर-शैली का आविर्भाव हुआ। इस शैली का विकास ५०० ई० से

चालुक्य कालीन

७५० ई० तक माना जा सकता है, बीजापुर जनपद में तीन केन्द्र—एहोले, बादामी और पट्टडकल में थे। एहोले का लाडखान का मन्दिर गुप्त-शैली के अनुरूप था। यहाँ पर दो अन्य प्रसिद्ध मंदिर दुर्गा और हुच्चीमल्लीगुडी के मिलते हैं। दुर्गा के मन्दिर में गर्भगृह और मण्डप के बीच का अन्तराल विशेष उल्लेखनीय है। छठी शती में निर्मित हुच्चीमल्लीगुडी के मन्दिर में शिखर की विशेषता है। शिखर परवर्ती युग में उत्तर भारत की मन्दिर-शैली का विशेष अंग माना गया। बादामी के मन्दिरों में भी दक्षिण भारतीय शिखर-शैली का पूर्व रूप मिलता है।

---

१. मण्डप और गर्भगृह के बीच कहीं-कहीं एक छोटा कमरा होता है। उसे अन्तराल कहते हैं।

पट्टडकल में पापनाथ का मन्दिर उत्तर भारतीय शैली के अनुरूप है, पर विरूपाक्ष का मन्दिर दक्षिण भारतीय शैली पर बना है। दोनों मन्दिर अतिशय विशाल हैं। पापनाथ के मन्दिर के गर्भगृह के ऊपर लघ शिखर है। उसका अन्तराल बड़े प्रांगण के आकार का है। विरूपाक्ष का मन्दिर कला की दृष्टि से विशेष सफल है। इसकी लम्बाई ८० हाथ है। सभी भागों का आयाम और विस्तार सानुपातिक है।

परवर्ती युग की उत्तर भारतीय शैली की सर्वोच्च देन शिखर है। आठवीं शती से शिखरी मन्दिरों का निर्माण अधिकाधिक संख्या में प्रायः सारे भारत में होने लगा। उत्तर भारत में मन्दिरों का पकी ईंट से बनना स्वाभाविक था। छठीं शती से दसवीं शती तक के बने इस युग के मन्दिर नालन्दा, पहाड़पुर तथा अहिच्छत्रा में मिलते हैं। ये सभी मन्दिर अतिशय विशाल हैं। नालन्दा के मन्दिर में चारों कोनों पर चार शिखर थे। इनकी भित्तियों में प्रतिमा-स्थान बनाकर मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं।

उत्तरभारतीय

रायपुर जिले में सीरपुर के लक्ष्मण-मन्दिर की निर्माण-शैली भीतरगाँव के मन्दिर के अनुरूप है। इसके गर्भगृह की भित्ति के बाहरी तल पर मनोरम अलंकरण विद्यमान हैं।

उत्तरभारतीय मन्दिर-शैली का सर्वोच्च विकास उड़ीसा में हुआ। उस युग के बने हुए भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क के मन्दिर वास्तुकला का अनुपम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। मन्दिरों में विमान के साथ जगमोहन, नाट्यमण्डप और भोग-मण्डप की विशेषता है। विमान-स्थित मूर्ति को देखने के लिए जगमोहन में दर्शक खड़े होते थे। नाट्यमण्डप में कुमारियों का नृत्य होता था और भोग-मण्डप में देवता को भोग लगाया जाता था। मन्दिर के इस रूप में संवर्धित होने का कारण धार्मिक है। पौराणिक धारणा के अनुसार देवता नृत्य से प्रसन्न होते हैं।

उड़ीसा का प्राचीनतम मन्दिर सातवीं शती के पूर्वार्ध में बना हुआ परशुरामेश्वर है। इसका मुख्य द्वार पश्चिम की ओर है। इसके लिए कोई पीठ-वेदिका नहीं है। इसका विमान त्रिरथ है। इसकी ऊंचाई सानुपातिक दृष्टि से कम है। इसकी निर्माण-शैली का विकास परवर्तीयुगीन मुक्तेश्वर स्वर्ण-जालेश्वर, शत्रुघ्नेश्वर मोहिनी, उत्तरेश्वर, पश्चिमेश्वर, शिशिरेश्वर, गौरी आदि मन्दिरों में मिलता है।

उस युग का सबसे अधिक सुन्दर मुक्तेश्वर का मंदिर है। इसका तोरण-द्वार अतिशय-कलात्मक है, जिसमें भाव-भंगिमा प्रदर्शित करने वाली नारी-मूर्तियाँ विशेष सुन्दर हैं। वन-उपवन की प्राकृतिक सुषमा के बीच मुक्तेश्वर प्रकृति-नटी

का मुकुट प्रतीत होता है। यहाँ वन्य प्रकृति के अनुरूप दृश्य—हाथी को पछाड़ते हुए चीते, छलांगें मारते हुए वानर, मृगया, उत्सुक मृग और तपस्वी आदि का तक्षण है। इसका तोरण अत्यन्त शोभनीय विधि से अलंकृत है। फर्गुसन ने इसे उड़ीसा के वास्तु-शिल्प का हीरक बतलाया है। इन मन्दिरों में लोकप्रिय कथाओं का तक्षण मिलता है। यथा शिव-विवाह, राम का स्वर्णमृगाखेट, किरातार्जुनीय-युद्ध, शिव का अन्नपूर्णा से भिक्षा लेना, रावण का कैलाश उठाने का प्रयास आदि।

वेताल मंदिर का पूर्वरूप एहोले के बेसर शैली के हुच्चीमल्लीगुडी के मन्दिर में मिलता है। इसकी छत कुब्जपृष्ठ (दीर्घ गोलाकार) है। आठवीं शताब्दी के पश्चात् मन्दिर-निर्माण की कला शनैः शनैः उन्नति करती रही। कला के अभ्युदय का सर्वोच्च परिपाक लिंगराज के मंदिर में हुआ। इसके पहले सिद्धेश्वर, केदारेश्वर, राजारानी, ब्रह्मेश्वर, आदि के प्रसिद्ध मन्दिर बन चुके थे। और उनके निर्माण का अनुभव अभ्युदय की दिशा में लिंगराज को बनाने में उपयुक्त हुआ।

सिद्धेश्वर मन्दिर का विमान पंचरथ है और इसकी बाड़ पंचांग है। केदारेश्वर मन्दिर सिद्धेश्वर के अनुरूप बना है। इसकी बाड़ के अवकाशों में प्रेममयी दम्पती की मूर्तियां बनाई गई हैं।

लगभग १००० ई० सन् में बना हुआ भुवनेश्वर का लिंगराज-मन्दिर कला की दृष्टि से अनुपम है। चौरासी हाथ ऊँचे विमान के शिखर के अनुरूप चार छोटे शिखरी मन्दिरों के कारण लिंगराज की विश्वतः शोभा द्विगुणित हो जाती है। इसकी परिसर-भूमि ३४० हाथ लम्बी और ३१० हाथ चौड़ी है। इसकी चातुर्दिश भित्ति पाँच हाथ मोटी है, जिसके तीन तोरण-द्वारों में सिंहद्वार प्रमुख हैं। लिंगराज में विमान और भोगमण्डप के अतिरिक्त नाट्य-मंडप और जगमोहन की विशेषता है।[1] लिंगराज के विमान-भाग में रामायण और महाभारत के तक्षण का दृश्य मनोरम है। वहीं पांडवों की स्वर्गारोहण-यात्रा का दृश्य है। यह मन्दिर सर्वतः पूर्ण प्रतीत होता है। भुवनेश्वर के आसपास अब भी ५०० मन्दिर हैं। प्राचीन काल में सहस्रों मन्दिर रहे होंगे।

लिंगराज-मन्दिर के आदर्श पर पुरी में जगन्नाथ का मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रूपित हुआ।[2] इस मन्दिर में प्रधान प्रतिष्ठित मूर्तियाँ जगन्नाथ,

---

१. इसमें आरम्भ में विमान और जगमोहन-भागों का निर्माण हुआ। फिर आगे चलकर इसमें नाट्य-मण्डप और भोग-मण्डप जोड़े गये। उपर्युक्त चारों भागों में त्रिलोक का सौन्दर्य और पराक्रम तक्षण-कला के द्वारा सम्पुटित किया गया है।

२. इसके निर्माता सम्भवतः अनन्त वर्मा चोडगंग हैं।

सुभद्रा और बलराम की हैं। इसके विमान-भाग पर देवताओं की अगणित मूर्तियाँ हैं। भागवत और रामायण के पौराणिक दृश्यों का तक्षण मनोरम है। भित्ति के अवकाशों में वामन, वराह और नरसिंह आदि अवतारों की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर का आभोग २०५ हाथ लम्बा और ५० हाथ चौड़ा है और इसकी ऊँचाई १३० हाथ है। इसका नाट्य-मण्डप ४४ हाथ चौड़ा है और यह १६ स्तम्भों पर आधारित है। इस मन्दिर का निर्माण ग्यारहवीं शती ई० में हुआ।

शस्य-श्यामला क्षेत्र की पृष्ठभूमि में राजारानी-मंदिर प्रकृति के साथ ही लहलहाता है। इसके जगमोहन के तोरण-द्वार पर लक्ष्मी और नव ग्रहों की स्थापना मिलती है। तोरण-द्वारों की रक्षा के लिए द्वारपाल बनाये गये हैं। वहीं पर पत्र-पुष्प और लताओं का तक्षण है। क्वचित् नारियों के यौवनोद्दाम स्वरूप का तक्षण रसिकों के लिए बना है। इसके द्वारा वास्तु के कुशल मूर्तिकारों की व्यंजना-शैली ध्वनित होती है। इसका शिखर अनन्त बासुदेव का प्रतीक है।

कोणार्क (सूर्य-मंदिर) की स्थिति अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।[1] इसके दक्षिण-पूर्व में एक कोस पर बंगाल की खाड़ी इसका पाद-प्रक्षालन करती है। पास ही चन्द्र-भागा नदी अपनी फुहार से इसके शिखर का अभिषेक करती है। इसके निर्माण का समारम्भ तेरहवीं शती के मध्यभाग से हुआ। इसका वेदिका-पीठ ११ हाथ ऊँचा है। वेदिका-पीठ का अलंकरण हस्ति-पंक्ति के तक्षण से किया गया है। इस मंदिर का आभोग ५७५ हाथ लम्बा और ३६० हाथ चौड़ा है। इसका विमान १५० हाथ और जगमोहन ६५ हाथ ऊँचे हैं। जगमोहन शंकु के आकार का बना है। नाट्य-मण्डप अलग बना है।

कोणार्क मन्दिर की प्रतिष्ठा २४ चक्के वाले रथ के ऊपर की गई थी। इन चक्कों पर सर्वत्र मूर्तियों और लता-पत्रों का अलंकरण है। रथचक्र का व्यास लगभग ६ हाथ और मोटाई लगभग आधा हाथ है। जहाँ तक मन्दिर-वास्तु का सम्बन्ध है, कोणार्क एक उच्च कला-कृति है, पर इसकी शृंगारमयी मूर्तियाँ असाधु प्रतीत होती हैं। यह प्रवृत्ति उस युग की काव्य-कला में भी थी। निस्सन्देह तत्का-लीन समाज इस दिशा में संस्कृति के पथ पर न जाकर कोरी प्रकृति को सब कुछ मान बैठा था।

उड़ीसा के मन्दिर साधारणतः रेख देउल और पीठ देउल दो शैलियों में विभक्त हैं। रेख देउल को नीचे से ऊपर सीधा देखने पर शिखर तक एक सीधी रेखा बन जाती है। पीठ देउल में उपर्युपरि पीढ़ायें रखी हुई प्रतीत होती हैं।

---

१. इसके निर्माता सम्भवतः गंगवंश के राजा नरसिंह देव प्रथम हैं।

तीसरी शैली खोखर नाम से प्रख्यात है। इसमें दक्षिण भारत के मन्दिरों की छाप है। इसकी छत खोखर (जगन्नाथी कुम्हड़े) की भाँति होती है।

चन्देल-वंशी राजाओं के समाश्रय में छत्रपुर के समीप उनकी राजधानी खजुराहो में शैव, वैष्णव और जैन आदि सभी संस्कृतियों से सम्बद्ध उच्च कोटि के वास्तु का विकास हुआ। इन सभी का निर्माण नवीं शती के मध्य भाग से दसवीं शती के मध्य भाग तक हुआ। इस १०० वर्ष के भीतर धार्मिक उत्साह की जिस मात्रा से इन मन्दिरों के निर्माण का असीम-व्ययसाध्य कार्य जनता ने समापन्न किया, वह आज के युग में कल्पनातीत है। इस अवधि में लगभग ८५ मन्दिर बने थे, जिनमें से अब केवल २२ रह गये हैं।

केन्द्रभाग में खड़े होने पर पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर अवस्थित होने वाले ये मन्दिर दिशानुसार तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पश्चिमी भाग का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर कण्डरिया महादेव का है। यह मन्दिर बहुत ऊँचे वेदिका-पीठ पर खड़ा है। मन्दिर तक पहुँचने के लिए सुगम विस्तृत सीढ़ियाँ बनी हैं। सीढ़ियों के दोनों ओर की रोध-भित्तियों पर कामशास्त्रीय मूर्तियाँ शृंगार की विविध भाव-भंगियों का निदर्शन करती हैं।

कण्डरिया महादेव के तोरण-द्वार पर देवताओं और गन्धर्वों का तक्षण मनोरम है। मन्दिर के पाँच भाग—अर्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह हैं। इन सभी भागों की छतें शिखर रूप में बनाई गई हैं और क्रमानुसार उच्चतर होती गई हैं। गर्भगृह का शिखर सर्वोच्च है। पीछे और दोनों पार्श्वों में बने हुए ओसारों से वायु और प्रकाश पर्याप्त मात्रा में आते हैं। इसके अर्ध मण्डप, मण्डप और महामण्डप की छतों पर ज्यामिति के विविध आकारों की परिधि में लता-पत्र और पुष्पों का भव्य तक्षण है। महामण्डप से दर्शक का गर्भगृह में प्रवेश होता है। यहाँ पर उदात्त एवं दिव्य वातावरण उपस्थित किया गया है। लतागृह में समवेत तपस्वी और योगी, मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना, दिक्पाल, ब्रह्मा-विष्णु-शिव की मूर्तियाँ, अप्सराओं और किन्नरियों का नृत्य—इन सबका तक्षण उस मन्दिर-वास्तु को शाश्वत दिव्यता प्रदान करने के लिए हैं। अगणित शिखरों की उपरि-उपरि श्रेणी से विमान का सौन्दर्य संवर्धित होता है। मन्दिर के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान अमृतघट (आमलक) मानो ब्रह्मसंस्थ के आत्मानन्द की व्यंजना करता है। मन्दिर का आभोग ७२ हाथ लम्बा और ४० हाथ चौड़ा है और इसकी ऊँचाई भूतल से लगभग ८० हाथ है।[1] इसका चबूतरा आठ

---

१. कन्दरिया या कण्डरिया शब्द कन्दर्पो का अपभ्रंश है। कन्दर्प के विषय

हाथ ऊँचा है। चतुर्भुज का वैष्णव मन्दिर और आदिनाथ का जैन मन्दिर वास्तु की दृष्टि से उपर्युक्त शैली के अनुरूप है।

ग्वालियर का वैष्णव मन्दिर, जो सास-बहू के नाम से विख्यात है, १०९३ ई० में निर्मित हुआ था। विशाल मन्दिर का मण्डप तीन तला है। इसके करगहने के ऊपर चौखटे पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियाँ हैं। वास्तुकला की दृष्टि से यह उस युग की उल्लेखनीय कृति मानी जाती है। ग्वालियर का एक अन्य वैष्णव मन्दिर, तेली के मन्दिर के नाम से विख्यात है। इसकी छत की बनावट, कुब्ज-पृष्ठ (दीर्घ गोलाकार) होने से, इस प्रदेश में एक नई शैली का परिचय देती है। ये सभी मन्दिर ग्वालियर दुर्ग के भीतर हैं। दुर्ग अतिशय ऊँची पहाड़ी पर बना है।

विदिशा-बीना रेलवे के बरेठ स्टेशन से ४ मील की दूरी पर स्थित उदयेश्वर महादेव का मन्दिर बारहवीं शती में परमारवंशी राजा उदयादित्य के द्वारा बनवाया गया था। इसका शिखर वास्तुकला की दृष्टि से अनूठा है। शिखर से चार चौड़ी पट्टियाँ चार दिशाओं में उतरती हुई पादतल तक पहुँचती हैं। पट्टियों के बीच में पाँच-पाँच शिखरों की सात पंक्तियाँ हैं। ये पंक्तियाँ विमान और जगमोहन भागों के सन्धि-स्थल तक पहुँचती हैं। यहीं पर मुकुटाकार अवकाश में निर्मित विशाल सिंह भारतीय क्षात्र के पराक्रम का प्रतीक है।

राजस्थान में जोधपुर के ओसिया गाँव में आठवीं शती से बारहवीं शती का बना हरिहर का मन्दिर और नवीं शती का बना सूर्य का मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। ये दोनों मन्दिर पंचायतन विधि के हैं।[1] सूर्य के मन्दिर का मण्डप दो अतिशय भव्य स्तम्भों पर समाधारित है। स्तम्भ पर्याप्त ऊँचे हैं। जैन मन्दिरों के तोरणों का अलंकरण इस प्रदेश में अनुपम प्रतीत होता है।

आबू पर्वत पर बने हुए प्राचीन जैन मन्दिर ग्यारहवीं शती से तेरहवीं शती के हैं। विमलशाह ने १०३१ ई० में आदिनाथ का जो मन्दिर बनवाया, वह वास्तव में विमल है। श्वेत संगमर्मर के बने हुए मन्दिर दर्शकों के हृदय को निर्मल बना देते हैं। दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर १२३१ ई० में तेजपाल ने बनवाया।

में कहते हैं—कन्दर्पंयामीति मदाज्जातमात्रो जगाद च—इस कन्दर्प (काम) को वश में करने के कारण महादेव कन्दर्पी हैं। बुन्देलखण्ड के मन्दिर-वास्तु का अनुकरण भारत के दूरस्थ भागों में हुआ है। यथा कश्मीर-जम्मू में जम्मू से दो कोस दूर किंचि में चार मन्दिर खजुराहो शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं।

१. मुख्य-मन्दिर की वेदिका-पीठ के चार कोणों पर उसी के आदर्श पर लघु रूप वाले चार छोटे मन्दिर बना कर पंचायतन (पाँच मन्दिर) निर्मित होता था।

दोनों की शैली समान है। वास्तुकला की दृष्टि से इनमें विशाल वृत्ताकार मण्डपों की विशेषता है। मण्डप ऊँचे स्तम्भों पर समाधारित हैं। स्तम्भों के अलंकरण कुशल तक्षणों से विशेष मनोरम हैं। छतों का भव्य तक्षण इस वास्तु को अद्वितीय बना देता है। मुख्य मन्दिर की वेदिका-पीठ पर छोटे मन्दिरों की क्रम-बद्ध श्रेणियाँ शैली की दृष्टि से प्रायः अभिनव हैं। दूसरी विशेषता इन मन्दिरों की बनावट का अर्धगोलाकृति का होना है।[1]

आबू का चतुर्मुख मन्दिर तेरहवीं-चौदहवीं शती में बना। इसमें जो जैन मूर्ति प्रतिष्ठित है, वह चतुर्मुख है। इसके चार मुखों को चार दिशाओं से देखने के लिए चारों ओर समान वास्तु-निर्माण की विशेषता है।

प्रायः आठवीं शती से बारहवीं शती के बने हुए कश्मीर के मन्दिर इस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन मन्दिरों की ऊँचाई कम है। इनके चारों ओर प्राकार की रचना की गई थी। सबसे प्रसिद्ध ललितादित्य का मार्तण्ड मन्दिर है, जो आठवीं शती के मध्यभाग में बना था। शैली की दृष्टि से यह मन्दिर आबू के जैन मन्दिरों का कुछ बातों में पूर्वरूप है। इस मन्दिर के मनोरम तोरण, पत्थर के ऊँचे स्तम्भ और उत्कीर्ण दृश्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इसमें सूर्य की प्रतिष्ठा की गई है। उस युग में उस प्रदेश में सौर सम्प्रदाय विशेष प्रचलित था।

सौराष्ट्र केन्द्र में पाटन का सोमनाथ मन्दिर सुप्रसिद्ध रहा है। इसमें सोमेश्वर शिव की प्रतिष्ठा की गई थी। मन्दिर की स्थिति काठियावाड़ के दक्षिणी समुद्र के तट पर है। इस मन्दिर में गर्भगृह को मण्डप से सम्बद्ध करने के लिए तिरछे वास्तु की कल्पना अभिनव ही थी।[2] मुढेरा के सूर्य-मन्दिर में यही शैली अपनायी गई थी। इसकी छत भी अर्ध-गोलाकार है। भीतर की ओर स्तम्भों की बहुलता है। इस प्रदेश के कई मन्दिरों में कीर्तिस्तम्भ बनाये गये हैं। ग्यारहवीं शती के मन्दिरों में घुमली का नवलाखा मन्दिर विख्यात है। काठियावाड़ में सेजकपुर का मन्दिर भी वास्तुकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

जैनियों के तीर्थ-क्षेत्रों में मन्दिरों की बहुलता होती है। ऐसे मन्दिरों के नगर-

---

१. छत की यह शैली राजपूत-शैली कही जाती है, जो मुगल-शैली से भिन्न है।

२. सोमनाथ के मन्दिर का विध्वंस १०२५ ई० में महमूद गजनवी ने किया। ग्यारहवीं शती के मध्यभाग में कुमारपाल ने इसका पुनः निर्माण कराया। १२९७ ई० में अलफखान खिलजी ने इसका विध्वंस किया। फिर १३०४ ई० में महीपाल देव ने पुनः निर्माण कराया। औरंगजेब ने १७०६ ई० में इसका विध्वंस कराया। सौराष्ट्र के संग्रहालय में इस प्राचीन वास्तु के अवशेष रखे हैं।

गिरिनगर (सौराष्ट्र), पालिताना के निकट शत्रुंजीय पर्वत, जोधपुर में रानपुर, बिहार में पारसनाथ, मैसूर में श्रवणबेलगोला और राजस्थान में आबू पर्वत आदि से सम्बद्ध हैं। गिरिनगर और शत्रुंजय पर्वत पर सहस्रों मन्दिर हैं। अकेले शत्रुंजय पर्वत पर साढ़े तीन सहस्र मन्दिर हैं। सर्वोत्तम मन्दिर आदीश्वर का है।

उत्तर भारत की शिखर-शैली के अनुरूप दक्षिण भारत में भी कई मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनका क्षेत्र प्रायः कृष्णा और ताप्ती नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश रहा है। थाना जिले का अम्बरनाथ का मन्दिर, खानदेश में बलसने का त्रिदेव मन्दिर, सिन्नर में गोण्डेश्वर का मन्दिर, नासिक जिले में झोग्द में महादेव का मन्दिर, अहमदनगर में पेदगाँव में लक्ष्मीनारायण का मन्दिर उसी प्राचीन युग से सुविख्यात हैं।

जैन स्थापत्य में स्तम्भों के निर्माण की विशेषता रही है। नवीं शती का स्वतन्त्र रूप से बना हुआ चित्तौड़ का जैन स्तम्भ ५२ हाथ ऊँचा है। यह ऊपर से नीचे तक मनोरम तक्षण से अलंकृत है।

दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के दक्षिण में तामिल लोगों की वसति है। इन्हीं का पर्याय द्रविड है। इस प्रदेश के नत्तकोट्ट चेट्टी वास्तुकला के श्रेष्ठ उन्नायक रहे हैं। छठीं शती से इस प्रदेश का स्थापत्य-गौरव उल्लेखनीय रहा है। विविध प्रदेशों के विभिन्न राजवंशों से उस प्रदेश की मन्दिर-कला की विकास-शैली सम्बद्ध है, यद्यपि इन सभी शैली-वैचित्र्यों का समन्वय 'द्राविड़' शैली में हुआ है। इस शैली में मन्दिरों का शीर्ष-भाग अनेक तलों का होने के कारण उनका सारा दृश्य वैभवपूर्ण प्रासादों का होता है। तलों का उपरि-उपरि आभोग क्रमशः कम होता जाता है। द्राविड़ शैली के मन्दिर प्रायः शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं।

दक्षिण भारतीय

पल्लवों की मन्दिर-कला का समारम्भ लगभग आठवीं ई० शती से हुआ है। महाराज नरसिंह वर्मा ने सर्वप्रथम महाबलिपुरम् में समुद्र-तट पर मन्दिर बनवाया और फिर कांची में कैलासनाथ और वैकुण्ठपेरुमाल के मन्दिर बनवाये।

महाबलिपुरम् के सागर-तट-मन्दिर की स्तूपिका के ऊपर चूडामणि की प्रतिष्ठा अभिनव विशेषता है। समुद्र वास्तव में इसका पाद-प्रक्षालन करता है। इसका गर्भगृह का द्वार समुद्र के सम्मुख होने से प्रतीत होता है कि वरुणदेव शिव का दर्शन कर रहे हैं। परवर्ती युग में पीछे की ओर इसमें मण्डप और तोरण आदि जोड़े गये।

कांची के कैलास मन्दिर या राजसिंहेश्वर मन्दिर की कला अधिक पूर्ण है। इसमें प्रारम्भ में केवल विमान और मण्डप थे। मण्डप स्तम्भों पर समाधारित

हैं। इसके विमान में सानुपातिक सौन्दर्य की अतिशय शोभा परम रमणीय है। शैली में स्थूलता का प्राय: अभाव-सा है। कांची का वैकुण्ठ-मन्दिर तत्कालीन वास्तु का उत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है। इसकी विशालता प्रभावशालिनी है। इसके विमान की चार भूमियाँ हैं।

चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची-विजय के पश्चात् कैलास-मन्दिर का जो दर्शन किया तो उसने उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर पट्टडकल में विरूपाक्ष का मन्दिर महारानी लोकमहादेवी के लिए बनवाया। विरूपाक्ष मन्दिर की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की प्रशस्ति करने में कलामर्मज्ञ हैवेल मुक्त-कण्ठ हैं।[१] इस मन्दिर में कभी आचार्य शिष्यों का अध्यापन करते थे। अब यह मन्दिर जीर्ण अवस्था में है।

पल्लवों के आश्रय में वास्तुकला का विकास नवीं शती के अन्त तक माना जाता है। उसके पश्चात् दक्षिण में चोलों के समाश्रय में स्थापत्य का कुछ विकास लगभग २०० वर्षों तक हुआ। इस युग का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर तंजौर में बृहदीश्वर का है। इसका निर्माण लगभग १००० ई० में राजराज ने करवाया था। इस मन्दिर में विमान की ऊँचाई और गोपुरम् की विशालता विशेष उल्लेखनीय हैं। क्रमश: १३ तलों का उपरि-उपरि सँकरा होता हुआ १२६ हाथ ऊँचा विमान अद्भुत ही है। सबसे ऊपर आयताकार शिखर है। इसके चारों कोनों पर नन्दी की मूर्तियाँ बनाई गई हैं, जिनके मध्य में कलश है और कलश के ऊपर त्रिशूल बना है।[२] इसके गोपुरम् में वैष्णव संस्कृति की मूर्तियाँ तत्कालीन समाज की सहिष्णुता का परिचय देती हैं। राजराज प्रथम के पुत्र राजेन्द्र चोल ने १०२५ ई० में त्रिचनापल्ली जिले में गंगैकोण्ड-चोलपुरम् बनवाया। इसका मण्डप ११५ हाथ लम्बा और ६२ हाथ चौड़ा है और यह १५० स्तम्भों पर समाधारित है। स्तम्भों की संख्या परवर्ती युग में सहस्र तक जा पहुंची। चोलकालीन वास्तु में स्तम्भों की तनिमा और उन पर लघु मूर्तियों का अलंकरण शोभनीय हैं।

---

१. The temple was not an archaeological essay, but a sermon in stone, suggesting by its symbolism the rhythm of the cosmos teaching the lessons of the Universal Life, and recording the sacred traditions of the Indian people. *Havell* : A Study of Indo-Aryan Civilisation, P. 180.

२. कहा जाता है कि इस पत्थर के विशाल अण्ड को उतनी ऊँचाई तक पहुँचाने के लिए दो कोस लम्बी सड़क बनाई गई थी।

पाण्ड्य वास्तुकला का युग ११०० ई० से १३५० ई० तक माना गया है। इस युग में महिमशाली गोपुरम् का निर्माण विशेष उल्लेखनीय है। गोपुरम् का विस्तार इतना बढ़ा कि गर्भगृह और उसके विमान गौण हो गये। मन्दिर की सुरक्षा के लिए अनेक प्राकार बनते थे। इन सभी प्राकारों के चारों दिशाओं के मध्य स्थान पर अतिशय विशाल महाद्वार बनने लगे। तक्षण द्वारा इनका अलंकरण प्रचुर मात्रा में होने लगा। यही गोपुरम् थे। इनके नीचे के दो तल पत्थर के और ऊपर के तल ईंट के बनाये जाते थे। इनकी छत कुब्ज-पृष्ठ (अर्धगोलाकार) होती थी। उपर्युक्त सभी लक्षण कांजीवरम् के कामाक्षी-मन्दिर के गोपुरम् में प्रत्यक्ष हैं।

पाण्ड्य युग के सर्वोत्तम गोपुरम् त्रिचनापल्ली जिले के श्रीरंगम् में, दक्षिणी अर्काट जिले के दिगंबरम् में, तंजौर जिले के कुम्भकोनम् में और उत्तरी अर्काट के तिरुवन्नामलाइ में मिलते हैं। चिदम्बरम् में शिवमन्दिर का गोपुरम् प्राचीन होने के साथ ही इस वास्तु का सर्वोत्तम विकास प्रस्तुत करता है। यह गोपुरम् सात तला है। इसकी लम्बाई ६० हाथ, चौड़ाई ४० हाथ और ऊँचाई ९० हाथ है। इसके सुश्लिष्ट स्तम्भों में प्रतिमा-स्थान बनाकर मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। इसके नर्तन-सभा-मण्डपों का वितान अतीव रमणीय है। स्तम्भों के द्वारा मण्डप समाधारित है। स्तम्भों की शोभा सर्वतः मूर्तियों के द्वारा द्विगुणित होकर अनुपम प्रतीत होती है। इसमें स्तम्भों की संख्या ४१×२४ है।

गन्धमादन द्वीप पर स्थित रामेश्वरम् के पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण में हिन्द महासागर है। मन्दिर का मुखद्वार पश्चिम की ओर है। फिर क्रमशः तीन छन्नपथ मिलते हैं, जो चारों ओर बने हैं। पथ के दोनों ओर पाँच फुट ऊंचे चबूतरे पर पत्थर के विशाल स्तम्भ हैं। स्तम्भों में अलंकरण के द्वारा अतिशय सौन्दर्य प्रस्तुत किया गया है। दूसरे छन्न-पथ की परिधि में रामेश्वर का मन्दिर है। इसके चार गोपुर अत्यन्त दृढ़ बने हुए हैं।

परवर्ती युग में विजयनगर के राजाओं ने १३५० से १५६५ ई० तक दक्षिण भारत में वास्तुकला का अद्भुत विकास किया। उस बीच प्रायः सभी प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया गया और कहीं-कहीं उनमें नये वास्तु का संयोजन भी हुआ। इस युग की वास्तुकला में छत पर छोटे-छोटे विमानों की पंक्ति खड़ी करने का प्रचलन हुआ। सोलहवीं शती में विट्ठलराज के मन्दिर में ऐसे विमानों की शोभा दर्शनीय है। इस समय के अन्य प्रसिद्ध मन्दिर औवड़ियार कोविल में, वेल्लूर में और कांजीवरम् के एकाम्रनाथ में मिलते हैं।

कला-वैशिष्ट्य

भारतीय शिल्प-साधना का इतिहास अतीव पुरातन है। शिल्प का सर्वोच्च विकास दिव्य विभूतियों और अध्यात्मपरायण महात्माओं से सम्बद्ध मन्दिरों, चैत्यों और विहारों में हुआ है। प्राचीन कलाकृतियों को देखने से साक्षात् प्रतीत होता है कि जिस राष्ट्र ने उनका निर्माण किया है, उसमें असीम कर्मण्यता, अनन्त अभिनिवेश और अपरिमित समृद्धि होगी। कलाकारों की अलौकिक तप:साधना प्रत्यक्ष ही है। वास्तव में इन कला-कृतियों में भारत की आत्मा और संस्कृति का प्राण प्रतिष्ठित है।

भारत के प्रांगण में श्रीनगर से रामेश्वरम् तक स्थान-स्थान पर विविध कला की शैलियों और प्रतीकों का आविर्भाव हुआ। उन सभी को एकदेशीय न रह कर सार्वदेशिक होने का गौरव मिला।[1] इससे तत्कालीन भारत के कलात्मक आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का परिचय मिलता है। कला-शैली कलाकारों के साथ भ्रमणशील थी। उन कलाकारों के लिए सारा भारत एक कुटुम्ब था।

भारतीय शिल्प का अंग-प्रत्यंग रसात्मक है। इसमें उपयोगिता और प्रबोधन से बढ़कर रमणीयता की अभिव्यक्ति प्रधान मानी गई है। सर्वत्र प्रतीकों के द्वारा व्यंजना की निष्पत्ति की चेष्टा दिखाई देती है।[2] ऐसी परिस्थिति में आलोचकों को शिखरों से मोक्षप्रवण जीवात्मा की क्रमश: सूक्ष्मता और लिंगराज के

---

१. भारतीय कला-कृतियाँ विदेशों में भी दूर-दूर तक पहुँचीं। यथा बुद्ध की एक १४०० वर्ष पुरानी पीतल की मूर्ति स्टाकहोल्म के निकट किसी द्वीप में मिली है। विस्तार के लिए देखिए हिन्दुस्तान टाइम्स, २५-७ १९५८।

2. 'Even in the comparatively simpler designs of Northern Indian temples, the pillars are figured in the lyrical forms of elaborate vases from which sprout all kinds of ornamental plants in the glory of their tropical luxuriance, which make one forget that a pillar, after all, is a useful though a somewhat prosaic prop for carrying weight. The aesthetic beauty of Indian architecture derives its quality from the expression of a plastic idea, the result of an image making, an idolatrous instinct rather than that of a purposeful structural design. *O. C. Gangoly* : Indian Architecture, p. 64-65.

वास्तु में शिवलिंग की अभिव्यक्ति होती है। शिल्प-कलाओं का धर्म और जन-जीवन से निकट सम्बन्ध था।

जो शिल्पकृतियाँ आज मिलती हैं, उनसे अधिक गौरवशालिनी कृतियाँ प्राचीन युग में थीं। वे कालान्तर में नष्ट हो गईं। महमूद गजनवी के सेवक अलउत्बी ने मथुरा के एक मन्दिर का वर्णन किया है—'नगर के बीच सबसे बड़ा मन्दिर सौन्दर्य की अतिशयता के कारण वर्णना-शक्ति की परिधि से बाहर है। महमूद गजनवी ने इसके विषय में लिखा है—'यदि कोई इस वास्तु के समान वास्तु बनाना चाहे तो एक अरब सोने के दीनारों का व्यय होगा और योग्य शिल्पकारों के द्वारा भी कम से कम २०० वर्ष में बनेगा।' मूर्तियों में पाँच सोने की थीं, प्रत्येक दस हाथ लम्बी और वायु-मण्डल में लटकने वाली। एक मूर्ति की आँख में दो ऐसे लाल थे, जिनका मूल्य ५०,००० दीनार होगा। यहाँ की मूर्तियों से ९८३०० मिस्काल सोना मिला। चाँदी की मूर्तियाँ २०० थीं। बिना तोड़े हुए उनका तौलना असम्भव था।

भारतीय कलाकारों की सात्त्विकता प्रमाणित करते हुए ग्रिफिथ ने कहा है—
During my long and careful study of the caves, I have not been able to detect a single instance where a mistake has been made by cutting away too much stone; for if once a slip of this kind occured, it could not only have been repaired but by the insertion of a piece which would have been a blemish.

कुछ मूर्तियों और चित्रों की नग्नता रहस्यमयी है। धार्मिक स्थानों पर भी नग्न मूर्तियों और चित्रों का सम्भार आश्चर्यजनक ही है। यह स्थिति काव्यादि कलाओं में भी देखी जा सकती है। इसका आधार सम्भवतः यही था कि कला की दृष्टि से 'निसर्ग सौन्दर्य का प्रकाशन होना चाहिए', इस सिद्धान्त पर, जहाँ तक हो सका, अनुकृतियों को अनावृत रखा गया। इसका समर्थन करते हुए राजशेखर ने कहा है—

> मुद्धाण णाम हिअआइं हरन्ति हन्त।
> णेवच्छकम्मणगुणेण णिअम्बिणीओ॥
> छेआ पुणो पअइचंगिम भावणिज्जा।
> वक्खारसो ण महुरिज्जइ सक्कराए॥ कर्पूरमंजरी २.२६

अर्थात् स्त्रियों का नेपथ्य-विधान मूर्खों के लिए मनोरम है। नागरक तो

प्राकृतिक सौन्दर्य से भावित होते हैं। अंगूर के रस को शक्कर से मीठा नहीं बनाया जाता।

पशु-पक्षी वृक्ष-लता आदि को कलाभिव्यक्ति के लिए प्रतीक रूप में उपयोग करने का श्रेष्ठ विधान भारतीय कला की निजी विशेषता है, जो सिन्धु-सभ्यता के युग से आजतक प्रतिष्ठित रही है।

अध्याय २५

वैज्ञानिक विकास

सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शनैः शनैः विज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं का विकास हुआ है। उपभोग की परिधि में क्या भोज्य है और क्या अभोज्य है, यह जानने के लिए सर्वप्रथम आयुर्वेद-विज्ञान का समारम्भ हुआ। उपयोगी वस्तुओं की विपुलता सम्पादित करने के लिए कृषि, पशुपालन आदि विज्ञानों का आविष्कार हुआ। अपने रहने के योग्य घर बनाने के लिए वास्तु-विज्ञान के साथ ही भौतिक विज्ञान और गणित-विज्ञान का समारम्भ हुआ। प्रकृति की सृष्टि में प्रायः अवयवों में जो यथाप्रमाणता होती है, उसको मानव ने जब अपनी कृतियों में अनुकरण के माध्यम से लाना चाहा तो ज्यामिति की विशेष उपयोगिता प्रतीत हुई। उपर्युक्त विज्ञानों में दक्षता और परिपक्वता सम्पादन करने की दिशा में प्राचीन मानवों का वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूतत्त्वविद्या आदि का आनुषंगिक रूप से ज्ञान बढ़ता रहा है। साथ ही दिन, मास, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र आदि की प्रवृत्ति का ज्ञान ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञ के क्रिया-कलापों का भी ज्योतिष से विशेष सम्बन्ध रहा है।

ज्योतिष

वैदिक युग में ज्योतिष का सर्वप्रथम नाम नक्षत्र-विद्या सम्भवतः सिद्ध करता है कि उस समय नक्षत्रों की गति-विधि का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता था।[1] तत्कालीन ज्योतिषी का एक नाम था नक्षत्रदर्श।[2] उस समय की नक्षत्र-विद्या का उपयोग कृषि-कर्म में और याज्ञिक कर्मकाण्डों में होता था। अहोरात्र, चान्द्रमास और पाँच या छः ऋतुओं के वर्ष की कल्पना प्रत्यक्ष दृष्टि से तत्कालीन

---

१. छान्दोग्य उप० ७.१.२; ७.१.४ आदि। चन्द्रमा जिस मार्ग से आकाश में भ्रमण करता है, उस पर पड़ने वाले प्रमुख तारों को ज्योतिष में नक्षत्र कहते हैं। २९ दिन के चन्द्रमा के भ्रमण का निदर्शन २७ नक्षत्रों से होता है।

२. यजुर्वेद ३०.१०।

क्रमविन्यास का द्योतक रही है। इसके पीछे लोगोंका नित्य का अपना अवलोकन साधन था। ऋग्वेद में उपर्युक्त अवलोकन सिद्धान्त-रूप में प्रमाणित हो चुका था, जब ऋषि ने विनिश्चयात्मक रूप से कहा—

द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥१.१६४.४८

(बारह प्रधि (अर), एक चक्र, तीन नाभियाँ—इन्हें कौन देखता है? इसमें ३६० शंकु लगाये गये हैं जो न चल हैं, न अचल हैं।)

साधारण बारह मास के साथ एक उपमास तेरहवें के रूप में ऋग्वैदिक युग में अनुसंहित हो चुका था।[1] यह ३६० दिनों का वर्ष बारह मासों में विभक्त होने पर प्रतिमास ३० दिन पड़ते हैं।[2]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ज्योतिष की दृष्टि से शाश्वत रूप से सम्मानित काल-मान की इकाइयों की चर्चा करते हुए संवत्सर, मास, अर्धमास, अहोरात्र, और नक्षत्रों की चर्चा के साथ ही पूर्णिमा, अष्टमी और अमावस्या आदि तिथियों की चर्चा मिलती है।[3]

तैत्तिरीय संहिता में प्रत्येक दो मास से सम्बद्ध ऋतुओं के नाम मिलते हैं—वसन्त में मधु-माधव, ग्रीष्म में शुक्र और शुचि, वर्षा में नभ और नभस्य, शरद् में इष और ऊर्जा, हेमन्त में सह और सहस्य तथा शिशिर में तप और तपस्य मास हैं।

परवर्ती युग में मास के नाम नक्षत्रों के नाम पर पड़े, जैसे चित्रा के नाम पर चैत्र, विशाखा के नाम पर वैशाख आदि। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार—

नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तयोगतः।

---

१. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायते ॥ऋ० १.२५.८ इस मास को संवत्सर की पूंछ कहते थे। तै० ब्रा० ३.८.३ ॥

२. सूर्य जिस स्थान से किसी दिन निकलता हुआ दिखाई देता है, उसके लगभग ३६० दिन पश्चात् पुनः उस स्थान से निकलता हुआ देखा जा सकता है। इस प्रकार वर्ष में ३६० दिनों की कल्पना हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.११.१ में नक्षत्रों को चन्द्रमा में, संवत्सर को नक्षत्रों में, ऋतुओं को संवत्सर में और मासों को ऋतुओं में प्रतिष्ठित या आश्रित बतलाया गया है। इससे इन युग्मों के सम्बन्ध का विज्ञान विकसित सिद्ध होता है।

३. तै० ब्रा० ३.११.१।

(पूर्णिमा के अन्त में जिस नक्षत्र में चन्द्रमा हो, उसी के नाम पर मास का नाम पड़ता है।)

वैदिक युग में लोगों को ज्ञात था कि चन्द्रमा में अपना निजी प्रकाश नहीं है। इसी के आधार पर चन्द्रमा का एक पर्याय 'सूर्यरश्मि' भी रखा गया था।[1]

सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गति का परिचय ज्योतिषियों को वैदिक काल में स्पष्ट ही था। साथ ही दिन-रात के तीस मुहूर्तों को लोगों ने पूर्णरूप से समझ लिया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार—

१ मुहूर्त = १५ क्षिप्र
१ क्षिप्र = १५ एतर्हीणि
१ एतर्हि = १५ इदानीनि आदि।

सूर्य एक ही है—यह ज्ञान वैदिक ऋषियों को था। ऋग्वेद के अनुसार 'एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः'।[2] इस सूर्य का उदय और अस्त नहीं होता।[3] विष्णु-पुराण में भी इस बात का प्रतिपादन मिलता है—

विदिशासु त्वशेषासु तथा ब्रह्मन् दिशासु च,
यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः॥
तिरोभावं च यत्रैति तत्रैवास्तमनं रवेः।
नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः॥
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः॥२.८.१५–१७॥

(समस्त दिशाओं और विदिशाओं में जहाँ के लोग सूर्य को जिस स्थान पर देखते हैं, उनके लिए वहाँ उसका उदय होता है। जहाँ दिन के अन्त में सूर्य का तिरोभाव होता है, वहीं उसका अन्त कहा जाता है। सर्वदा एक रूप से रहने वाले सूर्य का वास्तव में न उदय होता है, न अस्त। सूर्य का दिखाई पड़ना या न दिखाई पड़ना उसका उदय या अस्त है।)

---

१. सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः॥ तै० सं० ३.४.७.१॥

२. ऋग्वेद ८.५८.२।

३. ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—एष (सूर्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽऽत्मानं विपर्यस्यते। अहरेवावस्तात्कुरुते रात्रिं परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते। अहरेवावस्तात्कुरुते रात्रिं परस्तात्॥ इसका समर्थन विष्णु पुराण २.८.१५–१६ में है।

शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिका नक्षत्र के पूर्व में उदय होने का उल्लेख मिलता है।[1] इस उल्लेख से नक्षत्रों में कृत्तिका की प्राथमिकता सिद्ध होती है। यह उल्लेख ई० पू० २५०० वर्ष की नाक्षत्रिक स्थिति का पर्यालोचन करता है। इसी कृत्तिका से उस समय नक्षत्रों की गणना का क्रम आरम्भ होता था। इससे इतना तो स्पष्ट है कि नक्षत्रों की गणना का समारम्भ कम से कम आज से ४५०० वर्ष प्राचीन है।[2] अश्विनी से नक्षत्रों की गणना का प्रचलन छठीं शती से हुआ। ध्रुव तारे की स्थिति से भी नक्षत्र-प्रमाण का उपर्युक्त मान सिद्ध होता है।

वेदयुगीन ज्योतिष का प्रथम विकसित रूप वेदांग-ज्योतिष में मिलता है। वेदांग ज्योतिष तीन शाखाओं से सम्बद्ध मिलते हैं—(१) ऋग्वेद ज्योतिष, जिसमें ३६ कारिकायें हैं, (२) यजुर्वेद ज्योतिष, जिसमें ४९ कारिकायें हैं और (३) अथर्ववेद ज्योतिष, जिसमें १६२ कारिकायें हैं। अथर्ववेद ज्योतिष से फलित ज्योतिष की परम्परा आरम्भ हुई। साथ ही इसमें तिथि, नक्षत्र, करण, योग, तारा, चन्द्रादि का बलाबल वर्णित है। ऋग्वेद ज्योतिष में यज्ञ के लिए उपयोगी नक्षत्र, पर्व, अयन आदि का विधान मिलता है।

महाभारत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन ज्योतिर्विदों को ग्रहों की अनुदिश और प्रतिदिश (वक्र) गतियों का ज्ञान था।[3] ग्रहों की स्थिति का परिज्ञान उनके चारों ओर पड़ने वाले ताराओं के वर्णन द्वारा कराने की विधि प्रचलित थी।[4]

वैदिक ज्योतिष का अनुसरण करके परवर्ती युग में पाँच सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना हुई, (१) पितामह, (२) वसिष्ठ, (३) पौलिश, (४) रोमक और (५) सूर्य। इनमें से पितामह-सिद्धान्त वेदांग ज्योतिष की परम्परा का अनुसरण करके लिखा गया। इसमें सूर्य और चन्द्रमा का गणित मिलता है। वसिष्ठ-सिद्धान्त (३०० ई०) में राशि और लग्नों का विवेचन है। इसके अनुसार वर्ष

---

१. तस्मात् कृत्तिकासु आदधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।
सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते ॥२.१.२.२॥

२. यजुर्वेद संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी नक्षत्रों की सूचियाँ कृत्तिका से आरम्भ होती हैं। तै० सं० ४.४.१०.१–३; मै० सं० २.१३.२०; काठक सं० ३९.१३; तै० ब्रा० १.५.१, ३; १.४.१; अथर्ववेद १९.१.१।

३. प्रत्यागत्य पुनर्जिष्णुर्जघ्ने संसप्तकान् बहून्।
वक्रातिवक्रगमनादंगारक इव ग्रहः ॥कर्णपर्व १४.१॥

४. भीष्मपर्व ३.१२–१५, १७, १८, २७।

में ३६५.२५९१ दिन होते हैं। पौलिश-सिद्धान्त (३८० ई०) में ग्रहणों का विवेचन मिलता है। रोमक-सिद्धान्त (४००ई०) में वैदेशिक ज्योतिष का प्रभाव दिखलाई देता है। इसमें मेण्टन, हिप्पार्कस आदि ग्रीस के विद्वानों की गणना-रीति का विवरण भी है। वैदेशिक विधि से इसमें युगमान और दिनमान का स्पष्टीकरण किया गया है।

सूर्यसिद्धान्त सबसे अधिक लोकप्रिय रचना रही है। इसमें ग्रहण-विवेचन और गोलीय-ज्योतिष के विशेष नियमों का आकलन किया गया है। इसके रचयिता आर्यभट हैं।

आर्यभट

आर्यभट का प्रादुर्भाव पाँचवीं शती ई० के अन्तिम भाग में हुआ। इनके अनुसन्धान गणित के विविध क्षेत्रों में उच्च कोटि के रहे हैं। ज्योतिष के अतिरिक्त अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित आदि विषयों में आर्यभट ने जो कार्य किये, उससे परवर्ती गणित की प्रगति पर विशेष प्रभाव पड़ा।

आर्यभट की पुस्तक आर्यभटीय के चार पाद—गीतिका, गणित, काल-क्रिया और गोल हैं। इनमें से गीतिका, कालक्रियापाद और गोलपाद में ज्योतिष-ज्ञान के सूत्र विद्यमान हैं।

गीतिकापाद में राशि, कला, अंश आदि का सम्बन्ध, आकाश-कक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि की गति, उनका व्यास और परिमाण, ग्रहों की क्रान्ति और विक्षेप, उनका पात, मन्द और उच्च की अवस्थिति, मन्द परिधि और शीघ्र परिधि का परिमाण बताया गया है।

कालक्रिया पाद के प्रथम दो श्लोकों में काल और कोण की इकाइयों का सम्बन्ध बतलाया गया है। फिर छः श्लोकों में अनेक प्रकार के मास, वर्ष और युग के विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। नवें श्लोक में चन्द्रोच्च के विचार से युग के दो भाग—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का विवेचन किया गया है। इनके साथ ही ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति का विश्लेषण किया गया है। कालक्रियापाद के अनुसार चैत्र शुक्ल की प्रतिपदा से युग, वर्ष मास और दिवस की गणना होनी चाहिए।

आर्यभटीय के गोलपाद में ५० श्लोक हैं। इसके पहले श्लोक के अनुसार रविमार्ग का मेषविन्दु वसन्तविषुव है। दूसरे और तीसरे श्लोक के अनुसार ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया रविमार्ग पर भ्रमण करती हैं। चौथे श्लोक में चन्द्रादि ग्रहों की सूर्य से वे दूरियाँ बताई गई हैं, जिन पर होने पर वे दृश्य होते हैं। पाँचवें श्लोक में सूर्य के प्रकाश से ग्रहों के प्रकाशित होने की व्याख्या है।

इसके नवें श्लोक में तारों की स्थिरता प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि नाव चलती है, पर उसके चलने का बोध नहीं होता। वह स्थिर प्रतीत होती है और किनारे के वृक्ष चलते हुए प्रतीत होते हैं। ग्यारहवें और बारहवें श्लोकों में उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की स्थिति की चर्चा की गई है। सोलहवें श्लोक में खगोल के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पर घूमने का वर्णन है। बाईसवें और तेइसवें श्लोकों में भूगोल यन्त्र का वर्णन किया गया है। श्लोक २४-३३ में त्रिप्रश्नाधिकार के प्रकरण में लग्न, काल आदि जानने की रीति है। श्लोक ३४-३६ में क्रमशः लम्बन दुक्कर्म और अयन-दुक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक ग्रहण का विवेचन किया गया है। श्लोक ४८ में ग्रहों के मूलांक की रीति दी गई है।

परवर्ती युग में आर्यभट की कृतियों का अतिशय सम्मान हुआ। वास्तव में आर्यभट ने अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा अनुसन्धान की दृष्टि से अनेक तथ्यों की खोज की थी और पूर्वकालीन परिणामों का संशोधन किया था। स्वयं आर्यभट ने कहा है—सत् और असत् ज्ञान के समुद्र में बुद्धिरूपी नाव पर बैठ कर सद्ज्ञान-रूपी ग्रन्थरत्न निकाला गया है। आर्यभट की यह रचना इस कथन को चरितार्थ करती है।

वराहमिहिर

वराहमिहिर आर्यभट के प्रायः समकालीन थे। उन्होंने पंचसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक और लघुजातक की रचना की। इनमें से पंचसिद्धान्तिका अपने विषय-विस्तार के कारण सर्वोपरि है।

पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने अपने युग से बहुत पहले की और सम-कालीन ज्योतिष की प्रवृत्तियों का आकलन किया है। वास्तव में यह बहुशः करण ग्रन्थ है। केवल यत्र-तत्र इसमें सिद्धान्तों का समावेश है।[1]

पंचसिद्धान्तों—पैतामह, वासिष्ठ, रोमक, पौलिश और सौर में से सौर सिद्धान्त सर्वाधिक प्रतिष्ठित रहा है। इसका परवर्ती संशोधित संस्करण विशेष उपयोगी है, क्योंकि इसके द्वारा विशुद्धतर परिणामों की सम्भावना रहती है।

---

१. करण ग्रन्थ का ऐसी रचना से तात्पर्य है, जिसमें सरल रीति से प्रायः शुद्ध उत्तर का विधान किया गया हो। सिद्धान्त-ग्रन्थ में सर्वशः शुद्धातिशुद्ध उत्तर प्राप्त करने की विधियाँ होती हैं, चाहे उनके लिए अधिकाधिक प्रयास क्यों न करना पड़े।

इन्हीं सिद्धान्त-ग्रंथों से परवर्ती युगीन आचार्यों ने आज तक युगमान और तिथिक्रम को अपनाया है। तिथियों का प्रयोग भारतीय ज्योतिष की एक विशेषता है, जो अन्यत्र नहीं मिलती। पौलिश, रोमक और सौर सिद्धांतों की पद्धति प्रायः समान है। इनका प्रभाव भारतीय ज्योतिष में एक अभिनव दिशा का प्रवर्तन करने की दृष्टि से विशेष है।[1]

पंचसिद्धान्तिका का त्रैलोक्य-संस्थान उसके सर्वोच्च अनुसन्धानों में से है। इसमें ब्रह्माण्ड की रचना और उसके रूप, प्रतिष्ठा, आकर्षण-शक्ति, पृथ्वी का अक्ष-भ्रमण, सूर्य और चन्द्र का एक होना, चन्द्रमा की कलाओं का क्षीण और पूर्ण होना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो विदेशी विद्वानों को बहुत देर में ज्ञात हुईं। वराहमिहिर का कहना है—

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृतः॥

'पृथ्वी का गोला पंचमहाभूतों का बना हुआ है। यह तारागणों के पिंजरे में घिरा हुआ वैसे ही अवस्थित है, जैसे आकाश में लोहा चुम्बकों के बीच में पड़ा हो।'

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग में पृथ्वी का गोल होना, उसके ऊपर-नीचे बिना आधार का होना, ग्रहों की आकर्षण-शक्ति से उसका प्रतिष्ठित होना आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों का अनुसन्धान हो चुका था।

चन्द्रमा की कला के घटने-बढ़ने के विषय में वराहमिहिर ने लिखा है—ज्यों-ज्यों चन्द्रमा सूर्य से विमुख या सम्मुख होता है, त्यों ही त्यों उसका प्रकाशमय भाग घटता या बढ़ता है; जैसे घट का पश्चिम भाग दोपहर के पश्चात् अधिकाधिक प्रकाशित होता है।

वराहमिहिर के युग में ज्योतिष-ज्ञान के लिए बहुविध यन्त्रों का प्रयोग होता था, जिनका वर्णन पुस्तकों में नहीं किया गया, क्योंकि यन्त्रों का रहस्य विश्वसनीय शिष्यों के लिए प्रकाशनीय माना गया था। वराहमिहिर के शब्दों में—पुत्र को भी यन्त्रों के रहस्य नहीं बतलाने चाहिए।

सर्वसाधारण यन्त्र शंकु या यष्टि-यन्त्र था, जिसके द्वारा भूकेन्द्र या पृथ्वी

---

१. भारतीय ज्योतिष की नई दिशा में केवल योरोपीय सिद्धान्तों का विकास ही नहीं है, अपितु इसमें असंख्य अभिनव तत्त्वों का प्रतिपादन है, जो विशुद्ध भारतीय अनुसन्धान से प्राप्त हुए हैं।

को मापा जाता था। दूसरा यन्त्र उन्नतांश की माप करने के लिए प्रयुक्त होता था। इससे मध्याह्न सूर्य के शिरोबिन्दु की दूरी का अंश ज्ञात किया जाता था। नाड़िकायन्त्र के द्वारा ६० दण्ड के मान से दिन और रात में समय का परिज्ञान किया जाता था।

परवर्ती युग में वराहमिहिर की अतिशय प्रतिष्ठा रही है। गणित-ज्योतिष के अतिरिक्त उनकी फलित-ज्योतिष की पुस्तकें—बृहज्जातक और योगयात्रा महत्त्वपूर्ण हैं। अलबेरूनी ने वराहमिहिर के विषय में लिखा है—वराह के कथन सत्य पर आश्रित हैं। परमेश्वर करे कि सभी बड़े लोग उसके आदर्श का पालन करें।

सूर्यसिद्धान्त

वराहमिहिर के सूर्य-सिद्धांत का पांचवीं से दसवीं शती का परवर्ती युगीन परिवर्द्धित और संशोधित रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण अमर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है। इस परिवर्धित सूर्यसिद्धान्त के १४ अधिक्रम या अध्याय हैं—मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, परिलेख, ग्रहयुति, नक्षत्रग्रहयुति, उदयास्त, शृङ्गोन्नति, पात, भूगोल, ज्योतिषोपनिषद् और मान।

मध्यमाधिकार में ग्रहों को मध्यमगतियों का विवेचन है। कोणीय माप की मात्रायें इस प्रकार नियत हैं—

६० विकला = १ कला
६० कला = १ भाग
३० भाग = १ राशि
१२ राशि = १ भगण

पृथ्वी की माप मध्यमाधिकार के अनुसार ८०० योजन है। सूर्यसिद्धान्त में √१० से व्यास को गुणा करके परिधि निकालने की रीति दी गई है। किसी स्थान का देशान्तर निकालने का विधान चन्द्रग्रहण के आरम्भ या अन्त के पर्यवेक्षण के अनुसार प्रवर्तित है।

स्पष्टाधिकार में सूर्यादि ग्रहों की मध्यम स्थितियों से सम्बद्ध उन संशोधनों का विधान किया गया है, जिनके द्वारा संशोधित स्थितियाँ वही हो जायं, जो आकाश में वास्तव में होती हैं। सूर्यसिद्धांत के अनुसार आकाशीय वायु-धाराओं के नियन्त्रण में ग्रहों की शीघ्रतर, शीघ्र, सम, मन्द, मन्दतर आदि गतियाँ सम्भव होती हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कोणों की ज्या की तालिका का विकास किया गया है। इसके आगे सूर्य की परमक्रान्ति की ज्या की गणना की गई है।

पष्टाधिकार में ग्रहों के स्पष्ट स्थान ज्ञात करने की रीति उद्भावित है। यह रीति टालमी की रीति से बहुधा भिन्न है। उपर्युक्त विधान से सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण का निकटतम समय ज्ञात होता है। इसके साथ ही तिथि-ज्ञान का व्याख्यान है।

त्रिप्रश्नाधिकार में दिशा, देश और काल (सम्य) का गणित किया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम शंकुयन्त्र का उपयोग बतलाया गय है। इसके पश्चात् छाया-सम्बन्धी गणना देकर अयनांश निकालने की ीति बतलाई गई है और ग्रहों की क्रांति, छाया, चरदल आदि का व्याख्यान किया गया है।

आकाश के गोले में प्रतिदिन सभी तारा, ग्रहादिकों के २४ घंटे में भ्रमण करके उसी स्थान पर प्रत्यावर्तन के जो मार्ग हैं, वे समानान्तर वृत्त के रूप में होते हैं। आकाश का यह गोल खगोल है। इस खगोल के केन्द्र से जो लम्बरेखा ग्रह-मार्ग के वृत्त के समतल पर खींची जाती है, वह खगोल का अक्ष है। अक्ष के ऊपरी और निचले बिन्दुओं को उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव कहते हैं। दोनों ध्रुवों के ठीक मध्य से जो वृत्त खींचा जाता है, वह विषुवत है। विषुवत को सूर्य अपने वार्षिक मार्ग पर चलते हुए आमने-सामने के दो बिन्दुओं पर काटता है। इनमें से एक को वसन्त-विषुव और दूसरे को शरत्-विषुव विन्दु कहते हैं। विषुवों की स्थिति तारों की सापेक्ष दृष्टि से परिवर्तित होती है। इसी गति को अयन कहते हैं। विषुव का एक चक्कर २६,००० वर्षों में पूरा होता है।

सूर्यसिद्धांत के अनुसार विषुव की वार्षिक गति ५४ विकला है। यह गणना वास्तविक अयन से केवल ४ विकला भिन्न है, जहाँ ग्रीक ज्योतिषियों का अयन १८ विकला भिन्न है। इससे तत्कालीन भारतीय गणित की सूक्ष्मता सिद्ध होती है।

चन्द्रग्रहणाधिकार में सूर्य का व्यास ६५०० योजन, चन्द्र का व्यास ४८० योजन और पृथ्वी का व्यास १६०० योजन बताया गया है। इस गणना में चन्द्रमा का व्यास तो बहुत कुछ ठीक है, पर सूर्य का व्यास वास्तविकता से कोसों दूर है।[1]

इस अध्याय में चन्द्रमा की कक्षा के पास पृथ्वी की छाया का मान स्थिर किया गया है। इसी छाया में चन्द्र के आने पर ग्रहण लगता है।[2] चन्द्रग्रहण-सम्बन्धी सारी सूचनाओं का गणित इसमें निष्पन्न है।

---

१. सूर्यसिद्धान्त के अनुसार तो पृथ्वी के व्यास से सूर्य का व्यास चौगुना है, पर वास्तव में सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से १०० गुने से भी अधिक है।

२. छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्।
भच्छायां प्राग्गुरवश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥नवां श्लोक

सूर्यग्रहणाधिकार में सूर्य-ग्रहण का गणित बतलाया गया है। यह गणित अत्यंत कठिन है। इसके द्वारा सम्पादित परिणाम प्राय: ठीक सम्भावित होते हैं।

परिलेखाधिकार में सूर्य और चन्द्र की ग्रहणावस्था का चित्र बनाने की विधि सिखाई गई है।[1]

ग्रहयुत्यधिकार और नक्षत्रयुत्यधिकार में ग्रहों और नक्षत्रों की परस्पर सन्निकटता का गणित बतलाया गया है। इसी से उदयास्ताधिकार सम्बद्ध है, जिसके सूर्य के सन्निकट होने पर ग्रहों के अस्त और फिर दूर होने पर उदय की गणना की गई है। कुछ नक्षत्र कभी अस्त नहीं होते, क्योंकि सूर्य से सदैव अधिक दूरी पर रहते हैं।

शृङ्गोन्नत्यधिकार में चन्द्रमा के उदय और अस्त का गणित है। इसके अनुसार सूर्य से १२ अंश से कम दूरी रहने पर चन्द्रमा दिखाई नहीं पड़ता।

पाताधिकार में सूर्य और चन्द्रमा की क्रांतियों के कारण भावी विपत्तियों की गणना की गई है।

भूगोलाध्याय में पृथ्वी के परिमाण, आकार, प्रतिष्ठा, विभाग आदि की प्रारम्भिक चर्चा के पश्चात् समय-सम्बन्धी गणित का प्रतिपादन है। फिर ग्रहों की भ्रमण-कक्षा, ऋतुओं के तापमान आदि का सकारण विश्लेषण है। इन सभी उत्तरों के अन्त में अत्यंत सुन्दर उक्ति है

> सर्वत्रैव महीगोले स्वस्थानपरिस्थितम्।
> मन्यन्ते खे यतो गोलस्तस्य क्वोर्ध्वं क्वाप्यधः॥

ज्योतिषोपनिषदध्याय में ज्योतिष-यन्त्रों के निर्माण का रहस्य बतलाया गया है। उस समय के छाया-यन्त्रों के विविध प्रकार थे—शंकु, धनुष् और चक्र। जलयन्त्र का नाम कपाल था। कुछ यन्त्र मयूर, नर, वानर, आदि के आकारों के बनते थे और उनके नाम तदनुसार थे। पानी, सूत, रस्सी, तेल, पारा, बालू आदि के प्रयोग से यन्त्रों के द्वारा माप की जाती थी।

मानाध्याय में सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र कालों का परिमाण बताया गया है और साथ ही अयन, संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, ऋतु, तिथि, पक्ष, मास आदि का विश्लेषण है।

---

१. अर्धादूने सधूम्रं स्यात्कृष्णमर्धाधिकम्भवेत्।
विमुञ्चतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे॥२३ वाँ श्लोक॥

परवर्ती युग में सातवीं शती में भास्कर प्रथम ने महाभास्करीय और लघुभास्करीय लिखा और आर्यभटीय की टीका की।[1] दक्षिण भारत में पन्द्रहवीं शती तक इन ग्रन्थों की विशेष प्रतिष्ठा रही। सातवीं शती में ज्योतिष के दूसरे महान् आचार्य ब्रह्मगुप्त का प्रादुर्भाव विशेष उल्लेखनीय है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है ब्राह्मस्फुटसिद्धांत। इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में शुद्ध परिणामों को प्रत्यक्षीकरण के द्वारा शोधित करने के विधान की महत्ता बतलाई है। ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट आदि के परिणामों की सतर्क और अनुसन्धानात्मक आलोचना की है। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में सूर्यसिद्धान्त के १४ अध्यायों के समान विषयों पर विवेचन मिलता है। इसमें सब २४ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त बीजगणित, अंकगणित, ज्यामिति, त्रिकोणमिति, क्षेत्रमिति आदि गणित के विविध क्षेत्रों पर प्रकाम प्रकाश डाला गया है।

भास्कराचार्य द्वितीय

सह्याद्रि पर्वत की उपत्यका में विज्जडविड गाँव में भास्कराचार्य द्वितीय का जन्म १११४ ई० में हुआ था। उनके रचे हुए चार ग्रन्थ—सिद्धान्तशिरोमणि, लीलावती, बीजगणित और करण-कुतूहल थे। सिद्धान्तशिरोमणि की वासना-टीका भी भास्कर ने लिखी। वह परवर्ती युग में सिद्धान्तशिरोमणि का अंग ही बन गई।

ज्योतिष का सर्वोपयोगी ग्रन्थ सिद्धांतशिरोमणि है। इसके सम्बन्ध में स्वयं भास्कर का कहना है—

> गोलं श्रोतुं यदि मतिर्भास्करीयं शृणु त्वम्,
> नो संक्षिप्तं न च बहुवृथाविस्तरः शास्त्रतत्त्वम्।
> लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्मात्,
> विद्वन् विद्वत्सदसि पठतां पण्डितोक्ति व्यनक्ति॥१.९॥

इसके भुवनकोश में पृथ्वी की परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—पृथ्वी क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, रवि, मंगल, बृहस्पति और नक्षत्रों की कक्षाओं से घिरी है। इसका आधार नहीं है, यह अपने आप अपनी शक्ति से स्थिर है। कदम्ब के पुष्प की गाँठ जैसे चारों ओर केसरों से आच्छादित रहती है, वैसे ही पृथ्वी भी

---

१. भास्कर प्रथम परवर्तीयुगीन लीलावती के रचयिता भास्कराचार्य से भिन्न हैं।

पर्वत, उद्यान, ग्राम, यज्ञ-शाला आदि से आवृत्त है। वास्तव में इस ग्रन्थ में गणित और ज्योतिष के साथ ही मनोरम काव्य का आनन्द भी यत्र-तत्र प्राप्य है।

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के विषय में कहा गया है—पृथ्वी आकर्षण-शक्ति वाली है। इसी शक्ति से वह आकाश की वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। पृथ्वी कहीं नहीं गिर सकती। सर्वतः समान आकाश में यह कहाँ जाय?[1] पृथ्वी की गोलता प्रमाणित करते हुए कहा गया है—जैसे गोले की परिधि का छोटा-सा भाग समतल प्रतीत होता है, वैसे ही इस भूमि की तुलना में मनुष्य के अत्यन्त छोटे होने के कारण भूमि का दृष्टिगत भाग समतल प्रतीत होता है।

सिद्धान्तशिरोमणि के छेद्यकाधिकार में सूर्यादि ग्रहों की स्फुट स्थितियों की व्याख्या की गई है। भास्कराचार्य के अनुसार छेद्यक-चित्र में सूर्यादि पिण्डों की कक्षा होनी चाहिए। गोलबन्धाधिकार में ग्रहों की कक्षाओं का निदर्शन कराने वाले यन्त्रों के विधान के साथ ही अयनांश, क्रान्ति, शर आदि का परिणाम जानने की विधि दी गई है। त्रिप्रश्नवासना में सूर्योदय का समय जानने का विधान है। इससे विभिन्न स्थानों के दिनमान का ज्ञान हो सकता है। न केवल अपने भारत का दिनमान, अपितु ध्रुव प्रदेशों के दिन-रात का व्याख्यान भी वहीं मिलता है। साथ ही चन्द्रमा के दिन-रात का विवेचन किया गया है। चन्द्रलोक-वासियों के लिए अमावस्या को मध्याह्न रहता है और हमारी पूर्णिमा के दिन उनका अर्धरात्र होता है।

यन्त्राध्याय में समय के सूक्ष्मज्ञान का निदर्शन करने के लिए गोल, नाडी-वलय, यष्टि, शंकु, घटी, चक्र, चाप, तुर्य, फलक आदि यन्त्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया दी गई है।

भास्कराचार्य ने करण-कुतूहल में ग्रहों की गणना की सरल रीतियों का व्याख्यान किया है। इससे पंचांग बनाने में प्रचुर सहायता मिलती है।

भास्कर की प्रतिष्ठा का परिचय उनके ग्रन्थों के परवर्ती-युगीन अनुवादों से मिलता है। अकबर के मन्त्री फैजी ने लीलावती का अनुवाद किया था। अता-उल्लाह ने १६३४ में उसके बीजगणित का अनुवाद किया। कोलब्रुक, टेलर, स्ट्रेची आदि उन्नीसवीं शती के विद्वानों ने अंगरेजी में उसके विविध ग्रन्थों का अनुवाद किया।

---

१. आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥
इसी आकर्षण शक्ति का ६०० वर्ष पीछे पता लगा कर न्यूटन पण्डित कहलाया।

जयसिंह का कृतित्व

जयपुर के प्रतिष्ठापक महाराज जयसिंह कुशल शासक के साथ ही अनुपम विद्याप्रेमी थे। उनके आश्रय में केवल राजस्थान में ही नहीं, अपितु उज्जैन, मथुरा, दिल्ली और काशी आदि क्षेत्रों में भी सत्रहवीं शती में विद्या का अभ्युदय हुआ। भारत के विभिन्न भागों में उन्होंने पाँच वेधशालायें बनवाईं।[१] जयसिंह की ज्योतिष-सम्बन्धी प्रवृत्ति पूर्ण रूप से अनुसन्धानात्मक थी। उन्होंने तत्कालीन देश-विदेश के उपलभ्य ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद कराया और योरप तक के ज्योतिर्विदों को सहयोग देने के लिए बुला लिया था। जयसिंह ने पुराने यन्त्रों का केवल सुधार ही नहीं किया, अपितु नये यन्त्रों का आविष्कार भी किया। नये यन्त्र थे—सम्राट-यन्त्र, जयप्रकाश-यन्त्र और राम-यन्त्र।

भारतीय ज्योतिष-विज्ञान की उत्कृष्टता की प्रशंसा अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी की है। वेबर ने कहा है—During the eighth and ninth centuries, the Arabs were in astronomy the disciples of Hindus, from whom they borrowed the lunar mansions in their new order, and whose Siddhāntas, they frequently worked up and translated in part under the supervision of Indian astronomers themselves whom the Khalifas of Baghdad invited to their courts.[२]

विल्सन ने प्राचीन ज्योतिष-विज्ञान की भारतीयता को प्रमाणित करते हुए कहा है—The originality of Hindu astronomy is at once established, but it is also produced by intrinsic evidence and although there are some remarkable coincidences between the Hindu and other systems, their methods are their own.[३]

इंगलैण्ड के वैज्ञानिक सर ओलिवर लाज के अनुसार वारों की उत्पत्ति का श्रेय भारत को है। वारों का नामकरण ग्रहों के नाम पर है। पृथ्वी से दूरी के आधार पर ग्रहों की क्रम-संख्या है—चन्द्र, बुध, शुक्र, रवि, मंगल, गुरु और शनि।

---

१. ये वेधशालाएँ अब भी जयपुर, उज्जैन, वाराणसी और मथुरा में विद्यमान हैं। वेधशाला के लिए नाड़ी-यन्त्र, गोल-यन्त्र, दिगंश-यन्त्र, वृत्तषष्ठांशक, सम्राट्-यन्त्र, जयप्रकाश-यन्त्र आदि प्रचलित थे।

२. History of Indian Literature, p. 255.

३. Mill's History of India, Vol. I, p. 107.

इनमें प्रत्येक चौथा ग्रह यदि क्रम से गिना जाय तो वह दूसरे दिन का वार होता है। यदि आज शनि है तो इससे चौथा रवि, रवि से चौथा सोम, सोम से चौथा मंगल आदि होंगे। चौथे का यह क्रम कैसे समीचीन है—

दिन और रात्रि को अहोरात्र कहते हैं। अहोरात्र का संक्षेप है होरा।[1] होरा अंगरेजी के आवर (Hour) का पर्याय है। अहोरात्र में २४ होरायें हैं। ज्योतिष के अनुसार प्रत्येक होरा का एक ग्रहस्वामी होता है। सातों ग्रह सात घण्टे में पूरे पड़ते हैं। इस प्रकार २१ घंटे में तीन वार सभी ग्रहों का क्रम समाप्त होता है। बाईसवें घण्टे में पुनः प्रथम ग्रह, तेईसवें में द्वितीय ग्रह और चौबीसवें में तृतीय ग्रह आते हैं। पुनः दूसरे दिन की प्रथम होरा में चतुर्थ ग्रह आता है। उस नये दिन का थम ग्रह होने के कारण वही उस दिन का ग्रह-स्वामी होता है। उसके नाम पर उस दिन का नाम पड़ता है। पहले दिन के ग्रह-स्वामी से दूसरे दिन का ग्रह-स्वामी चतुर्थ पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक चतुर्थ ग्रह के नाम पर अगला वार आता है। यह गणना सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार है, जिसकी रचना ईसवी शती के आरम्भिक युग में हुई थी।

अंकगणित

आज विश्व में जो गणना-पद्धति अङ्गरेजी के माध्यम से चली है, उसका समारम्भ सम्भवतः उस युग में हुआ, जब भारतीय और योरपीय आर्य साधारणतः एक स्थान पर रहते थे। भारतीय अंक-गणना का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, जिसके अनुसार १ से १० तक की क्रमिक गणना के पश्चात् ११ का एकादश (एक और दश) रूप प्रतिष्ठित है।[2] उस समय षष्टिः सहस्र (६०,०००) की गणना कल्पनीय थी।[3] अयुत शब्द १०,००० के लिए प्रयुक्त होता था।[4] यजुर्वेद में ४ का पहाड़ा १२ तक गिनाया गया है।[5] इस वेद में संख्या की परार्ध तक गणना की कल्पना का उल्लेख है।[6] यह सर्वोच्च संख्या दस, सौ और सहस्र के गुणन-क्रम से अयुत, नियुत, अर्बुद, न्यर्बुद और परार्ध होती है। वैदिक युग में

---

१. होरेत्यहोरात्रं विकल्पमेके भवन्ति पूर्वापरवर्णलोपात्।

२. ऋग्वेद १.७.९; १०.८५.४५।

३. ऋ० १.१२६.३।

४. ऋ० ४.२६.७।

५. यजु० १८.२५।

६. परार्ध है १ के आगे १२ शून्य। देखिए यजु० १७.२।

अंकगणित का उपयोग छन्दोरचना और वैदिक मन्त्रों के विविध प्रकार के पाठों में विशेष रूप से होता था।

उपनिषदों में अनेकत्र राशिविद्या की चर्चा है। राशि-विद्या अंकगणित है। वैदिक युग से गणित अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। इसके अनेक नाम—गणना, संख्यान आदि मिलते हैं।[१]

अंक-लेखन

भारत में संख्याओं के लिखने की अनेक रीतियों का समय-समय पर प्रचलन रहा है। सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध अंकलेखन की रीति आर्यभटीय में प्रतिपादित है जिसके अनुसार—

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ्मौ यः।
खाद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा।।

अर्थात् क से आरम्भ करके वर्ग-अक्षरों को वर्ग-स्थानों में और अवर्ग-अक्षरों को अवर्ग-स्थानों में व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार ङ और म मिलकर य होता है। वर्ग और अवर्ग स्थानों के ९ के दूने शून्यों को ९ स्वर प्रकट करते हैं। इस प्रक्रिया की ९ वर्गस्थानों के अन्त के पश्चात् पुनरावृत्ति होनी चाहिए।[२]

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार क से म तक व्यंजन १ से २५ की क्रमशः अभिव्यक्ति करते हैं। फिर य=३०, र=४०, ल=५०, व=६०, श=७०, ष=८०, स=९०, ह=१००। स्वरों से वर्गाक्षर दशोत्तर व्यक्त होते हैं। जैसे अ=१, इ=१००, उ=१०,०००। इसी प्रक्रम से औ=१ के आगे १६ शून्य। इस रीति से बहुत बड़ी संख्यायें भी संक्षेप में व्यक्त की जा सकती हैं। भारत की संक्षेपीकरण की सूत्र-शैली की दिशा में यह विकास रहा है। गणित के नियमों में जो सूत्र या कारिकायें विहित होती थीं, उनकी रचना में इस प्रकार की अंक-व्यंजना अतिशय उपयोगी रही है। इस प्रक्रिया में कुछ दोष भी थे। कई अक्षरों का रूप लिखने में बहुत कुछ समान होता है। यदि कहीं अक्षर-विपर्यय हुआ तो अंक के मान में बहुत अधिक अन्तर हो सकता था।

गुप्त-युग में अंक-लेखन की प्रक्रिया में शून्य का आविष्कार एक व्यापक घटना थी। बौद्धों का शून्य से जगत् का विकास वास्तविक हो या न हो, किन्तु

---

१. खारवेल का शिलालेख और अर्थशास्त्र १.५७।

२. इस प्रक्रिया को अक्षरपल्ली-पद्धति कहते हैं, जिसमें अक्षरों से अंकों को व्यक्त किया जाता है।

गणित के जगत् का विकास तो अवश्यमेव शून्य के आविष्कार में ही अन्तर्हित है। यह वही पद्धति है, जिसमें दस को १० तथा ग्यारह को ११ लिखते हैं। इसमें वाम-वामतर स्थानों में क्रमशः दशगुणत्व की और दक्षिण-दक्षिणतर स्थानों में क्रमशः दशमांश की क्षमता प्रकल्पित है।[१]

साधारणतः छन्द की योजना के लिए शब्दों के द्वारा अंकों को व्यक्त करने की रीति उपयोगी रही है। छन्दःशास्त्र और काव्य-ग्रंथों में इस शैली का विशेष उपयोग हुआ है। इस शैली का प्रचलन गुप्त-युग में था।

परवर्ती युग में दसवीं शती में आर्यभट द्वितीय की पद्धति गुप्तयुगीन आर्यभट प्रथम की अंक-लेखन-पद्धति से मिलती-जुलती, किन्तु सरल है। इसको कटपयादि पद्धति कहते हैं, क्योंकि इसमें १ के लिए क, ट, प, य अक्षर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार २ के लिए ख, ठ, फ, र आदि आते हैं। शून्य के लिए अ और न होते हैं। स्वरों के योग से अंकों को व्यक्त करने के लिए व्यंजनों का जो संयोजन होता है, वह विशेष रूप से उच्चारणीय है।[२]

उपर्युक्त दाशमिक गणना की लेखन-पद्धति को नवीं शती में अरब-देशवासियों ने सीखा। योरप-महाद्वीप में इसका प्रचार बारहवीं शती से हुआ।

पाटीगणित

अंकगणित का व्यावहारिक रूप सर्वप्रथम काठ की पाठी पर अथवा भूतल की धूलि पर प्रस्फुटित हुआ था, इसलिए इसका नाम पाटीगणित या धूलिकर्म भी है। इसका एक और पर्याय व्यक्तगणित है, क्योंकि बीजगणित अव्यक्तगणित है।

---

१. शून्य के महत्त्व की एक वैदेशिक प्रशस्ति नीचे लिखी है। इसमें इसका जनक भारत को बताया गया है :—The importance of the creation of zero mark can never be exaggerated: This giving to airy nothing, not merely a local habitation and a name, picture symbol but helpful power is the characteristic of the Hindu race whence it sprang. It is like coining the Nirvāṇa into dynamos. No single mathematical creation has been more potent for the general ongo of intelligence and power. *G. B. Halsted :* On the Foundation and Technique of the Arithmetic. Chicago. 1912 p. 20.

२. रूपात् कटपयपूर्वा वर्णा वर्णक्रमाद् भवन्त्यंकाः।
अञौ शून्यं प्रथमाय आ छेदे ऐ तृतीयार्थे॥

पाटीगणित का सर्वप्रथम स्पष्ट परिचय आर्यभट प्रथम की रचनाओं में मिलता है। आर्यभटीय में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घन-फल, वर्गमूल, घनमूल, क्षेत्र-फल आदि जानने की रीति मिलती है। साथ ही त्रैराशिक नियम, भिन्नों के हरों को सामान्य हरों में बदलने की रीति, भिन्नों के गुणा और भाग देने की रीति मिलती है। वक्षलिग्राम के गुप्तयुगीन लेख में भिन्न, वर्गमूल, समान्तर श्रेढ़ी, और गुणोत्तर श्रेढ़ी का विवेचन है।

सातवीं शती में पाटीगणित की परिधि में ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रंथ ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त में २० विषयों और ८ व्यवहारों का परिचय दिया है।[1] इनके नाम संकलित (जोड़), व्यवकलित (घटाना), गुणन, भागहर, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, पंचजाति (भिन्न-सम्बन्धी ५ नियम), त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, एकादशराशिक और भाण्ड-प्रतिभाण्ड (वस्तु-विनिमय) हैं। इनके अतिरिक्त आठ व्यवहार कर्म हैं—मिश्रक, श्रेढी, क्षेत्र, खात, चिति, क्राकचिक, राशि और छाया। व्यवहारों में मिश्रक के द्वारा मिलावट सम्बन्धी प्रश्न हल किए जाते हैं। श्रेढी-व्यवहार में समान अन्तर पर आने वाली संख्याओं की समस्याओं का समाधान होता है। क्षेत्र-व्यवहार से खेतों के क्षेत्रफल का ज्ञान होता है। खात-व्यवहार से खाई का घन-फल जान लेते हैं। क्राकचिक से आरा चलाने वालों का हिसाब मिलता है। राशि-व्यवहार से अन्न के ढेर का परिमाण जान लेते हैं। और छाया-व्यवहार से दीप-स्तम्भ और उसकी छाया के मान का ज्ञान प्राप्त करते हैं।[2]

श्रीधर की त्रिशतिका आठवीं शती की रचना है। इसमें पाटीगणित के व्यवहार-भाग का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। भास्कराचार्य की लीलावती प्राचीन अंकगणित की सर्वोपरि रचना है।

---

१. वास्तव में सारा पाटीगणित जोड़ और घटाना है, जैसा भास्कर प्रथम ने आर्यभटीय के भाष्य में लिखा है।

२. इन सभी विषयों और व्यवहारों के लिए अनेकविध सरल और कठिन समाधानों का अनुसन्धान हो चुका था। इन्हीं में से किसी एक को सरलतम मानकर हम उसे अपनाये हुए हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्मगुप्त के अनुसार गुणन-विषय के चार प्रकार माने गये थे—गोमूत्रिका, खण्ड, भेद और इष्ट। श्रीधर के अनुसार चार रीतियाँ हैं—कपाट, सन्धि, तस्थ, रूप-विभाग और स्थान-विभाग। इनमें से आज कपाट-सन्धि-विधि प्रचलित है।

बीजगणित

आर्यभटीय के गणितपाद में भारतीय बीजगणित का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।[1] इसमें चतुरक्षर समीकरण की विधि की अभिव्यक्ति मिलती है।[2] परवर्ती युग में सातवीं शती में ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में बीजगणित का विकास किया। इस ग्रन्थ के कुट्टकाध्याय में एकवर्ण-समीकरण, वर्ग-समीकरण, अनेक-वर्ण-समीकरण आदि बीजगणित के महत्त्वपूर्ण साधनों की विधियाँ दी गई हैं। अन्यत्र बीजगणित सम्बन्धी भावित बीज का प्रकरण है। बीजगणित का प्राचीन काल में सर्वोच्च विकास भास्कराचार्य द्वितीय ने बारहवीं शती में किया। इनके सिद्धान्त-शिरोमणि नामक ग्रन्थ का बीजगणित-भाग सुप्रसिद्ध है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में उस प्राचीन युग के आचार्यों की कुछ ऐसी प्रगुण साधनिकायें हैं, जिन्हें यारप के गणितज्ञों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में जान पाया था।

भास्कर की बीजगणित-सम्बन्धी पद्धति अतिशय सरल और संक्षिप्त है। शून्य और खहर राशियों के सम्बन्ध में भास्कर ने लिखा है—

> खयोगे वियोगे धनर्णं तथैव च्युतम्,
> शून्यतस्तद्विपर्यासमेति।

अर्थात् शून्य में कुछ जोड़ो या किसी राशि में से शून्य को घटाओ तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर शून्य में से धन राशि घटाने पर ऋण और ऋण घटाने पर धन राशि मिलती है।

---

१. भारत में बीजगणित का समारम्भ ईसवी सन् से ३००० वर्ष पूर्व माना जा सकता है। श्री प्लेफेयर ने 'मेम्वायर्स आन दी एस्ट्रानामी आफ ब्राह्मिन्स' में सिद्ध किया है कि '३००० ई० पू० में ज्योतिष-सम्बन्धी भारतीय ज्ञान अतिशय विकसित था।' इस सूक्ष्मदर्शिता में बीजगणित का उपयोग हुआ होगा। कम से कम आर्यभट से पहले बीजगणित का विकास अवश्यमेव हुआ था।

२. इस सम्बन्ध में कोलब्रुक का प्रमाण है :—

They appear to have been able to resolve quadratic equations by the process of completing the square and hence, Mr. Colebrooke presumes that the treatise of Aryabhata, then extant, extended quadratic equations in the determinate analysis and to indeterminate equations of the first degree, and probably to those of the second. *Encyclopaedia Brittanica.*

भास्कर की खहर राशि से तात्पर्य है वह राशि, जिसका हर ख अर्थात् शून्य हो। वह अनन्त है। इसके सम्बन्ध में भास्कर का कहना है—

> अस्मिन्विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
> बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत् ॥

अर्थात् इस खहर में कुछ जोड़ें या इसमें से कुछ घटायें तो उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, जैसे प्रलय के समय अच्युत में सभी भूतों के प्रवेश होने पर अथवा सृष्टि के समय उनके बहिर्भूत होने पर वह ज्यों का त्यों है।

बीजगणित में भास्कर ने यावत्-तावत्, कालक, नीलक, पीतक, लोहितक आदि प्रायः रंगों के नाम पर अव्यक्त राशियों की संज्ञा मानी है।[1] इनमें से प्रत्येक का प्रथम अक्षर या, का, नी, पी लो आदि x, y, z की भाँति प्रयुक्त होते थे।

परवर्ती युग में ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीर, श्रीपति और भास्कराचार्य बीज-गणित के उल्लेखनीय आचार्य हुए। इनमें से भास्कराचार्य की कीर्ति अमर और यशस्विनी है। एल्फिन्स्टन ने भास्कर की अग्रगण्यता का उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होंने ax^2+d को वर्गसंख्या होने के लिए x का वह मान उस प्रगुण विधि से निकाला है, जिसे यूलर ने उसके ५०० वर्षों बाद उसी विधि से निकाल पाया।[2] बीजगणित की जिस कुट्टक विधि का विकास भास्कर प्रथम से भास्कर द्वितीय के युग तक हुआ, उसका ज्ञान योरप के विद्वानों को १६२४ ई० के लगभग हो पाया।[3] एल्फिन्स्टन का मत है कि समीकरण-गणित में भारतीय गणितज्ञ योरप के केवल अपने समकालीन विद्वानों से ही बढ़कर नहीं थे, अपितु कुछ बातों में तो आज भी हम उन प्राचीन गणितज्ञों की समता नहीं प्राप्त कर सके हैं।[4]

भास्कराचार्य की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्तियों की प्रशस्ति में लेथब्रिज महोदय

---

१. आगे चल कर हरीतक (ह), श्वेतक (श्वे), चित्रक (चि), कपिलक (क), पिंगलक(पि), धूम्रक (धू), पाटलक (पा), शवलक (श), श्यामलक (श्या), मेचक (मे) आदि अव्यक्त राशियों के नाम मिलते हैं। कुछ आचार्यों ने मधुर आदि रसों और अन्य आचार्यों ने माणिक्य आदि रत्नों के नाम पर अव्यक्त राशियों की संज्ञा निर्धारित की है।

२. History of India पृ० १३१।

३. एडिनबरा रिव्यू, भाग ३९, पृ० १५१।

४. History of India, p. 131.

ने कहा है कि उन्होंने एक ऐसी साधनिका निकाली थी, जो योरप के आधुनिक गणितज्ञों के डिफरेंशियल कैलकुलस के समकक्ष है।[१] प्रफुल्लचन्द्र राय ने इस सम्बन्ध में कहा है कि समय-सम्बन्धि-ज्यौतिष-त्रुटि $\frac{१}{३४०००}$ क्षण है—यह ज्ञान डिफरेंशियल कैलकुलस से ही हस्तगत हो सकता है।

रेखागणित

अंकगणित और बीजगणित की भाँति रेखागणित के भी प्राथमिक विकास का जन्मदाता भारत को माना गया है। यहीं से रेखागणित के मूल सूत्र अरब और योरप में पहुँचकर विश्वविख्यात हुए।[२] थीबो के अनुसार भारतवासियों ने सर्वप्रथम ज्योतिष और रेखागणित में बीजगणित का प्रयोग किया।[३]

भारतीय रेखागणित का प्रथम प्रत्यक्ष परिचय सिन्धु-सभ्यतायुगीन रेखा-चित्रों में मिलता है। वैदिक साहित्य के अनुसार याज्ञिक वेदिकाओं के निर्माण में त्रिभुज, आयत, वर्ग, पक्षी, कच्छप, वृत्त और समत्रिबाहु त्रिभुज की आकृतियों की आवश्यकता होती थी। इनके निर्माण के लिए जिस विज्ञान की अपेक्षा थी, उसकी अमर प्रतिष्ठा शूल्बसूत्रों के रूप में हुई।

आर्यभट ने गुप्तयुग में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोल का घनफल, विषम चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के सम्पात से भुजा की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लम्बाई और चौड़ाई जानकर क्षेत्रफल जानने के नियम बताये। उसी समय व्यास और परिधि का अनुपात चौथे दशमलव तक शुद्ध ज्ञात कर लिया गया

---

१. Bhāskarācārya is said to have discovered a Mathematical process very nearly resembling the Differential Calculus of modern European Mathematicians. *J. R. A. S.*, Vol. XVII.

२. We cartainly obtained the former two (Arithmetic and Algebra) either from or at least through India, we think it highly probable that the earliest European geomtery also came either from or through the same country. *Penny Cyclopaedia.* Vol. XI में 'ज्यामेट्री' पर।

३. *J. R. A. S.* Bengal, 1875, p. 228. थीबो के अनुसार पाइथेगोरस के नाम से विख्यात प्रमेय भारतवासियों को पाइथेगोरस के पूर्व ज्ञात था। यह शुल्बसूत्र में वर्णित है।

था।[1] आर्यभट नें ज्यासरणी बनाई थी। उसने ज्याओं के जानने की रीति की व्याख्या की है। वृत्त, त्रिभुज या चतुर्भुज बनाना, समतल की परीक्षा, लम्बक का प्रयोग करना, छायाकरण को शंकु और छाया से जानना, किसी दीपक और उससे निर्मित शंकु की छाया से दीपक की ऊँचाई और दूरी जानना, एक रेखा पर स्थित दीपक और दो शंकुओं के सम्बन्ध का निर्धारण, समकोण त्रिभुज की भुजाओं और कर्ण के वर्गों का सम्बन्ध जानना, वृत्त की जीवा और शरों का सम्बन्ध जानना, दो परस्पर काटने वाले वृत्तों के सामान्य खण्ड और शरों का सम्बन्ध ज्ञात करना आदि विषयों पर आर्यभट ने प्रकाम वैज्ञानिक प्रकाश डाला है।

ब्रह्मगुप्त ने ज्या निकालने की रीति बतलाई है। इनके ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के स्पष्टाधिकार के अनुसार त्रिज्या का मान ३२७० कला माना गया है।[2] इस ग्रन्थ के गणिताध्याय में क्षेत्रव्यवहार, वृत्तक्षेत्र आदि विषयों का विवेचन रेखा-गणित से सम्बद्ध है।

त्रिकोणमिति

ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत में शंकुच्छायादि-ज्ञानाध्याय का सम्बन्ध त्रिकोणमिति से है। त्रिकोणमिति का सर्वोच्च विकास प्राचीन काल में सूर्यसिद्धान्त में हुआ था। तत्कालीन त्रिकोणमिति की प्रशंसा करते हुए इन्साइक्लोपीडिया में कहा गया है—Sūryasiddhānta contains a rational system of trigonometry, which differs entirely from the first, known in Greece or Arabia. In act, it is founded on a geometrical threorem which was not known to the geometricians of Europe before the time of Vieta, about 200 years ago. And it employs the sines of arcs, a thing unknown to the Greeks, who used the chords of double arcs. The invention of sines has been attributed to the Arabs but it is possible that they may have received this improvement in Trigonometry as well as the numerical characters from India.[3]

---

१. आर्यभट के अनुसार यदि वृत्त की परिधि ६२८३२ हो तो व्यास २०००० होगा। इस आकलन से उपर्युक्त कल्पना विशुद्ध प्रमाणित होती है।

२. पूर्ववर्ती सिद्धान्त-युग में आर्यभट ने ३४३८ कलाओं को माना था। इसी को सूर्यसिद्धान्त और शिरोमणि में स्वीकार किया गया है।

३. *Prof. Wallace*: Edinburgh Encyclopaedia Geometry, p. 191.

आयुर्वेद

भारतीय विज्ञानों में आयुर्वेद का अप्रतिम महत्त्व रहा है। जिस प्रकार ज्योतिष में अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भूगोल आदि का अन्तर्भाव हुआ था, उसी प्रकार आयुर्वेद में भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, खनिज-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का समावेश हुआ। सिन्धु-सभ्यताकाल से शृंगचूर्ण, शिलाजीत और गंडा-तावीज आदि के प्रयोग द्वारा रोगों को शान्त करने की विधि सदा प्रचलित रही।

वैदिक साहित्य के उल्लेखों द्वारा तत्कालीन आयुर्वेद-विज्ञान-संबंधी प्रगति का परिचय प्राप्त होता है। सभी महर्षि चिर जीवन की अभिलाषा करते थे।[1] वैदिक युग में आयुर्वेद की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। अश्विनीकुमार, वरुण, रुद्र आदि अनेक देवता वैद्य थे।[2] अश्विनीकुमारों की नेत्रचिकित्सा और टूटी हड्डी को जोड़ना प्रसिद्ध कार्य थे। वरुण का एक विशाल औषधालय था, जिसमें सहस्रों वैद्य कार्य करते थे।[3] ऋग्वैदिक काल में जलचिकित्सा और सूर्यरश्मि-चिकित्सा का प्रचार था यथा—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा॥
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः।
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम॥ ऋ० १.२३.१९–२१॥
उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ ऋ० १.५०.११॥

उस समय अनेक प्रकार की औषधियों का ज्ञान था; यथा—

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वंहसः॥
ऋ० १०.९७.१५॥

अथर्ववेद में अनेक रोगों के लक्षण, निदान और चिकित्सा का सूक्ष्म विवेचन है।[4] विभिन्न रोगों के निवारण के लिये विविध द्रव्यों का उपयोग किया जाता

---

१. यजुर्वेद ३६.२४, ईशोपनिषद् २।
२. ऋग्वेद १.११६.१६, १.२४.९, २.३३.४, ७।
३. ऋग्वेद १.२४.९।
४. अथर्ववेद ९.८.६–९, १७, २१।

था—जैसे—कुष्ठ के द्वारा तक्मज्वर नष्ट किया जाता था।[1] नितत्नी के प्रयोग से केश बढ़ाये जाते थे।[2] रजनी के प्रयोग से कुष्ठ का निदान होता था।[3] सूर्य-रश्मियों की कृमिनाशक शक्ति का ज्ञान उस समय था।[4] वैद्य जानते थे कि शरीर के अनेक अंग और जंगली औषधियाँ कृमियों के आश्रय-स्थान हैं और कृमि अनेक प्रकार के होते हैं। वे विषैले भी होते हैं।[5] रोहिणी के प्रयोग से टूटी हुई हड्डी को जोड़ दिया जाता था।[6] मच्छरों का नाश करने के लिए किसी वनस्पति का प्रयोग होता था। अपामार्ग, पिप्पली और अरुन्धती के उपयोग से अनेक रोगों का निदान होता था। परवर्ती युग की प्रथम प्रसिद्ध संहिता चरक की है।

चरक-संहिता

चरक-संहिता में आठ अध्याय हैं। सूत्रस्थानं में औषधि, पथ्य, वैद्य के कर्तव्य आदि का वर्णन है। निदान-स्थान में ज्वर, रक्तस्राव, कुष्ठ, क्षय आदि का विवेचन है। विमान-स्थान में रोगों के परीक्षण और उनके योग्य औषधि का वर्णन है। इन्द्रिय-स्थान में इन्द्रियों की विकृति का विवेचन और वाणी-सम्बन्धी विकार तथा शक्ति-क्षय आदि का उल्लेख है। चिकित्सा-स्थान में रोगों का निदान, स्वास्थ्य-वृद्धि और दीर्घ जीवन के उपाय तथा वातरोग और ज्वर आदि का विश्लेषण है। कल्प-स्थान में शरीर-शोधन द्वारा रोगों के निवारण का वर्णन है। सिद्धि-स्थान में विषम रोगों की चिकित्सा के लिये औषधि के शरीर में प्रवेश कराने की व्याख्या है।

चरक का प्रादुर्भाव संभवतः ईसा के पूर्व हुआ होगा। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय के मतानुसार वे बौद्ध युग से भी पूर्ववर्ती हैं।

उपर्युक्त समय में आयुर्वेद की विशेष प्रगति का परिचय तत्कालीन साहित्य के उल्लेखों से प्रमाणित है; जैसे—पशुओं के शारीरिक अंगों के कट जाने पर चर्म से चर्म, मांस से मांस और स्नायु से स्नायु को जोड़ दिया जाता था।[7] पक्षियों

---

१. अथर्व० ५.४.१।
२. अथर्व० ६.१३७।
३. अथर्व० १.२३.१।
४. अथर्व० २.३२.१।
५. अथर्व० २.३१.४–६।
६. अथर्व० ४.१२.१।
७. रोहन्तमिण जातक ९०१।

की चिकित्सा भी प्रचलित थी।[१] साँप के काटने की चिकित्सा सफलतापूर्वक होती थी। मानसिक चिकित्सा का प्रचलन था। मानसिक चिकित्सा मनोवैज्ञानिक विधि से होती थी।[२] अंधों के नेत्रदान के निमित्त दूसरों के नेत्रों को निकालने का प्रयोग औषधि की सहायता से किया गया था।[३] कृत्रिम नासिका का उपयोग नकटे लोग करते थे।[४] वमन से और घी, गुड़ तथा मधु के भक्षण द्वारा विष के प्रभाव को दूर किया जाता था।[५] शर्करा मिले हुए आम के रस से उदर-संबंधी वायुविकार को शान्त किया जाता था।[६]

औषधियों को मधुर बनाने के लिये उन्हें फूलों के साथ रख देते थे। ऐसी औषधियों के प्रयोग से रोग शान्त हो जाते थे।[७]

कुछ रोग औषधियों के सूंघने से दूर हो जाते थे।[८] पसीना बहाकर वातरोग को शान्त किया जाता था। उस समय की चिकित्सा-पद्धति अल्प-व्ययसाध्य थी।

बौद्ध काल का सर्वश्रेष्ठ वैद्य जीवक था। उसने तक्षशिला विश्वविद्यालय में सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था। उसकी चिकित्सा-सम्बन्धी अद्भुत सफलताओं का वर्णन बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। उसने सिर की पीड़ा दूर करने के लिए, रोगी के सिर का शल्यकर्म करके दो कृमियों को बाहर निकाला था। किसी सेठ के उदर-विकार को दूर करने के लिए उसने उदर का शल्य-कर्म करके आँतों को पुनः यथास्थित कर दिया। वह वैशाली, साकेत, काशी, उज्जयिनी, आदि प्रदेशों में जाकर महाजनों के रोगों की चिकित्सा किया करता था।[९]

जीवक के सम्बन्ध में कम्स्टन महोदय ने लिखा है—'जीवक को एक बार एक लकड़हारा मिला, जिसकी आँतें प्रत्यक्ष दिखाई देती थीं। उसने सोचा—भैषज्यराज के विषय में कहते हैं कि उससे शरीर की आँतें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। क्या

---

१. हंस जातक ५०२।
२. कामनीत जातक २२८।
३. सिविजातक ४९९।
४. असिलक्खण जातक १२६।
५. लित्त जातक ९१।
६. अब्भन्तर जातक २८१।
७ महावग्ग ८.१.३१।
८. महावग्ग ६.१३.१।
९. महावग्ग ८.१।

इस लकड़हारे के सिर पर भैषज्यराज ही तो नहीं हैं ? फिर तो जीवक ने एक-एक लकड़ी को उसके सिर से अलग करके भैषज्यराज को निकाला।[१]

महाभारत के अनुसार प्राचीन समय में चार प्रकार के वैद्य होते थे—विष-वैद्य, शल्यवैद्य, रोगवैद्य, कृत्याहार वैद्य।[२] पागलों की चिकित्सा धूप, अंजन, नस्य-कर्म और औषधियों के द्वारा की जाती थी।[३]

महाभारत-काल में पशु-चिकित्सा का विकास हुआ। महाराज अशोक ने मनुष्यों की चिकित्सा के साथ पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था की। उन्होंने स्वदेश तथा विदेशों में औषधियों को उत्पन्न करने के लिए सहायता पहुँचाई। ग्रीक लेखकों ने प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति की प्रशंसा की है। अर्थशास्त्र में तत्काल-मृत व्यक्ति की परीक्षा की वैज्ञानिक विधि का वर्णन है।[४]

पशुचिकित्सा-सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रयोग अर्थशास्त्र में लिखे हैं; जैसे—घोड़े के चिकित्सकों को शरीर के ह्रास और वृद्धि का प्रतीकार करने वाले और ऋतुओं के अनुकूल पड़ने वाले भोजन का ज्ञान होना।[५]

भारत में परवर्ती युग में, जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा की प्रतिष्ठा चरक ने की, उसी प्रकार शल्य-चिकित्सा की प्रतिष्ठा सुश्रुत ने की। वैद्यों की आचार-पद्धति को प्रतिष्ठित करने वाले चरक और सुश्रुत थे। उपनयन के समय गुरु विद्यार्थी को आदेश देता था—'सम्पूर्ण प्राणियों की कुशलता ही तुम्हारा मनोरथ हो। प्रतिदिन रोगियों के आरोग्य के लिये सब प्रकार के प्रयत्न करो। दूसरे के धन की कामना मत करो। आडम्बरयुक्त वेषभूषा मत धारण करो। मदिरा मत पीयो। पाप से बचो। सदैव आरोग्य-संबंधी सिद्धांतों का चिन्तन करो। अपनी प्रशंसा मत करो। प्राप्त करने योग्य ज्ञान को शत्रु से भी ग्रहण करो। गरुओं के साथ शिष्टतापूर्वक व्यवहार करो।' इसके पश्चात् शिष्य कहता था—मैं ऐसा ही करूँगा।[६]

सुश्रुत वैद्यों के लिये शास्त्रज्ञान और कार्यकुशलता, दोनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते थे। 'जो केवल शास्त्रों का जानकार है; पर कार्य में अकुशल

---

१. *Cumston* : An Introduction to the History of Medicine.

२. महाभारत शान्तिपर्व ६९.५७।

३. महाभारत शान्तिपर्व १४.३४।

४. आशुमृतक-परीक्षा-प्रकरण।

५. अश्वाध्यक्ष-प्रकरण।

६. चरक-संहिता, विमानस्थान ८.११–१३।

है, वह रोगी को प्राप्त करके उसी प्रकार विमूढ़ हो जाता है, जिस प्रकार भीरु व्यक्ति युद्ध में पहुँच कर। जो वैद्य कर्म में तो निष्णात है, किन्तु शास्त्रज्ञान से शून्य है, वह सत्पुरुषों में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करता। उसे राजकीय मृत्युदण्ड प्राप्त होता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के अनिपुण व्यक्ति अपना कार्य करने में असमर्थ, होते हैं। आधे ज्ञान को धारण करने वाले ये लोग एक पंखवाले पक्षी के समान हैं।[1] शिष्य को कार्यकुशल बनाने के लिये उसे भली प्रकार से अभ्यास संबंधी शिक्षा दी जाती थी।

शल्यचिकित्सा का सर्वोच्च उपयोग युद्धभूमि में होता था। युद्ध-भूमि में वैद्यों के कार्य का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत्सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः॥

सुश्रुत सं० ३४.१२, १३

पन्थानमुदकच्छायां भक्तंयवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा।
दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्तौ वैद्यपुरोहितौ॥

सुश्रुत सं० ३४.५.७॥

शल्यक्रिया के लिये असख्य यन्त्र होते थे; जैसे—हड्डी निकालने के लिये सिंहमुख, व्याघ्रमुख, वृकमुख आदि २४ प्रकार के यन्त्र, चर्म, मांस, सिरा और स्नायु निकालने के लिए सनिग्रह और अनिग्रह नामक संडसी जैसे दो यन्त्र और २८ प्रकार के शलाका-यन्त्र। शल्य-चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले अन्य शस्त्र निम्न प्रकार के थे—मण्डलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधार, सूची, कुशपत्र, त्रिकूर्चक, कुठारिका, वडिश, दन्तशंकु आरापत्र आदि। अनेक प्रकार के उपयन्त्र भी होते थे;[2] जैसे—रज्जु, बल्कल, लता और क्षार, अग्नि तथा भेषज संबंधी यन्त्र आदि। घावों का सीना वेल्लित, गोफणिका, तुन्न-सेवनी, और ऋजुग्रन्थि विधियों से किया जाता था।[3]

---

१. सुश्रुत-संहिता ३.४८.५०।
२. सुश्रुत संहिता ८.३.९।
३. सुश्रुत संहिता २५.२२।

उपकल्पनीय-सम्भार-प्रकरण में सुश्रुत ने शल्यागार की विशेषताओं का निरूपण किया है। वहाँ पर मनोरंजन करने वालों, गाथा, आख्यायिका, इतिहास और पुराण के विद्वानों तथा गीत एवं वाद्य के आचार्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। तीतर, बटेर, शशक, हरिण, गाय तथा हरिणियाँ आदि भी वहाँ उपस्थित रहती थीं। ऐसे वातावरण में रोगियों की सेवा अधिक आनन्दपूर्वक होती थी।

गुप्तकालीन आयुर्वेद की प्रगति वाग्भट के अष्टांग-संग्रह नामक ग्रन्थ से ज्ञात होती है।[1] इस ग्रन्थ में शारीरिक चिकित्सा और शल्यकर्म सम्बन्धी अनेक नवीन प्रयोग मिलते हैं। उसमें चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता का ज्ञान, विशद और स्पष्ट रूप में संकलित दिखाई पड़ता है।

गुप्तयुग में वक्ष-सम्बन्धी आयुर्वेद तथा पशु-चिकित्सा की उन्नति हुई। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' में वृक्ष-चिकित्सा संबन्धी प्रकरण है।[2] पालकाप्य ने 'हस्त्यायुर्वेद' की रचना की। इस ग्रंथ में हाथियों के रोगों के परीक्षण एवं चिकित्सा विषयक १६० अध्याय लिखे गये हैं। उसमें शल्य-चिकित्सा का भी प्रकरण है। पौराणिक साहित्य में कहीं-कहीं पर चिकित्सा-संबंधी विवरण प्राप्त होते हैं।[3]

भारतीय-चिकित्सा-पद्धति की सर्वोत्कृष्टता को विदेशी विद्वानों ने भी प्रमाणित किया है। मैकडानल ने लिखा है कि नाक कट जाने पर फिर से मांसल नाक की रचना करने की विधि आधुनिक युग में योरप ने भारत से सीखी है। भारत से अंगरेजों ने गत शताब्दी में उसे सीखा था।[4]

सर विलियम हण्टर ने लिखा है—भारतीय आयुर्वेद में विज्ञान का सर्वांगीण अन्तर्भाव हुआ है। इसमें शरीर के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। चिकित्सा के औषधि-विज्ञान की परिधि में आयुर्वेद के अनुसार खनिज, वनस्पति, पशु आदि सभी उपयोगी हैं। औषधियों का निर्माण, उनका वर्गीकरण और प्रयोग अतिशय

---

१. 'अष्टांग हृदय-संहिता' के रचयिता एक दूसरे वाग्भट भी हुए हैं। उनका समय सम्भवतः सप्तम शताब्दी ई० है।

२. वृक्षायुर्वेद का प्रकरण अग्निपुराण के २८१वें अध्याय में है।

३. गरुड़ पुराण १९७ अध्याय। अग्निपुराण के २८६वें अध्याय में गज-चिकित्सा का वर्णन है। उसी में २८७—२८९वें अध्याय तक अश्वचिकित्सा का विवेचन किया गया है।

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ४२७।

वैज्ञानिक पद्धति से निष्पन्न किया गया है। स्वच्छता, पथ्यापथ्य-नियम और भोजन के विषय में पूरा ध्यान दिया गया है।[१]

आयुर्वेदिक आचार

सदाचार के द्वारा नीरोग रहने की योजना चरक ने प्रस्तुत की है। चरक के अनुसार सदाचारी वह व्यक्ति है, जो सभी प्राणियों का बन्धु है, क्रुद्ध मनुष्यों का अनुनय करता है, डरे हुए को अश्वासन देता है, दीनों का सहारा है, अपनी प्रतिज्ञा को कार्यरूप में परिणत करता है, दूसरों की बात को सह लेता है, स्वयं दूसरों के दोषों को नहीं देखता, किसी के रहस्य को प्रकाशित नहीं करता और पतित, दुष्ट, नीच तथा पापियों का साथ छोड़ देता है।

चरक ने आयुर्वेद की दृष्टि से आचार के कुछ अन्य ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा की है—'सदा सहानुभूतिमय रहना चाहिए। मनुष्य को समय और नियम को नहीं तोड़ना चाहिए। अधिक नहीं बोलना चाहिए। धैर्य नहीं खोना चाहिए। अकेले ही सुखी नहीं रहना चाहिए। सबके सुख में सुख मानना चाहिए। सदा विचारमग्न नहीं रहना चाहिए। इन्द्रियों के वश में नहीं रहना चाहिए। निरलस हो कर कार्यपरायण बनना चाहिए। सफलता में हर्ष और विफलता में शोक नहीं करना चाहिए और ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, करुणा, हर्ष, उपेक्षा एवं शान्ति को अपनाना चाहिए।'[२]

उपर्युक्त आचार-विधान चरक के शब्दों में स्वस्थ-वृत्त है। 'स्वस्थ-वृत्त के परिपालन-मात्र से मनुष्य सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है।[३] चरक के अनुसार आरोग्य के अतिरिक्त यश, धर्म और अर्थ की प्राप्ति भी स्वस्थ-वृत्त से सम्भव होती है। इसका पालन करने वाला सबका भाई है। मरने के पश्चात् भी उसकी उत्तम गति होती है।[४]'

चरक के अनुसार 'वायु आदि की विगुणता का कारण अधर्म अथवा पहले के किए हुए असत्कर्म हैं। इनकी उत्पत्ति जान-बूझ कर किए हुए अपराधों से होती है। जब छोटे और बड़े शासक धर्मपूर्वक प्रजा-पालन नहीं करते तो अधर्म धर्म को अन्तर्हित कर देता है। अधर्म-परायण लोगों को देवता छोड़ देते हैं। ऐसी परिस्थिति

---

१. सर विलियम हण्टर : इम्पीरियल गजेटियर इण्डिया, पृ० १२०।

२. चरक सूत्रस्थान ८.१७–३०।

३. स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥ चरक-सूत्रस्थान, ८.३२॥

४. चरक-सूत्रस्थान ८.३३–३४।

में ऋतु बिगड़ जाती हैं। जल समय पर नहीं बरसता है। वायु ठीक से नहीं बहती है। जल सूख जाता है। पेड़-पौधे अपने स्वभाव को छोड़कर सूख जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र का विध्वंस हो जाता है।' चरक ने राष्ट्र के संवर्धन के लिए देश, नगर, नियम और जनपद के शासकों के सच्चरित्र और धर्मनिष्ठ होने की आवश्यकता बतलाई है।[१]

सुश्रुत ने वैद्यों का कर्तव्य-पथ निर्धारित करते हुए आदेश दिया है—'रोगियों को अपने बन्धु-बान्धव जैसा मानकर चिकित्सा करनी चाहिए, चाहे वे संन्यासी, मित्र, पड़ोसी, विधवा, अनाथ, दीन-हीन या पथिक क्यों न हों। मृगया से जीविका चलाने वाले व्याध, जाति से बहिष्कृत अथवा पापियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।' सुश्रुत की दृष्टि में केवल निःस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही कोई मनुष्य सफल चिकित्सक हो सकता है। उसने लिखा है कि जो लोग धन के लिए चिकित्सा करते हैं, वे स्वर्ण-राशि को छोड़कर धूलि के लिए श्रम कर रहे हैं। वैद्यों को सम्बोधित करते हुए सुश्रुत ने लिखा है—'तुम्हें सभी प्राणियों के कल्याण की भावना से प्रयत्नशील होना है। प्रतिदिन खड़े होकर या बैठकर सौहार्दपूर्वक रोगी का निदान करना चाहिए। अपनी जीविका के लिए रोगी से अधिक धन नहीं मांगना चाहिए। दूसरों के धन का लोभ नहीं करना चाहिए। तुम्हारे वस्त्रों से शान्ति और आचरण से मानवता टपकनी चाहिए। तुम्हारी वाणी में कोमलता, सत्य और विश्वसनीयता होनी चाहिए। कुशल वैद्य का लक्षण बताते हुए सुश्रुत ने कहा है—वैद्य को सच्चा होना चाहिए। उसके हृदय में उत्साह होना चाहिए तथा उसे सत्य को सबसे बढ़कर मानना चाहिए।'[२]

चरक और सुश्रुत दोनों ने उदात्त चरित्र के विद्यार्थियों को आयुर्वेद का ज्ञान कराने की अनुमति दी है। आचार्य भी ज्ञान और चरित्र की दृष्टि से आदर्श होना चाहिए।[३] शिष्य रूप में स्वीकार करने के पहले आचार्य विद्यार्थी के बारे में परीक्षा करके जान लेता था कि वह सुन्दर, धैर्यशाली, निरभिमान, उदार-सत्त्व, शान्त, अनुद्धत वेश वाला, व्यसन और क्रोध से रहित, शीलाचारसम्पन्न, अनुरागी, दक्ष, निर्लोभ, निरलस, सभी प्राणियों का हितैषी आदि है।[४] आचार्य की शिक्षा का आरम्भ इस सनातन उपदेश से होता था—तुम्हें कार्य में सफलता की कामना

---

१. चरक-संहिता, विमानस्थान ३.२३।

२. सुश्रुतसंहिता १.३४।

३. चरक विमानस्थान ८.३–४।

४. चरक विमानस्थान ८.७।

करनी है। यशस्वी बनना है। मर कर स्वर्ग जाना है। तुम्हें सभी प्राणियों के कुशल की कामना करनी है। प्रतिदिन उठते-बैठते पूरा मन लगाकर तुम्हें रोगियों का रोग दूर करने के लिए यत्न करना है। अपने प्राण के लिए भी रोगियों से द्रोह न करना। दूसरों के धन की कामना न करना, मद्य न पीना तथा पापियों से सम्बन्ध न रखना। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम सदैव सत्य और प्रिय बातें कहो, राजद्रोही दुराचारी और सज्जनों के शत्रु की चिकित्सा न करो। रोगी के रोग के अतिरिक्त अन्य बातों को न सोचो। रोगी के घर की बातें अन्यत्र न कहो। अपने ज्ञान की प्रशंसा न करो। गुरुजनों के प्रति शालीन व्यवहार करो। शिष्य अन्त में कहता था—ऐसा ही करूंगा।[१]

वाग्भट ने शिक्षा दी है कि अपकार करने वाले का भी उपकार करना चाहिए। उसके अनुसार सदाचार से आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश और पुण्य-लोकों की प्राप्ति होती है। दान देने वाले, सबको समान मानने वाले और क्षमाशील व्यक्ति नीरोग रहते हैं। राजा के योग्य वैद्य का लक्षण बताते हुए वाग्भट ने लिखा है कि उसे चरित्रवान् और दयालु होना चाहिए।[२]

भौतिक विज्ञान

पाञ्चभौतिक जगत् में भूतों का अध्ययन करना मानव के लिए संस्कृति के आदिकाल से ही अपेक्षित रहा है। भूतों की सिद्धि विना मानवों का पशुता की कोटि से ऊपर उठना कठिन है। भूतों का पशुओं से भिन्न विधि से उपयोग करने की दिशा में विज्ञान की एकमात्र सहायता हो सकती थी। ऐसे विज्ञानों में प्रमुख है भौतिक विज्ञान। जगत् के तथ्य को जानने के लिए दर्शन की परिधि में भौतिक विज्ञान का विशेष महत्त्व है।

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से दार्शनिकों का परमाणु-सम्बन्धी अनुसन्धान अद्वितीय है। इसके प्रथम परिचायकों में वैशेषिक दर्शन के उन्नायक कणाद का नाम सुप्रसिद्ध है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि की दशा में परमाणु वियुक्तावस्था में नहीं रह सकता। जैन दर्शन ने परमाणुओं को शाश्वत और चरम माना है। उमास्वाति ने तीसरी शती के लगभग परमाणु का तत्त्वान्वेषण किया। इस दर्शन के अनुसार सभी प्रकार के परमाणुओं का मूल एक ही परम तत्त्व है। परमाणुओं के गुणों का सफल विश्लेषण किया गया। दार्शनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार शब्द, तेजस् और ताप में गतिशीलता है। परमाणुओं में भी गतिशीलता विद्यमान है।

---

१. चरक विमानस्थान ८.११–१३।

२. अष्टांग हृदय २.५४; ३.३६; ७.५६।

वैज्ञानिक विकास के लिए मात्रा-सम्बन्धी समय और आकाश की जिन सूक्ष्मताओं की प्रतिष्ठा वैज्ञानिकों ने की थी, वह अद्‌भुत ही है। समय के सम्बन्ध में १/३३७५० सेकण्ड और आकाश के सम्बन्ध में १/३४९५२५ इंच की सूक्ष्मतम मात्रा की कल्पना उन्होंने की थी। वैज्ञानिकों को ज्ञात था कि पदार्थ और शक्ति अनश्वर हैं, किन्तु उनके संघटन और विघटन सम्भव हैं।

प्राचीन वैज्ञानिकों के अनुसार भौतिक पर्यवेक्षण की परिधि में नीचे लिखे तत्त्वान्वेषण सुप्रतिष्ठित हो चुके थे—सूर्य के ताप से सारे जगत् का ताप सम्भव है। ताप और तेजस् के अणु अतिशय सूक्ष्म हैं। प्रकाश के प्रक्षेप, विक्षेप और उत्क्षेप के विषय में उनका ज्ञान परिपक्व था। शब्द की गति के माध्यम-रूप में वैज्ञानिकों ने वायु और आकाश को प्रतिष्ठित माना था। ध्वनि-तरंगों की द्विविध गतियों का परिज्ञान किया जा चुका था। विज्ञानभिक्षु ने प्रतिध्वनि का विश्लेषण किया था। ध्वनियों के विविध प्रकारों का मात्रा, स्वर, व्यंजन आदि की कोटियों में विश्लेषण किया गया था। सप्तस्वरों की कल्पना वैज्ञानिक विधि से की गई थी। ध्वनितरंगों की संख्या का तार की लम्बाई के विलोमानुपात में विस्तार होता है।

आकर्षण-शक्ति का भारतीय वैज्ञानिकों ने योरपीय विद्वानों से बहुत पहले ही परिचय प्राप्त कर लिया था। इस ज्ञान के बल पर ग्यारहवीं शती के वैज्ञानिक भोज ने जलयान-रचना के प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि जलयान के तल-प्रदेश के काष्ठफलकों को सम्बद्ध करने के लिए लोहे का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा उनका चुम्बक-क्षेत्र में विपन्न होना सम्भाव्य है। मत्स्ययन्त्र के द्वारा जलयात्री दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करते थे। यह यन्त्र मत्स्याकार था, तेल में तैरता था और उत्तराभिमुख रहता था।

उमास्वाति ने विद्युत्सम्बन्धी भौतिक विज्ञान के अनुसन्धानों का संकेत किया है। दो परमाणु, सदृश होने पर विद्युत्-बल से अपने को खींचते हैं और असदृश होने पर अन्यथा एक दूसरे को दूर प्रेरित करते हैं। गुप्तयुग में वराहमिहिर ने जल बरसाने वाले मेघों का लक्षण निर्धारित किया है।

रसायन-विज्ञान

रसायन-विज्ञान का सर्वत्र ही आरम्भ में व्यावहारिक उपयोग तीन क्षेत्रों में होता था—आयुर्वेद, धातुकर्म और शिल्पकर्म।[1] रसायन के प्रारम्भिक आचार्यों

---

१. सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओं को देखने से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में रसायन की प्रगति थी।

में पतंजलि सुप्रसिद्ध हैं। ईसवी शती के आरम्भिक युग में नागार्जुन का प्रादुर्भाव हुआ। नागार्जुन का पारद-सम्बन्धी तत्त्वान्वेषण उस युग की एक सर्वोच्च खोजों में से था।

परवर्ती युग में गुप्त-राजाओं के शासन-काल में रसायन-विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। उस युग में प्राप्त रासायनिक द्रव्यों का ज्ञान योरप में लगभग १००० वर्ष पश्चात् हुआ।

अर्थशास्त्र में विष-प्रयोग, प्रलम्भन, बुभुक्षा-निवारण आदि प्रकरणों में अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण से भाँति-भाँति की औषधियों के निर्माण की विधियाँ दी गई हैं। तदनुसार पारिभद्रक-प्रतिबला-वञ्जुल-वज्र-कदलीमूल-कल्क के साथ मेढक की वसा से समायुक्त तेल को पैर में लगा लेने पर अंगारों पर चलने से भी पैर जलता नहीं है।

अर्थशास्त्र में धातुओं के शोधन की विविध प्रणालियाँ दी गई हैं; जैसे चाँदी को चौथाई भाग सीसा से शोधना चाहिए। धातुओं में रंग लाने की विधि प्रचलित थी; जैसे सोने को गलाकर तिहाई भाग राग देने से वह पीतवर्ण का हो जायेगा। अन्य मिश्रणों से उसका रंग मूंग के समान, कृष्णवर्ण या शुक्रवर्ण का हो सकता था। सुरा के बनाने में रसायन का उपयोग होता था। असंख्य वस्तुओं के मिश्रण से विविध प्रकार की सुराओं का निर्माण होता था।

नागार्जुन के रसरत्नाकर में रासायनिक द्रव्यों के शोधन, मारण, रूपपरिवर्तन, द्रव्यपरिवर्तन आदि विषयों का प्रतिपादन मिलता है; जैसे पीतगन्धक को पलास की गोंद से शोधित करके उसे जंगल के उपले से पाचित कर ले। फिर उसके प्रयोग से चाँदी को सोना बना दे।[1]

रसरत्नाकर में पारद निकालने की नीचे लिखी विधि मिलती है—दरद को पातनायन्त्र में पातन करे। फिर जलाशय में उस दरद का सत्त्व (पारद) मिलेगा।[2] इसी प्रकार अभ्रक का सत्त्व निकालने की विधि दी गई है। रत्नों को गलाने की विधि भी रसरत्नाकर में दी गई है; जैसे, रत्न को पहले वेतस के अम्ल और काञ्जी

---

१. किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन कांचनम्॥
रसरत्नाकर २

इसी प्रकार अन्य धातुओं को भी सोने में परिवर्तित करने की विधि दी गई है।

२. रसरत्नाकर ३७।

में घोले। फिर मुष्काफल को वेतस के अम्ल में भावित करे। फिर पुटपाकविधि के प्रयोग से रत्न को पानी सा गला दे।

पारद के रसबन्ध की अनुपम विधि रसरत्नाकर में मिलती है; यथा :—

> जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पंचलवणानि कटुत्रयं च।
> शिग्रूवकं सुरभिसूरणकन्दमेभिः सम्मर्दितो रसनृपश्चरतेष्टलोहान् ॥
> रसरत्नाकर ३.१

रसरत्नाकर के अनुसार उस प्राचीन युग में अनेक प्रकार के यन्त्रों का उपयोग रासायनिक प्रक्रियाओं में होता था। इनके नाम गर्भयन्त्र, कोष्ठिकायन्त्र, वक्रनाल, लोहपत्र और कन्दरा आदि मिलते हैं।

यशोधर ने सोना बनाने की विधि लिखी है। इस विधि का नाम हेम-क्रिया है। ऐसे प्रयोगों के विषय में यशोधर का कहना है—'दृष्टः प्रत्यययोगोऽयं कथितो नात्र संशयः' अर्थात् सोना बनते देखा है—अतएव सन्देह नहीं करना चाहिए।

खनिज-विज्ञान

भारतवासियों का खनिज-विज्ञान अतिशय प्राचीन प्रतीत होता है। नवीन प्रस्तरयुग से ही स्वर्ण का उपयोग होता आ रहा है। भूगर्भ, समुद्र के गर्भ और पर्वतों से अनेक प्रकार की धातुओं, बहुमूल्य रत्नों और मणियों की प्राप्ति होती रही है। रत्नों और धातुओं की सर्वप्रथम वैज्ञानिक परीक्षा का विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। विविध स्थलों से प्राप्त मोतियों के लक्षण और वर्गीकरण का विवेचन और उनकी विशेषताओं का मौलिक पर्यवेक्षण वैज्ञानिक विधि से कौटिल्य ने किया है और साथ ही मणि, हीरक, प्रवाल आदि का विवरण दिया है। उसने सोने, चाँदी आदि धातुओं के प्राप्ति-स्थल और उनकी विशेषताओं की परख बतलाई है। इनके भेद-प्रभेदों को देखने से प्रतीत होता है कि खनिज-विज्ञान का तत्कालीन अध्ययन सुविकसित हो चुका था। कसौटी पर धातुओं की शुद्धि की परख होती थी। मुद्राओं के निर्माण के लिए धातुओं को अधिक कड़ा बनाने की विधि ज्ञात थी।

प्राचीन काल में ६४ कलाओं की प्रतिष्ठा थी। इनमें से कुछ कलाओं का खनिज-विज्ञान से सम्बन्ध है। मणिरागाकरज्ञान-कला में मणियों का उत्पत्ति-स्थान जाना जाता था। रौप्य-रत्न-परीक्षा में रत्न, वज्र, मणि, मुक्ता आदि का

गुणदोष विवेचन होता था। धातुवाद या क्षेत्रवाद में मिट्टी, पत्थर, रत्न या धातुओं का पातन, शोधन और मेलन आदि का ज्ञान होता था।[1]

खनिज-विज्ञान की दृष्टि से भारत की प्राथमिकता प्रमाणित करते हुए कहा जाता है कि इस देश में सर्वप्रथम स्वर्ण की प्राप्ति की गई थी। यहीं के विज्ञानियों ने लोहे को खनिज द्रव्यों से विशुद्ध रूप में अलग किया था।

खनिज-विज्ञान का प्रत्यक्ष रूप और उत्कृष्टता का दर्शन दिल्ली के लौह-स्तम्भ में होता है। गुप्तयुग के बने हुए इस स्तम्भ में आज भी कोई विकार नहीं है। इस स्तम्भ के बनाने में किसी चमत्कारी प्रयोग की ही कल्पना की जा सकती है। योरप में पन्द्रहवीं शती में भी वैसे लौह-स्तम्भ के निर्माण की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। धातुओं के भस्म बनाकर उनका उपयोग करना आयुर्वेद-शास्त्र की प्रमुख विशेषता रही है।

वनस्पति-विज्ञान

प्राचीन भारत में वनस्पति-विज्ञान की युगानुरूप प्रगति हुई थी। ऋषियों को वनस्पति-जगत् के प्रति पर्याप्त अभिरुचि थी और उनको वनस्पतियों के अध्ययन की आवश्यकता आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष रूप से थी। ऋग्वेद के अनुसार :—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीव चातनः ॥१०.९७.६॥

विल्सन महोदय ने प्राचीन भारतीय वनस्पति-विज्ञान की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में लिखा है —They (the Hindus) were very careful observers both of the internal and external properties of plants and furnished copious lists of the vegetable world, with sensible notices of their uses and names significant of their peculiarities.[2] उपर्युक्त उद्धरण से वनस्पतियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की वैज्ञानिक पद्धति प्रमाणित होती है।

वनस्पति-विज्ञान की प्रगति की एक अन्य दिशा थी कृषि-कर्म। आर्य और आर्येतर वर्ग के लोगों का प्रारम्भिक युग से कृषि करने के प्रति चाव था। कहते

---

१. कामसूत्र की टीका १.३.१६।

२. Mill's History of India. Vol. II. p. 91.

हैं कि देववर्ग के लोग नये-नये वनों में कृषि-क्षेत्र का प्रसार करने में निष्णात थे।[1] वैदिक युग में कृषि-विज्ञान की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि आज की भी भारतीय किसानी ग्रामीण क्षेत्र में उससे कुछ अधिक आगे नहीं बढ़ी है।[2]

भारतीय आयुर्वेद की परम्परा में परवर्ती युग में वनस्पतियों का अध्ययन प्रवर्तित रहा। इस परम्परा का समारम्भ आयुर्वेद-सम्बन्धी प्रथम प्राप्य ग्रन्थ अथर्ववेद से होता है। तत्कालीन वैज्ञानिक पर्यवेक्षण की अभिनव कल्पना उनके पौधों के वर्गीकरण से होती है। इसके अनुसार औषधियाँ प्रस्तृणती (फैलती हुई) स्तम्बिनी (तने वाली), एकशुंगा (एक शूक वाली), प्रतन्वती (प्रतान बनाने वाली), अंशुमती (तन्तु वाली), काण्डिनी (पर्व वाली), और विशाखा (शाखाओं वाली) होती हैं। वृक्षों के मूल, अग्रभाग, मध्य, पर्ण, पुष्प और फल के मधुर होने का उल्लेख मिलता है।[3]

बृहदारण्यक उपनिषद् में वनस्पति की तुलना मानव-शरीर से की गई है। इसके अनुसार पुरुष के लोम पत्ते हैं, त्वचा दोनों की समान है, त्वचा के काटने से मनुष्य का रक्त निकलता है, वैसे ही वृक्षों का रस निकलता है। मनुष्य के मांस, हड्डी, मज्जा आदि के समकक्ष वृक्ष आदि में शर्करा, काष्ठ, मज्जा आदि होती हैं। काटने पर वृक्ष वैसे ही मर जाता है, जैसे मानव।[4]

न्यायदर्शन से वनस्पति-जीवन का परिचय मिलता है। उदयन के अनुसार पौधों का जन्म, मृत्यु, निद्रा, जागरण, रोग, प्रवृत्ति, निवृत्ति, गुण-दोष का परस्पर आदान-प्रदान आदि निरन्तर चलता है। गुणरत्न ने लिखा है कि पौधों में क्रमिक विकास—शैशव, यौवन और वार्धक्य, सोना, जागना, संकोच, विकास, चोट लगने पर खिन्नता, रोग, निदान और गर्भाधान के लिए पोषण तत्त्व आदि सम्भव होते हैं।

वृक्षायुर्वेद के प्रकरण में वराहमिहिर ने उपवन-विद्या के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रयोगों का निर्देश किया है। उसके अनुसार साधारण ऋतु को छोड़कर भी पौधों में फल देने की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

---

१. देवास आयन् परशूंरबिभ्रन् वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन्।
निसुद्र्वं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति॥
ऋ० १०.२८.८॥

२. ऋग्वेद ४.५७।

३. अथर्ववेद ८.७.४, १२।

४. बृहदारण्यक उप० ३.९.२८।

प्राणि-शास्त्र

संस्कृति के समारम्भ से मनुष्य पशुओं की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता आ रहा है। भोजन के लिए पशुओं का उपयोग प्रायः सदैव रहा है। कुछ पशु वाहन के लिए उपयोगी थे, विशेषतः युद्ध में। अन्य पशु खेती के काम के लिए हो सकते थे। मनोरञ्जन के लिए पशु-पक्षियों का पालन करना या उनको शिक्षण देना सुदूर प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। आयुर्वेद की दृष्टि से पशुओं के मांस, रक्त, वसा, स्नायु, अस्थि, शृंग आदि का उपयोग प्रायः सदैव रहा है। वैदिक काल से पशुओं की चिकित्सा का समारम्भ देखा जाता है। उपर्युक्त परिस्थिति में प्राणिशास्त्र का वैज्ञानिक विकास सम्भावित हुआ।[1]

जैन संस्कृति में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का परिगणन किया गया है। इस प्रकरण में वृक्षों के प्राणधारण की चर्चा मिलती है। जैन संस्कृति में जीव-विज्ञान सुप्रसिद्ध है।

महाभारत में प्रत्यक्ष प्राणियों के अतिरिक्त सूक्ष्म प्राणियों की चर्चा की गई है, जिन्हें अपनी आँख से हम नहीं देख सकते। इन्हीं के सम्बन्ध में कहा गया है—

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥शान्तिपर्व १५.२६॥

पशुओं की हड्डियों का अध्ययन किया जा चुका था। मनुष्य की ३६० हड्डियों के उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेकत्र मिलते हैं।[2] इन हड्डियों का परस्पर सम्बन्ध भी गिनाया गया—विशेषतः आयुर्वेद ग्रन्थों में।

प्राणिशास्त्र का आयुर्वेद से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। प्राणियों के विविध अंगों की आयुर्वेद की दृष्टि से उपयोगिता का पर्यालोचन किया गया। इस दिशा में सर्वोच्च प्रगति का परिचय इसी बात से मिल सकता है कि साँप के विष का भी उपचार के लिए उपयोग होता था।[3] सुश्रुत के अनुसार छः प्रकार की मक्खियाँ, छः प्रकार की चीटियाँ, पाँच प्रकार के मच्छर, आठ प्रकार के गोजर, ३५ प्रकार के बिच्छू और १६ प्रकार के मकड़े होते हैं। जोंकों का अध्ययन करके बताया गया है कि वे १२ प्रकार के हैं, जिनमें से छः विषैले और छः उपयोगी हैं।

---

१. पद्मपुराण २४.६३ में प्राणिशास्त्र के पर्याय जीव-विज्ञान का उल्लेख है।
२. शतपथ १०.५.४.१२; १२.३.२.३।
३. साँपों के वैज्ञानिक विवरण के लिए देखिए भविष्य पुराण।

कीड़े-मकोड़ों का वर्गीकरण उनके शरीर के बिन्दुओं, पक्षों, पाद, मुख, चंगुल, बाल, पूंछ का विष, उत्पन्न की हुई ध्वनि, शरीर की बनावट, लिंग-भेद, विष और उसका शरीर पर प्रभाव आदि को देख कर किया जाता था।

गुप्तयुग में वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में गज, अश्व, कुक्कुर आदि के शोभन और अशोभन लक्षणों का विवेचन किया है।

यन्त्र-विज्ञान

वैदिक युग में अथर्ववेद के अनुसार प्रतीत होता है कि कृत्या यन्त्र के द्वारा प्रवर्तित होती थी। कृत्या मूर्तिमयी होती थी और स्वयमेव चलने में समर्थ थी। परवर्ती युग में रामायण के अनुसार रामसेतु की रचना यन्त्रों के द्वारा उठाये हुए शिलापट्टों से हुई थी। महाभारत के अनुसार यन्त्रसूत्र का युद्ध में उपयोग होता था।[1] युद्ध के लिए दुर्गों में यन्त्र सुरक्षित रखे जाते थे। गीता के नीचे लिखे उल्लेख से यन्त्र की स्वयमेव परिचालन-शक्ति प्रमाणित होती है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

यन्त्र की अलौकिक शक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

यन्त्रोत्क्षिप्त इव क्षिप्रमुत्तस्थौ सर्वतो जनः॥आदिपर्व १२६.१०॥

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी बहुविध यन्त्रों का वर्णन किया है। उसके अनुसार चक्रयन्त्र भ्रमणशील था। स्थितयन्त्र किसी स्थान पर स्थिर रहता था। चलयन्त्र उपयोग के लिए इधर-उधर चलाये जा सकते थे। मनु ने महायन्त्र-प्रवर्तन को उपपातक रूप में गिना है।[2] भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के अनुसार स्वयं चलयन्त्र पारद से चलता था।

यन्त्रों के निर्माण की विधि प्रायः कहीं भी स्पष्ट रूप में लिखी नहीं मिलती। इस सम्बन्ध में भारतीय अन्धविश्वास प्रधान कारण है, जिसके अनुसार उसके लिखने से प्रभाव विनष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में समराङ्गण-सूत्राधार में कहा गया है—

यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्।
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः॥[3]

---

१. सभापर्व ५.११०।
२. मनुस्मृति ११.६३।
३. समरांगण सूत्र० के ३१वें अध्याय से।

प्राचीन काल के केवल कुछ ही यन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिलते हैं।[1]

विमान-विज्ञान

प्राचीन भारत में विमान बनते थे कि नहीं—इस विषय पर विद्वान् सर्व-सम्मत नहीं हैं। साहित्यिक प्रमाणों के बल पर कहा जा सकता है कि लोगों को विमान का प्रत्यक्ष ज्ञान कभी न कभी अवश्य था। रावण की राजधानी में बहुत से विमान थे। पुष्पक विमान की कथा सबको ज्ञात है। महाभारत के अनुसार देवताओं के विमानों की रचना विश्वकर्मा करते थे। शिशुपाल के भाई शाल्व ने युद्धोपयोगी सौभ नामक विमान बनवाया था।[2] कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल और रघुवंश में विमान-यात्रा का वर्णन किया है। इसके देखने से प्रतीत होता है कि ऐसे वर्णनों के पीछे कवियों की स्वानुभति अवश्य ही कारण-रूप में प्रतिष्ठित रही है।

कतिपय ग्रन्थों में विमान-रचना की विधि मिलती है। इनमें से समरांगण-सूत्र प्रख्यात है। यन्त्रसर्वस्व नामक ग्रन्थ की रचना भरद्वाज ने की है। इसमें विमान-सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन मिलता है। उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर १८९० ई० में बम्बई में एक विमान बनाया गया था और वह विमान आकाश में उड़ा भी था।

भाषा-विज्ञान

भारतीय विज्ञान की एक अद्भुत झलक भाषाओं के अध्ययन में मिलती है। भाषा-विज्ञान का सर्वोच्च विलास पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है, जिसकी वैज्ञानिकता के विषय में भाष्यकार पतंजलि ने कहा है—

सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदस्मिन्।
पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥६.१.७७॥

मानियर विलियम्स ने कहा है—पाणिनीय व्याकरण मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का वह आश्चर्यजनक आदर्श है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं

---

१. यन्त्रसर्वस्व नामक एक ग्रन्थ बड़ौदा में मिला है। इसके वैमानिक प्रकरण का प्रकाशन सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, दयानन्द भवन, नई दिल्ली, १ से हुआ है।

२. आदिपर्व ६०.२८ तथा वनपर्व १५वाँ अध्याय।

रखा। शेरवात्स्की ने इसे मानव-मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से माना है।

प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण स्वभावतः होता है और वह व्याकरण निःसंदेह वैज्ञानिक होता है। इस सिद्धान्त के आधार पर मानवीय संस्कृति के आदि-काल से भाषा-विज्ञान का जन्म मान सकते हैं, यद्यपि उस युग के भाषा-विज्ञानियों को यह ज्ञात नहीं था कि वे विज्ञानी हो चले हैं। वास्तव में भाषा-विज्ञान की प्रत्यक्ष झलक तब मिलती है, जब कुछ मननशील विचारक किसी सुविकसित भाषा का तत्त्वान्वेषण अन्य भाषाओं से तुलना करते हुए सम्पन्न करते हैं।

वैदिक भाषा, जो ऋग्वेद में मिलती है, अतीव समुन्नत थी। सहस्रों वर्षों के अनवरत प्रयास से उस भाषा को वह रूप प्रदान करने में ऋषियों को सफलता मिली थी। उस भाषा के व्याकरण का सर्वांगीण विकास हो चुका था। तत्कालीन व्याकरण में अर्थ-प्रस्फोटन की शक्ति स्वरों के आधार पर भी होती थी। स्वर के अतिरिक्त वर्ण, मात्रा, सन्धियाँ और उच्चारण का अध्ययन व्याकरण विषय के अन्तर्गत होता था। इन सबकी आवश्यकता पद-पाठ बनाने में पड़ती थी और सूक्तों को कण्ठाग्र करने में पद-पाठ की विशेष उपयोगिता थी।

भाषा-विज्ञान का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ यास्क का निरुक्त है।[1] इसकी रचना १००० ई० पू० के लगभग हुई होगी। यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के शब्दों की व्याख्या की है और उनका अर्थ वैदिक सन्दर्भों के अनुरूप प्रतिष्ठित किया है। इस ग्रन्थ में यास्क ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का ऊहापोह किया है।[2] यास्क ने निरुक्त में दिखाया है कि प्रत्येक नामवाचक शब्द किसी न किसी धातु से निकला है।

यास्क के पश्चात् ऐन्द्रसम्प्रदाय के वैयाकरणों ने प्रातिशाख्य का सम्पादन किया। इस सम्प्रदाय की परम्परा पाणिनि के पूर्व और पश्चात् भी रही।

पाणिनि ने ४००० सूत्रों में संस्कृत का सर्वांगीण व्याकरण प्रस्तुत किया है। इसमें आरम्भ में ध्वनि-विज्ञान का विवेचन है, साथ ही अर्थ-विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण का प्रकरण है।

---

१. यह वैदिक शब्दों की एक सूची है।

२. इन आचार्यों में आग्रायण, ऐतिहासिक और नैरुक्त नाम से अनेक आचार्यों का बोध कराया गया है। गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि सुप्रथित नाम वाले हैं।

पाणिनि के पश्चात् अनेक वैयाकरण हुए, जिन्होंने यत्र-तत्र पाणिनि की छूटों को जोड़ा है। इन आचार्यों के नाम पाणिनि के साथ अमर हैं।

पाणिनि की सूत्रशैली के लिए पतंजलि जैसा सफल भाष्यकार सौभाग्य से मिला था। पतंजलि का प्रादुर्भाव दूसरी शती ई० पू० में हुआ था। पतंजलि के महाभाष्य में व्याकरण की उस सरस परम्परा का स्रोत निबद्ध है, जिसमें भाषा का दार्शनिक विवेचन मिलता है। ध्वनि, वाक्य का रूप, अर्थ आदि का वैज्ञानिक विवेचन तर्कपूर्ण शैली में पतंजलि ने किया।

परवर्ती युग विशेष रूप से टीकाकारों का रहा है। व्याकरण की शास्त्रीय टीकाएँ लिखने वालों में वामन, जयादित्य, जिनेन्द्र बुद्धि, भर्तृहरि, कैयट आदि सुप्रसिद्ध रहे हैं।

पाणिनि की शैली के अनुरूप प्राकृत और पालि के व्याकरण भी लिखे गये।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चा की गई है कि कैसे सांस्कृतिक वातावरण में प्राचीन काव्य का सर्जन हुआ और प्राचीन कवि और उनकी रचनाओं के रसास्वादक पाठकों का सांस्कृतिक व्यक्तित्व कैसा था। वास्तव में कवि का व्यक्तित्व ही रसमय होकर काव्य-रूप में प्रवाहित होता है। तत्सम्बन्धी पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि भारत की दार्शनिक, धार्मिक और वैज्ञानिक समुन्नति का वातावरण इतना उदात्त था कि उसमें परिपोषित कवि और पाठक की अनुभूति-परिधि में काव्य का सीमान्त सन्निवेशित हो सका था।

भारतीय जीवन आधिभौतिक दृष्टि से सर्वथा सम्पन्न कहा जा सकता है। प्रकृति ने इस देश को समृद्धिशाली बनाया है। ऋतुएँ, पर्वत, वन और नदियाँ आदि सभी प्राकृतिक विभूतियाँ सुख-प्रदायिनी हैं। इनके बीच प्राचीन काल में भारतीय जीवन सुखी और निश्चिन्त रहा। उदार प्रकृति में सहृदय माता की पोषण-वृत्ति अनुत्तम रही है। ऐसी स्थिति उच्च काव्य के सर्जन, संरक्षण और आस्वादन के लिए होती है।

भारतीय काव्य में वैविध्य की चारुता उल्लेखनीय है। इस प्रवृत्ति का निदर्शन करने के लिए भर्तृहरि के शतकों का निदर्शन पर्याप्त है। इनमें एक ही कवि वैराग्य, नीति और शृंगार—तीनों वृत्तियों का वर्णन करता है। वास्तव में इस प्रकार की विविधता का मूलाधार है, विभिन्न प्रवृत्तियों और, सांस्कृतिक धाराओं के उन्नायकों का काव्य-माध्यम को साधन और साध्य रूप में अपनाना। भारतीय काव्य केवल विलासियों की रस-तृष्णा को परितृप्त करने के लिए नहीं था, अपितु शान्त-रस की अजस्र धारा प्रवाहित करके सन्तों को भी काव्यामृत का परिपान करने और कराने की परम्परा इसमें रही है। उपर्युक्त वैविध्य का प्रधान कारण था भारतीय संस्कृति में चार वर्गों, चार आश्रमों और चार वर्णों की सम्प्रतिष्ठा, जिसके अनुसार मोक्ष और काम, गार्हस्थ्य और संन्यास, ब्रह्म और शूद्र के युग्म समान रूप से लोक-जीवन को समलंकृत करते थे। यह भारतीय काव्य ही था, जो परमहंस और दिग्विजयी सम्राट दोनों को अपने उत्संग में दोलायमान करने में समर्थ था।

भारत का उपलभ्य प्राचीनतम साहित्य वेद है, जो कम से कम ५,००० वर्ष पुराना है और उससे भी अधिक पुरानी वह संस्कृति है, जिसकी पृष्ठभूमि में प्राचीनतम साहित्य का सर्जन हुआ था। उस समय से भारतीय साहित्य और संस्कृति का सामञ्जस्यपूर्ण अनवरत विकास हुआ है।

आर्ष साहित्य की प्रगति की अनेक दिशाएँ हैं। सर्वप्रथम वैदिक सूक्तों से उसका उद्‌गम हुआ, ब्राह्मण-साहित्य के आख्यानों में उसका उपचय हुआ और महाभारत और रामायण में उसका पूर्ण विकास हुआ। वैदिक युग में उस एक सूक्ष्म तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व था, जिसके लिए ब्रह्मचारी तपश्चर्या करता था। उसकी सूक्ष्मता के कारण उसे सत् और असत् की परिधि से बाहर रखा गया। सूक्ष्म निदर्शन के इस युग में साहित्य का स्वरूप सूक्ष्म था। छोटे-छोटे सूक्त हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति में पूर्णता है। वे वट के बीजरूप में हैं, जिनमें महान् वट-वृक्ष अन्तर्हित हैं। महाभारत-युग आते-आते उस देववाद का चरम उत्कर्ष हुआ, जिसमें विराट् की कल्पना हुई। इसी के साथ दिग्विजय की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई और तदनुरूप महाभारतीय साहित्य का सर्जन हुआ, जो अतिशय प्रकाम और विपुल है। बस, यहीं तक आर्ष साहित्य का युग है, जिसमें ऋषियों का नेतृत्व था। देवताओं के सान्निध्य में इन ऋषियों के व्यक्तित्व का विकास हुआ था। उनकी दृष्टि-परिधि एक ब्रह्म से ले कर जनता-जनार्दन तक परिव्याप्त थी और उनका काव्य-प्रतान ऐसी स्थिति में ब्रह्म से लेकर साधारण मानव तक विस्तृत हुआ।

परवर्ती युग में देवताओं का स्थान राजाओं ने ले लिया और ऋषियों के स्थान पर कवि विराजमान हुए। कवियों ने राजाओं के आश्रय में रह कर उनके प्रीत्यर्थ जो काव्य लिखे, उनका राजाओं के व्यक्तित्व के अनुरूप बनना स्वाभाविक था। परिणामतः देवताओं की भी चर्चा यदि इस युग के साहित्य में आई तो वे देवता राजाओं के समान व्यवहार करते देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वैदिक शिव (रुद्र) और कालिदासीय शिव को लें। वैदिक शिव का आदर्श वीरतापूर्ण और पवित्र है। कालिदास के शिव यद्यपि वैदिक संस्कृति से अनुप्राणित हैं, पर जब हम देखते हैं कि कवि ने उनके विवाह और काम-क्रीड़ाओं का वर्णन अतिशय स्पृहणीयता-पूर्वक किया है तो हमें यही कहना पड़ता है कि यह राग-रंग में परिलिप्त राजाओं की मनोवृत्ति से अनुवासित है। उन राजाओं की सहस्रों स्त्रियाँ हो सकती थीं। उनका जीवन क्या था—नित्य नई नायिकाओं को प्रणय-पाश में आबद्ध करना।

उपर्युक्त स्थिति में शृंगार को रसराज बनाया गया और रमणी को रमणीयता का परम स्रोत माना गया। प्रायः सभी काव्यों और नाटकों में ऋतु-वर्णन के साथ

काम-क्रीड़ाओं का निरूपण एक नयी प्रवृत्ति थी, जो उस युग का प्रतिनिधित्व करती है। प्रेम और ऐन्द्रियक विलास का जो चरमोत्कर्ष राजाओं के जीवन में था, वही साहित्य में लाया गया और जन-मानस की संस्कृति उसी के अनुरूप बनने लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त प्रवृत्ति का अपवाद भी साहित्य में दृष्टि-गोचर होता है और यही इसमें वैचित्र्य का साधक है।

प्राचीन साहित्य में विशेषतः मध्य युग में ग्रामीण मध्यम वर्ग की उपेक्षा मिलती है। इसका प्रधान कारण यही है कि इन निरीह ग्रामों में न तो युद्ध थे और न नागरिक-वृत्तियाँ। कवि की लेखनी तो प्रायः योद्धा और नागरिक की खोज में रहती थी। इन दोनों का गाँवों में अभाव था। मध्ययुगीन साहित्य की यह कमी खटकती है। जो साहित्य केवल गिने-चुने लोगों को अपनी वर्ण्य परिधि में रखता है, उसकी सीमाएँ बँध जाती हैं और बन्धन विकास के मार्ग में बाधक होता है। इसी दृष्टि से वैदिक कवि का स्थान ऊँचा था। वह विश्वद्रष्टा था और उसने वन, नगर और ग्राम—इन सबको अपनी वर्णना का विषय बनाया। वैदिक राष्ट्रीय जीवन में प्रजा की प्रतिष्ठा ऊँची थी। वही परवर्ती युग में नगण्य हो गई। साहित्य में ग्रामीण की उपेक्षा इसी का परिणाम है।

साम्प्रदायिक साहित्य की अभिवृद्धि मध्ययुग में विशेष रूप से मिलती है। वैदिक या हिन्दू धर्म के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्मों का प्रसार इस युग में अधिक हुआ। परिणामतः इन धर्मों का आश्रय लेकर एक विशाल साहित्य की सर्जना हुई। इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म में ही विभिन्न देवताओं का आश्रय लेकर विभिन्न साहित्यिक धाराएँ चल पड़ीं। साधारणतः इन सभी सम्प्रदायों में और विशेषतः हिन्दू-सम्प्रदायों में भक्ति-पथ की साधना मध्ययुग में बढ़ती गयी और इससे सम्बद्ध साहित्य का विपुल सर्जन हुआ। ऐसी स्थिति में मध्ययुगीन साहित्य में भक्ति-काव्य का स्थान उल्लेखनीय है।

पुस्तक-सूची

१. वैदिक साहित्य

ऋग्वेद-संहिता, पारडी, सूरत, १९५७

यजुर्वेद-संहिता, बम्बई १९२९ ,
(वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल)

कृष्ण-यजुर्वेद-तैत्तिरीय-संहिता, बम्बई, १८८३

सामवेद-संहिता, मद्रास, १९४१

अथर्ववेद-संहिता, सूरत, १९५०

ऐतरेय-ब्राह्मण, बम्बई, १९११

शतपथ ब्राह्मण, काशी वि० सं० १९९४

कौषीतकि ब्राह्मण, लन्दन, १८८७

ताण्ड्य-महाब्राह्मण, बनारस, १९३६

पंचविंश-ब्राह्मण, कलकत्ता, १९३१

तैत्तिरीय-ब्राह्मण, पूना, १८९८

गोपथ-ब्राह्मण, कलकत्ता, १८७२

उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। गोरखपुर, वि० सं० २०१६–१८।

निरुक्त, पूना, १९४०

ऋक्प्रातिशाख्य—इलाहाबाद, १९३१

बृहद्देवता—केम्ब्रिज, १९०४

वैदिक पदानुक्रम कोष, सं० विश्वबन्धु शास्त्री, होशियारपुर, लाहौर १९४२–१९६१

२. सूत्र

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, कलकत्ता, १८८२

---

१. एक-दो बार उल्लिखित पुस्तकें साधारणतः इस सूची में नहीं दी गई हैं।

बौधायन-श्रौतसूत्र, कलकत्ता, १९०४
कात्यायन-श्रौतसूत्र, बनारस, १९२८
शांख्यायन-श्रौतसूत्र, नागपुर, १९५३
आश्वलायन-गृह्यसूत्र, पूना, १९३६
आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, बनारस, १९२८
पारस्कर-गृह्यसूत्र, बम्बई, वि० स० १९८६
बौधायन-गृह्यसूत्र, सं० शामशास्त्री, मैसूर
शांख्यायन-गृह्यसूत्र, दिल्ली, १९६०
गोभिल-गृह्यसूत्र, बनारस, १९३६
मानव-गृह्यसूत्र, पीटर्सबर्ग, १८९७
आपस्तम्बीय-धर्मसूत्र, पूना, १९३२
गौतम-धर्मसूत्र, पूना, १९२५
बौधायन-धर्मसूत्र, बनारस, १९३४
वसिष्ठधर्मसूत्र, पूना, १९३०

३. महाभारत-रामायण

महाभारत, पूना भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, १९३३–१९६५
रामायण-मद्रास, १९३३

४. अर्थशास्त्र

कौटिल्य अर्थशास्त्र—सं० आर० शाम शास्त्री, मैसूर, १९०९
अनुवाद (आंग्लभाषा में) शामशास्त्री कृत मैसूर, १९२३
बार्हस्पत्य सूत्र—पंजाब संस्कृत सीरीज, १९२१
सोमदेव सूरि—नीतिवाक्यामृत, दिल्ली, १९५०

५. स्मृति

मनुस्मृति, बम्बई, १९४६
याज्ञवल्क्य स्मृति—बम्बई, १९५१
पराशरस्मृति—बम्बई संस्कृत सीरीज
आपस्तम्ब स्मृति—आनन्दाश्रम, पूना
अत्रिस्मृति — „
दक्ष-स्मृति — „

संवर्त-स्मृति — आनन्दाश्रम, पूना
शंख-स्मृति — ”
अष्टादशस्मृतयः, इटावा, १९०७

६. पुराण

ब्रह्मपुराण, बम्बई, १९०८
पद्मपुराण, पूना, १८९३–९४
विष्णुपुराण, गोरखपुर वि० सं० २००९
वायुपुराण, पूना १९०५
भागवतपुराण, मद्रास १९३७
मार्कण्डेयपुराण, कलकत्ता १८७९
अग्निपुराण, कलकत्ता १८८२
भविष्यपुराण, बम्बई १९५९
ब्रह्मवैवर्तपुराण, पूना १९३५
स्कन्दपुराण, बम्बई १९४५
मत्स्यपुराण, पूना १९०७
ब्रह्माण्डपुराण, बम्बई १९१२
पुराण इण्डेक्स, सं० वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार मद्रास १९५२

७. बौद्ध साहित्य

बौद्धागमार्थ संग्रह, पूना, १९५६
धम्मपद, सारनाथ, १९५०
दीघनिकाय, बम्बई, १९४२
महावग्ग (विनय पिटक), पटना, १९५६
सुत्तनिपात, रंगून, १९३७
जातक (हिन्दी अनुवाद), प्रयाग, १९४१–१९५५
थेरगाथा, रंगून, १९३७
थेरीगाथा, बम्बई, १९३७
उदान, रंगून, १९३७
विमानवत्थु, रंगून, १९३७
खुद्दकपाठो, रंगून, १९३७
महापरिनिब्बान सुत्त, (दीघ निकाय), नालन्दा, १९५८

महावंस, बम्बई, १९३६
मिलिन्दपञ्हो, बम्बई, १९४०
सद्धर्मपुण्डरीक, दरभंगा, १९६०
ललितविस्तर, दरभंगा, १९५८
बोधिचर्यावतार, लखनऊ, १९५५

८. जैन साहित्य

आचारांग सूत्र, अहमदाबाद, वि० स० १९८०
उवासगदसाओ, पूना, १९३०
उत्तराध्ययन-सूत्र, पूना, १९५८
कल्पसूत्र, लीपजिग, १८७९
विपाकसूत्र, अहमदाबाद, १९३५
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमास्वाति), आरा, १९२०
बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, १९३३
द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र), आरा, १९१७
धनपाल, भविसयत्त कहा—बड़ौदा, १९२३
पुष्पदन्त, जसहर-चरिउ कारंजा, १९३१
पुष्पदन्त, णायकुमार-चरिउ कारंजा, १९३३
कनकामर, करकंडू-चरिउ, कारंजा, १९३४
महापुराण, रविषेणाचार्य, काशी, १९५८
महापुराण, जिनसेनाचार्य, काशी, १९५१

शास्त्र

काव्य—

भरत, नाट्यशास्त्र, काशी, १९२९
भामह, काव्यालंकार, मद्रास, १९५६
दण्डी, काव्यादर्श, पूना, १९३८
आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, बम्बई, १९३५
मम्मट, काव्यप्रकाश, पूना, १९५०
धनञ्जय, दशरूपक, बम्बई, १९४१
राजशेखर, काव्य-मीमांसा, पटना, १९५४
विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, बम्बई, १९३६

पिङ्गलाचार्य, छन्दःसूत्र, बम्बई, १९३८

व्याकरण—

पाणिनि, अष्टाध्यायी—सूत्रपाठ, बम्बई, १९३०
पतञ्जलि, महाभाष्य, पूना, १९२७

विज्ञान—

चरक-संहिता, बनारस, १९४८
सुश्रुत-संहिता, सं० अत्रिदेव, मोतीलाल-बनारसीदास, बनारस
वाग्भट—अष्टांगहृदय, बम्बई, १९३९
भोज, समरांगणसूत्रधार, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा
भोज, युक्तिकल्पतरु, कलकत्ता, १९१७

दर्शन—

गौतम, न्याय-दर्शन, बनारस, १९४२
कणाद, वैशेषिक दर्शन, बनारस, १९२३
सांख्यकारिका तत्त्वकौमुदी, सं० हरदत्त शर्मा, पूना, १९३४
पतंजलि-योगसूत्र—पूना, १९३२
मीमांसा दर्शन, बनारस, १९१०
ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य, बम्बई, १९३८
माधवाचार्य, सर्वदर्शन-संग्रह, पूना, १९०६

काम—

वात्स्यायन, कामसूत्र, बनारस, १९२९

कोश—

अमरसिंह, अमरकोश (नामलिंगानुशासन), बम्बई, १९४४
राधाकान्त, देव शब्दकल्पद्रुम, दिल्ली, १९६१
प्राचीन चरित्र-कोश, पूना, १९६४

१०. काव्य

महाकाव्य—

अश्वघोष, बुद्धचरित, आक्सफोर्ड, १८९३

सौन्दरनन्द, कलकत्ता, १९३९
प्रवरसेन, सेतुबन्ध, बम्बई, १९२९
कालिदास, रघुवंश, बम्बई, १९३२
कुमारसम्भव, बम्बई, १९४६
भारवि, किरातार्जुनीय, बम्बई, १९३३
माघ, शिशुपालवध, बम्बई, १९४०
वाक्पतिराज, गौडवहो, पूना, १९२७
हेमचन्द्र, कुमारपालचरित, पूना, १९३६
श्रीहर्ष, नैषधीयचरित, बम्बई, १९३३

ऐतिहासिक काव्य—

पद्मगुप्त, नवसाहसाङ्कचरित, बम्बई, १८९५
बिल्हण, विक्रमांकदेवचरित, बम्बई, १८७५
कल्हण, राजतरंगिणी, दिल्ली, १९६०

गीतिकाव्य

हाल, गाथासप्तशती, बम्बई, १९३३
कालिदास, मेघदूत, बम्बई, १९४७
ऋतुसंहार, बम्बई, १९१६
भर्तृहरिशतक (त्रय), बम्बई, १९४८
जयदेव, गीतगोविन्द, बम्बई, १९४९

रूपक

भास-रूपकाणि, पूना, १९५१
शूद्रक, मृच्छकटिक, बम्बई, १९५०
कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तल, बम्बई, १९५७
विक्रमोर्वशीय, बम्बई, १९४२
मालविकाग्निमित्र, बम्बई, १९३५
श्रीहर्ष, रत्नावली, बम्बई, १९३८
प्रियदर्शिका, बम्बई, १९२८
नागानन्द, बम्बई, १९१९
भवभूति, उत्तररामचरित, बम्बई, १९३९

महावीरचरित, बम्बई, १९२६
मालतीमाधव, बम्बई, १९४५
विशाखदत्त—मुद्राराक्षस, बनारस, १९४३
भट्टनारायण, वेणीसंहार, बम्बई, १९२५
राजशेखर, कर्पूरमंजरी, कलकत्ता, १९३९
कृष्ण मिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय, बम्बई, १९३५

कथा

विष्णुशर्मा, पंचतन्त्र, बम्बई, १९३६
क्षेमेन्द्र, बृहत्कथामंजरी, बम्बई, १९३१
सोमदेव, कथासरित्सागर, बम्बई, १९३०

महाकथा

दण्डी, दशकुमारचरित, बम्बई, १९००
सुबन्धु, वासवदत्ता, कलकत्ता, १९३३
बाणभट्ट, कादम्बरी, सं० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पूना, १९३५
हर्षचरित, बम्बई, १९४६
बल्लाल, भोजप्रबन्ध, बम्बई, सं० १९६७

चम्पू

नलचम्पू, बनारस, १९३२
मन्दारमरन्द-चम्पू, बम्बई, १९२४
सोमदेव, यशस्तिलक चम्पू, बम्बई, १९०३

सामान्य ग्रन्थ

हिन्दी

वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष बनारस, वि० स० २०१२
कला और संस्कृति, इलाहाबाद, १९५२
वेणीप्रसाद हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, प्रयाग, १९३१
गौरीशंकर चटर्जी, हर्षवर्धन, इलाहाबाद, १९३८
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य, पूना, १९१७
मोहनदास करमचन्द गान्धी—आत्मकथा, नई दिल्ली, १९५१

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्राचीन साहित्य, इलाहाबाद, १९६०
मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पटना, १९५३
अनन्त सदाशिव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, प्रयाग, सं० २००४
हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, बम्बई, १९५२
सुलैमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, इलाहाबाद, १९३०
ह्वेनसांग का भारत-भ्रमण, अनु० ठाकुर प्रसाद शर्मा, प्रयाग, १९२९
चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण, अनु० जगन्मोहन वर्मा, काशी, सं० १९७६
मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण, इलाहाबाद, वि० सं० १९९४
सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पटना, १९५४
प्राचीन चरितकोश, पूना, १९६४
जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख, काशी, वि० सं० १९८०
नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९४२
कैलासचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म, मथुरा वीर सं० २४७५
महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, जैन दर्शन, काशी, १९५५।
राजेन्द्रप्रसाद, आत्मकथा, पटना १९४७

General Books

Macdonell, A. A. and Keith, A. B. Vedic Index of Names and Subjects, London 1912.

Bloomfield, M. A. Vedic Concordance H. O. S. 1906.

Agrawala, V. S. India as known to Pāṇini, Lucknow 1957.

Kane, P. V. History of Dharmaśāstra Vol. I to V. Poona 1930-1958.

Macdonell, A. A. India's Past, Delhi 1956.

Mookerji, R. K. Hindu Civilisation, Bombay 1950.

Sārdā, H. B. Hindu Superiority, Ajmer 1917.

Law, B. C. India as Described in Early Texts of Buddhism and Jainism, London 1941.

Mackay, E. J. H. Early Indus Civilisation, London 1948.

Max Muller, F. Heritage of India, Calcutta 1951.

Nehru, J. The Discovery of India, Calcutta 1946.

Mehta, R. L. Pre-Buddhist India. Bombay 1943

Jain, J. C. Life in Ancient India as Described in Jain Canons, Bombay 1947.

Majumdar, R. C. Corporate Life in Ancient India, Calcutta 1922.

The Cambridge History of India, Vol. I, Cambridge 1922.

Ray Chaudhary, H. C. Political History of Ancient India, Calcutta, 1950.

Majumdar, R. C. and Altekar, A. S. A New History of the Indian People, Vol. VI, Vakṣtaka Gupta Age, Lahore, 1946.

Majumdar, R. C. (Ed.) The History and Culture of the Indian People.

Vol. I. The Vedic Age, London, 1950.

Vol. II. The Age of Imperial Unity, Bombay, 1951

Vol. III. The Classical Age, Bombay, 1954.

Vol. IV. The Age of Imperial Kanauj, Bombay, 1955.
Vol. V. The Struggle for Empire, Bombay, 1957.

Rhys Davids, Buddhist India, Calcutta, 1950.

Piggott, S. Prehistoric India, London, 1950.

Majumdar, R. C. Ancient India, Banaras, 1952.

Bhandarkar, R. C. Some Aspects of Ancient Indian Literature, Banaras, 1929.

Hopkins, E. W. The Great Epic of India, New Haven, 1928.

Majumdar, R. C. An Advanced History of India Pt. I, Ancient India, London, 1949.

Monier Williams, M. Hinduism, Calcutta, 1951.

Bhandarakar, R. G. Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems, Poona, 1928.

Keith, A. B. The Religion and Philosophy of the Veda and Upaniṣads, Oxford University Press, 1925.

Dowson, J. A. Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, London, 1953.

Radhakrishnan, S. Eastern Religion and Western Thought, London, 1940.

Farquhar, J. N. An Outline of the Religious Literature of India London, 1920.

Macdonell, A. A. Vedic Mythology, Strasbourg, 1897.

Radhakrishnan, S. Indian Philosophy Vol. I and II, London 1948.

Keith, A. B. Buddhist Philosophy in India and Ceylon, Oxford 1923

Hiriyanna, Outline of Indian Philosophy, London, 1932.

Ranade, R. D. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.

Bhattacharya, Vidhushekhara, The Basic Conception of Buddhism, Calcutta, 1933.

Percy Brown, Indian Painting, Calcutta, 1947.

Tndian Architecture, Bombay, 1942.
Archaeology in India, Delhi, 1950.
Gangoly, O. C. Indian Architecture, Bombay, 1946.
Coomaraswamy, A. K. The Dance of Siva, Bombay, 1956.
Introduction of Indian Art, Adyar, 1923.
History of Indian and Indonesian Art, London, 1927.
Kramrisch, Stella, Indian Sculpture, Calcutta, 1933.
The Art of India Through Ages, London, 1954.
Havell, E. B. The Ideals of Indian Art, London, 1911.
Indian Sculpture and Painting, London, 1928.
Saraswati, S. K. A. Survey of Indian Sculpture, Calcutta, 1957.
Smith, V. A. History of Fine Arts in India and Ceylon, Oxford, 1930.
Winternitz, M. A. History of Indian Literature, Calcutta, Vol. I. 1927, Vol. II. 1933.
Keith, A. B. Sanskrit Drama, London, 1954.
A History of Sanskrit Literature, London, 1941.
Macdonell, A. A. A History of Sanskrit Literature, London, 1929.
Krishnamachariar, M. History of Classical Sanskrit Literature, Madras, 1937.
Max Muller, A History of Ancient Sanskrit Literature, Allahabad, 1912.
De, S. K. History of Sanskrit Literature, Calcutta, 1947.
Barodia, History and Literature of Jainism, Bombay, 1909.
Mrs. Sinclair T. Stevenson, The Heart of Jainism, London, 1915.
Kane, P. V. History of Sanskrit Poetics, Bombay, 1951.
Beni Prasad, The State in Ancient India, Allahabad, 1928.
Altekar, A. S. State and Government in Ancient India, Banaras, 1949.
Jolly, J. Hindu Law and Custom, Calcutta, 1928.

Mookerji, R. K. Ancient Indian Education, London, 1947.

Altekar, A. S. Education in Ancient India Banaras, 1944.

Pandey, R. B. Hindu Saṁskāras, Benares, 1949.

Altekar, A. S. Position of Women in Hindu Civilisation, Benares, 1938.

Prabhu, P. N. Hindu Social Organisation, Bombay, 1958.

Ghurye, Caste and Class in India, Bombay, 1957.

Sarkar, B. K. Hindu Achievements in Exact Sciences, New York, 1918.

Seal, B. Positive Sciences of the Ancient Hindus, London, 1915.

Ray, P. C. History of Chemistry in Ancient and Mediaeval India, Calcutta, 1956.

Cumston, An Introduction to the History of Medicine.

Majumdar, R. C. Greater India, Bombay, 1948.

Bagchi, P. C. India and China, Bombay, 1950.

Mukherji, P. K. Indian Literature in China and the Far East, Calcutta, 1931.

Mookerji R. K. A History of Indian Shipping, London, 1912.

Rawlinson, H. G. Intercourse Between India and the Western World, Cambridge, 1916.

Warmington, E. H. Commerce Between the Roman Empire and India, Cambridge, 1928.

Schoff-Periplus, London, 1912.

Translations of Mc Crindle.

Ancient India as Described in Classical Literature. West Minster, 1901.

Ancient India as Described by Ptolemy, Calcutta, 1927.

Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian, London. 1877 and 1926.

Beal, Travels of Hiouen-Tsang, London, 1957.

Watters, Thomas On Yuan Chwang's Travels in India, Vol. I. and II.

I-tsing, tr, J. Takakusu, Oxford, 1896.
Fleet, Gupta Inscriptions.
Epigraphia Indica, Bombay. Vol. IV, V, VIII, XIII and XXI.
Annual Bibliography of Indian Archaeology Vol. XIII.
Archaeological Survey of India 1902-3, 1911-12.
Government Epigraphist Report, 1916.
Asiatic Researches, Vol. I.
Annual Report of South India for 1912-13 and 1918.
Hyderabad Archaeological Survey, Vol. VIII.
Indian Antiquary, Vol. X, IXL.
Journal of Royal Asiatic Society of Bengal 1875.
Government Epigraphist Report, 1916.
Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, 1875.

शब्दानुक्रमणिका

इ

घ

च

छ

ज

ध

प

फ

भ

य

ल

श